CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5298

दक्कन का प्राचीन इतिहास

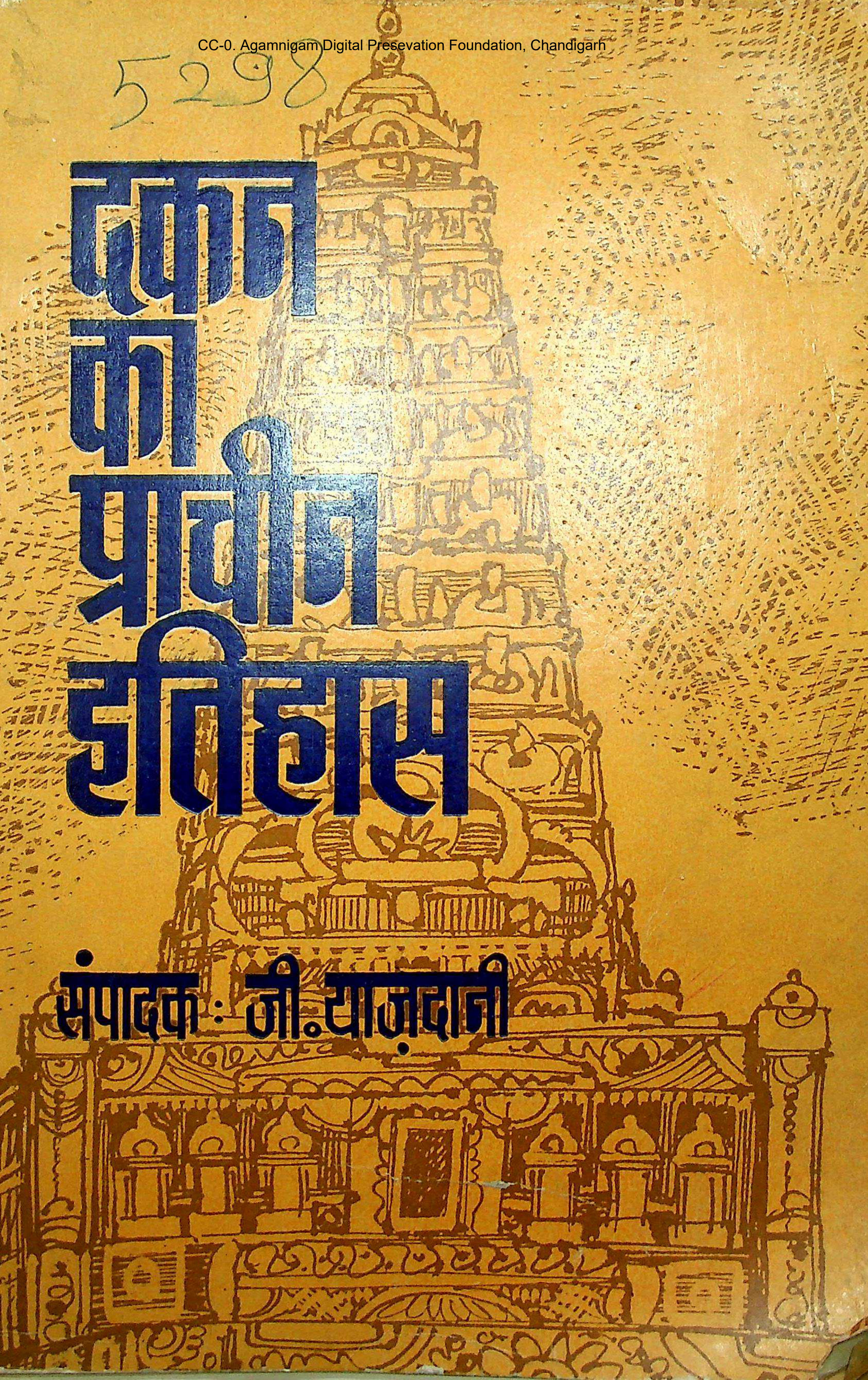

संपादक : जी. याज़दानी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन का प्राचीन इतिहास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संपादक : जी० याज़दानी

दकन का प्राचीन इतिहास

M

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5298

State Museum Library Lucknow

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

© जी० याजदानी

अनुवाद : मंगलनाथ सिंह, कृष्णमोहन श्रीमाली
'दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि दकन' का
प्रथम हिंदी संस्करण : 1977

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रवर्तित

एस जी वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित
तथा सोहन प्रिंटिंग सर्विस द्वारा प्रगति प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 में मुद्रित।

G Yazdani : DECCAN KA PRACHIN ITIHAS

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसंधान परिषद की ओर से

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अनेक उद्देश्यों में एक है शोध की उपलब्धियों को उस पाठकवर्ग तक पहुंचाना जो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम भारतीय भाषाओं में इतिहास संबंधी रचनाएं तैयार तथा प्रकाशित करें। अंगरेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहासविद अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पहुंच सकते हैं, नाम और प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते हैं किंतु भारतीय पाठक वर्ग का एक अंश ही इससे लाभ उठा पाता है। शिक्षण और अनुसंधान के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। ऐसी स्थिति में इतिहास की स्तरीय पुस्तकों की कमी गंभीर रूप से अनुभव की जा रही है। सबसे पहले हमें भारतीय इतिहास की ओर ध्यान देना है। अतः भा० इ० अ० प० ने कुछ गौरवग्रंथों (क्लासिक्स) तथा इतिहास विषयक शोध की निर्दोष पद्धतियों पर आद्धृत और इतिहास की समकालीन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने वाली कुछ अन्य पुस्तकों का अनुवाद कराने का निश्चय किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में दक्षिणपथ के इतिहास पर हुए शोधों के परिणाम समाहित हैं। दक्षिण-पथ में आंध्रप्रदेश का कुछ हिस्सा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक शामिल हैं। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र ने बाद में अपनी अलग पहचान विकसित कर ली किंतु मोटे तौर पर कहा जाए तो जिस समय का हवाला इस पुस्तक में दिया गया है उस समय में संस्कृति के अनेक तत्वों के वे समान रूप से भागीदार थे। अतः, ऐतिहासिक अध्ययन में दकन को एक उपयुक्त इकाई माना जाना पर्याप्त न्यायसंगत है। विशेषज्ञों के एक दल द्वारा लिखित और जी० याज़दानी द्वारा संपादित इस पुस्तक में इस क्षेत्र के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की प्रमुख धाराओं का सर्वेक्षण है, जिसमें प्रायः विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया गया है। इस इतिहास का स्पष्टतर रूप सातवाहन काल की उषा के साथ प्रकट हुआ है। इस काल से प्रारंभ कर लेखकों ने इस क्षेत्र में वाकाटकों, राष्ट्रकूटों, बादामी के चालुक्यों, वेङ्गियों और काकतीयों के अंतर्गत होने वाले परिवर्तनों पर चर्चा की है। सांस्कृतिक दशाओं, समाज की स्थिति तथा अर्थव्यवस्था पर भी चर्चा की गई है। अंत में इन क्रमिक कालों में कला की उन्नति तथा सिक्कों की व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है। पाठकों को यह पुस्तक उपयोगी लगेगी और उन्हें इसमें उस व्यापक क्षेत्र की समृद्धि का स्पष्ट विवरण प्राप्त होगा जिसने भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर और दक्षिण को जोड़ा।

इस पुस्तक का प्रकाशन पटना यूनिट के प्रयासों का परिणाम है जिसके लिए अनुवादक श्री मंगलनाथसिंह और श्री कृष्णमोहन श्रीमाली तथा नगेन्द्रप्रसाद वर्मा तथा अन्य सभी सहयोगियों के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

रामशरण शर्मा
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

नई दिल्ली
19 मार्च 1977

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

1922 ई० में प्रो० ई० जे० रैप्सन के योग्य संपादन में 'कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' का पहला खंड प्रकाशित हुआ था। भारत में इस तरह के ग्रंथों के आदर्श के रूप में इसका स्वागत हुआ था। इस ग्रंथ पर प्रो० रैप्सन और उनके विद्वान सहयोगियों के प्रकांड पांडित्य और नीरक्षीर विवेक की अमिट छाप है। किंतु भारतीय इतिहासकारों के एक वर्ग ने इस ग्रंथ के प्रति उदासीनता ही प्रकट की, क्योंकि इससे उनके राष्ट्रीय अभिमान को ठेस लगती थी। उनकी राय में किसी देश का सच्चा इतिहास तो वहीं के विद्वान लिख सकते हैं। 'कैंब्रिज हिस्ट्री' के जो अन्य खंड निकले उनसे इन लोगों की उपर्युक्त धारणा की पुष्टि हुई। इन खंडों में उनके संपादकों का पूर्वाग्रह ही नहीं प्रकट हुआ अपितु यह भी सिद्ध हुआ कि उनमें ऐतिहासिक कल्पना और अनुसंधान की पैठ नहीं है। इस धारणा के कारण भारतीय दृष्टि से भारतीय लेखकों द्वारा भारत का विस्तृत इतिहास लिखने की कई योजनाएं बनीं। इनमें भारतीय इतिहास परिषद, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस और अलीगढ़ हिस्टारिकल रिसर्च इंस्टिच्यूट की योजनाएं प्रमुख थीं। इनमें से कुछ साल बाद पिछली दो योजनाएं परस्पर अंतर्भुक्त हो गईं और इनके स्थान पर एक सम्मिलित योजना बनी। अभी हाल ही में तीसरी योजना, जो इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस की योजना थी, भारतीय इतिहास परिषद की योजना के साथ मिला दी गई है क्योंकि इन तीनों योजनाओं का मूल उद्देश्य एक ही था कि भारतीय दृष्टि से भारत का विस्तृत इतिहास लिखा जाए।

जिस समय संपूर्ण भारत का इतिहास लिखने की तीनों योजनाएं बनी थीं उसी समय कतिपय विश्वविद्यालयों ने भी अपने अपने प्रांतों का इतिहास लिखने की योजनाएं बनाईं, जो पुरालिपि और पुरातत्व के क्षेत्र में प्राप्त अधुनातन जानकारी तथा धार्मिक ग्रंथों और समकालीन अभिलेखों की सही व्याख्या; और भारतीय मूर्तियों के कलात्मक और प्रतिमा-शास्त्रीय दृष्टि से सही मूल्यांकन पर आधारित थीं। इस क्षेत्र में ढाका विश्वविद्यालय ने सबसे पहले डा० रमेश चंद्र मजूमदार के संपादन में बंगाल का इतिहास प्रकाशित किया। हैदराबाद में प्रो० हारुन खां शीरवानी और प्रो० अली यार खां (अब नवाब अली यावर जंग बहादुर) ने सरकार के सम्मुख पांच जिल्दों में दकन का एक विस्तृत इतिहास प्रकाशित करने की योजना प्रस्तुत की। किंतु उस समय द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने के कारण सरकार पर काफी आर्थिक बोझ आ गया था, इसलिए वह योजना आगे न बढ़ सकी। उसी समय डा० याजदानी ने कार्यकारी परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष सर अकबर हैदरी को एक स्वतंत्र टिप्पणी पेश की जिसमें भारत के आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में दक्षिणी प्रायद्वीप के योगदान का उल्लेख था। अपनी टिप्पणी में उन्होंने यह भी बतलाया कि अत्यंत प्राचीन काल से अब तक के दकन का इतिहास लिखने के लिए दक्षिण में समकालीन अभिलेख, पुरातत्वीय स्मारक और प्रामाणिक इतिहास का दस्तावेज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। सर अकबर ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अली शीरवानी योजना की प्रशंसा की थी और याज़दानी की टिप्पणी पढ़ने के बाद उन्होंने तीनों सज्जनों को सलाह दी कि वे एक सम्मिलित योजना सरकार को दें। उन्होंने यह आश्वासन दिया जब यह मामला कार्यकारी परिषद के सामने आएगा तो वे उसका जोरदार समर्थन करेंगे। किंतु इसके थोड़े समय बाद ही सर अकबर पद-निवृत्त हो गए। अब इतिहास योजना के तीनों प्रस्तावकों को केवल यह संतोष था कि उनमें से एक अली यावर जंग, सरकार के संविधान विभाग में सचिव नियुक्त हो गए थे। उन्होंने सरकार से योजना की मंजूरी पाने के लिए अपना पूरा प्रभाव इस्तेमाल करने का निश्चय किया। परिषद ने पुन: अपना एतराज दोहराया कि युद्ध के कारण सरकार के पास इस योजना के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं है। किंतु बड़ी कठिनाई से और बड़े धैर्य से काम लेकर नवाब अली यावर जंग ने नीचे लिखी शर्तों पर सरकार से इस योजना के लिए मंजूरी प्राप्त कर ली :

1. प्रारंभ में प्रस्तावित योजना की पहली जिल्द का संकलन किया जाए। युद्ध खत्म होने पर दूसरी जिल्द के प्रकाशन पर विचार किया जाए।
2. योजना का व्यय उन विभागों के लिए नियत धन से पूरा किया जाए जिन्हें इसमें रुचि हो और जो इसके लिए धन देने को तैयार हों।

परिषद ने एक संपादक-मंडल भी नियुक्त किया जिसमें योजना के प्रस्तावक तीनों विद्वानों को रखा गया। इन्हें यह भी अधिकार दिया गया कि वे रियासत के और बाहर के विद्वानों का सहयोग ले सकते हैं। परिषद ने डा० याज़दानी को पहली जिल्द का संपादक बनाया। इसका संबंध प्राचीन काल से था। इसी प्रकार प्रो० हारुन खां शीरवानी को मध्यकाल संबंधी खंड और नवाब अली यावर जंग को आधुनिक काल संबंधी खंड का संपादक बनाया। परिषद के इन फैसलों की संपुष्टि में बाद में हिज एवनाल्टेड हाईनेस की तरफ से एक फरमान भी जारी हुआ। सरकार की सिफारिश पर प्रथम संपादक मंडल का विस्तार कर उसमें डा० युसुफ हुसैन खां, डा० पी० एम० जोशी और प्रो० नीलकंठ शास्त्री भी सम्मिलित कर लिए गए।

पहली जिल्द पर व्यय का जो तख्मीना लगाया था, उसकी पूर्ति के लिए शिक्षा विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय और संविधान विभाग ने अपने बजट में से धन दिया। किंतु जब कागज और छपाई के खर्च तथा कारीगरों की मजदूरी एकाएक बढ़ जाने से वह रकम कम पड़ गई तो बढ़े हुए खर्च का आधा हिस्सा हैदराबाद सरकार ने और आधा उस्मानिया विश्वविद्यालय ने दे दिया। आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से ही दोनों तख्मीने मंगाए गए थे। उन्हें ही पुस्तक की छपाई का काम सौंप दिया गया।

योजना में पुस्तक के विषय की व्याप्ति और उसकी रूपरेखा के लिए जो सिद्धांत निर्धारित किए गए थे उनके अनुसार पहली जिल्द के संपादक डा० याज़दानी को इस बात की इजाजत दी गई थी कि वे हैदराबाद रियासत से या आवश्यकतानुसार उससे बाहर से भी उन विद्वानों का सहयोग ले सकते हैं जिन्होंने दकन के प्राचीन राजवंशों के इतिहास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान किए हों। संपादक निजाम कालेज के प्रो० एस० हनुमंत राव और स्वर्गीय डी० बी० भंडारकर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है जिन्होंने इस संबंध में बहुमूल्य परामर्श दिए जिनका लाभ उसने उठाया है। प्रो० भंडारकर ने प्राक्-सातवाहन काल और सातवाहन काल के दो अध्याय लिखने की स्वीकृति दी थी, किंतु बाद में उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनका निधन भी हो गया। इसलिए ये अध्याय उनके द्वारा न लिखे जा सके। संपादक इसे अपना सौभाग्य ही मानता है कि देश के कई चोटी के इतिहासकारों ने इस कार्य में उसे अपना सहयोग प्रदान किया। ये अपने अपने विषयों के मूर्धन्य विद्वान हैं। इनके सहयोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के कारण ही यह खंड इतना प्रामाणिक बन पाया है जिसकी वजह से इसकी प्रशंसा हुई है। इस जिल्द का प्रथम खंड जिसका संबंध दकन के भूगोल से है प्रो० हेमचंद्र रायचौधुरी ने लिखा है। प्राक्-सातवाहनों और सातवाहनों के दूसरे खंड के लेखक गुर्ती वेंकटराव, खंड 3 से 8 में वाकाटकों, बादामी के चालुक्यों, राष्ट्रकूटों, कल्याणी के चालुक्यों, पूर्वी चालुक्यों और यादवों वाले अध्याय प्रो० अ० स० अल्तेकर और प्रो० के० ए० नीलकंठ शास्त्री ने लिखे हैं। खंड 7 में डा० एन० वेंकटरामनय्य ने प्रो० नीलकंठ शास्त्री की सहायता की है। इसी प्रकार काकतीयों वाले खंड 9 में डा० एन० वेंकटरामय्य ने श्री एम० सोमशेखर शर्मा की सहायता ली है। दकन की ललित कलाओं वाला खंड 10 इस जिल्द के संपादक ने लिखा है। इस जिल्द का खंड 11 अथवा अंतिम खंड दकन के सिक्कों और मुद्रापद्धति पर है जिसके लेखक इस विषय के प्रतिष्ठित विद्वान डा० अ० स० अल्तेकर हैं।

दकन के राजवंशों का वर्णन करते समय कालक्रम का ध्यान रखा गया है। किंतु इनमें से कतिपय राजवंश समकालीन थे और स्वतंत्रता अथवा अपने क्षेत्र की अखंडता की रक्षा के लिए इन्होंने आपस में युद्ध भी किए थे। इसलिए कतिपय विवरणों की पुनरावृत्ति हो गई है। हमने हर राजवंश का अलग अलग इतिहास पृथक अध्यायों में देने की जो योजना सामने रखी है उसमें इस प्रकार की पुनरावृत्ति अपरिहार्य थी।

इस काल का इतिहास मुख्य रूप से अभिलेखों से ज्ञात होता है। ये अभिलेख धार्मिक और अन्य कार्यों के लिए दिए गए भूमि के दानलेख हैं। इनमें दाताओं के गुणों और सैनिक सफलताओं का अतिरंजित विवरण दिया जाता था। सत्य का अन्वेषण करने के लिए सभी सूचनाओं की सावधानी से छानबीन की गई है। यद्यपि प्रमाण-सामग्री सीमित ही है तथापि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक, सभी दृष्टियों से इतिहास को पूरा करने का यत्न किया गया है।

पुस्तक की रचना में यह ध्यान रखा गया है कि इससे गंभीर अध्येताओं और सामान्य पाठकों दोनों का परितोष हो। अतः इस बात की कोशिश की गई है कि जिन घटनाओं का ग्रंथ में उल्लेख हो उनकी पूरी तस्वीर पाठकों के सम्मुख रखी जाए ताकि अध्येता विषय को पूरी तरह से हृदयंगम कर सके। छोटे मोटे ब्योरों और वितंडापूर्ण विवादों को आमतौर पर नजर-अंदाज कर दिया गया है। इस प्रकार के ग्रंथ में जिसमें अलग अध्याय अलग अलग विद्वानों ने लिखे हैं, साहित्यिक अभिव्यक्ति के संबंध में शैली की एकरूपता का निर्वाह कठिन ही होता है। किंतु जहां तक पुस्तक के विभिन्न खंडों के सामान्य विन्यास का प्रश्न है, पाठक इसमें एकरूपता पाएंगे। इस विषय में संपादक विभिन्न अध्यायों के लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है जिन्होंने इस संबंध में उसके सुझावों पर बारीकी से अमल किया है।

जहां तक नामों के लिप्यंतरण का प्रश्न है हमने मध्यमार्ग अपनाया है। जितना संभव हुआ है विशेष लिपिचिह्नों से पुस्तक को बचाया है। सिर्फ उन्हीं लिपिचिह्नों का प्रयोग किया गया है जिनका विद्वत्-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी में इतिहास के ग्रंथों में प्रयोग होता है। भौगोलिक नामों की वर्तनी वही रखी गई है जो इंपीरियल गजेटियर में दी गई है। जहां नए नाम आए हैं उनके संबंध में रायल एशियाटिक सोसायटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलेंड की लिप्यंतरण की प्रणाली का पालन किया गया है। कतिपय लेखकों ने प्रांतों के पुराने नामों का प्रयोग किया है जिनका पुनरुद्धार संघ सरकार ने हाल ही में किया है। इसलिए पाठक देखेंगे कि पुस्तक के विभिन्न खंडों में इनके विभिन्न नाम मिलेंगे। खासकर यह विविधता उन खंडों में मिलेगी जिनका लेखन और मुद्रण पुराने नामों के पुनरुद्धार से पूर्व या बाद में हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। इनका उल्लेख अनुक्रमणी में प्रति-निर्देश के जरिए कर दिया गया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में काफी विलंब हो गया है। इसके लिए संपादक मंडल को हार्दिक खेद है। किंतु इस संबंध में कुछ कर सकना उनके वश के बाहर था। राजनीतिक उथल-पुथल, सरकार में परिवर्तन, विभागों के पुनर्गठन के लिए प्रशासनिक निकायों के गठन और अंत में, उपर्युक्त सभी वजहों से आर्थिक तंगी होने के कारण इस पुस्तक के प्रकाशन में बाधाएं उपस्थित हुईं। किंतु हैदराबाद में एक के बाद दूसरी जो भी सरकारें आईं उनके साहित्यिक उत्साह और प्रबुद्ध दृष्टिकोण के कारण इस कार्य की महत्ता बराबर मानी गई और नवाब अली यावर जंग के प्रभाव के कारण और श्री एल० एन० गुप्त ने पहले तो वित्त-सचिव के रूप में, फिर शिक्षा-सचिव के रूप में जिस विवेक से इस मामले को संभाला, उससे जो अनुदान व्ययागत (लैप्स) हो गए थे उनकी पुनः मंजूरी और काम को आगे बढ़ाने की इजाजत मिली।

दकन की ललित कलाओं वाला खंड 10 सन 1952 ई० में प्रकाशित हुआ था। 1953 ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस का हैदराबाद में जो अधिवेशन हुआ था उसमें प्रतिनिधियों की इच्छा थी कि एलोरा, अजंता और रियासत के अन्य स्थानों के स्मारकों के बारे में जिन्हें वे देखना चाहते हैं ऐतिहासिक और कलात्मक महत्व का परिचय देने वाली कोई प्रामाणिक पुस्तिका होनी चाहिए। उनकी इस इच्छा की पूर्ति के लिए ही यह लेख एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया था। इसका साहित्यिक क्षेत्रों में और आम जनता में हार्दिक स्वागत हुआ था जिसके फलस्वरूप इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

इस पुस्तक की छपाई आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस में हुई है। उन्होंने ही इसके हाफटोन फलक तैयार कराए और इसकी जिल्दबंदी कराई। मुद्रक और उनके कुशल कर्मचारियों ने पुस्तक को बड़ी रुचि लेकर और सावधानी से छापा है जिससे इसमें किसी मानक ग्रंथ की परिशुद्धता और कलात्मकता वर्तमान है। इसके लिए मैं मुद्रक और उनके कर्मचारियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।

जी० याज़दानी
संपादक

ओरेंज ग्रोव
हैदराबाद, दकन
31-1-1960

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षेपिका

अ० हि० आं० क०	अर्ली हिस्ट्री आफ आंध्र कंट्री, के० गोपालाचारी.
अ० हि० इं०	अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, विंसेंट ए० स्मिथ.
अ० हि० द०	अर्ली हिस्ट्री आफ दि दकन, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर.
आ० स० इं०	आर्किअलाजिकल सर्वे आफ इंडिया.
आ० स० इं० ऐ० रि०	आर्किअलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट.
आ० स० रि०	वही
आ० स० वे० इं०	आर्किअलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया.
आ० स० स० इं०	आर्किअलाजिकल सर्वे आफ सदर्न इंडिया.
इं० ऐं०	इंडियन ऐंटिक्वेरी.
इं० क०	इंडियन कल्चर.
इं० ना० क० को०	इंस्क्रिप्शंस आफ नार्दर्न कर्नाटक ऐंड कोल्हापुर.
इं० बि० इं० वे० व०	इंटरकोर्स बिट्वीन इंडिया ऐंड वेस्टर्न वर्ल्ड फ्राम अलिएस्ट टाइम्स टु दि फाल आफ रोम, एच० जी० रालिंसन.
इं० म० प्रे०	इंस्क्रिप्शंस आफ मद्रास प्रेसिडेंसी.
इं० हि० क्वा०	इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली.
अर्थ०	कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अंगरेजी अनुवाद : आर० रामशास्त्री.
ए० इं०	एपिग्राफिया इंडिका.
ए० क०	एपिग्राफिया कर्नाटिका.
ऐ० इं० (टालेमी)	मैक्रिंडल कृत ऐंशेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी, संपादक एस० एन० मजूमदार.
ऐ० भ० इं०	ऐनल्स आफ भंडारकर इंस्टिच्यूट.
ऐ० भ० ओ० रि० इं०	ऐनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना.
ऐ० मि० आ० इं०	ऐंशेंट ऐंड मिडीवल आर्किटेक्चर आफ इंडिया, ई० बी० हैवेल.
ऐ० रि० आ० मै०	ऐनुअल रिपोर्ट आफ आर्किअलाजी, मैसूर.
ऐ० रि० आ० स० इं०	ऐनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्किअलाजिकल सर्वे आफ इंडिया.
ऐ० रि० ए०	ऐनुअल रिपोर्ट आफ साउथ इंडियन एपिग्राफी.
ऐ० रि० सा० इं० ए०	ऐनुअल रिपोर्ट आफ साउथ इंडियन एपिग्रेफी.
ऐं० हि० द०	ऐंशेंट हिस्ट्री आफ दि दकन, जी० जे० दुबील.
क० इं०	कर्नाटक इंस्क्रिप्शंस, आर० एस० पंचमुखी.
क० ऐ० ज्या० इं०	कनिंघम की ऐंशेंट ज्याग्रफी आफ इंडिया. व्याख्या और संपादन, सुरेंद्रनाथ मजूमदार.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क॰ क॰ चं॰	कर्नाटक कवि चरित, लेखक—आर॰ नरसिंहाचर.
का॰ ला॰ ऐं॰ इं॰	कार्पोरेट लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया, रमेश चंद्र मजूमदार.
का॰ ले॰	कार्माइकेल लेक्चर्स, 1918, डी॰ आर॰ भंडारकर.
का॰ बि॰ रो॰ एं॰ इं॰	कामर्स बिट्वीन रोमन एंपायर ऐंड इंडिया.
के॰ टे॰ इं॰	केव टेंपुल्स आफ इंडिया, फर्गुसन ऐंड बर्गेस.
के॰ इं॰ क्वा॰	केटलाग आफ इंडियन क्वायंस, आंध्राज, वेस्टर्न क्षत्रपाल आदि, लेखक : ई॰ जे॰ रैप्सन.
कौ॰ अ॰	कौटिल्य अ.
के॰ हि॰ ऐ॰ इं॰	केंब्रिज हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया.
क्वा॰ (का) ऐ॰ इं॰	क्वायंस आफ ऐंशेंट इंडिया, सर ए॰ कनिंघम.
क्वा॰ ज॰ मि॰ सो॰	क्वार्टर्ली जर्नल आफ दि मिथिक सोसायटी, बंगलौर.
गु॰ इं॰	गुप्त इंस्क्रिप्शंस, फ्लीट द्वारा संपादित.
ज॰ ए॰	जर्नल एशियाटिक.
ज॰ ए॰ सो॰ बं॰	जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल.
ज॰ आ॰ रि॰	जर्नल आफ आरियंटल रिसर्च.
ज॰ आ॰ हि॰ रि॰ सो॰	जर्नल आफ आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी.
ज॰ इं॰ हि॰	जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, त्रिवेंद्रम.
ज॰ ग्रे॰ इं॰ सो॰	जर्नल आफ दि ग्रेटर इंडिया सोसायटी.
ज॰ ते॰ ऐ॰	जर्नल आफ दि तेलुगु ऐकेड्मी.
ज॰ न्यू॰ सो॰ इं॰	जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैट्कि सोसायटी आफ इंडिया.
ज॰ बा॰ बा॰ रा॰ ए॰ सो॰	जर्नल आफ दि बांबे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी.
ज॰ बि॰ उ॰ रि॰ सो॰	जर्नल आफ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी.
ज॰ भा॰ इ॰ सं॰ मं॰	जर्नल आफ दि भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना.
ज॰ म॰ यू॰	जर्नल आफ मद्रास यूनिवर्सिटी.
ज॰ रा॰ ए॰ सो॰	जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी.
डा॰ क॰ ए॰	डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज, फ्रेडरिक ईडेन पर्जिटर.
डा॰ क॰ डि॰	डाइनेस्टीन आफ कनड़ीज डिस्ट्रिक्टस.
डा॰ हि॰ ना॰ इं॰	डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, एच॰ सी॰ रे.
ता॰ प॰	ताम्रपत्र.
दीप	दीपवंस, हर्मन ओल्डेनवर्ग का अंगरेजी अनुवाद.
न्यू॰ इं॰ एं॰	न्यू इंडियन एंटिक्वेरी.
न्यू॰ सि॰	न्यू सिरीज
पेरिप्लस	पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी॰, अंगरेजी अनुवाद : डब्ल्यू॰ एच॰ शाफ.
पो॰ हि॰ ऐ॰ इं॰	पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया (तीसरा संस्करण) हे॰ च॰ रायचौधुरी.
प्रो॰ इं॰ हि॰ कां॰	प्रोसीडिंग्स आफ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस.
बा॰ क॰	बांबे कर्नाटक.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बां० ग०	बांबे गजेटियर.
बु० रि० आ०	बुद्धिस्ट रिमेंस इन आंध्र ऐंड हिस्ट्री आफ आंध्र बिटवीन 225 ऐंड 641 ए० डी०, के० आर० सुब्रह्मण्यम्.
बु० स्तू० अ० ज०	बुद्धिस्ट स्तूपाज आफ अमरावती ऐंड जग्गयपेट, डा० जे० बर्गेस.
ब्रि० म्यू० कै०	कैटेलाग आफ दि इंडियन क्वायंस इन ब्रिटिश म्यूजियम, ई० जे० रैप्सन.
म० ए० रि०	मद्रास एपिग्राफिकल रिपोर्ट्स.
महा०	महावंस, अंगरेजी अनुवाद : विल्हेम गीगर.
मे० आ० स० इं०	मेमायर्स आफ आर्किअलाजिकल सर्वे आफ इंडिया.
मै० आ० रि०	ऐनुअल रिपोर्ट्स आफ आर्कलाजी, मैसूर.
मै० आ० स० रि०	मैसूर आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स.
लो० रि०	लोकल रिकार्ड्स (इन दि गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्टस लाइब्रेरी, मद्रास).
ल्यूडर्स	ए लिस्ट आफ ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस फ्राम अर्लिएस्ट टाइम्स टु अबाउट 400 ए० डी० विद दि एक्सेप्शन आफ दोज आफ अशोक, एपिग्राफिया इंडिका, खंड 10 का परिशिष्ट.
शि० ले०	शिलालेख.
सा० इं० इं०	साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस.
सा० इं० ए० रि०	साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट्स.
से० इं०	सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस आन इंडियन हिस्ट्री ऐंड सिविलिजेशन, दि० च० सरकार.
सो० मि० हि० द०	सोर्सेज आफ दि मिडीवल हिस्ट्री आफ दि दकन, जी०एच० खान.
हि० इं० इं० आ०	हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, ए० के० कुमार स्वामी.
हि० इं० स० इं०	हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस आफ सदर्न इंडिया.
हि० स्के० ऐ० द०	हिस्टारिकल स्केचेज आफ ऐंशेंट दकन, के० बी० सुब्रह्मण्य अय्यर.
है० आ० सि०	हैदराबाद आर्किअलाजिकल सिरीज.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय सूची

भाग : एक

1. **दकन का भूगोल** : लेखक—प्रोफेसर हेमचंद्र रायचौधरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, फे० रा० ए० सो० बं०, भूतपूर्व कार्माइकेल प्रोफेसर आफ हिस्ट्री, कलकत्ता विश्वविद्यालय □ 1
2. **प्राक्-सातवाहन काल और सातवाहन काल** : लेखक—प्रोफेसर गुर्ती वेंटकटराव, एम० ए०, एल० एल० बी०, अध्यक्ष, इतिहास और राजनीति विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय □ 57
3. **वाकाटक वंश का इतिहास** : लेखक—डा० अ० स० अल्तेकर, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग, पटना विश्वविद्यालय □ 139
4. **बादामी के चालुक्य** : लेखक—प्रोफेसर के० ए० नीलकंठ शास्त्री, अध्यक्ष, भारती विद्या विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय □ 189
5. **राष्ट्रकूट वंश का इतिहास** : लेखक—डा० अ० स० अल्तेकर, भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी □ 233
6. **कल्याणी के चालुक्यों का इतिहास** : लेखक—प्रोफेसर के० ए० नीलकंठ शास्त्री, भूतपूर्व प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास और पुरातत्व विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय □ 295

भाग : दो

7. **पूर्वी चालुक्य वंश** : लेखक—प्रोफेसर के० ए० नीलकंठ शास्त्री तथा डा० एन० वेंकटरमनैया, एम० ए०, भूतपूर्व रीडर, इतिहास विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय □ 445
8. **सेउणदेश का यादव वंश** : लेखक—प्रोफेसर अ० स० अल्तेकर, एम० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग, पटना विश्वविद्यालय □ 491
9. **वारंगल का काकतीय वंश** : लेखक—डा० एन० वेंकटरमनैया, एम०ए०, भूतपूर्व रीडर, इतिहास विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय तथा एम० सोमेश्वर शर्मा, एम० ए० □ 553
10. **ललित कलाएं : स्थापत्य, मूर्तिकला एवं चित्रकला** : लेखक—गुलाम याज़दानी, एम० ए०, डी० लिट्०, ओ० बी० ई० □ 685
11. **दकन की मुद्राएं** : लेखक—प्रोफेसर ए० एस० अल्तेकर, एम० ए०, डी० लिट्० अध्यक्ष, भारतीय मुद्रा परिषद □ 751

अनुक्रमणिका □ 777

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाग एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड एक

दकन का भूगोल

प्रोफेसर हेमचंद्र रायचौधरी

1. नाम और विस्तार; प्राकृतिक अवस्था; मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य; प्राकृतिक विभाग; पर्वत; वन; झीलें; नदियां; प्राकृतिक वैशिष्ट्य का इतिहास पर प्रभाव.
2. वैदिक साहित्य और महाकाव्यों में दकन; आर्यों की परिधि के बाहर की जातियां; प्राचीन वैदिकेतर ग्रंथ, रामायण-महाभारत; ईसा की दूसरी शताब्दी तक विदेशियों के उल्लेख; प्राचीन काल के कतिपय प्रसिद्ध जनपद : विदर्भ, वत्सगुल्म, भोगवर्धन, मूलक, अश्मक (अस्सक, असक), ऋषिक (असिक) आंध्र (त्रिलिंग, वेंगी), कलिंग, अपरांत, कोंकण, महाराष्ट्र, और कर्णाट (कुंतल).
3. प्रशासन की प्रधान इकाइयां : सातवाहनकाल के प्रारंभ से तेरहवीं शताब्दी तक; देश, मंडल और अन्य छोटे भू-विभाग, भुक्ति और विषय; दशमिक तथा अन्य प्रणालियां.
4. नगर और मंडियां, सातवाहनकाल के बाद की कतिपय राजधानियां.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम और विस्तार

इस पुस्तक में दकन शब्द का प्रयोग उस ऐतिहासिक भूमि के लिए किया गया है जिसका विस्तार सह्याद्रि पर्वत से लेकर दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा तक और पश्चिम में अरब सागर से पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक है। सह्याद्रि को ही सातमाल, चांदोर, अजंता या इंध्याद्रि पहाड़ी भी कहते हैं। यह पहाड़ी उस पठार के जरिए महेंद्रगिरि से जुड़ी हुई है जो महानदी और गोदावरी के बीच जलविभाजक (वाटरशेड) का काम करता है।

उपर्युक्त भूभाग मोटे तौर पर 13°59′ और 20°33′ उत्तर अक्षांश और 72°54′ और 84°26′ पूर्वी देशांतर के बीच स्थित है। इसमें मराठवाड़ा और बंबई प्रेसिडेंसी के कन्नड़भाषी इलाके, हैदराबाद राज्य, बरार का दक्षिणी भाग, मध्यप्रदेश के समीपवर्ती कुछ जिले, महेंद्रगिरि और कृष्णा नदी के बीच के उड़ीसा और मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ भाग शामिल हैं। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग 2 लाख वर्गमील और आबादी लगभग 4 करोड़ है।

दकन संस्कृत के 'दक्षिण' शब्द का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है दाहिना हाथ या दक्षिण दिशा। यह नाम भारतीय साहित्य और अभिलेखों में प्रचलित था। 'पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' में इस नाम का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ की रचना पहली शताब्दी में एक यूनानी नाविक ने की थी। पांचवीं शताब्दी में फाहियान ने 'त-श्सिन' के रूप में इसका उल्लेख किया है। इसी नाम के रूप हैं : दाक्षिणात्य और दक्षिणाशा। किंतु क्लासिकल संस्कृत साहित्य और अभिलेखों में इसका सबसे प्रचलित नाम दाक्षिणापथ था।

अति प्राचीन काल से विभिन्न अर्थों में इस नाम का प्रयोग हुआ है। विस्तृत अर्थों में यह उस समस्त भूभाग का नाम है जो विंध्य और दक्षिण समुद्र के बीच स्थित है—'दक्षिणस्य समुद्रस्य तथा विंध्यस्य चांतरे'। 'भरत नाट्यशास्त्र'[1] और 'पुराणों' के 'भुवनकोश' भी इस अभिधान से परिचित हैं। 'मत्स्यपुराण'[2] उत्तर में इसकी सीमा कारूष तक बतलाता है। कारूष पूर्वी विंध्य की कैमूर पहाड़ियों के इर्द-गिर्द का पहाड़ी इलाका था। पालि 'जातक' के अनुसार यह पश्चिमी विंध्य के पास अवंति तक फैला था। 'पेतुवत्थु टीका'[3] में तो दकन के अंदर दक्षिण में दमिल 'विषय' अर्थात तमिल प्रदेश भी था। समुद्रगुप्त के प्रशस्तिकार हरिषेण ने दक्षिणापथ में महानदी घाटी से कांची तक का समस्त प्रदेश शामिल किया है। उसने दक्षिण में महाकांतार को भी शामिल किया है। यह महाकांतार ठीक ठीक कहां था इसका निश्चय अभी तक नहीं हो पाया है। अतः यह बतलाना कठिन है कि हरिषेण दकन की उत्तरी सीमा कहां तक मानता था। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में दक्षिणापथ को माहिष्मती और नर्मदा के परे बतलाया गया है। परवर्ती चालुक्य अभिलेखों में दक्षिणापथ की परिभाषा थी—'सेतु नर्मदा मध्यम दक्षिणापथम्' (दकन रामेश्वरम के सेतु से नर्मदा तक फैला है)। यह भी मूलतः भिन्न नहीं है।

इससे काफी पहले अर्थात ईसा की पहली शताब्दी में 'पेरिप्लस' ने 'दचिनाबेडीज' अर्थात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणापथ शब्द का इस्तेमाल वेरीगाजा अर्थात नर्मदा के तट पर भड़ोच से परे के प्रदेश के लिए किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें दमिरका अर्थात द्रविड़ प्रदेश को शामिल नहीं किया गया है। इस ग्रंथ में लिखा है कि वेरीगाजा से परे सटा हुआ समुद्रतट सीधी रेखा में उत्तर से दक्षिण की ओर जाता है, इसलिए इस प्रदेश को 'दचिनावेडीज' कहते हैं क्योंकि स्थानीय भाषा में 'दचनोस' का अर्थ दक्षिण होता है। इस क्षेत्र की मंडियों में पैठन और तगर (तेर या थैर), जो इस समय हैदराबाद में है, प्रसिद्ध थीं। 'दरिमरिका' के बाजारों का अलग से उल्लेख हुआ है।

'रामायण'-'महाभारत' दोनों ही महाकाव्यों में संभवतः दक्षिणापथ में सुदूर दक्षिण को शामिल नहीं किया गया है। 'रामायण' में द्रविड़ों को दक्षिणापथ से पृथक रखा गया है।[4] 'महाभारत' में सहदेव सुदूर दक्षिण में पांड्य के राजा को हराने के बाद दक्षिणापथ के राजाओं को जीतते हैं।[5] संभवतः किष्किंधा गुहा (तुंगभद्रा के पास) उस समय दक्षिणापथ के उपांत में थी। उत्तर में इसका विस्तार विदर्भ या बरार तक था :

'एष पंथा विदर्भाणां असौ गच्छति कोसलान्।
अतः परंच देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः॥'

[यह रास्ता विदर्भ (बरार) को जाता है, और वह कोसल प्रदेश (महानदी की ऊपरी घाटी) को। उसके परे दक्षिण में दक्षिणापथ है][6]।

'महाभारत' के इन वचनों में दक्षिणापथ का जो विस्तार दिया है, इस पुस्तक में हमने वही स्वीकार किया है।

प्राकृतिक अवस्था : मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य

संकुचित अर्थ में भी दकन का प्रयोग करें तो भी इसमें काफी विस्तृत प्रदेश शामिल है। इसमें अगणित प्रकार की मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य हैं। विस्तृत मृदुशाद्वल, धान्य से मुसकराते लहरदार मैदान, विलक्षण पहाड़ियां और दोल पत्थर, अत्युर्वर वन, खड़ी चट्टानों के पर्यंक पर उछलते-कूदते फेनिल जलप्रवाहों में भय और सौंदर्य दोनों से भरे दृश्य मिलते हैं। सोने की चट्टानें, कपास के लिए उपयुक्त काली मिट्टी, जलोढ़ भूमि के मैदान और हीरे की खानों से भरे बीहड़—ये सभी देश की प्राकृतिक संपदा में वृद्धि करते थे जैसा कि सिंगरेणी की कोयले की खानें आज भी कर रही हैं।

प्राकृतिक विभाग

भौगोलिक दृष्टि से देश के तीन प्राकृतिक विभाग हैं : (1) उठा हुआ त्रिभुजाकार पठार जिसके उत्तर में सातमाल की पहाड़ियां और पश्चिम और पूरब में क्रमशः पश्चिमीघाट और पूर्वी घाट हैं, जो समुद्र तट से समांतर चलते हैं और नीलगिरि में एक गांठ की भांति जुड़ जाते हैं (2) अरब सागर और पश्चिमीघाट के बीच का संकरा सा मैदान, और (3) उससे कुछ चौड़ा पूर्वीघाट और बंगाल की खाड़ी के बीच का निचला मैदान।

विशाल मध्य अधित्यका समुद्र से 1000 से 3000 फुट ऊंची है। इसमें उन स्थानों पर जहां नदियों की घाटियां हैं अवनमन हैं। इसमें यत्रतत्र पहाड़ियां और पर्वतस्कंध हैं जिनकी ऊंचाई 2500 फुट है। कहीं कहीं तो ये 3500 फुट ऊंचे भी हैं। पश्चिम की ओर ये अधिक ऊंचे हैं। पश्चिमी घाट से मद्रास प्रेसिडेंसी में समुद्रतट की ओर इनकी ऊंचाई बराबर घटती गई है। इस पठार में भूगोल और भाषा की दृष्टि से अलग अलग विभाग हैं। गोदावरी नदी और उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहायिका मंत्रा उत्तर पश्चिम के अत्युर्वर वनस्पतियों से भरे ट्रेप क्षेत्र को जिसमें मुख्य रूप से मराठे रहते हैं, उस ग्रेनाइट और केल्सियम वाले प्रदेश से अलग करती हैं जिसमें नंगी चट्टानें और बलुआ मिट्टी है और जो मुख्य रूप से तेलुगुभाषियों का इलाका है। पठार का 'धारवाड़ी चट्टानों' वाला दक्षिण पश्चिमी भाग एक तीसरा प्रदेश है जिसे कन्नड़, कर्णाट या कर्नाटक कहते है। यहां की भाषा कन्नड़ है। इस प्रदेश को बीदर से कारवाड़ तक एक लहरदार रेखा मराठवाड़ा से और बीदर से अडोनी तक एक दूसरी रेखा तेलंगान से अलग करती है। इस प्रदेश के नाम की व्युत्पत्ति कभी कभी कार=काला, नाडु=देश अर्थात काला देश से करते हैं। यह शब्द यहां की कपास की काली मिट्टी के लिए बड़ा उपयुक्त है 'कृष्णभूमि क्षेत्र, विख्यातकृष्णवर्ण··· विषय' अपनी काली मिट्टी के लिए दकन का यह प्रदेश युगों से प्रसिद्ध रहा है। इस भूमि को जो नदी सींचती है उसका कृष्णा, कृष्णवर्णा या कृष्णवेणी नाम उपयुक्त ही है।

अरब सागर या पश्चिम समुद्र से लगी संकरी निचली भूमि की चौड़ाई तीस से साठ मील तक है। यह एक ऊबड़-खाबड़ प्रदेश है। इसे पश्चिमीघाट के पर्वतस्कंध जहां-तहां तोड़ते हैं, छोटी छोटी नदियां इसे स्थान स्थान पर काटती हैं, संकरी खाड़ियां और लघु निवेशिकाएं इसे टेढ़ी-मेढ़ी रेखा पर काटती हैं। कहीं कहीं दृश्य मनोरम हैं, चट्टानी लघुद्वीप और अंतरीप हैं, बालू के पुलिन हैं जिनके किनारे नारियल वृक्षों की पंक्तियां है, धान के लहराते खेत हैं, विशाल मुहाने हैं जो फैलकर झीलों की तरह के वेलासंगम बन गए हैं। प्राचीन काल में इस तट पर अनेक पोत्राश्रय और पण्यनगर थे। ये प्राचीनकाल में भारत की शक्ति और समृद्धि के सूचक थे।

पूर्वी तट की मैदानी पट्टी पश्चिम की अपेक्षा अधिक चौड़ी है। पूर्वीघाट पर्वतस्कंधों द्वारा कहीं कहीं अंतरीपों में परिवर्तित हो गया है। पूर्वी समुद्र तट पर आश्रयस्थलों का प्रायः अभाव है। अतः यह तट प्राकृतिक बंदरगाहों के योग्य नहीं है। यहां वर्षपर्यंत बड़े जहाजों के आने के लिए पर्याप्त जल नहीं है। किंतु इस तट पर खुले पोताश्रय हैं जहां जहाज लंगर डाल सकते हैं। टालेमी ने कृष्णा के मुहाने से थोड़ी ही दूर पर ख्राइसे या सुवर्णभूमि को जानेवाले जहाजों का प्रस्थानबिंदु देखा था। सुवर्णभूमि गंगापार भारत और उसके पड़ोस के समुद्र में स्थित द्वीपों को कहते थे। गोदावरी और कृष्णा नाम की दकन की बड़ी बड़ी नदियां पूर्वी घाट को काटती हैं और उर्वर डेल्टों का निर्माण करती हैं। ये डेल्टे दक्षिण के धान्यागार हैं ('देशम्··· अशेषसस्य प्रचुरफलयुतम्)'।

पर्वत

दकन का स्वरूप मुख्य रूप में उसकी पर्वतशृंखलाओं पर निर्भर है। पश्चिम में पश्चिमीघाट है। यह सात 'कुलपर्वतों' में एक है। प्राचीन लेखकों ने इसे सह्याद्रि कहा है। इसका उत्तरी भाग सातमाल, जिसे सह्याद्रि पर्वत भी कहते हैं, एक पर्वतस्कंध मात्र है। पश्चिमीघाट एक लंबी दीवार जैसा है जिसके अधिकांश भाग की ऊंचाई लगभग 4000 फुट है। सह्याद्रि के किलानुमा शिखरों ने दक्षिण भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन पहाड़ियों को बहुत से दर्रे स्थान स्थान पर काटते हैं। घाटों के पीछे के पठार और पश्चिमी समुद्रतट के बंदरगाहों के बीच ये दर्रे आवागमन के मार्गों का कार्य करते हैं।

पश्चिमीघाट की जो मुख्य शृंखला है उसमें से बहुत से पर्वतस्कंध निकले हैं। ये पश्चिम से पूरब में मीलों तक मध्य अधित्यका के पार प्रायद्वीप के भीतर घुस गए हैं। ये बड़ी बड़ी नदियों के बेसिनों को एक दूसरे से अलग करते हैं। प्राचीन काल में ये विभिन्न जनपदों की सीमारेखा भी बनाते थे। इनमें सबसे महत्व की पट्टी वह है जो ताप्ती और गोदावरी की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घाटियों को अलग करती है। यह दकन के पठार की उत्तरी दीवार है। इसका नाम सह्याद्रि पर्वत है। यह नाम इसे उस मूल पर्वत से ही मिला है जिसकी यह शाखा है। सह्याद्रि से यह शाखा नासिक से उत्तर-पश्चिम में समकोण बनाती निकलती है। इसे चांदोर, सातमाल, इंध्याद्रि या अजंता की श्रृंखला भी कहते हैं। अजंता नाम उसी नाम के उस गांव के कारण पड़ा है जो हैदराबाद रियासत के औरंगाबाद जिले में भोकरदन तालुक में पड़ता है। यह गांव पर्वतों को काटकर बनाई गई ऐसी गुफाओं के कारण प्रसिद्ध है जिनमें सुंदर भित्तिचित्र बने हैं। वे तत्कालीन चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। अजंता की पहाड़ियां यवतमाल में छिटपुट शिखरों और पर्वतस्कंधों को तोड़कर घुस गई हैं। ये आगे जाकर उस पहाड़ी और पठार की चौड़ी पट्टी से होकर गुजरती हैं जो महानदी के बेसिन को गोदावरी के बेसिन से अलग करती है और अंततोगत्वा पूर्वी घाटों में विलीन हो जाती हैं।

सह्याद्रि का एक दूसरा स्कंध जलना की पहाड़ियों के नाम से विख्यात है। यह देवगिरि अथवा दौलताबाद के किले से जलना तक फैला है और उसके बाद बरार तक चला गया है। यह प्राचीन काल में भोगवर्धन (भोकरदन) और मूलक (पैठन के आसपास का जिला) जनपदों की सीमा का काम करता था। यह उस पठार का अंचल था जिसके एक कगार में पत्थर काटकर अनेक मंदिर और एलोरा की गुफाएं बनी हैं। एक तीसरी श्रृंखला अहमदनगर पहाड़ियों की है। हैदराबाद रियासत की बालाघाट श्रेणी को इसी का विस्तार मान सकते हैं। यह श्रृंखला सह्याद्रि पर स्थित हरिश्चंद्रगढ़ (समुद्रतल से 4691 फुट ऊंचा) से अहमदनगर और भीर होती हुई बिलोली तक जाती है। इससे एक पर्वतस्कंध निकलता है जो अष्टि से गुलबर्गा तक जाता है और गोदावरी और सीना के बीच जलविभाजक का काम करता है। सीना भीमा की सहायक नदी है, जबकि भीमा स्वयं कृष्णा में मिलनेवाली प्रसिद्ध नदी है। पार्जिटर के अनुसार रामायण का ऋष्यमूक यही था। किंतु इस मत से सभी विद्वान सहमत नहीं हैं।

अंत में, महादेव की पहाड़ियां हैं जो महाबलेश्वर से 10 मील उत्तर से प्रारंभ होकर पूरे सतारा जिले को पार करती हैं। इसी पहाड़ी का एक स्कंध कृष्णा और उसकी सहायिका वस्ना के बीच जलविभाजक का काम करता है। महादेव पहाड़ियों के दक्षिण में करहाटक का प्राचीन प्रदेश था जिसे आज कराड कहते हैं। और उत्तर में पूणक (पूना) और पल्यट्ठाण (फल्टक) के प्रसिद्ध विषय (जिले या तालुक) थे।

दकन का पूर्वी पार्श्व (जिसका रुख बंगाल की खाड़ी की ओर है) पूर्वीघाट के नाम से विख्यात है। गौतमीपुत्र सातकर्णि की नासिक की प्रशस्ति में सह्य (पश्चिमीघाट का उत्तरी भाग), कण्हगिरि (कृष्णगिरि, आधुनिक कण्हेरी, जो ठाणा जिले में है) और प्रायद्वीप के अनेक पर्वतों के साथ महिंद (संस्कृत : महेंद्र) का भी उल्लेख आया है। 'पुराणों' में इसकी गणना 'कुलपर्वतों' में की गई है। यह पर्वत गंजाम जिले में महेंद्रगिरि अथवा महेंद्राचल से शुरू होकर कुलक्काल पहाड़ियों तक जाता है। कुलक्काल का भी नाम महेंद्रगिरि है। यह मद्रास प्रेसिडेंसी के तिन्नेवेली जिले में है। पूर्वीघाट पश्चिमीघाट की भांति अखंड दीवार नहीं है। गोदावरी और कृष्णा और अन्य नदियां जो पश्चिम से निकलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं इसे काटती हैं। कई श्रृंखलाओं में यह समुद्रतट की रेखा के समांतर दक्षिण की ओर चला गया है, जहां यह सह्याद्रि से जुड़ जाता है। इस जोड़ या गांठ का नाम नीलगिरि है जो दकन के पठार का सबसे ऊंचा पर्वतशिखर है। यह मिलन तुंगभद्रा-कृष्णा नदियों से काफी आगे होता है। जो हमारे दकन की दक्षिणी सीमारेखा है। रायचुर दोआब की पहाड़ियां इस सीमा पर पहरा देती हैं। पार्जिटर ने मालयवंत की पहचान इससे की है। अन्य विद्वान इसे ऋष्यमूक बताते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यही अधिक संभव भी है। किंतु इस दक्षिणी सीमा की महत्वपूर्ण पहाड़ी कृष्णा के दक्षिण, कुर्नूल जिले में है। प्रसिद्ध श्रीशैल यही है। रुद्रदेव के हनमकोंड अभिलेख में इसे ही तेलिंगान के काकतीयों के राज्य की सीमा बतलाया गया है।

वन

दकन के पर्वत और वन, विशेषकर ट्रेप क्षेत्र में, प्रायः उर्वर वनस्पतियों से ढके हैं। आदियुगीन वन गोदावरी के पूरब में हैं। हैदराबाद रिसायत का प्रचुर क्षेत्र जंगली पेड़ों से भरा है। वारंगल जिले की पाखाल झील के आसपास के घने जंगलों के बारे में कहा जाता है कि 'एक गिलहरी पाखाल के पास एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाकर भद्राचलम तक पहुंच सकती है।' तुंगभद्रा के ऊपरी रीच में मलेनाड अर्थात 'पहाड़ी प्रदेश' में विशाल तनों वाले वृक्ष हैं जिन्हें अजगर की तरह मोटी लताएं घेरे रहती हैं, इनकी भुजाएं हजारों खिले आर्किडों से सुशोभित रहती हैं। विरली पक्षतियों वाले पक्षी एक शाखा से दूसरी शाखा पर फुदकते रहते हैं। अरने भैंसे और ऋष्यों (हिरनों) के झुंड वनस्पतियों की कोंपलें चरते रहते हैं जो यहां प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। जंगलों में लंगूरों की किलकिलाहट गूंजती रहती है। ये वन बस्तर से ही शुरू हो जाते हैं और गोदावरी के किनारे किनारे सेउण प्रदेश तक चले जाते हैं। सेउण में दौलताबाद का क्षेत्र और नासिक का एक हिस्सा शामिल था। अभिलेखों और हेमाद्रि के 'व्रतखंड'[7] में उन्हें प्रसिद्ध दंडकारण्य के अवशेष माना गया है। दंडकारण्य 'रामायणकाल' में गोदावरी और पंपा अर्थात तुंगभद्रा की घाटियों को आवृत किए हुए था। चित्र 'प्रशस्ति' में गोदावरी के तट पर एक वनस्थली का स्पष्ट उल्लेख आया है। 'महाभारत के 'वनपर्व' में 'सप्तगोदावर' के बाद तुंगकारण्य का उल्लेख आया है।[8] सप्त गोदावर से गोदावरी की सात शाखाओं का अभिप्राय है। तुंगकारण्य नाम तुंग नदी पर पड़ा होगा। तुंग नदी पश्चिमीघाट में गंगामूल नामक स्थान से बाराह पर्वत से निकलती है। यह भद्रा की दो धाराओं से मिलकर तुंगभद्रा बन जाती है। 'महाभारत' के 'सभापर्व' में सहदेव की दक्षिण की दिग्विजय के सिलसिले में वैनगंगा (वेनवातट) के पास ही कांतारकों का उल्लेख आया है। संभवतः समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति का महाकांतार यही है। समुद्रगुप्त के राजकवि के प्रायः दो सौ वर्ष पश्चात वाण ने 'कादंबरी' में वनों और उपवनों को परिवेष्ठित करती गोदावरी तथा कमलों के भरे पंपा सर का वर्णन किया है। वाण के समकालीन चीनी यात्री युआन-च्वांग ने कन्नड़ प्रदेश के क्षेत्र में द्रविड़ प्रदेश और कुड्-कन्-न-पु-लो या कुड्-त-न-पु-लो के बीच एक ऐसे जंगल का वर्णन किया है 'जिसमें हत्यारे दस्युओं के झुंड के झुंड रहते थे और इस अंतिम प्रदेश से महाराष्ट्र के मार्ग में एक बहुत बड़ा जंगल था जिसमें जंगली जानवर और लुटेरे भरे पड़े थे।' द्रविड़ प्रदेश और कन्नड़ प्रदेश के बीच जंगल की पहचान हम कदंब राजा काकुत्स्थवर्मन के तालगुंद्र अभिलेख में उल्लिखित श्रीपर्वत के द्वार तक फैले अगम्य वन से कर सकते हैं। कुड्-त-न-पु-लो और महाराष्ट्र के बीच के वन से वराह-मिहिर की 'बृहत्संहिता' में उल्लिखित कर्पाटक से चित्रकूट और नासिक्य (नासिक) प्रदेशों के बीच 'महाटवी' का ध्यान हो आता है।

झीलें

दकन में झीलों की संख्या इसके विस्तार को देखते हुए अधिक नहीं है। 'रामायण' में 'पंचाप्स-रोतटक' (पांच अप्सराओं की झील) और पंपासरस का उल्लेख आया है। 'पंचाप्सरोतटक' का मांडकर्णि या सातकर्णि के साथ उल्लेख आया है[9] और पंपासरस पंपासागर ही है। यह नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुंगभद्रा के किनारे बेल्लारी जिले के हुविहनदगल्लि तालुक में हंपसागर के रूप में आज भी सुरक्षित है। कुलोत्तुंग चोडदेव द्वितीय के चेल्लूर के ताम्रपट्टों[10] में वेंगिमंडल में एक 'महासरस' का उल्लेख आया है। पृथवीश्वर के पिठापुरम् अभिलेख में भी इसका उल्लेख है।[11] कीलहार्न ने अनुसार यह और 'जलम कौनालम'[12] कृष्णा और गोदावरी के मध्य प्रसिद्ध कोल्लेरु या कोलेर झील ही है। चिल्का समुद्र नाम से विख्यात लैगून[13] और पुलिकट का लैगून दोनों हमारे दकन की सीमा के बाहर पड़ते हैं। किंतु हैदराबाद रियासत की सीमा के भीतर और अन्य जगहों में सिंचाई के लिए बड़े बड़े जलाशय बनाए गए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वारंगल जिले की पाखाल और रामप्पा की झीलें हैं। इनके अलावा कुत्बशाही बादशाहों और उनके बाद आसफ जाह खानदान ने भी बड़े बड़े सागर या विशाल जलाशय बनवाए थे। पाखाल झील का निर्माण पाखाल नदी पर, जहां वह दो पहाड़ियों को काटती थी, बांध बांधकर किया गया है। यह जलाशय लगभग 13 वर्ग मील घेरे में है। इसी झील से मुनेर नदी निकलती है जो कृष्णा नदी में मिल जाती है। गार्ला अभिलेख की मौद्गल्य नदी संभवतः यही है। करीमनगर के परकाल तालुक में रामप्पा झील के आसपास बहुत से मंदिर बने हैं। ये उसी शैली के हैं जिसमें हनमकोंड का मंदिर बना है। किंतु इनमें प्रतिमाओं की सजावट बहुत अधिक है।

नदियां

पश्चिमीघाट से दकन का पठार ढलान के रूप में मद्रास के समुद्रतट की ओर गिरता गया है। इसलिए सभी जलप्रवाह पश्चिम से पूरब की ओर ही हैं। जलप्रवाह की दो मुख्य रेखाएं हैं जो दो नदीजालों के रूप में प्रवहमान हैं। एक नदीजाल गोदावरी और उसकी सहायक नदियों का है और दूसरा कृष्णा और उसकी सहायक नदियों का।

गोदावरी का शाब्दिक अर्थ है 'जल या गौ को देने वाली'। क्रुक का मत है कि यह द्रविड़ शब्द 'गोद' (तेलुगु 'गोदे') = सीमा का संस्कृत रूप है। यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह दक्षिणापथ को दो भागों में विभाजित करती है[14] एक उत्तर का ट्रेपक्षेत्र और दूसरा दक्षिण का ग्रेनाइट और केल्सियम का प्रदेश।

भारत की पवित्र नदियों में गोदावरी का बड़ा उच्च स्थान है। दक्षिणनिवासी इसे गंगा या गौतमी गंगा के नाम से पुकारते हैं और इसे आर्यावर्त की भागीरथी गंगा के सदृश ही मानते हैं। 'ब्रह्मपुराण' के 'गौतमी माहात्म्य' से उसकी पवित्रता की पुष्टि होती है। इस नदी का एक स्रोत त्रिबक संस्कृत 'त्र्यंबक' (शिव) के तीर्थ से निकलता है। यह नासिक जिले में अरब सागर से करीब पचास मील दूर पड़ता है। यहां एक ऊंची चट्टान से पत्थर के 'गोमुख' में से पानी नीचे गिरता है। त्रिबक और ब्रह्म पर्वत को जोड़नेवाले पर्वतस्कंध से एक उससे बड़ी धारा निकलती है। पवित्र त्रिबक की सीमा को पार करने पर घाटमाथ प्रदेश से होकर यह नदी एक पहाड़ी शय्या को गहराई में काटती है फिर गंगापुर के झरने के रूप में गिरने लगती है। फिर अनेक कुंडों से गुजरती और नासिक के नगर से होती हुई यह नदी आगे चली जाती है। ये कुंड तीर्थ-स्थान माने जाते हैं जहां लोग स्नान कर पुण्य का अर्जन करते हैं। नासिक को ही 'रामायण' की पंचवटी बताया जाता है। इसके पैठन पहुंचने से पहले काद्रवा (कदवा) और प्रवरा आदि कई नदियां इसमें मिल जाती हैं। पैठन ईसा की दूसरी शताब्दी में पुलुमावि की राजधानी था। पठन से यह हैदराबाद रियासत में बहती हुई आगे चली जाती है। फिर बाईं ओर से पूर्णा और दाईं ओर से मंजरा इसमें मिल जाती हैं। मंजरा 'वायुपुराण' की वंजरा और 'मत्स्यपुराण' की वंजुला है। मराठ और तेलुगु प्रदेश की सीमा यही नदी बनाती है। इससे और आगे प्रान्हिता नदी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेनगंगा, वर्धा (वरदा) और वैनगंगा (वेण्वा) के सम्मिलित जल के साथ इसमें मिलती है। यहां से इस नदी का बहाव स्पष्ट ही दक्षिण-पूरब को हो जाता है। फिर यह प्राचीन चक्रकूट को आंध्र या तेलिंगान से अलग करती है। चक्रकूट आधुनिक बस्तर है और अन्मकोंड (हनमकोंड) आंध्र का आभूषण ('अंध्रावणिमंडल') था। प्रान्हिता के संगमस्थल से करीब 30 मील नीचे बस्तर रियासत से आकर इंद्रवती गोदावरी में मिलती है। फिर भद्राचलम से होती हुई यह आगे बढ़ती है। रामायण के अनुसार राम ने अपने वनवासकाल में भद्राचलम में निवास किया था। भद्राचलम से आगे शबरी नदी इसमें मिलती है। यह नाम किसी वन्य जाति का है जिसका उल्लेख 'ऐतरेय ब्राह्मण' में भी आया है। अब इसके बाद यह नदी पूर्वीघाट में प्रवेश करती है और राजामुंद्री (राजमहेंद्रपट्टण) से होकर आगे बढ़ती है। फिर इसमें चौड़ी चौड़ी रीचें और स्थान स्थान पर जलोढ़ द्वीप बन जाते हैं जिन्हें 'लंका' कहते हैं। फिर सात शाखाओं में ('सप्तगोदावरी') बंटकर यह समुद्र से जा मिलती है।[15] इन शाखाओं के नाम हैं वाशिष्ठी (पश्चिम में), वैश्वामित्री, वामदेवी, गोतमी, भारद्वाजी, आत्रेयी और जामदग्नी। इनमें गोतमी जो पूरब में पड़ती है सबसे पवित्र मानी जाती है।

कृष्णा का नाम संभवतः उस काली मिट्टी 'कृष्णभूमि', 'करेनाडु' के कारण पड़ा है, जिसका यह सिंचन करती है। यह अरब सागर से करीब 40 मील की दूरी पर महाबलेश्वर के पठार की पूर्वी भृकुटी से निकलती है। इसका उद्गम सतारा से करीब तेतीस मील दूर सह्याद्रि के एक पर्वतस्कंध में है। इसलिए प्राचीन अभिलेखों में इसे सह्यजा या सह्यपुत्री भी कहा गया है। एक धारा के रूप में यह एक गोमुख से शिव के एक प्राचीन मंदिर पर गिरती है।

कृष्णा की लंबाई गोदावरी से कम ही है। यह करीब 800 मील लंबी है जबकि गोदावरी 900 मील लंबी है। किंतु कृष्णा और उसकी सहायिकाओं, भीमा और तुंगभद्रा आदि का बेसिन गोदावरी के बेसिन के करीब करीब बराबर ही है। कृष्णा के बेसिन का क्षेत्रफल लगभग 95000 वर्ग मील और गोदावरी के बेसिन का क्षेत्रफल 1,12,000 वर्ग मील है।

यह नदी पहले पूरब और दक्षिण की ओर बहती है फिर मुड़कर दक्षिण-पूरब की दिशा में बहने लगती है। सतारा से करीब तीन 3 मील दूर पूरब माहुली में वेणा या येन्न नदी इसमें मिलती है। फिर कराड से होती हुई यह आगे बढ़ती है, जहां दाईं दिशा से आकर कोइना इसमें मिल जाती है। कराड 'महाभारत' का करहाटक है। सांगली से करीब 3 मील दक्षिण में वर्णा इसमें मिलती है। वेणा और प्रत्यक्षतः वर्णा के संगम के कारण यह कई नाम धारण करती है, जैसे : कण्हवेम्णा, कृष्णवेण्णा, कृष्णबेण्णा, कृष्णवेणा, कृष्णवेणी, कृष्णवेर्णा और कृष्णवर्णा। इसे ही कभी कभी संक्षेप में वेर्णा या वेणी भी कहते हैं। 'पुराणों' में इसके वेणिका और कृष्ण-वेणिका नाम भी आए हैं।

बिजापुर जिले में पश्चिमीघाट से दो सरिताएं घाटप्रभा और इतिहासप्रसिद्ध मलप्रभा कृष्णा में मिलती हैं। इसका पानी एक चट्टान से दूसरी चट्टान से टकराकर हवा में फुहारों का स्तंभ बनाता है और तंग घाटियों के पदतल में गिरकर प्रचंड खड्ड बना देता है। शोरापुर और रायचुर के प्रसिद्ध दोआबों तक पहुंचने के बाद यह हैदराबाद रियासत में पहुंचती है और फिर उस पठार से नीचे उतरती है जिसमें से रास्ता बनाती यहां तक आई थी। इसमें शोरापुर का दोआब भीमा के संगम से बना है। भीमा सह्याद्रि से पूना जिले में भीमाशंकर के मंदिर के पास से निकलती है और पंढरपुर के प्रसिद्ध तीर्थ से होती हुई जाती है। इसकी सहा-यिकाओं में इंद्रायणी, मुलमुथा, नीरा, सीनी और काम्ना प्रसिद्ध हैं। इंद्रायणी देहू और आलंदी से होकर आती है। देहू को तुकाराम ने पवित्र माना था और आलंदी ज्ञानेश्वर का जन्मस्थान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थीं। मुलामुथा के किनारे पूना बसा है, नीरा भोर रियासत में उस पर्वतस्कंध का प्रक्षालन करती है जिसकी चोटी पर तोर्ना है, सीनी अहमदनगर से होकर गुजरती है और काम्ना कभी मान्यखेट के प्रसिद्ध महानगर से होकर बहती थी। रायचुर दोआब कृष्णा और दक्षिण की गंगा तुंगभद्रा के संगम से बना है।[16] यह संगमस्थल आलमपुर से अधिक दूर नहीं है। यह आलमपुर संभवत: गुर्जला के प्राचीन प्राकृत अभिलेख में उल्लिखित हलमपुर है। तुंगभद्रा दो सरिताओं, तुंग और भद्रा, से मिलकर बनी है। ये मैसूर के कडूर जिले की सीमा के पास वराह पर्वत में गंगामूल से निकलती हैं। तुंग शृंगेरी (ऋष्यशृंगगिरि) से होकर गुजरती है और भद्रा से मिलने के बाद हरिहर, हंपी (प्राचीन पंपक्षेत्र जहां विजयनगर था), आनेगुंडि (कुंजरकोण, प्राचीन भूगोल लेखकों का हाथी का कोना) और आलमपुर से होती हुई उससे थोड़ी दूर आगे कृष्णा में मिल जाती है। तुंगभद्रा के जल से पूर्ण हो जाने के बाद कृष्णा श्रीशैलम पहुंचती हैं जहां उसे पाटल-गंगा कहते हैं।[17] श्रीशैलम से पहले ही उसमें हैदराबाद की मुसी और पाखाल झील से निकलने वाली मुनेर (मौद्गल्य) मिलती हैं। फिर धान्यकटक-अमरावती नगरों के और विजयवाटिका (वेजवाड़ा) के बीच के इतिहासप्रसिद्ध प्रदेश से होती हुई कृष्णा दो शाखाओं में बंटकर समुद्र से मिल जाती है। इन दोनों शाखाओं के बीच वह एक विस्तृत डेल्टे का निर्माण करती है।

प्राकृतिक वैशिष्ट्य का इतिहास पर प्रभाव

किसी देश के इतिहास पर उसके भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। दकन की प्राकृतिक विशिष्टता—इसके पर्वतों, वनों, नदीप्रणालियों—ने इसके इतिहास को खूब प्रभावित किया है। इसके उत्तर में पर्वत और जंगल हैं। इन्होंने सिंध और गंगा के मैदानों से इसकी घेरेबंदी की थी। इनके कारण दकन की अपनी अलग दुनिया थी। उसकी अपनी सामाजिक, मानवजातीय और सांस्कृतिक विशिष्टिताएं थीं जैसा कि बोधायन के 'धर्मसूत्र', भरत के 'नाट्यशास्त्र' और वाण के 'हर्षचरित' से प्रकट है।[18] किंतु ये पर्वत और वन उसे उत्तर के प्रभावों से अभेद्य न रख सके। राजपथों की कमी या यात्रा के संकट ऋषियों और मुनियों को जंगलों के खतरों को झेलकर उस प्रदेश में जाने से न रोक सके और उन्होंने दकन में जाकर शांति और सदाचार के संदेश सुनाए और वहां के निवासियों की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में हाथ बंटाया। ये बाधाएं धन की खोज में निकलनेवाले सार्थवाहों और व्यापारियों को भी विचलित न कर सकीं। गोदावरी और उसकी सहायक नदियों को ऊपर से देखती पहाड़ियों के परकोटों को छेदती संकरी घाटियों और दर्रों की राहों से कभी कभी आक्रामक सेनाओं के झुंड के झुंड इन वनों और पर्वतों में घुसते रहे।

सह्याद्रि जो पश्चिमी समुद्रतट से ऊंचे कगारों के रूप में ऊपर उठता है और जिसमें से पठार के मध्य में अनेक पर्वतस्कंध निकलते हैं, नदियां जो बरसात के मौसम में बड़े वेग से उफनती हैं, दुर्गम वन जो अनेक पर्वतों को आच्छादित किए हुए हैं और विभिन्न स्थानों पर नदीघाटियों को ढके हुए हैं, इन सबने इस भूभाग को चीरकर अगणित राजनीतिक टुकड़ों में बांट दिया था। इनके बहुरूपदर्शी परिवर्तनों और संगठनों पर नियंत्रण रखना कठिन था। अनेक पहाड़ियों के शीर्ष भागों में चट्टानों की दीवारें हैं जो इनको सहज ही अभेद्य दुर्गों में परिणत कर लेते थे। इस प्रकार यदि कोई सत्ता प्रायद्वीप को घेरे तीनों समुद्रों ('ति-समुद', अंबुधित्रय') पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहती तो इन दुर्गों से सहज ही उसका प्रतिरोध संभव था। यह विशाल पठार खनिजों और कृषिसंपत्ति से समृद्ध है। इसके पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतटों पर अनेक बंदरगाह हैं जिनके जरिए विदेशों से खूब व्यापार होता था जिससे इस भूभाग की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संपन्नता में और भी वृद्धि होती थी। अस्तु, इस भूभाग में यदाकदा ऐसे विशाल साम्राज्यों की भी स्थापना हुई जिनकी शक्ति और शानशौकत सिंध और गंगा के मैदानों के किसी साम्राज्य से घटकर न थी। नर्मदा और गोदावरी की घाटियों के प्रवेशमार्गों की रक्षा करने वाली पहाड़ी बुर्जों और दुर्गम वनों ने कई बार उत्तर के आक्रामकों को वापस भेज दिया था। दक्षिण में रायचुर के 'दोआब' प्राचीन अभिलेखों[19] का एडेदोरेनाड और दक्षिण।पूर्व के 'दो नदीजिलों' ('सिंधुयुग्मांतरदेश) की रक्षा करने वाली पहाड़ियों और वनों की कोई अविच्छिन्न शृंखला नहीं है। इसलिए आक्रमण की दृष्टि से उत्तरी भागों की अपेक्षा ये प्रदेश अभेद्य न थे। जब तुंगभद्रा और कृष्णा के दोनों किनारों पर दांतों को कटकटाती सेनाएं एकत्र हो जाती थीं तो यह भूमि प्रायः रक्त से लाल हो जाती थी। किंतु कोप्पल, आनेगुंडि, मुदल, रायचुर, देवरकोंड और नलगोंडा के दुर्ग सहसा आक्रमणों को रोकने के लिए दीवार का काम करते थे। चट्टानों के घेरे में सुरक्षित 'दक्षिणापथपति' की गणना संसार के ऊंचे से ऊंचे राजाओं में होती थी। उन्होंने इस भूभाग को विशाल मंदिरों से सजाया। पहले ये मंदिर पहाड़ी चट्टानों को ही काटकर बनाए जाते थे और उन्हें सुंदर चित्रों और प्रतिमाओं से अलंकृत किया जाता था। इनपर आज भी देश को गर्व है।

संदर्भ

1. 'भरत नाटयशास्त्र' xiv, 39.
2. 'मत्स्यपुराण', 114, 46-8.
3. मललशेखर : 'डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स', i, 1050-1.
4. रामायण, ii, 10, 37.
5. 'महाभारत', xxi, 31, 16 और आगे.
6. वही, iii, 61, 23, 'दक्षिणात्य' शब्द के इस संकुचित अर्थ से 'भरतनाट्यशास्त्र' xxiii, 102 भी परिचित है जहां इसे आंध्र, पुलिंद और द्रमिल से पृथक बतलाया गया है.
7. 'ए० इं०', xii, 246, भंडारकर, 'अ० हि० द०' (1928), 247.
8. 'यहां 'सप्त गोदावरी' का तात्पर्य हो सकता है। पूर्वी गोदावरी जिले के रामचंद्रपुरम् 'तालुक' में 'द्राक्षाराम' में गोदावरी की ये सात धाराएं हैं. 'ए० इं०' xii, 208.
9. 'रामायण', iii, 11, 'रघुवंश' 13, 38.
10. इं० ऐं०, xiv. 57, ए० इं०, 6, 3.
11. वही iv, 51.
12. वही vi, 6.
13. वही v, 56.
14. हेस्टिंग्स : 'इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐंड एथिक्स', vi, 306.
15. 'ब्रह्मपुराण', अध्या० 173, 3-4, ए० इं० xii, 216, 'उसने भीमेश्वर की पूजा की जिसके नजदीक से गुजरती गोदावरी जिसकी लहरें मानो उसकी भृकुटियां हैं और जो अपनी सात धाराओं से मानो सात स्वरों में गीत गाती हैं।' यहां द्राक्षाराम के भीमेश्वर (शिव) के प्रसिद्ध मंदिर का उल्लेख है। इस समय यह मंदिर नदी से 14 मील दूर एक नहर पर है.
16. इं० ऐं० v, 319.
17. ए० इं० iv, 319.
18. 'बोधा० ध० सू०' i, 17-19, 21, 29-31, 'नाट्यशास्त्र' vi, 25;, xxiii, 102; ह० च० मंगलाचरण छंद 7; मिला० 'काव्यादर्श' i, 34 और 40 तथा आगे.
19. ए० इं० xii, 295.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैदिक साहित्य और महाकाव्यों में दकन

जिस भौगोलिक क्षेत्र को हमने दक्षिणापथ कहा है, संभवतः पूर्ववैदिककाल के ऋषियों की दृष्टिसीमा से वह बाहर था। 'ऋग्वेद' के एक मंत्र में दक्षिणापदा 'दक्षिण की दिशा में पैर' का प्रयोग हुआ है। किंतु इसका ठीक ठीक तात्पर्य ज्ञात नहीं है। 'ऋग्वेद' में दकन की किसी अभिज्ञेय जाति, नदी या पर्वत का उल्लेख न होने से यही मानना समीचीन न होगा कि इस उदाहरण में गोदावरी और कृष्णा के जल से सिंचित भूभाग का कोई अस्पष्ट संकेत है। 'काठक संहिता' में कुंतियों का उल्लेख आया है, जिन्हें महाकाव्य अश्वनदीतटवासी बतलाते हैं। अश्वनदी संभवतः असन का नाम था जो चंबल की सहायक नदी है। किंतु दक्षिण के प्रदेशों का संभवतः तब ज्ञान न था। 'शतपथ ब्राह्मण' में एक सृंजय अधिकारी का नाम रेवोत्तरस चाक्र पाटव स्थपति आया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि इसमें रेवा अथवा नर्मदा का उल्लेख है। किंतु यह संदेहास्पद ही है कि रेवोत्तरस का अर्थ 'रेवा के उत्तर का निवासी' है। किसी प्राचीन वैदिक साहित्य में गोदावरी, कृष्णा या उनकी किसी सहायक नदी का नामोल्लेख नहीं है।

'कौशितकी उपनिषद' में दक्षिण पर्वत का उल्लेख अवश्य है। यहां विंध्य से तात्पर्य अवश्य हो सकता है। किंतु इसका तात्पर्य सह्य या महेंद्र से नहीं है। 'पुराणों में विंध्य के क्षेत्र में निवास करने वाली निषाद जाति का उल्लेख है। स्पष्ट है कि 'शतपथ ब्राह्मण' में 'नैषध' के रूप में इनकी ओर इशारा अवश्य है किंतु 'शतपथ' में मराठा और तेलुगु जिलों के निवासियों का कोई उल्लेख नहीं है।

जहां तक 'ऐतरेय ब्राह्मण' का प्रश्न है स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है। इसमें कुरुपांचाल के परे अर्थात चंबल के परे के प्रदेश को 'दक्षिणादिश' कहा है। 'महाभारत' में लिखित परंपरा के अनुसार चंबल पांचाल की दक्षिणी सीमा थी। इस 'दक्षिणादिश' में भोजराजाओं का राज्य था। रामायण-महाभारत काल और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के समय से भोज दकन में थे, उनका संबंध विशेषकर वर्धा की घाटी में विदर्भ और गोदावरी तक दंडक से माना जाता था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के भोज उसी प्रदेश में रहे होंगे। 'ब्राह्मण' साहित्य में विदर्भ के राजा भीम का स्पष्ट उल्लेख है। इससे इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। 'जेमिनीय ब्राह्मण' के अनुसार यह प्रदेश अपने ऐसे कुत्तों के लिए प्रसिद्ध था जो बाघों को भी मार डालते थे। ध्यान देने की बात यह है कि अभी हाल ही में बरार अर्थात प्राचीन विदर्भ के यवतमाल जिले में कुछ जंगली कुत्तों ने एक चीते को घायल कर दिया था।[1] रामायण-महाभारत काल में विदर्भ की राजधानी का नाम कुंडिन था। संभवतः इसी से 'बृहदारण्यक उपनिषद' में उल्लिखित विदर्भ के कतिपय अध्यापकों को कौडिन्य कहा है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में नीच्यों और अपाच्यों का उल्लेख है। इन्हें 'ऐतरेय' पश्चिमी प्रदेश के वासी मानता है। यह कहना कठिन है कि प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग से इनका कोई भी संबंध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। अशोक के समय में अर्थात ई०पू० तीसरी शताब्दी में इससे भी दक्षिण केरलपुत्र जैसे राजाओं के लिए 'निचं' शब्द का प्रयोग हुआ है।

आर्यों की परिधि के बाहर की जातियां

विदर्भों और उनकी तरह की अन्य जातियों के अतिरिक्त जिन पर आर्यों का सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा था 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कई जातियों के उल्लेख आए हैं जिन्हें 'उदांत्यः' (आर्यों की सीमा से परे) और 'दस्यु' कहा गया है। इनमें आंध्रों, पुंड्रों, शवरों, पुलिंदों, और मूतिबों के उल्लेख हैं जो ऐतिहासिक काल में निचली गंगा, नर्मदा, गोदावरी और उसकी सहायक नदियों और कृष्णा की घाटियों में रहते थे।

आंध्र गोदावरी की निचली घाटी और कृष्णा की घाटी में रहते थे। किंतु इनका एक छोटा सा भाग विदर्भ के पास भी था क्योंकि बुलडाना जिले में 'अंध' नामक जाति के कुछ लोग रहते हैं।[2] पुंड्रों की प्रसिद्ध निवासभूमि उत्तरी बंगाल में है। शबर संभवतः विंध्य और शबरी नदी के बीच रहते थे। शबरी गोदावरी की एक सहायक नदी है। पुलिंद रेवा अथवा नर्मदा के तट पर थे। मूतिब नाम से प्लिनी के 'मोदुबै' का ध्यान हो आता है जिन्हें वह अंद्रे अर्थात आंध्रों और गंगा के मुहाने के जलोढ़ प्रदेश की जातियों के साथ रखता है। मोदुबै का संबंध मोलिंदै और ऊवेरे के साथ था। संभवतः ये 'ऐतरेय ब्राह्मण' के शबर और पुलिंद थे।

दस्यु जातियों में कुछ, जैसे आंध्र स्पष्ट ही द्रविड़ थे। दूसरे पोलिनेशियाई मूल से हो सकते हैं। सिल्वां लेवी का यह अनुमान कतिपय जातियों के युग्मों पर आधृत हैं (जैसे कोसल और तोसल, त्रिलिंग और कलिंग) जिनका अंतर आद्य उपसर्गों में होता है।[3]

प्राचीन वैदिकोत्तर ग्रंथ

वैदिक आगमों की समाप्ति और ब्राह्मण हिंदुओं, जैनों और बौद्धों के 'सूत्र' साहित्य के प्रारंभ के साथ साथ हम उस काल में आ जाते हैं जब दकन की जातियों और वहां के स्थानों के बारे में उल्लेखों और संकेतों की मात्रा और निश्चित हो जाती है और पहली बार हमें 'दक्षिणापथ' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'बोधायनधर्मसूत्र', बौद्ध 'सुत्तनिपात' और 'विनयपिटक' में दक्षिणापथ के उल्लेख आए हैं। इनमें एक तो निश्चित रूप से इसकी स्थिति गोदावरी के तट पर बतलाता है। दकन का वैकल्पिक नाम दाक्षिणात्य पाणिनीय सूत्रों में भी मिलता है। बौद्ध साहित्य में दकन के अंतर्गत अस्सक (अश्मक) और मूलक तथा अंधका अर्थात आंध्रों की गणना की गई है जो हैदराबाद रियासत के उत्तरी और पूर्वी जिलों और उससे सटे मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ इलाकों में रहते थे। 'महागोविंदसुत्तंत', जैन 'उत्तरायण सूत्र' और पाणिनि के सूत्रों में कलिंग का भी उल्लेख है जो महाकाव्यों के काल में उड़ीसा में वैतरणी के किनारे किनारे था। इसकी सीमा आंध्र देश तक चली गई होगी। दक्षिण के एक बहुत बड़े इलाके की अभी छानबीन नहीं हुई थी। हमें 'कलिंगारण्य' का उल्लेख भी प्राप्त है। गोदावरी के परे कृष्णा (कण्णपेणा) के जल से सिंचित प्रदेश और तमिलों ('दमिलरट्ठ') का प्राचीन पालिग्रंथों में उल्लेख नहीं है। उनका उल्लेख सबसे पहले 'जातकों' और टीकाओं में मिलता है। जैन 'अंग' जैसे 'भागवती' जिनमें धुर दक्षिण का उल्लेख है, उतने प्राचीन नहीं हैं जितने ये ग्रंथ हैं।

रामायण-महाभारत

'रामायण' के 'किष्किंधाकांड' के 'भौगोलिक वर्णन वाले सर्गों' में पांड्य देश तक के दक्षिण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत का उल्लेख है। यहां तक कि 'अयोध्याकांड' में ही दंडक की दिशा में दक्षिण प्रदेश में वैजयंतपुर का उल्लेख है।[1] यह वैजयंतपुर उत्तरी कन्नड़ में स्थित वैजयंती या बनवासि नगरी की याद दिलाता है। 'रामायण' में ही 'अरण्यकांड' में जो भौगोलिक विवरण दिया है वह इससे कुछ भिन्न है। इस प्रकरण के अनुसार पंपा अथवा तुंगभद्रा से लेकर मध्य भारत में मंदाकिनी और चित्रकूट तक के इलाके में राक्षसों का निवास था जो नरभक्षी थे और ऋषियों की तपस्या में विघ्न डालते रहते थे। 'रामायण' में वनवासी राम-लक्ष्मण के अतिरिक्त इन ऋषियों को किसी पड़ोसी राजा से किसी प्रकार की सहायता मिलने का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रदेश का नाम दंडक अथवा दंडकारण्य दिया है। पार्जिटर के मतानुसार दंडक संभवत बुंदेलखंड से लेकर कृष्णा नदी तक के समस्त आरण्यक प्रदेश का सामान्य अभिधान था। उत्तर में इसका विस्तार यमुना तक रहा होगा। चित्रकूट में सीता को वृक्षों के वे दाग दिखलाए गए थे जो हाथियों द्वारा अपने दांतों से आघात करने के कारण बने थे। इस नैसर्गिक स्पर्श को यदि कवि कल्पना मानकर तिरस्कृत न करें तो यही मानना होगा कि वे हाथी जंगली हाथी रहे होंगे। इससे यह भी पता चलता है कि चित्रकूट उन घने जंगलों से अधिक दूर न रहा होगा जहां इन हाथियों के झुंड रहते थे। हम देख चुके हैं कि परवर्ती लेखक दंडकारण्य का संबंध पूरब में बस्तर से लेकर गोदावरी के ऊपरी भाग तक के प्रदेश से जोड़ते थे। इस महारण्य के विभिन्न भागों के अलग अलग नाम थे। उत्तर में मध्यभारत में चित्रकूट के आसपास के जंगली प्रदेश को मधुकवन, इसके नीचे अगस्त्य ऋषि के भाई के आश्रम के आसपास के प्रदेश को पिप्पलिवन कहते थे। गोदावरी के पास 'नानाव्यालमृगाकुला' पंचवटी थी। राक्षस राजाओं की राजधानी जनस्थान इसके पड़ोस में थी। जनस्थान के दक्षिणी भाग को क्रौंचारण्य कहते थे। ऋष्यमूक पर्वत के पड़ोस में पंपा (तुंगभद्रा) के किनारे का वन मातंगवन कहलाता था।

रामायण का कवि दंडक प्रदेश और उसके आसपास की नदियों और झीलों से परिचित है। किंतु उसने नामतः सिर्फ मंदाकिनी, गोदावरी और पंपा नदियों का ही उल्लेख किया है। 'किष्किंधाकांड' के भौगोलिक वर्णन वाले अध्याय अपेक्षाकृत बाद के हैं। इनमें कृष्णवेणी (कृष्णा) का नर्मदा, गोदावरी, कावेरी और ताम्रपर्णी (तिन्नेवेली जिले में) के साथ उल्लेख है।

'महाभारत' के 'दिग्विजयपर्व', 'तीर्थयात्रापर्व' और 'जंबुखंड' (वृहत्तर भारत के विभाग) पर्व में दकन के विस्तृत उल्लेख हैं। 'महाभारत' के अनेक उपाख्यानों में, जैसे नल और रुक्मि के उपाख्यानों में, इस भूभाग का जिक्र आता है। कुरु राजा दुर्योधन की एक पत्नी कलिंग की राजकुमारी बतलाई गई है। विदर्भ के एक राजा रुक्मि ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में तो भाग नही लिया किंतु कलिंगों, मेकलों, त्रैपुरों आदि के साथ दाक्षिणात्यों के अंतर्गत आने वाली जातियों के रूप में विदर्भ भी लड़े थे।

भीतर के भागों में फिर भी घने जंगल थे। 'सभापर्व' के 'दिग्विजयपर्व' में नर्मदा से वैनगंगा के बीच के निवासियों को आटविक और कांतारक कहा गया है। इसी पर्व में और 'तीर्थयात्रापर्व' में 'पुरुषादों' और 'कालमुखों' का वर्णन है जो मनुष्यभक्षी ('नरराक्षसयोनयः') थे। इन वनों के किनारेवाले क्षेत्रों व समुद्रतटों पर अपेक्षाकृत सभ्य जातियों का निवास था। सोन और नर्मदा के 'प्रभेद' (जलविभाजक) में वंशगुल्मों अथवा वत्सगुल्मों का निवास था जिनका संबंध परवर्ती कालों में पेनगंगा की घाटी से था। पूर्वी तट पर कलिंगों और आंध्रों के प्रदेश थे। अपरांत (पश्चिमी तट) में शूर्पारक के प्रदेश और तीर्थ का उल्लेख है जिसका संबंध राम-जामदग्न्य (परशुराम) से था। मजेदार बात यह है कि पूर्वी तट से थोड़ी दूर पर महेंद्र पर्वत का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संबंध भी इन्हीं ऋषि से बतलाया गया है। पठार के भीतर संजयंती (संजान), विधर्मी करहाटक या कराड, कोल्लगिरि और बनवासि (उत्तर कन्नड़) के नगर प्रसिद्ध थे। अश्मक, गोपराष्ट्र (नासिक में), कोंकण (पश्चिमीघाट और समुद्र के बीच), कर्नाटक और कुंतल (कन्नड़ प्रदेश में) और महिषक (संभवतः मैसूर) के उल्लेख 'आदिपर्व' और 'भीष्मपर्व' के 'जंबुखंड' में आए हैं जो अपेक्षाकृत बाद के हैं।

'महाभारत' के वर्तमान स्वरूप के काल में तो दकन ब्राह्मण संस्कृति की परिधि के बाहर न था जैसा कि 'ऐतरेय ब्राह्मण' और 'बोधायन धर्मसूत्र' के समय में था। सोन और नर्मदा के बीच की भूमि को पवित्र माना जाता था। कुरुदेश के लोग भी गोदावरी, उसकी सप्तधाराओं के उद्गमस्थान (सप्तगोदावरा) और उसकी सहायिकाओं के संगमों (वेणासंगम, वरादासंगम) आदि की पवित्रता को स्वीकार करते थे। भीमा (भीमरथी) और ृष्णा को भी, विशेषकर उस स्थान को जिसे देवह्रद और श्रीशैल (श्रीपर्वत) कहते हैं, पवित्र मानते थे।[5] अन्य तीर्थों में शूर्पारक में रामतीर्थ और गोकर्ण (उत्तरी कन्नड़ में) की गणना थी। इन तीर्थों में अधिकांश का संबंध राम दाशरथि, जिन्होंने गोदावरी को पवित्र किया, राम जामदग्न्य जिन्होंने महेंद्र पर्वत और शूर्पारक (सोपारा, उत्तर बंबई) को पवित्र किया और अगस्त्य के साथ जोड़ा जाता है जिन्हें दक्षिण की खोज और वातापि (बादामि) और इल्वल (अय्यावोले अथवा ऐहोले) नामक राक्षसों का नाश करने का श्रेय दिया जाता है।

ईसा की दूसरी शताब्दी तक विदेशियों का उल्लेख

बाइबिल में ओफिर अथवा सोफिर की ओर अस्पष्ट इशारा है जिसे कनिंघम खंभात की खाड़ी के पास रखता है किंतु जो वस्तुतः सिंधु की निचली घाटी में सौवीर अथवा सोवीर है। यदि हम इस उल्लेख को छोड़ दें तो विदेशी जातियों में सबसे पहले भारत के बारे में ईरानी और यूनानी लोगों के लिखे वर्णन प्राप्त होते हैं। ईरान के अखमनी अभिलेखों (ई०पू० छठी और पांचवी शताब्दी) और हेकाटइओस और हेरोडोटस के समसामयिक वर्णन गंधार घाटी और राजपूताना तक सिंध की घाटी के बारे में है। इनमें ताप्ती घाटी के दक्षिण के बारे में कोई उल्लेख नहीं प्रतीत होता। हेरोडोटस के वर्णन में ऊन के पेड़ों का उल्लेख है। हो सकता है कि ये उल्लेख उन सिल्क कपास वृक्षों के हों जिनका उल्लेख बाण ने अपनी 'कादंबरी' में गोदावरी से पंपा तक फैले महावन के वर्णन में किया है। किंतु यह अनुमान आवश्यक नहीं है। सिकंदर (ई०पू० 325) के पाइलट ओनेसिक्रिटोस ने ताप्रोब्ने (ताम्रपर्णी, लंका) के द्वीप का उल्लेख किया है। वह शायद दक्षिण के कुछ भागों से परिचित था। एरियन ने मेगस्थनीज को उद्धृत किया है जिसमें उसने सिंधु और गंगा और उनकी सहायक नदियों के बारे में विस्तृत जानकारी दी है। मेगस्थनीज ने संभवतः दकन की नदियों का कोई वर्णन नहीं लिखा था। उसने 'तगवेना' का जिक्र अवश्य किया है। इसकी पहचान तुंगवेणा या तुंगभद्रा से की जाती है किंतु जिस अंश में यह उल्लेख है उसकी प्रामाणिकता संदेहास्पद है।[6] मेगस्थनीज ने उस भूभाग का उल्लेख किया है जहां हेराक्लीस की पुत्री (पंडै) राज्य करती थी। इससे अनुमान है कि संभवतः मेगस्थनीज को सुदूर दक्षिण भारत का ज्ञान था। मेगस्थनीज ने मुक्तामत्स्य पालन का जिक्र किया है।[7] यह स्पष्ट ही इसी प्रदेश की बात है। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि मेगस्थनीज को सुदूर दक्षिण में पंडै (पांड्य) के राज्य का पता था। परंतु यदि मेगस्थनीज को खास दकन की जातियों और नदियों के बारे में कोई जानकारी थी तो परवर्ती लेखकों द्वारा हमें वह दी नहीं गई है।

प्लिनी (मृत्यु सन 79 ई०) ने कुछ अतिरिक्त सूचनाएं दी हैं। उसने दकन में रहने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाली कई जातियों का उल्लेख किया है। इनमें अस्मगि (गोदावरीतट के अश्मक), समुद्र से सबसे नजदीक के कलिंगै (निस्संदेह पूर्वी तट के कलिंग), आंद्रे या आंध्रों जो गोदावरी और कृष्णा के डेल्टे में थे, मोलिंदै, उवेरै, सुआरि और मोदुबै अर्थात पुलिंदों, शवरों और 'ऐतरेय ब्राह्मण' के मूतिबों के नाम हैं।

आंध्रों और कलिंगों के बारे मे कुछ महत्वपूर्ण ब्यौरे उपलब्ध हैं। इनमें आंध्र बड़े शक्तिशाली थे। इनके असंख्य गांव थे, 30 नगर थे जो परिखाओं और बुर्जों से सुरक्षित थे। इनके राजा की सेना में 1,00,000 पैदल, 2,000 घुड़सवार और 1,000 हाथी थे।

जहां तक कलिंगों का प्रश्न है, संभवत: ये कई शाखाओं में विभक्त थे। इनमें कलिंगै खास संभवत: मुख्य थे, ये 'समुद्र' से 'सबसे नजदीक' थे। अर्थात जैसा कि हम भारतीय प्रमाणों से जानते हैं, ये तटीय प्रदेश में रहते थे, कालिदास के समय में इनकी राजधानी के वातायन समुद्र की ओर झांकते थे। तूर्यनाद भी समुद्र के गर्जन में दब जाता था। प्लिनी के एक परिच्छेद में उन्हें गंगातीर की जातियों में शुमार किया गया है। इसके एक दूसरे परिच्छेद का अर्थ यह किया गया है कि उनका संबंध निचले बंगाल के गंगरिदै से था। किंतु मोनाहन ने बतलाया है कि इस खंड का जो दूसरा पाठ है उसमें गंगरिदै और कलिंग दो अलग अलग जातियां मानी गई हैं। हो सकता है कि प्लिनी ने उत्तर भारत की भागीरथी गंगा और गौतमीगंगा या गोदावरी को एक समझ लिया हो।

कलिंगै की राधजानी का नाम पार्थलिस दिया है। संभवत: यह वही नगर है जिसका 'अस्सक जातक' में अस्सकों (अश्मकों) की राजधानी पोतलि के रूप में उल्लेख आया है। 'चुल्लकलिंग जातक' में कलिंगों और अस्सकों की विजय का उल्लेख है। इससे इन दोनों का एक सम्मिलित राज्य बना होगा जिसकी राजधानी पोतलि थी। राजधानी के अलावा प्लिनी ने केपकलिंगोन (कलिंग अंतरीप) और दंदगुल नगर का उल्लेख किया है जो निश्चय ही 'महाभारत' का दंतकूर और अन्य ग्रंथों का दंतपुर है। दंदगुल को उसने गंगा के मुहाने से 625 मील दूर बतलाया है। इसकी पहचान लांगुलिया नदी के मुहाने पर चिकाकोल के पास के एक स्थान से की गई है।

प्लिनी ने कलिंगै खास के अलावा मक्कोकलिंगै और मोडोगलिंगै के भी उल्लेख किए हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' में हम मत्स्य कलिंग और भद्रकलिंग के उल्लेख पाते हैं।[8] प्लिनी द्वारा उल्लिखित दो जातियां यही रही होंगी। किंतु कतिपय विद्वानों का मत है[9] कि मोडोगलिंगै मोदग (तेलुगु 'मुडूग'=तीन)+लिंग=त्रिलिंग अथवा तेलुगु प्रदेश, अथवा मोदो=मूंड=तीन+गलिंग-कलिंग अर्थात त्रिकलिंग है। दूसरे शब्दों में इन विद्वानों ने इसका अर्थ त्रिलिंग (आंध्रदेश) या त्रिकलिंग (महानदी घाटी और विजगपटम जिले के हिस्से) किया है। इसमें वे अधिक संभवत: त्रिकलिंग ही बतलाते हैं। जब तक कि और प्रमाण उपलब्ध न हो जाएं इस संबंध में कोई निश्चित राय बताना संभव नहीं है। मत्स्यकलिंग संभवत: विजगापटम इलाके में ओड्डवाडि प्रदेश रहा होगा जिसका दिब्बिद के ताम्रपट्टों में उल्लेख है।[10]

सिंहल द्वीपवासियों और कलिंगै के बीच व्यापार संबंध का प्रमाण एक दूसरे यूनानी लेखक के विवरणों में मिलता है।[11] 'पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' में दकन के बारे में स्पष्ट ही अधिक जानकारी मिलती है। यह ग्रंथ किसी यूनानी नाविक ने लिखा था जो प्लिनी का समकालीन था, पर उसके नाम का पता नहीं है। इसके लेखक को इस प्रदेश का नाम 'दचिनाबेडीज' (दक्षिणापथ) ज्ञात था। उसने दकन के पश्चिमी समुद्रतट की अनेक मंडियों का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में देश के भीतरी भागों का भी वर्णन है, यद्यपि यह उतना विस्तृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं है जितना कि पश्चिमी तट का। इस ग्रंथ में हमें महानगरों, जैसे : पैठन और तगर के भी उल्लेख मिलते हैं। पैठन हैदराबाद रियासत के औरंगाबाद जिले में गोदावरी के तट पर हैं। और तगर उस्मानाबाद जिले में तेर (थेर) है। यह पैठन से करीब 95 मील दक्षिण-पूरब में हैं। इसमें कई शुष्क इलाकों और बड़े बड़े पर्वतों और तरह तरह के वन्य जानवरों, जैसे : चीते, बाघ, हाथी, विशाल अजगर, भेड़िए और तरह तरह के बंदरों और लंगूरों के भी उल्लेख हैं।

'पेरिप्लस' ने बड़े बड़े पर्वतों के उल्लेख तो किए हैं पर उनके नाम नहीं दिए हैं। ये नाम क्लाडियस टालोमियस (टालेमी) की 'ज्याग्राफिके ह्यू फेजेसिस' (भूगोल की रूपरेखा) में मिलते हैं जिसकी रचना ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के आसपास हुई थी। इस पुस्तक में ओरूडियन (वैदूर्य) का उल्लेख है। जाहिर है कि यह सह्याद्रि का उत्तरी भाग है। इसी पुस्तक में अदीसैथ्रोस (दक्षिण सह्याद्रि—वर्णविपर्यय का उदाहरण) पहाड़ से मैसोलोस (कृष्णा नदी) और खावेरोस (कावेरी) के उद्गम का उल्लेख है। स्पष्ट ही इसमें पश्चिमीघाट के कुछ हिस्सों और उससे संबद्ध पहाड़ियों का जिक्र है। किंतु इस देश के बारे में टालेमी का ज्ञान अपने अनुभवों पर आधारित न था। उसने गोवरिस और वेंदा अर्थात गोदावरी और भीमा, नानागोना अर्थात ताप्ती की दो शाखाओं का उल्लेख किया है।[12] इसमें नमदोस अर्थात नर्मदा के साथ साथ ताप्ती का उद्गमस्थल उइंडियों अर्थात विंध्य में बतलाया गया है। टालेमी ने पश्चिमीघाट के बारे में गलती से कह दिया है कि यह देश के भीतर घुसा है जबकि यह पहाड़ समुद्रतट के समांतर उत्तर-दक्षिण चला गया है। उसने गोदावरी और भीमा की लंबाई ही कम नहीं बतलाई है बल्कि उनकी स्थिति, उनके प्रवाह की दिशा भी गलत बतलाई है।

इस भूगोललेखक ने माउंट मैंड्रोज को गंगा के परे दिखलाया है। संभवतः उसका तात्पर्य महेंद्र पर्वत से है, जिसे कंबोडियाई अभिलेखों में गंगापार के प्रायद्वीप में रखा गया है। किंतु यह संभावना भी है कि यहां उसका तात्पर्य पूर्वीघाट से हो, क्योंकि टालेमी ने कई बार गलती से गंगा के मुहाने के पास के मार्ग को दक्षिण-पश्चिम मार्ग की बजाय पूरब कह दिया है। किंतु इस प्रश्न का अंतिम निर्णय तो भविष्य में मिलनेवाले प्रमाणों के आधार पर ही किया जा सकता है।

'पेरिप्लस' ने दचिनाबेडीज (दक्षिणापथ, दकन) और 'दमिरिका' अर्थात तमिल प्रदेश में अंतर किया है जो उससे और दक्षिण में पड़ता है। उसने पूर्वी तट पर मसलिया (मसुलीपटम प्रदेश अर्थात आंध्र) को पृथक प्रदेश बतलाया है। टालेमी ने भी इसी तरह के भेद किए हैं। किंतु टालेमी (ई० दूसरी शताब्दी) ने पैठन और तगर के आसपास को दचिनाबेडीज न कहकर एरियके कहा है। इस नाम से 'पेरिप्लस' भी परिचित है। किंतु उसने इसका प्रयोग एक सीमित अर्थ में बेरीगाजा (भड़ोच) की खाड़ी के पास के प्रदेश के लिए किया है।

विभिन्न विद्वान एरियके से क्रमशः अपरांतिक, पश्चिमी सीमा, आर्यनाडु, आर्यदेश का अर्थ ग्रहण करते हैं। किंतु टालेमी के एरियके की अपरांतिक से पहचान उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि इसका तात्पर्य जिस प्रदेश से था उसमें सोपारा (उत्तरी बंबई) से नित्रा (संभवतः पिजिअन, नेत्रम या उत्तर कन्नड़ के परे नित्रान द्वीप या दक्षिण कन्नड़ में नेत्रवती नदी तक कोंकण तट) तक का प्रदेश ही शामिल न था बल्कि गोदावरीतट पर पैठन से बनओसे (बनवासि) तक का आंतरिक प्रदेश भी शामिल था। हैदराबाद राज्य में तगर (तेर), हिप्पोकूरा (संभवतः कोल्हापुर के पास), और मोदोगूला (संभवतः मुद्गल) इसी प्रदेश में स्थित हैं। इस प्रदेश को आर्यनाडु कहना इसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा। इसका अर्थ है आर्यदेश जो कि दकन के उस प्रदेश को कहते थे जहां आर्यभाषाभाषी जनों का निवास था, जो तमिलभाषियों से भिन्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। वराहमिहिर ने दक्षिण भारत में कांची (मद्रास के पास), मरुचीपट्टन (मुजिरिस, मलावार तट पर), सिंहल (लंका) और पांड्य देश में ऋषभ के साथ साथ आर्यक प्रदेश का उल्लेख किया है। यह संभवतः एरियके का ही संस्कृत रूप है। किंतु ध्यान रखने की बात यह है कि आर्यक एक छोटा सा प्रदेश था जो धुर दक्षिण में द्रविड़ देश से ही भिन्न न था बल्कि यह बनवासि, कोंकण आदि से भी भिन्न था जो टालेमी के भूगोल में एरियके के अंतर्गत शामिल थे।

टालेमी ने 'एरियके' के दो भाग बतलाए हैं। इसके उत्तरी भाग का नाम उसने 'एरियके सैंडिनोन' बतलाया है। यह सूपारा या सोपारा से, जो बंबई समुद्रतट पर बसीन से छः मील उत्तर में है, वाल्टीपठ्न या बेलेपट्न तक विस्तृत था। यह बेलेपट्न 'पेरिप्लस' का पैलेपटमै और 'बृहत्संहिता' का बलदेवपट्टन है। इसकी पहचान कतिपय विद्वानों ने अभिलेखों में उल्लिखित मलाबार जिले में स्थित बेलेयवट्टन से की है,[13] जबकि दूसरे विद्वान इसकी पहचान दक्षिण कोंकण में वलिपत्तन से करते हैं जो अधिक समीचीन है।[14] भीतरी भाग में यह प्रदेश गोदावरी के तट पर बैठन या पैठन तक विस्तृत था। 'बंबई गजेटियर'[15] में सैंडिनोई को सातवाहन का संभावित अपभ्रंश माना है।

एरियके का दूसरा भाग 'एरियके ऐंड्रोन पीराटेन' (पाइरटो अर्थात जलदस्युओं का एरियके अथवा कुछ विद्वानों के अनुसार आंध्रभृत्यों का एरियके) था। पर यह आंध्रभृत्यों वाला अनुमान ठीक नहीं है। इस भाग में समुद्रतट पर मंदगर से बंबई प्रेसिडेंसी के धुर दक्षिण में नित्रा या दक्षिण कन्नड़ में नेत्रवती तक का प्रदेश सम्मिलित था। इसमें मंदगर की पहचान बानकोट की संकरी खाड़ी के दक्षिण में मंदनगढ़ से की गई है।

इन दोनों ऐरियके से भिन्न एक अन्य प्रदेश था जिसे 'पेरिप्लस' में मैसलिया कहा गया है और टालेमी उसे मैसोलिया कहता है। इसमें मैसोलोस अर्थात कृष्णा के मुहाने का जिला ही शामिल नहीं था बल्कि यह कल्लिग (संभवतः कलिंग का एक हिस्सा), बर्दमन (संभवतः हनमकोंड अभिलेख का वर्धमानपुर जिसे आज वर्धनपेट या वद्दर्मरि कहते हैं, जो हैदराबाद राज्य में है) और कोरुंकला जिससे वारंगल की याद आती है, तक विस्तृत था। दूसरे शब्दों में मैसलिया आंध्र या तेलिंगान का समानार्थी था। इसकी राजधानी ईसा की दूसरी शताब्दी में पिटींद्रा थी जिसकी पहचान सिलवां लेवी ने जैन 'उत्तराध्ययन सूत्र' में उल्लिखित पिहुड और खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में उल्लिखित पिथुड से की है। यह नगर ठीक कहां था इसका निर्णय नहीं हो पाया है। किंतु यह बेनागूरों—संभवतः वेंगिपुर से भिन्न था। कतिपय विद्वानों ने इसकी पहचान धन्त्रकड, धान्यकटक या धरणिकोट से की है जो अमरावती के पास गुंटूर जिले में है। इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

टालेमी ने मैसोलिया को एक दूसरे नगर त्रिलिंगोन या त्रिग्लीप्टोन से पृथक दिखलाया है जो भारत में गंगा से परे स्थित है। जैसा कि लेवी ने कहा है यह बर्मा में तलैंग हो सकता है। किंतु टालेमी के कई वर्णनों में गलतियां हैं। इसलिए इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह शहर तेलुगु प्रदेश में ही था जहां उसने इसे बर्मा को जानेवाले जहाजों का प्रस्थान बिंदु 'ऐफेटेरिअन' कहा है। ध्यान देने की बात यह है कि टालेमी ने मैंड्रोज (महेंद्र पर्वत) और तोसले नगर (जिससे अशोक के लेखों में वर्णित कलिंग के तोसलीनगर का ध्यान आता है) को भारत से परे बतलाया है।

कतिपय लेखकों ने ई० पू० दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत और चीन के बीच व्यापार-संबंधों की बात कही है। इसके लिए वे पानकू के द्वारा हुआंग-त्चे के उल्लेख का प्रमाण उपस्थित करते हैं जिसकी पहचान वे मद्रास के पास कांची से करते हैं। यह पहचान अनिश्चित तो है ही,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके साथ ही यह भी बतला देना आवश्यक है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी के बारे में पानकू का प्रमाण समसामयिक भी नहीं है। वस्तुत: उसका मूल्य एक अनुश्रुति का है जिसकी पुष्टि के लिए अभी प्रमाणों की प्रतीक्षा करनी होगी।

प्राचीन काल के कतिपय प्रसिद्ध जनपद

टालेमी ने ईसा की दूसरी शताब्दी में 'ज्याग्राफिके ह्यू फेजेसिस' की रचना की थी। दकन के बारे में इसके प्रमाणों के साथ साथ हमें उसी समय से इतने अभिलेखीय प्रमाण मिलने लगते हैं जिनकी सहायता से दकन के प्रसिद्ध जनपदों का परिचय और स्पष्ट रूप में दे सकते हैं। 'जनपद' शब्द 'ऐतरेय ब्राह्मण' और कतिपय अन्य प्राचीन ग्रंथों तथा अशोक के लेखों में आया है। श्री पुलुमावि के म्याकडोनी अभिलेख में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इस पुलुमावि की पहचान सामान्यतया सातवाहन वंश के अंतिम राजा से की जाती है। वैदिक मंत्रों और बाद में 'जनपद' शब्द में 'जन' से तात्पर्य जनता या जाति से है। 'जनपद' का शाब्दिक अर्थ है 'जन' (जाति) का 'पद' अर्थात निवासभूमि। 'ब्राह्मण' ग्रंथों में इससे किसी 'जन' या उस भूमि का तात्पर्य ग्रहण करते थे जिसमें वह 'जन' बसता था। पालि आगमों और रामायण-महाभारत के समय से यह यूनानी पोलिस या नगर की भांति सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रीय इकाई थी। प्रत्येक विकसित 'जनपद' की अपनी राजधानी—'पुर' या 'नगर' होती थी जिसे कभी कभी 'पुटभेदन' भी कहते थे। यदि 'जनपद' में समुद्रतट भी हुआ तो उसके बंदरगाह को 'पट्टन' कहते थे। 'जनपद' का अपना शासक या राजा होता था। वह स्वतंत्र भी हो सकता था या किसी राजा का सामंत भी। साम्राज्य होने की स्थिति में 'जनपद' उसका जिला या 'तालुक', 'आहार', 'विषय' या 'मंडल' हो जाता था।

किंतु 'जनपद' सिर्फ राजनीतिक इकाई ही न था। हर 'जनपद' की अपनी विशेषता होती थी जिन्हें महाकाव्यों के रचयिताओं ने लक्षित किया है, उदाहरणार्थ: 'महाभारत' का 'कर्णपर्व' उल्लेखनीय है। इन विशेषताओं की ओर टालेमी,[16] वात्स्यायन, युआन-च्वांग; भरत, दंडिन और राजशेखर का भी ध्यान गया था। विभिन्न 'जनपदों' के आचार-व्यवहार, भाषा, शैली, रीति, जातीय विशेषताओं, जंतुओं और वनस्पतियों पर अनुसंधान लाभकर होगा।

राजाओं की 'प्रशस्तियों' में उन 'जनपदों' के नाम गिनाए जाते थे जो उनके राज्य के अंग होते थे अथवा जहां तक वे अपने अभियानों के सिलसिले में गए होते थे। इन 'जनपदों' की विस्तृत सूची उन स्थानों पर भी मिलती है जिनका संबंध भूगोल से होता है, जैसे : 'महाभारत' का 'जंबुखंड', 'रामायण' में 'किष्किंधाकांड' के भूगोलवाले सर्ग, 'पुराणों' में 'भुवनकोश', 'अथर्व परिशिष्ट' का 'कूर्मविभाग' और 'बृहत्संहिता' और 'महामायूरी' और कतिपय जैन ग्रंथ, जैसे : 'प्रज्ञापणा'। तकनीकी साहित्य में भी प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त चीनी यात्रियों, मुसलमान इतिहासलेखकों और मार्कोपोलो जैसे यूरोपीय यात्रियों के यात्राविवरणों में भी मूल्यमान सामग्री भरी पड़ी है।

इतनी सामग्री उपलब्ध रहने पर भी हमेशा किसी प्रसिद्ध से प्रसिद्ध जनपद की भी सीमाएं निश्चित रूप में बतलाना संभव नहीं है। इस विषय के लेखकों का कार्य और भी कठिन हो जाता है क्योंकि इन जनपदों की सीमाएं भी कालांतर में बदलती रहती थीं। कभी कभी तो भिन्न भिन्न इलाकों के समान या एक ही नाम भी मिलते हैं। यहां हम उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर खास दकन के अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण जनपदों का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विदर्भ, वत्सगुल्म

हम अपने सिंहावलोकन का प्रारंभ विदर्भ से करेंगे। विदर्भ का उल्लेख 'ब्राह्मण' ग्रंथों (जैसे 'ऐतरेय ब्राह्मण' और 'जैमिनीय ब्राह्मण') में मिलता है, जिनकी गणना वैदिक साहित्य में की जाती है। गौतमीपुत्र सातकर्णि की नासिक की 'प्रशस्ति' में भी विदर्भ का प्रमुख रूप में वर्णन है। इस जनपद की स्थिति कहां थी इसका पहला निश्चित प्रमाण 'महाभारत' और उसके परि-शिष्ट 'हरिवंश' में मिलता है। 'महाभारत' में विदर्भ के राजा को दाक्षिणात्य कहा है और 'नलो-पाख्यान' में उसका राज्य दक्षिणापथ के उत्तरी किनारे पर बतलाया गया है। उसके राज्य का थोड़ा सा भाग ही जो सह्याद्रि पर्वत या अजंता पहाड़ियों के दक्षिण में पड़ता था, दकन में शामिल था। उसके उत्तरी भाग में पयोष्णी की घाटी थी।[17] यह पयोष्णी ही आज की पूर्णा है जो ताप्ती की एक सहायक नदी है। विदर्भ का एक तीसरा भाग भी था जिसमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार वर्धा (वरदा) की घाटी शामिल थी। 'आइन-ए-अकबरी' के अनुसार बरार के 'सूबे' का मूल नाम 'वारदातट' था। यह प्राचीन विदर्भ ही रहा होगा। यवतमाल जिले में विदर्भा नाम की छोटी सी नदी भी है जो पेनगंगा में मिलती है। यह नाम प्राचीन विदर्भ की याद दिलाता है।

'आइन-ए-अकबरी' के अनुसार बरार दो पहाड़ियों के बीच की जमीन का नाम था। ये पहाड़ियां थीं बंदह (विंध्य, यहां गावीलगढ़ की पहाड़ियों से तात्पर्य है) और सहिय (सह्य अर्थात सातमाल और पश्चिमीघाट)। पूरब में बस्तर से सटा वीरगढ़ (बैरगढ़) और उत्तर में हिंदियाह था। जाहिर है यह होशंगाबाद जिले में था। दक्षिण में बीदर और तेलिंगान या आंध्रदेश था। मध्यकाल में इसके केंद्र वारंगल, गोलकुंडा थे। पश्चिम में महकराबाद और बटाला थे। जाहिर है कि ये केंद्र बंबई प्रेसिडेंसी की दिशा में थे।

यहां की जनता अथवा संभवतः शासकजाति को भोज या ऋथकौशिक कहते थे। यदि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के टीकाकार का विश्वास करें तो विदर्भ जनपद अथवा उसके एक भाग का नाम सभाराष्ट्र भी था।

'हरिवंश' के अनुसार विदर्भ से संबद्ध नगरों में समसे पुराना नगर विदर्भ था। यह विंध्य के दक्षिणी ढलान पर था। यहां विंध्य से तात्पर्य गावीलगढ़ की पहाड़ियों से है। इससे भी प्रसिद्ध एक दूसरे नगर कुंडिन का 'महाभारत' में विदर्भ नगरी के रूप में नाम आया है। अमरावती जिले में वर्धा नदी के तट पर स्थित कौंडिन्यपुर को यही नगर बताया जाता है। विदर्भ की एक परवर्ती राजधानी भोजकटक का उल्लेख महाभारत में ही नहीं बल्कि भारहुत के ब्राह्मी लेखों में भी मिलता है। इसकी पहचान अमरावती जिले में भाटकुली से की गई है। भवभूति ने विदर्भ में एक नगर का पद्मपुर के नाम से उल्लेख किया है जिसे उसने दक्षिणापथ का एक भाग कहा है। राजशेखर ने उसी 'जनपद' में वत्सगुल्म नामक एक नगर का उल्लेख किया है।

'महाभारत' में भी सोन और नर्मदा के प्रभेद (जलविभाजक) में इसी नाम के एक तीर्थ का उल्लेख आया है। 'ब्रह्मपुराण' के प्रमाण से भी यही निष्कर्ष निकलता है। किंतु 'कामसूत्र' में वत्सगुल्मों का एक जनसमुदाय के रूप में उल्लेख है जिसे टीकाकार ने दक्षिणापथ में रखा है। 'बृहत्कथा' के विभिन्न पाठों में भी वत्सगुल्म का उल्लेख मिलता है। किंतु इसकी निश्चित स्थिति कहां थी इसके लिए हमें 'कर्पूरमंजरी' और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' को देखना होगा।[18] इनमें यही नहीं लिखा है कि वच्छोम (संस्कृत : वत्गुल्म) नामक एक नगर दक्षिणापथ में था बल्कि यह भी लिखा है कि वह विदर्भ में था। अभी हाल में विंध्यशक्ति द्वितीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बासिम ताम्रपट्ट प्रकाश में आए हैं। इनसे अब इस बात में कोई संदेह ही नहीं रह गया है कि वत्सगुल्म में वाकाटकों की एक शाखा की राजधानी थी और आज का बासिम ही प्राचीन वत्सगुल्म है। यह अकोला जिले के दक्षिणी भाग में है और अजंता की पहाड़ियों और पेनगंगा नदी के बीच में पड़ता है। 'आइन-ए-अकबरी' के समय में बरार सूबे में एक 'सरकार' का नाम बासिम था। अबुल फ़ज़्ल वहां रहनेवाली 'हत्कर' नाम की एक जाति का उल्लेख करता है जो बड़ी मगरूर और सरकश थी।

भोगवर्धन

'पुराणों' में विदर्भ के साथ कई अन्य जनपदों का भी उल्लेख हुआ है। इनमें भोगवर्धन प्रमुख था। प्रारंभिक ब्राह्मी लेखों में यह नाम बराबर आता है। इसके निवासी बड़े उदार, दानी या विद्वान और सुत्तंतों के पंडित थे। यह इलाका वासिम (वत्सगुल्म) से पश्चिम में पड़ता था और इसकी पहचान हैदराबाद रियासत में औरंगाबाद जिले के भोकरदन 'तालुक' से की जाती है। इसी 'तालुक' के सीमांतर्गत अजंता की प्रसिद्ध गुफाएं स्थित हैं। इस दृष्टि से प्राचीन भोग-वर्धन में 'सुत्तंत' के विद्वानों की उपस्थिति का महत्व बढ़ जाता है। यदि इस 'जनपद' की दक्षिणी सीमा दौलताबाद-जालना की पहाड़ियों तक थी तो इसमें बौद्ध, जैन और ब्राह्मण गुफाओं के लिए प्रसिद्ध एलोरा का गांव भी अवश्य ही सम्मिलित रहा होगा।

मूलक

दौलताबाद से जालना तक फैली पहाड़ियों के परे मूलक का प्रसिद्ध क्षेत्र था। कभी कभी गलती से इसे अलक भी लिख देते थे। इसमें पायनघाट या वह निचली भूमि सम्मिलित थी जो गोदावरी की घाटी में जाकर मिल जाती है। प्रसिद्ध नदी गोदावरी के तट पर इसका प्रधान नगर प्रतिष्ठान स्थित था। इसे पतिट्ठान भी कहते थे। 'पेरिप्लस' का पैठन और टालेमी का बैठण भी यही है। आज इसे पैठन कहते हैं और यह औरंगाबाद जिले में इसी नाम के तालुक का मुख्यालय है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार अशोक के लेखों में यहां के निवासियों को पितिनिक कहा गया है। किंतु आमतौर पर इस मत को स्वीकार नहीं किया जाता। ईसा की दूसरी शताब्दी में सातवाहन वंश के राजा श्री पुलुमावि की राजधानी के रूप में इसका उल्लेख मिलता है। राष्ट्रकूट राजा गोविंद तृतीय के समय में यह प्रतिष्ठान 'भुक्ति' नामक एक जिले या 'तालुक' का मुख्यालय था।

अश्मक, अस्सक, असक

साहित्य और अभिलेखों दोनों में मूलक से अश्मक (प्राकृत अस्सक) का गहरा संबंध रहा है। इसकी राजधानी का नाम पोतलि, पोतन, पोदन या पौदन्य था। 'महाभारत' की कतिपय प्राचीन पांडुलिपियों में इसके नाम का पोदन रूप मिलता है जिससे बोधन का बोध होता है। यह बोधन गोदावरी और मांजरा के संगम के दक्षिण में स्थित है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात यह है कि 'सुत्त निपात' के अनुसार इस जनपद की स्थिति गोदावरी के तट पर थी। पाणिनि को इस क्षेत्र का पता था। अनेक बौद्ध और परवर्ती ब्राह्मण पोथियों, जैसे : 'अंगुत्तर निकाय' और 'पुराणों' में भी इसका उल्लेख है। संभवत: प्लिनी का अस्मगि भी यही है। अश्मक का अर्थ पथरीला प्रदेश होता है। इसको अश्वकों (घोड़ेवालों) के प्रदेश या सिकंदर के इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित अस्सेकेनोइ से मिलाना अनुचित होगा।

5298

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के टीकाकारों ने अश्मक की पहचान महाराष्ट्र से की है। किंतु राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इनका अलग ही उल्लेख किया है। इस मतभेद का कारण यह है कि अश्मक मराठवाड़ और तेलिंगान के सीमावर्ती प्रदेश में था। इसमें निजामाबाद का तेलुगुभाषी जिला और नांदेर का मराठीभाषी जिला शामिल रहा होगा। अश्मक वस्तुत: गोदावरी घाटी के मध्य भाग में था। इसके उत्तर में निर्मल पहाड़ी और दक्षिण में बालाघाट पहाड़ी थी।

ल्यूडर्स को प्रारंभिक ब्राह्मी अभिलेखों में पाडान के भिक्षुओं और दानियों का उल्लेख मिला था। यह पाडान अश्मक की राजधानी रहा होगा।

ऋषिक, असिक

गौतमीपुत्र सातकर्णि की नासिक की प्रशस्ति में असक या अश्मक से पूर्व असिक का उल्लेख है। इसे ल्यूडर्स ने बड़ी झिझक के साथ ऋषिक कहा था। खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख के एक अंश के एक दूसरे पाठ के अनुसार कण्हवेणा के तट पर असिकनगर था। यह कण्हवेणा कृष्ण-वेणा या कृष्णा नदी है और जाहिर है कि असिकनगर असिक प्रदेश की राजधानी था। 'महा-भारत' के 'जंबुखंड' और 'मार्कंडेय पुराण' के 'भुवनकोश' में दक्षिण के 'जनपदों' में ऋषिक जाति का उल्लेख मिलता है। 'महाभारत' में इनका उल्लेख विदर्भों अर्थात विदर्भों के साथ हुआ है और 'मार्कंडेय पुराण' में इनका उल्लेख धुर दक्षिण के ऋषभों, सिंहलों और कांची के निवा-सियों तथा तिलंग (आंध्रदेश) और कुंजरदरी (हाथीगुंफा, आनेगुंडि) के साथ हुआ है। असंभव नहीं कि उत्तर में विदर्भ, पूरब में तिलंग (तेलुगु या आंध्रदेश) और दक्षिण में आनेगुंडि से घिरे प्रदेश को ऋषिक या असिक कहते रहे हों। इस संबंध में इनके कृष्णा नदी से संबंध को ध्यान में रखना होगा जिसका प्रमाण हाथीगुंफा के लेख में है। असिक कृष्णा की घाटी के मध्य भाग में रहे होंगे जबकि उसकी निचली घाटी में तिलंग या तेलुगु लोग और उसके ऊपरी भाग में कर्णाट रहे होंगे। कर्णाटों का 'मार्कंडेय पुराण' में अलग से उल्लेख हुआ है। इसके 57वें अध्याय में एक तरफ भोगवर्धन और अश्मकों तथा दूसरी ओर कुंतलों और आंध्रों के बीच में नैषिकों का उल्लेख आया है। इससे यही अनुमान होता है कि यह ऋषिक या असिक प्रदेश ही रहा होगा। यह असंभव नहीं कि ऋषिक का ही भ्रष्टरूप नैषिक हो।

आंध्र, त्रिलिंग, वेंगी

'ऐतरेय ब्राह्मण' और अशोक के अभिलेखों में आंध्रों का उल्लेख है। लगभग चौथी शताब्दी के मयिदवोलु अभिलेख में इनके प्रदेश (अंध्रापथ) को कृष्णा की घाटी के निचले भाग में धञ्ञकड या अमरावती के इर्दगिर्द बताया गया है। चेजेर्ला अभिलेख में भी आंध्रों का संबंध कृष्णा से दिखलाया गया है। युआन-च्वांग के समय में (सातवीं शताब्दी) अन-तो-लो अर्थात आंध्र की राजधानी पिङ्-कि-लो अर्थात वेंगीपुर में थी जिसकी पहचान पेद्दवेगि से की गई है जो पश्चिम गोदावरी जिले में एलोर से सात मील उत्तर और कोलेर झील से 10 मील उत्तर-पश्चिम में है। तब भी धञ्ञकड क्षेत्र (संस्कृत धान्यकटक) को ही महा-आंध्र कहते थे। बारहवीं शताब्दी में धोयी ने आंध्रों का संबंध गोदावरी से बतलाया है। पूर्वी चालुक्यों के अभिलेखों में एक बड़े विस्तृत प्रदेश को आंध्र कहा गया है जो पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी), कालहस्ति पहाड़ी (नेल्लोर और चित्तूर के बीच) महेंद्र पर्वत (गंजाम में) और श्रीशैलम (कुर्नुल में)[19] के बीच पड़ता था। तेहरवीं शताब्दी में वारगंल के पास अन्मकोंड को अंध्रावनी-मंडन[20] अर्थात आंध्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का आभूषण कहा जाता था। चौदहवीं शताब्दी में गौतम नदी या गोदावरी से कलिंग की सीमा तक ('आरभ्य गौतम नदीतटं आ-कलिंगम)[21] के सीमित क्षेत्र को आंध्र-खंड-मंडल कहते थे। 'शक्तिसंगमतंत्र' (एक मध्यकालीन कृति) में जगन्नाथ (पुरी) से भ्रमरांबिका के मंदिर तक के प्रदेश को आंध्र देश कहा गया है।[22] इसमें भ्रमरांबिका से चीनी यात्री द्वारा उल्लिखित पो-लो-मो-लो-कि-लि (भ्रमरगिरि) और बस्तर जिले में भ्रमर-कोट्य-मंडल का ध्यान हो आता है।[23]

कतिपय विद्वानों का मत है[24] कि 'सेरिवाणिज जातक' में अंधपुर (स्पष्ट ही यह आंध्र देश की राजधानी रहा होगा) को तेलवाह नदी पर स्थित बताया गया है। इसलिए हमें आंध्र देश की पहचान के लिए तेल नदी को ध्यान में रखना होगा जिसकी पहचान तेलवाह से की गई है। यह तेल महानदी की एक सहायक नदी है। किंतु उतने प्राचीन काल में आंध्रों की सीमा तेल नदी तक ले जाने का कोई प्रमाण नहीं है। तेल के किनारे के प्रदेश (तेलातट विषय) को तो स्पष्ट ही कोसल का भाग कहा है न कि आंध्र का।[25] तेलवाह नाम तो कृष्णवेणा या कृष्णा का ही है जैसा[26] कि 'विख्यात कृष्णवर्णा तैल स्नेहोपलब्ध सरलत्व:' से स्पष्ट है। इसका अर्थ है विख्यात कृष्णा के तैल (तिल के तेल) से स्निग्ध या राजा तैल के स्नेह से सिक्त कृष्ण वर्ण के और राजभक्ति से पूर्ण।'

'शक्तिसंगमतंत्र' में आंध्र देश और तैलंग देश में अंतर किया गया है।[27] तैलंग देश की स्थिति श्रीशैलम और चोल देश के बीच बतलाई गई है। किंतु इन दोनों में यह भेद हमेशा नहीं मानते थे। तैलंग का एक रूप त्रिलिंग भी है। इस त्रिलिंग में कालेश्वरम, श्रीशैलम और द्राक्षाराम के तीन लिंगों का समावेश है।[28] ऊपर हमने आंध्र देश की जो सीमा बतलाई है ये तीनों लिंग उस प्रदेश में स्थित हैं। यह सुझाव भी दिया गया है कि यह त्रिलिंग त्रिकलिंग का संक्षिप्त रूप है। किंतु 'पुराणों' का प्रमाण इसके विरुद्ध है। 'पुराणों' में 'दक्षिणपूर्व' भारत में स्थित कलिंग को त्रिलिंग से पृथक कहा गया है। त्रिलिंग 'जनपद' की गणना 'दक्षिण' के 'जनपदों' में की गई है। मुसलमान लेखक वारंगल को तिलंग या तेलिंगान की राजधानी बतलाते हैं। भारतीय साहित्य और अभिलेखों में वारंगल और उसके पड़ोसी नगर हनमकोंड की स्थिति आंध्र देश में बतलाई गई है। चौदहवीं शताब्दी के श्रीरंगम ताम्रपट्टों में तिलिंग देश की सीमा इस प्रकार दी है: इसके पश्चिम में महाराष्ट्र, पूरब में कलिंग (उड़ीसा का एक भाग और विजगपटम जिला), दक्षिण में पांड्य और उत्तर में कान्यकुब्ज था। यहां पांड्यों से तात्पर्य नोलंबवाडि के पांड्यों से है जिनकी राजधानी उच्चंगी थी। नोलंबवाडि चितलद्रुग और बेल्लारी के इलाके को कहते थे। जहां तक कान्यकुब्ज का प्रश्न है नागोद प्रस्तरलेख[29] से ऐसा प्रतीत होता कि यह एक देश और नगर दोनों का नाम था। कान्यकुब्ज देश का विस्तार दक्षिण में मध्यभारत तक था। 'आइन-ए-अकबरी' से तो ऐसा प्रतीत होता है कि तेलिंगान की सीमा और बरार की दक्षिणी सीमा एक ही थी।[30] काकतीय राजा रुद्र (1163 ई०) के समय में आंध्र-तिलंग देश, जिसका कि वह राजा था, की सीमा इस प्रकार थी: इसके पूरब में समुद्र, दक्षिण में श्रीशैल पश्चिम में कटक (कल्याणकटक अर्थात कल्याणी[31] या मन्नैकडगम अर्थात मालखेड) और उत्तर में माल्यवंत पहाड़ के ढलान थे। यह माल्यवंत किष्किंधा के पास का माल्यवंत नहीं हो सकता जिसका उल्लेख 'रामायण' और 'रामोपाख्यान' में आया है। यह उत्तर का माल्यवंत भी नहीं हो सकता जिसका उल्लेख 'महाभारत' और 'पुराणों' में मिलता है।[32] यह दुर्गाकार मल्लनगड पहाड़ हो सकता है जो हैदराबाद रियासत में करीमनगर (येलगंडल) जिले में है। रुद्र के राज्य को तिल्लंग (त्रिलिंग के अनेक रूपों में यह भी एक है) कहते थे यह बात हेमाद्रि के 'व्रतखंड' से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट है ('तिल्लंगाधि पतेः पशोविशासनं रौद्रस्य रौद्राकृतेः')। हेमाद्रि ने रुद्र के भतीजे की पुत्री रानी रुद्रम्मा या रुद्रांबा के उल्लेख में तिलंग को ही आंध्र भी कहा है ('अंध्रैःपुरंध्री निहिता नृपत्वे')। सोहलवीं शताब्दी के एक अभिलेख में राज्य के ये दोनों नाम 'आंध्रत्रिलिंगमध्यम-देश' में समाहित हैं।[33]

एक ही प्रदेश को कभी आंध्र कभी त्रिलिंग कहने से विद्यार्थी परेशान अवश्य होते हैं। फिर इस त्रिलिंग के तो इतने रूप हैं कि उनकी परेशानी और भी बढ़ जाती है। इसका सबसे पुराना रूप संभवतः त्रिलिंग है जिसे टालेमी ने त्रिलिगोन कहा है। गंगराजा इंद्रवर्मन के पुर्ले ताम्रपट्टों में इसे ही तिरिलिंग कहा है। 'पुराणों' में तिलंग नाम आया है और शाके 128) (1358 ई०) के श्रीरंगम ताम्रपट्ट में इसे तिलिंग कहा गया है। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के कुर्गोद अभिलेख में तेलुंग नाम आया है। हेमाद्रि ने तिल्लंग और तैलंग नामों का प्रयोग किया है। 'शक्तिसंगमतंत्र' में तैलंग देश का उल्लेख है। अमीर खुसरौ ने इसे तिलंग और अबुल फ़ज़्ल ने तेलिंगान कहा है। प्रयाग प्रशस्ति के लेखक हरिषेण ने गोदावरी पारकर आंध्र-तेलुगु प्रदेश में समुद्रगुप्त के प्रवेश का तो वर्णन किया है किंतु वह इनमें से किसी नाम का उल्लेख नहीं करता। वह तो अंध्रापथ नाम का भी उल्लेख नहीं करता जो चौथी शती के मोयिदवोलु अभिलेख में आया है। हरिषेण ने गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश को वेंगी कहा है।

हरिषेण वेंगी को पिष्ठपुर से पृथक बतलाता है। यह पिष्ठपुर पूर्व गोदावरी जिले में आधुनिक पिठापुरम है। इसके विपरीत पल्लवों के लेखों में उसी स्पष्टता के साथ उसे (वेंगीराष्ट्र) कर्मराष्ट्र से पृथक घोषित किया है जिसमें चेंदलूर शामिल है जो नेल्लोर के उत्तर में ओंगोले 'तालुक' में है। इसलिए यह मानना होगा कि मोटे तौर पर 'रेण्ड-एरुलु-नडिमि-विषय' या 'सिंधुयुग्मांतर देश'[34] दो नदियों के बीच का जिला अर्थात गोदावरी और कृष्णा के बीच के प्रदेश के बराबर था। इसमें सभी प्रकार के अन्न और फल होते थे। आठवीं शताब्दी में वेंगी-मंडल की पूर्वी सीमा संभवतः कृष्णवेणा अर्थात कृष्णा और मुसी के मुहाने तक थी। मुसी हैदराबाद से गुजरती हुई जाती है।[35] ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी दक्षिण और उत्तरी सीमाएं क्रमशः मन्नेरु नदी (नेल्लोर जिले में) और महेंद्र पर्वत (गंजाम जिला) तक थी। इस प्रदेश के निवासियों को उस समय 'मन्नेति-महेंद्रमध्यमवर्तिनः' कहते थे।[36] अचरज ही है कि कलचुरि राजाओं के समय में[37] (सन 1156-83 ई०) वेंगी को कलिंग से ही नहीं, जिसका मुख्य आकर्षण कालिदास के शब्दों में महेंद्र पर्वत था, बल्कि आंध्र से भी पृथक मानते थे। संभवतः आंध्र से उस समय गोदावरी-कलिंग के बीच में आंध्र-खंड-मंडल का ही तात्पर्य ग्रहण करते थे। इसलिए वेंगी संभवतः दो नदियों, गोदावरी और कृष्णा, के बीच के भूभाग के प्राचीन अर्थ में ही प्रयुक्त होता था।

युआन-च्वांग नामक चीनी यात्री सातवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने संभवतः वेंगी और आंध्र को एक ही समझा था क्योंकि उसने पिङ्-कि-लो अर्थात वेंगीपुर को अन-तो-लो (आंध्र) की राजधानी लिखा है। किंतु उसने इसे ते-न-क-चे-क (धान्यकटक अर्थात अमरावती प्रदेश से) भिन्न माना है। उसके यात्राविवरण के एक नोट के अनुसार यह महा-आंध्र था। यह महा-आंध्र प्रारंभिक पल्लव लेखों के अंध्रापथ के समरूप रहा होगा।

यदि हम टालेमी द्वारा उल्लिखित सालकेनोइ (शालंकायनों) के देश में बेनगूरों को वेंगिपुर मान लें तो इस नगर की प्राचीनता ईसा की दूसरी शताब्दी तक चली जाती है। सालकेनोइ मैसोलिया के क्षेत्र के एक भाग में रहते थे। यह मैसोलिया 'पेरिप्लस' का मसलिया ही है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में कोसल (महानदी की ऊपरी घाटी) और तोसल (पुरी जिला) के साथ मोसल देश का उल्लेख है। मोसल-कोसल-तोसल एक ही नृजातीय वर्ग के हैं जिनका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्व सिलवां लेवी ने अपनी पुस्तक 'प्रीआर्यन ऐंड प्रीद्रविडियन इन इंडिया' में बतलाया है। इसमें कोई शक नहीं कि मोसल यूनानी लेखकों का मसलिया और मैसोलिया ही है। इसकी पहचान मसुलीपटम प्रदेश से करनी होगी।

कलिंग

ऊपर बतलाया गया है कि चौदहवीं शताब्दी के एक लेख में आंध्र-खंड-मंडल की सीमा कलिंग तक बतलाई गई है। वैदिक ग्रंथों में आंध्र नाम तो आया है किंतु कलिंग का नाम किसी वैदिक ग्रंथ में नहीं मिलता। किंतु पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। 'महागोविंद सुत्तंत', कई 'जातकों', जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' और रामायण-महाभारत में इसका उल्लेख मिलता है। अशोक के लेखों में और खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में भी इसका उल्लेख है। प्लिनी ने इसकी ओर स्पष्ट इशारा किया है और टालेमी ने कल्लिग के रूप में इसी का उल्लेख किया है।

'बोधायन धर्मसूत्र' में कलिंग को व्रात्य देशों में रखा है जो ब्राह्मण धर्म की परिधि के बाहर थे और जहां आर्य नहीं जाते थे। किंतु अशोक के समय में (अर्थात ई० पू० तीसरी शती में) यहां काफी संख्या में ब्राह्मण रहने लगे थे।

'महाभारत' के अनुसार उड़ीसा की वैतरणी से इसका सिंचन होता था। पुराणों में इसकी पश्चिमी सीमा अमरकंटक की पहाड़ियों तक बतलाई गई है जहां से सोन, नर्मदा और महानदी, तीन बड़ी नदियां निकलती हैं। इस जनपद की दक्षिणी सीमा सुनिश्चित न थी। कालिदास वह सीमा महेंद्र पर्वत तक बतलाते हैं। उनके अनुसार कलिंग राजाओं का बिरुद 'महेंद्रनाथ' था। पांचवीं शती में इसकी दक्षिणी सीमा पूर्वी गोदावरी जिले में पिष्ठपुरम अर्थात पिठापुरम तक थी।[38] किंतु आमतौर पर इसका विस्तार येल्लमंचिलि और विजगपटम जिले में चीपुरुपल्ले तक ही था, उसके दक्षिण में नहीं। एक परवर्ती ग्रंथ में तो कलिंग का विस्तार कृष्णा नदी तक कहा गया है[39] किंतु खारवेल के समय में (ई० पू० दूसरी या पहली शती) कलिंग को मसुलीपटम जिले के पिथुड से पृथक माना गया है। ऐहोल की प्रशस्ति में कलिंग और पिष्टपुरम को अलग माना गया है। इस प्रकार कलिंग का विस्तार पूर्व गोदावरी जिले के उत्तर तक ही रहा होगा। संस्कृत ग्रंथों, जैसे भरत के 'नाट्यशास्त्र' और पुराणों के 'भुवनकोश' में कलिंग को कोसल से पृथक महानदी की ऊपरी घाटी में माना गया है। इसे आंध्र देश, जो गोदावरी और कृष्णा नदियों से सिंचित था, से भी पृथक रखा गया है। अशोक के लेखों में (ई० पू० तीसरी शताब्दी) इसकी उत्तरी सीमा तोसलि (पुरी जिला) से परे थी। किंतु भरत ने तोसलों को कलिंगों से पृथक रखा है। युआन-च्वांग ने कलिंग को उड़ीसा (वू-तु), कोंगोद-मंडल (कुङ्-यू-तो, जो गंजाम जिले का एक हिस्सा था), कोसल और आंध्र (गोदावरी और कृष्णा के बीच का पेद्द-वेगि प्रदेश) से भिन्न माना है। 'आइन-ए-अकबरी' में हमें कलंग डंडपात 'सरकार' (जिला) का उल्लेख मिलता है जो परसोतम (पुरुषोत्तम क्षेत्र, पुरी) से परे माना गया है। परसोतम कटक सरकार में था। किंतु राजमुंद्री तक इसका विस्तार न था क्योंकि 'आइन-ए-अकबरी' में राजमुंद्री 'सरकार' का पृथक रूप में उल्लेख किया गया है।

पार्जिटर का मत है कि एक सुव्यवस्थित राज्य के रूप में कलिंग में संभवतः पूर्वीघाट और समुद्र के बीच का मैदान शामिल था, किंतु इसके राजाओं का संभवतः भीतरी पहाड़ियों और जंगलों में भी शासन चलता था, क्योंकि अमरकंटक की पहाड़ियां, जिनसे नर्मदा नदी निकलती है, कलिंग के पश्चिमी भाग में बतलाई गई हैं—'कलिंगदेश पश्चार्धे पर्वतेऽमरकंटके'। कलिंग के बहुत बड़े भाग में जंगल था इसका पता हमें पालिग्रंथों में 'कलिंगारण्य' और अभिलेखों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'त्रिकलिंगाटवी' और 'वेंगिमंडलम् त्रिकलिंगाटवियुक्तम्' जैसे प्रयोगों में मिलता है।

कालिदास के समय में इसकी राजधानी के वातायन समुद्र की ओर खुलते थे और तूर्य का निनाद समुद्र की ध्वनि में खो जाता था।

'यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मंद्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायन द्रश्यवीचिः प्रवोधयत्यर्णव एव सुप्तम्।।'[40]

साहित्य में कभी कभी हमें सप्तकलिंगों के भी उल्लेख मिलते हैं। किंतु इनमें से प्रायः तीन के ही उल्लेख हुए हैं। अभिलेखों में आए त्रिकलिंग से यही अर्थ निकलता है। हम प्लिनी के मोडोगलिंगै का उल्लेख कर चुके हैं। कतिपय विद्वानों ने इसे मूड+गलिंग अर्थात तीन कलिंग या त्रिकलिंग का समानार्थी माना है। एक दूसरा मत यह है कि त्रिकलिंग का अर्थ ऊंचे या पहाड़ी कलिंग से है[41]—अर्थात उस पहाड़ी और प्लेटो से है जिसका रुख गंजाम और विजगपटम के मैदानों की ओर है। इसलिए मोडोगलिंगै का तात्पर्य 'महाभारत' के 'जंबुखंड' में आए मद्रकलिंग और विजगपटम के मोड्डुगुल से है। एक दूसरी जाति मत्स्यकलिंग का उल्लेख 'रामायण' में आया है। इससे दिब्बिद ताम्रपटों में उल्लिखित विजगपटम जिले के मत्स्यों की याद हो आती है। कलिंग के गंगा की निचली घाटी में गंगरिदै से संबंध के बारे में विदेशियों के उल्लेखवाले प्रकरण में बतलाया जा चुका है। कालिदास इन दोनों को पड़ोसी नहीं मानते। कालिदास ने 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि रघु ने कपिशा (मिदनापुर की कासाइ नदी) को पार किया, फिर उत्तरी उड़ीसा के उत्कलों द्वारा बताए गए कलिंग के रास्ते पर चल पड़े। कालिदास ने कलिंग को स्पष्ट ही महेंद्र पर्वत के इर्द-गिर्द के इलाके के रूप में दिखलाया है। इस प्रकार उत्कल की स्थिति गंगरिदै की निवासभूमि गंगा के मुहाने और कलिंग के बीच रही होगी। स्वयं प्लिनी ने भी गंगा के मुहाने से कैलिंगोन के अंतरीप और दंदगुलनगर की दूरी 625 मील बतलाई है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, दंदगुलनगर 'महाभारत' का दंतकूर और 'महागोविंद सुत्तंत' और अभिलेखों का दंतपुर है। विजगपटम के उत्तर-पूरब चिकाकोल के पास दंतवक्र के किले के रूप में यह नाम अभी तक चला आता है। कलिंग की कई दूसरी राजधानियां भी इसी इलाके में थीं, जैसे : सिंहपुर या सिंगुपुरम और कलिंग नगर जिसकी पहचान बहुत से विद्वान वंशधारा के किनारे मुखलिंगम से और दूसरे विद्वान उसी नदी के मुहाने में कलिंगपटम से करते हैं। 'महाभारत' में उल्लिखित राजपुर और जैन ग्रंथों के कांचनपुर की सही सही पहचान नहीं हो पाई है। पद्मपुराण के 'भूमिखंड' में कलिंग के एक दूसरे नगर श्रीपुर का भी उल्लेख है। रायपुर से 40 मील पूरब-उत्तर में सिरपुर है। क्या यही श्रीपुर है, इस संबंध में भविष्य की खोजें ही कुछ बतला सकेंगी।

अभिलेखों में मध्यमकलिंग या मध्य कलिंग का उल्लेख आता है जिससे दक्षिण और उत्तर दो दिशाओं में दो अन्य कलिंगों का अनुमान स्वाभाविक है। मध्य कलिंग में भोगिपुर या भोगपुर 'विषय' शामिल था। यह संभवतः विजगपटम जिले में विप्लिपटम के पड़ोस में भोगपुरम नामक गांव और उसके आसपास का क्षेत्र है। इसके दक्षिण-पश्चिम में चालुक्य अभिलेखों का एलमंचि-कलिंग था। नदी नारदा इसको भोगपुर विषय से पृथक करती है। एलमंचि-कलिंग निश्चिततः येल्लमंचिलि ही है। विप्लिपटम से उत्तर-पूरब दिशा में गोस्तनी नदी के पार कलिंग का वह हिस्सा था जिसमें राकलुव ग्राम सम्मिलित था। आज यह नाम चिकाकोल के पास रागोलु के रूप में बच रहा है। रागोलु के ताम्रपट्टों में इसका उल्लेख सिर्फ कलिंग विषय के रूप में आया है। माठर, वशिष्ठ, गंग, पूर्वी चालुक्य आदि वंशों के शासनकालों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में कलिंग के राष्ट्रों और विषयों की संख्या आदि का वर्णन हम कुछ आगे करेंगे।

अपरांत, कोंकण

दकन के मध्य में और पूर्वी तट पर स्थित प्रधान 'जनपदों' का उल्लेख हमने कर दिया है। अब हम पश्चिम के 'जनपदों' का वर्णन करेंगे। समुद्रतीर सह्याद्रिदेश में अनेक बंदरगाह थे जो युगयुगों तक दकन के प्रचुर भाग की संपत्ति और शक्ति के प्रतीक रहे थे। 'महाभारत' में इस भूभाग को अपरांत कहा है। ऐसा कहा जाता है कि समुद्र देव ने स्वयं जमदग्नि के पुत्र (परशुराम) के लिए इस अपरांत में शूर्पारक नामक देश की रचना की थी :

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे।
सहसा जामदग्नस्य सोऽपरांतमहीतलम् ॥'[42]

शूर्पारक एक देश, 'आहार' (जिला) और एक नगर का भी नाम है। 'महाभारत' के 'वनपर्व' और उषवदात के नासिक के गुफालेख में शूर्पारक के प्रसिद्ध रामतीर्थ का वर्णन है। पालि के ग्रंथों में इसका नाम सुप्पार या सुप्पारक, प्राचीन ब्राह्मी अभिलेखों में सोपारक या सोपारग, 'पेरिप्लस' में सुप्पर मिलता है। टालेमी ने इसे सूपारा और अल्बरूनी ने 'सूबार' कहा है। इसकी पहचान बंबई प्रेसिडेंसी के ठाणा जिले में सोपार से की गई है। यह वसीन से 6 मील उत्तर में पड़ता है।

सभी जानते हैं कि अशोक के प्रस्तरलेखों की एक वाचना इस इलाके में मिली है। अशोक ने अपरांतों ('अपरात') का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वह इसके अंतर्गत यदि योन-कंबोज-गंधार की नहीं, तो रठिक-पितिनिकों की तो अवश्य ही गणना करता है। कई 'पुराणों' में अपरांत का प्रयोग बड़े विस्तृत अर्थ में हुआ है। उनमें अपरांत के अंतर्गत समूचे पश्चिमी भारत की गणना की गई है जिनमें शूर्पारक ही नहीं बल्कि पुलिंदो, नासिक्यों, नर्मदा के उत्तर के निवासियों, भिरुकच्छों (भड़ोच के), माहेयों और गुजरात की माही और सरस्वती नदी के किनारे के सरस्वतों, कच्छों, काठियावाड़ के सुराष्ट्रों, द्वारका के आनर्तों और अर्वुदों (आबू के इर्द-गिर्द के निवासियों) की भी गणना है। किंतु 'मार्कंडेय पुराण' के 'कूर्म विभाग' और 'बृहत्संहिता' में अपरांतिक या अपरांतक शब्द का प्रयोग काफी संकुचित अर्थ में किया गया है। इनमें हैहय (नर्मदा घाटी में) और दक्षिण के जनपदों, जैसे भिरुकच्छ (भड़ोच), नासिक्य (नासिक) आदि से इसे भिन्न माना गया है। यहां तक कि इनमें कोंकण का भी अलग से उल्लेख है। ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए गौतमीपुत्र सातकर्णि और रुद्रदामन के राजकवियों ने भी अपरांत का इसी संकुचित अर्थ में प्रयोग किया है। गौतमीपुत्र की नासिक की प्रशस्ति में अपरांत को असिक (ऋषिक), असक (अश्मक), मूलक, अनूप, सुरथ (सुराष्ट्र) आदि अर्थात पश्चिमीघाट के पीछे का दकन का पठार, नर्मदा घाटी और काठियावाड़ से पृथक माना गया है। रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख से भी यही प्रमाणित होता है। कण्हेरी की एक बौद्धगुफा के एक लेख से तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कल्याण अर्थात 'पेरिप्लस' के कैलिएना और ठाणा जिले के आधुनिक कल्यान के निवासियों को अपरांतिक कहते थे। दूसरे शब्दों में अपरांत में कल्याण और शूर्पारक दोनों शामिल थे। ये दोनों ठाणा जिले में हैं। किंतु ये सह्याद्रि के पूरब के पठार से पृथक हैं।

कालिदास के एक उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपरांत सह्य (पश्चिमीघाट) और समुद्र के बीच में था। उन्होंने त्रिकूट पर्वत के प्रसंग में लिखा है 'उसने त्रिकूट पर्वत को ही अपनी विजय का ऊंचा ध्वज बनाया, जिसमें उसके क्रुद्ध हाथियों ने अपने दांतों से निशान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बना दिए जो मानो उसके शौर्यलेख हों'। त्रिकूट पर्वत के उल्लेख से त्रैकूटक वंश की याद आना स्वाभाविक है, जिसने पांचवीं शताब्दी में अपरांत और दूसरे प्रदेशों पर राज्य किया था ('अपरांतादिदेशपति')। इनकी राजधानी आम्रक और अनिरुद्धपुर में थी। करीब करीब उसी समय के अजंता के एक अभिलेख में भी त्रिकूट पर्वत का उल्लेख है जहां इसे लाट अर्थात नवसारिका और उसके पड़ोस के इलाके से पृथक बतलाया गया है। यह नवसारिका वहीं थी जहां आज नौसारी है। नौसारी बड़ोदा रियासत में सूरत से दक्षिण में है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर लिखी संभवतः तेरहवीं शताब्दी की एक टीका में पुराने प्रमाणों की भांति अपरांत देश को पश्चिम समुद्रतट पर बतलाया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि अजंता के लेख की भांति वात्स्यायन में भी अपरांत को लाट से पृथक बतलाया है।[43]

पश्चिम समुद्र और पश्चिमीघाट के बीच की पट्टी के लिए ईसा की छठी शताब्दी से एक नए नाम कोंकण का प्रयोग शुरू हुआ। पूर्व चालुक्य राजा मंगलेश (लगभग 599-609 ई०) के एक दानलेख में कोंकण विषय में स्थित कुंडिवाटक नामक एक गांव का उल्लेख आया है जो रत्नागिरि जिले के संगमेश्वर तालुक में स्थित कुंडीग्राम बतलाया जाता है। कोङ्कण या कोंकण संभवतः पहले अपरांत (ठाणा जिला) से पृथक माना जाता था जैसा कि 'बृहत्संहिता' में संकेत है। किंतु 880 ई० में ही 'कोंकण में वह इलाका शामिल था जिसे वरियावि 116 कहते थे जो आज के वारियाव के आसपास का इलाका है। यह वारियाव सूरत से ठीक उत्तर में है और उस समय लाट का हिस्सा था।' सन 1112 ई० में 'श्रेष्ठ नगर गोकर्ण के पति' कोंकण 'राष्ट्र' के एक राजा की उपाधि थी। संभवतः इसका मतलब यह है कि गोकर्ण की दक्षिणी सीमा पवित्र नगर कोंकण के भीतर थी। गोकर्ण नगर वहीं था जहाँ आज गोकर्न है जो उत्तरी कन्नड़ जिले में है। 'महाभारत' के काल में भी इसे पवित्र मानते थे :

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिशु लोकेषु विश्रुतं।
समुद्रमध्ये राजेंद्र सर्वलोकनमस्कृतं ॥

बहुत बाद की मध्यकालीन कृति 'शक्तिसंगमतंत्र' में कोंकण को समुद्रतट का देश कहा गया है जो घट्ट (पश्चिमीघाट) से कोटीश जिले के इर्दगिर्द तक विस्तृत था। कोटीश से तात्पर्य गोकर्न (उत्तरी कन्नड़) के कोटितीर्थ से है।

कोंकण नाम के कई रूप मिलते हैं, जैसे : कुम्कण, कुङकुण और कौंकण। 1030 ई० के आसपास अल्बरूनी ने अपनी रचना में इसे कुन्कन लिखा है। उसने इसकी राजधानी तन (ठाणा) बतलाई है।

फ्लीट ने डा० गुंडेर्ट की 'मलयालम डिक्शनरी' से एक पद्य उद्धृत किया है जिसमें कोंकण के सात विभाग कहे गए हैं :[44]

'काराटं च विराटं च माराटं कोंकणं तथा
हव्यगं तौलवं चैव केरलं चेति सप्तकम् ॥[44]

इस महाकोंकण में कोंकण के अतिरिक्त काराट (संभवतः सतारा जिले में कराड) विराट अर्थात धारवाड़ जिले में हांगल, माराट (मराठ देश), हव्यग (संभवतः उत्तरी कनारा) तौलव (दक्षिण कनारा) और केरल, मलाबार शामिल थे। अभिलेखों से कोंकण के निम्नलिखित भागों का पता चलता है :

1. पय्वे, हय्वे या हैवे 500, जिसको उत्तरी कनारा बतलाया जाता है। हैग या हय्वे का अर्थ है 'सर्पदेश'। स्थानीय कन्नड़ में 'हावु' या 'हाउ' का अर्थ सांप होता है। इसका संस्कृत रूप अहिक्षेत्र था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

2. कोंकण 900 जो आधुनिक गोवा के आसपास का इलाका था।[45]

3. रेवतीद्वीप, संभवतः आधुनिक रेडी, एक अंतरीपदुर्ग जो बंबई के रत्नागिरि जिले में वेंगुर्ल से 8 मील दक्षिण में है। फ्लीट इसे कोंकण 900 मानते हैं।

4. इरिदिगे देश जिसे महासप्तम (फ्लीट के अनुसार) कहते थे। इसमें संभवतः सावंतवाडि रियासत और रत्नागिरि जिले का कुछ भाग शामिल था।

5. कोंकण 1400 जिसका मुख्य नगर पुरी था। श्रीस्थाणक (ठाणा) इसी में था जिसका एक भाग षटषष्टि 'विषय' सलसेत्ते था। इसमें नागपुर (संभवतः आधुनिक नागांव) भी शामिल था जो कोलाबा जिले में अलीबाग से 6 मील दक्षिण-पूरब में था। इसके अतिरिक्त चेमूलि, चौल जो कोलाबा जिले में ही था, शूर्पारक (सोपारा, उत्तरी बसीन) और महिरिहार 'विषय' (संभवतः भिवंडी के आसपास का इलाका) भी इसमें शामिल थे।[46] इस तरह स्पष्ट है कि कोंकण 1400 में कोलाबा और ठाणा जिलों के हिस्से शामिल थे।

6. कार्पदिक द्वीप या कवदिद्वीप 'सवा लाख का देश'। फ्लीट ने इसकी पहचान कोंकण 1400 से की है। किंतु उसने यह भी कहा है कि 'कार्पदिक द्वीप एक द्वीप था जिसमें आसपास का इलाका, षटषष्टि, सासटि या सलसेत्ते (बंबई के आसपास) है'। इसका यह नाम शिलाहार वंश के राजा कर्पादिन प्रथम या द्वितीय के नाम पर पड़ा है।[47]

7. लाट देश जिसमें वरियावि 116 शामिल था। वरियावि की पहचान आधुनिक सूरत से की गई है। इसमें बड़ौदा रियासत के कुछ हिस्से (जैसे नौसारी) भी शामिल थे।[48]

महाराष्ट्र

कोंकण महाराष्ट्र का एक भाग माना जाता है। ग्रांट डफ के मतानुसार 'महाराष्ट्र उस भूभाग का नाम है जिसके उत्तर में सतपुड़ा की पहाड़ियां है और पश्चिम में बोंदोदे (नांदोद) से प्रारंभ होकर इन्हीं पहाड़ियों के सहारे यह वैनगंगा तक, जो नागपुर से पूरब में पड़ती है, विस्तृत है। इस नदी का पश्चिमी किनारा उस स्थान तक महाराष्ट्र की पूर्वी सीमा बनाता है जहां यह नदी वर्धा में मिल जाती है। फिर इनके संगम से यह वर्धा नदी के पूर्वी किनारों पर मानिक दुर्ग तक चला गया है। वहां से यह पश्चिम में महूर तक फैला है। महूर से एक लहरदार रेखा बनाता यह गोवा तक चला गया है। इसके पश्चिम में समुद्र है।' इल्फिस्टन के मतानुसार 'नर्मदा के समानांतर विंध्य तक की पहाड़ियों और समुद्र के किनारे गोवा से बीदर, चांदा होती वर्धा तक एक रेखा खींचें तो उनके बीच का भूभाग महाराष्ट्र है। वर्धा नदी इसकी पूर्वी सीमा है और अरब सागर पश्चिमी।[49]

हम देखते हैं कि इस विस्तृत भूभाग में तो अनेक वे जनपद भी आ जाते हैं जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं जैसे विदर्भ या बरार, भोगवर्धन, और संभवतः अश्मक का भी एक हिस्सा। 'पुराणों' में इन सभी इलाकों को महाराष्ट्र से पृथक माना गया है। ये ही नहीं पुराणों में तो शूर्पारक, नासिक्य और कृष्णा घाटी के एक भाग को भी पृथक जनपदों में बतलाया गया है। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से भी यही प्रमाणित होता है। 'काव्यमीमांसा' में महाराष्ट्र को अश्मक, विदर्भ, शूर्पारक, नासिक्य और कोंकण से पृथक कहा गया है। जाहिर है कि प्राचीन भूगोललेखकों ने महाराष्ट्र अभिधान का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया है।[50] वर्तमान मराठ प्रदेश का एक ही भाग ऐसा है जिसका सदा महाराष्ट्र में उल्लेख हुआ है, वह है पश्चिमीघाट के पीछे का खुला प्रदेश जो प्रवरा या संभवतः जुन्नार-अहमदनगर की पहाड़ियों से प्रारंभ होकर कृष्णा के पड़ोस तक चला गया है। इसमें शक नहीं कि 'वायुपुराण' में हमें पौणिकों का पृथक उल्लेख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलता है जिससे पूणक 'विषय' की याद हो आती है, जिसका जिक्र तलेगांव के अभिलेख में आया है। यह पूना के आसपास का इलाका बतलाया जाता है। किंतु इस लेख का पाठ निश्चित नहीं है। 'मार्कंडेयपुराण' में उन्हीं के लिए पौरिका: अर्थात पुरिका के निवासियों का उल्लेख है। पुरिका का उल्लेख भारहुत के कई ब्राह्मी अभिलेखों में आया है।

प्राचीन काल में गोदावरी घाटी के ऊपरी भाग में दडंक और नासिक्य लोगों का निवास था। इनके अलावा 'पुराणों' में गोदावरी के सिलसिले में एक प्रदेश का उल्लेख आया है जिसमें गोवर्धनपुर स्थित था।

'सह्यस्य चोत्तरे यास्तु यत्र गोदावरी नदी।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः।।
गोवर्धनंपुरं रम्यं भार्गवस्य महात्मनः।'

'सह्य पर्वत के उत्तर में, जहां गोदावरी नदी बहती है, एक प्रदेश है जो समूची पृथ्वी में मनोरम है। वहां महात्मा भार्गव का सुंदर गोवर्धनपुर है।'

आज भी नासिक से 6 मील पश्चिम में गोवर्धन तीर्थ नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है। ईसा की दूसरी शताब्दी में यह एक महत्वपूर्ण स्थान था। उस काल में सातवाहन राज्य में इसके नाम पर गोवर्धन 'आहार' (जिला) भी था। उषवदात के नासिक के एक अभिलेख से भी प्रकट है कि उस समय भी इसे बहुत बड़ा तीर्थ मानते थे।

'रामायण' में दंडक एक वन और जनपद दोनों का नाम है। विदर्भ की भांति इसका भी भोजों से संबंध था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में यह उल्लेख आया है कि दंडक के एक भोज राजा को अपने कुकृत्यों के कारण राज्य से हाथ धोना पड़ा था। 'रामायण' में इस 'जनपद' की राजधानी का नाम मधुमंत कहा है। 'सरभंग जातक' के समय में इसकी राजधानी कुंभवती में थी। 'महावस्तु' में गोवर्धन को इस जनपद का प्रधान नगर कहा गया है।

कात्यायन को नासिक्य नामक एक नगर का पता था। बेडसा और भारहुत के प्राचीन अभिलेखों में भी नासिक का उल्लेख मिलता है। कर्क्कराज के 779 ई० के धूलिया ताम्रपट्टों में भी नासिक्य विषय का उल्लेख है। 807 ई० के वानी के दानलेख में नासिक देश का जिक्र आया है।

'महाभारत' जैसे प्राचीन ग्रंथों में गोदावरी की ऊपरी घाटी की ही भांति करहाटक का भी जिक्र है। करहाटक कृष्णा के मुहाने से अधिक दूर नहीं था। किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि यह महाराष्ट्र में शामिल था या नहीं। महाराष्ट्र नाम 'रामायण' या 'महाभारत' में नहीं आया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि करहाटक उस क्षेत्र में शामिल था या नहीं जिसे महाराष्ट्र कहते हैं। 'पुराणों' में कृष्णाद्वीप के निवासियों को महाराष्ट्रों से पृथक माना गया है। कृष्णाद्वीप से आशय कृष्णा नामक द्वीप से है या दोआब से—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्वीप दोआब को भी कहते थे। महाराष्ट्र नाम की उत्पत्ति के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि इसका संबंध अशोक के लेखों के रठिकों और सातवाहन लेखों के महारठियों से हैं। 'रामायण' के 'किष्किंधा-कांड में ऋष्टिकों को (उत्तर में) विदर्भ और (दक्षिण) में महिषकों (कदंब लेखों के महिष 'विषय', तमिल साहित्य के एरुमैनाडु और आधुनिक मैसूर) के बीच में रखा गया है। किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि ये ऋष्टिक वही थे जिन्हें अशोक के लेखों में रठिक या गौतमीपुत्र सातकर्णि के लेखों में ऋषिक या असिक कहा गया है। महाराष्ट्र (महारट्ठ) का पहला स्पष्ट उल्लेख सिंहल के इतिवृत्तों में, जो चौथी-पांचवीं शती के हैं, और वात्स्यायन मल्लनाग के 'कामसूत्रों' में आया है। वात्स्यायन मल्यनाग अवश्य ही सुबंधु (सातवीं शती) से पहले हुआ था। सिंहल के इतिवृत्त में महाराष्ट्र को महिष-मंडल (मैसूर या जैसा फ्लीट का सुझाव है महिष्मती) और वनवास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(उत्तरी कनारा) से ही पृथक नहीं माना है बल्कि उसे अपरांत (उत्तर कोंकण) से भी पृथक बतलाया गया है। वात्स्यायन के सूत्रों के टीकाकार ने इसकी उत्तरी सीमा नर्मदा तक और दक्षिणी सीमा कर्णाट तक बतलाई है: 'नर्मदा कर्णाट विषयोर्मध्ये महाराष्ट्र विषय.'। किंतु यह बतलाना कठिन होगा कि टीकाकार वात्स्यायन के समय का ही वर्णन कर रहा है या नहीं।

इसके बाद महाराष्ट्र का जिक्र पुलकेशिन द्वितीय (634 ई०) के ऐहोल के अभिलेख में मिलता है। इस लेख में चालुक्य सम्राट पुलकेशिन के साम्राज्य में तीन महाराष्ट्रों को शामिल बतलाया गया है: 'अगमदधिपत्वं यो महाराष्ट्रकानाम्। नवनवति-सहस्र-ग्राम-भाजं त्रयाणाम्'। अर्थात 'उसने 99000 ग्रामों के तीन महाराष्ट्रकों का आधिपत्य प्राप्त किया'। इस लेख में वनवासि, कोंकणों (जिसमें पश्चिम समुद्र की रानी पुरी की नगरी भी शामिल थी) और लाट का पृथक उल्लेख हुआ है, इसलिए यह असंभव नहीं कि चालुक्यकाल में तीनों महाराष्ट्रक करीब करीब उसी इलाके में थे जिसमें सिंहल के इतिवृत्तों में महारट्ठ वर्णित है। इनमें भी महारट्ठ को अपरांत (कोंकण) और वनवासि से पृथक बतलाया गया है। संभवतः उत्तर में यह ताप्ती घाटी के दक्षिण और वरदा की घाटी के उत्तर में था। वरदा तुंगभद्रा की एक सहायिका है जिसके किनारे पर वनवासि था। 'महाराष्ट्रकानां—त्रयाणाम्' के तीन इलाकों की पहचान के बारे में कई सुझाव हैं। एक विद्वान के मतानुसार इनसे विदर्भ, महाराष्ट्र खास और कुंतल का तात्पर्य है। किंतु चौथी और पांचवीं शती के सिंहल के इतिवृत्तों में और 'पुराणों' और 'काव्य-मीमांसा' (लगभग 900 ई०) में जिस ढंग से वनवासि, कुंतल और विदर्भ को महाराष्ट्र से अलग कहा गया है, उससे इस मत को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। यह असंभव नहीं कि यहां उन पारंपरिक थदियों (विस्तृत घाटियों) की ओर संकेत है जिनमें मराठ देश विभाजित है, अर्थात 'गंगथदि' (गोदावरी की घाटी) 'भीमथदि' (भीम की घाटी) और 'नीरथदि' (भीमा की सहायिका नीरा की घाटी)। दिलचस्प बात यह है कि पूर्वचालुक्यकाल के अनेक लेखों में किसी इलाके का उल्लेख प्रायः इन्हीं नदियों के नामों के सहारे हुआ है। जैसे 'उत्तरं भैमरथ्याः' 'भीमरथी के उत्तर का इलाका' का प्रयोग ऐहोल के लेख में ही आया है। पुलकेशिन द्वितीय के ही इसके पहले के एक अभिलेख (616-17 ई०) में भीमरथी के दक्षिण किनारे के एक 'भोग' के एक गांव के दान का उल्लेख है। विनयादित्य (687 ई०) के जेजूरी के ताम्रपट्टों में नीरा के उत्तरी किनारे ('नीरानद्युत्तरतट)[51] के एक 'विषय' का उल्लेख है। बाद के कालों में लिखी गई 'वैद्यजीवन' की रुद्रभट्ट की टीका में 'गोदातट-मध्यदेश'[52] में स्थित षटखेटक नामक एक नगर का उल्लेख है। उपर्युक्त तथ्यों से प्रकट है कि पुलकेशिन के समय में और उसके बाद भी महाराष्ट्र के बड़े इलाकों के नाम उन नदियों के आधार पर होते थे जो मराठ प्रदेश से होकर बहती हैं। इसका सबसे दक्षिणी इलाका वह जिला रहा होगा जिसका जेजूरी के ताम्रपट्टों में 'नीरान-द्युत्तरतट' के नाम से उल्लेख है। यह पारंपरिक 'नीरथदि' है। इसके बाद वह इलाका आता है जिसका सतारा के दानलेख (616-17 ई०) में 'भीमरथी के दक्षिण तट पर' के रूप में उल्लेख है इसमें श्रीनिलय 'भोग' शामिल था। ऐहोल के लेख के 'उत्तरंभैमरथ्याः' के साथ यह 'भीमा थदि' रहा होगा। इसके उत्तर गोपराष्ट्र 'विषय' था जिसका निर्पण के अभिलेख में उल्लेख है, 'गोदातट' का इस 'विषय' के साथ स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किंतु यह जिला इसी इलाके में था। इस प्रकार पुलकेशिन द्वितीय और उसके पोते विनयादित्य के अभिलेखों में मराठ प्रदेश के 'नीरथदि' 'भीमथदि' और 'गंगथदि' (गोदातट) की पहचान संभव है। इनमें पहले दो इलाकों का तो सीधे ही और तीसरे का लक्षणा से ज्ञान होता है। ध्यान देने की बात है कि इनमें दो इलाके तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुलकेशिन के भाइयों के अधीन थे जबकि तीसरा अर्थात ('नीरयदि') शायद उसने स्वयं अपने अधीन रखा था।

इसके बाद महाराष्ट्र की अगली झलक प्रसिद्ध चीनी यात्री युआन-च्वांग के यात्राविवरण में मिलती है। वह इसे मो-ह्-ल-च' कहता है। उसने 641 ई० में इसकी यात्रा की थी। उसके विवरणानुसार इसका घेरा 6000 ली अर्थात 1000 मील था। इसकी राजधानी एक बहुत बड़ी नदी के पश्चिमी किनारे पर थी जिसकी घेरा 30 ली अर्थात 5 मील से ज्यादा था। इसके पूरब में एक पहाड़ी थी 'जिसकी ऊंची ऊंची चोटियां थीं और कगारयुक्त खड़ी चट्टानें थीं, यहां एक अंधेरी घाटी में एक विहार था, इसके ऊंचे ऊंचे कक्ष और पार्श्ववीथिकाएं चट्टानों को काटकर बनाई गई थीं। एक मंजिल के ऊपर दूसरी मंजिल इस तरह से कई मंजिलें थीं जिनके पीछे खड़ी चट्टानें और सामने घाटी थी'।

फ्लीट के मतानुसार युआन-च्वांग ने जिस नगर का उल्लेख किया है वह वातापि नहीं था जिसका चालुक्य अभिलेखों में चालुक्यों की राजधानी के रूप में उल्लेख आया है। युआन-च्वांग का तात्पर्य नासिक से है। उसने इस देश के पूर्वी भाग में जिस विहार और पत्थरों को काटकर बनाए गए भवनों का जिक्र किया है उन्हें विद्वान अजंता की गुफाएं मानते हैं। यदि यह सही हो तब यह मानना पड़ेगा कि उसके समय में भोगवर्धन 'प्रदेश' महाराष्ट्र का अंग था।

'शक्तिसंगमतंत्र' में, जो काफी बाद की रचना है, महाराष्ट्र उस प्रदेश को कहा गया है जिसका विस्तार त्र्यंबक से कर्णाटक तक था जिसमें उज्जयिनी, मार्जार 'तीर्थ' (या 'तीर') और कोलापुरनिवासिनी शामिल थे। त्र्यंबक की ठीक पहचान पश्चिमीघाट से की गई है, जिससे गोदावरी निकलती है। यह नासिक जिले में स्थित है। कर्णाट कन्नड़भाषी इलाका है जिसके बारे में वात्स्यायन के सूत्रों के टीकाकार ने लिखा है कि वह महाराष्ट्र की दक्षिणी सीमा पर है। उज्जयिनी जो महाराष्ट्र के अंतर्गत थी 'मध्ये च उज्जयिनी शिवे' मालवा की उज्जयिनी नहीं है। यह नासिक जिले के सिन्नार तालुक में उज्जथिनी या उज्जैनी है।[53] मार्जार तीर्थ की पहचान कठिन है। यदि सही पाठ मार्जार 'तीर' है तो यह किसी नदी के किनारे होना चाहिए। यह नदी सिर्फ मांज्रा ही हो सकती है जो गोदावरी में मिलती है। कोलापुर आधुनिक कोल्हापुर है जिसे कोल्लापुर भी कहते थे। इसके उल्लेख से पता चलता है कि उस समय मराठ देश का विस्तार कृष्णा के पार भी था। कोल्हापुर आज की भांति उस समय भी महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर रहा होगा।

कर्णाट और कुंतल

कर्णाट देश की सीमा विक्स ने इस प्रकार बतलाई है :[54]

"बीदर नगर के पास से शुरू होकर—कन्नड़ भाषा के मार्ग का अनुसरण करता हुआ दक्षिण-पूरब की दिशा में एक लहरदार रेखा बनाता करीब करीब अडोनी को स्पर्श करता है, फिर गुंटी से पश्चिम की दिशा में टेढ़े-मेढ़े चलता यह अनंतपुर नगर के किनारे से होकर नंदिदुर्ग जाता है; फिर वहां से पूर्वीघाट की पहाड़ियों को स्पर्श करके दक्षिण की दिशा में यह गज्जलहृति के पहाड़ी दर्रे तक पहुंचता है; फिर जैसे कोयंबटूर, पल्लाचि और पोलघाट के बीच पश्चिमी पहाड़ियां, गहरी दरार के कारण एकाएक मुड़ जाती हैं तो उसी के साथ साथ यह भी मोड़ लेकर उत्तर-पश्चिम में बढ़ जाता है; वहां प्रपाती पश्चिमीघाट की चोटियों को छूता यह उत्तर में कृष्णा के उद्गम तक चला गया है; फिर वहां से पहले पूरब की दिशा में फिर उत्तर-पूरब की दिशा में बढ़ते हुए यह न्यून कोण बनाता हुआ बीदर में मिल जाता है जिसे हम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसकी उत्तरी सीमा पर बता चुके हैं।"

राइस का मत है कि संभवत: इसकी उत्तरी सीमाएं मराठों के हमलों और उनकी विजयों के कारण सिकुड़ गई थीं। कभी कभी गलती से कर्णाट, कर्णाटक या कर्नाटिक नाम पूर्वी घाट के नीचे के उन मैदानों के लिए इस्तेमाल हुआ है जिसमें मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ तमिल जिले और नेल्लोर का तेलुगु जिला शामिल है। यह गलती स्पष्ट ही विजयनगर साम्राज्य के विस्तार के कारण हुई जिसकी राजधानी तो कर्णाट में थी किंतु जो कारोमंडल तट तक विस्तृत था। इन दोनों कर्णाटों में फर्क करने के लिए कभी कभी इनमें से एक को कर्णाट बालाघाट (घाटों से ऊपर का पठार) और दूसरे को कर्णाट पायनघाट (घाटों के नीचे की निचली भूमि) कहते हैं।

कर्णाट नाम 'महाभारत' के 'जंबुखंड' 'पुराणों' और वराहमिहिर (छठी शताब्दी) की 'बृहत्संहिता' में आया है। किंतु इन ग्रंथों से इसकी वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता। इनमें दक्षिण के जनपदों में इसकी भी गणना भर कर दी गई है। कदंब राजा विश्ववर्मन प्रथम के बिरूर के ताम्रपट्टों में 'वैजयंती-तिलक समग्र कर्णाट भूवर्ग' का उल्लेख आया है। ये ताम्रपट्ट लगभग उसी समय के हैं जब 'बृहत्संहिता' की रचना हुई थी या ये उसके कुछ पहले के ही होंगे। इन ताम्रपट्टों में आए उपर्युक्त वर्णन से अनुमान होता है कि कर्णाट में एक 'भूवर्ग' शामिल था और कि वैजयंती या बनवासि जो उत्तरी कनारा में थी इस 'भूवर्ग' की तिलक थी अर्थात यह उसकी प्रधान नगरी थी। ईसा की आठवीं शताब्दी में चालुक्य राजा ('वल्लभ-कीर्तिवर्मन द्वितीय') की सेनाओं के लिए कर्णाटक बल का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि वह देश जिस पर पूर्व चालुक्यों का शासन था अर्थात वातापि और उसके आसपास का प्रदेश उस समय कर्णाट के नाम से विख्यात था। राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग (अमोघवर्ष प्रथम 814-77 ई०) को 'कविराज मार्ग' नामक कन्नड़ के एक ग्रंथ की रचना का श्रेय दिया जाता है। इस ग्रंथ में कन्नड़ (कर्णाट) का अर्थ काफी विस्तृत है :

'कावेरियिंदमागो
दा वरि वरमिर्द नाडदा कन्नदोल
भाविसिद जनपदं वसुधा-
वलय विलीन विशेषम् ॥
अद्रोलगं किसुवोलला
विदित महाकोपण नगरदा पुलिगेरेया
सदिभरत्तुतमप्योकुंदद
नयुवण नाडे नाडे कन्नडद तिरुल।'

(प्रसिद्ध गोदावरी से कावेरी तक फैला भूभाग ही कन्नड़ है। वसुधा की समस्त विशेषताओं से युक्त यह जनपद विलसित है। उसमें भी किसुबोलल, प्रसिद्ध कोंकण नगर पुलिगेरे और सदा प्रशंसा के योग्य ओंकुंद इनके बीच का स्थान ही कन्नड़ का सार है।)[55]

यदि इसमें हम गोदावरी के स्थान पर मांजरा पढ़ें तो यह वर्णन अतिरंजित नहीं प्रतीत होता। इसमें ध्यान देने की महत्वपूर्ण बात यह है कि कर्णाट देश में किसुवोलल (बिजापुर जिले में पट्टदकल) के आसपास का इलाका, कोपन (कतिपय विद्वानों के अनुसार धारवाड़ में मुलगुंड) और दूसरे विद्वानों के अनुसार हैदराबाद रियासत में कोपल[56] या बीजापुर गुल-बर्ग इलाके में हगरटगे नाडु में कुपन[57], ओंकुंद (बिजापुर जिले में हुनगुंड) और पुलिगेरे (या धारवाड़ में मीरज रियासत में लक्ष्मेश्वर) शामिल थे। पांचवीं शताब्दी के अंत से लेकर नवीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी के प्रारंभ तक के अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि कर्णाट में बंबई प्रेसिडेंसी के उत्तरी कनारा, धारवाड़ और बिजापुर के जिले और हैदराबाद रियासत के रायचुर और गुलबर्ग जिले शामिल थे। इसके अतिरिक्त समग्र कर्णाट भूवर्ग में और कौन कौन से प्रदेश थे इसका निश्चय आसान नहीं है। यह सुझाव दिया गया है कि मूल कर्णाट वही था जो विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य के हैदराबाद के दानलेख[58] में कण्ण 'विषय' कहा गया है, जो श्रीशैल की (तलहटी) में था। किंतु इस अनुमान के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है। उपलब्ध अभिलेखीय प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्णाट का अर्थ कार = काला + नाडु = देश 'विख्यात कृष्ण वर्ण विषय'[59] था न कि कण्ण (कर्ण) नाडु अर्थात कर्ण यानी सातकर्णि राजा का देश। 'शक्तिसंगमतंत्र' में कर्णाट को रामनाथ से श्रीरंग तक का देश कहा गया है। श्रीरंग कावेरी तट पर है। इसी कावेरी को 'कविराज मार्ग' में कर्णाट की दक्षिणी सीमा कहा गया है। किंतु वाजिब मतभेद इस बात में हो सकता है कि यह श्रीरंग त्रिचिनापल्ली के पास का प्रसिद्ध मंदिर है या मैसूर के पास का सेरिंगेपटम। किंतु त्रिचिनापल्ली के पासवाला श्रीरंगम तमिल देश के ठीक मध्य में पड़ता है, इसलिए मैसूर के पास का सेरिंगेपटम ही श्रीरंगम अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि यह वास्तविक कर्णाट देश में स्थित है। रामनाथ संभवतः प्रसिद्ध रामेश्वरम तीर्थ है जहां गोविंद तृतीय ने जंगली शूकरों का आखेट किया था। राइस के मतानुसार यह तुंग और भद्रा के संगम से कुछ मील नीचे एक द्वीप है। इन दोनों नदियों का सम्मिलित नाम तुंगभद्रा है।

इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि बारहवीं शताब्दी से तुंगभद्रा के उत्तर के कर्णाट का एक दूसरा नाम हो गया था जिसकी प्राचीनता पांचवीं शताब्दी तक थी। हम देख चुके हैं कि प्राचीन राष्ट्रकूट अभिलेखों में वातापि के पूर्वी शाखा के चालुक्यों का संबंध कर्णाटक से बतलाया गया है। परवर्ती कालों में चालुक्यों की पश्चिमी शाखा जिस प्रदेश पर शासन करती थी उसे कुंतल [60] कहते थे 'ज्येष्ठः कुंतल-राजलक्ष्मीमग्रहीत इतरो वेंगीभुवम्' 'इनमें बड़े (पुलकेशिन द्वितीय) ने कुंतल की राजलक्ष्मी ग्रहण की और दूसरे (कुब्ज विष्णुकुंडिन प्रथम) ने वेंगी देश की'।

इसके पहले अजंता के पांचवीं शताब्दी के लेख में और छठी शती के वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' में कुंतल नाम आ चुका है। यह नाम इससे भी प्राचीन हो सकता है क्योंकि 'महाभारत' के 'जंबुखंड' में और 'पुराणों' के 'भुवनकोश' में भी इसका उल्लेख है। अचरज तो यह है कि 'जंबुखंड' में कर्णाटक और कुंतल में और कुंतल और बनवासिक में भेद किया गया है। कुंतल और वनवासक में तो 'वायुपुराण' और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भी भेद किया गया है जिनमें वनवासिक को वनवासक कहा गया है। इस भेद का आधार कितना पुराना है यह बतलाना आसान नहीं। संभवतः वनवासक उत्तरी कनारा और उसके आसपास के इलाके को कहते थे जिसका सिंचन वरदा करती थी। कुंतल कृष्णा के बेसिन का विशेष अभिधान था—विख्यात कृष्णा (काला) रंग है। और जो (तिल के) तैल से स्निग्ध है।[61] कर्णाट को जब बनवास और कुंतल से अलग कहते हैं तो संभवतः उसका तात्पर्य वही है जो 'शक्तिसंगमतंत्र' में बतलाया गया है।

अनेक अभिलेखों की परीक्षा के बाद फ्लीट ने दिखलाया है कि कुंतल में दक्षिण में उत्तरी कनारा का बनवासि, मैसूर में बलगंवे और हरिहर (शिमोगा जिला) और बेल्लारी जिले में हंपे या विजयनगर, इन जगहों के उत्तर में हांगल, लक्ष्मेश्वर, लक्कुंडि और गडग (धारवाड़ जिला), इसके और उत्तर में बेलगांव, सौंदत्ति, मनोली और कोन्नूर (बेलगांव जिले में) और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पट्टदकल और ऐहोल (बिजापुर जिले में) और इसके भी उत्तर सांगली रियासत में तेर्दाल, बिजापुर और निस्संदेह कल्याणी की गणना थी। इसमें हमें यही जोड़ना है कि मैसूर के हुंसूर तालुक से प्राप्त एक अभिलेख (सं० 137 सन 1162 ई०) भारत भूमि के देश में गंगवाडि की भी गणना करता है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी तक कुंतल में समूचे कर्णाट का समावेश मान लिया गया था। यह मत बिल्हण से भी मेल खाता है। बिल्हण ने कल्याणी के चालुक्यों के राज्य के प्रसंग में कुंतल और कर्णाट को पर्यायवाची मानकर प्रयोग किया है। विजयनगर के राजा हरिहर द्वितीय के समय में (1385 ई०) कुंतल को पुनः कर्णाट का एक विषय कहा गया है जिसकी राजधानी विजयनगर थी।[62] उपर्युक्त विमर्श से स्पष्ट हो जाता है कि कुंतल नाम का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में होता है। अपने विस्तृत अर्थ में (12वीं शताब्दी में) कुंतल से उस समूचे कन्नड़भाषी प्रदेश का तात्पर्य लिया जाता था जिसमें कल्याणी का साम्राज्य था और जिसमें दक्षिण मैसूर भी शामिल था। आमतौर पर इस नाम का प्रयोग कन्नड़भाषी प्रदेश के उत्तरी भाग के लिए होता था जो तुंगभद्रा की घाटी से कृष्णा की घाटी तक फैला था। संभवतः यदाकदा इसमें मांज्रा की घाटी भी शामिल हो जाती थी। अपने संकुचित अर्थ में इसमें वनवासि का इलाका या तुंग और भद्रा के संगम (जिला शिमोगा) का दक्षिण भाग भी शामिल नहीं था।

कल्याणी के चालुक्यों के काल में रट्टों या राष्ट्रकूटों के साम्राज्य के लिए जो बाद में चालुक्यों के पास आ गया इरट्टपाडि या रट्टपाटि[63] नाम दिया गया था। इसे हम कविराज मार्ग के कन्नड देश या बिल्हण के कर्णाट—कुंतल का दूसरा नाम भी मान सकते हैं। इसे 7½ लाख देश भी कहते हैं। यह संख्या उन गांवों की है जो इस क्षेत्र में शामिल थे, यह संख्या चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक, यह अतिरंजित और पारंपरिक भी हो सकती है। 'स्कंदपुराण' के 'कुमारिका-खंड'[64] से यह बात स्पष्ट हो जाती है जिसमें 'ग्रामाणां सप्तलक्षं च रटराजे प्रकीर्तितम' प्रयोग आया है। फ्लीट ने इस संबंध में अभिलेखों से भी बहुत से ऐसे ही कथन उद्धृत किए हैं।

युआन-च्वांग ने कुङ्-कन-पु-लो नामक प्रदेश का उल्लेख किया है जिसको कोंकणपुर बतलाया गया है। इसकी पहचान विभिन्न विद्वानों ने वनवासि, आनेगुंडि, कौक्कनूर और दूसरे स्थानों से की है। किंतु जैसा कि वेटर्स ने कहा है इन सभी पहचानों के मानने में कठिनाइयां हैं। फङ्चिह् में पाठ कुङ्-त-न-पु-लो है। इससे अनुमान होता है कि इस प्रदेश का मूल नाम कुंतल-पुर रहा होगा। मैसूर के शिमोगा जिले में कुबत्तूर नामक एक स्थान है जो प्राचीन काल में कुंतलनगर के नाम से प्रसिद्ध था।

संदर्भ

1. 'यवतमाल डिस्ट्रि० गजेटि०'. पृ० 11
2. 'बुल्डाना डिस्ट्रि० गजेटि०', पृ० 107-8, 147
3. लेवी : 'प्रीआर्यन ऐंड प्रीद्रविडियन इन इंडिया', ज० ए०, 1923
4. 'रामायण', अयोध्याकांड, ii, 9, 12, 'दिशामास्थाय कैकेयि दक्षिणं दंडकान् प्रति ।
वैजयंतभिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥'
5. 'म० भा०', iii, 85, 37—'ततो देवह्रदे रम्ये कृष्णवेण्णा जलोद्भवे'।
6. मैक्रिंडल: 'मेगस्थनीज ऐंड एरियन (1926)', पृ० 120
7. वही, 207

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

8. 'रामायण', iv, 41, 10; 'जंबुखंड', ix, ,42 मक्कोकलिंग मेकल के समान माना जाता है (ज०.बि० ओ० रि० सो० 1928, 540).
9. लेवी : 'प्रीआर्यन ऐंड प्रीद्रविडियन इन इंडिया' (अनु० बागची), पृ० 79.
10. 'ए० इं०' v, 108.
11. मैक्रिंडल, पूर्वो० 175.
12. विद्वानों ने गोअरिस और वेंदा की पहचान क्रमशः वैतर्ण और भीवांडी नदियों से की है—मैक्रिंडल'ऐंशयंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टालेमी' (1927) पृ० 41-42, किंतु यह विश्वास करना कठिन है कि टालेमी ने गोदावरी और भीमा का कोई उल्लेख ही नहीं किया है। यदि हम इन नदियों की पहचान गोअरिस और वेंदा से करेंगे तो हमें यही मानना होगा.
13. 'ए० इं०', xix, 32. यदि यह स्थान एकदम दक्षिण में न होता तो इस पहचान पर एतराज करना कठिन था.
14. वही, iii, 294-5, फ्लीट, 'कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स', 537.
15. 'बांबे गजेटियर', I, i, 540.
16. मैक्रिंडल : 'टालेमी' (1927) पृ० 225—'त्रिलिंगोन······कहते हैं कि इस भाग में मुर्गों की दाढ़ियां होती हैं और कौवे और तोते सफेद होते हैं.'
17. 'म० भा०', iii, 120, 31, 'वैदर्भराजोपचितं सुतीर्थं जगाम
पुण्यं सरितं पयोष्णीम् ।'
18. 'ए० इं०', xxvi, 140.
19. 'दि ईस्टर्न चालुक्याज' (डी० सी० गांगुली) 137, मिला०, 'ए० इं०' iv, 43.
20. वही, iii, 85.
21. वही, iv, 358.
22. 'इं० क०', जुलाई 1941, पृ० 39.
23. 'इंस्क्रिप्शंस इन सी० पी० ऐंड बरार' (हीरालाल), पृ० 150.
24. 'इं० ऐं०', 1918 पृ० 71.
25. 'हिस्ट्री आफ उड़ीसा' (रा० दा० बनर्जी) i, 216.
26. 'इं० ऐं०', viii, 17, मिला०, 'ए० इं०' xii, 153.
27. 'इं० क०', जुलाई 1941, 39.
28. 'तेलुगु लिटरेचर', लेखक पी० चेंचिया और राजा एम० भुजंगराव, पृ० 14.
29. 'ए० इं०', xxiii, 188.
30. जेरेट का अनुवाद, जिल्द ii, 228.
31. मिला० 'इं०ए०' xiii, 306, 314—'कुंतल चक्रवर्ती कटक', कुंतल राजा का कैंप या राजधाना। कुंतल से तात्पर्य कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों से है.
32. 'रामा०', iv, 28, 1; 'म० भा०' iii, 158, 37; 279, 26.
33. 'हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शंस आफ सदर्न इंडिया' (सेवेल), पृ० 265.
34. 'ए० इं०', iv, 36, 303.
35. वही, vi, 213.
36. वही, vi, 335.
37. वही, xv, 319, 324.
38. वही, xii, 2.
39. 'इं० क०', जुलाई, 1941, 38.
40. 'रघुवंश' vi. 56.
41. 'इं० ऐं०', 1933, 35, तथा आगे, 'ज० बि० उ० रि० सो०' 1928, 539-47.
42. 'म० भा०', xii, 49, 67.
43. 'है० आ० सि०', मोनोग्राफ सं० 14 पृ० 11.
44. फ्लीट, 'कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स', 283.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

45. चंद्रपुर या चांदोर गोवा के पास था ('इं० क०' ii, 3, 399) जो शिलाहारों के इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध नगर था।
46. 'ए० इं०', xii, 256
47. 'कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स' 283, 543, 567
48. 'वही' 283, 310
49. 'ए हिस्ट्री आफ दि महरट्टाज' (ले० ग्रांट डफ, जिसका संशोधन एस० एम० एडवर्ड्स ने किया), i, 3-4
50. अल्बरूनी ने भी मराठदेश को कुंकन से पृथक माना है. सखाऊ i, 203
51. 'ए० इं०', xix, 64
52. वही vi, 132
53. वही xii, 33
54. 'हैदराबाद गजेटियर', 100
55. ई० पी० राइस : 'हिस्ट्री आफ कनडीज लिटरेचर', 29
56. 'है० आ० सि०', मेमोयर सं० 12, पृ० 2
57. 'ए० इं०' vi, 59, xii, 308
58. डा० एन० वेंकटय्यमनरा—'ज० आ० हि० रि० सो०', x, 89; देखिए, सरकार, 'सक्सेसर्स आफ दि सातवाहनाज', 402-3
59. 'ए० इं०' xii, 153
60. वही, iv, 88
61. वही xii, 144, इसके अलावा कन्नड़ देश के 'कृष्णभूमि' क्षेत्रों का भी उल्लेख हो सकता है। दे० सरकार, पूर्वो० 261
62. वही, 216 टि०
63. वही iii, 294, 299 टि०
64. स्कंदपुराण, अध्या० 39

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रधान प्रशासनिक इकाइयां : सातवाहनकाल के प्रारंभ से तेरहवीं शताब्दी तक

हम देख चुके हैं कि ब्राह्मण काल से ही जनपद शब्द का प्रयोग किसी विशेष क्षेत्र या वहां रहने वाली जनता के लिए होता था। प्रारंभ में इसका महत्व नृजातीय दृष्टि से था न कि प्रशासनिक दृष्टि से उस समय ये किसी जनविशेष की निवासभूमि का द्योतक था, न कि शासन की सुविधा की दृष्टि से पृथक किए गए किसी इलाके का। किंतु जनपद किसी असंगठित जनता की निवासभूमि न था। वह एक राजनीतिक समुदाय भी था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के उत्तर कुरु और उत्तरभद्र ऐसे ही जनपद थे। बुद्ध के समय में उत्तर भारत के बहुलांश और दक्षिण में गोदावरी तक के प्रदेश जिन राज्यों में विभक्त थे, उन्हें महाजनपद कहते थे। कभी कभी यह शब्द शुद्ध भौगोलिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे : 'मज्झिम जनपद' नाम मध्य देश का द्योतक था। अशोक के अभिलेखों में उसकी 'धम्मयाता' ('धर्मयात्रा') और 'लाजुक' ('रज्जुकों') नामक उच्च पदाधिकारियों के कर्तव्य और उत्तरदायित्व बताने के सिलसिले में भी इसका प्रयोग हुआ है। किंतु इन लेखों से यह स्पष्ट नहीं होता कि इस काल में इस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में राज्य के लिए होता था अथवा उसकी किसी निश्चित प्रशासनिक इकाई के अर्थ में जैसे आज हम कमिश्नरी तथा जिला शब्दों का प्रयोग करते हैं। किंतु सातवाहन राजा पुलुमावि के म्यकदानी अभिलेख में एक सैनिक राज्यपाल के अधीन स्पष्ट ही 'जिले' के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। परवर्ती कालों में किसी प्रशासनिक इलाके के पदनाम के रूप में इसका बिरल ही प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग भौगोलिक प्रकार के विन्यासों में ही होता रहा जैसे, 'पुराणों' के 'भुवनकोश' या 'काव्यमीमांसा' के 'देश-विभाग' में इसका प्रयोग इसके मूल अर्थ अर्थात किसी 'जन' के लिए ही हुआ है जो अपनी उत्पत्ति किसी व्यक्तिविशेष से बतलाते थे।

वैदिक और प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में राष्ट्र शब्द का ही शुद्ध राजनीतिक अर्थ में प्रयोग मिलता है, जैसे : 'अथर्ववेद' के प्रसिद्ध स्तुतिमंत्र में परीक्षित के राष्ट्र का उल्लेख है। पुरोहित को 'राष्ट्रगोप' (राष्ट्र का रक्षक) कहा गया है। प्रारंभिक बौद्धग्रंथों में राजनीतिक अर्थ में राष्ट्र और जनपद एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अशोक के लेखों में इसका सीधे उल्लेख तो नहीं है तथापि 'रठिक' अर्थात 'राष्ट्रिक' शब्द से इसका अनुमान कर सकते हैं। यह 'रठिक' 'राष्ट्रिक' संभवतः वही है जो रुद्रामन के जूनागढ़ के लेख का 'राष्ट्रिय' है। चौथी शताब्दी के बाद के अभिलेखों में प्रशासनिक इकाई के रूप में जनपद का प्रयोग तो नहीं मिलता, किंतु राष्ट्र का प्रयोग मिलता है। सातवाहनकाल का सातवाहनिहार नामक जनपद प्रारंभिक पल्लवकाल में साताहनि 'रट्ठ (राष्ट्र) हो गया।

सातवाहनकाल में प्रशासनिक जिला या तालुक के रूप में सबसे प्रचलित इकाई आहार (या हार) थी। अशोक के अभिलेखों में महामात्रों के अधिकारक्षेत्र के सिलसिले में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। किंतु खास खास आहारों के उल्लेख तो बाद में ही मिलते हैं। अशोक के बाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में ज्यादातर सातवाहनकाल के अभिलेखों, किंतु वृहत्फलायनों, वाकाटकों और त्रैकूटकों के काल के कतिपय लेखों में भी नीचे लिखे आहारों का उल्लेख है :

कापूर 'आहार' : गुजरात में मिंढोला नदी के दक्षिण किनारे या उसके पास।

सोपारक (सूर्पारक) 'आहार' : मोटे तौर पर आज का ठाणा जिला या उसका भाग।

गोवर्धन 'आहार' : नासिक में।

मामाल 'आहार' : आधुनिक मावल 'सूर्यास्त प्रदेश', पूना और सतारा जिलों का पहाड़ी इलाका।

सातवाहनि 'आहार : 'बेल्लारी जिले में।

कुदूर 'आहार' : मसुलीपटम के पास।

इक्षरकी 'आहार' : संभवतः उत्तरी कोंकण में।

सुप्रतिष्ठित 'आहार' : मध्य प्रदेश के वर्धा जिले के हिंगनघाट तहसील का इलाका।[1]

सातवाहनकाल के बाद 'आहार' का प्रयोग बंद होने लगा। बाद के युगों में इसका उल्लेख यदाकदा ही मिलता है। फिर यदि किसी जिले के नाम के साथ इसका प्रयोग मिलता भी है तो उसके साथ 'विषय' जुड़ा रहता है।[2] उत्तर भारत में गुप्तों के समय में और दक्षिण में कंदबों के समय में जिलों के अर्थ में 'विषय' का प्रयोग सर्वाधिक प्रचलित था। कतिपय पल्लव और इक्ष्वाकु राजाओं ने पुराने शब्द 'रट्ठ' या राष्ट्र का प्रयोग शुरू किया। इनके अभिलेखों में हमें साताहानि रट्ठ (बेल्लारी जिला), कम्मक 'रठ' (कर्मांक 'राष्ट्र', गुंटूर और नेल्लोर के हिस्से), तोंपुकि 'रठ' (जिसकी पहचान निश्चित नहीं है पर यह अमरावती से ज्यादा दूर स्थित नहीं था) और वेंगो 'राष्ट्र' (गोदावरी और कृष्णा के बीच) के उल्लेख मिलते हैं। 'आहारों' की भांति राष्ट्र भी 'विषय' में परिवर्तित हो गए हैं, जैसे : एक अभिलेख में जो पुलकेशिन द्वितीय के समय का बतलाया जाता हैं, हमें गोप-राष्ट्र-'विषय' का उल्लेख मिलता है। इंद्रवर्मन के समय के प्लकि राष्ट्र का उल्लेख पूर्वी चालुक्यों के लेखों में प्लकि या पलकि 'विषय' के रूप में हुआ है।[3]

रट्ठ या राष्ट्र के साथ साथ हमें प्रशासन की एक इकाई के नामों के अंत में पथ शब्द मिलता है। प्रारंभिक पल्लव काल के एक अभिलेख में अंध्रा 'पथ' का उल्लेख है जिसका अधिष्ठायक ('वापट' या व्यापृत') धम्नकड में रहता था। इसकी पहचान आमतौर पर अमरावती या उसके आसपास के इलाके से की जाती है। करीब करीब उसी काल से अभिलेखों में पैठाण-'पथ' (जाहिर है कि इसका संबंध गोदावरी के तट पर पैठन से है), श्वेत 'पथ'[4] और काचु 'पथ' के उल्लेख मिलते हैं। चौथी और पांचवीं शताब्दी के वाकाटकों ने 'राज्य' शब्द का प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार की दो प्रशासनिक इकाइयों का पता अभिलेखों से मिलता है। वे हैं भोजक 'राज्य' और आरम्मि 'राज्य।' भोजक 'राज्य' ताप्ती और पूर्णा नदियों के बीच के उत्तरी बरार प्रदेश के बराबर था और आरम्मि 'राज्य' संभवतः वर्धा जिले में अरवि के इर्द-गिर्द के प्रदेश को कहते थे। एक दूसरी इकाई अजंता पहाड़ी और पेलोगा नदी के बीच के इलाके की थी जिसका केंद्र वत्सगुल्म या बासिम था। संभवतः एक राज्य में कई 'भोग' या 'भाग' होते थे। अभिलेखों से दो 'भोगों' का पता मिलता है। उनके नाम हैं हरिण्यपुर 'भोग' और वेण्णाकार्पर 'भाग'। हिरण्यपुर से हमें 'पुराणों' के कांचनकापुरी की याद आती है। इसकी पहचान चांदूर के पास सोनगांव से या सागर के पास हिरपुर से की जाती है।

वातापि के चालुक्यों शौर मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के शासनकाल में तीन पदनामों का प्रचलन था, वे थे : 'देश', 'मंडल' और 'विषय'। इनमें से 'विषय' शब्द का प्रयोग अधिक होता था। कन्नड़ प्रदेश और उससे सटे इलाकों में 'वाडि' (जैसे गंग'वाडि', नोलंब 'वाडि', नल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'वाडि' मास 'वाडि' सिंह'वाडि' आदि) 'खेड' (जैसे आलुव'खेड'), 'नाड' (जैसे मले'नाड', बनवासे 'नाड', एडेदोर 'नाड' सिंहवाडि, 'नाड')[5] और नाड़ु (वेंगै 'नाड़ु')का प्रयोग होता था।

देश

'यजुर्वेद' की 'वाजसनेयी संहिता' में 'देश' शब्द आया है। किंतु प्राचीन वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग विरल ही हुआ है। बौद्धग्रंथों में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत ज्यादा हुआ है जिसमें कभी कभी इसका इस्तेमाल 'जनपद' के अर्थ में हुआ है। जैसे मज्झिम 'जनपद' को मज्झिम 'देश' भी कहा गया है। अशोक के शिलालेख सं० 14 में इसका अलग से ऐसा प्रयोग हुआ है जबकि कभी कभी इसका प्रयोग समस्त-पद में हुआ है जैसे दूसरे पृथक शिलालेख में 'देशा'वूतिक में। पल्लव लेखों में 'देशाधिकृतों' का उल्लेख है जबकि शालंकायन 'देशाधिपति' का प्रयोग करते हैं। स्पष्ट है कि शायद अशोक के समय में भी 'देश' को एक प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रयोग करने लगे थे। कम से कम पल्लवकाल में तो ऐसा अवश्य होता था। पल्लवों के बाद के कालों में तो 'देश' को 'विषय' से भी बड़ा मानते थे। जैसे वटनगर 'विषय' नासिक 'देश' का एक हिस्सा था। कभी कभी तो संभवतः 'देश' और 'विषय' का एक ही अर्थ में प्रयोग होता था। 779 ई० में हमें नासिक 'विषय' का उल्लेख मिला है जबकि इसके कुछ ही बाद 807 ई० में उसी इलाके के लिए शायद देश शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] 'आहार' का 'देश' से वही संबंध था जो 'विषय' का। इक्ष्वाकु 'आहार' अपरांत देश का एक भाग था। किंतु पुलकेशिन द्वितीय के समय में खेट 'आहार' एक 'देश' भी था। खेटा'हार' 'देश' की पहचान रत्नागिरि जिले के खेड तालुक से की गई हैं। प्राचीन पल्लवकाल में शायद 'आहार' 'रट्ट' या 'राष्ट्र' में बदल गया था। ऊपरी दकन में यह 'देश' हो चुका था, यह हम अभी देख चुके हैं। वहीं 'आहार' 'विषय' में भी परिवर्तित हो गया था जैसा कि हम अभी देखेंगे। किंतु कभी कभी 'देश' का प्रयोग मुल्क के अर्थ में इस प्रकार हुआ है मानो उसका किसी प्रशासनिक इकाई से कोई संबंध ही न हो, जैसे: महाराष्ट्र 'देश', विदर्भ 'देश', आंध्र 'देश', तैलंग 'देश', कलिंग 'देश', कर्णाटक 'देश' आदि।

मंडल

मंडल का अर्थ (क्षेत्र का) घेरा होता है। नासिक की गौतमीपुत्र सातकर्णि की प्रशस्ति में उसे 'सव-मंडलाभिवादित-चरण' कहा गया है। इसका अर्थ है कि सभी 'मंडलों' (प्रांतों) वाले उसके चरणों का अभिवादन करते थे। इसके वंश के लेखों में जिन प्रांतों, जिलों या तालुकों का उल्लेख हुआ है उन्हें 'आहार' कहा गया है जिसकी ओर हम ऊपर ध्यान आकर्षित कर चुके हैं। 610-11 ई० के गोवा के दानलेख में रेवतीद्वीप के चार 'मंडलों' और 'विषयों' के उल्लेख आए हैं। पूर्वी चालुक्य राजा विनयादित्य (694 ई०) के समय के हरिहर दानलेख में एक 'मंडल' का विशेष उल्लेख है। इस लेख में वनवासि 'मंडल' के एडेवोलल 'भाग' का जिक्र है। उसी राजा के उससे 2 साल पहले के 692 ई० के एक लेख में एडेवोलल 'विषय' का उल्लेख है जिसका एक भाग उत्तरी कनारा में वैजयंती या बनवासी (वनवासि) नगर के उत्तर-पूरब में पड़ता था। यदि एडोवोलल 'विषय' और एडोवोलल 'भाग' एक ही हैं तब तो वह वनवासि 'मंडल' का एक हिस्सा रहा होगा। दूसरे शब्दों में इस इलाके में विषय इस काल में मंडल का एक भाग होता था।

एक दूसरा प्राचीन 'मंडल' वेंगी का था जिसका उल्लेख गोविंद द्वितीय के अलास ताम्र-पट्टों में (769 ई०) वेंगीमंडल के रूप में आया है।[7] विनयादित्य के ताम्रपट्टों के समय के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आसपास का ही किग्ग (कडूर जिला) का अभिलेख है, जिसमें कदंब 'मंडल' का उल्लेख है,[8] जिसका क्षेत्र वही था जो वनवासि 'मंडल' का था। पिठापुरम स्तंभलेख (1186 ई०) में आंध्र 'मंडल' का उल्लेख है जिसपर गोंक प्रथम वेंगिमंडल के चालुक्यों के सामंत के रूप में शासन करता था। यह आंध्र 'मंडल' करीब करीब वही था जो पल्लव लेखों में आंध्र 'पथ' कहा गया है। इसमें उसके आसपास के भी कुछ इलाके शामिल रहे होंगे, क्योंकि उसके पूर्वज मल्ल प्रथम को कृष्णा के दक्षिण तट पर 'षटसहस्र देश' का और उसके परदादा को उसके भी उत्तर के कुछ जिलों का शासक कहा गया है।

1338 ई० के दोनेपूंडि दानलेख में उल्लिखित आंध्र खंड 'मंडल' में गोदावरी के तट से लेकर कलिंग तक का भाग शामिल था। 1195 ई० के पिठापुरम के एक अभिलेख में कोण 'मंडल' का उल्लेख है जिसको कोन 'स्थल', कोन 'आवनि' और कोन 'देश' भी कहते थे। एक दूसरे अभिलेख से पता चलता है कि यह वृद्धगौतमी पर स्थित था। वृद्धगौतमी गोदावरी की सात शाखाओं में एक थी। यह बतलाया गया है कि कोण 'सीम' का प्रयोग गोदावरी जिले में प्रचलित है। अमलापुरम तालुक के एक हिस्से को, जिसमें गोदावरी की अनेक शाखाएं बहती हैं, कोणसीम कहते हैं। यह एक उपजाऊ 'कोण' अर्थात घाटी है।[9] दक्षिण कोंकण के शिलाहार राजाओं के प्रसंग में चंद्र'मंडल' का भी प्रयोग मिलता है।[10] काजीपेठ के एक अभिलेख में कोंकण'मंडल' का उल्लेख है।[11] गंग'मंडल' हमारे दकन की सीमा के बाहर पड़ता था।

अन्य छोटे भू विभाग

सातवाहनकाल के बाद 'विषय' सबसे महत्वपूर्ण प्रशासनिक इकाई थी। किंतु 'विषयों' का विवरण देने से पूर्व अन्य प्रशासनिक छोटी इकाइयों जैसे 'भोग', 'भाग', 'खंड', 'नाडु' और 'खेड' और 'भुक्ति' के संबंध में बतलाना आवश्यक है।

'भोग' और 'भाग' वाकाटक अभिलेखों में राज्य के विभाग के रूप में मिलते हैं। कुमार-विष्णु द्वितीय के चेंदलूर ताम्रपट्टों में कर्मांक 'राष्ट्र' के एक हिस्से के रूप में कवचकार 'भोग' का उल्लेख है। कर्मांक 'राष्ट्र' को कम्मक'रठ', कम्म'राष्ट्र', कम्मांक'राष्ट्र', कर्म'राष्ट्र' या कामनांडु 'विषय' (नेल्लोर और गुंटूर के हिस्से) भी कहते थे। विनयादित्य के जेजूरी ताम्रपट्टों में (687 ई०) 'विषय' के भाग के रूप में 'भोग' का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में 'नीरा-नद्युत्तर तटस्थः' एक गांव को पंलयट्ठन (फल्टन) 'विषय' के शातिमाल 'भोग' में स्थित बतलाया गया है। किंतु कभी कभी 'भोग' और 'विषय' एक ही अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। बुद्धिराज के 608 ई० के वडनेर ताम्रपट्टों में नासिक के चांदवाड तालुक में वटनगर 'भोग' (वडनेर) का उल्लेख है। 806 ई० के वाणी के दानलेख में इसे ही वटनगर 'विषय' कहा गया है। 1616-17 ई० के लेख में श्रीनिलय 'भोग' का उल्लेख है। यह भीमरथी या भीमा नदी के तट पर स्थित था। किंतु यह उस बड़ी प्रशासनिक इकाई का अंग था जिसका उल्लेख नहीं किया गया है। 692 ई० के एक अभिलेख में[12] कृष्णवेर्णा या कृष्णा के उत्तरीतट पर स्थित एक (बेलहिणरु) 'भोग' का जिक्र आया है। कोलहार्न का मत है कि 'भोग' और 'भाग' एक ही अर्थ के द्योतक हैं।[13] एडवोलल 'भाग' का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

'खंड' और 'खेड' के उदाहरण नायर'खंड' और आलुव'खेड' (मावली अभिलेख में उल्लिखित, शिमोगा जिले के शोराब तालुक में स्थित) है, ये बनवासि प्रांत या जिले के अंग थे। वेंगी 'नाडु' विषय' संभवतः वेंगी'मंडल' या 'देश' का अंग था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भुक्ति

प्राचीन दकन के अभिलेखों में क्षेत्रीय इकाई के रूप में 'भुक्ति' के उल्लेख की चर्चा की जा सकती है। उत्तर भारत के इतिहास के विद्यार्थी साम्राज्य के प्रांतीय संगठन के सिलसिले में इस शब्द का बहुधा प्रयोग देखते हैं किंतु दक्षिण के अभिलेखों में इसका प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। जहां इसका प्रयोग हुआ है वहां भी यह किसी बड़े प्रांत के अर्थ में न होकर एक छोटी इकाई के रूप में हुआ है। यह इकाई आज के तालुक या तहसील के बराबर रही होगी। ध्यान देने की बात यह है कि 'भुक्ति' का प्रयोग खासकर राष्ट्रकूट लेखों में मिलता है जिनका संपर्क गंगा की घाटी से था। दंतिदुर्ग के समय में कोप्पारक पंचशत 'भुक्ति', गोविंद तृतीय के समय में प्रतिष्ठान 'भुक्ति' और रासियन 'भुक्ति' और अमोघवर्ष के लेखों में मज्जंतिय-शप्तति-ग्राम 'भुक्ति' के उल्लेख मिलते है।[14] कोप्पारक 'भुक्ति' सतारा जिले में रही होगी। प्रतिष्ठान तो प्रसिद्ध पैठन ही है। रासियन 'भुक्ति' संभवतः अहमदनगर जिले में थी।[15]

विषय

जैसा कि हम बतला चुके हैं चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक विषय ही सबसे महत्व की प्रशासनिक इकाई थी। इस शब्द का प्रयोग ई० पू० तीसरी शताब्दी में भी हुआ है। अशोक के सारनाथ के स्तंभलेख में कोट 'विषय' (कोट्ट 'विषय') अर्थात किसी कोट के आसपास के जिले का उल्लेख मिलता है। सातवाहनों, इक्ष्वाकुओं, वृहत्फलायनों और प्राचीन पल्लवों ने इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं किया। किंतु शालंकायनों, कदंबों और उनके बाद के राजवंशों में यह काफी प्रचलित था। शालंकायनकाल में कुदूर 'आहार' जिसका शासक एक वापत था कूदूराहार 'विषय' कहलाता था। इस प्रकार के कई उदाहरण हैं जिनमें 'आहार' को 'विषय' में परिर्वातत कर दिया गया था। इसका करीब करीब सबसे बाद का उदाहरण बलमी के राजाओं के समय का है, जिनके राज्यकाल में खेटकाहार 'विषय' का उल्लेख मिलता है। कभी कभी तो किसी बड़े 'विषय' में कोई छोटा 'विषय' भी शामिल होता है। इसमें छोटा विषय पहले आहार रहा होता था। श्रयाश्रय शीलादित्य (सातवीं शती का उत्तरार्ध) के नौसारी के ताम्रपट्टों में हमें 'बाहिरिका विषयांतर्गत कन्हवलाहार विषय का उल्लेख मिला है। इसमें कन्वलाहार 'विषय' बाहिरिका 'विषय' के अंतर्गत था। हम नीचे दकन और उसके आसपास के कतिपय प्रसिद्ध 'विषयों' का उल्लेख करेंगे :

गोपराष्ट्र 'विषय' : नासिक का एक भाग।

नासिक्क 'विषय' : नासिक जिले के निफाड और नासिक तालुक।

वटनगर 'विषय' : नासिक जिले का चंदनाड या चंदोर तालुक।

मृगथणिकाहार 'विषय' : गंगा के उत्तरी तट पर, बशर्ते कि यहां गंगा से गोदावरी का तात्पर्य हो न कि भागीरथी का।

कोंकण 'विषय' : सूरत से ठीक उत्तर वारिय्व से लेकर कुंडिवाटक तक जो संभवतः रत्नागिरि जिले में संगमेश्वर तालुक में था। कोंकण का 'राष्ट्र' और 'मंडल' के रूप में उल्लेख मिलता है। कोंकण राष्ट्र संभवतः दक्षिण में उत्तरी कनारा में गोकर्ण तक चला गया था। कोंकण में दो छोटे छोटे 'विषय', महिरिहार 'विषय' और षट्षष्टि 'विषय' (सलसेत्ते) भी शामिल थे। कोंकण के रत्नागिरि जिले के चिपलूण तालुक के अभिलेखों में अवरेतिका 'विषय' का भी उल्लेख है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंतर्मंडलि 'विषय' : स्पष्ट ही अपरांत या कोंकण का एक भाग।

इरिदिगे 'विषय' : सप्त कोंकणों में एक। इसमें सावंतवाडि रियासत और रत्नागिरि जिला शामिल था।

पूणक 'विषय' : पूना जिले में।

पलयट्ठान 'विषय' : फल्टन रियासत जिसमें से होकर नीरा नदी बहती है जो भीमा में मिल जाती है।

करहाट 'विषय' : सतारा जिले में आधुनिक कराड (कतिपय अभिलेखों से पता चलता है कि इस विषय में 4000 नगर और ग्राम थे। एक अभिलेख में इनकी संख्या 10,000 बतलाई गई है।

पगलति 'विषय' : बिजापुर जिले में तुंबगि इसी में था। फ्लीट के अनुसार यह गुलबर्ग जिले का हगरटगे 'नाडु' है। यह संभव है कि इस विषय में बिजापुर और गुलबर्ग दोनों जिलों के कुछ भाग शामिल रहे हों।

कर्णपुरी 'विषय' : बिजापुर जिले में सालोटगी का इलाका।

कुहुंडि 'विषय' : इसका नाम कुंडि भी था। इसमें बेलगांव जिले का अधिकांश भाग और उसके आसपास के इलाके शामिल थे। इसकी राजधानी सुगंधवर्तिन, सवंदवत्ति या सवंध-वत्ति में थी जहां बेलगांव जिले का आधुनिक सौंदत्ति है। बेलगांव (बेलुग्राम, वेणुग्राम या वेणुपुर) में कभी कभी राजधानी रहती थी।

पानुंगल 'विषय' : धारवाड़ जिले में आधुनिक हांगल के आसपास का इलाका। इसकी राजधानी हांगल थी। प्राचीन पानुंगल या हानुंगल का उल्लेख पांथीपुर, वराटपुर, विरटनकोटे और विराटनगर के रूप में भी हुआ है। विरटनकोटे 'विषय' नाम से उसके आसपास के जिले को कोई 'विषय' कहने की सार्थकता सिद्ध होती है।

बेलवोल 'विषय' : गडग, अण्णिगेरे, कुर्त्तकोटि और नरगुंड (धारवाड़ जिले में), डूलि (बेलगांव में) और कुक्कनूर (हैदराबाद रियासत में)[16]।

एडेवोलल 'विषय' : उत्तर कनारा में बनवासि के उत्तर पूरब में। तोमर 'विषय' इसके पड़ोस में ही रहा होगा।

सगर 'विषय' : संभवतः गुलबर्ग जिले में।

मास्वाडि 'विषय' : स्पष्ट ही कोप्पल के पास।

नलवाडि 'विषय' : बेल्लारी और कुर्नूल की दिशा में।

कण्ण 'विषय' : इसकी ठीक ठीक पहचान कठिन है। इसका संबंध बिजापुर जिले के कर्णपुरी 'विषय' से हो सकता है।

चक्रकूट 'विषय' : आधुनिक बस्तर।

रूपावर्तनी 'विषय' : संभवतः देक्कलि के उत्तर में, अब विजगपटम जिले में।

वराहवर्तनि 'विषय' या कोलुवर्तनि 'विषय' : चिकाकोल और देक्कलि के बीच का तटीय इलाका।

कलिंग 'विषय' : इसमें राकलुव, आधुनिक रगोलु जो चिकाकोल के पास में ही है, शामिल था। यह या तो वराहवर्तनि 'विषय' का काफी प्राचीन नाम है या फिर इसी 'विषय' से काटकर वराहवर्तनि 'विषय' बना होगा। इसके अतिरिक्त रूपावर्तिनी 'विषय' और निम्नलिखित कतिपय अन्य 'विषय' शामिल थे।

भोगिपुर या भोगपुर 'विषय' : विजगपटम जिले का विलमिपटम डिवीजन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बारपुनांडु 'विषय' : विजगपटम का येल्यमंचिलि इलाका।

प्लकि 'विषय' या 'राष्ट्र' : चिपुरपल्ले का इलाका।

दिमिले 'विषय' : विजगपटम का सर्वसिद्ध तालुक (इसके दक्षिण-पश्चिम का इलाका कलिंग से अलग आंध्र में था। वराह नदी इन दोनों की सीमा रही होगी)।

अन्मकोंड 'विषय' : स्पष्ट ही हनमकोंड और वारंगल के आसपास का इलाका।

प्रोलुनांडु 'विषय' : पूर्वी गोदावरी जिले में पिठापुरम से दक्षिण की ओर।

उत्तरवरुष 'विषय' : प्रोलुनांडु जिला के नजदीक।

गुडुवाडि 'विषय' : इसमें पूर्वी गोदावरी जिला के रजोले और रामचंद्रपुरम तालुक शामिल हैं।[17]

पगुनवर या पावुनवार 'विषय' : संभवतः रामचंद्रपुरम तालुक में द्राक्षाराम के पास था।

अत्तिलि 'विषय' : पश्चिम गोदावरी जिले का तनकु डिवीजन।

रेंडेरुलु नडिमि 'विषय' : 'सिंधु युग्मांतर देश' दो नदियों—गोदावरी और कृष्णा, के बीच का देश।

वेंगीपुर 'विषय' : जिसमें 1000 गांव थे। स्पष्ट ही एल्लोर के पास ऐड्डुवेगि के आसपास का इलाका।

कुदूरहार, कुद्राहार, गुद्रहार, गुद्रवार या गुद्रार 'विषय' : इसमें कृष्णा जिले में बंदर या गुडिवाड तालुक शामिल थे। पिठापुरम के एक अभिलेख में 'गुद्रवार द्वय' का उल्लेख आया है। इसमें गुद्रवार खास और इसके पास उत्तर में संभवतः गुडुवाडि से तात्पर्य रहा होगा।

वेलनांडु 'विषय' : इसमें रेप्ले तालुक, कृष्णा-गुंटूर का इलाका शामिल हैं।

कोन्नतवाडि 'विषय' : सत्तनपल्ले तालुक का एक भाग। इसका मुख्य नगर श्रीधान्यांकपुर या अमरावती था।

दशमिक तथा अन्य प्रणालियां

आठवीं शताब्दी से दकन की प्रशासनिक इकाइयों के बारे में महत्वपूर्ण बात यह मिलती है कि वहां तभी से धर्मशास्त्रकारों द्वारा अनुमोदित दशमिक प्रणाली अपना ली गई थी। इस व्यवस्था में साम्राज्य या राज्य गांवों के 10 या 10 के गुणकों के समूह बना दिए जाते थे। 12 या 12 के गुणकों के भी समूह मिलते हैं, किंतु बहुत ही कम। 116 गांवों के समूह भी मिलते हैं। अन्य संस्थाओं के भी समूह मिलते हैं। इन संस्थाओं का संबंध गांवों से है, यह बात फ्लीट ने बतलाई थी। अभिलेखों और 'पुराणों' से इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। 'स्कंदपुराण' के 'कुमारिका खंड' से अभिलेखीय प्रमाणों की पुष्टि अनेक बातों में होती है।

हम इन ग्रामसमूहों का सिंहावलोकन कोंकण से प्रारंभ करेंगे। कोंकण 900 अर्थात गोवा के आसपास का इलाका, और कोंकण 1400 अर्थात कोलाबा जिले के चौल के पास से ठाणा तक विस्तृत प्रदेश का उल्लेख पाते हैं। कोंकण 1400 से कवदिद्वीप सवा लाख का घनिष्ट संबंध है। कोंकण का सबसे उत्तरी भाग वरियवि 116 के बराबर था।

चांदोर पहाड़ियों और नीरा के बीच पश्चिमी घाट के पूरब के खुले इलाके अर्थात 'देश' में दशमिक, द्वादशिक या तत्संबद्ध प्रणालियों का अधिक प्रचलन न था। इसमें शक नहीं कि पैठन में गोदावरी के पास सारकच्छ 12 जैसे ग्रामसमूह का भी उल्लेख मिलता है किंतु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम हैं। जब नई प्रणाली का गुजरात और कुंतल में प्रचार हुआ तो बिना किसी संख्या के 'देश' का प्रदेश (रीजन) के अर्थ में प्रयोग होने लगा, जैसे : हमें नासिक 'देश' और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेउण 'देश' के उल्लेख मिलते हैं। सेउण 'देश' नासिक जिले में चांदोर से लेकर हैदराबाद रियासत के औरंगाबाद जिले में दौलताबाद तक विस्तृत था।

जब हम नीरा नदी को पार करते हैं तो हमें दशमिक प्रणाली का खूब प्रचार मिलता है। शुरू में ही प्रत्यंडक 4000 मिलता है जिसमें वायवद 12 शामिल था जिसकी पहचान सतारा जिले के उत्तरी भाग में स्थित वाई तालुक से की गई है। इस मंडल के दक्षिण में करहाट 4000 (या 10,000) था जो ब्राह्मी लेखों का करहाट, करहाटक, करहकट, या करहाकडक और आधुनिक कराड है। यह कराड सतारा जिले के कराड तालुक का मुख्य शहर है जो कृष्णा और कोयना के संगम पर बसा है।

करहाटक के दक्षिण तोरगले या तोरगल 6000 था जो आज का कोल्हापुर है।

करहाटक के पूरब और दक्षिण-पूरब में भीमा से मलप्रभा तक विस्तृत आज का बिजापुर जिला है। इसमें तर्दवाडि 1000 (भीमा के दक्षिण तट पर, जिसमें स्वयं बिजापुर भी शामिल था), बागडगे या बागडिगे 70 (बागलकोट, इसके बीच से घाटप्रभा बहती है), किसुकाडु (ताम्रवन या लालवन संस्कृत-'सुल्वाटवी') 70 जिसका मुख्य नगर बादामि जिल में पट्टकल, प्राचीन किसुवोलल या पट्टदकिसुवोलल था और कोलवाडि 300 शामिल थे। यह कोलवाडि बादामि के उत्तर और पट्टदकल के पश्चिम और उत्तर पश्चिम था।

बिजापुर के दक्षिण-पश्चिम बेलगांव जिले के अधिकांश भाग में कुहुंडि या कूंडि 3000 था। किंतु इसका दक्षिणी भाग प्लासिगे 12000 था। उसका यह नाम प्लासिका या हालसी पर पड़ा था जो खानापुर से दक्षिण-पूरब में 10 मील की दूरी पर है।

मलप्रभा नदी बिजापुर को धारवाड़ से अलग करती है। धारवाड़ इसके दक्षिण में पड़ता है। इसमें नरेयंगल 50 पड़ता था।[18] इसका मुख्य नगर वहीं था जहां आज धारवाड़ जिले के उत्तरी भाग में रोण तालुक में नरेगल है। नरेय्गंल 50 का उल्लेख वातापि के पूर्वी चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय (734-46 ई०) के एक अभिलेख में भी है। यह दकन की प्रशासनिक व्यवस्था दशमिक प्रणाली के ग्रहण के सबसे प्राचीन उदाहरणों में है। नरेगल के दक्षिण-पश्चिम में अण्णीगेरे है जो बेलवोल 300 का मुख्य नगर था। अण्णीगेरे के दक्षिण-पूरब लक्ष्मेश्वर है जो प्राचीन काल में पुलिगेरे 300 की राजधानी था। इस नाम के पुरिगेरे, पोरिगेरे, हुलिगेरे, और पुलिकर रूप भी मिलते हैं। यह नगर दक्षिण सोमनाथ के रूप में भी ख्यात था। फिर धारवाड़ जिले के दक्षिण भाग में हंगल है जो पानुंगल 300 की राजधानी था।

इसके पड़ोस का उत्तरी कनारा जिला ह्यवे 500 था जो पश्चिम समुद्र तक विस्तृत था। उत्तरी कनारा का एक हिस्सा, मैसूर के शिमोगा जिले और उसके आसपास के इलाके के साथ वनवासि 12000 कहा जाता था। बारहवीं शती में इसकी राजधानी बलगांवे में थी जो आधुनिक बनवासि से 18 मील दक्षिण पूरब में है।

हैदराबाद रियासत में हमें मान्यखेड 6000 और हगरिट्टगे 300 (गुलबर्ग जिला), सगर 500, कुक्कनूर 30, मासवाडि 140 (कोप्पल के पास), सब्बि 1000 या सब्बि सायिर के उल्लेख मिलते हैं जिसमें अन्मकोंड और वारगंल के प्रसिद्ध नगर थे। काजीपेट के एक अभिलेख में उल्लिखित अन्मकोंड 'विषय' भी यही रहा होगा।

पूर्वी दकन में हमें कृष्णा के दक्षिण तट पर षटसहस्र 'जगती' (6000 गांवों का देश) का उल्लेख मिलता है। दकन के इसी भाग में वेंगी 'मंडल' भी था। पिठापुरम के 1186 ई० के एक अभिलेख में इस मंडल में 16000 गांव बतलाए गए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. 'ए० इं०' xxvi, 158.
2. उदा० कुदूराहार 'विषय', मृगनिकाहार 'विषय', खेटकाहार 'विषय' आदि
3. 'ए० इं०' xii, 133.
4. ल्युडर्स० इंस्क्रि० से० 547 मिला०, नासिक जिले के उत्तरी भाग में श्वेतपाद से, 'ए० इं०', xix, 70
5. फ्लीट : 'कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स', 582. इसमें बिजापुर ग्रौर धारवाड़ जिलों का काफी हिस्सा रहा होगा. इसकी राजधानी एरंबरगे थी जो हैदराबाद रियासत में येलवर्गा है.
6. इसके दूसरे उदाहरणों में है प्रोलुनांडु ('देश'), 'ए० इं०', vii, 53 पंक्ति 17, 'विषय', वही, पंक्ति 29, अत्तिलि ('देश', वही vii, 180; 'विषय', वही 179)
7. तमिल अभिलेखों में 'मंडल', 'देश', 'मही', 'भू' ग्रौर 'विषय' के स्थान पर खासकर वेंगि के प्रसंग में 'नाडु' शब्द का प्रयोग होता है।
8. 'ए० इं०', ix, 16.
9. वही, iii, 287; iv, 84, 320.
10. फ्लीट : 'कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स', 537.
11. श्रीनिवासचार : 'कार्पस', पृ० 26.
12. फ्लीट०, पूर्वो० 369.
13. 'ए० इं०', iii, 529 टि०
14. ग्रल्तेकर : 'दि राष्ट्रकूटाज ऐंड देअर टाइम्स', 137, फ्लीट, पूर्वो० 390, 397.
15. फ्लीट०, पूर्वो० 398 तथा आगे.
16. वही, 432
17. 'ज० आ० हि० क०', I, i (ग्रप्रैल 1943) पृ० 45.
18. नरेयंगल 12 का भी पता है (फ्लीट, पूर्वो०, 572)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर और मंडियां

वेदों में विंध्य के दक्षिण के किसी नगर का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किंतु 'बृहदारण्यक उपनिषद' में विदर्भी के लिए कौंडिन्य के कुलनाम का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उपनिषद काल में विदर्भ या बरार में कुंडिन नाम का कोई नगर अवश्य रहा होगा। महाभारत में इस नगर का उल्लेख है। यह नगर संभवतः वहीं था जहाँ आज अमरावती जिले में वर्धा के किनारे चादूर 'तालुक' में आधुनिक कौंडिन्यपुर है। यदि यह सही है तब तो यह शहर सह्याद्रि पर्वत के उत्तर में था। इस प्रकार यहां दकन की जो सीमाएं बतलाई गई हैं, यह शहर उससे बाहर रहा होगा। यही बात भोजकटक, नंदिवर्धन आदि अनेक नगरों पर लागू है जिन्हें महाभारतकाल में और उसके बाद ऐतिहासिक युग में भी विदर्भ को अनेक प्रसिद्ध राजाओं की राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त था। बरार का एकमात्र ऐसा नगर वत्सगुल्म या बासिम ही था जो सह्याद्रि पर्वत के दक्षिण में था। यह नगर कम से कम चौथी शताब्दी में वर्तमान था।

'रामायण' में दंडक की दक्षिण दिशा में वैजयंतपुर का उल्लेख मिलता है। यह नगर यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित बाईजंतियम या बाईजंटिवों बंदरगाह या बनवासि हो सकता है जिसका उल्लेख टालेमी ने बनाऔसेइ नाम से किया है। ऐहोल के अभिलेख में बनवासि के संबंध में कहा है कि 'वरदा' की तुंग तरंगों पर खेलनेवाले हंसों की कतारें इसकी मेखलाओं की तरह हैं।' यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित बाईजंतियम नगर समुद्रतट पर एक पण्यनगर था जबकि टालेमी बाईजंतियम और बनाऔसेइ में अंतर करता है। उसके द्वारा उल्लिखित बनाऔसेई देश के भीतर स्थित नगर था, किंतु भारतीय प्रमाणों के अनुसार इस नगर का नाम भी वैजयंती था। मनोरंजक बात यह है कि अल्बरूनी ने 'बनवास' को भी समुद्रतट पर बतलाया है। यह भी संभव है कि विदेशी होने के कारण उन लोगों ने बनवासि-वैजयंती जो वरदा नदी के तट पर देश के भीतर एक नगर था और उसके बंदरगाह में, जो समुद्रतट पर कहीं स्थित रहा होगा, अंतर न समझा हो, जिसका नाम भी शायद वही रहा हो। इसी तरह चीनी यात्रियों के अनुसार कांचीपुरम दक्षिण भारत का एक बंदरगाह था और वहां से लंका को प्रस्थान करते थे [1]। उन्होंने कारोमंडल तट पर स्थित बंदरगाह और पल्लवों की राजधानी को भ्रम से एक ही समझ लिया था।

'रामायण' में मुरचीपट्टन का भी उल्लेख है। यह वराहमिहिर द्वारा उल्लिखित मरुचीपट्टन, यूनानियों का मुजिरिस और आधुनिक क्रंगनूर है। किंतु यह खास दकन से दक्षिण में पड़ता है।

'महाभारत' में शूर्पारक और प्रसिद्ध रामतीर्थ का उल्लेख है। इन दोनों का जिक्र उषवदात के अभिलेखों में आया है। यूनानी लेखक इसे सुप्पारा या सूप्पारा के नाम से जानते हैं। वे कैलियना या कल्याण के साथ इसका उल्लेख करते हैं जो ठाणा जिले में है। प्राचीन पालि-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि सुप्पारक का सुवर्णभूमि से खूब व्यापार होता था। सुवर्णभूमि उस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय निचले बर्मा और मलय द्वीपसमूह को कहते थे। अल्बरुनी ने इसका सूबारा के नाम से उल्लेख किया है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह नगर ग्यारहवीं शताब्दी तक वर्तमान था। 1095 ई० के एक शिलाहार अभिलेख में उन गाड़ियों पर लगने वाली चुंगी का उल्लेख मिलता है जो स्थानक (ठाणा), नागपुर (अलीबाग के पास नागांव), सूर्पारक, चेमूलि ('चौल', पेरिप्लस की सेमील्ला और टालेमी की सिमील्ला) और कोंकण 14 0 के अन्य बंदरगाहों में आती थीं। सूर्पारक इस समय बसिन के पास सोपारा है जो बंबई से कुछ ही मील दूर उत्तर में है।

'महाभारत' में एक जगह का उल्लेख आया है जिसे संजयिनी नगर कहा गया है। संभवतः यह टालेमी का सजंटिओं है। यह ठाणा जिले का संजन गांव प्रतीत होता है।

'महाभारत' में जिन अन्य नगरों के नाम आए हैं, वे हैं : करहाटक, करहकट, करहा-कडेक या कराड (सतारा जिले में), पोतन (अश्मकों की राजधानी) दंतकूर और राजपुर (कलिंग की राजधानियां)। यह दंतकूर ही प्लिनी का दंदगुल है।

प्राचीन पालिग्रंथों में भी इनमें से कुछ शहरों के नामों का उल्लेख है। इसके अलावा इन ग्रंथों में पतिट्ठान या प्रतिष्ठान का भी उल्लेख है जो गोदावरी से उत्तर भारत की ओर जानेवाले मार्ग पर स्थित था। 'पेरिप्लस' में इसी शहर को पैथन और टालेमी ने बैथेन कहा है जो सिरि पोलेमेओस की राजधानी था। यह राजा वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलमावि ही था। महा-भारत में भी एक प्रतिष्ठान का उल्लेख आया है किंतु यह इलाहाबाद के पास था न कि गोदावरी के तट का पैठन जो हैदराबाद रियासत के औरंगाबाद जिले में है। राष्ट्रकूटकाल में यह नगर एक भुक्ति की राजधानी था।

अनुश्रुतियों के अनुसार प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन ई०पू० चौथी शताब्दी में हुआ था। उसने नासिक्य या नासिक नामक एक नगर का उल्लेख किया है। भारहुत और बेडसा के कतिपय प्राचीन अभिलेखों में भी इसका उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने इसे ही 'रामायण' की पंचवटी माना है।[2] राष्ट्रकूटकाल में यह एक महत्वपूर्ण तालुक ('विषय', 'देश') की राजधानी था। सातवाहनकाल में गोवर्धन की प्रतिष्ठा इससे काफी बढ़-चढ़ कर थी। यह गोवर्धन नासिक से छः मील पश्चिम में था। ईसा की दूसरी शताब्दी में टालेमी ने नासिक की महत्ता पहचानी थी। उससे इसे नैमडोस (नर्मदा) नदी के पश्चिम (वस्तुतः दक्षिण) में बतलाया है। नासिक को 'नवसिख' = 'नौ चोटियों वाला' का परिवर्तित रूप मानते हैं। कोई कोई इसका संबंध रावण की बहन सूर्पणखा की नासिका से भी मानते हैं।

मौर्य साम्राज्य के दक्षिणी भाग के शासन के लिए अशोक के समय में सुवर्णगिरि में एक कुमार रहता था। इसकी संतोषजनक पहचान अब तक नहीं हो पाई है। हुल्ट्ज्श ने इसकी पहचान हैदराबाद रियासत में कनकगिरि से की थी जो मस्की से दक्षिण और विजयनगर के खंडहरों से उत्तर में है। इन पंक्तियों के लेखक ने इसकी पहचान खानदेश में सोनगिर से करने का सुझाव दिया है। ध्यान देने की बात यह है कि खानदेश में चालीस गांव से 6 मील उत्तर-पूरब वाघली में एक प्रस्तरलेख मिला है जिससे एक ऐसे मौर्य वंश का पता चला है जो ग्यारहवीं शताब्दी तक खानदेश के एक भाग पर शासन कर रहा था।
अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित तोसली (पुरी में) समापा (गंजाम में) और इसिल (चितलदुर्ग में) खास दकन से बाहर थे।

कलिंग के राजा खारवेल ने, जो ई० पू० दूसरी या पहली शताब्दी में राज्य करता था, अपने हाथीगुंफा अभिलेख में कण्हवेंणा (कृष्णा) के तट पर असिगनगर (या इसका दूसरा पाठ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुसिक नगर) और पिथुड का उल्लेख किया है। यह पिथुड सिलवां लेवी के अनुसार 'उत्तराध्ययनसूत्र' का पिहुंड और टालेमी का पिटींद्रा है जो मैसोलिया अर्थात आंध्रदेश में मसुलिपटम के आसपास था। यह नगर ठीक ठीक कहां था इसका निश्चय अभी नहीं हो पाया है, किंतु पिटींद्रा नागार्जुनकोंड अभिलेख की विजयपुरी, अमरावती और बेजवाडा से अधिक दूर न था जो प्राचीन आंध्र प्रदेश का हृदयप्रदेश था।

खेद है कि खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख में उसके पश्चिम के समकालीन राजा 'सातकर्णि' की राजधानी का उल्लेख नहीं है। सातकर्णि और उसके उत्तराधिकारी सातवाहन राजाओं के साम्राज्य के बड़े बड़े नगरों के बारे में जानकारी तो परवर्ती अभिलेखों में ही मिलती है। पश्चिम भारत के अनेक गुफालेखों में ऐसे बहुत से नगरों के उल्लेख हैं जिनका संबंध इस वंश के शासकों से था, जैसे : वेनाकतट और नवनर। इनके अलावा 'अमात्यों' या जिलाधिका-रियों के मुख्यालयों के रूप में गोवर्धन (नासिक में) और मामाल (पूना जिले में मावल 'तालुक') के उल्लेख हैं। कटक का अर्थ 'कैंप' या 'शाही नगर' है। अतः बेनाकटक का तात्पर्य संभवतः वेना के किनारे के 'कैंप' या शहर से है। चूंकि इस स्थान का संबंध गोवर्धन से था जो नासिक जिले में है, यह नदी करवेना होनी चाहिए जिसका उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। वर्तमान अंबिका नदी ही पुरानी करवेना है। यह नदी बांसद की पहाड़ियों से निकलकर सूरत और दमण के बीच समुद्र में गिरती है। नवनगर संभवतः नवानगर है, जो ठाणा जिले में कल्याण का पुराना नाम था।[3] इस काल में सातवाहनों की मुख्य राजधानी गोदावरी के तट पर पैठण में थी। सातवाहन साम्राज्य के दो अन्य बड़े नगर वैजयंती-वनवासि (उत्तरी कनारा) और धान्य-कटक—अमरावती (मद्रास के गुंटूर जिले में) थे। दूसरे नगर कुदूर और वेंगीपुर थे जहां सातकर्णियों के खंडहरों पर अन्य राजवंशों ने अपना राज्य बनाया।

'रामायण' की भौगोलिक सामग्री के सिलसिले में हम वैजयंती-बनवासि का उल्लेख कर चुके हैं। वनवासि नाम के कई रूप मिलते हैं। किटेल के अनुसार यह 'वन' (वन) + कन्नड़ के 'बसि' या बसे—झरना से बना है। 'वनवास' इसका संस्कृत रूप है जिसका अर्थ 'वन की बस्ती' (पंडितों की) से है। इसी प्रकार अभिलेखों में धान्यकटक के भी कई रूप मिलते हैं, जैसे धम्नकट, धम्णकटक या सिर्फ कडक, धान्यघट, धान्यघटक, धान्यघाटी और श्रीधान्यांकपुर। युआन-च्वांग ने इसे ते-न-क-चे-क कहा है। इस नगर के आसपास के इलाके को प्राचीन पल्लव अभिलेखों में आंध्रपथ और गनपांबा के येन मंडल अभिलेख में कोन्नातवाडि 'विषय' कहा गया है। कभी कभी इसका उल्लेख 'कृष्णवेण्णी-नदी-दक्षिण-षटसहस्रावनी' के रूप में भी हुआ है। इस इलाके का हृदय धान्यकटक था जिसमें अमरेश्वर का मंदिर था। मध्यकाल में इसका सोने का शिखर था। धान्यांकपुर और अमरेश्वर के नाम संभवतः धरणीकोट और अमरावती के रूप में आज भी बच रहे हैं। ये कृष्णा नदी और गुंटूर नगर के बीच सत्तनपल्ले 'तालुक' में हैं।

कुदूर टालेमी द्वारा उल्लिखित कूडूरा है। हमें पता है कि बृहत्फलायनों और शालंकायनों और संभवतः पूर्वी चालुक्यों के अधीन यह एक जिले का मुख्यालय था। इस समय वहां कुडूर नामक एक गांव है जो मसुलीपटम से 4 मील और गंथसाल से 6 मील दूर है। यह गंथसाल टालेमी द्वारा उल्लिखित कोंटकोस्सीला 'मंडी' है।[1] इससे थोड़ी ही दूरी पर अफेतेरिओन था जहां से ख्रीस ('सुवर्णभूमि' अर्थात निचले बर्मा और मलय द्वीपसमूह) को जहाज जाते थे।

वेंगिपुर संभवतः टालेमी का बेनगूरोन था जो सालकेनोइ अर्थात शालंकायनों की राजधानी था। इसकी पहचान पेद्दवेगि से की गई है जो एल्लोर से 7 मील उत्तर और कोलेर भील से 10 मील उत्तर-पश्चिम में है। वेंडलुरू पेद्दवेगि से पांच मील दक्षिण-पूरब में है। इसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रास्ते पर बड़े बड़े टीले और खंडहर हैं।[5]

पेरिप्लस और टालेमी के 'आउटलाइंस आफ ज्याग्रफी' में बहुत से उल्लेख ऐसे हैं जिनसे ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के बीच अन्य नगरों के बारे में दिलचस्प ब्यौरे हैं। इन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : (1) जो देश के भीतर थे, और (2) जो पूर्वी और पश्चिमी समुद्र-तट पर और नदियों के मुहानों पर थे।

देश के भीतरी भागों में 'पेरिप्लस' ने दो को महत्व दिया है। वे हैं पैथन (गोदावरी पर पैठन) और तगर (जिसकी पहचान फ्लीट ने उस्मानाबाद जिले के तेर या थैर से की है। 'इन स्थानों से बैरीगाजा को (नर्मदा के मुहाने पर) वैगनों में बिना सड़कों के इन बड़े बड़े क्षेत्रों से होकर पैथन से प्रचुर मात्रा में इंद्रगोप मणियां और तगर से मामूली कपड़ा, तरह तरह की मलमल और गुल-ए-खैरू का कपड़ा और तरह तरह के सामान समुद्री तट से भी आते थे।[6]

शिलाहारों के अभिलेखों में उनके पूर्वजों की राजधानी के रूप में तगर का प्रमुख रूप में उल्लेख आया है।

टालेमी को इन नगरों के अतिरिक्त नासिक, बनवासि और पिटींद्रा का पता है और वह बैलिओकूरोस की राजधानी हिप्पोकूर, मोदोगुल्ला, बर्दमान और कोरूंकल का भी उल्लेख करता है। हिप्पोकूर की पहचान कतिपय विद्वानों ने बिजापुर जिले में हिप्पर्गि से और दूसरे विद्वानों ने कोल्हापुर से की है। यह कोप्पारक का ही वर्णविपर्यय से बना एक रूप हो सकता है जो दंतिदुर्ग के समय में (754 ई०) एक भुक्ति था। यह सतारा जिले के दक्षिण भाग में पेथ और वर्णा नदी से अधिक दूर न रहा होगा जो सतारा जिला और कोल्हापुर रियासत को अलग करती हैं।[7] मोदोगुल्ला की पहचान रायचुर दोआब में मुद्गल से और कुछ विद्वानों ने घाटप्रभा के किनारे मुधोल से की है। वर्दमान संभवतः 1163 ई० के हनमकोंड अभिलेख में उल्लिखित वर्धमानपुर है। यह अन्मकोंड से 20 मील दक्षिण-पश्चिम वर्धनपेट या उसी शहर से 50 मील पर वद्दमर्रि होगा। कोरूंकल को हनमकोंड के पास वारंगल बताया गया है जो काकतीय राजाओं और गोलकुंडा और हैदराबाद के उत्थान के पूर्व तेलिंगान का मुख्य नगर (भाग नगर) था।

यूनानी लेखकों ने समुद्रतट पर जिन मंडियों का उल्लेख किया है उनके दो भाग किए जा सकते हैं : (1) पूर्वी तट पर, और (2) पश्चिमी तट की मंडियां। पूर्व के नगर कृष्णा और गोदावरी, लांगुलिनी और वंशधरा के मुहानों के पास थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वह था जहां से ख्रीस को जहाज रवाना होते थे। प्लिनी ने केप कलिंगोन और दंदगुल का उल्लेख किया है जो विजगपटम जिले में चिकाकोल के पास लांगुलिनी या लांगुलिय के मुहाने पर था। प्लिनी के 1200 साल बाद वेनिस के प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने कृष्णा के मुहाने के पास एक प्रमुख बंदरगाह देखा था जिसका नाम मुत्फिलि लिखा है। यह आधुनिक मोतुपल्लि है। 'यह नगर एक रानी (रुद्रम्मा या रुद्रांबा) का है जो बड़ी बुद्धिमान महिला है···वह बड़े न्यायपूर्वक शासन करती है···इस राज्य में कई पहाड़ ऐसे हैं जिनमें हीरे पाए जाते हैं।' इन हीरों को कहानियां अरेबियन नाइट्स की कहानियों की तरह हैं। रुद्रम्मा वास्तव में अपने पिता गणपतिदेव के ही पदचिह्नों पर चल रही थी जिसका मतुपल्लि 'अभयशासन' (1244-5 ई०) ऐसे सभी विदेशी यात्रियों की सुरक्षा की गारंटी देता था जिनके जहाज आंध्र के तट पर ध्वस्त हो जाते थे। मतुपल्लि या मोतुपल्लि का दूसरा नाम दश्यूयक्कोंडपट्टन भी था।[8] यह गुंटूर जिले के बापटला 'तालुक' में है।

दकन के पश्चिमी तट पर यूनानी लेखकों ने बेरीगाजा या भड़ोच से प्रारंभ कर इन मंडियों का उल्लेख किया है :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुप्पारा : प्राचीन शूर्पारक औद आधुनिक सोपारा। इसकी पहचान और महत्व के बारे में हम बता चुके हैं।

कैलियेना : ठाणा जिले में कल्याण-कण्हेरी (सं० कृष्णगिरि जिसकी पहचान कतिपय विद्वानों ने टालेमी के कल्लिगेरिस से की है) के एक गुफा अभिलेख में इसे प्राचीन अपरांत में रखा गया है। 1095 ई० के एक अभिलेख में ठाणा (प्राचीन स्थानक) का एक व्यापारिक केंद्र के रूप में उल्लेख आया है। अल्बरूनी (1030 ई०) ने सूबारा और ताना अर्थात शूर्पारक और स्थानक का उल्लेख किया है। उसने ताना को कुंकन (कोंकण) की राजधानी बतलाया है।

दूंग : टालेमी ने सूप्पारा और सिमील्ला के बीच इसका उल्लेख किया है। इसकी पहचान भिवांडी से 10 मील उत्तर दुगड से की गई है।

सिमील्ला या सेमील्ला : मसूदी का सैमूर, खारेपटन अभिलेखों का चेमूल्य और आधुनिक चौल जो बंबई से करीब 30 मील दक्षिण में है।

मंदगोर : इसकी पहचान रत्नागिरि जिले के दापोल तालुक में मंदनगड से की गई है जो बानकोट दर्रे के दक्षिण में सावित्री नदी के मुहाने पर है।

हिप्पोकूर : यह बंदरगाह इसी नाम के शहर से भिन्न है। टालेमी ने इसका नाम सिमील्ला की मंडी और बंदरगाह के बाद और बाल्टीपट्न के पहले दिया है। कतिपय लेखकों ने इसकी पहचान घोंडेगांव से की है और दूसरे इसकी पहचान कोलाबा जिले में कुडा से करते हैं। अभी तक इस संबंध में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

पलैपटने, बाल्टीपट्न : इसकी पहचान कतिपय विद्वानों ने कन्ननूर के उत्तर-पश्चिम कुछ मील दूर मलाबार जिले में बलेयवत्तन या बेलियपटम से की है। किंतु फिर यह बंदरगाह काफी दक्षिण में मानना होगा, जो ठीक नहीं। यह चौल (अलीबाग और कोलाबा के बीच) और बाईजंतियम (उत्तरी कन्नड़) के बीच रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि यूनानी लेखक इससे उसी बंदरगाह का तात्पर्य लेते थे जो रट्टराज के खारेपटन ताम्रपट्टों में (1008 ई०) चेमूल्य और अन्य नगरों के साथ वेलिपत्तन के रूप में 'समुद्रतीर सह्यांत देश' में उल्लिखित है। इस बंदरगाह को एक लेख में 'महादुर्ग' भी कहा गया है।[9] इसकी ठीक ठीक पहचान कठिन है। किंतु इतना तो निश्चित है कि यह दक्षिण कोंकण के शिलाहारों के राज्य में था। फ्लीट के अनुसार शिलाहारों का राज्य कोंकण 900 अर्थात वर्तमान गोवा और इरिदिगे देश में था जिसमें सावंतवाडि की रियासत और रत्नागिरि जिला शामिल था।

मैलिजीगर : इसकी पहचान जंजीरा, जयगढ़ या रायपुर से की गई है, किंतु कुछ भी निश्चित नहीं है। इनमें जयगढ़ ही अधिक संभव प्रतीत होता है।

बाईजंतियम : 'बंबई गजेटियर' में इसकी पहचान चिपलूण से की गई है। श्खाफ ने इसकी पहचान विजड़ोग (विजयदुर्ग) से की है जो पश्चिमी तट का एक प्रसिद्ध बंदरगाह है। मराठाकाल में इसे घेरिया कहते थे।

तोगरम : इसकी पहचान आधुनिक देवगढ़ से की गई है। किंतु इसके लिए पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यही बात औरन्नोबोअस की मालवन से पहचान के बारे में भी लागू है।

इसके बाद कई द्वीप आते हैं जिन्हें सेसेक्रिने (जिनकी पहचान वेंगुर्ल चट्टानों से की गई है), एगिदि (जिसकी पहचान गोवा या उससे भी दक्षिण अंजिदिव से की गई है) और कैनिटे (जिसकी पहचान ओईस्टर की चट्टानों से की गई है) कहा है। इसके बाद चेर्सोनिसस 'प्रायद्वीप' आता है जिससे उत्तरी कनारा में कारवाड का तात्पर्य लेते हैं। फिर ह्वाइट आइलेंड आता है जिसे श्खाफ ने आधुनिक पिजन आइलेंड बतलाया है जो उत्तरी कनारा तट से परे है। दूसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्वान इसे माहे से दक्षिण-पूरब बदागर के पास रखते हैं। अय्यंगार का मत हैं कि ल्यूके या ह्वाइट आइलैंड वही है जो आज का वेल्लियन कल्लु या तुवक्कल है जिसे पिजन आइलैंड कहते हैं।

सातवाहनकाल के बाद की कतिपय राजधानियां

हमने ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में विदेशी लेखकों द्वारा वर्णित कतिपय अंतर्देशीय नगरो और मंडियों का सर्वेक्षण किया है। इस संबंध में मार्कोपोलो का भी जिक्र किया है। अब हम सातवाहन-काल के बाद के राजवंशों के समय की कुछ राजधानियों का उल्लेख करेंगे। पूर्वी दकन में विजयपुरी या विजयपुर का उल्लेख नागार्जुनकोंड और अमरावती के अभिलेखों में आया है। इक्ष्वाकुओं के समय यह नगर काफी महत्वपूर्ण था। आनंदगोत्र के राजाओं का विजयकंदरपुर, शालंकायनों का वेंगीपुर और कतिपय विष्णुकुंडिन राजाओं के समय में लेंडलूर मुख्य नगर थे। इनमें लेंडलूर की पहचान एल्लोर के निकट देंडूलूरू से की गई है जो वेंगीपुर के वर्तमान रूप पेद्दवेगि से पांच मील दक्षिण-पूरब में हैं। ईसा की चौथी शताब्दी से पिष्टपुरम या पिठापुरम का महत्व बढ़ गया था जो पूर्वी गोदावरी जिले में है। चौथी शताब्दी में गंगा की घाटी और सातवीं शती में पश्चिमी दकन के राजाओं के आक्रमणों का सामना इसे करना पड़ा था। सातवीं शताब्दी में यह एक चालुक्य राज्य की राजधानी बना। ग्यारहवीं शताब्दी में यह राजधानी राजमहेंद्रपत्तन या जननाथपुर में चली गई जो आधुनिक राजमुंद्री है। नवीं शती से एक अन्य नगर का महत्व बढ़ा था जिसका नाम विजयवाड, विजयवाट, विजयवाटिका अर्थात आधुनिक बेजवाड़ा है। यदि अमरावती के एक प्राचीन लेख का विजयपुर भी यही हो तब तो यह नगर और भी प्राचीन होगा।

पश्चिमी दकन में आने पर हमें कदंब अभिलेखों में उपर्युक्त वैजयंती का ही नहीं अपितु पलाशिका या हल्सी का भी उल्लेख मिलता है जो बेलगांव जिले में है। इसके अतिरिक्त त्रिपर्वत (जिसे कुछ विद्वान धारवाड़ जिले के देवगिरि या त्रिगिरि या तेगुर और कुछ विद्वान बेलगांव जिले का मुरगोड बतलाते हैं), और उच्छश्रृंगी (चितलदुर्ग या वेल्लारी जिले में) के भी उल्लेख आए हैं। परवर्ती काल के कदंबों के मुख्य नगर पानुंगाल या हांगल (धारवाड़ जिले में) और गोपकपत्तन, गोपकपुरी या गवे, आधुनिक गोवा थे। पुरी नामक एक नगरी जिसे 'पश्चिम समुद्र की रानी' कहा गया है पूर्व चालुक्यों के समय से शिलाहारों के समय अर्थात सातवीं से ग्यारहवीं शती तक उत्तरी कनारा की मुख्य नगरी था। इसकी ठीक ठीक पहचान नहीं हो पाई है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि अल्बरूनी (1030 ई०) ने 'ताना' को कुंकन की राजधानी बतलाया है। इसलिए यह मानना अनुचित न होगा कि कोंकण 1400 सूबे की राजधानी पुरी सलसेत्त द्वीप में आधुनिक ठाणा के आसपास ही कहीं रही होगी।

ऊपर जिन नगरों का जिक्र आया है उनमें से किसी को सातवाहनों के बाद किसी ऐसे साम्राज्य की राजधानी होने का गौरव प्राप्त न हुआ जो समूचे दकन पठार और पश्चिमीघाट के पहाड़ों के पास पर्याप्त भागों तक विस्तृत रहा हो। इस प्रकार का पहला नगर वातापि था। यह वातापि आज का बादामी है जो बिजापुर से 65 मील दक्षिण में स्थित है। यह प्रसिद्ध नगर उत्तर और दक्षिण में स्थित दो पहाड़ियों के बीच एक तंगघाटी में था। नगर से करीब तीन मील दूर मलप्रभा नदी थी। इसका नाम मलापहारी या मलप्रवाहिनी भी था जो कपिल संगम पर कृष्णा नदी में मिल जाती है। पूर्व में महाकूट की पहाड़ी है। इससे 8 मील उत्तर पूर्व मलप्रभा नदी पर ही पट्टदकल है जिसे पट्टद-किसुवल्ल और दक्षिण वाराणसी भी कहते हैं। यह किसुकाड 70 जिले का मुख्य नगर भी था। पट्टदकल का अर्थ 'अभिषेकप्रस्तर' है। किसुवल्ल का अर्थ है 'पद्मराग'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर या 'तांबे के रंग वाला' नगर।

मलप्रभा के आठ मील नीचे अय्यावोले (पुरोहितों का पवित्र गांव) स्थित था। इसका संस्कृत नाम आर्यपुर था। इसका एक नाम अहिच्छत्र भी था जिसे बिजापुर जिले के हुनगुंड तालुक में ऐहोल बतलाया जाता है। इसी के पड़ोस में एक जगह अरसीबीडि, 'रानी का मार्ग' या विक्रमपुर है जो विक्रमादित्य षष्टम की गौण राजधानियों में से था। यह ऐहोल से सिर्फ 8 मील दक्षिण-पूर्व में है। वातापि और ऐहोल (अय्यावोले) के बारे में वातापि और इल्वल दो दंडक-वासी असुरों की कथा बतलाई जाती है, जो भाई थे जिनका ध्वंस अगस्त्य ऋषि ने किया था।

चालुक्यों के बाद राष्ट्रकूटों का राज्य स्थापित हुआ। इनके पूर्वजों की राजधानी संभवतः लट्टलूर या लाटूर थी जो उस्मानाबाद जिले में तेर अर्थात प्राचीन तगर से 28 मील पूरब-उत्तर में है। किंतु अमोघवर्ष प्रथम के समय से उनकी राजधानी मान्यखेट में थी। अल-मसूदी ने इसको मनकिर लिखा है। आधुनिक मालखेड ही पुराना मान्यखेट है जो गुलबर्ग जिले के सेरम 'तालुक' में शोलापुर से करीब 90 मील दक्षिण-पूरब और हैदराबाद से 85 मील पश्चिम-दक्षिण में है। यह सबसे पहले वैंथेन और विल्सन ने सुझाया था। बाद में व्यूहलर और फ्लीट ने भी इसकी पुष्टि की। पश्चिम समुद्र से सीधी रेखा में इसकी दूरी करीब 350 मील है। इस शहर में कागिनी या काग्ना के किनारे एक पुराना किला है। इस नदी का एक नाम तांदूर भी है और यह भीमा की एक सहायिका है।

इस नगर की नींव अमोघवर्ष प्रथम ने रखी थी या फिर उसने अपनी राजधानी के रूप में इसका विकास और विस्तार किया था। राष्ट्रकूटवंश के पतन के बाद भी यह शहर बच रहा था। राष्ट्रकूटों के बाद के राजा भी कभी कभी यहां आते रहे। 902 ई० के मैसूर के एक लेख में इसे मान्यखेट 6000 की राजधानी बतलाया गया है।[11] इसके अनेक नाम मिलते हैं, जैसे : मान्यखेट, मान्यखेड, मन्नेखेड, मनकिर और मलकुएर।

मालखेड से 48 मील उत्तर-पूरब कल्याणी है (प्राचीन कल्याण, यह ठाणा के कल्याण से भिन्न है) जो ग्यारहवीं शताब्दी में मान्यखेट के स्थान पर चालुक्यों की राजधानी बनी थी। बिल्हण ने अपने 'विक्रमांकदेव चरित' में बतलाया है कि इस ग्रंथ के नायक विक्रमादित्य षष्टम के पिता सोमेश्वर प्रथम ने या तो स्वयं इस नगर को बसाया था या फिर उसने इसे अपनी राजधानी बनाया था। किंतु 1033-34 ई० के एक अभिलेख में भी एक राजधानी के रूप में इसका उल्लेख आया है। यह लेख सोमेश्वर प्रथम के पिता जयसिंह द्वितीय के शासनकाल का है। अभी तक यह गुलबर्ग जिले का एक जागीरनगर था। मालखेड की भांति यहां भी एक किला है जिसे 1656 ई० में औरंगजेब ने घेरा था। कल्याण इस समय बीदर जिले का एक हिस्सा है। बीदर शहर का संभवतः 'पारिजातापहरणम्' नामक तेलुगु काव्य में बेडनकोट के नाम से उल्लेख आया है।

इन मुख्य शाही नगरों के अलावा दकन के राजाओं की अन्य छोटी-मोटी राजधानियां भी थीं या उन नगरों में वे अस्थाई रूप में रहे थे। 'राजधानी' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। हमें 'नेलेवीडु' का भी प्रयोग अक्सर मिलता है जिसका शाब्दिक अर्थ स्थाई शिविर है। किंतु फ्लीट ने बतलाया है कि इसके साथ राजधानी शब्द का भी समस्त-पद के रूप में प्रयोग हुआ है जिसका मतलब राजा के स्थाई निवास से था। 1053 ई० के एक अभिलेख में कल्याण का उल्लेख सोमेश्वर प्रथम के 'नेलेवीडु' के रूप में आया है। युद्ध की आवश्यकताओं या कुशल प्रशासन की दृष्टि से भी कभी कभी राजा को दूसरे शहरों में रहना पड़ता था। युआन-च्वांग के प्रमाण से सिद्ध है कि पूर्व चालुक्य राजा नासिक में भी रहते थे। विजयादित्य रासेननगर में एक स्कंधावार में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा था। इसे अहमदनगर जिले का रासिन बतलाया जाता है। संभवतः राष्ट्रकूटकाल में यह एक जिले या 'तालुक' का मुख्यालय था। विक्रमादित्य द्वितीय कुछ समय तक रकतपुर में रहा था। यह धारवाड में मीरज की रियासत में लक्ष्मेश्वर है। कीर्तिवर्मन द्वितीय ने एक बार भीमा के उत्तरी तट पर भंडारगविट्टगे में अपना स्कंधावार बनाया था। गोविंद तृतीय एक बार प्रतिष्ठान से बाहर रहा था। वह तुंगभद्रा तट पर रामेश्वर तीर्थ में, मयूरखंडी, संभवतः नासिक जिले में मोरखिंड में या सातमाल पहाड़ियों में मोरखंड में और श्रीभवन में भी रहा था जिसकी पहचान कुछ विद्वानों ने भड़ोच जिले के सरभों से की है। इंद्र तृतीय का 'पट्टबंधोत्सव' अर्थात अभिषेक कुरुंदक में हुआ था जिसकी पहचान ताप्ती के तट पर कडोदा या कोल्हापुर के कुरुंडवाड से की गई है। चालुक्य सम्राट हरिवबेडंग सत्याश्रय सन 1007-8 ई० में 'तावरेय घट्ट या तावरे पहाड़ी दर्रे से समस्त पृथ्वी पर शासन करता था।'[12] जयसिंह द्वितीय की बालगांवे या बालगामि तथा अपर नाम बलिपुर या दक्षिण केदार (शिमोगा जिले में शिकारपुर 'तालुक' में), पट्टलकेरे (बेल्लारी जिला) और कोल्लिपाके, आधुनिक कुलपाक में भी छोटी छोटी राजधानियां थीं। यह कुलपाक हैदराबाद से करीब 45 मील उत्तर-पूरब में है।[13] जयसिंह का पोता विक्रमादित्य षष्टम नड वियुप्पयणवीडु (वडागेरि की दिशा में बिजापुर और हैदराबाद की सीमा के पास), एतगिरि (हैदराबाद रियासत में ही, मालखेड से करीब 30 मील दक्षिण), विजयपुर, आधुनिक बिजापुर, मन्नयकेरे (मालखेड) और विक्रमपुर या अरसीबीडि (बिजापुर) में रहा था। सोमेश्वर चतुर्थ कुछ समय के लिए धारवाड़ जिले में अन्निगेरे में रहने लगा था।

कल्याण का साम्राज्य बारहवीं शताब्दी के अंत के आसपास नष्ट होकर समाप्त हो गया था। इसके खंडहरों पर जो राज्य खड़े हुए थे उनमें सबसे महत्वपूर्ण राजाओं की राजधानियां दोरसमुद्र, देवगिरि, हनमकोंड और वारंगल में थीं। इनमें से दोरसमुद्र मैसूर में आधुनिक हलेवीद हमारे दकन की कृष्णा-तुंगभद्रा सीमा के काफी दक्षिण में था। देवगिरि की नींव प्रसिद्ध यादव राजा भिल्लम ने सन 1187 ई० में रखी थी। यह सेउण देश में दंडकारण्य के परिसर में 'मंडित दंडकापरिसर' था। आज का दौलताबाद ही प्राचीन देवगिरि है। दौलताबाद हैदराबाद रियासत के औरंगाबाद जिले में एक प्रसिद्ध किला है। यह किला शंकु की आकृति की पहाड़ी पर है। धरातल से इसकी ऊंचाई 150 फुट है। किले के अतिरिक्त यहां मुबारक खिल्जी की मस्जिद, चांद मीनार और चीनी महल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। प्राचीन देवगिरि के नगर के चारों ओर एक दीवार थी।

देवगिरि की स्थापना से पूर्व यादव या सेउण राजा चंद्रादित्यपुर में रहते थे। यह संभवतः नासिक में आधुनिक चांदोर है। इसके अतिरिक्त वे सेउणपुर और सिंदिनेर आधुनिक सिन्नार में भी रहते थे जो नासिक जिले में ही हैं।

हनमकोंड या अन्मकोंड वारंगल से उत्तर में पास में ही है - यह वारंगल का ही एक उपनगर रहा होगा। गणपति के शासन के अंतिम चरण में वारंगल में राजधानी जाने से पूर्व काकतीयों की राजधानी हनमकोंड में ही थी। इसके आसपास का जिला सब्बिसायिर अर्थात सब्बि 1000 कहलाता था जो कल्याणी के साम्राज्य का भाग था। इस क्षेत्र का नाम अन्मकोंड 'विषय' था। अनुश्रुतियों के अनुसार इस शहर के पास ही हिंडिबाश्रम या हिंडिबालय था। राजधानी का संस्कृत नाम हनुमदचल (हनुमान का पर्वत) कहा जाता है। हनुमान 'रामायण' के प्रसिद्ध पात्र हैं। अन्मकोंड में सहस्र स्तंभों वाला प्रसिद्ध मंदिर है जिसका निर्माण राजा रुद्र ने लगभग 1163 ई० में या उसके आसपास कराया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गणपति (1199-1260 ई०) के शासन के अंतिम चरणों में अन्मकोंड के बदले वारंगल को राजधानी बनने का सौभाग्य मिला। वारंगल औरुक्कल का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है : 'एक चट्टान'। संस्कृत में इसका अनुवाद 'एक शैल' किया गया है जिससे 'एक शिलानगर' बना है। इसका तेलुगु रूप औरूंगल्लु है। कतिपय विद्वानों ने इसकी पहचान टालेमी के कोरुंकल से की है। गणपति के पहले के राजाओं के समय में इस नगर का स्थान गौण था। किंतु कहते हैं कि रुद्र प्रथम ने इसे सजाया था। रुद्र के भतीजे और उत्तराधिकारी गणपति ने इसके चारों ओर पत्थर की दीवार बनवाई और अपने शासन के अंतिम भाग में वहीं राजधानी भी बना ली। इस नगर की किलेबंदी गणपति की पुत्री और उत्तराधिकारिणी रुद्रांबा देवी ने पूरी करवाई। चौदहवीं शताब्दी में इस नगर को हमलों का सामना करना पड़ा था। मुहम्मद बिन तुगलक ने सन 1323 ई० में इसे जीतकर इसका नाम सुल्तानपुर रख दिया था। बहमनीकाल में इस नगर के यश का अंत हो गया। फिर गोलकुंडा और हैदराबाद की रियासतें बनीं जो कुतबशाही और आसफ जाह के घरानों की राजधानियां हुईं।

संदर्भ

1. बैटर्स० : युआनच्वांग, ii, 22.
2. इस संबंध में भद्राचलम का भी दावा हैं जहां 'अनुश्रुतियों के अनुसार राम ने अपने बनवासकाल में कुटी बनाई थी। यहीं रावण ने सीता का हरण किया था। ('सम आस्पैक्ट्स आफ हैदराबाद', 91-2).
3. 'बंबई गजेटियर', xiv, 114.
4. दुब्रील : 'ऐंशयंट हिस्ट्री आफ दकन', पृ० 84-7.
5. 'इं० ऐं०', xx, 93.
6. तेर : कतिपय विद्वानों का कथन है कि यहां कभी कपड़ों के उद्योग की कोई परंपरा नहीं रही जबकि औरंगाबाद के अनेक स्थानों में इसकी परंपरा है। क्या यूरोपीय लेखकों ने देवगिरि को ही तगर बना दिया ? किले की कगार और पेंचदार रास्ता तो उसकी काफी प्राचीनता का इजहार करते हैं।
7. 'इं० ऐं०, xi, 107, फ्लीट, 'कनडीज डिस्ट्रिक्टस'
8. 'ए० इं०', xii, 189.
9. रत्नागिरि जिले में अंजनवेल के बंदरगाह और किले से इसकी पहचान करने का लोभ हो जाना स्वाभाविक है। यह बांकोट की संकरी घाटी (जिसमें संभवतः मंदगोरा स्थित था) और जयगढ़ के बीच में है। इसकी पहचान मेलिजिगर से की गई है जो पलैपट्ने के बाद अगला बंदरगाह है जिसका उल्लेख 'पेरिप्लस' ने किया है। यूल और श्वाफ इसकी पहचान रत्नागिरि जिले के दापोलि 'तालुक' में दाभोल (देबल) से करना ज्यादा ठीक मानते हैं।
10. उस्मानाबाद का शहर प्राचीन नगर धारासिंह से नजदीक है जो नलदुर्ग से 30 मील उत्तर-पश्चिम में है।
11. 'ज० रा० ए० सो०', 1912, 709; 'ए० इं०' xiii, 179,
12. बंगलोर के हास्पेट 'तालुक' में तावरेकेरे नामक एक स्थान है।
13. कुलपाक नार्थ-सदर्न रेलवे पर अलेर स्टेशन से 4 मील उत्तर-पश्चिम में पड़ता है। कुलपाक के पुरावशेषों के लिए देखि० 'ज० है० आ० सो०', 1916, पृ० 14-36.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड दो

प्राक्सातवाहनकाल और सातवाहनकाल

प्रोफेसर गुर्ती वेंकट राव

1. प्राक्सातवाहनकाल
2. सातवाहनों की पहचान और उनका स्वदेश
3. सातवाहनों का नाम और उनका वर्ण
4. पूर्वकालीन सातवाहन कालक्रम
5. उत्तरकालीन सातवाहन कालक्रम
6. गिरनार के अभिलेख का सातकर्णि
7. सातवाहनों का राजनीतिक इतिहास
8. सातवाहनकालीन सांस्कृतिक अवस्था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक् सातवाहनकाल

दकन के प्राचीन निवासियों ने आर्यों के संपर्क में आने से बहुत पहले ही अपनी एक विशिष्ट सभ्यता का विकास कर लिया था। शुरू में दकन में आर्यों का प्रवेश संभवतः शांतिपूर्ण ही रहा। वैदिक ऋषियों ने ही शांति और एकांत वातावरण की खोज में दंडकारण्य में प्रवेश किया, जहां उन्होंने सघन वनों में नदियों के किनारे अपने आश्रम बनाए। आर्य वहां के निवासियों को 'असुर' और 'राक्षस' कहते थे। हो सकता है कि इन लोगों ने ऋषियों की बस्तियों में दंगे-फसाद किए हों, उनके यज्ञों का ध्वंस किया हो और उनकी तपश्चर्या में बाधाएं पहुंचाई हों। इन घटनाओं की स्मृति दक्षिण में अगस्त्य ऋषि अथवा उन्हीं के किसी नामधारी के आगमन की अनुश्रुतियों में सुरक्षित है। 'रामायण' से ज्ञात होता है कि जब राम 'दंडकारण्य' में बनवास कर रहे थे तो अगस्त्य ऋषि ने उनसे भेंट कर बतलाया था कि कैसे उनके प्रयत्नों से वहां आर्यों के आश्रम बन गए हैं, कैसे राक्षस उन्हें सता रहे हैं और किस प्रकार उन राक्षसों का संहार कर राम उनकी सहायता कर सकते हैं। 'रामायण' में अत्युक्तियों, क्षेपकों और विसंगतियों के बावजूद इतने प्रमाण हैं कि यह मूल तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि राम आर्य संस्कृति के समर्थक थे, उन्होंने राक्षसों से युद्ध किया था और दकन में आर्य आदर्शों और संस्थाओं के प्रचार को प्रेरणा दी थी। आंध्रों, पुंड्रों, शबरों, पुलिदों और मुतिबों की उत्पत्ति के संबंध में जो विभिन्न दंतकथाएं मिलती हैं, वे महत्वहीन नहीं हैं। 'ऐतरेय बाह्मण' के अनुसार वे विश्वामित्र के उन पचास पुत्रों के वंशज थे जिन्हें उन्होंने आर्यबस्तियों की सीमा पर रहने का शाप दिया था। 'महाभारत' के अनुसार वशिष्ट मुनि ने उन्हें अपनी कामधेनु से इसलिए उत्पन्न किया था कि वे विश्वामित्र के शत्रु बनें। सांख्यायनश्रौत सूत्र ने शबरों की गणना ब्रात्यों में की है। दंतकथाओं में मिथकों की पर्याप्त मात्रा होती है। इन सबके बावजूद इनमें जो तथ्य निहित है वह यह है संभवतः आर्यों की ही कोई शाखा उनसे कट कर उधर चली गई और वहां वह अनार्यों-दस्युओं[1] में घुलमिल गई। आर्यों के लिए यह फूट कोई नई बात न थी। इससे पूर्व के कालों में ईरानियों ने भी ऐसे ही विघटन का परिचय दिया था। आज के ईरानी उन्हीं के वंशज हैं। आंध्रों, शबरों और पुलिदो की गणना 'महाभरात' और पुराणों में दकन की जातियों में की गई है। दकन के आरंभिक ठेठ आर्यविजेताओं में इक्ष्वाकु, मौज और हैहय थे। इनमें इक्ष्वाकुवों ने दक्षिण कौशल, मौजों (यादवों) ने विदर्भ और हैहयों ने महिष्मती की विजय की थी। विदर्भ (पश्चिम बरार) का उल्लेख 'जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण' में है। विदर्भ के राजा भीम का उल्लेख 'ऐतरेय ब्राह्मण' में आया है। इन उल्लेखों से यह अनुमान होता है कि ब्राह्मणयुग में आर्यों ने दकन में बरार तक का प्रदेश जीत लिया था।[2] पाणिनि (ई० पू० सातवीं शताब्दी) ने अश्मक का उल्लेख किया है जिसका सिंचन गोदावरी करती थी। यह प्रदेश दकन के बीच में पड़ता है अर्थात यह हैदराबाद रियासत का दक्षिण-पूर्वी प्रदेश था। कात्यायन ने पांड्य, चोल और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केरल की जो व्याख्या दी है उससे यही सिद्ध होता है कि आर्य दक्षिण भारत की इन जातियों के संपर्क में पाणिनि के बाद के युगों में आए होंगे। अनुश्रुति यह है कि कात्यायन नंदयुग में हुए थे।

उस युग में गंगा-यमुना का दोआब ब्राह्मण धर्म का गढ़ था। यहीं से दकन और दक्षिण भारत में आर्यों के साथ साथ उनकी जातिव्यवस्था भी गई। जिन लोगों ने आर्यव्यवस्था का विरोध किया वे जंगलों और पर्वत गुफाओं में चले गए जहाँ उन लोगों ने अपने आदिम आचार-व्यवहार, रहन-सहन और अपनी भाषाओं की अब तक रक्षा की है।

दकन में आर्य राज्यों के प्रारंभिक इतिहास के बारे में शायद ही कोई निश्चित सूचना बच रही है। किंतु इस बात के काफी प्रमाण हैं कि विंध्य के दक्षिण के प्रदेशों में दो शक्तियों ने आर्यसभ्यता का प्रचार क्षिप्र गति से किया। वे थे नंदों और मौर्यों के साम्राज्य और जैन और बौद्ध धर्म के मिशनरी प्रचारक जो ब्राह्मण धर्म के विरोध में उठ खड़े हुए थे।

साम्राज्यवाद की कल्पना का जन्म ब्राह्मणयुग में हुआ था। इसमें 'अधिराट' अथवा 'एकराट' की छत्रछाया में समूचे देश को एक सूत्र में बांधने की कल्पना थी। जो भी राजा यह पद प्राप्त कर लेता था वह इसके लिए 'वाजपेय', 'राजसूय' और 'अश्वमेध' यज्ञ करता था। इन यज्ञों का प्रचार भी इसी युग में हुआ। शुरू में साम्राज्यवाद का यह रूप उत्तर भारत तक सीमित था, किंतु कालांतर में दकन और दक्षिण भारत में भी जहां तक हो सका इसका विस्तार हुआ। नंदों और मौर्यों ने ऐसे साम्राज्य स्थापित भी किए थे। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी जो उसी स्थान पर थी जहां आज बिहार की राजधानी पटना है। 'पुराणों' का कथन है कि नंदों के राजा उग्रसेन महापद्म ने क्षत्रियों का मूलोच्छेद कर समग्र पृथ्वी को अपनी छत्रछाया में कर लिया था और वह 'एकराट'[3] बन गया था। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ के एक उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि कुंतल पर पहले नंदों ने फिर मौर्यों ने शासन किया था। कुंतल में पश्चिमी दकन और उत्तरी मैसूर सम्मिलित थे[4]। हैदराबाद राज्य के ग्यारहवीं शताब्दी के एक लेख में इस बात का इशारा है कि दक्षिण भारत में नंदसंवत प्रचलित था। यदि दकन पर नंदों ने राज्य न किया होता तो यह बात कथमपि संभव न थी[5]। खारवेल के हाथीगुंफा के अभिलेख से नंदसंवत का अस्तित्व निश्चयपूर्वक सिद्ध हो जाता है[6]। इसी लेख में यह भी कहा गया है कि नंदराज अपनी विजय के उपलक्ष में प्रथम जिन की प्रतिभा मगध उठा ले गया था। इससे यह बात निश्चत हो जाती है कि नंदों ने कलिंग की विजय की थी। इस प्रकार कलिंग से और आगे दक्षिण में नंदों की विजय नितांत असंभव नहीं प्रतीत होती। गोदावरी के तट पर 'नव नंद देहरा' (नांदेर) नाम का एक नगर भी है। इससे भी यही अनुमान होता है कि नंदों के साम्राज्य में दकन का काफी भाग था। व्यापार की दृष्टि से भी इस काल में दक्षिण का महत्व बढ़ने लगा था। कौटिल्य ने हीरों और सोने की खानों, मोतियों और शंखों और वहां की. संपन्न हाटों आदि के लिए दक्षिणापथ के वणिकपथों की सुरक्षा पर जोर दिया है।[8]

किंतु नंदराजा उग्रसेन महापद्मनंद और उसके उत्तराधिकारी अपनी नीची जाति और अत्याचारी शासन के कारण प्रजा के प्रिय न थे। इनके विरुद्ध रोष बढ़ता गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके राज्य के सुदूर के प्रदेशों ने अपने को स्वतंत्र भी घोषित कर दिया था। अंततोगत्वा ई० पू० 322 में चंद्रगुप्त मौर्य ने कौटिल्य की सहायता से उन्हें उखाड़ फेंका। इस रक्तपूर्ण संघर्ष की कहानी 'पुराणों', 'मुद्राराक्षस', 'महावंश टीका' और जैन ग्रंथ 'परिशिष्ट पर्व' में सुरक्षित है। प्लूटार्क के कथनानुसार चंद्रगुप्त ने 6,00, 000 की सेना लेकर समूचे भारत को रौंद कर उसे जीत लिया था।[9] रुद्रदामन के जूनागढ़ के शिलालेख में चंद्रगुप्त मौर्य के एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकारी द्वारा प्रसिद्ध सुदर्शन झील के निर्माण की कथा दी है। उस लेख से जाहिर होता है कि मौर्यों के प्रथम राजा चंद्रगुप्त ने अपनी विजयों का विस्तार पश्चिम में सुराष्ट्र (काठियावाड़) तक किया था ।[10] जैनों के साहित्य और उनके उत्कीर्ण लेखों में मैसूर के श्रवणवेल गोला का संबंध चंद्रगुप्त मौर्य के साथ दिखलाया गया है। इसे हम इस बात का प्रमाण मान सकते हैं कि उसने प्रायदीप का यह भाग भी जीता था ।[11] किंतु इसके साथ ही विंध्य के पार का बहुत सा भाग उससे भी अविजित रह गया था क्योंकि मेगस्थनीज के अनुसार कलिंग के राजा के पास 60,000 पैदल, 10,000 घुड़सवार और 700 'सन्नद्ध' हाथी थे, जबकि आंध्रों के अधिकार में बहुसंख्य गांव, 30 किलेबंदीवाले नगर थे, उनकी सेना में 1,00,000 पैदल, 2,000 घुड़सवार और 1,000 हाथी थे ।[12] कलिंग की विजय अशोक ने की थी। इसके लिए उसे भयंकर युद्ध करना पड़ा था जिसमें 'डेढ़ लाख लोग खेत रहे और इसके कई गुने लोग बाद में मर गए थे' ।[13] अशोक ने कलिंग के अतिरिक्त कोई विजय नहीं की थी। हो सकता है कि उसके पिता बिंदुसार (ई० पू० 297-272) ने दकन के कुछ हिस्से जीते हों क्योंकि यूनानी उसे 'अमिट्रोकैटीज' के रूप में जानते थे जिसका संस्कृत पर्याय 'अमित्रघात' अर्थात् 'शत्रुओं का संहार करनेवाला' है। तारनाथ के अनुसार बिंदुसार ने सोलह नगरों के राजाओं का संहार किया था और 'वह पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के बीच के संपूर्ण प्रदेश का स्वामी बन गया था ।[14] तमिल साहित्य में दक्षिण भारत पर मौर्यों के आक्रमण के धुंधले उल्लेख हैं। अधिक संभावना इस बात की है कि ये आक्रमण बिंदुसार के समय में ही हुए होंगे ।[15] रैप्सन की राय में दकन अशोक के साम्राज्य के बाहर था और पठार के लोग यद्यपि उसके प्रभावक्षेत्र में माने जाते थे किंतु वे उसकी प्रजा नहीं थे ।[16] किंतु कतिपय इतिहासकारों के मतानुसार रैप्सन की यह धारणा अग्राह्य है क्योंकि अशोक ने इस प्रदेश में अपने धर्ममहामात्र नियुक्त किए थे जिन्हें उचित मामलों में सजाओं पर पुनर्विचार कर उनमें हेरफेर करने का अधिकार प्राप्त था ।[17] रायचुर दोआब में मस्की और कोपल में उसके लघु शिलालेख प्राप्त हुए हैं। कोपबल में गविमठ और पालकिगुंड की पहाड़ियों पर ये लेख मिले हैं। उसके शिलालेख सं० 1 से 13 कुर्नूल जिले में येर्रगुडि नामक स्थान पर भी मिले हैं ।[18] निश्चय ही दकन के काफी भाग पर सुवर्णगिरि और तोसली के कुमार उपराजा के रूप में और इसिल और समप के महामात्र और अटवी (वन्य) प्रदेशों के अन्य पदाधिकारी शासन करते थे ।[19] मैसूर में अशोक के अभिलेख सिद्दापुर जटिंग रामेश्वर और चितल दुर्ग जिले के ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर मिले हैं। दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा इन स्थानों से अधिक दूर नहीं रही होगी। मोटे तौर पर यह 14^0 उ० अक्षांश के साथ रही होगी। इस रेखा से परे दक्षिण में चोलों, पांड्यों, केरलपुत्रों और सतिय पुत्रों के राज्य थे ।[20]

नंदों और मौर्यों के साम्राज्य ने दकन के निवासियों के जीवन को निश्चिततः प्रभावित किया था। इससे उन्हें आर्य राज्यतंत्र पर आधृत समान प्रशासनव्यवस्था मिली जो भविष्य में दक्षिण के स्थानीय शासनों की प्रतिमान बनी। इतना ही नहीं विंध्यपार की जनता के विचार भी धीरे धीरे वैदिक, जैन और बौद्ध ढांचों में ढल गए। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन के अंतिम चरण में मैसूर में श्रवणबेलगोला जैनों की एक बहुत बड़ी बस्ती बन गई थी। कालांतर में जैन धर्म का प्रभाव दकन में उनके धार्मिक और लौकिक साहित्य पर भी पड़ा जो उस भाषा में लिखे गए हैं जिसे जैन महाराष्ट्री कहा जाता है। यह एक देशी भाषा थी जिसका प्राचीन मराठी से घनिष्ट संबंध था। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत अशोक ने देश-विदेश में अनेक स्थानों पर अपने धर्मप्रचारक भेजे थे। धर्मप्रचार की इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए महिषमंडल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महादेव और महाराष्ट्र में महाधर्मरक्षित गए थे।[21] महादेव ने अमरावती में बौद्ध धर्म के जिस संप्रदाय की स्थापना की थी उसे चैत्यवाद कहा जाता है।[22] दकन की कड़ाही में आर्य और अनार्य भाषाओं ने घुलमिल कर उस प्राकृत को जन्म दिया जो उन भागों में भी खूब प्रचलित थी जहां आज द्रविड़ भाषाएं बोली जाती हैं। अशोक ने अपने लेखों में जिस प्रकार दक्षिण की प्रजा को सीधे संबोधित किया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय वहां साक्षरता पर्याप्त मात्रा में रही होगी। अशोक के उत्तराधिकारा अधिक समय तक दकन को अपने अधीन न रख सके। इससे वहां आर्यसभ्यता के प्रचार में बाधा पड़ी। यही नहीं उनके पूर्वजों ने इस संबंध में जो अनुकूल परिस्थितियां बनाई थीं वे भी नहीं रहीं।

अशोक की मृत्यु के कुछ समय बाद ही उसके विशाल साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गए। इस प्रक्रिया का प्रारंभ भी अनजाने ही उसने ही कर दिया था। कलिंग के युद्ध की विभीषिकाओं के फलस्वरूप उसके मन में जो परिताप हुआ था, उससे उसने आगे के लिए युद्ध पर रोक लगा दी थी। उसने अपने पुत्रों और पौत्रों को आज्ञा दी कि वे भी भविष्य में विजयों से बचें और क्षमा एवं भद्रता में आनंद का अनुभव करें।[23] इस शांतिवादी नीति के कारण साम्राज्य की सैनिक कुशलता की क्षति अवश्य हुई होगी। जो भी हो, यह नीति उसके उत्तराधिकारियों के लिए ऐसे समय में अपर्याप्त अवश्य सिद्ध हुई होगी जब साम्राज्य की एकसूत्रता पर सामंतों की उद्दंडता, महत्वाकांक्षी मंत्रियों के विश्वासघात और विदेशी आक्रमणों के कारण विघटनकारी शक्तियां काबू के बाहर हो गईं थीं।

अशोक की मृत्यु के बाद से मौर्यवंश की समाप्ति तक कितने राजाओं ने राज्य किया और उनमें से हर एक का राज्य कितने कितने वर्षों तक रहा यह सब अनिश्चित है।[24] इस अनिश्चित वंशक्रम, कालक्रम और इतिहास का विवेचन यहां जरूरी नहीं है। अंतिम मौर्य राजा वृहद्रथ का उसके ही सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने एक सैनिक निरीक्षण के समय वध कर दिया। मौर्ययुग के नाटक का यह अंतिम दृश्य था जिसके साथ यह युग समाप्त हो गया और पाटलिपुत्र के सिंहासन पर शुंगों का अधिकार हो गया। 'पुराणों' के अनुसार यह क्रांति चंद्रगुप्त के राज्यारोहण के 137 वर्ष बाद अर्थात ई० पू० 185 में हुई। यह रक्तरंजित क्रांति तो पुष्यमित्र के लिए साम्राज्य हथियाने का बहाना मात्र थी। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से इस बात का ज्ञान होता है कि पुष्यमित्र ने शुंगों के राज्यविस्तार के लिए क्या क्या प्रयत्न किए थे। इसी नाटक में पुष्यमित्र और विदर्भ के राजा के बीच हुए एक बड़े भीषण संघर्ष का वर्णन है जिसमें पुष्यमित्र विजयी हुआ था। किंतु इस संघर्ष मात्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय तक दकन मगध के साम्राज्य से निकल चुका था। संभवतः अशोक की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही वह मगध के आधिपत्य से अलग हो चुका था। इस समय विंध्यपार के प्रदेशों में दक्षिणापथ के सातवाहन या आंध्र और कलिंग के चेत या चेति के राज्य प्रमुख थे।

संदर्भ

1. आर्य भारत के प्राचीन निवासियों मुंडों, द्रविड़ों आदि को दस्यु, राक्षस, असुर, वानर, नाग आदि नामों से पुकारते थे।
2. प्रो० मर्टिन हाग अधिकांश ब्राह्मणों की रचना ई० पू० 1400- 1200 में रखते हैं। पर रा० गो० भंडारकर इन्हें ई० पू० 1200-900 मे रखने के पक्ष मे है। (दे० उनकी 'रिपोर्ट आन संस्कृ० मैनुस्क्रि- प्ट्स' 1885 ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

3. लगभग ई० पू० 375-350.
4. ए० क०, vii, खंड 1 से 225; बांबे गजेटि० i, खंड 2, पृ0 284.
5. इ० ऐ०, viii, 1870 बांबे गजेटि० i, खंड 2, पृ० 447.
6. ए० इं०, xx, 79-80.
7. मैकलिफ कृत 'सिख रेलिजन', v. 236.
8. 'अर्थशास्त्र', vii, 12.
9. प्लटार्क कृत 'अलेक्जांडर', 62.
10. ए० इं०, viii. 46-7.
11. लूइस राइस, 'श्रवण बेलगोल, मैसूर ऐंड कुर्ग'.
12. मैक्रिंडल, एंशियंट इंडिया (मेगस्थनीज ऐंड एरियन) पृ० 137-41.
13. शिलालेख 13.
14. जायसवाल, 'दि इंपायर आफ बिंदुसार'. ज०बि०उ०रि०सो०, ii, 82.
15. डा० एस० के० अय्यंगार; 'बिगिनिंग्स ग्राफ साउथ इंडियन हिस्ट्री' पृ० 81-103; एस० एस० देसिकर, इं० हि० क्वाट०, iv, 135 तथा आगे ।
16. कै० हि० इं० i, 514-15.
17. शिलालेख 5.
18. दि० च० सरकार, 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस' i, 52.
19. सुवर्णगिरि—हैदराबाद रियासत में कनकगिरि, इसिल—सिद्दापुर .
20. शिलालेख 2 ग्रौर 13.
21. गीगर कृत, 'ट्रांसलेशन आफ महावंश', पृ० 82.
22. ई० पू० 386 में वैशाली की द्वितीय संगीति के बाद संघ दो भागों में बंट गया । एक थे स्थविर और दूसरे महासंधिक । महासंधिकों का एक वर्ग स्तूपों और चेत्यों की पूजा को बड़ा महत्व देता था । इससे उनका नाम 'चेत्यक' हुआ । देखि० एन० दत्त, 'नोट्स ग्रान नागार्जुनकोंड इंस्क्रिप्शंस, 'इं० हि० क्वा०', vii, 468 तथा आगे . बी० भट्टाचार्य, 'बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी' पृ० ×.
23. शिलालेख 13.
24. कै० हि० इं०, i, 511-13.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनों की पहचान और उनका स्वदेश

सातवाहनों की उत्पत्ति के बारे में पर्याप्त विवाद है। इसी प्रकार यह भी काफी विवादास्पद है कि उनके शासन का आरंभ कब हुआ। पश्चिम दकन में नानाघाट और नासिक की गुफाओं में मिले शिलालेखों में 'सातवाहन कुल' के अनेक राजाओं के नामों के उल्लेख हैं। शिलालेखों के इन नामों और उनके अनुक्रम प्रायः वही हैं जो 'पुराणों' की वंशावलियों में आंध्र 'जाति' के राजाओं के हैं। कतिपय पुराणों में उन्हें आंध्रभृत्य कहा गया है। अतः 'पुराणों' और शिलालेखों के कतिपय नाम एक ही होने के कारण कुछ विद्वानों ने शिलालेखों और सिक्कों के सातवाहनों को 'पुराणों' के आंध्र माना है। दूसरे विद्वानों ने इस मान्यता पर गंभीर आपत्ति की है क्योंकि किसी भी शिलालेख या सिक्के पर सातवाहनों को आंध्र या 'पुराणों' में आंध्रों को कहीं भी सातवाहन नहीं कहा गया है।[1]

इस विषय पर सबसे पहले लिखनेवाले विद्वान स्र रा० गो० भंडारकर थे[2]। उनके मतानुसार 'पुराणों में उल्लिखित आंध्रभृत्यवंश और उत्कीर्ण लेखों का सातवाहनवंश एक ही है।' भंडारकर ने 'आंध्रभृत्य' शब्द की व्याख्या 'जो आंध्रों के भृत्य अर्थात आश्रित थे' की है। इन्होंने सिमुक के नेतृत्व में शक्ति प्राप्त की थी जिसने ई० पू० 73 में शुंगों और कण्वों का मूलोच्छेद किया था। भंडारकर के मतानुसार इनकी पूर्वी राजधानी धान्यकटक (गुंटूर जिले में आधुनिक धरणिकोट के पास) थी। डा० जे० बर्गेस ने सन 1887 में लिखा था कि 'सातवाहनों अथवा आंध्रों ने ई० पू० दूसरी शती से ईसवी दूसरी शती के अंत अथवा तीसरी शती के प्रारंभ तक चार सौ वर्ष राज्य किया···उन्होंने काफी दूर तक उत्तर में और पश्चिमी समुद्रतट तक विजयें की थीं।···उनकी पहली राजधानी मसुलीपटम से 19 मील पश्चिम कृष्णा के तट पर श्रीकाकुलम बतलाई जाती है। कहते हैं कि इसकी स्थापना सुमति ने की थी जो एक बहुत बड़ा राजा था। सुमति से संभवतः इस वंश के पहले राजा सिमुक का तात्पर्य है। बाद में धान्यकटक अथवा धरणिकोट राजधानी हुई, उसके बाद किसी अन्य स्थान पर इनकी राजधानी बनी।[3] 'डा० विसेंट स्मिथ[4] के मतानुसार मेगस्थनीज के समय में आंध्र जाति गोदावरी और कृष्णा के डेल्टे में रहती थी। सैन्यशक्ति की दृष्टि से मौर्यों के बाद इनकी ही गणना होती थी। 'विश्वास है कि कृष्णा के किनारे उस समय के श्रीकाकुलम में इनकी राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के समय में इनके राजा ने कुछ अंशों में उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उस महान राजा के राज्य की समाप्ति के बाद शीघ्र ही अथवा उसके अंतिम समय में ही ई० पू० 240 या 230 के आसपास सिमुक नामक राजा के नेतृत्व में इन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी और अचिर काल में ही इनका राज्य पश्चिम में नासिक तक फैल गया था। स्मिथ का यह भी कथन है कि 'सभी आंध्र राजाओं ने अपने को सातवाहनकुल का बतलाया है और इनमें कई ने सातकर्णि की उपाधि भी धारण की थी अथवा उनके नाम सातकर्णि थे।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रो० ई० जे० रैप्सन की राय भी वही है जो स्मिथ की है ।[5] किंतु वह यह भी कहते हैं कि विदर्भ में पुष्यमित्र शुंग के आक्रमण के समय आंध्रों ने पूर्वी समुद्र से अपना विस्तार दक्कन के पार तक कर लिया था। डा० एल० डी० बार्नेट का कथन है कि उनकी सबसे पुरानी राजधानी श्रीकाकुम थी ।[6] फिर धान्यकटक बनी और अंत में ईसवी पहली शती में उन्होंने प्रतिष्ठान को अपनी राजधानी बनाया जो उनके पश्चिमी प्रांतों के केंद्र में पड़ता था।

प्रो० पी० टी० अय्यंगार[7] यह तो मानते हैं कि आंध्र और सातवाहन एक ही थे, पर वे आंध्र देश के पूर्वी भाग में उनके राज्य की उत्पत्ति होने की बात को मिथ्या कल्पना मानते हैं। वे इस बात के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आंध्र एक विंध्य जाति थे, उनके राजा प्रारंभ में पश्चिमी भारत पर राज्य करते थे और वे प्राकृतभाषी थे न कि तेलुगुभाषी। पश्चिम से अनु-गोदावरी कृष्णा घाटी तक उनके राज्य का विस्तार था। पश्चिम में जब उनकी शक्ति का ह्रास हुआ तो आंध्रमंडलम का नाम पूरब में चला आया और वहां वह प्रतिष्ठित हो गया।

डा० वी० एस० सुखठणकर तो यह भी नहीं मानते कि आंध्र और सातवाहन एक ही थे[8]। उनके मुख्य तर्क ये हैं : (1) सातवाहनों के किसी भी अभिलेख में उन्हें आंध्र नहीं कहा गया है; (2) अन्य समसामयिक या प्रायः समसामयिक अभिलेखों में, जैसे : हाथीगुंफा, गिरनार और तालगुंड के अभिलेखों में भी उनका अभिधान सातवाहन ही है, आंध्र नहीं; (3) खारवेल का कथन है कि उसने सातकर्णि की चिंता न करते हुए 'पश्चिम में' विशाल सेना भेजी थी। यदि यह सातकर्णि वास्तव में आंध्र राजा रहा होता तो खारवेल की सेनाएं दक्षिण में जानी चाहिए थीं; (4) उनके सभी अभिलेख व सिक्के पश्चिम भारत में मिले हैं। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने आंध्र देश को रौंद डाला था और उसको जीत लिया था, किंतु जैसा पुरातत्व के प्रमाणों से स्पष्ट है उनका राज्य पहले पश्चिम भारत में रहा होगा। म्यांकदोनी के अभिलेखों, हीर-हडगल्लि के ताम्रपट्टों में उल्लिखित 'सातवाहनिहार' और 'साताहनिरट्ठ' शब्दों को सुखठणकर ने इस समस्या की कुंजी माना है। म्यांकदोनी और हीरहडगल्लि आधुनिक बेल्लारी जिले में हैं। इसलिए अपना सुझाव है कि इस क्षेत्र अथवा इसके इर्द-गिर्द सातवाहनों की मूल भूमि होगी। अपनी इस स्थापना के समर्थन में उनका यह भी कहना है कि कभी कई जिलों में मूल निवासियों के आधार पर प्रदेश का नाम रखने की प्रथा आमतौर पर प्रचलित थी। उनका कहना है कि 'सातवाहनिहार' नाम पड़ने का कारण यही था। उनकी समूची स्थापना यह है कि सातवाहन आंध्र क्षेत्र के नहीं थे, क्योंकि उनके प्रारंभिक क्रियाकलापों का क्षेत्र पश्चिम भारत था और उनकी राजधानी पैठन थी। यदि 'पुराणों' की इस परंपरा को अक्षरशः मान लें कि सातवाहन ही आंध्र थे तो हमें मानना होगा कि 'या तो सातवाहन अपने वंश के पहले राजा सिमुक से भी पहले गोदावरी-कृष्णा डेल्टे की 'आंध्रों की अपनी मुख्य जाति से अलग होकर' पश्चिम में बस गए थे या फिर आंध्र ही पहले सातवाहनिहार में रहते थे और वहां से वे पश्चिम और पूरब की दिशाओं में गए थे। पर उनकी राय यह है कि 'हो सकता है कि सातवाहन आंध्र हों ही नहीं।' उनकी राय में आंध्र देश से उनका संबंध तब हुआ जब वे पश्चिम से पूरब की ओर आए। उनका यह भी तर्क है कि कतिपय पुराणों में सातवाहनों को 'आंध्र' और कतिपय 'पुराणों' में उन्हें आंध्रभृत्य कहा गया है और कुछ में उन्हें आंध्र और आंध्रभृत्य दोनों कहा गया है। 'उनकी राय में इस राजवंश का सही नाम आंध्रभृत्य (तत्पुरुष) है जिसका अर्थ है 'आंध्रों के सामंत।' आंध्रों के सामंतों के लिए आवश्यक नहीं कि वे आंध्र ही रहे हों।

का० प्र० जायसवाल सातवाहनों और आंध्रों के समीकरण से इनकार करते हैं।[9] वह यह मानते हैं कि सातवाहन संभवतः अशोक के धर्मलेखों में उल्लिखित सातियपुत्र हैं जिनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सबसे पुराने सिक्के सात के नाम से निकाले गए थे। इस प्रकार प्रकारांतर से उन्होंने सातवाहनों को अनार्य मूल का माना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० रायचौधरी, सुखठणकर के मत का समर्थन करते हैं। उनका यह भी कथन है कि 'आंध्र नाम इस वंश के राजाओं के साथ बाद में उस समय जुड़ा जब उनके राज्य के उत्तर और पश्चिम के हिस्से उनके अधिकार से निकल चुके थे और वे शुद्ध रूप में आंध्र देश में ही सिमट गए थे और कृष्णा नदी के मुहाने के आसपास शासन करते थे, ।[10]

वी० एस० बाखले सातवाहनों की पहचान सतियपुत्रों से करने के पक्ष में हैं।[11] उनके तर्क भी प्रायः वही हैं जो डा० सुखठणकर ने दिए हैं। वे कहते हैं 'यह मानना कि सातवाहन आंध्र देश से आए थे प्रमाणों का अतिक्रमण करना है।' पर वे सुखठणकर की इस स्थापना से सहमत नहीं कि सातवाहनों का स्वदेश बेल्लारी जिले में सातवाहनिहार में था। उनकी राय में वे इस जगह 'बाद में आए'। वे जोर देकर कहते हैं कि सातवाहन आंध्र नहीं थे। फिर अभिलेखों के सातवाहन राजा क्यों 'पुराणों' में आंध्र कहे गए हैं, इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है कि 'पुराणों की रचना तीसरी शताब्दी के बाद हुई जब प्रबल क्षत्रपों ने उन्हें पश्चिम भारत से खदेड़ दिया था और वे आंध्र देश में आ गए थे।···इस (तथ्य) से इस बात का खुलासा हो जाता है कि 'पुराणों' में उन्हें आंध्र क्यों कहा गया है।' उपर्युक्त दोनों विद्वानों की ही भांति डा० के० गोपालाचारी की भी मान्यता है कि प्रारंभिक सातवाहन राजाओं की शक्ति का केंद्र पश्चिम दकन में था और वे आंध्र देश के शासक न थे। वाशिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि के शासन-काल से कहीं आंध्र देश में उनके दस्तावेज मिलने लगते हैं किंतु सुखठणकर और बाखले के विपरीत इनकी मान्यता यह है कि सातवाहन आंध्र जाति के अवश्य थे।[12] उनका सुझाव यह है कि या तो आंध्र देश के राजवंश में उनका जन्म हुआ था अथवा अपना भाग्य आजमाने के लिए उन्होंने मौर्यों के अधीन पश्चिम दकन में सेवा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार उनका नाम आंध्रभृत्य पड़ा होगा जिसका उल्लेख 'पुराणों' में है। अशोक की मृत्यु के बाद अवसर का लाभ उठाकर इस नए प्रदेश में उन्होंने मौर्य साम्राज्य पर चोट की होगी। पर गोपालाचारी अपने इस सुझाव को अनुमान ही मानते हैं जिसकी पुष्टि के लिए 'अभी कोई प्रमाण नहीं है।'

इस प्रकार के परस्परविरोधी सिद्धांतों और मतों की भूलभुलैयां के बीच बड़ी साव-धानी से चलकर दो प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ने हैं: (1) क्या सातवाहन ही आंध्र थे या पुराणों के लेखकों ने उन्हें मात्र इस कारण आंध्र कहना प्रारंभ किया कि जिस समय वे इनका संकलन कर रहे थे उस समय वे आंध्र में राज्य कर रहे थे और (2) उन्होंने अपनी राजनीतिक गतिविधियों का प्रारंभ कहां से किया?

यह सही है कि किसी भी शिलालेख में अथवा सिक्के पर सातवाहनों को आंध्र नहीं कहा गया है। किंतु यह बात ध्यान में रखने की है कि उन दिनों अभिलेखों में केवल कुलनाम लिखने की प्रथा थी जैसा कि शालंकायनों, बृहत्फलायनों, विष्णुकुंडिनो, पल्लवों, गंगों, कदंबों, चालुक्यों, वाकाटकों आदि के अभिलेखों से स्पष्ट है। इनमें से किसी भी राजवंश ने अपने जाति-नाम नहीं दिए हैं। नहपान और रुद्रदामन के अभिलेखों में भी ऐसा ही है। नहपान को खखरात (क्षहरात) और रुद्रदामन को कर्द्मक कहा गया है। यह प्रथा इतनी प्रबल थी कि सातवाहनों के अंतिम अभिलेखों में भी, जो आंध्र क्षेत्र में मिले हैं, उन्हें आंध्र नहीं कहा गया है, यद्यपि उस समय उनका राज्य आंध्र जिलों में ही सीमित था। जब 'पुराण' उन्हें आंध्र कहते हैं तो वे उन राजाओं की 'जाति' का उल्लेख करते हैं जब कि उनका 'कुल' नाम सातवाहन था।

उनके लिए आंध्रभृत्य शब्द के इस्तेमाल से इस अनुमान का खंडन नहीं होता क्योंकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा सर रा० गो० भंडारकर ने कहा है इसका अर्थ वे आंध्र जो भृत्य थे। इस शब्द का जो अर्थ सुखठणकर करते हैं उससे व्यर्थ की कठिनाइयां पैदा होती है; यदि सातवाहन आंध्र नहीं थे बल्कि उनके भृत्य थे और यदि अपने उदय के समय 'आंध्र दकन के शक्तिशाली शासक थे' तो इस बात का कोई खुलासा नहीं दिया जा सकता कि क्यों उनकी शक्ति का कोई भी अवशेष उनके किसी समसामयिक दस्तावेज—साहित्यिक, अभिलेखीय या मुद्राशास्त्रीय प्रमाण—में नहीं मिलता। चूंकि वही राजा आंध्रभृत्य और आंध्रजातीय दोनों नामों से अभिहित किए गए हैं इसलिए ये दोनों शब्द परस्पर परिवर्तनीय हैं। अतः ये राजा आंध्र जाति के थे और किसी राजा के भृत्यरूप में उन्होंने शक्ति प्राप्त की थी। पुराणों के प्रमाणों की यों ही उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'मत्स्यपुराण' की तीन पांडुलिपियों में राजा के रूप में श्रीयज्ञ का नाम आया है। इस प्रकार इस पुराण का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी तक चला जाता है। सबसे पुराना पुराण 'भविष्यपुराण' है जिसकी सामग्री का उपयोग 'मत्स्य', 'वायु', 'भागवत' और 'विष्णु' पुराणों में किया गया है। 'भविष्य' पुराण आंध्रों के पतन और उनके भृत्यों के उदय पर समाप्त हो जाता है।[13] इस प्रकार 'मत्स्य' और 'भविष्य' पुराणों के कर्ता सातवाहनों के समय के इतने निकट थे कि उन्होंने किसी प्रकार के अज्ञान के कारण सातवाहनों को इस आधार पर आंध्र नहीं कहा होगा कि उन्होंने उन्हें आंध्र देश में राज्य करते देखा हो या उन्हें वे आंध्र के राजा के रूप में जानते रहे हों। सच तो यह है कि पौराणिकों ने उनका उल्लेख उनकी जाति के बृहत्तर संदर्भ में किया है। अतः अधिक संभावना यही है कि सातवाहन आंध्र जाति के रहे होंगे।

सातवाहनों के अभिलेखों की भाषा को लेकर भी काफी तूल दिया गया है ताकि आंध्र देश से उनके संबंध को न माना जाए। इन अभिलेखों में उन्होंने जिस भाषा का इस्तेमाल किया है उसे एक प्रकार की आद्य महाराष्ट्री कहा गया है जिसका तेलुगु से कोई संबंध नहीं है जो आंध्र देश की भाषा थी।[14] इस कथन से यही परिलक्षित होता है कि सातवाहनों की मातृभाषा प्राकृत थी जो आंध्रों की न थी। किंतु जैसा कि श्री सोमशेखर शर्मा ने बड़ी विद्वतापूर्वक सिद्ध किया है[15] कि यह कोई जरूरी नहीं कि अभिलेखों की भाषा वही हो जो सातवाहनों के स्वदेश की भाषा रही हो। और न यही निश्चित है कि आंध्र देश में इसकी शुरुआत गौतमीपुत्र सातकर्णि के उत्तराधिकारियों ने की, क्योंकि आंध्र देश में ही भट्टिप्रोलु, घंटशाल और अमरावती के अभिलेखों की भाषा भी प्राकृत ही है जो इनसे काफी प्राचीन हैं। सच तो यह है कि प्राकृत तो सातवाहनों के ही नहीं बल्कि कुछ अपवादों को छोड़कर ई० पू० 300 से 300 ई० तक सभी भारतीय राजवंशों के अभिलेखों की भाषा थी। यह राजदरबारों और शिष्ट जनों की भाषा थी। धार्मिक साहित्य और शास्त्रार्थ की भी भाषा यही थी। इस युग में बुद्ध और महावीर के उपदेश जनता में बड़े लोकप्रिय थे। बुद्ध और महावीर ने जिस पालि भाषा का प्रयोग अपने उपदेशों के लिए किया था वह इसी प्राकृत की पूर्वरूप थी। वैदिक युग में जो स्थान संस्कृत का था वही स्थान इस युग में प्राकृत का था। जिस बात का संबंध धर्म या संस्कृति से होता उसके लिए प्राकृत का ही प्रयोग होता था। सातवाहनों के और उस काल के अन्य अभिलेखों में श्रमणों और बौद्ध तथा जैन संस्थाओं को दिए गए दानों को लिपिबद्ध किया गया है, इसलिए इनमें प्राकृत का इस्तेमाल हुआ है। कहा जा सकता है कि श्रीसातकर्णि ने तो वैदिक यज्ञ किए थे। किंतु इससे हमारे तर्क पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि कुछ समय बाद जब संस्कृत ने अपना खोया हुआ स्थान पुनः प्राप्त कर लिया तो तेलुगु के आदि और सबसे बड़े कवि नन्नयभट्ट ने भी अपना तेलुगे व्याकरण संस्कृत में ही लिखा। अतः यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि सातवाहनों की भाषा 'आद्य महाराष्ट्री' थी। उनके अभिलेखों में प्राकृत के प्रयोग से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस बात का कतई विरोध नहीं है कि सातवाहन और आंध्र एक ही थे।

अब हम यह मान लेते हैं कि सातवाहन और आंध्र एक ही थे। उनकी प्रारंभिक राजनीतिक वृत्तियों का निश्चय इस बात से किया जा सकता है कि प्राचीनतम ऐतिहासिक युग में वे किस स्थान पर थे। आंध्रों और सातवाहनों के संबंध के बारे में जो भी मतभेद हों किंतु सभी इतिहासकार इस संबंध में एकमत हैं कि प्रारंभ से अब तक आंध्रों की आदिभूमि तेलुगु प्रदेश थी यह प्रदेश पूर्वी भारत में गोदावरी-कृष्णा के बीच में था। जैसे चोल और पांड्य प्राचीन काल से करीब करीब उसी इलाके में रहे हैं जिसमें वे इतिहास के उषाकाल में हमें मिलते हैं, वैसे ही अधिक संभावना यही है कि आंध्र भी प्राय: अपने इसी प्रदेश में रहे। इनसे पहले के बौद्ध साहित्य में आंध्र देश को महानदी की एक सहायिका तेलिवाहन के दक्षिण में बतलाया गया है। आंध्र चंद्रगुप्त मौर्य के समय में भी एक प्रबल शक्ति के रूप में वर्तमान थे। इनकी एक विशाल सेना थी, इनके राज्य में 'प्राकारयुक्त तीस नगर' थे। इन नगरों के स्वामी आंध्र सरदार रहे होंगे। अशोक के तेरहवें शिलालेख से प्रतीत होता है कि उन्होंने नाममात्र को उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। उनकी गणना दकन के अन्य अर्धस्वतंत्र राज्यों के साथ की गई है। इनमें भोज पश्चिमी दकन में थे। अत: 'तीस प्राकारयुक्त नगरों' वाले आंध्र निश्चित रूप से पूर्वी दकन में रहे होंगे। इस प्रकार डा० दे० रा० भंडारकर का यह सुझाव ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि इस प्राचीन काल में आंध्रों के प्रदेश में मध्य प्रांत का कुछ भाग व विजगपट्टम जिला शामिल था, संभवत: इसमें गोदावरी और कृष्णा के जिले भी शामिल रहे होंगे।[16] इसलिए इस स्थापना का तो कोई सवाल ही नहीं उठता कि पूर्वी दकन का आंध्रदेश नाम तब पड़ा जब सातवाहनों ने उसे जीत लिया। सातवाहन नाम जब उभर कर सामने आया तो उससे काफी पहले आंध्र देश वहीं था जहां आज भी है।[17]

दूसरी कठिन समस्या यह है कि आंध्रों ने अपनी राजनीतिक वृत्तियों का प्रारंभ ठीक आंध्र देश से किया अथवा उसके बाहर किसी दूसरे प्रदेश से। कहा गया है कि यह बात सही नहीं है कि उन्होंने सबसे पहले अपना शासन आंध्र देश से प्रारंभ किया। इस कथन के लिए चार मुख्य आधार बतलाए गए हैं: (1) उनके सबसे पुराने दस्तावेज शिलालेख व सिक्के नानाघाट और नासिक में मिले हैं जो पश्चिम दकन में है; (2) कलिंग के राजा खारवेल ने अपने लेख में उन्हें अपने से पश्चिम में बतलाया है; (3) गोतमी बलश्री ने अपने पुत्र गौतमीपुत्र सातकर्णि के राज्य का विस्तार बतलाते हुए कहीं भी आंध्र देश के किसी स्थान का नाम नहीं लिया है; और (4) आंध्र देश में सातवाहनों के दस्तावेज तो कहीं गौतमीपुत्र सातकर्णि के उत्तराधिकारी वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के समय से मिलते हैं।

किंतु इन तर्कों के लिए पर्याप्त आधार नहीं हैं। यदि दस्तावेजों की प्राप्ति ही किसी राज्य के विस्तार की 'एकमात्र' कसौटी मानी जाए तो सातवाहनों का मध्य और दक्षिण दकन पर भी अधिकार सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उनके सबसे पुराने दस्तावेज पश्चिम दकन में मिले हैं। पर गौतमीपुत्र सातकर्णि के बीस पूर्वजों के सिर्फ दो अभिलेख ही मिले हैं। इसके अलावा इन अभिलेखों से जो अनुमान किया गया है वह भी स्वतंत्र नहीं है। इसमें यह पूर्वग्रह रहा है कि सातवाहनों का पुलुमावि के राज्यकाल से पूर्व आंध्र देश से कोई संबंध न था। इसमें इस बात को भुला दिया है कि नानाघाट अभिलेख का सबसे प्राचीन महान सातवाहन राजा सातकर्णि द्वितीय था जिसने दो 'अश्वमेध', एक 'राजसूय' और अनेक दूसरे यज्ञ किए थे और उसने 'दक्षिणापथपति' उपाधि भी धारणा की थी। 'पेरिप्लस' के लेखक ने 'दचिनाबेडीज' के पण्य नगरों का 'लिमीरिका' अर्थात तमिलदेश के पण्य नगरों से पृथक उल्लेख किया है। इस संदर्भ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में, अभिलेखों या यूनानियों द्वारा उल्लिखित 'दक्षिणापथ' दक्षिण के तमिल देश से भिन्न था और उसमें संपूर्ण दकन शामिल था। यदि यह मान लिया जाए कि सातवाहन ही आंध्र थे और वे दकन के स्वामी थे तो खारवेल के लेख में उल्लिखित 'सातकर्णि की चिंता किए बिना उसने पश्चिम में अपनी सेना भेजी' वाक्य का यह अर्थ नहीं होगा कि सातकर्णि का राज्य कलिंग के पश्चिम में ही था और उसका आंध्र देश से कोई संबंध न था। हाल की 'सतसई' से भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वकालीन सातवाहनों में ये राजा भी शामिल थे और उनका राज्य भी उन्हीं प्रदेशों में था। 'सतसई' की एक गाथा में कहा गया है कि उस समय उस सारे प्रदेश में जिसमें गोदावरी निकलती है, बहती है और समुद्र में मिल जाती है, सातवाहनों के समान शक्तिशाली और अभिजात्य कोई दूसरा राजघराना नहीं था। प्राकृत के ही एक अन्य ग्रंथ 'लीलावती परिणय' में एक अनुश्रुति का उल्लेख है जिसके अनुसार हाल का विवाह सप्तगोदावरी के तट पर हुआ था।[18] सप्तगोदावरी की पहचान पूर्वी गोदावरी जिले के दक्षाराम तालाब से की गई है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि गौतमीबलश्री के लेख में आंध्र देश की पूर्ण उपेक्षा की गई है। बलश्री ने सिरितन, महेंद्र और 'अस्सक' की गिनती अपने पुत्र के राज्य में की है। इसमें सिरितन कुर्नूल जिले का श्रीशैल है, महेंद्र से पूर्वी घाट का तात्पर्य है और अस्सक में तो बाखले के मतानुसार भी हैदराबाद का दक्षिण-पश्चिमी भाग और गोदावरी का जिला शामिल था। इसी अभिलेख में इस बात का भी उल्लेख है कि उसके पुत्र ने शकों, यवनों और पह्लवों का उच्छेद कर सातवाहनों का यश पुनः स्थापित किया था। निश्चय ही यह तो नहीं माना जा सकता कि सिरितन, महेंद्र और अस्सक क्षेत्रों के स्वामी शक थे। इसलिए संभवतः घटनाक्रम यह रहा होगा कि सातवाहन मौर्यों के पतन के समय से ही आंध्र देश और महाराष्ट्र के स्वामी थे। जब नहपान ने उन्हें पश्चिमी तट से खदेड़ दिया तो वे अपने साम्राज्य के शेष भागों पर राज्य करते रहे जिसमें आंध्र भी शामिल था। और जब गौतमीपुत्र सातकर्णि ने विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंका तो पुनः समूचे दकन पर उनका अधिकार हो गया। इसी घटना के बाद उसके पुत्र पुलुमावि को (दक्षिणा) 'पथेश्वर' की उस उपाधि धारण करने का अवसर मिला जिस उपाधि को नानाघाट के लेख के सातवाहन राजा सातकर्णि द्वितीय ने धारण किया था। जब रुद्रदामन ने अंततोगत्वा सातवाहनों को महाराष्ट्र से निकाल बाहर किया तो वे स्वदेश चले आए जो आंध्र में था।

जहां तक उनकी राजधानी का प्रश्न है श्रीकाकुलम इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती। इसका आधार अविश्वसनीय और काफी बाद की अनुश्रुतियां हैं।[19] धान्यकटक (धरणिकोट, जिला गुंटूर) में उनका कोई पुराना गढ़ हो सकता है। यह उनके 'तीस प्राकारयुक्त नगरों' में से भी हो सकता है। जब महाराष्ट्र भी आंध्र साम्राज्य का अंग बन गया तो पश्चिम में सातवाहन शक्ति का केंद्र पैठन हुआ। महत्व की बात यह है कि एक अभिलेख में गौतमीपुत्र सातकर्णि को धनकट स्वामि कहा गया है।[20] यह खखरातों पर उसकी विजय के पूर्व की स्थिति की याद दिलाता है। उसके पुत्र पुलुमावि ने जो उसकी विजयों का उत्तराधिकारी हुआ 'दक्षिणापथेश्वर' की उपाधि पुनः धारण की।[21]

सातवाहनों ने कैसे महाराष्ट्र पर अधिकार किया और पैठन में अपनी राजधानी स्थापित की यह सब अभी रहस्य ही है। 'पुराणों' में उनके लिए 'आंध्रभृत्य' उपाधि का प्रयोग हुआ है। संभवतः यह इस पहेली को सुलझाने में कुंजी का काम करे। हम पहले बतला चुके हैं कि इस शब्द का अर्थ है 'आंध्र जो भृत्य' थे। अशोक के तेरहवें शिलालेख में आंध्रों का उल्लेख किंचित अधीनस्थों की स्थिति में हुआ है। संभवतः अशोक की मृत्यु के बाद अपनी उस स्थिति का लाभ लेकर उन्होंने एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की जो उनके प्रथम मौर्य सम्राट और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेगस्थनीज के समय के राज्य से भी काफी बड़ा और शक्तिशाली था। विदेशियों के बढ़ते हुए खतरों के कारण ही संभवतः उन्होंने पैठन में अपनी राजधानी बनाई होगी।

संदर्भ

1. अभिलेखों के लिए देखिए, 'आ०स०वे०इ०' v; 'ए०इं०' viii; सिक्कों के लिए दे०, 'कै०इं०क्या०'; और 'पुराणों' के लिए दे० 'डा०क०ए०'.
2. 'अ०हि०द०', पृ० 41.
3. 'बू० स्त० अ० ज०' पृ० 3-4.
4. 'अ० हि० इं०', पृ० 217-19; आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० 119.
5. कै० हि० इं०, i, पृ० 519.
6. वही, पृ० 599.
7. इं० ऐं०, xiii, पृ० 276 और आगे.
8. 'ऐ० भं० इं०' i, पृ० 21 और आगे.
9. 'ज० बि० उ० रि० सो०', iii, 442 टि०.
10. 'पो० हि० ऐं० इं०', तृतीय सं०, पृ० 280.
11. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', (नई सिरीज), iii, 44 तथा आगे.
12. 'अ० हि० आ० क०'; पृ० 15-16, 26-7.
13. 'अ० हि० आ० क०', पृ० 22-23.
14. पी० टी० श्रीनिवास अय्यंगार : 'इं० ऐं०' xlii, 278.
15. भारती : प्रभाव, वैशाख, पृ० 96-9.
16. 'अशोक', द्वितीय सं०, पृ० 35-6.
17. के० आर० सुब्रमनियन : 'बु० रि० आ०', पृ० 8-10.
18. प्रभाकर शास्त्री द्वारा उद्धृत, 'ज० आ० हि० रि० सो०', iv, पृ० 29-30.
19. 'इं० ऐं०', xlii, 276.
20. नासिक सं० 3, 'ए०इं०' viii, 65 में 'धनकटसमनेहि' आया है. इसे 'धनकट' श्रमनेहि मानना ठीक नहीं. इसके कारण सर रा० गो० भंडारकर और दे० रा० भंडारकर ने बतला दिए हैं (दे०, 'अ० हि० द०', तृतीय सं०, पृ० 30 टि० 13; 'इं० ऐं०', 1913, 280), एम० सेनार्ट ने 'धनकट, के स्थान पर 'बनकट' पाठ का सुझाव दिया है क्योंकि 'ब' और 'ध' में काफी साम्य है. किंतु वह उन लोगों के मत के विरुद्ध अपने सुझाव पर दृढ़ रहने को तैयार न थे जो कि 'स्वयं पत्थर को ही अपना आधार बनाकर चले हैं।' अतः सर रा०गो० भंडारकर का सुझाव अर्थात 'धनकट समनेहि'—'धनकट सामिनेहि अर्थात धनकट स्वामी मान्य रहेगा. धनकट—धनकटक—धान्यकटक.
21. इस नाम के कई रूप है : अभिलेखों में यह पुलुमावि या पुलुमायि है, पुराणों में पुलोमावि, पुलोमत या पुलोमा ('मत्स्य'), पटिवावि आ पटुमावि ('वायु') और पटुमान, पुलिमान ('विष्णु') मिलते हैं. इस अध्याय में हमने पुलुमावि रूप स्वीकार किया है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनों का नाम और उनका वर्ण

हमने बतलाया है कि सातवाहन आंध्र जाति के राजाओं का वंश या कुलनाम था। किंतु पुराणों में उनके और भी कई नाम मिलते हैं। उनके लिए सातकर्णि का उपयोग प्रायः हुआ है। इसके अतिरिक्त शातकर्णि, स्वातिकर्णि और संतिकर्णि नाम भी आए हैं। हेमचंद ने अपने व्याकरण में शालिवाहन को सातवाहन का 'अपभ्रंश' माना है।

सातवाहन की अनेक व्युत्पत्तियां बतलाई गई हैं। 'अभिधानचिंतामणि' के अनुसार इसका अर्थ है 'जिसे सुखदायक वाहन प्राप्त हो'।[1] 'कथासरित्सागर' के अनुसार सातवाहन की व्युत्पत्ति 'सात' से है। 'सात' एक यक्ष था जिस पर राजा सवारी करता था।[2] अभी हाल ही में यह सुझाव दिया गया है कि सातवाहन का अर्थ है जिसने 'वाहन प्राप्त किया हो', यहां वाहन से तात्पर्य मौर्यों की सेवा में उच्च सैनिक पद से है।[3] सातकर्णि पहले एक उपनाम रहा होगा[4] जो बाद में कुलनाम बन गया।[5] किंतु ये सभी स्पष्टीकरण अनुमान मात्र हैं। इस शब्द की वास्तविक उत्पत्ति अज्ञात ही है।

सातवाहन शब्द की व्युत्पति की ही भाँति इन राजाओं के वर्ण के बारे में भी पर्याप्त विवाद है। इस संबंध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे उत्तरकालीन अभिलेखों के हैं अर्थात वे नासिक के गोतमी बलश्री के लेखों में मिलते हैं। इसमें गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'एकबम्हणस' कहा गया है। सेनार्ट ने इसका अर्थ 'अद्वितीय ब्राह्मण' किया है।[6] सर रा० गो० भंडारकर ने इसका अर्थ 'ब्राह्मणों का एकमात्र रक्षक' किया है।[7] डा० दे० रा० भंडारकर इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। इससे सातवाहन ब्राह्मण सिद्ध नहीं होते। श्री वी० एस० वाखले ने बड़ी जोरदारी से कहा है कि अभिलेखीय प्रमाण यही सिद्ध करते हैं कि 'सातवाहन ब्राह्मण थे' और 'गौतमीपुत्र सातकर्णि क्षत्रिय नहीं ब्राह्मण था।' जायसवाल का कथन है कि शुंग और सातवाहन दोनों ब्राह्मण थे।[8] इसके विपरीत डा० के० गोपालाचारी का डा० भंडारकर की ही भांति मत है कि 'सातवाहन क्षत्रिय थे और वे अपने मामा का गोत्र धारण करते थे। कतिपय स्थानों में क्षत्रिय परिवारों में माता का गोत्र धारण करने की प्रथा थी। सातवाहनों ने यह प्रथा उन्हीं परिवारों में विवाह कर प्राप्त की थीं'।[9]

इसी अभिलेख में गौतमीपुत्र सातकर्णि की 'एकबम्हणस' की ही भांति अन्य उपाधियां भी मिलती हैं जैसे वह 'एकधनुदर', 'एकसूर' आदि था। यदि सातवाहनों के ब्राह्मण होने में कोई नितांत प्रतिकूल बात न हो तो 'एकबम्हणस' का यह अर्थ क्यों नहीं लिया जा सकता? हम जानते हैं कि बौद्ध युग में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा गिर गई थी और क्षत्रिय, जो उससे पहले शताब्दियों तक ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म के रक्षक थे, सैकड़ों की संख्या में बौद्ध हो गए थे। अतः अनेक ब्राह्मणों ने अपने प्राणों से प्रिय ब्राह्मणधर्म की रक्षा के लिए स्वयं अपने को क्षत्रिय कहने की आवश्यकता महसूस की होगी। ब्राह्मणों ने मगध में शुंग और कण्व राजवंशों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापना की थी। दकन में भी उस समय ऐसी ही गतिविधियों की आशा की जा सकती थी। यह सही है कि सातवाहनों ने अन्य धर्मावलंबियों के प्रति प्रशंसनीय सहिष्णुता का परिचय दिया था और उन्हें अनेक दान आदि भी दिए थे। उनके समय में अब्राह्मण धर्मों पर अत्याचार नहीं हुए। किंतु ब्राह्मणधर्म पुनः प्रबल हो गया था, इसका प्रमाण नानाघाट का वह अभिलेख ही है जिसमें यह बतलाया गया है कि राजा सातकर्णि ने अनेक वैदिक यज्ञ किए थे।

गौतमीपुत्र सातकर्णि के लिए एक विरुद 'खतियदपमान मदनस' का प्रयोग इस लेख में हुआ है। हम इस विरुद की उपेक्षा नहीं कर सकते। इससे उसके 'एकबम्हणस' होने की पुष्टि होती है। डा० भंडारकर ने इस पद में आए 'खतिय' का स्पष्ट अर्थ क्षत्रिय जाति न कर इनकी पहचान एरियन के क्सट्रोड नामक एक अज्ञात सी जाति से की है। इस प्रकार वह ठीक रास्ते से काफी भटक गए हैं। वह इस जाति को सिंधु नदी और चिनाव के मुहाने के पास रखते हैं। भंडारकर के अनुसार ये कौटिल्य, मनु और टालेमी के क्षत्रिय थे। रुद्रदामन ने अपने गिरनार के लेख में जिन 'भ्रष्ट राजाओं' को उनके सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित करने का उल्लेख किया है वे नासिक के अभिलेख के क्षत्रिय रहे होंगे जिनके बारे में उल्लेख आया है कि उन्हें 'गौतमीपुत्र सातकर्णि' ने हराया था।[10] किंतु गोतमी बलश्री इससे आश्वस्त थी कि उसका पुत्र ब्राह्मण है, क्षत्रिय नहीं।

एक ही तथ्य ऐसा है जिससे इस बात का समर्थन होता है कि सातवाहनों का संबंध क्षत्रियों से था इसी अभिलेख में गोतमी बलश्री ने अपने बारे में कहा है कि उसने राजर्षिवधू के आदर्श का पूर्ण आचरण किया है। यह सच है कि राजर्षि ब्रह्मर्षियों और देवर्षियों से भिन्न थे। यद्यपि अधिकांश राजा क्षत्रिय ही थे तथापि 'राजन्' शब्द जाति या वर्ण का सूचक नहीं बल्कि राजत्व, एक पद का सूचक था। जैसा ऊपर बतलाया गया है कि उस काल में ब्राह्मण धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक हो गया था कि ब्राह्मण शासन की बागडोर भी संभालें। सातवाहनों ने इस उत्तरदायित्व से मुंह नहीं मोड़ा। बौद्धधर्म के दीर्घकालीन प्रभुत्व से सामाजिक व्यवस्था विशृंखल हो गई थी। नए सिरे से उसके निर्माण के लिए प्राचीन समय में निर्धारित चार वर्णों के आचरणों में किंचित ढील देना आवश्यक हो गया था अन्यथा कोई ब्राह्मण राजपद का अधिकारी नहीं हो सकता था। किंतु शुंग और कण्व ब्राह्मण भी थे और राजा भी। ब्राह्मण को 'अश्वमेध' और 'राजसूय' यज्ञ करने का अधिकार न था। इसके एकमात्र अधिकारी क्षत्रिय ही थे तथापि पुष्यमित्र शुंग ने 'अश्वमेध' किए। नानाघाट के अभिलेख में वर्णित सातकर्णि के चरित्र को हमें इसी पृष्ठभूमि में देखना होगा। अपनी प्रभुसत्ता की प्रतिष्ठा के लिए उसे यज्ञ करने पड़े जिन पर चिरकाल से क्षत्रिय राजाओं का ही विशेषाधिकार माना जाता था। इन कर्मों के बावजूद पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण बना रहा। अतः हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सातकर्णि ने अपना वर्ण खो दिया था। इसलिए हमें सदा इस बात का ध्यान रखना होगा कि मौर्य राजाओं के पतन के बाद कोई जरूरी नहीं रह गया था कि क्षत्रिय ही राजा हों। अतः यदि गोतमी बलश्री ने उन सभी प्रथाओं का कड़ाई से पालन कर 'राजर्षिवधू' का अभिधान प्राप्त किया तो इससे उसकी ब्राह्मण जाति से हमें इनकार करने की आवश्यकता नहीं है। अपितु, हमें इस बात के लिए उसकी प्रशंसा करनी चाहिए कि उसने अपने पति और पूर्वजों द्वारा ग्रहीत और रक्षित प्रथाओं का आजीवन पालन किया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', x, 'सातं दत्तसुखन्वाहनम यस्य इति.'
2. 'सातेना स्मादूढ़ोभूत तस्मात तम सातवाहनं नाम्ना चकार, आदि.'
3. 'अ० हि० आं० कं०', पृ० 31.
4. डा० पीटरसन की 'मैनुस्क्रिप्ट्स आफ सत्तसई' की 'पुष्पिका', 'थर्ड, रिपोर्ट आफ सर्च फार संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स', पृ० 349 में पाठ 'शतकर्णोपनामकः' है.
5. वी० एस० बाखले : पूर्वोद्धृत, पृ० 52 तथा आगे.
6. 'ए० इं०', viii, सं० 2, पृ० 60 तथा आगे.
7. वही, xxiii, पृ0 32 तथा आगे.
8. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०'(नई सिरीज) iii, 50, 'ज० बि० उ० बि० सो०'; xvi, 259, 265.
9. वही, पृ० 48.
10. 'ए० इं०', xxii, 33.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्वकालीन सातवाहन: कालक्रम

आंध्र सातवाहन राजाओं को दो वर्गों में रख सकते हैं : एक पूर्वकालीन और दूसरे उत्तर-कालीन। पश्चिमी महाराष्ट्र, गुजरात और मालवा में उनके राज्यकाल के अंतराल से इस विभाजन का खुलासा हो जाता है। अभी हाल तक 'मत्स्यपुराण' के 4 से 22 तक के राजाओं के बारे में कुछ भी पता न था। पश्चिम भारत में मिले पोटीन और तांबे के सिक्कों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर 'रनो सातकम्निस' लेख पढ़ा जाता है। यह एक दूसरा सातकर्णि है जो 'मत्स्य' की सूची में छठे स्थान पर, 'वायु' की सूची में दूसरे स्थान पर और 'विष्णु' में पांचवे स्थान पर पर आया है। मध्य प्रदेश में एक बड़ा सा तांबे का सिक्का मिला है जिस पर 'अपीलक' नाम अंकित है जो 'मत्स्य' की सूची में आठवें स्थान पर है। 'बृहत्कथा', 'सप्तशती' और 'लीलावती' में हाल का कुछ वर्णन है जो सूची का सत्तरहवां राजा है। इन राजाओं के बारे में भी इतनी अल्प सूचनाएं मिलती हैं कि इनसे इनके राज्यविस्तार के बारे में कुछ भी अंदाज नहीं किया जा सकता। इन पूर्वकालीन कुछ राजाओं के राज्यकाल के बाद उनके पश्चिम के प्रदेशों पर विदेशियों ने दखल कर लिया। इनका वहां काफी समय तक राज्य रहा। अंततोगत्वा गौतमीपुत्र सातकर्णि रंगमंच पर उदित हुआ और उसने वंश के ये खोए हुए प्रदेश विदेशियों से पुन: जीत लिए। उसे 'शक यवन पहलव निसूननस' (शकों, यवनों और पहलवों का संहार करने वाला) और 'खखरातवस निरवसेसकर' अर्थात खखरात वंश का अंत करने वाला कहा गया है। इस प्रकार सिमुक से गौतमीपुत्र सातकर्णि तक के इस वंश के राजा पूर्वकालीन कहे जाते हैं और शेष राजा उत्तरकालीन।

किंतु इनके इतिहास की अन्य समस्याओं की ही भांति इनके कालक्रम की समस्या भी बड़ी उलझी हुई है। इनके बारे में यत्किंचित ज्ञान 'पुराणों' में मिलता है और कुछ एक राजाओं की संभावित समकालीनता के अतिरिक्त हमें इनके राज्यकाल के बारे में जो न्यूनाधिक ज्ञान प्राप्त है उसका आधार पुरालिपिशास्त्र ही है। पुरालिपि से इतने मतों की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंच ही नहीं पाते। उदाहरणार्थ सातवाहनों के नानाघाट के लेखों का समय ई० पू० दूसरी शती के मध्य से ईसा की पहली शती के द्वितीयार्ध के बीच कहीं भी[1] और बेसनगर के हेलियोदोरस के स्तंभलेख (ई० पू० पहली शती के प्रारंभ) और खारवेल के हाथीगुंफा लेख (ई० पू० पहली शती के अंत) के बीच रखा गया है।[2]

पुराणों से भी स्थिति नहीं सुधरती। इनमें परस्परविरोधी बातें भरी पड़ी हैं। 'मत्स्य', 'वायु', 'विष्णु' और 'भागवत'—इन चार पुराणों में प्राचीन भारत के कई राजवंशों का; उनमें ले हर एक के राज्यकाल का योग, प्रत्येक वंश के राजाओं की संख्या और प्राय: उनके नाम भी मिलते हैं। कतिपय विसंगतियों के लिए गुंजाइश छोड़ देने पर भी इनमें सभी इस बात से सहमत हैं कि मौर्यों ने 137 वर्ष, शंगों ने 112 और कण्वों ने 45 वर्ष शासन किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आंध्रों के बारे में 'वायु', 'विष्णु' और 'भागवत' पुराणों का कहना है कि उनके वंश में कुल 30 राजा हुए जबकि 'मत्स्य' के अनुसार सिर्फ 29। 'मत्स्य' के अनुसार उन्होंने कुल मिलाकर 460 वर्ष राज्य किया था जबकि 'विष्णु' और 'भागवत' के अनुसार उनका राज्यकाल 456 और 'वायुपुराण' के अनुसार 411 या 300 वर्ष था। यद्यपि मोटे तौर पर इनके वर्णनों में अधिक विसंगतियां नहीं हैं किंतु जब वे हर राजा का राज्यकाल बतलाने लगते हैं तो काफी विसंगतियां मिलने लगती हैं। विरोध की यह स्थिति निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाएगी :

आंध्र राजा

	वायु		मत्स्य		विष्णु		भागवत	
	राजाओं की सं०	कुल राज्य काल	राजाओं की संख्या	कुल राज्य काल	राजाओं की संख्या	कुल राज्य काल	राजाओं की संख्या	कुल राज्य काल
सामान्य कथन	30	411 या 300	29	460	30	456	30	456
जिनके ब्यौरे दिए हैं	17	272½	30	448½	24	...	22	...

उपर्युक्त तालिका से विदित होगा कि वास्तविक रूप में जितने नाम प्रत्येक 'पुराण' ने दिए हैं उनकी संख्या मोटे तौर पर दी गई उनकी संख्या से भिन्न है। और इसी प्रकार उनके राज्यकालों का योग भी आमतौर पर कहे गए उनके कुल राज्यकालों के जोड़ से भिन्न हैं।

सर रा० गो० भंडारकर ने 'वायु' और 'मत्स्य' पुराणों के पूरे राजवंशों के राज्यकाल और राजाओं की संख्या के बारे में विसंगतियों के समाधान के लिए सुझाव दिया था कि इनके राज्यकालों के योग और उनके अनुरूप राजाओं की संख्या में जो वृद्धि है उसका कारण यह हो सकता है कि शायद आंध्रवंश की कई शाखाओं के राजाओं के नाम और उनके राज्यकाल की सूची का भी समावेश कर दिया गया है। वह 'मत्स्यपुराण' की अपेक्षा 'वायुपुराण' में दिए गए ब्यौरों को अधिक विश्वसनीय मानकर स्वीकार करते हैं। 'वायुपुराण' के इस कथन पर कि 'आंध्र राजा तीन सौ वर्ष तक पृथ्वी का शासन करेंगे' टीका करते हुए उन्होंने कहा कि 'वायु पुराण' में दी गई तीन सौ वर्षों की अवधि और सत्रह नाम संभवतः मुख्य शाखा के हैं। मेरी समझ से 'मत्स्यपुराण' ने सभी शाखाओं के राजाओं और उनके राज्यकालों का सम्मिलित रूप में उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार उनकी संख्या तीस बलता दी है। इस प्रकार 'वायु और मत्स्य' दोनों के वर्णन सही हैं किंतु वे दो भिन्न बातों का वर्णन करते हैं।[3]

किंतु यह तर्क समीचीन नहीं है। यह कहना ठीक नहीं कि 'मत्स्यपुराण' के कर्ता को सातवाहनवंश के मूर्धाभिषिक्त मुख्य राजाओं और उनकी सामंत शाखाओं के राजाओं के भेद का पता नहीं था। आगे दी गई तालिका से यह बात जाहिर होती है कि 'वायु' के पांचवें राजा पटिमावि से प्रारंभ कर तेरहवें राजा गौतमीपुत्र तक सूची वही है जो 'मत्स्य' के पंद्रहवें राजा पुलोमावि से प्रारंभ कर तेईसवें राजा गौतमीपुत्र तक है। वर्णनों में अंतर नाममात्र को ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आंध्र राजाओं की मत्स्य और वायु पुराणों की सूची

(दे०'अ०हि०द०' पृष्ठ 55-56 'कै०इं०क्वा०' पृष्ठ lxiv-lxvii)

मत्स्य पुराण			वायु पुराण		
क्र० सं०	राजाओं के नाम	राज्य-काल वर्षों में	क्र० सं०	राजाओं के दाम	राज्य-काल वर्षों में
1.	शिशुक (अभिलेखों का सिमुक)	23	1.	सिंधुक	23
2.	कृष्ण (अभिलेखों का कण्ह)	18	2.	कृष्ण	10 या 18
3.	श्रीमल्लकर्णि	10			
4.	पूर्णोत्संग	18			
5.	स्कंदस्तंभि	18			
6.	शातकर्णि[5]	56	3.	शातकर्णि[4]	56
7.	लंबोदर	18			
8.	अपीलक	12	4.	अपीलवा	12
9.	मेघस्वाति	18			
10.	स्वाति	18			
11.	स्कंदस्वाति	7			
12.	मृगेंद्र स्वातिकर्ण	3			
13.	कुंतल स्वातिकर्ण	8			
14.	स्वातिकर्ण	1			
15.	पुलोमावि	36	5.	पटिमावि या पटुमावि	24
16.	गौरकृष्ण	25	6.	नेमिकृष्ण	25
17.	हाल	5	7.	हाल	1
18.	मंदुलक	5	8.	मंदलक	5
19.	पुरींद्रसेन	5	9.	पुरीकसेन	21
20.	सुंदर स्वातिकर्ण	1	10.	शातकर्णि	1
21.	चकोर स्वातिकर्ण	$\frac{1}{3}$	11.	चकोर शातकर्णि	$\frac{1}{2}$
22.	शिवस्वाति	28	12.	शिवस्वाति	28
23.	गौतमीपुत्र	21	13.	गौतमीपुत्र	21
24.	पुलोमत (अभिलेखों का पुलुमावि)	28			
25.	शिवश्री	7			
26.	शिवस्कंद	7			
27.	यज्ञश्री	29	14.	यज्ञश्री	29
28.	विजय	6	15.	विजय	6
29.	चंदश्री	10	16.	दंडश्री	3
30.	पुलोमावि (अभिलेखों का पुलुमावि)	7	17.	पुलोमावि	7

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों सूचियों में नौ राजा हैं और उनका राज्यकाल क्रमशः 126½ और 126⅓ वर्ष दिया गया है। पुनः यज्ञश्री से प्रारंभ कर वंश के अंतिम राजा तक भी नाम प्रायः वही हैं। किंतु 'वायु पुराण' गौतमीपुत्र और यज्ञश्री के बीच के तीन राजाओं के बारे में कुछ भी नहीं बतलाता। यदि हम भंडारकर के तर्क को स्वीकार कर लें तो हमें मानना पड़ेगा कि ये तीनों राजा अर्थात पुलोमत, शिवश्री और शिवस्कंद मुख्य शाखा के मूर्धाभिषिक्त राजा न थे, वे कुमार के रूप में ही बिना सिंहासन पर बैठे राज्य कर चल बसे होंगे। किंतु स्वयं भंडारकर ने यह माना है कि 'पुलुमावि' ('मत्स्य' का पुलोमत) ने अपने अधिकार से कम से कम चार वर्ष राज्य किया था।'[5]

अतः यह स्पष्ट है कि तेरह राजाओं के वर्णन के छोड़े जाने और परिणामतः उनके राज्यकालों के वर्षों में कमी हो जाने का कारण कोई दूसरा ही होगा। क्या इसका यह कारण नहीं हो सकता कि 'वायुपुराण' सातवाहनों के 'अपेक्षाकृत अधिक महत्व के काल' पर अधिक ध्यान देता है जो पटिमावि (पुलुमावि प्रथम) से प्रारंभ होता है?[6] डा० विसेंट स्मिथ ने हमारा ध्यान इस इस बात की ओर आकृष्ट किया है कि 'विष्णु' और 'वायु' ने आंध्रों का राज्यकाल क्रमशः 456 और 300 वर्ष रखा है। इसमें जो अंतर है उसमें 'पुराणों' द्वारा मौर्यों (112) और शुंगों (45) के राज्यकाल प्रायः अंतर्मुक्त हो जाते हैं। 'वायु' में दी गई अपेक्षाकृत कम अवधि का प्रारंभ कण्ववंश के राज्य की समाप्ति के बाद से मानना चाहिए। यदि 'वायु' ने पटिमावि के चार अन्य पूर्वजों का उल्लेख किया है तो उसका यह कथन उसकी भूमिका के इस वक्तव्य के अनुकूल ही है कि मैं केवल प्रमुख राजाओं का ही वर्णन करूंगा ('प्रधान्यतः प्रतिवक्ष्यामि')।[7]

अतः अन्य 'पुराणों' की अपेक्षा 'मत्स्य' को अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए क्योंकि राजाओं ओर उनके नामों के बारे में उसके ब्यौरे अधिक पूर्ण है। किंतु राजाओं के राज्यकालों के बारे में जहां 'वायु' उल्लेख करता है और यदि वह अभिलेखों के प्रमाण से विरुद्ध न हो तो वह अधिक विश्वसनीय है।

सभी 'पुराणों' में इस बात पर पूर्ण मतैक्य है कि आंध्रों के शासन का प्रारंभ कण्वों के बाद हुआ। किंतु इस संबंध में 'वायु' और मत्स्यपुराणों' के उल्लेखों से सर रा० गो० भंडारकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शुंग और कण्व वंशों ने 'साथ साथ राज्य किया था। अतः अनुश्रुतियों में शुंगों का जो 112 वर्ष का राज्यकाल बतलाया गया है उसमें कण्वों का 45 वर्षों का राज्य-काल भी शामिल है।' यदि कर्न के मत को मानकर हम चंद्रगुप्त मौर्य के अभिषेक की तिथि ई० पू० 322 रखें तो एक साथ ही शुंगों और कण्वों के उन्मूलन और आंध्र वंश के शासन के प्रारंभ की तिथि ई० पू० 322—(137+112) =ई० पू० 73 माननी होगी।[8]

वह उल्लेख निम्नलिखित है :

काण्वायनस्त (नंत) तो भृत्यः सुशर्माणंप्रसह्यतम्
श्रृंगानां चेंव यच्छेषं क्षययित्वा बलं तदा ! !
सिंधुको अंध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुंधराम् ! !

सर रा० गो० भंडारकर ने इसका अनुवाद यों किया है : आंध्र जाति का एक भृत्य कण्व वंश के सुशर्मा का बलपूर्वक नाश कर और शेष शुंगशक्ति को समाप्त कर इस पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त करेगा।

कण्वों को शुंगभृत्य कहा गया है। इससे सर रा० गो० भंडारकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जब शुंगवंश के राजा कमजोर पड़ चुके थे तो कण्वों ने शासनसूत्र उसी प्रकार हथिया लिया था जैसे आधुनिक युग में पेशवाओं ने, उन्होंने अपने स्वामी के राजवंश को समाप्त तो नहीं किया अपितु उन्हें नाममात्र को सिंहासन पर बना रहने दिया था। इस संबंध में तत्काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही हम यह कहना चाहेंगे कि कण्वायनों को शुंगभृत्य कहने का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्होंने शुंगों के साथ मिलकर संयुक्त रूप में राज्य किया। पेशवाओं का उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि वे हमेशा अपने को शिवाजी के परिवार का सामंत ही मानते रहे। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कण्वायनों ने कभी किसी प्रकार से शुंगों की कानूनी प्रभुसत्ता स्वीकार की हो। 'पुराणों' में स्पष्ट ही कहा गया है कि वासुदेव कण्व ने शासन हथियाने से पूर्व शुंग राजा देवभूति की हत्या कर दी थी। इसकी पुष्टि बाण के 'हर्ष-चरित' से भी होती है।[10] अतः राजवंशों का जो क्रम 'पुराणों' में दिया गया है उसकी अवहेलना हम नहीं कर सकते। अतः इस छंद का एक दूसरा ही महत्व है। जब कण्वायनों ने बलात सिंहासन छीन लिया तो उनका अधिकार उन सभी प्रदेशों पर नहीं हुआ जो शुंगों के अधीन थे। उन्होंने उनके राज्य के एक विस्तृत भाग पर अधिकार अवश्य कर लिया था। कण्वों ने शुंगों के जो प्रदेश लिए थे, सिंधुक ने उनके अंतिम राजा सुशर्मा को मारकर उन पर भी अधिकार कर लिया।[11] अतः शुंगों के बाद कण्वों ने राज्य किया था न कि साथ साथ। इस प्रकार कण्वों के पतन और सातवाहनों के शासन के प्रारंभ की तिथि ई० पू० (322-137+112+45) =ई० पू० 28 माननी होगी।

यदि हम यह मान लें कि सातवाहनों के राज्य का प्रारंभ ई० पू० 28 में हुआ था और 'मत्स्यपुराण' में उनके प्रत्येक राजा का जो काल दिया है वह सही है, तो फिर इस गणना के अनुसार तो उनके वंश का समय ईसा की पांचवी शताब्दी तक चला जाएगा जो नितांत हास्यास्पद कल्पना होगी। अतः स्मिथ, जायसवाल,.बाखले और अन्य विद्वान पुराणों के इस सामान्य कथन को तो स्वीकार कर लेने के पक्ष में हैं कि उनका कुल राज्यकाल चार सौ साल या इससे कुछ अधिक रहा, पर वे 'पुराणों' के इस कथन की उपेक्षा कर देने के पक्ष में हैं कि 'आंध्र सिमुक अंतिम कण्व राजा सुशर्मा की हत्या करेगा'। ये विद्वान लेखक यह कहना चाहते हैं कि कण्वों से सत्ता हथियाने का काम उसके वंश के किसी बाद के राजा ने किया होगा। विसेंट स्मिथ का कथन है कि स्वतंत्र आंध्रवंश का राज्य ई० पू० 28 में कण्ववंश के नाश से काफी पहले ई० पू० 240 या 2:0 से प्रारंभ हुआ होगा। और अधिक संभावना यही है कि सुशर्मा की हत्या करने वाला सिमुक नहीं बल्कि कोई दूसरा आंध्र राजा रहा होगा।[12]

जायसवाल के निष्कर्ष भी प्रायः वही हैं जो स्मिथ के हैं।[13] किंतु उन्होंने हाथीगुंफा के लेख से अपने पक्ष में प्रमाण देते हुए कहा है कि इस लेख के अनुसार खारवेल ने अपने राज्यकाल के दूसरे वर्ष में सातकर्णि की परवाह न कर पश्चिम दिशा में सेना भेजी थी। इस सातकर्णि की पहचान पुराणों की सूची के तीसरे राजा और नानाघाट के अभिलेख में उल्लिखित सातकर्णि से की गई है। नानाघाट के उद्धृत अभिलेखों में केवल सिमुक और सातकर्णि का उल्लेख है। उसमें कण्व (कृष्ण) का नाम नहीं आया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि सातकर्णि पुराणोक्त कृष्ण का पुत्र न होकर सिमुक का पुत्र था।

किंतु यद्यपि 'वायु पुराण' की सूची में साकर्तणि का स्थान तीसरा है परंतु उत्तराधिकार के क्रम में उसका यह स्थान नहीं हो सकता। उसकी पहचान इसी नाम के नानाघाट के अभिलेख में उल्लिखित उस राजा से भी नहीं की जा सकती जिसने अगणित वैदिक यज्ञ किए थे क्योंकि वैसी अवस्था में 'पुराण' उसके नामोल्लेख में गलती नहीं कर सकते क्योंकि 'मत्स्य' की सूची में तीसरे राजा का नाम मल्लिकर्णि और 'भागवतपुराण' में उसका नाम शातकर्णि आया है। 'विष्णुपुराण' में तीसरा राजा शातकर्णि है जो 'मत्स्य' का छठा राजा है। 'वायु' का तीसरा राजा यही शातकर्णि होगा, क्योंकि 'पुराणों' में ('वायु' और 'मत्स्य' में) इन राजाओं के राज्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल भी दिए हैं। अतः यदि किसी राजा का राज्यकाल एक ही हो तो दृढ़ धारणा यही होती है कि दोनों 'पुराण' एक ही राजा का उल्लेख कर रहे हैं। इस प्रसंग में 'मत्स्य' में छठे राजा का राज्यकाल 56 वर्ष दिया गया है जो 'वायु' के तीसरे राजा का है। ध्यान में रखने की बात यह है कि 'वायुपुराण' के अनुसार इस वंश के तीस राजा न होकर कुल सत्रह राजा ही हुए थे। अतः यही अनुमान स्वभाविक होगा कि 'वायु' में कृष्ण और इस सातकर्णि के बीच के राजाओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि राज्य की श्रीवृद्धि में उनका कोई योगदान नहीं था अथवा नगण्य था।

पुराणों को इस बारे में कोई भ्रम नहीं है कि सातकर्णि के पिता का नाम कृष्ण था और वही उसके बाद राजा हुआ था। 'पुराणों' के इस सुस्पष्ट कथन की अपेक्षा नानाघाट के 6 उत्कीर्ण अभिलेखों के प्रमाण को तरजीह दी गई है। किंतु यह 'प्रमाण' अनुमान से अधिक नहीं है। इसका आधार यही है कि दोनों नामों के स्थान एक ही हैं। छः में से चार लेखों में राजाओं के परस्पर संबंधों का स्पष्ट उल्लेख है। नायनि का श्री सातकर्णि राजा की 'देवी' है,तदनंतर भ(य) 'कुमार' है, हकुश्री और सातवाहन भी 'कुमार' हैं। इन सबके बीच में उल्लिखित महारठी त्रनकयिरो को 'देवी' नायनिका (नागनिका) का पिता मानते हैं। किंतु सिमुक के साथ ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उसे सिर्फ राय सिमुक सातवाहनो सिरिमातो कहा गया है। अतः स्पष्ट ही यह अनुमान होता है कि यदि ये सब सातकर्णि के परिवार के थे तो सिमुक नाम वहां वंश के आदि पुरुष के रूप में ही आया होगा अन्यथा उसके नाम के साथ भी संबंध बोधक कोई शब्द आया होता। यह कोई अनहोनी बात भी नहीं है क्योंकि नागनिका के लेख की दूसरी पंक्ति में लुप्त अंश को निम्नलिखित रूप में पढ़ने का सुझाव हाल ही में दिया गया है : 'सिमुक सातवाहनस वंस वधनस'[14]

अतः यह जाहिर है कि नानाघाट के लेख का सातकर्णि सिमुक या कृष्ण का पुत्र नहीं था। इसमें कोई शक नहीं कि वह कृष्ण के पुत्र सातकर्णि के बाद हुआ जो 'पुराणोक्त' तृतीय राजा है। वह खारवेल का समकालीन था क्योंकि 'नानाघाट के अभिलेख की लिपि हाथीगुंफा के अभिलेख की लिपि से मिलती-जुलती है।' किंतु रामप्रसाद चंद और अन्य विद्वानों का विश्वास है कि हाथीगुंफा का अभिलेख पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से नानाघाट के अभिलेख से बाद का है। श्री चंद हाथीगुंफा के सातकर्णि की पहचान पार्जिटर की सूची के छठे राजा से करते हैं और उसे अभी अस्थाई रूप में ई० पू० 75 से ई० पू० 20 के बीच रखना चाहते हैं।[15] किंतु यह तिथि स्वीकार्य नहीं है। चंद महोदय के तर्क डा० व्यूहलर की स्थापना के एकदम विपरीत हैं जो नानाघाट के अभिलेखों की तिथि पुरालिपिशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ई० पू० 200-150 में मानते हैं।[16] पुरालिपिशास्त्र के प्रमाणों की जैसी स्थिति इस समय है उसमें उनके लिए 50 वर्ष आगे या पीछे रखने की गुंजाइश है। अतः हम ब्यूहलर की स्थापना से सहमत होकर नानाघाट के अभिलेख की वही तिथि स्वीकार करते हैं और हाथीगुंफा के खारवेल और सातकर्णि को समकालीन मानते हैं। हम श्री चंद की इस राय से सहमत हैं कि यह सातकर्णि 'मत्स्य पुराण' की सूची का 'छठा' राजा होगा।

किंतु जहां तक सातवाहन शक्ति के उदय का प्रश्न है मत्स्य पुराण की सूची में इस सातकर्णि के स्थान से कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। खारवेल की तिथि और सातकर्णि की तिथि तो अब निश्चित की जा सकती है। हाथीगुंफा लेख के अनुसार खारवेल ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में यवन राज दिमित को हराकर उसे वापस भेज दिया था। यह दिमित यूथीडेमोस का पुत्र डेमेट्रियस था, जो ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य हुआ था। 'गार्गी संहिता' में इस बात का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इशारा है कि घरेलू कठिनाइयों के कारण यूनानी भारत से वापस चले गए थे। यहां बैक्ट्रिया में युक्रेटाइडीज ओर डेमेट्रियस के बीच होने वाले संघर्षों की ओर ही स्पष्ट इशारा है। मीयर के मतानुसार डेमेट्रियस ई० पू० 175 में वापस लौटा था।[17] यह कलिंग के राजा के राज्यकाल के आठवें वर्ष की घटना है। सातकर्णि की परवाह न करके उसका पश्चिम का अभियान उसके राज्य के दूसरे वर्ष अर्थात् यह ई० पू० 181 की घटना है। यह सातकर्णि 'मत्स्य पुराण' की सूची का चाहे तीसरा राजा हो अथवा छठा, यह निष्कर्ष अवश्यंभावी है कि ई० पू० 28 में सुशर्मा की हत्या करने वाला व्यक्ति सिधुक या सिमुक न होकर उसका कोई वंशज रहा होगा।

यहां हम एक सुझाव पेश कर सकते हैं, पर वह भी खतरे से खाली नहीं है। वह सुझाव यह है कि आंध्र सातवाहन राजा जिसने कण्वायनों का उच्छेद किया वह पुलुमावि हो सकता है जो 'मत्स्य' की सूची में पंद्रहवां है, पटिभावि के नाम से वायु की सूची में पांचवा है और पटुमान के नाम से 'विष्णुपुराण' की सूची में नवां है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि 'वायु' और 'मत्स्य' पुराणों में पुलुभावि (प्रथम) के बाद के राजाओं की संख्या, उनके नामों और कुल राज्यकाल के बारे पर्याप्त एकरूपता है। विभिन्न 'पुराणों' में सातवाहन राजाओं की जो सूची दी गई है उसकी तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा कि सातवाहनों में सातकर्णि नाम के बाद पुलुमावि नाम सबसे ज्यादा प्रिय था। 'मत्स्य' में इस नाम के तीन राजाओं का उल्लेख है। 'मत्स्य' के ही इस कथन से पुलुमावि नामक राजा का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है: 'जहां तक आंध्रों का संबंध है वे पुलोमा है अर्थात् पुलुमावि राजा के उत्तराधिकारी हैं।'[18] इस अंतराल कथन का महत्व प्राय: विद्वानों ने पूरी तरह नहीं पहचाना है क्योंकि वे यही सिद्ध करने में जुटे हुए थे कि गौतमीपुत्र सातकर्णि के बेटे पुलुमावि (द्वितीय) के समय में ही सातवाहन आंध्र देश के राजा हुए। सच तो यह प्रतीत होता है कि 'मत्स्य' की सूची के पंद्रहवें राजा पुलुभावि (प्रथम) के समय से ही सातवाहनों का राज्य दकन तक सीमित नहीं रह गया था। जब इस पुलुमावि ने कण्वों का उच्छेद कर दिया तो उसने लंबी डगें भरीं और तेजी से अपने राज्य का विस्तार कर लिया। फिर तो वे सातवाहन एक अखिल भारतीय शक्ति हो गए।

इस प्रकार पुलुमावि (प्रथम) ने जब ई० पू० 28 में मगध में कण्वों का संहार किया तो वह दक्षिणापथ के सातवाहन राज्य का शासक था। 'मत्स्य पुराण' ने इसका राज्यकाय 36 वर्ष बतलाया है। 'वायु' के अनुसार उसने केवल 24 वर्ष राज्य किया। दक्षिणापथ में कुछ वर्षों तक राज्य करने के उपरांत ही वह उत्तर भारत के इस अभियान पर निकला होगा। यदि हम यह मान लें कि उसने पंद्रह वर्ष राज्य करके उत्तर पर चढ़ाई की होगी तो उसके राज्य प्राप्ति की तिथि ई० पू० 43 निकलती है। 'मत्स्य' के अनुसार उसके पहले चौदह आंध्र राजा हो चुके थे और वे सब कुल मिलाकर 228 वर्षों तक राज्य कर चुके थे। इस प्रकार सिमुक ने (43+228) = ई० पू० 271 में राज्य प्राप्त किया होगा।[19] ई० पू० 184 (271–87) में जब पार्जिटर की सूची का छठा राजा सातकर्णि (द्वितीय) सिंहासन पर बैठा तो उससे पूर्व सिमुक और उसके चार उत्तराधिकारी कुल 87 वर्ष तक राज्य कर चुके थे। 'मत्स्य' के अनुसार उसने 56 वर्षों तक अर्थात ई० पू० 184 से 128 तक राज्य किया। इस प्रकार वह कलिंग के महान चेतिराजा खारवेल का समकालीन अवश्य रहा होगा। यद्यपि प्रारंभ में कलिंग का पलड़ा भारी रहा, तथापि सातकर्णि (द्वितीय) काफी समय तक जीवित रहा और उसने समूचे दकन में सातवाहन शक्ति को दुर्जेय बना दिया। इस सातकर्णि के समय से ही सातवाहन भारत के सम्राट बनने के मंसूबे बांधने लगे। इस कार्य का श्रीगणेश अच्छा ही हुआ था तथापि इसकी पूर्णाहुति में पूरे सौ वर्ष लग गए जब पुलुमावि (प्रथम) ने ई० पू० 28 में मगध में कण्वायनों का उच्छेद कर यह पद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त कर लिया।

संदर्भ

1. रा० प्र० चंद : 'मे० ग्रा० स० इं०', सं० i, हे० च० रायचौधरी, 'पो० हि० ऐ० इं०', चतुर्थ सं०, पृ० 337 तथा ग्रागे .
2. रा०प्र० चंद : 'पूर्वोद्धृत' ग्रौर दि० च० सरकार : 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस', पृ० 186 टि० 1 ग्रौर पृ० 206, टि० 1. हाथीगुंफा के ग्रभिलेख की तिथि के बारे में ही मतभेद है। इस लेख की तिथि ई० पू० दूसरी शताब्दी के प्रारंभ से ई० पू० पहली शताब्दी के ग्रंत तक रखते हैं।
3. 'ग्र० हि० द०', पृ० 57-58.
4. इस नाम के ग्रन्य रूप स्वातिकर्ण शांतकर्ण, सातकर्णि, ग्रादि हैं। यहां सातकर्णि नाम का ही प्रयोग किया गया है.
5. 'ग्र० हि० द०', पृ० 59-60. पुलुमायि—पुलुमावि—पुलोमावि—पटिमावि. पुस्तक में पुलुमावि नाम ग्रहण किया गया है.
6. 'जी० डे० मो० गे०', 1902, 1903.
7. 'ज० बि० उ० रि० सो०', xvi, 264.
8. भंडारकर : 'ग्र० हि० द०', पृ० 53-4.
9. वही, पृ० 53.
10. 'हर्षचरित', 'निर्णय सागर सं०', पृ० 199.
11. 'मत्स्यपुराण' में शिशुक नाम ग्राया है. नानाघाट ग्रभिलेख में सिमुक लिखा है. पार्जिटर के मत से 'सिमुक' को गलती से 'सिसुक' पढ़ा गया ग्रौर फिर इसका संस्कृत रूप 'शिशुक' कर दिया गया.
12. 'ग्र० हि० इं०', चतुर्थ सं०, पृ० 216-17.
13. 'ज० बि० उ० रि० सो०', xiii, पृ० 221-47.
14. डा० सरकार : 'सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस', पृ० 187 टि० 2.
15. 'इं० ऐं०' 1919, 214; 'मे० आ० स० इं०', सं० 1.
19. 'ग्रा० स० वे० इं०', v, 73.
17. 'ज० बि० उ० रि० सो०' xiii, पृ० 242.
18. पार्जिटर : 'डाइनेस्टीज', पृ० 58, 'ज० बि० उ० रि० सो०', iii, पृ० 248.
19. सिमुक ने किसी नए राज्य की नींव नहीं डाली. ऐसा लगता है कि उसने ग्रपना राजनीतिक जीवन मौर्यों की सेवा में शुरू किया होगा. उनके नाम के साथ राय या राजा का प्रयोग तो उसके वंशजों ने ग्रपने लेखों में शुरू किया जो राजा के रूप में शासन करते थे. (दे० ग्रागे) ऐसी प्रथा ग्रप्रचलित न थी. गुप्त घटोत्कच्छ मगध के स्थानीय सरदार थे किंतु समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उन्हें महाराजा कहा गया है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर सातवाहन : कालक्रम

पुलुमावि (प्रथम) से गौतमीपुत्र सातकर्णि के बीच काफी बड़ा अंतराल है। गौतमीपुत्र सातकर्णि से आंध्रों के इतिहास के जिस काल का प्रारंभ होता है उसे उत्तर सातवाहनकाल कह सकते हैं। पुलुमावि के राज्यारोहण के वाद सात सातवाहन राजाओं ने कुल मिलाकर 105 वर्षों तक राज्य किया जबकि कालक्रम के हमारे निर्णयानुसार 62 ई० में गौतमीपुत्र सातकर्णि सिंहासन पर बैठा। 'वायु' और 'मत्स्य' दोनों 'पुराणों' के अनुसार उसने 21 वर्ष तक राज्य किया था किंतु अभिलेखों से विदित होता है कि उसने कम से कम 24 वर्ष राज्य किया होगा। इस प्रकार उसके राज्यकाल का अंत कहीं 86 ई० में जाकर हुआ।

किंतु गौतमीपुत्र का राज्यकाल 62 ई० से 86 ई० तक रखना कई प्रचलित स्थापनाओं से मेल नहीं खाता। ई० पू० लगभग 40 से 124 ई० के बीच उसके राज्य की कितनी ही तिथियां बतलाई जाती हैं। इससे यह बात जाहिर हो जाएगी कि आंध्र इतिहास के विद्यार्थियों के लिए उत्तर सातवाहन राजाओं का कालक्रम कितने सिरदर्द का विषय है। सातवाहनों के इतिहास के लिए हम पुराणों पर इतने निर्भर रहे हैं कि उनकी पहचान के लिए भी हमने उन्हीं का सहारा लिया है। अतः कालक्रम के संबंध में उनके प्रमाणों को बिना इस बात की परीक्षा किए कि वे जिस कालक्रम का सुझाव देते हैं वे वह अन्य प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरता हैं या नहीं, यों ही नहीं छोड़ सकते। और पुराणों की सूक्ष्म परीक्षा करने पर यह विदित होगा कि आंध्रों के बारे में उन्होंने जो लिखा है वह सहज ही असंभव नहीं है। श्री गिरींद्र शेखर वसु का कथन है कि '(पुराणों में) किसी भी आंध्र राजा का राज्यकाल बनावटी ढंग से लंबा नहीं दिखाया गया है, और न किसी राजा को किसी ऐसे कार्य का कर्ता कहा गया है जो असंभव हो।'

यद्यपि गौतमीपुत्र के राज्य के प्रारंभ की तिथि के संबंध में काफी अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं तथापि उसका सही सही निर्धारण करने के मार्ग में पदे पदे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बड़े अचरज की बात यह है कि स्वयं गौतमीपुत्र के किसी भी दस्तावेज में इसके बारे में कोई सूचना नहीं मिलती। ध्यान रखने की बात यह भी है कि वह पहला सातवाहन राजा है जिसने अपने नाम से कोई अभिलेख जारी किया था। इस वंश के अन्य अभिलेखों की भांति उसके अभिलेखों में भी उसके राज्यवर्ष का ही उल्लेख है। एक लेख उसके 18वें राज्यवर्ष का है। यह तिथि किस संवत की है इसका कोई उल्लेख नहीं है। इसी से इस अन्वेषण में वह हमारे किसी काम की नहीं है। लेख में किसी समसामयिक गैर सातवाहनवंश या व्यक्ति का भी उल्लेख नहीं है। हां! एक स्थान पर उषभदात (संस्कृत: ऋषभदत्त) का उल्लेख अवश्य आया है।[1] यदि इस उषभदात की पहचान नासिक के लेखों के[2] नहपान क्षत्रप के दामाद से की जाए तो तह लेख में अपवाद होगा। किंतु इस पहचान पर मतभेद है। अतः इस संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।[3]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किंतु स्वयं गौतमीपुत्र सातकर्णि की माता गोतमी बलश्री के नासिक के गुफा लेख में कुछ पारिस्थितिक प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं।[4] यह लेख उसके पौते वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के उन्नीसवें राज्य वर्ष का है। इसमें उसके पुत्र की प्रशस्ति है। इसमें गौतमीपुत्र को शकों, यवनों और पहलवों को जीतने का श्रेय दिया गया है। उसे खखरात (क्षहरात) वंश का नाश करने वाला कहा गया है।

प्राय: निश्चित है कि इन खखरातों में नहपान या उसका कोई उत्तराधिकारी था जो उसके समय से बहुत बाद का न रहा होगा। गौतमीपुत्र की विजयों का उसकी माता ने जो वर्णन किया है उसमें वे प्रदेश भी शामिल हैं जिन पर उससे पूर्व नहपान के दामाद उषभदात और नहपान के मंत्री अयम शासन कर चुके थे। जोगलथंबी में बहुत बड़ी राशि में सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों पर नहपान का नाम अंकित है। इनमें से अधिक सिक्कों पर गौतमीपुत्र की प्रतिछाप लगी है। इससे यही प्रतीत होता है कि उसने नहपान को ही वहां से उखाड़ फेंका था। यदि यह बात निश्चित न भी हो तो इतना तो निश्चित ही है कि गौतमीपुत्र ने उसके उत्तराधिकारियों का स्थान ग्रहण किया था। नहपान की अंतिम ज्ञात तिथि 46 है जो उसके मंत्री अयम के जुन्नार के लेख में मिलती है। किंतु यह 46 की तिथि किस संवत की है इसका उल्लेख उस लेख में नहीं है और न हमें यही ज्ञात है कि नहपान के अंत और गौतमीपुत्र की विजयों के बीच कितने वर्षों का अंतराल है।

'पेरिप्लस' में किसी मंबरीज या नंबनस का उल्लेख है। संभवत: वह नहपान ही था। किंतु इस ग्रंथ की तिथि के बारे में भी अनेक मत हैं और मंबरीज और नहपान की अनन्यता पर भी प्रश्नचिह्न लगा हुआ है।

यदि नहपान की अंतिम तिथि का कोई ऐसा निश्चय हो जाए जिसे वाजिब कहा जा सके तो गौतमीपुत्र के राज्यकाल की प्रारंभिक तिथि की सीमा का निश्चय इस बात से हो जाएगा कि उसने कब खखरातों को उखाड़ फेंका था। किंतु इस संबंध में भी कई कठिनाइयां है। यूनानी भूगोललेखक टालेमी के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जैन का चष्टन पैठन के पुलुमावि का समकालीन था। किंतु चष्टन की भी तिथियों का पता नहीं है। हां! इतना अवश्य है कि उसने 130 ई० से बहुत बाद तक राज्य नहीं किया होगा क्योंकि इसी साल के अंधौ अभिलेख में वह अपने पोते रुद्रदामन के साथ बराबरी के अधिकार से राज्य करता दिखलाया गया है। रैप्सन जैसे विद्वानों का मत है कि चष्टन और रुद्रदामन के राज्यकालों के बीच एक रिक्त अंतराल है। किंतु कई विद्वानों की यह भी राय है कि इन दोनों ने संयुक्त रूप में राज्य किया था।

टालेमी की मृत्यु 161 ई० में हुई। किंतु विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि उसने किन तिथियों या कालों के बारे में लिखा है। यदि उसकी सूचना की तिथि निर्धारित हो जाती तो पुलुमावि के राज्यकाल का निर्धारण करने में विशेष कठिनाई न होती। फिर हम पुलुमावि के राज्य के प्रारंभ की तिथि बतला सकते जो उसके पिता गौतमीपुत्र के राज्य की अंतिम तिथि होती। किंतु भंडारकर पित्रा-पुत्र दोनों, गौतमीपुत्र और पुलुमावि के संयुक्त राज्य की कल्पना करते हैं। यदि उनकी यह स्थापना मान लें तो इससे अनिश्चय और बढ़ जाता है।

अत: उत्तर सातवाहनों का कोई कालक्रम सुझाने से पहले इन सब कठिनाइयों का कोई वाजिब समाधान जरूरी है। हमने गौतमीपुत्र सातकर्णि के बारे में निष्कर्ष निकाला है कि उसने 62 से 86 ई० के बीच राज्य किया। हमारा यह निष्कर्ष सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर आंध्र राजाओं के कालक्रम के निर्धारण में नहपान की ठीक तिथि एक महत्वपूर्ण कड़ी है। किंतु खेद है कि इसके बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। नहपान के दामाद उषभदात के नासिक और कार्ले के अभिलेखों और उसके मंत्री अयम के जुन्नार के अभिलेख की तिथियां किसी संवत के 41 से 46वें वर्ष के बीच की हैं। पश्चिमी क्षत्रपों के सभी लेखों में 'वर्ष' शब्द का साल के अर्थ में प्रयोग हुआ है। जिन लेखों में शक संवत में तिथियां हैं उसमें भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है।[5] अतः रैप्सन के मतानुसार उषभदात और अयम के अभिलेख शक संवत के ही हैं। रैप्सन का कथन है :

"···यह असंभव सा ही प्रतीत होता है कि नहपान ने अंतिम लिखित तिथि वर्ष 46= 124 ई० के बाद भी राज्य किया होगा। गौतमीपुत्र सातकर्णि ने अपने शासन के 18वें वर्ष में नहपान को जीता था। अतः हमें यह समीकरण प्राप्त हो जाता है : गौतमीपुत्र के राज्य का 18वां वर्ष=124 ई० या 124+क ई०। इस समकालीनता, आंध्र राजाओं के लेखों में उल्लिखित उनके राज्यवर्षों, और महाक्षत्रप रुद्रदामन की ज्ञात तिथि, 72=150 ई० पर ही उत्तर आंध्र राजाओं के समूचे कालक्रम की नींव टिकी हुई है।"

मान्यता यह है कि नहपान का जब 124 ई० में गौतमीपुत्र सातकर्णि से सीधा संघर्ष हुआ तो उसके बाद वह अधिक समय तक जीवित नहीं रहा होगा। गौतमीपुत्र की विजय इतनी पूर्ण थी और नहपान के लिए इतनी अनर्थकारी सिद्ध हुई थी कि गौतमीपुत्र की माता ने जो उसे 'खखरातवस निरवसेसकर' कहकर उसकी प्रशंसा की तो उसके कथन में अत्युक्ति न थी। जोगलथंबी के सिक्कों के आधार पर यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि उसने स्वयं ही नहपान का संहार किया था। इस ढेरी के 13,270 सिक्कों में से लगभग 9270 सिक्कों पर गौतमीपुत्र की प्रतिछाप लगी हुई है। किंतु 13,000 से अधिक इन सिक्कों पर नहपान के अतिरिक्त अन्य किसी क्षत्रप का नाम अंकित नहीं है। यदि नहपान और गौतमीपुत्र के बीच दूसरे क्षत्रप हुए होते तो उनके नाम के भी सिक्के मिलते, जैसे नहपान के पूर्व भूमक के सिक्के मिलते हैं। इसलिए नहपान गौतमीपुत्र से बहुत पहले नहीं हुआ होगा। यदि इसे सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता हो तो वे भी नासिक सं० 4 और कार्ले सं० 19 में उपलब्ध हैं। कार्ले के इस लेख में राजा··· (जिसका नाम मिट गया है) के द्वारा भिक्षुओं को करजक नाम के एक गांव के दान का उल्लेख है। किंतु यह गांव वही था जिसे उन्हीं भिक्षुओं को इससे पहले नहपान के दामाद उषभदात ने दान में दिया था।[6] नासिक सं० 4 के लेख में गोवर्धन के मंत्री को आदेश दिया गया है कि वह एक खेत को जो पहले उषभदात का था लेख में उल्लिखित भिक्षुओं के नाम हस्तांतरित कर दें। यह उषभदात संभवतः नहपान का दामाद ही था। इसलिए रैप्सन का कहना है कि गौतमीपुत्र ने नहपान की विजय अपने राज्य के 18वे वर्ष में की थी।[7] जो, जैसा ऊपर बतलाया गया है, 124 ई० की घटना है। इससे गौमतीपुत्र के राज्यारोहण की तिथि 106 ई० सिद्ध होती है।

उपर्युक्त स्थापना की समीक्षा से पूर्व हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि गौतमीपुत्र की विजय का अर्थ खखरात वंश का शब्दशः संहार न था। नहपान का साम्राज्य उन प्रदेशों से कहीं अधिक विस्तृत था जिनपर गौतमीपुत्र ने अधिकार कर लिया था। गोतमी बलश्री के नासिक के लेख में जिन स्थानों के नामोल्लेख हुए हैं उनमें वे स्थान भी शामिल हैं जिनपर नहपान के दामाद उषभदात का राजनीतिक प्रभाव था। वे थे दक्षिण गुजरात, भड़ोच से सोपारा तक, उत्तरी कोंकण और नासिक और पूना के जिले। यद्यपि ये प्रदेश आंध्रों ने जीत लिए थे, पर इनसे उत्तर के प्रदेश तो उनके अधिकार में बने रहे। 'क्योंकि अजमेर में पुष्कर जहां मालवों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर विजय प्राप्त कर उषभदात पूजा के लिए गया था, संभवतः उसके स्वामी (भट्टारक) के राज्य में था।' बलश्री के लेख में भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं हैं जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि गौतमीपुत्र ने स्वयं नहपान का ही संहार किया था। यदि उसने नहपान पर विजय प्राप्त की होती तो एक 'महाराज' की माता और दूसरे 'महाराज' की दादी बलश्री उसके महत्व से अनभिज्ञ न रही होती। अपने समकालीन राजाओं में नहपान का महत्व किसी से कम न था। अतः हम स्मिथ के ही शब्दों में यह कह सकते हैं कि "कोई जरूरी नहीं कि गौतमीपुत्र आंध्रे ने 'स्वयं' नहपान से ही युद्ध किया होगा।"[8]

नासिक के लेख सं० 4 में जो उषभदात नाम आया है उसके संबंध में डा० भंडारकर का कथन है कि यह नाम (उषभदात) बहुप्रचलित नहीं है।[9] इस आधार पर बड़े बड़े अनुमान कर लिए गए हैं। प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि 'खेद की बात है कि अभिलेखों में उषभदात के संबंध में जो भी विचार अब तक हुआ है उसका असर यह हुआ है कि आंध्र कालक्रम की जो काफी मजबूत नींव लगती थी उसी के संबंध में गहरा संदेह उत्पन्न हो गया है। वह आधार था डा० रप्सन का यह समीकरण कि गौतमीपुत्र का 18वां राज्य वर्ष = 46 नहपान + क = 124 ई० + क (कैटलाग xxvii)।[10] इस दस्तावेज (नासिक सं०4) में पश्चिमी कखदि में एक खेत के दान का उल्लेख है। यह खेत उषभदात का था। लेख का वह प्रासंगिक अंश यह है : 'य खेतं अजकालिकियं उषभदातेन भूतम्'। इसमें विवादास्पद किंतु महत्वपूर्ण शब्द 'अजकालिकियं' है जिसे बूहलर और भगवानलाल इंद्रजी 'अद्यकाल' का प्राकृत रूप मानते हैं। ब्यूहलर ने इसका अर्थ यह किया है : 'खेत जो अब तक ऋषभदत्त का था'। सेनार्ट इस बात से इनकार करते हैं कि 'अजकालिकियं' संस्कृत 'अद्यकालिकम्' का अपभ्रंश है। वे इसे उस खेत का ही नाम मानते हैं।[11] भारहुत के एक अभिलेख में अजकालक एक स्थान के नाम के रूप में आया भी है।[12] यद्यपि इस बात की संभावना जरूर है कि यह स्थानवाची शब्द ही हो किंतु प्रो० नीलकंठ शास्त्री यह नहीं मानते कि यह उषभदात जिसका गोवर्धन में सिर्फ एक खेत था नहपान का दामाद उषभदात रहा होगा।[13] उषभदात इतना दुर्लभ नाम नहीं रहा होगा। किंतु इस लेख में ऐसी बात नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि उषभदात का उस गांव में कोई अन्य खेत अथवा सभी खेत नहीं थे। नहपान के समय में तो निस्संदेह ये जिले उसके राज्य में थे। प्रो० शास्त्री ने जो एतराज किया है उसमें उन्होंने दान के प्रसंग की ही उपेक्षा कर दी है। यह खेत पहले उषभदात का था फिर दाता के अधिकार में आया। इसलिए उषभदात के खेतों की सूची पेश करने की उसे कोई जरूरत ही न थी। और न उसके लिए दूसरे भूस्वामियों और उनके खेतों की भी गिनती कराना लाजिमी था। उसका उद्देश्य तो सिर्फ दान में दिए गए खेत का उल्लेख करना था। पर ब्यूहलर और भगवानलाल इंद्रजी के 'अजकाल' और 'अद्यकाल' के समीकरण के संबंध में सेनार्ट का एतराज अधिक गंभीर है। यदि उनका एतराज वाजिब मान लिया जाए तो फिर यह निश्चित नहीं रहता कि गौतमीपुत्र उषभदात के बाद इतने कम समय में उन खेतों का स्वामी बन गया होगा। किंतु यह शब्द 'अद्यकाल' का अपभ्रंश हो सकता है। वैसी परिस्थिति में इस संदर्भ का अर्थ होगा 'खेत जो पहले कभी उषभदात का था' इससे यह अनुमान होता है कि उषभदात और गौतमीपुत्र के बीच कुछ समय अवश्य बीत गया था।

प्रो० रैप्सन की स्थापना का समर्थन न करते हुए स्मिथ का कथन है कि 'जोगलथंबी के 13,000 से अधिक सिक्कों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ये सिक्के कई वर्षों में जारी किए गए थे, यद्यपि उन पर नहपान के नाम की ही छाप चलती रही। स्वयं नहपान उस समय से काफी पहले मर चुका था, जब गौतमीपुत्र ने उसके 'वंश' का नाश किया था'।[13] पं० भगवान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाल इंद्रजी का विश्वास था कि नहपान ने काफी लंबी आयु पाई थी। मृत्यु के समय वह काफी बूढ़ा हो चुका था। ज्यों ज्यों उसकी उम्र ढलती गई सिक्कों पर उसकी आकृति में भी तदनुरूप परिवर्तन होते गए। फादर एच० आर० स्काट ने इन सिक्कों का सबसे गहन और सम्यक अध्ययन किया था।[14] वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि 'मुखाकृतियों में आयु के अनुरूप काफी परिवर्तन हैं। ये परिवर्तन आकृतियों में ही नहीं, दूसरे प्रकार के भी हैं'। उनका सुझाव है कि 'हो सकता है कि ये सभी सिक्के एक ही राजा के न होकर कई राजाओं के हों। वे संभवतः राजा नहपान के बेटे और पोते भी हो सकते हैं जो अपने सिक्कों पर अपने उस महान पूर्वज के सम्मान में उसी का नाम अंकित कराते रहें हों'। फादर स्काट आगे कहते हैं : 'सिक्कों की हालत देखते हुए मैं यही कह सकता हूं कि ये सिक्के प्रतिछाप लगने से काफी पहले और काफी बाद तक चालू रहे होंगे'।

इस प्रकार गौतमीपुत्र और नहपान की समकालीनता का सिद्धांत एक कच्ची नींव पर खड़ा है। अंधौ (कच्छ) के अभिलेखों[15] की खोज के उपरांत तो यह आधार पूरी तरह ढह जाता है। ये अभिलेख 52 (शक संवत) = 130 ई० और रुद्रदामन के समय के हैं। इन अभिलेखों की अनूठी शब्दावली अर्थात 'रनो चष्टनस लसमोटिकपुत्रस रनो रुद्रदामस जयदामपुत्रस वस 52' से यह अनुमान होता है कि चष्टन और रुद्रदामन ने साथ साथ राज किया होगा। डा० रमेशचंद्र मजूमदार के इस सुझाव का समर्थन डा० दे० रा० भंडारकर भी करते हैं।[16] प्रो० राखालदास बनर्जी डा० भंडारकर के इस पहले सुझाव को तो मानते हैं कि लेख में 'पौत्रस्य' शब्द छूट गया है।[17] किंतु वे इस सिद्धांत को अग्राह्य बतलाते हैं कि चष्टन और रुददामन ने संयुक्त रूप में शासन किया था। किंतु जैसा कि डा० गोपालाचारी ने कहा है कि पश्चिमी क्षत्रपों के अन्य लेखों के विपरीत अंधौ के लेख में चष्टन और रुद्रदामन के नाम उनके पिता के नामों के पहले आए हैं।[18] महाक्षत्रप के रूप में पिता और उसके क्षत्रप के रूप में पुत्र के संयुक्त राज्य करने की प्रथा पश्चिम क्षत्रपों में बाद में आई। चष्टन महाक्षत्रप था। उसके पुत्र जयदामन के बारे में हमें यही पता है कि वह क्षत्रप ही था। रुद्रदामन ने 'महाक्षत्रप का नाम स्वयं अधिगत किया था'। जब चष्टन महाक्षत्रप था तो उसके जीवनकाल में ही क्षत्रप के रूप में जयदामन की मृत्यु हो चुकी थी। चष्टन की मृत्यु के बाद (52से72 के बीच) क्षत्रप रुद्रदामन अपनी बारी आने पर महाक्षत्रप बना होगा।[19]

किंतु प्रो० रैप्सन का विश्वास है कि चष्टन और रुद्रदामन के राज्यकालों के बीच एक अंतराल था।[20] इस अंतराल में शायद कोई महाक्षत्रप नहीं था। इसका कारण कोई पराजय रही होगी। बस संभवतः गौतमीपुत्र के हाथों हुई थी। श्री हरिचरण घोष ने उपर्युक्त संयुक्त राज्य के सिद्धांत का कड़ा प्रतिवाद किया है।[21] उनका दृढ़ मत है कि इसका आधार 'प्रमाण रहित और निर्मूल कल्पना है'। उनके मुख्य तर्क ये हैं : 'इसमें इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया गया है कि जयदामन ने एक स्वतंत्र क्षत्रप के रूप में राज्य किया था और इसमें यह भी मान लिया गया है कि वह चष्टन से पहले ही मर चुका था'। अंधौ के अभिलेखों में चष्टन और रुद्रदामन की उपाधियों में कोई अंतर नहीं किया गया है। यदि इन्होंने संयुक्त रूप में भी राज्य किया होगा तो दोनों में से कोई एक तो प्रमुख अवश्य रहा होगा। पुनश्च, रुद्रदामन के गिरनार के अभिलेख (संवत 72 = 150 ई०) में उसकी विजयों में कच्छ की भी गणना की गई है।

'कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि कच्छ चष्टन के राज्य में था। सिक्कों से यह साबित नहीं होता, बल्कि टालेमी का प्रमाण तो स्पष्ट ही इसके विरुद्ध है। टालेमी कच्छ प्रदेश को उसके राज्य में नहीं रखता।···अंधौ के सभी लेख रुद्रदामन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के ही काल के हैं।...अभिलेख यही सिद्ध करते हैं कि 130 ई० के आसपास अकेले रुद्रदामन राज्य कर रहा था। अत: उसके पूर्व उसके पिता जयदामन ने राज्य किया होगा और उससे भी पहले चष्टन ने राज्य किया होगा'।

श्री हरिचरण घोष के इस कथन से लेख की शब्दावली का स्पष्टीकरण नहीं होता : चष्टन और रुद्रदामन के नाम एक ही प्रकार की उपाधियों के साथ क्यों आए हैं ? जयदामन का नाम सिर्फ रुद्रदामन के पिता के रूप में बिना किसी उपाधि के क्यों आया है ? यदि इससे पहले के किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता कि चष्टन कच्छ का शासक था और यदि अभिलेख के अनुसार चष्टन और रुद्रदामन की उपाधियां एकसी हैं तो इसकी व्याख्या बहुत आसान है। रुद्रदामन के प्रयत्नों से कच्छ कुछ ही पहले चष्टन के राज्य में शामिल हुआ था। 'चष्टन संवत 52 (=130 ई०) में जीवत था।' किंतु उस समय वह इतना बूढ़ा और अशक्त हो गया था कि उसने सक्रिय जीवन से प्राय: संन्यास ले लिया होगा। अत: जैसा अंधौ के लेखों से जाहिर होता है कि चष्टन और रुद्रदामन के संयुक्त राज्य का सिद्धांत गलत नहीं है। टालेमी ने चष्टन और पुलुमावि को समकालीन ठहराया है। यह तो सभी मानते हैं कि अंधौ के अभिलेखों की 52 की तिथि शक संवत की है। यदि अयम के जुन्नार के अभिलेख में आई नहपान की अंतिम ज्ञात तिथि भी शक संवत की ही हो तो छ: साल की अत्यंत अल्प अवधि में (1) नहपान के राज्य का अंत, (2) खखरातों का विनाश, (3) गौतमीपुत्र सातकर्णि का शासन और उसकी मृत्यु, (4) उसके पुत्र पुलुमावि का राज्यरोहण, (5) कच्छ और मालवा के बीच के प्रदेशों का चष्टन द्वारा फिर से जीता जाना, और (6) इस पूरे प्रदेश में उसका महाक्षत्रप के रूप में उदित होना, ये सब कार्य नहीं हो सकते।

श्री हरिचरण घोष ने दिखलाया है कि 'एक क्षेत्रीय टकराव है जिसका खुलासा किसी भी प्राक्कल्पना से नहीं हो सकता'[22]—इस टकराव का कारण यह धारणा है कि उषभदात और अयम के वर्ष शक संवत के हैं। नासिक और कार्ले प्रदेश का इतिहास इसका स्पष्ट उदाहरण है।[23] बलश्री के लेख में इन महत्वपूर्ण जिलों का नामत: उल्लेख नहीं है। प्रो० रैप्सन ने इसका स्पष्टीकरण यह कहकर किया है कि इस लेख में जो नाम आए है उनमें गौतमीपुत्र का पूरा राज्य समाहित नहीं है। किंतु इसका इससे बेहतर स्पष्टीकरण यह है कि इस लेख के एक नाम में नासिक और कार्ले के जिले शामिल हैं। वह नाम अपरांत है। मार्कंडेय पुराण में नासिक प्रदेश को अपरांत में रखा गया है। 'सह्याद्रि खंड' में 'अपरांत' का विस्तार गैरकोंकण स्थानों तक है। कान्हेरी (यह स्थान तो अवश्य ही अपरांत में ही था) के एक अभिलेख में दाता को नासिकक बतलाया गया है।[24] अब हम इन प्रदेशों का वर्णन करेंगे। इस संबंध में पृ० 88 पर दी गई तालिका का अध्ययन लाभकर होगा :

अपरांत देश, जिसमें नासिक और कार्ले शामिल थे, 46वें वर्ष तक पश्चिमी क्षत्रपों के शासन में था। उसी साल गौतमीपुत्र ने उसे उनसे छीन लिया। यह गौतमीपुत्र का 18वां वर्ष था। उसने अगले छ: साल जब तक वह जीवित रहा इस पर शासन किया। पुलुमावि का 22वें वर्ष का एक लेख नासिक में मिला है। इसहे यह सिद्ध होता है कि उन प्रदेशों पर उसका शासन बना रहा। 'पुराणों' के अनुसार पुलुमावि के उत्तराधिकारियों ने कुल मिलाकर 14 वर्षों तक राज्य किया था। इनके राज्य में अपरांत भी शामिल था। फिर यज्ञश्री सातकर्णि गद्दी पर बैठा। उसके सातवें वर्ष के लेखों से विदित होता है कि वह नासिक का स्वामी था। इस प्रकार 46 से 101 तक अपरांत आंध्रों के राज्य में था।[25] किंतु रुद्रदामन के वर्ष 72 (=150 ई०) के गिरनार के अभिलेख में उसे अपरांत का स्वामी कहा गया है। एक पहेली यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपस्थित होती है कि यदि उषभदात और अयम के लेख भी उसी (शक) संवत के हैं तो यह कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए जो भी कालक्रम निर्धारित किया जाए उसमें उषभदात और अयम की तिथियों को शक संवत की तिथियां मानने में कठिनाई है।

पुलुमावि के उन्नीसवें वर्ष के बलश्री के नासिक के अभिलेख के अनुसार गौतमीपुत्र का राज्य-विस्तार	72 (=150 ई०) के रुद्रदामन के गिरनार के लेख के अनुसार रुद्रदामन का राज्य विस्तार	वे प्रदेश जो रुद्रदामन ने आंध्रों से जीते	वे प्रदेश जो रुद्रदामन की विजय के बाद भी आंध्रों के अधिकार में बच रहे
असिक, असक, मूलक, सुरठ, कुकुर, अपरांत, अनूप, विदभ, आकर और अवंति, पर्वत विझ, चवट, पारिचात, सह्य, कण्हगिरि, मच, सिरितन, मलय, महिद, सेतगिरि और चकोर	पूर्वी और पश्चिमी आकरावंती, अनूप, अनर्त्त सुराष्ट्र, स्त्रभ्र, मरु, कच्छ, सिंधुसौवीर, कुकुर, अपरांत, निषाद और अन्य प्रदेश	सुरठ, कुकुर अपरांत, अनूप, आकर और अवंति	असिक, असक, मूलक, विदभ और दकन के अन्य भाग

इस प्रकार की योजना के समाधान के लिए दो रास्ते हैं। एक तो यह कि यह माना जाए कि ये तिथियां शक संवत की नहीं हैं। यह स्थापना रखी भी गई है और हम शीघ्र इस पर विचार भी करेंगे। दूसरा समाधान यह है कि यह माना जाए कि गौतमीपुत्र सातकर्णि और उसके पुत्र वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने संयुक्त रूप में राज्य किया होगा। बहुत पहले सर रा० गो० भंडारकर ने यह स्थापना रखी थी, बाद में डा० दे० रा० भंडारकर ने इसका समर्थन कर इसे 1914 और 1918 में दुहराया भी।[26] प्रो० रैप्सन के समीकरण और अभिलेखों के प्रमाण के अनुसार गौतमीपुत्र की अंतिम तिथि 130 ई० (124 ई +क=गौतमीपुत्र का 18वां वर्ष) है जो रुद्रदामन के अंधौ अभिलेख की तिथि है। यदि टालेमी का यह कथन कि चष्टन और पुलुमावि समकालीन थे, सही है—और किसी ने इस पर संदेह भी नहीं किया है—तो प्रो० रैप्सन की योजना में जिसका दृढ़ समर्थन भंडारकर पिता-पुत्र करते हैं, न केवल चष्टन और रुद्रदामन के संयुक्त राज्य आवश्यक हैं अपितु गौतमीपुत्र और पुलुमावि के भी संपुक्त राज्य जरूरी हो जाते हैं। यह बात नोट कर लेने के बाद हम दोनों भंडारकरों के सिद्धांत की समीक्षा प्रारंभ करते हैं।[27]

हम पहले ही देख चुके हैं कि पुराणों में आंध्र राजाओं के कुल राज्यकाल के बारे में जो विसंगतियां हैं उनका समाधान करने के लिए सर रा० गो० भंडारकर ने यह तर्क रखा था कि इसमें जो कम अवधि है वह आंध्रों की मुख्य शाखा की है जिनकी धनकटक राजधानी थी और लंबी अवधि में उन सहायक राजाओं के राज्यकाल भी शामिल हैं जिनकी राजधानी पैठन थी। वे धनकटक का राज्य पाने से पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे। नासिक के अभिलेख सं० 2 में गोतमी बलश्री को महाराज की माता और महाराज की दादी कहा गया है। इन महाराजाओं की पहचान क्रमशः गौतमीपुत्र सातकर्णि तथा वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि से की गई है। नासिक के अभिलेख सं० 3 में गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'धनकटकसमि' कहा गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इससे यह अनुमान होता है कि दोनों पिता-पुत्र एक ही साथ राज्य कर रहे थे। पिता की राजधानी धनकटक थी जिसकी पहचान धरणिकोट से की गई हैं और पुत्र की राजधानी पैठन थी। भंडारकर का तर्क है कि यदि बेटा और पोता दोनों विभिन्न समयों में महाराज हुए होते तो गोतमी बलश्री का सम्मानार्थ कोई 'विशेष दावा' नही बनता था क्योंकि 'शासकवंश की प्रत्येक रानी किसी राजा की माता और किसी राजा की दादी अवश्य होती है'।[28]

प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि नासिक का अभिलेख सं० 5 जिसकी तिथि 24 है, अभिलेख सं० 4 की अगली कड़ी है जो गौतमीपुत्र के 24वें राज्यवर्ष का है। सं० 5 वाले अभिलेख में गोतमी बलश्री को 'जीवसुता' कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय उसका पुत्र जीवित था। किंतु नासिक के अभिलेख सं० 2 के एक परिशिष्ट भाग में जो पुलुमावि के उन्नीसवें वर्ष का है एक ऐसे दान का उल्लेख है जिसका पुण्य पिता को अर्पित है (पितुपनियो)। जैसा कि सेनार्ट ने बतलाया है 'ऐसा पुण्यार्पण तो दिवंगत व्यक्तियों के लिए ही किया जाता है।[29]

सर भंडारकर का तर्क होगा कि 'यदि यह तथ्य है कि जब गुफामंदिर का अर्पण हुआ तो उस समय गौतमीपुत्र जीवित न था और उस समय पुलुमावि का राज्य था, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि उसके लेख में 'उस राजा की तो भूरि भूरि प्रशंसा की जाए जो उन्नीस वर्ष पहले मर चुका था और उस राजा के बारे में चुप्पी साध ली जाए जो उस समय राज्य कर रहा था।' किंतु इस संबंध में प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन यह है कि पुलुमावि की 'प्रशस्ति के लेख में न होने के आधार पर इतने दूरगामी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता कि दोनों राजाओं ने साथ साथ राज्य किया।[30] इससे भी अधिक तर्कसम्मत प्रमाण यह है कि यदि यह सच है कि उस समय गोतमी बलश्री का पुत्र जीवित था जिसकी उसके बेटे ने इतने विस्तार से प्रशंसा की है तो फिर गोतमी बलश्री ने क्यों इस लेख की तिथि अपने पुत्र के राज्यवर्ष में नहीं दी? ये लेख एक ही स्थान के ही नहीं बल्कि एक ही 'लेण' के है। श्री हरिचरण घोष के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन राजाओं के संयुक्त राज्य की कल्पना की गई है उनके नाम कहीं साथ साथ नही मिलते।[31] इसका खुलासा प्रो० दुब्रील के इस कथन से हो सकता है[32] कि मंदिर का काम गौतमीपुत्र के आदेश से शुरू हुआ था और यह लेख 'उसकी शोकसंतप्त माता का अपने बेटे की मृत्यु के बारे में शोकोद्‌गार है।' रानी की गुफा में रहने वाले भिक्षुओं के जीवन यापन के लिए पुलुमावि की चिंता से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि उस समय अकेले वट (पुलुमावि) ही राज्य कर रहा था।

अभी एक और तर्क पर विचार करना शेष रह जाता है। जिसका डा० भंडारकर ने नासिक के अभिलेखों से अनुमान किया है। नासिक सं० 5 में गौतमीपुत्र और उसकी माता के नाम से एक आदेश अंकित है। आदेश यह है 'हमने यहां तिरण्डुगिरि पर पहले इस लेण के निवासियों को कखड़ी गांवों में एक खेत दान दिया था।' लेख 24 वें वर्ष का है। राजमाता ने यही लेण इसी गिरि के भिक्षुओं को पुलुमावि के उन्नीसवें वर्ष में दान में दी थी। अवश्य ही यह दान के पूर्व के क्षेत्र दान से पहले दिया गया होगा। यदि गोतमी इस दूसरे लेख के समय 'जीवसुता' थी तो क्या उससे छः वर्ष पूर्व जब पुलुमावि के उन्नीसवें वर्ष में वह मूल दान दिया गया था तो उस समय उसका बेटा जीवित रहा होगा? डा० भंडारकर एक कदम और आगे बढ़कर कहते हैं कि नासिक सं० 5 का लेख जो 24 वें वर्ष का है जो गौतमीपुत्र के एक दान का लेख है वह गौतमीपुत्र के राज्यकाल का न होकर पुलुमावि के राज्यकाल का है। किंतु जैसा प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि इस तर्क का उत्तर पुरातत्व और वास्तुशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया जाएगा। इसका बड़ा विद्वतापूर्ण विवेचन प्रो० राखाल दास बनर्जी ने किया है।[33] वे कहते हैं :

'वह गुफा जिसे लेख सं० 5 में 'आम्ह धम दाने लेणे' का नाम गौतमीपुत्र सातकर्णि ने दिया है वस्तुत: इस समय की गुफा सं० 3 नहीं है। जिस गुफा के लिए···कहा गया है उसका दान पुलुमावि के 19 वें वर्ष में नहीं किया गया था······लेख सं० 4 और 5 में गौतमीपुत्र के जिन भूमिदानों का उल्लेख है वे बड़ी गुफा जिसका निर्माण उसकी माता ने कराया था (आज की लेण सं० 3) के भिक्षुओं के लिए न थे बल्कि वे लेण सं० 3 के उत्तर पूर्व किनारे पर बनी छोटी गुफा के भिक्षुओं के लिए थे जिन्हें लेख सं० 4 में तेकिरसि भिक्षु कहा गया है।'[34]

गौतमीपुत्र के 18 वें वर्ष में बड़े पैमाने पर गुहावास के निर्माण की योजना बनी किंतु उसका एक भाग ही पूरा हो पाया। छ: साल बाद जब उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था तो उसकी माता ने यह कार्य अपने उपर ले लिया। इस कार्य में काफी समय लग गया और यह कहीं पुलुमावि के 19 वें वर्ष में जाकर पूरा हुआ। फिर उसका महान लेख सं० 2 लिखा गया। उसमें इस प्रकार इस बात का खुलासा हो जाता है कि लेख में गौतमीपुत्र के कार्यों की विशद प्रशस्ति क्यों है और इसकी तिथि पुलुमावि के 19वें वर्ष में क्यों दी गई है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने नासिक के लेखों की तिथि के आधार पर बड़ी सारगर्भित व्याख्या की है। लेखों में जहां भी तिथियां अंत में आई हैं वहां राजादेश के प्रारंभ में 'आनपयति' शब्द आया है। इसके विपरीत उन सभी लेखों में जिनकी तिथियां प्रारंभ में दी गई हैं, आम नागरिकों के दान लिपिबद्ध हैं। अत: पहले प्रकार के लेख उन राजाओं के राज्यकाल के हैं जिन्होंने ये आदेश जारी किए थे: नासिक सं० 4 और 5 पर जो 18 और 24 की तिथियां हैं वे गौतमीपुत्र के राज्यवर्ष की हैं। "वे किसी भी तरह पुलुमावि की नहीं हो सकतीं।"[35] पुलुमावि ने यथासमय अपने पिता का राज्य पाया होगा।

आंध्रों के कालक्रम के बारे में प्रो० रैप्सन ने जो व्यवस्था सुझाई है उसमें गोतमीपुत्र और पुलुमावि के संयुक्त राज्य की प्राक्कलपना जरूरी है। यदि यह प्राक्कल्पना किराधार सिद्ध हो गई तो स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि आखिर उषभदात और अयम के लेखों की तिथियां किस संवत की हैं? यदि वे शक संवत की नहीं हैं और उनसे उत्तर सातवाहनों के बारे में इतनी कम सूचना मिलती है तो क्या इससे पूर्व के सातवाहन इतिहास के अध्ययन में उनका कोई बड़ा महत्व है?

जनरल कनिंघम ने बहुत पहले सुझाया था कि नहपान की तिथियां विक्रम संवत की हैं। इससे नहपान की अंतिम ज्ञात तिथि ई० पू० 12 ठहरती है। फिर तो नहपान और चष्टन के बीच काफी बड़ा अंतराल आ जाएगा जो प्रो० रैप्सन को स्वीकार्य नहीं है।[36] वे नहपान के पूर्व-वर्ती भूमक के सिक्कों के अध्ययन के आधार पर उसे एजीज के समय के काफी नजदीक रखते हैं।[37] रैप्सन नहपान की तिथि को शक संवत की मानते हैं इसलिए उनके सामने नहपान को भूमक से काफी बाद में रखने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। किंतु बाद के अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि रैप्सन के कालक्रम के समर्थक नहपान और एजीज के बीच काल की जितनी दूरी रखते हैं वह दूरी वास्तव में उससे बहुत कम है। प्रो० राखालदास बनर्जी का दृढ़ मत है कि उषभदात के लेख मथुरा के शोडास के संवत 72 के लेख से पहले के हैं।[38] उनके अक्षर इतने पहले के हैं कि 'रूद्रदामन को नहपान से सिर्फ 26 वर्ष पीछे रखना असंभव है।" ब्यूहलर ने 'भारतीय पुरालिपि शास्त्र' में जो कुछ कहा है उससे प्रो० बनर्जी के मत का समर्थन होता है। उनके मतानुसार जब कि गिरनार 'प्रशस्ति' की लिपि परवर्ती दक्षिणी लिपि से मिलती-जुलती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, नासिक के उषभदात के लेख में 'दक्षिणी लिपि की विशिष्टताओं के चिह्न एकदम धुंधले हैं या उनका नितांत अभाव है।' इतना ही नहीं उषभदात के लेख की लिपि गौतमीपुत्र या पुलुमावि के लेखों की लिपि से 'बहुत मिलती जुलती' है।[39] किंतु प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि 'यह समानता अप्रत्याशित नहीं है क्योंकि उस क्षेत्र में सातवाहनों से पूर्व खखरातों का शासन था।"[40] इसलिए उनकी दृष्टि से उषभदात की तिथि शोडास की तिथि अर्थात वर्ष 72 के आस-पास मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

जोगलथंबी में नहपान के जो सिक्के मिले हैं उनसे इस उपस्थापना का निश्चित रूप से समर्थन होता है। पार्थियनों और मथुरा क्षत्रपों हगान और हगामश के सिक्कों की भांति नहपान के सिक्कों पर भी तीर और वज्र के चिह्न अंकित हैं। मथुरा के इन क्षत्रपों और शोडास के बीच सिर्फ एक पीढ़ी अर्थात राजवुल का अंतर है जो शोडास (संवत् 72) का पिता था। इसलिए विसेंट स्मिथ मथुरा के क्षत्रपों और जुन्नार के पश्चिमी क्षत्रपों के बीच निश्चित संबंध मानते हैं।[41] नहपान के सिक्के की भाषालिपियों के सूक्ष्म अध्ययन के उपरांत फादर स्काट ने कहा है कि 'ब्यूहलर के फलकों में ई० पू० 350 से 350 ई० तक की ब्राह्मी लिपि के नमूने दिए हैं।[42] हमारे सिक्कों के अक्षर इस कालावधि के मध्य के हैं।" यदि नहपान को तिथि विक्रम संवत् की है तो उसका समय भी यही होगा। नहपान स्पष्ट ही चष्टन से पहले हुआ था। यदि इसके लिए और तर्क की आवश्यकता है तो उसकी पूर्ति प्रो० दुब्रील ने कर दी है।[43] उनका कहना है कि नहपान के वास्तुक निर्माण काफी पुराने हैं। 'नासिक और कार्ले में नहपान के निर्माणों की वास्तुगत विशेषताएं उन्हें सूची के 'तारणों' की समकालीन बतलाती है।' सर जान मार्शल ने इन्हें ई० पू० पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में रखा है।[44] फर्गुसन और बर्गेसका विश्वास था कि वह नासिक में नहपान ने जो बड़ा सा कक्ष बनवाया था वह भी उसी समय का है।[45] प्रो० स्टेन कोनों ने शोडास के 72 वर्ष को विक्रम संवत कहा है,[46] प्रो० शास्त्री कनिंघम के सुझाव के समर्थक हैं क्योंकि उनकी राय में 'इससे सभी प्रमाणों का सबसे अच्छी तरह से तालमेल बैठ जाता है और इससे सातवाहनों और उनके विदेशी शत्रुओं की कहानी भी समझ में आ जाती है।"[47] श्री वी० एस० बाखले ने भी ऐसे ही तर्क दिए हैं।[48] वे नहपान की सबसे प्राचीन तिथि ई० पू० 17 रखते हैं और क्षत्रपों द्वारा महाराष्ट्र की विजय का समय ई० पू० 25 और 20 के बीच रखते हैं। कनिंघम और प्रो० नीलकंठ शास्त्री की भांति बाखले भी नहपान की तिथि उसी संवत की मानते हैं जिसका प्रारंभ ई० पू० 58 में हुआ था। किंतु उनकी राय में एजीज प्रथम इसका प्रवर्तक था एजीज संवत हो या विक्रम संवत, इसके निष्कर्ष तो स्पष्ट दीखते हैं। यदि रुद्रदामन के अंधौ और गिरनार की 52 और 72 की तिथियां शक संवत की है और यदि गौतमीपुत्र और पुलुमावि की संयुक्त राज्य की कल्पना अग्राह्य है तो नहपान और चष्टन की तिथियां उसी संवत की नहीं हो सकतीं।[49]

श्री हरिचरण घोष ने भी इस बात का पूर्णतः समर्थन किया है कि रैप्सन के कालक्रम को स्वीकार करने में इतनी उलझनें हैं कि वे सुलझाई नहीं जा सकतीं।[50] किंतु वह यह मानने को तैयार नहीं कि नहपान की मृत्यु और गौतमीपुत्र की खखरातों पर विजय के बीच काफी समय गुजर चुका था। अतः उनकी राय में नहपान की तिथियों को विक्रम संवत की तिथियां मानने में इतनी कठिनाइयां आएंगी कि किसी भी उपस्थापना में उनका समाधान संभव न हो सकेगा।

इस तथाकथित कठिनाई को सुलझाने में उन्होंने इस काल के लिए 'पेरिप्लस आफ एरिथ्रियन सी' को प्रमाण माना है। विभिन्न विद्वानों ने इस ग्रंथ के निर्माण के विभिन्न काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बतलाए हैं। मैक्क्रिंडल इसे 80-89 ई०, केनेडी (ज०रा०ए०सो० 1918, पृ० 112) लगभग 70 ई०, शाफ 60 ई० की रचना बतलाते हैं जबकि घोष यह मानते हैं कि यह ग्रंथ 90 ई० में पूरा हुआ था। उनके तर्क ये हैं : (1) 'पेरिप्लस' एक 'समसामयिक' राजा मेलिचाज का उल्लेख करता है जो नेवेती का राजा था। (2) ट्राजन ने यह राज्य 106 ई० में जीत लिया था, (3) किंतु उल्लिखित राजा मलिकु तृतीय रहा होगा रहा होगा जिसने तीस से अधिक वर्षों तक 39 ई० से 70 ई० के बीच राज्य किया था, (4) नेबेती के अभिलेखों की श्रृंखला एकाएक 95 ई० के आसपास समाप्त हो जाती है। इसलिए 'पेरिप्लस' 95 ई० से पहले अर्थात 90 ई० के आस-पास पूर्ण हो चुका होगा।

पर यह भी विचित्र दलील है। यदि 'पेरिप्लस' का मलिचाज सचमुच मलिकु तृतीय है जैसा कि स्वयं श्री घोष कहते हैं तो 'पेरिप्लस' की रचना उसके जीवनकाल में ही होनी चाहिए। उसका शासनकाल 39 से 70 ई० के बीच था। चूंकि श्री घोष इसकी रचना 90 ई० के आसपास रखते हैं और इसके आधार पर यह तर्क देते हैं कि 'नहपान 90 ई० के पहले कभी गद्दी पर बैठा', तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी दृष्टि में नहपान का शासन काल 90 ई० तक हो सकता है। उन्होंने खोज की है कि 'पेरिप्लस' में स्पष्ट लिखा है कि उस समय नहपान राज्य कर रहा था। फिर तो उनके सामने कोई विकल्प ही नहीं रह जाता।[51] किंतु वे ऐसा न कर नहपान का राज्य 70 ई० में ही समाप्त कर देते हैं।[52] 'क्षहरातों की पराजय 96 ई० के आसपास हुई थी। किंतु नहपान ने उससे कुछ साल पहले राज्य किया था और उसके शासन का अंत 70 ई० के आसपास हुआ था।' और भी, 'गौतमीपुत्र ने स्वयं नहपान को नहीं हराया था। विजित क्षत्रप उसका कोई उत्तराधिकारी, संभवतः उसका दामाद उषभदात था।' घोष महाशय की कठिनाई स्पष्ट है। यदि वे नहपान की तिथि 70 ई० के बाद रखते तो फिर वे नहपान के सिक्कों पर की घिसावट जिसे फादर स्काट ने लक्षित किया था उसका कोई स्पष्टीकरण नहीं प्रस्तुत कर पाते। यह घिसावट गौतमीपुत्र की पुनर्छाप से पहले और बाद दोनों की है।

'पेरिप्लस' का इस काल के इतिहासनिर्धारण में क्या महत्व है इस संबंध में कुछ कहना आवश्यक है। मंबरोज (मैक्क्रिंडल) या नंबनस (शाफ) की सही पहचान अब्बे ब्यावर ने पश्चिम क्षत्रप नहपान से की है।[53] किंतु 'पेरिप्लस' का मतलब राजा नहपान से उतना नहीं जितना उसके राज्य से था। इसमें लिखा है 'बरचा की खाड़ी से परे बेरीगाजा की खाड़ी और एरियका के देश का समुद्री तट है जहां से 'नंबनस का राज्य' और शेष भारत 'शुरू होता' है' इस देश का महानगर मिन्नगर है[54] जहां से काफी कपड़ा बेरीगाजा तक आता है।[55] 'अनुच्छेद 48' बेरीगाजा का उल्लेख करते हुए आगे कहता है 'यहां से देश में भीतर की ओर और पूर्व में 'ओजीने का शहर है जो पहले एक राजा की राजधानी था।' इससे विदित होगा कि इसमें इस प्रदेश के किसी राजा का, खासकर नहपान का तो कोई उल्लेख ही नहीं है। इसकी तुलना में 'पेरिप्लस' का ही नेवेती के राजा का वर्णन देखिए : 'अब बेरेनिस की बाईं ओर एक अन्य बंदरगाह और दुर्ग है जिसका नाम ह्वाइट विलेज है, जहां से एक सड़क पेट्रा को जाती है जो 'नेवेती के राजा मेलिचाज के अधीन' है।' इसका अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। 'पेरिप्लस' की जब सन 60 ई० में रचना हुई तो उससे पहले ही नहपान मर चुका था। पर वह इतना प्रसिद्ध राजा था कि लोग उसी के नाम से राज्य का उल्लेख करते थे। यह भी प्रमाण से सिद्ध हो चुका है कि उसकी मृत्यु के काफी बाद तक उसके उत्तराधिकारी उसी के नाम के सिक्के निकालते रहे। इसलिए 'पेरिप्लस' के लेखक को वह प्रदेश 'नहपान के राज्य' के रूप में ज्ञात हुआ तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'पेरिप्लस' में जो भौगोलिक नाम आए हैं उनके आधार पर श्री घोष ने नहपान के राज्य की सीमा निर्धारित की है। इसमें पैठन और तगर को भी शामिल माना है[56] जहां बेरीगाजा से पहुंचने में क्रमशः बीस और तीस दिन लगते थे।[57] किंतु उनका यह अनुमान बेतुका है जिसका समर्थन इस ग्रंथ के किसी भी अंश से नहीं होता। नंबनस के राज्य का वर्णन कर, जिसकी मुख्य मंडी बेरीगाजा थी 'पेरिप्लस' का लेखक बेरीगाजा से पूरब के 'प्रदेशों' के बारे में लिखता है। इस भीतरी भाग को वह दचिनाबेडीज कहता है। यह समुद्र तट से शुरू होकर पूरब को जाता है, इसमें "अनेक मरु प्रदेश और महापर्वत हैं···और अनेक घनी आबादी वाले 'राष्ट्र' हैं जो गंगा तक चले गए हैं।" फिर वह उस बहुत बड़े व्यापार का उल्लेख करता है जो पैठन और तगर से बेरीगाजा के जरिए होता था। ये नगर दचिनाबेडीज के पण्यनगर थे। यह बात 'विशेष महत्व की है।' इन नगरों से चलकर कोई 'विशाल भूभाग से होकर बिना सड़कों के सहारे नहीं पहुंच सकता था।" समुद्री तट पर बेरीगाजा के अतिरिक्त दूसरे बंदरगाह भी थे जैसे 'सुपारा और कैलियना'। किंतु कैलियना 'जेठे सरगनस के समय में वैध मंडी बना, जबसे यह बंदरगाह सैंड-रीज के आधिपत्य में आया है काफी अवरुद्ध हो गया है और यूनानी जहाज जो यहां लंगर डालते हैं उन्हें यदि संयोग हुआ तो गारद के अधीन बेरीगाजा भेजना पड़ता है'।[58] 'इन दोनों सरगनसों या सातर्कणियों की पहचान के बारे में काफी विवाद है। इनमें सैंडरीज निश्चय ही बाद का राजा था।' संभवतः यह 'मत्स्यपुराण' की सूची का 20वां राजा अर्थात सुंदर स्वातिकर्ण था। 'मत्स्य' के अनुसार उसने सिर्फ एक साल राज्य किया था। सैंडरीज अर्थात सुंदर स्वातिकर्ण के शासन काल में क्षत्रप पूरे पश्चिम समुद्र तक पर फैल गए होंगे जिसमें नासिक, कार्ले और जुन्नार के जिले शामिल थे। सुंदर के राज्यारोहण के आध साल के भीतर ही शिवस्वाति सातवाहनों का राजा हुआ। उसने 28 वर्ष तक राज्य किया था। यह इस बात का प्रमाण है कि उसने सातवाहन शक्ति को स्थिरता प्रदान की थी। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसने कल्याण के बंदरगाह को फिर से खोल दिया था। 'पेरिप्लस' से बड़े काम की यह सूचना मिलती है कि सातवाहनों की सीमा से परे कौन सी शक्तियां काम कर रही थीं। यह स्थिति 60 ई० तक बनी रही जब 'पेरिप्लस' की रचना हुई। हो सकता है कि 80 ई० तक यही स्थिति चलती रही हो जब गौतमीपुत्र सातकर्णि ने 80 ई० में सहसा आक्रमण कर खखरातों (क्षहरातों) से वह प्रदेश पुनः जीत लिया। यह घटना इसके राज्य के 18वें वर्ष की है। गौतमीपुत्र 62 ई० में गद्दी पर बैठा था।

श्री हरिचरण घोष ने उत्तर आंध्र युग का कालक्रम नहपान के राज्यवर्षों और उनके संवत के निर्धारण के बिना स्वतंत्र रूप से निश्चित करने का प्रयत्न किया है। अपरांत प्रदेश के इतिहास के अध्ययन के आधार पर उन्होंने एक नया समीकरण सुझाया है जिस पर आदर के साथ विचार करने की आवश्यकता है।[59] इस समीकरण में कुछ समाधान 'पुराणों' और अभि-लेखों के प्रमाण के कारण करने होंगे। किंतु हम यह देखेंगे कि उनका समीकरण रैप्सन की अपेक्षा अधिक ग्राह्य है।

नया समीकरण यह है: 'श्रीयज्ञ का 16वां वर्ष + ख = 153 ई०।' इसका स्पष्टीकरण यह है कि श्रीयज्ञ (या यज्ञश्री) का अपने 16वें वर्ष तक अपरांत पर अधिकार था। यह अनुमान उसके काण्हेरी के लेख से होता है।[60] जो संभवतः उसी प्रदेश में था। वर्ष 72 = 150 ई० की गिरनार की 'प्रशस्ति' में इस प्रदेश का एक भाग रुद्रदामन के अधिकार में बतलाया गया है। अतः यज्ञश्री ने अपने 16वें वर्ष के बाद कभी यह भाग खोया होगा। अर्थात उसने यह भाग वर्ष 16 + ख में खोया होगा (उनकी राय में ख का मान 10 वर्ष से अधिक नहीं है)। अब श्री घोष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की दलील है कि गिरनार लेख की वर्ष 72 की तिथि वह हैं जिसमें सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार हुआ था। किंतु यह लेख उसके बाद खोदा गया, यानी 75 के आसपास; जैसा कि 'लेख की ही सूक्ष्म परीक्षा से प्रकट है।' श्री घोष का कथन है कि 'जाहिर हैं कि रुद्रदामन ने अपनी विजय 75 अर्थात 153 ई० पूर्व पूर्ण कर ली थी।' अतः उनके समीकरण के अनुसार यज्ञ 137 - ख ई० में गद्दी पर बैठा होगा। इसे और भी सरल करते हुए वह कहते हैं कि गौतमीपुत्र सातकर्णि 77 ई० में गद्दी पर बैठा था[61] न कि 106 ई० में जैसा कि रैप्सन के समीकरण से सिद्ध होता है।

श्री हरिचरण घोष ने ऐसा कोई कारण नहीं बतलाया है कि गिरनार के अभिलेख की तिथि बाद में क्यों दी गई। वर्ष 72 (संभवतः शक संवत का) जो लेख में मिलता है इस लेख के लिखने की तिथि नहीं हो तो भी रुद्रदामन की 'प्रशस्ति' में उसके जो कार्य बतलाए गए हैं वे उस वर्ष तक अवश्य पूरे हो चुके होंगे। अतः और कुछ हो या नहीं वर्ष 72 (=150 ई०) से पूर्व रुद्रदामन की विजयें समाप्त हो गई होंगी, उससे बाद में नहीं। इसलिए इस सूत्र में हम पहला संशोधन यह करेंगे।

श्रीयज्ञ का 16वां वर्ष + ख = 150 ई०;

श्रीयज्ञ का पहला वर्ष + ख = 134 ई०

सन 77 ई० के बारे में भी इसी प्रकार के एक संशोधन की आवश्यकता है। इस सन में श्री घोष गौतमीपुत्र का राज्यारोहण मानते हैं। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार गौतमीपुत्र ने 21 वर्ष; पुलुमावि ने 28 वर्ष और शिवश्री और शिवस्कंद में प्रत्येक ने 7 वर्ष राज्य किया था। इस प्रकार गौतमीपुत्र और यज्ञश्री के राज्यारोहणों के बीच 63 वर्ष का अंतर था। किंतु जैसा कि अभिलेखों से विदित होता है कि गौतमीपुत्र 24 वर्ष तक राज्य करता रहा। अतः हमें यह अंतर तीन वर्ष बढ़ाकर 66 वर्ष करना होगा। अतः गौतमीपुत्र के राज्यारोहण की तिथि हमें इस प्रकार रखनी होगी :

गौतमीपुत्र का प्रथम वर्ष = ई० (134 − 66) − ख = 68 ई० − ख

उपर्युक्त संशोधित समीकरण से स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र के राज्यारोहण में 'ख' जोड़ देने से 68 ई० की तिथि मिलती है। इसमें 'ख' का मान अज्ञात है। हमने जिस कालक्रम का सुझाव दिया है उसके अनुसार वह 62 ई० में गद्दी पर बैठा था। इस प्रकार 'ख' का मान 6 वर्ष होता है (यह श्री हरिचरण जी के सुझाए मान से सिर्फ 4 कम है), तथापि, श्री घोष का यह संशोधित समीकरण हमारे उस कालक्रम का पर्याप्त मात्रा में समर्थन करता है जो हमने उत्तर सातवाहन राजाओं के लिए सुझाया है।

किंतु जब श्री घोष अपने समीकरण के समर्थन में टालेमी की रचना को पेश करते हैं तो इससे व्यर्थ की कठिनाई पैदा हो जाती हैं। उनका कथन है कि यह यूनानी भूगोललेखक उनके पक्ष का समर्थन करता है और उन्हें यह सिद्ध करने की कठिनाई से बचा लेता है कि 'चष्टन और रुद्रदामन; तथा गौतमीपुत्र और पुलुमावि ने संयुक्त रूप में राज्य किए थे। रैप्सन के द्वारा निर्धारित कालक्रम को मानने पर इस कठिनाई से बचना कठिन है।' किंतु उन्होंने स्वयं जो दलीलें दी हैं उनको स्वीकार करने पर इस कठिनाई से बचकर नहीं निकला जा सकता। वे टालेमी के प्रमाण के आधार पर यह मानते हैं कि उज्जैन का चष्टन और पैठन का पुलुमावि दोनों एक ही समय में हुए। किंतु वे कहते हैं कि उज्जैन टालेमी के 'लैरिके' का एक हिस्सा था जिसमें बेरीगाजा और नासिक भी शामिल थे; और उनका यह कहना है कि चष्टन इन समस्त प्रदेशों का स्वामी था और जब गौतमीपुत्र अपने राज्यारोहण के 18वें वर्ष में (95 ई० में) दिग्विजय को निकला तो उसने चष्टन और खखरातों से ये सभी प्रदेश जीत लिए थे; और यदि चष्टन कभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नासिक और उसक आसपास के प्रदेश का सम्राट था तो वह गौतमीपुत्र की विजय से पूव, मान लें कि 90 ई० के आसपास ही रहा होगा। अपनी दलील के समर्थन में वे चष्टन के उन चांदी के सिक्कों का प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनपर 'दैत्य' का चिह्न है जो आंध्रों के सिक्कों पर आमतौर पर मिलता है। चष्टन क्षत्रप और महाक्षत्रप दोनों था जबकि उसका बेटा जयदामन मात्र क्षत्रप था और उसके पौते रुद्रदामन ने स्वयं 'महाक्षत्रप का नाम अधिगत किया था'। रैप्सन की भांति घोष भी मानते हैं कि यह अंतराल जिसमें कोई महाक्षत्रप न था 'किसी पराजय की वजह से आया होगा।' वह यह स्वीकार करते हैं कि 'जयदामन की तिथियां सही सही ज्ञात नहीं हैं'। उनके मतानुसार 'वह सन 130 ई० के पहले हुआ होगा जबकि उसका पुत्र गद्दी पर बैठ चुका था। (मिला० अंधौ का अभिलेख)...। यदि उसने और चष्टन ने क्रमशः बीस बीस साल राज्य किया होगा तो चष्टन सन 90 में उज्जैन का राजा हुआ होगा'। श्री घोष के मतानुसार 95 ई० में गौतमीपुत्र ने चष्टन को हराकर उज्जैनी पर अधिकार कर लिया था।

किंतु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि महाक्षत्रप होने के बाद चष्टन का तिरोभाव हुआ था। अंधौ के अभिलेख के अनुसार तो वह 130 ई० में जीवित था इस प्रकार उनकी तर्कश्रृंखला में त्रुटी है। वे पुलुमावि को उसके पिता गौतमीपुत्र सातकर्णि का समकालीन शासक बना देते हैं। इस स्थिति को तो इससे पूर्व वह स्वयं ही अस्वीकृत कर चुके थे।

टालेमी के भूगोल में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो घोष के संशोधित समीकरण के विरुद्ध हो। बल्कि उसमें तो इस नए समीकरण की पुष्टि के लिए काफी मसाला है। टालेमी अपने जीवनकाल में ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। किंतु 'सच तो यह है कि इसके बारे में हमें सही सही कुछ भी ज्ञात नहीं है, सिवाय इसके कि वह ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के आसपास सिकंदरिया में रहता था जबकि वहां ऐंटोनियस पायस राज्य करता था और शायद वह इस राजा की मृत्यु के बाद भी जीवित था।'[62] आम विश्वास यह है कि उसकी मृत्यु 161 ई० में हुई थी। सर रा० गो० भंडारकर उसके विवरणों की तिथि 132 ई० मानते हैं।[63] किंतु उनके समय तक अंधौ का लेख प्रकाश में नहीं आया था। श्री का० प्र० जायसवाल के मतानुसार 'उसके विवरण सन 127 से 151 ई० के बीच के हैं। उसके भूगोल की तिथि 150 ई० अर्थात जूनागढ़ के रुद्रदामन के लेख की तिथि से पहले की, संभवतः 130 ई० अर्थात अंधौ के लेखों की तिथि से भी पहले की होनी चाहिए, जब रुद्रदामन राज्य कर रहा था।[64] टालेमी को रुद्रदामन का शासक के रूप में पता न था।' किंतु अब अंधौ के लेखों का पता मिल जाने पर हमें टालेमी के विवरण की तिथि 130 ई० से और पीछे ठेलकर 110 ई० रखनी होगी। श्री बाखले का कथन है कि 'टालेमी के मामले में 40 वर्ष के अंतर का कोई विशेष महत्व नहीं है।'...'ओलियंपियोडोरस कहता है कि जब सन 147 ई० में टालेमी कैनोपा में था तो 40 वर्ष से भी ज्यादा समय से वह खगोल विषयक प्रेक्षण लिखता रहा था, इस प्रकार टालेमी की कृतियों का समय 104 से 147 ई० के बीच में रखना होगा।'[65] टालेमी के भूगोल का आधार आमतौर पर अन्य नाविकों के विवरण हैं। विशेषकर उसने टायर के मैरिनोस के विवरणों को 'अपने ग्रंथ का आधार' बनाया है।[66] जैसा कि श्री एस० एन० मजूमदार ने लक्षित किया है कि टालेमी अपने ग्रंथ की प्रायः सभी सामग्री के लिए टायर के मैरिनोस का ऋणी है।[67] स्वयं टालेमी ने मैरिनोस के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है। टालेमी ने मैरिनोस के प्रेक्षणों की प्रशंसा की है। वह कहता है कि मैरिनोस प्रमादहीन और अध्यवसायी था तथा प्रमाणों की पुष्टि के लिए सदा तत्पर रहता था। किंतु खेद है कि मैरिनोस का यह ग्रंथ अब लुप्त हो चुका है। पर हमें इतना पता है कि वह 120 ई० के आसपास हुआ था। अतः यदि हम यह कहें कि टालेमी के विवरण ई० 104 से ई० 120 के बीच

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के हैं तो कोई हमें गलत नहीं कहेगा। गौतमीपुत्र की विजयों से चष्टन की शक्ति तिरोहित न हुई थी, न उसके बाद वह पुन: प्रतिष्ठित ही हुई। यह अविच्छिन्न रही होगी जैसाकि नीचे के हमारे काल क्रम से जाहिर होगा :

गौतमीपुत्र सातकर्णि—62-86 ई०
वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि—86-114 ई०
शिवश्री सातकर्णि—114-121 ई०
शिवस्कंद—121-128 ई०
यज्ञश्री सातकर्णि—128-157 ई०

हमारी तालिका के अनुसार 80 ई० में अवंति अपनी राजधानी उज्जैनी के साथ गौतमीपुत्र के अधिकार में आई होगी। गौतमीपुत्र के राज्य का कुछ भाग कब निकल गया होगा, इसका सबसे पहला प्रमाण टालेमी से प्राप्त होता है। टालेमी के अनुसार जब पैठन का राजा पुलुमावि था चष्टन उज्जैनी में राज्य कर रहा था। टालेमी का यह विवरण 104 ई० से 120 ई० के आसपास का है। किंतु जैसा कि हमें पता है कि पुलुमावि की 114 ई० में मृत्यु हो चुकी थी। अत: जैसा कि टालेमी ने लिखा है चष्टन ने उज्जैन की विजय 114 ई० से पूर्व की होगी।

ध्यान देने की बात यह है कि गोतमी बलश्री का वह लेख जिसमें वह अपने दिवंगत पुत्र की अनुपम सफलताओं का गुणगान करती है उसके पोते इसी पुलुमावि के 19 वें राज्यवर्ष अर्थात 105 ई० का है। अत: 105 ई० में सातवाहनों के साम्रज्य की कोई क्षति नहीं हुई थी क्योंकि पुत्र के शोक से माता का हृदय कितना ही संतप्त क्यों न रहा हो वह अपने पौत्र की भावनाओं का तिरस्कार नहीं कर सकती थी। यदि पुलुमावि पिता के साम्राज्य का कुछ भी अंश खो चुका होता तो फिर पिता की प्रशंसा में पुत्र का अपमान निहित था। अपने को 'महाराज माता' और 'महाराजपितामही' कहकर गर्व करनेवाली गोतमी बलश्री अपने पौत्र के प्रति असम्मान की दोषी नहीं बन सकती थी। अत: वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के 19वें वर्ष तक गौतमीपुत्र का राज्य अक्षुण्ण बना रहा। अत: चष्टन ने 105 ई० से 114 ई० के बीच उज्जैनी को जीता होगा। वे टालेमी के कथनानुसार समकालीन अवश्य थे, पर यह काल दस साल से अधिक न रहा होगा।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', viii, नासिक सं०, 4.
2. 'वही', नासिक सं० 10, 11 और 12.
3. दे० आगे.
4. 'ए० इं०', viii, नासिक सं० 2.
5. कीलहार्न, 'इं० ऐं०', xxvi, 153.
6. 'कै० इं० क्वा०', पृ० 27.
7. 'ए० इं०', vii, कार्ले सं० 13.
8. 'अ० हि० इं०', चतुर्थ सं०, पृ० 232.
9. 'इं० ऐं०', 1918 पृ० 73 और सेनार्ट : 'ए० इं०' vii, 56.
10. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 657.
11. 'ए० इं०', viii, पृ० 72.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

12. लुइडर्स नं० 795.
13. विंस्टेंट स्मिथ, 'अ० हि० इं०', चतुर्थ सं०, पृ० 232.
14 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', 1907, पृ० 223 तथा आगे.
15. दे० रा० भंडारकर और रा० दा० बनर्जी द्वारा संपादित, 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', xxxiii, 'ए० इं०', xvi, पृ० 19 तथा आगे; 'ज० रा० ए० सो०', 1917.
16. 'इं० ऐं०', xlvii, 154, टि० 26.
17. 'ए० इं०', xvi, 22-3.
18. 'अ० हि० आं० कं०', पृ० 52
19 प्रो० के० ए० नीलकंठ शास्त्री, 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 660.
20. 'कै० इं० क्वा०' पृ० cxvii, 'इं० ऐं०', 1918, पृ० 154.
21. 'इं० हि० क्वा०' 6, 1930, पृ० 755.
22. एच० सी० घोष, 'इं० हि० क्वा०', 6, पृ० 750 तथा आगे.
23. प्रो० रैप्सन के उ० महाराष्ट्र और अपरांत के इतिहास के संक्षेप के लिए दे० उनका 'कै० इं० क्वा०, पृ० 695 तथा बनर्जी का, 'ज० रा० ए० सो०', 1917 पृ० 276. प्रो० नीलकंठ शास्त्री रैप्सन के मत से सहमत नहीं हैं. दे०, 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 659, टि० 2.
24. लुइडर्स सं० 985; 'इं० हि० क्वा०', 6, 752.
25. जाहिर है कि घोष पुलुमावि का राज्यकाल 22 वर्ष ही रखते हैं. वे नासिक पर आंध्रों के अधिकार की अंतिम तिथि 96 मानते हैं। (यदि प्रारंभ 46 रहा हो).
26. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', 33, 'एपिग्राफिक नोट्स ऐंड क्वेश्चंस', 'इं० ऐं०, 1918, 'दकन इन दि सातवाहन पीरियड'.
27. सर रा० गो० भंडारकर के सामने अंघौ अभिलेख न थे। इनकी खोज उनके बाद हुई जिनका इस्तेमाल दे० रा० भंडारकर ने किया.
28. 'अ० हि० द०', पृ० 32-3 और टि० 17
29. 'ए० इं०', viii, 65.
30. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 647, और भी देखिए रा० दा० बनर्जी, 'ज० रा० ए० सो०', 1917, पृ० 281.
31 'इं० हि० क्वा०'. vii, 1931, पृ० 117.
32. 'ऐं० हि० द०', पृ० 38 तथा आगे.
33. 'ज० रा० ए० सो०', 1917, पृ० 281 तथा आगे,· वही, 1925. इस गुफा के विवरण के लिए दे०, हैवेल, 'ऐं० मि० आ० इं०', पृ० 80-1.
34. 'ज० रा० ए० सो०', 1925, पृ० 7.
35. वही, 1926, पृ० 648-50.
36. वही, 1899, पृ० 365.
37. वही, 1904.
38. 'इं० ऐं०', 1908, पृ० 63.
39. वही, 1904, परिशिष्ट, पृ० 41-43.
40. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 652.
41. 'अ० हि० इं०', चतुर्थ सं०, पृ० 232.
42. वही.
43. 'ऐं० हि० द०', पृ० 21-2.
44 'कै० हि० इं०', 1, पृ० 637.
45. 'के० टे० इं०'.
46. 'ए०इं०' xiv, 137.
47. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 656.
48. वही, पृ० 66-9.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

49. दे०, रा० दा० बनर्जी : 'ज० रा० ए० सो', 1917, पृ० 285. श्री बनर्जी का सुझाव है कि उषवदात और अयम के अभिलेखों की तिथियां नहपान के राज्यवर्ष की हैं. डा० के० गोपालाचारी का कथन है कि इस मत का समर्थन 'नहपान के बहुसंख्य सिक्कों और—'पट्टावलिगाथाओं' और जिनसेन के 'हरिवंश' में सुरक्षित उन परंपराओं से होता है जिनमें नरवाह (नहपान का एक अपभ्रंश) का शासन क्रमशः 40 और 42 साल बतलाया गया है.'—'अ० हि० आ० क०', पृ० 59. का० प्र० जायसवाल का मत था कि नहपान के वर्ष किसी पुराने शक संवत के हैं जिसका प्रारंभ 123 ई० पू० में हुआ था.
50. 'इं० हि० क्वा०' 1930, पृ० 754-55; 1931, पृ० 118 तथा आगे. डा० गोपालाचारी नहपान के वर्ष को शक या विक्रम संवत का वर्ष नहीं मानते. उनका रहस्यमय मत है कि ये तिथियां उस संवत की हो सकती हैं जिसका प्रारंभ ई० पू० की समाप्ति या ईसा की पहली शताब्दी के प्रारंभ के वर्षों में कभी हुआ होगा.' ('अ० हि० आ० क०', पृ० 58).
51. 'इं० हि० क्वा०', 1931, पृ० 122.
52. वही, पृ० 119 तथा आगे. घोष के मत से नहपान की मृत्यु और गौतमीपुत्र के हाथों खखरातों की पराजय के बीच थोड़ा समय ही बीता था. श्काफ की भांति डा० गोपालाचारी भी 'पेरिप्लस' की तिथि 60 ई० रखते हैं. उनका कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि गौतमीपुत्र के राज्यारोहण से 22 साल पहले नहपान राज्य कर रहा था.'—'अ० हि० आ० क०', पृ० 58.
53. 'जर्नल एशियाटिके', 1897 'नहपान एट ल'एरा शक'. श्री का० प्र० जायसवाल, जिन्होंने 'पेरिप्लस' की तिथि 83-84 ई० रखी थी, यह मानते थे कि मंबेरोस मेंदर था। पहली शताब्दी की अंशियल लिपि में इसे आसानी से मंवर पढ़ा जा सकता है. उनके मतानुसार मंबेरुस महेंद्र सातवाहन था जो कि कुंतल सातकर्णि (75-83 ई०) के ठीक पहले हुआ था.—'ज० बि० उ० रि० सो०', xviii, 1932, पृ० 9.
54. बाखले इसकी पहचान जुन्नार से करते हैं. भंडारकर ने इसकी पहचान उज्जैन के पास मंदसौर से की है जो संभव नहीं.
55. 'पेरिप्लस' का विल्फ्रेड एच० श्काफ कृत अनुवाद, पृ० 39, आर्टि० 41.
56. 'इं० हि० क्वा०', 1931, पृ० 119.
57. 'पेरिप्लस', आर्टि० 50-52.
58. वही, आर्टि० 52. बेरीगाजा-भड़ोच; कैलियन-कल्याण.
59. दे० आगे.
60. 'इं० हि० क्वा०', 1930, पृ० 753 तथा आगे.
61. श्री घोष वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के लिए सिर्फ 22 साल रखते हैं.
62. मैक्रिंडल कृत 'एंशियंट इंडिया ऐज़ डेस्क्राइब्ड बाई टालेमी', संपादक : एस० एन० मजूमदार.
63. 'बांबे गजेटियर', 1, खंड ii, पृ० 159.
64. 'ज० बि० उ० रि० सो०', xvi, 1930, पृ० 28, टि० (गिरनार अभिलेख को जूनागढ़ अभिलेख भी कहते हैं.)
65. 'ज० ब० ब्रा० रा० ए० सो०' 3, पृ० 1927, पृ० 78-9.
66. मैक्रिंडल, पूर्वोद्धृत, भूमिका, पृ० 3.
67. वही, संपादक की भूमिका, पृ० 18.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गिरनार के अभिलेख का सातकर्णि

चष्टन ने सातवाहनों से राज्य छीनने की जिस प्रक्रिया का प्रारंभ किया था वह बराबर चलती रही। उनके आक्रमण बढ़ते ही गए। सन 150 ई० में उसका पोता रुद्रदामन इस बात का दावा करता है कि उसने दक्षिणापथपति सातकर्णि को दो-दो बार निर्व्याज हराकर भी उससे अविदूर संबंध होने के कारण उसके शरीर को किसी प्रकार की क्षति न पहुंचाकर छोड़ देने का यश अर्जित किया था। यह सातकर्णि सिर्फ गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि हो सकता है जिसने सन 128 से 157 ई० तक राज्य किया था। किंतु इन दोनों के बीच 'अविदूर' संबंध क्या था, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है। किंतु यह तो निर्विवाद है कि यह संबंध वैवाहिक था जिसका उल्लेख काण्हेरी के एक अभिलेख में आया है।[1] इस लेख में वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि की 'देवी' के अंतरंग मंत्री सतेरुक द्वारा दिए गए एक जलकुंड के दान का उल्लेख है। इस 'देवी' को कर्द्दमक राजवंश में उत्पन्न 'महाक्षत्रप' रु···की कन्या बतलाया गया है। यह रु···रुद्र है। काण्हेरी के अभिलेख के अक्षर गिरनार के अभिलेख के अक्षरों के हूबहू प्रतिरूप हैं। अतः ब्यूहलर और अन्य विद्वानों ने इस रुद्र की पहचान रुद्रदामन से की है।[2]

किंतु काण्हेरी का यह वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि कौन था और यज्ञश्री सातकर्णि से उसके क्या संबंध थे, ये प्रश्न आसानी से नहीं सुलझाए जा सके हैं। प्रो० रैप्सन और स्मिथ ने उसकी पहचान वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि से की है जो ठीक नहीं है। इस वाशिष्ठीपुत्र ने अपने नाम के साथ कभी सातकर्णि जोड़ा हो इसका पता हमें नहीं है। पुलुमावि ने अपने समकालीन चष्टन की परपोती से विवाह किया होगा इसकी संभावना नहीं है। यदि वह रुद्रदामन का दामाद होता तो उससे 'अविदूर' संबंध की बात कैसी ? हम यह तो मान ही सकते हैं कि अंतरंग मंत्री सतेरुक को अपने स्वामी का पता था। यह कैसे हो सकता है कि कर्द्दमकवंश की कन्या वाशिष्ठीपुत्र की पत्नी को अपने पति के नाम की पूरी-पूरी जानकारी न थी।

अतः रुद्रदामन का दामाद वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि पुलुमावि का कोई उत्तराधिकारी अथवा उसके वंश का कोई नजदीकी व्यक्ति रहा होगा। पंडित भगवानलाल इंद्रजी ने नानाघाट में एक अभिलेख की खोज की थी[3] जिसमें राजा का नाम 'चतरपनस' वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि आया है। पं० भगवानलाल और ब्यूहलर का विश्वास था कि यह सातकर्णि ही काण्हेरी के लेख का सातकर्णि है जो रुद्रदामन का दामाद था। पंडितजी के मतानुसार सोपारा में यज्ञश्री का एक सिक्का मिला है जिस पर 'चतरपनस गौतमीपुतकुमारु सिरि सातकर्णि' लेख अंकित है। उन्होंने इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि चतरपन यज्ञश्री का पिता था। रैप्सन लेख के इस पाठ और उसके आधार पर निकाले गए निष्कर्ष दोनों को नहीं मानते।[4] जहां तक नानाघाट के लेख का प्रश्न है वह यह मानते हैं कि 'इस लेख की लिपि के आधार पर पंडितजी ने इसे जिस काल में रखा है वह सही है किंतु यह बतलाना असंभव है कि क्या यह चतरपन सात-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

र्णि किसी ऐसे वंश का था जो अन्यथा अज्ञात है।' प्रो० नीलकंठ शास्त्री मात्र यही सुझाव दे पाए हैं कि गिरनार के लेख का सातकर्णि 'पुलुमावि का उत्तराधिकारी शिवश्री सातकर्णि हो सकता है।[5] कर्द्दमक राजा महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री का पति शिवश्री सातकर्णि का पुत्र या उसका उत्तराधिकारी अर्थात वाशिष्ठीपुत्र श्रीचंद्रसाति हो सकता है।

ऊपर जो कालक्रम सुझाया गया है उससे स्पष्ट है कि गिरनार के लेख में रुद्रदामन जिस सातवाहन राजा को दो-दो बार हराने की बात कहता है वह गौतमीपुत्र यज्ञश्री के अलावा दूसरा कोई नहीं हो सकता। जाहिर है कि वह रुद्रदामन का दामाद न था। उसका दामाद तो वाशिष्ठीपुत्र था। गिरनार के लेख की तिथि 150 ई० है। यह यज्ञश्री के राज्य के 16 वें वर्ष+ख में पड़ती है। कर्द्दमक राजकुमारी रुद्रदामन की कन्या का काण्हेरी के लेख के वाशिष्ठीपुत्र के साथ विवाह उससे पहले अर्थात 128+16=144+ख ई० में हुआ होगा क्योंकि उसके बाद रुद्रदामन के हाथों यज्ञश्री की पराजय और उसके मोक्ष की घटना हुई होगी। किंतु वाशिष्ठीपुत्र चंद्रसाति तो निश्चय ही एक उत्तरकालीन राजा था। यज्ञश्री के उत्तराधिकारियों में उसका दूसरा स्थान था।

गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारियों में यज्ञश्री सातकर्णि के पूर्ववर्ती राजाओं के बारे में पुराणों में सिर्फ दो नामों का उल्लेख है। वे हैं शिवश्री और शिवस्कंद। इनमें से शिवश्री के तो अभिलेख और सिक्के दोनों मिले हैं किंतु शिवस्कंद के बारे में कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि अधिकांश सातवाहन राजाओं के बारे में यही हाल है। किंतु इसमें उनके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जाता।[6] बाखले ने नानाघाट के लेख में चतरपन वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि के बारे में भी यही दलील दी है। यह लेख उसके 13 वें वर्ष का है। उनका कहना है कि 'पुराणों ने संभवतः इस राजा का उल्लेख इसलिए नहीं किया होगा क्योंकि उसका शासन पश्चिम भारत में सीमित था।' बाखले के मतानुसार, शिवश्री सिर्फ आंध्र देश का राजा था। काण्हेरी के वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि से उसका नाम काफी भिन्न है। वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि नाम तो काण्हेरी के लेख के नाम से नितांत अलग है। यज्ञश्री पुलुमावि के तुरंत बाद उसके उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठा था। उसने पूर्वी प्रदेशों के लिए एक उपराजा नियुक्त किया था। वह उपराजा संभवतः शिवश्री था। शिवश्री और शिवस्कंद नाम एक जैसे हैं। उन दोनों ने पुराणों के अनुसार कुल मिलाकर 14 वर्ष राज्य किया था। यही काल वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि का रखना होगा जिसका नानाघाट का लेख उसके राज्य के 16 वें वर्ष का है। सिक्कों पर अंकित शिवश्री नाम के एक ही राजा के पुराणों ने दो नाम दिए हैं। पुराणों में सिर्फ उपराजा का नाम दिया गया है जो आंध्रदेश का शासक था। उनमें असली राजा का नाम नहीं दिया जो महाराष्ट्र का शासक था क्योंकि आंध्रदेश मगध के नजदीक पड़ता था जहां 'पुराणों' की रचना हुई थी। किंतु वास्तविक राजा अर्थात वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि ने क्षत्रपों के विरुद्ध इतनी महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी कि उसकी मृत्यु के बाद रुद्रदामन ने उसके उत्तराधिकारी यज्ञश्री को दो-दो बार युद्ध में हराकर और उससे उसके राज्य का पश्चिमी भाग छीन कर पुराना बदला चुकाया था।[7]

अपनी कोई बात सिद्ध करने के लिए पुराणकारों पर अज्ञानता का दोष लगाना ठीक नहीं। यदि पुराणकारों ने काण्हेरी के लेख वाले वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि का उल्लेख नहीं किया तो इसका कोई समुचित कारण रहा होगा। हम इसका उल्लेख करेंगे। कोई जरूरी नहीं कि काण्हेरी का सातकर्णि सातवाहन की वंशपरंपरा का ही हो। मैं पं० भगवानलाल, डा० ब्यूहलर और बाखले से सहमत हूं कि काण्हेरी का वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि और नानाघाट के लेखों का चतरपन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि एक ही हैं। नानाघाट का लेख उसके तेरहवें वर्ष का है। मैं तो यह भी मानने को तैयार हूं कि काण्हेरी का सातकर्णि उन प्रदेशों का स्वामी रहा होगा जहां ये लेख मिले हैं। पर उसने कब राज्य किया और किस हैसियत से, ये दोनों प्रश्न महत्वपूर्ण हैं और इनके उत्तर के परिणाम दूरगामी होंगे। एक बात निश्चित है और वह यह कि महाक्षत्रप रुद्रदामन के हाथों यज्ञश्री की पराजय के पहले रुद्रदामन और वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि विवाहसंबंध में बंध चुके थे क्योंकि वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि यज्ञश्री की पराजय के बाद भी इन पश्चिमी प्रदेशों का शासक रहा था।

किंतु श्री बाखले का अनुमान यह है कि इस वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि ने स्वतंत्र शासक के रूप में शासन किया और इसका राज्य इतना विस्तृत था कि उसने पूरब में अपने उपराजा की नियुक्ति जरूरी समझी थी। उनके मतानुसार 'पुराणों' का शिवश्री उसका उपराजा था। आशा है कि बाखले ने अपनी यह स्थापना पहले की इस स्थापना के विरुद्ध नहीं पेश की है जिसमें यह माना गया था कि सातवाहनों की राजधानी पूरब में थी और वे पश्चिम में अपने उपराजाओं की नियुक्ति करते थे जिनकी राजधानी पैठन थी। जयदामन ने महाक्षत्रप की उपाधि नहीं धारण की थी। बाखले इससे इस वाशिष्ठीपुत्र की शक्ति की महत्ता का अनुमान करते हैं। उनकी दलील है कि चष्टन उज्जैन, मालवा, काठियावाड़ और गुजरात का शासक था। 'यह प्रदेश पुलुमावि का था जिसने उसे खो दिया था किंतु वह उसे पुनः नहीं जीत पाया था। उसके उत्तराधिकारी वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि ने ये प्रदेश जीत लिए थे।' श्री बाखले ने यह अनुमान किया है कि वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि ने ये प्रदेश जयदामन से जीते थे और जयदामन ने उससे वैवाहिक संबंध स्थापित करके उससे मेल कर लिया था।[8]

श्री बाखले की यह दलील रैप्सन की दलील की ही भांति है, यद्यपि यह एक दूसरे संदर्भ में पेश की गई है। इसमें अंधौ के अभिलेखों के प्रमाण को अनदेखा कर दिया गया है। अंधौ के अभिलेख से विदित होता है कि चष्टन 130 ई० में जीवित था और अपने पोते रुद्रदामन के साथ संयुक्त रूप में शासन कर रहा था। बाखले ने इन राजाओं के लिए जो कालक्रम सुझाया है (चष्टन 86-110 ई०, जयदामन 110-125 ई०, रुद्रदामन 125-50 ई०) उसमें इस बात का ध्यान नहीं रखा गया है कि चष्टन के जीवनकाल में ही उसका पुत्र जयदामन मर चुका था। इसलिए जयदामन के लिए विवाहसंबंध के जरिए मेल करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अपने समकालीन वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि के समय (86-114 ई०) में चष्टन ने उज्जैन के राज्य के परे अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। अतः इस संदिग्ध आधार पर कि चष्टन काठियावाड़ और गुजरात का भी शासक था, इतना बड़ा महल खड़ा करना व्यर्थ प्रयास मात्र है।

किंतु यदि हम अंधौ के लेखों के प्रमाणों का उचित रूप से मूल्यांकन करें तो कठिनाइयां दूर हो जाएंगी। पुलुमावि के शासन के उत्तरार्ध में चष्टन ने उससे उज्जैन छीन लिया था। इसके कुछ समय बाद ही सन 114 ई० में पुलुमावि की मृत्यु हो गई। उसके दो उत्तराधिकारियों, शिवश्री और शिवस्कंद ने सात-सात साल की अल्पावधि तक राज्य किया। संभवतः इन राजाओं में पराक्रम की कमी थी। सातवाहनों की गद्दी की इस स्थिति का लाभ उठाकर चष्टन ने अपने साम्राज्य का विस्तार जारी रखा। उसकी यह नीति काफी सफल रही जैसा कि अंधौ में मिले उसके लेख से ही स्पष्ट है। चष्टन काफी बूढ़ा हो चला था। संभवतः सातवाहनों के विरुद्ध मुहिम में उसका स्थान उसके पुत्र जयदामन ने लिया। हो सकता है कि मालवा, गुजरात और काठियावाड़ के सातवाहन प्रदेशों में किसी संघर्ष में उसकी मृत्यु हो गई हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी मृत्यु के समय वह क्षत्रप मात्र था। जयदामन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रुद्रदामन ने पासा पलट दिया। उसने अपनी विजयों के द्वारा उज्जैन के साम्राज्य का विस्तार मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ तक कर दिया। उसका स्वागत 'महाक्षत्रप' के रूप में हुआ और वह अपने दादा चष्टन के साथ संयुक्त रूप में देश का शासन करने लगा।

सन 128 ई० के आसपास यज्ञश्री सातकर्णि सातवाहनों का राजा हुआ। काठियावाड़ और गुजरात में उसक सिक्के काफी संख्या में मिले अवश्य हैं, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये प्रदेश उसके राज्य में थे। किंतु इतना निश्चित है कि उसके राज्य में लोग पर्याप्त समृद्धिशाली थे और उस समय दूर-दूर के प्रदेशों से उनका व्यापार होता था। वृद्ध चष्टन की सलाह पर, अथवा स्वयं अपनी बुद्धि से ही, रुद्रदामन ने सातवाहनों के घर में भेद पैदा करने की योजना बनाई। उसने वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि से मित्रता स्थापित कर ली। वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि शिवश्री सातकर्णि का भाई रहा होगा। हो सकता है कि उज्जैन के क्षत्रपों से हुए युद्धों में उसने काफी वीरता प्रदर्शित की हो किंतु उसके बाद जब यज्ञश्री को सिंहासन मिला होगा तो उसे पश्चिम में अपनी अपेक्षाकृत महत्वहीन स्थिति से निराशा हुई हो। किंतु सातवाहनों के पुराने शत्रु उज्जैन के क्षत्रपों के परिवार में विवाह करने के कारण वाशिष्ठीपुत्र के लिए सिंहासन पाने के अवसर और क्षीण हो गए होंगे। यदि यह नानाघाट के लेख का वाशिष्ठीपुत्र ही हो तो उसके नाम के आगे 'चतरपन' शब्द से यही पता चलता है कि उस पर क्षत्रपों का रंग काफी गहरा चढ़ चुका था। वह सातवाहनों के वैध राजा का पद पाने की आशा नहीं कर सकता था। वह कभी सातवाहनों का राजा हुआ भी नहीं। इसीलिए 'पुराणों' में उसके नाम का उल्लेख नहीं मिलता। काण्हेरी के अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि उसने क्षत्रपों के प्रभुत्व और प्रभाव के सामने अपने को समर्पित कर दिया था। सभी मानते हैं कि इस लेख की लिपि गिरनार की प्रशस्ति की हूबहू प्रतिकृति है।

गिरनार की प्रशस्ति की भाषा संस्कृत है जबकि उस समय सर्वत्र प्राकृत का वर्चस्व था। किंतु यह लेख भाषा की दृष्टि से प्राकृत के समुद्र में एक टापू के समान ही है। इसका एक दूसरा उदाहरण काण्हेरी का वाशिष्ठीपुत्र का लेख है। अंधौ के लेख की भाषा प्राकृत होने के कारण हम कह सकते हैं कि काण्हेरी का लेख उसके बाद का होगा। जब कुछ तैयारियां कर लेने के बाद रुद्रदामन ने सातवाहनों के विरुद्ध युद्ध किया होगा तो उस समय यज्ञश्री सातकर्णि के राज्य का लगभग सोलहवां साल चल रहा था। उसे दो-दो बार युद्ध में हराकर रुद्रदामन ने जब उससे उसके राज्य के पश्चिमी प्रदेश छीन लिए तो उस समय रुद्रदामन का दामाद—यह वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि—उज्जैनी के एक सामंत की हैसियत से पश्चिम में राज्य कर रहा था। नानाघाट के लेख की तिथि, उसका तेरहवां वर्ष—उसके सद्यःप्राप्त शासन की अवधि का सूचक हो सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं की क्रम संख्या		सातवाहन राजाओं के नाम	राज्यकाल वर्षों में			निर्धारित काल
			वायु	मत्स्य	स्वीकृत	
वायु	**मत्स्य**					ई०पू०
1	1	सिमुक	23	23	23	271-248
2	2	कृष्ण	—	18	18	248-230
	3	सातकर्णि (प्रथम)	—	10	10	230-220
	4	पूर्णोतत्संग	—	18	18	220-202
	5	स्कंदस्तंभि	—	18	18	202-184
3	6	सातकर्णि (द्वितीय)	56	56	56	184-128
	7	लंबोदर	—	18	18	128-110
4	8	अपीलक	12	12	12	110-98
	9	मेघस्वाति	—	18	18	98-80
	10	स्वाति	—	18	18	80-62
	11	स्कंदस्वाति	—	7	7	62-55
	12	मृगेंद्र	—	3	3	55-52
	13	कुंतलस्वाति	—	8	8	52-44
	14	स्वातिकर्ण	—	1	1	44-43
5	15	पुलुमावि (प्रथम)	24	36	24	43-19
6	16	गौरकृष्ण	25	25	25	ई०पू० 19-6 ई०
7	17	हाल	1	5	1	6-7 ई०
8	18	मंदूलक	5	5	5	7-12ई०
9	19	पुरींद्रसेन	21	5	21	12-33ई०
10	20	सुंदर स्वातिकर्णि	1	1	1	33-34ई०
11	21	चकोर स्वातिकर्णि	—	$\frac{1}{3}$	$\frac{1}{2}$	34-34ई०
12	22	शिवस्वाति	28	28	28	34-62ई०
13	23	गौतमीपुत्र सातकर्णि	21	21	24	62-86ई०
	24	पुलुमावि (द्वितीय)	—	28	28	86-114ई०
	25	शिवश्री	—	7	7	114-121ई०
	26	शिवस्कंद	—	7	7	121-128ई०
14	27	यज्ञश्री	29	29	29	128-157ई०
15	28	विजय	6	6	6	157-163ई०
16	29	चंद्रश्री	3	10	3	163-166ई०
17	30	पुलुमावि (तृतीय)	7	7	8[9]	166-174ई०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. लुइडर्स, 994; ब्यूहलर, 'आ० स० वे० इं०', v, पृ० 78, सं० 11.
2. किंतु एस० सी० घोष के मतानुसार 'रु महाक्षत्रप' रुद्रदामन और महाक्षत्रप रुद्रसिंह के लिए हो सकता है—'इं० हि० क्वा०', 1931, पृ० 122.
3. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०', xv, 313.
4. पूर्वोद्धृत, पैरा 50 और 72.
5. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, पृ० 659.
6. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', iii, 80.
7. वही, पृ० 79-84 और पृ० 97-100.
8. वही, पृ० 82 और 89.
9. इस अध्याय में सर्वत्र 'वायु' की राज्य-अवधियों को (यदि वे उपलब्ध रही हैं) स्वीकार किया गया है. सिर्फ गौतमीपुत्र सातकर्णि और पुलुमावि (तृतीय) के बारे में अभिलेख प्रमाणों के आधार पर अपवाद मिलेगा. दूसरे मामलों में 'मत्स्य' की सामग्री का उपयोग किया गया है. कृष्ण के बारे में देखिए, 'सातवाहनों का राजनीतिक इतिहास' शीर्षक लेख का संदर्भ सं० 2.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनों का राजनीतिक इतिहास

सातवाहन शासन का इतिहास लिखने में हमें अनिश्चित और विवादास्पद भूमि से गुजरना पड़ता है। उनका इतिहास प्रायः संभावनाओं का ब्यौरा है। सातवाहनों के इतिहास के लिए आधारसामग्री के रूप में हमें इक्के-दुक्के लेख या सिक्के उपलब्ध हैं, उलझनों से भरी उभरी प्रतिमाएं हैं और संदेहास्पद वास्तुक पंक्तियां हैं, ऐसी समकालीनता है जिस पर विवाद है, पुराणों के वर्णन हैं जिनकी पुष्टि दूसरे स्रोतों से नहीं होती, ऐसे लेख हैं जिनपर कोई तिथि नहीं या फिर तिथि है भी तो वह अपर्याप्त है, इन लेखों के क्रमनिर्धारण में पुरालिपिशास्त्र का ही सहारा है—संक्षेप में सामग्री का यही रूप है जिस पर सातवाहनों का इतिहास आधारित हो सकता है।

आंध्रदेश में सातवाहनवंश के स्वतंत्र राज्य की स्थापना सिमुक ने की थी। उसका इतिहास भी अनिश्चय से ढका है। 'पुराणों' के अनुसार उसने कण्वों का नाश किया था। किंतु हम यह पहले ही बता चुके हैं कि 'पुराणों' का यह कथन स्वीकार्य नहीं है। उसका न तो कोई सिक्का मिला है, न कोई लेख ही। जहां तक किसी अभिलेख में उसके उल्लेख का प्रश्न है इसके लिए हमें नानाघाट के रानी नागनिका के एक लेख का आश्रय लेना पड़ता है जिसमें उसका जिक्र आया है।

'पुराणों' में सिमुक को राजा कहा गया है। नानाघाट के लेख में भी उसे राय सिमुक कहा गया है। उसकी इस उपाधि मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह किसी स्वतंत्र राज्य का स्वामी था। यह अभिलेख काफी बाद का है जब उसका एक वंशज सार्वभौम राजा बन चुका था। पुराण अपने एक समकालीन राजवंश का इतिहास लिख रहे थे। यह वंश उस समय तक काफी प्राचीन हो चुका था जिसका राज्य अविच्छिन्न रूप में चलता आ रहा था। इस वंश का राज्य ई० पू० तीसरी शती से प्रारंभ हुआ था। इस वंश के राजाओं को अपनी प्राचीनता पर गर्व था जो स्वाभाविक ही था। यदि वंश के सभी शासक राजा थे तो पुराणों के लेखक इसके संस्थापक के बारे में यह कैसे लिख सकते थे कि वह राजा से कम था।

सच तो यह है कि सिमुक ने किसी स्वतंत्र राज्य की स्थापना नहीं की थी। वह यह भी नहीं जानता था कि वह किसी महान वंश का आदिपुरुष होनेवाला है। आंध्रों के पास प्राकार-युक्त तीस नगर थे। अतः वे शक्तिशाली सरदार अवश्य रहे होंगे। हो सकता है कि वे एक ही वंश के न होकर कई वंशों के सरदार रहें हों। बिंदुसार ने उन्हें आसानी से मगध के अधीन कर लिया था। सिमुक ने संभवतः इन सभी परिवारों को पहली बार एकत्र किया होगा और उन्हें बाध्य किया होगा कि वे सम्मिलित रूप से उसे अपना एकमात्र नेता मानें। संभवतः ई०पू० 271 के आसपास वह एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। इससे एक साल पूर्व अशोक मौर्य का राज्यारोहण हुआ। यदि बौद्ध प्रमाणों पर विश्वास करें तो अशोक चार साल तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तराधिकार के घमासान युद्ध में फंसा रहा।

इस गृहयुद्ध के अपरिहार्य परिणामस्वरूप उसने कलिंग के विरुद्ध युद्ध किया क्योंकि वह अपने संभावित शत्रुओं और बागियों को भी आतंकित कर देना चाहता था। किंतु कलिंग का युद्ध जहां शक्तिप्रदर्शन की दृष्टि से नितांत सफल रहा, वहीं वह शांति के युग के श्रीगणेश का भी कारण बना। कुछ समय के लिए सिमुक और उसके साथियों को अपनी अर्धस्वतंत्र स्थिति से संतुष्ट रहना पड़ा। अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख में आंध्रों की गणना 'हिंदराजों' में की है। इस लेख में उनको पुश्तैनी भोजों के बाद रखा गया है। यद्यपि अभी यह निश्चय करने का समय नहीं था कि आंध्रों का नेतृत्व सिमुक के परिवार में ही रहेगा या नहीं, तथापि अब आंध्र एक सूत्र में बंध चुके थे और सिमुक उनका नेता था।

सिमुक के हाथ में 23 वर्षों तक शक्ति रही। जैन अनुश्रुतियों में इनके पहले राजा का नाम सातवाहन मिलता है। यदि वह सिमुक परवर्ती जैन अनुश्रुतियों में उल्लिखित प्रथम सातवाहन ही है[1] तो वह अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में जैनधर्म का पोषक रहा होगा। उसे अनेक जैन मंदिरों और चैत्यों के निर्माण का श्रेय दिया गया है। अनुश्रुतियों के अनुसार बाद में वह एक दुष्ट राजा बन गया था। अतः उसे सिंहासन से हाथ धोना पड़ा और उसका वध कर दिया गया।

सिमुक का उत्तराधिकारी उसका भाई कण्ह हुआ।[2] वह मौर्यों की प्रभुता मानता रहा। उसके समय का नासिक का अभिलेख इस तथ्य को भलीभांति उजागर करता है।[3] इसमें एक 'महामात्र' द्वारा एक गुफा के पुर्ननिर्माण का उल्लेख है जिस पर नासिक के श्रमणों का भार था। ये श्रमण प्रायः बौद्ध थे। अपने शासन के 18 वर्षों में 16 वर्ष तक कण्ह अशोक का समकालीन था। अतः अशोक के धम्म के प्रति निरंतर बढ़ते उत्साह से उसका प्रभावित होना अपरिहार्य था। इस गुफा की प्रेरणा अशोक की है जबकि शैली सातवाहन है।[4] नासिक की सातवाहन गुफाओं में यह सबसे प्राचीन है। प्रसंगतया इससे यह भी सिद्ध होता है कि नासिक सातवाहन राज्य के सबसे पश्चिम में था। अशोक की मृत्यु के बाद मगध की राजधानी में जो अस्थिरता आई, उससे कण्ह को मौर्यों की अधीनता का जुआ उतार फेंकने में सहायता मिली होगी। और उसने अपने अधीन प्रदेश को स्वतंत्र घोषित कर दिया होगा।

अशोक की मृत्यु के करीब 6 साल बाद कण्ह की मृत्यु हुई और उसका बेटा सातकर्णि (प्रथम) ई० पू० 230 में उसका उत्तराधिकारी हुआ। 'मत्स्यपुराण' में इस राजा का नाम मल्लकर्णि दिया है। सातवाहन वंश में इसका तीसरा स्थान है। इसने 10 वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद पूर्णोत्संग और स्कंदस्तंभि में प्रत्येक ने अठारह-अठारह साल तक राज्य किया।

ई० पू० 230 से 184 तक के 46 वर्षों के इन तीन राजाओं के काल में सातवाहनराज्य में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। इनकी सीमाओं से परे जो अस्थिरता आ गई थी उसके कारण उस काल में इन्होंने अपने राज्य में ही अपना अधिकार सुदृढ़ करने में अपनी सारी शक्ति लगाई होगी ताकि अशोक के उत्तराधिकारियों की वजह से जो खतरे उत्पन्न हो गए थे, उनकी आंच इनके राज्य पर न आने पाए। आंतरिक विग्रहों और युथीडेमोस के घराने के बैक्ट्रियन राजाओं के विदेशी आक्रमणों के कारण मगध साम्राज्य विघटित हो रहा था। राजकुमारों ने आपस में साम्राज्य का बंटवारा कर लिया था। उज्जैन में संपति का राज्य था और पाटलिपुत्र में दशरथ का। जलौक कश्मीर में राज्य करने लगा था और वीरसेन गंधार में। यहां तक कि ई० पू० 206 में ही अंटियोकस ने सुभागसेन से एक नई संधि कर ली थी। यह सुभागसेन संभवतः वीरसेन के परिवार का था। यह घुसपैठ की शुरुआत थी, यद्यपि इस पर मित्रता का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परदा था। किंतु ई० पू 200 से बैक्ट्रियनों (यूनानियों) के हमले शुरू हो गए। डेमेट्रियस, अपालोडोटस और मेनांडर ने भारत में अपनी विजयों के द्वारा साम्राज्य बना लिए। यह साम्राज्य इस साम्राज्य से इतना समृद्ध और विस्तृत था कि जिसका सिकंदर ने भी कभी सपना न देखा था। इसमें हिंदुकुश से परे के प्रदेश, काबुल की घाटी और पंजाब, सिंधु का डेल्टा और सुराष्ट्र का प्रदेश शामिल था।[5] इन यवन राजाओं के भारतीय राज्य की पूर्वी सीमा बराबर घटती-बढ़ती रहती थी। वे यमुना तक तो पहुंच ही चुके थे। शायद इसके पूरब में भी वे चले गए थे। उन्होंने कितने ही धावे किए। इनके धावे भी थोड़े-थोड़े समय बाद होते रहते थे। 'गार्गी संहिता' के एक अध्याय का नाम 'युगपुराण' है। इसमें 'दुर्विक्रांत यवनों' के पूर्वी हमलों का वर्णन है। इन्होंने साकेत (अवध) और पांचाल देश अर्थात गंगा यमुना के दोआब को जीत लिया था और मथुरा में अपने को सुप्रतिष्ठित कर लिया था।[6] पतंजलि ने लङ् लकार (अनद्यतन भूत) के उदाहरण दिए हैं: 'अरुणत् यवनाः साकेतम्, अरुणत् यवनाः माध्यमिकाम्'—अर्थात, यवन साकेत को घेर रहे थे, यवन माध्यमिका को घेर रहे थे। इससे पता चलता है कि देश उस समय कितनी विकट परिस्थितियों से गुजर रहा था।[7] स्वयं पाटलिपुत्र के लिए खतरा पैदा हो गया था।

इन भयंकर घटनाओं ने भीरु मौर्य राजा बृहद्रथ को भी सोचने के लिए बाध्य कर दिया था कि आखिर इन यवनों से कैसे निपटा जाए। उसने इस संबंध में अपने सैनिकों के निरीक्षण का आयोजन किया ताकि विदेशियों को देश से बाहर खदेड़ने का इंतजाम किया जाए। यह निरीक्षण ही उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। वस्तुतः उस समय मगध को किसी सच्चे योद्धा की आवश्यकता थी। आखिर ई० पू० 185 में पुष्यमित्र शुंग के रूप में वह योद्धा उसे मिल गया जिसने राजा को मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया और शुंगवंश के राज्य की नींव डाली।

पुष्यमित्र ने माध्यमिका पर यूनानियों के आक्रमण रोक दिए। उसने पाटलिपुत्र को आसन्न खतरों से सुरक्षित कर दिया और वह विदेशियों को देश से बाहर खदेड़ने के काम में जुट गया। इस बीच उसे एक अप्रत्याशित दिशा से सहायता मिल गई। वे थे कलिंग के चेति। खारवेल के हाथीगुंफा के अभिलेख में उसके वीरतापूर्ण कार्यों का विवरण है। इसमें लिखा है कि उसने अपने शासन के आठवें वर्ष में यवन दिमित से युद्ध किया। इस बीच यवनों के ही देश में भयंकर युद्ध छिड़ गए। यूथीडेमोस और यूक्रेटाइडीज के घरानों में आपस में ठन गई थी।[8] अपने देश में गृहयुद्ध, यहां खारवेल जैसे महान योद्धा से सामना, जिसमें विजय का कोई निश्चय नहीं। अतः दिमित अर्थात डेमेट्रियस ने युद्ध न कर वापस लौटने का फैसला किया। इस प्रकार भारत पर आई एक महान विपत्ति टल गई।

यह समय आंध्रों की शक्ति के उदय का था। इन परिस्थितियों में अपने राज्य को संगठित कर शक्ति संचय करने के अतिरिक्त वे कुछ नहीं कर सकते थे। बैक्ट्रियनों ने अब तक नदियों के रास्ते ही पकड़े थे और इनसे वे मैदानी इलाकों में ही गए थे। उत्तर में यूनानियों से आंध्रों को अलग करनेवाला प्रदेश कठिन तो अवश्य था किंतु अब वह दुर्लंघ्य न रहा था। यवनों का सुराष्ट्र पर अधिकार हो गया था और सातवाहनों के पश्चिमी प्रदेश की सीमाएं यवनों से अधिक दूर न रहीं। अशोक की मृत्यु के बाद पचास वर्षों तक अपनी उत्तरी और पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा पर ही कण्ह के उत्तराधिकारियों का ध्यान मुख्य रूप से केंद्रित रहा।

सातवाहनों को नए राजा सातकर्णि (द्वितीय) के रूप में उनके हितों का पोषक और रक्षक नेता मिल गया। वह ई० पू० 184 में गद्दी पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने तुरंत अपना ध्यान राज्य की उत्तरी और पश्चिमी सीमाओं की ओर केंद्रित किया। जब कलिंग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के नए राजा खारवेल ने उसकी परवाह किए बिना पश्चिम में अपनी सेनाएं भेज दीं तो उसकी स्थिति विषम हो गई। किंतु उसने अभी युद्ध में न फंसने का ही फैसला किया। संभवतः उसने विचारा होगा कि पूरब की ओर बढ़ते हुए यूनानियों का खारवेल से संघर्ष अवश्यंभावी है और खारवेल ने उसके राज्य पर जो छापा मारा है उससे विचलित होकर उसे पश्चिमी सीमाओं पर से सेना हटाने की आवश्यकता नहीं, जो उसने वहां सीमाओं की सुरक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर खतरे से तुरंत निपटने के लिए स्वयं ही रख छोड़ी थी। उसकी यह आशा शीघ्र ही पूरी हुई। ई० पू० 175 में यूनानी गृहयुद्ध में फंस गए और तब पश्चिम के खतरों से मुक्ति पाकर सातकर्णि ने अपनी दिग्विजय प्रारंभ कर दी। जिस प्रकार पुष्यमित्र ने अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए थे और खारवेल ने भी राजसूय यज्ञ किया था, उसी तरह सातकर्णि ने भी अनेक यज्ञ किए।

पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा में उसकी पश्चिमी प्रदेश के अंगियवंश से मैत्री बड़ी लाभप्रद सिद्ध हुई। नानाघाट के अपने लेख में सातकर्णि की पत्नी नागनिका अपने को 'अंगिय-कुलवर्धन' महारठी की 'बाला' कहती है। नानाघाट गुफा के आकृति गढ़त (फिगर लेविल) लेखों का महारठी त्रनकयिरो ही वह महारठी था। इस विवाह से सातकर्णि की सुरक्षा और शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। अब उसने कलिंग के राजा से बदला लेने की तैयारी शुरू कर दी।

इस बीच पूर्वी प्रदेश में कई घटनाएं घटित हो रही थीं। ई० पू० 175 में जब खारवेल ने यूनानियों की सेना के विरुद्ध सफलता पाई और वे उससे डरकर मथुरा से भाग गए तो उसने राजगृह पर चढ़ाई कर दी।[9] बात यहीं खत्म नहीं हुई, क्योंकि अपने 12 वें राज्यवर्ष अर्थात ई० पू० 171 के आसपास उसने मगधों पर हमला कर उन्हें भयभीत किया।[10] इस अभियान में उसने मगध के राजा वृहस्पतिमित्र को हराया। यह हबृस्पतिमित्र स्पष्ट ही पुष्यमित्र शुंग था।[11]

खारवेल ने मगध पर जो धावे बोले थे, उसके पीछे मगध के कलिंग पर किए गए आक्रमणों का बदला चुकाने का भाव था। संभवतः पुष्यमित्र ने भी इसका जवाब दिया। किंतु फिर पुष्यमित्र और खारवेल के किसी युद्ध का वर्णन नहीं मिलता। खारवेल के बारे में हमें सिर्फ इतना ही मालूम है कि वह नौ वर्षों तक युवराज रहा, राजगद्दी पर बैठने के समय उसकी उम्र 24 वर्ष थी। राजा के रूप में उसने तेरह वर्ष तक राज्य किया। मगध विजय के एक या दो वर्ष बाद संभवतः ई० पू० 169 में उसकी मृत्यु हो गई।

अब पुष्यमित्र के लिए मैदान साफ था। यूनानी बहुत दूर चले गए थे। कलिंग के राजा की मृत्यु हो चुकी थी। और मौर्य 'सचिव', जो उसका 'प्रकृत्या मित्र' (स्वाभाविक शत्रु) था, शाही जेल में कैद था। उसके एक संबंधी यज्ञसेन ने अराजकता का लाभ उठाकर विदर्भ में अपने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। किंतु विदिशा के उपराजा, पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र, ने थोड़े ही समय में विदर्भ की स्वतंत्रता को कुचल दिया क्योंकि विदर्भ को अपने पांव जमाने के लिए पूरा समय नहीं मिल पाया था। वह नए रोपे पौधे की तरह था जिसकी जड़ें अभी कमजोर थीं।[12] अग्निमित्र और उसके चचेरे भाई वीरसेन ने विदर्भ को आपस में बांट लिया। वरदा नदी उन दोनों राज्यों के बीच सीमा बन गई।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में इस प्रदेश में अग्निमित्र के क्रियाकलापों का वर्णन किया है। इस नाटक में सिंधु के तट पर शुंग राजकुमार वसुमित्र और यवनों के संघर्ष का वर्णन है। यह यवन राजा कौन था, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया है। किंतु इतना तो निश्चित है कि वह कोई बैक्ट्रियन ही रहा होगा। युद्ध का कारण यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था कि 'अश्वमेध' के लिए पुष्यमित्र ने अपना जो घोड़ा छोड़ा था उसे यवन राजा ने रोक लिया था । इस युद्ध में विजय के उपरांत पुष्यमित्र चिरोत्सन्न 'अश्वमेध' और 'राजसूय' यज्ञ करने का अधिकारी हो गया था । उसने दो बार 'अश्वमेध' किए । 'उत्तर हरिवंश' के अनुसार जनमजय के उपरांत पुष्यमित्र शुंग ने ही 'अश्वमेध' किया था ।[13]

विदर्भ से पुष्यमित्र के युद्ध का समय खारवेल की मृत्यु के बाद (लगभग 169 ई० पू०) में रखना होगा । राज्य पाने के बाद के कुछ वर्षों में इस प्रकार के युद्ध की संभावना न थी । शुंगक्रांति और मौर्यसचिव के बंदी होने के बाद ही विदर्भ ने अपनी स्वतंत्रता घोषित की होगी । विदर्भ कुछ वर्ष तक अवश्य स्वतंत्र रहा होगा । 'अचिराधिष्ठित' में अचिर की सिद्धि के लिए भी कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे । उसके कुछ समय बाद ही ई० पू० 175 और 171 में खारवेल के मगध पर आक्रमण हुए । ये राजनीतिक घटनाएं तेजी से घटी होंगी । इस अवधि में विदर्भ से शुंगों के युद्ध और अग्निमित्र और उसके चचेरे भाई वीरसेन के बीच बंटवारे की घटनाएं नहीं रखी जा सकतीं । इन्हें ई० पू० 168 के आसपास की घटनाएं मानना होगा । यद्यपि विदर्भ में शुंगों को विजय तो अवश्य मिली किंतु इसके जो परिणाम हुए वे पुष्यमित्र की इच्छा के अनुकूल न थे । अपनी विजयों के उपलक्ष्य में वह अवश्मेध पूरा भी न कर पाया था कि उसे यज्ञसेन से भी शक्तिशाली एक शत्रु का सामना करना पड़ा । जैसा कि प्रो० रैप्सन ने कहा है : इस काल के सामान्य इतिहास से जो भी पता चलता है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विदर्भ की विजय के बाद शुंगों का आंध्रों से टकराव हुआ होगा—यह उस कहानी का एक अंग है जिसका अंत आंध्रों की विजय में हुआ ।[14]

खारवेल की मृत्यु के बाद कलिंग की शक्ति जितनी तेजी से उठी थी उतनी ही तेजी से तिरोहित भी हो गई । स्वर्गपुरी के गुफालेख में उसकी अग्रमहिषी हथिसिह के प्रपौत्र 'राजन' लालक की पुत्री के द्वारा एक गुफा के निर्माण का उल्लेख है ।[15] इन व्यक्तियों के बारे में इससे ज्यादा कोई जानकारी प्राप्त नहीं है । कुछ महत्व की सूचना मंचपुरी के अभिलेख से अवश्य मिलती है । इसमें कलिंग के एक राजा का उल्लेख है जिसका नाम कुदेपसिरि दिया है । यह राजा अपने को ऐर, महाराज, महामेघवाहन कहता है । इसी गुफा के एक भाग में कुमार वडूख का भी उल्लेख है ।[16] कुदेपसरि ने वे सभी उपाधियां तो अवश्य धारण कर ली थीं जिनका वास्तविक अधिकारी खारवेल था, किंतु ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि उसने कोई महत्वपूर्ण कार्य भी किया था । यदि उसके नाम का कोई महत्व है तो वह यही हो सकता है कि उस समय कलिंग पर सातवाहनों का काफी प्रभाव पड़ चुका था । श्री राखालदास बनर्जी का कहना है : 'कुदेपसिरि के बाद कलिंग के इतिहास पर अंधकार का परदा फिर से गिर जाता है और अधिक संभावना यह है कि सातवाहनों ने ई० पू० पहली शती में मगध की विजय से पहले उसे भी जीत लिया था ।'[17]

अपने शासन के पहले बीस वर्षों में सातकर्णि (द्वितीय) एक संबुद्ध दर्शक मात्र न था । इस बीच वह अपनी ताकत बढ़ाता रहा होगा । उसके सिक्कों के अध्ययन से प्रकट होता है कि उसने पश्चिमी मालवा पर अधिकार कर लिया था । ये सिक्के 'हमेशा गोल आकार के मिलते हैं जबकि एरण और बेसनगर के सिक्के प्रायः चौकोर हैं ।' जनरल कनिंघम के इस अवेक्षण के अनुरूप प्रो० रैप्सन ने इस वंश के सबसे पुराने सिक्कों को, जिनपर 'रञो सिरि सातस' लेख मिलता है, पूर्व मालवा की अपेक्षा पश्चिम मालवा का बतलाया है ।[18] आकर और अवंति, जिनकी राजधानियां कमशः भिलसा और उज्जैन में थीं, 'आमतौर पर स्वतंत्र राज्य' थे । शुंगों या कण्वों ने अवंति अर्थात पश्चिम मालवा पर शायद कभी भी राज्य नहीं किया था । प्रो० रैप्सन इन सिक्कों के 'रञो सिरि सातस' अक्षरों और नानाघाट के उभरे लेख 'देवि नायनिकाय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रञो च सिरि सातकनिनो' के अक्षरो में स्पष्ट समानता देखकर कहते हैं : 'इसका खुलासा सिवाय यह मानने के, कि ये दोनों लेख एक ही काल के और एक ही राजा के हैं, और किसी बात से हो ही नहीं सकता ।'

अवंति की विजय और कलिंग को अपने अधिकारक्षेत्र में ले लेने के बाद सातकर्णि (द्वितीय) ने पूर्वी मालवा को भी अपने साम्राज्य में मिला लेने का निश्चय किया । यह बतलाना कठिन है कि यह घटना किस सन की है । उसने 56 वर्ष राज्य किया था । उसका राज्यकाल पूरे वंश में सबसे लंबा था । इस लंबी अवधि का अपना ही महत्व है । सातकर्णि पुष्यमित्र शुंग के ठीक एक साल बाद गद्दी पर बैठा था और उसकी मृत्यु के बाद भी उन्नीस वर्षों तक जीवित रहा । उसका राज्यकाल ई० पू० 128 में समाप्त हुआ । पूर्वी मालवा की विजय का प्रयत्न उसने पुष्यमित्र शुंग के शासन के अंतिम अथवा अग्निमित्र के शासन के प्रारंभिक वर्षों में किया होगा । मेनांडर ने शायद पुष्यमित्र के जीवनकाल में ही साकल को जीत लिया था ।[19] पूर्वी मालवा के शुंग उपराजा के इलाके में सातवाहनों की घुसपैठ भी संभवतः उसी के आसपास शुरू हुई होगी । पुष्यमित्र की ही भांति सातकर्णि (द्वितीय) ने भी एक राजसूय और दो अश्वमेध किए थे । उसके ये अश्वमेध पुष्यमित्र अथवा उसकी सेनाओं पर उसकी विजय के उपलक्ष में हुए होंगे । उस समय संभवतः पुष्यमित्र जीवित था और मगध पर शासन कर रहा था ।

सातकर्णि को पूर्वी मालवा में कितनी सफलता मिली, इसका पता उसके सिक्कों से और एक लेख से मिलता है जो सांची के तोरण पर लिखा है । पश्चिम भारत में पोटीन और तांबे के कुछ सिक्कों पर 'रञो सातकणिस' लेख खुदा है । ये चौकोर हैं और एरण (पूर्वी मालवा) के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं ।[20] भिलसा स्तूप का लेख सांची के दक्षिणी तोरण पर खुदा है । इसमें किसी वाशिष्ठीपुत्र आनंद के दान का उल्लेख है । यह सिरि सातकणि के कारीगरों का मुखिया था । डा० ब्यूहलर और कनिंघम का मत है कि इस लेख का सातकणि और नानाघाट के लेख का सातकर्णि दोनों एक ही हैं ।[21] श्री रामप्रसाद चंद ने इस संबंध में ब्यूहलर के पुरालिपिक प्रमाण पर शंका व्यक्त की है । जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं[22] कि मात्र पुरालिपिक प्रमाणों के आधार पर पूर्वापर संबंध निर्धारित नहीं किया जा सकता, तथापि श्री चंद महाशय इस लेख के सातकणि की पहचान मत्स्यपुराण की सूची के उस सातकर्णि से करने के पक्ष में हैं जो सूची में छठे स्थान पर है । वह तो सातकर्णि द्वितीय ही है ।[23] 'सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि उत्तर-पूरब में पूर्वी मालवा तक ही आंध्र साम्राज्य का विस्तार हुआ था ।'[24]

सातकर्णि (द्वितीय) ने अब अपनी इस सफलता से प्रेरित होकर अनेक वैदिक यज्ञ किए । रानी नागनिका के नानाघाट के लेख में उसके द्वारा अश्वमेध, राजसूय, अग्न्याधेय आदि अनेक यज्ञों के करने का उल्लेख है । लेख की शब्दावली 'यनेहि यिथम्' (यज्ञ किए गए) से अनुमान होता है कि लेख खुदवाने के समय राजा सातकर्णि जीवित न था और कि उसकी पत्नी अपने पति के जीवनकाल में हुए महान ब्राह्मण पुनरुत्थान का उल्लेख कर रही है जिसमें उसने स्वयं भाग लिया था ।

वस्तुतः सातकर्णि (द्वितीय) का शासनकाल अथ से इति तक सफल रहा । वह सातवाहनों के ही नहीं अपितु सारे भारत के इतिहास में उस समय गद्दी पर बैठा था जो बड़ा नाजुक और महत्व का समय था । यद्यपि यह युग ही विजेताओं का था तथापि वह उस युग में भी एक महान विजेता था । डेमेट्रियस, खारवेल, पुष्यमित्र जैसे महान विजेता उस युग में वर्तमान थे जब सातकर्णि ने अपने लिए एक साम्राज्य के निर्माण का यत्न किया । जैसा कि नानाघाट के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेख में लिखा है वह 'वीर', 'शूर', 'अप्रतिहतचक्र' और 'दक्षिणापथपति' था। मालवा का राज्य, जिसमें उसके पूर्वी भाग शामिल थे, दक्षिणापथ और कलिंग सबने उसकी प्रभुसत्ता मानी। उसने सातवाहनों की नौका बड़ी कुशलता से किनारे लगाई। अब मगध का साम्राज्य उसकी पहुंच में आ गया था।

किंतु यदि ऐसे मंसूबे सातवाहन सैनिकों ने कभी बांधे भी हों तो ई० पू० 128 में सातकर्णि की मृत्यु से वे धूल में मिल गए। उसकी चमत्कारिक सफलताओं से उसके उत्तराधिकारियों ने कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की। वे मगध की ओर न बढ़कर अपने घरों को लौट आए। एक पूरी शताब्दी के बाद जो अवसर हाथ आया था उसको उन्होंने खो दिया। सातकर्णि की मृत्यु के कहीं सौ साल बाद उसके एक उत्तराधिकारी ने अपने महान पूर्वज के चरणचिह्नों पर चलने की कोशिश अवश्य की।

नानाघाट के लेख की नागनिका सातकर्णि (द्वितीय) की पत्नी और वेदिसिरि और सतिसिरि की माता थी। ब्यूहलर और रैप्सन बताते हैं कि उसने अपने पुत्र वेदिसिरि की अल्पवयस्कता की अवधि में उसकी अभिभाविका के रूप में शासन किया था। यदि हम यह मान भी लें तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसके किसी पुत्र ने सातवाहनों के सिंहासन को कभी सुशोभित किया था। पुलुमावि (प्रथम) से पूर्व सातकर्णि (द्वितीय) के आठ उत्तराधिकारी हुए थे किंतु 'वायुपुराण' उनमें से सिर्फ एक अपीलक ही का नाम लेता है। वह लंबोदर का पुत्र था और उसने 12 वर्ष राज्य किया था। इस राजा का एक सिक्का मध्यप्रदेश में मिला है। इस पर अंकित लेख से विदित होता है कि अपीलक अपने नाम के आगे 'शिव और श्री' दोनों शब्दों का प्रयोग करता था। उसके राज्यकाल (ई० पू० 110-98) की समाप्ति के साथ ही सातवाहन साम्राज्य क्षीण होने लगा और अंततोगत्वा वह सिमटकर पुनः दकन का ही एक राज्य रह गया।

यह बतलाना कठिन है कि सातवाहनों ने अपने उत्तरी प्रदेश कब खोए। भिलसा के पास बेसनगर में एक अभिलेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि तक्षशिला के निवासी डिओ के पुत्र हेलियोडोरस नाम के एक यवन ने भगवान वासुदेव को एक पाषाण का गरुड़ध्वज अर्पित किया था।[26] वह महान राजा अंटियालकिडस की ओर से राजा काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में दूत था। उस समय इस राजा के शासन का चौदहवां वर्ष चल रहा था। इस लेख से जहां तक्षशिला और विदिशा के बीच दौत्य संबंध का पता चलता है वहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक विदिशा सातवाहनसाम्राज्य से अलग हो चुकी थी। लेख से यह नहीं पता चलता कि यह घटना कब हुई। किंतु इतना तो जाहिर है कि इससे लाभ राजा काशीपुत्र भद्र का हुआ था और वह चौदह साल से राजा था जब हेलियोडोरस उसके दरबार में दूत था।

सर जान मार्शल ने इस काशीपुत्र की पहचान पांचवें शुंग राजा से की है जिसे 'भागवत पुराण' में भद्रक, 'विष्णु' में आर्द्रक, और ओद्रक 'वायु' में आंध्रक और 'मत्स्य' में अंतक कहा गया है।[27] जायसवाल और प्रो० रैप्सन उसे 'पुराणों' का 'भाग' या 'भागवत' मानते हैं जो शुंगों के अंतिम राजा से ठीक पहले हुआ था।[28] श्री हेमचंद्र रायचौधरी का विश्वास है कि 'मार्शल की राय के सही होने की संभावना अधिक है।'[29] उनकी दलील है कि 'एक दूसरा गरुड़ध्वज स्तंभलेख (जो महाराज भागवत के शासन के बारहवें वर्ष का है) भी मिला है—जिससे यह सिद्ध होता है कि विदिशा में काशीपुत्र भागभद्र से एकदम भिन्न भागवत नाम का भी एक राजा हुआ था।'

किंतु मार्शल ने 'पुराणों' में दी गई पांचवें शुंगराजा की शासनावधि की उपेक्षा कर दी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। 'पुराणों' में इसका दो या सात साल का राज्य बतलाया गया है। यह लेख राजा के 14वें वर्ष का है अतः उसकी पांचवें शुंग राजा से पहचान की संभावना खत्म हो जाती है। रायचौधरी ने जिस दूसरे लेख का हवाला दिया है उससे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि विदिशा में प्रायः एक ही समय में दो-दो राजाओं ने राज्य किया होगा। अतः बेसनगर के लेखों के महाराज भागवत और भागभद्र एक ही हैं, इस संभावना के विरुद्ध कोई बात नहीं है।

अतः 'पुराणों' में जिस अंतिम शुंगराजा के ठीक पहले जिस भाग अथवा भागवत नामक राजा का उल्लेख है वह निस्संदेह भागभद्र था जिसके विदिशा में राज्य का उस समय चौदहवां साल चल रहा था। उसने 32 वर्षों तक अर्थात ई० पू० 115 से 83 तक राज्य किया था। उसके बाद 10 वर्षों तक ही शुंगवंश का शासन चला जब कण्वों ने ई० पू० 74 में गद्दी हथिया ली। अतः भागभद्र के दरबार में हेलियोडोरस लगभग ई० पू० 10 में दूत रहा होगा। इसमें एक साल आगे या पीछे होने की भी गुंजाइश है। अपीलक ने ई० पू० 98 तक राज्य किया था। अतः भाग शुंग का समकालीन सातवाहन राजा वही रहा होगा। इस प्रकार उसी के शासन काल में सातवाहनों ने अपने उत्तरी प्रदेश खोए होंगे जिन्हें सातकर्णि (द्वितीय) ने जीता था।

अपीलक की मृत्यु और ई० पू० 43 में पुलुमावि (प्रथम) के राज्यारोहण के बीच छः सातवाहन राजा हुए थे। 45 वर्ष की इस अवधि में उन्होंने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किए। उन्होंने कोई ऐसा काम भी नहीं किया जिससे 'वायुपुराण' उनके नामोल्लेख भी करता। फिर भी कुंतल सातकर्णि के शासनकाल तक दकन में उनका साम्राज्य अक्षुण्ण रहा। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में उसका उल्लेख है।[30] यदि उसके नाम का कोई महत्व है तो यही कि वह कुंतल का राजा था। प्रो० काणे के मतानुसार कुंतल का विस्तार भीमा और कृष्णा से कुछ दूर तुंगभद्रा के परे तक था। इसमें कोल्हापुर और दूसरी दक्षिणी मराठा रियासतें जैसे मीरज, बेलगांव और धारवाड़ के जिले, निजाम और मैसूर की रियासतों के हिस्से और उत्तर कनारा शामिल थे।[31] यदि हम प्रो० काणे का यह मत मान लें और ई० पू० 50 से 25 के बीच पुलुमावि (प्रथम) की सफलताओं को ध्यान में रखें तो हमें यह मानना होगा कि उन कठिन वर्षों में सातकर्णि (द्वितीय) के उत्तराधिकारियों में सातवाहनशक्ति को अक्षुण्ण रखने की क्षमता पूर्णतः सुरक्षित थी। इस सफलता का कुछ अंशों में कारण यह भी था कि भारत में और अन्यत्र बैक्ट्रियाई यवनों का ह्रास हो गया था।

एक ओर जहां पूर्वी भारत और दकन में प्रभुसत्ता की स्थापना के लिए मगध, कलिंग और आंध्र आपस में घनघोर संघर्ष कर रहे थे, वहां यूनानियों में भी गृहयुद्ध भड़क उठा था। इससे पहले इन तीनों शक्तियों को इन्हीं यूनानियों के कारण खतरा पैदा हो गया था। जैसा कि जस्टिन ने कहा है : 'करीब-करीब उसी समय जब मिथ्राडेटीज पार्थियनों की गद्दी पर बैठा था, यूक्रेटाइडीज बैक्ट्रियनों का राजा हुआ। ये दोनों महापुरुष थे। यूक्रेटाइडीज ने अनेक युद्धों में बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था।' सच तो यह कि शक्ति और राज्यक्षेत्र के लिए उनकी लड़ाई अब भारतीय भूमि पर न होकर बैक्ट्रिया और भारत के उत्तरी-पश्चिमी सूबे में होने लगी। 'अपने ही राज्य में उनके इस निर्मम और अत्यंत शोचनीय संघर्ष से उन सबकी अपार क्षति हुई।' ई० पू० 167 के आसपास डेमेट्रियस के राज्य के वे सभी हिस्से, जो हिंदूकुश के पश्चिम में पड़ते थे, उसके हाथ से निकल गए।[32] ई० पू० 166 में युक्रेटाइडीज ने सिक्कों की एक नई श्रृंखला चलाई। इससे यही अनुमान होता है कि उसने उससे एक साल पहले युद्ध में डेमेट्रियस को पराजित कर मार डाला होगा।[33]

अब युक्रेटाइडीज सीस्तान, अराकोशिया, एरिया, बैक्ट्रिया और सोग्डियाना का स्वामी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था उसने भारत पर भी आक्रमण किया। इस बार युक्रेटाइडीज से युद्ध में अपोलोडोटस लगभ ई० पू० 162 में मारा गया। अलेक्जांड्रिया कपिशा का उसका राज्य युक्रेटाइडीज ने जीत लिया। युक्रेटाइडीज तो पूरब में और आगे बढ़ा होता किंतु संभवतः मिनांडर ने उसे रोक दिया। उसके बाद तो उसे यह खबर भी मिल गई कि मिथ्राडेटीज ने उसके गृह प्रदेश पर ही हमला कर दिया है। इससे वह तुरंत वापस लौट गया। इसके पूर्व ई० पू० 161 में मिथ्राडेटीज ने मीडिया को जीतकर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा ली थी। उसने शकों को भाड़े पर अथवा उनसे दोस्ती कर अपनी सेना में शामिल कर लिया था। उसे जीतना प्रायः असंभव था। युद्ध में युक्रेटाइडीज की मृत्यु हुई और उसका राज्य भी खत्म हो गया। जैसा कि जस्टिन ने लिखा है : 'पार्थियनों से हारकर उसका अंत हुआ, किंतु इसके पहले उसने बड़ी वीरता से युद्ध किया था।'[34]

ई० पू० 162 के आसपास अपोलोडोटस भी मर चुका था। भारत में युक्रेटाइडीज के उद्देश्यों का एकमात्र और प्रभावशाली समर्थक मिनांडर था। डिमिट्रियस की वापसी और मध्यप्रदेश के परित्याग के बाद मिनांडर ने एक नई सीमा बना ली थी। पूरब के लिए मथुरा सीमा थी और यमुना के पश्चिम में चंबल सीमा थी। मथुरा से ऊपरी सिंधु तक उसका राज्य था। उसके सिक्कों से सिद्ध होता है कि गंधार पर भी उसका अधिकार था।[35]

मिनांडर की मृत्यु ई० पू० 150 से 145 के बीच कभी हुई। प्रायः इसी के आसपास अर्थात ई० पू० 148 में उसके प्रतिद्वन्द्वी पुष्यमित्र शुंग का भी देहावसान हो गया था। उस समय मिनांडर का बेटा स्ट्रैटो प्रथम अल्पवयस्क था अतः उसकी पत्नी अगाथोक्लिया, जो डेमेट्रियस की पुत्री थी, स्ट्रैटो की अभिभाविका के रूप में राज्य करने लगी। इससे युक्रेटाइडीज के बेटे हेलियोक्लीज को भारत पर आक्रमण करने का अवसर मिल गया। उसने तक्षशिला और गंधार को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। स्ट्रैटो प्रथम के झेलम से पूरब से इलाकों में ही उसका पैतृक राज्य बच रहा। अब मिनांडर का विस्तृत साम्राज्य खंडित होने लगा। सुराष्ट्र और सिंध के यूनानी प्रदेश स्वतंत्र हो गए।

हेलियोडोरस के ठीक बाद करीब ई० पू० 130 में अंटियालकिडस राजा हुआ।[36] युक्रेटाइडीज के वंश का यह अंतिम राजा था। इसी राजा ने हेलियोडोरस को शुंग दरबार में अपना दूत बनाकर भेजा था। यह स्पष्ट नहीं है कि इस दौत्य संबंध का उद्देश्य क्या था। शायद इसका कारण शकों का भारत पर आक्रमण रहा हो जो ई० पू० 120 में शुरू हो गया था।

शक पार्थिया की प्रजा थे। उन्होंने अपने राजा मिथ्राडेटीज प्रथम, फ्राटीज द्वितीय और आर्टाबनस प्रथम को कोई कष्ट नहीं दिया था। वे बड़े दुर्दांत, स्वतंत्रवत और यहां तक कि आक्रामक स्वभाव के भी थे। वस्तुतः वे मिथ्राडेटीज द्वितीय से पहले अविजित ही थे। मिथ्राडेटीज द्वितीय ने शकों को हराकर उनकी बाढ़ को रोक दिया था। शकों को इस समय अपने रहने के लिए भूमि की सख्त जरूरत थी क्योंकि उनकी जमीनों पर यू-ची लोगों ने अधिकार कर लिया था। इस प्रकार वे भारत की ओर मुड़ गए। यहां उन्होंने निचले सिंध-पैटलेने, कच्छ और सुराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। ई० पू० 80 तक वे सिंधु के ऊपरी भाग तक फैल गए थे। उस समय उनका नेता माओस था। उसने ई० पू० 70 तक यूनानियों से झेलम के पश्चिमी इलाके छीन लिए थे। गंधार, पश्चिमी पंजाब, जिसमें तक्षशिला भी शामिल था, उसके राज्य के अंग बन चुके थे। उसने पार्थियनों की भांति अपने सिक्कों पर राजाधिराज की उपाधि धारण कर ली थी। करीब-करीब इसी समय में बोनोनीज अराकोशिया और सीस्तान में पहलवों (पार्थियनों) का राजा हुआ। माओस की भांति उसने भी शाही उपाधि धारण की थी। इनके बीच क्या संबंध थे, इसका पता नहीं। बोनोनीज तो स्पष्ट ही पार्थियन नाम है। पर नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रीयता का स्पष्ट प्रमाण नहीं होता क्योंकि एक ही परिवार में शक नाम भी मिलते हैं और पहलव नाम भी। तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि एजीज प्रथम माओस और बोनोनीज, दोनों राजाओं के प्रदेशों का स्वामी बन गया था।[37] उसने अपने राज्य का विस्तार पूरब में मथुरा तक करके भारत में शक-पहलव शक्ति को सुदृढ़ कर लिया था। कहते हैं कि ई० पू० 58 से प्रारंभ होनेवाले विक्रम संवत का प्रवर्तक वही था।[38] 'एशिया के प्राय: वे सभी भाग जो युफ्रेटीज और यमुना के बीच पड़ते हैं, जिनपर कभी यूनानियों ने राज्य किया था, अब उत्तरी स्टेप के इन निवासियों के अधिकार में आ गए थे।'[39]

एजीज प्रथम और उसके उत्तराधिकारी सार्वभौम राजा के रूप में राज्य करते थे जबकि भारत में उनके विस्तृत साम्राज्य का शासन उनके एजेंटों के जरिए होता था, जिन्हें क्षत्रप कहते थे। ये क्षत्रप अपने अधिकारवाले प्रदेशों में प्राय: स्वतंत्र रूप में राज्य करते थे। क्षत्रप परिवारों में तक्षशिला, मथुरा, सुराष्ट्र और मालवा के क्षत्रप प्रमुख थे।

इस प्रकार भारत में यूनानी शासन के अंत से दकन के सातवाहनों को कोई स्थायी राहत नहीं मिली। जब ई० पू० 43 में पुलुमावि (प्रथम) गद्दी पर बैठा तो उस समय भारत का मानचित्र प्राय: वैसा ही था, जैसा कि सातकर्णि (द्वितीय) के समय में था। फर्क इतना ही था कि इस समय यूनानी नहीं अपितु उनके स्थान पर शक पहलव प्रबल थे। ई० पू० 73 में शुंग-शक्ति नष्ट हो चुकी थी और उनके स्थान पर मगध में कण्वों के राजवंश की स्थापना हुई थी। वासुदेव, जिसके हाथों 'अतिकामुक शुंग राजा' देवभूति को अपने प्राण देने पड़े थे, शुंगों के सभी प्रदेशों का स्वामी नहीं बन सका। मध्य भारत में मालवा और अन्य प्रदेशों पर विदेशियों का आधिपत्य था और कण्वों के अधिकार में मगध का साम्राज्य तो था किंतु अब वह काफी छोटा हो चुका था। 'पुराणों' के अनुसार वासुदेव ने 9 वर्ष, उसके पुत्र भानुमित्र ने 14 वर्ष और उसके पोते नारायण ने 12 वर्ष राज्य किया। सिंहासन पर सातवाहन पुलुमावि के बैठने के पांच वर्ष के भीतर ही नारायण कण्व के स्थान पर उसका बेटा सुशर्मन सिंहासनारूढ़ हुआ। कण्व राजा काफी कमजोर थे। वे विदेशियों से अपने देश की ही नहीं, बल्कि अपने प्राणों की रक्षा करने में भी असमर्थ थे। मगध का पतन निश्चित और आसन्न था। प्रश्न यह था कि उसका स्वामी कौन बनता है? पुलुमावि का दृढ़ निश्चय था कि मगध को विदेशियों के हाथों में न जाने दिया जाए। जब ई० पू० 28 में उसने मगध पर चोट की तो वह एक पके फल की भांति उसके हाथों में आ गया। उसने अंतिम कण्व राजा सुशर्मन का वध कर दिया। आकर और अवंति, जो कभी सातकर्णि के शासन में थे, एक बार फिर पुलुमावि के राज्यांतर्गत आ गए।

किंतु कण्ववंश के उन्मूलक पुलुमावि की सफलताओं में ही उसकी कमजोरी भी संनिहित थी। अब वह दूर-दूर तक फैले एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी था जिसकी सीमाएं इतनी बढ़ चुकी थीं कि बाहरी शत्रुओं से उसकी रक्षा कठिन हो गई थी। सुशर्मन की मृत्यु के साथ मगध में एक ऐसी रात आई जो न तो शांत थी और न निरभ्र ही। पहली बार सातवाहन एक ऐसी भारतीय शक्ति के रूप में उभरे थे, मात्र जिनसे उत्तर की शक पहलव शक्ति को निपटना था। संभवत: शकों को मालवा छोड़ना पड़ा। यह आंध्र-मगध के मार्ग पर पड़ता था।[40] अब उनके पश्चिमी प्रदेशों की अखंडता और मथुरा की क्षत्रपी के लिए भी खतरा पैदा हो गया था।

इसलिए उत्तर के अधिराज शक पहलवों ने सातवाहन के खतरे को समाप्त करने की तैयारी की। अपनी विजय के बाद पुलुमावि पांच साल तक जीवित रहा। ई० पू० 19 में उसकी मृत्यु हो गई जिससे शकों के लिए अपने वे प्रदेश सातवाहनों से छीन लेना आसान हो गया था जिन्हें पुलुमावि ने उनसे जीत लिया था।[41] पश्चिमी क्षत्रप नहपान ने तो और आगे बढ़कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनों से उत्तरी महाराष्ट्र और अपरांत भी छीन लिए। इस नहपान का मथुरा के क्षत्रपों से स्पष्ट संबंध था। अतः मथुरा के क्षत्रप ने उसकी मदद अवश्य की होगी। उस समय मथुरा पर महाक्षत्रप राजुवुल का शासन था जिसने 'राजाधिराज' और 'त्राता' (रजतिरजस त्रतरस) की उपाधियां धारण की थीं।[42] राजुवुल की 'त्राता' उपाधि का यहां विशेष महत्व है।

ई० पू० 19 में पुलुमावि की मृत्यु के बाद गौरकृष्ण राजा बना। अभी उसके शासन के दो वर्ष भी नहीं बीते थे कि हम नहपान की पुत्री दक्षमित्रा के पति उषभदात को नासिक में भिक्षुओं के लिए एक गुफा के दान का लेख लिखाते पाते हैं। ई० पू० 12 में (अयम के जुन्नार के लेख की तिथि) अर्थात नासिक वाले लेख से 5 वर्ष के भीतर नहपान एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बन चुका था जिसमें मालवा, दक्षिण गुजरात और उत्तर कोंकण, भडोच से सोपारा तक का प्रदेश तथा नासिक और पूना के जिले शामिल थे। 49वें वर्ष अर्थात ई० पू० 17 में वह क्षत्रप था। 46वें वर्ष अर्थात ई० पू० 12 में वह क्षत्रप से बढ़कर महाक्षत्रप बन गया।

गौरकृष्ण ने ई० पू० 19 से 6 ई० अर्थात 25 वर्षों तक राज्य किया। यह एक लंबी अवधि है। इसी अवधि में उसकी आंखों के सामने सातवाहन साम्राज्य विघटित हुआ। अपने समय में और बाद में जब 'पुराणों' की रचना हुई तो वह कितना अलोकप्रिय रहा होगा, इसका अंदाज उन उपाधियों से लगाया जा सकता है जिनका प्रयोग पुराणों ने उसके लिए किया है।[43] पुराणों में उसे रिक्तवर्ण, विकृष्ण, अरिष्टकर्म और अनिष्टकर्म कहा गया है। किसी राजा के लिए ऐसे नाम बिना किसी अभिप्राय के नहीं दिए जा सकते।

गौरकृष्ण के बाद हाल राजा हुआ। उसने सिर्फ एक साल राज्य किया। किंतु एक कवि के रूप में उसने इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। उसने श्रृंगार की अनेक उत्कृष्ट 'गाथाओं' का संकलन और संपादन किया है।[44] उसके राजनैतिक क्रियाकलापों के बारे में प्रायः कोई प्रमाण नहीं मिलता। हां, काफी बाद की एक पुस्तक 'लीलावती' में उसके बारे में कुछ सूचनाएं अवश्य मिलती हैं। लीलावती की सभी दुरुक्तियों के बावजूद इस पुस्तक से इतना पता चलता है कि उसने अपने राज्य के पूर्वी भाग सप्तगोदावरी में किसी अभियान का नेतृत्व किया था। इस सप्तगोदावरी की पहचान गोदावरी जिले के दाक्षाराम से की जाती है।

7 से 62 ई० तक कई आंध्र राजा हुए। किंतु वे सभी गुणहीन और महत्वहीन थे। सातवाहनों पर खखरातों का दबाव बराबर बढ़ता जा रहा था। नहपान के उत्तराधिकारियों की वजह से सातवाहनों के बंदरगाह सोपारा और कल्याण व्यापार की दृष्टि से बंद हो चुके थे। सारा व्यापार क्षत्रपों के बंदरगाह बेरीगाजा (भडोच) के जरिए होता था जहां तक पहुंचने का मार्ग काफी कठिन था। सातवाहन राज्य का आर्थिक जीवन विश्रृंखल हो चुका था। जब सन 62 में गौतमीपुत्र सातकर्णि गद्दी पर बैठा तो उस समय सातवाहनों का भविष्य अंधकारमय ही था। अच्छी बात सिर्फ इतनी ही थी कि उसके राज्यारोहण के समय के आसपास शक-पहलव साम्राज्य विघटित हो चुका था और उसके स्थान पर कई क्षत्रपों ने अपने छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे। अतः गौतमीपुत्र को उत्तर में किसी एक शक्तिशाली राज्य का सामना नहीं करना था।

गोंडोफर्नीज शक-पहलव वंश का अंतिम बड़ा राजा था। वह 19 ई० में गद्दी पर बैठा था। उसे जो राज्य उत्तराधिकार में मिला था उसने उसमें पार्थियनों के कुछ प्रदेश जीतकर वृद्धि ही की थी। उसने अपने सिक्कों पर 'महरजस रजतिरजस महतस' की उपाधि धारण की है जिससे यह सिद्ध होता है कि उसकी प्रभुसत्ता वे भी मानते थे जो महाराज राजाधिराज थे। जैसा कि रैप्सन ने कहा है : 'उसकी उपाधियों का यही अर्थ है कि गोंडोफर्नीज के राज्यकाल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी क्षत्रप नाम मात्र को ही उसकी प्रभुसत्ता मानते थे।[45] सन 45 ई० के बाद गोंडोफर्नीज की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी पैकोरीज के राज्यकाल में शक-पहलव शक्ति तेजी से विघटित हो गई। 78 ई० तक कुषाणों ने काबुल घाटी और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत को जीत लिया था। इसी साल के तक्षशिला के एक अभिलेख में एक 'महरजस रजतिरजस महतस देवपुतस कुषनस' का उल्लेख है जो स्पष्ट ही विम कैडफाइसीज था।[46] सिंध के डेल्टा में कुषाणों की प्रभुसत्ता इसके कहीं 11 साल बाद 89 ई० में स्थापित हुई।[47] शक-पहलव राजा अभी छिटपुट राज्य कर रहे थे, यद्यपि अब वे कुषाणों के सामंत बन चुके थे। किंतु 'पेरिप्लस' का कथन है कि 'ये पार्थियन' राजा अब भी वैसे ही दुर्धर्ष और झगड़ालू बने रहे। और निरंतर आपस में ही लड़ते रहे। ऐसी परिस्थितियों में गौतमीपुत्र सातकर्णि के लिए उन सभी लड़ते-भिड़ते राजाओं को जीतकर उनके राज्यों पर अधिकार कर लेने का लोभ स्वाभाविक ही था।

कार्ले और नासिक के गौतमीपुत्र के अभिलेखों से विदित होता है कि उसने युद्ध की पूरी तैयारी की थी तथापि उसका वास्तविक अभियान उसके 18 वें राज्यवर्ष (अर्थात 80 ई०) में शुरू हुआ। सबसे पहले उसने नहपान के खखरात उत्तराधिकारियों से उनके राज्य के पश्चिमी भाग छीने। उसके नासिक और कार्ले के दोनों लेख गोवर्धन के 'विजय स्कंधावार' से जारी हुए थे। इन प्रारंभिक बड़ी लड़ाइयों में वैजयंती के सैनिकों ने काफी वीरता दिखाई थी। शीघ्र ही यह पूरा प्रदेश सातवाहन साम्राज्य का पुनः अंग बन गया।

किंतु इतने छोटे-मोटे लाभों से गौतमीपुत्र संतुष्ट होनेवाला न था। उसने यह निश्चय कर लिया था कि उसके पूर्वज सातकर्णि (द्वितीय) और पुलुमावि (प्रथम) ने जो क्षेत्र अपने अधिकार में किए थे वह उन सबको फिर से जीतेगा। उसकी मृत्यु 86 ई० में हुई थी। अतः उसके पास जीवन के सिर्फ छह वर्ष ही शेष थे जिसमें उसे अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेना था। किंतु इस अल्प अवधि में ही उसने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। उसने सातवाहनों की सार्वभौम स्थिति को पुनः स्थापित करने में कितनी सफलता प्राप्त कर ली थी, इसका अंदाज हम उसकी माता गोतमी बलश्री के लेख से लगा सकते हैं जिनमें उसने अपने पुत्र के राज्य-विस्तार और उसके व्यक्तित्व का वर्णन किया है। उसके राज्य में असिक, असक, मुलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति के देश और विंध्य, अचवत, परियात्र सह्य, कण्हगिरि, सिरितन, मलय, महेन्द्र, सेत और चकोर के पर्वत शामिल थे और उसका राज्य दोनों समुद्रों को छूता था।[48] उसने अपनी आज्ञाएं मानने के लिए सभी राजाओं को बाध्य किया था। उसका मुख खिले कमल के सदृश था, वह अत्यंत बलशाली और प्रसिद्ध वीर था। वह अपराजित और शत्रुजनों में हृदय के भय उत्पन्न करनेवाला फिर भी अपराधी शत्रु-जनों की भी प्राणहिंसा में रुचि न रखनेवाला था। उसने क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन किया था। वह शकों, यवनों और पहलवों का नाश करनेवाला, और खखरात वंश को निरव-शेष करने वाला था। वह अद्वितीय धनुर्धर, सर्वमंडलाभिवादित चरणोंवाला और वीरता की मूर्ति था। शत्रु के वे सभी गढ़, जो अजेय समझे जाते थे, अब उन सभी पर उसकी विजय-पताका फहराने लगी थी।

यद्यपि वह एक निरंकुश शासक था किंतु अपनी प्रजा पर उसकी असीम कृपा थी और वह उसका पुत्रवत पालन करता था। वह अपने देश और काल की आवश्यकताओं को समझता था। वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से संबद्ध धर्मों का पालन करनेवाला राजा था। वह पौरजनों के सुख-दुख का समान भागी था। वह एक धार्मिक प्रवृत्तियों वाला ब्राह्मण था। वह मातृभक्त और माता की अविपन्न सुश्रूषा करनेवाला था। उसने सातवाहन कुल के यश को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनःस्थापित किया था। इस प्रकार उसने स्वय अपने लिए, अपनी माता के लिए, अपने पूर्वजों के लिए, अपनी प्रजा के लिए और देश के लिए विपुल यश अर्जित किया था।

सन् 86 ई० में वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि उसके उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठा। उसका सौभाग्य था कि उसका पिता गौतमीपुत्र उसके लिए इतना विशाल साम्राज्य छोड़ गया था। कम से कम आठ अभिलेखों में उसके शासन का उल्लेख है। इनमें से चार नासिक में मिले हैं[49] और 2 कार्ले में।[50] एक अमरावती का है[51] और दूसरा धरणिकोट का।[52] आंध्रदेश में बहुत से सिक्के मिले हैं। आमतौर पर यही माना जाता है कि ये उसी के हैं। टालेमी के अनुसार वह उज्जैन के चष्टन का समकालीन था। उसके बारे में प्रमाणों का तो प्राचुर्य है, किंतु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपने पिता गौतमीपुत्र से बड़ा अथवा उसके समान था।

पुलुमावि ने उन्नीसवें वर्ष (105 ई०) के गोतमी वलश्री के लेख में उसे 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है। अपने पिता की विजयों के कारण वह इस विरुद का अधिकारी भी था। स्वयं उसने कोई सफलता प्राप्त नहीं की थी। उसका इतना विस्तृत साम्राज्य उसके लिए कोई वरदान सदृश न था क्योंकि इससे उसके उत्तरदायित्व बढ़ गए थे। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय में उत्तर की स्थिति अनिश्चित ही थी, क्योंकि अब देश में कुषाणों का प्रवेश हो चुका था और शक क्षत्रप बराबर आपस में ही लड़ते रहते थे। इससे गौतमीपुत्र को अपने उद्देश्यों की सफलता में मदद ही मिली। किंतु पुलुमावि के राज्यारोहण के समय कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम भारत में अपनी जड़ें जमा ली थीं और उन्होंने पूरब और दक्षिण के शक-क्षत्रपों से अपनी प्रभुसत्ता मनवा ली थी। 87 ई० तक, जो सुई-विहार के लेख की तिथि है, कनिष्क ने सिंध प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। उसके 23वें वर्ष (78+23=101 ई०) तक मथुरा भी उसके आधिपत्य में आ गया था।[53] उसके अगले वर्ष ही उसका बेटा वाशिष्क मथुरा पर राज्य करता प्रतीत होता है। विंसेंट स्मिथ का अनुमान है कि वाशिष्क और हुविष्क दोनों उसके ही बेटे थे। इनमें वाशिष्क की अपने पिता के ही जीवन-काल में मृत्यु हो चुकी थी। अतः कनिष्क के बाद हुविष्क उसके समूचे साम्राज्य का अधिपति हुआ।[54] हुविष्क के लेखों से प्रकट होता है कि वह वर्ष 33 और 60 (=111—38 ई०) के बीच मथुरा का राजा था।

अब मथुरा के कुषाणों का राज्य सातवाहनों के विशाल साम्राज्य के पास तक आ चुका था। उसके परिणाम वही हुए जो स्वाभाविक थे। टालेमी के कथनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सन् 105 से 114 ई० के बीच कभी चष्टन ने अवंति को जीता था।[55] चष्टन के सिक्के मथुरा के शकों के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं। उसकी क्षत्रप उपाधि भी यही सूचित करती है कि वह किसी के अधीन था। इसी आधार पर इतिहासकारों ने अनुमान किया है कि कुषाण राजा ने ही चष्टन को आंध्रों के साम्राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार करने का काम सौंपा होगा। यदि यह सही हो तो चष्टन द्वारा पुलुमावि से उज्जैन को छीन लेना किसी घटना-क्रम की एक कड़ी रहा होगा। इसके पूर्व ऐसे कई आक्रमण मध्य भारत और राजपूताना के उन प्रदेशों पर हुए होंगे जिन्हें गौतमीपुत्र ने जीता था। यह अनुमान वाशिष्क के वर्ष 28 (=106 ई०) के सांची के उस लेख से प्रमाणित हो जाता है जो बुद्ध की एक प्रतिमा पर खुदा है।[56] इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय चष्टन ने अवंति पर आक्रमण किया होगा उसी समय पर आकर पर भी आक्रमण हुआ होगा और इस प्रकार पुलुमावि ने ये दोनों प्रदेश खो दिए। चष्टन के सिक्के गुजरात और सौराष्ट्र में भी मिले हैं। किंतु हम निश्चित रूप में यह नहीं कह सकते कि पुलुमावि के शासन के अंतिम वर्षों में ये प्रांत भी सातवाहन साम्राज्य से निकल चुके थे। सिक्कों की प्राप्ति मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि ये प्रांत शकों ने जीत लिये थे। इन बातों का पहला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी क्षत्रप नाम मात्र को ही उसकी प्रभुसत्ता मानते थे।[45] सन 45 ई० के बाद गोंडोफर्नीज की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी पैकोरीज के राज्यकाल में शक-पहलव शक्ति तेजी से विघटित हो गई। 78 ई० तक कुषाणों ने काबुल घाटी और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत को जीत लिया था। इसी साल के तक्षशिला के एक अभिलेख में एक 'महरजस रजतिरजस महतस देवपुतस कुषनस' का उल्लेख है जो स्पष्ट ही विम कैडफाइसीज था।[46] सिंध के डेल्टा में कुषाणों की प्रभुसत्ता इसके कहीं 11 साल बाद 89 ई० में स्थापित हुई।[17] शक-पहलव राजा अभी छिटपुट राज्य कर रहे थे, यद्यपि अब वे कुषाणों के सामंत बन चुके थे। किंतु 'पेरिप्लस' का कथन है कि 'ये पार्थियन' राजा अब भी वैसे ही दुर्धर्ष और झगड़ालू बने रहे। और निरंतर आपस में ही लड़ते रहे। ऐसी परिस्थितियों में गौतमीपुत्र सातकर्णि के लिए उन सभी लड़ते-भिड़ते राजाओं को जीतकर उनके राज्यों पर अधिकार कर लेने का लोभ स्वाभाविक ही था।

कार्ले और नासिक के गौतमीपुत्र के अभिलेखों से विदित होता है कि उसने युद्ध की पूरी तैयारी की थी तथापि उसका वास्तविक अभियान उसके 18 वें राज्यवर्ष (अर्थात 80 ई०) में शुरू हुआ। सबसे पहले उसने नहपान के खखरात उत्तराधिकारियों से उनके राज्य के पश्चिमी भाग छीने। उसके नासिक और कार्ले के दोनों लेख गोवर्धन के 'विजय स्कंधावार' से जारी हुए थे। इन प्रारंभिक बड़ी लड़ाइयों में वैजयंती के सैनिकों ने काफी वीरता दिखाई थी। शीघ्र ही यह पूरा प्रदेश सातवाहन साम्राज्य का पुन: अंग बन गया।

किंतु इतने छोटे-मोटे लाभों से गौतमीपुत्र संतुष्ट होनेवाला न था। उसने यह निश्चय कर लिया था कि उसके पूर्वज सातकर्णि (द्वितीय) और पुलुमावि (प्रथम) ने जो क्षेत्र अपने अधिकार में किए थे वह उन सबको फिर से जीतेगा। उसकी मृत्यु 86 ई० में हुई थी। अत: उसके पास जीवन के सिर्फ छह वर्ष ही शेष थे जिसमें उसे अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेना था। किंतु इस अल्प अवधि में ही उसने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। उसने सातवाहनों की सार्वभौम स्थिति को पुन: स्थापित करने में कितनी सफलता प्राप्त कर ली थी, इसका अंदाज हम उसकी माता गोतमी बलश्री के लेख से लगा सकते हैं जिनमें उसने अपने पुत्र के राज्य-विस्तार और उसके व्यक्तित्व का वर्णन किया है। उसके राज्य में असिक, असक, मुलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति के देश और विंध्य, अचवत, परियात्र सह्य, कण्हगिरि, सिरितन, मलय, महेन्द्र, सेत और चकोर के पर्वत शामिल थे और उसका राज्य दोनों समुद्रों को छूता था।[48] उसने अपनी आज्ञाएं मानने के लिए सभी राजाओं को बाध्य किया था। उसका मुख खिले कमल के सदृश था, वह अत्यंत बलशाली और प्रसिद्ध वीर था। वह अपराजित और शत्रुजनों में हृदय के भय उत्पन्न करनेवाला फिर भी अपराधी शत्रु-जनों की भी प्राणहिंसा में रुचि न रखनेवाला था। उसने क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन किया था। वह शकों, यवनों और पहलवों का नाश करनेवाला, और खखरात वंश को निरव-शेष करने वाला था। वह अद्वितीय धनुर्धर, सर्वमंडलाभिवादित चरणोंवाला और वीरता की मूर्ति था। शत्रु के वे सभी गढ़, जो अजेय समझे जाते थे, अब उन सभी पर उसकी विजय-पताका फहराने लगी थी।

यद्यपि वह एक निरंकुश शासक था किंतु अपनी प्रजा पर उसकी असीम कृपा थी और वह उसका पुत्रवत पालन करता था। वह अपने देश और काल की आवश्यकताओं को समझता था। वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से संबद्ध धर्मों का पालन करनेवाला राजा था। वह पौरजनों के सुख-दुख का समान भागी था। वह एक धार्मिक प्रवृत्तियों वाला ब्राह्मण था। वह मातृभक्त और माता की अविपन्न सुश्रूषा करनेवाला था। उसने सातवाहन कुल के यश को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनःस्थापित किया था। इस प्रकार उसने स्वय अपने लिए, अपनी माता के लिए, अपने पूर्वजों के लिए, अपनी प्रजा के लिए और देश के लिए विपुल यश अर्जित किया था।

सन् 86 ई० में वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि उसके उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठा। उसका सौभाग्य था कि उसका पिता गौतमीपुत्र उसके लिए इतना विशाल साम्राज्य छोड़ गया था। कम से कम आठ अभिलेखों में उसके शासन का उल्लेख है। इनमें से चार नासिक में मिले हैं[49] और 2 कार्ले में।[50] एक अमरावती का है[51] और दूसरा धरणिकोट का।[52] आंध्रदेश में बहुत से सिक्के मिले हैं। आमतौर पर यही माना जाता है कि ये उसी के हैं। टालेमी के अनुसार वह उज्जैन के चष्टन का समकालीन था। उसके बारे में प्रमाणों का तो प्राचुर्य है, किंतु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपने पिता गौतमीपुत्र से बड़ा अथवा उसके समान था।

पुलुमावि ने उन्नीसवें वर्ष (105 ई०) के गोतमी बलश्री के लेख में उसे 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है। अपने पिता की विजयों के कारण वह इस विरुद का अधिकारी भी था। स्वयं उसने कोई सफलता प्राप्त नहीं की थी। उसका इतना विस्तृत साम्राज्य उसके लिए कोई वरदान सदृश न था क्योंकि इससे उसके उत्तरदायित्व बढ़ गए थे। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय में उत्तर की स्थिति अनिश्चित ही थी, क्योंकि अब देश में कुषाणों का प्रवेश हो चुका था और शक क्षत्रप बराबर आपस में ही लड़ते रहते थे। इससे गौतमीपुत्र को अपने उद्देश्यों की सफलता में मदद ही मिली। किंतु पुलुमावि के राज्यारोहण के समय कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम भारत में अपनी जड़ें जमा ली थीं और उन्होंने पूरब और दक्षिण के शक-क्षत्रपों से अपनी प्रभुसत्ता मनवा ली थी। 87 ई० तक, जो सुई-विहार के लेख की तिथि है, कनिष्क ने सिंध प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। उसके 23वें वर्ष (78+23=101 ई०) तक मथुरा भी उसके आधिपत्य में आ गया था।[53] उसके अगले वर्ष ही उसका बेटा वाशिष्क मथुरा पर राज्य करता प्रतीत होता है। विंसेंट स्मिथ का अनुमान है कि वाशिष्क और हुविष्क दोनों उसके ही बेटे थे। इनमें वाशिष्क की अपने पिता के ही जीवन-काल में मृत्यु हो चुकी थी। अतः कनिष्क के बाद हुविष्क उसके समूचे साम्राज्य का अधिपति हुआ।[54] हुविष्क के लेखों से प्रकट होता है कि वह वर्ष 33 और 60 (=111—38 ई०) के बीच मथुरा का राजा था।

अब मथुरा के कुषाणों का राज्य सातवाहनों के विशाल साम्राज्य के पास तक आ चुका था। उसके परिणाम वही हुए जो स्वाभाविक थे। टालेमी के कथनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सन् 105 से 114 ई० के बीच कभी चष्टन ने अवंति को जीता था।[55] चष्टन के सिक्के मथुरा के शकों के सिक्कों से मिलते-जुलते हैं। उसकी क्षत्रप उपाधि भी यही सूचित करती है कि वह किसी के अधीन था। इसी आधार पर इतिहासकारों ने अनुमान किया है कि कुषाण राजा ने ही चष्टन को आंध्रों के साम्राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार करने का काम सौंपा होगा। यदि यह सही हो तो चष्टन द्वारा पुलुमावि से उज्जैन को छीन लेना किसी घटना-क्रम की एक कड़ी रहा होगा। इसके पूर्व ऐसे कई आक्रमण मध्य भारत और राजपूताना के उन प्रदेशों पर हुए होंगे जिन्हें गौतमीपुत्र ने जीता था। यह अनुमान वाशिष्क के वर्ष 28 (=106 ई०) के सांची के उस लेख से प्रमाणित हो जाता है जो बुद्ध की एक प्रतिमा पर खुदा है।[56] इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय चष्टन ने अवंति पर आक्रमण किया होगा उसी समय पर आकर पर भी आक्रमण हुआ होगा और इस प्रकार पुलुमावि ने ये दोनों प्रदेश खो दिए। चष्टन के सिक्के गुजरात और सौराष्ट्र में भी मिले हैं। किंतु हम निश्चित रूप में यह नहीं कह सकते कि पुलुमावि के शासन के अंतिम वर्षों में ये प्रांत भी सातवाहन साम्राज्य से निकल चुके थे। सिक्कों की प्राप्ति मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि ये प्रांत शकों ने जीत लिये थे। इन बातों का पहला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखीय प्रमाण तो सन् 13० ई० का अंधौ का लेख है जिसमें रुद्रदामन का नाम उसके दादा चष्टन के साथ-साथ मिलता है। अतः इन प्रांतों की विजय पुलुमावि के बाद, किंतु सन् 130 ई० से पूर्व हुई होगी।

अमरावती और धरणिकोट में पुलुमावि के लेखों और आंध्र इलाकों में प्रचुर मात्रा में उसके सिक्कों का मिलना यह सिद्ध करता है कि उसने अपने पूर्वी इलाकों में अधिक रुचि ली। धरणिकोट का लेख उसके 25वें राज्यवर्ष (111 ई०) का है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वह अब उत्तर भारत में सातवाहनों की प्रमुखता के बारे में निराश हो चुका था। टालेमी के अनुसार हिप्पोकुरा का बैलियोकुरोस पैठन के पुलुमावि का समकालीन था। यह बात भी इसी दिशा में संकेत करती है क्योंकि इससे यही सिद्ध होता है कि पुलुमावि अब इसी प्रयत्न में था कि जहां तक हो सके अपने उत्तरदायित्व कम किए जाएं किंतु जैसा कि बाद की घटनाओं ने सिद्ध किया, अधिकारों का परित्याग करने से राजा की शक्ति बराबर घटती ही गई।

पुलुमावि (द्वितीय) के बाद सन् 114 ई० में शिवश्री गद्दी पर बैठा। शिवश्री और उसके उत्तराधिकारी शिवस्कंद में प्रत्येक ने सात-सात साल राज्य किया। उन्हीं की आंखों के सामने एक दुःखद दृश्य के रूप में चष्टन के घराने की शक्ति बराबर बढ़ती गई। यह शक्ति इतनी तेजी से बढ़ी कि सन् 130 ई० तक वे पश्चिम में कच्छ तक फैल गए। निश्चित रूप से यह बतलाना कठिन है कि बीच के कौन से प्रांत चष्टन के घराने में कर्द्दमकों ने जीते। किंतु अवंति अथवा पश्चिमी मालवा के साथ कच्छ प्रांत के संबंध को देखते हुए यही अनुमान होता है कि चष्टन और जयदामन, और चष्टन और रुद्रदामन, बड़ी सतर्कता के साथ अपनी उत्तर की सीमाओं से बढ़े होंगे। उन्होंने इसके पहले सातवाहन साम्राज्य के हृदय-प्रदेश पर सीधे हमले का खतरा नहीं लिया होगा। इस भीरुतापूर्ण झिझक के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि शकों और सातवाहनों के बीच कुछ गहरे युद्ध अवश्य हुए होंगे। वस्तुतः जैसा हमने पहले नोट किया है, सातवाहनों के साथ युद्ध में ही जयदामन की मृत्यु हुई थी।

सन् 128 में गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातवाहनों की गद्दी पर बैठा। यह घटना रुद्रदामन के लिए एक खतरा और चेतावनी दोनों थी। यदि यज्ञश्री वास्तव में शिवस्वाति वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि को हटाकर गद्दी पर बैठा था, जैसाकि इसी पुस्तक में हम पहले सुझाव दे चुके हैं, तो सातवाहनों के लिए अपने शत्रुओं के प्रति घृणा के कारण राजनैतिक ही नहीं, बल्कि वैयक्तिक भी थे। गिरनार के 150 ई० के लेख में रुद्रदामन को '(आ) प्राणोच्छ्वासात्पुरुष वधनिवृत्ति-कृतसत्यप्रतिज्ञ' और अन्य(त्र) 'संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु-प्रहरण-वितरणत्वाविगुणरि (पु) रू···कारुण्य' कहा गया है। इस प्रकार वह ऐसा व्यक्ति था जो जहां तक हो सके, रक्तपूर्ण युद्धों से बचने का प्रयत्न करनेवाला था। अतः उसने असंतुष्ट सातवाहन वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि को अपनी बेटी ब्याह कर उसे अपनी ओर मिला लिया। इस चतुराई में किसी को धोखा देने या खुश करने की बात न थी। यज्ञश्री ने और आगे बढ़कर अपनी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था की। उसने सातवाहनों की आपसी फूट के कारण उत्पन्न खतरे को भांप लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने नासिक प्रदेश में अपनी सैनिक शक्ति केंद्रित की जैसाकि नासिक के एक लेख से विदित होता है जिसमें कौशिक वंश के महासेनापति भवगोप की पत्नी महासेना-पतिनी वासु के द्वारा नासिक में भिक्षुओं को एक गुहावास दान देने का उल्लेख है।[57] संभवतः उसी दिशा से रुद्रदामन के आक्रमण की आशंका थी जिसकी रक्षा का भार सातवाहनों के महा-सेनापति भवगोप को सौंपा गया था।

यह युद्ध यज्ञश्री के राज्य के सातवें साल (सन 135 ई०) के थोड़े समय बाद ही हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था जिसमें आंध्रों की पराजय हुई थी। काण्हेरी में गौतमीपुत्र यज्ञश्री के 16वें राज्यवर्ष का एक लेख मिला है।[58] करीब-करीब इसी के आसपास, अर्थात् सन् 144 ई० अथवा उसके थोड़े समय बाद, आंध्रों और कर्द्दमक राजाओं में एक दूसरा युद्ध हुआ, इसमें भी आंध्रों की पराजय हुई। इस युद्ध में उसकी पराजय इतनी स्पष्ट हुई थी कि वह स्वयं बंदी होकर विजयी रुद्रदामन के सामने उपस्थित हुआ। रुद्रदामन ने उससे 'अविदूर' संबंध होने के कारण उसपर दया करके उसे प्राणदान दे दिया था। अब समूचे अपरांत और उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के शकों की अधीनता मान ली। रुद्रदामन का दामाद वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णि आंध्रों के इस पश्चिमी प्रदेश का राजा बना। ये प्रांत इससे पूर्व सातवाहनों के थे।

यज्ञश्री का राज्य 157 ई० तक चला किंतु उसका साम्राज्य काफी क्षीण हो चुका था। अब वह सिर्फ पूर्वी दकन तक सीमित था। उसके 27वें राज्यवर्ष (155 ई०) के चिन्न के लेख में उसे अरक और महतरक कहा गया है।[59] कहते हैं कि उसने एक यज्ञ भी किया था, यद्यपि इस लेख में उसके द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को दान देने का उल्लेख है, इसमें उसके किसी अनुष्ठान का उल्लेख नहीं है।

उसके लेख और सिक्के काफी विस्तृत प्रदेशों में मिलते हैं। उसके चिन्न के लेख का खास महत्व है। चिन्न गुंटूर जिले में रेपेल्ले 'तालुक' में है। यह समुद्र तट के बहुत नजदीक है। यह मोटुपल्ले से सिर्फ तीन मील दूर है। मोटुपल्ले इस काल में व्यापार का प्रसिद्ध बंदरगाह बन गया था। उसके ऐसे सिक्के काफी संख्या में मिलते हैं जिनपर समुद्री जहाज की आकृति बनी है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसके समय में समुद्री व्यापार खूब होता था।

वह आंध्र सातवाहनों का अंतिम प्रतापी राजा था। उसके बाद विजय, चंदश्री और पुलुमावि (तृतीय) गद्दी पर आए। इन राजाओं का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं है। वे सब कमजोर थे और जहां यज्ञश्री असफल रहा वहां ये क्या कर सकते थे? ऐसा प्रतीत होता है कि पुलुमावि (तृतीय) ने सातवाहनिहार प्रदेश (बेल्लारी जिला) को महासेनापति खंडनाग के अधीन कर दिया था।[60] पश्चिमी और दक्षिणी प्रदेशों में चुटुओं, नासिकक्षेत्र में आभीरों और पूरब में इक्ष्वाकु शक्तियों के उदय और उज्जैनी के शकों के निरंतर दबावों के कारण सातवाहन साम्राज्य समाप्त हो गया। इसका अंत भी वैसे ही हुआ जैसे सभी साम्राज्यों का होता है—वीरता, महत्ता, परस्पर भेद, चारित्रिक पतन और क्षय के कारण। किंतु जब तक यह साम्राज्य बना रहा—अर्थात् साढ़े चार सौ साल से अधिक समय तक—इसने विस्तृत दकन के निवासियों की जितनी रक्षा की और उनको जितनी स्थिरता प्रदान की, उतनी अन्य किसी भारतीय शासन ने नहीं की। कितने ही साम्राज्य बने और बिगड़े, मगध के मौर्य आए, शुंग आए और फिर कण्व आए, कलिंग के चेतियों, उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत के बैक्ट्रियनों, शकों और पह्लवों के भी राज्य इसी प्रकार समाप्त हो गए, किंतु सातवाहनों ने अंत तक बड़ी दृढ़ता से शासन किया। समय और भाग्य ने उन्हें कमजोर कर दिया था, किंतु उन्होंने तीन सौ से अधिक वर्षों तक दकन को विदेशियों से मुक्त रखा था।

संदर्भ

1. ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०, 10, पृ० 132 तथा आगे.
2. सभी 'पुराण' उसे (कृष्ण) सिमुक का भाई बतलाते हैं। रैप्सन का अनुमान है कि इससे नानाघाट के अभिलेखों में (पूर्वोद्धृत, पृ० 19) उसके नाम की अनुपस्थिति का खुलासा हो जाता है। बाखले ने यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धांत रखा है कि कण्ह ने सातकर्णि के अधिकार का अपहरण कर सिंहासन पर कब्जा कर लिया था। इस प्रकार वह नानाघाट के अभिलेख में उसके नामोल्लेख न होने का खुलासा करते हैं। (ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०, 1927, पृ० 53). इन सभी अनुमानों का आधार यह है कि अभिलेखों का सातकर्णि सिमुक का भाई था. पर यह अनुमान मात्र है. दे० आगे.

3. सं० 1144, लुइडर की सूची.
4. रैप्सन, पूर्वोद्धृत, पृ० 66 पार्जिटर दस वर्ष ('अब्दान् दश') बतलाते हैं, पूर्वोद्धृत, पृ० 39, टि० 28. 'मत्स्य' में आमतौर पर 'अष्टादश' मिलता है. 'वायु' की कतिपय प्रतियों में 'अस्मद्दस' मिलता है जो दुष्पाठ है. हां, यह 'अष्टादश' से मिलता-जुलता अवश्य है. हो सकता है कि यह लेखक की भूल हो.
5. पेरिप्लस ने नोट किया है कि अपोलोमोडोटस और मिनांडर के सिक्के भडोच में चलते थे. दे०, कैं० हि० इं०, 1, पृ० 542-3, 548.
6. कर्न, 'बृहत्संहिता', पृ० 37.
7. कीलहार्न, इं० ऐं०, 7, 266.
8. 'युगपुराण', दे०, कर्न की 'बृहत्संहिता', पृ० 37.
9. 'अठमे च वसे मेहता सेन(ा)—राजगृहं उपपीडयति—सेनावाहोने विमुचितं मधुरं अपयातो यवन र(ज) —(दिमित)—यच्चति.'
10. 'बारसमे चवसे—म(ा)गधधानं च विपुलं भयं जनेतो—म(ाग)ध(—)च राजानं बहसतिमितं पदे वंदपयति'.
11. जायसवाल, ज० वि० उ० रि० सो०, 3, पृ० 476 तथा आगे; और स्टेनकोनो : 'ऐक्टा ओरियंटलिया', पृ० 28-9. इसके विरुद्ध दे० चंदा, इं० हि० क्वा० 1929, पृ० 595.
12. 'अचिराधिष्ठित नवसंरोपण शिथिलस्तरु'.
13. इसके पूर्व खारवेल ने राजसूय यज्ञ किया था. वह जैन था. संभवतः यही कारण था कि पुष्यमित्र इन यज्ञों के 'पुनर्जीवन' का समूचा श्रेय लेना चाहता था.
14. 'कैं० हि० इं०', 1, पृ० 519, 531.
15. 'ए० इं०', 13, 159; ल्यूडर्स सं 1346.
16. 'वही', पृ० 160-1, ल्यूडर्स, सं 1347-48.
17. 'हिस्टरी आफ उड़ीसा', पृ० 83.
18. 'पूर्वोद्धृत', 92 और 93.
19. कैं० हि० इं०, 1, पृ० 519.
20. क्वा० ऐं० इं०, पृ० 95 और फलक 1, सं० 5 से 12
21. 'कनिंघम'; 'भिलसा टोप्स', पृ० 264; मार्शल, 'गाइड टु सांची', पृ० 13; ए० इं०, 2, 88.
22. दे० ऊपर
23. 'मे० आ० स० इं०', सं० 1, पृ 15.
24. 'कैं० हि० इं०', 1, पृ० 534.
25. 'अ० हि० आ० क०', पृ० 39-40.
26. 'ज० रा० ए० सो०', 1909, पृ० 1092.
27. 'ए गाइड टु सांची', पृ० 11, पा० टि०.
28. ज० वि० उ० रि० सो०, दिस० 1917, पृ० 473-75. श्री जायसवाल पांचवें राजा की पहचान पभोसा अभिलेख के उदाक से करते हैं. दे० कैं० हि० इं०, 1, पृ० 521 भी.
29. पो० हि० ऐं० इं०, तृतीय संस्क० पृ० 270-1.
30. चौखंबा संस्कृत सिरीज, पृ० 149.
31. 'ऐंशियंट ज्याग्रफी आफ महाराष्ट्र', पृ० 38. दे० बाखले, पूर्वोद्धृत, पृ० 92 भी.
32. कर्न, 'बृहत्संहिता' पृ० 38.
33. टार्न, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐंड इंडिया, पृ० 197 तथा आगे.
34. टार्न यूक्रेटाइडीज की मृत्यु ई० पू० 159 में मानते हैं. वे ई० पू० 155 की पारंपरिक तिथि को नहीं मानते (दे०, पूर्वो०, पृ० 219).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

35. टार्न का विश्वास है कि युक्रेटाइडीज ने अपनी वापसी से पूर्व मिनांडर से संधि की होगी (पूर्वो०, पृ० 216-7). इसके फलस्वरूप या बलपूर्वक मिनांडर ने गंधार या उसका अधिकांश ले लिया होगा.
36. टार्न ने यही तिथि सुझाई है. रैप्सन, लग० 120 ई० पू० में अंटियालकिडस का राज्यारोहण रखते हैं.
37. एजीज प्रथम और माओस के संबंध के बारे में काफी विवाद है. दे०, पो० हि० ऐं० इं०, तृतीय संस्क०, पृ० 293-300; कैं० हि० इं० 1, 572-4.
38. कैं० हि० इं०, 1, 571.
39. टार्न, पूर्वो०, पृ 350.
40. 'पेरिप्लस' (लग० 60 ई०) उज्जैन को नंबनस की भूतपूर्व राजधानी बतलाता है.
41. सुराष्ट्र और मालवा के क्षत्रपों को प्रायः 'पश्चिमी क्षत्रप' कहते हैं. यह नाम 'उत्तरी क्षत्रप' अर्थात तक्षशिला और मथुरा के क्षत्रपों से उनकी पृथकता दिखलाने के लिए दिया गया है। पश्चिमी क्षत्रपों में कम से कम दो पृथक-पृथक परिवार थे, एक खखरात जिसमें भूमक और नहपान हुए और दूसरा कर्द्दमक जिसमें चष्टन और उसके वंशज हुए.
42. बाखले, ज० बां० बां० रा० ए० सो०, 3, 61.
43. कैं० इं० क्वा०, पृ० Ixvi-Ixvii.
44. दे०, आगे.
45. कैं० हि० इं०, 1, 580.
46. इसकी खोज सर जान मार्शल ने की थी. इस पर 'आषाढ़' 136, 'अयस'—एजीज प्रथम की तिथि है. यह वही संवत् है जिसका प्रारंभ ई० पू० 58 में हुआ था। इस प्रकार यह सन 78 ई० का है.
47. सुई विहार अभिलेख, जिसपर कनिष्क के 11वें राज्यवर्ष की तिथि है. दे० हार्नले, इं० ऐं०, 1881, पृ० 324.
48. 'असिक'—ऋषिक, संभवतः असक के दक्षिण में कृष्णा और गोदावरी के बीच में; 'असक'—हैदराबाद रियासत का दक्षिणपूर्व प्रांत और गोदावरी जिला; 'मुलक'—पैठन के आसपास का जिला; 'सौराष्ट्र'—दक्षिणी काडियावाड़; 'कुकुर'—संभवतः पूर्वी राजस्थान का एक भाग; 'अपरांत'—उत्तरी कोंकण और उत्तरी महाराष्ट्र जिसमें नासिक और कार्ले के जिले शामिल थे; 'अनूप'—ऊपरी नर्मदा पर एक जिला, जिसकी राजधानी माहिष्मती थी; 'विदर्भ'—बरार, 'आकर'—पूर्वी मालवा जिस की राजधानी विदिशा थी; 'अवंति'—पश्चिमी मालवा जिसकी राजधानी उज्जैन थी.
'विंध्य'=पूर्वी विंध्य शक्ति; 'अचिवत'—मालवा से दक्षिण का विंध्य; परियात्र—अरावलि और पश्चिमी विंध्य; सह्य—पश्चिमी घाट; कन्हगिरि—कान्हेरी; सिरितन—श्रीशैल; मलय—नीलगिरि के दक्षिण का पश्चिमी घाट; महेंद्र—महानदी और गोदावरी के बीच पूर्वी घाट; सेत—अज्ञात; चकोर—श्रीशैल के ही इलाके में.

इनके बारे में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए प्रथम खंड—दकन का भूगोल, और अ० हि० द०, पृष्ठ 29; कैं० इं० क्वा०, पृ० 31-5; ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो०, 3, 73; ग्रां० हि० दि० सो०, 4, 25; अ० हि० आ० क०, पृ० 62-63 और टि० 75; से० इं०, पृ० 172, 196, 198.
49. नासिक के अभिलेख 1, 2, 3 और 25; दे० ए० इं०, 8.
50. कार्ले के अभिलेख सं० 17 और 21; दे०, आ० स० वे० इं०, 4.
51. आ० स० स० इं०, 1, 100.
52. ए० इं०, 24, 256-8.
53. कनिष्क के मथुरा के अभिलेख 21 और 23 वर्ष के हैं. रैप्सन और मेरी की भी यह राय है कि कनिष्क शक संवत का प्रवर्त्तक था जिसका प्रारंभ 78 ई० में हुआ था. अतः कनिष्क का मथुरा का दूसरा अभिलेख 101 ई० का है. स्मिथ के मतानुसार कनिष्क के राज्य का प्रारंभ 120 ई० में शुरू हुआ था और अंत 160 ई० के लगभग. कालक्रम के बारे में विमर्श के लिए दे०, पो० हि० ऐ० इं०, पृ० 317-27.
54. अ० हि० इं०, चतुर्थ सं०, 286.
55. दे०, पूर्व, पृ० 107.
56. ब्यूहलर, ए० इं०, ii, 369-70.
57. ए० इं०, 9, 94, सं० 24; ल्यूडर्स का सं० 1146

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

58. लुईडर का सं० 1024.
59. व्यूलर, ए० इं०, 95-6.
60. स्याकदोनी अभिलेख. इसमें सातवाहन कुल के श्री पुलुमावि के आठवें वर्ष का जिक्र आया है. डा० सुकथनकर जिन्होंने इस अभिलेख का संपादन किया है (ए० इं०, 14, 153) इसे पुलुमावि (द्वतीय) का बतलाते हैं जो गौतमीपुत्र सातकर्णि का पुत्र था. किंतु प्रो० दुब्रील ने जो कारण बतलाए हैं (ऐं० हि० द०, पृ० 50-1), उससे यह पुलुमावि 'मत्स्यपुराण की सूची का अंतिम सातवाहन राजा' होगा. इस अध्याय में स्वीकृत कालक्रम के अनुसार उसने 166 से 174 ई० तक राज्य किया था.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनकालीन सांस्कृतिक अवस्था

इस काल का सांस्कृतिक इतिहास लिखने के लिए सामग्री की स्थिति राजनैतिक इतिहास की सामग्री से बेहतर नहीं है। सच तो यह है कि इसके लिए प्रमाण और भी कम हैं क्योंकि जब हम आर्थिक और सामाजिक अवस्था को लेते हैं तो 'पुराणों' से जो किंचित प्रकाश मिलता था, वह भी गुम हो जाता है। अभिलेख, सिक्के और स्मारक इतने कम और बिखरे हुए हैं कि उनसे उस काल में जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में बहुत ही कम ज्ञान हो पाता है। जब ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तो हमें अमूर्त ऐतिहासिक प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है जैसे आर्यों का दकन में आगमन, दकन का शकों, यवनों और पहलवों से संपर्क और उनका मिस्र और रोम से व्यापार आदि।

दकन का सांस्कृतिक इतिहास वस्तुतः उसके आर्यीकरण का इतिहास है। दकन का प्रशासन, सामाजिक और आर्थिक जीवन, धर्म और दर्शन, कला और साहित्य—वस्तुतः मानव-जीवन की प्रत्येक शाखा आर्यों के ढांचे में ढाल गई। वैदिक ऋषियों, मौर्य अधिकारियों और बौद्ध मिशनरियों ने समान रूप से अपने उपदेशों और आचरण से इस परिवर्तन की गति को तीव्र किया और दकन की भूमि में आर्य संस्थाओं की जड़ें जमाने का कार्य किया। सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों ने इसे बिना किसी ननुनच के स्वीकार किया। वस्तुतः प्रमाण तो इस बात के मिलते हैं कि उन लोगों ने सुविचारित ढंग से उपलब्ध 'अर्थशास्त्रों' और 'स्मृतियों' में उपदिष्ट नीति के पालन की कोशिश की। ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों की, विशेषकर 'मानव-धर्मशास्त्र' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की, प्रतियां तैयार की जातीं थीं और उनका अनुशीलन होता था। जायसवाल के मतानुसार तो पहली शताब्दी के अंत में 'मनुसंहिता' ने 'ही' धर्मशास्त्र का स्थान ले लिया था।[1] नासिक के गुफालेख सं० 2 में गौतमीपुत्र के बारे में कहा गया है कि "उसने त्रिवर्गों की प्राप्ति के लिए देश और काल को सुविभक्त कर लिया था' (सुविभक्त-त्रिवर्ग देशकालस्य)' और वह पौर-जनों के सुख-दुख का समान भागी था।[2] उसकी यह उक्ति कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के इस कथन के अनुकूल है कि 'राजा को चाहिए कि वह त्रिवर्गों—'धर्म' 'अर्थ' 'काम' का—जो परस्पर आश्रित हैं, समान भाव से सेवन करे। और 'प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है।'[3] अतः जहां पुरातत्व के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं वहां प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र के ग्रंथों को उस समय के शासन तंत्र और जन जीवन के लिए पर्याप्त विश्वस्त प्रमाण माना जा सकता है। ऐसा सोचने के लिए कोई कारण नहीं है कि सातवाहनों ने अपने शासन में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उपदिष्ट आदर्शों की अवहेलना की थी।

काल की अस्थिरता के अनुरूप सातवाहनों और उनके प्रतिद्वंद्वी पश्चिम के क्षत्रपों के साम्राज्य की सीमाएं घटती-बढ़ती रहती थीं। 'पुराणों के अनुसार आंध्रों ने कण्वों का नाश कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मगध का साम्राज्य पाया था। किंतु अभी ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि आंध्रों ने मगध की प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र का नियंत्रण किया था। वे निश्चित रूप से एक दकनी शक्ति थे। अधिक से अधिक उनकी दो राजधानियां थीं : एक धान्य-कटक (धरणिकोट), जो कृष्णानदी के दक्षिणी किनारे पर गुंटूर जिले में थी; और दूसरी पैठन; जो गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर औरंगाबाद जिले में थी। जिस समय उनके साम्राज्य का सूर्य मध्याह्न पर था, उनका राज्य पूरब में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक और उत्तर में नर्मदा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक विस्तृत था। उत्तर में विंध्य के पार मालवा तक तो निश्चित रूप में उनका साम्राज्य था। मालवा उनकी उत्तरी सीमा थी। किंतु शक-सातवाहन संघर्ष मुख्य रूप में मालवा को ही लेकर होता रहा। इसलिए मालवा का भाग्य कभी इधर और कभी उधर पलटता रहा। यही हाल पश्चिम में नासिक, जुन्नार और कार्ले के प्रदेशों का भी रहा।[4]

उनके राज्य का क्षेत्र चाहे जो भी रहा हो, राजा सदा प्रभु बना रहा। सिंहासन पर अधिकार आनुवंशिक था और वह भी पिता-पुत्र परंपरा में था। बाद के कतिपय सातवाहन राजाओं ने अपने नामों के साथ अपनी माता के नाम भी दिए हैं। संभवतः इसका कारण बहुपत्नी प्रथा का होना था, जिसमें राजा की कई रानियां होती थीं। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद संभवतः प्रतिक्रियास्वरूप प्राचीन वैदिक अनुष्ठानों का प्रचार हुआ। मगध के पुष्यमित्र शुंग की ही भांति सातकर्णि (द्वितीय) ने भी दो 'अश्वमेध', एक 'राजसूय' यज्ञ और अन्य छोटे-मोटे यज्ञ कर अपनी सार्वभौम सत्ता की घोषणा की। उस काल के राजा सिर्फ 'राजा' की उपाधि से ही संतुष्ट न थे। अशोक का साम्राज्य काफी बड़ा था पर वह अपने को 'राजा' ही कहता रहा। किंतु गौतमीपुत्र सातकर्णि को राजरञो कहा गया है जो राजाधिराज का पर्याय है। शक अपने विजित प्रदेशों में क्षत्रपों की नियुक्ति करते थे। उनका क्षत्रप तक्षशिला या मथुरा में रहता था। अनेक अभिलेखों में महाक्षत्रप की उपाधि भी मिलती है, संभवतः वह क्षत्रप की अपेक्षा अधिक अधिकारों का उपभोग करता था। किंतु वह भी किसी राजा के अधीन होता था, यद्यपि यह अधीनता नाममात्र की ही थी। यद्यपि क्षत्रप विदेशी एजेंट थे, पर वे भारतीय राजाओं की भांति ही राज्य करते थे। नहपान अपने सिक्कों पर अपने को 'राजन्' कहता है। उसके दामाद उषभदात ने हिंदुओं की ही भांति प्रचुर दान किए। रुद्रदामन का तो हिंदू नाम ही नहीं था, अपितु वह ('धर्मार्थ')-'काम' की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहा और उसने 'अर्थविद्या' (अर्थात् अर्थशास्त्र) का भी गहन अध्ययन किया था।[5]

अभिलेखों से हमें शासन के सिर्फ ढांचे का ही पता चलता है। इनसे प्रकट होता है कि सातवाहन अपने राज के एक विस्तृत भाग का शासन राजकीय अधिकारियों की सहायता से करते थे और शेष भाग का शासन सामंतों के माध्यम से होता था। प्रशासन की दृष्टि से राज्य अनेक 'आहारों' अथवा 'राष्ट्रों' में विभक्त था। प्रत्येक 'आहार' में कम से कम ,एक 'निगम' (केंद्रीय नगर) और बहुत से गांव होते थे। इस प्रकार गोवर्धन, सोपारा, मामल, सातवाहन आदि अनेक आहार थे। यह 'आहार' वैसा ही था जैसा शालंकायन के लेखों में 'विषय' है। अभिलेखों में कुछ ही राजकीय अधिकारियों के उल्लेख आए हैं। 'आहारों' के शासक 'अमात्य' कहलाते थे।[6] 'राजामात्य' वे अधिकारी थे जो राजा के साथ रहकर सेवा करते थे और संभवतः उसके सलाह-कार होते थे। खास कामों के लिए 'महामात्र' नियुक्त किए जाते थे। 'भांडागारिक' भंडारों का अधीक्षक होता था। कोषाध्यक्ष की संज्ञा 'हेरणिक' थी। इसके अतिरिक्त सेना का प्रधान 'महासेनापति' था जो कभी-कभी राज्यपाल ('अमात्य') का भी काम करता था।[7] राज्य के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सचिव का काम 'लेखक' करता था जो उन सभी दस्तावेजों के मसौदे तैयार करता था जो राजा की ओर से जारी होते थे।[8] इनकी रजिस्ट्री 'निबंधकार' के यहां होती थी। सातवाहनों का राज्य काफी विस्तृत और सुसंगठित था। अतः इन उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त और भी छोटे-बड़े अधिकारी केंद्रीय सेवा में रहे होंगे। राज्य कितना सुसंगठित था इसका अनुमान उस प्रक्रिया से ही किया जा सकता है जिससे गुजरकर कोई राजकीय दानपत्र निकलता था। पहले राजा के मौखिक आदेश होते थे, फिर दानपत्र का मसौदा बनता था, फिर अधिकारों का निरूपण और अंत में राजकीय अभिलेखागार में उनकी रजिस्ट्री होती थी। तब कहीं वह दान पत्र प्रतिग्रहीता को मिलता था।[9] हम भलीभांति समझ सकते हैं कि पुलिस, वित्त, न्याय सेना, रसद, कृषि, उद्योग आदि के अलग-अलग विभाग भी रहे होंगे। यद्यपि लेखों में इनका जिक्र नहीं है तथापि इनके बिना ऐसा सुसंगठित राज्य चल ही नहीं सकता था।

कार्ले और काण्हेरी के अभिलेखों में जिन 'महारठियों और 'महाभोजों' का उल्लेख आया है, वे संभवतः सामंत राजा थे।[10] अपने इलाकों पर उनका आनुवंशिक अधिकार होता था। उनकी हैसियत और अधिकार 'अमात्यों' से अधिक होते थे। 'अमात्य' भूमि या गांवों का दान राजा का आदेश लेकर करता था। किंतु 'महारठी' या 'महाभोज' वैसे ही दान अपने अधिकार से करता था।[11] महारठी पश्चिमी घाट के ऊपरी इलाकों में होते थे जब कि 'महाभोज' उत्तरी कोंकण में होते थे।

कोल्हापुर में मिले सिक्कों से शासकों के एक दूसरे समुच्चय का पता चलता है।[12] इन सिक्कों पर तीन प्रकार के लेख हैं: (1) रानो वाशिष्ठीपुत्र विलिवयकुरस, (2) रानो माढरिपुतस सिवलकुरस, और (3) रानो गोमतीपुतस विलिवायकुरस। इनमें सं० 2 वाले व्यक्ति ने सं० 1 के, और सं० 3 वाले ने सं० 1 और 2 के सिक्कों पर अपनी छाप लगाई है। इन तीनों ने इसी क्रम से कोल्हापुर के इलाके में शासन किया था। इनका इलाका सातवाहनों के राज्य में पड़ता था। इसका प्रमाण यह है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि का राज्य वैजयंती (बनवासी) के दक्षिण तक था और कोल्हापुर बनवासी के उत्तर में पड़ता है। यूनानी भूगोललेखक टालेमी ने लिखा है कि बैलियोकूरस हिप्पोकूरा में राज्य करता था और सिरिपोलोमइओस बैठन में। सर रा० गो० भंडारकर ने बैलियोकूरस की पहचान विलिवायकुर से की है। यदि उनकी यह पहचान सही है तो हिप्पोकूरा को कोल्हापुर का यूनानी नाम मानना होगा। सिरिपोलोमइओस तो निश्चित ही गौतमीपुत्र का बेटा पुलुमावि है। विलिवायकुरों के सिक्कों पर उज्जैनी का चिह्न नहीं मिलता जो सातवाहनों के सिक्कों पर हमेशा मिलता है। अतः या तो ये सातवाहनों के सामंत रहे होंगे या फिर वे उनके अधीन रहे होंगे।[13] इनकी उपाधि रानो अवश्य थी। किंतु इससे यह जरूरी नहीं कि वे स्वतंत्र रहे होंगे, क्योंकि नहपान ने भी, जो वास्तव में किसी उत्तरी शक्ति का सामंत था, 'राजन्' की उपाधि धारण की थी।

कतिपय सातवाहन राजाओं और पश्चिमी क्षत्रपों ने अपनी प्रजा की सुख-समृद्धि की वृद्धि में काफी रुचि ली थी। सातकर्णि (द्वितीय) ने अनेक यज्ञ किए थे और ब्राह्मणों को प्रचुर धन-संपत्ति दान में दी थी।[14] नहपान के दामाद उषभदात ने भी ब्राह्मणों और श्रमणों को समान रूप से दान दिए थे। उसने अपनी प्रजा के लिए घाटों, विश्राम गृहों, प्रपाओं और सार्वजनिक कक्षों का प्रबंध किया था।[15] गौतमीपुत्र सातकर्णि अपनी प्रजा के सुख-दुख में समान रूप से भागी बना था। उसने 'धर्मोचित कर' ही लगाए थे। उसने 'द्विजों और अवरों के कुटुंबों का विवर्धन किया था।'[16] उसने और उसके परिवारवालों ने बौद्ध भिक्षुओं के आराम का भी प्रबंध किया था। हो सकता है कि अभिलेखों में इस संबंध में किंचित अत्युक्ति की गई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो, किंतु इस प्रकार के कार्यों से ही राजा अपनी प्रजा का भला किया करते थे।

'ग्राम' और 'निगम' (नगर) प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थे। अभिलेखों में इनके प्रशासन से संबंधित प्रमाण अपर्याप्त हैं। हाल की 'गाथासत्तसई' में 'ग्रामाणी' का उल्लेख है।[17] इसका अधिकारक्षेत्र पांच गांवों तक, कभी-कभी दस गांवों तक होता था। 'ग्रामों' और 'निगमों' का अपने घरेलू प्रशासन में काफी स्वाधीनता प्राप्त थी। अभिलेखों में दकन के अनेक नगरों के उल्लेख हैं। भरुकच्छ (भड़ोच), सोपारा, काण्हेरी, कल्याण, पैठन, तगर, जुन्नार, कार्ले, गोवर्धन और धनकट के उल्लेख इस काल के अभिलेखों में विशेष रूप से आए हैं। इनमें से कुछ तो व्यापार के बड़े केंद्र थे। सभी नहीं तो कुछ नगरों की तो 'निगम-सभाएं' भी थीं। यह 'सभा' वहां की जनता की प्रतिनिधि संस्था होती थी। नासिक के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ऐसी ही एक 'सभा' में उषभदात के एक दान की घोषणा हुई थी और तत्कालीन 'प्रथा के अनुसार उसकी रजिस्ट्री हुई थी।'[18] इन 'सभाओं' के माध्यम से ही जनता अपनी इच्छाएं व्यक्त करती थी और अपना प्रबंध चलाती थी। इसी जगह के एक लेख से विदित होता है कि नागरिकों की एक 'सभा' ने तो पूरे एक गांव का दान दिया था। यदि उनका एक संस्था के रूप में गठन न होता तो यह संभव नहीं हो सकता था।[19] कतिपय जातियों ने अपने हितों की रक्षा के लिए अपने-अपने दल भी बना लिए थे। इस काल के अभिलेखों और हाल की 'सत्तसई' में 'गहपति' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'गहपति' से किसानों के कतिपय परिवारों के प्रमुख का बोध होता है। इनमें से कुछ 'गहपति' तो 'निगमसभा के भी सदस्य थे।[20] कतिपय अभिलेखों में 'श्रेणी' या 'सेनी' शब्द भी बार-बार आया है। हर धंधे की अपनी श्रेणी होती थी।[21] बौद्ध भिक्षुओं ने भी अपने 'संघ' बनाए थे। राजवंशों के परिवर्तन से इन संगठनों पर कोई असर पहीं पड़ता था। ये अबाध रूप से अपना प्रबंध करते रहते थे। इस प्रकार राजनैतिक क्रांतियों के कारण आम जनता को कोई धक्का नहीं पहुंचता था।

सातवाहन काल में अथवा उससे भी पहले से दकन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चार वर्णों में समाज के विभाजन की व्यवस्था से परिचित था। पुरोहितवर्ग ब्राह्मण कहलाता था, क्षत्रिय योद्धा थे, वैश्य कृषि और व्यापार के कामों में लगे थे और शूद्र इन वर्णों की सेवा करनेवाले घरेलू नौकरों का काम करते थे। आर्य धर्म का पालन करनेवाला प्रत्येक परिवार इन चारों में से किसी न किसी वर्ण का होता था। आर्यों के इस दायरे से परे स्थानीय कबीले थे जिनका रहन-सहन और विचारधारा इनसे भिन्न थी। ज्यादातर लोग अपने व्यवसाय से ही जाने जाते थे। खेतिहर को हलिक, व्यापारी को 'सेठी', दवाओं का काम करनेवाले को 'गधिक' बढ़ई को 'बधकी', बुनकर को 'कोलिक', तेली को 'तिलपिसक', लुहार को 'कमर' कहा जाता था। बौद्धों के आगमन और शक-पहलवों के हमलों ने समाज की जड़ें हिला दी थीं। आम जनता ने जिसमें पुरुष और स्त्री, कृषक गृहस्थ शामिल थे और शकों, यवनों और पहलवों[22] ने भी, जो दकन में काफी पहले आ गए थे, बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों को दान दिए। दकन और उत्तर-पश्चिम भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में इन विदेशी भी जातियों के लोग बसे हुए थे। कतिपय यवनों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, शकों में कुछ बौद्ध हो गए थे और कुछ ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बन गए थे। इन्होंने अपने लेखों में प्राकृत का प्रयोग किया और अपने-अपने कुलों के भारतीय नाम भी रखे।[23] जैसे नहपान की बेटी का नाम दक्षमित्रा था और उसके दामाद का नाम उषभदात (ऋषभदत्त) था। उषभदात ने बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान दिए थे। इसी प्रकार यवनों ने भी बौद्ध भिक्षुओं को दान दिए थे। इससे यही जाहिर होता है कि ये विदेशी धीरे-धीरे अपने नए वतन के धर्मों और रीति-रिवाजों को अपना रहे थे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और इस प्रकार वे यहां की जनता में घुलमिल रहे थे।[24] ऐसा लगता है कि इन विदेशियों और स्थानीय द्विज वर्णों में अक्सर विवाहादि भी होते थे। महत्व की बात यह है कि गौतमीपुत्र ने इस प्रकार की 'वर्णसंकरता को रोकने की कोशिश की थी।' किंतु वर्ण-धर्म का उतनी कड़ाई से पालन नहीं होता था क्योंकि अनेक ब्राह्मण कुलों ने राजपद धारण किया। स्वयं सातवाहन भी पहले पुरोहित ही थे, तथापि उन्होंने दकन के क्षत्रियों पर आधिपत्य किया। क्षत्रिय भी अक्सर वैश्य धर्म का अवलंबन कर व्यापार करने लगे थे।[25]

इस काल में संयुक्त परिवार की व्यवस्था एक आम बात थी। अमरावती में ऐसे बहुत से लेख मिले हैं जिनमें दाताओं ने अपने पुण्य में अपने माता-पिता, पत्नियों, भाइयों, बेटों, बेटियों, पोतों, परपोतों आदि को सहभागी बनाया है।[26] परिवार के विभिन्न सदस्यों का उल्लेख परिवार में उनकी हैसियत के अनुसार हुआ है। पिता का नाम माता से पूर्व, बेटे का बेटी से पहले और भाई का बहिन से पहले होता है। आर्यों का समाज पितृसत्तात्मक समाज था। यह इसी कारण हुआ है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि समाज में नारियों का स्थान निम्न था। उस काल के अनेक लेखों में जो नासिक, कार्ले, कुडा और अमरावती में मिले हैं, नारियों के द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख है। कभी-कभी तो ये दान बड़े बहुमूल्य होते थे। डा० के० गोपालाचारी के अनुसार 'अमरावती के 145 लेखों में 72, कुडा के 30 में 13, नासिक के 29 में 16 लेखों में या तो नारियों के दानों का उल्लेख है या फिर वे इन दोनों में पुण्य की भागी बनाई गई हैं।[27]

यदि मूर्तियों में समकालीन चलन ठीक-ठीक प्रतिबिंबित होता हो तो यह मानना होगा कि उस काल की जनता शरीर पर वस्त्र कम धारण करती थी और आभूषण खूब पहनती थी। अमरावती की वेदिका और कार्ले की चैत्य गुफाओं में कटी प्रतिमाओं से ऐसा ही विदित होता है। कतिपय छोटे-मोटे ब्यौरों को छोड़ दें तो पूर्वी और पश्चिमी दकन दोनों जगहों में लोगों के वस्त्राभूषण प्रायः एक समान थे। स्त्रियां कमर के नीचे चुन्नटदार वस्त्र पहनती थीं जिसके दो या तीन सोपान होते थे और दाईं ओर गांठ बंधती थी। वस्त्र के किनारे उसी गांठ से लटकते रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक छाती ढकने की प्रथा न थी। पुरुष एक लुंगी पहनते थे जिसका एक हिस्सा कभी-कभी कंधों पर रख लेते थे। वे एक उष्णीष (पगड़ी) भी बांधते थे जिसका कपड़ा मरोड़दार होता था। कुंडल, कंकण, अंगद (बाजूबंद) और कंठहार पहनने का चलन पुरुषों और स्त्रियों दोनों में था। कुछ स्त्रियां तो कोहनी तक चूड़ियां पहनती थीं और उनके बाजूबंद हाथ को काफी ऊपरी भाग तक ढंके रहते थे। प्रायः सभी स्त्रियां परों में पाजेब पहनती थीं।

आर्थिक क्षेत्र में कृषि ही जनता और सरकार दोनों का मुख्य सहारा था। अभिलेखों में गायों, भूमि और ग्रामों के दान का उल्लेख आया है। इससे उस काल के दैनिक जीवन में इनके महत्व का ज्ञान होता है। राजा की अपनी भू-संपत्ति होती थी।[28] राजा किसानों से उनकी उपज का छठा भाग ग्रहण करता था जो धर्मशास्त्रों का विधान था। दान पत्रों में परिहारों की जो सूची दी गई है उससे अप्रत्यक्ष रूप में यह पता चलता है कि नमक पर राज्य का एकाधिकार था।[29]

देश के आर्थिक जीवन में कृषि के बाद उद्योग और व्यापार का महत्व था। तत्कालीन अभिलेखों में विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के उल्लेख मिलते हैं। नासिक और जुन्नार के लेखों में 'कुलरिकों' (कुम्हारों), 'ओदयंत्रिकों' (जल के इंजन बनानेवालों), 'तिलपिसकों' (तेलियों), 'धन्निकों' (अनाज के व्यापारियों), 'कोलिकों' (बुनकरों), 'वसकरों' (धरकारों), 'कसकरों'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ठठेरों) के उल्लेख हैं। इनमें प्रत्येक व्यवसाय के अपने संगठन थे जो बड़े शक्तिशाली थे। इन संगठनों को 'श्रेणी' कहा जाता था। 'श्रेणीधर्म' की कानून की तरह मान्यता थी।[30] ये श्रेणियां अपने व्यवसायों की विभिन्न रूपों में सेवा करती थीं। इनकी खासियत यह थी कि ये महाजनी का काम भी करती थीं। ये नकद रकमें और अन्य संपत्ति भी निक्षेप के रूप में ग्रहण करती थीं। ये खास कामों के लिए इन धनों का उपयोग करती थीं। उदाहरणार्थ, उषभदात के नासिक के लेख से पता चलता है कि गोवर्धन में बुनकरों की एक श्रेणी ने 2000 'काहापणों' की एक अक्षयनिधि एक प्रतिशत मासिक ब्याज पर प्राप्त की।[31] एक दूसरी निधि 1000 काहापणों की थी जिस पर 3/4 प्रतिशत मासिक ब्याज था। इनमें से पहली निधि (नासिक की) उस गुफा में रहनेवाले (वस्स करनेवाले) 20 भिक्षुओं में प्रत्येक पर 12 'काहापण' वस्त्र के लिए खर्च करने को थी। दूसरी निधि उनकी दूसरी जरूरतों के लिए थी।[32] जुन्नार के एक शक उपासक ने कोनचिक की श्रेणी को अपने दो खेतों की आमदनी 'करंज' और 'बरगद' के वृक्ष लगाने के लिए दी थी।[33] श्रेणियों को अपने नाम से दान देने का भी अधिकार प्राप्त था। जुन्नार में एक लेख मिला है जिसमें 'धन्निकों' की श्रेणी के दान से एक गुफा में सात कक्षों और एक जलकुंड के निर्माण का उल्लेख है।[34] ये श्रेणियां दीर्घजीवी रही होंगी और इनके कार्य बड़ी ईमानदारी और सफाई से चलते थे, अन्यथा लोग इनको अक्षयनिधियों का दान नहीं करते।[35] इनके पास जमा मूलधन व्यापारियों की पूंजी के काम आता था जिससे वे अपना व्यापार बढ़ाते थे।

'पेरिप्लस आफ दि एरीथ्रियन सी', भारतीय प्रायद्वीप में मिले रोमन सिक्के, टालेमी के 'गाइड टु ज्याग्रफी' और स्थानीय अभिलेखों और सिक्कों से इस काल के दकन के आर्थिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। 'पेरिप्लस' से पता चलता है कि सातवाहन साम्राज्य के पश्चिमी और पूर्वी भागों की आबादी घनी थी और लोग काफी समृद्ध थे। भीतरी भाग में जंगल अधिक थे। इसमें रेगिस्तान और ऊंचे पहाड़ थे जिनमें अनेक जंगली जानवर—जैसे चीते, बाघ, हाथी, बड़े-बड़े सांप, भेड़िए और तरह-तरह के लंगूर—पाए जाते थे।[36] फिर भी दकनी पठार के पश्चिमी भाग में कई व्यापारिक नगर जैसे–पैठन, तगर[37], जुन्नार, नासिक, वैजयंती–आदि-आदि थे। 'पेरिप्लस' के अनुसार, 'चौपहिया गाड़ियों में और कभी-कभी सड़कविहीन बड़े इलाकों को पारकर पैठन से प्रचुर मात्रा में इंद्रगोप मणि, तगर से सामान्य वस्त्र, तरह-तरह की मलमल और मैलो के कपड़े और दूसरी वस्तुएं जो समुद्री रास्ते से वहां आती थीं, बेरीगाजा (आधुनिक भड़ोच) में भेजी जाती थीं।[38] भड़ोच के दक्षिण में सातवाहन राज्य के सोपारा और कल्याण के बंदरगाह थे। अमरावती के लेखों में पूर्वी इलाके के केवुसरा, विजयपुर और कुदूर नगरों के उल्लेख हैं जो व्यापार के केंद्र थे और जहां बड़े-बड़े व्यापारी रहते थे।[39] टालेमी ने कोंटाकोसिला, कोड्डोइरा (आधुनिक गुडूर) और अल्लोसीगे का उल्लेख मईसोलिया क्षेत्र के बंदरगाहों के रूप में किया है।[40] 'पेरिप्लस' के अनुसार यह क्षेत्र 'भीतरी भाग के साथ लगा, पर समुद्र तट के सहारे काफी दूर तक फैला हुआ था।' मध्य दकन में जंगलों की बहुतायत होते हुए भी सातवाहन राज्य के पूर्वी और पश्चिमी भागों के बीच पर्याप्त मात्रा में यातायात होता था। डॉ० जे० एफ० फ्लीट का कथन है कि 'नक्शों के अध्ययन से मुझे पूरब से पश्चिम के लिए प्राचीन व्यापार मार्ग का पता चल गया है जिसके चिह्न यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। यह मार्ग गोलकुंडा या हैदराबाद, तेर और पैठन से भड़ोच को जाता था।[41] कारवां और नावें परिवहन के मुख्य साधन थे। दकन के विभिन्न नगरों के बीच आवागमन का प्रमाण उन दानों में मिलता है जो नासिक में दशपुर के और कार्ले में वैजयंती, धेनुककट और सोपारा के, जुन्नार में भरु-कच्छ (भड़ोच) और कल्याण के और नानाघाट में सोपारा के निवासियों ने दिए थे।[42] नहपान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का दामाद उषभदात तो यात्रियों के सुख-साधनों का विशेष ध्यान रखता था। उसने उन मार्गों पर, जो सबसे ज्यादा चालू थे, उनके लिए जिन सुविधाओं का इंतजाम किया था उनमें विश्रामगृहों, कूपों, प्रपाओं और स्नान-स्थानों के निर्माण प्रमुख थे। उसने उनके लिए घाटों का निःशुल्क प्रबंध किया था।

संचार साधनों के अतिरिक्त निर्बाध व्यापार के लिए धन का भी उतना ही महत्व है। किंतु जैसा कि सभी प्राचीन समाजों में होता था, दकन में भी मुद्रा का प्रचलन कम ही था। अधिकांश स्थानीय लेन-देन वस्तुओं के विनिमय या छोटे-छोटे सिक्कों या अन्य विनिमय माध्यमों से होता था। प्राचीन हिंदू कारीगरों को सिक्के अधिक पसंद नहीं थे। सातवाहनों के सिक्के सीसे (लेड), पोटिन, तांबे और चांदी के होते थे जिनमें कलात्मकता का अभाव था।[43] नहपान ने तांबे और चांदी दोनों धातुओं के सिक्के चलाए थे। उसके चांदी के सिक्के इंडो-ग्रीक राजाओं के चांदी के सिक्कों की नकल पर थे। उनका आकार, वजन और बनावट यूनानी अर्ध-द्रम्म की तरह है। नहपान के नाम के अधिकांश सिक्कों पर गौतमीपुत्र सातकर्णि ने अपने नाम की छाप लगाकर फिर से चालू कर दिया था।[44] तत्कालीन अभिलेखों में जिस 'काहापण' (कार्षापण) का उल्लेख है वे चांदी के सिक्के थे।[45] उषभदात के एक लेख से यह जानकारी हासिल होती है कि 35 'काहापण' एक 'सुवर्ण' (जो उस काल का सोने का सिक्का था) के बराबर होते थे।[46]

अजंता के चित्रों से विदित होता है कि सोने के गहनों का अधिक चलन था और उन्हें स्त्रियां और पुरुष दोनों पहनते थे। उस समय कोल्लार की खानों से तो सोना निकलता ही था। उनके अतिरिक्ति हट्टी, वोंदपल्ली और मस्की में भी सोने की खानें थीं। ये सभी स्थान हैदराबाद रियासत के रायचुर जिले में हैं। मस्की सोने के उद्योग का एक महत्वपूर्ण केंद्र था क्योंकि वहां एक चट्टान पर अशोक का एक लेख खुदा है जिसमें 'देवानांपिय' के अतिरिक्त उसका नाम अशोक भी मिलता है। ओल्ड टेस्टामेंट के एक उल्लेख से यह भी लगता है कि दकन से पश्चिमी भारत के बंदरगाहों के जरिए भूमध्यसागर के देशों को सोना भेजा जाता था। सर जान मार्शल का मत यह भी है कि मोहेनजो-दाड़ो में जो सोने के गहने मिले हैं वे दकनी सोने के ही हैं। यह बात उनकी रायसनिक परीक्षा से प्रकट हुई है।

दकन और श्रीलंका के बंदरगाहों से ही रोम के निवासी मुख्य रूप से अपने लिए अधिकांश रत्न और शानशौकत के अन्य सामान मंगाते थे। शुरू में वह व्यापार मिस्रियों और अरबों के माध्यम से होता था, वे ही ये सामान रोमन व्यापारियों और वितरकों को देते थे। 'पेरिप्लस' के अनुसार अरब 'बेरीगाजा में अपने व्यापारी जहाज भेजते थे।'[47] रोम के निवासी इन रत्नों, सिल्क और सुगंधित पदार्थों के लिए मुंहमांगा दाम देते थे। आक्टोवियस (आगस्टस) ने जब ई० पू० 30 में मिस्र को जीत लिया तो रोम ने पश्चिमी भारत के बंदरगाहों से स्वयं व्यापार शुरू कर दिया। सन 45 ई० के आस-पास यूरोप वालों ने मानसून हवाओं की खोज कर ली। तब से तो एक नए युग का ही आरंभ हो गया जिसमें रोमन संसार और पूरब के देशों के बीच समुद्री मार्ग से खूब व्यापार होने लगा। 'पेरिप्लस' में बेरीगाजा के बंदरगाह में विदेशों से आने वाले और वहां से विदेशों को जाने वाले सामानों का विशद वर्णन है।[48] इससे इन दोनों देशों के बीच के व्यापार की खासियत का पता चल जाता है। इस शहर में शराब, तांबा, टिन और सीसा, मूंगे और पुखराज, महीन और तरह-तरह के सस्ते कपड़े, गाढ़े रंगों के कमरबंद, सुहागा, मीठी लौंग, चकमक के गिलास, मैनसिल, सुरमे और सोने तथा चांदी के सिक्के आते थे। सामंत राजा अपने लिए चांदी के मूल्यवान वर्तन, गानेवाले लड़के, हरम के लिए सुंदर लड़कियां, अच्छी शराबें, सुंदर से सुंदर धागे के महीन कपड़े और लेप मंगाते थे। निर्यात की वस्तुओं में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमुख थीं—जटामांसी, कास्टस, गुग्गुलु, हाथी दांत, गोमेदमणि, इंद्रगोपमणि, इमारती लकड़ियां, हर तरह के कपड़े, सिल्क के कपड़े, मैलो के कपड़े, धागे, लंबी मिर्च और ऐसी अन्य चीजें जो दूसरी मंडियों से यहां आती थीं। प्लिनी ने लिखा है कि रोम के बाजार तक पहुंचते-पहुंचते इन वस्तुओं के दाम सौ गुने हो जाते थे। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की यूरोप के बाजारों में बिक्री से दकन में प्रभूत मात्रा में सोना-चांदी चला आ रहा था। दकन के विभिन्न नगरों में, जो एक-दूसरे से काफी दूर हैं, जैसे उत्तर-पश्चिम में नागधरा और दर्फल में, तथा दकन के पठार के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर स्थित वेणुकोंडा, नेल्लोर और कुडुप्पा में, रोमन सिक्के काफी संख्या में मिले हैं। इनसे पता चलता है कि आगस्टस के समय (ई० पू० 30) से दकन का रोमन साम्राज्य से घनिष्ठ व्यापारिक संबंध था और इस व्यापार से शकों और सातवाहनों के राज्य मालामाल हो गए थे।[49]

यदि रोम के निवासी अपनी ऐयाशी की वस्तुओं के लिए पूरब की ओर देखते थे तो स्वयं भारतीय भी व्यापार और धर्म-प्रचार के लिए सुदूर पूरब को जाते थे। उनके लिए बर्मा और सुमात्रा 'सुवर्ण देश', अराकान 'रजत देश' और चंपा (हिंदचीन) 'ताम्र देश' थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलुमावि (द्वितीय) के राज्यकाल में पूर्वी दकन में जहाजरानी के एक ऐतिहासिक युग का प्रादुर्भाव हुआ जो यज्ञश्री के राज्य-काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। कारोमंडल के समुद्री किनारे पर मिले उसके सिक्कों पर समुद्री जहाज की आकृति अंकित है जो इस महत्वपूर्ण सफलता की यादगार है।[50] टालेमी ने पूर्वी समुद्रतट और मलय प्रायद्वीप और पूर्वी द्वीपसमूह के बीच प्रचुर व्यापार का उल्लेख किया है। इस भूभाग की कुछ भारतीय बस्तियां संभवतः इसी युग की देन हैं। अराकान की राजधानी त्रिलिंग, स्याम की खाड़ी में काकुल और अनाम में अमरावती के नाम संभवतः आंध्र देश के इन्हीं नामों के नगरों पर रखे गए थे।

दकन का धार्मिक इतिहास वहां की स्थानीय आदिम पूजापद्धतियों पर उत्तर भारत के धर्मों की विजय का इतिहास है। यहां के प्राचीन निवासी कबाइली टोटमों, ग्राम-देवताओं, वृक्षों और सांपों के पुजारी थे। शुरू में उनमें जादू-टोना और धर्म आपस में इतने घुलेमिले थे कि एक से दूसरे को अलग कर पाना नामुमकिन था। इनमें सामूहिक रूप से गानों, नृत्यों तथा नशीली शराब पीने का खूब प्रचार था। आर्यों के आगमन से उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। पुराने वाशिंदों ने या तो कुछ सीमाओं के अंदर नावागंतुकों के धर्म को स्वीकार कर लिया या फिर वे पहाड़ों और जंगलों में चले गए जहां वे आज भी अपने आदिम अनुष्ठान करते हैं। वैदिक धर्म, उपनिषदों का दर्शन, जैन धर्म और बौद्ध धर्म विंध्यपार के प्रदेशों में इतना देशी बन चुका था कि सातवाहन काल तक आते-आते वह वहां की धरती में उत्पन्न प्रथाओं से भी अधिक देशी हो गया था। एक सातवाहन राजा चातुर्वर्णों के बीच संकरता के विरुद्ध घोषणा करता है और त्रिवर्ग के पालन पर जोर देता है।[51]

पूर्व सातवाहन राजा वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे। नानाघाट के लेखों में सातकर्णि (द्वितीय) के द्वारा किए गए यज्ञों और ब्राह्मणों को 'दक्षिणास्वरूप' दिए गए गोदामों, हस्तिदानों और विभिन्न अन्य दानों से यही विदित होता है कि वैदिक अनुष्ठानों का उनके राजदरबार और अन्य परिकर पर कितना प्रभाव था।[52] इसी लेख में इंद्र, संकर्षण, वासुदेव, चंद्र, सूर्य, यम, वरुण और कुबेर का देवताओं के रूप में आह्वान किया गया है। इससे विदित होता है कि दकन में यह युग वैदिक से पौराणिक देववर्ग के प्रचार का संक्रमण काल था। हाल की 'गाथा सत्तसई'[53] में यह बात विशेषतया वहां देखी जा सकती है जहां पशुपति और गौरी, रुद्र और पार्वती, लक्ष्मी और नारायण के उल्लेख हैं। सरस्वती और गौरी का भी आह्वान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है और कृष्ण लीला की कथाओं के भी संकेत हैं। कहा गया है कि 'गौतमीपुत्र सातकर्णि ने चारों वर्णों की संकरता को रोक दिया था।' यज्ञश्री नाम से भी वैदिक धर्म के पालन का संकेत है। दकन के कुछ भागों पर शक-क्षत्रपों ने भी राज्य किया था। उन्होंने शिव या विष्णु की पूजा स्वीकार की थी। वे ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति भी श्रद्धालु थे। किंतु इन्हें वैदिक यज्ञों का पूर्ण अधिकार न मिला था। इसके अधिकारी तो द्विज वर्ण ही थे। आर्य-धर्म में नए-नए दीक्षित इन विदेशियों और संकर जातियों के लिए 'पुराण' थे जिनमें सृष्टि और प्रलय, स्वर्ग और नरक, और विष्णु के दस अवतारों, शिव के मनुष्य रूपों की कथाएं हैं और धर्मशास्त्र के भी वे अंश हैं जिनका आम जनता से संबंध है। कतिपय 'पुराणों' में आंध्रवंश के अंत तक के राजाओं की सूची है। ये भविष्य काल में वर्णित हैं ताकि जनता उनके प्रति भक्ति करे। जनता को पुण्य की प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा करते देवताओं और ब्राह्मणों को दान देने, कूपों और तालाबों के निर्माण कराने तथा वृक्ष लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उषभदात ने देवताओं और ब्राह्मणों को प्रभूत गोदान और ग्रामदान किए थे। उसने बारहों महीने हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया, कुंएं और तालाब खुदवाए, पांथशालाएं बनवाईं और प्रभास, पुष्कर (अजमेर) आदि 'तीर्थों' की यात्राएं की थीं। ये पौराणिक धर्म के पालन के खास दृष्टांत हैं। हम ऐसा मान सकते हैं कि आम जनता भी अपनी हैसियत के अनुसार पुण्य के ऐसे कार्य करती थी।

जैनधर्म विंध्य के दक्षिणी प्रदेशों में ई० पू० चौथी शताब्दी में ही आ गया था। दकन के चारों ओर ऐसे प्रदेश थे जो उस काल में जैन धर्म के गढ़ बन गए थे जबकि वह अपनी जन्म-भूमि में प्रमुख धर्म न रह गया था। उत्तर और उत्तरपूर्व में मालवा और कलिंग और दक्षिण में तमिल देश और मैसूर में जैनों की फलती-फूलती 'बस्तियां' थीं। मगध का नंद राजा कलिंग से 'जिन' की एक मूर्ति उठा ले गया था जिसे खारवेल वापस लाया। अनुश्रुति है कि 'चंद्रगुप्त मौर्य ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष जैन मुनियों के साथ बिताए थे।' खारवेल ने कलिंग में जैन धर्म की सेवा की थी। उदयगिरि और खंडगिरि में जैन मुनियों के वास के लिए बनाई गई अनेक गुफाएं हैं। सेवेल ने वर्तमान आंध्र प्रदेश के प्रायः हर जिले में जैन अवशेष देखे हैं।[54]

वैदिक धर्म के बाद बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक थी। इतिहास में सातवाहनों के आने से पहले ही विंध्यपार के प्रदेशों में इसने अपने पांव जमा लिए थे। पश्चिम में पितलखोरा और कोल्हापुर में तथा पूरब में भट्टिप्रोलु और घंटशाल में जो पुरातात्विक खुदाइयां हुई हैं उनसे अतिप्राचीन काल के बौद्ध अवशेष प्रकाश में आए हैं। आंध्र इलाके में जग्गयपेट, अमरावती और भट्टिप्रोलु के स्तूपों पर मौर्य लिपि में छोटे-मोटे लेख खुदे हैं जो ई० पू० तीसरी शती के हैं।[55] बौद्ध इतिहास-कथाओं के अनुसार अशोक के धर्मदूतों ने महिष-मंडल और महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।[56] सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों ने भी बौद्ध भिक्षुओं को प्रश्रय दिया। दकन में जितनी भी गुफाएं सातवाहन काल की खुदी हैं उनमें से प्रायः सभी का संबंध बौद्ध धर्म से है। कण्ह (कृष्ण) राजा ने नासिक में बौद्ध भिक्षुओं की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए एक महामात्र की नियुक्ति की थी। हाल की 'सत्तसई' में बुद्ध के चरणों की पूजा का उल्लेख है।[57] सभी स्थानों में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियां काफी संख्या में रहती थीं और लोग उनके उपदेशों से लाभान्वित होते थे और उनकी सहायता करते थे। इन श्रद्धालुओं में बौद्धों के अतिरिक्त अन्य लोग भी होते थे। इन 'उपासकों' ने उनके लिए 'लेणें' (गुफाएं) और 'चैत्यगृह' (पूजा-स्थान) बनवाए। बाद में उनके लिए ईंटों और लकड़ी के विहार बनवाये। 'श्रमणों' के भोजनादि के लिए ये जमीनें और कभी-कभी गांव भी दान में देते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनके लिए नये 'चीवर' (वस्त्र) देने की भी प्रथा थी। इसका इंतजाम करने के लिए पास की किसी श्रेणी में प्रचुर धन अक्षय-निधि के रूप में जमा करा दिया जाता था। इस रकम के वार्षिक व्याज से उनके लिए चीवरों का प्रवंध हो जाता था।

गोतमी बलश्री ने भदयानीय संप्रदाय के भिक्षुओं के वास के लिए एक 'लेण' बनवाई थी। उसके बेटे ने तेकिरासी पहाड़ी के भिक्षुओं के लिए 200 'निवर्तन' भूमि दान में दी थी। तिरंड पहाड़ी के भिक्षुओं के लिए मां-बेटे ने मिलकर 100 'निवर्तन' भूमि दान की थी। बलूरक (कार्ले) की 'लेण' के निवासी महासांघिक भिक्षुओं के लिए पुलुमावि (द्वितीय) ने एक गांव का दान किया था। उषभदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पहाड़ी में एक 'लेण' बनवाई थी और उसमें रहनेवाले समस्त भिक्षुओं के भोजन के लिए 4000 'काहापण' के मूल्य की भूमि दान में दी थी। इसके अतिरिक्त उसने 3000 'काहापणों' का दान 'उस गुफा में रहने वाले 20 भिक्षुओं के 'चीवर' और 'कुसन' (बाहरी खर्च) के लिए किया था। यह रकम स्थानीय बुनकरों की दो श्रेणियों को दी गई थी। उस काल के अभिलेखों से विदित होता है कि सभी हैसियत और संप्रदायों के लोगों ने बौद्ध भिक्षुओं को इसी तरह के अनेक दान दिए थे। दाताओं में पुरुष भी थे और स्त्रियां भी।[58] नासिक, कार्ले, काण्हेरी, जुन्नार, कुडा, महाड, कोल, भाजा, बेडसा, अजंता, अमरावती, नागार्जुनकोंड, जग्गयपेट, भट्टिप्रोलु आदि स्थानों के बौद्ध अवशेषों से सिद्ध होता है कि उस काल में बौद्ध भिक्षु काफी लोकप्रिय थे।

स्वयं भिक्षुओं के अनेक संप्रदाय थे। प्राचीन बौद्ध साहित्य में अंधक-भिक्षुओं का उल्लेख है। संभवतः यहां उनसे आंध्र के भिक्षुओं का तात्पर्य है। तात्कालीन अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ संप्रदाय आंध्र के खास-खास नगरों में थे। नासिक और काण्हेरी में भदयानी, कार्ले में महासांघिक, सोपारा और जुन्नार में धम्मतरिय, अमरावती में चेतकिय और नागार्जुनकोंड में पूर्वशैल और अवरशैल संप्रदाय के भिक्षु रहते थे।[59] सातवाहनों के विपरीत उषभदात सभी संप्रदायों के भिक्षुओं को समान रूप में प्रश्रय देता था। वह बिना किसी संप्रदाय या मूल की चिंता किए सभी बौद्ध भिक्षुओं को दान देता था।[60]

पुरापाषाण युग में मानवीय मस्तिष्क और परिश्रम के जो भी फल सामने आए, उनमें कला का प्रारंभ भी शामिल है। कुछ काम चलाऊअनगढ़ औजारों के निर्माण से शुरू कर मानव जाति ने सभ्यता में निरंतर प्रगति की। उसने बेहतर औजार, सुंदर बर्तन, मामूली आभूषण, घरों और विशाल पाषाण-समाधियों का निर्माण किया। किंतु दकन में इस समय मौर्य-युग से पहले की कोई इमारत नहीं बच रही है। कारण भी स्पष्ट है। उस समय मिट्टी या मिट्टी की ईंटों, बांसों और इसी तरह की लकड़ी की इमारतें बनती थीं। विंध्य के दक्षिण में जो भी प्राचीन स्मारक बनते हैं वे प्रायः सभी अशोक के समय के बाद के हैं और बौद्ध प्रेरणा के हैं। वे या तो पहाड़ों को काटकर बनाई गई 'लेणें' हैं या 'चैत्य' अथवा 'विहार' और 'स्तूप' की इमारतें हैं। ये सातवाहनों के राज्य के पूर्वी और पश्चिमी दोनों भागों में मिलते हैं। इसी पुस्तक के खंड 9 में इस काल के प्रमुख स्मारकों का विशद वर्णन मिलेगा। इनसे स्पष्ट हो जाएगा कि सातवाहन-काल के कारीगरों ने कला और तकनीक के क्षेत्र में कितनी दक्षता हासिल कर ली थी।

जहां तक लघु कलाओं का प्रश्न है उनका आभास हैदराबाद राज्य में पैठन, मस्की और कोंडापुर तथा गुंटूर जिले में भट्टिप्रोलु और अमरावती की खुदाइयों में मिली वस्तुओं से मिल जाएगा। पैठन में पकी मिट्टी, लाजवर्द, गोमेद, स्फटिक और इंद्रगोप के मनके, मिट्टी के खिलौने और उनके सांचे, बर्तन, शंख और सीपों के गहने मिले हैं।[61] कोंडापुर में पोटिन और सीसे के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहन राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ मिट्टी के खिलौने, जवाहरात, सोने, तांबे, हाथी दांत, शंख-सीपी के गहने मिले हैं। मिट्टी के खिलौनों में कुछ के सिर तो अति यथार्थ दीखते हैं और उनका रूपांकन अनिंद्य है। केश-विन्यास की न जाने कितनी शैलियां थीं। इनमें से कुछ तो अजंता के चित्रों के उत्तम से उत्तम नमूनों से भी किसी प्रकार घटकर नहीं हैं। डा० याजदानी के शब्दों में, 'कुम्हार-कला को आज तो कोई उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है किंतु दकन की प्राचीन कलाओं में उसे मूर्तिकला और चित्रकला के प्राय: बराबर का ही स्थान प्राप्त था।'[62] भट्टिप्रोलु के स्तूप से वैदूर्य और स्फटिक की मंजूषाएं मिली हैं जिनमें जवाहरात, सोने के फूल, रत्न, मनके, त्रिशूल और चौबीस सिक्के रखे थे। अमरावती में एक सोने की मंजूषा मिली है जिसका आकार स्तूप का है और उसके ऊपर छत्र बना है। इससे उस काल के सुनारों और मणिकारों की कारीगरी का पता चलता है।[63]

उस काल की सभ्यता का कोई विवेचन तत्कालीन शिक्षण-प्रणाली और साहित्यिक विकास के वर्णन के बिना अधूरा ही रहेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्य आचार्य और धर्मप्रचारक अपने साथ दकन में अपना साहित्य और अपनी शिक्षण-प्रणाली भी लाए थे।[64] ई० पू० तीसरी शताब्दी तक दकन के निवासी ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा से इतने परिचित हो चुके थे कि जनता के काम के लिए अशोक ने अपने लेखों में इनका ही इस्तेमाल किया। सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के सभी दस्तावेज प्राकृत में हैं।[65] सातकर्णि (द्वितीय) ने अनेक जटिल यज्ञ किए थे। इससे विदित होता है कि उस काल के दकनी पंडितों को वैदिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान था। बौद्ध भिक्षुओं पर राजाओं और आम प्रजा दोनों की समान श्रद्धा थी। ये भी बौद्ध धर्म के साहित्य में उतने ही निष्णात थे। अमरावती के स्तूपों और अजंता के चित्रों में जातकों और बोधिसत्व की कथाओं के चित्रण इस बात के प्रमाण हैं कि उस काल के कारीगरों में बौद्ध जनश्रुतियों का कितना प्रचार था। इनसे यही विदित होता है कि समाज के विभिन्न स्तरों में ज्ञान के प्रचार के लिए कोई अभिकरण अवश्य रहा होगा। किंचित बाद के एक प्रमाण से यही अनुमान होता है कि ब्राह्मणों के आश्रमों और बौद्ध और जैन विहारों में लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा मौखिक होती थी जिसे विद्यार्थी याद कर लेते थे। अध्यापकों को अपने भरण-पोषण के लिए राजाओं और धनिकों से दान मिलते थे। विद्यार्थी उनके घरेलू कामकाज कर देते थे। व्यवसाय प्राय: आनुवंशिक होते थे। अत: यह शिक्षा उन्हें प्राय: पिता या उसके निकट संबंधी से मिलती थी जो अपनी कला का पंडित होता था। कारीगरों और व्यापारियों ने प्राय: अपनी श्रेणियां बना ली थीं। ये श्रेणियां अपने-अपने व्यवसाय में ईमानदारी और कारीगरी के मानदंड निर्धारित कर शिक्षा के क्षेत्र में योगदान करती रहती थीं।

सातवाहन काल में उच्च श्रेणी के कतिपय साहित्यिक ग्रंथों की भी रचना हुई थी। सातवाहन राजा के मंत्री सर्ववर्मन ने अपने स्वामी को छह मास में संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान कराने के लिए 'कातंत्र' व्याकरण की रचना की थी। इस व्याकरण की बड़ी प्रसिद्धि थी। इसने अपने पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रंथों को पीछे छोड़ दिया था। पूर्वबंगाल और कश्मीर में इसका आज भी प्रचार है। उसी सातवाहन राजा के एक अन्य मंत्री गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में 'बृहत्कथा' की रचना की।[66] इसमें नरवाहन दत्त नामक नायक की 'कथा' में अनेक उप-कथाएं जोड़ी गई हैं। यह आश्चर्य कथाओं के सबसे प्राचीन ग्रंथों में है। 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल के अनुसार 'संस्कृत की अन्य कथाएं इसी से निकली हैं और इसके सामने वे उधार के कपड़ों से बनी लगती हैं।' 'दशरूप' का रचयिता नाटकों की विषयवस्तुओं के लिए आकरग्रंथ के रूप में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामायण के बाद इसी को स्थान देता है। गोवर्धन गुणाढ्य को वाल्मीकि और व्यास के साथ महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में स्थान देता है।' खेद है कि यह ग्रंथ अब लुप्त हो चुका है। इसकी प्राप्ति की अब कोई आशा भी नहीं है। इसके तीन संस्कृत संस्करणों से इसकी विषयवस्तु की कल्पना की जा सकती है, वे हैं सोमदेव का 'कथा सरित्सागर', क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मंजरी' और बुध स्वामिन का 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह'। प्रो० फेलिक्स लैकोटे की मान्यता है कि 'इन तीनों संस्करणों में जो भेद हैं उनसे हमें इस बात का अंदाज हो जाता है कि मूल ग्रंथ क्या था।' और कि, यह एक संग्रह मात्र न होकर स्वयं एक महाकाव्य रहा होगा।

निश्चयपूर्वक यह बताना संभव नहीं है कि वह सातवाहन राजा कौन था जिसके लिए सर्ववर्मन ने 'कातंत्र' व्याकरण की रचना की थी और जिसे गुणाढ्य ने अपनी 'बृहत्कथा' समर्पित की थी। हो सकता है कि वह वही राजा रहा हो जिसके लिए साहित्यिक ग्रंथों में सातवाहन नाम आया है और उसे ही 'हाल' भी कहा गया है। उसने मात्र एक साल तक राज्य किया था। उसकी पहचान के विरुद्ध यही एक तथ्य है। किंतु 'मत्स्यपुराण' में उसका राज्यकाल पांच वर्षों का बतलाया गया है। हो सकता है कि इन पांच वर्षों में उसका 'युवराज' काल भी शामिल हो। 'युवराज' काल में उसके लिए साहित्य में रुचि लेना अनुचित न था।

हाल को 'गाथा सत्तसई' के संग्रह का श्रेय दिया जाता है। इसमें 700 'गाथाएं' हैं जिनकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और विषय शृंगार तथा व्यंग्य हैं। बाण ने 'सातवाहन राजा की रचना को अमर सूक्ति रचना' के रूप में इसी ग्रंथ का उल्लेख किया है।[67] इस ग्रंथ का अपना महत्व तो है ही, साथ ही इससे यह भी विदित होता है कि उस काल में प्राकृत का प्रभूत साहित्य वर्तमान था। अब उसका अधिकांश लुप्त हो चुका है। इसकी टीकाओं से विदित होता है कि हाल ने इसमें बोदिस्स, चुल्लुह, अमरराज, कुमारेल, मकरंदसेन और श्रीराज जैसे कवियों की रचनाओं का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया था।[68]

हाल के विवाह को विषयवस्तु बनाकर प्राकृत में 'लीलावती परिणय' नामक काव्य की भी रचना हुई थी।[69]

पुलुमावि (द्वितीय) के उन्नीसवें संवत्सर का नासिक का लेख प्राकृत गद्य में है। इससे उस काल के गद्य का भी पता चलता है।

संस्कृत में भी कम रचनाएं नहीं हुई थीं। रुद्रदामन का गिरनार का लेख संस्कृत गद्य में है। इसमें 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' दोनों का प्राचुर्य है। सातवाहन काल के प्रायः अंत में नागार्जुन ने जितनी रचना की, वह संस्कृत में ही थी।

निःसंदेह धर्म और साहित्य के क्षेत्र में इस काल के व्यक्तियों में नागार्जुन का स्थान सबसे ऊंचा है। किंतु उनके जीवन और रचनाओं के बारे में हमें ठीक-ठीक जानकारी नहीं है। उनके नाम के साथ इतनी दंतकथाएं जुड़ गई हैं कि वे प्रायः एक 'मिथ' ही लगते हैं। चीनी और भारतीय साहित्य में उन्हें चिकित्सक, ज्योतिषी, ऐंद्रजालिक और बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय का जनक और इन सबसे ऊपर शून्यवाद का प्रवर्त्तक कहा गया है। युवाङ् च्वाङ् के अनुसार उन्होंने अपने जीवन के अंतिम वर्ष शा-तो-पो-ह अर्थात् सातवाहन राजा के संरक्षण में पो-लो-मो-लो-किलि में बिताए थे। बाण के 'हर्षचरित' से विदित होता है कि सातवीं शताब्दी की जनश्रुतियों के अनुसार त्रिसमुद्रपति सातवाहन राजा उनका मित्र था। नागार्जुन ने अपने 'सुहृल्लेख' में स्वयं एक सातवाहन राजा का उल्लेख किया है। किंतु इन सभी उल्लेखों को एक साथ देखने से सिर्फ यही पता चलता है कि कोई सातवाहन नागार्जुन का समकालीन था। नागार्जुन के नाम से विख्यात रचनाओं में कनिष्क, वसुमित्र, अश्वघोष आदि के नाम मिलते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत: यही संभावना अधिक है कि वह ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ होगा और उसका मित्र सातवाहन राजा यज्ञश्री सातकर्णि या उसका कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। पो-लो-मो-लो-किलि की पहचान श्रीपर्वत से की जा सकती है। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन यहीं रहते थे। नागार्जुनकोंडा (जिला गुंटूर) का ही अपर नाम श्रीपर्वत था।[70] इसका प्रमाण वहीं का एक लेख है।[71] नागार्जुन के ग्रंथों में से प्राय: दो दर्जन ग्रंथ चीनी अनुवादों के रूप में जीवित हैं। 'प्रज्ञापारमिता शास्त्र', 'मूलमाध्यमिक शास्त्र', 'द्वादशनिकाय शास्त्र', 'शून्य सप्तथि' और 'सुहृल्लेख' उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। 'योगाचार', 'रतिशास्त्र' और 'रस-रत्नाकर' के भी रचयिता वे ही कहे जाते हैं।[72]

यद्यपि आंध्रों का राज्य दकन से समाप्त हो गया, तथापि वह अपने पीछे कला और साहित्य का प्रभूत समृद्ध रिक्थ छोड़ गया। अजंता के भित्तिचित्र, अमरावती, वेडसा और कार्ले की प्रतिमाएं और गुणाढ्य, हाल और नागार्जुन के ग्रंथों का साहित्य में ऊंचा स्थान है।

संदर्भ

1. का० प्र० जायसवाल : 'मनु एंड याज्ञवल्क्य', पृ० 43.
2. 'ए० इं०' viii, 60.
3. अर्थशास्त्र, i, vii और xix.
4. वही, पृ० 126.
5. रैप्सन, कै० इं० क्वा०, पृ० 65 तथा आगे; नासिक सं० 10 ए० इं, 8, और जूनागढ़ शिलालेख, 'सं० इं०' पृ० 172.
6. कौटिल्य के अनुसार 'जानपद, उच्च कुल में जन्म, कलाओं में कुशलता, दूरदर्शिता—ये अमात्यों के लिए अर्हताएं हैं.' (अर्थ०, पृ० 14), गौतमीपुत्र सातकर्णि और पुलुमावि के समय में 'अमात्य' विष्णुपालित, स्यमक और शिवस्कंददत्त ने क्रमशः गोवर्धन (नासिक) 'आहार' का शासन किया था.
7. जंगलिगुंड अभिलेख, ए० इं, xiv, 155.
8. कौटिल्य ने लिखा है कि 'जो मंत्रियों के सभी गुणों से संपन्न हो, सभी लोक-व्यवहारों से परिचित हो, रचना में दक्ष हो, जिसका हस्तलेख स्पष्ट हो और जो तेज पढ़नेवाला हो उसे 'लेखक' नियुक्त करना चाहिए.' (अर्थ०, पृ० 71).
9. नासिक सं० 4 और 5, ए० इं० viii.
10. 'इं० ऐं०', 1918, पृ० 80
11. कार्ले, सं० 14, ए० इं० vii.
12. रैप्सन : 'कै० इं० क्वा०' 86.
13. बाखले, 'सातवाहनाज ऐंड दि कंटेंपरेरी क्षत्रपाज', 'ज० वा० ब्रा० रा० ए० सो०', नई सिरीज iv, 57; इन राजाओं की पहचान में प्रो० रैप्सन और सर रा० गो० भंडारकर ने इनके मातृनामों पर जरूरत से अधिक जोर दिया है.
14. 'आ० स० वे० इं०', v, पृ० 60 तथा आगे; 'से० इं०', 82; विभिन्न यज्ञों के समय दक्षिणास्वरूप गाएं, घोड़े, हाथी, रथ, चांदी-सोने के सामान और नकद राशि दी जाती थी. दान की गई गायों की संख्या 50,000 से भी ज्यादा थी और 1,48,000 से भी अधिक 'कार्षापण' नकद दिए जा चुके थे. यद्यपि 'कार्षापण' चांदी और तांबे दोनों धातुओं के होते थे, तथापि यहां चांदी के 'कार्षापणों' से ही तात्पर्य है. (दे०, 'कै० इं० क्वा०', पृ० 183, पा० टि०).
15. नासिक सं० 10 और 12, 'ए० इं०', viii, उषभदात ने तो इससे भी बड़े पैमाने पर दानादि किए थे उसने 3 लाख गाएं और 16 गांव ब्राह्मणों को दिए थे. भारुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन और सोपारग में पांथशालाएं बनवाई थीं, 1000 ब्राह्मणों को वर्ष भर भोजन दिया था. इबा, परद, दमन, तिथि, करबेन, दहनुक,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नदियों के दोनों किनारों पर मिलन-स्थल बनवाए थे. प्रजा के सुख के लिए कुएं, तालाब और बगीचे आदि बनवाए थे.

16. नासिक सं० 2, 'ए० इं', viii.
17. 'गाथासप्तशति' ('काव्यमाला' 21) 728, 731. कौटिल्य के अनुसार 'गोप' पांच से दस गांवों का प्रधान होता था. (अर्थ०, 2, 35).
18. सं० 12, ए० इं० viii.
19. सं० 18 'वही', दे० डा० रा० भंडारकर, 'कार्मा० ले०', 1918, पृ० 177.
20. वाखले : पूर्वोद्धृत, पृ० 50.
21. दे० आगे, पृ० 137.
22. अशोक के अभिलेखों में यूनानियों के लिए 'यवन' शब्द आया है.
23. नासिक सं 11, 13, 18 और 26; ए० इं० 8; कार्ले सं० 7 और 10; वही 7, और अंधौ अभिलेख, वही 16, पृ० 23 तथा आगे.
24. कार्ले सं० 7, 10 और 13 तथा नासिक सं० 10 और 12, वही.
25. 'आ० स० वे० इं०' 5; कान्हेरी, सं० 4.
26. दे० बर्गेस : 'बु० स्तू० अ० ज०', पृ० 86, 87, 91, 94, 100, 103, 105.
27. 'अ० हि० आ० क०', पृ० 97.
28. नासिक सं० 5, 'ए० इं०' viii.
29. नासिक सं० 3, 4, 5. वही.
30. ल्यूडर्स, सं० 1137, 1180, 1133 और 1165.
31. ल्यूडर्स सं० 1133 (नासिक सं० 12, ए० इं० 8) 'कहापण' संस्कृत का 'कार्षापण' है. सिद्धांत रूप में तांबा, चांदी या सोने का कोई सिक्का जिसकी तोल 1 'कर्ष' (16 माशे) हो उसे 'कार्षापण' कहते थे किंतु चांदी के सिक्के की स्थिति में एक 'माशा' बराबर 2 रत्ती, तांबे में 5 रत्ती (रत्ती—1.83 ग्रेन) होता था. रैप्सन के मतानुनार नानाघाट, नासिक और काण्हेरी के अभिलेखों में 'कार्षापण' चांदी के थे. इनका वजन 58 ग्रेन के स्थान पर 36 ग्रेन था. 'कै० इ० क्वा०', पृ० (177-184). 35 चांदी के कार्षापणों का मूल्य 1 सोने का 'कार्षापण' था.
32. 'वस्स' वर्षावास था. बरसात के चार महीनों में बौद्ध भिक्षु किसी एक स्थान पर ही रहते थे.
33. ल्यूडर्स सं० 1162.
34. ल्यूडर्स सं० 1180.
35. डा० र० चं० मजूमदार : का० ला० 'ए० इं०', पृ० 37-8
36. डब्ल्यू० शाफ का अनुवाद, सैक्शन 50.
37. डा० जे० एफ० फ्लीट ने इसकी पहचान तेर या थैर से की है. किंतु यह नितांत संदेहास्पद है क्योंकि दकन का यह भाग वस्त्र-उद्योग के लिए प्रसिद्ध न था. 'ज० रा० ए० सो०', 1901, पृ० 537 तथा आगे.
38. 'पेरिप्लस', शाफ का अनुवाद, सैक्शन 51.
39. बर्गेस : 'बु० स्तू० आ० ज०', पृ० 78, 85, 93.
40. कृष्णा और गोदावरी के बीच का समुद्रतट. दे० मैक्रिंडल, ऐं० इं० (टालेमी), पृ० 66-8.
41. 'ज० रा० ए० सो०', 1901, पृ० 598.
42. ल्यूडर्स सं० 1138, 1090, 1092, 1093, 1096, 1097, 1169, 1177 और 1119.
43. 'कै० इं० क्वा०', फलक 1 से 7. इनपर ब्राह्मी में लेख हैं और 'चैत्य', धनुष, हाथी, सिंह, घोड़े और तथा-कथित उज्जैनी का चिह्न है.
44. वही, फलक 9.
45. दे० पूर्व०, पृ० 137, पा० टि० 4.
46. नासिक सं० 12, 'ए० इं०' viii.
47. सैक्शन 21.
48. सैक्शन 49.
49. 'हि० स्कै० ऐ० द०', बुक 2, सैक्शन 3; 'का० वि० रो० इं०', पृ० 280-93. रोमन सिक्के करीमनगर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिले में भी मिले हैं.

50. 'कॉ० इं० क्वा०', पृ० viii.
51. गौतमीपुत्र सातकर्णि, नासिक सं० 2, 'ए० इं०', viii.
52. 'आ० स० वे० इं०', v, पृ० 60 तथा आगे.
53. 'गाथा सप्तशति' ('काव्यमाला' 21) 'भूमिका', पृ० 9, प्रारंभ व अंत की गाथाएं; गाथा सं० 455, 372, 403.
54. 'कॉ० हि० इं०', i, पृ० 638-9; आर० स्वेल, 'टोपोग्राफिकल लिस्ट्स आफ दि ऐंटिक्विटीज इन दि मद्रास प्रेसिडेंसी'.
55. डा० बर्गेस, बु० स्तू० आ० ज० पृ० 108, ए० इं०, 15, 258; ए० इं० 2, 323.
56. 'दीप' viii, 5 और 8; 'महावंश' 12, 29 और 37.
57. 'गाथासप्तशति' ('काव्यमाला' 21) 'गाथा' 308, बुद्ध की प्रतिमा के पूजन से पूर्व चक्र, पादुका या धर्मचक्र और स्तूप की ही बौद्ध जन पूजा करते थे.
58. 'ए० इं०', viii, नासिक के अभिलेख; वही, 7, कार्ले के अभिलेख; और वही, 10 का परिशिष्ट, ल्यूडर्स लिस्ट; दे० रा० भंडारकरकृत 'दकन आफ दि सातवाहनाज', 'इं० ऐं०', 1919, पृ० 77 तथा आगे.
59. ल्यूडर्स, सं० 1018, 1106, 1123, 1152, 1248, 1250; 'म० ए० रि०', 1927, 214 और 219. 'बौद्ध धर्म कतिपय प्रश्नों को लेकर कई संप्रदायों में बंट गया था, मुख्य प्रश्न थे 'क्या बुद्ध मानव थे ? क्या बोधिसत्व आम जीव हैं ?' क्या अर्हत विमुक्त हैं ? आदि. दे० नलिनाक्ष दत्त, 'थ्री प्रिंसिपल स्कूल्स आफ बुद्धिज्म'; बर्गेस, 'बु० स्तू० आ० ज०', पृ० 24 भी.
60. मिला० नासिक सं० 3, 4, 5 को नं० 10, 12, 13 से; ए० इं० viii.
61. 'एनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्क्य०डिपार्ट० आफ हि०ऐ०हा०निजाम्स डोमिनियंस, फ० 1346, 1936-7 ई०
62. 'ऐं० भ० ओ० रि० इं०', xxii, 171-85 और साथ के फलक.
63. 'बु० रि० आ०', पृ० 22-23.
64. ब्राह्मणों के चार वेद, उन सबके 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' और 'उपनिषद्', 'वेदांग', 'सूत्र', कतिपय 'पुराण', स्मृतियां और अर्थशास्त्र थे; बौद्धों के 'त्रिपिटक और 'जातक' थे; जैनों के अपने धार्मिक ग्रंथ थे.
65. उषभदात के नासिक और कार्ले के अभिलेखों में ही संस्कृत का मेल है. रुद्रदामन का जूनागढ़ का लेख और उसकी पुत्री का काण्हेरी का लेख संस्कृत में है. दे०, 'ए० इं०', viii, पृ० 36 और 10, परिशिष्ट, सं० 994.
66. 'पैशाची सबसे प्राचीन प्राकृतों में है. 'प्राकृत-प्रकाश' में इसका उल्लेख महाराष्ट्री, मागधी और सौरसेनी के साथ हुआ है. किंतु अन्य तीनों प्राकृतों की तरह यह प्रख्यात नहीं है.' (प्रोफे० फेलिक्स लैकोटे, 'एसेज आन गुणाढ्य ऐंड बृहत्कथा, पृ० 367). सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' में कातंत्र और बृहत्कथा दोनों की उत्पत्ति की कथा दी है. एक सातवाहन राजा अपने महल के बगीचे की एक बावली में अपनी रानियों के साथ स्नान कर रहा था कि उसने एक रानी पर पानी फेंका. रानी ने मना किया ('मोदकैः परिताडय माम्'). राजा ने 'मोदकैः' का मतलब लड्डुओं से समझा और तुरंत लड्डू मंगवाये और उस पर फेंकना शुरू किया. रानी राजा के संस्कृत व्याकरण के अज्ञान पर हंसने लगी. राजा लज्जित हुआ. उसने मंत्रियों से परामर्श किया. गुणाढ्य ने उसे 6 वर्ष में व्याकरण पढ़ाने को कहा. सर्ववर्मन ने कहा कि वह 6 महीने में पढ़ा देगा. उसने अलौकिक सहायता से कातंत्र व्याकरण की रचना की और अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखलाई. गुणाढ्य विंध्याटवी में चले गए. वहां उन्होंने पैशाची सीखी और उसी में 'बृहत्कथा' की रचना की और उसे राजा को समर्पित किया.
67 'हर्षचरित', प्रारंभिक छंद.
68 कीथ : 'हिस्टरी आफ संस्कृत लिट्रेचर', पृ० 223-5.
69. दे० 'भारती', जि० 3.
70. वेटर्स, 'आन युआन-च्वांग दे० ii, 200-8; 'हर्षचरित' अंगरेजी अनुवाद, कावेल और थामस कृत, पृ० 252; बील : 'लाइफ आफ ह्वेन-त्सांग', भूमिका पृ० xx-xxi; 'ए० इं०', xv, पृ० 353 तथा आगे और 169; पृ० 169 तथा आगे.
71. 'ए० इं०', xx 22, अभिलेख सं० 7.
72. 'बृ० रि० आ०' पृ० 56.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड तीन

वाकाटक वंश का इतिहास

डॉ० अ० स० अल्तेकर

1. वाकाटक वंश : कालक्रम.
2. वाकाटकों का मूल स्थान.
3. वाकाटक वंश के राजा : विंध्यशक्ति; सम्राट प्रवरसेन प्रथम; रुद्रसेन प्रथम; पृथ्वीषेण प्रथम; रुद्रसेन द्वितीय; राजमाता के रूप में प्रभावती गुप्ता का राज्यकाल; प्रवरसेन द्वितीय; नरेंद्रसेन; पृथ्वीषेण द्वितीय.
4. वाकाटकों की बसीम शाखा.
5. वाकाटक साम्राज्य का विघटन और लोप.
6. वाकाटकों का प्रशासन और तत्कालीन समाज.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक वंश

कालक्रम

कालक्रम और भूगोल इतिहास के दो नेत्र हैं। इसलिए हमें पहले वाकाटकों के कालक्रम का निर्धारण करना चाहिए। इसके बिना उनके इतिहास का सुव्यवस्थित वर्णन संभव नहीं है। किंतु कठिनाई यह है कि इस संबंध में अकाट्य प्रमाण बहुत कम हैं जिनके आधार पर हम महत्व के अनुसंधान कर सकें।

अभी हाल ही में यह दलील दी गई है कि वाकाटकों के कालक्रम के निर्धारण में जो अस्पष्टता है उसका समाधान हम चेदि संवत के अपने ज्ञान से कर सकते हैं। यह चेदि संवत मानों कोई जादू की छड़ी है जो हमारी सभी समस्याएं हल कर देगी।[1] यह कह गया है कि चेदि संवत का प्रारंभ वाकाटकों ने 248-9 ई० में अपने वंश के संस्थापक विंध्यशक्ति के राज्यारोहण की स्मृति में किया। इस सिद्धांत के समर्थन में कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया गया है। यह सिद्ध करने के लिए, कि वाकाटकों ने चेदि संवत् का प्रचलन किया था, सबसे प्रबल प्रमाण यह होता कि हम यह दिखलाते कि स्वयं वाकाटकों ने इस संवत का अपने लेखों में इस्तेमाल किया है। इस संबंध में यह दलील दी गई है कि (वाका)-टक महाराजाधिराज (प्रवरसेन) की भीटा की मुद्रा पर 37 लिखा है जो चेदि संवत का सूचक है। प्रवरसेन का भी एक सिक्का 76 चेदि संवत का है और इसके उत्तराधिकारी रुद्रसेन (प्रथम) के कुछ सिक्कों पर भी तिथि 100 अंकित है जो इसी संवत की है। किंतु ये दलीलें एकदम लचर हैं जो सूक्ष्म परीक्षण से निराधार सिद्ध हो जाती है। जहां तक चेदि संवत 37 की भीटा मुद्रा का प्रश्न है, यह बतला देना आवश्यक है कि आम तौर पर मुद्राओं पर कोई तिथि ही नहीं होती। फिर यह मुद्रा टूटी हुई है। यह किसी 'महाराजाधिराज' की है 'जिसका नाम उस पर है ही नहीं'। अतः ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे हम यह कह सकें कि यह प्रवरसेन (प्रथम) की मुद्रा है। यदि थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि यह प्रवरसेन की ही मुद्रा है तो भी इस पर कोई संवत अंकित नहीं है। वस्तुतः इस मुद्रा पर वृक्ष का अंकन कुछ इस प्रकार हुआ है कि उसकी शाखाओं को 30 और 7 का चिह्न मान लिया गया है।[2]

यह कहा गया है कि प्रवरसेन का एक सिक्का 76 और रुद्रसेन प्रथम का एक सिक्का 100 संवत का है और ये तिथियां चेदि संवत की हैं। यह स्थापना भी उसी तरह अग्राह्य है। जहां तक हमारी जानकारी है, प्रवरसेन (प्रथम) ने कोई सिक्का ही नहीं जारी किया था। यही बात रुद्रसेन (प्रथम) पर भी लागू होती है। जो सिक्के प्रवरसेन (प्रथम) के कहे जाते हैं वस्तुतः वे वीरसेन के हैं जो मथुरा के दक्षिणी भाग में राज्य करता था। यदि ये प्रवरसेन (प्रथम) के सिक्के होते तो वे उसके राज्य में मिलते, न कि उससे काफी दूर मथुरा के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इलाके में। इस प्रकार का कोई सिक्का मध्यप्रदेश में, जो कि वाकाटक राज्य के मध्य में था, कहीं नहीं मिला। अंतिम बात जो सबसे महत्व की है वह यह है कि इन सिक्कों पर तो कोई तिथि ही नहीं है। जिन्हें 70 और 6 का चिह्न माना गया है वस्तुतः वे तो सिक्के पर अंकित तालवृक्ष के अंग हैं।[3] जो सिक्के रुद्रसेन (प्रथम) के बतलाए जाते हैं वे कौशांबी के किसी राजा के हैं जो उससे :00 वर्ष पहले हुआ था। इनपर न कोई नाम है, न तिथि ही। इन पर धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिह्न अंकित हैं। इस धर्मचक्र को ही गलती से रुद्र पढ़ लिया गया है और त्रिरत्न के चिह्न को 100 का अंक मान लिया गया है।[4] यह भी बतलाना जरूरी है कि रुद्रसेन के ये तथाकथित सिक्के कौशांबी के बाहर वाकाटकों के राज्य में कहीं नहीं मिलते।

यह कहा गया है कि कौशांबी के मघों ने, जो वाकाटकों के सामंत थे, चेदि संवत इस्तेमाल किया है। अतः इस संवत के प्रवर्तक वाकाटक रहे होंगे। इस दलील में भी कोई सार नहीं है। मघों ने चेदि संवत् का इस्तेमाल किया है, यह मानने से हम कई ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचते हैं जो असंभव हैं। अभी हाल की खोजों से विदित होता है कि दक्षिण कोशल (रीवां और बुंदेलखंड) भी इनके राज्य में शामिल था। यदि हम यह मान लें कि वे चेदि संवत का इस्तेमाल करते थे तो हमें मानना होगा कि वैश्रवण और भीमवर्मन लगभग 355 से 377 ई० तक कौशांबी और दक्षिण कोशल में राज्य करते थे। यदि यह सब सही है तो फिर समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के उन राजाओं में इनकी गणना क्यों नहीं है जिनका उस प्रतापी राजा ने उन्मूलन किया था ? इन राजाओं ने प्रचुर मात्रा में सिक्के जारी किए थे। गुप्तों ने तो अपने किसी सामंत राजा को स्वतंत्र रूप में सिक्के जारी करने की इजाजत ही नहीं दी थी। अतः वे उनके समकालीन नहीं हो सकते। अतः उन्होंने जिस संवत का इस्तेमाल किया है, वह चेदि संवत नहीं है।

अतः सूक्ष्म परीक्षण से यह सिद्ध नहीं होता कि चेदि संवत का प्रवर्तन वाकाटकों ने किया था। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने अपने सिक्कों और मुद्राओं पर इस संवत का इस्तेमाल किया है। फिर एक अन्य तथ्य भी है जो इस तर्क को प्रायः एकदम खंडित कर देता है। वाकाटकों ने बहुत बड़ी संख्या में दानलेख आदि जारी किए थे। इनमें से किसी पर भी इस संवत का इस्तेमाल नहीं हुआ है। इन सभी दस्तावेजों में राजाओं के राज्य वर्ष का उल्लेख है। यदि वाकाटक चेदि संवत के प्रवर्तक होते, और यदि इन्होंने सिक्कों पर ही नहीं अपनी मुद्राओं पर भी इसका इस्तेमाल किया होता तो क्या यह अत्यंत आश्चर्य की बात नहीं है कि अपने दानलेखों में इसके इस्तेमाल से वे सदा क्यों बचते रहे ?[5] आखिर ये दान 'आचंद्रादित्य कालीय' दिए गए थे। यह सही है कि चेदि संवत के प्रारंभ के ही वर्षों में वाकाटकों का उदय हुआ था। किंतु अभी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है जिससे इस संवत से उनका संबंध जोड़ा जा सके। इसलिए वाकाटक कालक्रम के इस प्रमाण पर सवालिया निशान लगा है और हमें यह गुत्थी इस प्रमाण के बिना ही सुलझानी होगी।

वाकाटक कालक्रम के निर्धारण का एकमात्र विश्वस्त संकेत प्रभावतीगुप्ता का रुद्रसेन (द्वितीय) से विवाह है। प्रभावतीगुप्ता सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय (लग० 375-414 ई०) की बेटी थी और रुद्रसेन (द्वितीय) वाकाटक वंश का छठा राजा था। रुद्रसेन (द्वितीय) कच्ची उम्र में ही मर गया था और उसकी पत्नी ने अपने पुत्र की अभिभाविका के रूप में राज्य किया था। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इस दीर्घ किंतु कठिन अवधि में उसे अपने पिता से शासन में मदद मिलती रही। राजमाता के रूप में प्रभावतीगुप्ता का शासन लगभग 410 ई० में समाप्त हुआ, जब उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय इतना सयाना हो चुका था कि वह राज्य की बागडोर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभाल सके। इस राजकुमार के पिता ने लगभग 385 से 390 ई० तक राज्य किया था। अतः इस राजकुमार का जन्म इसी अवधि में, लगभग 390 ई० में, माना जा सकता है। रुद्रसेन द्वितीय का पिता पृथ्वीषेण (प्रथम) एक सफल शासक था। उसका राज्यकाल लगभग 360 से 385 ई० तक रख सकते हैं। इस राजा के संबंध में कहे गए एक कथन से पता चलता है कि उससे सौ साल पहले से वाकाटक वंश अपने कोश और दंड का अभिवर्धन करता हुआ शासन कर रहा था।[6] अतः हम वाकाटकों का उदय .60 ई० में मान सकते हैं। अतः इस वंश के संस्थापक विंध्यशक्ति ने लगभग 255 या 250 से लगभग 27- ई० तक शासन किया होगा। उसके बाद उसका बेटा प्रवरसेन (प्रथम) राजा हुआ। यह वही राजा है जिसका 'पुराणों' में प्रवीर नाम उल्लेख हुआ है। 'पुराणों' में इसका शासनकाल साठ वर्ष का बतलाया गया है।[7] यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण हैं कि 'पुराणों' में इस राजा के बारे में जो बहुत सी बातें कहीं गई हैं वे प्रायः स ी हैं। अतः हम 'पुराणों' का विश्वास कर यह मान सकते हैं कि उसने साठ वर्ष तक अर्थात् लगभग 275 से 335 ई० तक राज्य किया होगा। प्रवरसेन प्रथम के राज्यकाल में ही उसके सबसे बड़े बेटे गौतमीपुत्र का देहान्त हो चुका था। अतः प्रवरसेन की मृत्यु के बाद गौतमीपुत्र का बेटा रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने संवभतः 335 से 360 ई० तक राज्य किया होगा। हम पहले ही बतला चुके हैं कि रुद्रसेन के बेटे पृथ्वीषेण प्रथम और पोते रुद्रसेन द्वितीय ने क्रमशः लगभग 360 से 385 ई० तथा 385 से 390 ई० तक राज्य किया था। उसके बाद लगभग 390 से 410 ई० तक रुद्रसेन की विधवा पत्नी प्रभावतीगुप्ता ने अपने पुत्र की अल्पवयस्कता में उसकी अभिभाविका के रूप में शासन किया। फिर उसके बेटे प्रवरसेन द्वितीय ने राज्य की बागडोर संभाल ली। यहां यह बतला देना आवश्यक है कि इन छह राजाओं के राज्य की जो अवधियां बतलाई गई हैं उनका निर्धारण अभी अस्थायी ही है। भविष्य की खोजों के आधार पर इनमें परिवर्तन संभव है। प्रवरसेन द्वितीय के उत्तराधिकारियों के कालक्रम का उल्लेख उनके राज्य का विवरण देते समय किया जाएगा।

संदर्भ

1. जायसवाल, 'हिस्टरी आफ इंडिया', 108-11 : पै ने अपने निबंध 'दि जीनियोलाजी ऐंड दि क्रानोलाजी आफ दि वाकाटकाज' (जर्न इंडि० हिस्टरी', xiv, 184) में तर्क दिया है कि सन 248 ई० में प्रवरसेन प्रथम ने 'सम्राट' की उपाधि धारण करने के उपलक्ष्य में यह संवत चलाया था. उसने यह उपाधि अपने चौथे 'अश्वमेध' के बाद धारण की थी.
2. सर आर० बर्न०, 'जर्न० इंडि० हिस्टरी', xiv, 269; अल्तेकर : 'ज० न्यू० सो० इं०', v, पृ० 132.
3. अल्तेकर, 'ज० न्यू० सो० इं', v, पृ० 132.
4. वही, पृ० 133.
5. पै का तर्क है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि जो राजवंश कोई नया सन-संवत चलाए, वह उसका प्रयोग भी करे. उन्होंने सातवाहनों का उल्लेख किया है कि उन्होंने शक संवत चलाया पर उसका स्वयं इस्तेमाल नहीं किया ('ज० इं० हि०, xiv, 26). इस तर्क में कोई दम नहीं है क्योंकि यह तो निश्चित ही है कि सातवाहनों ने शक संवत का प्रवर्तन नहीं किया था. सातवाहनों के साम्राज्य के लुप्त हो जाने के एक हजार साल से भी ज्यादा समय बीत जाने पर जनकल्पना ने इस संवत का सातवाहनों से संबंध जोड़ा। जायसवाल का यह तर्क भी निस्सार है कि प्रवरसेन प्रथम ने ही यह संवत चलाया होगा क्योंकि उसने 'सम्राट' की उपाधि धारण की थी. मौखरी चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं ने भी 'सम्राटों' की उपाधियां धारण की थीं, किंतु उन्होंने कोई संवत नहीं चलाए थे.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6. मिलाइए, 'समुदित-वर्षशतम्-अभिवर्धमान-कोश-दंड-साधन-संतान-पुत्र-पौत्रैः', दुदिया के ताम्रपट्ट, 'ए० इं०' iii, 160.
7. 'विंध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान् । भोक्ष्यते च समाश्शष्टिम् समाप्तवरदक्षिणैः ।।' पार्जिटर : 'डा० क० ए०', पृ० 50

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटकों का मूल स्थान

यदि हम निश्चित रूप से यह बतला सकें कि वाकाटकों का मूल स्थान कहां था और उनकी प्रारंभिक सैन्य गतिविधियां किस इलाके में हुईं तो उनके प्रारंभिक इतिहास की अनेक समस्याओं का संतोषजनक हल निकल आएगा। वाकाटक नाम से प्रकट है कि वे वकाट या वाकाट के निवासी थे। किंतु यह स्थान कहां था, इसका निश्चित रूप में पता नहीं।

डा० जायसवाल का सुझाव है कि वे बुंदेलखंड के निवासी थे और बिजौर-बागाट गांव के रहनेवाले थे। यह गांव भूतपूर्व ओरछा राज्य की तहरौली तहसील में स्थित है और झांसी जिले के चिरगांव कस्बे से 6 मील पूरब में पड़ता है।[1] वाकाट और बागाट में ध्वनिसाम्य है। इससे जायसवाल के सुझाव का समर्थन होता है। उन्होंने अपने समर्थन में अन्य तर्क भी दिए हैं :

1. बुंदेलखंड में जसो से 4 मील दक्षिण दुरेहा में एक स्तंभ है जिस पर 'वाकाटकानं' लेख और साथ में एक चक्र भी खुदा है। इससे पता चलता है कि चक्र वाकाटकों का राज-चिह्न था और जब यह स्तंभ स्थापित हुआ तो वे बुंदेलखंड में राज्य कर रहे थे।

2. पुराणों में इस वंश के आदि राजा विंध्यशक्ति का संबंध किलकिला देश से बतलाया गया है। यह इसी नाम की एक नदी से सिंचित प्रदेश था जो पन्ना में पड़ती है, और बुंदेलखंड में है।

3. वाकाटक पृथ्वीषेण के एक सामंत राजा व्याघ्रदेव का एक लेख नाचना में मिला है जो बुंदेलखंड में है। इसकी पहचान चणका से करनी होगी जो प्रवरसेन प्रथम के काल में वाकाटकों की राजधानी थी।[2]

किंतु ये सभी तर्क पुष्ट नहीं हैं। स्वयं जायसवाल द्वारा प्रकाशित दुरेहा स्तंभ के लेख की प्रतिकृति पर एक नजर डालने से यही विदित होता है कि शुद्ध पाठ 'वाकाटकानं' नहीं है।[3] 'पुराणों' के अनुसार विंध्यशक्ति किलकिला राजाओं के बाद आया, न कि वह किलकिला प्रदेश का था। यदि चणका वाकाटकों की सचमुच राजधानी रही हो तो नचना से चणका की पहचान चिंत्य है। प्रभुराजा के स्थान में ही उसके सामंत को हम कैसे रख सकते हैं? महत्व की बात यह है कि वाकाटकों के पुराने अभिलेख बुंदेलखंड में नहीं मिलते। इससे इस बात का खुलासा मुश्किल से हो पाएगा कि बिजौर-बागाट में उनका मूल निवास था।

बिजौर-बागाट का वाकाट से अनूठा ध्वनिसाम्य है। यदि एक वाकाटक गृहस्थ का तीसरी शती ई० का एक अभिलेख[4] अमरावती में न मिलता तो उस स्थान में वाकाटकों के मूल स्थान होने के पक्ष में यह प्रबल प्रमाण हो सकता था। अमरावती आंध्र प्रदेश में है। इस गृहस्थ ने वहां एक चढ़ावा चढ़ाया था जिसका उल्लेख इस दान में है। यद्यपि यह असंभव तो नहीं है, तथापि इस बात की संभावना कम ही है कि बुंदेलखंड के बिजौर-बागाट के किसी गृहस्थ ने इतनी दूर अमरावती जाकर एक चढ़ावे का दान दिया होगा। अधिक संभावना यह है कि यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वाकाट अमरावती के ही पास कहीं पूर्वी दकन में रहा होगा, न कि विंध्य के पूरब में। किंतु हमें अब तक जो जानकारी है उसके आधार पर इसकी सही-सही पहचान संभव नहीं है। इसके लिए हमें भविष्य की खोजों की प्रतीक्षा करनी होगी।

वाकाटकों का मूल स्थान चाहे जो भी रहा हो, उनकी प्रारंभिक सैनिक गतिविधियों का क्षेत्र पूर्वी दकन न होकर पश्चिमी दकन ही था। इस वंश के संस्थापक विंध्यशक्ति के नाम से अनुमान होता है कि उसने अपने प्रारंभिक प्रयत्नों से विंध्य के कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। पुरिका वाकाटकों की प्रारंभिक राजधानियों में थी।[5] बाद में इस नाम का एक प्रांत ही बन गया। 'बृहत्संहिता'[6] में पुरिका के साथ दशार्ण का उल्लेख है। 'मार्कंडेय पुराण' में विदर्भ और अश्मक के साथ इसका उल्लेख आया है। पुराण तो विंध्यशक्ति का उल्लेख पूर्वी मालवा में विदिशा के राजाओं में करते हैं। अतः मूल वाकाटक राज्य कहीं पूर्वी मध्यप्रदेश अथवा बरार में रहा होगा। विंध्यशक्ति ने विंध्य के दर्रों को पार कर पूर्वी मालवा के कुछ हिस्से जीतकर अपने राज्य में मिला लिए होंगे।

संदर्भ

1. जायसवाल : 'हिस्टरी आफ इंडिया', 150-350 ई०, पृ० 66-68 और परिशिष्ट ए.
2. वही.
3. स्पष्ट पाठ है 'वंकत्तिकानं', जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं.
4. '—गामे वाथवस गहपतिस वाकाटकस', 'ए० इं०' XV, पृ० 267.
5. पार्जिटर, 'डा० क० ए०', पृ० 49-50.
6. 'बृहत्संहिता', xiv, 10.
7. मार्कंडेय पुराण, vii, 48.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक वंश के राजा

विंध्यशक्ति
(लगभग 255 ई०-75 ई०)

तीसरी शताब्दी में 250 से 275 ई० के बीच जब वाकाटकों की शक्ति का उदय हुआ तो उस समय की परिस्थितियां दकन में एक केंद्रीय शक्तिशाली राज्य के उदय के अनुकूल थीं। दकन से सातवाहनों का राज्य समाप्त हो चुका था। उसके खंडहरों पर जिन नए राज्यों का उदय हुआ था उनमें कोई इस योग्य न था कि वह साम्राज्य के उत्तरदायित्व का वहन कर सके। इक्ष्वाकुओं ने आंध्र देश के एक हिस्से में अपना राज्य बना लिया था। किंतु वे कृष्णा के उत्तर में ज्यादा दूर तक अपने राज्य का विस्तार न कर सके थे। मैसूर के चुटु सातकर्णि सिर्फ एक स्थानीय राजा थे। उनमें न तो इतनी योग्यता थी, न उनके पास इतने साधन ही थे कि वे सम्राट पद प्राप्त कर सकते। उत्तरी कोंकण में आभीरों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था और वे कुछ समय के लिए पश्चिमी क्षत्रपों को उनकी राजधानी से बाहर खदेड़ने में भी सफल हो गए थे। किंतु शीघ्र ही वे भी अपना महत्व खो बैठे और उन्होंने दकन पर अपने क्षेत्र के विस्तार के प्रयत्न बंद कर दिए। पश्चिमी क्षत्रपों ने एक बार सातवाहनों को हराकर दकन के कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिए थे। किंतु तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उनकी शक्ति का सूर्य ढलने लगा था और उन्होंने दक्षिण भारत की राजनीति और भाग्य के नियंत्रण करने की आशा छोड़ दी थी। उत्तरी भारत में उत्तरी प्रदेश के नागों और राजपूताना और पंजाब के गण-राज्यों ने कुषाणों की आधीनता का परित्याग कर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। किंतु वे अपने घरों में ही सीमित थे।[1] उसके बाहर उनकी कोई दिलचस्पी न थी। दकन को अपने अधीन करने की उनकी कोई महत्वाकांक्षा न थी। अतः दक्षिण में यदि कोई उद्यमी राजा किसी ऐसे नए राजवंश की स्थापना का उद्योग करता जो दक्षिण भारत में सातवाहनों का स्थान ले सकता, तो उसके लिए तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां अनुकूल ही थीं।

255 ई० के पास विंध्यशक्ति ने ऐसा ही उद्योग प्रारंभ कर वाकाटक राजवंश की नींव रखी।[2] जैसा कि अनेक राजवंशों के संस्थापकों के बारे में हुआ है, विंध्यशक्ति के बारे में भी हमें बहुत कम बातें मालूम हैं। यह भी विडंबना ही है कि स्वयं उसके वंशजों ने भी प्रायः राज-वंशावली में उसके नाम का उल्लेख नहीं किया। वाकाटक वंश के संस्थापक के रूप में उसका उल्लेख केवल अजंता के अभिलेख में हुआ है।[3] वाकाटक वंश के जितने भी ताम्रपट्ट मिलते हैं उनमें वंशावली का प्रारंभ उसके बेटे प्रवरसेन प्रथम के नाम से होता है। अतः एक समय तो ऐसा भी था कि कुछ इतिहास-लेखक उसके अस्तित्व पर भी संदेह व्यक्त करते थे। किंतु अब इसमें कोई संदेह नहीं है कि विंध्यशक्ति ने ही पश्चिमी मध्य प्रदेश में कहीं वाकाटक राज्य की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापना की थी। अजंता के लेख की ही भांति 'पुराण' भी उसे वंश का संस्थापक और प्रतापी सम्राट प्रवरसेन प्रथम का पिता बतलाते हैं।[1] वाकाटकों के ताम्रपट्टों में उसके नाम का उल्लेख नहीं है। संभवतः आजीवन वह एक सेनापति बना रहा, और संभवतः उसने अपना कोई अभिषेक नहीं कराया था। जब प्रवरसेन द्वितीय के राज्यकाल में वाकाटक शासन पत्रों का रूप स्थिर हुआ तो स्वाभाविक ही था कि उसने स्वनामक प्रवरसेन से वंशावली का प्रारंभ किया जिसने दकन में वाकाटक वंश को सबसे पहले निर्विवाद रूप में शाही स्थिति में पहुंचाया था।

विंध्यशक्ति ब्राह्मण था और उसका गोत्र विष्णुवृद्ध था। ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ की स्रुवा के स्थान पर शस्त्र धारण करने की इतिहास में यह पहली घटना न थी। इससे शताब्दियों पूर्व शुंगों, कण्वों और सातवाहनों ने भी ऐसा ही किया था। इसके कुछ ही बाद कदंब भी वाकाटकों के पदचिह्नों पर इसी प्रकार चले थे। कहा नहीं जा सकता कि इसके हेतु विंध्यशक्ति की वैयक्तिक महत्वाकांक्षा थी या वह वैदिक ब्राह्मण धर्म और अनुष्ठानों को प्रोत्साहित करने के लिए शुद्ध हिंदू राज्य की स्थापना को उद्यत हुआ था।

विंध्यशक्ति ने सबसे पहले बरार यानी पश्चिमी मध्य प्रदेश में कहीं एक छोटे से राज्य की स्थापना की थी। उसकी राजधानी पुरिका कहीं इसी क्षेत्र में रही होगी। किंतु अभी तक उसकी पहचान नहीं हो पाई है। विंध्यशक्ति संभवतः शुरू में एक अधिकारी या जमींदार रहा होगा। किसी केंद्रीय शक्ति के अभाव का लाभ उठाकर धीरे-धीरे उसने अपने प्रभाव का विस्तार किया होगा। किंतु उसकी किसी खास सफलता का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अजंता का लेख भी इस राजा के शौर्य के उल्लेख में तो अति मुखर है किंतु खेद है कि वह हमें यह नहीं बतलाता कि उसने किन शत्रुओं का नाश किया था और कौन से प्रदेश जीते थे। किंतु उसके विंध्यशक्ति नाम से अनुमान होता है कि उसकी सैनिक गतिविधियों से विंध्य क्षेत्र के कुछ भागों पर उसका नियंत्रण हो गया था। 'पुराणों' ने विदिशा के राजाओं में उसकी गिनती की है जो पूर्वी मालवा की राजधानी थी। इसीलिए हम भली भांति कह सकते हैं कि विंध्यशक्ति से अपनी सैनिक सफलताओं से बेतूल, इटारसी और होशंगाबाद के जिलों को अपने राज्य में मिला लिया होगा। शुरू में उसका राज्य बरार के एक हिस्से तक ही सीमित रहा होगा। जो जिले विंध्यशक्ति ने जीते थे वस्तुतः उनमें उस समय किसी का राज्य न था। अतः राज्य-विस्तार करने में उसे किसी कड़े प्रतिरोध का सामना न करना पड़ा होगा। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्यशक्ति ने अपने जीवन काल में राजा की पदवी धारण नहीं की थी और उसका कोई औपचारिक अभिषेक भी नहीं हुआ था। उसके प्रतापी पुत्र ने जो सफलताएं प्राप्त कीं, उनसे उसकी सफलताओं पर पर्दा पड़ गया। अतः जब उसकी मृत्यु के 125 साल बाद वाकाटक वंशावलि स्थिर हुई तो विंध्यशक्ति का नाम उसमें नहीं आया।

अपनी सैनिक गतिविधियों के बावजूद विंध्यशक्ति ने अपने ब्राह्मणत्व को अक्षुण्ण रखा। उसके बारे में कहा गया है कि वह सदा पुण्य के कार्य करने को उद्यत रहता था। संभवतः इससे यज्ञ करने, मंदिर बनवाने, कुएं या सराएं बनवाने तथा पाठशालाओं के लिए दान देने आदि कार्यों का तात्पर्य है। उसने करीब बीस वर्षों तक राज्य किया था। हम उसके राज्य काल का अंत लगभग 275 ई० में रख सकते हैं।

सम्राट प्रवरसेन प्रथम
(लगभग 275-335 ई०)

विंध्यशक्ति का उत्तराधिकारी उसका बेटा प्रवरसेन प्रथम हुआ। वह लगभग 275 ई० में गद्दी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर बैठा था। 'पुराणों' के अनुसार उसने 60 वर्ष की लंबी अवधि तक राज्य किया। 'पुराणों' का यह मत सही प्रतीत होता है। उसने चार 'अश्वमेध' यज्ञ किए थे। यज्ञ उसके चार बड़े अभियानों की सफलता के बाद किए गए होंगे। वाकाटक शासकों में सिर्फ उसे ही 'सम्राट' कहा गया है। तर्कसंगत बात यह है कि उसने 'सम्राट' का पद दीर्घ और सफल सैनिक चर्या के उपरांत ही धारण किया होगा। ध्यान में रखने की अंतिम बात यह है कि उसका उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र नहीं बल्कि पौत्र हुआ। यह तभी संभव है जबकि किसी राजा का राज्य काफी लंबे समय तक रहता है। अतः हम 'पुराणों' के इस कथन को सही मान सकते हैं कि उसने 60 वर्ष तक राज्य किया था। इस प्रकार हम उसके राज्यकाल की समाप्ति लगभग 335 ई० में रख सकते हैं।

यद्यपि हमें उसके कार्यों का पूरा-पूरा पता नहीं है तथापि अभिलेखों के प्रमाण के अनुसार प्रवरसेन प्रथम भारत के महान शासकों में था। 'पुराणों' के लेखकों और ताम्र-ज्ञापनों के प्रारूपकारों ने इस बात के उल्लेख में अधिक उत्सुकता दिखाई है कि उसने कितने वैदिक यज्ञ किए, किंतु उन्होंने उसकी उन खास विजयों के ब्यौरे नहीं दिए हैं जिनके कारण वह सम्राट पद का अधिकारी हुआ था और उसने चार-चार 'अश्वमेध' किए थे। अतः इतिहासकार तो उसके दीर्घ जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के बारे में कुछ अनुमान ही प्रस्तुत कर सकता है।

प्रवरसेन प्रथम ही एकमात्र वाकाटक शासक था जिसने 'सम्राट' की उपाधि धारण की थी। अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वाकाटक साम्राज्य में जितने प्रदेश थे उनमें से वे प्रदेश, जिनके बारे में हमें निश्चित रूप में पता है कि उन्हें बाद के राजाओं ने जीता था, उन्हें छोड़कर शेष अधिकांश प्रदेश उसने ही जीते होंगे।[5] उसके पिता के समय में वाकाटक राज्य में बरार और पश्चिमी मध्य प्रदेश के कुछ जिले ही शामिल थे। उसके शासन के अंत में वाकाटक साम्राज्य में पूरा मध्यप्रदेश, बरार, मलवा, उत्तरी महाराष्ट्र, आधुनिक हैदराबाद रियासत का काफी भाग तथा दक्षिण कोशल या छत्तीसगढ़ के कुछ हिस्से संमिलित थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रवरसेन प्रथम ने अपने पैतृक राज्य का दस गुना विस्तार कर दिया था। खेद है कि हमें उसके सैनिक अभियानों का क्रम अथवा उसके उन शत्रुओं के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं हैं जिन्हें उसने परास्त किया था। सातवाहन वंश के पतन के बाद उनके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए थे। जिलों और प्रांतों के अधिकारियों ने अपने-अपने राज्य बना लिए थे। प्रवरसेन जैसे महत्वाकांक्षी और साधनसंपन्न सैनिक नेता के लिए इनको परास्त कर अपने अधीन कर लेना कोई कठिन कार्य न रहा होगा।

प्रारंभ में प्रवरसेन ने दक्षिण और दक्षिणपूर्व की दिशा में अपना ध्यान केंद्रित किया होगा और उसने उत्तरी महाराष्ट्र, हैदराबाद राज्य के कुछ हिस्से और मध्य प्रदेश के पूर्वी जिले जीते होंगे। अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान और उन गांवों के नाम, जिनके दान का उल्लेख इनमें से कुछ लेखों में है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भूखंड वाकाटक राज्य में उसके अंत तक बना रहा। हैदराबाद रियासत का ठीक-ठीक कितना भाग वाकाटक राज्य में शामिल था, इसके बारे में कुछ अनिश्चय अवश्य है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसके मराठीभाषी इलाके तो वाकाटक राज्य में अवश्य शामिल थे।[6] किंतु असंभव नहीं कि हैदराबाद रियासत का अधिकांश उनके अधीन था। कर्नाटक के कदंबों का राज्य कृष्णा के उत्तर में नहीं था। यही बात कांची के पल्लवों के बारे में थी। अतः स्वाभाविक ही यह अनुमान होता है कि वाकाटक राज्य में हैदराबाद के मराठी इलाके तो निश्चित रूप से शामिल थे ही, कृष्णा के उत्तर के सभी जिले भी शामिल रहे होंगे। 'श्रीशैल-स्थल-माहात्म्य' में उल्लिखित एक प्रकरण से इस बात की पुष्टि भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है। इस प्रकरण के अनुसार राजा चंद्रगुप्त की कन्या चंद्रावती श्रीशैल के मल्लिकार्जुन देव को प्रतिदिन चमेली की एक माला चढ़ाया करती थी।[7] चंद्रावती चंद्रगुप्त की कन्या और रुद्रसेन द्वितीय की पत्नी प्रभावतीगुप्ता का उसके विवाह के पूर्व का नाम रहा होगा। यदि वह प्रतिदिन श्रीशैल के देवता मल्लिकार्जुन को एक माला चढ़ाती रही होगी, तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह 'तीर्थ' वाकाटक राज्य में रहा होगा। फिर तो कुर्नूल जिले तक का सारा प्रदेश वाकाटकों के राज्य में नहीं तो कम से कम उन के प्रभाव क्षेत्र में अवश्य रहा होगा। किंतु वाकाटक राज्य की दक्षिणी सीमा कहां तक थी, इस प्रश्न का सटीक उत्तर तो हैदराबाद रियासत में आगे होने वाली पुरातत्विक खोजों से ही मिल पाएगा।

दक्षिण के काफी विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार कर लेने से प्रवरसेन के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हुई होगी। फिर वह नए अभियानों के लिए उत्सुक हुआ होगा। गुजरात और काठियावाड़ के पश्चिमी क्षत्रपों के राज्यों में इसी समय एक क्रांति हो गई जिससे चष्टन के घराने की चर्या का अंत हो गया और एक नया शासक रुद्रसिंह द्वितीय गद्दी पर बैठाया गया। इस घटना से प्रवरसेन को उस दिशा में अपने राज्य के विस्तार का सुअवसर मिल गया। पश्चिमी क्षत्रपों की यह क्रांति शांतिपूर्ण न थी। इसमें भयंकर गृह-युद्ध हुआ था जिससे राजधानी में जीवन और संपत्ति सुरक्षित न रह गई थी। वहां के नागरिक अपने धन को जमीन में गाड़कर सुरक्षा के लिए बाहर भाग रहे थे।[3] किंतु रुद्रसिंह ने शीघ्र ही राजधानी को अपने नियंत्रण में कर लिया। हम उसे और उसके पुत्र को लगभग 332 ई० तक क्षत्रप राज्य पर शासन करते हुए पाते हैं।

किंतु न तो रुद्रसिंह द्वितीय और न ही उसके बेटे यशोदामन द्वितीय ने अपने पूर्ववर्त्ती राजाओं की भांति 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण की थी। दोनों 'क्षत्रप' की छोटी उपाधि से ही संतुष्ट रहे। उस समय यह उपाधि अधीनता अथवा सामंत की हैसियत की सूचक थी। कतिपय विद्वानों का मत है कि इन दोनों राजाओं के सामंत पद से संतुष्ट रहने की वजह सासानी सम्राट थे जिन्होंने इन्हें अपने अधीन कर लिया था। किंतु यह मत स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सासानी सम्राट नरसेह, जिसने 293 से 303 ई० तक राज्य किया था, स्वयं रोम के सम्राट गैलरियस से एक युद्ध में पराजित हो गया था और उसके परिवार के लोग विजेता द्वारा कैद कर लिए गए थे। अपने परिवार की रक्षा के लिए वह अपने पर्याप्त क्षेत्र विजेता राजा को सौंप देने का बाध्य हुआ था। अतः नरपेह इस स्थिति में न था कि वह भर्तृदामन को सिंहासन से च्युत करने के कार्य में रुद्रसिंह की सहायता कर सकता। उससे उत्तराधिकारी हरमुज्द द्वितीय ने सिर्फ सात साल (303 से 310 ई० तक) राज्य किया था। पूरब में उसके किसी अभियान के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अगला सासानी शासक शापूर द्वितीय 310 ई० में अपने राज्यारोहण के समय सिर्फ एक साल का बालक था। अतः करीब 330 ई० तक सासानी सम्राट क्षत्रपों की राजनीति में भाग लेने की स्थिति में न थे। अतः रुद्रसिंह द्वितीय और उसके बेटे यशोदामन के के द्वारा क्षत्रप की हैसियत स्वीकार करने की वजह सासानी आधिपत्य नहीं प्रतीत होता।

यद्यपि इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है तथापि प्रायः निश्चित ही है कि लगभग 310 से 332 ई० तक पश्चिमी क्षत्रपों को सामंत की स्थिति में पहुंचानेवाला व्यक्ति वाकाटक का सम्राट प्रवरसेन प्रथम रहा होगा। उसके पिता विंध्यशक्ति ने 275 से पूर्व ही मालवा का एक हिस्सा अपने राज्य में मिला लिया था। अतः प्रवरसेन अपना प्रभाव गुजरात पर भी बढ़ाने के लिए किसी बहाने की तलाश में रहा होगा। लगभग 304 ई० में जब रुद्रसिंह ने क्षत्रप शासक भर्तृदामन को सिंहासन से हटाकर स्वयं उस पर अधिकार करने की चेष्टा की तो प्रवरसेन के लिए अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति का अवसर मिल गया होगा। ऐसे अवसरों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर साम्राज्यवादी नीति यही होती है कि वास्तविक राजा के विरुद्ध नवांगतुक के दावों का समर्थन किया जाए। प्रवरसेन ने भी यही नीति अपनाकर भर्तृदामन को सिंहासन से उतारने में रुद्रसिंह की मदद की। इस सहायता के बदले रुद्रसिंह ने 'क्षत्रप' के रूप में उसका सामंत बनने को राजी होकर 'महाक्षत्रप' की उपाधि त्याग दी (महाक्षत्रप उस समय स्वतंत्र सत्ता का द्योतक था) और वाकाटक सम्राट की अधीनता मान ली। प्रवरसेन की सेनाओं ने रुद्रसिंह को क्षत्रप सिंहासन पर बिठाने में अवश्य ही सहायता की होगी। जब उसकी स्थिति मजबूत हो गई होगी, तो वे वापस आ गई होंगी। यह भी संभव है कि इस सहायता के बदले में प्रवरसेन को पश्चिम मालवा मिला होगा। इसके अतिरिक्त उसे समय-समय पर कुछ रकम खिराज के रूप में भी मिलती रही होगी। वाकाटक राज्य के हृदय मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में सोनपुर नामक स्थान में 633 शक सिक्कों का एक खजाना मिला है। इसमें अधिकांश सिक्के उस खिराज के ही अंग रहे होंगे जो प्रवरसेन को उसके सामंत रुद्रसिंह द्वितीय और यशोदामन द्वितीय से मिलती थी। इस संग्रह में सिर्फ 3 सिक्के 'महाक्षत्रप' रुद्रसिंह तृतीय के हैं जो 438 ई० के बाद गद्दी पर बैठा था। ये सिक्के व्यापार के सिलसिले में आए होंगे।[9]

प्रवरसेन के शासनकाल के पूर्वी दकन के इतिहास का हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है। लगभग 275 ई० में इक्ष्वाकु वंश का राज्य समाप्त हो चुका था। शालंकायन वंश का उदय लगभग 325 ई० में हुआ था। छत्तीसगढ़ और बस्तर के नल इससे कुछ बाद में ही प्रकाश में आए। इस प्रकार प्रवरसेन की शासनावधि के उत्तर काल में आंध्र देश और छत्तीसगढ़ में कोई शक्तिशाली राजा न था। बहुत संभव है कि वाकाटक सम्राट ने यह क्षेत्र अपने प्रभाव में कर लिया था। बघेलखंड की भी यही स्थिति थी। किंतु इस क्षेत्र में वाकाटकों की प्रमुखता अधिक समय तक न रह सकी क्योंकि प्रवरसेन की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही हम कोशल में महेंद्र, महाकांतार में व्याघ्रराज, देवराष्ट्र में कुबेर और पिष्टपुरी में महेंद्रगिरि को इस प्रदेश के अधिकांश भागों पर स्वतंत्र रूप में राज्य करते पाते हैं।

प्रवरसेन को अपने पिता से जो राज्य मिला था उसमें कुछ 'जिले ही शामिल' थे। उसने राज्य का इतना विस्तार किया कि उसमें नर्मदा और कृष्णा के बीच का प्रायः पूरा दकन आ गया था। उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, मध्यप्रदेश और हैदराबाद रियासत के प्रदेश तो निश्चय ही उसके साम्राज्य के अंग थे। मालवा, गुजरात, आंध्रदेश और दक्षिण कोशल उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। उसने दकन में राजनीतिक एकता स्थापित की जो कि सातवाहनों के बाद नष्ट हो चुकी थी। उसने इस भूभाग को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में सुदृढ़ कर दिया। इस समय वाकाटकों के पास इतनी शक्ति और साधन थे जिसकी समता उत्तर या दक्षिण भारत का कोई राज्य नहीं कर सकता था। अतः उसके लिए 'सम्राट' की उपाधि धारण करना स्वाभाविक ही था। इस पद का दावेदार उस काल में अन्य कोई राजा न था।

प्रवरसेन का जन्म एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह वैदिक धर्म का पक्का अनुयायी था। उसने अनेक वैदिक यज्ञ किए थे। इनमें 'अग्निष्टोम', 'अप्तोर्याम', 'उक्थ्य', 'षोडशिन्' और 'अतिरात्र' तो सोमयज्ञों में थे। ये वैदिक काल में बड़े लोकप्रिय थे। अपने पुरोहितों की सहायता से उसने कई-कई बार ये यज्ञ किए होंगे। उसने चार-चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। संभवतः अपने चार प्रसिद्ध अभियानों की समाप्ति पर उसने हर बार एक अश्वमेध किया होगा। इन अभियानों के फलस्वरूप ही वह समूचे दकन का 'सम्राट' बना था।

अपनी सभी विजयों के उपरांत जब वह भारत का सबसे शक्तिशाली राजा हो गया, तब उसने 'वाजपेय यज्ञ' कर 'सम्राट' की उपाधि धारण की। वह ब्राह्मण था। अतः 'राजसूय'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अधिकार उसे न था। इस यज्ञ का अधिकार 'एकराट' बनने के बाद क्षत्रियों को ही था। अतः उसने 'वाजपेय यज्ञ' किया। शास्त्रों के अनुसार यह यज्ञ 'सम्राट-सव' है जो सम्राट के रूप में 'अभिषेक' का सूचक है। 'वाजपेय' के कारण ही उसे 'बार्हस्पत्य यज्ञ' करना पड़ा होगा। ब्राह्मण होने के कारण यह राजा इसका अधिकारी था।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि प्रवरसेन प्रथम अपने समय का सबसे शक्तिशाली राजा था और उसने प्रायः समूचे दकन को अपने अधीन कर लिया था। हाल ही में कतिपय लेखकों ने उसे और भी विस्तृत विजयों का श्रेय दिया है और यह घोषित किया है कि वह समूचे भारत का सम्राट था। किंतु यह सही नहीं है। यह कहा गया है कि वह अपने एक पुत्र के जरिए दक्षिण भारत का नियंत्रण करता था जिसने आंध्रभृत्य अथवा पल्लव राजवंश की नींव डाली। किंतु यह कथन अभी एक प्राक्कल्पना ही है जो प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो पाई है। एक मत यह भी है कि उसने उत्तर प्रदेश को जीत लिया था और कुषाणों को अफगानिस्तान में खदेड़ दिया था। इस मत का आधार ऊपरी उत्तर प्रदेश में मिलने वाले वीरसेन के वे सिक्के हैं जिन्हें प्रवरसेन का मान लिया गया है। ये सिक्के प्रवरसेन के नहीं हैं।[10] सिक्के में नीचे बाईं ओर किनारे पर जिसे जायसवाल 'प्र' पढ़ते हैं वस्तुतः वह नंदि पदचिह्न का एक हिस्सा है। जिसे वे 76 का चिह्न मानते हैं वह वेदिका के बीच वृक्ष के चिह्न का एक हिस्सा है।[11] ये सिक्के वीरसेन ने जारी किए थे, न कि प्रवरसेन ने। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि ये सिक्के वाकाटक सम्राट प्रवरसेन प्रथम ने ही जारी किए थे, तो इस बात का खुलासा कैसे किया जा सकेगा कि आखिर ये सिक्के उत्तरी उत्तर प्रदेश में ही क्यों मिलते हैं ? ऐसे सिक्के मध्य प्रदेश और बरार में क्यों नहीं मिलते जो वाकाटकों के मूल प्रदेश थे ? इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्रवरसेन प्रथम ने पंजाब को जीत लिया था और कुषाणों को अफगानिस्तान में खदेड़ दिया था। पंजाब में तो वीरसेन के भी सिक्के बिरले ही मिलते हैं। जायसवाल की स्थापना यह है कि प्रवरसेन के दबाव से ही बाध्य होकर कुषाणों ने चौथी शताब्दी के प्रारंभ में स्वेच्छा से सासानियों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। वस्तुतः इस मत के समर्थन के लिए तो रंचमात्र भी प्रमाण नहीं है। सासानियों ने तो कुषाणों को लगभग 250 ई० में ही हराकर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर दिया था जबकि संभवतः प्रवरसेन का जन्म भी नहीं हुआ था। यही नहीं, इस बात को सिद्ध करने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं है कि कुषाणों ने किसी भारतीय शक्ति के दबाव से बाध्य होकर अपने भारतीय राज्य की रक्षा के लिए सासानियों की अधीनता स्वीकार की थी। उन्होंने सासनियों से युद्ध में परास्त होकर उनकी अधीनता स्वीकार की थी। अतः हम यह सिद्धांत नहीं स्वीकार कर सकते कि प्रवरसेन प्रथम समूचे भारत का 'सम्राट' था। वह दकन का 'सम्राट' अवश्य था और दकन में उस समय उसका राज्य सबसे बड़ा था। यह अपने में काफी बड़ी सफलता थी और इससे उसका 'सम्राट' की उपाधि ग्रहण करना उचित ही था।

'पुराणों' के अनुसार प्रवरसेन के चार पुत्र थे और कालांतर में ये चारों राजा हुए। 'पुराणों' के इस कथन से यह अनुमान होता है कि प्रवरसेन की मृत्यु के बाद उसके बेटों में साम्राज्य का बंटवारा हो गया था। इस बंटवारे से वाकाटक वंश की शक्ति अवश्य क्षीण हो गई होगी। ज्यों-ज्यों साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ होगा, प्रवरसेन ने विभिन्न प्रांतों में अपने बेटों को उपराजा के रूप में नियुक्त किया होगा। उसकी मृत्यु के बाद ये स्वतंत्र हो गए होंगे।

प्रवरसेन प्रथम के चारों पुत्रों में गौतमीपुत्र सबसे बड़ा था। किंतु उसने युवराज के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में ही राज्य किया था, क्योंकि पिता के जीवन काल में ही उसकी मृत्यु हो गई थी।[12] प्रवरसेन की मृत्यु के बाद गौतमीपुत्र का बेटा रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा था। प्रवरसेन के एक दूसरे पुत्र सर्वसेन था जिसके नाम का पता हमें अभी हाल में ही चला है।[13] वह बरार और हैदराबाद रियासत के उत्तर पश्चिम के जिलों पर उपराजा के रूप में शासन करता था। उसने वाकाटक राजवंश की वत्सगुल्म अथवा बसीम शाखा की स्थापना की थी। इस शाखा ने पांचवीं शताब्दी के अंत तक राज्य किया था।

प्रवरसेन के शेष दो बेटों के नाम अभी तक ज्ञात नहीं हैं। न ही हमें यह पता है कि उनके राज्य कहां थे। हो सकता है कि उनके इलाके साम्राज्य के पूर्वी भागों में संभवतः कोशल और आंध्रदेश में रहे हों। किंतु इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह भी हो सकता है कि इन शाखाओं के राज्य अल्पकाल में ही समाप्त हो गए होंगे क्योंकि या तो इन्हें मूल शाखा ने अपने राज्य में अंतर्भुक्त कर लिया या फिर ये वाकाटकों के हाथ से सदा के लिए निकल गए। मुख्य शाखा उत्तर-बरार, बंबई-महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के अधिकांश जिलों पर शासन करती रही।[14]

रुद्रसेन प्रथम
(लगभग 335 से 360 ई०)

ऊपर हमने जो कालक्रम निर्धारित किया है उसने अनुसार प्रवरसेन प्रथम के बाद लगभग 335 ई० में उसका पोता रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा। वाकाटकों के लेखों में उनकी जो वंशावली मिलती है उसके अनुसार रुद्रसेन के पिता का नाम गौतमीपुत्र था। किंतु उसके नाम के साथ राजा की कोई उपाधि नहीं मिलती। अतः स्पष्ट है कि वह राजा नहीं हुआ था। वह अपने जीवन के अंत तक उपराजा ही बना रहा। पिता के जीवन काल में ही गौतमीपुत्र की मृत्यु हो गई। यह आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि प्रवरसेन ने असामान्य रूप से साठ साल तक राज्य किया था। अतः अपनी मृत्यु के समय वह 80 से ऊपर रहा होगा। अतः गद्दी पर बैठने के समय उसके पोते रुद्रसेन की आयु 30 से कम न रही होगी।

वाकाटक लेखों में वाकाटकों की जो वंशावली मिलती है उसमें रुद्रसेन प्रथम के नाना के रूप में भारशिव राजा भवनाग का उल्लेख आता है। भारतीय राजाओं की वंशावलियों में नाना का उल्लेख तभी मिलता है जबकि नाती उसके राज्य का उत्तराधिकारी होता है, अथवा जब विपत्ति के समय नाना नाती की वास्तविक मदद करता है। अब यह बात निश्चित हो चुकी है कि भवनाग पुराने ग्वालियर राज्य पद्मावती के नागवंश का था। रुद्रसेन ने उत्तराधिकार में भवनाग का राज्य नहीं पाया था। भवनाग के बाद उसका बेटा गणपतिनाग राजा हुआ था। अतः वाकाटक वंशावली में उसके नाम का उल्लख होने का कारण यह था कि उसने अपने नाती रुद्रसेन प्रथम की बहुमूल्य सहायता की थी।

यह सहायता क्या थी, कब और क्यों दी गई थी? इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना संभव नहीं। हो सकता है कि भवनाग ने अपने नाती को जिन शत्रुओं के विरुद्ध सहायता दी हो वे स्वयं रुद्रसेन के चाचा ही रहे हों, जिन्होंने मुख्य शाखा की गद्दी से उसे हटाने की कोशिश की हो। किंतु इसके बारे में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस अनुमान का समर्थन अथवा खंडन भविष्य की खोजें ही कर सकेंगी।

लगभग 325 ई० से 360 ई० के बीच का काल, जिसमें प्रवरसेन के राज्य की संध्या और रुद्रसेन प्रथम का पूरा राज्यकाल शामिल है, दकन और उत्तर भारत दोनों के इतिहास में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बड़े महत्व का काल है। इसी अवधि में वाकाटकों ने सम्राट का पद खो दिया जिसे गुप्तों ने ग्रहण कर लिया। लगभग 335 ई० तक प्रवरसेन प्रथम सम्राट के रूप में राज्य करता रहा। किंतु उसके उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम अथवा उसके बाद उसके किसी वंशज को स्वयं वाकाटकों के दस्तावेजों में भी 'सम्राट' की उपाधि नहीं दी गई है। अतः डा० एस० के० अय्यंगार ने अनुमान किया है कि रुद्रसेन प्रथम द्वारा सम्राट की उपाधि के त्याग का कारण किसी पड़ौसी के हाथों युद्ध में उसका पराजित होना रहा होगा। फिर विजयी राजा ने स्वयं सम्राट की उपाधि धारण की होगी। वाकाटकों का यह पड़ौसी चंद्रगुप्त प्रथम अथवा उसके पुत्र समुद्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य कोई राजा नहीं हो सकता। इन राजाओं ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। इनके पहले के किसी गुप्त राजा ने यह उपाधि ग्रहण नहीं की थी। चंद्रगुप्त के सम्राट बनने का घनिष्ठ संबंध वाकाटकों के उस पद से च्युत होने से है। गुप्तों ने अपने विस्तार की जो योजनाएं बनाई थीं उनके मार्ग में वाकाटक ही प्रत्यक्ष एकमात्र बाधक थे। चंद्रगुप्त ने युद्ध में प्रत्यक्ष विजय के द्वारा अथवा धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार कर अपनी प्रमुखता स्थापित की होगी।[15]

इस सिद्धांत के समर्थन में डा० जायसवाल ने कतिपय अन्य दलीलें भी दी हैं। उनका कथन है कि प्रवरसेन प्रथम ने चंद्रगुप्त प्रथम पर आक्रमण कर चंद्रगुप्त को हरा दिया था और उसके स्थान पर कल्याण वर्मा को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठा दिया था। चंद्रगुप्त ने एक निष्कासित व्यक्ति के रूप में प्राण छोड़े थे। अपनी मृत्युशय्या से उसने समुद्रगुप्त को आदेश दिया था कि वह वंश की मर्यादा को पुनः स्थापित करे और स्वयं उसने महाराजाधिराज का जो पद पाकर खो दिया था उसे पुनः प्राप्त करे। समुद्रगुप्त ने इसके लिए अवसर की प्रतीक्षा की।। वह वाकाटकों के एक सामंत के रूप में अवध में राज्य करता रहा। इसी अवधि में उसने व्याघ्रहंता 'प्रकार' के सिक्के जारी किए थे जिनपर उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने की हिम्मत नहीं की। अपितु वह मात्र 'राजा' की उपाधि से ही संतुष्ट रहा। प्रवरसेन की मृत्यु का लाभ उठाकर समुद्रगुप्त ने उसके उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम पर आक्रमण कर दिया और 348 ई० में उसे कौशांबी के पास एक भयंकर युद्ध में मार डाला। प्रयाग की प्रशस्ति में आर्यावर्त्त के उन राजाओं में, जिनका मूलोच्छेद समुद्रगुप्त ने किया, रुद्रदेव का पहला नाम है। यह रुद्रदेव वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम के अतिरिक्त और कोई नहीं। समुद्रगुप्त ने अंततोगत्वा छोटा नागपुर, बुंदेलखंड, बघेलखंड, छत्तीसगढ़ और आंध्रदेश के राजाओं को अपने प्रभाव में ले लिया जो इससे पूर्व वाकाटकों के सामंत थे। वाकाटक सम्राट के युद्ध में मारे जाने और उसके महत्वपूर्ण प्रांतों के छिन जाने से वाकाटकों की स्थिति मात्र गुप्तों के सामंतों की रह गई थी। यही वजह है कि रुद्रसेन प्रथम और उसके उत्तराधिकारी वाकाटक राजाओं को सिर्फ 'महाराजा' की उपाधि धारण करने का अधिकार मिला था जो उनके सामंत की हैसियत की द्योतक है। उन्होंने 'सम्राट' अथवा 'महाराजाधिराज' की उपाधि कभी न ली जो कि एक सम्राट ही धारण कर सकता था।[16]

इसमें शक नहीं कि इस बात की संभावना अवश्य है कि गुप्तों और वाकाटकों में संघर्ष हुआ होगा जिसमें वाकाटकों को नीचा देखना पड़ा होगा। किंतु इस संबंध में जो तर्क दिए गए हैं उनकी सूक्ष्म परीक्षा करने पर वे सत्य सिद्ध नहीं हो पाते। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि प्रवरसेन प्रथम ने चंद्रगुप्त को हटाकर पाटलिपुत्र की गद्दी पर अपने द्वारा मनोनीत किसी कल्याणवर्मा को बैठा दिया था। जायसवाल ने अपने पक्ष के समर्थन में प्रमुख रूप से 'कौमुदीमहोत्सव' को आधार बनाया है। इस पुस्तक की घटनाओं का चंद्रगुप्त प्रथम से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोई संबंध ही नहीं है। इस नाटक के चंद्रसेन की पहचान गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त प्रथम से नहीं की जा सकती। इस नाटक के अनुसार चंद्रसेन अपने सारे परिवार के साथ मारा गया था।[17] किंतु हमें तो निश्चित रूप से पता है कि चंद्रगुप्त अपने पीछे कई पुत्र छोड़ गया था, जिनमें से एक उसके बाद गद्दी पर बैठा। नाटक में चंद्रसेन एक निष्कासित राजा के रूप में चित्रित है। जायसवाल का यह कथन कदापि नहीं माना जा सकता कि समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में चंद्रगुप्त मृत्युशय्या पर एक निष्कासित राजा के रूप में चित्रित है। हम जानते हैं कि जब चंद्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तो उसके भाइयों के हृदयों में समुद्रगुप्त के प्रति द्वेष उत्पन्न हो गया था। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चंद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के सामने सम्राट के रूप में वंश की खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की कठिन और खतरनाक समस्या न थी। न ऐसा कोई प्रमाण ही उपलब्ध है कि जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि समुद्रगुप्त ने अपना शासन वाकाटकों के एक सामंत के रूप में प्रारंभ किया था। इसमें कोई शक नहीं कि समुद्रगुप्त के व्याघ्रहंता प्रकार के सिक्कों पर उसकी उपाधि राजा मात्र है। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जब ये सिक्के जारी हुए थे तो उस समय समुद्रगुप्त एक सामंत राजा था। यदि हम यह दलील मान लें तो फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि चंद्रगुप्त द्वितीय को भी कभी किसी सम्राट का सामंत राजा बनना पड़ा होगा, क्योंकि उसके तांबे के सिक्कों पर उसकी उपाधि मात्र 'महाराजा' लिखी है[18] जो जायसवाल के अनुसार सामंत-पद की द्योतक थी। यही नहीं, उसके कतिपय सिक्कों पर तो उसका सिर्फ नाम चंद्रगुप्त बिना किसी उपाधि के मिलता है। तो क्या इससे यह मानना पड़ेगा कि कुछ समय तक वह सामंत राजा भी नहीं रह गया था? कुमारगुप्त प्रथम के अश्वारोही प्रकार के सिक्कों पर सीधे या उलटे किसी भी ओर उसकी 'राजा' या 'महाराजा' उपाधि भी नहीं है। तो क्या इससे मानना पड़ेगा कि जब इस प्रकार के सिक्के जारी हुए थे तो वह सामंत राजा भी नहीं रह गया था? सीधी-सी बात यह है कि गुप्तों के सिक्कों पर स्थान के हिसाब से लेख रहते थे। तांबे के सिक्कों पर जगह कम रहती थी। इसलिए चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे प्रतापी सम्राट को भी, जिसके बारे में रंच-मात्र भी संदेह की गुंजाइश नहीं कि वह कभी सामंत हो गया होगा, 'महाराजा' की उपाधि से ही संतुष्ट रहना पड़ा। कभी-कभी तो राजा की कोई भी उपाधि देने के लिए भी सिक्के पर स्थान नहीं होता था। समुद्रगुप्त के व्याघ्रहंता प्रकार के सिक्कों पर उलटी ओर सिर्फ 'समुद्रगुप्त' लेख अंकित है। गुप्तों के सिक्कों पर उलटी ओर का लेख बहुत छोटा होता था, अतः 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः' जैसे बड़े लेख उस ओर नहीं होते थे क्योंकि इतने बड़े लेख के लिए वहां जगह ही नहीं थी। 'व्याघ्रहंता' प्रकार के समुद्रगुप्त के सिक्कों पर अंकित लेख 'राजा समुद्रगुप्तः' से यह निष्कर्ष निकालना कि इन सिक्कों के जारी होने के समय वह सामंत था, तभी सिद्ध हो सकता है जब हम यह मान लें कि चंद्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर अंकित लेख 'चंद्रगुप्तः' इस बात का प्रमाण है कि इन सिक्कों के जारी होने के समय वह सामंत राजा भी नहीं था, अपितु एक आम नागरिक था। किंतु ये दोनों कल्पनाएं बेतुकी हैं।

ससुद्रगुप्त ने वाकाटक शासक रुद्रसेन प्रथम को मार डाला था, इस कल्पना का आधार यह है कि आर्यावर्त्त के उन राजाओं में, जिनका मूलोच्छेद समुद्रगुप्त ने किया था, रुद्रदेव नाम का एक राजा भी था जो और कोई नहीं, बल्कि रुद्रदेव प्रथम ही था। ये दोनों नाम मिलते-जुलते हैं अवश्य, पर ये एक ही व्यक्ति के नाम नहीं हो सकते। समुद्रगुप्त द्वारा उच्छिन्न रुद्रदेव आर्यावर्त्त का राजा था, जबकि रुद्रदेव वाकाटकों का राजा होने के कारण दकन का राजा था। अपिच, याद रखने की बात यह है कि प्रयाग का लेख समुद्रगुप्त की 'प्रशस्ति' के रूप में लिखा गया है जिसमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसकी सफलताओं का जीवंत वर्णन है। समुद्रगुप्त कितना शूरवीर था, इसका आभास पाठकों को कराने के लिए कुषाण राजा की पूरी शाही उपाधि दी गई है, जिसने उसकी नाम-मात्र की अधीनता स्वीकार की थी। प्रवरसेन और रुद्रसेन प्रथम ने तो स्वयं उसका और उसके पिता का भी अपमान किया था और उन्हें अपना सामंत बना लिया था। यदि समुद्रगुप्त ने इसका बदला चुकाया होता तो 'प्रशस्ति' में इतनी बड़ी घटना का वर्णन आर्यावर्त्त के उच्छिन्न नौ राजाओं में रुद्रदेव का भी नाम डालकर इतने चलते ढंग से नहीं किया जाता। अच्युत और नागसेन समुद्रगुप्त के महत्वपूर्ण शत्रुओं में थे, पर वे वाकाटक सम्राट से घटकर थे। इनकी पराजय का प्रशस्ति में दो-दो बार उल्लेख हुआ है—एक बार पद्य में, एक बार गद्य में। फिर वाकाटक सम्राट रुद्रसेन की पराजय, जिसे जायसवाल पेशावर से कांची और द्वारका से पटना तक समग्र भारत का शासक बतलाते हैं, सिर्फ चार अक्षरों में क्यों लिखी गई? रुद्रदेव के वंश का भी नामोल्लेख क्यों नहीं किया गया? यदि समुद्रगुप्त ने वास्तव में वाकाटक सम्राट को हराया होता तो वाकाटकों की शक्ति, समुद्रगुप्त के सैन्यकौशल, घनघोर युद्ध और उसमें अपने वंश के सबसे भयंकर शत्रु की मृत्यु के वर्णन में कवि न जाने कितने छंद लिख डालता। कुषाणों ने समुद्रगुप्त की अधीनता नाममात्र को स्वीकार की थी, किंतु उनकी पूरी शाही उपाधि का वर्णन कवि ने समुद्रगुप्त के शौर्य को प्रकाशित करने के लिए किया है। फिर क्या समुद्रगुप्त की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए वह रुद्रदेव की पूरी उपाधि भी न देता?

तथ्य यह है कि वाकाटकों और गुप्तों के बीच प्रतिद्वंद्विता के लिए अधिक अवसर ही न थे। उनके प्रभाव क्षेत्र बंटे हुए थे। अपने दक्षिण भारत के अभियान में भी समुद्रगुप्त का वाकाटकों के साथ कोई सीधा संघर्ष नहीं हुआ। यदि ऐसा हुआ होता तो प्रयाग की प्रशस्ति में उसका उल्लेख अवश्य ही होता और उसमें वाकाटक राजा का नाम भी आता। प्रयाग की प्रशस्ति में उस काल के राजाओं का उल्लेख किसी न किसी रूप में अवश्य आया है। वाकाटक राजा का उल्लेख न करने का क्या कारण हो सकता है? यह सच है कि प्रवरसेन प्रथम के समय में दक्षिण कोशल और आंध्रदेश के राजा उसके प्रभावक्षेत्र में थे। किंतु प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु और समुद्रगुप्त के आक्रमण के बीच की अवधि में इस क्षेत्र के राजाओं ने वाकाटकों के प्रति अपनी निष्ठा का परित्याग कर दिया था और वे स्वतंत्र हो चुके थे। इन राजाओं ने नाममात्र को समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी। इससे वाकाटकों के दीर्घकालिक हितों की किसी तरह हानि नहीं हुई। उनका आधिपत्य तो उससे पहले ही उठ चुका था। हम समुद्रगुप्त की अधीनता मानने वाले महाकांतार के व्याघ्रराज की पहचान गंज के वाकाटक सामंत व्याघ्रराज से नहीं कर सकते, क्योंकि प्रयाग की प्रशस्ति का व्याघ्रराज विंध्य के दक्षिण में कहीं दकन का राजा था, जबकि वाकाटक सामंत बुंदेलखंड का राजा था जो विंध्य के उत्तर में शासन करता था।[19]

एक अन्य बात भी इस सिद्धांत के विरुद्ध पड़ती है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटक राजा रुद्रसेन को पराजित कर मार डाला था। यदि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम की हत्या की होती और फिर यह संघर्ष अगली पीढ़ी तक ले जाकर रुद्रसेन के बेटे पृथ्वीषेण प्रथम ने सामंत व्याघ्रराज को वाकाटकों के स्थान पर अपनी अधीनता मानने को बाध्य किया होता तो पृथ्वीषेण अपने बेटे और उत्तराधिकारी रुद्रसेन द्वितीय का विवाह अपने कट्टर शत्रु की पोती प्रभावतीगुप्ता से कदापि न करता। यह सच है कि राजनीति में शत्रुता और मैत्री स्थाया नहीं होती। तथापि यह प्रायः नामुमकिन है, खासकर हिंदू राजघराने के लिए तो और भी, कि कोई राजा अपने बेटे का ब्याह अपने कट्टर शत्रु की पोती से करे, और वह शत्रु भी ऐसा-वैसा नहीं बल्कि वह हो जो उसके पिता का हत्यारा रहा हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किंतु प्रश्न हो सकता है कि आखिर समुद्रगुप्त की 'दिग्विजय' के बाद ही वाकाटकों ने सम्राट की उपाधि का परित्याग क्यों कर दिया ? क्या यह बात किसी परिवर्तन की सूचक नहीं है ? आखिर रुद्रसेन ने स्वेच्छा से सम्राट की उपाधि का त्याग न किया होगा। इसका कारण समुद्रगुप्त के हाथों उसकी पराजय रहा होगा। इसी पराजय के कारण वाकाटक गुप्तों के सामंत हुए होंगे। इनके राजकीय दस्तावेजों में प्रवरसेन को सदा 'सम्राट' कहा गया है। किंतु उसके सभी वंशजों को सिर्फ 'महाराज' कहा गया है। 'महाराज' की उपाधि उस युग में सामंत पद की द्योतक थी। स्वयं प्रभावतीगुप्ता अपने पिता को 'महाराजाधिराज' कहती है किंतु अपने पति के नाम के साथ मात्र 'महाराज' की उपाधि लगाती है। स्पष्ट ही इसका कारण यह है कि उसका पति रुद्रसेन द्वितीय गुप्तों का सामंत था।

उपर्युक्त तर्क पहली नजर में तो काफी युक्तिसंगत प्रतीत होता है, किंतु तत्कालीन दस्तावेजों का गहराई से परीक्षण करने पर भ्रामक सिद्ध हो जाता है। सम्राट पद की सूचक 'महाराजाधिराज' की उपाधि चौथी शताब्दी के प्रारंभ में एक विदेशी उपाधि थी। गुप्तों ने कुषाणों के सिक्कों के साथ यह उपाधि भी उन्हीं से ग्रहण की थी। किंतु कई दशकों के बाद कहीं जाकर दकन और दक्षिण भारत में यह उपाधि लोकप्रिय हो पाई। इक्ष्वाकु राजा चंतमूल ने लगभग 250 ई० में कई अश्वमेध किए थे। तथापि वह 'महाराजा' की ही छोटी सी उपाधि से संतुष्ट रहा। उसे कभी संदेह ही नहीं हुआ कि यह उपाधि कभी मात्र सामंत पद की द्यो क समझी जाएगी। विष्णुकुंडिन राजा माधववर्मन प्रथम ने ग्यारह अश्वमेध किए थे। उसके समय में उत्तर भारत के अनेक राजाओं ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। फिर भी वह 'महाराजा' की ही सामान्य उपाधि से संतुष्ट रहा। महान् चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के ज्यादातर दान-पत्रों में उसे 'महाराजा' मात्र कहा गया है। उसके बेटे विक्रमादित्य प्रथम (लगभग 660 ई०) के समय से चालुक्यों ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि लिखना प्रारंभ किया। 'महाराजा' की उपाधि उत्तर भारत में ही सामंत पद की द्योतक थी। दकन और दक्षिण भारत में तो सातवीं शताब्दी के मध्य तक ऐसी कोई बात नहीं थी। पल्लव, कदंब और चालुक्य सभी स्वतंत्र राजा थे। उनके अधीन अनेक सामंत थे। किंतु अपने दस्तावेजों में उन्होंने स्वयं को 'महाराजा' ही कहा है। अतः मात्र इस कारण, कि प्रवरसेन के उत्तराधिकारियों ने 'महाराजा' की उपाधि धारण की थी, यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्वतंत्र राजा न होकर गुप्तों के सामंत थे।

किंतु मूल प्रश्न तो बना ही है कि आखिर प्रवरसेन प्रथम के उत्तराधिकारी सभी वाकाटक राजाओं ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि क्यों नहीं धारण की ? यदि इसका कारण यह माना जाए कि उनके समय तक दकन और दक्षिण भारत में 'महाराजाधिराज' की उपाधि लोकप्रिय नहीं हुई थी, तो फिर इसकी क्या वजह हो सकती है कि उन्होंने प्रवरसेन के द्वारा धारण की गई 'सम्राट' की उपाधि भी छोड़ दी ? इस परिवर्तन का कारण कुछ तो धार्मिक था और कुछ राजनीतिक। प्रवरसेन प्रथम ने जो अनेक यज्ञ किए थे, उनमें एक 'वाजपेय' भी था। शास्त्रों में इस यज्ञ के कर्त्ता को 'सम्राट-सव'[10] माना गया है अर्थात इसका कर्त्ता 'सम्राट' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। प्रवरसेन प्रथम के बाद किसी भी वाकाटक राजा ने यह यज्ञ नहीं किया, इसलिए वे 'महाराज' की ही उपाधि से संतुष्ट रहे। उस काल में दकन और दक्षिण भारत में यह उपाधि सामंत की हैसियत की सूचक न थी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वाकाटक कट्टर ब्राह्मण थे। इसलिए उन्होंने 'वाजपेय' यज्ञ न करने के कारण सम्राट की उपाधि धारण करना उचित नहीं समझा होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ राजनैतिक कारण भी थे जिनकी वजह से उन्होंने 'सम्राट' की उपाधि छोड़ दी। प्रवरसेन प्रथम ने अपनी शक्ति से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसकी मृत्यु के बाद वह चार राज्यों में बंट गया था जिनमें हरएक राज्य पर उसके किसी न किसी बेटे का शासन था। इस विभाजन के कारण वाकाटकों की शक्ति और साधन क्षीण हो गए थे। इस बीच उत्तर भारत में एक नए शक्तिशाली राज्य का उदय हो चुका था जो हर दृष्टि से उनसे बढ़कर था। उसने अपनी हैसियत सम्राट की कर ली थी। प्रवरसेन प्रथम का कोई भी उत्तराधिकारी उसे चुनौती देने की स्थिति में न था और न वह वाजपेय यज्ञ कर सम्राट की उपाधि धारण करने ही स्थिति में था। थोड़े ही समय में दोनों घरानों में विवाह-संबंध भी स्थापित हो गए। गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्ता लगभग 385 ई० में वाकाटक राजा रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी' बन गई। इस विवाह से दोनों घरानों में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा की भावना का अंत हो गया। ध्यान देने की बात यह है कि वाकाटकों के शासन-पत्रों का पाठ उस समय स्थिर हुआ था जब प्रभावतीगुप्ता अपने अल्पवयस्क पुत्रों की अभिभाविका के रूप में राज्य कर रही थी और यह पाठ स्थिर करनेवाले वे अधिकारी थे जो गुप्तों के सचिवालय से वहां आए थे। वे अपने स्वामी के एक पोष्य राजा के नाम के साथ 'महाराजाधिराज' की उपाधि के प्रयोग के लिए उत्सुक न रहे होंगे। बाद में जब प्रवरसेन द्वितीय वयस्क होकर राजा बना और उसने उस प्रारूप में संशोधन किया तो उसने अपने पूर्वजों के लिए उसी उपाधि का उपयोग करना ठीक न समझा होगा जो उसके रक्षक और मार्गदर्शक चंद्रगुप्त द्वितीय के पूर्वज तीन पीढ़ियों से धारण करते आ रहे थे। उसने अपने स्वनामक पूर्वज प्रवरसेन प्रथम को 'वाजपेय' यज्ञ करने के कारण 'सम्राट' कहा क्योंकि वह शास्त्रानुसार उसका अधिकारी था। प्रवरसेन ने अपने अन्य पूर्वजों को 'महाराजा' कहने में कोई आपत्ति न देखी क्योंकि उस समय तक यह उपाधि दकन में स्वतंत्र पद की द्योतक थी।

अंत में यह भी बतला देना आवश्यक है कि 'पुराणों' के प्रमाण से इस बात का समर्थन नहीं होता कि प्रवरसेन के चारों बेटों की मृत्यु के बाद वाकाटक राजवंश में कोई छूंछ पड़ गई थी। इस प्रकार यह कहने से यह परिलक्षित होता है कि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन को एक युद्ध में मौत के घाट उतार दिया था। किंतु 'पुराणों' का कथन है कि प्रवीर अथवा प्रवरसेन और दूसरों के चार बेटे होंगे जो उसके बाद राज्य करेंगे। फिर जब विंध्यक अर्थात् वाकाटक वंश का अंत हो जाएगा तो वाह्लिकों, पुष्यमित्रों, पटुमित्रों का शासन शुरू होगा।[21] इसका यह अर्थ नहीं कि प्रवरसेन के चारों बेटों के शासन के बाद विंध्यकों अर्थात वाकाटक वंश का अंत हो गया। इसका यही अर्थ है कि 'पुराणों' ने उनके उत्तराधिकारियों का इतिहास नहीं दिया है। इससे मिलती-जुलती एक मिसाल दें। 'पुराणों' का कथन है कि गुप्तवंश के राजा प्रयाग, पटना और अयोध्या पर शासन करेंगे।[22] 'पुराणों' की यह उक्ति चंद्रगुप्त प्रथम के शासन के लिए सही है। इस कथन से इस ऐतिहासिक तथ्य का खंडन नहीं होता कि बाद में गुप्त साम्राज्य पूरे उत्तर भारत में फैल गया था। इसका यही तात्पर्य है कि 'पुराणों' ने उसके बाद का गुप्तों का इतिहास नहीं दिया है। यही बात प्रवरसेन प्रथम के पुत्रों के बाद के वाकाटकों के इतिहास के बारे में हुई है। यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के बाद वाकाटक वंश के शासन में कोई सहसा भंग नहीं हुआ था। क्योंकि उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीषेण के बारे में वाकाटकों के सभी अभिलेखों में यही कहा गया है कि उसके समय में वाकाटक वंश का कोश और उसकी सेना सौ वर्ष से 'अभिवर्धमान' थी।[23] 'पुराणों' के मौन से, निषेधात्मक कथन से, जो निषेधात्मक अनुमान निकाला गया है उसका इस विध्या-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्मक कथन से पूरी तरह से खंडन हो जाता है। इससे इस सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है कि पृथ्वीषेण प्रथम के राज्यारोहण के पूर्व वाकाटकों को युद्ध में भारी पराजय का सामना करना पड़ा था। वस्तुत: यह स्थापना ही बेबुनियाद और अविश्वसनीय है।

रुद्रसेन के राज्यकाल की बहुत कम घटनाओं का पता है। वाकाटक साम्राज्य के चार उपराज्यों में बंट जाने और रुद्रसेन के उत्तराधिकार के प्रश्न पर मतभेद होने की वजह से वाकाटकों की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुंची। आंध्र देश और दक्षिण कोशल स्वतंत्र हो गए। वहां दूसरे राजा राज्य करने लगे। पश्चिम में क्षत्रपों ने भी वाकाटकों की प्रमुखता मानने से इनकार कर दिया। 340 ई० के आसपास रुद्रदामन द्वितीय ने 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण कर ली। इससे यही विदित होता है कि वह भी स्वतंत्र हो चुका था। रुद्रसेन प्रथम के पास इतनी शक्ति ही न थी कि इस संबंध में वह कुछ कर सकता। इसलिए वह चुप वैठ गया। दक्षिण बरार और हैदराबाद रियासत के उत्तर-पश्चिम भाग पर उसके चाचा सर्वसेन का शासन बना रहा। वाकाटकों की बसीम शाखा और उनकी मुख्य शाखा के बीच कैसे संबंध थे, इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। यह असंभव नहीं है कि बसीम के वाकाटक उत्तराधिकार के संघर्ष की समाप्ति हो जाने के बाद मुख्य शाखा की औपचारिक अधीनता मानते रहे हों।

अपने नाना भवनाग की भांति रुद्रसेन भी कट्टर शैव था। वाकाटक दस्तावेजों में उसे सदा माहाभैरव का उपासक कहा गया है। देवटेक में उसके द्वारा शिव-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। यह देवटेक नागपुर से 5) मील उत्तर-पश्चिम में है। उसने अपने उपास्य देव के अनेक अन्य मंदिर भी बनवाए होंगे।

कुल मिलाकर रुद्रसेन एक कमजोर शासक था। उसके शासन-काल में वाकाटकों की शक्ति और उनके यश का क्षय ही हुआ। उसके पितामह ने साम्राज्य को अपने चार पुत्रों में बांट देने का जो फैसला किया था वह बुद्धिमत्तापूर्ण न था। इससे साम्राज्य की केंद्रीय शक्ति क्षीण हो गई। रुद्रसेन ने इस बुरी परिस्थिति में सुधार की सभी कोशिशें कीं। उसने छत्तीसगढ़ को छोड़कर मध्य प्रदेश के शेष जिलों को अपने प्रत्यक्ष शासन में बनाए रखा। उसकी मृत्यु लगभग 360 ई० में हुई।

पृथ्वीषेण प्रथम
(लगभग 360 से 385 ई०)

रुद्रसेन प्रथम के बाद लगभग 360 ई० में उसका बेटा पृथ्वीषेण प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने काफी समय तक राज्य का सुख भोगा था क्योंकि वाकाटक अभिलेखों में उसे पुत्र-पौत्रों से घिरा बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके राज्य में शांति और समृद्धि थी क्योंकि दस्तावेजों में यह लिखा है कि उसके शासन काल में वाकाटक वंश ने अपने समृद्धिशाली शासन के सौ वर्ष पूरे किए थे। इस अवधि में कोश और सेना दोनों की ही अभिवृद्धि हुई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्वयं अपनी सेना और कोश का किसी आक्रामक युद्ध में प्रयोग नहीं किया क्योंकि उसकी उपमा युधिष्ठिर से दी गई है, जिनकी ख्याति एक सैनिक की अपेक्षा धर्मात्मा के रूप में अधिक थी। एक समय था जब विद्वानों की धारणा यह थी कि उसने कुंतल को जीत लिया था। किंतु अजंता की गुफा सं० 16 के लेख के संशोधित पाठ से यह सिद्ध हो गया है कि कुंतल का विजेता बसीम शाखा का राजा विंध्यसेन था, न कि मुख्य शाखा का पृथ्वीषेण प्रथम। हो सकता है कि पृथ्वीषेण ने इस युद्ध में सेना और धन से अपने परिवार की मदद की हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटकों द्वारा पराजित कुंतलनरेश कौन था, यह अभी निश्चित नहीं हुआ है। अधिक संभावना यही है कि वह कदंबराजा कंगवर्मन[24] रहा होगा जो उत्तरी कर्नाटक कुंतल का शासक था। इस विजय के उपरांत वाकाटक राजा कुंतलाधीश के रूप में ख्यात हुए। इससे यह अनुमान होता है कि इस विजय के फलस्वरूप कुंतल का एक भाग वाकाटक राज्य में जुड़ गया था। किंतु हमें ज्ञात है कि हंगल के कदंब वाकाटकों की विजय के बाद भी उत्तर में बेलगांव तक राज्य करते रहे। इससे यही प्रतीत होता है कि इस विजय के उपरांत वह प्रदेश, जिसे हम दक्षिण मराठ-वाड़ा कहते हैं, वाकाटकों के अधिकार में आया होगा। अधिक संभावना यह है कि कदंब भी इस प्रदेश पर अपना नाममात्र का ही आधिपत्य बनाए हुए थे। अतः उनके हाथ से इसके निकल जाने पर उन्हें कोई अधिक पश्चाताप नहीं हुआ होगा।

वसीम के अपने चचेरे भाइयों के साथ पृथ्वीषेण के संबंध मधुर रहे। बसीम शाखा वाले संभवतः सरसरी तौर पर पृथ्वीषेण का आधिपत्य मानते रहे, तथापि उपने आंतरिक शासन में वे पूर्ण स्वतंत्र थे।[25] यदि वे पृथ्वीषेण की अधीनता न मानते होते तो फिर काव्यग्रंथों में जो पृथ्वीषेण के पोते प्रवरसेन द्वितीय को 'कुंतलाधीश' कहा गया है, उसका खुलासा कैसे हो सकता है?[26] कुंतलविजय की मूल योजना बसीम शाखा के विंध्यसेन की थी, जिसके लिए मुख्य शाखा ने धन-जन दोनों से सहायता दी थी। इससे मुख्य शाखा का भी यश बढ़ा था। अतः उसके शासकों को कुंतलाधीश कहा गया।

पश्चिमी क्षत्रपों के साथ पृथ्वीषेण प्रथम के शासनकाल (लगभग 360-85 ई०) में वाकाटकों के संबंध कैसे थे, इसका निश्चित रूप में पता नहीं है। हम देख चुके हैं कि रुद्रसेन प्रथम के शासन-काल में रुद्रदामन द्वितीय ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण कर कर ली थी। इसके पूर्व 32 वर्षों तक उसके वंश के किसी व्यक्ति ने 'महाक्षत्रप' की उपाधि नहीं ली थी। किंतु रुद्रदामन द्वितीय के बेटे रुद्रसेन तृतीय का राज्य शांति से नहीं बीता। उसके भाग्य ने पलटा खाया और 351 से 364 ई० तक क्षत्रप शक्ति लुप्त रही। इस भयंकर विपत्ति का कारण क्या था, इसका पता नहीं। किंतु इस बात की संभावना नहीं है कि इसका संबंध रुद्रसेन प्रथम या उसके बेटे पृथ्वीषेण प्रथम से था। यह तर्क दिया जा सकता है कि इस काल में वाकाटकों ने क्षत्रपों पर अपना आधिपत्य पुनः स्थापित करने के यत्न किए होंगे। किंतु इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं।[27] वाकाटक शासनपत्रों का प्रारूप सबसे पहले प्रवरसेन द्वितीय के शासनकाल में बना। यह राजा तो जानता ही था कि उसके नाना चंद्रगुप्त ने किस प्रकार क्षत्रपों का सफाया किया था। यदि उसके दादा पृथ्वीषेण प्रथम ने कुछ काल के लिए क्षत्रपों के प्रदेश पर कब्जा कर लिया था तो इससे गुप्तों का मार्ग ही प्रशस्त हुआ होगा। फिर प्रवरसेन द्वितीय अपने वंश के यश के वर्णन में चुप क्यों है? कह सकते हैं कि वाकाटकों की यह विजय अस्थायी थी इसलिए वाकाटक लेखों में उसका उल्लेख नहीं किया गया है। किंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि ऐसी क्षणिक सफलताओं के भी बड़े आलंकारिक वर्णन इन दस्तावेजों में मिलते हैं। अतः अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि 351 से 364 ई० के बीच क्षत्रपों पर जो विपत्ति आई थी, उसका कोई खास संबंध वाकाटकों से न था।

बुंदेलखंड से दो अभिलेख मिले हैं। इनमें एक की नचने-तलई में मिला है और दूसरा गंज में।[28] इनमें व्याघ्रराज नाम के एक राजा ने अपने को वाकाटक सम्राट पृथ्वीषेण का सामंत कहा है। इस लेख में व्याघ्रराज की वंशावली नहीं है। अतः इस सामंत और उस स्वामी वाका-टक सम्राट की पहचान को लेकर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। हम पहले दिखा चुके हैं कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस व्याघ्रराज की पहचान प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित उस व्याघ्रराज से नहीं की जा सकती जिसे समुद्रगुप्त ने हराया था। तथापि यह संभव है कि व्याघ्रराज का स्वामी वाकाटक राजा पृथ्वीषेण, पृथ्वीषेण प्रथम न होकर पृथ्वीषेण द्वितीय रहा होगा जिसने लगभग 460 से 480 ई० तक राज्य किया था। फिर तो उसका सामंत व्याघ्रराज, उच्छकल्प व्याघ्रराज होगा। किंतु इतना निश्चित है कि उच्छकल्प उस समय गुप्तों के सामंत थे और वे गुप्त संवत का प्रयोग करते थे। अत: अधिक संभावना इस बात की है कि इस लेख का व्याघ्रराज पृथ्वीषेण प्रथम का सामंत रहा होगा। यदि वास्तविकता यही है तब तो यही मानना पड़ेगा कि बुंदेलखंड पृथ्वीषेण के समय में वाकाटकों के प्रभावक्षेत्र में था; किंतु इसका अंतिम रूप से फैसला तो तभी हो सकेगा जब कि इस संबंध में और प्रमाण उपलब्ध हों।

कुंतल की विजय और बुंदेलखंड में प्रभाव के विस्तार से वाकाटक वंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई होगी। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि तब गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय ने पृथ्वीषेण प्रथम के पुत्र युवराज रुद्रसेन द्वितीय से अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह कर वाकाटकों से मैत्री करने का निश्चय किया हो। इस विवाह का राजनैतिक हेतु भी था। चंद्रगुप्त गुजरात और काठियावाड़ को जीतना चाहता था। इसके लिए अपने साम्राज्य की दक्षिण दिशा में एक मित्र राज्य रखना उसके लिए आवश्यक था ताकि इस अभियान में उसे यदि प्रत्यक्ष सैन्य सहायता नहीं, तो कम से कम सैनिक रसद तो मिलती रहे। इस विवाह की तिथि ठीक-ठीक बतलाना तो कठिन है तथापि पूरी संभावना यह है कि यह लगभग 380 ई० में हुआ होगा।[२९] संभवत: यह विवाह पाटलिपुत्र में बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ था। मजे की बात यह है कि यह एक अंतर्जातीय 'अनुलोम' विवाह था जिसमें वर का वर्ण ब्राह्मण था और कन्या वैश्य जाति की। इस प्रकार का अनुलोम विवाह, जिसमें वर का वर्ण वधू से ऊंचा होता था, तत्कालीन 'स्मृतियों' में विहित माना गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च और संस्कृत समाज में भी इसका चलन था।

पृथ्वीषेण की मृत्यु लगभग 385 ई० में हुई थी। उसने प्राय: पचीस वर्ष की दीर्घ अवधि तक राज्य किया था।

रुद्रसेन द्वितीय
(लगभग 385 से 390 ई०)

पिता की मृत्यु के बाद लगभग 385 ई० में रुद्रसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण के समय वाकाटक राज्य काफी समृद्ध था। उसकी सेना कुशल थी और कोश भरा-पूरा था। कुंतल अथवा दक्षिण मराठवाड़ा की विजय से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। उस काल के सबसे प्रतापी भारतीय राजा की कन्या से विवाह होने के कारण रुद्रसेन की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए थे। स्वाभाविक ही था कि नए राजा पर उसके श्वसुर का काफी प्रभाव था। उसके पूर्वज शैव थे किंतु वह वैष्णव बन गया और उसने अपने को 'भगवतश्चक्रपाणेर्प्रसादोपार्जित श्री समुदयस्य' कहना प्रारंभ किया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि उसका श्वसुर 'परम भागवत' था और उसकी पत्नी भी 'अत्यंत 'भगवद्भक्ता' थी। गुप्तों और वाकाटकों के विवाह संबंध का मुख्य हेतु राजनीतिक और सैनिक था। रुद्रसेन के सिंहासन पर बैठने के तुरंत बाद मालवा, गुजरात और काठियावाड़ की विजय की योजना पर चंद्रगुप्त और रुद्रसेन ने विचार-विमर्श और पत्रव्यवहार किए होंगे। रुद्रसेन ने इस योजना में चंद्रगुप्त की धन-जन से सहायता यह सोचकर की होगी कि विजय के बाद क्षत्रप राज्य का कुछ भाग उसे भी मिल जाएगा किंतु योजना पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अमल होने से पूर्व ही दुर्भाग्यवश सहसा रुद्रसेन असमय ही काल-कवलित हो गया। मृत्यु के समय (लगभग 390 ई०) में उसकी उम्र करीब तीस वर्ष रही होगी और उसने कुल करीब पांच वर्ष तक ही शासन किया था। इस अप्रत्याशित दुर्घटना से दोनों घरानों को गहरा सदमा पहुंचा होगा और फिर क्षत्रपों पर आक्रमण की योजना कुछ वर्षों के लिए टल गई होगी।

राजमाता के रूप में प्रभावतीगुप्ता का राज्यकाल (लगभग 390 से 410 ई०)

रुद्रसेन की मृत्यु के समय उसकी अग्रमहिषी प्रभावतीगुप्ता की उम्र अधिक न थी और वह अनुभवहीन भी थी। उस समय उसकी अवस्था केवल 25 वर्ष थी। किंतु वह बड़ी साहसी महिला थी। अपने अल्पवयस्क पुत्र की अभिभाविका के रूप में उसने दृढ़ता से शासन की बागडोर संभाल ली। उसने इस रूप में करीब 20 वर्ष शासन किया और वाकाटक राज्य की नौका को कठिन से कठिन झंझावातों और चट्टानों से बचाकर किनारे पर लगा दिया। इस अवधि में वसीम शाखा में विंध्यसेन और प्रवरसेन द्वितीय उसकें समकालिक थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने शासनकाल में उनकी सहायता का आसरा न तका। उलटे उसे तो इस बात का संदेह रहा होगा कि बसीम शाखा के वाकाटक शासक उसकी इस अवस्था का लाभ उठाने की भी कोशिश कर सकते हैं। प्रभावतीगुप्ता ने अपनी वैधव्यावस्था में अपने प्रतापी पिता चंद्रगुप्त का ही एकमात्र आश्रय लिया, जो अत्यंत स्वाभाविक था। चंद्रगुप्त अपनी पुत्री को सांत्वना देने के लिए स्वयं आया। कुशल शासन के लिए विशेष व्यवस्थाएं कीं। पाटलिपुत्र से कितने ही सैनिक, नागरिक और सचिवालयी अधिकारी वाकाटकों की राजधानी नंदिवर्धन में भेजे गए।[31] वे निस्संदेह राजकाज के मामलों में राजमाता के महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय परामर्श-दाता रहे।

प्रभावती गुप्ता के दो बेटे थे। उनके नाम दिवाकरसेन और दामोदरसेन थे।[32] इनमें दिवाकर बड़ा था। पिता की मृत्यु के बाद उसी के सिंहासनारूढ़ होने की औपचारिक घोषणा की गई। किंतु दोनों राजकुमार अभी बहुत छोटे थे। रुद्रसेन की मृत्यु के समय बड़े राजकुमार की उम्र लगभग पांच वर्ष और छोटे की लगभग तीन वर्ष थी। ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त ने वाकाटक राज्य के कुशल-शासन का ही प्रबंध नहीं किया था, बल्कि उसने राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का भी अच्छा प्रबंध किया था। संभवतः चंद्रगुप्त द्वितीय ने प्रसिद्ध कवि कालिदास को राजकुमारों का शिक्षक बनाकर नंदिवर्धन भेजा था। साहित्यिक प्रसिद्धि है कि कुंतलाधीश प्रवरसेन ने अपने राज्यारोहण के कुछ समय बाद ही प्राकृत में 'सेतुबंध' नामक एक काव्य की रचना की थी जिसका विक्रमादित्य अर्थात चंद्रगुप्त द्वितीय के आदेश से कवि कालिदास ने संशोधन किया था।[33] यह भी प्रसिद्ध है कि नागपुर से करीब तेरह मील दूर रामटेक में वाकाटकों के कुल-देवता रामगिरि स्वामिन का मंदिर था। रिथपुर के ताम्रपट्ट[34] में उल्लिखित प्रभावतीगुप्ता ने अंतिम दान इसी मंदिर के पावन अहाते से दिया था। जब कवि कालिदास राजकुमारों के अध्यापक थे तो राजमाता के साथ वह भी अनेक बार रामगिरि स्वामिन के दर्शन को गए थे। अपनी इन यात्राओं में किसी यात्रा के दौरान उनके मन में यह विचार आया होगा कि वे मेघदूत के नायक यक्ष को रामगिरि के आश्रम में अपने निर्वासन की अवधि बिताते हुए दिखलाएं। अनुश्रुति है कि कालिदास भोजराज के दरबार में थे। इस अनुश्रुति को भी इस प्रकार खुलासा किया जा सकता है कि कालिदास शुरू में राजकुमार प्रवरसेन द्वितीय के अध्यापक थे और तदनंतर जब राजकुमार राजा हुआ तो वह उसके सभासद हो गए थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक राज्य में भोजदेश अथवा भोजकटक भी सम्मिलित था। चम्मक ताम्रपट्टों में यह राज्य के एक प्रांत के रूप में उल्लिखित है। कुंतल विजय के कारण प्रवरसेन को कुंतलेश कहा जाता था। इसी प्रकार भोजकटक के उसके साम्राज्य में शामिल हो जाने के बाद उसे भोजपति भी कहा जाने लगा होगा। संभवतः भोजदेश अथवा बरार वाकाटकों का मूल प्रदेश था। बाद की साहित्यिक परंपराओं में भोजदेश के राजा प्रवरसेन को गलती से मालवा का भोज राजा मान लिया गया। इसी घपले ने कालिदास को भोज परमार का दरबारी कवि बना दिया। यह भोज परमार स्वयं एक अच्छा कवि और कवियों का आश्रयदाता भी था, किंतु वह कालिदास से करीब छह सौ साल बाद हुआ था।

पति की मृत्यु से ही प्रभावती गुप्ता के दुर्भाग्य का अंत नहीं हुआ। उसका पुत्र दिवाकरसेन भी वयस्क होने से पूर्व ही दिवंगत हो गया। उसकी मृत्यु माता के शासन के तेरहवें वर्ष के बाद हुई थी। राज्याभिषेक से पूर्व ही उसका निधन हो गया था।[35] पुत्र की मृत्यु से राजमाता का शोक द्विगुणित हो गया और उसका शासनकाल भी बढ़ गया। फिर उसका छोटा बेटा युवराज बना और अंततोगत्वा लगभग 41 ई० में वयस्क होकर प्रवरसेन द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा।

प्रभावतीगुप्ता मृत्यु के समय काफी बूढ़ी हो चुकी थी। प्रवरसेन के उन्नीसवें राज्यवर्ष (लगभग 430 ई०) में वह जीवित थी। उसी साल रामगिरि स्वामिन के दर्शन कर उसने दान दिया था। इसके चार साल बाद हम प्रवरसेन को स्वयं अपने और अपनी माता के ऐहिक और पारलौकिक हितार्थ दान देते पाते हैं।[36] इस प्रकार स्पष्ट है कि राजमाता लगभग 435 ई० तक अवश्य जीवित रही और उस समय वह सत्तर की आयु पार कर चुकी थी।[37]

राजमाता प्रभावतीगुप्ता के शासनकाल में ही गुप्तों ने क्षत्रपों पर विजय प्राप्त की। वाकाटक क्षत्रपों के दक्षिण-पूर्वी पड़ौसी थे। हम यह दिखला चुके हैं कि किस प्रकार उन्होंने 304 से 332 ई० के बीच क्षत्रपों को अपने प्रभावक्षेत्र में ले लिया था। रुद्रसेन द्वितीय के शासन काल में ही क्षत्रपों पर आक्रमण की योजनाएं बन रही थीं। इस अभियान में सम्मिलित होने के लिए रुद्रसेन अवश्य राजी रहा होगा किंतु उसकी अकाल मृत्यु से सारी स्थिति ही बदल गई। किंतु प्रभावतीगुप्ता भी अपने पिता की बड़ी उत्साही प्रशंसिका थी। अपनी अपेक्षाकृत असहाया-वस्था के बावजूद उसने अपने पिता की भरपूर मदद की होगी। तथापि इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है।

प्रवरसेन द्वितीय
(लगभग 410 से 440 ई०)

लगभग 410 ई० में प्रवरसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। वाकाटकों पर गुप्तों का प्रभाव प्रभावती के शासनकाल की समाप्ति के बाद भी बना रहा। अनेक ग्रंथों में उल्लिखित एक साहित्यिक अनुश्रुति[38] के अनुसार गद्दी पर बैठने के बाद के कतिपय वर्षों में प्रवरसेन राजकाज की जटिल समस्याओं में मन लगाने के बजाय संसार के सुख लूटने में ही अधिक व्यस्त रहा। लगभग 414 ई० में चंद्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसने अपने जीवन भर वाकाटक शासन पर अपना प्रभाव बनाए रखा था। उसकी मृत्यु के बाद प्रवरसेन द्वितीय ने शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली। कुमारगुप्त प्रथम उसका सौतेला मामा था। अतः प्रभावतीगुप्ता ने अपने पुत्र को यही कहा होगा कि वह नए गुप्त राजा के हाथों में वाकाटक शासन का भार न छोड़े, जैसी कि स्थिति चंद्रगुप्त के समय में थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रवरसेन साहित्यिक रुचि का राजा था। उसने अपनी किशोरावस्था में ही प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' की रचना की थी।[39] इस ग्रंथ में रावण पर राम की विजय का वर्णन है। साहित्यिक अनुश्रुति यह है कि विक्रमादित्य अर्थात चंद्रगुप्त द्वितीय के आदेश से कवि कालिदास ने इस काव्य में संशोधन किए थे। यह अनुश्रुति यद्यपि काफी बाद में जुड़ी है तथापि सत्य पर आधृत प्रतीत होती है।[40] अपने माता-पिता के विपरीत प्रवरसेन द्वितीय वैष्णव था। दिलचस्प बात यह है कि अपने काव्य में उसने राम को विष्णु का अवतार माना है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय तक शैवों और वैष्णवों में धार्मिक कट्टरता नहीं आ पाई थी। रामटेक के देवता रामगिरि स्वामिन प्रभावतीगुप्ता के उपास्य थे। अत: यदि उसके बेटे ने रामचंद्र का गुणगान किया तो कोई आश्चर्य नहीं।

प्रवरसेन द्वितीय के लगभग एक दर्जन ज्ञापन अब तक मिल चुके हैं। उनके आधार पर ही उसके पूर्ववर्ती वाकाटक राजाओं के इतिहास का पुर्नानर्माण संभव हुआ है। खेद है कि इस राजा के सबसे बाद के ज्ञापन में भी स्वयं उसकी किसी राजनीतिक अथवा सैनिक सफलता का कोई उल्लेख नहीं है। उनमें उसकी किसी विजय का वर्णन नहीं, न ही किसी शत्रु या मित्र राजा का नाम ही है। इससे यही प्रतीत होता है कि उसने स्वयं किसी सैनिक अभियान का नेतृत्व नहीं किया था। वह अपने अनेक सामंतों और सेनापतियों की सहायता से ही शासन करता रहा। उसके अभिलेखों में बरार के कोंडराय और बेतूल के नारायणराय का सामंतों के रूप में उल्लेख है। इन सामंतों को राजा की अनुमति के बिना भूमि के दान का अधिकार न था।[41] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन के शासन में सैनिक तत्वों को प्रमुखता प्राप्त थी। महत्वपूर्ण अधिकारियों के रूप में पांच सेनापतियों के उल्लेख आए हैं। उनके नाम हैं : चक्रवर्मन, चित्रवर्मन, बप्पदेव, नेमिदास और कात्यायन। राजा के 23वें वर्ष में चमिदास प्रधानामात्य था। प्रवरसेन ने अपने प्रशासन का गठन बहुत अच्छा किया था। वाकाटक प्रशासन संबंधित अध्याय में हम इसका विस्तार से वर्णन करेंगे।

प्रवरसेन के ताम्रशासनों के प्राप्तिस्थानों और उनमें उल्लिखित स्थानों के नामों से ज्ञात होता है कि अमरावती, बेतूल, छिंदवाड़ा, भंडारा और बालाघाट के जिलों पर उसका प्रत्यक्ष शासन था। इसके अलावा भी उसका राज्य काफी बड़ा था और उसमें मध्य प्रदेश का अधिकांश बरार, खानदेश, बंबई, महाराष्ट्र और हैदराबाद रियासत का उत्तरपश्चिमी भाग शामिल था। इस राज्य के दक्षिण बरार, उत्तरपश्चिम हैदराबाद और दक्षिण महाराष्ट्र के भू-भाग पर उस समय वाकाटकों की बसीम शाखा का शासन था। आश्चर्य है कि प्रवरसेन द्वितीय के बसीम शाखा के समकालीन राजा का नाम भी प्रवरसेन था और वह भी अपने कुल में इस नाम का दूसरा राजा था। किंतु वह मूल शाखा के प्रवरसेन से उम्र में काफी बड़ा था और उसने लगभग 415 ई० तक राज्य किया। उसके बाद उसका बेटा गद्दी पर बैठा, किंतु उसके नाम का पता अजंता के लेख से भी नहीं चलता। हमें इतना अवश्य ज्ञात है कि, अपने राज्यारोहण के समय उसकी उम्र सिर्फ आठ वर्ष की थी। हमें निश्चित रूप से कुछ भी नहीं मालूम कि इस अवधि में दोनों शाखाओं के आपसी संबंध कैसे थे। किंतु संभावना यही है कि शाखा के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने बसीम शाखा के राजा की अल्पवयस्कता की अवधि में उसकी प्रतिशासक परिषद को परामर्श और मार्ग-दर्शन से लाभान्वित किया होगा। यह भी असंभव नहीं कि कुछ समय के लिए दोनों प्रशासन मिलकर एक सरकार के रूप में कार्य करते रहे होंगे। यदि यह अनुमान सही है तो इससे इस बात का भी खुलासा हो जाता है कि मुख्य शाखा के प्रवरसेन ने कुंतलेश की उपाधि कैसे धारण की, यद्यपि कुंतल की विजय उससे एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पीढ़ी पहले बसीम शाखा के राजा विंध्यशक्ति द्वितीय ने की थी।

वाकाटकों की आदि राजधानी पुरिका में थी जो कहीं बरार या पश्चिमी मध्यप्रदेश में थी। इसकी पहचान अभी नहीं हो पाई है। इसके बाद नंदिवर्धन राजधानी बनी। यह या तो नागपुर से करीब 34 मील उत्तर में स्थित नंदपुर[42] है या नागपुर से ही 13 मील उत्तर में रामटेक के पास नगरधन (नंदर्धन भी लिखा जाता है) थी। नंदपुर की विशाल किलेबंदी के खंडहरों से तो यही आभासित होता है कि यही वाकाटकों की पुरानी राजधानी थी। प्रवरसेन ने एक नई राजधानी बसाई और उसका नाम अपने ही नाम पर प्रवरपुर रखा।[43] इस राजधानी में उसने अपने राज्य के 18वें वर्ष में प्रवेश किया। इसकी भी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो पाई है। अधिक संभावना यह है कि वर्धा के निकट नदी तट पर पवनार ही वह स्थान है।[44] किंतु जब तक स्थानीय खोजें और खुदाइयां नहीं हो जातीं, इसके पक्ष या विपक्ष में अधिक कुछ कहना संभव नहीं है।

लगभग 430 ई० में प्रवरसेन ने अपने युवराज नरेंद्रसेन का विवाह कुंतलराज की पुत्री अजितभट्टारिका से किया था। यह एक राजनीतिक विवाह था जिसका उद्देश्य अपने दक्षिण के पड़ौसी से विवाह संबंध स्थापित कर अपने घराने की स्थिति सुदृढ़ करना था। इससे ईर्ष्या की वह अग्नि बुझ गई होगी जो दक्षिण मराठवाड़ा को वाकाटक राज्य में मिला लेने से पैदा हुई थी। हमें यह नहीं मालूम कि कदंब राजकुमारी के पिता का नाम क्या था। किंतु अधिक संभावना यही है कि वह काकुत्स्थवर्मन रहा होगा जिसके बारे में सुविदित है कि उसने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्तों और 'अन्य राजकुलों' में किया था। इन 'अन्य राजकुलों' में वाकाटक भी रहे होंगे, क्योंकि गुप्तों के बाद उस काल में उनकी ही प्रतिष्ठा थी। इस विवाह से गुप्तों, वाकाटकों और कदंबों के बीच बड़े सौहार्द का वातावरण बना होगा।

प्रवरसेन के 27वें राज्यवर्ष का उल्लेख मिलता है। यह उससे संबंधित अंतिम ज्ञात तिथि है। एतदर्थ हम यह मान सकते हैं कि उसने लगभग 30 वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र नरेंद्रसेन लगभग 440 ई० में गद्दी पर बैठा।

नरेंद्रसेन
(लगभग 440 से 460 ई०)

अभी हाल तक प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद वाकाटकों के इतिहास और उनकी वंशावली के बारे में काफी उलझन और अनिश्चय की स्थिति बनी रही। बालाघाट ताम्रपट्टों के अनुसार प्रवरसेन द्वितीय के बाद उसका बेटा नरेंद्रसेन राजा हुआ था और उसके बाद उसका बेटा पृथ्वीषेण द्वितीय। नरेंद्रसेन ने अपने वंश की प्रभुसत्ता पुनः स्थापित की थी और उसके बेटे पृथ्वीषेण को भी इसी के लिए दो-दो बार प्रयास करना पड़ा था। कभी यह माना जाता था कि इस वंश की दुर्दशा का कारण उत्तराधिकार के झगड़े थे। इस स्थापना के समर्थन में अजंता की गुफा सं० 16 के लेख को प्रमाणस्वरूप पेश किया जाता था। वस्तुतः जब उन्नीसवीं शताब्दी में भगवानलाल और ब्यूहलर ने इस लेख का संपादन किया था तो उनका विचार था कि इस लेख में वाकाटकों की मुख्य शाखा की वंशावली है। इस प्रकार वे यह मानते थे कि प्रवरसेन द्वितीय के उत्तराधिकारी नरेंद्रसेन और पृथ्वीषेण नहीं, जैसा कि बालाघाट के लेख में वर्णित है, अपितु उसका उत्तराधिकारी एक आठ साल का बालक हुआ जिसके बाद उसका बेटा देवसेन और उस देवसेन के बाद उसका बेटा हरिषेण राजा हुआ। अतः सभी विद्वानों ने यह मान लिया था कि प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद उसके बेटों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लंबा संघर्ष चला। अतः बालाघाट के लेख में वर्णित दुर्दशा का कारण प्रवरसेन द्वितीय के बेटों और उनकी संतान के बीच आपसी झगड़े थे। अजंता के लेख में इस आठ वर्षीय राजकुमार का नाम मिट गया है, जिससे उसकी पहचान को लेकर विद्वानों के कई मत थे। साथ ही उस बालक और नरेंद्रसेन में कौन बड़ा था, इस बारे में भी काफी बहस हुई थी।

सौभाग्य से 1939 में मिले विंध्यशक्ति द्वितीय के बसीम ताम्रपट्टों और सन 1941 में प्रकाशित प्रो० मीराशि के अजंता की गुफा सं० 16 के लेख के संशोधित पाठ द्वारा यह बात एकदम स्पष्ट हो गई कि अजंता के लेख का वाकाटकों की मुख्य शाखा से कोई संबंध नहीं है। यह वाकाटकों की बसीम शाखा का लेख है जो सन 440 ई० में प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के साथ नहीं अपितु उससे सौ साल पहले प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद मुख्य शाखा से अलग हो चुकी थी। अतः अब इन प्रश्नों पर बहस करने की जरूरत नहीं कि अजंता का वह राजकुमार नरेंद्रसेन का बड़ा भाई था या छोटा, वह अपने पिता की मृत्यु के समय आठ साल का बालक था या उसने आठ साल तक राज्य किया था, नरेंद्रसेन को अपने भाई से, जिसका नाम मालूम नहीं, युद्ध करना पड़ा था या नहीं। नरेंद्रसेन के राज्यारोहण के समय दोनों शाखाएं प्रायः एक सौ साल से अलग-अलग राज्य कर रही थीं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि नरेंद्रसेन को साम्राज्य के बंटवारे को लेकर बसीम शाखा के अपने भाइयों से कोई युद्ध करना पड़ा था।

नरेंद्रसेन लगभग 440 ई० में गद्दी पर बैठा था। उसके शासनकाल का कोई लेख उपलब्ध नहीं। उसके राज्यकाल के बारे में उसके बेटे के बालाघाट के लेखों में आए कुछ वर्णनों का सहारा लेना पड़ता है।

इस लेख में उसके बारे में कहा है कि 'पूर्वाधिगतगुणविश्वासादपहृतंवशश्रियः' था—अर्थात उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त गुणों के द्वारा विश्वास से वंश की अपहृत श्री को पुनः प्राप्त किया।[45] बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि इसमें उत्तराधिकार के उस युद्ध की ओर इशारा है जो नरेंद्रसेन और उसके भाई (देवसेन के पिता) के बीच हुआ था और जिसमें नरेंद्रसेन विजयी रहा था। किंतु अब उपर्युक्त नई खोजों के कारण यह मत निरस्त हो चुका है। कहा जा सकता है कि सगे भाइयों में ही नहीं, बल्कि बीसियों साल पहले जुदा हुए चचेरे भाइयों में भी गृहयुद्ध संभव है। बसीम शाखा के प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के समय उसका बेटा अबोध था। अतः मुख्य शाखा का प्रवरसेन द्वितीय काफी समय तक उसके राज्य के काम-काज देखता रहा। हो सकता है कि चालुक्य वंश के मंगलेश की भांति उसने बसीम के राजकुमार के वयस्क हो जाने पर भी उसे शासन की बागडोर सौंपने से इनकार कर दिया हो। उस राजकुमार ने प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर स्थिति का लाभ उठाया हो और उसके बेटे नरेंद्रसेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया हो और उसे कुछ समय के लिए सिंहासन से उतार भी दिया हो। किंतु नरेंद्रसेन की दुर्दशा का यह कारण नहीं प्रतीत होता। यदि उस राजकुमार ने ऐसा कोई करतब दिखाया होता तो लेख में उसका वर्णन अवश्य मिलता। उस लेख में तो इतना ही लिखा है कि यद्यपि वह आठ साल का ही था, तथापि उसने अच्छा शासन किया। उसके उत्तराधिकारी देवसेन के बारे में लेख में लिखा है कि वह शासन का भार अपने मंत्री हस्तिभोज पर छोड़कर जीवन के सुख भोगता रहा। इससे यह साफ हो जाता है कि इन दोनों राजकुमारों में किसी ने भी किसी सैनिक गतिविधि में हिस्सा नहीं लिया। अतः नरेंद्रसेन की दुर्दशा का हेतु पारस्परिक संघर्ष नहीं था।

'अपहृतवंशश्रियः'[46] से तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति ने कुछ समय के लिए वंश की श्री का अपहरण किया था, वह उसका वैध अधिकारी न था। अतः नरेंद्रसेन का शत्रु वाकाटक वंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का न था। अब ऐसे पर्याप्त प्रमाण मिल गए हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि नलवंश के राजा भवदत्तवर्मन ने वाकाटक राज्य के एक भाग पर कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया था। नलवंश का उस समय वस्तर राज्य व छत्तीसगढ़ परमंडल के कुछ भाग पर राज्याधिकार था। भवदत्तवर्मन वाकाटकों की पुरानी राजधानी नंदवर्धन तक पहुंच गया था, क्योंकि भवदत्त-वर्मन के रिथपुर के ताम्रपट्ट, जिनमें यवतमाल जिले के एक गांव के दान का उल्लेख है, नंदिवर्धन से ही दिए गए थे। इन ताम्रपट्टों की ठीक-ठीक तिथि तो नहीं बतलाई जा सकती, तथापि इनकी लिपि से ऐसा प्रतीत होता है कि ये पांचवीं शताब्दी के मध्य के हैं। अतः निश्चित ही नल राजा भवदत्तवर्मन ने वाकाटकों को बुरी तरह हरा दिया था और वे अपने साम्राज्य के केंद्र में स्थित अपनी राजधानी नंदिवर्धन को छोड़ देने के लिए बाध्य हो गए थे। यह विजय दरअसल बड़ी सनसनीखेज थी क्योंकि लेख में लिखा है कि भवदत्तवर्मन को स्वयं देवताओं के सेनापति महासेन (कार्तिकेय) ने राज्यलक्ष्मी का दान दिया था। वाकाटक राज्य के एक भाग पर अधिकार कर लेने के बाद भवदत्तवर्मन ने प्रयाग की यात्रा की थी। यह यात्रा स्पष्ट ही भगवान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए की गई थी। लेख के अनुसार, भवदत्तवर्मन ने गंगा-यमुना के संगम पर स्नान कर यवतमाल जिले में स्थित उक्त गांव का दान किया था। इस गांव की स्थिति से यह साबित हो जाता है कि उस समय नलों का राज्य कितना विस्तृत हो चुका था।

यह मान्यता, कि वाकाटक राजा नरेंद्रसेन की दुर्दशा का हेतु नल राजा ही था तभी सत्य मानी जा सकती है जबकि यह सिद्ध हो जाए कि भवदत्तवर्मन का समय पांचवीं शताब्दी का मध्य ही है। इस बात भी बहुत संभावना है कि भविष्य की खोजों से उसकी यही तिथि सत्य प्रमाणित हो क्योंकि लगभग 450 ई० में वाकाटकों की दुर्दशा का अन्य कोई संभाव्य कारण नहीं मालूम पड़ता। हूण तब तक दकन में नहीं घुस पाए थे। अतः वाकाकटों को हरानेवाले वे नहीं थे। पुष्यमित्रों ने कुछ समय के लिए गुप्तों को भी घुटने टेकने को बाध्य कर दिया था तथापि वाकाकटों के विरुद्ध उनके किसी अभियान का हमें पता नहीं है। अतः निश्चित है कि वाकाटकों को अपमानित करनेवाले अन्य कोई नहीं, बस्तर के नल ही थे।

वाकाटकों के ध्वंस की ठीक-ठीक तिथि ज्ञात नहीं है तथापि यदि हम इसे नरेंद्रसेन के शासन के प्रारंभिक पांच वर्षों, लगभग 440 से 445 ई०, के बीच की घटना मानें तो गलत नहीं होगा। नल इस स्थिति में न थे कि वे दीर्घकाल तक वाकाटकों की भूमि अपने कब्जे में रख सकते। भवदत्तवर्मन की मृत्यु के बाद शीघ्र ही नरेंद्रसेन ने वे प्रदेश पुनः अपने अधिकार में कर लिए। भवदत्तवर्मन के पुत्र अर्थपति ने थोड़े समय तक ही राज्य किया था। उसके भाई (स्कंद) वर्मन के बारे में कहा गया है कि उसने वंश की भ्रष्ट श्री को पुनःस्थापित किया था और अपनी राजधानी को पुनः बसाया था।[47] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि नरेंद्रसेन ने अपने राज्य के खोए भागों को जीत ही नहीं लिया था बल्कि वह शत्रु के राज्य में भी घुस गया था और उसने उनकी राजधानी को तहस-नहस कर दिया। इस युद्ध में संभवतः अर्थपति वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद उसका भाई (स्कंद) वर्मन राजा हुआ जिसने वंश की श्री को पुनः-स्थापित किया और राजधानी को फिर से बसाया। किंतु कुछ समय तक नल वाकाटकों के सामंत ही थे, क्योंकि नरेंद्रसेन को मेखलेश (अर्थात अमरकंटक की पहाड़ी का स्वामी) कहा गया है। अमरकंटक नलों के राज्य में नहीं तो उसके पास अवश्य था।

वाकाटक लेखों में वंश की लक्ष्मी को पुनःस्थापित करने का पूरा श्रेय नरेंद्रसेन को दिया गया है। किंतु संभवतः इस अनुष्ठान में उसके श्वसुर कदंब के राजा ने भी उसकी मदद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की होगी, अन्यथा उसके बेटे पृथ्वीषेण द्वितीय ने अपनी वंशावली में अपने नाना का उल्लेख न किया होता, ऐसी संभावना नहीं है कि कुमारगुप्त ने अपनी बहन के पोते की मदद की होगी। 450 ई०के आसपास तो वह स्वयं ही आपत्तियों से घिरा हुआ था, अतः वह चाहने पर भी नरेंद्रसेन की मदद नहीं कर सकता था।

नरेंद्रसेन को उसके बेटे के अभिलेखों से मालवेश कहा गया है। यह प्रांत चौथी शताब्दी के प्रारंभ से ही गुप्त साम्राज्य का अंग था। तो क्या नरेंद्रसेन ने कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त के शत्रु पुष्यमित्रों का साथ दिया था और पुष्यमित्रों द्वारा कुमारगुप्त प्रथम की पराजय से उत्पन्न घपले का लाभ उठाकर मालवा पर कुछ समय के लिए अपना अधिकार कर लिया था ? यद्यपि यह असंभव तो नहीं, तथापि संभवतः वास्तविकता न थी। नरेंद्रसेन तो नलों से संघर्ष में ही उलझा हुआ था। अतः पुष्यमित्रों के मित्र के रूप में वह किसी आक्रमण में शामिल होने की स्थिति में न था। फिर गुप्तों से तो वाकाटकों का बड़ा नजदीकी रक्तसंबंध था। अतः गुप्तों की विपत्ति में उनकी पीठ में छुरा भोंकने का काम उसने न किया होगा। यदि वाकाटकों ने पुष्यमित्रों का साथ दिया होता तो भितरी के लेख में सिर्फ पुष्यमित्रों की ही नहीं, बल्कि उनके मित्रों की पराजय का भी उल्लेख होता। अतः जब गुप्त पुष्यमित्रों की चोट से अपने को संभाल नहीं पा रहे थे, उस समय हो सकता है कि मालवा के सामंत राजा ने अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए गुप्तों के बदले वाकाटकों का पल्ला पकड़ लिया हो, क्योंकि वाकाटक गुप्तों के रिश्तेदार थे। यह स्मरणीय है कि नलों को हरा देने के बाद उस समय वाकाटकों की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, तथापि मालवा वाकाटकों के प्रभावक्षेत्र में अधिक समय तक नहीं रहा, क्योंकि स्कंदगुप्त और बुधगुप्त के शासन में वह गुप्तों की अधीनता में था।

नरेंद्रसेन के शासन का अंत लगभग 460 ई० में हुआ। वह मध्यम श्रेणी की प्रतिभा का शासक था। उसने वंश की श्री को पुनः प्राप्त ही नहीं किया था, बल्कि कुछ समय के लिए नलों के राज्य के काफी बड़े भाग पर भी अधिकार कर लिया था। वसीम शाखा के वाकाटकों के साथ उसके संबंध शांत और सौहार्दपूर्ण बने रहे।

पृथ्वीषेण द्वितीय[48]
(लगभग 460 से 480 ई०)

लगभग 460 ई०में नरेंद्रसेन के बाद उसका बेटा पृथ्वीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा। अनुमान है कि उसने लगभग 480 ई० तक राज्य किया। वसीम शाखा में उसका समकालीन देवसेन था जिसके बारे में कहा गया है कि उसने जीवन का भरपूर आनंद लिया। देवसेन की कोई सैनिक महत्वा-कांक्षा न थी, अतः पृथ्वीषेण से उसके संबंध निश्चय ही सौहार्दपूर्ण थे।

पृथ्वीषेण के शासनकाल की घटनाओं के बारे में हमारा ज्ञान बहुत कम है। बालाघाट के लेख में लिखा है कि उसने परिवार की लक्ष्मी का दो-दो बार उद्धार किया था। किंतु उसके शासनकाल में वाकाटकों की दुर्गति के कारण के बारे में कुछ भी पता नहीं चलता। पहली दुर्गति का कारण तो संभवतः छत्तीसगढ़ के शरभपुत्र राजा मानमात्र का आक्रमण था। उसने कुछ समय के लिए बरार और दक्षिण मध्यप्रदेश पर अधिकार कर लिया था। पर पृथ्वीषेण ने उसे शीघ्र ही वहां से निकाल बाहर किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटकों को इसी राजा के शासनकाल में दूसरी बार विपत्ति का सामना करना पड़ा जब पश्चिम में त्रैकूटकों ने उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया था। उस समय उत्तरी कोंकण में त्रैकूटकों का महत्व और उनकी शक्ति तेजी से बढ़ रही थी। इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश के राजा दह्सेन ने एक अश्वमेध किया था। इस राजा का राज्यकाल लगभग 445 से 475 ई० तक है। यह अश्वमेध उसने पृथ्वीषेण को माथे ही किया होगा जो पूरब में उसका पड़ौसी था। त्रैकूटक संभवत: कभी वाकटकों के सामंत भी रह चुके थे। पृथ्वीषेण की विजयें प्रतिरक्षात्मक थीं। क्योंकि दह्सेन के बेटे व्याघ्रराज के शासनकाल में भी त्रैकूटक फलते-फूलते रहे।

पृथ्वीषेण द्वितीय के बाद वाकाटक वंश की मुख्य शाखा के किसी शासक का पता नहीं है। संभवत उसके बेटों में कोई उसकी गद्दी के योग्य न था। अत: उसकी मृत्यु के बाद वाकाटक वंश का नेतृत्व बसीम शाखा के राजा हरिषेण के हाथों में चला गया। अजंता के लेख में हरिषेण को कुंतल, अवंति, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, लाट और आंध्रदेश का स्वामी कहा गया है। यह तभी संभव है जबकि मुख्य शाखा के प्रदेशों और साधनों पर उसका नियंत्रण हो गया हो। बसीम शाखा का संक्षिप्त परिचय देने के बाद हम हरिषेण के चरित का वर्णन करेंगे।

संदर्भ

1. यह स्थापना एकदम निराधार है कि बुंदेलखंड के भारशिव नागों ने लगभग 180-250 ई० में एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना की थी जिसमें मध्यप्रदेश और मध्य या पूर्वी उत्तरप्रदेश शामिल थे. भारशिव ग्वालियर के पास पद्मावती के नाग शासक थे. इनके राज्य में दकन का कोई भाग कभी शामिल न था. यह भी संदेहास्पद ही है कि इस वंश का तथाकथित संस्थापक वीरसेन नागवंशी था. उसके सिक्के सिर्फ उत्तरी उत्तरप्रदेश में मिलते हैं. मध्यप्रदेश और पूर्वी उत्तरप्रदेश में कभी नहीं मिले. इससे सिद्ध है कि दकन कभी उसके राज्य में न था.
2. इस तिथि के निश्चय के बारे में पूर्व पृष्ठ 151 तथा आगे देखिए. मैं ने यह कहा है कि विंध्यशक्ति ने गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि की मृत्यु के बाद, लगभग 185 ई० में, अपनी स्वतंत्रता घोषित की थी. वह यह मानकर चले हैं कि उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी किंतु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है. अजंता के लेख में उसकी कोई उपाधि ही नहीं है.
3. 'वाकाटक इंस्क्रिप्शंस इन केव xvi, है० अ० सि०', सं 14.
4. सबसे पहले डा० भाऊ दाजी ने कहा था कि 'पुराणों' में उल्लिखित विंध्यशक्ति और अजंता के लेख का विंध्यशक्ति एक ही व्यक्ति है. किंतु ब्यूहलर ने इसमें संदेह प्रकट किया था. अब सभी ने यह मान लिया है. 'पुराणों' में विंध्यशक्ति के पुत्र का नाम प्रवीर आया है, जाहिर है कि वह अभिलेखों का प्रवरसेन ही है.
5. जैसे कुंतल या दक्षिण महाराष्ट्र, जिसे बसीम शाखा के विंध्यसेन ने जीता था.
6. औरंगाबाद जिले में अजंता में बहुत से वाकाटक लेख हैं. नांदेर जिले के एक गांव का उल्लेख सर्वसेन के बसीम के ताम्रपट्टों में है.
7. 'सा० इं० ए० रि०', 1914-15, पृ० 91.
8. भर्तृदामन के शासन के अंतिम वर्षों की 520 सिक्कों की एक ढेरी जूनागढ़ में जमीन में मिली थी. भर्तृदामन को हटाकर रुद्रसिंह द्वितीय महाक्षत्रप बना था. 'न्यू० सप्ली०', सं० xxxvii, पृ० 97.
9. 'ज० ए० सो० बं०', 1937 (नई सिरीज), पृ० 95-99. इस महत्वपूर्ण जखीरे का जो विवरण श्री आचार्य ने दिया है वह बड़ा बेतरतीब और परस्परविरोधी है. पृ० 96 पर उन्होंने रुद्रसेन तृतीय के ऐसे छः सिक्कों का उल्लेख किया है जिनपर तिथियां हैं, किंतु पृ० 99 पर जो विश्लेषण दिया है उसमें 'तीन' सिक्कों का ही उल्लेख है. इस छोटे से विवरण में श्री आचार्य ने क्षत्रपों के सिक्कों के कई जखीरों का जिक्र कर दिया है जिनकी उन्होंने एक साथ परीक्षा की. ऐसा लगता है कि उन्होंने उन 'सबके तथ्यों को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गड़बड़ा दिया है.

10. जायसवाल 'हिस्टरी आफ इंडिया,' 150-350 ई०, पृ० 82-94; पै : 'ज० इं० हि०', xiv, पृ० 80.
11. अल्तेकर : 'ज० न्यू० सो० इं०', v, 132.
12. यह तर्क दिया गया है कि गौतमीपुत्र वृषध्वज, जिसकी मुद्रा भीटा में मिली है, वह प्रवरसेन प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र है जो गंगा की घाटी का उपराजा था (पै : 'ज० इं० हि०', xiv, पृ० 180 तथा आगे), गोपनीय पत्रों के साथ दूर-दूर के देशों में भी मिट्टी की मुद्राएं भेजी जाती थीं, इसलिए किसी स्थान पर उनके मिलने भर से यह सिद्ध नहीं होता कि उस स्थान पर उस व्यक्ति का राज्य था. क्या हम यह कह सकते हैं कि वाशिंगटन में ब्रिटिश सरकार की मुद्रा मिलती है इसलिए अमरीका को ब्रिटेन का हिस्सा मानना चाहिए ?

    भीटा की मुद्रा के गौतमीपुत्र का असली नाम वृषभध्वज था. प्रवरसेन प्रथम के बेटे गौतमीपुत्र का यह नाम कहीं नहीं मिलता है. भीटा की मुद्रावाला गौतमीपुत्र पूर्णत: स्वतंत्र राजा था. उसने महासेन के प्रसाद से राज्य करने का उल्लेख किया है किंतु प्रवरसेन का बेटा गौतमीपुत्र तो अपनी मृत्यु के समय युवराज ही था. इसलिए ये दोनों एक नहीं हो सकते.
13. 'ए० इं०' xxvi पृ० 137 तथा आगे.
14. यह तर्क दिया गया है कि प्रवरसेन के तीसरे बेटे का नाम गौतमीपुत्र शिवमघ था जिसकी मुद्रा भीटा में मिली है और जिसके सिक्के कौशांबी में मिलते हैं. यह भी कहा गया है कि उसी ने मघवंश की स्थापना की थी. इस तरह मघवंश वाकाटकों की एक शाखा ही था. (पै : 'ज० इं० हि०', iv, पृ० 16 तथा आगे).

    गौतमीपुत्र शिवमघ के तीन पूर्ववर्ती थे, भद्रमघ, पोठसिरि और भीमसेन; इन्होंने ऊपरी नर्मदाघाटी में लगभग 150 ई० में राज्य किया था. इन राजाओं से शिवमघ का क्या संबंध था, इसका पता नहीं है किंतु उसकी मुद्रा वही है जो भीमसेन की है. इससे सिद्ध होता है कि वह इसी राजा के वंश का था, न कि प्रवरसेन प्रथम के वंश का. इन दोनों राजाओं की मुद्राओं पर एक स्त्री खड़ी दिखलाई गई है. एक बैल भी है जिसकी गरदन के नीचे द्वितीया का चंद्रमा है. भीमसेन की मुद्रा पर इनके ऊपर लेख है जबकि शिवमघ की मुद्रा पर लेख नीचे है. इन दोनों राजाओं की मुद्राओं में इतनी स्पष्ट समानता है कि इनका खुलासा सिर्फ इस बात से होने के कि ये एक ही वंश के हैं और किसी दूसरी भांति नहीं हो सकता. यदि हम यह मानें कि गौतमीपुत्र शिवमघ वाकाटक वंश का था तो हमें इस समानता का कोई खुलासा देना होगा. वाकाटक सम्राटों ने कोई सिक्का नहीं चलाया था. इसलिए यह बात समझ से परे है कि उनके किसी उपराजा ने अपना सिक्का चलाया होगा.
15. 'ऐ० भ० ओ० रि० इं०', v, 39-40.
16. जायसवाल : हिस्टरी आफ इंडिया, 150-350 ई०, पृ० 80-2.
17. 'कौमुदीमहोत्सव', अंक 5.
18. ऐलन : 'कैटलाग आफ क्वायंस आफ गुप्त डाइनेस्टीज', पृ० 54-60.
19. यह सच है कि मध्यप्रदेश में सागर जिले के एक भाग पर समुद्रगुप्त का शासन था. किंतु वह सतना, कटनी और जबलपुर के रास्ते से वहां न जाकर कौशांबी, चित्रकूट और कालिंजर के रास्ते गया था क्योंकि इस दूसरे भूभाग में गुप्तों के कुछ लेख मिले हैं जबकि पहलेवाले प्रदेश में कोई लेख नहीं मिला है.
20. 'शतपथ ब्राह्मण', v, 1, 1, 13.
21. पार्जिटर : 'डा० क० ए०', पृ० 50.
22. वही, पृ० 53.
23. मिला० : वर्षशतमभिवर्धमानकोशदण्डसाधनसंतानपुत्रपौत्रिण:.

    'ए० इं०', xxv, 264.
24. तलगुंड अभिलेख (छं० 23) में बतलाया गया है कि इस राजा ने भयंकर युद्धों में कैसे घोर पराक्रम दिखलाए थे. 'भयंकर' शब्द के प्रयोग से अनुमान है कि इन युद्धों का निष्कर्ष कंगवर्मन के लिए अधिक अनुकूल न था. 'ए० क०', vii, संस्कृत सं० 176.
25. इन्होंने भूमि के जो दान दिए हैं उन पर मुख्य शाखा के राजा की अनुमति आवश्यक थी. 'ए० इं०',

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

xxvi, पृ० 137 तथा आगे.

26. 'काव्यमीमांसा', पृ० 60.

27. डा० एस० के० अय्यगार ('ऐ० भ० ओ० रि० इं०', iv, पृ० 49) का तर्क है कि 360-72 ई० की अवधि में क्षत्रपों ने सीसे के जो सिक्के चलाए थे उससे यह अनुमान होता है कि 351-64 ई० के बीच जो पराभव हुआ था वह दक्षिण के वाकाटकों के हस्तक्षेप से हुआ था जिनके बीच ऐसे सिक्के प्रचलित बताए गए हैं. किंतु यह आवश्यक नहीं कि दक्षिण के वे राजा, जिनके हस्तक्षेप से क्षत्रपों की क्षति हुई, वाकाटक ही थे. जहां तक हमें पता है वाकाटकों ने अपने राज्य में तब तक सीसे के सिक्के भी नहीं चलाए थे.

28. 'का० इं० इं०', iii, सं० 14; 'ए० इं०' xvii. 13.

29. साहित्यिक अनुश्रुतियों से यही अनुमान होता है कि प्रवरसेन द्वितीय ने, जो अपने माता-पिता की संभवतः सबसे छोटी संतान था, राज्य पाने के बाद कुछ समय के लिए राज्य का गुरु भार अपने प्रतापी नाना चंद्रगुप्त द्वितीय को सौंप दिया था ताकि वह यौवन का सुख लूट सके. मिलाइए : 'असकल-हसितत्वात् क्षालित नीव कान्त्या मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि । पिबतु मधुसुगंधीन्याननानि प्रियाणाम् मयि विनिहित-भार: कुंतलानामधीशः'. काव्यमीमांसा', पृ० 60-1 : चंद्रगुप्त द्वितीय की लगभग 414 ई० में मृत्यु हो गई थी. उसका नाती उस समय करीब 25 वर्ष का रहा होगा. तभी यह अनुश्रुति संभव हो सकती है. इसलिए उसका जन्म लगभग 390 ई० में हुआ होगा. संभवतः वह अपने माता-पिता की तीसरी संतान था. इसलिए प्रभावतीगुप्ता और रुद्रसेन का विवाह लगभग 380 ई० में हुआ होगा.

30. वी० ए० स्मिथ का यह कथन है कि गौतमीपुत्र की भांति रुद्रसेन भी गद्दी पर नहीं बैठा था, स्वीकार्य नहीं है. उन्होंने यह मत इस आधार पर व्यक्त किया था कि अजंता की गुफा सं० xvi के अभिलेख में उसके नाम का उल्लेख नहीं है. किंतु अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अजंता के उस लेख में वाकाटकों की बसीम शाखा की वंशावली है, इसलिए उसमें रुद्रसेन द्वितीय का नामोल्लेख न होना स्वाभाविक ही है. यदि अनभिषिक्त रूप में ही रुद्रसेन मर गया होता तो उसकी पत्नी को 'अग्रमहिषी' नहीं कहते. और फिर वाकाटक लेखों में उसे 'महाराज' भी न लिखते.

31. यह प्रभावतीगुप्ता के पूना के ताम्रपट्टों से सिद्ध है जिनके प्रारंभ में अन्य वाकाटक लेखों की भांति वाकाटकों की वंशावली न देकर गुप्तों की वंशावली दी गई है. इसमें रुद्रसेन के पूर्वजों का उल्लेख नहीं है जबकि प्रभावतीगुप्ता के तीन पूर्वजों के नाम दिए गए हैं. इसका खुलासा इसी बात से हो सकता है कि दानपात्र का लेखक पाटलिपुत्र के गुप्तों का कोई लिपिक रहा होगा. प्रभावतीगुप्ता के पूना के ताम्रपट्टों की लिपि पूर्वी गुप्तलिपि है. इससे भी यही अनुमान होता है कि उसका लिपिकार पाटलिपुत्र का राजा होगा क्योंकि वाकाटकों के राज्य में सामान्य रूप में यह लिपि नहीं चलती थी.

32. प्रभावतीगुप्ता के कितने बेटे थे इस संबंध में कुछ अनिश्चिय सा है. पूना के ताम्रपट्ट राजमाता प्रभावतीगुप्ता के शासन के तेरहवें वर्ष के हैं. इसमें दिवाकरसेन को 'युवराज' कहा गया है. रियपुर के ताम्रपट्टों में प्रभावतीगुप्ता को 'महाराज दामोदरसेन प्रवरसेन जननी' कहा गया है. इसका अर्थ यह हुआ कि वह दामोदरसेन और पृथ्वीसेन की अथवा दामोदरसेन अपरनाम प्रवरसेन की माता थी. यदि इसमें पहला अर्थ ग्रहण करें तो वह दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन तीन पुत्रों की माता हुई. किंतु दूसरा अर्थ ही ठीक है. दामोदरसेन और प्रवरसेन के नाम जिस क्रम से 'महाराज दामोदरसेन प्रवरसेन जननी' में हैं, उससे यही अनुमान होगा कि दामोदरसेन बड़ा था और प्रवरसेन छोटा. और जिस समय ये ताम्रपट्ट जारी हुए उस समय दामोदरसेन शासक था. किंतु ये ताम्रपट्ट प्रभावतीगुप्ता के शासन के उन्नीसवें वर्ष के हैं न कि दामोदरसेन के. अतः स्पष्ट है कि दामोदरसेन और प्रवरसेन एक ही व्यक्ति थे. दामोदरसेन का ही अभिषेक नाम प्रवरसेन था. दामोदरसेन प्रवरसेन के साथ महाराज के प्रयोग से यही अनुमान होता है कि यहां एक ही व्यक्ति का तात्पर्य है क्योंकि एक राज्य में एक समय में सिर्फ एक ही महाराज होता है.

33. 'हर्षचरित' i, 14 में प्रवरसेन को 'सेतुबंध' का कर्ता बतलाया गया है. यह प्रवरसेन कश्मीर का राजा नहीं है, यह बात भारतचरित 1, 4 से स्पष्ट है जिसमें इस पुस्तक के कर्ता को कुंतलनरेश कहा गया है. मिलाइए 'लोकेश्वलंकातमपूर्वसेतुंबबंधकीर्त्या सहकुंतलेशः', सेतुबंध 1, 9 से प्रकट हैकि यह कृति एक राजा ने अपने राज्यारोहण के ठीक बाद लिखी और फिर इसका संशोधन हुआ. सोलहवीं सदी के टीकाकार ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बतलाया है कि विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने इसका संशोधन किया था।

34 रिथपुर के ताम्रपट्ट वृद्धा राजमाता की रामगिरि मंदिर की यात्रा के अवसर पर जारी हुए थे. यह मंदिर नागपुर से 13 मील उत्तरपूर्व में रामटेक पहाड़ी पर है. यदि वाकाटकों की राजधानी नंदिवर्धन आधुनिक नगरधन है तो फिर यह मंदिर उससे बहुत नजदीक ही पड़ता है. यदि हम नंदिवर्धन की पहचान नंदपुर से करें जो नागपुर से 34 मील उत्तर में है तो रामटेक वाकाटकों की राजधानी से करीब 20 मील दक्षिण में पड़ेगा.

35. पूना के ताम्रपट्ट राजमाता के शासन के तेरहवें वर्ष में जारी हुए. उस समय दिवाकरसेन युवराज था. इसके बाद के वाकाटक अभिलेखों में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है. इसके विपरीत उसका छोटा भाई दामोदरसेन अपरनाम प्रवरसेन वाकाटक राजा के रूप में मिलता है. संभवतः दिवाकरसेन राजमाता के शासन के तेरहवें वर्ष के ठीक बाद गद्दी पर बैठा था, किंतु जल्द ही उसकी मृत्यु हो गई. उसका कोई और बेटा न था. इस प्रकार सिंहासन का उत्तराधिकारी दामोदरसेन हुआ जिसने अपने शासन-लेखों में उसके नाम का उल्लेख नहीं किया क्योंकि वह वंशक्रम में सीधे नहीं पड़ता था.

36. 'ए० इं०, xxii, 170.

37. रिथपुर के ताम्रपट्टों में लिखा है: 'साग्रवर्षशतदी(जी ?)व पुत्रपौत्राः', 'ज० ए० सो० बं०' (नई सिरीज) xx, पृ० 56. यह कोई निश्चित पाठ नहीं है. इससे अनुमान होता है कि उस समय उसकी उम्र सौ से ज्यादा थी. किंतु यह स्पष्ट ही अत्युक्ति है. यहां तक कि सन 335 ई० में तो उसका बाप भी पैदा नहीं हुआ था.

38. मिलाइए काव्यमीमांसा, पृ० 61. शृंगार प्रकाश, 9

पिबतु मधुसुगंधीन्यननानि प्रियाणाम्
मयि विनिहितभारः कुंतलानामधीशः।

39. कीथ का मत है कि इस ग्रंथ का लेखक कश्मीर का राजा प्रवरसेन था. किंतु 'भारतचरित' 2, के अनुसार इस काव्य का लेखक कुंतलेश था. इसलिए वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय ही इस काव्य का कर्ता था.

40. मिलाइए :

'अहिणवरा आराद्धा चुक्खखलिएसु विहिदिअपरित्यविश्रा' ('सेतुबंध' 1, 9).

और

'धीराणां काव्यचर्चाचतुरिमविषये विक्रमादित्यवाचा।
यं चक्रं कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबंधम्॥'

'सेतुबंध' पर रामदास की टीका

41. दे०, चम्मक के ताम्रपट्ट, का० 'ए० इं०', iii, 235

42. दे०, 'ज० ए० सो० बं०, 1933, पृ० 159 में वेलस्टीड का मत कि नंदपुर ही नंदिवर्धन है और 'ए० इं०', ix, 43 में हीरालाल का मत कि नगरधन नंदिवर्धन है.

43. प्रवरसेन का एक शासन लेख (जो अपूर्ण है) प्राचीन राजधानी नंदिवर्धन से जारी हुआ था ('ए० इं०' xxiv, 264). यदि इसमें कोई तिथि होती तो हम नंदिवर्धन से राजधानी के परिवर्तन की तिथि जान सकते थे.

44. यह रावबहादुर के० एन० दीक्षित का मत है। दे० ज० ए० सो० बं०, न० सि० xxix, 159.

45. पूर्वाधिगतगुणविश्वासादपहृतवंशश्रियः'. 'ए० इं,' पृ० 267.

46. जायसवाल का यह मत—कि इससे यह अनुमान कतई नहीं किया जा सकता कि उत्तराधिकार के लिए किसी प्रकार का विवाद हुआ था या कि परिवार पर कोई भारी विपत्ति आई थी, स्वीकार्य नहीं है. उन्होंने 'विक्रमोर्वशीय', 3, 1 को आधार माना है जिसमें कहा गया है कि 'पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय'. किंतु कालिदास ने 'अपहृतभरः' कहा है जिसमें उस व्यक्ति का उल्लेख है जिसके भार का अपहरण हुआ। बालाघाट के ताम्रपट्टों में उसके लिए 'अपहृतवंशश्रियः' पद का प्रयोग है जिसने अपहरण किया। पहले में भार छोड़ने से मिलनेवाली राहत का भाव है जबकि दूसरे में बलपूर्वक हक छीनने का.

47. मिलाइए :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'श्रीनलान्वयमुख्यस्य विक्रमक्षपितद्विपः
नृपतेर्भवदत्तस्य सत्पुत्रेणान्यसंस्थिताम् ।
भ्रष्टामाकृश्य राज्यधिम शून्याभावास्य पुष्करीम् ।'

—'ए० इं०', xxi, 155

48. अविधेय के पांडूरंगपल्लि के दानलेख में इस राजा को, जो दाता या पितामह था, 'अंगविदर्भाश्मकविजेता' कहा गया है. दे० 'मे० आ० स० रि' 1929, पृ० 197.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटकों की बसीम शाखा

दक्षिण बरार में शासन करनेवाले वाकाटकों की बसीम शाखा के राजाओं का यत्र तत्र उल्लेख हम कर चुके हैं। तथापि इस शाखा के अंतिम प्रतापी राजा हरिषेण की सफलताओं का वर्णन करने से पूर्व इस शाखा का सुसंबद्ध इतिहास देना आवश्यक है। हरिषेण ने तो इस राज्य का विस्तार प्राय: उतना ही कर दिया जो प्रवरसेन प्रथम के काल में था। वाकाटकों की इस शाखा की स्थापना सर्वसेन ने की थी। प्रवरसेन के चार पुत्र थे। सर्वसेन प्रवरसेन का लहुरा बेटा था। पुराणों के अनुसार उसने अपने चारों बेटों में साम्राज्य का विभाजन कर दिया था। करीब साठ साल तक राज्य करने के बाद लगभग 335 ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हुई थी। अत: बसीम में जब सर्वसेन राजा हुआ होगा तो उस समय उसकी उम्र भी ढल चुकी होगी। अत: उसने अधिक समय तक राज्य न किया होगा। इसलिए यदि हम लगभग 335 से 350 ई० के बीच में उसका राज्यकाल रखें तो अधिक गलती न करेंगे। उसके शासन की किसी खास घटना का तो पता नहीं तथापि जैसा हम बतला चुके हैं कि असंभव नहीं कि (दे० पृ० 153) सर्वसेन और उसके भाइयों ने रुद्रसेन को, जो उनके दिवंगत बड़े भाई का बेटा था, सिंहासन पर बैठने में बाधा उपस्थित की हो। सर्वसेन के बाद उसका बेटा विंध्यशक्ति द्वितीय राजा हुआ। उसका दूसरा नाम विंध्यसेन भी था। उसके बसीम के ताम्रपट्ट उसके 37वें संवत्सर में जारी हुए थे अत: जाहिर है कि उसने दीर्घ काल तक राज्य किया होगा। संभवत: उसकी मृत्यु सन 440 ई० के आसपास हुई थी। अजंता की गुफा सं० 16 के लेख के संशोधित पाठ से ज्ञात हुआ है कि कुंतल अथवा दक्षिण मराठवाड़ा का वास्तविक विजेता वही था। हो सकता है कि अपने इस अभियान में उसे वाकाटकों की मुख्य शाखा से भी सहायता मिली हो। विंध्यशक्ति का राज्य काफी विस्तृत था। इसमें दक्षिण बरार, उत्तरी हैदराबाद[1], खानदेश और नासिक, पूना, नगर और सतारा के जिलेशामिल थे।

लगभग 440 ई० में विंध्यशक्ति का बेटा प्रवरसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। प्रवरसेन के पिता ने लगभग 50 साल तक राज्य किया था और स्वयं प्रवरसेन की मृत्यु के समय उसका युवराज पुत्र आठ साल का था। अत: प्रवरसेन ने अधिक समय तक राज्य न किया होगा। हम उसका राज्यकाल लगभग 400 से 415 ई० के बीच रख सकते हैं। इसलिए यह अनोखा संयोग ही है कि मुख्य शाखा के उसके समकालीन राजा का नाम भी प्रवरसेन द्वितीय ही था। विंध्यशक्ति के उत्तराधिकारी उसके बेटे का नाम अजंता के लेख में मिट गया है। संभवत: बसीम शाखा के इस अज्ञात नाम राजा की अवयस्कता की अवधि में मुख्य शाखा का प्रवरसेन द्वितीय ही उसका संरक्षक था और इस प्रकार शायद दोनों राज्यों की कुछ समय के लिए एक ही सरकार बन गई थी। वयस्क हो जाने पर बसीम शाखा का शासन उसके राजा ने संभाल लिया होगा। इस राजा को खास तौर से सुशासक कहा गया है। अत: अधिक संभावना यह है कि उसने राज्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विस्तार की अपेक्षा प्रजा के हित पर अधिक ध्यान दिया होगा। लगभग 415 ई० में जब वह गद्दी पर बैठा था तो उसकी उम्र आठ साल की थी। अतः अधिक संभावना है कि उसने लगभग 455 ई० तक राज्य किया होगा।

इसी राजा के राज्यकाल में मुख्य शाखा के नरेंद्रसेन को नलों के राजा भवदत्तवर्मन के आक्रमण से गहरी क्षति उठानी पड़ी। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि बसीम की शाखा इस विपत्ति से बच निकली थी। हो सकता है कि बाद में नरेंद्रसेन को बसीम के राजा ने सहायता दी होगी जिससे वह नलों पर आक्रमण कर सका। चाहे जो भी हो, नरेंद्रसेन की सहायता के लिए जो कदंब सेनाएं उत्तर में आई होंगी उन्हें अपने राज्य से गुजरने में उसने अवश्य मदद की होगी।

अपने पिता के बाद लगभग 455 ई० में देवसेन गद्दी पर बैठा और उसने लगभग 475 ई० तक राज्य किया। वह भोगप्रवण राजा था किंतु उसने बड़ी बुद्धिमानी से राजकाज अपने योग्य मंत्री हस्तिभोज को सौंप दिया था। वह मंत्री योग्य ही नहीं, जनवल्लभ भी था। संभवतः त्रैकूटक भी उसके राज्य का ज्यादा नुकसान न कर सके।

देवसेन के बाद लगभग 475 ई० में हरिषेण गद्दी पर बैठा। उसने लगभग 510 ई० तक राज्य किया। उसके गद्दी पर बैठने के थोड़े समय बाद ही लगभग 480 ई० में मुख्य शाखा के राजा पृथ्वीषेण द्वितीय की मृत्यु हो गई। संभवतः उसका कोई वारिस न था अथवा उसके वैध वारिस को हरिषेण ने गद्दी से उतार दिया था। चाहे जो भी बात रही हो, सत्य तो यह है कि हरिषेण बसीम शाखा के राज्य के अतिरिक्त उन प्रदेशों का भी स्वामी बन गया था जो इससे पहले मुख्य शाखा के राज्य में थे। उसके बारे में कहा गया है कि उसने मालवा, गुजरात, उत्तरी कोंकण, कुंतल (उत्तरी कर्नाटक), आंध्र और दक्षिणी कोशल (छत्तीसगढ़) की विजय की थी अथवा इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया था। इसका मतलब यह हुआ कि मध्यप्रदेश, बरार, बंबई-महाराष्ट्र और कर्णाटक तथा हैदराबाद रियासत के अधिकांश जिले उसके प्रत्यक्ष शासन में थे। अतः इस प्रकार उसका साम्राज्य प्रायः उतना ही बड़ा था जितना कि प्रवरसेन प्रथम का था।

यह विस्तार इसीलिए संभव हुआ कि जिस काल में (लगभग 475 से 510 ई०) हरिषेण ने राज्य किया वह घपले का काल था। अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वह उस समय की बिगड़ी हुई राजनैतिक स्थिति का लाभ उठाने में समर्थ हुआ। लगभग 495 ई० में बुधगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य तेजी से बिखर गया था। मध्य भारत, मालवा और गुजरात गुप्तों के नियंत्रण से निकल गए थे। हरिषेण ने ठीक इसी समय प्रयत्न कर इन्हें अपने प्रभुत्व में ले लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा के वर्मन परिवार को कुछ समय तक वाकाटकों की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा था। लगभग 495 ई० तक त्रैकूटक राजा व्याघ्रराज उत्तरी कोंकण और गुजरात पर राज्य करता रहा था। हमें नहीं मालूम कि उसके बाद उसके वंश का क्या हुआ—शायद उसका राज्य भी हरिषेण ने जीत लिया था। कम से कम अजंता के लेख में इसका दावा अवश्य किया गया है।

कुंतल (दक्षिण कर्णाटक) की विजय का श्रेय भी हरिषेण को दिया गया है। कहा नहीं जा सकता इसमें कितनी सच्चाई है। पृथ्वीषेण द्वितीय की माता कुंतल की राजकुमारी थी। यदि यह सही है कि हरिषेण ने पृथ्वीषेण के बेटे को गद्दी से उतार दिया था, तब तो कुंतल से उसके संबंध अच्छे न रहे होंगे। कदंब के लेखों से ऐसा विदित नहीं होता कि मृगेश और रविवर्मन, जो हरिषेण के समकालीन कदंब राजा थे, उन्होंने किसी उत्तरी शक्ति के हाथों किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करारी पराजय का सामना किया था अतः हरिषेण की कुंतल-विजय का यही अर्थ है कि दोनों राज्यों में सीमाओं पर कुछ झड़पें हुई होंगी और इनमें शायद हरिषेण का पलड़ा भारी रहा होगा।

इस काल में आंध्र देश में 'विष्णुकुंडिन' शक्ति का धीरे-धीरे उदय हो रहा था। यह कोई नामुमकिन बात नहीं कि इस वंश के दूसरे राजा विक्रमेंद्र ने पूर्व की ओर राज्य-विस्तार के राजनैतिक हित के लिए अपने पड़ौसी प्रतापी सम्राट हरिषेण की प्रभुता स्वीकार कर लेना उचित समझा हो। उसने अपने बेटे माधववर्मन प्रथम का विवाह वाकाटक राजकुमारी से किया था। संभवतः यह राजकुमारी हरिषेण की पोती थी। अतः वाजिब ही था कि हरिषेण अपने लेखों में यह गर्व करता कि आंध्र उसके प्रभाव में है।

हरिषेण की विजयों के बारे में विचार करते समय अंत में दक्षिण कोशल पर भी विचार करना है। इस प्रांत में कई पीढ़ियों तक नलों का राज्य था। हम देख चुके हैं कि किसी प्रकार नरेंद्रसेन ने अंततोगत्वा सन 450 के आसपास नलों को बुरी तरह से हरा दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि लाचार होकर उन्होंने पांचवीं शताब्दी के अंत में वाकाटकों की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली थी।

इस प्रकार हरिषेण की मृत्यु के समय वाकाटकों का प्रभाव, उनकी प्रतिष्ठा और शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर थी। करीब-करीब पूरी हैदराबाद रियासत, बंबई-महाराष्ट्र और कर्णाटक, बरार और प्रायः समूचे मध्य प्रदेश पर हरिषेण का प्रत्यक्ष शासन था। उत्तरी कोंकण, गुजरात, मालवा, आंध्रदेश और छत्तीसगढ़ उसके प्रभाव क्षेत्र में थे। हरिषेण की सफलता प्रवरसेन प्रथम से घटकर न थी। वह एक कुशल शासक और सफल सेनापति था। इसी कारण वह सफल हुआ। लगभग 51 ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तो उस समय भारत के सभी राज्यों में वाकाटकों का राज्य निस्संदेह सर्वाधिक शक्तिशाली था।

संदर्भ

1. उसके बसीम के ताम्रपट्ट में हैदराबाद रियासत के नांदेर जिले में स्थित एक गांव के दान की पुष्टि की गई है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक साम्राज्य का विघटन और लोप

हम देख चुके हैं कि लगभग 510 ई० में जब हरिषेण की मृत्यु हुई तो उस समय वाकाटक साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा अपनी पराकाष्ठा पर थी। उस समय प्रायः समूचा दकन उसके राज्य में सम्मिलित था। इसके पचास वर्ष के भीतर ही दकन पर चालुक्यों का अधिकार हो गया। लगभग 565 ई० में वे वाकाटक से भी विस्तृत साम्राज्य के स्वामी हो चुके थे। वाकाटकों का रंगमंच से लोप कैसे हो गया, इसके बारे में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञान नहीं। यह रहस्य और भी गहरा हो जाता है जब हम यह पाते हैं कि न तो वाकाटकों के लेखों में और न ही चालुक्यों के लेखों में, इन दोनों शक्तियों के बीच किसी संघर्ष का कहीं कोई उल्लेख है।

अभी हाल में बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से यह स्थापना रखी गई है कि वाकाटकों के बाद चालुक्यों का नहीं बल्कि प्राचीन राष्ट्रकूटों का उदय हुआ था, जिनके अधीन छठी शती में प्रायः पूरा दकन था।[1] राष्ट्रकूट राजा मानमात्र अथवा मानांक ने लगभग 475 ई में० अंग, अश्मक, और विदर्भ (अर्थात् बिहार, दक्षिण मध्यप्रदेश और बरार) को जीतकर इस साम्राज्य की नींव रखी थी। वह मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ परिमंडल का रहने वाला था और शरभपुर में उसकी राजधानी थी। मानमात्र के पुत्र सुदेवराज के शासन-काल में राष्ट्रकूट राज्य का और भी विस्तार हुआ। किंतु अंततोगत्वा साम्राज्य का उसके तीन बेटों में बंटवारा हो गया। इन तीनों बेटों के नाम थे : जयराज, भविष्य और अविधेय, जो अलग-अलग राज्य करते थे। इनमें जयराज छत्तीसगढ़ पर, भविष्य बरार और पश्चिमी मध्यप्रदेश पर तथा अविधेय मध्य और दक्षिण महाराष्ट्र पर राज्य करता था। इन तीनों राज्यों का एक प्रकार का राष्ट्रकूट संघ था, जिसका शासन छठी शताब्दी के प्रारंभ तक प्रायः समूचे महाराष्ट्र पर था। फिर उनका स्थान चालुक्यों के राजा पुलकेशिन द्वितीय ने ले लिया।

वाकाटकों की सत्ता के सहसा लोप हो जाने का खुलासा छठी शताब्दी में राष्ट्रकूट साम्राज्य की स्थापना से करना तो बड़े सुभीते की बात होती। किंतु दुर्भाग्य यह है कि इस स्थापना की सूक्ष्म परीक्षा करने पर यह सही नहीं साबित होती।[2] इस पर काल्पनिक राष्ट्रकूट वंश की छत्तीसगढ़ की शाखा के करीब छह शासनलेख प्राप्त हैं, पर इनमें किसी में इस वंश का राष्ट्रकूट नाम नहीं मिलता। दक्षिण महाराष्ट्र शाखा का पता हमें सिर्फ एक शासनलेख से चलता है, उसमें भी दाता को राष्ट्रकूट नहीं कहा है। बरार शाखा के राजा अभिमन्यु के अकेले शासनलेख में उसे 'राष्ट्रकूट-मुकुट-मणि' कहा गया है। छत्तीसगढ़ के उसके पूर्वजों ने कभी यह विरुद नहीं धारण किया। लगता है कि यह विरुद स्वयं उसने पहली बार धारण किया था। यह भी स्पष्ट है कि वह स्वतंत्र होने से पूर्व कुछ समय तक 'राष्ट्रकूट' (अर्थात् प्रांतीय अथवा जिले का शासक) था, अतः उसने यह विरुद लिया था।

यदि हम यह मान भी लें कि राष्ट्रकूट-शासक अभिमन्यु के चचेरे भाई जो छत्तीसगढ़

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और महाराष्ट्र में राज्य करते थे, राष्ट्रकूट कहलाते थे, तो भी छठी शताब्दी में समूचे दकन में फैले किसी राष्ट्रकूट साम्राज्य का अस्तित्व मानना कठिन है। छत्तीसगढ़ में इस तथाकथित राष्ट्रकूट वंश का शासन अभिमन्यु के दादा के भाई सुदेवराज के साथ ही समाप्त हो गया था। ऐसा कोई सबूत नहीं है जिससे कि यह सिद्ध किया जा सके कि लगभग 510 ई० के बाद सुदेवराज के किसी उत्तराधिकारी ने इन इलाकों पर राज्य किया था। उसके बाद तो यह प्रांत सोमवंशी राजाओं के हाथों में चला गया था। सोमवंशी तीवरदेव के शासनलेखों में वह अपने को सकल कोशल का स्वामी बतलाता है। लगभग 530 ई० के बाद तो पश्चिम मध्यप्रदेश के अभिमन्यु या दक्षिण महाराष्ट्र के अविधेय का कोई वंशज इन इलाकों में राज्य करता नहीं मिलता।

वस्तुतः ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में सुदेवराज, अभिमन्यु और अविधेय के वंशज एक ऐसे साम्राज्य पर शासन करते थे जो कि छत्तीसगढ़ से खानदेश तक और मालवा से कर्नाटक तक विस्तृत था। यदि ऐसा कोई सुदृढ़ साम्राज्य रहा होता तो उसे उखाड़ फेंकने का बड़ा महत्व होता जिसका वर्णन चालुक्यों के लेखों में बड़ी अतिरंजित शैली में मिलता। ऐहोल की प्रशस्ति में पुलकेशिन द्वितीय और उसके पूर्वजों की सभी सैनिक सफलताओं का ब्यौरेवार वर्णन है। इस लेख में बतलाया गया है कि कैसे पुलकेशिन प्रथम ने वातापि को अपने अधिकार में किया, कैसे उसके बेटे ने नलों, मौर्यों और कदंबों को उखाड़ फेंका, फिर कैसे वंश के अगले राजा ने कलचुरियों का विनाश किया, आदि-आदि। पुलकेशिन द्वितीय ने भी स्वयं अनेक राजाओं को पराजित किया था। इन सबके नाम प्रशस्ति में दिए हैं। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस प्रशस्ति में जहां छठी शताब्दी में चालुक्यों द्वारा पराजित अति साधारण महत्व के राजाओं का वर्णन है वहां चालुक्यों की उस महान् सफलता का कोई जिक्र ही नहीं है जिसमें उन्होंने समूचे दकन में फैले शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य को उखाड़ फेंका था। प्रशस्ति में इस साम्राज्य का उल्लेख न होने की एक ही वजह है और वह यह कि ऐसे किसी साम्राज्य का उस काल में कोई अस्तित्व ही नहीं था।[3]

अतः छठी शताब्दी में वाकाटकों के साम्राज्य के विघटन का हेतु ये राष्ट्रकूट नहीं हो सकते। इस रहस्य का उद्घाटन तभी हो सकता है जब कि इस संबंध में निश्चित नए प्रमाण मिलें। फिलहाल तो हम कुछ कच्चे अनुमान ही कर सकते हैं।

बसीम शाखा के हरिषेण या मुख्य शाखा के पृथ्वीषेण के किसी उत्तराधिकारी का पता नहीं है। तथापि अनुमान है कि हरिषेण के बाद उसका बेटा गद्दी पर बैठा होगा। उसने संभवतः लगभग 510 से 530 ई० तक राज्य किया होगा। विष्णुकुंडिन राजा माधववर्मन प्रथम (लगभग 525-70 ई०) ने वाकाटकों की राजकुमारी से विवाह किया था। यह राजकुमारी हरिषेण के उत्तराधिकारी की बेटी रही होगी।

इस वाकाटक राजा के शासनकाल में साम्राज्य तेजी से विघटित हुआ होगा। छत्तीसगढ़ वाकाटक साम्राज्य से टूटकर सोमवंशी राजा तीवरदेव के अधीन हो गया। उसका राज्य चांदा जिले तक था।[4] मालवा और उत्तरी मध्यप्रप्रश में एक राष्ट्रकूट राजा अभिमन्यु ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर कर लिया था। यही बात दक्षिण महाराष्ट्र में हुई जहां अभिमन्यु के ही एक चचेरे भाई अविधेय ने अपना राज्य बना लिया। पर ये राष्ट्रकूट राज्य अधिक समय तक टिके न रह सके। उत्तरी मध्यप्रदेश में उन्हें कलचुरियों ने उखाड़ फेंका जो छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में मालवा और उत्तरी महाराष्ट्र पर राज्य करते थे। दक्षिण राष्ट्रकूट राज्य शीघ्र ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कदंबों के पेट में समा गया। पूरब में नलों ने फिर से जोर पकड़ लिया और उन्होंने वाकाटक की प्रभुसत्ता अस्वीकार कर दी।

इस प्रकार 5-0 ई० के आसपास वाकाटक साम्राज्य का विघटन पूर्ण हो चुका था क्योंकि हरिषेण के निर्बल उत्तराधिकारी (अथवा उत्तराधिकारियों) के शासनकाल में कर्नाटक के कदंबों, उत्तरी महाराष्ट्र के कलचुरियों और बस्तर के नलों ने वाकाटकों के साम्राज्य के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। किंतु इन शक्तियों में कोई भी इस योग्य न थी कि वह संपूर्ण दकन पर अपना साम्राज्य स्थापित कर सकती। इसी समय नितांत अप्रत्याशित ढंग से एक नई शक्ति के रूप में चालुक्यों का कर्नाटक में उदय हुआ जिन्होंने शीघ्र ही इन सबको पराजित कर इनके राज्य छीन लिए। यह सब कैसे हुआ, इसका वर्णन खंड 4 में किया जाएगा।

संदर्भ

1. दे० एम० एच० कृष्ण, 'मै० आ० स० रि०' 1929. पृ० 197 तथा आगे; और 'के० वी० अय्यंगार कोमेमोरेशन वाल्यूम', पृ० 55 तथा आगे.
2. दे० 'ऐ० भ० ओ० रि० इं०', 24, 149-155 में इसी लेखक ने इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है.
3. यह तर्क दिया गया है कि अप्पायिक और गोविंद, जिन्होंने पुलकशिन द्वितीय पर भीमा घाटी में हमला किया था, वे राष्ट्रकूट राजा थे. इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि छठी शताब्दी के प्रारंभ में भी राष्ट्रकूट साम्राज्य वर्तमान था. इसलिए यह बतलाना जरूरी हो गया है कि ऐहोल की प्रशस्ति में इन राजाओं को राष्ट्रकूट नहीं कहा गया है तथा इसके अलावा और कोई दूसरा प्रमाण भी नहीं है कि वे राष्ट्रकूट थे. फिर यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि वे राष्ट्रकूट थे, तो भी प्रशस्ति से स्पष्ट है कि वे भीमाघाटी में बहुत छोटे-से भू-भाग पर शासन करते थे। वे किसी ऐसे साम्राज्य के स्वामी नहीं थे जिसमें समूचा दकन शामिल रहा हो. चालुक्य राजा जयसिंह द्वारा कृष्ण के पुत्र राष्ट्रकूट राजा इंद्र की पराजय का सबसे पहला उल्लेख घटना के पांच सौ वर्ष बाद परवर्ती चालुक्य राजाओं के लेखों में आया है. यदि सचमुच ही चालुक्यों की ऐसी कोई विजय हुई थी तो पूर्व चालुक्यों के सभी लेखों में जयसिंह के इस यशस्वी कृत्य का कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता ? परवर्ती चालुक्य यह तथ्य कैसे छिपा सकते थे कि उनके पुरखों को राष्ट्रकूटों ने उखाड़ फेंका था ? अपना महत्व बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाने के लिए उन्होंने इस कल्पना को जन्म दिया कि पूर्व चालुक्य वंश के संस्थापक जयसिंह ने राष्ट्रकूट राजा इंद्र को हराया था. वस्तुतः यह कार्य तो कई शताब्दियों के बाद नव चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने कर दिखाया था.
4. ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुकुंडिन राजा माधववर्मन ने, जो वाकाटक राजा का बहनोई था, तीवरदेव पर आक्रमण कर वाकाटकों की सहायता करने का यत्न किया था. तीवरदेव की पराजय तो हुई किंतु छत्तीसगढ़ पर वाकाटकों का अधिकार न हो सका.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटकों का प्रशासन और तत्कालीन समाज

वाकाटकों के प्रशासन और उनके समय के जन-जीवन का पूरा-पूरा वर्णन करना इतिहासकार के लिए अभी संभव नहीं है। इस संबंध में प्रमाणों की मात्रा अत्यल्प है। उनके प्राप्त अभिलेखों की संख्या बहुत कम है। उनमें भी अधिकांश एक ही राजा प्रवरसेन द्वितीय के हैं और उस समय जारी किए गए थे जबकि वह अवयस्क था। वाकाटकों के लेखों में उनके कतिपय अधिकारियों के ही उल्लेख हैं जिससे केंद्रीय और स्थानीय शासन पद्धति के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती। उनके शासन काल में ऐसा कोई विदेशी यात्री भी नहीं आया जिसने अपनी यात्रा का कोई विवरण लिख छोड़ा हो। ऐसे साहित्यिक ग्रंथ भी प्रायः नहीं के बराबर हैं जिन्हें निश्चित रूप से इनके शासनकाल अथवा राज्यकाल का कहा जा सके और उनसे इनके बारे में ऐतिहासिक तथ्यों का पता चल सके। अतः वर्तमान में हम वाकाटकों के प्रशासन और तत्कालीन समाज का नितांत अपूर्ण चित्र ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

वाकाटक प्रशासन का प्रधान राजा था। उसका पद आनुवंशिक था। इस वंश के दूसरे राजा प्रवरसेन प्रथम ने विस्तृत प्रदेश जीते थे। शासन की सहूलियत की दृष्टि से उसने इस विशाल साम्राज्य के दूर-दूर के प्रांतों का शासन अपने चार बेटों को सौंप दिया था जिन्होंने अपने पिता की मृत्यु के बाद अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए। प्रवरसेन प्रथम द्वारा साम्राज्य के इस प्रकार के बंटवारे से उसके अगले उत्तराधिकारी रुद्रसेन प्रथम को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाद में प्रवरसेन की यह गलती दूसरे किसी राजा ने नहीं दुहराई। अतः प्रतिद्वंद्वी भाइयों में पुनः साम्राज्य का बंटबारा नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद वंश की जो चार शाखाएं हो गई थीं उनमें से दो तो मुख्य शाखा में समा गईं। किंतु प्रवरसेन के बेटे सर्वसेन ने जिस राजघराने की नींव वत्सगुल्म (आधुनिक बसीम) में रखी थी वह पांचवीं शताब्दी के अंत तक प्रायः स्वतंत्र राजा के रूप में राज्य करता रहा। साम्राज्य का अनेक अर्ध स्वतंत्र राज्यों में विभक्त कर दिया जाना एक भूल थी जिसका पूरा-पूरा एहसास मुख्य शाखा के राजाओं ने किया, अतः उन्होंने साम्राज्य के अर्ध-स्वतंत्र राज्यों को भी नहीं रहने दिया। इसमें संदेह नहीं कि प्रवरसेन द्वितीय के लेखों में कोंडराज और नारायण महाराज के उल्लेख आए हैं[1] किंतु उनकी 'राजा' और 'महाराजा' की उपाधियां औपचारिक ही थीं। यदि वे सामंत भी रहे हों तो उनके अधिकार अधिक नहीं थे। लेख में वे राजा से अपनी मर्जी की कतिपय योजनाओं के लिए भूमि दान में देने की प्रार्थना करते हैं। यदि वे सामंत थे भी तो उनके शासन के अधिकार सीमित थे। प्राप्त प्रमाणों से विदित होता है कि सातवाहनों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों की अपेक्षा वाकाटक साम्राज्य में सत्ता केंद्र के हाथों में अधिक थी, उसमें अर्ध-स्वतंत्र सामंतों का अस्तित्व न था।

वाकाटक साम्राज्य काफी विस्तृत था। किंतु इसके शासक 'महाराज' की उपाधि से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही संतुष्ट थे। उनमें से सिर्फ एक ने अर्थात् प्रवरसेन प्रथम ने 'सम्राट' की उपाधि धारण की थी। यह राजा निःसंदेह बहुत बड़ा विजेता था, तथापि उसके 'सम्राट' की उपाधिध ारण करने का कारण संभवतः यह था कि उसने 'वाजपेय' यज्ञ किया था। शास्त्रानुसार इस यज्ञ का कर्त्ता राजा 'सम्राट' कहलाने का अधिकारी हो जाता है। उसके बाद के राजाओं ने महाराज की उपाधि पुनः ग्रहण कर ली। हम बतला चुके हैं कि इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि इस उपाधि से उनकी हैसियत में कभी किसी प्रकार की गिरावट आ गई थी और वे मात्र सामंत रह गए थे।[2] वस्तुतः इस उपाधि का उनकी हैसियत से कोई संबंध ही नहीं है।

राजघराने के युवराज व अन्य राजकुमारों जैसे व्यक्तियों को प्रशासन में कुछ कार्य सौंपे गए होंगे किंतु इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना संभव नहीं है। शासक राजाओं की महारानियों या राजकुमारियों का उल्लेख प्रशासन के सिलसिले में नहीं हुआ है। चालुक्यों के लेखों में उनका इस सिलसिले में उल्लेख अवश्य मिलता है। किंतु राजा की मृत्यु के समय युवराज के अवयस्क होने की स्थिति में प्रशासन का निरीक्षण और निर्देशन राजमाताएं अवश्य करती थीं। रुद्रसेन द्वितीय की अग्रमहिषी प्रभावतीगुप्ता ने प्रायः बीस वर्षों तक प्रबल झंझावातों में राज्य की नौका को सफलतापूर्वक खेया था। राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। उन्हें साहित्य और प्रशासन दोनों की शिक्षा दी जाती थी। अधिक संभव है कि कालिदास प्रवरसेन द्वितीय के अध्यापक थे। समकालीन प्रमाणों से विदित होता है कि युवा राजकुमारों को सामान्यता सैन्यकला का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था।[3] वाकाटक कुमारों को भी ऐसी शिक्षा अवश्य मिलती रही होगी।

अचरज की बात है कि वाकाटक अभिलेखों में मंत्रियों के उल्लेख अत्यल्प हैं। सि अजंता के लेख में एक मंत्री का उल्लेख आया है। किंतु उसका पदनाम या विभाग नहीं दिया है। किंतु हमारा अनुमान यही है कि मंत्रियों का अभिलेखों में उल्लेख न होना संयोग की ही बात है। वस्तुतः वाकाटक राजा भी अनेक मंत्रियों और सलाहकारों की सहायता से ही राज-काज चलाते थे, जैसा कि अन्य समसामयिक राज्यों में स्थिति थी। अजंता के लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ मंत्री तो आनुवंशिक भी होते थे। प्रायः सभी मंत्री राजनीति और सैन्य कला दोनों में दक्ष होते थे। संभवतः समूचे प्रशासन का भार प्रधानमंत्री पर होता था जिसकी संज्ञा 'सर्वाध्यक्ष' सर्वथा उचित ही थी। यह पदाधिकारी किस प्रकार राजकाज चलाता था इसके बारे में हमें पूरा-पूरा ज्ञान नहीं, क्योंकि वाकाटक शासन काल के लेखों में अन्य अधिकारियों के उल्लेख बहुत ही कम हैं। दकन में वाकाटकों के उत्तराधिकारी शासकों के जो दानपत्र मिले हैं उनमें प्रांतीयों, जिलों और परगनों के अधिकारियों तथा गांव के अनुवंशिक अधिकारियों को प्रायः यह आदेश दिया गया है कि वे दान के ग्रहीता के भोग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। वाकाटक लेखों में इस सिलसिले में सिर्फ चार प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख होता है।[4] इनमें 'चट' और 'भट' पुलिस और सेना के सदस्य थे और इनके उल्लेख से प्रशासन के ढांचे पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इनमें एक शब्द 'संतक' आया है। संभवतः इससे अधिकारी-मात्र का बोध होता था अथवा यह जिलाधिकारी की संज्ञा थी। किंतु उनके पद या कार्यों का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री नहीं है। अंतिम प्रकार के जिस अधिकारी वर्ग का उल्लेख है वह काफी दिलचस्प है। वे काफी ऊंचे अधिकारी होते थे जो केंद्रीय सरकार के आदेश सूचित करते थे। वे 'सर्वाध्यक्ष' अर्थात प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त होते थे अथवा उसके निर्देशन में कार्य करते थे। जाहिर है कि वे ऐसे निरीक्षक होते थे जिनकी नियुक्ति केंद्रीय सरकार इसलिए करती थी ताकि वे राज्य का दौरा कर पता लगावें कि केंद्रीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सरकार के जो आदेश नीचे जाते हैं उनका अधीनस्थ अथवा जिलों के अधिकारी पालन करते हैं या नहीं। इस प्रकार के निरीक्षण के लिए केंद्र की ओर से जो तंत्र बना हुआ था उसका प्राचीन अभिलेखों में कम ही उल्लेख आया है। अतः इस संबंध में प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के अध्येताओं के लिए वाकाटक अभिलेखों का बड़ा महत्व है।

एक लेख में उसके लिपिक के रूप में 'रज्जक' का उल्लेखआया हैं।[5] इस 'रज्जक' का क्या काम होता था इसका पता हमें नहीं है। संभवतः वह राजस्व विभाग का कोई अधिकारी रहा होगा और उसका काम भूमि की नाप-जोख करना था। अतः कभी-कभी भूमि के राजस्व के हस्तांतरण को लिपिबद्ध करते हुए वह अधिकारी मिलता है।

'भुक्ति', 'राष्ट्र' और 'राज्य' क्षेत्रीय इकाइयां थीं जिनका वाकाटक लेखों में जिक्र आया है।[6] पर ये सब प्रशासन की एक ही इकाई की द्योतक जान पड़ती हैं। इसमें से किसी एक का दूसरे के भाग के रूप में या उसकी सीमाओं के भीतर होने का उल्लेख कहीं नहीं है। अतः ये सब जिलों की पर्याय जान पड़ती हैं जिनमें साम्राज्य 'विभाजित' था। स्थानीय प्रथा के अनुसार राज्य के विभिन्न भागों में ये जिले की अलग-अलग संज्ञाएं थीं। जिलों के भी विभाग होते थे। कभी-कभी इनके नाम इनके मुख्य नगरों के नाम पर होते थे—जैसे 'प्रवरसेन षड्विंशक'—इसका मतलब था 26 गांवों की वह इकाई, जिसका 'प्रवरेश्वर' मुख्य नगर था।[7] कभी-कभी जिले के ये भाग मात्र उसके पूर्वी और पश्चिमी भागों के रूप में ही जाने जाते थे।[8]

जिले के प्रधान अधिकारी संभवतः केंद्र द्वारा नियुक्त होते थे और इनका पदनाम 'संतक' होता था। वे सामान्य प्रशासन के प्रधान होते थे और जिलों में कानून और व्यवस्था बनाए रखने और राजस्व की वसूली के प्रति उत्तरदायी होते थे। पुलिस और सेना के सदस्य 'चाट' और 'भट' इनके अधीन होते थे। इन जिलाधिकारियों का नियंत्रण करने के लिए केंद्रीय सरकार निरीक्षकों की नियुक्ति करती थी, जिनका उल्लेख हम पर ऊपर कर चुके हैं।

गांव के प्रशासन के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। वाकाटक अभिलेखों में इस सिलसिले में उल्लेख बहुत कम हैं। एक अभिलेख में कदंबगिरि नामक गांव के महत्तरों का उल्लेख है। उन्हें आदेश दिया गया है कि वे दान-ग्रहीता के भोग में हस्तक्षेप न करें।[9]

जैसा कि समकालीन और वाकाटकों से पूर्व के अभिलेखों से ज्ञात है हम यह मान सकते हैं कि वाकाटकों के अधीन गांव का प्रशासन महत्तरों की सभा करती थी जिसका अध्यक्ष गांव का मुखिया होता था।[10] इस गांव-सभा के अधिकार क्या थे और केंद्रीय और जिलों के अधिकारियों का इनपर कितना नियंत्रण होता था, इन सब बातों के बारे में कुछ पता नहीं चलता।

कतिपय वाकाटक ताम्रपट्टों के अंत में लिखा है कि जब वे जारी हुए तो अमुक व्यक्ति राजा का 'सेनापति' था, जैसे प्रवरसेन द्वितीय के ग्यारहवें वर्ष में जो ताम्रपट्टाभिलेख जारी हुआ था और जिसका एक भाग ही मिल पाया है। उस समय चित्रवर्मन राजा का सेनापति था। इसके सात साल बाद जारी किए गए चम्मक के ताम्रपट्टों में भी वही चित्रवर्मन 'सेनापति' के रूप में मिलता है। इसके छह महीने बाद के सिवनी के ताम्रपट्टों में 'सेनापति' बप्पदेव का नाम आया है।[11] ताम्रज्ञापनों के अंत में जिस रूप में सेनापतियों का उल्लेख हुआ है उससे यही लगता है कि राजा के बाद 'सेनापति' का ही महत्व होता था। क्या 'सेनापतियों' के इस प्रकार प्रमुख रूप में उल्लेख करने का कारण यह तो नहीं है कि वे ही 'सर्वाध्यक्ष' अर्थात प्रधानमंत्री थे? उस काल में मंत्रियों की नियुक्ति के लिए सैन्यकौशल और नेतृत्व की क्षमता आवश्यक मानी जाती थी। गुप्तों के भी अनेक मंत्री 'दंडनायक' या 'सेनापति होते थे। वाकाटकों के राज्य में भी ऐसी ही प्रथा रही होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अब हम वाकाटक राज्य की आय की मदों पर विचार करेंगे। वाकाटक ताम्र शासनों में दान-ग्रहीताओं को जो विशेषाधिकार और रियाअतें मिलती थीं उनसे अप्रत्यक्ष रूप में इसका कुछ आभास मिल जाता है। इन्हें प्रायः नमक की खानों से नमक निकालने, छिपे खजाने मिलने पर अपने अधिकार में रख लेने, और गांव की गोचर भूमि के इस्तेमाल करने के अधिकार दिए जाते थे।[12] इससे यह अनुमान होता है कि आमतौर पर खानों, छिपे खजानों और सारी परती जमीन पर राज्य का अधिकार था। संभवतः वन भी राज्य की ही संपत्ति होते थे। कृषि भूमि पर आम नागरिकों का अधिकार होता था। जब राज्य की ओर से किसी को किसी गांव का दान मिलता था इन भूमिपतियों के अधिकार सुरक्षित रहते थे। पहले वे अपनी जमीनों का लगान राज्य को देते थे, दान के बाद लगान पाने के अधिकारी गांव का दान पानेवाले हो जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि राज्य की अपनी कृष्य भूमि ही न थी। राज्य कभी-कभी वन काट-कर खेत बना लेता था। वे खेत राज्य के होते थे। कभी-कभी किसान बिना कोई वारिस के छोड़े मर जाते थे अथवा सरकारी लगान अदा नहीं कर पाते थे। वैसी परिस्थिति में उनकी जमीनों पर राज्य का अधिकार हो जाता था। किंतु इस प्रकार राज्य के कब्जे में कुल जमीन का अल्प भाग ही रहता था। वाकाटक राजा कभी-कभी ऐसे खेत किसी मंदिर को दान कर देते थे या उनपर ब्राह्मणों को बसा देते थे।[13]

राज्य की आय का मुख्य स्रोत जमीनों से मिलनेवाली लगान ही थी। किंतु हमें यह पता नहीं कि वाकाटक काल में इसका पारिभाषिक नाम क्या था। इसके लिए उस काल में 'भागकर', 'भोगकर' या 'उद्रंग' या 'उपरिकर' शब्दों का प्रयोग मिलता है। पर इनमें से कोई भी शब्द वाकाटक लेखों में नहीं आया है। हां, एक शब्द 'क्लिप्त' अवश्य आया है। संभवतः इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। यह पता नहीं कि कर की मात्रा क्या थी? संभवतः कर जिंसों में लिया जाता था।

राज्य की आय का एक दूसरा स्रोत आयात शुल्क भी था। जलावन की लकड़ी, साग-सब्जियां, फूल और दूध के सामान आदि जब बाहर से गांव या शहर में आते थे, तो उन पर शुल्क लिया जाता था। यद्यपि लेखों में तो उल्लेख नहीं है तथापि इनसे अधिक मूल्यवान वस्तुओं जैसे कपड़ा, अनाज और तेल पर भी इसी प्रकार शुल्क लिया जाता था। हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि कपड़ा और शराब आदि पर उत्पादन-शुल्क था या नहीं।

निरीक्षकों और चरों के दौरे होते थे। उनके रहने का खर्च गांव वालों को उठाना पड़ता था। धार्मिक कृत्यों के लिए गांवों के दान पाने वालों को इस प्रकार के खर्च से छूट मिली हुई थी। थी। 'निरीक्षकों' को अगले मुकाम पर पहुंचाने के लिए 'बेगार' भी देनी पड़ती थी।

इस प्रकार हमें वाकाटक प्रशासन का अधूरा चित्र ही मिलता है। किंतु जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि प्रशासन बहुत ही चुस्त और कुशल था। जब तक कि पूरी तरह पड़ताल न हो जाए कोई दान-पट्ट जारी नहीं होता था। इसकी पुष्टिस्वरूप उस पर 'दृष्टं' लिख दिया जाता था। ऐसे प्रमाण भी हैं कि तथ्यों की भूल मिलने पर अथवा किसी तरह संतोषप्रद न होने पर, दानपट्टों को रद्द कर दिया जाता था।[14] इससे भी अधिक दिलचस्प बात यह है कि दान पानेवाले ब्राह्मण भी कानून से ऊपर नहीं होते थे। कतिपय दानपट्टों में उन शर्तों का भी जिक्र होता था जिनका पालन न करने पर दान पर से ब्राह्मण का स्वत्व जाता रहता था। पहली शर्त तो यह थी कि इनके भोक्ता ब्राह्मणों या उनकी संततियों को बराबर राजभक्त रहना पड़ता था। राजद्रोह, चोरी या अनैतिकता के अपराधियों को पकड़वाने में उन्हें सरकार की मदद करनी पड़ती थी। उन्हें पड़ोसी गांवों के अधिकारों में हस्तक्षेप की इजाजत न थी।[15]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन शर्तों का पालन न होने की दशा में सरकार को कानूनी और नैतिक तौर पर दान वापस ले लेने का पूरा-पूरा अधिकार था। भूमि की नापजोख के लिए सरकार ने मापदंड बनाए थे। इनके अनुसार उनकी पैमाइश होती थी और तदनुसार इंदराज होता था। प्रशासन में जनता का कितना हिस्सा था यह बतलाना तो कठिन है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि कम से कम गांवों के प्रशासन में ग्राम महत्तरों की सभा का निर्णायक महत्व होता था।

अब हम उस काल की धार्मिक अवस्था का सर्वेक्षण करेंगे। उस युग में हिंदू, बौद्ध और जैन तीनों मुख्य धर्म फूल-फल रहे थे। किंतु अचरज की बात है कि वाकाटक लेखों में कहीं जैन धर्म से संबंध रखनेवाला कोई उल्लेख नहीं है। संभवतः वाकाटक प्रजा में भगवान महावीर के अनुयायियों की संख्या बहुत कम थी।

इस काल में दकन में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार था। कार्ले, भाजा, जुन्नार, नासिक और अन्य स्थानों से मिले अभिलेखों और पुरावशेषों से प्रकट है कि उस काल में पश्चिम भारत में भगवान बुद्ध के उपदेशों को माननेवालों की पर्याप्त संख्या थी। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी वर्गों के और सभी पेशों के लोग थे। कोई चिकित्सक था, तो कोई लुहार या सुनार, कोई बढ़ई था तो कोई अनाज का व्यापारी। कम से कम ईसा की चौथी शताब्दी तक यही स्थिति रही। मनोरंजक बात यह है कि जुन्नार में तो एक भिक्षुणी विहार भी था।[16]

वाकाटक काल में भी अजंता और एलौरा बौद्ध धर्म के फलते-फूलते केंद्र के रूप में ख्यात थे। इसका प्रमाण वहां की गुफाएं, प्रतिमाएं, चित्र आदि हैं। इन गुफाओं में से अधिकांश का निर्माण वाकाटक काल में हुआ था। यदि धनिक वर्ग में बौद्ध धर्म के अनुयायी पर्याप्त संख्या में न होते तो यह संभव न था। सभी वाकाटक राजा हिंदू थे। किंतु इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि उन्होंने इन दोनों स्थानों पर जो उनके राज्य में थे, बौद्ध संस्थाओं को मुक्तहस्त दान दिए थे। चाहे कुछ भी हो, वाकाटकों के कई मंत्री बौद्ध थे और उन्होंने कतिपय गुफाओं का निर्माण कराया था।

अजंता में ऐसे बौद्ध भिक्षुओं की संख्या काफी थी जिनकी प्रसिद्धि पूरे देश में थी। इनमें से एक का नाम स्थविराचल था। इस भिक्षु का नाम गुफा सं० 24 के एक लेख में आया है। संभवतः यह वही भिक्षु है जिसका उल्लेख युवाङ् च्वाङ् ने अर्हत् 'अ-चे-लो' के नाम से किया है।[17]

वाकाटक काल (लगभग 250 से 550 ई०) उसी युग में पड़ता है जो महायान बौद्ध धर्म का स्वर्णयुग माना जाता है। वाकाटक राज्य की सीमा से थोड़ी ही दूर कृष्णा के तट पर नागार्जुन कोंडा में महायान दार्शनिक नागार्जुन का निवास था। शून्यवाद की स्थापना करके उन्होंने भारतीय बौद्ध धर्म को नवजीवन प्रदान किया था। इस शून्यवाद का अंततोगत्वा हिंदू वेदांत की अद्वैत शाखा के विकास में बहुत बड़ा योगदान है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि अजंता और एलौरा के भिक्षुओं में अधिकांश महायान संप्रदाय के अनुयायी थे। हीनयान के ऊसर निरीश्वरवाद के सिद्धांत में उनका विश्वास न था। अजंता के एक लेख में स्पष्ट कहा गया है कि निर्वाण के बाद बुद्ध शून्य में नहीं विलीन हो गए, वे अमर हैं, वे स्वर्ग से इस संसार का और अपने अनुयायियों का शासन और मार्गदर्शन करते हैं।[18] अतः स्वाभाविक ही है कि इस सिद्धांत के प्रभाव में अजंता में महायानियों ने पहले की हीनयान गुफाओं में भी, जहां 'स्तूप' जैसे प्रतीकों के द्वारा बुद्ध का अंकन होता था, वहां उनकी मूर्तियां स्थापित कर दीं।

किंतु बौद्ध धर्म अजंता और एलौरा तक ही सीमित न था। चांदा जिले के एक अभिलेख से विदित होता है कि वहां के राजा सूर्यघोष के पुत्र की राजमहल से गिर जाने के कारण मृत्यु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गई थी।[19] राजा ने अपने दिवंगत पुत्र की स्मृति में बुद्ध का एक मंदिर बनवाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुयायी यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे, तथापि इस कथन को प्रमाणित करने के लिए अभिलेख या अन्य प्रमाण प्रचुर मात्रा में नहीं बच रहे हैं।

कुल मिलाकर बौद्ध और हिंदू धर्मों में आपसी संबंध मैत्रीपूर्ण थे। यह स्वाभाविक ही था कि दोनों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ मानते थे। उदाहरणार्थ, अजंता के भिक्षु स्थविराचल ने बड़े गर्व से कहा है कि हिंदू देवता क्षयशील हैं, कृष्ण की भी मृत्यु हुई थी; महादेव भी इस शाप से न बच सके; किंतु बुद्ध अमर हैं, वे भय से परे हैं, वे सदा संसार के भाग्य का नियमन करते हैं।[20] इसी प्रकार हिंदू भी कहते थे। उनकी दृष्टि में बौद्धों का शून्य संतुष्ट नहीं कर सकता। इस वितंडावाद के कारण धार्मिक अत्याचार भी संभव था। किंतु भाग्यवश सर्वसाधारण यही मानता था कि सभी अपनी-अपनी जगह पर अच्छे हैं। उन सबका उद्देश्य एक ही है; दूसरे क्या करते हैं इसकी चिंता किए बिना जिसे जो धर्म रुचे, उसका पालन उसे करना चाहिए।

अब हम हिंदू धर्म की स्थिति का सर्वेक्षण करेंगे। वाकाटक काल के प्रारंभ में वैदिक यज्ञ पूरे देश में लोकप्रिय थे। वाकाटक वंश के वास्तविक संस्थापक प्रवरसेन प्रथम ने 'अग्निष्टोम', 'आप्तोर्याम', 'अवश्य', 'षोडशिन्', 'अतिरात्र', 'वाजपेय', 'बृहस्पतिसव' और 'साद्यस्कर' जैसे अनेक यज्ञ किए थे। वह एक महान् विजेता था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उसने चार-चार अश्वमेध यज्ञ किए थे। यद्यपि वाकाटक ब्राह्मण थे, किंतु वैदिक धर्म के प्रति उनके मन में जितना उत्साह था, उतना उनकी संततियों को न था। इनमें से किसी ने कोई वैदिक यज्ञ नहीं किया। वस्तुतः उस समय श्रौत धर्म की अपेक्षा स्मार्त धर्म का प्रचार निरंतर बढ़ता जा रहा था। प्रवरसेन का पौत्र रुद्रसेन प्रथम संभवतः अपने नाना भारशिव भवनाग के प्रभाव में आकर शैव हो गया था। रुद्रसेन द्वितीय को छोड़कर शेष वाकाटक राजा शैव थे। रुद्रसेन द्वितीय संभवतः अपनी रानी चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्ता के प्रभाव से वैष्णव बन गया था। ध्यान में रखने की बात यह है कि उस काल में शैव और वैष्णव धर्मों के अनुयायियों के बीच पूर्ण सौहार्द था। एक ही परिवार के सदस्य अपनी रुचि के अनुकूल मत-परिवर्तन कर सकते थे। नल राजा भवदत्तवर्मन शैव था। वह अपनी सफलता का श्रेय 'महासेन' की कृपा को देता था। किंतु उसका बेटा स्कंदवर्मन वैष्णव था और उसने विष्णु के मंदिर का निर्माण कराया था।[21] प्रवरसेन द्वितीय शैव था किंतु उसने 'सेतुबंध' नामक अपने काव्य में विष्णु के अवतार राम का कीर्तिगान किया है। सच तो यह है कि वाकाटकों के कुल देवता स्वयं 'रामगिरिस्वामिन' थे जिनका मंदिर रामटेक पहाड़ी पर था। यह मंदिर उनकी राजधानी से अधिक दूर न था।[22]

जहां तक आम हिंदुओं का प्रश्न है उनके मन में जितनी भक्ति पौराणिक देवताओं के प्रति थी उतनी ही वैदिक देवों के प्रति भी थी। वे प्रतिदिन संध्या और स्मृतियों में अनुमोदित पंच महायज्ञ करते थे। वे प्रायः प्रयागादि तीर्थों की यात्रा भी करते थे, जैसे वाकाटकों पर विजय प्राप्त कर भवदत्तवर्मन प्रयाग की तीर्थयात्रा को गया था।[23] अभी तक पौराणिक व्रतों का जनता में प्रचार नहीं हो पाया था। वस्तुतः 'पुराणों' के जिन अंशों में इनका विधान है उनकी उस काल तक रचना ही नहीं हुई थी, तथापि 'एकादशीव्रत' का चलन हो गया था। अनेक वाकाटक दान एकादशी के एक-दो दिन बाद दिए गए हैं। दान के लिए ग्रहण और संक्रांति तिथियों का उतना महत्व न था। इन अवसरों पर किसी वाकाटक दान का उल्लेख नहीं है।

देव मंदिरों का प्रचार निरंतर बढ़ रहा था। प्रायः मंदिरों में लंगर होते थे। इन्हें 'सत्र' कहते थे। प्रवरसेन द्वितीय के पत्तन ताम्रपट्ट लेख से विदित होता है कि उसने 'महापुरुष' अर्थात्

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विष्णु के एक मंदिर स संबद्ध एक 'सत्र' के व्यय के लिए दान दिया था।[24] दूसरी ओर, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वाकाटक काल में ये मंदिर विद्या के केंद्र थे।

वाकाटक लेखों से तत्कालीन सामाजिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। हिंदू समाज में जाति प्रथा का प्रचार था। किंतु इसके बंधन अभी बहुत कड़े नहीं हुए थे। व्यवसायों के चुनाव में काफी स्वतंत्रता थी। स्वयं वाकाटक ही ब्राह्मण थे, किंतु उन्होंने क्षत्रियों के कर्म अपनाकर राज्य किया। उनके अधिकारियों में भी ब्राह्मणों की संख्या काफी अधिक थी। इस काल में अंतर्जातीय विवाहों की इजाजत थी। ब्राह्मण वाकाटकों को वैश्यकुल के गुप्तवंशीय राजा की कन्या के पाणिग्रहण में कोई आपत्ति न थी। वाकाटकों के एक मंत्री के पूर्वज सोम ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था। उसके वंशज हस्तिभोज का कथन है कि यह विवाह 'श्रुति' और 'स्मृति' संमत था। ऐसे काल में जब अंतर्जातीय विवाहों का विरोध न था, परस्पर खान-पान का भी काफी प्रचार रहा होगा। इस काल में क्षत्रियों और वैश्यों में 'उपनयन' संस्कार का प्रचलन घट रहा था।[25]

समाज में नारी की स्थिति के बारे में भी कुछ कहने की आवश्यकता है। इस काल में रजोदर्शन से पूर्व विवाह आम बात थी। कम से कम ब्राह्मण समाज में तो ऐसी ही प्रथा थी। इससे लड़कियों की शिक्षा और 'उपनयन' का अंत हो गया। इस काल में विधवाओं को उनके पति की संपत्ति का दाय देने के पक्ष में तर्क दिए जा रहे थे किंतु समाज में अभी इसका प्रबल विरोध हो रहा था। क्षत्रिय परिवारों में कभी-कभी 'सती' की प्रथा का पालन होता था। अजंता के चित्रों से विदित होता है कि समाज में नारी का आदर होता था।

जैसा कि हम बतला चुके हैं कि अभी मंदिरों या विहारों का शिक्षा के केंद्रों के रूप में विकास नहीं हुआ था। इसके लिए निजी अध्यापक होते थे और वे ही शिक्षा-व्यवस्था की धुरी थे। अध्यापक ब्राह्मण होते थे और ये प्रायः राजधानियों या तीर्थों में रहते थे जहां राज्य और जनता की सहायता सुलभ होती थी। वाकाटकों के राज्य में नासिक, प्रवरपुर, वत्सगुल्म और पैठन उच्च शिक्षा के केंद्र थे। कतिपय गांवों में ब्राह्मणों की अग्रहार बस्तियां होती थीं। इन ब्राह्मणों को जीवन-निर्वाह के लिए उन गांवों का राजस्व लगा दिया जाता था। ये अग्रहार भी उच्च शिक्षा के केंद्र होते थे। इस काल में दकन में ऐसे अग्रहार काफी संख्या में थे। किंतु अब तक जो वाकाटक दानलेख मिले हैं उनमें ऐसे अग्रहारों का कोई जिक्र नहीं है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि अपने समसामयिक अन्य राजाओं की भांति वाकाटकों ने भी धर्म, शिक्षा और संस्कृति के उन्नयन के लिए ऐसे अग्रहार बनाए होंगे। राज्य से दान पानेवाले अनेक ब्राह्मण बड़ी-बड़ी पाठशालाएं चलाते थे जहां वे निःशुल्क शिक्षा देते थे। जैसे पांडुरंगपल्लि ताम्रपट्ट (लगभग 500 ई०) में उल्लिखित दान पानेवाले ब्राह्मण के बारे में कहा गया है कि वह सैकड़ों ब्राह्मणों का अध्यापक था।

वाकाटक काल में विभिन्न विषयों पर संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रंथों की रचना हुई थी। किंतु इनमें से ऐसी पुस्तकें कम ही होंगी जिनके बारे में यह कहा जा सके कि उनके रचयिता दकन के थे। पुराणों के नए संस्करण हुए। 'याज्ञवल्क्य', 'नारद' और 'कात्यायन' स्मृतियों की रचना इसी काल में हुई। 'शरभभाष्य', 'व्यास-भाष्य', 'पदार्थ संग्रह', 'सांख्य-कारिका' और 'लंकावतारसूत्र' भी इसी काल की रचनाएं हैं। किंतु यह कहना कठिन है कि इनमें से किसी भी ग्रंथ का लेखक किसी वाकाटक राजा की प्रजा था। भास, शूद्रक, विशाखदत्त, और कालिदास भी निस्संदेह इसी युग में हुए थे, किंतु हम नहीं कह सकते कि इनमें कोई दकन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का निवासी था या उसने दकन में रचना की।

कालिदास संभवतः कुछ समय तक वाकाटक दरबार में रहे थे। अनुमान है कि 'मेघदूत' के कतिपय अंशों की रचना उन्होंने रामटेक में की थी। मेघदूत का यक्ष अपने एक वर्ष का निष्कासन नहीं व्यतीत करता है। एक ही ग्रंथ ऐसा है जिसकी रचना वाकाटककालीन दकन में हुई थी और वह है वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय रचित प्राकृत-काव्य 'सेतुबंध'। इसका संशोधन स्वयं कवि कालिदास ने किया था।

वाकाटक लेखों से तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी अत्यल्प परिचय प्राप्त होता है। दकन और तैलंगाना ईसा की दूसरी शताब्दी में अपनी महीन मलमल के लिए प्रसिद्ध थे। अनुमान है कि इस काल में भी दकन में वस्त्रोद्योग फलता-फूलता रहा। पैठन इस उद्योग का प्रमुख केंद्र था। समकालीन प्रमाणों से विदित होता है कि देश के अन्य भागों में विभिन्न व्यवसायों की अपनी 'श्रेणियां' थीं जिनके अपने नियम-कायदे थे। सातवाहन काल में दकन में भी ऐसी 'श्रेणियों' का खूब प्रचार था। अतः हम मान सकते हैं कि वाकाटकों के राज्य में भी इनका उतना ही प्रचलन रहा होगा। यह केवल संयोग की बात है कि अभिलेखों में इनके उल्लेख नहीं मिलते।

तत्कालीन अन्य दकनी राजवंशों की भांति वाकाटकों ने भी अपनी कोई मुद्रा नहीं चलाई। हम दिखला चुके हैं कि यह स्थापना गलत है कि रुद्रसेन, प्रवरसेन और पृथ्वीषेण ने अपने सिक्के चलाए थे। छोटे-मोटे फुटकल लेन-देन में विनिमय का कार्य 'कौड़ियों' से होता था। वस्तुओं के परस्पर विनियम का खूब प्रचार था और अधिक महत्व के लेन-देन सोने-चांदी के माध्यम से होते थे। ब्याज की दर बारह से चौबीस प्रतिशत वार्षिक थी।

संदर्भ

1. 'गु० इं', संपा० फ्लीट, पृ० 235; 'ए० इं०' xxiii, पृ० 86.
2. दे० पूर्व०, पृ० 168-9.
3. 'इं० ऐं०' vii, पृ० 37.
4. 'अस्मत्संतकाः सर्वाध्यक्षनियोगनियुक्ताः आज्ञासंचारिकुल-पुत्राधिकृताः भटाः चट्टाश्च'. ए० इं० xxiii, पृ० 86.
5. 'ए० इं०' xxiv, पृ० 56.
6. असिभुक्ति, 'ए० इं०' xxvi, 265; पक्कणराष्ट्र, 'ए० इं०' xxiv, 261; भोगकटक राज्य, 'गु० इं०' पृ० 24.
7. 'ए० इं०' xviv, पृ० 265.
8. मिला० 'बेन्नकटस्य अपरभागे', 'गु० इं०', पृ० 246.
9. 'ए० इं०' xix, पृ० 102.
10. वही, xxiv, 267; 'गु० इं०', पृ० 240.
11. 'गु० इं०', पृ० 245.
12. वही, पृ० 236
13. 'ए० इं' xxxi, पृ० 260-2.
14. वही, xxii, पृ० 209.
15. 'गु० इं०', पृ० 236 तथा आगे.
16. 'आ० स० वे० इं०', iv, पृ० 33.
17. वैटर्स ii, पृ० 239-40.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

18. बर्गेस, 'केव टेंपुल्स आफ वेस्टर्न इंडिया', पृ० 77.
19. 'ज० रा० ए० सो०', 1905, पृ० 617.
20. 'केव टेंपुल्स ग्राफ वेस्टर्न इंडिया', पृ० 77.
21. 'ए० इं०', xxi, पृ० 155.
22. 'ज० ए० सो बं०', xx, पृ० 56.
23. 'ए० इं०' xix, पृ० 102.
24. वही, 23, 86
25. 'ग्रा० स० वे० इं', iv, पृ० 140.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड चार

बादामी के चालुक्य

प्रोफेसर के० ए० नीलकंठशास्त्री

1. ग्रामुख, प्रमाणसामग्री : अभिलेख, वंश का नाम, उत्पत्ति के बारे में दंतकथाएं.
2. चालुक्य शासक : पुलकेशिन प्रथम, कीर्त्तिवर्मन प्रथम, मंगलेश, पुलकेशिन द्वितीय, विक्रमादित्य द्वितीय, कीर्त्तिवर्मन द्वितीय, लघु चालुक्यवंश : मुदुगोंड ग्रौर वेमुलवाद के चालुक्य.
3. शासनपद्धति और सामाजिक जीवन : राजा, राजा की उपाधियां राजकुमार, रानियां, गणिकाएं, मौखिक आदेश, प्रशासन प्रभाग, ग्राम, कराधान, माप ग्रौर तोल, जनता, स्थल सेना ग्रौर नौसेना, विद्या, कलाएं, मंदिर, धर्म, साहित्य, संस्कृत, कन्नड़.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

विजयनगर साम्राज्य से पूर्व दकन में जितने राजवंश हुए हैं उनमें चालुक्य सबसे महत्वपूर्ण थे। वातापी (बादामी) उनकी पहली राजधानी थी। यहीं से छठी शताब्दी में उन्होंने पूरे दकन को राजनीतिक एकसूत्रता प्रदान की। दक्षिण के पल्लवों और उत्तर के हर्षवर्धन के प्रबल विरोध के बावजूद उन्होंने (सिर्फ पंद्रह वर्षों के एक छोटे से अंतराल को छोड़कर) प्राय: दो सौ वर्षों से अधिक दकन को अपने अधिकार में रखा। इस बीच चालुक्य वंश के राजकुमारों ने गुजरात और वेंगी में अपने अर्ध-स्वतंत्र राज्यों की नींव डाली। वेंगी राज्य (आंध्र देश) के पूर्वी चालुक्य लगातार चार सौ वर्षों से भी ज्यादा समय तक राज्य करते रहे और जब उनकी पश्चिमी शाखा राष्ट्रकूटों के उदय के कारण खत्म हो गई तो चोलों की सहायता से उन्होंने अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित रखी। चोलों से उनकी मित्रता गहरी होती गई। यह क्रम ग्यारहवीं शताब्दी तक चला जबकि वेंगी और चोलों के राज्य एक ही राजा के अधीन हो गए। दसवीं शताब्दी से अंत तक पहुंचते-पहुंचते राष्ट्रकूट शक्ति का ह्रास हो गया। फिर चालुक्यों की मुख्य शाखा दो सदियों की अज्ञातावस्था से निकलकर दकन में पुनः प्रबल हो गई। उसने अब कल्याणपुरी को अपनी राजधानी बनाया था। यह नगर 'पूरे संसार के नगरों में श्रेष्ठ' था। विंध्य के दक्षिण के भूभाग में चोलों से उन्होंने अपना हिस्सा बंटा लिया था। यह समय इस भूभाग में चोलों और चालुक्यों की प्रतिद्वंद्विता का था। किंतु चालुक्यों की रुचि युद्ध और राजनीति तक ही सीमित न रही। वे महान निर्माता भी थे। भारत की वास्तुकला की एक शैली का नाम ही चालुक्य शैली पड़ गया है। उन्होंने कन्नड़ और तेलुगु साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया। विज्ञानेश्वर, जो संभवतः भारत का सबसे बड़ा न्यायशास्त्री हुआ है, चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ की राजसभा का सदस्य था और उसे इसका गर्व भी था। गुजरात के चालुक्यों का इतिहास इस पुस्तक के विषय क्षेत्र से बाहर है। अन्य तीन शाखाओं का हम उसी क्रम से वर्णन करेंगे जिससे उनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

प्रमाणसामग्री : अभिलेख

इस काल के इतिहास के लिए मुख्य प्रमाण अभिलेख हैं। ये लेख प्रस्तर शिलाओं और स्तंभों तथा ताम्रपट्टों पर खुदे हैं। दकन के पश्चिमी अर्धभाग में ये संस्कृत और कन्नड़ में हैं तथा पूर्वी भाग में संस्कृत और तेलुगु में लिखे गए हैं। बादामी के चालुक्यों के अभिलेखों की संख्या कुछ कम ही होगी। वेंगी के चालुक्यों के लेख प्राय: ताम्रपट्टों पर हैं, उनकी संख्या भी उससे ज्यादा न होगी। किंतु कल्याणी के चालुक्यों के लेख बड़ी संख्या में मिलते हैं, इनमें अधिकांश पत्थरों पर खुदे हैं। किंतु इतिहास की दृष्टि से लेखों की संख्या के अनुपात में इनका उतना महत्व नहीं है। अभिलेख इतिहास के अध्ययन के लिए काफी प्रामाणिक माने जाते हैं। किंतु इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखों में कुछ समस्याएं निहित हैं जिनका ठीक-ठीक समाधान अभी नहीं हो पाया है। तिथि के लिए इनमें प्रायः शक संवत् का प्रयोग हुआ है। तिथियों के ब्यौरे भी हैं, पर उनमें एकरूपता नहीं है। अक्सर इनमें परस्परविरोधी तथ्य और कालक्रम मिलते हैं। यदि हम उन राजाओं के अभिलेखों का भी अध्ययन करें जो इनके संपर्क में आए तो फिर परस्परविरोधी तथ्यों की संख्या और भी बढ़ जाती है। पहले के लेखों में जो बात संक्षेप में कही गई थी, उससे अधिक ब्यौरे देने के नाम पर नई ईजादें की गई हैं और पूर्व कथनों में बनाव-श्रृंगार किया है। कभी-कभी तो एकदम दूसरा ही विवरण दिया गया है। यह बात अनुश्रुतियों ही नहीं, ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में भी हुई है। ऐसे अभिलेखों के प्रमाण को बहुत छानबीन कर ही स्वीकार करना होगा। हर मामले में निष्कर्षों के लिए पूरे कारण देना तवालत की बात होगी। हमने जाली ताम्रपट्टों को एकदम छोड़ दिया है। हर साल कोई न कोई नया अभिलेख मिल जाता है, किंतु इन सभी अभिलेखों में कोई भी उतने महत्व का नहीं है जितना शाके 455 (=543 ई०) वाला बादामी का शिलालेख है। इसकी खोज 1941 में हुई थी। इस लेख में चालुक्यवल्लभेश्वर के द्वारा वातापी के गिरिदुर्ग के निर्माण का उल्लेख है। तथापि, चालुक्य इतिहास की मुख्य रूप-रेखा प्रायः निश्चित हो चुकी है। ऐसी संभावना बहुत कम ही है कि नई खोजों के कारण उस रूपरेखा में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन अपेक्षित होगा।

अभिलेखों की सामग्री में हम साहित्य, पुरावशेषों और सिक्कों से प्राप्त सामग्री जोड़ सकते हैं। किंतु जहां तक बादामी काल का संबंध है इनसे हमें कम ही सहायता मिलती है। महत्वपूर्ण साहित्यिक सामग्री युवाङ च्वाङ का यात्रा विवरण है जिसमें उसने महाराष्ट्र और उसकी जनता का भी वर्णन दिया है। इसके अतिरिक्त ईरानी इतिहासकार टाबरी का भी एक उल्लेख हमारे काम का है। इस उल्लेख के बारे में यह मान्यता रही है कि इससे अजंता की पहली गुफा के चित्रों की ठीक-ठीक पहचान में सहायता मिलती है। इस इतिहासकार के प्रमाण के आधार पर चित्रों में ईरान के शाहंशाह खुसरो द्वितीय और उसकी रानी शीरीन के चित्रों की पहचान हुई है और साथ ही पुलकेशिन द्वितीय की ईरान के दूत से भेंट का खुलासा हुआ है। पश्चिमी[1] चालुक्यों के इस काल के किसी सिक्के का पता नहीं है। हां, वेंगी शाखा के कुछ सोने और चांदी के टुकड़े अवश्य मिले हैं।[1]

नाम

ऐसा प्रतीत होता है कि इस राजवंश का मूल नाम 'चल्क्य' था। इसी में श्रुतिमाधुर्य के लिए एक स्वर जोड़ देने से 'चलुक्य' बना। बाद में इसी के चालुक्य, चौलुक्य रूप हो गए। गुजरात और उससे उत्तर की शाखा के लिए चौलुक्य नाम प्रयुक्त हुआ है। संभवतः खंद चलिकि रेम्मनक अर्थात् खंद चलिकि का बेटा रेम्मनक इतिहास में पहला चालुक्य सरदार था। इसका उल्लेख नागार्जुन-कोंडा के एक अभिलेख[2] में आया है, जहां उसे इक्ष्वाकु राजा वीरपुरिसदत का 'महा-सेनापति' और 'महातलवर' बतलाया गया है। किंतु यह बात भी एकदम निश्चित नहीं हो सकती क्योंकि उसे हिरण्यक कुल का वासिष्ठीपुत्र कहा गया है, जबकि चालुक्य हारीतिपुत्र थे। यह अधिकारी चलिकि रहा हो या नहीं, इतना तो संदेह से परे है कि चटुओं और कदंबों—जिनसे अनेक बातों में चालुक्यों का मेल खाता है—और राष्ट्रकूटों की तरह चालुक्यों का भी अपना एक स्थानीय कुल था। ये परवर्ती सातवाहनों और उनके उत्तराधिकारियों के शासन काल में उनकी सेवा में थे, जहां वे धीरे-धीरे उन्नति करते गए। वे कर्नाटक के थे। इसे ही कभी-कभी कुंतल भी कहते हैं। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। कुछ पुराने इतिहासकारों ने इन्हें विदेशी मूल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का बतलाया है जो कि हूणों के साथ भारत आए थे। किंतु इस मत की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। तमिल के एक शब्दकोश 'दिवाकरम्' में इनका उल्लेख है जो 800 ई० के आस-पास का है। 'दिवाकरम्' का यह उल्लेख साहित्य में इनके प्राचीनतम उल्लेखों में से है। इसमें चलुक्कै वेंदर (चालुक्य राजाओं) को वेलपुलम् का राजा कहा गया है। इनका 'लांछन' वराह-ध्वज (केलूलकोडि) था। अब तक इस वेलपुलम् का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है।

उत्पत्ति के बारे में दंतकथाएं

सन् 578 ई० का बादामी का एक अभिलेख सबसे प्राचीन लिखित प्रमाण है जिसमें चालुक्य कुल के बारे में दंतकथा आई है। इसमें सीधी-सादी भाषा में बतलाया गया है कि वे स्वामी (कार्तिकेय—जैसाकि बाद के अभिलेखों से स्पष्ट है) के चरणों में ध्यान करनेवाले (पादानुध्यात) मानव्य गोत्र के हारीतिपुत्र अग्निष्टोम अग्निचयन 'वाजपेय', 'पौंडरीक', 'बहुसुवर्ण' और 'अश्वमेध' आदि यज्ञों के जल से अभिषिक्त थे। ध्यान रखने की बात यह है कि ब्राह्मणवंशी कदंब राजा और उनके पहले चटु—जो अपने को सातवाहन भी कहते थे—भी मानव्य गोत्र के हारीतिपुत्र थे। कदंब भी कार्तिकेय के उपासक थे और ब्राह्मण राजवंश के होने के कारण उनका वैदिक यज्ञ करना स्वाभाविक ही था। कुल के बारे में एक ही प्रकार की दंतकथा, विशेषकर एक ही गोत्र और मातृनामिका इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इनमें सातवाहनों के काल से ही निश्चित ऐति-हासिक संबंध रहा है। यज्ञों की पूरी पदावली पहले तो इनके कुल के लिए प्रयुक्त हुई थी, उसके पच्चीस साल बाद के महाकूट के अभिलेख में वंश के प्रथम महान राजा पुलकेशिन के लिए इसी विरुदावली का प्रयोग हुआ है। कालांतर में इस दंतकथा का आकार बढ़ता गया और यह जटिल बनती गई। बादामी काल में इसमें अधिक भेद नहीं हुए। शीघ्र ही इसका एक परिनिष्ठित रूप निश्चित हो गया जिसमें फिर रद्दोबदल नहीं हुई। महाकूट का स्तंभलेख (602 ई०) अनेक दृष्टियों से अद्वितीय है। इसमें वंश की प्रशस्ति में कालिदास के 'रघुवंश'[3] की एक पूरी पंक्ति ही उद्धृत है। किंतु अन्य लेखों में यह पंक्ति फिर नहीं मिलती। इस लेख में इस वंश के राजाओं की ऊर्जा, बुद्धि, बल और साहस, पितृभक्ति और दानशीलता तथा औदार्य की प्रशंसा की गई है। बादामी काल की प्रशस्ति का प्रामाणिक रूप सबसे पहले पुलकेशिन द्वितीय के हैदराबाद के दानलेख (612 ई० में) चालुक्य वंश का उल्लेख इस प्रकार आया है: 'सकल संसार में वंद्य मानव्य गोत्र के हारीतिपुत्र, सप्तलोकों की जननी सप्तमातृकाओं द्वारा पालित, कार्तिकेय की कृपा से निरंतर धनधान्य से पूर्ण रहनेवाले, नारायण की कृपा से प्राप्त जिनके वराहध्वज को देखते ही सारे राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।' नोट करने की बात यह है कि इन पुरानी दंतकथाओं में भी हम इस वंश के राजाओं को भगवान शिव के पुत्र कार्तिकेय और विष्णु दोनों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते पाते हैं। विष्णु की ही कृपा से उन्हें सर्वविजयी वराहध्वज मिला था। वराहध्वज का चुनाव सार्थक है। जैसे वराह के रूप में भगवान ने नरक से पृथ्वी का उद्धार किया था उसी प्रकार चालुक्य राजा दुष्ट राजाओं के उपद्रवों से पृथ्वी की रक्षा करने का दावा करते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के आसपास दंतकथाओं की एक नई बाढ़ आई। अभि-लेखों का एक बड़ा भाग और साहित्य भी इनसे भरने लगा। यह वही समय था जब कि दक्षिण भारत के सभी राजवंशों ने अपने राजकवियों की सहायता से अपनी प्रतिष्ठित वंशावलियां बनवाईं। इनमें उनकी उत्पत्ति आमतौर पर सूर्य और चंद्र से बतलाई गई। जहां तक चालुक्यों का प्रश्न है, इन दंतकथाओं की दो धाराएं थीं: एक पश्चिमी धारा और दूसरी पूर्वी धारा। इनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आपसी एकता न थी। अब इतने समय बाद इन धाराओं के परस्पर विरोधो के ब्यौरों में जाने की आवश्यकता नहीं। पश्चिम की दंतकथाओं का आरंभ विक्रमादित्य पंचम के कौथेम के दान-लेख (1009 ई०) से होता है। इसकी मुख्य बातें ये हैं : चालुक्य वंश के 59 राजाओं ने अयोध्या में राज्य किया था, फिर 16 राजाओं ने 'दक्षिणापथ' (दकन) में राज्य किया; फिर कुछ समय तक इस वंश का शासन लुप्त हो गया या; फिर जयसिंह ने वंश का राज्य पुन: प्रतिष्ठित किया, उसने राष्ट्रकूट राजा इंद्र के अतिरिक्त 500 अन्य राजाओं का संहार किया; उसकी सेना में 800 हाथी थे। उसी इलाके में मिले दूसरे अभिलेखों में वंश की उत्पत्ति मनु से बतलाई गई है, उसके बाद मानव्य और हारीत हुए, फिर चालुक्य। कुछ दूसरे अभिलेखों में चंद्रमा अथवा ब्रह्मा से उत्पत्ति बतलाई गई है। विल्हण ने एक दूसरी ही कथा दी है। प्राचीन काल में जब लोगों का देवताओं से विश्वास उठ चला था तो पृथ्वी पर ऐसी देवहीनता का अंत करने के लिए इंद्र ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने अपने चुलुक (चुल्लू) से एक पुरुष की सृष्टि की जिसका नाम भी चुलुक हुआ, उसी की संतानें चालुक्य कहलाईं। दंतकथाओं की पूरब की धारा का प्रारंभ विमलादित्य (1011 ई०) के रणस्तिपूंडि के दानलेख से होता है। इसमें बातें कुछ अधिक विस्तार से दी गई हैं। इसमें ब्रह्मा, चंद्रमा और अयोध्या के 59 राजाओं का वर्णन है। इन राजाओं में उदयन भी है। फिर यह कहा है कि इस वंश का एक व्यक्ति, जिसका नाम विजयादित्य था दक्षिण की विजय को निकला। त्रिलोचन पल्लव से एक युद्ध में वह वीरगति को प्राप्त हुआ। उस समय उसकी रानी गर्भवती थी। उसे मुडिवेमु के विष्णुभट्ट सोमयाजी नामक ब्राह्मण ने शरण दी। इन्हीं महानुभावों के यहां उसने एक पुत्र को जन्म दिया। माता ने आश्रय-दाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए अपने पुत्र का नाम विष्णुवर्धन रखा। विष्णुवर्धन ने बड़े होने पर चालुक्य पहाड़ों की गौरी की पूजा की। उनकी कृपा से उसने अपने वंश की राज्यलक्ष्मी को पुन: प्राप्त कर लिया। उसने सकल दक्षिणापथ के साढ़े सात लाख देशों में अपना राज्य स्थापित किया। उसका राज्य उत्तर में नर्मदा से लेकर दक्षिण में रामेश्वर (सेतु) तक विस्तृत था। किसी ऐतिहासिक वंश का पीढ़ियों तक इस प्रकार के विश्वास रखना दिल-चस्प बात अवश्य है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से इन बालिश कथाओं का कोई मूल्य नहीं है।

संदर्भ

1. किंतु दे० 'मैं० आ० रि०', 1933, पृ० 98, जहां, पुलकेशिन प्रथम को 'वराह और कमल' का सिक्का जारी करने का संदिग्ध रूप से श्रेय दिया गया है.
2. 'ए० इं०', XX, 18 बी० 4.
3. 'यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामाचितार्थिनाम्',.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चालुक्य शासक

पुलकेशिन प्रथम

इतिहास में तो इस वंश का पहला राजा, जिसने बादामी के चालुक्य राजवंश के स्थापना की, पुलकेशिन प्रथम ही माना जाएगा। इस राजा का नाम भी कुछ अजीब सा है। फ्लीट के अनुसार इसका आधा कन्नड़ है और आधा संस्कृत। वे इसका अर्थ 'बाघ के से बालों वाला' बतलाते हैं। किंतु अधिक संभावना यह है कि नाम का पहला आधा भी संस्कृत है। यह पुल् धातु से बना है जिसका अर्थ है—महान होना (मोनियर विलियम्स); यदि इसकी यह व्युत्पत्ति मान ली जाए तो फिर इससे नाम के दोनों रूपों—पुलकेशिन और पोलकेशिन—का खुलासा हो जाता है। केशिन् का अर्थ सिंह है। इस प्रकार इस नाम का अर्थ हुआ, 'महान सिंह'। सन 602 ई० के महाकूट के स्तंभ-लेख में पहली बार पुलकेशिन के पिता रणराग और दादा जयसिंह के नाम आए हैं। इनके वर्णन स्पष्ट ही आलंकारिक हैं जिनका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। ये वर्णन पुलकेशिन के ही किसी दानलेख से लिए गए हैं जो, 'धर्मशास्त्रों' के अनुसार लिखा गया होगा, अतः उसमें दाता के पिता और पितामह के नाम दिए गए हैं। सन 1941 में बादामी के किले में एक शिलाखंड पर एक लेख मिला जिसमें शाके 465 की तिथि है। इस लेख के अनुसार उस समय तक चालुक्य वल्लभेश्वर ने वातापी की ऊपर और नीचे की किलेबंदी कराई थी। वल्लभेश्वर को अनेक यज्ञों का कर्त्ता बतलाया गया है, जिसमें 'अश्वमेध' यज्ञ भी शामिल है। यह वल्लभेश्वर निःसंदेह पुलकेशिन प्रथम ही है। राजधानी का चुनाव रक्षा की दृष्टि से हुआ था। वातापी मलप्रभा नदी से तीन मील के भीतर काफी ऊंचाई पर स्थित है जो रक्षा की दृष्टि से उत्तम स्थान है। पूरब में महाकूट पहाड़ी है। 'उसी दिशा में पांच मील और आगे नदी के किनारे पट्टदकल पड़ता है। ये सब चालुक्यों के चढ़ती के युग के साक्षी हैं।' यहां उनके प्राचीन मंदिर हैं और लेख अंकित हैं। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल के लेख में पुलकेशिन प्रथम द्वारा वातापी पर अधिकार और उसके 'अश्वमेध' का विशेष उल्लेख है। अतः चालुक्य राज्य का वास्तविक जन्मदाता वही था। वातापी की किलेबंदी कराकर और आसपास के इलाकों पर अधिकार करके उसने कदंबों की अधीनता छोड़कर अपनी स्वतंत्रता घोषित की होगी। अश्वमेध यज्ञ कर उसने अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा की होगी। उसके इस यश का बार-बार, यहां तक कि बारहवीं शताब्दी तक, उल्लेख होता रहा। उसने अतिव्ययसाध्य 'हिरण्यगर्भदान' (सोने के अंडों का दान) दिया था। मंगलेश के नेरुर के दानलेख में उसकी मंत्र-बुद्धि की प्रशंसा की गई है। उसे 'मानवधर्मशास्त्र', 'रामायण' और 'महाभारत' का ज्ञाता बतलाया गया है। महाकूट-अभिलेख में उसका विरुद सत्याश्रय श्री (=लक्ष्मी) पृथ्वीवल्लभ दिया है। इसमें उसकी तुलना विष्णु से की गई है, इसी अभिलेख में उसे रणविक्रम का विरुद भी दिया गया है। उसे वृद्धजनों की सलाह माननेवाला और ब्राह्मणों का आदर करनेवाला कहा गया है। उसकी रानी का नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुर्लभदेवी था जो बटपुरवंश की थी। उनके दो बेटे कीर्तिवर्मन और मंगलेश थे। इन्होंने उसके बाद क्रमशः राज्य किया।

कीर्तिवर्मन प्रथम

कीर्तिवर्मन का बारहवां राज्यवर्ष शक संवत 500 (बादामी गुफालेख) में पड़ा था। अतः अपने पिता की मृत्यु के बाद सन् 566-67 ई० में वह गद्दी पर बैठा होगा। कीर्तिवर्मन के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय के लेख में उसे वातापी का प्रथम निर्माता और नलों, मौर्यों और कदंबों के लिए 'कालरात्रि' कहा गया है। पुलकेशिन प्रथम के समय में ही वातापी राजधानी बन चुकी थी। अतः उसके पुत्र ने मंदिरों के निर्माण और दूसरे तरीकों से भी नगर को खूब सजाया होगा। नव स्थापित राज्य के विस्तार के विषय में नलों, मौर्यों और कदंबों की विजयों का महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के चालुक्यों की 'प्रशस्तियों' में इन विजयों की स्मृति सुरक्षित है। चालुक्यों का यह विस्तार कदंबों के मत्थे हुआ। वस्तुतः इन तीनों शक्तियों में कदंब ही मुख्य थे जिनपर कीर्तिवर्मन ने आक्रमण किया था। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अभिलेखों में कहा गया है कि उसने अपने पराक्रम से वनवासी और शत्रुओं के अन्य मंडलों पर अधिकार कर लिया था। उसके द्वारा पराजित कदंब राजा संभवतः अजवर्मन था। नल उस समय संभवतः नलवाड़ी के शासक थे जो 'वेल्लारी और कर्नूल की दिशा में' थी।[2] नलों का एक प्राचीन प्रस्तर लेख जेपुर एजेंसी और बस्तर रियासत की सीमा पर मिला है। इससे पता चलता है कि पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस राजवंश को अनेक ध्वंसात्मक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा था।[3] मौर्य कोंकण के शासक थे। उनकी राजधानी पुरी में थी। पुरी को 'पश्चिमी समुद्र की लक्ष्मी' कहा गया है। स्पष्ट है कि कीर्तिवर्मन ने चालुक्यों के राज्य का चतुर्दिक विस्तार किया था। हम मान सकते हैं कि उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। उसने 'अग्निष्टोम' और 'बहुसुवर्ण' यज्ञ किए थे और 'पुरुरणपराक्रम' की उपाधि धारण की थी। महाकूट स्तंभलेख के अनुसार उसने वंग, अंग, कलिंग, वत्तूर (?), मगध, मद्रक, केरल, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चोलिय, आलुक, वैजयंती आदि देशों के राजाओं को पराजित किया था। किंतु इससे यही माना जा सकता है कि राजा के प्रशस्तिकार को भारत के भूगोल का अच्छा ज्ञान था। उसी अभिलेख में आगे कहा है कि राजा की आज्ञा से उसके छोटे भाई मंगलेश ने चट्टानें कटवाकर विष्णु का एक सुंदर मंदिर बनवाया था। इस मंदिर का निर्माण संभवतः कीर्तिवर्मन की मृत्यु के बाद मंगलेश के शासनकाल में पूर्ण हुआ था और तब उसमें विष्णु की मूर्ति स्थापित हुई थी। पुलकेशिन द्वितीय के एक अभिलेख से विदित होता है कि उसकी माता, कीर्तिवर्मन की रानी सेंद्रक वंश के राजा श्रीवल्लभ सेनानंद की बहिन थी। यह बनवासी प्रांत में नागरखंड मंडल का शासक था। पहले वह कदंबों के अधीन था, फिर चालुक्यों के अधीन हो गया था। सेंद्रकों से कीर्तिवर्मन के विवाह संबंध से अभिलेखों के इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि चालुक्यों ने दक्षिण की ओर कदंबों के प्रदेश जीतकर अपना राज्य बढ़ा लिया था। 590 ई० के आसपास हमें कोंकण में चालुक्यों के अधीन किसी ध्रुवराज-इंद्रवर्मन के राज्य करने का प्रमाण मिला है। वह रेवतीद्वीप (गोवा) में नियुक्त था। वह चार 'विषयों' अथवा 'मंडलों' का शासक था। उसे सत्याश्रय और 'आदि महाबप्पूर-वंश' का तिलक कहा गया है। वह संभवतः उसी वंश का था जिसकी दुर्लभदेवी थी जो पुलकेशिन प्रथम की रानी थी। ध्रुवराज इंद्रवर्मन की नियुक्ति की उपर्युक्त तिथि से पता चलता है कि कदंबों की विजय के बाद जो नया प्रदेश चालुक्य राज्य में आया था वह उसी का शासक नियुक्त हुआ था। वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

20 वर्षों तक वहां उसी रूप में शासन करता रहा क्योंकि उसका गोवा ताम्रपत्राभिलेख शासन, जिससे हमें ये सूचनाएं मिलती हैं, शाके 532 (610-11 ई०) का है। उस समय उसके शासन का बीसवां वर्ष चल रहा था। किंतु यदि मंगलेश ने पहली बार गोवा की विजय की, जिसकी संभावना अधिक है, तो गोवा में राजधानी बनाने से पूर्व इंद्रवर्मन अपने प्रदेश का शासन किसी दूसरे स्थान से करता रहा होगा। उसकी सत्याश्रय की उपाधि और उसके लेखों में उसके राज्यवर्ष के उल्लेख से ही निष्कर्ष निकलता है कि वह संभवतः राज परिवार का सदस्य था।

मंगलेश

सन 597-98 ई० में कीर्तिवर्मन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई मंगलेश शासक हुआ।[4] संभवतः वह कीर्तिवर्मन का सौतेला भाई था। मंगलेश के महाकूट अभिलेख से पता चलता है कि सिद्धार्थ वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा (12 अप्रैल, 606 ई०) उसके पांचवें राज्य-वर्ष में पड़ी थी। यद्यपि समकालीन अभिलेखों में उत्तराधिकार के इस स्पष्ट व्यतिक्रम का कोई खुलासा नहीं मिलता, तथापि कल्याणी काल के अभिलेखों में एक घिसा-पिटा छंद अवश्य मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि कीर्तिवर्मन की मृत्यु के समय उसका बेटा अवयस्क था। इसलिए शासन का बोझ मंगलेश ने उठाया और जब सत्याश्रय जवान हो गया तो मंगलेश ने राज्य उसे वापस दे दिया। छंद के अंत में भावार्थ के रूप में प्रश्न किया गया है कि 'चालुक्यों में कौन 'धर्म' के मार्ग से च्युत होगा ?' मंगलेश की ओर से यह निषेधोक्ति संदेह पैदा करती है। ऐसा प्रतीत होता है इसमें पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में वर्णित घटनाओं पर बहुत बाद में लीपा-पोती करने की कोशिश को गई है। किंतु इस प्रश्न का विमर्श हम इस राजा के शासन के अंत का वर्णन करते समय करेंगे।

मंगलेश ने राज्य के विस्तार की नीति चालू रखी। उसके प्रारंभिक अभियानों में एक कलचुरियों अथवा कलत्सुरियों के विरुद्ध था। इस घटना का उल्लेख महाकूट के अभिलेख में है। अतः यह 602 ई० से पहले की बात होगी। पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख के अनुसार उसकी घुड़सवारों की सेना के चलने से इतनी धूल उठी कि वह पूरब और पश्चिम के समुद्रों पर चंदोवा बन गई। इसमें पूरब के समुद्र के बारे में जो अलंकारोक्ति है उसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि मंगलेश के शासन के अंत तक चालुक्यों की शक्ति दकन के पश्चिम भाग तक ही सीमित थी। कलचुरियों से युद्ध के बारे में इसी लेख का कथन है कि उसने कलचुरि की ललना का युद्ध क्षेत्र में पाणिग्रहण किया था। मंगलेश के नेरूर के दानलेख (तिथि-रहित) के अनुसार गज-अश्व-पदाति और कोश के स्वामी शंकरगण का पुत्र बुद्धराज मंगलेश से हारकर भाग गया था। महाकूट स्तंभलेख में यह उल्लेख है कि मंगलेश ने उत्तरी भाग की विजय का इरादा किया था और सर्वप्रथम उसने राजा बुद्ध को पराजित किया तथा उसकी सारी संपत्ति पर कब्जा कर लिया। तदनंतर विजय का धर्मस्तंभ (धर्मजय स्तंभ) स्थापित करने की इच्छा से उसने अपनी माता की संस्तुति से मकुटेश्वरनाथ को वे दान दिए जिनका उल्लेख महाकूट स्तंभलेख में हुआ है। मकुटेश्वरनाथ नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रसिद्ध मंदिरों का मूल नाम मकुट था, महाकूट नहीं।

उस काल के कलचुरि अभिलेख जिन-जिन स्थानों में मिले हैं उन्हें देखने से तो यही प्रतीत होता है कि इस यशस्वी वंश के राजाओं ने एक विस्तृत भूभाग पर शासन किया था। उनके राज्य में गुजरात के खानदेश और मालवा के हिस्से शामिल थे। इस वंश की तीन पीढ़ियों का पता है। इनका पहला राजा कृष्णराज था, उसके बाद उसका बेटा शंकरगण राजा हुआ,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फिर शंकरगण का बेटा बुद्धराज राजा बना जो मंगलेश का शत्रु था।[5] कलचुरि अभियान एक प्रकार से लूटमार के एक धावे के रूप में ही था। अंततोगत्वा एक बड़ी लड़ाई हुई जिसमें मंगलेश जीत गया और लूट में काफी धन उसके हाथ लगा। बुद्धराज के अभिलेखों से पता चलता है कि इस हमले के शीघ्र बाद 609-610 ई० के आसपास वह पूरी शान-शौकत से स्वतंत्र राजा के रूप में राज्य कर रहा था। फ्लीट का यह कथन मान्य नहीं है कि अपने उत्तरी हमले के बाद यदि मंगलेश माही तक नहीं तो कम से कम किम नदी तक के समूचे उत्तरी प्रदेश का स्वामी हो गया था। चालुक्यों के अभिलेखों[6] में भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि इस अभियान का कोई स्थायी फल हुआ था।

खास कोंकण में मंगलेश ने अपने भाई की ही योजना को आगे बढ़ाया। इसके नतीजे कड़वे रहे। रेवतीद्वीप पर उसके अधिकार का अभिलेखों में बड़े विस्तार से वर्णन है। ऐहोल की प्रशस्ति के अनुसार जब उसने रेवतीद्वीप को जीतने की इच्छा की तो उसकी सेना, जो नगर के परकोटे पर चढ़ गई थी, अपने चमकते हुए झंडों की परछाईं समुद्र में पड़ने से वरुण की सेना की भांति मालूम पड़ती थी, उसके आदेश को सुनकर तत्काल आ गई।[7] बाद के अभिलेखों से विदित होता है कि मंगलेश की सेना इतनी विशाल थी कि वह समस्त द्वीपों पर कब्जा कर सकता था। उसकी सेना ने नावों का एक पुल पार कर रेवतीद्वीप पर आक्रमण किया था। नेरूर के दानलेख में इस आक्रमण का जिक्र नहीं है। किंतु उसमें यह अवश्य कहा गया है कि मंगलेश ने चालुक्य वंश के किसी स्वामिराज को मार डाला था जिसने अठारह लड़ाइयां जीती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन द्वारा कोंकण की विजय के बाद स्वामिराज को रेवतीद्वीप का उपराजा नियुक्त किया गया था। उसने संभवतः केंद्रीय शक्ति के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, इसीलिए इस द्वीप पर आक्रमण की आवश्यकता पड़ी। विद्रोही की युद्ध में मृत्यु हुई और किला जीत लिया गया। द्वीप की फिर से विजय के बाद कोंकण में ही अन्यत्र नियुक्त ध्रुवराज इंद्रवर्मन को रेवतीद्वीप का उपराजा बनाया गया।

मंगलेश ने 'रणविक्रम' और 'परम भागवत' का विरुद धारण किया था। वह एक महान निर्माता था। कीर्तिवर्मन ने बादामी में महाविष्णु गृह के निर्माण का भार उसे ही सौंपा था। यह मंदिर गुफाओं को काटकर बनाया गया है। मंदिर की कारीगरी उत्तम है। यह सर्वांग सुगठित है अर्थात इसके 'भूमिभाग', 'उपभाग' (अनुबंध) और 'उपरिपर्यंत' (ऊपरी सर्किट) के आकार यथाप्रमाण हैं। मंदिर का निर्माण पूरा हो जाने पर जब विष्णु की मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई तो उसने मंदिर को प्रभूत दान दिया था, बाद में भी वह इसे दान देता रहा। किंतु उसमें धार्मिक कट्टरता न थी। उसने शिव के एक मंदिर मकुटेश्वर को भी इसी प्रकार दान दिया था जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। उसके पांडित्य, चरित्र और दान तथा दंडनीति के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा लेखों में मिलती है।

किंतु जिस प्रकार उसके राज्य का अंत हुआ, उससे उसकी योग्यता और चरित्र का वह उदात्त रूप नहीं प्रकट होता जिसका वर्णन राजकवियों ने 'प्रशस्तियों' में किया है। वास्तव में उसके राज्य का अंत ठीक-ठीक किस तरह हुआ, यह कहना कठिन ही है क्योंकि इस संबंध में एकमात्र प्रमाण ऐहोल का अभिलेख है और उसकी भाषा एक पहेली जैसी ही है। इसमें कहा गया है कि उसके बड़े भाई का बेटा पुलकेशिन, जो नहुष की भांति उदार था, जिसकी अभिलाषा लक्ष्मी भी करती थी (लक्ष्म्या किलाभिलाषितः) जब उसने देखा कि इस कारण उसका चाचा उससे ईर्ष्या करता है, तो उसने देश छोड़ने का निश्चय किया (अपरुद्ध बुद्धौ)। किंतु पुलकेशिन ने अपने 'मंत्र' और 'उत्साह' की 'शक्ति' से सभी ओर से मंगलेश को कमजोर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर दिया और मंगलेश को इन तीनों चीजों से हाथ धोना पड़ा—अर्थात अपने बेटे को राज्य सौंपने के प्रयत्न, विस्तृत राज्य और अपने प्राणों से भी। इससे स्पष्ट है कि मंगलेश ने अपने बाद अपने बेटे को राजा बनाने का यत्न किया था। अतः कुछ समय के लिए पुलकेशिन को उसके अधिकारों से वंचित रखा गया था। संभवतः मंगलेश ने अपने बेटे को 'युवराज' बना दिया था, यद्यपि युवराज पद लिए पुलकेशिन का दावा अधिक पुष्ट था।[8] पुलकेशिन ने अपने वैरी चाचा का दरबार छोड़ दिया। देश से बाहर जाकर उसने शक्ति संग्रह की और मंगलेश पर आक्रमण कर उसे मार डाला और स्वयं राजसिंहासन पर बैठ गया। इस योजना में पुलकेशिन के मित्र कौन थे, इसके बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है।

पुलकेशिन और मंगलेश में यह मतभेद कब से शुरू हुआ, इसका पता हमें नहीं है। यह कहना कठिन है कि मतभेद मंगलेश के शासन के प्रारंभ में ही पैदा हो गए थे अथवा उसने कुछ समय तक शांति से राज्य किया था और इस बीच पुलकेशिन सयाना हो गया होगा। चाहे जो भी हुआ हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पुलकेशिन और बादामी काल के उसके उत्तराधिकारी मंगलेश को सिंहासन का अधिकारी नहीं मानते थे। उन्होंने अपने शासन की जो वंशावली दी है उसमें मंगलेश का नाम नहीं दिया गया। किंतु कल्याणी के चालुक्यों के लेखों में उसका यथा-स्थान उल्लेख मिलने लगता है। और उसके शासन के ब्यौरे भी दिए गए हैं। हां, इतना जरूर है कि इनमें पुलकेशिन के प्रति उसके व्यवहार पर लीपापोती करने का यत्न अवश्य हुआ है। इससे पता चलता है कि किसी न किसी प्रकार के अभिलेखागार में वंश का इतिहास सुरक्षित रखा गया था।

पुलकेशिन द्वितीय

पुलकेशिन द्वितीय का हैदराबाद का ताम्रपत्राभिलेख शाके 534 का है। यह उसके राज्य के तीसरे वर्ष का है जिसमें एक सूर्य-ग्रहण का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह सन 609-10 में कभी गद्दी पर बैठा था।[9] पुलकेशिन एक महान सैनिक था। जब वह गद्दी पर बैठा तो उस समय की समस्याओं के समाधान के लिए उसकी सारी सैनिक योग्यता की आवश्यकता भी थी। मंगलेश के राज्य के अंतिम वर्षों में जो गृह-युद्ध हुआ था उससे चालुक्य साम्राज्य की जड़ें हिल गई थीं। ऐहोल प्रशस्ति के लेखक रविकीर्ति के अनुसार जब मंगलेश का छत्र-भंग हुआ तो संसार अरिकुल के अंधकार से आच्छादित हो गया। पुलकेशिन वातापी का स्वामी तो अवश्य हो गया था किंतु इससे अधिक वह कुछ भी नहीं रह गया था। उसे चालुक्य साम्राज्य का पुनः निर्माण करना था। किंतु उसने उस महान उत्तरदायित्व के लिए अपने को सर्वथा समर्थ सिद्ध कर दिखाया। उसने उस प्रभात का निर्माण कर दिया जो समूचे चालुक्य इतिहास में सबसे दैदीप्यमान था। उसके प्रयत्नों से चालुक्य संपूर्ण भारत में आदर के पात्र हो गए। यही नहीं, भारत के बाहर ईरान में खुसरो द्वितीय के दरबार में भी उनका सम्मान हुआ। उसने सकल 'दक्षिणापथ' को अपने झंडे के नीचे ले लिया। उसने तेलगु प्रदेश में चालुक्यों की पूर्वी शाखा की दीर्घ चर्या का श्रीगणेश किया। उसने गुजरात के चालुक्यों की एक दूसरी शाखा का मार्ग भी प्रशस्त किया जिसकी स्थापना उसके बेटे विक्रमादित्य ने की। किंतु अफसोस की बात यह है कि पुलकेशिन के कट्टर सैन्यवाद ने ऐसे असाध्य वैरी भी पैदा कर दिए कि उसके राज्य का अंत भी ऐसे विषाद में हुआ जो उसके प्रारंभ से भी घना था। किंतु उसने अपना काम इतनी मजबूती से किया था कि उसके निजी पतन और उसकी मृत्यु के बाद एक गृहयुद्ध होने के बावजूद वह साम्राज्य जिंदा बच रहा था जिसकी स्थापना उसने की थी, और उसके बेटे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विक्रमादित्य ने अपने पिता के वैरियों से पूरा बदला चुका लिया जिन्होंने पुलकेशिन की चर्या को असमय में समाप्त कर दिया था, जब वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी।

पुलकेशिन के अभियानों के अध्ययन में सबसे बड़ा सहायक ऐहोल का अभिलेख है। इसके अनुसार उसने सबसे पहले आप्पायिक और गोविंद को ठिकाने लगाया जो गृह-युद्ध के कारण उत्पन्न अराजकता का लाभ उठाकर भीमरथी नदी के उत्तर में उठ खड़े हुए थे। उनके पास बड़ी संख्या में हाथी थे। इनमें से एक को तो उसने युद्ध में खदेड़ दिया और दूसरा मित्र बन गया, जिसका उसने पर्याप्त उपकार किया। अभिलेख में जिस तरह इनका जिक्र हुआ है उससे यही लगता है कि ये खानदानी राजा न होकर कोई सैनिक नेता रहे होंगे जिन्होंने ऐसे अवसर पर अपनी तकदीर आजमाने का साहस किया होगा। फिर कदंबों की राजधानी बनवासी की बारी आई। रविकीर्ति के अनुसार बनवासी का वैभव इंद्रपुरी के समान था और वरदा नदी की उत्तुंग तरंगों पर कूजते हंसों की मेखला उसकी शोभा बढ़ाती थी। जब पुलकेशिन की सेनाओं ने इसका घेरा डाल दिया तो बनवासी का भूमिदुर्ग समुद्र में एक टापू की तरह दिखाई देने लगा। रविकीर्ति ने इसका वर्णन जिस उत्साह से किया है और जिस प्रकार पुराने कदंब राजा इसी समय के आसपास इतिहास में लापता हो जाते हैं उससे यही अनुमान पुष्ट होता है कि पुलकेशिन का बनवासी का अभियान पूरी तरह से सफल रहा होगा। बनवासी के अभियान के आसपास ही उसने आलुपों और गंगों को अपनी आसन्न सेवा का अमृतपान कराया। इनमें आलुपों की दक्षिण कन्नड़ जिले में एक छोटी सी रियासत थी। अभी हाल ही में उनके कई लेख इस इलाके में खासकर उडुपी 'तालुक' में मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में वे कई शताब्दियों से शासन कर रहे थे। गंग तो बेशक तलकाड के प्रसिद्ध पश्चिमी गंग ही थे। महाकूट के अभिलेख के अनुसार कीर्तिवर्मन ने जिन राजाओं को पराजित किया था उनमें गंग और आलुप भी थे। किंतु इस अभिलेख का प्रमाण संदिग्ध है। इनकी पहले-पहल विजय का श्रेय पुलकेशिन को ही है। संभवतः पराजित दुर्विनीत ने अपनी एक कन्या का विवाह भी पुलकेशिन से कर दिया था। पुलकेशिन के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम का जन्म इसी राजकुमारी से हुआ था।[10] फिर पुलकेशिन कोंकण की दिशा में मुड़ गया जहां उसने मौर्यों को बड़ी सरलता से हरा दिया, फिर पश्चिम समुद्र की लक्ष्मीपुरी पर सैकड़ों नौयानों के साथ आक्रमण किया। ये जहाज मस्त हाथियों की भांति दीखते थे। पुरी संभवतः बंबई के पास एलिफैंटा के द्वीप पर बसी थी।[11] पुरी उस समय का एक समृद्ध पत्तन नगर था जिस पर अधिकार करने के लिए पुलकेशिन उत्सुक था। पुनः लाट, मालव और गुर्जर एक-एक कर उसके प्रताप के आगे अवनत हुए। इस प्रकार चालुक्य साम्राज्य की सीमा का माही तक विस्तार हो गया। लाट इस काल में एक छोटा सा प्रदेश था जो किम नदी के दक्षिण में था। नवसारिका इसकी राजधानी थी। बड़ौदा राज्य की नौसारी वही नवसारिका है।[12] मंगलेश के आक्रमण के समय इसी प्रदेश में कलचुरि बुद्धराज का शासन था। लाट पर अधिकार कर पुलकेशिन ने अपने ही वंश के किसी व्यक्ति को वहां का शासक नियुक्त कर दिया था क्योंकि 643 ई० में यहां चालुक्य वंश का विजयराज शासन करता पाया जाता है।[13] किम और माही नदियों के बीच गुर्जरों का शासन था। अपने दक्षिणी पड़ौसी लाटों और पूरबी पड़ौसी मालवों की भांति गुर्जर भी पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार करते समय नहीं तो उससे कुछ पूर्व कलचुरि राज्य के अंग रहे होंगे। यदि पुलकेशिन की उत्तर की विजयों के समय बुद्धराज जीवित होता तो रविकीर्ति, जिसने मंगलेश के हाथों उसकी पराजय का उल्लेख किया है, पुलकेशिन के सामंतों में उसकी गिनती कराने से कभी न चूकता। ऐसा कोई चिह्न नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि मालवा कभी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुलकेशिन के साम्राज्य में शामिल था। उस समय उत्तर भारत में हर्षवर्धन का साम्राज्य तेजी से बढ़ रहा था। लाटों और गुर्जरों ने जो पुलकेशिन की शरण ली और मालवा से उसकी जो मैत्री हुई, उसका कारण हर्षवर्धन का यह विस्तार ही था।

उत्तर और दक्षिण भारत के ये दोनों विजेता अब आमने-सामने खड़े हो गए। उनमें एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें हर्ष की अपार क्षति हुई। मुख्य रूप से उसकी हाथियों की सेना का संहार हुआ। पुलकेशिन ने नर्मदा की रक्षा की। उसने विंध्य के दुर्गम प्रदेश में अपने हाथी नहीं भेजे। किंतु इस पहाड़ के दर्रों की रक्षा के लिए अपनी सेना की मजबूत चौकियां बिठा दीं। यह सब युवाङ् च्वाङ् के वर्णन से प्रमाणित हो जाता है। वह लिखता है, 'महाराज शीलादित्य उन दिनों पूरब और पश्चिम में हमले कर रहा था, समीपवर्ती और सुदूरवर्ती के राजा उसके अधीनस्थ होते जा रहे थे किंतु 'मो-ह-लो-चा' (महाराष्ट्र) के राजा ने उसकी प्रजा बनने से इनकार कर दिया।' चीनी यात्री के यात्रा के नोटों के आधार पर उसकी 'जीवनी' के लेखक ने आगे यह भी लिखा है कि अभिमानी शीलादित्य ने उत्तर के सभी देशों की सेना एकत्र कर अपने श्रेष्ठ सेनापतियों के साथ पुलकेशिन पर आक्रमण कर दिया। किंतु वह पुलकेशिन को अपने काबू में न कर सका।[14] वस्तुतः हर्षवर्धन की सर्वदा विजय की चर्या में एकमात्र यह निग्रह रहा।

हैदराबाद के दानलेख (612 ई०) में सकल उत्तरापथनाथ श्री हर्षवर्धन का नामतः उल्लेख नहीं है। इस लेख में कहा गया है कि पुलकेशिन ने शत समरयोद्धा राजाओं को हराकर परमेश्वर की उपाधि प्राप्त की। विक्रमादित्य प्रथम के समय और उसके बाद के लेखों में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है किंतु उनकी शब्दावली प्रायः वही है। उनमें पुलकेशिन की किसी अन्य सफलता का उल्लेख नहीं है। उसकी सिर्फ इसी सफलता का उल्लेख उनमें मिलता है। इस संबंध में संदेह है कि हैदराबाद दान-लेख के रचयिता का अभिप्राय हर्षवर्धन से है। यह युद्ध 612 ई० से पूर्व हुआ था। इसकी पुष्टि युवाङ् च्वाङ् के इस कथन से भी होती है कि हर्षवर्धन के राज्य के पहले छह वर्ष (606 से 612 ई०) युद्धों से भरे थे और बाद में उसने लंबे समय तक शांति से राज्य किया। किंतु ऐहोल प्रशस्ति 634-35 ई० की है और युवाङ् च्वाङ् महाराष्ट्र में उससे बाद (642 ई०) में आया था। उसकी साक्षियों का महत्व है। उनसे पता चलता है कि 612 ई० से पहले के युद्ध के धक्के से जो शक्तिसंतुलन बना था, वह 30 वर्षों तक यथावत बना रहा। किंतु इससे इस बात का निषेध नहीं होता कि दक्षिण का 'परमेश्वर' बराबर सावधानी बरतता रहा या कि उत्तर के 'परमेश्वर' ने शक्तिपरीक्षण की पुनः कोशिश नहीं की।[15]

हर्ष की बाढ़ रोककर पुलकेशिन ने अपने पश्चिमी दकन के अभियानों की सफल पूर्णाहुति की। रविकीर्ति ने इस घटना को खासा महत्व दिया है। उसने पुलकेशिन के अभियान के इस चरण में पहुंचकर उसकी अन्य सफलताओं का आकलन करने से पूर्व इस अवस्था का वर्णन एक पूरे छंद में किया है। उसने लिखा है, 'उच्च कुल में उत्पन्न गुणों से पूर्ण (महाकुल) धर्म-मार्ग से प्राप्त प्रभुशक्ति, मंत्र शक्ति और उत्साह शक्ति से विभूषित शक्रतुल्य पुलकेशिन ने 99000 गांवों वाले तीन महाराष्ट्रों का प्रभुत्व प्राप्त कर लिया।' संभवतः यह साम्राज्य नर्मदा और ताप्ती के बीच के इलाकों में, जिसमें बेतूल जिला और उसके आसपास के मध्य प्रदेश के जिले शामिल थे, फैला हुआ था। शाके 533 (=611 ई०) के नन्नराज के तिवरखेड ताम्र-शासन के अनुसार उस समय इस इलाके में राष्ट्रकूट सरदारों का राज्य था।[16] यदि यह सही है तो फिर हमें यह मानना होगा कि राष्ट्रकूटों और चालुक्यों का संघर्ष बराबर चलता ही रहा। यह संघर्ष पश्चिमी दकन के इतिहास का एक प्रमुख अंग रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके शीघ्र बाद पुलकेशिन ने अपने भाई विष्णुवधन को 'युवराज' बनाकर गृह प्रदेश का प्रशासन उसे सौंप दिया और पूरबी दकन में विस्तृत अभियान शुरू किए। इस विजय अभियान की उत्तर से दक्षिण की ओर प्रगति का रविकीर्ति ने कई चरणों में वर्णन किया है। हम मान सकते हैं कि रविकीर्त्ति का वर्णन अभियान की वास्तविक प्रगति का सूचक है। यह भी हो सकता है कि कवि ने अपनी अलंकारिक शैली में पुलकेशिन की तब तक की 'दिग्विजय' का उस रूप में वर्णन किया है कि जिससे यह मालूम पड़े मानो कि पुलकेशिन ने पूरे दकन की 'प्रदक्षिणा' की। चाहे जो भी हो, हमें रविकीर्ति के दिखलाए मार्ग पर ही चलना होगा क्योंकि दूसरा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। (दक्षिण) कोशल और कलिंग के राजाओं ने, जो अनेक राजाओं को हरा चुके थे, जब पुलकेशिन की बढ़ती हुई सेनाओं को देखा तो डरकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। फिर उसने पिष्टपुरम् के किले पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। गोदावरी जिले में पूरबी समुद्र तट पर पीठापुरम ही पिष्टपुरम् था। अगले चरण में कुनाल-कौलेर झील के आसपास लड़ाइयां हुई। झील का जल युद्ध में मरे सैनिकों के रक्त से लाल हो गया। यह खास 'वेंगि' देश था जो उस समय विष्णुकुंडिनों के अधिकार में था। उन्होंने आक्रमण का डटकर मुकाबला किया किंतु अंत में वे पराजित हुए। पुलकेशिन के आक्रमण के समय विष्णुकुंडिन आंध्र देश की प्रमुख शक्ति थे। संभवतः कलिंग तथा पिष्टपुर तो निश्चित रूप से यदि विष्णुकुंडिनों के राज्य में नहीं तो कम से कम उनके प्रभाव क्षेत्र में थे। इस समय पिष्टपुर में कोई पृथ्वीमहाराज राज्य करता था। कुछ अंशों में वह स्वतंत्र था। उसने अपना परिचय रणदुर्जय के पौत्र और विक्रमेंद्र के पुत्र के रूप में दिया है।[17] उसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः वे विष्णुकुंडिनों के सामंत रहे होंगे। पृथ्वीमहाराज के राज्य को स्वयं पुलकेशिन ने अथवा उसके भाई विष्णुवर्धन ने जीता था। विष्णुवर्धन ने बाद में पिष्टपुर को ही अपनी राजधानी बनाया। इस हमले के बाद भी कुछ वर्षों तक विष्णुकुंडिन अपने छोटे से राज्य पर शासन करते रहे।

विष्णुकुंडिन राज्य के दक्षिण में पल्लवों का राज्य था। पल्लव सिंहविष्णु वंश के थे। इनकी शक्ति का भी बड़ी तेजी से विकास हुआ था। और ये उस समय पुलकेशिन से घटकर न थे।[18] ऐहोल की प्रशस्ति के अनुसार अनेक समर विजयी उद्धत पुलकेशिन की सेनाओं के कारण जो धूल उठी उससे पल्लव राजा का प्रताप संछन्न हो गया (अर्थात ढक गया) और वह कांचीपुरम् की दीवारों के पीछे जा छिपा। उस समय पल्लवों का राजा संभवतः महेंद्रवर्मन प्रथम था। कशाकुडि के ताम्रपट्टों के अनुसार उसने कांचीपुरम् से 15 मील उत्तर पुल्ललूर (पोल्लिलोर) के युद्ध में शत्रु को हराया था। लेख में शत्रु का नाम नहीं दिया है। पुलकेशिन निश्चय ही इसी रास्ते आया होगा। यद्यपि दोनों पक्षों की बातों में तालमेल बिठाना तो कठिन है तथापि इतना अवश्य है कि दोनों एक घटना का उल्लेख कर रहे हैं। संभवतः पल्लवों ने अपनी राजधानी की रक्षा के लिए युद्ध किया था और इस युद्ध में उन्हें मैदान छोड़ देना पड़ा होगा, तथापि चालुक्य पुलकेशिन इस समय ऐसी स्थिति में न था कि वह उनका पीछा कर पल्लवों की अपार क्षति कर सकता। इस प्रकार पल्लवों और चालुक्यों के उस लंबे संघर्ष की शुरुआत हुई जो कई पीढ़ियों तक चलता रहा। दक्षिण भारत के इतिहास में यह संघर्ष एक प्रमुख तथ्य है। फिर तो यह कानून सा बन गया कि कर्णाटक और तमिल देश के राजा एक दूसरे को बर्दाश्त करने को तैयार न थे। ये बराबर आपस में लड़ते रहे। आंध्रदेश और मैसूर के राजा भी कभी अपने हित की दृष्टि से, और नहीं तो अपने प्रभु की खातिर, कभी इस पक्ष की ओर से और कभी उस पक्ष की ओर से इस संघर्ष में भाग लेते रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुल्ललूर की लड़ाई के बाद हो सकता है कि पुलकेशिन ने कांची पर घेरा डालने की कोशिश की हो और उसमें असफल होने पर वह राजधानी लौट गया हो। अभिलेख में विस्तृत ब्यौरे प्राप्त नहीं हैं। अतः पुलकेशिन के अभियानों के कालक्रम के बारे में हम अनुमान मात्र कर सकते हैं। सतारा के दानलेख में उसके छोटे भाई विष्णुवर्धन ने 'विषम-सिद्धि' और 'श्री पृथ्वीवल्लभ-युवराज' के विरुद धारण किए हैं। यह लेख श्री-महाराज अर्थात पुलकेशिन द्वितीय के आठवें राज्य वर्ष (618 ई०) का है। यद्यपि पिष्टपुरम् से जारी विष्णुवर्धन के तिम्मापुरम् के ताम्रपट्टों पर कोई तिथि नहीं है, पर वे इससे बाद के हैं। इस लेख के अनुसार 'विषम' स्थल-जलादि दुर्ग' की 'सिद्धि' करने के कारण उसका नाम 'विषमसिद्धि' हुआ था।[19] इससे यही अनुमान होता है कि विष्णुवर्धन बनवासी, पुरी और अन्य अभियानों में भाग ले चुका था। अतः पुलकेशिन ने अपने अभिषेक के समय ही नहीं, तो उसके तुरंत बाद उसे पुरस्कारस्वरूप युवराज बना दिया। पश्चिम दकन में युवराज विष्णुवर्धन की उपस्थिति से यही अनुमान होता है कि इसी समय अर्थात 617-20 ई० में पुलकेशिन अपने पूर्वी दकन के अभियानों में व्यस्त रहा होगा।[20] कोप्पारम् के ताम्रपट्ट पुलकेशिन के 21वें राज्य वर्ष अर्थात् 631 ई० के हैं। इस वर्ष में दोनों भाई पूर्वी दकन में थे क्योंकि जब पृथ्वीयुवराज (विष्णुवर्धन) ने यह दान दिया था तो वल्लभ अर्थात पुलकेशिन वहां उपस्थित था। इस समय तक विष्णुवर्धन अकेले ही अनेक शत्रुओं को पराजित कर चुका था और वेंगी का राज्य वह अपने वंशजों के लिए प्राप्त कर चुका था। अतः ऐसा लगता है कि इसके कुछ ही समय बाद वह अपने भाई की भांति 'महाराज' कहलाने लगा था (तिम्मापुरम् ताम्रपट्ट)। अतः हम यह मान सकते हैं कि जब पुलकेशिन 'दिग्विजय' के बाद बादामी लौटा, तो उसके बाद शीघ्र ही उसने अपने छोटे भाई विष्णुवर्धन को पूर्वी दकन भेजा होगा क्योंकि प्रदेश अभी पूरी तरह से नहीं जीता जा सका था। विष्णुवर्धन ने 631 ई० तक, जब उसका भाई पुलकेशिन पुनः इधर आया तो, इस प्रदेश को करीब-करीब पूरी तरह से जीत लिया था। संभवतः तभी यह बात तय पाई होगी कि विष्णुवर्धन की बहुमूल्य सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप पुलकेशिन उसे अपने बराबर का दर्जा दे देगा, ताकि मंगलेश की घटना की पुनरावृत्ति न हो। अतः पुलकेशिन ने विष्णुवर्धन को पूर्वी दकन का 'महाराज' बना दिया ताकि उसके बाद भी उसके बेटे उसके उत्तराधिकारी हों। इस नई व्यवस्था का सबसे प्राचीन प्रमाण तिम्मापुरम् का अभिलेख है जिससे पता चलता है कि नए राज्य की राजधानी पिष्टपुर में थी। विष्णुकुंडिन भी येन-केन-प्रकारेण वेंगी के इलाके पर अपना अधिकार खींचे लिए जा रहे थे।

'दिग्विजय' से पुलकेशिन के बादामी लौटने और पूरब की ओर उसके दूसरे अभियान के बीच की अवधि में पुलकेशिन ने ईरान के दरबार में अपने दूत भेजे होंगे। इस घटना की पुष्टि ईरानी इतिहासकार टाबरी करता है। खुसरो द्वितीय के शासन के 36 वें वर्ष, अर्थात 625-26 में पुलकेशिन ने उसके दरबार में अपने दूत के जरिए पत्र और भेंट भेजी थी। इस भेंट में एक हाथी और शहंशाह और उसके परिवार के लिए दूसरी बहुत सी चीजें थीं। इसके बाद ईरान से भी भारत में कोई दूत आया होगा। किंतु इसके बारे में हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ विद्वानों के अनुसार अजंता की गुफा सं० 1 में चित्रों के दो पैनल हैं, एक तो गुफा की छत में है जिसमें खुसरो और उसकी रूपसी रानी शीरीं का चित्र है, दूसरा पार्श्व बीथी की दीवार पर बना है जिसमें पुलकेशिन ईरानी दूत से भेंट कर रहा है। किंतु चित्रों की इस पहचान के विरुद्ध वाजिब संदेह व्यक्त किया गया है। किंतु टाबरी के बारे में हमें पता है कि अरबों द्वारा ईरान की विजय के पूर्व के पहलवी प्रमाणों का उपयोग कर उसने जो कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिखा है वह काफी स्पष्ट है।[21]

पुलकेशिन जब पूर्वी दकन में दूसरी बार आया तो उस समय महेंद्रवर्मन प्रथम के स्थान पर उसका बेटा नरसिंहवर्मन प्रथम पल्लवों की गद्दी पर विराजमान था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिवर्तन से चालुक्य खुश थे क्योंकि अपने पहले अभियान से वे संतुष्ट न थे। इस बात के प्रमाण हैं कि उस अभियान के बाद पल्लव चालुक्यों के विरुद्ध पर्याप्त सक्रिय थे और उन्होंने अपने प्रभाव का विस्तार भी कर लिया था। अनंतपुर जिले के गूटी 'तालुक' के एक लेख के अनुसार,[22] जिसपर कोई तिथि नहीं है, एरेयितियडिगल ने रणविक्रम को हराया था और बाण राजा की अनुमति से वाणराज विषय में एक गांव दान में दिया था। इसमें बाणों के विरुद्ध पुलकेशिन के सफल अभियान का प्रमाण निहित है। बाण राजा रणविक्रम के नाम से विदित होता है कि उसका वंश पुलकेशिन प्रथम के समय से चालुक्यों का सामंत था। किंतु लेख के उत्कीर्णक महेंद्र पल्लवाचारी के नाम से विदित होता है कि अब बाणों ने चालुक्यों के बदले पल्लवों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। पुलकेशिन द्वितीय ने बाणों के इलाके को पुनः जीत कर वहां चालुक्य शासन स्थापित किया। पल्लवों से संघर्ष के दूसरे दौर की शुरुआत इसी से हुई होगी।[23] किंतु इस संघर्ष का अंत कैसे हुआ इसके बारे में हमें पल्लवों की तरफ से जानकारी मिलती है। स्पष्ट ही इस बार पल्लवों का पलड़ा भारी रहा। पल्लव लेखों के अनुसार नरसिंह वर्मन ने पुलकेशिन को परियल, मणिमंगल, शूरमार आदि के युद्धों में पराजित कर भगा दिया और उसकी पीठ पर 'जय' शब्द वैसे ही लिख दिया जैसे ताम्रपट्टों पर लिखते हैं। इन युद्धस्थलों में इस समय सिर्फ मणिमंगल की ही पहचान की जा सकती है। इसी नाम की एक जगह कांचीपुरम् से 20 मील पूरब में पड़ती है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि इस बार भी चालुक्यों ने पल्लवों की राजधानी के लिए खतरा पैदा कर दिया था और कि इस दुर्धर्ष शत्रु को पक्की तरह से खदेड़ देने से पूर्व पल्लवों को अनेक भयंकर युद्ध करने पड़े थे। इन लड़ाइयों में नरसिंहवर्मन की ओर से सिंहल का राजकुमार मानवम्म बड़ी वीरता से लड़ा था। सिंहली वर्णनों के अनुसार इस सहायता के बदले नरसिंहवर्मन ने उसे सिंहल की गद्दी पर बिठाने में मदद की थी।[24] वस्तुतः पल्लवों पर पुलकेशिन का यह दूसरा हमला उसके लिए अधिक घातक सिद्ध हुआ क्योंकि पल्लवों का राजा अब यह समझ गया था कि अब उसे कुछ ऐसा करना ही होगा कि जिससे बारबार चालुक्य उसकी राजधानी पर न चढ़ आएं। पचीस वर्षों में वे दो बार ऐसा कर चुके थे। उधर पुलकेशिन के मन में भी इस बात का संताप था कि दूसरी बार भी पल्लवों के हाथों उसे मुंह की खानी पड़ी। अब वह भी जान चुका था कि उसने किसी ऐसे शत्रु को छेड़ दिया है जो बड़ी कड़ी धातु का है। अतः शीघ्र ही उसे वारे-न्यारे के लिए तैयार रहना होगा।

जब कि ये दोनों महायोद्धा अगले दौर की तैयारी कर रहे थे, चीनी धर्मयात्री युवाङ् च्वाङ् बड़ी शांति के साथ नरसिंहवर्मन के राज्य की यात्रा समाप्त करके पुलकेशिन के राज्य में चला आया। उसकी मुख्य रुचि तो बौद्ध धर्म में थी, न कि राजनीति में। उसने कांचीपुर का तो उल्लेख किया है पर राजा का नाम नहीं दिया है। 641-42 ई० में उसने दकन और दक्षिण भारत की यात्रा की थी। कांचीपुरम् के रास्ते में वह उन प्रदेशों से होकर गुजरा था जो कुछ समय पूर्व ही चालुक्यों के राज्य में शामिल हुए थे। इनका शासक विष्णुवर्धन था। उसके विवरण से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन परिवर्तनों की जानकारी उसे थी। कांचीपुरम् से युवाङ् च्वाङ् पांड्यों के देश में गया और संभवतः वहां से वह पुनः कांचीपुरम् वापस आ गया था। फिर वह कुङ्-कन्स्न-पु-लो होता हुआ महाराष्ट्र चला गया। इस कुङ्-कन्-न-पु-लो की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहचान अभी संतोषजनक रूप में नहीं हो पाई है। उसने महाराष्ट्र और उसकी जनता, अजंता के विहारों और वहां के चित्रों के बारे में जो कुछ कहा है वह हमारे लिए बड़े महत्व का है। उसने राजा का नाम पुलकेशिन बतलाया है, उसे 'क्षत्रिय जाति' का कहा है। उसने लिखा है कि 'इस दानी राजा का राज्य बहुत बड़ा था। उसके सामंत पूर्ण राजभक्त थे।' जैसा हम देख चुके हैं कि उसे पुलकेशिन द्वारा हर्ष के सफल प्रतिरोध का पता था। वह लिखता है कि 'महाराष्ट्र की राजधानी के पश्चिम में एक बहुत बड़ी नदी बहती है। नगर का घेरा 30 ली (करीब 6 मील) से अधिक है। यह भड़ोच से करीब 200 मील (1000 ली) दक्षिण-पश्चिम में है। इस वर्णन से बादामी की ओर संकेत नहीं है। हां, संभवतः नासिक का अभिप्राय है जो युवाङ् च्वाङ् के समय में बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध केंद्र था। वह यहां कुछ समय तक रहा होगा। हो सकता है कि यहीं उसकी पुलकेशिन से मुलाकात भी हुई हो। इसीसे उसने इसे उसकी राजधानी समझ लिया होगा।[25]

युवाङ् च्वाङ् के जाने के थोड़े समय बाद ही अपनी तैयारियां पूरी कर एक बहुत बड़ी सेना के साथ पल्लव राजा नरसिंहवर्मन ने चालुक्यों पर आक्रमण कर दिया। वह चालुक्यों की राजधानी वातापी की ओर तेजी से बढ़ता गया और शीघ्र ही उसने नगर और किले पर अधिकार कर लिया। आघात क्षिप्र और गहरा था। इसके बाद पुलकेशिन का कुछ पता नहीं चलता। अतः हम यह मान सकते हैं कि इस युद्ध में उसने वीरगति पाई होगी। बादामी में मल्लिकार्जुनदेव के मंदिर के पिछवाड़े एक चट्टान पर अलंकृत पल्लवाक्षरों में नरसिंहवर्मन के तेरहवें राज्य वर्ष का एक खंडित लेख मिला है जिससे पता चलता है कि नरसिंहवर्मन ने अपने शत्रु की राजधानी वातापी पर अधिकार करके कांचीपुरम् पर दो-दो बार चढ़ जाने का बदला पुलकेशिन से कितनी बुरी तरह चुकाया होगा। दूसरे पल्लव अभिलेखों में इसी घटना का वर्णन इस रूप में मिलता है कि जैसे अगस्त्य ऋषि ने वातापी (राक्षस) का संहार किया था, वैसे ही नरसिंहवर्मन ने वातापी को नष्ट कर दिया। पुलकेशिन ने अपने नगर के मध्य में एक विजयस्तंभ स्थापित किया था, नरसिंहवर्मन ने उसे अपने अधिकार में कर लिया।

कुछ पता नहीं कि वातापी पर कितने समय तक पल्लवों का अधिकार रहा। वस्तुतः विजय अथवा राज्यापहरण तो नरसिंहवर्मन का उद्देश्य भी न था। वह तो पुलकेशिन को दो-दो बार उसकी राजधानी पर चढ़ आने का मजा चखाना चाहता था। पल्लवों के इस हमले से चालुक्यों के राज्य में कुछ समय के लिए अंधेरा छा गया और काफी बदअमनी फैल गई। इसका अंत सन् 654-55 ई० में विक्रमादित्य प्रथम के राज्यारोहण से हुआ।[26] इस अवधि में चालुक्यों के सामंत भी अपनी स्वतंत्रता घोषित करने लगे थे। अप्रैल 643 में विजयराज ने, जो लाट का शासक था, कैरावाला दानलेख जारी किया था।[27] इस दानलेख में स्थानीय कलचुरि संवत का प्रयोग हुआ है। यह विजयराज चालुक्य वंश का ही था और पुलकेशिन ने इसे लाट का शासक नियुक्त किया था, पर इसने अपने दानलेख में चालुक्य राजा का किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। इस अराजकता की अवधि की समाप्ति के आसपास का, सेंद्रक राजकुमार पृथ्वीवल्लभ निकुंभल्लशक्ति का कैरा का सन 655 का दानलेख है। इस लेख की शब्दावली से भी ऐसा लगता है कि वह स्वतंत्र राजा था। इन सेंद्रकों के बारे में हम जानते हैं कि वे कीर्तिवर्मन प्रथम के समय से ही चालुक्यों के बड़े राजभक्त सामंत थे। सामंतों के ये खुले या छिपे विद्रोह तो हो ही रहे थे, इस अवधि में स्वयं पुलकेशिन के बेटों में ही उत्तराधिकार को लेकर झगड़े चल रहे थे। सामंतों की भांति ये राजकुमार भी अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अपने शासन के इलाकों में अपना स्वतंत्र राज्य बना लेने की कोशिश कर रहे थे। इस प्रकार पुलकेशिन ने इतने परिश्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से जो साम्राज्य बनाया था वह टूट गया था। कर्नूल से आदित्यवर्मन के अधीन राज्य वर्ष का एक ताम्रपत्राभिलेख मिला है जिसमें वह अपने को पुलकेशिन द्वितीय का प्रिय पुत्र कहता है और उसने चालुक्य राजाओं की सभी उपाधियां धारण की हैं और इसमें वह यह कहता है कि उसने अपने भुजबल से सारी पृथ्वी को अपने वश में कर लिया है।[28] उसके राज्य के सावंतवाडी के नेरूर नामक स्थान में एक ताम्रपत्राभिलेख मिला है जो विक्रमादित्य के राज्य के पांचवें वर्ष का है। इस लेख में उसके बड़े भाई चंद्रादित्य पृथ्वीवल्लभ महाराज की प्रिय रानी विजय-भट्टारिका के एक दान का उल्लेख है।[29] स्पष्ट है कि जब यह दान दिया गया, चंद्रादित्य उस समय जीवित न था। परवर्ती चालुक्यों के लेखों में इस अवधि के बारे में काफी अस्पष्टता है। उनमें पुलकेशिन द्वितीय और विक्रमादित्य प्रथम के बीच दो पीढ़ियों का उल्लेख है। विक्रमादित्य प्रथम को ये आदित्यवर्मन का पुत्र बतलाते हैं। वास्तविक घटना प्रवाह का इशारा विक्रमादित्य प्रथम के राज्य के प्रारंभ के कतिपय लेखों में मिलता है।[30] इनमें विक्रमादित्य प्रथम यह दावा करता है कि उसने अपने पिता की राज्यलक्ष्मी को पुन: प्राप्त किया जिसे तीन राजाओं ने छिपा लिया था और उसने पुन: सारे साम्राज्य का बोझ एक व्यक्ति पर स्थिर किया। इस प्रकार जाहिर है कि साम्राज्य का बंटवारा हो चुका था जिसे विक्रमादित्य ने पुन: एक किया। आदित्यवर्मन और चंद्रादित्य संभवत: विक्रमादित्य के सौतेले भाई थे। उन तीन राजाओं में दो तो आदित्यवर्मन और चंद्रादित्य ही थे जिनके नामों का उल्लेख इस काल की सरकारी वंशावलियों में नहीं मिलता। तीसरा राजा संभवत: पल्लव राजा नरसिंहवर्मन था जिसके अचानक हमले से चालुक्यों की इस दुर्दशा का प्रारंभ हुआ था।[31] इस अशांति की अवधि में विक्रमादित्य को अपने नाना गंगों के राजा दुर्विनीत से सहायता मिली थी। संवत 999 (1077 ई०) के एक अभिलेख के अनुसार दुर्विनीत ने रावण की भांति पृथ्वी को त्रस्त करनेवाले (कांची के) काडुवेत्ति को कैद कर लिया था और अपने नाती को जयसिंह वल्लभ के आनुवंशिक सिंहासन पर बैठा दिया था। इस प्रकार वह सारे संसार में प्रबल हो गया।[32] पुलकेशिन के समय में गंग चालुक्यों के सामंत थे। चालुक्य सिंहासन पर विक्रमादित्य के बैठने के बाद उनकी स्थिति बदली न थी। दुर्विनीत को अपनी विधवा बेटी और नाती के हित का ध्यान था, पल्लवों ने उसके दामाद और उसके राज्य का ध्वंस कर दिया था, अपने प्रभु राजा की भक्ति भी उनके मन में रही होगी, इन्हीं सब कारणों से उसने विक्रमादित्य की मदद की होगी। यद्यपि हम लेख की सभी बातों को शब्दश: स्वीकार नहीं कर सकते तथापि इतना तो स्पष्ट है कि विदेशियों को अपने राज्य से खदेड़ने और उस राज्य की एकता और शक्ति को पुन: संगठित करने में विक्रमादित्य को अपने नाना दुर्विनीत से बड़े गाढ़े समय में बहुमूल्य सहायता मिली थी। लेखों के अनुसार विक्रमादित्य के प्रसिद्ध घोड़े चित्रकंठ ने अनेक युद्धों में अपने स्वामी को विजय प्राप्त कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही थी।

विक्रमादित्य प्रथम

विक्रमादित्य के अभिलेखों से पता चलता है कि उसके राज्य का आरंभ 634-5 ई० में हुआ था। सबसे पहले उसने प्रजा में विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा की और गृह-युद्ध से जो नागरिक प्रशासन की क्षति हुई थी उसे दूर करने की ओर ध्यान दिया। उसके बारे में कहा गया है कि मंदिरों और ब्राह्मणों को जो दान पहले से मिले हुए थे और 'जो उन तीनों राजाओं' के शासन-काल में वे अपास्त हो चुके थे या छीन लिए गए थे, उन सभी दानों को इस राजा ने पुन: वैध कर दिया और इस प्रकार प्रचुर पुण्य और यश अर्जित किया। फिर उसने हर जिले के राजाओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को जीतकर पुनः अपने वंश की लक्ष्मी प्राप्त की और 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की।[33] इस पुर्नविजय के विभिन्न चरणों के बारे में कोई ब्यौरा नहीं दिया गया है। अंधकार की उस अवधि में नेल्लोर और वेल्लारी, अनंतपुर और कडप्पा के जिले चालुक्यों के अधिकार से जाते रहे थे। किंतु विक्रमादित्य ने पुनः इस प्रदेश को जीत लिया। इसका प्रमाण विक्रमादित्य के कर्नूल के ताम्रपट्ट हैं जो उसके राज्य के तीसरे वर्ष में जारी हुए थे। कर्नूल से ही दूसरे लेख भी प्राप्त हुए है। विक्रमादित्य के राज्य के छठे वर्ष में जारी किए गए तलमंचि के ताम्रपट्ट पूर्वी तट के नेल्लोर 'तालुक' के हैं। विक्रमादित्य के शासन का एक प्रस्तर लेख अन्नवरम् से प्राप्त हुआ है।[34] जिसमें इस वात का उल्लेख है कि काडुवेट्टि ने एक पुराने दान में हस्तक्षेप किया था। इसी लेख में दान से संबद्ध किसी कार्य के लिए अन्नुवय्य की स्मृति में एक प्रतिमा की स्थापना का भी उल्लेख है। लेख में कुछ टूट आ गई है। इस प्रकार उसकी सेवा के उस कार्य का पता नहीं चलता। कुडप्पा जिले के कमलापुरम् 'तालुक' के तिप्पलूरू गांव से एक अन्य प्रस्तर लेख मिला है जो विक्रमादित्य सत्याश्रय के शासन के पहले वर्ष का है। इसमें पेण्णा नदी द्वारा विभक्त वाण राज्य के प्रदेश में शासन करते हुए पोर्मुखराम नामक एक सामंत का उल्लेख है।[35] यह पोर्मुख-राम मालेपाडु ताम्रपट्टों में उल्लिखित पुण्यकुमार ही है। इसके अतिरिक्त मालेपाडु से ही एक प्रस्तर लेख भी मिला है। इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि रेनांडु के तेलुगु चोल, जो महेंद्रवर्मन प्रथम के सामंत थे, अब चालुक्यों के सामंत बन गए थे और उनका स्थान चालुक्यों के प्रमुख सामंतों में था। उनकी उपाधि चोल महाराज थी। इस उपाधि से विदित हो जाता है कि उन्हें कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी। वस्तुतः वे करीब-करीब स्वतंत्र ही थे। किंतु उन राजाओं के विरुद—जैसे पृथ्वीवल्लभ, विक्रमादित्य, सत्यादित्य और पोरि—चालुक्यों से उनके राजनैतिक, और हो सकता है कि वंशसंबंध के भी सूचक हैं। अंत में अर्कटवेमुल (जम्मलमदुगु तालुक, कुडप्पा जिला) के दो लेख भी, जिनमें एक में श्रीवल्लभ महाराज का उल्लेख है, विक्रमादित्य के ही राज्यकाल के हैं।[36] इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने राज्यारोहण से पूर्व और उसके तुरंत वाद विक्रमादित्य अपने प्रयत्नों से बेल्लारी, अनंतपुर और कडप्पा जिलों और नेल्लोर में चालुक्यों की शक्ति को पुनःस्थापित करने में सफल हो गया था। इसी प्रकार की सफलता उसे एक अन्य दिशा में भी मिली जिसकी पुष्टि 671 ई० के धाराश्रय जयसिंह वर्मन के नौसारी (बड़ौदा जिला) के ताम्रपट्टों से होती है।[37] इस राजकुमार की प्रतिष्ठा और समृद्धि उसके बड़े भाई विक्रमादित्य की कृपा के कारण थी। इस लेख में उल्लिखित दान धाराश्रय के पुत्र ने दिया है जिसे 'सात्याश्रय शीलादित्य युवराज' कहा गया है। इस लेख के दान से विदित होता है कि चालुक्यों की गुजरात की शाखा भी अब वैसे ही अलग हो रही थी जैसे विक्रमादित्य के पिता के काल में विष्णुवर्धन की पूर्वी चालुक्यों की शाखा अलग हुई थी।

धाराश्रय के नौसारी के ताम्रपट्टों में विक्रमादित्य की सिर्फ एक सफलता का उल्लेख है कि उसने अपने पौरुष से पल्लवों के राजवंश को अपने अधीन किया।[38] अभिलेख में इसका उल्लेख जिस प्रकार हुआ है उससे यही लगता है कि यह अभी हाल की घटना थी या लेख लिखते समय तक पूर्ण नहीं हुई थी। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि अपने शासन के 16वें वर्ष अर्थात् ई० 670-71 में विक्रमादित्य कांचीपुरम् के पश्चिम में स्थित मल्लि-यूर के 'महास्कंधावार' में था।[39] फिर 'चोलिक' विषय के उरगपुर विजय-स्कंधावार से जारी किए गए गड़वाल के ताम्रपट्ट भी हैं। उरैयूर कावेरी के दक्षिणी किनारे पर है।[40] इन ताम्रपट्टों से विक्रमादित्य के पल्लव आक्रमण के ब्यौरों का पता चलता है। इन ब्यौरों का पल्लवों के अभिलेखों के साथ अध्ययन करना चाहिए। गड़वाल के ताम्रपट्टों में चार छंद ऐसे हैं जो इसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहले के लेखों में नहीं मिलते।[41] इनमें पल्लव युद्ध का वर्णन है। इनमें पहले छंद के अनुसार श्रीवल्लभ ने नरसिंह की सेनाओं का मानमर्दन किया, महेंद्र के शौर्य को नष्ट किया और ईश्वर को एक दृष्टि में ही अधीन कर लिया। यहां पल्लवों की तीन पीढ़ियों—नरसिंहवर्मन प्रथम, महेंद्रवर्मन द्वितीय और परमेश्वर वर्मन प्रथम का उल्लेख है। इसमें श्लेष है कि इन राजाओं को जीतकर उसने नरसिंह, महेंद्र और ईश्वर नामक तीनों देवताओं को भी पीछे छोड़ दिया।[42] दूसरे छंद के अनुसार लक्ष्मी के श्रीवल्लभ अर्थात् वल्लभ ने दक्षिण की दिशा की देवी के बलात् ग्रहण और कांची पर अधिकार करके अपना नाम और सार्थक कर दिया। यह नगरी देवी की मेखला की भांति थी। तीसरे छंद में इस रणरसिक ने ठीक ही राजमल्ल की उपाधि धारण की थी क्योंकि उसने महामल्ल अर्थात् नरसिंहवर्मन के वंश को समाप्त कर दिया था। अंतिम छंद में कांची की रक्षा व्यवस्था, उसके परकोटे की मजबूती और नगर की परिखा की गहराई का वर्णन है। इसमें यह भी कहा है कि ईश्वर पोतराज के विजेता ने नगर जीत लिया था। इस प्रकार पहले के दोनों छंदों के भावों की तीसरे और चौथे छंदों में पुनरुक्ति हुई है। अब हमें सिक्के का दूसरा पहलू देखना है। परमेश्वरवर्मन के कूरम दानपत्र में पहले तो एक युद्ध का लंबा और उबा देनेवाला वर्णन है। फिर यह कहा गया है कि परमेश्वरवर्मन ने विक्रमादित्य को, जिसके साथ लाखों सैनिक थे, सिर्फ अकेले एक जर्जर वस्त्र पहने मैदान से भाग जाने को विवश कर दिया।[43] बाद के लेखों में कहा गया है कि परमेश्वरवर्मन ने पेरूवलनल्लूर के युद्ध में वल्लभ को पराजित कर दिया था।[44] कहा गया है कि उसने रणरसिक की सेना के पंक को सुखा दिया था[45] और कि उसने रणरसिक की नगरी का मर्दन किया था।[46] यहां रणरसिक की नगरी से अभिप्राय निस्संदेह 'बादामी' से ही है।

तमिल काव्य 'पेरियपुराणम्' (ई० बारहवीं शताब्दी) में एक छंद है जिसमें तमिल सेनापति परंजोति अपरनाम शिरुत्तोंडर के नेतृत्व में वातापि पर किए गए एक आक्रमण का वर्णन है जिसे सेनापति ने लूट लिया था। बाद में वहां से प्राप्त प्रचुर धन उसने अपने स्वामी के चरणों में अर्पित कर दिया था।[47] 'पुराणम्' में राजा का नाम नहीं दिया है। पुराने इतिहास-लेखक वातापि पर शिरुत्तोंडर के आक्रमण का संबंध नरसिंहवर्मन प्रथम से जोड़ते थे किंतु बाद की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह आक्रमण एक परवर्ती पल्लव राजा के शासनकाल में हुआ था।

वैष्णव संत कवि तिरुमंगै आलवार ने नांगूर के सैनिकों द्वारा शक्तिशाली पांड्य और उत्तर के राजा के पराजित किए जाने का वर्णन किया है जिसमें ये राजा एक-एक कर युद्धभूमि से भाग गये।[48] नांगूर (तंजौर जिले) के सैनिक पल्लव सेना के अंग थे। इसमें उत्तर के राजा के उल्लेख में कूरम के ताम्रपट्टों में वर्णित पेरुपलनल्लूर के युद्ध के वर्णन की अनुगूंज है। यदि यह सही हो तो हमें यह मानना होगा कि तत्कालीन पांड्य राजा अरिकेसरी परांकुश मारवर्मन (670-710) विक्रमादित्य प्रथम का मित्र था और वह भी अपने मित्र के साथ पराजित हुआ था। उस समय दक्षिण भारत की जैसी राजनैतिक स्थिति थी, उसमें इस बात की पर्याप्त संभावना थी। पांड्यों और पल्लवों की प्रतिद्वंद्विता का प्रारंभ अरिकेसरी के राज्य-काल से ही हो गया था और वह काफी अर्से तक चलती रही। पल्लवों के दोनों शत्रुओं—चालुक्यों और पांड्यों—में मित्रता स्वाभाविक थी।

हम मोटे तौर पर घटनाओं का क्रम बतला सकते हैं। विक्रमादित्य ने नरसिंहवर्मन के विरुद्ध जो सफलताएं प्राप्त की थीं, जिनके ब्यौरे हमें उपलब्ध नहीं हैं, वे उस काल की हैं जब वह सिंहासन पर नहीं बैठा था। संभवतः इनका सिलसिला उसके गद्दी पर बैठने के बाद भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ समय तक चलता रहा। महेंद्रवर्मन द्वितीय का शासन अल्पावधि का रहा और उसमे कोई महत्व की घटना नहीं हुई। किंतु उसका नाम भी चालुक्यों के शत्रुओं में शामिल है। इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि चालुक्यों का हमला उसीके शासन में शुरू हुआ।[49] मल्लियूर (वांडिवाश तालुक में मलैयूर) का स्कंधावार और कांची पर अधिकार परमेश्वरवर्मन के शासन के प्रारंभिक वर्षों की घटनाएं हैं। यह हमला संभवतः पश्चिमी दिशा से गंगों का क्षेत्र पार करके हुआ था। मल्लियूर के महास्कंधावार से विक्रमादित्य ने जो ताम्र शासन जारी किया था वह गंगों के राजा माधव की प्रार्थना पर जारी हुआ था। यह माधव विक्रमादित्य के बड़े भाई रणरागवर्मन का दामाद था। इस भाई का अन्यत्र कोई पता नहीं मिलता। हमें यह भी मालूम है कि चार साल बाद के गड़वाल के ताम्र शासन गंग महादेवी की प्रार्थना पर जारी हुए थे। गंग महादेवी संभवतः विक्रमादित्य की माता थी। परमेश्वरवर्मन कांची से बचकर भाग गया था। उसने राजधानी के उद्धार और आक्रामक को वहां से खदेड़ने के लिए राज्य के अन्य भागों से सैनिक एकत्र किए। आक्रामक का ध्यान राजधानी से हटाने के लिए उसने शिरुत्तोंडर के सेनापतित्व में चालुक्यों के देश पर हमला करा दिया ताकि जो निर्णायक युद्ध हो उसमें शत्रु की सेनाएं बंटी रहें। यह लड़ाई गड़वाल ताम्र शासन जारी होने (अप्रैल 674 ई०) के आसपास त्रिचनापल्लि जिले में लालगुडि तालुक के पेरुवलनल्लूर में हुई। कूरम के दानलेख में परमेश्वर ने इस संबंध में जो अतिरंजित दावे किए हैं उन्हें सही नहीं माना जा सकता, किंतु इसमें शक की गुंजाइश कम ही है कि पल्लव राजा का उद्देश्य पूरा हो गया था और आक्रामक को कांची छोड़कर अपने राज्य में वापस जाना पड़ा था। इस प्रकार पल्लव फिर से कुछ समय के लिए अपने भाग्यविधाता रह गए।

विक्रमादित्य काफी अर्से तक दक्षिण में व्यस्त रहा। इस बीच राजधानी में उसका पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य शासन करते रहे। उन्होंने शिरुत्तोंडरे की सेनाओं को खदेड़ दिया। किंतु इसके लिए उन्हें कड़ी लड़ाई करनी पड़ी थी। पल्लव संभवतः वातापी तक आए थे और उन्होंने उसे लूट भी लिया था। विनयादित्य के बारे में कहा गया है कि उसने अपने पिता की आज्ञाओं का पालन कर कांचीश्वर की सेनाओं की बाढ़ को उसी प्रकार रोक दिया था जैसे कुमार ने शिव की आज्ञा से असुरों की सेनाओं को रोक दिया था। इस बीच विक्रमादित्य का पौत्र भी अपने दादा के दक्षिण के अभियान में व्यस्त होने के काल में राज्य के सभी कंटकों का नाश करने में सफल हुआ था।[50] इसके आगे यह भी कहा गया है कि विनयादित्य ने सभी प्रांतों को संतुष्ट कर अपने पिता को प्रसन्न किया था। इससे यही अनुमान होता है कि पल्लवों के आक्रमणों से चालुक्य राज्य में अव्यवस्था फैल गई थी। इस प्रकार कतिपय वर्षों तक विक्रमादित्य उसके बेटे विनयादित्य और पोते विजयादित्य अपने देश और विदेश के कार्यों में पूरी तरह व्यस्त रहे होंगे। किंतु इनका राज्य इस परीक्षा में खरा उतरा और वह अक्षुण्ण बना रहा। उधर पल्लवों पर आक्रमण करने के बाद कुछ भी हाथ नहीं लगा था। दक्षिण में पल्लव अब भी अपना अधिकार दृढ़ता से बनाए रहे।

बाद के अभिलेखों में[51] विक्रमादित्य के शौर्य, उसकी उन पल्लवों पर विजय, जिन्होंने (चालुक्यों के) निर्मल चंद वंश पर धब्बे लगा दिए थे, और कांचीपुरम् पर अधिकार, उसकी पांड्य, चोल, केरल, कलभ्र और अन्य राजाओं की विजय की प्रशंसा भरी पड़ी है। कहा गया है कि उसने उस कांची-पति का मस्तक अपने चरण कमलों में झुकाया था, जिसने कभी किसी के आगे अपना मस्तक नहीं झुकाया था और जो तीनों समुद्रों से परिवेष्टित भूमि का स्वामी था। इनमें जो भी नई बात कही गई है वह इतिहास नहीं है। तत्कालीन अभिलेखों के प्रमाणों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के आधार पर इन विशेषोक्तियों में से इतिहास का अंश निकालकर हम ऊपर दे चुके हैं।

विनयादित्य

विक्रमादित्य प्रथम के बाद उसका बेटा विनयादित्य गद्दी पर बैठा। उसके लेखों में उसके राज्य वर्ष की गणना दो विभिन्न तारीखों से होती है।[52] लेखों में कुछ में उसके राज्य का प्रारंभ 2 जून से 4 जुलाई 681 ई० के बीच और कुछ में 18 जुलाई 678 से 2 जुलाई 679 के बीच हुआ है। इस भेद का खुलासा आसान नहीं। कहा गया है कि पहलेवाले दिन वह युवराज हुआ था जबकि बाद वाली तिथि को वह राजा हुआ होगा। किंतु हम देख चुके हैं कि जब उसका पिता दक्षिण के युद्धों में फंसा था तो उसकी अनुपस्थिति में वही राज-काज देखता था। अतः वह 679 से पहले युवराज हो चुका था। विनयादित्य ने 696 ई० तक राज्य किया। विनयादित्य के लेख पर्याप्त संख्या में मिले हैं। इन लेखों से यही प्रतीत होता है कि उसका राज्य समृद्धि और शांति से पूर्ण था। राजा राजकाज में सक्रिय भाग लेता था। वह बराबर घूमता रहता था। राज्य के विभिन्न भागों में उसके स्कंधावार लगते थे। उसका एक स्कंधावार 'पंपातीर्थ' में लगा था। यह स्थान 'रामायण' और विजयनगर के इतिहास में भी प्रसिद्ध था। सेंद्रक, आलुप आदि उसके सामंत बड़े स्वामिभक्त थे। राजकाज में उसका योग्य बेटा विजयादित्य भी उसकी सहायता करता था। विजयादित्य की माता विनयवती उसकी रानी थी। पति की मृत्यु के बाद भी वह जीवित रही। सन 696 में उसने वातापी में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की प्रतिमाओं की स्थापना की थी।[53]

उसके लेखों में कहा गया है उसने आलुपों और गंगों की भांति पल्लवों, कलभ्रों, केरलों, हैहयों, विलों, मालवों, चोलों, पांड्यों आदि को अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया था। इस प्रकार के कथन जिनके कोई ब्योरे न दिए गए हों, राजकवियों की कल्पना की उपज होते हैं। इतिहासकार इनपर इसी रूप में विचार भी करते हैं। विजयादित्य के राज्य-काल (703 ई०) के रायगढ़ के ताम्रशासन में[54] विनयादित्य के उत्तरी अभियान का वर्णन है जिसमें इसके पुत्र विजयादित्य ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। इस काल के बाद के सभी लेखों में इस घटना की पुनरावृत्ति हुई है। इस वर्णन के प्रारंभ में जो कुछ कहा गया है उससे इस घटना की सच्चाई में संदेह होता है। कहा गया है कि विनयादित्य ने कावेर, पारासिक, सिंहल आदि 'द्वीपों' के राजाओं से कर वसूल किया। इसके बाद के वर्णन में एक अंश विनयादित्य से संबंध रखता है और शेष का विजयादित्य से संबंध है। पिता ने अपने लिए 'पालिध्वज' (कतारों में झंडे लगाने की एक रीति)[55] और उत्तर के राजाओं को मथकर सर्वोच्च प्रभुसत्ता के चिह्न प्राप्त किए थे। पुत्र के बारे में कहा है कि जब उसके पिता ने उत्तर को जीतने की कामना की तो पिता के साथ साथ पुत्र भी युद्ध में शामिल हुआ। शत्रुओं के हाथियों पर निरंतर प्रहार करने से उसकी तलवार कुंठित हो गई थी और धर्मयुद्धों में रुचि रखने के कारण उसने युद्ध में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था, उसने अपने शत्रुओं को युद्ध से खदेड़ दिया था। उसने अपने पिता को गंगा और यमुना की प्रतिमाएं, 'पालिध्वज', 'ढक्का' (ढोल) 'पंच महाशब्द', पद्मरागमणि और मस्त हाथी भेंट किए थे। विजयादित्य के उत्तरी अभियान के इस अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालने में अभी तक कोई भी लेखक सफल नहीं हुआ है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख उसके बेटे के लेख में मिलता है जिसका यशोगान प्रशस्ति के इस अंश का मुख्य उद्देश्य है। तथापि प्रारंभिक राष्ट्रकूट अभिलेखों में[56] यह बतलाया गया है कि चालुक्यों ने किसी वज्रट के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी। यह वज्रट संभवतः कोई उत्तर भारत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का राजा रहा होगा। इन सभी कथनों का आधार यही होगा। इस वज्रट की पहचान अभी ठीक-ठीक नहीं हो पाई है।

विजयादित्य

विजयादित्य जुलाई 696 ई० में गद्दी पर बैठा था।[57] बादामी काल में उसका शासन सभी राज्य-कालों से लंबा था। संभवतः यह सबसे समृद्धिशाली और शांतिपूर्ण भी था। उसने अपने पितामह के अधीन अपनी चर्या प्रारंभ की थी। विक्रमादित्य एक बड़ा योग्य शासक और कुशल सैनिक था। उसके अधीन उसके बेटे विनयादित्य और पोते विजयादित्य की शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वस्तुतः विक्रमादित्य ने ही उस समृद्धि और शक्ति की नींव रखी थी जो उसके बेटे और पोते के राज्य-कालों में फलित हुई। अभिलेखों में उत्तर के अभियान के अतिरिक्त उसके शासन की दूसरी एक ही घटना का उल्लेख है जो पहली की घटना की ही भांति अस्पष्ट है। एक बार भागते हुए शत्रुओं ने किसी प्रकार उसे पकड़ लिया था और अपने साथ उठा ले गए थे। भगवान की यही इच्छा थी। फिर आनुषंगिक रूप से यह कहा गया है कि उसने अपने बाहुबल से जनता में व्याप्त अराजकता का अंत किया (जो संभवतः उसकी अनुपस्थिति के कारण पैदा हो गई थी)। फिर वत्सराज की भांति बिना किसी बाहरी सहायता के वह कैद से निकल भागा था। इसमें बतलाना कठिन होगा कि दंतकथाओं के विश्रुत नायक वत्सराज से उसकी तुलना के अलावा सत्य क्या है? ये शत्रु कौन थे जो उसे पकड़ ले गए थे और यह घटना कब हुई, इस संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि उसके अभिलेखों में 10 वर्षों का अंतराल अवश्य है। यह अंतराल उसके दसवें से तेईसवें राज्यवर्ष के बीच है।

अपने पितामह की भांति विजयादित्य ने भी अपने बेटे विक्रमादित्य द्वितीय को शासन का कुछ भार सौंपा था। अभी हाल ही में प्राप्त विजयादित्य के 35वें राज्यवर्ष के उल्चल के प्रस्तराभिलेख में युवराज विक्रमादित्य के कांची के अभियान से लौटने का वर्णन है। इसके अनुसार उसने पल्लव परमेश्वरवर्मन द्वितीय से कर प्राप्त किया था। निस्संदेह इस लेख में विक्रमादित्य के कांची के विरुद्ध उन तीन अभियानों में लोक महादेवी के पट्टदकल से प्रथम का वर्णन है जिनका वर्णन अतिथिक लेख में मिलता है।[58] पट्टदकल से एक दूसरा लेख भी मिला है। उसपर भी कोई तिथि नहीं है।[59] इस लेख में लोकपालेश्वर मंदिर में अनंतगुण की प्रतिमा को पिता और पुत्र के एक सम्मिलित दान का उल्लेख है। यह मंदिर 'आस्थान' (दरबार) के 'देवाचार्य' अंजनाचार्य ने बनवाया था। इसी प्रकार नेरूर के ताम्र शासन में भी पिता और पुत्र के सम्मिलित दान का उल्लेख है। इस लेख पर भी कोई तिथि नहीं है। इसमें पिता-पुत्र की अन्य उपाधियों के साथ-साथ पिता ने भट्टारक की भी उपाधि धारण की है। यद्यपि विजयादित्य का शासन काफी लंबा था तथापि उस हिसाब से उसके लेखों की संख्या कम है। इन लेखों में भी उसके विभिन्न स्कंधावारों के उल्लेख हैं। दसवें वर्ष में वह एलापुर (एलोरा) में था, बाइसवें वर्ष में हतमपुर में[60] और चौंतीसवें वर्ष में वह रक्तपुर (लक्ष्मेश्वर) के स्कंधावार में था। उसके सामंतों में बाण,[61] रेनडु के तेलुगु-चौड[62] प्रसिद्ध थे। दानवुल पाडु (कडप्पा जिला) के अभिलेख में उसके भूपादित्य नामक सामंत का उल्लेख है।[63] इसी प्रकार उसके दसवें वर्ष के नेरूर दानलेख में उसके उपेंद्र नाम के एक सामंत का नाम आया है।[64] इस काल के अन्य चालुक्य राजाओं की भांति उसने भी सत्याश्रय श्रीपृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर भट्टारक की उपाधि धारण की थी। इसके अतिरिक्त उसके उत्तराधिकारियों के लेखों में उसे 'समस्त भुवनाश्रय' भी कहा गया है। 'शक्तित्रय' के स्वामी, शत्रुओं के मानमर्दन करने और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसिद्ध दानी और निर्मल चरित्र होने के कारण उसको यह उपाधि प्राप्त हुई थी।

विजयादित्य ने पट्टदकल के विशाल शिव मंदिर का निर्माण कराया था। इसके नाम पर ही इस मंदिर का विजयेश्वर नाम पड़ा था।[65] अब इस मंदिर का नाम संगमेश्वर है। उसका यह नाम कीर्त्तिवर्मन के राज्य काल में पड़ा होगा क्योंकि इस मंदिर में एक स्तंभ पर उसका एक लेख है[66] जिसका प्रारंभ हर-गौरी संगम की प्रार्थना के एक छंद से होता है। उसका एक लेख जो महाकूट से मिला है मानवीय दृष्टि से बड़े महत्व का है। इसमें उसकी एक चहेती रक्षिता वीणापोटिगल का उल्लेख है जिसने 'हिरण्य गर्भ दान' दिया था। और देवता को अन्य मूल्यवान वस्तुएं—जैसे पद्मराग से जड़ा एक पीठ, जिसपर चांदी का एक छत्र लगा था, और 800 इकाई के रकबे का मगलुल्ले नाम का एक खेत—दान में दिया था। एक अभिलेख में विजयादित्य की एक बहन कंकुमदेवी का भी उल्लेख आया है।[67]

विक्रमादित्य द्वितीय

विक्रमादित्य द्वितीय 733-34 ई० में अपने पिता के सिंहासन पर बैठा। उसके शासन के प्रारंभ के वर्षों में अरबों के हमले का वास्तविक खतरा था। मुख्य शाखा के अभिलेखों में हमें इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, तथापि लाट के धाराश्रय जयसिंहवर्मन के पुत्र अवनिजनाश्रय पुलकेशिन के नौसारी के दानलेख[68] में (739 ई०) इस संबंध में बड़े काम की सूचना मिलती है। गुजरात पर ताजिकों अर्थात अरबों ने भयंकर हमला किया था। वे इससे पूर्व सैंधव, कच्चेल, सौराष्ट्र, चावोटक, मौर्य और गुर्जर राजाओं का ध्वंस कर चुके थे। दकन की विजय की कामना से उन्होंने नवसारिका जिले पर कब्जा करने की कोशिश की, किंतु पुलकेशिन ने बड़ी वीरता से उनकी बाढ़ रोककर उन्हें गुर्जर देश से बाहर खदेड़ दिया। उसने उनके कुछ प्रदेश जीत कर चालुक्य राज्य में मिला लिए। चालुक्य राजा ने अपने वंश के इस योग्य सामंत की सेवाओं का उचित सम्मान करते हुए उसे 'अवनिजनाश्रय' आदि अनेक उपाधियां दीं। विक्रमादित्य प्रथम ने उत्तरी सीमाओं की रक्षा के लिए जो बुद्धिमत्तापूर्ण नीति बनाई थी और जिसका ईमानदारी से पालन उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया था, उसकी सफलता इस प्रकार सिद्ध हो गई।

इसके बाद शीघ्र ही विक्रमादित्य ने कांची के पल्लव राजा नंदिवर्मन द्वितीय पल्लव-मल्ल के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उसके शासनकाल में इसका एकमात्र उल्लेख बिना तिथिवाले पट्टदकल के अभिलेख में है जिसमें यह बताया गया है कि विक्रमादित्य की महारानी लोक-महादेवी थी और विक्रमादित्य के महारानी लोकमहादेवी का उसके द्वारा तीन-तीन बार कांची को रौंदा गया था। किंतु कीर्तिवर्मन द्वितीय के केंदूर और वक्कलेरि के ताम्रपत्राभिलेखों में इनमें से दो अभियानों के ब्यौरे एक ही शब्दावली में दिए हैं। इस वर्णन की पुष्टि कांची के राजसिंहेश्वर (कैलाशनाथ) के मंदिर में एक स्तंभ पर कन्नड़ लिपि में खुदे विक्रमादित्य के एक लेख से हो जाती है। पल्लव अभिलेखों में इस महत्वपूर्ण घटना का कोई जिक्र नहीं है। ज्ञात होता है कि दिग्विजय के बाद विक्रमादित्य के हौसले बढ़े हुए थे, अतः उसने अपने कुल के वैरी पल्लवों का नामोनिशान मिटा देने का निश्चय किया। वह तुंडाक देश तक पहुंच गया। पल्लवों का राजा नंदिपोतवर्मन उसके मुकाबले के लिए आगे आया किंतु विक्रमादित्य से पराजित होकर भाग गया। विक्रमादित्य ने उसके रणवाद्य कुटुमुखवादिर और समुद्रघोष तथा षट्वांगध्वज, युद्ध के अनेक उत्तम हाथी और मनों रत्न छीन लिए। कांची में उसे बिना किसी प्रकार की क्षति पहुंचाए, उसने प्रवेश किया। वहां ब्राह्मणों और दीन-दुखियों को प्रभूत दान देकर उन्हें प्रसन्न किया। कांची में नरसिंहपोतवर्मन ने पत्थर का एक विशाल मंदिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजसिंहेश्वर नाम से बनवाया था। विक्रमादित्य ने इस मंदिर को तथा अन्य मंदिरों को उनका ढेरों सोना लौटा दिया। इस वर्णन के बाद लेखों में एक बड़ा भारी भरकम अनुच्छेद आता है जिसमें यह कहा गया है कि विक्रमादित्य ने पांड्य, चोल, केरल, कलभ्र आदि राजाओं को संतप्त किया तथा दक्षिण समुद्र तक फैले अपने यश को चिरजीवी बनाने के लिए एक विजय स्तंभ की स्थापना की। विक्रमादित्य के कांचीपुरम अभिलेख के अनुसार उसने कांची को हस्तगत कर लिया था और राजसिंहेश्वर की अतुल संपत्ति को देखकर वह अति हर्षित हुआ था। उसने देवता की संपत्ति वापस कर दी। अभिलेख के अंत में लिखा है कि लेख वल्लभ-दुर्जय की आज्ञा से लिखा गया।[70]

अभिलेख तो अपने में स्पष्ट हैं और उनपर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। चढ़ाई विक्रमादित्य ने की थी। चालुक्यों के मन में पल्लवों के वातापी पर अधिकार कर वहां नगर के मध्य के एक विशाल मंदिर में नरसिंहवर्मन द्वारा अभिलेख लिखाने का शूल चुभ रहा था। शत्रुओं को उसी का बदला चुकाने के लिए उसने अपनी भाषा में पल्लवों की राजधानी के सबसे विशाल और सुंदर मंदिर में एक लेख लिखवाया। नरसिंहवर्मन द्वितीय और विक्रमादित्य के मध्य यह युद्ध किस जगह हुआ था, इसका हमें पता नहीं है। न हमें यही ज्ञात है कि चालुक्य किस रास्ते से आए थे। नेल्लोर जिले के गूडूर तालुक में मल्लम में मिले नंदिवर्मन के पंद्रहवें वर्ष के एक अभिलेख में आलुवस्सर की प्रार्थना पर चलुक्कि अरसर की आज्ञा से एक मंदिर को सोने के दान का उल्लेख है। इससे यह अनुमान होता है कि इसी रास्ते से विक्रमादित्य आया होगा या फिर वापस गया होगा।[71] हम उसके इस दावे को मान सकते हैं कि उसने राजधानी और उसके मंदिरों को कोई क्षति नहीं पहुंचाई होगी। अतः यह अनुमान भी होता है कि नरसिंहवर्मन ने करीब सौ साल पहले वातापि पर जो अधिकार किया था, उसमें भी इसी प्रकार कोई ध्वंस नहीं हुआ था।

इसके कुछ समय बाद विक्रमादित्य के बेटे कीर्तिवर्मन द्वितीय ने फिर से पल्लवों पर आक्रमण किया। कीर्तिवर्मन के बारे में कहा जाता है कि जब वह बालक था तो उसी अवस्था में उसने समस्त आयुधों और अपनी इंद्रियों को वश में कर लिया था। पुत्र के अनेक गुणों से प्रसन्न होकर पिता ने उसे 'युवराज' बना दिया था। पुत्र ने अपने कुल के बैरी कांची के राजा का दमन करने की आज्ञा मांगी। इसके बाद ही वह युद्ध को निकल पड़ा। पल्लवों का राजा आमने-सामने युद्ध करने से डरकर एक किले की दीवारों के पीछे छिप गया। कीर्तिवर्मन ने किले को घेर लिया। अंत में शत्रु ने समर्पण कर दिया। युद्ध में जीते अनेक हाथियों और शत्रु से प्राप्त प्रभूत सोने और रत्नों के भंडार के साथ पुत्र वापस आया और उसने वह सब पिता के चरणों में अर्पित कर दिया। यह एक सफल धावे से अधिक न था। यह विक्रमादित्य के शासन के अंतिम वर्षों की घटना है। उस समय पल्लवों का राजा नंदिवर्मन पल्लवमल्ल ही था। विक्रमादित्य की महारानी द्वारा बतलाया गया यह पल्लवों पर तीसरा आक्रमण था।

विक्रमादित्य की दो रानियां थीं। ये दोनों हैहय (कलचुरि) वंश की राजकुमारियां और सगी बहनें थीं। इन दोनों ने अनेक मंदिर बनवाए थे और पुण्य के अन्य कार्य किए थे। इनमें लोकमहादेवी बड़ी थी। उसने लोकेश्वर के पत्थर के विशाल मंदिर का निर्माण कराया था। अब यह विरूपाक्ष के मंदिर के नाम से विख्यात है। पट्टदकल में उसके श्वसुर ने जिस विजयेश्वर मंदिर का निर्माण कराया था, यह मंदिर उसके दक्षिण में स्थित है।[72] यह मंदिर वहां पहले से था। शायद तब वह एक छोटा सा मंदिर रहा होगा क्योंकि लोकमहादेवी ने विजयादित्य द्वारा 'गंधर्वों' (संगीतकारों) को पहले से दिए गए अधिकारों ('पूर्वमर्यादेगल')

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की पुष्टि की थी।[73] इस मंदिर के वास्तुक का नाम श्री गुंडन अनिवारिताचारि था। उसको सम्मानसूचक अनेक उपाधियां और अन्य अधिकार मिले थे। लोकमहादेवी ने मंदिर के नाम नरेंगल्ल 50 के जिले की आमदनी कर दी थी।[74] छोटी महारानी का नाम त्रैलोक्यमहादेवी था। कीर्तिवर्मन द्वितीय की माता वही थी। त्रैलोक्यमहादेवी ने भी पत्थर का एक विशाल मंदिर वनवाया था जिसका नाम त्रैलोक्येश्वर था। यह विजयेश्वर मंदिर के उत्तर में स्थित था। अब यह मंदिर शेष नहीं है। विजयेश्वर मंदिर के पश्चिम में एक स्तभ पर एक लेख खुदा है जिसमें इन तीनों मंदिरों की स्थिति का ठीक-ठीक वर्णन है। यह लेख शुभदेव अपरनाम ज्ञानशिवाचार्य ने खुदवाया था। वह गंगा के उत्तरी किनारे पर स्थित मृगथणिकाहर विषय का रहनेवाला था। उसने अपनी कुटिया के सामने यह लेख खुदवाया था, उसकी कुटिया इन तीनों मंदिरों के बीच में थी। शुभदेव विजयेश्वर भट्टारक का आश्रित था। जाहिर है कि वह मंदिर का पुजारी था जिसे विजयादित्य ने विजयेश्वर मंदिर के बन जाने पर उत्तर भारत से बुलाकर नियुक्त किया था। विजयेश्वर मंदिर इस समय संगमेश्वर मंदिर के नाम से विख्यात है। लक्ष्मेश्वर और ऐहोल के अभिलेखों से पता चलता है कि विक्रमादित्य द्वितीय के काल में अन्यत्र भी प्रचुर मात्रा में निर्माण-कार्य हुए थे।[75]

अपने पिता की मृत्यु के बाद 744-45 ई० में कीर्तिवर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा था।[76] उसके पिता के राज्यकाल की भांति उसके शासन में भी निर्माणकार्य होते रहे। आडूर और अन्निगेरे के अभिलेखों में जैन मंदिरों के निर्माण और उनमें अक्षयनिधियों की स्थापना का उल्लेख है।[77] आडूर के लेख के माधवत्ति की भांति सिंद, सेंद्रक आदि अनेक सामंत पूर्ण निष्ठा के साथ उसकी सेवा करते रहे। वह स्वयं राजधर्म का पूरा-पूरा पालन करता था। अपने शासन के चौथे वर्ष में (ऐनुली ताम्रपत्राभिलेख) और पुनः ग्यारहवें वर्ष (वक्कलेरि दानलेख) में वह भी भीमा नदी के किनारे स्कंधावारों में था। कीर्तिवर्मन बादामी काल का अंतिम चालुक्य राजा था। जैसा कि परवर्ती चालुक्यों के अभिलेखों से विदित होता है, 'उसके राज्यकाल में चालुक्य वंश की राज्यलक्ष्मी पृथ्वी से तिरोहित हो गई।' उसके शासन को राष्ट्रकूटों से खतरा पैदा हुआ था। इस काल में दकन के विभिन्न स्थानों में इस नाम के कई छोटे-मोटे राजाओं के लेख मिले हैं। शिवराज के पुत्र गोविंदराज, विक्रमादित्य द्वितीय (743 ई०) के नरवण दानलेख की 'विज्ञप्ति' की भांति इनमें से कुछ तो निश्चय ही चालुक्यों के सामंत थे।[78] नरवण रत्नागिरि जिले के चिपलुण 'तालुक' में एक गांव है। कीर्तिवर्मन द्वितीय को उखाड़ फेंकनेवाला राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग था। उसी ने मान्यखेट के राष्ट्रकूटों के राजवंश की स्थापना की थी। दंतिदुर्ग के पिता का नाम इंद्र और माता का नाम भवगणा था। भवगणा एक चालुक्य राजकुमारी थी जिसका केरा[79] (खेटक) के युद्धक्षेत्र में इंद्र ने बलपूर्वक वरण किया था। कोल्हापुर क्षेत्र से दंतिदुर्ग का सामनगढ़ दानलेख प्राप्त हुआ है। यह लेख 753-54ई० का है।[80] इस लेख में गत घटना के रूप में चालुक्य शासन की समाप्ति का उल्लेख हुआ है। इस संबंध में दो छंद हैं। एक श्लोक में कहा गया है कि दंतिदुर्ग ने अजेय रथों पर सवार अपने चुने हुए अनुयायियों की सहायता से कर्णाटकों की उस शक्तिशाली सेना का आसानी से संहार कर दिया जिसने कांची, केरल, चोल, पांड्य, श्रीहर्ष और वज्रट राजाओं को हराया था। दूसरे छंद के अनुसार शत्रु सेनाओं का सामना होते ही बिना युद्ध किए वल्लभ ने हार मान ली और उसे प्रभुसत्ता सौंप दी। किंतु यह अत्युक्ति है। दंतिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन पर आक्रमण करने से पूर्व पूरी तरह से सैनिक और कूटनीतिक तैयारियां की थीं। वस्तुतः युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व ही कीर्तिवर्मन यह जान गया था कि वह बाजी हार चुका है। दंतिदुर्ग ने मध्य प्रदेश के किसी स्थान से अपनी गतिविधियों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रीगणेश किया था। उसकी प्रारंभिक सफलताओं की रंगभूमि माही, महानदी और रेवा नदियों के तट थे। उसने मालवा के गुर्जरों, कोशल और कलिंग और श्रीशैल (तेलुगु चौड) राजाओं को हराया था। अंत में वह कांची तक चला गया था। उसने अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर नंदिवर्मन पल्लवमल्ल से मित्रता कर ली और उसके साथ अपनी कन्या रेवा का विवाह कर दिया। इस प्रकार बड़ी कुशलता से उसने कीर्तिवर्मन को सबसे अलग कर दिया था और उसके दूरस्थ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। तब दंतिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन पर आखिरी चोट की और अपने को दकन का सार्वभौम राजा घोषित कर दिया। वस्तुत: सभी उपलब्ध प्रमाण यही संकेत करते हैं कि दंतिदुर्ग ने सहसा आक्रमण कर कीर्तिवर्मन को अपदस्थ नहीं किया, बल्कि वह उसकी शक्ति को क्रमश: क्षीण करता गया। दंतिदुर्ग के सामनगढ़ ताम्रपत्राभिलेख की तिथि 753 ई० है। इसके बाद भी कुछ वर्षों तक कीर्तिवर्मन राज्य करता रहा, क्योंकि दंतिदुर्ग के उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम ने भी चालुक्यों के विरुद्ध अपनी सफलता का दावा किया है। ऐसा लगता है कि कीर्तिवर्मन ने अपना बचाव करने के लिए अंतिम बार कोशिश की होगी। किंतु तब काफी विलंब हो चुका था और वह उसमें असफल ही हुआ। चाहे जो भी हुआ हो, उसके राज्य के ग्यारहवें वर्ष में भीमा के उत्तरी तट पर भंडारगविट्टगे के विजय स्कंधावार से निःसृत उसके वक्कलेरि ताम्रपत्राभिलेख में अंतिम बार हम बादामी के चालुक्यों के शासन का समाचार पाते हैं।

लघु चालुक्यवंश

राष्ट्रकूटों के उदय के बाद दो शताब्दी तक चालुक्य राजनीतिक रंगमंच पर नहीं दिखते। फिर राष्ट्रकूटों के साम्राज्य के खंडहरों पर पुन: उनका उदय होता है। इस अंतराल में हम चालुक्य नामधारी अनेक अधीनस्थ सरदारों को दकन में यत्रतत्र शासन करते पाते हैं। किंतु इनमें से केवल दो अपवादों को छोड़कर शेष के बारे में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो उनका बादामी के मुख्य चालुक्यवंश से कोई संबंध सिद्ध कर सके। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि उनमें आपस में भी कोई संबंध रहा होगा। 800 ई० के आसपास 'धारवाड़' के इलाके में कट्टियार नामक एक राजा का पता है। संभवत: उसके हाथों में कुछ शक्ति अवश्य रही होगी। उसके दिदगुर के एक अभिलेख से विदित होता है कि कोई दोसी उसके अधीन बनवासी 12000 का शासक था। कट्टियार के अभिलेख पर वराह का चिह्न खुदा है। इससे यह पता चलता है कि कट्टियार चालुक्य था। सन 1161 ई० के मनगोलि अभिलेख से भी इसी बात की पुष्टि होती है। गोविंद तृतीय के विरुद्ध जिन राजाओं ने उसके भाई कंभ का साथ दिया था, उनमें एक कट्टियार भी था।[81] राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के अधीन चालुक्य वंश का कोई कट्येर सन 944-45 में कोगलि 500 और मसियवाडि 140 का 'महासामंत' था।[82] कृष्ण तृतीय के ही अधीन राजादित्य नामक एक चालुक्य सामंत को मैसूर देश में तुंगभद्रा के पूर्वी भाग में कदंबलिगें 1000 पर शासन करते पाते हैं।[83] एक अन्य चालुक्य राजा परहितराज का पता हमें बेलगांव जिले के कोटूर नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से होता है। इसमें शंभु नामक एक शैव संन्यासी के आत्मदाह का उल्लेख है।[84] गोविंद तृतीय के कदंब के संदिग्ध ताम्रपत्राभिलेख में यह उल्लेख है कि 813 ई० के आसपास कुणिगल देश में चालुक्य विमलादित्य का शासन था। इसमें उसके पिता और पितामह का भी नाम क्रमश: यशोवर्मन और बलवर्मन दिया है।[85] मैसूर में वरुण के लघु प्रस्तर लेखों में जो नवीं या दसवीं शताब्दी के हैं, एक चालुक्य नरसिंह और उसकी पत्नी गाविलब्बरसि तथा एक 'महासामंत' गोग्गि अथवा गुग्ग के उल्लेख हैं और साथ ही वराह का चिह्न भी अंकित है।[86]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि परिश्रम से खोज की जाए तो चालुक्य वंश के अन्य छोटे राजाओं का भी पता मिल सकता है।

किन्तु इन छोटे-मोटे चालुक्य सरदारों से ज्यादा महत्व मुदुगोंड (वारंगल जिला) और वेमुलवाड (करीमनगर जिला) के चालुक्यों का था। ये दोनों आधुनिक हैदराबाद प्रांत के पूर्वी भाग में एक दूसरे से सटे इलाकों के शासक थे। राष्ट्रकूट और पूर्वी चालुक्यों के बीच चलनेवाले युद्धों में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। युद्ध का पासा जिस रूप में पलटता था, ये उसके अनुकूल अपने को ढाल लेते थे। अब वेमुलवाड के चालुक्यों का इतिहास पहले की अपेक्षा अधिक ज्ञात है। अध्याय 5 में, जहां राष्ट्रकूटों का इतिहास दिया गया है, उसके परिशिष्ट में इनका संक्षिप्त इतिहास दे दिया गया है।

संदर्भ

1. 'इं० ऐं०' vi, 354. अगस्त की प्रसिद्ध कथा में वातापि नामक असुर का उल्लेख है. 'रामा०' iii, 2, 56 तथा आगे. 'महाभारत', 'वनपर्व', 94, 1 (कुंभकोणम् सं०) में उसकी राजधानी का नाम दुर्जय दिया है.
2. फ़्लीट; 'डा० क० डि०', पृ० 345.
3. 'ए० इं०', xxi 154.
4. 'इं० ऐं०', xix, 10 और 12 टि०.
5. 'ए० इं०' ii, 21; ix, 296; vi, 294; xii, 30.
6. कौथम दानलेख (1009 ई०) और बाद के लेखों से इस प्रदेश के जीतने की व्यंजना निकलती है
7. कीलहार्न, 'ऐहोल' इंस्क्रिप्शन, 'ए० इं०', vi, 8.
8. 'ए० इं०' vi, 9 डि० 1.
9. फ्लीट : 'डा० क० डि०', पृ० 351, 356; 'ए० इं०' xviii, पृ० 260-61.
10. एन० वेंकटरामनय्य, 'दुर्विनीत ऐंड विक्रमादित्य प्रथम'. त्रिवेणी i, पृ० 112-30.
11. गद्रे : 'इंपार्टेंट इंस्क्रिप्शंस फ्राम दि बड़ोदा स्टेट', पृ० 45.
12. फ्लीट : 'डा० क० डि०', पृ० 310.
13. वही, पृ० 359-60.
14. वैटर्स, ii, 239; बील : 'लाइफ आफ ह्वेनत्सांग', पृ० 147.
15. रा० मुखर्जी : 'हर्ष', पृ० 36 टि०; स्मिथ : 'अ० हि० इं०', iv, पृ० 353 और टि० 3.
16. 'ए० इं०' ii, 279.
17. वही xxiii, सं० 15; तंडिवाड दानलेख.
18. ऐहोल प्रशस्ति में (छंद 29) 'आक्रांतात्मबलोन्नतिम्' का यही अर्थ है. कीलहार्न ने इसका अर्थ किया है 'जिसने उसकी उन्नति का विरोध किया था.' उनके इस अर्थ के कारण कई तरह के अनुमान किए गए हैं जैसे, 'सा० इं इं०', ii (i) के पृ० ii में. दे०, 'जर्नल आफ आंध्र हिस्टरी ऐंड कल्चर, i पृ० 166-71.
19. हुल्ट्ज्श ने इसका जो अर्थ किया है ('ए० इं०', ix, 319) उसमें उस पारिभाषिक शब्द की उपेक्षा कर दी है जो मैंने अभी उद्धृत किया है, चीपुरपल्ले दानलेख ('इं० ऐं०', xx, 16) इस संबंध में और भी स्पष्ट है, फ्लीट ने इसका सही अर्थ दिया है.
20. इस तिथि से सं० 12 के समकालत्व के बारे में संदेह पैदा हो जाता है. गीगर ने अपने कालक्रम के निर्धारण में उसीको आधार बनाया है. दे०, 'चूलवंश' (1929) i, पृ० 70, टि० 9 और 2, पृ० xix.
21. याजदानी : अजंता खंड i, पृ०, 46-9; के० ए० नीलकंठ शास्त्री : 'फारेन नोटिसेज आफ साउथ इंडिया', पृ० 9 भी.
22. 'सा० इं० इं०' ix (i) सं० 45 (1920 का 343).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

23. यदि यह मत सही है तो इस प्रकार यह एक समकालीन प्रमाण है कि पुलकेशिन द्वितीय का नाम एरेय था और इस प्रकार फ्लीट ने 'डा० क० डि', पृ० 351, टि० 3 और पृ० 358, टि० 1 के लक्ष्मणेश्वर अभिलेख (की एक बाद की प्रति) के बारे में जो संदेह व्यक्त किया था वह भी मिट जाता है.
24. 'चूलवंश', अध्याय 47, छंद 15-61.
25. मिला०, फ्लीट : 'डा० क० डि०', पृ० 355.
26. 'ए० इं०', ix, पृ० 102.
27. फ्लीट : 'डा० क० डि०', पृ० 359-61.
28 'इं० ऐं०', xi, 67; 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', xvi, पृ० 233-5.
29. 'इं० ऐं०', vii, 163-64, वही, viii, 45-6. यह भी उसी प्रकार का दानलेख है जो कि चंद्रादित्य के शासनकाल में जारी हुआ था जैसा कि मुद्रा पर के लेख से विदित है.
30. तीसरे वर्ष के कर्नूल के ताम्रपट्ट, 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', xvi, 236 तलमंचि के छठे वर्ष के ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', ix, 98-102.
31. 'अवनिपति त्रितय' का यह अर्थ मेरा विश्वास है पहली बार दिया जा रहा है, यद्यपि यह सुस्पष्ट है. अन्य मतों के लिए दे०, एन० वेंकटरामनय्य', त्रैराज्य पल्लव 'मद्रास क्रिश्चि० कालेज मैग०', जन० 1929 इससे मेरी राय में, 'अवनिपति त्रितय' का कोई संबंध नहीं है. कर्नूल के एक ताम्रपट्ट में 'सर्वान् दायादान विजित्य' पद आया है. किंतु इस अभिलेख की असलियत असंदिग्ध नहीं है. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०', xvi, पृ० 240.
32. नागर 35 'ए० क०', viii और एन० वेंकटरामनय्य : 'दुर्विनीत और विक्रमादित्य'.
33. पिता की जायदाद में पैतृक अधिकार ('स्वगुरोःश्रियम्') और राजवंश के उत्तराधिकार ('स्ववंशजों वंशलक्ष्मीम्') का अंतर ध्यान देने योग्य है.
34. 1933-4 का 183, 'ऐ० रि० ए०', ii (1934), पृ० 2.
35. 1937-8 का 284, 'ऐ० रि० ए०', ii (1938), पृ० 15. इसमें विक्रमादित्य की पहचान विक्रमादित्य द्वितीय से की गई है. किंतु दे०, मालेपाड के ताम्रपट्टों की तिथि के बारे में वेंकटरामनय्य का नोट; 'त्रैराज्य-पल्लव' पर उनके निबंध का परिशिष्ट, मद्रास क्रिश्चि० कालेज मैग०, जन० 1929, पृ० 7-18.
36. सन 1906 का 474 और 476.
37. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो', 161; 'ए० इं०', viii, 229.
38. 'अनिवारित पुरुपाक्रांत पल्लवान्वयेन'.
39. होन्नूर के ताम्रपट्ट, 'मै० आ० रि०', 1939, सं० 30.
40. दुब्रील, 'पल्लवाज', पृ० 43; 'ए० इं०' x, 100.
41. किंतु हैदराबाद और कुट्टकोटि के जाली ताम्रपट्टों में भी यह छंद है. 'इं ऐं०', vi, 76-77; vii, 219.
42. मद्रास क्रिश्चि० कालेज, मैग०, अक्तू० 1927, पृ० 241 में 'डिड परमेश्वरवर्मन कैप्चर वातापि' शीर्षक निबंध में डा० एन० वेंकटरामनय्य ने इस छंद की सही-सही व्याख्या दी है.
43. 'सा० इं० इं०', i, पृ० 148-9, पंक्तियां 23-41.
44. वही, ii, पृ० 366, पंक्तियां 16-17.
45. वही, i, पृ० 22, छंद 2.
46. वही i, पृ० 12 छंद 5, पं० 1, 'उन्मर्दन्' शब्द का अर्थ 'नष्ट करनेवाला' नहीं हो सकता. यहां परमेश्वर को 'उग्रदंड' कहा गया है.
47. शिरुत्तोण्डर, छंद 6.
48. 'पेरिय तिरुमोलि' 4, 5, 6.
49. गदेमने अभिलेख ('मै० आ० रि०', 1923, पृ० 83 सं० 72) में इस बात का उल्लेख हो सकता है कि महेंद्र द्वितीय और विक्रमादित्य के छोटे भाई जयसिंह के पुत्र शीलादित्य के बीच युद्ध हुआ था. दे०, 'इं० हि० क्वा०', v, पृ० 325.
50. जेजुरि ताम्रपट्ट, 'ए० इं', xix, 62; नेरूर, 'इं० ऐं०', ix, 126.
51. कॆंदूर ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', ix, 202; 'ए० क०', xi, दिंग 66.
52. 'ए० इं०', 22, तथा ऐ० रि० ए० (1936) ii, 11.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

53. 'क० इं०', पृ० 3.
54. 'ए० इं०', x, 14.
55. 'इ० ऐं०', xiv, 104.
56. 'इं० ऐं०', xi, 112.
57. 'डा० क० डि०', पृ० 370, टि० 5; 'क० इं०', पृ० 3.
58. 'ऐ० इं०', सं० v, 'टैन इयर्स आफ एपिग्राफी'.
59. 'इं० ऐं०', x, 165.
60. बोपगमि ताम्रपट्ट, शाके 640, 'ज० भा० इ० सं० मं०', ix, 2, पृ० 1-6.
61. 1920 का 333 और 359.
62. राजोले अभिलेख (मैक० मैन्युस्क्रिप्ट्स).
63. 1905 का 339.
64. 'इं० ऐं०', ix, पृ० 130.
65. कीर्त्तिवर्मन द्वितीय का पट्टदकलका लेख, 'ए० इं०', iii, पृ० 1.
66. 'इं० ऐं', x, 103.
67. 'आ० रि० इं०', 195, ii, 8; 'इं० ऐं', xviii, 38.
68. 'डा० क० डि०', पृ० 375-6; 'अ० हि० द०', पृ० 187-8.
69. 'इं० ऐं०', x, 164-5.
70. 'ए० इं०', iii, 360.
71. 'नेल्लोर अभिलेख', पृ० 429-30, जी 54. 'मैं० आ० रि०', 1941, पृ० 220, सं० 45 जो तुमकुर जिले से मिला है, उसमें भी विक्रमादित्य के इस अभियान का उल्लेख प्रतीत होता है.
72. 'ए० इं०', iii, 1-7.
73. इं० ऐं०'. x, 166.
74. वही, पृ० 164-5, 167.
75. वही, vii, पृ० 106, पंक्तियां 61-82; viii, 286.
76. केंदूर के ताम्रपट्टों से ऐसा प्रतीत होता है कि फ्लीट ने 746-7 की जो तिथि बतलाई है वह काफी बाद की है. 'ए० इं०', ix, 200 और ऐनुलि फ्रैग्मेंट 'मैं० आ०रि०', 1909, पृ० 12 ए. इसके विरुद्ध दे०, एन० एल० राव; 'ए० इं०', xxi, 204-6.
77. 'इं० ऐं०', xi, 68, 'क० इं०', 4-8; 'ए० इं०', xxi, 204-6.
78. अल्तेकर; 'राष्ट्रकूटाज', पृ० 15, 'ज० भा० इ० सं० मं०', x (i) 9-16.
79. 'ए० इं', xiv, पृ० 124, छंद 11; पृ० 243 छंद 7.
80. अभी हाल ही में इस अभिलेख की असलियत पर संदेह व्यक्त किया गया है. किंतु इसके आधार पर्याप्त नहीं हैं. दे० अल्तेकर; वही, पृ० 33, टि० 11. मांडक के ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', xiv, पृ० 125, छंद 17 में दो छंद शायद नकलनवीस की गलती से एक में मिल गए हैं.
81. 'ए० इं०' vi, 253.
82. 'सा० इं० इं०', (i) सं० 64 (1904 का 75).
83. 'मैं० आ० रि०', 1935, सं० 40.
84. 'इं० ऐं०', xx, 69.
85. 'सा० इं० इं०', (1) सं० 64 (1904 का 75).
86. 'ए० क०', iii मैसूर 35-37, 41-45

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासनपद्धति और सामाजिक जीवन

राजा

प्राचीन भारत के धर्मशास्त्रों में विहित एकतंत्र ही चालुक्य साम्राज्य की शासन-पद्धति थी। राजा की सत्ता नाममात्र की न थी अपितु वह सक्रिय शासक था। वह राज्य के सभी ब्यौरे खुद देखता था, वह अपना अधिकांश कार्य-समय सभामंडप में बिताता था या फिर युद्ध में सेनाओं का नेतृत्व करता था। प्रजा से संपर्क रखने के लिए वह बराबर अपने राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता था जहां उसके स्कंधावार लगते थे। सिंहासन पर उत्तराधिकार आनुवंशिक था। आम तौर पर उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गद्दी पर बैठता था। कीर्तिवर्मन प्रथम की मृत्यु के समय उसका ज्येष्ठ पुत्र पुलकेशिन द्वितीय अवयस्क था। अतः उसका चाचा मंगलेश गद्दी पर बैठा। वह उस समय तक शांति से राज्य करता रहा जब तक कि पुलकेशिन वयस्क नहीं हो गया। किंतु जब उसने (अपने बाद अपने बेटे को गद्दी पर बैठाने की योजना बनाई तो लोकमत पुलकेशिन के पक्ष में हो गया और वह बड़ी आसानी से अपने चाचा को गद्दी से उतारने में सफल हो गया क्योंकि वह चाचा पहले तो उसका अभिभावक बना था किंतु बाद में राज्य का अपहर्ता हो गया था। पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद जो अराजकता फैली थी उसका कारण सैनिक पराजय था जिसमें राजधानी पर शत्रु का अधिकार हो गया था और राजा मारा गया था। अतः कुछ समय तक अराजकता की स्थिति रही। मृत राजा के पुत्रों में सभी को अपनी-अपनी हिफाजत की पड़ी थी। अतः जहां का जो शासक था उसने वहीं अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। उनमें से एक की दृष्टि अधिक साफ थी। उसने यह जान लिया था कि उसके पिता ने अपने आजीवन प्रयत्न से जो साम्राज्य खड़ा किया था वह कितना मजबूत और टिकाऊ था। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास था कि वह उस साम्राज्य को विघटन से बचा सकता है। इसके लिए उसे कुछ भयंकर लड़ाइयां लड़नी पड़ीं किंतु अंत में वह सफल हुआ। इस कार्य में उसके एक छोटे भाई ने उसका साथ दिया। उसे उसका पुरस्कार भी मिला। पुलकेशिन द्वितीय के सिंहासन पर आने से पूर्व और सिंहासन से हटने के बाद जो घटनाएं हुईं उनसे यही सिद्ध होता है कि सिंहासन पर उत्तराधिकार की कसौटी जन्म और शासक की योग्यता थी।

राजा की उपाधियां

पहले चालुक्य राजाओं की उपाधि 'सत्याश्रय श्री पृथ्वी-वल्लभ महाराज' थी। हर्षवर्धन की बाढ़ को रोकने के बाद पुलकेशिन द्वितीय ने 'परमेश्वर' की भी उपाधि धारण की। विक्रमादित्य प्रथम के राज्य में प्रमुखता की उच्च उपाधियां 'महाराजाधिराज' और 'भट्टारक' का प्रयोग हुआ। इस प्रकार चालुक्य राजाओं की पूरी उपाधि 'सत्याश्रय श्री पृथ्वी-वल्लभ-महाराजा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धिराज परमेश्वर भट्टारक' हुई। किंतु, पूरी उपाधि का सदा प्रयोग नहीं हुआ। अक्सर इसमें से एक या अनेक उपाधियां छोड़ दी गई हैं। आवश्यकता पड़ने पर राजा के विष्णु या शिव के उपासक होने पर 'परम भागवत' या 'परममाहेश्वर' की उपाधि भी जुड़ जाती थी।

राजकुमार

राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पुलकेशिन प्रथम को 'मनुस्मृति', 'पुराणों', 'रामायण' और 'महाभारत' का अच्छा ज्ञान था। वह दंडनीति में दक्ष था।[1] मंगलेश ने भी सभी 'शास्त्रों' का अध्ययन किया था।[2] महाकूट के स्तंभलेख में उसकी दंडनीति की दक्षता का वर्णन है। विक्रमादित्य प्रथम ने अपने जीवनकाल में ही शासन में अपने पुत्र और पौत्र को नियोजित कर उनको शिक्षित किया था। अतः विजयादित्य जब अपने अभिलेखों में इस बात का दावा करता है कि उसने अल्प वय में ही सभी 'शास्त्रों' पर अधिकार प्राप्त कर लिया था तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। इसी प्रकार कीर्तिवर्मन द्वितीय ने भी अपने पिता विक्रमादित्य द्वितीय के शासनकाल में शिक्षा पाई थी।

किसी औपचारिक मंत्रिपरिषद का जिक्र कहीं नहीं आया है। इस बात के संकेत अवश्य हैं कि समस्त प्रशासन राजपरिवार के सभी सदस्यों में निहित था। राजा हमेशा परिवार के सभी सदस्यों की योग्यता का यथावश्यक इस्तेमाल करता था। वे अपनी योग्यता के मुताबिक प्रशासन में विभिन्न पदों पर नियुक्त किए जाते थे। इस नीति से लाभ यह था कि राजा को अपने गंभीर उत्तरदायित्वों के पालन में इनसे पूरी मदद मिलती थी। किंतु इस व्यवस्था में खतरे भी कम न थे। पुलकेशिन द्वितीय के समय में पूर्वी चालुक्य साम्राज्य की स्थापना हुई और इसी प्रकार विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल में लाट की शाखा की स्थापना हुई। इनके बारे में इन राजाओं को अपनी हार्दिक इच्छाओं के विरुद्ध अपनी मंजूरी देनी पड़ी। पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु और विक्रमादित्य प्रथम के अभिषेक के मध्य की अवधि में साम्राज्य में जो दरारें पड़ी थीं, वे इस व्यवस्था की सबसे बड़ी कमजोरियां थीं। किंतु चालुक्यों का राज्य नितांत केंद्रित या एकात्मक न था। विभिन्न वंशों के विजित राजाओं को भी सामंतों के रूप में अपने राज्यों पर शासन का अधिकार दे दिया जाता था। इन परिस्थितियों में यदि राजा अपने निकट के संबंधियों को साम्राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त कर देता था, तो उससे कुल मिलाकर लाभ ही होता था।

रानियां

सार्वजनिक कार्यों के परिचालन में रानियों का भी, कम से कम कुछ का तो अवश्य ही, हाथ होता था। वे विदुषी और दानशील होती थीं। विक्रमादित्य प्रथम के बड़े भाई चंद्रादित्य की रानी विजय भट्टारिका ने अपने नाम से दो ताम्रपत्राभिलेख जारी किए थे। ये उसके पति के संक्षिप्त शासनकाल में उसके गौरव का स्मरण दिलाते हैं। वह एक उच्च कोटि की कवयित्री थी जिसकी प्रशंसा सिद्ध आलोचक भी करते थे। विजयादित्य की छोटी बहन कुंकुमदेवी सन 705 ई० में कुहुंडिनगर के स्कंधावार में उसके साथ थी। उसके कहने से राजा ने एक विद्वान ब्राह्मण को एक गांव का दान दिया था।[3] गुडिगेर के एक बाद के लेख (1077 ई०) से विदित होता है कि उसने उस नगर में जैनों की एक 'बसदि' बसाई थी।[4] विजयादित्य की माता विनयवती ने वातापि में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की प्रतिमाएं स्थापित कराई थीं।[5] विजयादित्य के कुर्तकोटि के एक अभिलेख से, जिसपर कोई तिथि नहीं है कुरुत्तकुंट पर लोक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिनिम्मडि के शासन करने का पता चलता है।[6] यह किसी स्त्री का नाम प्रतीत होता है। हो सकता है कि यह विजयादित्य की पुत्रवधू लोकमहादेवी का ही नाम हो। हम जानते हैं कि उसके बेटे विक्रमादित्य ने दो हैहय राजकुमारियों से विवाह किया था जो सगी बहनें थीं जिसमें बड़ी का नाम लोकमहादेवी था। विक्रमादित्य की इन दोनों रानियों ने पट्टदकल में विजयादित्य द्वारा निर्मित विजयेश्वर मंदिर के आसपास दो मंदिर बनवाए थे। कीर्तिवर्मन द्वितीय के केंदूर के ताम्रशासन में जिस दान का उल्लेख है वह राजा ने अपनी महारानी 'महादेवी' की प्रार्थना पर दिया था। रक्तपुर के स्कंधावार में वह राजा के साथ थी।[7]

गणिकाएं

अब हम चलते चलते तत्कालीन लेखों से प्राप्त एक प्रमाण का उल्लेख करेंगे जिसमें एक रूपाजीवा की भूमिका आई है। ये अपने रूप और लावण्य से भारत के इतिहास के सभी कालों में राजदरबारों को प्रभावित करती रही हैं। विजयादित्य की एक चहेती रक्षिता का नाम विनापोटि था। उसके दान का जिक्र हम कर चुके हैं। यद्यपि लेख में विलक्षण सफाई से उसे विजयादित्य की वल्लभा गणिका वीणापोतिगल कहा गया है, तथापि शास्त्रानुमोदित ढंग से उसकी माता और मातामही के नाम कुचिपोतिगल और रेयमंचलगल भी दिए गए हैं। इन तीनों स्त्रियों के नाम आदरार्थे बहुवचन में दिए गए हैं।[8] चालब्बे जिसने विजयेश्वर के मंदिर में तीन स्तंभ दान में दिए थे और मातिभोदम्म, जिसने मंदिर के दो अन्य स्तंभों के निर्माण में सहायता दी थी, इसी वर्ग की स्त्रियां रही होंगी।[9]

मौखिक आदेश

अभिलेखों से प्रशासन की पद्धति का आभास मात्र होता है। इससे पूरा चित्र नहीं बनता। कतिपय अभिलेखों में 'राजश्रावितम्' पद आया है।[10] इसका अर्थ आमतौर पर 'राजा की विज्ञप्ति' किया गया है। हो सकता है कि इसका यही अर्थ हो। पर इसमें कुछ अस्पष्टता है। यह इससे अधिक मंतव्य का द्योतक है। अतः इसका अनुवाद नहीं किया गया है। इसका जितना अर्थ 'राजा की विज्ञप्ति' अथवा आदेश है उतना ही 'राजा को सूचित किया' भी है। तमिल पुरालेखों में तत्तुल्य पद 'तिरु-वाय्यक् केलवि' (पवित्र मुख से सुना) है। इसका मतलब यह हुआ कि इसमें औपचारिक घोषणाओं का ही भाव नहीं है, बल्कि इसमें वे आदेश भी शामिल हैं जो राजा उन अधिकारियों और दूसरे लोगों को देता था जो 'विज्ञप्तियां' देने (राजा को अर्जियों देनेवाले) का काम करते थे और वे सब मामले राजा के संमुख पेश करते थे जिनपर स्वयं उसे ध्यान देने की आवश्यकता होती थी। ऐसे मौखिक आदेश राजा के 'सचिव' लिख लेते थे और उन्हें औपचारिक रूप देकर—जैसे, पत्थर या ताम्रपट्टों पर खोदवाकर—संबद्ध अधिकारियों या व्यक्तियों के पास भेज देते थे। अभिलेखों, खासकर ताम्रशासनों के प्रारूपकारों का नाम लेख के अंत में अक्सर मिलता है। कभी-कभी तो वे 'महासांधिविग्रहिक' के ओहदे के भी अधिकारी होते थे। विक्रमादित्य प्रथम के शासनकाल के दो ऐसे लेखकों के नाम ज्ञात हैं, वे थे: वैद्यान्वय के वज्रवर्मन[11] और 'महासांधिविग्रहिक' जयसेन।[12] इसके बाद के राजाओं के राज्यकालों की पुण्यवल्लभ कुल में चार पीढ़ियों के नाम सुरक्षित हैं। वे थे: श्रीराम, निरवद्य, अनिवारित और धनंजय। ये चारों महासांधिविग्रहिक थे। इनके कुल का नाम ध्यान देने योग्य है, यह नाम ही चालुक्यों के प्रति उनकी भक्ति का सूचक है।[13]

कतिपय गैरसरकारी लेखों में भी उनके रचयिताओं के नाम दिए गए हैं। उनमें सबसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसिद्ध रविकीर्ति था जो पुलकेशिन के समय की ऐहोल की प्रशस्ति का रचयिता था। इसी राजा के समय का एक दूसरा लेख येवकेरि शिलालेख है जिसका रचयिता ईशान था। कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासनकाल का एक लेख अन्निगेरे अभिलेख है जिसका रचयिता कोई दिशापाल था।

प्रशासनिक प्रभाग

प्रशासनिक विभागों की संख्या और उनके आकार; उनमें कानून और व्यवस्था की रक्षा के लिए अभिकरण, कर-ग्रहण और न्याय-वितरण आदि का निर्णय ऐतिहासिक आधार पर होता था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में इस दृष्टि से जाहिरा तौर पर कोई एक पद्धति अपनाने का प्रयत्न नहीं किया गया था। प्राचीन धर्मशास्त्रों के विधान के मुताबिक विजित प्रदेशों के शासकों को यथापूर्व रहने दिया जाता था। इसका अर्थ यह था कि वे यथावधि सम्राट को कर देते थे। अक्सर यह कर भेंट के नाम से मिलता था। इसके अतिरिक्त उन्हें युद्ध के समय अपनी सेना के साथ उपस्थित रहना पड़ता था। वैसे वे सभी तरह से स्वतंत्र होते थे और जब तक इन शर्तों के पालन में त्रुटि न हो, राजा उनके कार्य में प्रायः कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। आलुपों, सिंदों, सेंद्रकों, बाणों, गंगों, तेलुगु-चोडों और अन्य सामंतों की यही स्थिति थी। अभिलेखों में राष्ट्र, विषय और नाडु शब्द आए हैं,[11] किंतु उनके आकार की सीमा निश्चित न थी। बाणराज-'विषय'[15] जैसे शब्द से यही प्रकट होता है कि कभी यह प्रदेश स्वतंत्र था, किंतु बाद में वह चालुक्य साम्राज्य का अंग बन गया होगा। बादामी के चालुक्यों के दान जिस सीधे-सादे ढंग से ताम्रपट्टों में घोषित हुए हैं उनसे हमारा यह कथन प्रमाणित हो जाता है कि इस काल में साम्राज्य के प्रशासन में केंद्राभिमुखता का अभाव था। इस फार्मूले का एक पूरा रूप विष्णुवर्धन का सतारा का दानलेख है[16] जिसमें सभी 'विषयपतियों', 'सामंतों', 'ग्रामभोगिकों', 'महत्तरों' और पड़ौस के व्यक्तियों को दान के बारे में सूचित कर दिया गया है। कन्नड़ भाषा में 'विषयपतियों' को 'देशाधिगारिगल' कहा जाता था। ये निश्चय ही राज्य की ओर से नियुक्त अधिकारी थे जिनके काम के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। वे राजा के प्रतिनिधि होते थे और उसके हितों की रक्षा करते थे। 'सामंतों' का उल्लेख हो ही चुका है।

ग्राम

शासन की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी। 'गामुंड' (गांव का अधिकारी) राजा की सरकार और गांव की जनता के बीच कड़ी का काम करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी नियुक्ति केंद्र द्वारा होती थी। ऊपर जिस 'ग्रामभोगिक' का जिक्र हुआ है 'गामुंड' संभवतः वही था, किंतु इसके बारे में हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासनकाल के दो 'गामुंडों' का पता हमें अभिलेखों से मिलता है। इन्होंने एक-एक जिनालय बनवाया था। जेबुलगेरी के 'गामुंड' के रूप में किसी कलियम्मा का जिक्र आया है।[17] आडूर के प्रस्तरलेख में भी एक गामुंड का उल्लेख है।[18] आडूर के अभिलेख में 'करणों' (गांव के लेखपालों) का भी उल्लेख है। इन्होंने 'माधवति अरस' से 'गामुंड' के साथ-साथ प्रार्थना की थी। गांवों के प्रशासन और सामाजिक और आर्थिक जीवन का नियमन 'महाजन' (गांव के महत्तर) करते थे। विजयादित्य के अभिलेख में वर्णन आया है कि बेन्नियूर का शासन ये 'महाजन' करते थे।[19] एक दूसरे स्थान पर एक मंदिर को एक खेत का दान देने से पहले इनकी इजाजत लेने का ('महाजन प्रजासंमतः कोट्टुदु') उल्लेख है।[20]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युवराज विक्रमादित्य का लक्ष्मेश्वर अभिलेख[21] राजा की सरकार और ग्राम संस्थाओं के बीच संबंधों के बारे में बहुमूल्य प्रमाण है। इस लेख में युवराज द्वारा 'महाजनों, नगर' और पोरिगेरे (लक्ष्मेश्वर का प्राचीन नाम) की अठारह 'प्रकृतियों' के नाम 'आचार व्यवस्थे' (अधिकारों और कर्तव्यों का लेख) है। इससे स्पष्ट होता है कि अंततोगत्वा स्थानीय कार्यों का भी नियमन राजाज्ञाओं से ही होता था। इसमें 'राजपुरुषों' का उल्लेख है जिन्हें कतिपय सुप्रतिष्ठित अधिकारों की रक्षा का भार सौंपा गया है। इसमें 'महाजनों' के अतिरिक्त 'नगर' का भी उल्लेख है। ये उद्योग और व्यापार के हितों के प्रतिनिधि थे। इसके अतिरिक्त 'अठारह प्रकृतियों' का भी उल्लेख है। इन प्रकृतियों का तात्पर्य क्या था, यह स्पष्ट नहीं है। अभिलेखों में उन 'करों' (तेरे) की दरें भी दी हैं जो कि 'देशाधिपति' को प्रतिवर्ष वैशाख के महीने में, और श्रेणियों (सेनी) को कार्तिक के महीने में देय थे। इसमें 'कंचगार सेनी' (कंचुकिकारों की श्रेणी) और 'तैल्लिग सेनी' (तेलियों की श्रेणी) के भी उल्लेख हैं। लेख में यह भी बतलाया गया है कि वे कितना कर पाने की अधिकारी थीं। इस प्रकार किसी अच्छे-खासे नगर के आर्थिक और राजनैतिक संघटन की हमें एक झांकी मिल जाती है।

कराधान

गांवों के दान देते समय दानग्रहीताओं को जो छूट दी जाती थीं और 'पूत' कार्यों के लिए जो देय निर्धारित किए जाते थे उनसे तत्कालीन कराधान-प्रणाली का कुछ-कुछ अनुमान हो जाता है। युवराज विक्रमादित्य के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में संभवतः इस बात का एकमात्र प्रत्यक्ष उल्लेख है कि नागरिकों को कौन से कर देने पड़ते थे। इस लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि मकानों या मकान की जमीनों के मालिकों को उनके लिए कर देने पड़ते थे। जिन लोगों के अपने मकान नहीं होते थे उनके परिवार अपनी-अपनी हैसियत के मुताविक राजकीय अधिकारियों को प्रतिवर्ष 15, 10, 7, या 5 'पण' कर देते थे। इसके अतिरिक्त सभी परिवारों को त्यौहारों (बार्नेट) और अन्य शुभ अवसरों पर भी कर देना पड़ता था। विष्णुवर्धन युवराज के सतारा के दान में लिखा है कि आलंदतीर्थम् गांव में दान के दिन के बाद 'चाट' और 'भट' (सैनिक) और 'कुसीदस' (सूदखोर महाजन) प्रवेश न कर सकेंगे। इसी प्रकार उन्हें 'सर्व आदान विशुद्ध' कर दिया जाता था, अर्थात वे गांव उपकरों से बरी कर दिए जाते थे। उपकरों से छूट की सामान्य पदावली 'सर्वोपधापरिहारम्' (तालमंचि) या 'सर्वबाधापरिहारम्' (सोराब) थी। पुलकेशिन द्वितीय के हैदराबाद दानलेख (612 ई०) में लिखा है कि 'निधि', 'उपनिधि', विलप्त,' और 'उपरिकर' के साथ ग्राम का दान किया गया। उसमें 'उपनिधि' का अर्थ निक्षेप, 'विलप्त' का (लगान का) बंदोबस्त है और 'उपरिकर' का अर्थ संभवतः लगान पर सरचार्ज या लगान के अलावा अन्य कर हो सकता है। सत्याश्रय शीलादित्य (671 ई०) के नौसारी के अभिलेख में दान में 'उद्रंग' और 'परिकर' की भी गणना है। इनसे संभवतः तहबाजारी और चुंगी का तात्पर्य था। कर्नूल जिले के अभिलेख में 'मारुंच, आदित्यूंच, उंचमन्न, मरुमन्न' के उल्लेख हैं। ये भूमि से संबंधित स्थानीय कर रहे होंगे। इनका ठीक-ठीक तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। विनयादित्य के शासनकाल में सेंद्रकवंशीय महाराज पोगिलि नागरखंड और जेजुगुर के जिलों का शासक था। इनमें हर एक की गणना 70 थी। इस शासक के नीचे कंदर्ब नाम का एक 'अधिकारी' था। इस अधिकारी को एक 'राजश्रावितम्' (राजा का आदेश) प्राप्त हुआ जिसमें इन दोनों जिलों में राजकोष में 'पेरिय ओसिगे' (बड़े त्योहारों), लवण और लावारिसों की संपत्ति शीर्षकों में प्राप्य आमदनी माफ करने को कहा गया है। इस छूट की प्रार्थना वल्लि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गाम (वेलगंवे जहां यह लेख मिला है) के दासों (भक्तों); अमिल और वेडेवल्लि के मंदिरों के अधिकारियों, रविचंद्र और तालवल्लि के प्रतिनिधि के तीन 'गामुंडों' नावालि की जनता, प्रेडुगिके 'गामिगों' के और नीरिल्लि के सिंदेर 'गामिग' ने की थी।[22]

इन सामान्य करों के अतिरिक्त कुछ सामयिक कर भी लगते थे, जैसे पुलकेशिन द्वितीय ने जब 'बाणराज्य विषय' को जीता तो उसके तुरंत बाद उसके प्रत्येक गांव पर 'तेरेपोन' (सुवर्ण के रूप में कर) लगाया था (एरेय)।[23] खास-खास मौकों पर अथवा कुछ संस्थाओं के खर्च के लिए जिंसों में भी कर लगाए जाते थे। विजयादित्य के शासनकाल का एक लेख बादामी में मिला है। इसमें राजमाता विनयवती द्वारा निर्मित त्रिमूर्तियों के मंदिर के नाम अनेक करों और तेल, शर्करा, आदि के रूप में प्रति दूकान से निश्चित मात्रा में मिलने वाली आय के दान का उल्लेख है।[24] निश्चय ही इन वस्तुओं का उपयोग देवताओं के दैनिक भोग में होता रहा होगा। विजयादित्य के तेरहवें वर्ष 709 ई०) के एक दूसरे अभिलेख में किसी एल्तुगोलुगसणि के कहने पर ऐहोल के 'भटारर' को प्रति तेल मिल से एक 'सोणिगे' (एक कलछी भर) तेल के दान का उल्लेख है। विक्रमादित्य द्वितीय के शासनकाल के ऐहोल के एक अभिलेख में आटद आलेकोमरसिंग के मंदिर में आदित्य भटार की प्रतिमा पर चढ़ाने के लिए तोबूल के प्रति पेरू पर पचास पत्तियों के दान का उल्लेख है। उसमें यह भी लिखा है कि इसके लिए राजा और 'महाजनों के सम्मुख 'नकर' की मंजूरी मिल चुकी है। स्पष्ट ही यह एक ऐसी उगाही का उदाहरण है जो कि व्यापारियों के संघ ने आदित्य की प्रतिमा के लिए स्वेच्छा से लगाई थी और जिसके लिए राजा की मंजूरी भी ली गई थी और इसका व्यापक प्रचार किया गया था।[26] विक्रमादित्य की महारानी लोकमहादेवी ने जब पट्टदकल में स्वनिर्मित लोकेश्वर के नाम नरेयंगल 50 का जिला लगा दिया तो उसने प्रति 'मत्तर' भूमि पर 2 कुल (64 सेर का कोलग) बाजरा तय कर दिया। किंतु इस दान के बारे में एक नितांत असामान्य बात भी कही गई है कि इसकी वसूली के लिए कोई राजाज्ञा या कुर्की न की जाएगी।[27] स्पष्ट है कि रानी के विचार से यदि इस कार्य के लिए किसी प्रकार की जोर-जबर्दस्ती की जाएगी तो उससे पुण्य का क्षय होगा।

माप और तोल

भारत के आर्थिक जीवन की एक विशेषता यह रही है कि यहां स्थान-स्थान पर माप और तोल के अलग-अलग मानक रहे हैं। कतिपय भूदान लेखों में 'राजमान' का उल्लेख आया है।[28] इससे प्रतीत होता है कि इस काल में कम से कम सार्वजनिक लेखा के क्षेत्र में इस प्रकार के मानकीकरण का यत्न किया गया था।

जनता

बादामी के चालुक्यों के अधीन महाराष्ट्र की जनता में संबंध के युवाङ् च्वाङ् के आंखों देखे वर्णनों के रूप में हमें कुछ जानकारी उपलब्ध है। युवाङ् च्वाङ् ने पुलकेशिन द्वितीय के शासन के अंत के आसपास महाराष्ट्र की यात्रा की थी। उसने महाराष्ट्र के राजा को क्षत्रिय कहा है और उसका नाम पो-लो-कि-शे बतलाया है। 'इस दयालु राजा का राज्य काफी विस्तृत था, उसके सामंत पूर्ण निष्ठा से उसकी सेवा करते थे। जनता अभिमानी और युद्धप्रिय, कृतज्ञ और बुराई चाहनेवालों के लिए प्रतिशोध भाव वाली, दीन-दुखियों के लिए आत्मत्याग करने वाली थी। यदि कोई जनता का अपमान करे तो लोग उसके प्राण ले लेते हैं। वहां के शूरवीर मतवाले होकर रणभूमि में जाते थे और उनके हाथियों को भी युद्धरत होने से पूर्व शराब पिलाई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाती थी। अपने शूरवीरों और हाथियों के बल पर राजा अपने पड़ौसियों को हेच समझता था।'[29]

सेना और नौसेना

जैसा कि युवाङ् च्वाङ् ने लिखा है, पुलकेशिन की सैनिक शक्ति का पता तब चल गया था जब कि उसने हर्षवर्धन को नर्मदा के परे अपना साम्राज्य बढ़ाने से रोक दिया था। उसके बाद की शताब्दी में चालुक्यों की सेना ने अनेक युद्धों में ख्याति अर्जित की थी। बाद में भी राष्ट्रकूटों ने इस बात पर गर्व प्रकट किया है कि दंतिदुर्ग ने (चालुक्यों की) कर्णाटक सेना को हराया था, जिसने अनेक युद्ध जीते थे।

रेवतीद्वीप और पुरी के ऊपर चालुक्यों के आक्रमणों से यही अनुमान होता है कि चालुक्यों के पास अपनी छोटी-मोटी नौसेना भी रही होगी। खेद है कि इस सेना के ब्यौरे कहीं नहीं मिलते।

युवाङ् च्वाङ् ने अपनी यात्रा के बारे में जो सूचनाएं लिख छोड़ी थीं उनके आधार पर उसके शिष्य हुबी ली ने उसकी जीवनी लिखी थी।[30] उसमें लिखा है, 'इसलिए इस देश में पैदल और घुड़सवार सेना को सावधानी से सजाते हैं, युद्ध के नियमों को बखूबी समझते और उनका पालन करते हैं। जब भी किसी सेनापति को किसी सैनिक अभियान पर भेजते हैं तो चाहे उसकी पराजय हो जाए और उसकी सेना नष्ट हो जाए, किंतु उसे किसी प्रकार का शारीरिक दंड नहीं देते, पराजय की हालत में सिर्फ उसके कपड़े उतारकर उसे जनाने कपड़े पहना देते हैं। इसलिए इस प्रकार के अपमान से बचने के लिए अक्सर सेनापति स्वयं आत्महत्या कर लेते हैं।' सेनापतियों को हारने पर जनाने कपड़े पहना देने की अनोखी प्रथा की पुष्टि चालुक्यों के ग्यारहवीं शताब्दी के लेखों से भी होती है।

विद्या

युआन-च्वाग ने लिखा है 'लोगों को विद्या का व्यसन था।' राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के बारे में हम कह ही चुके हैं। अभिलेखों से पता चलता है कि रोटी-दाल के चक्कर से मुक्त होकर निश्चित रूप में विद्याभ्यास और धर्म का पालन करने के लिए विद्वानों को प्रभूत दान दिए जाते थे। विजयादित्य के एक अभिलेख[31] से पता चलता है कि चौदह 'विद्याओं' में पारंगत हजारों 'द्विज' चालुक्यों की राजधानी वातापी की शोभा बढ़ाते थे। बादामी के ही एक अन्य लेख[32] के वाक्यांश 'श्रीमहाचातुर्विद्या—समुदायमिच्चर्ासिर्वर' में चार महाविद्याओं की अकादमी के 2000 क्षात्रों का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि नगर में किसी तरह की अकादमी भी थी। यह निश्चय करना कठिन है कि चौदह विद्याओं में ये चार महाविद्याएं शामिल थीं अथवा ये उनसे अलग थीं। किंतु इतना तो सुविदित ही है कि चौदह विद्याओं में चारों 'वेद', छहों 'अंग', और 'पुराण', 'मीमासां,' न्याय और 'धर्मशास्त्र' की गणना थी। चार विद्याओं में 'आन्वीक्षकी' (दर्शन), 'त्रयी' (वेद), 'वार्त्ता' (अर्थशास्त्र), 'दंडनीति' (राजनीति) भी शामिल थीं। विजयादित्य के बादामी के अभिलेख में[33] उस काल की लोक-भाषा कन्नड़ को 'प्राकृत भाषा' कहा है। उसका यह नाम 'संस्कृत' से उसके भेद को प्रदर्शित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में जनता में साक्षरता का काफी प्रचार था क्योंकि ऐसे कुशल कारीगर होते थे जो लंबे-लंबे संस्कृत अभिलेखों को भी पत्थरों या ताम्रपत्रों पर शुद्ध शुद्ध खोद सकते थे। ऐसे स्थानों पर पत्थरों पर लेख खुदवाए जाते थे जहां जनता अक्सर जाती थी, जैसे मंदिरों और किलों की दीवारों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर ये लेख खुदे हैं। इस व्यापक साक्षरता से यह भी अनुमान होता है कि उस समय संगठित पाठशालाएं भी रही होंगी।

कलाएं

यद्यपि ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण तो कम ही हैं जिनसे उस काल की कलाओं, उद्योगों, व्यापार आदि की स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो, तथापि इतना अवश्य है कि आमतौर पर पूरे देश में ये काफी विकसित और समृद्ध थे। उस काल में वास्तुकला और शिल्पकला कितनी उन्नत थी इनका खासा अनुमान तो हम पत्थर के उन स्मारकों से कर सकते हैं जो आज तक बच रहे हैं। अभिलेखों में इनके दाताओं और कारीगरों के नाम भी बच रहे हैं जिन्होंने इन कलाकृतियों का निर्माण किया था जिन्हें देखकर विदेशी यात्री और विद्यार्थी दांतों तले उंगली दबा लेते हैं। लोकेश्वर (अब विरूपाक्ष) मंदिर के वास्तुक का नाम श्री गुंडन अनिवारिताचारि था। अपनी इस सुंदर कृति के लिए उसे 'त्रिभुवनाचारि कहा जाने लगा था। उसके कारण 'बिन्नाणिगल' (श्रेष्ठ कारीगरों) को कतिपय महसूलों की माफी मिल गई थी। हां, यदि वे कोई चूक करें तो उसके लिए उन्हें दंड जरूर देना पड़ता था। इस कलाकार को जो उपाधियां मिली थीं उनसे यही विदित होता है कि कई नगरों के निवेश (प्लानिंग) में उसका हाथ था। उसे 'अनेक-पुरवास्तु पितामह' कहा गया है। उसकी एक उपाधि 'वास्तु-प्रासाद-यान-आसन-शयन-मणिमुकुट चूड़ामणि' भी थी,[34] जिससे प्रकट होता है कि अनेक महलों, सवारियों और फर्निचरों की रचना का भी उसे श्रेय प्राप्त था। वस्तुतः वह इतना अधिक प्रसिद्ध था कि उसे 'तेम्कन दिशेय सूत्रधारी' अर्थात दक्षिण दिशा का वास्तुक कहते थे। विरूपाक्ष के मंदिर में 'रामायण' के दृश्यों की सविवरण मूर्तियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्माता भी वही रहा होगा।[35] कीर्तिवर्मन द्वितीय के पट्टदकल के एक स्तंभलेख में वास्तुकों और शिल्पियों (रूपस) की तीन पीढ़ियों के नाम दिए गए हैं जो शांडिल्य गोत्र के थे—यथा शिववर्द्धमान, उसका बेटा शिव और उसका बेटा शुभदेव। संभवतः नगर के प्रसिद्ध मंदिर का निर्माण और उसका अलंकरण भी इन्हीं के द्वारा हुआ था।[36]

मंदिर

भारतीय समाज की अर्थव्यवस्था में मंदिरों का कितना महत्व था, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः मंदिरों को ही केंद्र बनाकर देश की सभी उपयोगी और ललित कलाओं का विकास हुआ है। इन कलाओं का मुख्य उद्देश्य देवता की सेवा था। इस प्रकार समाज की भी सेवा हो जाती थी। इससे देश के कुशल कारीगरों कलाकारों को बहुत बड़ी संख्या में रोजगार मिलता था। इन मंदिरों में विद्वानों और धार्मिक जनों को बराबर मुफ्त भोजन मिलता था। दीन-दुखियों को भी मंदिरों में भिक्षा मिलती थी। मंगलेश के बादामी के अभिलेख से[37] विदित होता है कि विष्णु के नए मंदिर को राजा ने 'नारायण बलि' (संन्यासियों को श्राद्ध भोजन), प्रतिदिन सोलह ब्राह्मणों को भोजन, यथाशक्य परिव्राजकों को भोजन कराने के लिए लंजीश्वरम् नाम का एक गांव दान में दिया था। विक्रमादित्य द्वितीय के लक्ष्मेश्वर के अभिलेख[38] और कीर्तिवर्मन द्वितीय के आडूर के अभिलेख[39] में भी 'दान-शालाओं' के उल्लेख हैं। पट्टदकल के एक अभिलेख में मंदिर के 'गंधर्वार' (संगीतकारों) का उल्लेख है। इन्हें विजयादित्य ने कतिपय अधिकार दिए थे जिसकी पुष्टि रानी लोकमहादेवी ने की थी।[40] पट्टदकल के ही एक दूसरे अभिलेख में संस्कृत में दो छंदों की एक कविता आर्या छंद में है। इसके अंत में अचलद के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हस्ताक्षर हैं। यह अभिलेख पश्चिम दकन में नृत्य कला के इतिहास के एक बड़े उत्साहवर्धन अध्याय की याद दिलाता है। इसमें 'भरत-नाट्य' की एक नई कृति का उल्लेख है जिसने परनट और 'कुटिलोन्तनट' पर विजय प्राप्त की थी। यहां 'परनट' से प्रतिद्वंद्वी नाट्य-परंपरा के किसी घराने या घरानों के नट का तात्पर्य है। उसी प्रकार कुटिलोन्नतनट से उसके कुटिलता से उन्नत अर्थात प्रसिद्ध होने का तात्पर्य प्रतीत होता है।[41] मंगलेश के समय के अथवा उसके कुछ बाद के बादामी के एक अभिलेख में मंगलेश के नए मंदिर के 'मालाकारों' और उनको दिए गए अक्षय निधियों के दान का उल्लेख है।[42]

धर्म

युआग-च्वाग के अनुसार महाराष्ट्र के लोग धर्म के क्षेत्र में कट्टरपंथी भी थे और साथ ही धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले भी होते थे। महाराष्ट्र में उस समय सौ से अधिक बौद्ध बिहार थे। भिक्षुओं की संख्या 5000 से अधिक थी।[43] इनमें हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों के लोग थे। 'जीवनी' में यह भी लिखा है कि 'कुछ विधर्मी भी हैं जो देवों के उपासक हैं और अपने शरीर में भस्म रमाए रहते हैं।'[44] राजधानी में—चीनी यात्री का तात्पर्य वातापी में न होकर नासिक से था—अशोक के 5 'स्तूप' थे। इनके अतिरिक्त भी पत्थर और ईंटों के बने बहुत से स्तूप थे। महाराष्ट्र के वर्णन के अंत में उसने अजंता की गुफाओं का उल्लेख किया है। वैटर्स के मतानुसार उसने उनका अपनी आंखों देखा वर्णन किया है, जबकि अन्य विद्वानों को इसमें संदेह है। युआग-च्वाग ने लिखा है:' 'देश के पूर्वी भाग में पहाड़ हैं, इनमें एक के बाद दूसरी पहाड़ी ऊंची उठती चली गई है, चोटियों की कतारें हैं। यहां एक बिहार था। बड़े अंधेरे दुर्मार्ग में उसका तलघर था। इसके उन्नत कक्ष और गहरे कोष्ठ पीछे खड़ी चट्टानों को काटकर बनाए गए थे और इनके सामने घाटी थी। यह विहार पश्चिम भारत के अ-चे-लो (आचार) ने बनवाया था।···विहार में ही एक विशाल मंदिर भी था जो 100 फुट ऊंचा था। इसमें बुद्ध की पत्थर की एक प्रतिमा थी जो 70 फुट से अधिक ऊंची थी। इस मूर्ति के इर्द-गिर्द सात छत्रों की कतार थी। ये एक दूसरे से बंधे न थे और निराधार थे। हर छत्र अपने ऊपर के छत्र से तीन फुट के फासले पर था। मंदिर की दीवारों पर बोधिसत्व की कथाओं का चित्रण था। उनमें गौतम की बोधि और उनके 'महापरिनिर्वाण' का भी अंकन हुआ था। इन अंकनों में कलाकार ने महान और लघु सभी का अंकन किया था। विहार के मुख्य द्वार के बाहर दोनों ओर उत्तर और दक्षिण में पत्थर के हाथी बने थे। यहां यात्रियों को बतलाया जाता था कि इन हाथियों के चीखने से भूकंप आता है। पू-स-चे-न्-न अथवा दिङ्नाग हमेशा इसी विहार में ठहरते थे।' इस वर्णन से प्रतीत होता है कि चीनी यात्री ने जब इस स्थान को देखा होगा, तो उस समय उसकी स्मृति जितनी स्पष्ट थी इन्हें लिखते समय वह धुंधली पड़ चुकी थी। चीन के इस महान यात्री ने उस महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म की स्थिति के बारे में जो कुछ लिखा है उसके समर्थन अथवा खंडन के लिए तत्कालीन अभिलेखों में कोई प्रमाण नहीं है। इनमें अन्य धर्मों का तो वर्णन है पर बौद्ध धर्म की उपेक्षा ही है।

राजपरिवारों के सदस्य आमतौर पर शैव और वैष्णव मतावलंबी थे। इन लोगों ने बादामी, पट्टदकल और अन्य स्थानों में शिव और विष्णु के अनेक मंदिरों का निर्माण कराया था। यद्यपि उन्होंने जैन मंदिरों को दान दिए थे और दूसरे लोगों द्वारा दिए गए दानों की मंजूरी भी दी थी तथापि किसी ने स्वयं जैन मत को नहीं अपनाया था। इस वंश के पहले राजाओं—पुलकेशिन प्रथम, कीर्तिवर्मन, मंगलेश और पुलकेशिन द्वितीय ने वैदिक यज्ञ किए थे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और विद्वान ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान किया था और 'ब्रह्मण्य' (सातवाहन परंपरा में), 'परम माहेश्वर' और 'परम वैष्णव' की उपाधियां प्राप्त की थीं। वे अपने इन कार्यों के लिए पर्याप्त गर्व का अनुभव करते थे। वे सूर्य अथवा चंद्र 'ग्रहणों' के अवसरों पर दान देते थे।[45] और 'स्मृतियों' में उल्लिखित 'व्रत' और 'दान' करते थे। उदाहरणार्थ मंगलेश के नेरूर दानलेख के अनुसार उसने कार्तिक द्वादशी को उपवास कर विष्णु की पूजा की थी फिर एक वैदिक विद्वान को कंडिवाटक ग्राम का दान दिया था।[46] मंगलेश ने पहाड़ कटवाकर एक मंदिर बनवाया था और उसमें विष्णु की प्रतिमा स्थापित की थी। फिर सूर्य, अग्नि और 'महाजनों' की उपस्थिति में हाथों में कुश और जल लेकर संकल्प की विधि से उसने उस मंदिर के निर्माण का पुण्य अपने भाई कीर्त्तिवर्मन को दे दिया था। अपने लिए उसने अपने भाई की सेवा और उसके दानों की रक्षा का पुण्य अवश्य रख लिया था। प्रायः प्रत्येक दान के साथ इस प्रकार की औपचारिकता का निर्वाह किया जाता था। कभी-कभी दान खास कार्यों के लिए दिए जाते थे। विष्णुवर्धन के सतारा के दानलेख[47] के अनुसार कतिपय ब्राह्मण-बंधुओं को एक गांव का दान 'बलि, चरु, वैश्वदेवाग्निहोत्र-हवन-पंचमहायज्ञोत्सर्पणार्थम्' दिया गया था। विक्रमादित्य के तालमंचि के ताम्रपत्राभिलेख के अंत में 'स्वस्त्यस्तु गोब्राह्मणेभ्यः' लिखा है। इन मंदिरों में अक्सर महोत्सव मनाए जाते थे, इसका पता हमें आदित्यवर्मन के पहले वर्ष के कर्नूल ताम्रपत्राभिलेख से मिलता है जिसमें कार्तिक पूर्णिमा के दिन 'पैतामहि हिरण्यगर्भ महोत्सव' पर दान देने का उल्लेख आया है।[48] दकन के शैव-मत का उत्तर के अपने उत्स से संबंध बना हुआ था, इसका पता हमें इस बात से चलता है कि गंगा के उत्तरी किनारे से पट्टदकल आकर वहां के विजयेश्वर (संगमेश्वर) मंदिर में ज्ञानशिवाचार्य नाम का एक शैव 'अर्चक' का कार्य करता था। इस आचार्य ने 30 'गद्याण' की लागत से क्रीत 30 'निवर्त्तन' भूमि की एक अक्षयनिधि स्थापित की थी जिसकी आमदनी से 'आचार्यों' के व्याख्यान के व्यय, मंदिर की पूजा और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध किया गया।

जैन धर्म का काफी प्रचार था और जनता द्वारा इसका पर्याप्त आदर किया जाता था। रविकीर्ति ने ऐहोल में जिन का मंदिर बनवाया था। वह इस बात का दावा करता है कि उसे पुलकेशिन द्वितीय की अनुकंपा प्राप्त थी। इसी से वह इतना विशाल और महान मंदिर (भवन महिम्नाम्) बनवाने में सफल हुआ था। कुंकुमदेवी के गुडिगेरे के मंदिर का उल्लेख हो चुका है। जेबुलगैरी के मुखिया कलियम्म जैन ने कीर्त्तिवर्मन द्वितीय के राज्यकाल में अग्निगेरे में एक चैत्य बनवाया था। कोंडिसूलर कुप्प अपर-नाम कीर्त्तिवर्मन गोसाई ने प्रभुनाम (राजा के नाम वाले) मंदिर के सामने जैन मुनि की प्रतिमा स्थापित की थी।[49] दूसरे भी ऐसे अभिलेखीय प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उस काल में जैन धर्म खूब फल-फूल रहा था, इस संबंध में प्रस्तरलेखादि के उपलब्ध अन्य प्रमाणों के यहां उल्लेख की आवश्यकता नहीं। इस काल के साहित्य की रूपरेखा देते समय कुछ का उल्लेख किया जाएगा।

साहित्य

संस्कृत

संस्कृत साहित्य का अध्ययन होता था और इस काल की उसकी विभिन्न शाखाओं की रचनाएं भी मिलती हैं। राजपरिवार के राजकुमार स्वयं 'पुराणों' और 'शास्त्रों' का अध्ययन करते थे और इनके पंडितों का आदर करते थे और उन्हें आश्रय देते थे। इस काल के अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि साहित्य और अभिलेखों की रचना पर संस्कृत के श्रेण्य ग्रंथों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क्लासिक्स) का गहरा प्रभाव था। मंगलेश का महाकूट का अभिलेख साहित्य के विकास की दृष्टि से मील का एक पत्थर है। इससे पता चलता है कि 600 ई० के आसपास अलंकृत गद्य, जिसका संबंध उत्तर भारत के हर्षवर्धन के राजकवि बाण से जोड़ा जाता है, दक्षिण में काफी विकसित हो चुका था क्योंकि इस अभिलेख में 'अर्थशास्त्र', 'रामायण' और कालिदास के 'रघुवंश' से कुछ पदावलियां निःसंकोच ली गई हैं। जैसाकि कीलहार्न ने कहा है रविकीर्ति ने पुलकेशिन द्वितीय की ऐहोल 'प्रशस्ति' की रचना कालिदास-कृत 'रघुवंश' में वर्णित रघु की 'दिग्विजय' के नमूने पर की है। इस 'प्रशस्ति' के अंत में वह यह दावा करता है कि उसने कालिदास और भारवि के तुल्य यश अर्जित किया है। यद्यपि यह अतिरंजना तो अवश्य है तथापि यह प्रशस्ति साहित्यिक दृष्टि से कम महत्व की नहीं है। अनेक छंदों पर कवि का पूर्ण अधिकार साफ जाहिर है। पुलकेशिन द्वितीय के श्वसुर और सामंत गंगराज दुर्विनीत ने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की थी और 'किरातार्जुनीय' के सबसे क्लिष्ट पंद्रहवें सर्ग पर टीका भी लिखी थी।[50] ऐसा प्रतीत होता है कि उसने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का संस्कृत में अनुवाद भी किया था। यह इस पुस्तक का संस्कृत का सबसे पुराना अनुवाद था जो अब उपलब्ध नहीं है। जैसा कि प्रो० पा० वा० काणे ने कहा है चंद्रादित्य की रानी विजयभट्टारिका ही संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री विजयांका अथवा विज्जिका थी जो अपने को 'कर्णाट राजप्रिया' बतलाती है और कवि दंडी पर आरोप लगाती है कि उन्होंने वृथा ही ऐसा लिख दिया कि सरस्वती 'सर्वशुक्ला' थी। उन्हें इस बात का पता न था कि वे नीलकमल की भांति श्याम थीं। काव्यसंग्रहों में उसके नाम से संबद्ध जो कुछ पद्य मिलते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य राजशेखर ने उसकी जो इतनी प्रशंसा की है वह उसके सर्वथा योग्य थी। राजशेखर के मतानुसार कालिदास के बाद वैदर्भी शैली का आश्रय कर्णाट कवयित्री विजया ही है।[51] भरतनाट्य की विजय की स्मृति में जो पद्य अचलद ने आर्या छंद में लिखे हैं वे नाट्यशास्त्र और कला के इतिहास के एक विस्मृत अध्याय की याद दिलाते हैं। संवत् 651 शाके (729 ई०) में रक्तपुर (लक्ष्मेश्वर) के स्कंधावार से राजा विजयादित्य ने जिस निरवद्य उदयदेव पंडित को ग्राम का दान दिया था, वह जैनों के प्रसिद्ध वैय्याकरण और आचार्य मुनि पूज्यपाद का शिष्य था जिन्होंने संस्कृत के 'जैनेंद्र-व्याकरण' की रचना की थी।[52] एक दूसरे प्रसिद्ध जैन लेखक सोमदेव सूरि को, जो इसके दो शताब्दी बाद हुए थे, वेमुलवाद के चालुक्यों का आश्रय प्राप्त था। इन्होंने 'यशस्तिलक' चंपू की रचना की थी। इसमें अनेक कथाओं के माध्यम से जैन धर्म की मान्यताओं के अनुसार जीवहिंसा के विरुद्ध प्रचार किया गया है और अन्य उपदेश दिए गए हैं। सोमदेव सूरि ही राजनीति के प्रसिद्ध ग्रंथ 'नीतिवाक्यामृत' के भी रचयिता थे। यह 'धर्म' विशिष्ट 'अर्थशास्त्र' है। ये दोनों ही ग्रंथ सोमदेव सूरि के महान ज्ञान और उनके श्रेष्ठ शैलीकार होने के स्पष्ट प्रमाण हैं।[53]

उस काल में जनता की भाषा कन्नड़ थी। कन्नड़ का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ प्राप्त है वह राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग द्वारा रचित अलंकारशास्त्र का 'कविराज मार्ग' नामक ग्रंथ है। यद्यपि ऐसे प्रमाण भी हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इससे पहले भी कन्नड़ में प्रभूत साहित्य रचा गया था, किंतु अब केवल कुछ लेखकों के नामों के अतिरिक्त उस युग का कुछ भी साहित्य उपलब्ध नहीं है। 'कविराजमार्ग' में कन्नड़ के श्रेष्ठ लेखक जिस दुर्विनीत का उल्लेख है वह पुलकेशिन द्वितीय का श्वसुर गंग राजा ही रहा होगा। यदि यह सच है तो दुर्विनीत कन्नड़ और संस्कृत दोनों भाषाओं का विद्वान था। कन्नड़ का एक दूसरा प्रसिद्ध लेखक श्रीवर्धदेव था जो तुंबलूराचार्य के नाम से ही जाना जाता था उसका यह नाम उसके जन्मस्थान तुंबलूर के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम पर पड़ा था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने 'तत्वार्थमहाशास्त्र' पर 'चूड़ामणि' नाम की एक वृहत् टीका लिखी थी, जिसमें 96,000 छंद थे। यद्यपि कन्नड़ के प्रसिद्ध वैय्याकरण भट्टकलंक (1604 ई०) ने कन्नड़ की श्रेष्ठ रचना के रूप में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है[51] तथापि अभी तक यह ग्रंथ मिल नहीं पाया है। बाद के लेखकों ने प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ के जिस प्रसिद्ध लेखक श्यामकुंदाचार्य का उल्लेख किया है वह भी संभवतः तुंबलूराचार्य का समकालीन था अथवा वह उसके कुछ समय बाद ही (लगभग 650 ई०) में हुआ था।

पंप का जन्म 902 ई० में हुआ था। वह वेमुलवाद के राजा अरिकेसरी द्वितीय का सभासद था। पंप के कथनानुसार उसके पूर्वज वेंगी से आए थे। उसने 32 वर्ष की ही उम्र में एक ही साल में दो ग्रंथों की रचना की थी जो कन्नड़ साहित्य में वरेण्य काव्य माने जाते हैं जो उचित ही है। पंप ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आदिपुराण' में प्रथम जैन तीर्थंकर की जीवनगाथा लिखी है। उसके दूसरे ग्रंथ का नाम 'विक्रमार्जुनविजय' है। इसमें उसने अपने ढंग से महाभारत की कथा लिखी है। इस कारण उसे 'पंप-भारत' भी कहते हैं। इसका नायक अर्जुन है जिसके साथ पंप ने अपने आश्रयदाता अरिकेसरी की तुलना की है। इस प्रकार उसने अपने समय के लौकिक इतिहास के कुछ ब्यौरे दिए हैं। सभी आलोचकों ने पंप को कन्नड़ का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है।

संदर्भ

1. 'नेरूर दानलेख, 'इं० ऐं' vii. 161.
2. वादामी अभिलेख, 'इं० ऐं०', vi, 363.
3. 'ऐं० रि० ए०', (1934-5) ii, 8.
4. 'इं० ऐं०', xviii, 37-39.
5. 'क० इं०', पृ० 3.
6. 'बा० क०', 1926-7 का 127.
7. 'ए० इं०', ix, 205.
8. 'इं० ऐं०', x, 103.
9. वही, 170, 112 और 113.
10. विनयादित्य का बेलगांवे अभिलेख, 'इं० ऐं०', xix, 144-5; विक्रमादित्य द्वितीय का ऐहोल-अभिलेख, 'इं० ऐं', viii, 286 और युवराज विक्रमादित्य का लक्ष्मेश्वर अभिलेख, 'ए० इं०', xiv, 188.
11. तलमंचि ताम्रपट्ट.
12. कर्नूल, होन्नूर और गद्वाल के ताम्रपट्ट.
13. 'ए० इं०' x, रायगढ़ ताम्रपट्टों पर पाठक का लेख.
14. 'बां० क०', 1932-3 का 43.
15. 'सा० इं० इं०', ix (i) सं० 46.
16. 'इं० ऐं०', xix, 309-10.
17. 'सा० इं० इं०' xi (i) सं० 5.
18. 'क० इं० सं०', 8.
19. 'बां० क०' 1933-4 का 16
20. 'सा० इं० इं०' ix (i) सं० 48.
21. 'ए० इं०' xiv, 188. इस दुरूह अभिलेख में सब कुछ स्पष्ट नहीं है. यहां केवल वे ही बातें कही गई हैं जो एकदम स्पष्ट हैं.
22. फ्लीट; 'इं० ऐं०', xix, 144-5; वही है जो 19 का 8 और 'ए० क०' 47 संस्कृत; कतिपय बातों में मेरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राय फ्लीट से भिन्न है.

23. 'सा० इं० इं०' ix (i) सं० 46, पंक्तियां 66-67.
24. 'क० इं०, सं०', 2.
25. 'इं० ऐं०', viii, 285.
26. वही, viii 286.
27. वही, x, 167, फ्लीट ने 'तगप्पिल' का जो अर्थ किया है उससे मेरा अर्थ भिन्न है.
28. आदित्यवर्मन के गदवाल, कर्नूल के ताम्रपट्ट, सा० इं० इं० 9 (i) सं० 48 आदि.
29. वैटर्स ii, 239.
30. बील : 'लाइफ', पृ० 146-7.
31. 'क० इं०', पृ० 3.
32. वही, पृ० 9.
33. वही, पृ० 3 पाठ की पंक्तियां 9-10.
34. 'इं० ऐं', x, 164-65.
35. वही, पृ० 168.
36. 'ए० इं०', iii, 5.
37. 'इं० ऐं०', vi, 363.
38 वही, vii, 106.
39. 'क० इं०', i. 7-8.
40. 'इं० ऐं०', x, पृ० 166.
41. वही, पृ० 167.
42. वही, पृ० 60.
43. वैटर्स, 2, 239.
44. 'लाइफ', पृ० 147.
45. पुलकेशिन द्वितीय का हैदराबाद दानलेख, तलमंचि और होन्नूर आदि के ताम्रपट्ट.
46. 'इं० ऐं०' vii, 161.
47. वही, xix, 309-10.
48. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०', xvi, 233-5
49. 'ए० इं०', xxi, 204.
50. कीथ : 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' पृ० xvii, की 'अवंतिसुंदरी कथा' और 'सार' को छोड़कर अन्य संदेह निराधार हैं.
51. काणे का 'साहित्यदर्पण' (1923), पृ० xl—xli और वी० राघवन : 'संस्कृत ऐंड प्राकृत पोयटेसेज', 'क्वा० ज० मि० सो०', 35.
52. 'डा० क० डि०', पृ० 373; राइस : 'कन्न० लिट्०'; पृ० 26-27.
53. कीथ : 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', पृ० 333-6 और पृ० 463-4.
54. राइस : पूर्वो०, पृ० 27.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड पांच

राष्ट्रकूट वंश का इतिहास

डा० अ० स० अल्तेकर

1. राष्ट्रकूट वंश : राष्ट्रकूट शब्द का महत्व और राजवंश का कालक्रम.
2. राष्ट्रकूट वंश के राजा : दंतिदुर्ग (लगभग 735-753 ई०); कृष्ण प्रथम (लगभग 756-772 ई०); गोविंद द्वितीय (लगभग 773-780 ई०); ध्रुव धारावर्ष (लगभग 780-793 ई०); गोविंद तृतीय (लगभग 793-814 ई०) शर्व अमोघवर्ष (लगभग 819-881 ई०); कृष्ण द्वितीय (लगभग 880-914 ई०); इंद्र तृतीय (लगभग 914-928 ई०); अमोघवर्ष द्वितीय (लगभग 928-929 ई०); गोविंद चतुर्थ (लगभग 930-936 ई०); अमोघवर्ष तृतीय (लगभग 936-939 ई०); कृष्ण तृतीय (लगभग 939-967 ई०); खेट्टिग (लभगग 967-973 ई०); कर्क्क द्वितीय (सितंबर 972-दिसंबर 973 ई०).
3. शासनप्रणाली.
4. धर्म.
5. सामाजिक श्रौर आर्थिक अवस्था.
6. शिक्षा और साहित्य.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रकूट वंश

चालुक्यों के बाद राष्ट्रकूटों का शासन हुआ। राष्ट्रकूट किसी नृजाति या कबीले का नाम नहीं हैं। मध्य युग में जैसे 'देश' अथवा 'जिले' के अधिकारी को 'देसाई' या 'देखमुख' कहते थे, उसी प्रकार राष्ट्रकूट उस भौगोलिक इकाई के शासक थे, जिसे 'राष्ट्र' कहते थे। प्राचीन काल में राज्यों का विभाजन राष्ट्रों में होता था। 'ग्राम' के अधिकारी का अभिधान 'ग्रामकूट' था, वैसे ही 'राष्ट्र' के अधिकारी का अभिधान राष्ट्रकूट था। इसके पहले के अभिलेखों में इसके ही अन्य नाम, जैसे संस्कृत में राष्ट्रिय और प्राकृत में 'रठिक' मिलते हैं। सातवीं और आठवीं शताब्दी के दकन के दानलेखों में ग्रामकूटों और राष्ट्रकूटों को हिदायत दी गई है कि वे दान-ग्रहीताओं के भोग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। यही नहीं, 742 ई० के एक दानलेख में दंतिदुर्ग, जो राष्ट्रकूट वंश का संस्थापक था, स्वयं अन्य राष्ट्रकूटों को हिदायतें देता है कि वे दान-ग्रहीता के भोग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।

राष्ट्रकूट 'राष्ट्र' का अधिकारी होता था। इस राष्ट्र का आकार हर शताब्दी और शासक वंश के अनुसार घटता-बढ़ता रहता था। मौर्यों के शासन में राष्ट्रिय गुजरात या काठियावाड़ प्रांत का शासक होता था। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में महाराष्ट्र और बरार में रठिक या महारठिक, जो परवर्ती राष्ट्रकूटों के तुल्य थे, जिस राष्ट्र के शासक होते थे वह इससे काफी छोटा इलाका होता था। उनके अधिकार क्षेत्र आधुनिक दो या तीन जिलों से बड़े नहीं होते थे। कभी-कभी तो वे जिलों के और छोटे भाग यानी ताल्लुकों और तहसीलों के बराबर के इलाकों के अधिकारी होते थे। ये अधिकारी सदा केंद्र के अधीन होते थे। यदि केंद्र दुर्बल पड़ा तो ये उसके स्वतंत्र या अर्धस्वतंत्र शासक बन जाते थे और फिर वे छोटे सामंत घरानों की स्थापना कर लेते थे।

छठी और सातवीं शताब्दियों में हम दकन के विभिन्न भागों में ऐसे अनेक सामंत घरानों को शासन करते पाते हैं। होशंगाबाद जिले में मान्यपुर का अभिमन्यु ऐसा ही शासक था। हम देख चुके हैं कि वह छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में वर्तमान था। उससे थोड़े समय पहले ही उसने राष्ट्रकूट उपनाम धारण किया था। अभिमन्यु के बाद उसके घराने के बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उस समय बादामी के चालुक्यों के हृदय प्रदेश में ही अनेक राष्ट्रकूट शासक शासन कर रहे थे। दक्षिण महाराष्ट्र के सेंद्रक चालुक्यों के निकट के संबंधी थे। सातवीं शताब्दी के मध्य के आसपास इन सेंद्रकों की अपने पड़ोसी राष्ट्रकूट घराने से प्रगाढ़ मैत्री थी।[2] किंतु चालुक्यों के स्थान पर जिन राष्ट्रकूटों ने अपने वंश की स्थापना की थी उनका इन पूर्ववर्ती राष्ट्रकूटों से कोई ताल्लुक न था। वे हैदराबाद राज्य के उस्मानाबाद जिले के लट्टलूर, आधुनिक लाटूर, नामक स्थान के मूल निवासी थे। लाटूर आज एक छोटा सा कस्बा मात्र है। लट्टलूर कन्नड़भाषी इलाके में था और इन राष्ट्रकूटों की मातृभाषा भी कन्नड़ ही थी। दुर्गराज,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोविंदराज और स्वामिकराज, जा लगभग 570 से 630 ई० के बीच हुए, बादामी के चालुक्यों के अधीन जिलों के शासक मात्र थे। स्वामिकराज का पुत्र नन्नराज योग्य और महत्वाकांक्षी था। वह लट्टलूर से बरार चला आया। यहां उसने युद्ध में वीरता दिखाई। इसने संभवतः पुलकेशिन द्वितीय के अधीन लगभग 640 ई० में सामंत का पद प्राप्त कर बरार में अपने लिए एक छोटा सा सामंत प्रदेश भी बना लिया था जिसकी राजधानी अचलपुर थी, जो आज एलिचपुर के नाम से ख्यात है। अचलपुर जहां से इस परिवार का विकास हुआ, लट्टलूर से सिर्फ 225 मील दूर था। इतिहास में ऐसे महत्वाकांक्षी सैनिक काफी संख्या में मिलते हैं जो अपनी तकदीर आजमाने के लिए अपने घरों से बाहर निकल गए थे। चालुक्य वंश के ही कुछ लोग बादामी से निकलकर सुदूर गुजरात और आंध्र देश में चले गए थे जहां उन्होंने अपना पृथक राज्य बना लिए। इसी प्रकार सेन कर्नाटक से निकलकर बंगाल चले गए थे जहां उन्होंने अपना राज्य बना लिया था। महाराष्ट्र से अनेक मराठा परिवार बाहर गए जिनमें से कुछ तंजौर, इंदौर और ग्वालियर में अपने राज्य वंशों की स्थापना करने में सफल हो गए। अतः यदि नन्नराज उत्तर कर्नाटक से चलकर बरार आया और वहां उसने अवसर का लाभ उठाकर अपने लिए एक पृथक छोटा सा सामंत राज्य बना लिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

दंतिदुर्ग के उदय के समय यह परिवार चार पीढ़ियों से बरार में रह रहा था। लगभग 750 ई० में दंतिदुर्ग महाराष्ट्रीय बन चुका था क्योंकि हम उसे इस बात में गर्व का अनुभव करते पाते हैं कि उसने अपने चालुक्य सम्राट कीर्तिवर्मन द्वितीय की कर्नाट सेनाओं को हराया था।[3] किंतु जब लगभग 760 ई० में उन्होंने कर्नाटक पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया और अपनी राजधानी उसी प्रदेश में मान्यखेट (आधुनिक मालखेड) में स्थापित की तो राष्ट्रकूट सम्राटों ने पुनः कर्नाटक की संस्कृति और रहन-सहन अपना लिया। इसके बाद उनके लेख कन्नड़ लिपि में मिलने लगते हैं। इनमें से अमोघवर्ष प्रथम ने तो कन्नड़ में एक ग्रंथ भी लिखा। इस ग्रंथ से मुदुवोलाल और कुपनगर के बीच प्रचलित शुद्ध कन्नड़ के प्रति उसके अनुराग का परिचय मिलता है।

अब हम नन्नराज के इतिहास की ओर लौटेंगे। वंश में वही पहला व्यक्ति था जिसने सामंत पद पाया था। अतः हम उसे ही राष्ट्रकूट वंश का संस्थापक मानते हैं। उसने बाज पक्षी को अपने वंश का राजचिह्न बनाया। उसके वंशजों ने भी यही राजचिह्न बनाए रखा। उसका शासनकाल लगभग 630 से 650 ई० के बीच में रख सकते हैं। नन्नराज के बाद उसका बेटा अथवा भतीजा दंतिदुर्ग गद्दी पर बैठा। उसने लगभग 650 से 665 ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के करीब 80 साल बाद राष्ट्रकूटों ने जो लेख आदि जारी किए थे, उनमें उसके राज्य-काल का वर्णन आया है। किंतु, वह पारंपरिक शैली में ही हैं। जैसे, उनमें लिखा है कि कैसे बाहर से आने वाले यात्री जब उन महलों में जाते थे जिनमें कभी उसके शत्रुओं का निवास था तो उन परित्यक्त महलों की दीवारों पर बने चित्रों को देखकर वे दुखी होते थे। इनमें किसी शत्रु का नाम नहीं दिया है। अतः ऐसे घिसे पिटे वर्णनों का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है।

दंतिदुर्ग के पुत्र का नाम इंद्र पृच्छकराज और पौत्र का नाम गोविंदराज था। उन्होंने लगभग 665 से 700 ई० तक राज्य किया। हमें उनके कार्यों के बारे में कोई जानकारी नहीं है। गोविंद शैव था। उसके बारे में लिखा है कि शिव के अतिरिक्त उसने अन्य किसी देवता के आगे सिर नहीं नवाया था। सर रा० गो० भंडारकर ने उसको पहचान उस गोविंद से की है जिसने भीमा नदी के उत्तर से पुलकेशिन द्वितीय पर आक्रमण किया था। किंतु उनका मत ग्राह्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं है। पुलकेशिन द्वितीय के शत्रु गोविंद का समय 610 से 630 ई० के बीच है। इंद्र पृच्छक-राज ने तो उससे 70 साल बाद राज्य किया था।

गोविंद प्रथम के बाद उसका बेटा कर्कराज गद्दी पर बैठा। उसने लगभग 700 से 715 ई० तक राज्य किया। वह वैष्णव था। बाद के प्रशस्तिकारों ने लिखा है कि उसका नाम सुनकर ही उसके शत्रुओं की पत्नियों की आंखों से आंसू और कलाइयों से कंकण गिर पड़ते थे। इस प्रकार की प्रशंसाओं से तत्कालीन इतिहास के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः अब तक जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे उसके समय की घटनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता।

कर्क के चार बेटे थे, उनके नाम इंद्र, ध्रुव,[4] कृष्ण और नन्नराज थे। संभवतः इनका जन्म भी इसी क्रम से हुआ था। इनमें इंद्र सबसे महत्त्वाकांक्षी था। उसने लगभग 715 से 735 ई० तक राज्य किया। अपने भाइयों की सहायता से उसने अपने राज्य का उत्तर की ओर विस्तार किया था। शीघ्र ही उसमें मध्यप्रदेश के मराठी भाषी इलाके शामिल हो गए थे। पर वह चालुक्य राजा विजयादित्य (697 से 733 ई०) का सामंत बना रहा। हमें यह न भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत के सम्राट अपने सामंतों के राज्य अथवा प्रभाव के विस्तार पर ऐतराज नहीं करते थे बशर्ते कि वह क्षेत्र दूसरे किसी राजा के राज्य में पड़ता हो और इससे उनको अपनी सत्ता को खतरा न पैदा हो और यह भी कि वह उनके अपने किसी अन्य सामंत के राज्य का अंश न हो।

इंद्र प्रथम के शासन की घटनाओं का अवधारण करने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का विहंगमावलोकन आवश्यक है। इंद्र के वर्धमान राज्य के दक्षिण में चालुक्यों का साम्राज्य पड़ता था। इंद्र चालुक्य विजयादित्य का सामंत था। पश्चिम में गुजरात के चालुक्यों का, जिनकी राजधानी नौसारी नंदिपुरी थी जो सूरत जिले में है, और गुर्जरों का राज्य था जिनकी राजधानी नंदिपुरी अथवा नांदोद थी। यह स्थान भड़ोच से करीब 28 मील उत्तर पूरब में है। ये दोनों राज्य क्षेत्र और साधनों की दृष्टि से इंद्र के राज्य से हीन थे। नौसारी में चालुक्य राजा मंगलराज विनयादित्य था जिसने लगभग 700 से 732 ई० तक राज्य किया। नंदिपुरी के गुर्जर राजा जयभट्ट तृतीय के शासन की अवधि भी लगभग यही (700 से 735 ई०) है। वलभी का राजा शीलादित्य पंचम (लगभग 710 से 740 ई०) भी इंद्र का समकालीन था। वह उत्तर गुजरात में कैरा और पंचमहल जिलों का राजा था।

इंद्र प्रथम के शासन की सिर्फ एक घटना का पता है। वह यह कि उसने गुजरात के कैरा नामक स्थान में चालुक्य राजा को युद्ध में हराकर उसकी राजकुमारी भवनागा से राक्षस-विवाह किया था। खेद है कि उस चालुक्य राजा का नाम कहीं नहीं दिया गया है। संभवतः वह चालुक्य सामंत मंगलराज विजयादित्य अथवा उसका छोटा भाई पुलकेशिन रहा होगा। चालुक्यों का एक छोटा सा राज्य था जो ताप्ती के परे नहीं था। ताप्ती और कैरा के बीच जहां यह घटना घटी थी वह स्थान नंदिपुरी के गुर्जरों का सामंत राज्य था। फिर भवनागा का विवाह कैरा में क्यों हुआ। वह तो वलभी के मैत्रकों के राज्य में पड़ता था। यह एक पहेली ही है। इसकी वजह यह हो सकती है कि राजकुमारी का विवाह संभवतः वलभी के राजकुमार के साथ होना निश्चित हुआ होगा। कैरा में इसके लिए एक 'पंडाल' में एक प्रकार के 'स्वयंवर' का आयोजन किया गया होगा। संभवतः इंद्र भी उस 'स्वयंवर' में दर्शक के रूप में आया हो और राजकुमारी के पिता की इच्छा के विरुद्ध स्वयंवर स्थल से राजकुमारी का अपहरण कर ले गया हो। इससे गुजरात के चालुक्य राजा मंगलराज और इंद्र के बीच अनबन अवश्य ही हुई होगी। किंतु हिंदू विवाह तो एक संस्कार होता है जिसे भंग नहीं किया जा सकता। इसलिए अंततोगत्वा मंगलराज को अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दामाद से मेल करना ही पड़ा होगा। यह विवाह 715 ई० के लगभग हुआ होगा।

इंद्र के इस 'राक्षस' विवाह से यही प्रकट होता है कि इंद्र उस समय तक इतना शक्तिशाली हो चुका था कि वह एक साथ ही गुजरात के चालुक्यों और वलभी के मैत्रकों को चुनौती दे सके। इस घटना के वाद उसकी प्रतिष्ठा और महत्वाकांक्षा बढ़ गई होगी। फिर उसने किस प्रकार उत्तर में मध्य प्रदेश के मराठी इलाकों में अपने राज्य का विस्तार किया, यह पूर्व ही बताया जा चुका है।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', xxv, 25.
2. 'ए० इं०', xxi, 289.
3. 'ए० इं०', xi, 112.
4. ध्रुव कक्कं का बेटा था. यह एक संभाव्य कल्पना है जिसका आधार कक्कं द्वितीय द्वारा सन 757 ई० मे जारी किए गए अंतरौली छरौली के ताम्रपट्ट हैं. यह कक्कं द्वितीय ध्रुव का परपोता था. इस मान्यता का प्रस्ताव डा० भगवानलाल इंद्रजी ने किया था.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रकूट वंश के राजा

दंतिदुर्ग
(लगभग 735 से 55 ई०)

राष्ट्रकूट साम्राज्य के संस्थापक दंतिदुर्ग के शासन की ठीक-ठीक तिथि अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। किंतु सन 742 ई० तक वह काफी प्रसिद्ध हो चुका था। अतः हम उसके राज्य का प्रारंभ सन 735 ई० से बखूबी रख सकते हैं। जिस समय वह गद्दी पर बैठा था उसकी उम्र सिर्फ 20 साल थी। उसके चाचा कृष्ण, ध्रुव और नन्न उससे बड़े रहे होंगे, किंतु उन्होंने उसके अभिषेक का विरोध नहीं किया।

दंतिदुर्ग की चर्या को भलीभांति समझने के लिए हमें आठवीं शती के चौथे दशक की राजनैतिक परिस्थिति का अवलोकन करना होगा। गुजरात और काठियावाड़ में इस अवधि में एक नई बात हो गई थी जिसने वहां की छोटी-छोटी रियासतों को पंगु बना दिया था। सिंध के अरब सूबेदार जुवैद की सेना ने कच्छ काठियावाड़ और गुजरात पर कई आक्रमण किए थे। इन संघर्षों के कारण वलभी, नंदिपुरी और नौसारी के राजकोष खाली हो चुके थे। मैत्रकों का राज्य अरब आक्रामकों के रास्ते में पड़ता था। अतः अरब आक्रमणों के सबसे प्रबल आघात मैत्रक राजा शीलादित्य पंचम को ही सहने पड़ते थे। मैत्रकों को इस समय गुर्जर राजा जयभट्ट तृतीय से बड़ी मदद मिली थी। जयभट्ट ने 734 ई० के अपने लेख में इस बात पर गर्व प्रकट किया है कि उसने अरबों के हमले की वलभी में लगी आग को बुझाया था।[1] किंतु गुर्जर और मैत्रक अरबों के आक्रमणों की बाढ़ को अधिक समय तक नहीं रोक सके। अरबों ने इन दोनों को हरा दिया और वे 736 ई० के आसपास नौसारी तक चढ़ आए थे। नौसारी के पास भयंकर युद्ध हुआ और उसमें गुजरात के चालुक्य राजा पुलकेशिन जनाश्रय ने अरबों को हरा दिया। इससे पहले अरब सैंधवों, मैत्रकों और गुर्जरों को हरा चुके थे। इसलिए पुलकेशिन की यह विजय बड़े मार्के की थी। उसके प्रभु सम्राट विक्रमादित्य द्वितीय ने इस विजय के उपलक्ष में उसे 'चालुक्य-कुलालंकार,' 'पृथ्वीवल्लभ,' 'अवनिजनाश्रय' और 'अविजितविजयी' की चार चार नई उपाधियों से सम्मानित किया।[2]

अरबों पर पुलकेशिन की यह विजय 736 या 737 ई० की घटना है। इसी के आसपास दंतिदुर्ग गद्दी पर बैठा था। पुलकेशिन के नौसारी के ताम्रपट्टों में विजय का सारा श्रेय चालुक्य राजा को दिया गया है जो स्वाभाविक ही है, किंतु संभवतः अपने स्वामी विक्रमादित्य द्वितीय की आज्ञा से दंतिदुर्ग ने भी इस युद्ध में पुलकेशिन की मदद की थी क्योंकि उसका राज्य पुलकेशिन के राज्य के पूरब में पड़ता था। पर यह मदद वाली बात अभी एक अनुमान मात्र है।[3] किंतु 742 ई० में जारी किए गए एलोरा के ताम्रपट्टों में दंतिदुर्ग ने 'पृथ्वीवल्लभ' की जो उपाधि ग्रहण की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है उससे इस अनुमान की पुष्टि होती है। इस अभिलेख में उसके पूर्ववर्ती राजाओं की उपाधि 'समधिगतपंचमहाशब्द', और 'सामंताधिपति' है जो उस काल के सामंतों की आम उपाधियां थीं, जबकि इसमें दंतिदुर्ग को 'पृथ्वीवल्लभ' और 'खड्गावलोक' कहा गया है। संभवतः उपाधियों में वृद्धि का कारण नई सफलताएं रही होंगी। हम देख चुके हैं कि अरबों पर विजय प्राप्त करने पर किस प्रकार विक्रमादित्य ने अपने सामंत को चार चार उपाधियां दी थीं। तब क्या यह संभव नहीं है कि इसी युद्ध में बहुमूल्य सहायता के उपलक्ष में विक्रमादित्य ने ही दंतिदुर्ग को भी 'पृथ्वीवल्लभ' और 'खड्गावलोक' की उपाधियां दी हों। इन उपाधियों का कारण चाहे जो रहा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 742 ई० में एलोरा के ताम्रपट्ट जारी करने से पूर्व दंतिदुर्ग किसी युद्ध में अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन कर चुका था। इस विजय के कारण उसके राज्य का विस्तार भी हुआ था।

दंतिदुर्ग ने अपने जीवन काल में कांची, कलिंग, श्रीशैल, कोशल, मालवा, लाट और संभवतः सिंध के राजाओं को हराने के अतिरिक्त चालुक्यों के साम्राज्य को उखाड़ फेंका था। इन सभी सफलताओं का कालक्रम निर्धारित करना आसान नहीं है, अतः नीचे हम जो कुछ इतिहास के रूप में कहेंगे वह अनंतिम ही है।

विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु 747 ई० में हुई थी। संभवतः इस समय तक दंतिदुर्ग चालुक्यों का निष्ठावान सामंत बना रहा। लगभग 743 ई० में चालुक्य युवराज कीर्तिवर्मन ने कांची के विरुद्ध एक अभियान का नेतृत्व किया था, जिसमें उसने एक बार पुनः पल्लव राजा को हराया था। दंतिदुर्ग इस अभियान में अपनी सेनाओं के साथ लड़ा था और स्वामी की विजय में उसका भी योग था। वापस लौटते समय कुर्नूल जिले में श्रीशैल के राजा के विरुद्ध युद्ध में भी वह शामिल हुआ था।[4]

दंतिदुर्ग ने दक्षिण और उत्तर के अभियानों में बहुमूल्य अनुभव प्राप्त किए। इन अभियानों में स्वयं अपने बाहुबल से अथवा मित्रों के साथ मिलकर उसने जो विजय प्राप्त की, उनसे अपना साम्राज्य खड़ा करने की महत्वाकांक्षा का उसके मन में उठना स्वाभाविक ही था। माता की ओर से उसके रक्त में चालुक्यों का भी रक्त था। इससे उसकी महत्वाकांक्षा को और भी बल मिला होगा। लगभग 744 ई० में जब वह कांची के अभियान से वापस लौटा तो उसने अपना साम्राज्य बनाने की इच्छा से अभियान करने का निश्चय किया। इसी समय 747 ई० में चालुक्य सम्राट की मृत्यु हो गई। और इस प्रकार बादामी के सिंहासन से एक अनुभवी शासक हट गया। इससे दंतिदुर्ग को अपनी योजनाओं को सफल बनाने में मदद मिली।

दंतिदुर्ग शूरवीर तो था ही, साथ ही वह सफल कूटनीतिज्ञ भी था। इसलिए उसने जो योजना बनाई उसमें इस बात का ध्यान रखा कि वह अपने राज्य का विस्तार इस प्रकार करेगा कि उसे अपने प्रभु चालुक्य राजा की ओर से कम से कम प्रतिवाद का सामना करना पड़े। चालुक्यों का गढ़ कर्नाटक में था और दंतिदुर्ग का सामंत राज्य बरार और मध्य प्रदेश में था। अतः उसने पूरब और पश्चिम में अपने राज्य के विस्तार का फैसला किया ताकि चालुक्य सम्राट की ओर से कम से कम विरोध हो। नंदिपुरी के गुर्जर और नौसारी के चालुक्य सामंत अरबों से लड़ते-लड़ते पस्त हो चुके थे। दंतिदुर्ग ने सबसे पहले इन्हीं राजाओं पर हमला कर उन्हें युद्ध में हरा दिया और उनके राज्य छीन लिए।[5] इस अभियान में उसे अपने चचेरे भाई गोविंद (ध्रुव के पुत्र) से बहुमूल्य सहायता मिली थी जिसके बदले उसने उसे दक्षिण गुजरात का शासक बना दिया। नंदिपुरी का राज्य उसने अपने अधीन कर लिया। उसके लेख में यह वर्णन आया है कि कैसे माहीनदी में उसके हाथी स्नान का आनंद उठाते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्य गुजरात पर अधिकार कर लेने के बाद दंतिदुर्ग ने पूरब की ओर दृष्टि फेरी और मालवा पर आक्रमण कर दिया। उस समय मालवा गुर्जर प्रतीहारों के अधीन था और वहां सीलुक और देवराज के बीच संघर्ष चल रहा था। ये उनकी दो शाखाओं के अगुआ थे। इस संघर्ष का लाभ दंतिदुर्ग ने उठाया और उसने उज्जैन पर कब्जा कर लिया। उसने अपनी इस विजय की खुशी में उज्जैन में 'हिरण्यगर्भदान' यज्ञ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस यज्ञ में सद्यःविजित गुर्जर प्रतीहार राजा ने उसके प्रतीहार (द्वारपाल) का काम किया था। वस्तुतः मालवा पर उसका यह आक्रमण एक धावा मात्र था। उसने मालवा को अपने राज्य में नहीं मिलाया, अपितु उसे अपने प्रभाव क्षेत्र में लाकर ही उसने संतोष कर लिया।

मालवा से दंतिदुर्ग बरार वापस आ गया। फिर उसने महाकोशल और छत्तीसगढ़ की ओर अभियान किया। उसके सामगढ़ के ताम्रपट्टों से विदित होता है कि उसके हाथी माही और महानदी में स्नान करते थे। कोशल के राजा के बारे में हमें कुछ भी पता नहीं जिसने दंतिदुर्ग का मुकाबला किया था। इस अभियान से वापसी के समय उसने संभवतः कलिंग के कुछ स्थानीय राजाओं को भी हराया था।

इस प्रकार उपर्युक्त सैनिक और कूटनीतिक उपायों से दंतिदुर्ग ने समूचे मध्यप्रदेश और मध्य और दक्षिण गुजरात को अपने राज्य या प्रभाव क्षेत्र में शामिल कर लिया। इसमें दक्षिण गुजरात को छोड़कर अन्य इलाके चालुक्य सम्राट, जिसका कि दंतिदुर्ग सामंत था, के साम्राज्य के अंतर्गत न थे। जब दंतिदुर्ग की शक्ति और उसके साधनों का इतना विस्तार हो गया तो कीर्तिवर्मन द्वितीय का ध्यान उसकी ओर गया। अतः दोनों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया।

कीर्तिवर्मन द्वितीय ने नौसारी के गुर्जर सामंत को पुनः प्रतिष्ठित करने का यत्न किया होगा। इसी बात को लेकर कीर्तिवर्मन द्वितीय और दंतिदुर्ग में खुल्लमखुला संघर्ष हुआ होगा। दंतिदुर्ग के दक्षिण गुजरात खाली करने से इनकार करने पर युद्ध की घोषणा हुई होगी। इन दोनों की सेनाओं में कहां लड़ाई हुई, इसका ठीक-ठीक पता नहीं है। यह युद्ध संभवतः मध्य महाराष्ट्र में कहीं हुआ होगा। इस युद्ध में दंतिदुर्ग की विजय हुई थी। उसे यह विजय संभवत किसी कूटनीतिक चाल से मिली थी क्योंकि उसके राजकवि के कथनानुसार बिना किसी शस्त्र के उठाए उसने अपनी भ्रू-भंगिमा से ही कीर्तिवर्मन की कर्नाट सेना को परास्त कर दिया था।

इस विजय से दंतिदुर्ग महाराष्ट्र का शासक तो अवश्य बन गया पर निस्संदेह इससे चालुक्य शक्ति चकनाचूर नहीं हुई थी क्योंकि 757 ई० तक कीर्तिवर्मन समूचे कर्नाटक का शासन करता रहा। 754 ई० में उसने सतारा जिले के एक गांव का दान किया और 757 ई० में हम उसे अपनी विजयवाहिनी के साथ भीमा के तट पर एक स्कंधावार में देखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी इस विजय के बाद दंतिदुर्ग चालुक्यों की शक्ति समाप्त करने की योजनाएं बनाता रहा, किंतु इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु की ठीक-ठीक तिथि तो ज्ञात नहीं, किंतु संभवतः 756 ई० में उसका निधन हुआ था। उस समय उसकी उम्र 37-38 से अधिक न थी क्योंकि एक अभिलेख में साफ-साफ लिखा है कि वह अकाल में कालकवलित हुआ था। 'संभवतः उसे स्वर्ग की सुंदरियों का आमंत्रण आया था।'

खेद है कि दंतिदुर्ग के जीवन पर पूरी तरह से प्रकाश डालनेवाले प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अतः उसके जीवन का एकदम सही और ब्यौरेवार विवरण नहीं दिया जा सकता। किंतु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्य राजवंशों के संस्थापकों की भांति वह भी एक कुशल सेनापति, चतुर कूटनीतिज्ञ और महान प्रशासक था। पल्लवों से चलनेवाले लंबे संघर्ष और बाद के अरब आक्रमणों के कारण चालुक्यों के कमजोर हो जाने का उसने शीघ्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही अनुमान लगा लिया था। जब तक उसका हित साधन होता रहा, उसने अपने सम्राट के साथ सहयोग दिया। पल्लवों और अरबों के विरुद्ध युद्धों में वह शामिल था और इनमें उसने काफी सैनिक अनुभव भी प्राप्त किए थे। इससे उसे चालुक्यों की अच्छाइयों और कमजोरियों का भी ज्ञान हो गया होगा। जब विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु हो गई तो वह अपने विजय अभियानों पर निकल पड़ा। किंतु इस समय उसने इस बात का ध्यान रखा कि इससे चालुक्यों के स्थिर स्वार्थ पर आंच न आए। जब उसने गुजरात और मध्य और पश्चिमी मध्य प्रदेश को जीतकर अपनी शक्ति बढ़ा ली तो उसने चालुक्यों को खुली चुनौती दे दी और अपनी कोई हानि उठाए बिना उन्हें परास्त भी कर दिया। दुर्भाग्यवश उन्हें समूल उखाड़ फेंकने के लिए वह जीवित न बचा रहा। किंतु निस्संदेह उसने इस कार्य का अधिकांश पूरा कर दिया था। दंतिदुर्ग के बाद गद्दी पर उसके बेटे के बजाय उसका चाचा कृष्ण बैठा था। इसलिए कभी-कभी राष्ट्रकूटों के शासकीय लेखों में उसका नाम नहीं मिलता। इन लेखों में चालुक्यों को उखाड़ फेंकने का समूचा श्रेय उसके चाचा कृष्ण को दिया गया है। किंतु स्वयं कृष्ण के ही शासकीय लेखों में दंतिदुर्ग की बड़ी प्रशंसा की गई है और उसे चालुक्यों को उखाड़ फेंकने का पूरा श्रेय दिया गया है। अतः इसमें शक की कतई गुंजाइश नहीं है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक दंतिदुर्ग था। कृष्ण प्रथम ने तो उसके ही अधूरे कार्य को पूरा किया था।

दंतिदुर्ग धार्मिक प्रकृति का राजा था। उसने अपनी माता के कहने पर अनेक गांव दान किए थे। वह सनातन विधि-निषेधों में विश्वास करता था और उनका कड़ाई से पालन भी करता था। उसे अपनी प्रजा से प्रेम था और वह उसका हितचिंतक था।

अमोघवर्ष प्रथम (814-80 ई०) के शासन में मान्यखेट (हैदराबाद का मानखेट), राष्ट्रकूटों की राजधानी बनी। इसके पहले राष्ट्रकूटों की राजधानी कहां थी, इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर अभी भी नहीं दिया जा सकता। कक्क और इंद्र के समय में संभवतः अचलपुर, या बरार में एलिचपुर राजधानी थी। जब दंतिदुर्ग ने समूचे महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया तो उसने किसी केंद्रीय स्थान में, संभवतः हैदराबाद में एलोरा के पास कहीं नई राजधानी बनाई। एलोरा की गुफा सं० 16 (दशावतार) की दीवार पर उसकी सबसे विस्तृत प्रशस्ति खुदी है। इसी स्थान से उसका सबसे पहला ताम्रपट्ट जारी हुआ था। यह दान राजा ने स्थानीय गुहेश्वर 'तीर्थ' में स्नान करने के बाद दिया था। कृष्ण प्रथम ने भी एलोरा की गुफा को ही काटकर एक स्मारक बनवाया था जो राष्ट्रकूटों का सबसे सुंदर स्मारक है। इसलिए क्या यह संभव नहीं कि दंतिदुर्ग और कृष्ण प्रथम के शासन-कालों में राष्ट्रकूटों की राजधानी एलोरा के पास ही कहीं रही हो? विस्तृत राष्ट्रकूट साम्राज्य में यह स्थान अपेक्षाकृत मध्य में पड़ता था। एलोरा के पठार के ऊपर एक नगर के अवशेष हैं। वहां सूलूभंजन नामक एक तालाब भी है। मेरी राय में तो सन 790 ई० तक राष्ट्रकूटों की राजधानी यही रही होगी।

गोविंद तृतीय के राज्यकाल में राष्ट्रकूटों की राजधानी मयूरखिंडी में थी जहां से उसके पांच शासनलेख जारी हुए थे। इस स्थान की पहचान के बारे में मदभेद है। नासिक जिले के मोरखंड के आधुनिक किले से इस स्थान की पहचान का उत्साह होता है, किंतु इस समय नासिक में एक राजकुमार ध्रुव का शासन था जो गोविंद द्वितीय का छोटा भाई था। अपने भाई से विद्रोह करने के पहले वह यहीं शासन करता रहा। अभी हाल ही में सुझाव आया है कि वैनगंगा के किनारे मरकंडी ही मयूरखिंडी है।[6] यह स्थान चांदा से 50 मील दक्षिण-पूरब में पड़ता है। दोनों नामों में ध्वनिसाम्य स्पष्ट है। मरकंडी में कतिपय मध्यकालीन अवशेष भी मिलते हैं, पर यह स्थान राष्ट्रकूट साम्राज्य की उत्तर-पूर्वी सीमा पर पड़ता है। अतः राजधानी के लिए यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान उपयुक्त नहीं। यह भी संभव है कि राष्ट्रकूटों का निकास स्थान लट्टलूर, या सातवाहनों की पुरानी राजधानी पैठन ही कुछ समय के लिए राजधानियां रही हों। चाहे जो भी हो, अपनी वर्तमान जानकारी के आधार पर इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि मान्यखेट से पूर्व राष्ट्रकूटों की राजधानी कहां थी। इसका समाधान तो भावी खोजों से ही संभव है।

कृष्ण प्रथम
(लगभग 756 से 772 ई०)

अपने भतीजे दंतिदुर्ग के बाद संभवतः 756 ई० में कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा। दंतिदुर्ग अल्पावस्था में ही निःसंतान मर गया था। संभवतः राष्ट्रकूट साम्राज्य के निर्माण में कृष्ण प्रथम ने अपने भतीजे दंतिदुर्ग की सहायता की थी। इसलिए दंतिदुर्ग ने ही ऐसा प्रबंध किया होगा कि उसकी मृत्यु के बाद कृष्ण प्रथम सिंहासनारूढ़ हो। अभिषेक के समय कृष्ण ने 'शुभतुंग' और 'अकालवर्ष' की उपाधियां धारण की थीं।

गद्दी पर बैठने के थोड़े समय बाद ही साम्राज्य की समृद्धि के लिए कृष्ण को अपने एक निकट संबंधी से निपटना पड़ा। वह संभवतः उसके चाचा का पोता कर्क्क द्वितीय था। कर्क्क दक्षिण गुजरात का शासक था। उसने 757 ई० में ही सम्राट सुलभ उपाधियां धारण कर ली थीं।[7] कृष्ण ने उसे युद्ध में हरा दिया और गुजरात का प्रबंध सीधे अपने हाथ में लेकर वहां अपने अधिकारी नियुक्त कर दिए।

कृष्ण के कई और चचेरे सगे भाई थे। इन सबने बड़ी निष्ठा से उसके साथ सहयोग किया। इसके एवज में कृष्ण ने भी उन्हें प्रशासन में उचित पद दिए। उसने अपने छोटे भाई नन्न गुणावलोक को औरंगाबाद जिले का शासक बनाया। उसकी मृत्यु के बाद उसी का बेटा शंकरगण वहां का शासक बना। शंकरगण कृष्ण के बेटे ध्रुव का सामंत होकर शासन करता रहा। मानावलोक रत्नवर्ष विजयादित्य कृष्ण का एक अन्य चचेरा भाई था। वेंगी के अभियान में वह उसकी सेना का एक प्रमुख अधिकारी था।

कर्क्क के विद्रोह का दमन कर कृष्ण चालुक्यों की शक्ति नष्ट करने की ओर प्रवृत्त हुआ। दंतिदुर्ग की मृत्यु और कर्क्क के विद्रोह का लाभ उठाकर चालुक्य सम्राट कीर्तिवर्मन द्वितीय अपनी सेनाओं का पुनर्गठन कर कृष्ण के प्रत्याशित आक्रमण को रोकने के लिए शोलापुर के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ गया था। सितंबर 757 ई० में हम उसे भीमा नदी के तट पर एक विजय स्कंधावार में पाते हैं।[8] किंतु इसके बाद शीघ्र ही एक भयंकर युद्ध में कृष्ण ने कीर्तिवर्मन को हरा दिया। संभवतः इसमें कीर्तिवर्मन और उनके सभी बेटे भी खेत रहे। इस प्रकार चालुक्य शक्ति का सदा के लिए अंत हो गया। राष्ट्रकूट अभिलेखों के अनुसार कृष्ण ने चालुक्य सेना के सागर का मंथन कर राज्य की लक्ष्मी प्राप्त की थी। इस कथन की पुष्टि परवर्ती चालुक्य लेखों से हो जाती है जिनमें यह उल्लेख है कि चालुक्यों के यश का कीर्तिवर्मन के साथ ही अंत हो गया था।[9] इस निर्णायक युद्ध के फलस्वरूप समूचा कर्नाटक राष्ट्रकूटों के अधिकार में आ गया और वे 760 ई० के आसपास दकन के सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

कृष्ण ने कुछ वर्षों तक अपनी शक्ति इस लाभ को समाहित करने में लगाई। फिर कोंकण को जीतकर उसने महाराष्ट्र और कर्नाटक में अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली। उसने इस नव विजित राज्य का शासन सणफुल्ल को सौंपा। यही सणफुल्ल शिलाहार वंश का संस्थापक था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिलाहार 973 ई० में राष्ट्रकूट वंश के शासन की समाप्ति के बाद तक भी उनके प्रति निष्ठावान रहे।

कृष्ण एक महत्वाकांक्षी शासक था। उसे चालुक्यों के पुराने साम्राज्य से ही संतोष न था। वह वास्तविक अर्थों में 'विजिगीषु' था। उसने दक्षिण की ओर राज्य विस्तार की दृष्टि से गंगवाड़ी (मोटे तौर पर आधुनिक मैसूर के बराबर) पर हमला किया। उस समय वहां गंग राजा श्रीपुरुष का शासन था। उसने राष्ट्रकूटों का कड़ा प्रतिरोध किया। गंगों ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भयंकर युद्ध किया और महान बलिदान दिए। यहां तक कि 'श्रीरेवर्मन' जैसे लेखकों ने भी कलम को त्याग कर तलवार उठा ली और अपने देश और राजा के लिए युद्ध किया। श्रीपुरुष के छोटे राजकुमार सियगल्ल पर राज्य की रक्षा का भार था। उसने कुछ युद्धों में विजय पाई। किंतु अंत में कृष्ण उसपर हावी हो गया और उसने अंततोगत्वा गंगों की राजधानी मान्यपुर, अर्थात बेंगलूर जिले में मन्नपुर पर भी अधिकार कर लिया। इस खुशी में कृष्ण ने दुश्मन के खजाने से धन लेकर अनेक अक्षय निधियां बनाईं। एक ताम्रपट्ट शासन में ऐसे दानों का उल्लेख है।

कृष्ण ने समूचे गंगवाडी प्रदेश को अपने राज्य में नहीं मिलाया। उसने श्रीपुरुष को एक छोटे से भाग पर सामंत के रूप में राज्य करने की आज्ञा दे दी और सन 769 ई० में वहां से वापस आ गया। इसके बाद शीघ्र ही उसने अपने सबसे बड़े बेटे गोविंद को युवराज बना दिया।

युवराज बनने के बाद गोविंद ने वेंगी राज्य पर हमला कर दिया। इस बीच वेंगी के चालुक्यों और राष्ट्रकूटों में युद्ध अनिवार्य हो गया था। वेंगी के चालुक्य बादामी के चालुक्यों के वंश की ही एक शाखा थे। अब बादामी के चालुक्यों के राज्य पर राष्ट्रकूटों ने अधिकार कर लिया था। अतः वेंगी के चालुक्य राष्ट्रकूटों से बदला लेने को आतुर थे। कृष्ण ने भी समझ लिया था कि जब तक वह वेंगी के चालुक्यों को नहीं हरा लेगा, उसका साम्राज्य सुप्रतिष्ठित न होगा। अंततः 768 ई० में दोनों शक्तियों में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में राष्ट्रकूटों की सेना का नेतृत्व युवराज गोविंद ने किया था। वह घुड़सवार युद्ध में बहुत कुशल था। राष्ट्रकूटों ने चालुक्य सेनाओं को दबोच लिया। एक राष्ट्रकूट राजकवि की उक्ति है कि 'महावाराह (चालुक्यों का राज चिह्न) हरिण की भांति भागता फिरा।' जून 769 ई० में हैदराबाद से करीब सौ मील दक्षिण-पूरब में कृष्णा और मुसी के संगम पर राष्ट्रकूट सेना ने पड़ाव डाल दिया। यहां से चालुक्यों की राजधानी वेंगी सिर्फ सौ मील दूर थी और युवराज गोविंद आसानी से उसपर कब्जा कर सकता था। किंतु चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ ने अपने राज्य का कुछ भाग और हर्जाना देकर संधि कर ली। बाद में विष्णुवर्धन की कन्या शीलभट्टारिका का विवाह युवराज के छोटे भाई ध्रुव से हो गया। इस विवाह ने संधि को और भी मजबूत कर दिया। इस विजय के फलस्वरूप चंद से कृष्णा और माही के संगम के बीच की काल्पनिक रेखा के पूर्वी भाग को छोड़कर प्रायः पूरा आधुनिक हैदराबाद राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंग बन गया। पंद्रह वर्ष राज्य करने के बाद लगभग 773 ई० में कृष्ण की मृत्यु हो गई। वह एक योग्य शासक और कुशल सेनापति था। आधुनिक मैसूर और हैदराबाद की रियासतों के प्रदेश जीतकर उसने राष्ट्रकूट राज्य का दूने से भी अधिक विस्तार कर दिया था और गंगों और चालुक्यों को हराकर दकन में अपनी प्रमुखता सिद्ध कर दी थी। अब विंध्य के दक्षिण की कोई भी शक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकती थी। इस प्रकार उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए वह मार्ग प्रशस्त किया जिससे वे उत्तर भारत की राजनीति में हिस्सा ले सकें। और इस प्रकार राष्ट्रकूट

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जां समूचे भारत की प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे उसका आधार कृष्ण की सफलता ही थी।

कृष्ण एक विजेता ही नहीं, एक बहुत बड़ा निर्माता भी था। वह धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था। उसने ब्राह्मणों को दान देने के अतिरिक्त अत्यंत विशाल एवं सुंदर मंदिरों का निर्माण भी कराया था। उसके आदेश से एलोरा में एक गुफा को काटकर मंदिर का निर्माण किया गया। यह एक अनोखा स्मारक माना जाता है। मंदिर के निर्मित हो जाने पर विग्रह-प्रतिष्ठा के अवसर पर वह स्वयं उपस्थित था। उसने प्रतिमा के लिए बहुमूल्य आभूषण दिए और मंदिर के व्यय के लिए अक्षय-निधियां स्थापित कीं। यद्यपि इस समय यह मंदिर कैलाश-मंदिर के नाम से ख्यात है पर पहले इसके निर्माता कृष्ण के नाम पर इसे कृष्णेश्वर अथवा कण्णेश्वर ही कहा जाता था। इस मंदिर की वास्तु और शिल्पगत विशेषताओं का वर्णन ललित कलाओं वाले अध्याय में दिया गया है। तथापि यहां हम इस बात का उल्लेख अवश्य करेंगे कि उस समय इस मंदिर के संबंध में आम धारणा क्या थी। एक तत्कालीन कवि ने लिखा है कि जब यह मंदिर पूरा हो गया तो इसके वैभव और सौंदर्य को देखकर स्वयं उसका वास्तुक आश्चर्यचकित रह गया। उसने स्वयं अपने से ही प्रश्न किया 'अरे! मैंने कैसे इस मंदिर का निर्माण कर दिया?' कवि को यह भी आभासित हुआ कि जब देवता आकाश मार्ग से अपने विमानों पर इधर से निकले तो इस मंदिर को देखकर उन्होंने यही कल्पना की कि यह रचना तो स्वतः धरती से बाहर आ गई है। ऐसी दिव्य रचना कोई मनुष्य नहीं कर सकता। जो भी यात्री एलोरा जाता है वह इसी कल्पना के साथ वापस लौटता है। सचमुच ही इसका वास्तुक स्थापत्य-कला का आचार्य था। किंतु कितनी विनम्रता और आत्मविस्मृति थी उस कलाकार में कि उसने मंदिर की दीवारों पर भी कहीं अपना नाम नहीं आने दिया।

गोविंद द्वितीय
(लगभग 773 से 780 ई०)

लगभग 775 ई० में कृष्ण के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविंद गद्दी पर बैठा। अपने अभिषेक के अवसर पर उसने 'प्रभूतवर्ष' और 'विक्रमावलोक' अथवा 'प्रतापावलोक' की उपाधियां धारण कीं।

वेंगी के युद्ध में गोविंद की सफलता का वर्णन हम कर चुके हैं। अपने शासनकाल में एक बार उसने गोवर्धन का उद्धार किया था और बाद में पारिजात नामक राजा को हराया था। गोवर्धन नासिक जिले में है। इस गोवर्धन का उद्धार उसे क्यों करना पड़ा और यह पारिजात कौन था, इस संबंध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

उसका शासन काल बहुत थोड़ा था, उसका भी अधिकांश समय छोटे भाई ध्रुव से सिंहासन के लिए संघर्ष करने में ही गुजर गया। गोविंद के शासन के प्रारंभ में ध्रुव ने नासिक और खानदेश के शासक के रूप में उसके प्रति पूर्ण निष्ठावान रहा था। किंतु शीघ्र ही गोविंद भोग-विलास में लिप्त हो गया और उसने समूचे शासन की बागडोर अपने भाई ध्रुव को सौंप दी। ध्रुव योग्य था और साथ ही महत्वाकांक्षी भी। वह वस्तुतः ही नहीं, विधितः भी राजा बनना चाहता था। वह अपने नाम से लेख जारी करने लगा। और उसने सामंतों को भी अपनी ओर मिलाने की कोशिश की। इससे गोविंद उसके प्रति शंकालु हो गया जो स्वाभाविक ही था। उसने अपनी जड़ता का परित्याग कर और ध्रुव को शासन से च्युत कर के पूरे शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली। उस समय तो ध्रुव झुक गया किंतु वह गोविंद को गद्दी से उतारने के लिए षड्यंत्र करने लगा। गोविंद ने ध्रुव के विरुद्ध गंगवाड़ी, कांची, वेंगी और मालवा के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं को धन और भूमि देकर अपनी ओर मिलाने की कोशिश की। किंतु उसकी यह भयंकर भूल थी। राष्ट्रकूटों के पुराने दुश्मनों से मित्रता करने के कारण मंत्रियों ने उसका साथ छोड़ दिया और वे ध्रुव की ओर हो गए। इससे ध्रुव को अपने भाई के विरुद्ध खुला विद्रोह करने का मौका मिल गया। उसने यह कहना प्रारंभ कर दिया कि उसे अपने स्वार्थ के लिए सिंहासन नहीं चाहिए, बल्कि वह तो राष्ट्रकूटों के पुराने शत्रुओं से वंश की और सिंहासन की प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहता है।

अपने विलासी जीवन के कारण गोविंद प्रजा और सामंतों की सहानुभूति खो चुका था। उधर वेंगी और कांची, उज्जैन और तलकाड ने सहायता का वादा तो अवश्य किया था, किंतु उसकी प्राप्ति में विलंब अवश्यंभावी था। इनकी सेनाओं के आने से पहले ही ध्रुव ने आक्रमण कर दिया। संभावतः युद्ध में गोविंद की मृत्यु हो गई। फिर ध्रुव ने उसके मित्रों की सेनाओं को राष्ट्रकूट राज्य में घुसने से पहले ही आसानी से खदेड़ दिया। इन मित्रों में भी कुछ सहायता के प्रति उत्साही न रहे होंगे।[10] ध्रुव ने इस प्रकार लगभग 780 ई० में राष्ट्रकूट सिंहासन पर सहज अधिकार कर लिया।[11]

ध्रुव धारावर्ष
(लगभग 780 से 793 ई०)

अपने भाई गोविंद को लगभग 780 ई० में गद्दी से उतारकर ध्रुव राष्ट्रकूटों का राजा हुआ। अपने अभिषेक के अवसर पर उसने 'धारावर्ष' और 'निरुपम' की उपाधियां धारण कीं। बाद में अपनी स्मरणीय विजयों के कारण वह 'कलिवल्लभ' के नाम से भी ख्यात हुआ। उसकी अग्रमहिषी का नाम शीलभट्टारिका था जो वेंगी के राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ की पुत्री थी।

सबसे पहले उसने गंगवाड़ी (मैसूर) के राजा पर चोट की। इस समय भी श्रीपुरुष मुत्तुरस गंगों का राजा था जिसे करीब 12 साल पहले उसके पिता ने हराया था। अब वह काफी वृद्ध हो चुका था। उस समय गंगों का शासन युवराज शिवमार कर रहा था। शिवमार सैनिक से अधिक विद्वान था। युद्ध और कूटनीति की अपेक्षा तर्कशास्त्र, व्याकरण और नाट्यशास्त्र में उसकी अधिक रुचि थी। कहते हैं कि उसने युद्ध के हाथियों के बारे में एक पुस्तक की रचना की थी। किंतु जब राष्ट्रकूटों की हस्तिसेना ने हमला किया तो पुस्तक उसके किसी काम न आई। संभवतः प्रारंभ में कुछेक स्थानीय युद्धों में उसे मामूली सफलता भी मिली थी क्योंकि गंगों के कतिपय लेखों में उसे वल्लभ की सेनाओं को हराने का श्रेय दिया गया है जिसमें राष्ट्रकूट, चालुक्य और हैहय सैनिक शामिल थे। किंतु यह ध्रुव जैसे कुशल सेनापति का सामना कैसे कर पाता जिसके पास अपार साधन भी थे? शिवमार पराजित ही नहीं बल्कि बंदी भी हुआ।[12] ध्रुव ने समूचे गंगवाड़ी पर अधिकार कर लिया और अपने बेटे स्तंभ रणावलोक को उसका उपराजा बना दिया।

फिर राष्ट्रकूटों की विजयी सेनाओं ने पल्लवों पर आक्रमण किया। पल्लवों के राजा दंतिवर्मन ने उसके भाई गोविंद का साथ देकर उसकी शत्रुता मोल ली थी। एक राष्ट्रकूट कवि के अनुसार 'एक ओर सचमुच का समुद्र और दूसरी ओर सेनाओं के सागर के बीच फंसकर पल्लवों का राजा भयभीत हो गया और उसने अपने बहुत से हाथी समर्पित कर दिए।'[13] इसमें कवि ने कांची पर अधिकार का दावा नहीं किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव ने पल्लवों की सीमाओं पर कुछ छिटपुट लड़ाइयों में सफलता पाकर ही संतोष कर लिया और उनसे हर्जाने के रूप में कुछ हाथी लेकर वह वापस चला आया। दक्षिण के इस सफल अभियान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बाद 782 ई० के आसपास राष्ट्रकूट सेनाएं लौट आईं। राष्ट्रकूटों की सेनाओं में वेंगी के चालुक्यों की भी एक टुकड़ी थी जो उसके श्वसुर विष्णुवर्धन चतुर्थ ने उसकी सहायता के लिए भेजी थी।

ध्रुव इन विजयों के कारण दकन का वास्तविक स्वामी बन गया था, जिसे चुनौती देनेवाली कोई शक्ति दकन में उस समय न थी। किंतु उसे इतने से ही संतोष न हुआ। वह उत्तर भारत की राजनीति में भी प्रमुखता प्राप्त करना चाहता था। किंतु दक्षिण की किसी शक्ति के लिए यह आसान काम न था, क्योंकि सातवाहनों के बाद दकन की किसी शक्ति ने उत्तर भारत के किसी प्रदेश पर अधिकार करने में सफलता नहीं प्राप्त की थी।

उत्तर भारत में ध्रुव ने कई अभियान किए। इनकी पृष्ठभूमि जानने के लिए उत्तर-भारत की उस समय की राजनैतिक स्थिति से परिचित होना होगा। उत्तर भारत में राजपूताना और मालवा पर उस समय गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज का शासन था। उसने गोविंद का साथ देकर ध्रुव को नाराज कर लिया था। बंगाल में धर्मपाल ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली थी। यद्यपि कन्नौज का राजा इंद्रायुध निर्वीर्य था तथापि उत्तर भारत की राजधानी होने का गौरव कन्नौज को ही था। 784 ई० के लगभग वत्सराज ने कन्नौज पर आक्रमण कर इंद्रायुध को हरा दिया था किंतु अपनी कठपुतली बनाकर उसे सिंहासन पर रहने दिया।[14] इससे वत्सराज के प्रतिद्वंदी बंगाल के राजा धर्मपाल को ईर्ष्या हुई। वस्तुतः धर्मपाल समूचे उत्तर भारत में अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता था। उसने चक्रायुध का साथ दिया जो संभवतः इंद्रायुध का भाई या अन्य कोई रिश्तेदार था। चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बैठाने के लिए उसने इंद्रायुध और उसके रक्षक वत्सराज पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में धर्मपाल की हार हुई और वह युद्धभूमि में अपने दो श्वेत छत्र छोड़कर भाग गया। वत्सराज ने उन छत्रों को अपनी सेना के आगे करके विजय के प्रतीक के रूप में प्रदर्शित किया। किंतु धर्मपाल अपनी पराजय से हताश नहीं हुआ। उसने फिर से सैन्य संगठन कर उत्तर भारत की प्रभुता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। लगभग 786 ई० में जब ध्रुव ने उत्तर भारत की राजनीति में दखल देने का फैसला किया तो उस समय धर्मपाल की सेनाएं दोआबे की ओर बढ़ रही थीं और वत्सराज उन्हें रोकने के लिए चल चुका था।

ध्रुव ने अपने अभियान की योजना बड़ी सवधानी से बनाई थी। उसने नर्मदा के तट पर अपनी सेनाएं एकत्र कीं और उनके विभिन्न अंगों को अपने दो उत्साही युवा पुत्रों गोविंद और इंद्र के अधीन कर दिया। उस समय वत्सराज दोआबे में आ गया था। ध्रुव ने नर्मदा को पारकर मालवा पर बड़ी आसानी से अधिकार कर लिया। फिर वत्सराज की मुख्य सेनाओं से निपटने के लिए उसने कन्नौज की ओर प्रस्थान कर दिया। संभवतः झांसी के पास उसकी उनसे मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में दकनी सेनाओं ने वत्सराज की राजपूत सेनाओं को हरा दिया। राजपूतों ने भागकर राजपूताना के रेगिस्तान में शरण ली। इस बार धर्मपाल के दोनों छत्र, जो वत्सराज ने जीते थे राष्ट्रकूटों के हाथ लगे।

इस सनसनीपूर्ण विजय से उत्साहित हो ध्रुव ने धर्मपाल पर आक्रमण करने का निश्चय किया। धर्मपाल की सेनाएं इस समय दोआबे में ही थीं। धर्मपाल को हराना आवश्यक हो गया था क्योंकि वत्सराज की पराजय से धर्मपाल की महत्वाकाक्षाओं की सिद्धि की संभावना बढ़ गई थी। उस समय वही एकमात्र ऐसा महत्वपूर्ण राजा बच रहा था जिसे राष्ट्रकूटों ने पराजित नहीं किया था।[15]

इसलिए ध्रुव बड़े दर्प के साथ उसकी ओर बढ़ा और उसने धर्मपाल को बुरी तरह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पराजित किया। यह युद्ध लगभग 787 ई० में दोआबे में या उसके पास हुआ था। राष्ट्रकूटों के लेखों के अनुसार गौड़ों का राजा अस्तव्यस्त अवस्था में भाग खड़ा हुआ। इस बार भी वह अपना श्वेत छत्र युद्ध में छोड़ गया। विजयी सेनाएं पवित्र गंगा और यमुना के तटों पर कुछ समय तक अवश्य रही होंगी। इस घटना की स्मृति में इसके बाद के राष्ट्रकूट लेखों में गंगा और यमुना के भी उल्लेख होने लगे।

ध्रुव ने अपनी विजयों का विस्तार कर कन्नौज पर अधिकार करने का या वहां अपने किसी मनोनीत राजा को गद्दी पर बैठाने का यत्न नहीं किया। वह अब बूढ़ा हो चला था और काफी समय से राजधानी के बहुत दूर था। इसलिए वहां से पूरब या उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ने के बजाय वह अपने घर वापस आ गया। इस अभियान में उसके राज्य की सीमाओं का विस्तार तो नहीं हुआ पर उत्तर से वह काफी धन लेकर वापस लौटा था। अब राष्ट्रकूटों की सैनिक प्रतिष्ठा में चार चांद लग चुके थे। उस समय देश में ऐसी कोई शक्ति न बच रही थी जिसे वह पराजित न कर चुका हो। गंगों का युवराज उसका बंदी था। पल्लव राजा ने कुछ हाथी देकर अपनी जान बचाई थी। वत्सराज राजपूताने में भाग गया था। धर्मपाल भी उससे हारकर भाग गया था। सिंध में अरबों की शक्ति भी कमजोर हो गई थी। अब वे दक्षिण पर कोई हमला करने की स्थिति में न थे। वेंगी का राजा उसका श्वसुर ही था। इस प्रकार समूचे भारत में उस समय ध्रुव को चुनौती देनेवाला कोई नहीं था। अब अपने शासन के शेष चार या पांच वर्षों के लिए वह बड़े इतमीनान से अपनी तलवार को म्यान में रख सकता था।

अपने जीवन की संध्या में ध्रुव को सबसे बड़ी समस्या सिंहासन के उत्तराधिकारी के निश्चय की थी। उसके चार बेटे थे : कर्क्क, स्तंभ, गोविंद और इंद्र। इनमें कर्क्क की तो पिता के जीवनकाल में ही मृत्यु हो चुकी थी। शेष पुत्रों में स्तंभ सबसे बड़ा था। अतः वह ही सिंहासन का वास्तविक उत्तराधिकारी था। किंतु वृद्ध सम्राट उससे छोटे राजकुमार गोविंद की कुशलता क्षमता और सैन्य संचालन की शक्ति से अधिक प्रभावित था। अतः यह सोचकर कि राष्ट्रकूटों का भाग्य गोविंद के हाथों में अधिक सुरक्षित रहेगा, उसने उसको ही सिंहासन के लिए चुना। स्तंभ को इसके बदले में गंगवाडी का उपराजा बनाया गया और उसे स्वतंत्रवत कर दिया गया। सबसे छोटा राजकुमार इंद्र गोविंद में अनुरक्त था। उसे गुजरात और मालवा का राज्यपाल बनाया गया। ये सभी प्रबंध कर वृद्ध राजा ने 791 या 792 ई० में बड़ी धूमधाम से गोविंद को युवराज बना दिया। निस्संदेह उसने विचारा होगा कि इससे उसके बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष न होगा।[16] इसके कुछ समय बाद ही 793 ई० के उत्तरार्ध में उसकी मृत्यु हो गई।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्रुव भारत के महान शासकों में से एक था। उसने 13 साल ही राज्य किया किंतु इस अल्प अवधि में राष्ट्रकूटों ने समूचे देश में अपूर्व प्रतिष्ठा और यश अर्जित किया। गंगों और पल्लवों को हराकर उसने राज्य की सीमा कावेरी तक बढ़ा दी और वह वास्तविक अर्थों में दकन का सम्राट बन गया। पर वह इसीसे संतुष्ट न रहा। उसने उत्तर भारत पर भी छा जाने की कोशिश की। सातवाहनों के बाद पहली बार 800 साल बाद उसके नतृत्व में दकन की सेना ने उत्तर भारत की ओर प्रयाण किया था। वह दोआबे तक घुस आया था। उत्तर भारत की प्रभुता के लिए झगड़नेवाले दोनों प्रतिद्वंद्वियों को उसने बुरी तरह हराया था। 793 ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तो उस समय समूचे भारत में कोई भी शक्ति ऐसी न थी जो राष्ट्रकूटों का मुकबला कर सकती। अपने भाई गोविंद से सिंहासन छीनना उसके चरित्र पर एक धब्बा अवश्य है, तथापि यदि गोविंद सचमुच ही दुष्ट और अयोग्य था, और यह बहुत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभव भी है, तो उसके विरुद्ध नितांत अनिच्छा से उसन जो कदम उठाए, वे सर्वथा उचित ही थे।

गोविंद तृतीय
(लगभग 793 से 814 ई०)

सन 793 ई० के उत्तरार्ध में गोविंद गद्दी पर बैठा। अपने अभिषेक के अवसर पर उसने 'प्रभूतवर्ष' और 'जगत्तुंग' की उपाधियां धारण कीं। बाद में वह 'जनवल्लभ', 'कीर्तिनारायण' और 'त्रिभुवनधवल' जैसे नामों में भी ख्यात हुआ। 804 ई० के लेखों में उसकी अग्रमहिषी का नाम गामुंदब्बे दिया है। क्या उसकी दूसरी रानियां भी थीं ? इस संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

गोविंद का अभिषेक तो शांतिपूर्वक संपन्न हो गया था और शुरू के एक दो वर्षों में किसी प्रकार की गड़बड़ी भी नहीं हुई। किंतु गोविंद यह समझता था कि सिंहासन के लिए लड़ाई हो सकती है। अतः उसने साम और दाम की नीति से काम लिया। उसने अत्यंत विनय के साथ अपने मंत्रियों और अधिकारियों का सद्भाव और विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने सामंतों की 'जागीरों' की पुष्टि कर दी। किंतु राजा अपने मंत्रियों और सामंतों के सद्भाव पर ही निर्भर न रहा। वह एक शूरवीर योद्धा और कुशल सेनापति था। उसने अपनी सेना की कुशलता की ओर भी ध्यान रखा।

स्तंभ को सिंहासन से अतिक्रमित होने का क्लेश सालता रहा। यदि वह एक या दो वर्ष तक चुप रहा तो इसका यह अर्थ न था कि उसने सिंहासन की स्पृहा छोड़ दी थी। वह तो उस समय तक चुप था जब तक कि उसकी तैयारियां पूरी न हो जाएं। अकेले वह गोविंद का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिए अपने भाई के विरुद्ध उसने बारह पड़ोसी राजाओं का एक संघ बनाया। पल्लव राजा दंतिदुर्ग, जो ध्रुव की चोट का बदला लेने की प्रतीक्षा कर रहा था, इस संघ में प्रमुख था। नोलंदवाड़ी का राजा चरुपोन्नेर, बनवासी का राजा कत्तियिर, और धारवाड़ जिले का सामंत माराशर्व भी इस संघ में सम्मिलित हो गए थे। राज्य के भी कई उच्चाधिकारी स्तंभ के साथ थे क्योंकि उनका संभवतः यह विश्वास था कि ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण सिंहासन का अधिकारी स्तंभ ही था और स्वयं राजा भी उसे उसके इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकते थे।

स्तंभ की विरोधी योजना का पता गोविंद को उसके चरों से मिल चुका था। उसने गंगवाड़ी के राजकुमार शिवमार को कैद से छोड़ दिया और 788 ई० में उसके पिता की मृत्यु से गंगों का जो सिंहासन खाली पड़ा था उस पर वह उसे बैठाना चाहता था। गोविंद ने स्तंभ को गंगवाड़ी में ही चुनौती देनेवाला एक ऐसा प्रतिद्वंद्वी खड़ा करने का इरादा किया था जो उसके प्रति निष्ठावान हो। किंतु उसकी यह नीति सफल न हुई क्योंकि कैद से छूटने पर शिवमार जब गंगवाड़ी पहुंचा तो स्तंभ ने उसे अपनी ओर मिला लिया। वस्तुतः इस समय गंगवाड़ी का शासक वही था। अतः वह गोविंद की अपेक्षा सिंहासन पर उसे बैठाने और कायम रखने में अधिक समर्थ था। स्तंभ की दृष्टि राष्ट्रकूटों के सिंहासन पर थी। शिवमार अपनी योजना की सफलता की दृष्टि से स्तंभ द्वारा निर्मित संघ में शामिल हो गया।

किंतु गोविंद जन्मजात सैनिक और कुशल सेनापति था। न तो वह अपने कतिपय अधिकारियों के पक्ष परिवर्तन से चिंतित हुआ और न ही शत्रुओं की संख्या से। शासन का भार अपने छोटे भाई इंद्र को, जो उसमें पूर्ण अनुरक्त था, सौंपकर वह तेजी से स्तंभ की ओर बढ़ चला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और उसके मित्रों की सहायता मिलने से पूर्व ही युद्ध में स्तंभ को हरा दिया। गोविंद ने स्तंभ को बन्दी बना लिया और उसने अपनी दया और औदार्य से उसे अपनी ओर मिला लिया। स्तंभ को भी संघर्ष में कोई सार न दिखाई दिया। गोविंद ने उसे यह भी समझाया कि एक पितृभक्त पुत्र के नाते पिता के फैसले को मानना उसका धर्म है। दोनों भाइयों का मन साफ हो गया और वे मिलजुल कर रहने लगे।[17] इसमें उनके सबसे छोटे भाई इंद्र ने बड़ी मदद की। गोविंद ने पुनः अपनी विशालहृदयता का परिचय देकर स्तंभ को गंगवाड़ी का उपराजा बना दिया। इस प्रकार तात्कालिक घटनाओं की उपेक्षा कर उसने अपने पिता के फैसले की ही पुष्टि कर दी।

दोनों भाइयों के सौहार्द से शिवमार की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई। उसने गोविंद का साथ छोड़कर स्तंभ का साथ दिया था। उसे यह उम्मीद थी कि स्तंभ उसे गंगगाड़ी का सिंहासन सौंप देगा। किंतु अब दोनों भाई आपस में मिल गए और उसकी ओर बढ़ आए। राजकवि के शब्दों में, गोविंद की एक भ्रू-भंगिमा ने ही कृतघ्न शिवमार को पुनः बंदीगृह में पहुंचा दिया। अतः वह पूरी तरह पराजित हुआ। शिवमार के छोटे भाई विजयादित्य ने संघर्ष चालू रखने की कोशिश की किंतु उसे किसी तरह की सफलता नहीं मिली। अपने छोटे भाई गोविंद के अधीन स्तंभ पुनः गंगवाड़ी पर शासन करने लगा। वह 810 ई० के आसपास तक गंगवाड़ी का उपराजा बना रहा। उपराजा रूप में उसके परवर्ती समय में उसका बेटा शंकर-गण शासन में उसकी सहायता करता रहा।

गंगवाड़ी पर अच्छी तरह कब्जा करने के बाद राष्ट्रकूट सेनाओं ने नोलंबवाड़ी के राजा चरुपोन्नेर पर आक्रमण किया।[18] शिवमार का हश्र देखकर चरुपोन्नेर को सद्बुद्धि आ गई थी। उसने बिना शर्त समर्पण कर दिया और उसे उसका राज्य वापस मिल गया। फिर विजयी सेनाओं ने कांची के राजा दंतिग की ओर रुख किया। वह भी पराजित हुआ। दक्षिण के इस विजय अभियान के बाद लगभग 796 ई० में गोविंद दकन का सम्राट बन गया और फिर दकन में उसे चुनौती देनेवाला कोई न रहा। अब सिर्फ चालुक्य ही रह गए थे जो उससे हारे न थे। किंतु विष्णुवर्धन, जो उस समय चालुक्यों का राजा था, उसका सगा या सौतेला नाना था। अतः वह उसकी प्रभुता का विरोधी न था।

दकन में गोविंद की नींव पक्की हो चुकी थी। दक्षिण की विजयों से उसके बाहुबल की भी इज्जत बढ़ गई थी। फिर उसने उत्तर भारत की राजनीति की ओर ध्यान दिया। लगभग 786 ई० में उसके पिता ध्रुव ने गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज और बंगाल के राजा धर्मपाल को हराया था। ये दोनों ही उत्तर भारत में अपनी अपनी प्रभुता के अभिलाषी थे। बीच के दस वर्षों में उत्तर भारत की राजनीति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए थे। ध्रुव की चोट से वत्सराज संभल भी न पाया था कि धर्मपाल ने अपनी सेनाओं का पुनर्गठन कर कन्नौज की ओर प्रयाण कर दिया और उस पर अधिकार भी कर लिया। उसने इंद्रायुध को सिंहासन से उतारकर उसके स्थान पर चक्रायुध को बैठा दिया। धर्मपाल की यह विजय निर्णायक रही, क्योंकि पालों के राजकवियों का कथन है कि चक्रायुध को मध्यप्रदेश और मालवा के राजाओं ने कन्नौज का राजा मान लिया।[19] इससे गुर्जर प्रतीहारों की शक्ति को पूर्ण ग्रहण लग गया। वत्सराज इस अपमान के बाद अधिक समय तक जीवित न रहा। वह 790 ई० के लगभग चल बसा और उसके स्थान पर उसका बेटा नागभट द्वितीय राजा हुआ।

नागभट युवा, उत्साही और महत्वाकांक्षी था। उसने अपने वंश की लक्ष्मी के उद्धार की कोशिश की। उसने अपने कई पड़ोसियों को अपनी ओर मिला लिया और कन्नौज पर हमला

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर दिया। उसने धर्मपाल के द्वारा मनोनीत राजा चक्रायुध को हरा दिया। धर्मपाल ने उसकी चुनौती स्वीकार की और वह चक्रायुध की मदद के लिए चल पड़ा। किंतु नागभट ने उसे भी हरा दिया। एक राजकवि के शब्दों में, पाल सेना के बादल छंट गए थे और प्रतीहारों के भाग्य का सूर्य पुनः चमकने लगा।[20]

इस प्रकार जब लगभग 797 ई० में गोविंद उत्तर भारत के अभियान पर निकलने की तैयारी कर रहा था तो उस समय नागभट द्वितीय की प्रतिष्ठा का मध्याह्न था। अपनी हाल की विजयों से उसका आत्मविश्वास बढ़ गया था और संभवतः वह गुजरात और मालवा की ओर ललचाई आंखों से देख रहा था। ये प्रदेश उस समय राष्ट्रकूटों के प्रभाव क्षेत्र में थे। अतः गोविंद ने यही विचारा होगा कि नागभट को कुचलने का यही समय है, अन्यथा वह काफी शक्तिशाली हो जाएगा। हो सकता है कि इसके लिए धर्मपाल ने भी उसे उकसाया हो, क्योंकि नागभट दोनों का शत्रु था।[21]

गोविंद के उत्तर भारत के अभियान की ठीक-ठीक तिथि अथवा उसके ब्यौरों के बारे में हमें पता नहीं है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह अभियान लगभग 798 से 800 तक चला।[22] अचरज की बात यह है कि इसके बारे में हमारा जो कुछ ज्ञान है उसका आधार गोविंद के बेटे अमोघवर्ष का एक लेख है। गोविंद के दर्जनों लेख मिलते हैं किंतु उनमें सिर्फ इतना ही कहा है कि जैसे शरद ऋतु के आते ही आकाश के बादल गायब हो जाते हैं वैसे ही गोविंद के आते ही गुर्जर सम्राट न जाने कहां चला गया। उसके मन में इतना भय समा गया था कि यदि स्वप्न में भी वह किसी युद्ध का दृश्य देखता तो वह भय से कांपने लगता था। भाग्य की ही बात है कि अमोघवर्ष प्रथम के संजन ताम्रपट्टों में इस बारे में कुछ ब्यौरे उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से हम उस अभियान के विभिन्न चरणों का पुनर्निर्माण कर सकते हैं।[23]

इसमें कोई शक नहीं कि गोविंद ने अपने इस अभियान की योजना बड़ी कुशलता से बनाई थी और उस पर बड़ी दिलेरी से अमल भी किया था। उसका छोटा भाई इंद्र, जो उसकी बड़ी निष्ठा से सेवा कर रहा था, इस समय गुजरात और मालवा का शासक था। उसे गुजरात को संभालने और विंध्यपर्वत के उन दर्रों की सावधानी से रक्षा करने का भार सौंपा गया जिनसे नागभट दक्षिण में घुस सकता था। सेना की कई टुकड़ियां मध्य भारत में स्थानीय राजाओं पर नजर रखने के लिए तैनात थीं। इतना प्रबंध कर गोविंद स्वयं उत्तर की ओर बढ़ा। संभवतः वह भोपाल और झांसी के मार्ग से आया था। उसका उद्देश्य तो कन्नौज ही पहुंचना था।

इस आक्रमण का सामना करने के लिए नागभट कन्नौज से चल दिया। दोनों सेनाओं में मुठभेड़ कहां हुई, इसका तो पता नहीं, किंतु इस बार भी विजय-पताका दकन के ही हाथ लगी और दोआबे को आक्रामक की कृपा पर छोड़कर नागभट राजपूताने के रेगिस्तानों में भाग गया। कन्नौज के कठपुतली राजा चक्रायुध ने भी विरोध की व्यर्थता का तुरंत अनुमान कर जल्दी ही आत्मसर्पण कर दिया। गोविंद इतने से ही संतुष्ट हो गया और उसने कन्नौज की ओर जाने का इरादा छोड़ दिया। बंगाल का राजा धर्मपाल भी विनत हो गया। उसने अधीनता हार जाने पर स्वीकार की या स्वेच्छा से, यह बात तो ज्ञात नहीं है। किंतु यह उसकी एक कूट-नीतिक चाल मात्र थी। वह यह जानता था कि गोविंद अधिक समय तक उत्तर भारत में नहीं ठहरेगा। इसलिए नागभट्ट की शक्ति को कुचल देने के लिए वह गोविंद के प्रति कृतज्ञ हुआ होगा क्योंकि वह उसका जानी दुश्मन था। यही नहीं, यह भी असंभव नहीं कि उसने, जैसा हम पहले बता चुके हैं, स्वयं ही राष्ट्रकूटों और पालों दोनों के शत्रु नागभट को कुचलने के लिए गोविंद को आमंत्रित भी किया हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रकूट राजकवियों के अनुसार इस विजय में हिमालय की गुफाएं दकन की रण-भेरियों से गूंजने लगी थीं।[24] अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में यह स्पष्ट ही कवि की अतिशयोक्ति है जो क्षम्य भी है। किंतु संभव नहीं कि गोविंद दोआबे में दूर तक, संभवतः हिमालय की उपत्य-काओं तक गया हो। अब जब चक्रायुध ने समर्पण कर दिया था तो इसकी न तो कोई आवश्यकता रह गई थी और न ही कोई वजह। ध्यान में रखने की बात यह है कि राष्ट्रकूटों के अभिलेखों में इस बार कन्नौज की विजय का कोई उल्लेख नहीं है। किंतु बहुत संभव है कि एक धार्मिक प्रकृति का हिंदू होने के कारण गोविंद गंगा के किनारे-किनारे प्रयाग, काशी और गया तक गया हो। गया उसका अंतिम गंतव्य हो सकता है। उसके बेटे अमोघवर्ष के राजकवि के अनुसार उसके घोड़ों और हाथियों ने गंगा और यमुना के जल में स्नान किया था।[25]

नागभट को हराकर, चक्रायुध और धर्मपाल को प्रणत कर, और संभवतः प्रयाग, काशी और गया के तीर्थों की यात्रा कर गोविंद प्रयाग, चित्रकूट और सागर के रास्ते दकन लौट गया। सबसे पहले वह मालवा में गया होगा जहां उसका भाई इंद्र बड़ी मुस्तैदी से डटा हुआ था और उसने प्रतीहार सम्राट के सेनापतियों द्वारा किए गए हमलों में अकेले ही उन्हें पराजित किया था। इस बीच गोविंद के दूसरे सेनापतियों ने मध्यभारत और छत्तीसगढ़ के दुःशील राजाओं को हराया था। इनमें चंद्रगुप्त, जो संभवतः पांडववंश का था, प्रमुख था।

गोविंद का उत्तर भारत का अभियान एक प्रकार से 'दिग्विजय' ही था। इसका उद्देश्य भूमि-विस्तार नहीं, बल्कि यश-विस्तार था। यह बात संदेहास्पद ही है कि उसने कभी दोआबे या उत्तर भारत के किसी हिस्से में अपने राज्य के विस्तार की कल्पना भी की थी। वह समूचे भारत में अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता था। नागभट को, चक्रायुध को और धर्मपाल को प्रणत कर उसने अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया था। फिर वह बिना किसी प्रदेश को छीने वापस मालवा चला गया।

799 या 800 ई० के ग्रीष्म में राष्ट्रकूट सेनाएं उत्तर भारत से लौटी थीं। गोविंद ने उस साल श्रीभवन अर्थात भड़ोच जिले के आज के सरभोन में बरसात बिताई, वह विंध्य के एक राजा शर्व का अतिथि था। शर्व ने उसका बड़ा स्वागत किया और अपने पुरखों के समय से संचित चुने हुए द्रव्य उसे भेंट में दिए। इसी स्थान पर उसके बेटे अमोघवर्ष का जन्म हुआ था जो उसके बाद राजा हुआ। गोविंद की उम्र काफी हो चुकी थी। अतः पुत्र के जन्म की खुशियां खूब उत्साह और धूमधाम से मनाई गईं।

गोविंद काफी समय तक दकन से बाहर रहा। उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर द्रविड़ राजाओं ने उसकी प्रभुसत्ता को समाप्त करने के लिए एक संघ बना लिया था। पल्लव, पांड्य, केरल और गंग राजा इस संघ में शामिल थे। उन्होंने अपने साधन जोड़कर राष्ट्रकूट राज्य पर हमला कर दिया।[26] जब गोविंद को यह समाचार मिला तो वह तेजी से तुंगभद्रा की ओर बढ़ा और उसने इन सम्मिलित सेनाओं को हरा दिया। यह 802 या 803 ई० की बात है। मई 804 ई० में वह दंतिग और उसके मित्रों को हराने के बाद तुंगभद्रा के किनारे रामेश्वरम् के तीर्थ में एक स्कंधावार में मिलता है। मित्र-सेनाओं की पराजय निर्णायक थी। नंदी के चिह्न वाली पल्लवों की पताका, मत्स्य के चिह्नवाली पांड्यों की पताका और बाघ के चिह्न-वाली चोलों की पताका, हाथी के चिह्नवाली गंगों की पताका—ये सभी पताकाएं उसके हाथ लगी थीं। गंगों की पराजित सेनाओं पर किसी प्रकार की दया नहीं दिखलाई गई। उसके नेताओं को तलवार के घाट उतार दिया गया। अपनी विजयी सेनाओं का नेतृत्व करता गोविंद कांची की ओर बढ़ गया और उसे घेरकर उसने उस पर अधिकार कर लिया। वहीं से उसने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पांड्यों और केरलों को जीता।[27]

इस समय तक भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओं को गोविंद हरा चुका था। कांची और तंजौर में उसकी विजयिनी टिकी हुई थीं। इससे लंका के राजा के मन में गहरी चिंता हुई। उसने बुद्धि से काम लिया और उसे दो प्रतिमाएं भेंट में दीं। उनमें एक तो स्वयं उसकी थी और दूसरी उसके महामात्य की। गोविंद ने मालखेड के एक शिवालय में उन्हें स्थापित कर दिया जहां वे विजय-स्तंभ का काम करती थीं। उन्हें देखकर उसकी प्रजा को यह भान होता था कि उनका राजा कितना शक्तिवान है।[28]

अब हम संक्षेप में वेंगी के चालुक्यों के साथ गोविंद के संबंधों पर प्रकाश डालेंगे। जब तक उसका नाना विष्णुवर्धन वेंगी के सिंहासन पर था, दोनों घरानों के संबंध मधुर बने रहे। 799 ई० में जब विजयादित्य द्वितीय राजा हुआ तो यह सौहार्द समाप्त हो गया। नया राजा गोविंद का एक विनीत सामंत मात्र होकर रहना पसंद नहीं करता था। उसने खुला विद्रोह किया। किंतु उसके भाई भीम सुलुविक ने सिंहासन पर उसके अधिकार को चुनौती दी और उसने गोविंद से सहायता की याचना भी की। इस प्रकार गोविंद को वेंगी की राजनीति में हस्तक्षेप करना आसान हो गया। गोविंद ने लगभग 802 ई० में विजयादित्य को बुरी तरह हरा दिया और उसके स्थान पर भीम सुलुविक को गद्दी पर बैठा दिया। भीम उसका नितांत विनीत सामंत बन गया। एक राजकवि के अनुसार आदेश मिलने से पूर्व ही वह उसे पूरा करने के लिए दौड़ पड़ता था। संभवतः मान्यखेट की नई राजधानी के परकोटे के निर्माण में उसने सक्रिय भाग लिया था।[29]

अपने जीवन के अंतिम पांच-छह वर्षों में गोविंद ने किसी युद्ध में भाग नहीं लिया क्योंकि उस समय देश में ऐसी कोई शक्ति न थी जो उसे चुनौती दे सकती। उसके एकमात्र पुत्र अमोघ-वर्ष का जन्म लगभग 800 ई० में हुआ था। वह अभी काफी छोटा था। वृद्ध राजा ने अपने जीवन की संध्या अमोघवर्ष को प्रशासनिक प्रशिक्षण देने और अपने बाद उसे निर्विघ्न शासक बनाए जाने के प्रबंध में व्यतीत की। गोविंद के बड़े भाई स्तंभ की लगभग 810 ई० में मृत्यु हो गई थी। गोविंद ने स्तंभ के बेटे शंकरगण के स्थान पर अपने छोटे भाई इंद्र के बेटे दंतिवर्मन को गंगवाड़ी का शासक नियुक्त किया। वह युवक राजकुमार असमय ही मर गया। अंततोगत्वा गोविंद ने शिवमार को मुक्त कर गंगवाड़ी का शासक बना दिया। उसने सोचा कि राजवंश के सदस्य की अपेक्षा संभवतः शिवमार उसके पुत्र के प्रति अधिक निष्ठावान रहेगा। इसी के आस-पास उसका छोटा भाई इंद्र भी, जो उसके प्रति सदैव निष्ठवान रहा था और जो मालवा और गुजरात का शासक था, परलोक सिधार गया। गोविंद ने उसके सबसे बड़े बेटे कर्क्क को उसके स्थान पर शासक बना दिया। किंतु अब उसे ऐसा लगने लगा था कि संभवतः उसका अंतः भी निकट है। अतः उसने कर्क्क के स्थान पर उसके छोटे भाई को गुजरात और मालवा का शासन सौंप दिया और कर्क्क को माल्यखेट बुलाकर उसे अपने अवयस्क पुत्र का अभिभावक नियुक्त कर दिया ताकि अमोघवर्ष के शासन के प्रारंभिक वर्षों में जो कठिनाइयां आएं उनका वह निराकरण कर सके। अमोघवर्ष अभी करीब चौदह साल का कुमार था। इसलिए यह जरूरी था कि उसकी सहायता के लिए कोई अनुभवी और विश्वसनीय व्यक्ति उसके पास रहे। लगभग 814 ई० में गोविंद की मृत्यु हो गई।[30]

इसमें कोई संदेह नहीं कि गोविंद राष्ट्रकूट राजाओं में सबसे योग्य था। कन्नौज से कन्याकुमारी, और भडोंच से काशी तक उसकी विजयिनी सेनाएं गई थीं। उसने नागभट और धर्मपाल दोनों को, जो उस समय उत्तर भारत में प्रभुत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे, हराया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कन्नौज के कठपुतली शासक ने उसके आगे समर्पण किया। वेंगी पर उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति शासन कर रहा था और वह उसकी इच्छाओं का पालन करता था। उसके बेटे के राजकवि के अनुसार द्रविड़ देश के राजा उससे इतने भयभीत थे कि उनकी नींद हराम थी।[31] यहां तक कि लंका का राजा भी भयभीत हो उसके आगे झुक गया था। दक्षिण में गंगवाड़ी और उत्तर में मालवा को जीतकर उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य की सीमाओं का भी अपूर्व विस्तार कर दिया था। विजित राजाओं ने उसे जितना कर दिया था, उससे उसके कोष में भी बेहद वृद्धि हुई थी।

उसके बाद राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा फिर इतनी कभी नहीं बढ़ी। इंद्र तृतीय ने लगभग 915 ई० में कन्नौज को अवश्य जीता था, किंतु दक्षिण में वह पेन्नार नदी के पार न जा सका था। इसमें कोई शक नहीं कि कृष्ण तृतीय ने कुछ समय के लिए समूचे दक्षिण प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया था किंतु वह गंगा के दोआबे में प्रवेश न कर सका और न ही उसने वहां के किसी राजा को हराया ही। गोविंद के अभिलेखों में उसके राजकवि ने कहा है कि उसके अभिषेक के समय से ही राष्ट्रकूट शक्ति अविजेय हो गई थी। यह एक कवि-सुलभ गर्वोक्ति नहीं, अपितु तथ्य-कथन है। उसे 'कीर्त्तिनारायण' (नारायण के समान कीर्त्तिवाला) की उपाधि दी गई थी। वह उसका वास्तविक अधिकारी था। एक राजकवि के शब्दों में भाग्य के समान उसकी इच्छा भी विधान ही थी क्योंकि वह प्रसिद्ध राजवंशों को भी उलट सकता था, अपनी इच्छा से या नीतिवश अकिंचन को भी सिंहासन पर बैठा सकता था।[32] यह भी कवि की अत्युक्ति नहीं है।

गोविंद की सफलता का मूल कारण यह था कि वह एक शूरवीर योद्धा, कुशल सेनापति, सफल कूटनीतिज्ञ था और उसमें संगठन की अपूर्व क्षमता थी। सिकंदर महान की भांति उसने कभी रुककर यह नहीं पूछा कि उसके शत्रुओं की संख्या कितनी है अथवा उनके साज-सामान क्या हैं? कठिनाइयों की परवाह न कर वह सीधे युद्ध में कूद जाता था। राष्ट्रकूट अभिलेखों में उसकी तुलना अर्जुन से की गई है। यह तुलना वाजिब ही है। वह हमेशा सक्रिय रहता था। विभिन्न अभियानों के बीच फुर्सत के समय वह सूअर, बाघ और सिंहों के शिकार को निकल जाता था। अपनी राजधानी माल्यखेट से दूर उत्तर और दक्षिण भारत में उसने प्रयाण किए। इससे उसके कुशल सेनापतित्व और संगठन की क्षमता का परिचय मिलता है। उसने कन्नौज से कन्याकुमारी तक सैकड़ों युद्धों में अगणित शत्रुओं को हराया, यह कोई हंसी-खेल नहीं था। उसने जिस प्रकार स्तंभ को अपनी ओर मिला लिया उससे सिद्ध हो जाता है कि वह एक कुशल कूट-नीतिज्ञ था। उसने मालवा पर अधिकार कर वहां अपनी ओर से शासक नियुक्त कर दिया। इससे प्रकट है कि वह यह जानता था कि उत्तर के किसी आक्रमण को रोकने और उत्तर पर आक्रमण करने की दृष्टि से इस प्रदेश का कितना सामरिक महत्व था। इस प्रकार भारत के योग्यतम सम्राटों और सेनापतियों में उसकी गणना की जा सकती है, जो सर्वथा उचित है।

शर्व अमोघवर्ष
(लगभग 814 से 860 ई०)

गोविंद तृतीय की मृत्यु के बाद 8.4 ई० के पूर्वार्ध में शर्व गद्दी पर बैठा। अभिषेक के अवसर पर उसने 'अमोघवर्ष' की उपाधि ग्रहण की। वह अपने नाम शर्व की अपेक्षा अपनी उपाधि से ही अधिक ख्यात है। अतः हम भी उसका उल्लेख इसी नाम से करेंगे। उसकी अन्य उपाधियां थीं: 'नृपतुंग,' 'रट्टमार्तंड,' 'वीरनारायण' और 'अतिशयधवल' आदि। राष्ट्रकूटों की सामान्य उपाधियां 'वल्लभ' और 'पृथ्वीवल्लभ' भी उसने धारण की थीं। उसकी किसी रानी का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्यारोहण के समय अमोघवर्ष 13 या 14 वर्ष का बालक था। जैसा उसके पिता ने प्रबंध किया था, पहले प्रथम कुछ वर्षों में उसका चचेरा भाई कर्क्क अभिभावक के रूप में राज्य चलाता रहा। गोविंद ने इसी कार्य के लिए उसे गुजरात से बुलाया था। कुछ वर्षों तक तो यह प्रबंध सुचारु रूप से चलता रहा। किंतु उसके बाद राजनैतिक क्षितिज पर काले बादल मंडराने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे राष्ट्रकूटों के धवल यश को आच्छादित कर लेंगे। लगभग 817 ई० में बालक राजा के विरुद्ध भयंकर विद्रोह उठ खड़ा हुआ। कहीं भी इन विद्रोहियों का नामोल्लेख नहीं हुआ है और न ही यह ज्ञात हो सका है कि वे कहां के रहनेवाले थे। समसामयिक अभिलेखों में लिखा है कि दुष्ट शनि की वक्र दृष्टि से सामंत, मंत्री और संबंधी जनों ने उन्मत्त होकर विद्रोह कर दिया और राजभक्त अधिकारियों की हत्या कर दी। ऐसी अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई कि लोगों का जीवन और स्त्रियों का सम्मान खतरे में पड़ गया था। इन विद्रोहियों को प्रारंभ में सफलता भी मिली। बालक राजा को देश छोड़कर भागना पड़ा और कुछ समय के लिए राष्ट्रकूटों की शक्ति का अंत भी हो गया। यह सन 818-19 की बात है। किंतु राजा के अभिभावक उसके चचेरे भाई कर्क्क पातालमल्ल ने स्थिति संभाल ली। उसने विद्रोहियों को हराकर राजा को अपने सिंहासन पर पुनः बैठा दिया। यह घटना मई 821 ई० से पूर्व ही है।

इस समय हम इस विद्रोह के कारणों और घटनाक्रम का अनुमान ही कर सकते हैं। अमोघवर्ष का कोई सगा भाई न था जो सिंहासन पर उसके अधिकार को चुनौती देता। किंतु कर्क्क के अतिरिक्त उसके अन्य चचेरे भाई भी थे। संभवतः गड़बड़ की शुरुआत उन्होंने ही की, क्योंकि समसामयिक अभिलेखों में स्पष्ट लिखा है कि ये विद्रोही राष्ट्रकूट ही थे। स्तंभ के बेटे शंकरगण को गंगवाड़ी की जागीर नहीं मिल सकी थी। संभवतः वही विद्रोहियों का अगुआ रहा हो। स्तंभ अमोघवर्ष से उम्र में तो बड़ा था ही, अमोघवर्ष के पिता के बड़े भाई का पुत्र होने के नाते प्रथम उत्तराधिकारी भी था। अतः कुछ राष्ट्रकूट अधिकारी और मंत्री गद्दी के लिए उसे अधिक उपयुक्त मानकर तथा उसके अधिकार के औचित्य को स्वीकार कर उसके साथ हो गए होंगे। मान्यखेट का एक वर्ग ऐसा भी रहा होगा जो गुजरात से बुलाकर अवयस्क राजा के अभिभावक के रूप में कर्क्क की नियुक्ति को पसंद नहीं करता था। उन्होंने भी शंकरगण का साथ दिया होगा। फिर जो सामंत असंतुष्ट थे वे भी उनसे मिल गए होंगे। इनमें वेंगी का विजयादित्य द्वितीय सबसे प्रमुख और शक्तिशाली था। कुछ साल पहले गोविंद ने उसे गद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई भीम को वहां का शासक बना दिया था। विजयादित्य ने वेंगी के सिंहासन पर अधिकार कर भीम को पदच्युत कर दिया। भीम का मुख्य आसरा राष्ट्रकूट सम्राट का ही था। अमोघवर्ष प्रथम के सिंहासन पर आने से उसे यह समर्थन प्राप्त न हो सका तो विजयादित्य द्वितीय का काम आसान हो गया। विजयादित्य ने वेंगी में अपनी स्थिति मजबूत कर लेने के बाद राष्ट्रकूटों पर हमला कर दिया क्योंकि उसके दुर्भाग्य के मुख्य कारण वे ही थे। चालुक्य अभिलेखों से विदित होता है कि विजयादित्य ने रट्टों अर्थात राष्ट्रकूटों से बारह वर्ष तक युद्ध किया था। उन्हें उसने 108 लड़ाइयों में हराया था और उनके राज्य को रौंद डाला था।[33] राष्ट्रकूट अभिलेखों से स्पष्ट है कि अमोघवर्ष ने अपने वंश की लक्ष्मी का पुनरुद्धार किया था जो चालुक्यों के समुद्र में डूब गई थी। अतः स्पष्ट है कि अंतिम चरणों में विद्रोह का नेता वेंगी का विजयादित्य ही था। उसकी सफलता के बाद अमोघवर्ष के विद्रोही संबंधी और अधिकारी भी उसके साथ हो लिए। सम्राट को भागकर जान बचानी पड़ी थी।

किंतु यह विद्रोह अधिक समय तक न टिक सका, क्योंकि मई 821 ई० से पूर्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कक्क पातालमल्ल ने तख्ता पलट दिया था, जिससे अमोघवर्ष फिर से सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गया था। साम्राज्य के पूर्वी और दक्षिणी जिलों को जीतने में कुछ साल लगे होंगे। अंततोगत्वा चालुक्यों के मुकाबले राष्ट्रकूटों का पलड़ा भारी रहा क्योंकि राष्ट्रकूटों के परवर्ती लेखों से विदित होता है कि अमोघवर्ष ने विंगवल्ली के रण में चालुक्यों को हराकर यम को विशाल भोज दिया था। कहा गया है कि चालुक्यों के भस्मसात हो जाने के बाद भी उसकी क्रोधाग्नि शांत न हुई। अमोघवर्ष के चालुक्य शत्रु का नाम नहीं दिया गया है और न ही इन विजयों की तिथियों का ही उल्लेख है। अमोघवर्ष ने चौंसठ साल तक राज्य किया था और इस बीच एक के बाद दूसरे कुल चार चालुक्य राजाओं ने राज्य किया था, विंगवल्ली के युद्ध में पराजित चालुक्य राजा कौन था, यह कह पाना कठिन है। संभावना यही है कि वह विजयादित्य द्वितीय ही रहा होगा जिसे सन 830 ई० के आसपास अमोघवर्ष ने पराजित किया था क्योंकि चालुक्य अभिलेखों से यह पता चलता है कि विजयादित्य द्वितीय के पोते गुणग विजयादित्य ने 844 ई० में अपने राज्यारोहण के कुछ समय बाद वेंगी का उद्धार किया था।[34] संभवत: विंगवल्ली के युद्ध के बाद राष्ट्रकूटों ने वेंगी पर अधिकार कर लिया था। चालुक्य गुणग ने उस पर पुन: कब्जा किया होगा।

इस प्रकार अमोघवर्ष दस-पंद्रह वर्षों से अधिक वेंगी को अपने अधिकार में न रख सका था। चालुक्य विजयादित्य तृतीय के योग्य सेनापति पांडुरंग ने लगभग 845-46 ई० में वेंगी पर अधिकार किया था। इस समय अमोघवर्ष गुजरात के अपने चचेरे भाइयों से एक भयंकर युद्ध में फंसा था। इसलिए वह पांडुरंग के विरुद्ध वेंगी की रक्षा के लिए पर्याप्त कुमक न भेज सका। पांडुरंग या उसके स्वामी विजयादित्य तृतीय ने विजयादित्य द्वितीय की भांति राष्ट्रकूट राज्य पर हमला करना उचित न समझा था। वे वेंगी की राजधानी पर अधिकार कर लेने से ही संतुष्ट हो गए और अपने राज्यविस्तार के लिए दक्षिण की ओर मुड़ गए। अमोघवर्ष के शासनकाल में संभवत: फिर चालुक्यों से उसका कोई संघर्ष न हुआ।

अब हम गंगों और राष्ट्रकूटों के संबंधों का सर्वेक्षण करेंगे। राष्ट्रकूटों की विस्तारवादी नीतियों के कारण सबसे अधिक हानि गंगों की हुई थी। अत: मान्यखेट की शक्ति में ह्रास का लाभ उठाने की उन्होंने स्वाभाविक ही कोशिश की। गोविंद ने शिवमार को गंगों के सिंहासन पर फिर से बैठा दिया। वह एक-दो वर्ष तक तो अमोघवर्ष के प्रति निष्ठवान रहा, किंतु लगभग 816 ई० में उसने विद्रोह कर दिया। किंतु इस बार भी भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। उसे स्थानीय राष्ट्रकूट अधिकारियों ने हरा दिया। तुमकुर जिले में कग्गिमोगेयुर नामक स्थान पर हुए युद्ध में वह मारा गया। उसके बाद उसका भतीजा राजमल्ल गद्दी पर बैठा। युद्ध में वह अधिक भाग्यशाली रहा। अभिलेखों में कहा गया है कि उसने राष्ट्रकूटों से अपने देश का वैसे ही उद्धार किया था जैसे विष्णु ने वराह रूप में नरक से पृथ्वी का उद्धार किया था। किंतु राजमल्ल समूचे गंगवाड़ी प्रदेश का उद्धार न कर सका क्योंकि उत्तरी प्रदेश पर अमोघवर्ष के सफल सेनापति बंकेय का अधिकार बना रहा। बाद में बंकेय ने राजमल्ल पर आक्रमण कर काफी समय के लिए उसे कावेरी के पार खदेड़ दिया। किंतु उत्तर के भयंकर विद्रोहों के शमन के लिए अमोघवर्ष ने उसे वापस बुला लिया।[35] राजमल्ल ने इस अवसर का लाभ उठाकर अपने बहुत से प्रदेश पुन: जीत लिए। इन घटनाओं की तिथियां ठीक-ठीक नहीं बतलाई जा सकतीं। अधिक संभावना यह है कि ये घटनाएं लगभग 830 से 835 ई० के बीच घटित हुई होंगी। अमोघवर्ा ने फिर गंगवाड़ी को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। बाद में उसने अपनी बेटी चंद्रोब्बलब्बा का विवाह राजमल्ल के पोते बूतुग से कर दिया। इससे दोनों राजघरानों के बीच

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चला आ रहा पुराना वैर समाप्त हो गया । इसके बाद ये राजवंश परस्पर सहयोग करने लगे ।

सन 830 ई० के आसपास अमोघवर्ष ने चालुक्यों और गंगों के झगड़ों से मुक्ति पा ली । किंतु अधिक समय तक शांति उसके भाग्य में नहीं थी । इस बार गड़बड़ी एक अति अप्रत्याशित दिशा में हुई । गुजरात के उसके चचेरे भाइयों ने उसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया जो काफी समय तक चलता रहा । यह संघर्ष करीब 25 वर्षों तक चला । इस संघर्ष का वर्णन करने से पूर्व गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के इतिहास पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा ।

इस वंश का जनक इंद्र था, जो गोविंद तृतीय का छोटा भाई था । गुजरात और मालवा के महत्वपूर्ण प्रदेश का उसे शासक नियुक्त किया गया था । उसको प्रतिहारों से विंध्य के दर्रों की रक्षा का गुरुभार सौंपा गया था । वह आजीवन गोविंद के प्रति निष्ठावान बना रहा । उसने उत्तर भारत के अभियान में गोविंद के साथ सहयोग किया था जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । लगभग 805 ई० में इंद्र की मृत्यु हो गई । उसके बाद उसका बेटा कर्क्क वहां का शासक हुआ । कर्क्क अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह पूरी निष्ठा से कर रहा था, कि गोविंद तृतीय ने लगभग 812 ई० में उसे अपने अल्पवयस्क पुत्र का अभिभावक नियुक्त कर मान्यखेट बुला लिया । कर्क्क का कोई बेटा इतनी सयानी उम्र का न था कि वह पिता की अनुपस्थिति में गुजरात का शासन चला सकता । अतः उसके स्थान पर उसकी ओर से गुजरात का शासन चलाने के लिए उसके छोटे भाई गोविंद को वहां का शासक नियुक्त किया गया । गोविंद की नियुक्ति गोविंद तृतीय के शासन के अंतिम दिनों में हुई थी । सन 813 में हम उसे एक राजभक्त सामंत के रूप में गुजरात का प्रबंध करते देखते हैं ।[36]

जब लगभग 817-20 ई० में अमोघवर्ष की अल्पवयस्कता के काल में उसके विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ और वह राज्य से च्युत भी हो गया तो उसे सिंहासन पर बैठाने में कर्क्क ने जो भूमिका निभाई थी उसका उल्लेख हम कर चुके हैं । कर्क्क कितने समय तक मान्यखेट में रहा, इसका पता नहीं । 822 ई० के आसपास विद्रोह शांत हो चुका था । किंतु संभवतः समय समय पर अमोघवर्ष कर्क्क की सहायता लेता रहता था । इस अवधि में भी समय समय पर उसका छोटा भाई राज्य का भार संभालता रहा क्योंकि सन 827 ई० में उसके नाम से एक शासन पत्र जारी हुआ था ।[37]

कर्क्क के बाद उसका बेटा ध्रुव लगभग 830 ई० में शासक हुआ । लगभग 835 ई० तक वह अमोघवर्ष के सामंत के रूप में बड़ी निष्ठा से काम करता रहा । इसके बाद ही हम गुजरात के राष्ट्रकूटों को वल्लभ नामक राजा के साथ दीर्घ युद्ध में लिप्त पाते हैं । इस शत्रु की सेनाओं से युद्ध करते हुए ध्रुव प्रथम की मृत्यु हो गई । इस युद्ध में उसकी सेना के भी कुछ लोगों ने शत्रु का साथ दिया था । उसके पुत्र अकालवर्ष से सिंहासन छिन गया था जिसे उसने प्रयत्न कर पुनः प्राप्त कर लिया था । किंतु उसकी विजय निर्णायक न थी क्योंकि उसके बेटे ध्रुव द्वितीय को बराबर संघर्ष करना पड़ा । स्थिति और भी खराब हो गई, क्योंकि एक बार तो उसे एक ओर गुर्जर सेना का और दूसरी ओर वल्लभ की सेनाओं का सामना करना पड़ा । उसका एक भाई भी शत्रु से मिल गया था किंतु उसका एक दूसरा भाई उसके साथ रहा और उसने उसकी इस संकट की स्थिति में मदद भी की । 867 ई० तक उथल-पुथल समाप्त हो गई और ध्रुव अपने पैतृक सिंहासन पर पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया ।

खेद है, गुर्जर शाखा के शत्रु वल्लभ का नाम कहीं नहीं दिया गया है, किंतु इसमें किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि वह अमोघवर्ष प्रथम ही था । मान्यखेट के सभी राष्ट्रकूट राजाओं की स्थायी उपाधि 'पृथ्वीवल्लभ' थी । प्रायः संक्षेप में इसे 'वल्लभ' ही कहते थे । अतः

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा का शत्रु अमोघवर्ष ही था।[38] उसके कोन्नार अभिलेख की तिथि 860 ई० है। इसमें उत्तर के सामंतों की ईर्ष्या और द्वेष से उत्पन्न संघर्षों का जिक्र है। उसके शमन के लिए सेनापति बंकेय को दक्षिण से उत्तर आना पड़ा था। स्पष्ट ही वे आंतरिक शत्रु जो अमोघवर्ष से ईर्ष्या और द्वेष रखते थे, उसके चचेरे भाई गुजरात के राष्ट्रकूट ही थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात के राष्ट्रकूट सामंतों से जो दीर्घकाल से सौहार्दपूर्ण संबंध थे वे लगभग 835 ई० के बाद समाप्त हो गए थे। या तो अमोघवर्ष ने कृतघ्नता का परिचय दिया होगा या फिर कर्क्क के बेटे ध्रुव को ही इस बात का घमंड हो गया होगा कि उसके पिता कर्क्क ने अमोघवर्ष को गद्दी पर बैठाया था और इसलिए वह उद्दंड आचरण करने लगा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव ने अपने स्वामी सम्राट की अधीनता अस्वीकार कर संघर्ष छेड़ा था। किंतु वह अपने पिता की भांति कुशल सैनिक न था। अमोघवर्ष ने उसे हरा दिया और वह युद्ध में मारा गया। यह लगभग 845 ई० की घटना है। ध्रुव के बेटे अकालवर्ष ने संघर्ष जारी रखा और लगभग 850 ई० में सिंहासन पुनः प्राप्त कर लिया। फिर अमोघवर्ष ने अपने विश्वस्त सेनापति बंकेय को गंगवाड़ी से बुला भेजा। इस बीच ध्रुव द्वितीय गुजरात का राजा हो गया था। अमोघवर्ष अंततोगत्वा उसके विरुद्ध पासा लटने में सफल हो गया। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग 860 ई० में दोनों राजघरानों में मेल हो गया। इसका कारण संभवतः यह था कि दोनों ही को कन्नौज के राजा भोज से खतरा पैदा हो गया था। इस समय तक गुर्जर प्रतीहार राजा भोज काफी शक्तिशाली हो गया था। उसके मन में स्वाभाविक ही उस अपमान का बदला लेने का विचार आया होगा जो अमोघवर्ष के पिता गोविंद तृतीय ने उसके दादा नागभट द्वितीय को हराकर किया था। संभवतः वह राष्ट्रकूटों पर आक्रमण की योजनाएं बना रहा था। राष्ट्रकूट सम्राटों की सैनिक प्रतिष्ठा इस समय तक काफी गिर चुकी थी। गुजरात का ध्रुव द्वितीय काफी कमजोर था। वह अकेले इस आक्रमण का सामना नहीं कर सकता था। उधर गुजरात के राष्ट्रकूटों की सहायता के बिना अमोघवर्ष भी प्रतीहारों का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिए अमोघवर्ष और ध्रुव ने लगभग 860 ई० में अपनी दीर्घकालीन कलह समाप्त कर दी ताकि वे मिलकर उत्तर के शत्रु भोज का सम्मिलित रूप में सामना कर सकें। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि भोज आक्रमण की अपनी इस योजना के प्रति अधिक उत्सुक न था। ध्रुव ने इस बात का दावा अवश्य किया है कि उसने 867 ई० से पहले अकेले ही इस आक्रमण को रोक दिया था। किंतु हम यही मान सकते हैं कि उसके दावे में कुछ सत्यांश अवश्य है। इस अभियान में उसे अमोघवर्ष से सहायता अवश्य मिली थी जो भोज का वास्तविक शत्रु था। किंतु भोज उत्तर गुजराज और काठियावाड़ पर अधिकार कर संतुष्ट हो गया और उसने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध युद्ध को आगे पूरी गंभीरता से जारी नहीं रखा। संभवतः इसके बाद राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों में फिर अमोघवर्ष के शासनकाल में कोई संघर्ष नहीं हुआ।

अब हम अन्य राज्यों के साथ अमोघवर्ष के संबंधों का सर्वेक्षण करेंगे। उसके पिता और दादा दोनों ने बंगाल के पालों को हराया था। कतिपय राष्ट्रकूट अभिलेखों के अनुसार, अंग, वंग और मगध के राजाओं ने उसके आगे मस्तक नवाए थे। किंतु इससे हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते हैं कि राष्ट्रकूट सेनाओं ने अमोघवर्ष के नेतृत्व में विहार और बंगाल में प्रवेश किया था। अमोघवर्ष अपने जीवन भर दकन के आंतरिक संघर्षों और सीमावर्त्ती झगड़ों में व्यस्त रहा। उसके पास न तो इतना समय ही था और न योग्यता ही कि वह सुदूर बिहार या बंगाल पर आक्रमण कर सकता। संभवतः कोशल या उड़ीसा में पालों और राष्ट्रकूटों में कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छोटे-मोटे संघर्ष हुए थे। इनमें विजयश्री कभी एक पक्ष को मिलती और कभी दूसरे पक्ष को। इस प्रकार दोनों एक दूसरे को हराने का दावा कर सकते थे। पालों और राष्ट्रकूटों ने अपने लेखों में ऐसा ही किया भी है। जैसे, अमोघवर्ष अपने लेख में दावा करता है कि वंग और अंग के राजाओं ने उसके संमुख मस्तक नवाए थे वैसे ही उसके समकालीन पाल राजा नारायणपाल ने भी दावा किया है कि उसने द्रविड़ राजा को हराया था। यह द्रविड़ राजा अमोघवर्ष के अतिरिक्त और कौन हो सकता है?

संक्षेप में, अमोघवर्ष का शासन काल सैनिक दृष्टि से उसके पिता या पितामह की भांति श्रेष्ठ न था। उसके पिता ने गंगवाड़ी को अपने राज्य में मिला लिया था जिसे अमोघवर्ष ने खो दिया। मालवा भी उसके हाथ से निकल गया। वेंगी के चालुक्यों ने तो एक बार राष्ट्रकूट साम्राज्य को समाप्त ही कर दिया था। बड़ी कठिनता से अमोघवर्ष उन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल पाया। गुजरात जैसे छोटे से राष्ट्रकूट राज्य ने उसे बीस साल तक परेशान किया। इस प्रकार अमोघवर्ष के पास न तो समय था न योग्यता ही कि वह उत्तर या पूर्वी भारत पर आक्रमण कर सकता।

सच तो यह है कि शायद वह अपने पिता की भांति जन्मजात सेनापति नहीं था और न अपने दादा की भांति उसे युद्धों में रस ही आता था। अपने जीवन के उत्तरार्ध में वह जैन धर्म के प्रति आकृष्ट हो गया था। इससे यदि उसमें किसी प्रकार की सैनिक भावना रही भी हो तो वह जाती रही होगी। जीवन की संध्या में वह शांति, धर्म और साहित्य का आराधक बन गया था। कन्नड़ भाषा में काव्यशास्त्र का सबसे पुराना ग्रंथ 'कविराजमार्ग' है। इस ग्रंथ का रचयिता अमोघवर्ष ही बताया जाता है। यदि यह न भी हो तो कम से कम इतना अवश्य है कि यह ग्रंथ उसकी ही प्रेरणा से लिखा गया था। अमोघवर्ष विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। उसके अभिलेखों के अनुसार वह गुप्त सम्राट साहसांक (चंद्रगुप्त द्वितीय) से भी अधिक उदार था। नागवर्मन द्वितीय, केशिराज और भट्टकलंक जैसे परवर्ती कन्नड़ लेखकों ने उसके इस दावे की पुष्टि की है।

अमोघवर्ष ने जैन धर्म और दर्शन का गहन अध्ययन किया था। 'आदिपुराण' के रचयिता जिनसेन ने लिखा है कि वह अमोघवर्ष का आचार्य था। जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने अपनी पुस्तक 'गणितसार-संग्रह' में लिखा है कि अमोघवर्ष जैन था। इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि अमोघवर्ष पर महावीर स्वामी की शिक्षाओं का गहरा असर था। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सनातन हिंदू देवतओं पर से उसका विश्वास उठ गया था। वह महालक्ष्मी का अनन्य भक्त था। प्रजा को विपत्ति से बचा लेने के लिए एक अवसर पर उसने देवी को अपने बाएं हाथ की अंगुली भी चढ़ा दी थी। अमोघवर्ष के संजन ताम्रपट्टों में उसके राजकवि ने इस घटना का वर्णन किया है। इसकी पुष्टि भट्टकलंक ने अपने 'कर्णाटकशब्दानुशासन' में अमोघवर्ष की तुलना शिवि और दधीचि से की है जिन्होंने दूसरों के हित के लिए अपने शरीर के मांस और अस्थियों का दान दिया था। राजा तो दूसरों का रक्त बहाते हैं, पर दूसरों के लिए अपना रक्त बहाने वाले अमोघवर्ष जैसे राजा इतिहास में बहुत कम हुए हैं।

अमोघवर्ष ने धर्म की शिक्षाएं सुनी ही न थीं वह उनपर आचरण भी करता था। हिंदू धर्म के अनुसार हरेक व्यक्ति को अपने जीवन की संध्या में संसार का परित्याग कर धार्मिक चिंतन करना चाहिए। 'पुराणों' में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने इस उपदेश का अक्षरश: पालन किया था। ऐतिहासिक राजाओं में अमोघवर्ष जैसे कुछ ही राजा हुए हैं जिन्होंने इस उपदेश का पालन किया। वह समय-समय पर राज-धर्म से अवकाश ले लेता था। उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साठ वर्ष की अवस्था के समय उसके राज्य में अपेक्षाकृत शांति थी। इसके बाद काफी समय के लिए वह राजकाज से अपने को अलग कर धार्मिक चिंतन करता था। इन अवधियों में युवराज कृष्ण राजकाज देखता था।[39] अवकाश बिताने के बाद राजा शासन की बागडोर फिर स्वयं संभाल लेता था।

यद्यपि अमोघवर्ष सैनिक दृष्टि से तो उतना सफल न था तथापि एक शासक के रूप में वह निर्विवाद रूप से सफल रहा और भारतीय राजाओं में उसका ऊंचा स्थान है। उसने कोई चमत्कृत करनेवाली विजय तो प्राप्त नहीं की, किंतु उसने अपने राज्य में शांति और व्यवस्था बनाए रखी और विदेशी आक्रमणों से उसने अपनी प्रजा की सदा रक्षा की। उसे विज्ञान और साहित्य से प्रेम था और उसने इनकी उन्नति में सहायता दी। सभी धर्मावलंबियों के प्रति उसका व्यवहार समान था। अपने जीवन में उसने हिंदू और जैन धर्मों के समन्वय की कोशिश की। वह अपने विश्वासों के अनुसार ही आचरण करता था। अधिकार के लोभ पर काबू पाकर समय-समय पर वह अवकाश ले लेता था और उन अवधियों में एकाग्र हो धार्मिक चिंतन करता था। उसे प्रजा के सुख का सदा ध्यान रहता था। प्रजा पर आनेवाली विपत्तियों के निवारणार्थ उसने अपनी एक अंगुली भी महालक्ष्मी को चढ़ा दी थी।

मार्च 878 ई० अमोघवर्ष प्रथम की अंतिम ज्ञात तिथि है। उसके बेटे और उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय की प्रथम ज्ञात तिथि 883 ई० है। 878 में वह लगभग 78 वर्ष का था। इस प्रकार हम उसकी मृत्यु और उसके बेटे कृष्ण के राज्यारोहण की तिथि को 880 ई० में भली भांति रख सकते हैं।

उसके एकमात्र ज्ञात पुत्र का नाम कृष्ण द्वितीय था जो उसके बाद राजा हुआ था। उसकी दो पुत्रियों के नाम भी ज्ञात हैं। उनमें एक का नाम रेवकनिमडि था जो उसकी संभवतः सबसे बड़ी संतान थी। उसका विवाह एक गंग राजकुमार के साथ हुआ था। सन 837 ई० में हम उसे रायचुर दोआब में शासन करते पाते हैं।[40] उसकी दूसरी पुत्री चंद्रोब्बलब्बा कृष्ण से छोटी थी। उसका विवाह लगभग 860 ई० में एक दूसरे गंग राजकुमार गुणदुत्त रंग बूटुग से हुआ था।

कृष्ण द्वितीय
(लगभग 880 से 914 ई०)

जैसा हमने ऊपर बतलाया है—लगभग 880 ई० में कृष्ण द्वितीय गद्दी पर बैठा। अपने अभिषेक के समय उसने 'शुभतुंग' और 'अकालवर्ष'[41] की उपाधियां धारण की थीं। ये विरुद तो प्रायः वे सभी राष्ट्रकूट राजा धारण करते थे, जिनके नाम कृष्ण थे। 'पृथ्वीवल्लभ' अथवा 'वल्लभ' भी उसकी उपाधि थीं। ये भी सभी राष्ट्रकूट राजाओं की उपाधियां थीं।

मृत्यु के समय उसके पिता की आयु करीब 80 साल थी और उसने कम से कम 64 साल तक राज्य किया था। इसलिए गद्दी पर बैठने के समय कृष्ण की उम्र 50 वर्ष से अधिक रही होगी। यह असंभव नहीं, क्योंकि वह भी अपने पिता की भांति अस्सी वर्ष तक जीवित रहा होगा। उसने कई साहसिक अभियान किए। इससे यही सिद्ध होता है कि वह अमोघवर्ष की संततियों में छोटा रहा होगा। इस प्रकार यह भी संभव है कि गद्दी पर बैठने के समय उसकी उम्र चालीस से ऊपर न रही हो।

कृष्ण की अग्रमहिषी का नाम ज्ञात नहीं है। वह चेदि राजकुमारी थी और उसके पिता का नाम कोक्कल था। वह कुमार शंकरगण की बहन थी। इस विवाह से राष्ट्रकूटों और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चेदियों के संबंध मधुर हो गए थे। कृष्ण के राज्यकाल में कई चेदि राजकुमारियों के विवाह राष्ट्रकूट राजकुमारों से हुए। इस प्रकार यह संबंध और भी सौहार्दपूर्ण हो गया था। कृष्ण ने अपने युवराज जगत्तुंग का विवाह अपने साले शंकरगण की पुत्री लक्ष्मी से कर दिया था। यह विवाह कृष्ण के शासन के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था। यह विवाह मातुल-कन्या से हुआ था। इस प्रकार के विवाहों की अनुमति स्मृतियों में नहीं है, किंतु दकन में ऐसे विवाहों की प्रथा थी। बाद में लगभग 890 ई० में जब एक अभियान के सिलेसिले में जगत्तुंग अपनी ससुराल में था तो उसने अपनी पत्नी लक्ष्मी की छोटी बहन गोविंदंबा से भी विवाह कर लिया। जगत्तुंग और लक्ष्मी के सबसे बड़े बेटे इंद्र का विवाह चेदि राजकुमारी विजंबा से हुआ था, जो शंकरगण के भाई अर्जुन की पोती थी। इंद्र के सौतेले छोटे भाई अमोघवर्ष का विवाह चेदि राजकुमारी कुंडकदेवी से हुआ था जो शंकरगण के एक-दूसरे भाई मुग्धतुंग की पोती थी। यह विवाह लगभग 910 ई० में हुआ था। इन विवाहों से चेदियों और राष्ट्रकूटों में बड़ी गाढ़ी मैत्री हो गई थी। इसके बाद तो वे एक दूसरे की बराबर मदद करते रहे।

इस समय तक मालखेड के राष्ट्रकूट और वेंगी के चालुक्य एक दूसरे के स्थिर शत्रु हो गए थे। कृष्ण द्वितीय के शासन काल में भी उनमें संघर्ष होते रहे। जब कृष्ण गद्दी पर बैठा तो उस समय विजयादित्य तृतीय (844-88ई०) वेंगी का राजा था। हम देख चुके हैं कि उसने लगभग 850 ई० में अमोघवर्ष से अपने राज्य का अधिकांश भाग छीन लिया था। इसके बाद वह अपने दक्षिण के पड़ोसियों, पल्लवों, और चोलों, से युद्धों में व्यस्त रहा। उस समय पल्लव और चोल अपेक्षाकृत कमजोर थे। विजयादित्य ने उन्हें कई बार हराया और अपने कोष और यश में पर्याप्त वृद्धि की।

इन विजयों से उत्साहित होकर चालुक्य राजा ने नोलंबों और गंगों पर चढ़ाई की। यह समय कृष्ण द्वितीय के शासन के प्रारंभ का था। नोलंब और गंग राष्ट्रकूटों के मित्र और सामंत थे। उसकी बहन का बटुग गुणदुत्तरंग से विवाह हुआ था जो गंग राजा राजमल्ल द्वितीय का छोटा भाई था। इसलिए चालुक्यों के नोलंबवाडि और गंगवाडि के आक्रमण को स्वाभाविक ही कृष्ण ने अपनी सत्ता को चुनौती माना और वह उसके मुकाबले के लिए मैदान में आ गया।

प्रारंभ में सफलता विजयादित्य को ही मिली। नोलंबवाडि की सेना पराजित हुई और उनका सेनापति मंगि रण में खेत रहा। विजयादित्य ने फिर गंगवाडि पर आक्रमण किया और रेमिया और गुंगूर के युद्धों में राजमल्ल और बटुग को हरा दिया।[42] उससे गंगवाडि के काफी हिस्से पर कब्जा भी कर लिया। गंगों के राजा को अपने किले में शरण लेनी पड़ी जिसे शत्रु की सेनाओं ने घेर रखा था।

दक्षिण के साथ-साथ विजयादित्य ने उत्तर में भी आक्रमण कर दिए थे। उसने राष्ट्रकूटों के उत्तरी-पूर्वी भाग पर हमला कर बस्तर राज्य पर अधिकार कर लिया और चक्रकूट, बस्तर में आधुनिक चक्रकोट्ट्या के गढ़ को जला दिया। फिर वह किरणपुर की ओर बढ़ा जो उससे 150 मील उत्तर में था और राष्ट्रकूटों का गढ़ था। कृष्ण और उसके साले शंकरगण (अपरनाम शंकिल) ने इसी नगर में पड़ाव किया था। इस स्थान के आस-पास ही कहीं एक भयंकर युद्ध हुआ जिसमें राष्ट्रकूटों और चेदियों की पराजय हुई। किरणपुर पर शत्रु का अधिकार हो गया जिसे विजयादित्य ने जलवा दिया। फिर उसने अचलपुर (बरार में एलिचपुर) में प्रवेश किया। उसने इस नगर पर अधिकार कर इसे भी जलवा दिया। इस आक्रमण की योजना चालुक्यों के योग्य और अनुभवी सेनापति पांडुरंग ने बनाई थी। कुछ समय के लिए तो योजना सफल रही। प्राचीन भारत के युद्धों में नगरों का जलाना एक असामान्य बात थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इससे राष्ट्रकूटों और चेदियों की प्रजा में भयंकर निराशा छा गई होगी। अतः जब चालुक्य अभिलेख यह कहते हैं कि गंग अपने गिरिदुर्गों में बंद कर दिए थे और राष्ट्रकूट राजा कृष्ण और उसके मित्र शंकरगण का यश समाप्त हो गया था तो वे कोई अतिशयोक्ति नहीं करते हैं। 888 ई० के आस-पास तो, जब विजयादित्य तृतीय की मृत्यु हो गई, स्थिति यही थी।[43]

कृष्ण ने इन पराजयों से सीख लेकर अपनी सेनाओं का पुनर्गठन किया। उसने अपने गुजरात और कर्नाटक के सामंतों की सेनाएं बुलवा लीं। सेना के एक भाग का नेतृत्व गुजरात का सामंत कृष्ण कर रहा था और एक अन्य भाग का सेनापति चालुक्य बड्डेग था जो उत्तरी कर्नाटक का सामंत था। वेंगी की सेनाओं को पूरी तरह से हराया गया और इस प्रकार उनका विरोध शांत हुआ। संभवतः बड्डेग ने नए चालुक्य राजा भीम को कैद कर लिया था। राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण ने अब वेंगी की ओर कूच किया।[44] उसने उनके कई जिलों पर अधिकार कर लिया और उनके शासन के लिए अपनी ओर से अधिकारी नियुक्त कर दिए। भीम की शक्ति चूर्ण हो चुकी थी। स्वयं चालुक्य अभिलेखों में लिखा है कि विजयादित्य (विजय के सूर्य) के अस्त होने पर विजयी राष्ट्रकूटों ने वेंगी को अंधकार से ढंक दिया था।[45] जब चालुक्यों की शक्ति इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो गई तो स्वाभाविक ही नोलंब और गंगों पर दवाव कम हो गया और उन्होंने पुनः अपने प्रदेश हथिया लिए। चालुक्य राजा भीम को कैद से छोड़ दिया गया और वह वेंगी के सामंत के रूप में शासन करने लगा।

इस बात का पता नहीं कि कृष्ण द्वितीय ने वेंगी को कितने समय तक अपने कब्जे में रखा। संभवतः दस साल से अधिक तक वह उसे अपने अधिकार में नहीं रख सका। इस बीच भीम ने अपनी सेनाओं का पुनर्गठन कर लिया था। इस कार्य में उसे अपने सेनापति महाकाल से बड़ी सहायता मिली। महाकाल उसकी धाय मां 'नागिपोली' का नाती था।[46] इस पुनर्गठित सेना ने राष्ट्रकूट चौकियों पर हमला कर दिया। निरवद्यपुर में एक भयंकर युद्ध हुआ। यह स्थान वही है जहां आज पूर्वी गोदावरी जिले का निड्वोलु है। इस युद्ध में चालुक्यों के युवराज को, जो तब, मात्र सोलह वर्ष का था गहरी चोट लगी जिससे उसकी मृत्यु हो गई। युवराज अपने हाथी की पीठ पर से राष्ट्रकूट सेनापति दंडेश गुणडुय पर प्राणघातक हमला करने ही वाला था कि वह घायल हो गया। चालुक्यों के अभिलेखों में उनकी जीत का दावा किया गया है,[47] किंतु यदि वे जीते भी तो यह जीत उन्हें बड़ी महंगी पड़ी थी। अधिक संभावना यही है कि युद्ध में किसी भी पक्ष की निर्णायक विजय नहीं हुई थी। चालुक्य सेनाओं की नई ताकत को समझकर संभवतः कृष्ण ने वेंगी के और जिलों को फिर से जीतने का विचार त्याग दिया। भीम के द्वारा राष्ट्रकूटों पर हमला करने का प्रश्न ही नहीं था। पुनः दोनों पड़ोसी राज्यों ने अपनी परंपरागत सीमाओं को मान लिया जिससे शांति स्थापित हो गई। इन दोनों राजाओं के जीवनकाल में फिर इनमें कोई संघर्ष नहीं हुआ।

अब हम कृष्ण द्वितीय के उत्तरी पड़ोसियों और सामंतों के साथ उसके संबंधों पर विचार करेंगे। गुजरात में राष्ट्रकूट वंश की ही एक शाखा सामंतों के रूप में राज्य कर रही थी। हम देख चुके हैं कि इन दोनों शाखाओं से बीच एक लंबे अरसे तक युद्ध चला था जो लगभग 865 ई० में समाप्त हो गया। अमोघवर्ष प्रथम के शेष शासनकाल में दोनों वंशों के बीच सौहार्द रहा। ध्रुव द्वितीय अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद चार-पांच साल तक जिंदा रहा। उसके बाद लगभग 885 ई० में कृष्ण गुजरात का शासक हुआ। संभवतः वह ध्रुव का बेटा था। आश्चर्य यह है कि अगले दशक में राष्ट्रकूटों की मुख्य शाखा और गुजरात की शाखा दोनों के राजाओं के नाम एक ही थे। गुजरात शाखा का राजा कृष्ण मुख्य शाखा के कृष्ण के प्रति निष्ठावान बना रहा और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेंगी के चालुक्यों के युद्ध में उसके साथ बराबर सहयोग करता रहा।

नर्मदा के परे गुर्जर प्रतीहारों का राज्य था। उनकी गद्दी पर भोज महान विराजमान था। भोज ने अमोघवर्ष के शासन काल में पुराना बदला लेने की कोशिश की थी किंतु वह विंध्य के दक्षिण में घुसने में असफल रहा था। कृष्ण द्वितीय के अभिषेक के बाद उसने एक बार पुनः राष्ट्रकूटों से लोहा लेने की कोशिश की। प्रारंभ में राष्ट्रकूट सेनाओं को पराजित हो मैदान छोड़ देना पड़ा था।[48] किंतु कृष्ण द्वितीय ने शीघ्र ही पासा पलट दिया था। राष्ट्रकूट सेनाओं ने प्रतीहारों को पीछे ठेल दिया। उन्होंने मालवा में प्रवेश कर उज्जैनी पर अधिकार कर लिया।[49] गुर्जर शाखा के कृष्ण के एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने अपने प्रभु राजा के सामने ही उज्जैनी में शत्रुओं को हराकर ख्याति अर्जित की थी। स्वयं कृष्ण ने भी इस युद्ध में पर्याप्त शौर्य का प्रदर्शन किया था। उसके उत्तराधिकारी के लगभग 915 ई० के एक अभिलेख में लिखा है कि उस समय कैसे वृद्धजन इस युद्ध में कृष्ण के शौर्य का बखान करते थे।[50] तथापि कृष्ण ने इसके बाद उत्तर में शत्रुओं का पीछा नहीं किया। संभवतः वह कर भी न सकता था। वह अपने राज्य की रक्षा से ही संतुष्ट रहा। उसने अपने पितामह के चरण-चिह्नों पर चलने की कोशिश नहीं की।

कृष्ण द्वितीय के शासन काल में ही गुजरात के राष्ट्रकूटों का शासन समाप्त हो गया। इसकी ठीक ठीक तिथि और वजह बतलाना संभव नहीं है। इस शाखा का अंतिम शासक जिसका हमें ज्ञान है, कृष्ण द्वितीय था। वह लगभग 885 ई० में गद्दी पर बैठा था। वेंगी के चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के साथ युद्धों में उसने मालखेड के राष्ट्रकूटों का साथ दिया था। किंतु 888 ई० के बाद उनके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता। इस शाखा के कृष्ण द्वितीय या उसके किसी उत्तराधिकारी का फिर कोई लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत हम उत्तरी गुजरात में 910 ई० में ब्रह्मावलोक वंश के प्रचंड नाम के एक नए सामंत को शासन करते पाते हैं। इसके चार साल बाद इंद्र तृतीय गद्दी पर बैठा तो हम गुजरात का शासन सीधे मालखेड से होता पाते हैं। सन 915 ई० में इंद्र तृतीय ने गुजरात के एक गांव के दान की पुष्टि की थी जिसे एक ब्राह्मण को गुजरात शाखा के ध्रुव प्रथम और ध्रुव द्वितीय ने दिया था। यदि मूल दान-ग्रहीता के वंशजों ने इस दान की पुष्टि की प्रार्थना मालखेड से की तो इसकी वजह यही थी कि मूल दाता के वंश के शासन का लोप हो चुका था और उसके स्थान पर मूल राष्ट्रकूट वंश का शासन स्थापित हो चुका था जिसके राजा ने इस दान की पुष्टि की।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लगभग 900 ई० के आसपास गुजरात की राष्ट्रकूट शाखाओं का शासन समाप्त हो चुका था। हो सकता है कि इस सन के आसपास कृष्ण द्वितीय निःसंतान मर गया हो, अथवा मूल शाखा और इस वंश के राष्ट्रकूटों के बीच कोई युद्ध हुआ हो जिसमें सम्राट कृष्ण द्वितीय की विजय हुई और उसने गुजरात का शासन खुद संभाल लिया हो। इनमें से बात क्या थी, इसका फैसला हम इस समय उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं कर सकते।

कृष्ण द्वितीय के शासन काल में राष्ट्रकूटों के अपने पूर्वी भारत के पड़ोसियों के साथ संबंध कैसे थे, इसके बारे में हमें विशेष रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। करीब पचास साल बाद के कृष्ण तृतीय के शासन काल के कतिपय अभिलेखों में कहा गया है कि उसने गौड़ के राजा को विनय की सीख दी थी और उसका प्रांगण अंग, वंग, वेंगी, कलिंग और मगध के राजाओं से भरा रहता था। ये राजा उसके प्रति आदर प्रकट करने के लिए आते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन अत्युक्ति मात्र है। इस अत्युक्ति का कारण एक तो कवियों का इतिहास का अज्ञान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। दूसरे उनका अनुप्रास प्रेम भी है जिसमें उन्होंने अंग, वंग, वेंगी और कलिंग और मगध को एक साथ रख दिया है जिनके बीच कोई भौगोलिक क्रम नहीं है। कृष्ण द्वितीय के राजकवि गुणचंद्र ने भी, जो जैन था, लिखा है कि उसके हाथियों ने गंगा के स्फूर्तिदायक जल का पान किया था और कन्याकुमारी के वनों में विश्राम किया था। इस बात में तो शक की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि कृष्ण द्वितीय ने गंगा के मैदानों या प्रायद्वीप के कोनेवाले प्रदेशों में कोई अभियान नहीं किया था। उसमें न तो गोविंद तृतीय या ध्रुव की भांति सैनिक कुशलता थी, न वैसा उत्साह ही था। वह तो उस साम्राज्य की अखंडता की रक्षा भर कर सका था जो उसे उसके पिता से मिला था। उसने अपने साम्राज्य पर शत्रुओं के जो भी आक्रमण हुए उन्हें विफल अवश्य कर दिया था। उसने थोड़े समय के लिए वेंगी के कुछ हिस्से पर अधिकार अवश्य कर लिया था, पर उस भाग को भी वह अधिक समय तक अपने साम्राज्य का अंग बनाकर नहीं रख सका।

अपने पिता अमोघवर्ष की भांति कृष्ण द्वितीय का भी झुकाव जैन धर्म की ओर था। उसकी शिक्षा प्रसिद्ध जैन लेखक गुणचंद्र की देख-रेख में हुई थी। यह गुणचंद्र ही आदि पुराण के अंतिम पांच अध्यायों का लेखक था। किंतु हिंदू धर्म के प्रति उसने पर्याप्त सहिष्णुता दिखलाई। महावीर की शिक्षाओं के प्रति उसके मन में आदर अवश्य था, किंतु इससे उसकी विदेशनीति पर प्रभाव नहीं पड़ा। वह प्रायः युद्धों में फंसा रहा। सच तो यह है कि दसवीं शताब्दी में चालुक्यों, गंगों और राष्ट्रकूटों के अधिकांश प्रसिद्ध सेनापति जैन थे। संभवतः विश्वास यह था कि अहिंसा का आत्यंतिक रूप मुनियों आदि का साध्य है सामान्य श्रावकों के लिए वह नहीं है; जैन श्रावक सैनिक जीवन अपना सकते थे। इससे उनके चरित्र पर कोई लांछन नहीं आता था।

सन 914 के अंत में कृष्ण द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसने चौंतीस वर्ष राज्य किया था जो काफी लंबी अवधि है। उसने और उसके पिता ने मिलाकर पूरे सौ वर्ष राज्य किया जो एक असामान्य बात है। मृत्यु के समय कृष्ण की उम्र अस्सी से अधिक नहीं तो सत्तर से अधिक अवश्य थी। उसके जीवनकाल में ही उसके ज्येष्ठ पुत्र जगत्तुंग की मृत्यु हो चुकी थी। संभवतः उसकी मृत्यु उसके शासन के अंतिम दशक में हुई थी। जगत्तुंग के दो बेटे थे। इनमें बड़ा बेटा इंद्र चेदि राजकुमारी लक्ष्मी से उत्पन्न हुआ था। छोटे पुत्र अमोघवर्ष की मां गोविंदंबा थी जो लक्ष्मी की छोटी बहन थी। सन 914 ई० के अंत में जब कृष्ण द्वितीय की मृत्यु हुई तो इंद्र गद्दी पर बैठा। अमोघवर्ष के भाग्य में भी राज्य करना लिखा था। सो वह भी करीब 25 साल बाद राजा हुआ। कृष्ण की एक पुत्री भी थी जिसका विवाह चोलराजा आदित्य प्रथम से हुआ था, उसके पुत्र का नाम आदित्यन कन्नरदेव था। यह राजकुमार राजा नहीं बन सका क्योंकि उसके बदले परांतक चोल राजा हुआ था।[51]

इंद्र तृतीय
(लगभग 914 से 928 ई०)

सन 914 ई० के उत्तरार्ध में कृष्ण के बाद उसका पोता इंद्र गद्दी पर बैठा। फरवरी 915 ई० में कुरुंदक के तीर्थ में उसका अभिषेक हुआ था। संभवतः यह कुरुंदक दक्षिण मराठवाड़ा में कुरुंदवाड नामक स्थान है। अभिषेक के समय उसने सोने से अपना तुलादान दिया और 400 गांवों के ब्राह्मणों और देवालयों को पुनर्दान दिया। इसके अतिरिक्त 20 लाख 'द्रम्म' भी उसने दान में दिए।[52] अभिषेक के समय उसने 'नित्यवर्ष' की उपाधि धारण की। वह अत्यंत सुंदर था, इसलिए उसे 'रट्टकंदर्प' भी कहते थे। उसके एक राजकवि के अनुसार ब्रह्मा ने उसकी रचना के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद अवशिष्ट भाग से कंदर्प, चंद्रमा और कमल की रचना की।[53]

राज्यारोहण के समय इंद्र की उम्र तीस वर्ष से अधिक न थी। इस प्रकार वह पूर्ण यौवन-संपन्न था। गोविंद तृतीय का सैन्य कौशल और उत्साह उसे दाय में मिला था। अभिषेक के अवसर पर वह अपने रणकौशल के प्रदर्शन की ताक में ही था कि उसे इसका अवसर भी हाथ लग गया।

लगभग 910 ई० में गुर्जर प्रतीहार राजा महेंद्रपाल की मृत्यु हो गई थी। उसके दो पुत्र थे, भोज द्वितीय और महीपाल। ये सौतेले भाई थे। पिता की मृत्यु के बाद भोज राजा हुआ, किंतु महीपाल ने उसके दावे को चुनौती दी। चंदेल राजा हर्ष ने उसका साथ दिया। महीपाल भोज को लगभग 912 ई० में गद्दी से उतारने में सफल भी हो गया। चेदियों ने इस घटना का अनुमोदन नहीं किया था क्योंकि उनके राजा काकल्ल ने भोज का साथ दिया था। इस समय चेदियों का राजनैतिक हित राष्ट्रकूटों के साथ एकाकार हो चुका था क्योंकि उनके बीच कई वैवाहिक संबंध हो चुके थे जिनका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। उधर इंद्र तृतीय भी युद्ध में अपने करतब दिखाने को उत्सुक था ही। अत: उसने भोज को गद्दी से उतारने पर महीपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसके अतिरिक्त एक अन्य गंभीर कारण भी था। इंद्र के राज्यारोहण से ठीक पहले या ठीक बाद में प्रतीहारों के सामंत मालवा के परमार राजा उपेंद्रराज ने नासिक जिले पर हमला कर गोवर्धन को घेर लिया था। संभवत: यह प्रतीहार राजा के इशारे से हुआ था। इंद्र ने सबसे पहले गोवर्धन का उद्धार किया और उपेंद्र को बुरी तरह हराकर उसे अपना सामंत बना लिया। इंद्र ने उज्जैनी पर अधिकार कर लिया ताकि वहां से वह उत्तर भारत के अपने अभियान का संचालन कर सके।

916 ई० के हेमंत में राष्ट्रकूट सेनाओं ने यहीं से उत्तर भारत की ओर कूच किया। उनके मार्ग का ठीक-ठीक तो पता नहीं है तथापि वह भोपाल-झांसी-कालपी के रास्ते से ही गई होगी। कालपी यमुना को पार कर वह कन्नौज की ओर बढ़ी जो प्राय: तीन सौ वर्षों से अधिक समय से उत्तर भारत की 'शाही राजधानी' थी। कन्नौज पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया और उन्होंने नगर के निवासियों से गहरा हर्जाना भी वसूल किया।

कन्नौज पर कब्जा बड़ी सनसनीखेज घटना थी, क्योंकि उस समय उत्तर भारत का वह उतना ही प्रधान नगर था जितना मध्य काल या आधुनिक काल में दिल्ली। इससे राष्ट्रकूटों की सैनिक प्रतिष्ठा में चार चांद लग गए। इंद्र तृतीय से पूर्व ध्रुव और गोविंद तृतीय ने भी अपने समकालीन प्रतीहार सम्राटों को हराया था। किंतु उनमें से कोई कन्नौज पर राष्ट्रकूटों का झंडा न फहरा सका था। इस प्रकार दकन के इतिहास में यह बड़े महत्व की और अद्वितीय घटना थी क्योंकि ऐसे अवसर कम ही आए हैं जब दकन के किसी राजा ने उत्तर भारत की राजधानी पर कब्जा किया हो।

संभवत: महीपाल इससे पहले ही कन्नौज को छोड़कर महोबा में चला गया था। उस समय चंदेल राजा हर्ष की राजधानी महोबा में ही थी। हर्ष महीपाल का साथी था। कन्नौज पर अधिकार कर इंद्र ने अपने चालुक्य सामंत नरसिंह को महीपाल का पीछा करने के लिए भेजा। नरसिंह के पुत्र अरिकेसरिन के आश्रित पंप के शब्दों में 'नरसिंह ने गुर्जर राजा के बाहुओं से विजयश्री को पकड़ लिया, उसे वह अपने पास तो रखना चाहता था, पर उसकी पकड़ ढीली थी। महीपाल भाग निकला, मानो उसपर वज्र का प्रहार हुआ हो, रास्ते में वह भोजन करने या आराम के लिए या सैन्य संग्रह के लिए भी नहीं रुका। नरसिंह ने उसका पीछा करते हुए अपने घोड़ों को गंगा के संगम पर स्नान कराया और अपने यश की स्थापना की।'[54] यहां

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगम से प्रयाग का तात्पर्य है न कि समुद्र का, क्योंकि बिहार से परे प्रतीहार राज्य का विस्तार नहीं था।

उत्तर भारत में इंद्र का यह अभियान एक धावे जैसा ही था। उसने अधिक समय तक कन्नौज को अपने कब्जे में नहीं रखा। संभवतः अपने सेनापति के पीछे पीछे वह प्रयाग और काशी तक गया, किंतु 916 ई० की ग्रीष्म के प्रारंभ में दकन को लौट गया। जब आक्रमणकारी सेनाएं प्रयाग और काशी की ओर गई तो संभवतः महीपाल अवध की ओर मुड़ गया था। जब राष्ट्रकूट दक्षिण में वापस चले गए तो उसने कन्नौज पर फिर अधिकार कर लिया। लगभग 917 ई० में कन्नौज पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया था।

इंद्र की यह विजय ध्रुव या गोविंद तृतीय से अधिक चमत्कारिक थी। किंतु हमें यह भी न भूलना चाहिए कि उसके शत्रु महीपाल में वह साहस और योग्यता न थी जो वत्सराज या नागभट द्वितीय में थी। इंद्र के पूर्वजों को उत्तर भारत में दो-दो प्रबल शक्तियों से लोहा लेना पड़ा था, जबकि इंद्र का मुकाबला सिर्फ एक से हुआ था।

हम देख चुके हैं कि कृष्ण द्वितीय के शासन के अंतिम भाग में राष्ट्रकूट सेनाएं वेंगी से वापस आ गई थीं। इंद्र वेंगी पर अपनी प्रभुता की पुनःस्थापना के लिए उत्सुक था। उत्तर भारत से वापस आकर वह इसी काम में जुट गया। समय भी उसके अनुकूल था। चालुक्यों का राजा भीम, जिसने राष्ट्रकूट सेनाओं को निकाल बाहर किया था, मर चुका था उसके बाद उसका बेटा विजयादित्य चतुर्थ गद्दी पर बैठा था। इंद्र ने उस पर आक्रमण कर दिया। दोनों सेनाओं की मुठभेड़ विरजापुरी में हुई। चालुक्य लेखों के अनुसार इस युद्ध में विजयादित्य को सफलता तो अवश्य मिली थी किंतु उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। इस प्रकार इस विजय का कोई अर्थ न था। इससे राष्ट्रकूटों के विस्तार में कोई बाधा न पड़ी होगी। संभवतः वेंगी के एक हिस्से पर उनका अधिकार हो गया था। किंतु राष्ट्रकूटों के किसी अभिलेख से इस संबंध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। किंतु इतना स्पष्ट ही है कि इंद्र ने इस विजय का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया। विजयादित्य की मृत्यु के बाद उसका बेटा अम्म प्रथम राजा हुआ। वह राष्ट्रकूटों के किसी हस्तक्षेप के बिना 925 ई० तक राज्य करता रहा।

अम्म प्रथम के बाद उसका अवयस्क बेटा विजयादित्य पंचम राजा हुआ। अब युधामल्ल के बेटे ताडप प्रथम ने उसके अधिकार को चुनौती दी तो इंद्र ने ताडप का समर्थन किया। किंतु ताडप एक महीने के भीतर ही खदेड़ दिया गया और भीम प्रथम के बेटे विक्रमादित्य द्वितीय के हाथों उसको अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। किंतु विक्रमादित्य द्वितीय को भी एक ही साल के भीतर अम्म प्रथम के बेटे भीम तृतीय ने खदेड़ दिया। अब इंद्र ने अपने आश्रित ताडप के बेटे युधामल्ल द्वितीय का साथ देने का निश्चय किया। 928 ई० में उसने युधामल्ल को सिंहासन पर बैठा दिया। राष्ट्रकूटों की सहायता से युधामल्ल ने 934 ई० तक राज्य किया। इन युद्धों में संभवतः इंद्र के एक जैन सेनापति श्रीविजय ने उसको बड़ी सहायता दी थी।[55]

इंद्र तृतीय ने करीब 14 वर्ष राज्य किया। कभी यह माना जाता था कि उसका राज्य बहुत थोड़े समय अर्थात तीन वर्षों तक ही रहा। किंतु बाद में मिले अभिलेखों से 927 ई० के दिसंबर तक उसके शासन का पता चलता है। उसकी मृत्यु संभवतः 928 ई० के मध्य में हुई।

इसमें संदेह नहीं कि इंद्र तृतीय एक योग्य शासक और सेनापति था।[56] कन्नौज पर उसका कब्जा एक चमत्कारिक घटना थी। वेंगी पर अपने आश्रित को बैठाकर उसने वेंगी को भी अपने अधीन कर लिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अमोघवर्ष द्वितीय
(लगभग 928-929 ई०)

इंद्र तृतीय के दो बेटे थे, अमोघवर्ष और गोविंद। पिता की मृत्यु के समय उनकी उम्र 20 से 25 के बीच रही होगी। इनमें बड़ा लड़का अमोघवर्ष द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। उसके असली नाम का पता नहीं। गोविंद चतुर्थ के सांगली के ताम्रपट्टों में उसका नाम नहीं हैं। इससे फ्लीट ने यह निष्कर्ष निकाला था कि उसने राज्य ही नहीं किया। किंतु फ्लीट का यह मत अग्राह्य है। इस लेख में उसके नाम का उल्लेख न होने का कारण यह है कि यह लेख उसके शत्रु का है जिसने उसे गद्दी से उतारा था। परवर्ती राष्ट्रकूट राजाओं के अधिकांश लेखों में उसका नामोल्लेख हुआ है। एक शिलाहार सामंत अपराजित के अनुसार उसने एक साल तक राज्य किया था।[57] इस प्रकार यह माना जा सकता है कि अमोघवर्ष सिंहासन पर बैठा था और उसने करीब एक साल तक राज्य किया था।

लगभग 929 ई० में अमोघवर्ष द्वितीय की तीस वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। इतनी अल्पवय में मृत्यु स्वाभाविक न रही होगी। अधिकांश राष्ट्रकूट लेखों में यह उल्लेख मिलता है कि उसे अपने पिता से बहुत अधिक प्यार था। वह उसके विछोह को सहन नहीं कर सका। पिता की मृत्यु के बाद शीघ्र ही उसकी भी मृत्यु हो गई।[58] कुछ भद्दी अफवाहें भी फैली थीं। उसके बाद उसका छोटा भाई गोविंद राजा हुआ जिसने अपने द्वारा जारी किए गए शासन पत्रों में उनका खंडन किया है। इन लेखों में उसने कहा है कि उसने न तो भाई के साथ क्रूरता का व्यवहार किया था और न उसकी पत्नियों के साथ व्यभिचार, यद्यपि उसे इसका अधिकार था।[59] स्पष्ट है कि यह संदेह बेबुनियाद नहीं कि गोविंद ही अपने बड़े भाई की शीघ्र मृत्यु का कारण बना हो।

अमोघवर्ष की मृत्यु किन परिस्थितियों में हुई, इसके बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसमें शक नहीं कि उसकी मृत्यु 929 ई० के अंत या 930 के प्रारंभ में हुई थी। अपने राज्यारोहण के एक वर्ष के अंदर ही वह मर गया था। उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन खाली था जिस पर गोविंद बैठा। अमोघवर्ष द्वितीय की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई थी। क्या उसके कोई अबोध पुत्र था, यदि था तो उसका क्या हुआ ?[60]

गोविंद चतुर्थ
(लगभग 930 से 936 तक)

लगभग 9:0 ई० में गद्दी पर बैठने के समय गोविंद की उम्र करीब 26 वर्ष की थी। अपने गोविंद नामधारी पूर्वजों की भांति उसने अपने अभिषेक के समय 'प्रभूतवर्ष' की उपाधि धारण की, किंतु उसका अपर नाम 'सुवर्णवर्ष' भी था क्योंकि उसने प्रभूत मात्रा में सोने का दान दिया था। उसके राजकवियों ने उसके अन्य विरुद भी बतलाए हैं, इनमें 'नृपतुंग', 'नृपतित्रिनेत्र वीरनारायण', 'साहसांक', 'रट्टकंदर्प' प्रमुख हैं। इसमें अंतिम विरुद से स्पष्ट है कि अपने पिता की भांति वह काफी सुंदर रहा होगा।

राष्ट्रकूटों ने वेंगी के सिंहासन पर अपने आश्रित युधामल्ल द्वितीय को बैठाया था। वह 934 ई० तक शासन करता रहा। इस बीच राज्य में खूब अराजकता फैली। गद्दी के कई दावेदार थे। प्रजा पर नृशंस अत्याचार होते रहे। अंततोगत्वा चालुक्य भीम युधामल्ल को गद्दी से उतारकर 934 ई० में खुद शासन करने लगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोविंद चतुर्थ ने वेंगी पर राष्ट्रकूट प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए कुछ भी नहीं किया। संभवतः चालुक्यों से युद्ध में उसने कोई लाभ नहीं देखा। स्वयं उसकी स्थिति कमजोर होती जा रही थी। उसकी प्रजा, मंत्री और सामंत उसके अतिचारों और नालायकी से खिन्न होते जा रहे थे।

राज्य के बाहर अपने बल और पुरुषार्थ के प्रदर्शन में अयोग्य गोविंद ने दक्षिण कर्नाटक के वेमुलवाद के अपने चालुक्य सामंत अरिकेसरिन द्वितीय से झगड़ा मोल ले लिया। इस सामंत ने चालुक्य गद्दी के अनेक दावेदारों में एक विजयादित्य पंचम को आश्रय दिया था। गोविंद ने अरिकेसरिन से उसे सौंप देने को कहा जिससे उसने इनकार कर दिया।

इसमें कोई शक नहीं कि एक छोटे से सामंत अरिकेसरिन के लिए राष्ट्रकूट के सम्राट के विपुल बलवैभव को चुनौती देना खतरनाक बात थी। किंतु घटनाक्रम इतनी तेजी से बढ़ रहा था कि गोविंद को गद्दी से उतारना संभाव्य और आवश्यक हो गया था। गोविंद नितांत सुंदर था। वह जवान भी था। वह शीघ्र ही विलासी हो गया था। उसके एक समसामयिक लेख के अनुसार उसकी बुद्धि तरुणियों के दृष्टिपाश में बंध गई थी। मन रमणियों के कटाक्षों में अवरुद्ध था। अनेक रोगों से उसके अंग कमजोर पड़ने लगे, अपने कुकर्मों से उसने जनता की सहानुभूति खो दी। राज्य के सभी अंग शिथिल हो गए, उसका 'बल और शक्ति' जाती रही। अंततोगत्वा उसका नाश होना स्वाभाविक था।[61]

इसमें शक नहीं कि उपर्युक्त वर्णन उस राजा के राजकवि का है जिसने उसे गद्दी से उतारा था, किंतु इसमें काफी सचाई है। निस्संदेह गोविंद के कुकर्मों के कारण प्रजा और मंत्रियों ने उसका साथ छोड़ दिया था। वे यह मानने लगे थे कि सिंहासन से उसे हटाने में ही राज्य का कल्याण है। वे गुप्त रूप से इंद्र तृतीय के सौतेले भाई और गोविंद के चाचा अमोघवर्ष तृतीय से मंत्रणा कर रहे थे। इस अमोघवर्ष के चरित्र, विद्वत्ता और शुचिता की बड़ी धाक थी। उसने एक चेदि राजकुमारी से विवाह किया था और त्रिपुरी में राजनीति से अलग धार्मिक जीवन बिता रहा था। वह इस प्रस्ताव के प्रति उत्साही न था। किंतु उसका बेटा कृष्ण बड़ा महत्वाकांक्षी था। उसने अपने पिता को समझा-बुझाकर गोविंद को सिंहासन से हटाने के लिए मंत्रियों आदि का साथ देने को राजी कर लिया।

जिस समय अरिकेसरिन द्वितीय ने विजयादित्य को गोविंद को सौंपने से इनकार किया, करीब करीब उसी समय उसे गद्दी से उतारने की योजना बना ली गई थी। कई मंत्रियों और सामंतों ने गोविंद का साथ छोड़ दिया था। इस प्रकार अरिकेसरिन शाही सेनाओं का मुकाबला विश्वास से कर सकता था। गोविंद और अरिकेसरिन के बीच दक्षिण में निर्णायक युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप अंततोगत्वा अमोघवर्ष तृतीय को सिंहासन मिला। अरिकेसरिन के राजकवि पंप ने लिखा है कि कैसे उसके स्वामी ने विजयादित्य को सौंपने से इनकार किया, गोविंद की सेनाओं को पराजित किया और अंत में राजमुकुट वड्डेग (अमोघवर्ष तृतीय) को, जो उस पर पूर्ण विश्वास करता था, दे दिया।[62]

संभवतः उस क्रांति में, जिसके फलस्वरूप अमोघवर्ष को राष्ट्रकूटों की गद्दी मिली, अरिकेसरिन की भूमिका का पंप ने किंचित अतिरंजित वर्णन किया परंतु इतना तो स्पष्ट है कि वह निर्णायक युद्ध, जो अरिकेसरिन और गोविंद के बीच हुआ जिसमें गोविंद खेत रहा, दक्षिण कर्नाटक में कहीं लड़ा गया था। इस बीच जैसा कि मंत्रियों और सामंतों में तै पाया था, अमोघवर्ष त्रिपुरी से मान्यखेट को कूच कर गया था। संभवतः उसके साथ चेदियों की सेना थी। गोविंद के प्रति राजभक्त कतिपय सैनिक अधिकारियों ने उसका विरोध किया किंतु वे असफल रहे और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंत में अमोघवर्ष राजधानी पहुंच गया। वहां मंत्रियों और सामंतों ने उसका स्वागत किया और उसे गद्दी सौंप दी। इस घटना की ठीक-ठीक तिथि तो मालूम नहीं, किंतु 937 ई० में अमोघवर्ष राज्य कर रहा था। अतः संभवतः गोविंद के विरुद्ध संघ 935 ई० में बना था और 936 ई० में उसे गद्दी से हाथ धोना पड़ा।[63]

अमोघवर्ष तृतीय
(लगभग 936 ई० से 939 ई० तक)

अमोघवर्ष लगभग 936 ई० में गद्दी पर बैठा था। उसका अपना नाम वड्डेग था। किंतु वह अमोघवर्ष के नाम से ही अधिक ख्यात है। अतः हम उसका इसी नाम से उल्लेख करेंगे। उसकी कम से कम दो पत्नियां थीं। उसकी एक पत्नी का नाम कुंडकदेवी था जो चेदि के राजा युवराज प्रथम की पुत्री थी। राज्यारोहण के समय उसकी उम्र करीब पचास साल थी। उसके कई सयाने पुत्र थे। इनमें कृष्ण सबसे बड़ा था, अपने पिता को राजा बनाने में उसका प्रमुख हाथ था। उसके अन्य पुत्रों के नाम जगत्तुंग, निरुपम और खोट्टिग थे। सभी भाइयों में सदा सौहार्द बना रहा। अमोघवर्ष की एक कन्या भी थी जिसका नाम रेवकनिम्मडी था। उसका विवाह गंगवाड़ी के शासक राजमल्ल तृतीय के छोटे भाई बूबुग से हुआ था।

अमोघवर्ष तृतीय ने मात्र तीन वर्ष राज्य किया। वह इहलोक से अधिक परलोक की चिंता करता था। इसलिए अपना प्रायः सारा समय वह प्रशासन से अधिक आध्यात्मिक चिंतन में बिताता था। उसने ब्राह्मणों और मंदिरों को कई प्रभूत दान दिए और शिव के अनेक मंदिर बनवाए। वह शिव का अनन्य भक्त था। उसके समकालीन लोगों का विश्वास था कि शिवजी उसकी रक्षा करते थे। एक धर्मपरायण, ऋजु और आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में उसकी बड़ी ख्याति रही होगी। समस्त राष्ट्रकूट राजाओं में मात्र उसके लिए ही यह कहा गया है कि उसकी आत्मा ब्रह्म में लीन हो गई। किसी अन्य राष्ट्रकूट राजा की मृत्यु के बारे में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस प्रकार अमोघवर्ष तो नाममात्र का राजा था। उसके राज्यकाल में शासन का पूरा भार उसके युवराज पुत्र कृष्ण पर ही था। कृष्ण को अपने योग्य छोटे भाई जगत्तुंग से बड़ी सहायता मिली। अपने बूढ़े पिता के विपरीत कृष्ण महत्वाकांक्षी और निःशंक था। उसने गोविंद चतुर्थ के उत्तराधिकारियों से सिंहासन की रक्षा कर उस पर अधिकार रखने की योजना बनाई। हम बतला चुके हैं कि गंगों के राजा राजमल्ल तृतीय के छोटे भाई बूटुग से उसकी बहिन का विवाह हुआ था। कृष्ण ने राजमल्ल को गद्दी से उतारने और उसके स्थान पर अपने बहनोई बूटुग को गद्दी पर बैठाने का निश्चय किया ताकि दक्षिण में आवश्यकता पड़ने पर वह अपने मित्र राज्य पर भरोसा कर सके। इसलिए उसने दक्षिण पर एक अभियान का नेतृत्व किया। उसने राजमल्ल के मित्र नोलंब के दंतिग और बप्पुव नामक राजकुमारों का बध कर गंगवाड़ी पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में राजमल्ल मारा गया और उसके स्थान पर कृष्ण ने अपने बहनोई बूटुग को गद्दी पर बैठा दिया। यह लगभग 937 ई० की घटना है। बूटुग उसका विश्वस्त मित्र ही नहीं बल्कि योग्य सहायक सिद्ध हुआ। दक्षिण के युद्धों में उसने कृष्ण की बड़ी सहायता की।

हम देख चुके हैं कि राष्ट्रकूट घराने में चेदियों ने अपनी कई राजकुमारियों के विवाह किए थे। इससे दोनों घरानों में बड़ा सौहार्द था। अमोघवर्ष तृतीय और कृष्ण के विवाह चेदि राजकुमारियों से हुए थे। अतः ऐसी कोई बात न थी जिससे इस मित्रता में बाधा पड़ती हो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संभवत: राज्य की प्राप्ति में अमोघवर्ष को चेदियों से पर्याप्त सहायता भी मिली थी। तथापि 938 ई० में युवराज कृष्ण ने चेदियों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें हरा दिया। इन दोनों घरानों में किस बात पर संघर्ष हुआ, यह एक रहस्य ही है। इस संबंध-विच्छेद का नतीजा बुरा हुआ। चेदियों ने चालुक्य सामंत तैलपु की अधीनता स्वीकार कर ली, जिसने अंत में राष्ट्रकूटों का शासन समाप्त कर दिया।

चेदियों को हराकर कृष्ण ने बुंदेलखंड पर चढ़ाई की। उसने कलिंग और चित्रकूट के किलों को घेर लिया। संभवत: जब इंद्र तृतीय उत्तर भारत से दक्षिण वापस आया था तो इन किलों में राष्ट्रकूटों की चौकियां थीं, जिन पर प्रतीहारों ने कब्जा कर लिया था। कृष्ण ने अपने पिता के जीवन काल में उत्तर भारत पर जो हमला किया था, उसकी मुख्य वजह इन पर पुन: कब्जा करना रहा होगा। संभवत: चेदियों ने उसका विरोध किया होगा। पर कृष्ण ने उनकी परवाह न कर इन किलों पर कब्जा कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण ने दक्षिण वापस लौटते समय इन किलों में काफी सैनिक रख छोड़े थे। अभिलेखों में कहा गया है कि गुर्जर राजा इन्हें जीतने की आशा न रख सका।

इस प्रकार युवराज के रूप में भी कृष्ण ने अपने बाहुबल की धाक जमा ली थी।[64] उसने समूचे गंगवाड़ी को अपने प्रभाव में कर लिया था। वहां उसने अपने बहनोई को गद्दी पर बैठा दिया था। गुर्जर प्रतीहारों में उसके नाम का आतंक व्याप्त था। इस प्रकार जब 939 ई० में उसके पिता की मृत्यु हुई तो उस समय उसे अपने पुत्र की शासन-क्षमता के बारे में किसी प्रकार की शंका न रही होगी।

कृष्ण तृतीय
(लगभग 939 ई० से 967 ई०)

कृष्ण तृतीय 939 ई० में ग्रीष्म के बाद कभी गद्दी पर बैठा।[65] कृष्ण नामधारी अन्य राष्ट्रकूट राजाओं की भांति उसने भी अभिषेक के अवसर पर 'अकालवर्ष' की उपाधि धारण की। 'वल्लभनरेंद्र' और 'पृथ्वीवल्लभ' के रूप में भी उसका उल्लेख हुआ है। कांची और तंजौर की विजय के बाद उसने कन्नड़ में 'कांचीयुम तंजेयम कोंड' (कांजी और तंजौर का विजेता) की उपाधि भी धारण की। उसके कन्नड़ और तमिल के अभिलेख में इस उपाधि का प्रयोग हुआ है।

कृष्ण का राज्यारोहण अत्यंत शांतिपूर्वक संपन्न हुआ।[66] उसने स्थिति के अध्ययन और अपनी सेवाओं को सबल बनाने में कतिपय वर्ष व्यतीत किए। फिर वह दिग्विजय को निकल पड़ा। उसने सबसे पहले दक्षिण की ओर ध्यान दिया। इस समय गंगवाड़ी पर उसके बहनोई बूटुग का शासन सुप्रतिष्ठित हो चुका था। ये दोनों बड़े ही महत्वाकांक्षी राजा थे। इन्होंने चोल राजा परांतक पर हमला करने की योजना बनाई।[67] उन्होंने संभवत: 943 ई० में बिजली की तरह आगे बढ़कर दक्षिण पर आक्रमण किया और कांची और तंजौर के प्रसिद्ध नगरों को जीत लिया। वे समूचे चोल राज्य को अधिक समय तक अपने अधिकार में न रख सके, किंतु कृष्ण तृतीय के पूरे शासनकाल तक तोंडैमंडल (जिसमें अर्काट, चिंगलेपुट और वेल्लोर के जिले शामिल थे) पर राष्ट्रकूटों का अधिकार रहा। इन इलाकों में कृष्ण तृतीय के बहुत से अभिलेख मिले हैं। उनकी तिथियां कृष्ण के राज्य के पांचवें से सातवें वर्ष की हैं।

कुछ ही वर्षों में परांतक ने सैन्यसंग्रह कर लिया और फिर उसने राष्ट्रकूटों को खदेड़ने के लिए एक प्रबल सेना भेजी। इसका नेतृत्व चोल युवराज 'राजादित्य' ने किया। उत्तरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्काट जिले के तक्कोलम नामक स्थान पर दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। राष्ट्रकूटों के लेखों के अनुसार चोल बड़ी वीरता से लड़े और थोड़े समय तक तो राष्ट्रकूट न तो उनका कुछ भी बिगाड़ सके और न प्रत्याक्रमण ही कर सके। किंतु उनके सेनापति मणलेर और गंगराजा बूतुग ने अपनी सेनाओं को इकट्ठा कर लिया। बूतुग युवराज राजादित्य की ओर झपटा। उसने उसके हाथी को मार डाला और उसके हौदे पर चढ़कर राजादित्य को भी मौत के घाट उतार दिया। युवराज की मृत्यु से चोल सेना का हौसला पस्त हो गया और वह शीघ्र ही तितर-बितर हो गई। विजयश्री राष्ट्रकूटों के हाथ लगी। अपने बहनोई बूतुग के इस पराक्रम से प्रसन्न होकर कृष्ण ने उसे बनवासी 12,000, बेलवोल 300, पुरिगेरे 300 और किसुकड 70 का राज्यपाल बना दिया। इस प्रकार इस क्षेत्र में बंबई के प्राय: सभी कर्नाटक जिले शामिल थे।

चोलों की इस करारी पराजय के बाद राष्ट्रकूटों को आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता था। कृष्ण ने आक्रमण जारी रखा। उसने आगे बढ़कर केरल और पांड्य राजाओं को भी हरा दिया। उसने कुछ समय के लिए रामेश्वरम् पर भी अधिकार कर लिया था और वहां अपनी 'कीर्तिलता स्थापित कर दी थी'। लंका का राजा भी भयभीत होकर उसके सम्मुख झुक गया। विजित प्रदेशों में कृष्ण ने अनेक मंदिरों का निर्माण कराया। रामेश्वरम् में बने उसके दो मंदिरों के नाम कृष्णेश्वर और गंडमार्तंडादित्य थे। वे वहां उसके 'यश के शैल की भांति चमकते थे।'[७४] उसने कांची में कालप्रिय का भी एक मंदिर बनवाया। मंदिर होने के कारण कोई राजा इन्हें ध्वस्त न कर सकता था। इस प्रकार ये विजेता के कीर्तिस्तंभ की भांति युग-युगों तक उसका यशोगान करते रहे।

कृष्ण चोल और पांड्य राज्यों पर अधिक समय तक अपना अधिकार न रख सका। अंततोगत्वा वह वापस उत्तर में आ गया। उसने सिर्फ तोंडैमंडलम को ही अपने कब्जे में रखने का फैसला किया। 959 ई० में हम उसे उत्तरी अर्काट जिले के मेलपदि नामक स्थान पर एक स्कंधावार में पाते हैं। इस यात्रा का उद्देश्य 'दक्षिण के नृपतियों के राज्यों से अपने आश्रितों के जीवन-यापन की व्यवस्था करना'[७७] बतलाया गया है। पेन्नार नदी के उत्तरी भाग तक का प्रदेश कृष्ण की मृत्यु तक राष्ट्रकूटों के अधिकार में बना रहा।

कृष्ण दक्षिण के अभियानों में फंसा रहा। इसलिए उत्तर में उसकी स्थिति पर बुरा असर पड़ा। इस बीच बुंदेलखंड में चंदेल शक्ति का उदय हो चुका था। 950 ई० के आस पास उन्होंने राष्ट्रकूटों को चित्रकूट और कालिंजर को सीमांत चौकियों से खदेड़ दिया। इस समय कृष्ण चोलों के विरुद्ध दक्षिण में व्यस्त था। ये चौकियां रक्षा की दृष्टि से बड़े महत्व की थीं। 938 ई० के आसपास चेदियों पर हमला कर कृष्ण ने उन्हें भी नाराज कर दिया था। इसलिए राष्ट्रकूट चौकियों के हाथ से निकल जाने पर उन्होंने कुछ भी नहीं किया और वे मात्र मूक दर्शक रहे।

960 ई० के आसपास कृष्ण को दक्षिण से मुक्ति मिल चुकी थी। इसके बाद वह अपनी राजधानी में वापस आ गया। राष्ट्रकूटों की उत्तर में सैनिक प्रतिष्ठा फिर से स्थापित करने के लिए वह उत्तर में अभियान की योजना बनाने में लग गया। पर अभी योजना बन भी न पाई थी कि उसका बहनोई बूतुग द्वितीय, जो उसका मुख्य सहायक और मित्र था, मर गया। उसके उसके बेटे मारसिंह के अभिषेक में शामिल होने के लिए कृष्ण गंगों की राजधानी गया था। नया राजा कृष्ण की बहिन का बेटा न था, वह उसका सौतेला 'बेटा था। फिर भी मारसिंह राजभक्त बना रहा और उसने कृष्ण के उत्तरी अभियानों में बड़े उत्साह से भाग लिया। कृष्ण इसके लिए जो सेना तैयार कर रहा था, उसमें मारसिंह भी शामिल हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर में कृष्ण का यह दूसरा अभियान था जो संभवतः 963 ई० में हुआ। किंतु इसके विस्तृत ब्यौरों का पता नहीं है। मैहर स्टेशन से करीब 12 मील दूर बुंदेलखंड से जूरा नामक स्थान में कन्नड़ भाषा का एक अभिलेख नितांत अप्रत्याशित रूप में मिला है। इसमें कृष्ण की प्रशस्ति है और उसे कांची और तंजौर का विजेता कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण की सेनाएं उत्तर में बुंदेलखंड के रास्ते से आई थीं। इससे पहले भी वे इसी रास्ते से आई थीं जब वह युवराज था।[70] संभवतः कृष्ण का उद्देश्य चित्रकूट और कालिंजर के किलों पर अधिकार करना था जिसे चंदेलों ने छीन लिया था। इसमें उसे सफलता मिली या नहीं, इसका ज्ञान हमें नहीं है। किंतु शीघ्र ही कृष्ण को अपनी सेनाओं के साथ मालवा को कूच करना पड़ा। गंगों के राजा मारसिंह ने, जिसने इस अभियान में हिस्सा लिया था, 'गुर्जरराज' की उपाधि धारण की थी। उसके दो सहायक शूद्रकटय्य और गोग्गियम्म 'उज्जैनी भुजंग' अर्थात उज्जैनी के विजेता के नाम से ख्यात थे।[71] अतः यह स्पष्ट है कि इस अभियान में कृष्ण ने गुर्जर प्रतीहारों पर ही आक्रमण नहीं किया था, अपितु मालवा के परमारों पर भी आक्रमण किया था। परमारों का राजा सीयक कृष्ण के प्रति 949 ई० तक निष्ठावान रहा था। उसे उत्तरी गुजरात के शासन का भी भार सौंपा गया था। किंतु संभवतः बाद में उसने विद्रोह कर दिया था। इसलिए उसे सजा देना आवश्यक हो गया था। मालवा का काफी भाग राष्ट्रकूटों के सीधे अधिकार में आ गया था। इस अभियान के बाद 964 ई० में राष्ट्रकूट सेनाएं दक्षिण में वापस आ गई थीं।

अब इस बात पर विचार करना है कि वेंगी के चालुक्यों के साथ कृष्ण तृतीय के संबंध कैसे थे? हम बतला चुके हैं कि युद्धामल्ल द्वितीय को भीम द्वितीय ने 934 ई० में गद्दी से उतार दिया था। युद्धामल्ल को गोविंद चतुर्थ ने गद्दी पर बैठाया था। जाहिर है कि कृष्ण तृतीय ने पदच्युत राजा के बारे में कोई दिलचस्पी नहीं ली क्योंकि शुरू में उसे उसके दुश्मन गोविंद चतुर्थ ने गद्दी पर बैठाया था और कृष्ण इस बीच अपने उत्तरी और दक्षिणी अभियानों में फंसा था। इसलिए उसे वेंगी के मामले में हस्तक्षेप करने की फुर्सत भी न थी। इसलिए भीम का शासनकाल (934-45 ई०) शांति से बीत गया। उसका उत्तराधिकारी अम्म द्वितीय जब गद्दी पर बैठा तब वह केवल बारह साल का था। कृष्ण उसे आसानी से गद्दी से हटा सकता था किंतु उस समय वह चोलों से युद्ध में फंसा हुआ था। जब कुछ समय बाद उसे फुर्सत मिली तो उसने राष्ट्रकूटों के पुराने समर्थक युद्धामल्ल द्वितीय के बेटे बाडप का समर्थन करने का निश्चय किया। बाडप को गद्दी पर बैठाने के लिए उसने सेना भेजी। लगभग 956 ई० में उसे इसमें सफलता भी मिल गई। वेंगी का राजा अम्म द्वितीय कलिंग चला गया। बाडप लगभग 970 ई० तक राष्ट्रकूट सामंत के रूप में राज्य करता रहा।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूटों के योग्यतम राजाओं में था। संभवतः वह अपने उत्तरी अभियान में उतना सफल नहीं रहा जितने कि ध्रुव, गोविंद तृतीय और इंद्र तृतीय रहे थे। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि वह सच्चे अर्थों में समूचे दकन का अधिपति (सफल दक्षिण दिगधिपति) था और इसका श्रेय उसके किसी भी पूर्ववर्ती राष्ट्रकूट राजा को नहीं था। गोविंद तृतीय ने कांची को जीत लिया था किंतु वह रामेश्वरम् तक नहीं पहुंच सका था, और न उसने द्रविड़ राजाओं की शक्ति ही चकनाचूर की थी। वेंगी हमेशा गोविंद तृतीय को कष्ट देती रही। किंतु कृष्ण तृतीय के शासन के उत्तरार्ध में वेंगी की गद्दी पर उसका समर्थनप्राप्त व्यक्ति बैठा जो उसके प्रति बराबर निष्ठावान बना रहा। कृष्ण तृतीय ने चोलों के राज्य के भी एक बड़े हिस्से को अपने अधिकार में ले लिया था जिसका शासन वह खुद करता था। रामेश्वरम् में उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा बनाकर गए कृष्णेश्वर और गंडमार्तंडादित्य के मंदिर दक्षिण प्रायद्वीप के धुर दक्षिण तक उसकी विजय की घोषणा करते थे। प्राचीन भारत में कोई भी ऐसा राजा नहीं हुआ जो इतने सच्चे अर्थों में समूचे दकन का अधिपति रहा हो जिस अर्थ में लगभग 965 ई० में कृष्ण तृतीय दक्षिणाधिपति था।

जाहिर है कि कृष्ण के सभी बेटों की मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो गई थी। इनमें एक का एक पुत्र, जिसका नाम इंद्र था, इस समय इतनी कम उम्र का था कि वह इतने विशाल साम्राज्य के शासन की बागडोर नहीं संभाल सकता था। कृष्ण के भाइयों में जगतुंग का उल्लेख उसके एक शासनपट्ट में 'प्रिय भ्राता' के रूप में हुआ है। यह लेख 940 ई० का है। संभवतः यह भाई भी उसके पहले ही मर चुका था। 967 ई० में जब कृष्ण तृतीय की मृत्यु हुई, तो उसके दो भाई जीवित थे जिनके नाम खोट्टिग और निरुपम थे। इनमें खोट्टिग बड़ा था। अब वही गद्दी पर बैठा। कृष्ण के पौत्र इंद्र और इंद्र के मामा, गंगों के राजा मारसिंह की भी संभवतः इसमें सहमति थी।

खोट्टिग
(लगभग 967 से 972 तक)

967 ई० में खोट्टिग राजा हुआ। अपने अभिषेक के समय उसने 'नित्यवर्ष' की उपाधि धारण की।

उसके शासन के प्रारंभ के कुछ वर्ष बड़ी शांति से बीते। किंतु शीघ्र ही राष्ट्रकूटों को एक गंभीर आघात लगा जिससे उनकी प्रतिष्ठा धूल-धूसरित हो गई। यह उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार राष्ट्रकूटों ने परमारों के राजा सीयक को 964 ई० में पराजित कर उनकी राजधानी उज्जैनी पर अधिकार कर लिया था। परमार राजा के मन में यह पराजय शूल की तरह चुभ रही थी और वह उसका बदला लेने के लिए जला-भुना बैठा था। उसने तैयारी में कुछ वर्ष लगाए। इस बीच कृष्ण की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर खोट्टिग राजा हुआ। सीयक ने सोचा कि अब खोट्टिग से वह लोहा ले सकता है। अत: उसने राष्ट्रकूटों पर हमला बोल दिया। खलिघट्ट नामक घाट से उसने नर्मदा को पार करने की कोशिश की। किंतु राष्ट्रकूट सेनाओं ने वहां उसका जबर्दस्त मुकाबला किया और परमारों को पीछे हटना पड़ा। इस लड़ाई से परमारों का एक सेनापति वीरगति को प्राप्त हुआ था।[72]

किंतु इस पराजय से सीयक की योजनाओं की प्रगति कुछ समय के लिए ही रुकी। वह नई सेनाएं ले आया और अंत में नर्मदा पार करने में उसे सफलता मिल ही गई। इससे भय खाकर खोट्टिग ने गंग राजा मारसिंह को बुला भेजा। किंतु जब तक वह पहुंच पाता कि सीयक मालखेड पहुंच गया और उसने राजधानी को घेर लिया। यह 972 ई० की बात है। सीयक ने राष्ट्रकूटों के खजाने को लूट लिया। आक्रमणकारी अपने साथ ताम्रपट्टों की कार्यालय-प्रतियां भी ले गए जो अभिलेखागार में सुरक्षित रखी थीं।[73]

गंग राजा मारसिंह शीघ्र ही पहुंच गया और उसने राजधानी का उद्धार कर लिया। वस्तुत: सीयक का उद्देश्य मालखेड पर हमेशा के लिए कब्जा करना था भी नहीं। इसलिए यह कहना कठिन है कि मारसिंह ने सीयक को राजधानी से खदेड़ दिया और ताप्ती और विंध्य तक उसका पीछा किया अथवा सीयक की सेनाएं अपनी योजनानुसार स्वयं लौट रही थीं और मारसिंह ने रास्ते में उन्हें लूटा।

मालखेड की लूट सन 972 ई० में हुई थी। उस समय तक खोट्टिग काफी बूढ़ा हो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चुका था। इस अपमान का बोझ वह अधिक समय तक बर्दाश्त न कर सका। उसी साल अगस्त-सितम्बर में उसकी मृत्यु हो गई। जाहिर है कि उसका कोई बेटा न था। इसलिए उसके छोटे भाई निरुपम का बेटा कर्क्क उसके बाद गद्दी पर बैठा।

कर्क्क द्वितीय
(सितंबर 972 ई० दिसंबर 973 ई०)

कर्क्क सम्भवत: 972 ई० के सितंबर मास में गद्दी पर बैठा। अभिषेक के समय उसने 'अमोघवर्ष' की उपाधि धारण की।

इस राजा का एक ही अभिलेख मिला है जिसमें उसने कई शानदार उपाधियां धारण की हैं। इसमें उसे 'नृपतुंग', 'वीरनारायण', 'राजत्रिनेत्र', कहा गया है। इसमें यह भी कहा गया कि कैसे हूण और गुर्जर उससे भय खाते थे, कैसे उसने पांड्यों और चोलों के गर्व को चूर किया था। यह सब प्रशस्ति नितांत पारंपरिक है। जिस समय यह अभिलेख जारी किया गया था, कर्क्क को गद्दी पर बैठे मुश्किल से एक महीना हुआ था। इसलिए उसकी ये सभी सफलताएं कवि-कल्पना मात्र हैं जिन पर कोई भी समझदार इतिहासकार विश्वास नहीं करेगा।[74]

जब कर्क्क गद्दी पर बैठा तो उससे पूर्व मालखेड पर शत्रुओं के अधिकार से राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई थी। इसमें शक नहीं कि सीयक को खदेड़ दिया गया था किंतु इस घटना से जाहिर हो गया था कि कृष्ण तृतीय का उत्तराधिकारी उस विशाल साम्राज्य का शासन भार संभालने में एकदम अयोग्य था जो उसे कृष्ण से उत्तराधिकार में मिला था। उसकी इस कमजोरी के कारण कई सामंतों के मन में सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा हिलोरें लेने लगी। इनमें से एक ने अन्ततोगत्वा कर्क्क को गद्दी पर बैठने के अठारह महीने के भीतर ही दकन के प्रभुत्व से राष्ट्रकूटों को वंचित भी कर दिया।

यह सामंत चालुक्य वंश का तैल द्वितीय था। इससे पहले वह कृष्ण तृतीय का आज्ञाकारी सामंत था। उस समय बिजापुर जिले में वगेबाडी नामक एक छोटे से स्थान में उसकी जागीर थी। 965 ई० तक वह अपने को सिर्फ महासामंताधिपति लिखता रहा।[76] यद्यपि वह एक छोटी सी जागीर का शासक था किंतु वह एक बड़ी शक्ति बनने के सपने देखता रहा। उसका विश्वास था कि वह बादामी के चालुक्य सम्राटों का वंशज है। उसे अपनी योग्यता और क्षमता का भी एहसास था। इसलिए वह कुछ सदियों पहले राष्ट्रकूटों द्वारा अपहृत अपने वंश के साम्राज्य की पुनः प्रतिष्ठा के सपने संजोता रहा। उसकी माता चेदि राजा लक्ष्मण की पुत्री थी। इस समय चेदियों की राष्ट्रकूटों से शत्रुता चल रही थी, क्योंकि कृष्ण तृतीय ने उन पर अकारण आक्रमण कर दिया था। यह नितांत संभव है कि लक्ष्मण ने भी अपने नाती के सपनों को साकार करने में मदद दी हो। स्वयं तैल का विवाह एक राष्ट्रकूट कुमारी से हुआ था, जिसका नाम लक्ष्मी था। इसलिए अपने मातृकुल और पत्नी कुल के नाते उसका विश्वास था कि दकन का सम्राट बनने का अधिकार उसका है।

इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए परिस्थितियां भी अनुकूल ही थीं। लगता है कि कर्क्क एक कमजोर और दुष्ट राजा था। कम से कम उसके दो मंत्री तो दुष्ट अवश्य थे जैसा कि उसके विरोधी कहते थे।[76] वस्तुतः कृष्ण के पोते इंद्र का ही सिंहासन पर वास्तविक अधिकार था जिसका अतिक्रमण कर्क्क ने किया था। इसलिए गंगों के राजा मारसिंह की सहानुभूति उसके साथ न थी, क्योंकि मारसिंह इंद्र का मामा था। अत: जब 973 ई० के अंत में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तल ने खुलकर उसके अधिकार को चुनौती दी और उस पर हमला भी कर दिया, तो कक्क को अपने ही बलबूते पर निर्भर करना पड़ा। स्वयं उसकी राजधानी में ही उसे पूरा समर्थन प्राप्त न था, क्योंकि कुछ लोग राज्य के वास्तविक अधिकारी इंद्र के समर्थक अवश्य रहे होंगे। उसके दो मुंहलगे मंत्रियों की उद्दंडता और दुष्टता से भी प्रजा में बहुत से लोग उससे असंतुष्ट थे। इसके विपरीत चालुक्य राजा बड्डेग द्वितीय, जो धारवाड़ जिले में लक्ष्मेश्वर का राजा था और खानदेश का यादव सामंत भीम द्वितीय तैल की सहायता कर रहे थे। तैल स्वयं एक वीर और कुशल सेनापति भी था। इसका ठीक पता नहीं कि वह भयंकर युद्ध, जिसमें राष्ट्रकूटों के भारत का फैसला हुआ, किस स्थान पर लड़ा गया था। संभवतः यह लड़ाई उत्तरी कर्नाटक के किसी स्थान पर हुई थी। युद्ध बड़ा विकट और भयंकर था क्योंकि स्वयं तैल के ही अभिलेखों में यह उल्लेख है कि उसे 'विश्व' का प्रभुत्व एक भयंकर युद्ध के बाद मिला था।[77] कक्क के दो दुष्ट मंत्री, जिनकी उपमा कलि के दो चरणों से दी गई है, उस युद्ध में मारे गए। कक्क युद्ध के मैदान से भाग निकला। उसने मैसूर के सोराब तालुक में एक छोटी सी रियासत खड़ी कर ली जहां वह 991 ई० तक राज्य करता रहा। उसने इस बीच भी महाराजाधिराज परमेश्वर परमपट्टारक आदि की झूठी उपाधियां धारण कर रखी थीं। कक्क के मैदान से भाग निकलने के बाद तैल ने राष्ट्रकूटों की राजधानी की ओर कूच किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया। दसवीं शताब्दी तक वह मालखेड में ही रहा।

कक्क को हराने और मालखेड पर अधिकार करने के बाद तैल का मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया था। किंतु अभी अनेक सामंतों को उखाड़ फेंकना शेष था जिन्होंने बारी-बारी से उसे चुनौती दी। इनमें मुख्य इंद्र चतुर्थ था जो कृष्ण तृतीय का पोता था। उसका समर्थन उसका मामा गंगों का राजा मारसिंह कर रहा था। इंद्र के लोगों में उसे 'एकवीर' (वीरों में वीर) और शत्रुओं का दमन करने वाला कहा गया है। किंतु न तो वह, न उसका मामा मारसिंह ही तैल का कुछ बिगाड़ सके। उन दोनों की पराजय हुई। वे दोनों अंततोगत्वा जैन मुनि बन गए। मारसिंह ने अगस्त 975 ई० में और इंद्र ने मार्च 928 ई० में 'सल्लेखना' (अनशन से मृत्यु) का व्रत लेकर अपने प्राण दे दिए। 975 ई० में मारसिंह की असफलता के बाद उसके उत्तराधिकारी पंचालदेव ने दकन का सम्राट बनने का प्रयत्न किया। उसने तैल को चुनौती दी और एक शक्तिशाली सेना लेकर उसपर हमला कर दिया। किंतु एक भयंकर युद्ध में उसकी पराजय हुई और वह वीर गति को प्राप्त हुआ। तैल राष्ट्रकूट साम्राज्य का निष्कंटक राजा बना रहा। उसके राज्य का कितना भाग उसके सीधे शासन में था और किस प्रकार विभिन्न राष्ट्रकूट सामंतों ने उसकी अधीनता स्वीकार की, इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

राष्ट्रकूट साम्राज्य का बड़े नाटकीय ढंग से अचानक पतन हो गया। सन 967 ई० की हेमंत में कृष्ण तृतीय सकल दक्षिणाधिपति था, किंतु सन 973 ई० की हेमंत में उसका समूचा साम्राज्य ताश के महल की भांति ढह गया। इसके कारण खोजना कठिन नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्राचीन भारत के सभी साम्राज्यों का स्वरूप एकात्मक न था। प्रायः वे सामंतों के संघ ही होते थे। सम्राट के अधीन अनेक सामंत होते थे। सम्राट अपनी स्थिरता के लिए इन सामंतों के सद्भाव पर उतना ही आश्रित रहता था जितना कि उसे अपने बाहुबल का भरोसा होता था। संतुलन बिगड़ा नहीं कि साम्राज्य समाप्त। कृष्ण की आक्रामक नीतियों के कारण राजकोष रिक्तप्राय था। उत्तरी कर्नाटक में गंगों को काफी हिस्से दे दिए गए थे। इससे भी राजस्व की कमी हो गई थी। चेदियों से युद्ध करके उसने भयंकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूल की थी। इस युद्ध के कारण वे तैल के सहायक बन गए थे। क्योंकि वह भी एक चेदि राजकुमारी का पुत्र था। सीयक ने 972 ई० में मालखेड को लूट लिया था। इससे राष्ट्रकूट की सैनिक प्रतिष्ठा धूल में मिल गई थी। इसके ठीक बाद कर्क्क गद्दी पर बैठा था। उसमें न तो कोई सैनिक कुशलता थी और न ही कार्यक्षमता। वह ऐसे दुष्ट और अयोग्य मंत्रियों के हाथ की कठपुतली भी बन गया था जिन्हें जनता घृणा करती थी। स्वयं कर्क्क ने इंद्र के अधिकार का अतिक्रमण कर सिंहासन हथिया लिया था। इसलिए वह गंगों के राजा से भी मदद की आशा नहीं कर सकता था, क्योंकि वह इंद्र का मामा था। इसलिए जब तैल ने राष्ट्रकूट साम्राज्य को हथियाने की कोशिश की तो कर्क्क का कोई मित्र न था। किसी सामंत ने उसकी मदद न की। राजा और मंत्रियों से प्रजा घृणा करती थी। इसके विपरीत तैल एक कुशल सेनापति था। लक्ष्मेश्वर के चालुक्य और खानदेश के यादव उसके सहायक थे। पूर्वी मध्य प्रदेश के चेदियों ने भी उसकी मदद की। इसलिए कर्क्क को सिंहासन से हटाकर उस पर अपना अधिकार कर लेना उसके लिए कोई कठिन काम नहीं था। उसने चालुक्यों का साम्राज्य पुनः दकन में स्थापित करने का अपना सपना पूरा कर लिया। राष्ट्रकूटों से पहले वे ही दकन के सम्राट थे।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', 23, 154.
2. बंबई गजेटियर', 1, i पृ० 109.
3. यदि एलोरा के दशावतार मंदिर के अभिलेख में आए 'संदुभूपाधिपम्' में 'संदु' को 'सिंधु' मान लिया जाए तो इस मत के समर्थन को अतिरिक्त बल मिलेगा.
4. राष्ट्रकूट अभिलेखों में दावा किया गया है कि दंतिदुर्ग ने कांची और श्रीशैल के राजाओं को हराया था. इस दावे को तभी सही माना जा सकता है जब हम यह मान लें कि इन राजाओं के विरुद्ध उसने अपने उस प्रभु सम्राट की ओर से युद्ध किया होगा जिसका वह सामंत रहा होगा. लगभग 753 ई० में उसने चालुक्यों के विरुद्ध विद्रोह कर समूचे महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया. इसके बाद भी कम से कम 757 ई० तक समूचे कर्नाटक पर कीर्तिवर्मन द्वितीय का वास्तविक अधिकार रहा जबकि हम उसे भीमा नदी के किनारे एक स्कंधावार में पाते हैं. वस्तुतः दंतिदुर्ग के उत्तराधिकारी कृष्ण ने उसका काम पूरा किया और पूरे कर्नाटक पर कब्जा कर लिया. इस प्रकार कीर्तिवर्मन के विरुद्ध विद्रोह कर देने के बाद दंतिदुर्ग के लिए कांची पर हमला करना असंभव था क्योंकि वैसी परिस्थिति में उसे सेनाएं श्र.ने शत्रु के राज्य से ले जानी पड़तीं. इसलिए यही ठीक मालूम पड़ता है कि कीर्तिवर्मन ने जब कांची पर आक्रमण किया था तो उसकी सेना में दंतिदुर्ग भी रहा होगा. प्राचीन भारत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब किसी सामंत द्वारा अपने प्रभु की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने पर उस युद्ध में विजय के समस्त श्रेय का दावा किया गया.
5. चालुक्य राजा पुलकेशिन और गुर्जर राजा दद्द तृतीय के किसी उत्तराधिकारी का पता नहीं. उनकी अंतिम ज्ञात तिथियां क्रमशः 738 ई० और 734 ई० हैं.
6. 'ग० इं०', xxiii, 12-13.
7. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', xvi, पृ० 106 तथा आगे. संभवतः कर्क का ही दूसरा नाम राहप्प था. कभी यह मान्यता थी कि कृष्ण ने अपने जिस दुष्ट रिश्तेदार को गद्दी से हटाया था वह दंतिदुर्ग ही था. किंतु यह मत नितांत अग्राह्य है क्योंकि कृष्ण ने जो शासन-पट्ट जारी किए उनमें दंतिदुर्ग की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है. उसके पराक्रम का गुणगान किया गया है. 'ए० इ', xiii, 275; xiv, 121.
8. 'इं० ऐं', viii, 26.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

9. वही, 12.
10. यह वेंगि के शासक विष्णुवर्धन ने किया होगा. गोविंद का विरोधी ध्रुव उसका दामाद था. उसके गोविंद का साथ देने के वचन का कारण यह रहा होगा कि वह उसका सामंत था.
11. यदि हम यह मान लें कि 778 ई० में जारी किया गया ध्रुव का धूलिया ताम्रपट्ट जाली है तो हमें यह मानना होगा कि ध्रुव ने गोविंद को 775 ई० में ही गद्दी से उतार दिया था. पिंपेरी के दानपत्र की यही तिथि है. डा० दे० रा० भंडारकर का भी यही मत है. देखि० 'ए० इं', xxiii, 102 तथा आगे. भंडारकर का यह मत क्यों मान्य नहीं है, यह इस लेखक ने वही पृ० 177-81 पर स्पष्ट कर दिया है.
12. लगभग 781 ई० में जिस गंग राजकुमार को गोविंद तृतीय ने कैद किया था उसने उसे लगभग 794 ई० में छोड़ दिया था। उस राजकुमार का नाम शिवमार ही था. किंतु लगभग 788 ई० तक उसका पिता राज्य कर रहा था अत: हमें यह मानना होगा कि वह बंदी गंगों का राजा नहीं, उनका राजकुमार रहा होगा.
13. राधनपुर के ताम्रपट्ट, 'ए० इं', vi, 243.
14. मराठों और अंगरेजों ने भी करीब एक हजार साल बाद दिल्ली को जीतकर शाहआलम को अपनी मुट्ठी में करके यही नीति अपनाई थी.
15. धर्मपाल की रानी रण्णादेवी राष्ट्रकूट राजकुमारी थी. इसलिए कभी यह माना जाता था कि ध्रुव ने इसी वजह से वत्सराज के विरुद्ध धर्मपाल की तरफ से उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया था. किंतु संजन के ताम्रपट्ट से स्पष्ट हो जाता है कि ध्रुव ने वत्सराज और धर्मपाल दोनों के विरुद्ध युद्ध किया था. रण्णादेवी का पिता परबल ध्रुव का कोई रिश्तेदार भी न था.
16. कतिपय शासनलेखों में, जैसे कर्क्क के सूरत के ताम्रपट्ट में यह संकेत है कि वृद्ध सम्राट ने अपने युवराज के पक्ष में सिंहासन छोड़ दिया था. हो सकता है कि इसकी वजह यह रही हो कि वह उत्तराधिकार के लिए संभावित युद्ध को टालना चाहता था. किंतु स्वयं गोविंद के शासनलेखों से स्पष्ट है कि उसने अपने पिता को ऐसा करने से रोका था.
17. दोनों भाइयों के संबंध कितने सौहार्दपूर्ण, हो गए थे, इसका अंदाज हम गोविंद के लेखों से लगा सकते हैं जिनमें इस विद्रोह के सिलसिले में स्तंभ का नामोल्लेख ही नहीं है. स्तंभ का नाम तो गोविंद के उत्तराधिकारियों के लेखों में आता है. जहां तक स्तंभ का संबंध है उसने अपने लेखों में अपने छोटे भाई की अधीनता बराबर स्वीकार की है.
18. नोलंबवाडि में मोटे तौर पर चित्तलदुर्ग और अनंतपुर के जिले शामिल थे.
19. 'ए० इं०', vi, 248.
20. 'आ० स० इं० ऐ० रि०', 1903-4, पृ० 280.
21. संजन तामपट्टों के अनुसार चक्रायुध और धर्मपाल ने स्वेच्छा से समर्पण किया था. इसीलए यह अनुमान किया गया है.
22. इस लेखक का कभी यह मत था कि अभियान 806-7 ई० में हुआ था. किंतु अब नए अभिलेखीय प्रमाणों के कारण उसका यह मत अग्राह्य हो गया है. गोविंद का बेटा अमोघवर्ष, जो बाद में राजा हुआ, इस अभियान के अंत में पैदा हुआ था. इस अमोघवर्ष की एक पुत्री, जो विवाहिता थी, 837 ई० में एडतोर की शासिका थी (इंस्क्रिप्शंस फ्राम बंबई कर्नाटक', सं० 7). इसलिए उसके पिता अमोघवर्ष का जन्म और उत्तरी अभियान की समाप्ति 807 ई० से पूर्व हो चुकी थी. 802 ई० के स्तंभ के मन्ने ताम्रपट्टों में इस अभियान का उल्लेख है. अतः हम मान सकते हैं कि यह अभियान लगभग 800 ई० में समाप्त हो गया था. इसमें कोई शक नहीं कि इन ताम्रपट्टों की तिथि के बारे में कुछ अनियमितता है. किंतु इसकी वजह असावधानी है. जरूरी नहीं कि ये ताम्रपट्ट जाली ही हों.
23. 808 ई० के राधनपुर के ताम्रपट्टों में धर्मपाल के समर्पण और नागभट्ट को उखाड़ फेंकने का कोई उल्लेख नहीं है, किंतु 867 ई0 में संजन के ताम्रपट्टों में खास तौर पर इनका उल्लेख किया गया हैं, इसलिए कभी यह तर्क दिया जा सकता था कि अमोघवर्ष ने उत्तर में दो अभियान किए थे. पहला लगभग 805 ई० से पहले हुआ था और दूसरा उसके बाद. पहली बार गुर्जर राजा को शिकस्त दी गई थी. किंतु दूसरी बार उसकी शक्ति चूर-चूर कर दी गई थी और धर्मपाल को भी झुकने के लिए बाध्य कर दिया गया था. किंतु अब हमें गोविंद का 812 ई० तक का लेख मिल गया है जिसमें उत्तर भारत के अभियान का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिक्र तो है. पर उसमें नागभट या धर्मपाल की, पराजय का उल्लेख नहीं है. इसलिए जाहिर है कि जिन्होंने गोविंद के ये लेख बनाए थे, वे कवि थे न कि इतिहासकार. इसीलिए इन घटनाओं का उल्लेख छूट गया है. उनकी समझ से अपने आश्रयदाता के पराक्रम के वर्णन में उनकी यह उपमा पर्याप्त थी कि गुर्जर राजा वैसे ही पलायन कर गया जैसे कि शरद में बादल छंट जाते हैं, उनके विचार से राजा के शत्रुओं के नाम देकर बेमजा ब्योरे देना जरूरी न था.

24. संजन ताम्रपट्ट, v, 23; 'ए० इं०', xviii, 235.
25. वही, v, 23; 'ए० इं०', xviii, 235.
26. यह गंग राजा संभवतः शिवमार का कोई रिश्तेदार था जो गंगों के राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी के राष्ट्रकूट के कारागार में बंदी होने की अवस्था में स्वयं राज्य हड़पना चाहता था.
27. 'ए० इं०', xvii, 246.
28. वही, छंद 34.
29. 'ए० इं०'. vi, 242.
30. अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज ऐंड देअर टाइम्स', 71, टि० 1.
31. संजन के ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', xviii, 235.
32. बड़ौदा के ताम्रपट्ट, 'इं० ऐं०', xii, 160.
33. 'सा० इं० इं०' i, 39.
34. 'सा० इं० ए० रि०', 1922-3 सं० 838-40. विजयादित्य द्वितीय के पुत्र और उत्तरधिकारी विष्णुवर्धन पंचम का विवाह शीलमहादेवी से हुआ था जिसे राष्ट्रकूट राजकुमारी कहा गया है. किंतु संभवत: वह मान्यखेट घराने की न थी.
35. 'ए० इं०', vi 30 तथा आगे.
36. यह मत ग्राह्य नहीं है कि अपने भाई की मान्यखेट से अनुपस्थिति की स्थिति में गोविंद ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था. गोविंद ने 827 ई० में कवि के ताम्रपट्ट जारी किए थे. इनमें उसने अपने बड़े भाई कक्कं की भूरिभूरि प्रशंसा की है. यदि उसने कक्कं के विरुद्ध विद्रोह किया होता तो वह अपने राजकवि को इसकी इजाजत कदापि न देता.
37. यह संभव तो है पर निश्चित नहीं कि 824 ई० के बाद शीघ्र ही कक्कं की मृत्यु हो गई थी उस समय उसका बेटा ध्रुव नाबालिग था—अत: 827 ई० में गोविंद उसके अभिभावक के रूप में शासन करता था जबकि उसने कवि के ताम्रपट्ट जारी किए थे. किंतु गोविंद ने कभी विधित: राजा के रूप में राज्य नहीं किया. इसीलिए गुजरात शाखा की वंशावली में उसका नामोल्लेख नहीं मिलता है.
38. गुजरात शाखा का शत्रु वल्लभ उनकी तीन पीढ़ियों का समकालिक था. इसी तरह अमोघवर्ष प्रथम भी था. इस संबंध में किसी दूसरे समकालीन राजा के बारे में हम विचार नहीं कर सकते. इसमें शक नहीं कि उस समय राजा भोज भी गुजरात और काठियावाड़ की ओर अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा था किंतु बल्लभ के रूप में उसका कभी उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए गुजरात के राष्ट्रकूटों का शत्रु वह नहीं हो सकता. हम यह भी जानते हैं कि ध्रुव द्वितीय को वल्लभ के अतिरिक्त उससे भी लड़ना पड़ा था. यह भी सच है कि मालवा में पथरी में राष्ट्रकूट की एक अन्य शाखा भी थी. किंतु इस बात की संभावना नहीं है कि गुजरात के राष्ट्रकूटों की कठिनाइयों का कारण यह शाखा रही होगी. दे० अल्तेकर, 'राष्ट्रकूटाज', पृ० 82-83.
39. बहुत से अभिलेखों में अमोघवर्ष और उसके बेटे कृष्ण द्वितीय की कुछ तिथियां समान रूप से मिलती हैं. इसका कारण यह है कि अमोघवर्ष कभी-कभी राजकाज से संन्यास ले लेता था. उस समय उसका बेटा राजकाज देखता था. इसलिए उस काल के लेखों में किस शासक का नाम दिया जाए, इसे लेकर कुछ अस्पष्टता रहती थी. इस प्रकार पृथिवीराम के 875 ई० के अभिलेख में जिसमें शासक के रूप में कृष्ण द्वितीय का नाम आया है, वह उस काल का है जब अमोघवर्ष शासन से निवृत्त था. इसलिए इस लेख में 'वस्तुत:' राजा का नाम दिया गया है न कि 'विधित:' राजा का. 877 ई० के कान्हेरी के अभिलेख में अमोघवर्ष का नाम शासक के रूप में आया है. यह अभिलेख उस समय का है जबकि अमोघवर्ष ने संन्यास से वापस आकर आकर शासनसूत्र संभाल लिया था.
40. 'इंस्क्रिप्शंस फ्राम बांबे ऐंड कर्नाटक', सं० 7.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

41. धारवाड़ जिले में गदग तालुक में वकटपुर से 907 ई० का एक अभिलेख मिला है जिसमें राजा का विरुद अमोघवर्ष दिया है. यह राजा कृष्ण द्वितीय ही रहा होगा. संभवतः यह विरुद भूल से कृष्ण द्वितीय के नाम के साथ जुड़ गया है. अन्यथा हमें यह मानना होगा कि जैसे इंद्र तृतीय और उसके बेटे गोविंद चतुर्थ का एक ही विरुद 'सुवर्णवर्ष' था, वैसे ही अमोघवर्ष और उसके बेटे कृष्ण ने भी अमोघवर्ष का समान विरुद धारण किया था. किंतु यह दूसरा विकल्प संभव नहीं प्रतीत होता. दे० 'इंस्क्रिप्शंस फ्राम बांबे एंड कर्नाटक' सं० 7.
42. 'मैं० ग्रा० रि०', 1919, पृ० 63, 68.
43. 'ए० इं०', iv, 239.
44. 'ज० ग्रा० हि० रि० सा०', vi, 181.
45. 'सा० इं० इं०', i, 40.
46. 'ए० इं०', xix, 275.
47. 'इं० म० प्रे०', ii, 878.
48. 'ए० इं०', xix, 174.
49. 'इं० ऐं०', xiii, 67.
50. 'ए० इं०', i, 52.
51. वही, xxvi, 233.
52. द्रम्म चांदी का एक सिक्का था जो 1/3 रुपए के बराबर था. 1940 में इसकी क्रयशक्ति 2·50 रुपए के बराबर थी.
53. 'ए० इं०', ix, 31-32.
54. 'कर्नाटक भाषा भूषण', भूमिका, पृ० 140.
55. 'ऐ० रि० ग्रा० स० इं०', 1905-6, पृ० 121-2.
56. कमलपुरम् का अभिलेख, जो 23 दिसंबर 925 ई० को जारी हुआ था, निश्चित रूप से शासक के रूप में नित्यवर्ष इंद्रनरेंद्र का उल्लेख करता है. 'नित्यवर्ष' इंद्र और गोविंद चतुर्थ दोनों का विरुद था, इसलिए यह कहना कठिन है कि दिसंबर 927 ई० में इंद्र राजा था या गोविंद चतुर्थ, तथापि हम यह जानते हैं कि इंद्र के उत्तराधिकारी अमोघवर्ष द्वितीय ने सिर्फ एक साल राज्य किया था. गोविंद का पट्टबंध मई 930 ई० में संपन्न हुआ था. यदि यह उसका अभिषेक था, जिसकी अधिक संभावना है, तो गोविंद के राज्यारोहण को 930 ई० के प्रारंभ में रखना होगा. इस प्रकार अमोघवर्ष ने 928 ई० और 929 ई० के कुछ महीनों तक राज्य किया होगा. इस प्रकार अधिक संभावना यही है कि 928 ई० के मध्य में इंद्र की मृत्यु हो गई थी. देखि० 'ए० इं०', xxvi, 162.
57. 'ए० इं०', iii, 271.
58. करहाड ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', iv, 282.
59. 'ए० इं०', vii, 26.
60. कभी यह माना जाता था कि इंद्र तृतीय लगभग 918 में मरा था. और उसके स्थान पर गोविंद चतुर्थ लगभग 919 ई० में राजा हुआ था. इससे पहले उसके बड़े भाई अमोघवर्ष द्वितीय ने कुछ समय तक राज्य किया था. उस समय इस अनुमान की गुंजाइश थी कि मान्यखेट के राजा इंदपराज प्रथम का पोता इंदपराज द्वितीय, जो अम्म प्रथम के दान का भोक्ता है, अमोघवर्ष का बेटा था, जो उस समय अबोध बालक था और वह एक शरणार्थी के रूप में चालुक्य दरबार में रहता था. किंतु अब तो हमें निश्चित रूप से पता है कि इंद्र 927 ई० तक जीवित था. अतः अब यह एक असंभव कल्पना मात्र है कि उसके जीवनकाल में उसका पोता चालुक्यों का पेंशनभोगी बनकर रहता था. इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इंद्र तृतीय और अमोघवर्ष के संबंध इंद्र के जीवनकाल में कटु थे.
61. करहाड ताम्रपट्ट, v, 20; 'ए० इं०' iv, 282.
62. 'विक्रमार्जुनविजय', अध्याय ix, 520 और आगे.
63. हमें इस बात का कुछ भी पता नहीं है कि इस पराजय के बाद गोविंद जीवित बच रहा था अथवा उसने युद्ध में ही वीरगति पाई थी. तक्कोलम अभिलेख में जो परांतक के 31 वें राज्यवर्ष (938 ई०) का है, उसकी एक पुत्री का दान अंकित है. यह पुत्री गोविंदवल्लभरायर की अग्रमहिषी थी. यह असंभव नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि यह गोविंदवल्लभरायर गोविंद चतुर्थ ही हो. इस अभिलेख से यह भी प्रतीत होता है कि सिंहासन-छिन जाने के बाद गोविंद चतुर्थ अपने श्वसुर के यहां रहने लगा था. वह अपने विगत साम्राज्य की दक्षिण सीमा के पास किसी स्थान पर ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में जीवन बिता रहा था कि जब वह उस पर हमला कर सके. यह भी संभव है कि सुदि के ताम्रपट्ट में बूतुग द्वारा अपने साले कृष्ण की सिंहासन प्राप्ति के लिए सहायता का जो उल्लेख है उसमें अमोघवर्ष तृतीय द्वारा गोविंद की मृत्यु के बाद किसी असफल विद्रोह के नेतृत्व का इशारा हो. किंतु इतना भी मानना होगा कि यह गोविंदरायर परांतक का ही कोई सामंत रहा हो सुदि के ताम्रपट्टों में कृष्ण तृतीय के मार्ग के कंटक के रूप में गोविंद का स्पष्ट उल्लेख भी नहीं है. वस्तुत: इस रूप में तो वे किसी लल्लिय का उल्लेख करते हैं. यदि हम यह मान लें कि गोविंद परांतक का दामाद था तो इस बात का कारण स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण तृतीय ने इस राजा के विरुद्ध इतना कड़ा संघर्ष क्यों छेड़ रखा था.

64. कृष्ण तृतीय के लेखों में उसके पिता के राज्यारोहण के बाद कृष्ण द्वारा राजमल्ल तृतीय के उखाड़ फेंकने और चित्रकूट और कालिंजर पर अधिकार करने का वर्णन है. इसके बाद उसके पिता की मृत्यु और स्वयं उसके राज्यारोहण का जिक्र है. अतः स्पष्ट है कि कृष्ण ने 'गंगवाड़ी' और बुंदेलखंड पर हमला युवराज के रूप में ही किया था न कि राजा के रूप में.
65. यदि और भी निश्चित रूप में कहें तो उसका राज्यारोहण फरवरी और दिसंबर 939 ई० के बीच कभी हुआ था. 'ए० इं०,' xxi, 261-62.
66. जाली सुदि ताम्रपट्टों में तो स्पष्ट उल्लेख है कि बूतुग द्वितीय ने अपने साले को राज्य दिलाया, किंतु यह संदेहास्पद ही है. कृष्ण क सभी भाई उसमें अनुरक्त थे और उसकी विजयों के कारण उसका सम्मान इतना बढ़ गया था कि काई उसके दावे का विरोध नहीं कर सकता था. यह संभव हो सकता है कि गोविंद चतुर्थ या उसके बेटे ने सिंहासन पाने की कोशिश की हो, दे० ऊपर पृ० 45 टि० 2
67. इस युद्ध के संभावित कारण के संबंध में दे०, ऊपर पृ० 15, टि० 2.
68. कोल्हापुर के ताम्रपट्ट, 'ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो', x, 28.
69. करहाड ताम्रपट्ट, 'ए० इं०' iv, 282.
70. वही, v, 176, 'ए० इं०', 10, 'होलकेरी' सं० 23 और 33.
71. 'ए० इं०', xix, 236.
72. वही, xxi, 47.
73. इनमें से एक लेख गोविंद चतुर्थ का है. इसमें एक तरफ, जो खाली थी, परमार राजा मुंज ने अपना लेख लिखवाया है. 'ए० इं०' xxiii, 303.
74. 'इं० ऐं' xii, 182.
75. 'इंस्क्रि० फ्राम बांबे ऐंड कर्नाटक', सं० 40.
76. 'ए० इं०', xii, 150.
77. वही, v, 20.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासनप्रणाली

राष्ट्रकट अभिलेखों से हमें प्राय: उनकी नागरिक शासनप्रणाली की झलक मिल जाती है। उनकी मदद से हम शासन-तंत्र और उसकी कार्य-पद्धति का अच्छा चित्र उपस्थित कर सकते हैं। शासन में शीर्ष पर राजा होता था। राजा का पद आनुवंशिक था। उसके बाद प्राय: सबसे बड़ा वेटा राजा होता था। जब वह काफी सयाना हो जाता और उसे राज-काज का पर्याप्त अनुभव हो जाता था तो उसे विधिवत 'युवराज' बना दिया जाता था। 'युवराज' प्राय: राजधानी में ही रहता था और प्रशासन के कार्यों में अपने पिता की सहायता करता था। महत्वपूर्ण सैनिक अभियानों में वह पिता के साथ जाता भी था। कभी-कभी तो उसे स्वतंत्र रूप से भी भेजते थे। छोटे वेटों को प्राय: प्रांतों का राज्यपाल नियुक्त करते थे। चालुक्य शासन में तो राजकुमारियों को भी कभी-कभी प्रशासनिक पद मिल जाते थे, किंतु राष्ट्रकूट शासन में ऐसे उदाहरण बहुत ही कम हैं।[1] यदि राजा अवयस्क होता तो रानी के वजाय प्राय: दूसरे पुरुष-संवंधी राज-काज चलाते थे। हां, सिर्फ एक बार हम एक अग्रमहिषी, शीलभट्टारिका, को अपने पति ध्रुव के स्पष्ट उल्लेख के बिना स्वतंत्र रूप में एक दान देते हुए पाते हैं।[2] यह बतलाना कठिन है कि यह आकस्मिक बात थी या राजा की अग्रमहिषी स्वतंत्र रूप में भूमि के दान दे सकती थी। संभवत: असावधानी से ही इस दान में राजा के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है, या हो सकता है कि दान की इबारत छोटी रखने के लिए ही ऐसा हुआ हो।

राज दरबार और केंद्रीय शासन का तंत्र राजधानी में ही प्रतिष्ठित था। राजा यदि किसी अभियान आदि पर राजधानी से बाहर न होता तो वह नियमित रूप से राज-दरबार में आता था। आगंतुकों से भेंट के समय एक विशाल साम्राज्य की शानशौकत का प्रदर्शन होता था। राज-प्रासाद के प्रांगण में अपनी पैदल, घुड़सवार या हाथियों के दस्तों के साथ सेनाओं के नायक ड्यूटी पर उपस्थित रहते थे। सम्राट की शक्ति के प्रदर्शन के लिए विजित राजाओं से छीने गए घोड़ों और हाथियों का भी वहीं प्रदर्शन होता था।[3] राजा के प्रतीहार की स्पष्ट आज्ञा के बाद ही किसी व्यक्ति को दरबार में प्रवेश मिलता था। सामंतों और राजदूतों को जब तक दरबार के कर्मचारी राजा के सम्मुख न ले जाएं, उसे बगल के एक कक्ष में प्रतीक्षा करनी होती थी। दर्शक जब पहुंचता था तो उसे राजा मूल्यवान वस्त्र और आभूषण धारण किए एक शानदार सिंहासन पर आसीन मिलता था। गणिकाएं और अन्य भृत्य उसके अंगरक्षक के रूप से उपस्थित रहते थे। दरबार के प्रमुख व्यक्तियों में सामंत, विदेशों के राजदूत सेना व नागरिक शासन के उच्च पदाधिकारी, कवि, वैद्य, ज्योतिषी, महाश्रेष्ठी और निगमों के प्रतिनिधि होते थे।

राजा अनेक मंत्रियों की सहायता से शासन करता था। अभिलेखों में मंत्रियों के विभागों का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि समकालीन प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं कि मंत्रि-परिषद में प्रधान मंत्री, विदेश मंत्री, राजस्व मंत्री, कोषाध्यक्ष, प्रधान न्यायाधीश, महासेनापति और पुरोहित होते थे। आधुनिक काल में तो मंत्री सरकार का एक सदस्य होता है और उसका पद उसके विभाग के अध्यक्ष से अलग होता है। आधुनिक काल में विभागाध्यक्ष से परे मंत्री का स्थान होता है। किंतु प्राचीन काल में ये दोनों पद प्रायः एक ही व्यक्ति संभालता था। मंत्रियों की योग्यता के मानदंड के संबंध में अभिलेखों से कुछ भी जानकारी नहीं मिलती और न उनसे यही पता चलता है कि उनका चुनाव किस आधार पर किया जाता था। किंतु हम यह मान सकते हैं कि सामान्य योग्यता और सैनिक गुणों के कारण मंत्रियों का चुनाव होता था। वे मंत्री के साथ-साथ सैनिक अधिकारी भी होते थे। ध्रुव के विदेश मंत्री दल्ल[4] की भांति कुछ को तो सामंत का पद और जागीरें भी प्राप्त थीं। राजा और मंत्रियों के बीच आपस में सदा पूर्ण विश्वास रहता था। मंत्री को प्रायः राजा का दक्षिण बाहु कहा गया है।[5]

इस संबंध में हमें कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं है कि केंद्रीय सरकार दूरस्थ जिलों और प्रांतों की निगरानी कैसे रखती थी। किंतु यह मानना गलत न होगा कि इन इलाकों के निरीक्षण के लिए अधिकारी नियुक्त थे। वाकाटकों ने तो निश्चित रूप से ऐसी व्यवस्था कर रखी थी। सामंतों और अधिकारियों को अपने कृत्याकृत्य की सफाई देने के लिए अक्सर राजधानी में ही तलब किया जाता था। समूचे साम्राज्य में गुप्तचर नियुक्त थे जो इन प्रांतीय और छोटे अधिकारियों की मंशा और कार्यों की रपट राजधानी भेजते रहते थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्य में कुछ इलाकों का प्रबंध सामंत करते थे। और कुछ का शासन सीधे केंद्र करता था। प्रमुख सामंत जैसे दक्षिण गुजरात के शासकों को प्रबंध में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी। वे राजा की आज्ञा के बिना भी गांवों का हस्तांतरण कर सकते थे सामंतों के अधीन उनके भी उप-सामंत होते थे। पर इनके अधिकार बहुत सीमित होते थे। इन उपसामंतों को औपचारिक रूप में 'राजा' कहा अवश्य जाता था। उन्हें राजस्व की माफी या गांवों के हस्तांतरण से पूर्व मंजूरी लेनी होती थी।[6] सामंतों को राजा की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। समय-समय पर राज-दरबार में उपस्थित होकर उन्हें राज भक्ति का परिचय देना पड़ता था और अपने कृत्याकृत्य की सफाई भी। उन्हें नियमित रूप में कर देना पड़ता था और सेना में एक निश्चित संख्या में सैनिक भी भेजने पड़ते थे। अपनी सेना लेकर वे सम्राट के साथ उसके अभियानों में भी जाते थे। उनके दरबार में राजा का प्रतिनिधि तैनात रहता था। सम्राट के दरबार में उनके प्रतिनिधि भी रहते थे जो वहां की घटनाओं पर नजर रखते थे।[7] यदि वे विद्रोह करते तो पराजय के बाद भी उन्हें तरह-तरह के अपमान सहने पड़ते थे। यदि सम्राट को झक सवार हुई तो उन्हें अपना खजाना, हाथी और घोड़े आदि सौंपने पड़ते थे। कभी-कभी तो उनसे खिदमतगारों का भी काम ले लिया जाता था।

सीधे प्रबंध वाले क्षेत्र 'राष्ट्र' और 'विषयों' में विभाजित थे। ये आधुनिक कमिश्नरी और जिलों के समान होते थे। एक 'विषय' में 1000 (जैसे पुणक अर्थात पूना) से लेकर 4000 गांव (जैसे करहाटक अर्थात आधुनिक कराड) होते थे। 'विषय' में अनेक 'भुक्तियां' होती थीं। एक 'भुक्ति' में 50 से 70 गांव होते थे। उनके नाम उनके मुख्यालयों के नाम पर होते थे।[8] भुक्तियों में 10 से 20 गांवों के अलग-अलग समूह होते थे।[9] गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी।[10]

'राष्ट्र' का प्रधान शासक 'राष्ट्रपति' कहा जाता था। 'राष्ट्र' में आज के चार या पांच जिलों के बराबर इलाके होते थे। राष्ट्रपति के अधीन नागरिक और सैनिक दोनों प्रबंध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। उसका कर्त्तव्य अपने राष्ट्र में शांति और व्यवस्था बनाए रखना होता था। छोटे सामंतों और अधिकारियों पर नजर रखना भी उसका काम था। यदि सामंत विद्रोह करते तो उनका दमन करना भी उसका काम था।[11] अतः स्वाभाविक ही राष्ट्रपति को अपने अधीन पर्याप्त संख्या में सैनिक रखने पड़ते थे। वह स्वयं भी एक सैनिक अधिकारी होता था। प्रायः उसे सामंत का पद और दर्जा प्राप्त होता था।

आधुनिक कमिश्नरों की भांति राष्ट्रपति राजस्व-प्रबंध के भी प्रधान होते थे। जमीन से लगान की वसूली का उत्तरदायित्व उन्हीं का होता था। वे स्थानीय अधिकारों और विशेषाधिकारों का अभिलेख बड़ी सावधानी से रखते थे। जिन गांवों का राजस्व मंदिरों या ब्राह्मणों को दान कर दिया जाता था, उनका रेकार्ड भी ये ही पदाधिकारी रखते थे। राजा की आज्ञा के बिना वे राजस्व का हस्तांतरण नहीं कर सकते थे। जिलों और तहसीलों के अधिकारियों की नियुक्ति का भी अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं था।[12]

जिलों के अधिकारी को विषय-पति और तहसील के अधिकारी को भोगपति कहा जाता था। अपने इलाकों में इनके वे ही अधिकार और कर्त्तव्य थे जो राष्ट्रपति के होते थे। कभी-कभी इन्हें भी लघु सामंत की उपाधि दे दी जाती थी।

इन पदों पर नियुक्तियां या तो प्रशासनिक योग्यता के आधार पर या फिर युद्ध में वीरता के पुरस्कारस्वरूप की जाती थीं। यदि उक्त अधिकारी का पुत्र कुशल सैनिक या प्रशासक होता था तो पिता के बाद उस पद पर पुत्र की नियुक्ति हो जाती थी।

विषयपति और भोगपति राजस्व संबंधी कार्य नालगावुंडी या देश ग्रामकूटों की सहायता से करते थे। ये अधिकारी मुस्लिम काल के देशमुख और मराठा काल के देशपांडे के तुल्य थे और इनके पद आनुवंशिक होते थे। इन अधिकारियों को करमुक्त भूमि मिली होती थी।[13]

गांव का प्रशासन मुखिया और पटवारी के अधीन होता था। ये भी आनुवंशिक होते थे। मुखिया का कर्त्तव्य गांव में शांति और व्यवस्था बनाए रखना था। वह गांव में सैनिक भी रखता था जो समय पर उसकी सहायता करते थे। गांव की शांति चोर या डाकुओं के कारण उतनी भंग नहीं होती थी जितनी कि सामंतों के विद्रोह और पड़ोसी गाँवों से विवाद के कारण। ऐसे अवसरों पर मुखिया को सैनिक कर्त्तव्य भी निबाहने होते थे। ग्रामीण भाइयों की रक्षा में कभी-कभी उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था। पटवारियों को गांव से लगान वसूल कर उसे सरकारी खजाने और धान्यागार में जमा कराना पड़ता था। उन्हें इन सेवाओं के बदले कुछ जमीन की माफी मिलती थी और गाँव से कुछ छोटे मोटे कर भी जो पदार्थों के रूप में मिलते थे। एक मुनीम पटवारी के सहायक के रूप में कार्य करता था।[14]

आधुनिक पाठक के मन में इस प्रश्न का सर्वोपरि होना स्वाभाविक ही है कि प्रशासन पर जनमत का प्रभाव कितना था। जहां तक गांव और नगरों के प्रशासन का प्रश्न है, जनमत काफी कारगर था। कर्नाटक और महाराष्ट्र के प्रत्येक गांव में एक गांव-सभा होती थी जिसमें हर घर का कोई वयस्क व्यक्ति सदस्य होता था। तमिल देश में कोई औपचारिक चुनाव तो नहीं होता था किंतु ग्राम महाजन या ग्राम महत्तर अनौपचारिक रूप में मंदिरों, स्थानीय पाठशालाओं, तालाबों और सड़कों आदि के प्रबंध के लिए उप-समितियां बनाते थे। ये अक्षय-निधियां भी ग्रहण करते थे और दाता की मंशा के मुताबिक उनका प्रबंध करते थे। ये उपसमितियां गांव के मुखिया से निकटसंपर्क रखती थीं और उसका सहयोग लेती थीं। जनता के कल्याण के विभिन्न कार्यों के लिए इन्हें गांव के राजस्व का एक हिस्सा भी मिलता था। दीवानी के मुकदमों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फैसला भी ग्राम-सभाएं करती थीं, जिन्हें सरकार कार्यान्वित करती थी। इसी प्रकार नगरों की भी सभाएं होती थीं और उनके भी प्राय: ये ही कर्त्तव्य होते थे।[15]

कभी-कभी राष्ट्रकूट अभिलेखों में विषय-महत्तरों और राष्ट्र महत्तरों का भी उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि जिलों और प्रांतों के मुख्यालयों में भी उस प्रकार की जन-प्रतिनिधि संस्थाएं होती थीं जिनके कार्य संभवत: वे ही थे जो आधुनिक ग्राम-महत्तरों के होते हैं। किंतु इस संबंध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि जिलों और प्रांतों के इन महत्तरों की अपनी कोई सभा न थी जिसकी नियत अवधि में बैठकें होती थीं और वे प्रशासन के महत्वपूर्ण काम करती थीं। राष्ट्रकूटों की राजधानी में किसी संसद या जन-सभा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभवत: ऐसी किसी संस्था का अस्तित्व नहीं था। प्राचीन काल में जब संचार के साधन अविकसित थे, राजधानी में दूर-दूर के सदस्यों की बैठकों का आयोजन करना आसान काम न था। अत: राष्ट्रकूट प्रशासन के केंद्र में जनता की कोई कारगर आवाज नहीं थी किंतु गांवों में उसका बड़ा महत्व था। हमें यह न भूलना चाहिए कि उस समय गांव सभाएं अनेक ऐसे कार्य करती थीं जो आज प्रांतीय या केंद्रीय सरकारें करती हैं। अत: इन स्थानीय संस्थाओं में निर्णायक आवाज होने से जनमत प्रशासन पर कारगर नियंत्रण रख सकता था।

राष्ट्रकूटों के सैनिक-प्रबंध के संबंध में दो शब्द कहने की आवश्यकता है। राजा सर्वदा विजिगीषु होता था। वह राज्य-विस्तार का यत्न करता था। इसलिए राष्ट्रकूटों का सैनिकतंत्र शक्तिशाली और कुशल था। उनके पास सदा एक विशाल सेना रहती थी जिसका पर्याप्त भाग राजधानी में रहता था। किंतु एक सेना दक्षिण की भी थी जो बनवासी के उपराजा के अधीन रहती थी। एक उत्तर की भी सेना थी जो राजा के किसी पुत्र के अधीन रहती थी। ये सेनाएं राज्य पर बाहरी आक्रमणों से रक्षा का काम करती थीं। केंद्रीय सरकार के निश्चय करने पर ये दूसरे राज्यों पर आक्रमण भी करती थीं। राष्ट्रकूटों की पैदल सेना काफी प्रसिद्ध थी यद्यपि उनकी घुड़सवार सेना भी कम कुशल न थी। कुछ गुल्म सैनिक जातियों के होते थे इनकी प्रसिद्धि हरावल सेना की तरह थी। कुछ सैनिक गुल्म प्रांतीय शासकों और सामंतों के भी होते थे, जब महत्वपूर्ण अभियान होते थे तो ये बुला लिए जाते थे। सैनिक जातियों को उनके गांवों में ही सैनिक प्रशिक्षण मिलता था। फिर वे सेना में भर्ती हो जाते थे। दूसरे सैनिकों की शिक्षा-दीक्षा भृतक सैनिकों की होती थी जिनके नेता किराए पर उन्हें लाते थे और केंद्र सरकार से इसके लिए रकम पाते थे। धनी श्रेष्ठियों की मदद से सैनिक रसद विभाग का संगठन होता था। सेना में सभी जातियों के लोग होते थे। ब्राह्मण और जैन भी सेना में थे। अचरज ही है कि राष्ट्रकूटों के अनेक प्रसिद्ध सेनापति जैसे बंकेय श्रीविजय, नारसिंह आदि जैन थे। संभवत: उनका विश्वास था आत्यंतिक रूप में 'अहिंसा' मुनियों का अभीष्ट है, गृहस्थों की नहीं।

अब हम इस बात की जांच करेंगे कि राष्ट्रकूट साम्राज्य की आय के मुख्य स्रोत क्या थे। राज्य की आय सामंतों से नजराने, सरकारी संपत्ति से और विभिन्न करों से होती थी। इनमें से पहले का उल्लेख हम कर चुके हैं। दूसरी श्रेणी में खानों, वनों और बंजरों से होने वाली आमदनी सम्मिलित थी। इनका स्वामित्व राज्य में निहित था। कृषि-भूमि का स्वामित्व व्यक्तियों और परिवारों का था। लगान न देने की स्थिति में राज्य उनकी जमीनें जब्त कर सकता था।

सरकार की आय का मुख्य स्रोत कर ही था। भूमिकर को 'भागकर' या 'उद्रंग' कहते थे। यह सर्वाधिक महत्व का कर था। प्राय: यह कर जिंसों के रूप में दो या तीन किस्तों में मिलता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। इसकी मात्रा काफी ऊंची थी क्योंकि राज्य फसल का 25 प्र० श० लेता था। जो जमीनें मंदिरों या ब्राह्मणों को दान दी गई थीं उन पर प्रायः इसका आधा कर लगता था। कभी कभी वह भी माफ कर दिया जाता था।

संदर्भ

1. इसका एक ही उदाहरण चंद्रोब्बलब्बा का है जो अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री थी और 837 ई० में रायचूर दोआब का शासन करती थी.
2. 'ए० इं०', xxii, 98.
3. संजन के ताम्रपट्ट, 'ए० इं०', xvii, 235.
4. 'ए० इं०', x, 89.
5. वही, iv, 60.
6. 'इं० ऐं०', xii, 15; 'ए० इं०', ix, 195.
7. 'ए० इं०', vi, 33.
8. 'इं० ऐं', xi, 111.
9. अ० स० अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज', 138.
10. इन मंडलों के बारे में विस्तृत जानकारी के लिए दे० खंड 1, दकन का भूगोल, लेखक प्रो० हे० चं० रायचौधरी, पूर्व, पृ० 38-44.
11. अ० स० अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज', 179.
12. वही, 175-6.
13. वही, 178-9.
14. वही, 168-94.
15. वही, 200-11.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म

राष्ट्रकूट साम्राज्य में तीन धर्म प्रमुख थे, हिंदू, जैन और बौद्ध। इनमें बौद्ध धर्म का प्रचार सबसे कम था। एलौरा और अजंता में भी इससे पहले से ही इस धर्म की अवनति होने लगी थी। कभी ये बौद्ध धर्म के बड़े प्रसिद्ध केंद्र थे। सातवीं शताब्दी में दकन में 200 बौद्ध विहार थे, किंतु राष्ट्रकूट-काल में इनकी संख्या में काफी कमी हो गई थी। वस्तुतः इस काल के आम अभिलेखों में तो सिर्फ तीन विहारों का ही उल्लेख मिलता है। इनमें एक बंबई के पास कण्हेरी में है, दूसरा शोलापुर जिले में कंपिल में और तीसरा धारवाड़ जिले में डंबल में। इनमें कण्हेरी का विहार सबसे प्रसिद्ध था। इसमें सुदूर बंगाल के लोग भी दान देने आते थे। इसका अपना एक पुस्तकालय था जो संभवतः विद्यार्थियों और अध्यापकों के उपयोग के लिए था। इनमें अधिकांश बौद्ध संभवतः महायान संप्रदाय के थे।

जैन धर्म को शासक वर्ग का प्रश्रय प्राप्त था। इनके अनेक मुनि बड़े विद्वान और धार्मिक प्रकृति के थे। अतः जैन धर्म इस काल में काफी प्रबल था और वह हिंदू धर्म का एक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी था। राष्ट्रकूट राजाओं में अमोघवर्ष प्रथम जैन धर्म का प्रबल संरक्षक था। उसने गुणभद्र नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य को अपने युवराज कृष्ण का अध्यापक नियुक्त किया था और अनेक जैन विद्वानों को आश्रय दिया था। उसने अनेक जैन विहारों को दान भी दिए थे। उसके बेटे कृष्ण द्वितीय और उसके उत्तराधिकारी इंद्र तृतीय ने भी जैन संस्थाओं को प्रचुर दान दिए थे। बनवासी के उपराजा बंकेय और उसके बेटे लोकादित्य जैन धर्म के कट्टर अनुयायी थे। उस काल के अनेक गंग राजा भी जैन थे। अनेक राष्ट्रकूट सेनापति जैन थे। उस काल में शासन के आश्रय और जैन साहित्य के परिमाण को देखते हुए तो यदि हम यह कहें कि तत्कालीन कर्नाटक की जनता का लगभग एक-तिहाई जैन था तो कोई अत्युक्ति न होगी। सर्वत्र जैन विहार थे जो जैन धर्म की शिक्षाओं के प्रचार के मुख्य साधन थे।

हर्ष की बात है कि इन प्रतिद्वंद्वी धर्मों के अनुयायियों में ईर्ष्या न थी। इन धर्मों के समर्थकों के बीच शास्त्रार्थ होते रहते थे किंतु इनमें कभी लाठी का सहारा नहीं लिया गया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि शासक और अधिकारी सभी धर्मों के प्रति समानता का व्यवहार करते थे। जैसे—यद्यपि अमोघवर्ष जैन धर्म का कट्टर अनुयायी था किंतु वह हिंदू देवी लक्ष्मी की भी उपासना करता था।[1] गुर्जर राष्ट्रकूट शाखा का राजा दंतिवर्मन हिंदू था किंतु उसने एक बौद्ध विहार को भूमि दान में दी थी।[2] ब्राह्मण भी जिन्हें हिंदू धर्म का कट्टर प्रचारक होना चाहिए था, कभी-कभी जैन विहारों को दान देते थे।[3] इस प्रकार के अभिलेख अक्सर मिलते हैं जिनमें धर्मप्रवण व्यक्ति तीनों धर्मों के प्रति समान रूप से आदर प्रकट करते मिलते हैं। कभी-कभी तो एक ही मंदिर में जैन और हिंदू दोनों धर्मों की प्रतिमाएं होती थीं।[4]

सहिष्णुता की यह भावना हिंदू, जैन और बौद्ध धर्मों तक ही सीमित न थी, इस्लाम के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रति भी लोगों के मन में यही भाव था। इस काल में इस्लाम धर्म के कतिपय अनुयायी व्यापारियों के रूप में पश्चिम भारत के बंदरगाहों में रहते थे। मुसलिम इतिहासकारों ने भी माना है है कि अरब प्रवासियों को बिना किसी बाधा के मस्जिदें बनाने और अपने धर्म के अनुसार आचरण की सुविधा थी।[5]

अब हम इस काल में हिंदू धर्म की स्थिति की चर्चा करेंगे। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने वैदिक यज्ञों के प्रचार का बीड़ा उठाया था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्रचार का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल के किसी राजा ने कोई वैदिक यज्ञ नहीं किया। दान पानेवाले सिर्फ दो ब्राह्मणों के वैदिक अनुष्ठानों का उल्लेख है।[6] कुमारिल के प्रचार के बावजूद इस काल में 'स्मार्त' धर्म का प्रचार बढ़ता ही गया। धर्मप्रवण आम हिंदू को वैदिक यज्ञों में कोई खास रुचि न थी, वह स्मृति और पुराणोक्त अनुष्ठानों को अत्यंत उत्साहपूर्वक करता था। वैदिक यज्ञों के मुकाबले ये काफी सरल थे। इनमें पशु-बलि का भी विधान न था। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रचार के कारण पशुबलि का जनता में अनादर हो गया था।

विष्णु, शिव, लक्ष्मी और आदित्य हिंदुओं के प्रमुख देवता थे। पांडुरंग की पूजा का मुख्य केंद्र पंढरपुर था। समाज के निचले स्तर में सर्वदेववाद युग की ही उपासनापद्धति चल रही थी। उन देवताओं की भी पूजा होती थी जो रोग और महामारी के कारण माने जाते थे। इनकी प्रीत्यर्थ पशुबलि का भी प्रचलन था।

इस काल में हिंदू सभ्यता के प्रचार के मुख्य केंद्र हिंदू मंदिर थे।[7] वहां लोग पूजा के लिए ही नहीं जाते थे बल्कि धार्मिक प्रवचन सुनने भी जाते थे। इन प्रवचनों में हिंदू धर्म, नीतिशास्त्र और दर्शन का सार होता था। इस काल में हिंदू मंदिरों में उच्च शिक्षा का भी प्रबंध होने लगा था। अधिकांश मंदिरों में गरीब विद्यार्थियों, विपन्नों और संन्यासियों को मुफ्त भोजन दिया जाता था। मंदिरों में पूजा के प्रचार से कला और वास्तु-कला की समृद्धि हुई। अनेक कारीगरों और कलाकारों को इन मंदिरों के और उनके लिए प्रतिमाओं के निर्माण-कार्य में रोजगार और अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर मिलता था। मंदिरों में संगीत और नृत्य कला को भी प्रश्रय मिलता था। पूजा के समय नृत्य आदि के लिए नर्त्तकियों की नियुक्त होती थी। मंदिरों के लिए इन सब कार्यों में धन व्यय करना इसलिए संभव होता था क्योंकि राजा और अन्य धनीमानी व्यक्ति भी उन्हें प्रचुर मात्रा में दान देते थे।

इस काल में यह उपदेश कि दान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अत्यंत प्रचारित था। इस विश्वास के कारण अनेक धार्मिक और सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों को प्रचुर सहायता मिलती थी। इस विश्वास के कारण धनी मानी व्यक्ति मंदिर बनवाते थे, पाठशालाएं चलाते थे, कुएं और तालाब खुदवाते थे और सत्र (लंगर) चलाते थे जहां लोगों को मुफ्त भोजन मिलता था। ध्यान देने की बात है कि इनमें से अधिकांश दान उन पर्व-दिवसों पर दिए गए हैं जो 'पुराणों' में शुभ माने गए हैं।[8] तीर्थयात्रा का भी प्रचार बढ़ रहा था। गौमाता को सभी पूज्य मानते थे।[9]

शंकराचार्य इसी युग में हुए जिन्होंने संन्यास धर्म का प्रचार किया। किंतु इस बात में संदेह ही है कि उनके उपदेश का इस काल में कोई विशेष असर हुआ। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में मठ स्थापित किए। किंतु ऐसा लगता है कि उनके आचार्य जनता के धार्मिक और सामाजिक जीवन का नियमन नहीं कर पाते थे। वस्तुतः राज्य अपने एक मंत्री के जरिए यह कार्य करता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. 'ए० इं०' xviii, 235.
2. वही, vi, 192.
3. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', x, 193.
4. अ० स० अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज', 272-73.
5. वही, 187.
6. 'ए० इं०' xviii, 235.
7. दिलचस्प बात यह है कि वैष्णवेतर मंदिरों में वास्तवित पूजा गुरव करते थे जो ब्राह्मण न थे.
8. अ० स० अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज', 301-2.
9. वही, 298.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक दशा

तत्कालीन स्मृतियों और अरब लेखकों ने उस समय की जाति-प्रथा की झांकी दी है। चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक वर्ग भी थे। क्षत्रियों में राजवंश एक उपजाति के रूप में था जिसे 'सत्क्षत्रिय' (अरब लेखकों का सब्कुफ़ी)[1] कहते थे। ये ब्राह्मणों से भी ऊंचे माने जाते थे। आम क्षत्रियों का स्थान थोड़ा नीचे था किंतु वे द्विजों के सभी अनुष्ठान करते थे। किंतु अब वैदिक अध्ययन का उनका अभ्यास बराबर घटता जा रहा था। वैश्यों का स्थान गिरकर शूद्रों के बराबर हो गया था। अब वे वेदाध्ययन नहीं करते थे। वाकाटक-गुप्त युग में 'अनुलोम' विवाह कभी-कभी होते थे। किंतु इस काल में उनका प्रचार बंद हो गया। तत्कालीन स्मृतियों में अंतर्जातीय खान-पान का अनुमोदन नहीं है। इस काल के हिंदू समाज में उनका प्रचार भी बंद हो गया था। ब्राह्मणों में कुछ तो अपने पारंपरिक कर्मों का पालन करते थे। वे अपने धार्मिक अनुष्ठान, दर्शनादि का उपदेश और धर्मशास्त्रों का अध्यापन करते थे। राजा की ओर से जिन ब्राह्मणों को दान मिलते थे उनमें अधिकांश के बारे में लिखा है कि वे इन कर्मों का पालन करते थे। वस्तुतः इसी के लिए राजा उन्हें पुरस्कार भी देता था। अन्य ब्राह्मण धर्मशास्त्र, काव्य, ज्योतिष आदि के अध्ययन में लगे रहते थे। वे राज्य के नागरिक विभागों में नियुक्त होते थे। इनमें कुछ पाठशालाएं और विद्यापीठ भी चलाते थे। उन्हें सरकार और धनी-मानी व्यक्तियों की ओर से इसके लिए प्रचुर सहायता मिलती थी। तत्तकालीन स्मृतियों में ब्राह्मणों को व्यापार और कृषि को अनुज्ञा दी गई है। हम यह मान सकते हैं कि कुछ ब्राह्मण इन व्यवसायों में भी रहे होंगे। निर्धन और विद्वान ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। किंतु जिन्हें भूमि के दान मिले थे उन्हें सरकारी कर देने होते थे। हां, आम कृषकों की अपेक्षा उनके कर की दर कम होती थी।

शूद्रों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। निस्संदेह उन्हें वेदाध्ययन की मनाही थी, किंतु 'स्मार्त' अनुष्ठानों की इजाजत थी। सेना में वे भर्ती किए जाते थे। अनेक शूद्र सेना में नायक होते थे। कुछ तो छोटे-मोटे राजा भी होते थे।

चमार, धरकार, मल्लाह और धोबियों का समाज में निरादर था। इन्हें अर्ध-अस्पृश्य मानते थे। मेहतर और चांडाल को भी अस्पृश्य मानते थे। ये गांव और शहर के बाहर रहते थे।

दकन में सती प्रथा का प्रचार न था। पति की मृत्यु के बाद किसी रानी या सामान्य स्त्री के सती होने का संभवतः कोई उल्लेख नहीं है। समाज में बाल-विवाह आम बात हो गई थी। लड़कियों का विवाह आमतौर पर 12 वर्ष की उम्र से पहले ही कर दिया जाता था। विवाह माता-पिता ही निश्चित करते थे। समाज के उच्च वर्गों में विधवा-विवाह का रिवाज तो न था किंतु पति की मृत्यु के बाद उसकी संपत्ति में विधवा के अधिकार को धीरे-धीरे मान्यता मिलने लगी थी। पर्दा प्रथा का अस्तित्व न था।

दकन में इस काल में धन का मुख्य साधन कृषि, खनिज और व्यापार था। कृषि की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपज में कपास गुजरात और बरार में; ज्वार और बाजरा महाराष्ट्र और कर्नाटक में; चावल, नारियल और सुपारी कोंकण में पैदा होते थे। मैसूर में, जिसके कुछ हिस्से विभिन्न समयों में राष्ट्रकूट साम्राज्य में थे, चंदन, सागौन और आबनूस के जंगल थे। इनकी लकड़ियां अत्यंत प्राचीन काल से पश्चिम एशिया को निर्यात की जाती थीं।

इस बात के कुछ सबूत हैं कि कुडप्पा, बेल्लारी, बीजापुर, धारवाड़, चांदा और बुल्डाना के जिलों में खानों से तांबा निकाला जाता था, किंतु संभवत: उसकी मात्रा कम थी। गोलकुंडा और कीडेड (बेल्लारी, अनंतपुर और कडप्पा) जिलों में हीरों की खानें थीं। मालखेड इन जिलों से बहुत नजदीक था, अत: यहां जवाहरात का प्रसिद्ध बाजार रहा होगा।

वस्त्र उद्योग राष्ट्रकूट साम्राज्य का प्रसिद्ध उद्योग था। गुजरात, बरार और तैलंगाना इसके प्रसिद्ध केंद्र थे। भारी मात्रा में वस्त्र विदेशों को भेजे जाते थे।

दकन की सड़कें पहाड़ी थीं। इसलिए सामान ढोने का मुख्य साधन बैल और घोड़े थे जिनकी पीठ पर रखकर सामान लाते, ले जाते थे। अचरज की बात यह है कि राष्ट्रकूटों ने अपना कोई सिक्का नहीं चलाया। इसलिए व्यापार या तो विनिमय के जरिए होता था या सोने या चांदी के माध्यम से। कुछ अभिलेखों में सोने के सिक्कों या 'द्रम्मों' के उल्लेख हैं जिनका दान राजाओं ने किया था। किंतु राष्ट्रकूटों का सोने का कोई सिक्का अभी तक नहीं मिला है।

विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों के अपने संगठन थे। किंतु इनके संविधान या कार्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है। किंतु इससे पहले और बाद के अभिलेखों में उनके उल्लेख मिलते हैं। अत: हम अनुमान कर सकते हैं कि राष्ट्रकूटों के समय में भी इनकी श्रेणियां अवश्य रही होंगी। इन श्रेणियों में लोग अक्षय-निधियां रख देते थे जिन पर ये ।2 प्र० श० ब्याज देती थीं, जिनका व्यय निक्षेपक की इच्छानुसार किया जाता था।

तत्कालीन चोल अभिलेखों से पता चलता है कि उस समय एक रुपए का करीब 32 सेर चावल, 25 सेर दाल, 24 सेर दही, 3 सेर घी और 75 सेर नमक आता था। एक रुपए में एक गाय खरीदी जा सकती थी। भैंस करीब दो रुपये में मिलती थी।

अधिकांश लेन-देन विनिमय के जरिए होता था। सरकारी राजस्व जिंसों में मिलता था। गांव के अधिकारियों का वेतन भी जिंसों में दिया जाता था। गांव के पटवारी का वेतन 80 मन चावल प्रतिवर्ष था। बढ़ई को 60 मन मिलता था और मजदूर को 24 मन। मजदूर की दिहाड़ी करीब 3 सेर चावल प्रति दिन हुई। अत: स्पष्ट है कि राष्ट्रकूटों के समय में गरीब आज की अपेक्षा अधिक आराम से रह सकते थे।[2]

संदर्भ

1. इलियट और डाउसन : 'हिस्टरी' i, 16.
2. अ० स० अल्तेकर : 'राष्ट्रकूटाज', अध्याय 15.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा और साहित्य

उच्च संस्कृत का शिक्षा का प्रबंध 'अग्रहारों' में होता था। अग्रहार उन गांवों को कहते थे जहां राजा विद्वान ब्राह्मणों को बसा देता था। एक राष्ट्रकूट अभिलेख से विदित होता है कि कर्नाटक के कलस नामक अग्रहार ग्राम के ब्राह्मण संस्कृत विद्या की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा देते थे। गोविंद चतुर्थ जब गद्दी पर बैठा तो उसने 400 अग्रहार ग्राम स्थापित किए (या चालू रखे)। इस प्रकार हम भली भांति अनुमान कर सकते हैं कि उस समय समाज में उच्च शिक्षा का काफी प्रचार रहा होगा। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। कई स्थानों पर तो उनके रहने और खाने-पीने का भी निःशुल्क प्रबंध था।

इस काल में मंदिर भी उच्च शिक्षा के केंद्र थे। कर्नाटक में सलोतगी नामक स्थान में त्रयीपुरुष का मंदिर था। इसमें एक विद्यापीठ चलता था। इसमें दूर-दूर से विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने आते थे। इनके रहने के लिए सत्ताईस छात्रावासों की आवश्यकता होती थी।[1] संभवतः अन्य मंदिरों में भी इसी प्रकार उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी, यद्यपि इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। जैन और बौद्ध बिहार भी अपने अनुयायियों के लिए धार्मिक और साहित्यिक शिक्षा का प्रबंध करते थे। प्राचीन भारत में राजधानियों और तीर्थों में प्रायः उच्च शिक्षा की व्यवस्था होती थी। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि शाही राजधानी मालखेड और पैठन, नासिक और करहाड़ भी, जो प्रसिद्ध तीर्थ थे, उच्च शिक्षा के केंद्र रहे होंगे। किंतु इस संबंध में भी हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं।

ये सभी केंद्र संस्कृत ज्ञान का प्रचार करते रहे होंगे। राष्ट्रकूटों के ताम्रपट्टों से विदित होता है कि उनके दरबार में पर्याप्त संख्या में विद्वान थे जो सुबंधु और बाण जैसे लेखकों की शैली का सफलता से अनुगमन कर सकते थे।[2] इन विद्वानों के गृह-स्थानों का तो पता नहीं है इसलिए यह बतलाना मुश्किल काम होगा कि इनमें कितने राष्ट्रकूट राज्य के मूल वासी थे। यह बात कुमारिल, वाचस्पति और लल्लम पर ही लागू नहीं है अपितु परवर्ती स्मृतिकारों जैसे कात्यायन, अंगिरस और यम पर भी लागू है। ये सभी राष्ट्रकूट काल में हुए, किंतु इनकी जन्म-भूमि का ठीक ठीक पता नहीं। राजशेखर (900 ई०) मूलतः महाराष्ट्र के थे किंतु उनके जीवन का अधिकांश भाग उत्तर भारत में बीता। 'नलचंपू' के लेखक त्रिविक्रम दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुए। इन्होंने बेगुम्रा के ताम्रपट्ट के लेख की रचना की थी।[3] हलायुध कृष्ण तृतीय के दरबार में थे। उन्होंने 'कवि-रहस्य' की रचना की थी। वस्तुतः यह तो धातुपाठ का एक ग्रंथ है किंतु एक ही धातु के विभिन्न रूपों का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने अपने आश्रयदाता की छंदोबद्ध प्रशस्ति भी लिख डाली है।

हम पहले ही बता चुके हैं कि राष्ट्रकूट दरबार में जैनधर्म को प्रश्रय मिलता था। इसलिए स्वाभाविक ही इस काल में जैन-साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई। अवलंक और विद्यानंद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने इसी काल में आप्तमीमांसा पर 'अष्टशती' और 'अष्टसाहस्री' नामक टीकाएं लिखीं। आठवीं शती के उत्तरार्ध में माणिक्यनंदिन ने न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'परीक्षामुखशास्त्र' की रचना की, जिसपर पचास साल बाद प्रभाचंद्र ने एक टीका लिखी थी। प्रभाचंद्र ने 'न्यायकौमुदी चंद्रोदय' नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ की भी रचना की थी। एक अन्य समकालीन जन लेखक मल्लवादिन भी था। मजेदार बात है कि उसने एक बौद्ध विद्वान द्वारा रचे गए न्यायशास्त्र के एक अन्य ग्रंथ की टीका भी लिखी थी जिसका नाम 'न्यायबिंदु टीका' है।

अमोघवर्ष के दरबार में अनेक दिग्गज जैन विद्वान थे। उसके गुरु हरिषेण ने सन 783 ई० में 'हरिवंश' की रचना की थी। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आदि-पुराण' का प्रारंभ नवीं शती में किया किंतु वह यह ग्रंथ पूरा न कर सका। यह कार्य उसके शिष्य गुणचंद्र ने सन 893 ई० में किया। इस ग्रंथ में अनेक जैन मुनियों की जीवनगाथा दी गई है। जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' एक रुचिकर ग्रंथ है। इसमें पार्श्वनाथ स्वामी का छंदोबद्ध चरित वर्णन है। इस ग्रंथ की अंतिम पंक्तियां 'मेघदूत' के क्रमानुसार छंदों से ली गई हैं। यह कार्य काफी कठिन है किंतु कवि ने इसे बखूबी पूरा किया है। अमोघवर्ष प्रथम के ही शासन काल में व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अमोघवृत्ति' की रचना शकटायन ने और गणित के प्रसिद्ध ग्रंथ 'गणितसार-समुच्चय' की रचना वीराचार्य ने की थी। स्वयं अमोघवर्ष कन्नड़ में काव्य शास्त्र के प्रथम ग्रंथ 'कविराजमार्ग' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं।

अगली शताब्दी में सोमदेव ने 'यशस्तिलक चंपू' की रचना की। यह एक उच्च कोटि की रचना है। उन्होंने राजनीति के प्रसिद्ध ग्रंथ 'नीति-वाक्यामृत' की भी रचना की थी। इस ग्रंथ में प्रायः कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का ही अनुगमन किया गया है।

कन्नड़ साहित्य में आज जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें सबसे पुराने राष्ट्रकूट काल के हैं। हम बतला चुके हैं कि अमोघवर्ष प्रथम 'कविराजमार्ग' नामक काव्यशास्त्र के ग्रंथ के रचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कन्नड़ में काव्यशास्त्र का यह सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इसमें अमोघवर्ष ने श्रीविजय नामक एक कवि का उल्लेख किया है वह संभवतः नवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ। इसकी रचना उदाहरणों के रूप में छिटपुट मिलती हैं। इसी प्रकार अमोघवर्ष के लहुरे समकालीन गुणवर्मन प्रथम की भी छिटफुट रचनाएं ही मिलती हैं। वे-मुलवाड के चालुक्यों के दरबार में भी अनेक कन्नड़ ग्रंथों की रचना हुई। ये राष्ट्रकूटों के सामंत थे। इन्हीं के दरबार में दसवीं सदी में पंप हुआ जो कन्नड़ का आदि और सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। 'आदि-पुराण' और 'विक्रमार्जुनविजय' उसकी प्रसिद्ध रचनाएं है। इस दूसरे ग्रंथ में उसने अपने आश्रयदाता अरिकेसरिन द्वितीय की तुलना अर्जुन से कर उसकी प्रशस्ति लिखी है। इस प्रकार उसने इंद्र तृतीय के उत्तरी अभियान के बारे में कुछ बहुमूल्य सूचनाएं दी हैं। इस युद्ध में अरिकेसरिन भी शामिल हुआ था। इसी काल का एक अन्य प्रसिद्ध कवि पोन्न हुआ है जो दसवीं सदी के उत्तरार्ध के प्रथम चरण में हुआ था। कृष्ण तृतीय ने उसे 'उभयकवि चक्रवर्त्ति' की उपाधि दी थी क्योंकि वह संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में समान रूप से रचना करता था। उसके प्रमुख ग्रंथ का नाम 'शांतिपुराण' है। पोन्न ने दो अन्य कन्नड़ कवियों के भी उल्लेख किए हैं। किंतु उनकी रचनाएं अभी तक नहीं मिली हैं। इन कवियों के नाम हैं असंग और जिनचंद्र। गंगवाडी के राजा मारसिंह द्वितीय के मंत्री और जैन सेनापति चामुंडराज ने दसवीं सदी के तृतीय चरण में 'चामुंडरायपुराण' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह गद्य-रचना का एक अच्छा उदाहरण है। 'अजितपुराण' और 'गदायुद्ध' का रचयिता रण्ण उसका लहुरा सम-कालीन था। इन लेखकों में अधिकांश जैन थे। वे अपने तीर्थंकर महावीर के इस उपदेश के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रति सजग थे कि जनता में धर्म का प्रचार जनभाषा में ही करना चाहिए।

राष्ट्रकूट काल के अंतिम भाग में मराठी भाषा का भी उदय हो रहा था।[4] किंतु संभवतः तब तक इस भाषा में किसी ग्रंथ की रचना नहीं हुई थी। मराठी राष्ट्रकूटों की मातृभाषा न थी। जैनधर्म, जिसने कर्नाटक में लोकभाषा की उन्नति में प्रेरणा दी, वह महाराष्ट्र में उतना प्रबल भी न था। इसलिए इसमें अचरज की कोई बात नहीं कि इस काल में मराठी में कोई ग्रंथ नहीं रचा गया।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', iv, 60.
2. वही, vi, 242.
3. वही, ix, 28.
4. श्रवण बेलगोल के 982 ई० के एक लेख में मराठी में एक छोटा सा वाक्य भी है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड छः

कल्याणी के चालुक्यों का इतिहास

प्रोफेसर के० ए० नीलकंठ शास्त्री

1. प्रास्ताविक : साधनसामग्री—अभिलेख और साहित्य, वंशपरिचय.
2. इस वंश के राजा : तैल प्रथम, तैल द्वितीय, सत्याश्रय, विक्रमादित्य पंचम, अय्यन, जयसिंह द्वितीय, विक्रमादित्य षष्ठ, सोमेश्वर तृतीय, जगदेकमल्ल द्वितीय, तैल तृतीय, सोमेश्वर चतुर्थ.
3. प्रशासन : राजकीय परंपराएं और चिह्न; एकतंत्र प्रथा; अभिषेक; युवराज; सम्राट के विरुद; मांडलिकों से संबंध; राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा; सम्राट : स्थानीय और सामाजिक स्वायत्तता; विधि और न्याय; राजा के पुरोहित; अंतःपुर के अधिकारी; राजस्व पदावली; सैनिक पदाधिकारी; अनेक पदों का संमिलित भार; राजसभा की प्रक्रिया; विभिन्न सम्मान; राज्य का स्वरूप; उच्च अधिकारियों का शासन; प्रशासनिक इकाइयां; गांवों के मुखिया और महत्तर; नाड अरस, नालगावुंड, नगर और ग्राम; ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था; धार्मिक संस्थाएं; नगरों का विकास; स्थानीय कार्यों में सहकारिता; स्वैच्छिक उगाही; पट्टेदारी में परिवर्तन; कराधान; परिहार; भूमि की पट्टेदारी; तलवृत्ति; कर की दरें; चालुक्य शासन का सामान्य रूप; सेना; खेल कूद.
4. सामाजिक और आर्थिक अवस्था : सामाजिक आदर्श; स्मारकों का निर्माण; आत्मवध; स्त्रियों का स्थान; ललित कलाएं; मंदिर; वास्तु और प्रतिमाएं; जड़ाई की कला; शिक्षा; कृषि; व्यापारिक फसलें; उद्योग; व्यापार; श्रेणियां; नगरों का जीवन; ब्याज की दरें और मुद्राप्रणालियां, माप प्रणाली; धर्म—शैव मत; वैष्णव मत जैन मत और बौद्ध मत; कन्नड़ साहित्य, संस्कृत साहित्य.

परिशिष्ट

क. कल्याणी के चालुक्यों की वंशावली

ख. सहायक ग्रंथसूची

ग. कल्याणी के कलचुरि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रास्ताविक

साधन सामग्री

कल्याणी के चालुक्यों के इतिहास के ज्ञान की साधन-सामग्री भी प्रायः वही है जो इससे पूर्व के बादामी के चालुक्यों के इतिहास की है। हां, अभिलेखों की संख्या कुछ अधिक अवश्य है। इनमें कुछ तो चालुक्यों के ही हैं और कुछ उन राजवंशों के हैं जिनके संपर्क में वे मित्र या शत्रु के रूप में आए। ये लेख संख्या में ही अधिक नहीं हैं अपितु वे पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित भी हैं। इन लेखों में कन्नड़ भाषा को अधिक प्रश्रय दिया गया है। ये प्रायः पत्थरों पर खुदे हैं। ताम्रपट्टों की संख्या बहुत कम है। जहां तक साहित्यिक सामग्री का प्रश्न है विल्हणकृत 'विक्रमांकदेवचरित' नामक संस्कृत के काव्यग्रंथ का विशेषतः उल्लेख आवश्यक है। इसमें चालुक्यों के सबसे यशस्वी राजा विक्रमादित्य षष्ठ के दीर्घकालीन शासन का वर्णन है। यद्यपि यह एक अर्ध ऐतिहासिक ग्रंथ है और इसमें कविसुलभ अत्युक्तियां भरी पड़ी हैं तथापि यह ग्रंथ है महत्वपूर्ण। इसके अतिरिक्त रन्न का 'गदायुद्ध' भी है। यह अपेक्षाकृत एक लघु ग्रंथ है जो कन्नड़ भाषा में लिखा गया है। इसकी रचना इरिवबेदंग सत्याश्रय के शासनकाल में हुई थी। इतिहास की दृष्टि से यह उतना महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है तथापि जहां तक तत्कालीन सामाजिक जीवन का संबंध है, इसका महत्व विल्हण के महाकाव्य से निश्चित रूप से अधिक है। आगे के पृष्ठों में हम इन प्रमाणों का यथास्थान उल्लेख करेंगे।

वंश-परिचय

कल्याणी के चालुक्य बादामी के चालुक्यों से अपना संबंध बतलाते हैं।[1] वे अपने को विक्रमादित्य द्वितीय के एक भाई का वंशज कहते हैं। किंतु इस भाई के संबंध में पहले के किसी अभिलेख में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अगले पृष्ठ पर एक तालिका है जिसमें इनकी वंशावली दी गई है।

इनका गोत्र, कार्तिकेय और अन्य कुछ देवताओं की उपासना, इनके लांछन और अन्य राज्यचिह्नों की प्राप्ति के संबंध में सभी वर्णन प्रायः वही हैं जो बादामी के चालुक्यों के थे। इनमें परिवर्तन नगण्य है। यद्यपि इस वंशावली में राजाओं के औसत राज्यकाल अपेक्षाकृत कुछ अधिक अवश्य हैं, तथापि सिर्फ इसी आधार पर हम इनकी प्रामाणिकता से इनकार नहीं कर सकते। हमारे मानने के लिए यह आधार अवश्य है कि बादामी के चालुक्यों से संबंध की यह कल्पना तब की गई जबकि तैल द्वितीय ने वंश की राजलक्ष्मी की पुनःप्रतिष्ठा कर ली थी। कवि रन्न इनके संबंधों से परिचित अवश्य है तथापि उसने जो वंशावली दी है वह अभिलेखों से कुछ भिन्न ही है। ये अभिलेख किंचित परवर्ती हैं। इसके विपरीत तैल द्वितीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और संभवत: उसके कई पूर्वज भी बीजापुर जिले और उसके इर्दगिर्द के इलाकों में राज्य करते थे जो इस वंश की मूल राजधानी के पास में था और इस वंश के राजकुमारों के विवाह स्वयं राष्ट्रकूटों और चेदि की हैहय राजकुमारियों से होते रहे। उस काल के इन प्रसिद्ध राजघरानों की कन्याओं का पाणिग्रहण यह सिद्ध करता है कि सारी की सारी वंशावली निराधार नहीं है। हां, इसकी संभावना अवश्य है कि इनमें कुछ कड़ियां टूट गई हों।

विजयादित्य (696 से 733-4 ई०)

विक्रमादित्य द्वितीय
(733-34 से 746-47 ई०)

कीर्तिवर्मन द्वितीय
[746-47 से 757 ई० (अनिश्चित)]

भाई जिसका नाम नहीं दिया गया है पर उसे भीम की भांति बलवान कहा गया है।

कीर्तिवर्मन तृतीय

तैल प्रथम

विक्रमादित्य तृतीय

भीमराज

चेदि लक्ष्मणराज

वोंथा देवी से विवाह

अय्यण = कृष्ण की कन्या से विवाह

विक्रमादित्य चतुर्थ

तैल द्वितीय (957 ई० : सर्वप्रथम ज्ञात तिथि)

संदर्भ

1. कौथेम ('इं० ऐं०', xvi, पृ० 15-24); येरूर ('इं० ऐं०', पृ० 11 तथा आगे) और देवणगेरे के अभिलेख ('ए० कं०', xi, द्वि० भा० 1).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस वंश के राजा

तैल प्रथम : वंश का उद्धार

पट्टदकल के एक खंडित अभिलेख में कहा गया है कि तैल महाराजाधिराज देव का एक अन्य नाम पेर्गडे महाराजन भी था। यह तैल का ही उल्लेख हो सकता है।[1] कहा गया है कि अय्यन के कृष्ण की कन्या के विवाह से उसके पिता की श्री का पर्याप्त भाग पति को मिल गया। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि यहां कृष्ण से राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय का ही तात्पर्य है। कृष्ण ने अपनी कन्या के विवाह से चालुक्यों के सामंत-वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाई थी। इसी विवाह से विक्रमादित्य चतुर्थ का जन्म हुआ था। यह विक्रमादित्य वही राजा है जिसका उल्लेख अकालवर्ष, जो निस्संदेह कृष्ण तृतीय था, जिला धारवाड़ के देविहोसूर वाले अभिलेख[2] में हुआ है जिसमें विक्रमादित्य के नाम के साथ चालुक्य सम्राटों की सभी उपाधियां हैं। उसने त्रिपुरी के चेदि-शासक लक्ष्मणसेन की कन्या बोंथा देवी से विवाह किया था। लक्ष्मणसेन कृष्ण तृतीय का मित्र था, तथापि चेदियों से विवाह कर विक्रमादित्य ने अपने वंश की लक्ष्मी के उद्धार और राष्ट्रकूटों के पतन का मार्ग और प्रशस्त कर दिया था। यह विवाह उस समय हुआ होगा जबकि कृष्ण तृतीय दक्षिण में चोलों से लड़ रहा था। चोलों से यह संघर्ष काफी लंबा चला था। कृष्ण तृतीय की आक्रामक नीतियों के कारण भी राष्ट्रकूटों की शक्ति का पर्याप्त क्षय हुआ था। इससे उनके शत्रुओं की संख्या काफी बढ़ गई थी जिससे चालुक्यों को अपना पुराना सपना साकार करने का मौका मिल गया।

तैल द्वितीय

तैल द्वितीय विक्रमादित्य और बोंथादेवी का पुत्र था। सन 957 ई० में और फिर 965 ई० में हम उसे बिजापुर जिले में एक सामंत के रूप में राज्य करते पाते हैं। इनमें पहले अभिलेख में उसे एक 'नाडु' का सामंत कहा गया है जबकि दूसरे अभिलेख में उसे महासामंताधिपति आहवमल तैल परस कहा गया है। उसे चालुक्य राम भी कहा गया है और खचर कुल के एक सामंत को उसके अधीन राज्य करते वर्णन किया गया है। तैल को कृष्ण तृतीय से तर्दवाडि 1000 का जिला 'अणुग-जीवित' (अणुग = रक्षक की जागीर) के रूप में मिला था। दोनों अभिलेखों के बीच के सात-आठ वर्षों[3] में तैल की हैसियत और शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। इसका मुख्य कारण तो निस्संदेह कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारियों की कमजोरी थी। गडग के एक अभिलेख में, जो विक्रमादित्य षष्ठ का है, यह कहा गया है कि चालुक्यों की प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित करने के बाद तैल ने श्रीमुख वर्ष, शक 896 (793-94 ई०)[4] से पच्चीस साल तक पृथ्वी को शांति प्रदान की। इस कथन की पुष्टि सभी अन्य प्रमाणों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी होती है। यह तिथि तल द्वारा राष्ट्रकूटों के उखाड़ फेंकने की है। यह उसकी उस योजना की सफल परिणति की सूचक है जिस पर वह वर्षों से जुटा हुआ था। परिस्थितियां उसके अनुकूल थीं। राष्ट्रकूटों की शक्ति का निरंतर क्षय हो रहा था। इससे तैल की महत्वाकांक्षाएं अंगड़ाइयां ले रही थीं। राष्ट्रकूटों के ह्रास से विदेशी शक्तियां भी ललचाई हुई थीं। राष्ट्रकूटों के राज्य पर ही नहीं, बल्कि उनकी राजधानी पर भी आक्रमण हुआ था। मालवा के परमार राजा सीयक हर्ष और उसके उत्तराधिकारी मुंज ने कृष्ण तृतीय के छोटे भाई खोट्टिग के शासनकाल में मान्यखेट (मालखेड) को लूट लिया था। 972 ई० में कृष्ण की मृत्यु के बाद खोट्टिग का भतीजा कर्क्क द्वितीय राजा हुआ। वह एक कमजोर और अभागा राजा था। उसके गद्दी पर बैठने के प्रायः एक साल बाद ही तैल ने राष्ट्रकूटों पर हमला किया। इस युद्ध में रणकंभ ने कर्क्क की सहायता की। रणकंभ भी राष्ट्रकूट था। इस युद्ध में कर्क्क और रणकंभ दोनों ने वीरगति पाई[5] और चालुक्य प्रभुता पुनः प्रतिष्ठित हो गई। राष्ट्रकूटों में इस समय फूट थी और राष्ट्रकूट वंश के ही राजकुमार तैल के सहायक थे; या फिर चालुक्यों ने दो सौ वर्षों तक कर्नाटक में शासन करनेवाले राष्ट्रकूट वंश में विवाह-संबंध स्थापित कर अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। तैल की पत्नी, जिसका नाम जाकव्वे था[6], किसी भम्मह रट्ट की पुत्री थी।

राष्ट्रकूटों की शक्ति का पूरी तरह से सफाया हो गया। गंगों के राजा मारसिंह ने अपने भांजे, कर्क्क के भतीजे इंद्र चतुर्थ की ओर से कुछ प्रयत्न अवश्य किया, पर उसका कोई फल न निकला। चालुक्य राजादित्य से उच्चंगि के किले के आसपास युद्ध हुआ जिसमें मारसिंह पराजित हुआ।[7] मारसिंह की भी 974 ई० से पूर्व मृत्यु हो गई। इस प्रकार राष्ट्रकूटों की ओर से प्रतिरोध समाप्त हो गया। अब राष्ट्रकूटों के सामंत धीरे-धीरे 'नव स्थापित' चालुक्यों की प्रभुता स्वीकार करने लगे। शिमोगा जिले में सोराव तालुक का सामंत 'शांतिवर्म', जो ब्रह्मक्षत्रिय मातूर वंश का था, पहले राष्ट्रकूट राजा कर्क्कदेव का सामंत था। किंतु कुछ वर्षों के बाद वह आहवमल्ल का सामंत बन गया।[8] पंचालदेव ने जो गंगवंश का एक राजा था, शुरू में तैल का विरोध किया। एक अभिलेख में उसने अपने को 'चालुक्य केसरी' कहा है। यह लेख 975 ई० का है। इस लेख में उसने अपने को उस त्रिभुजाकार क्षेत्र का स्वामी बतलाया है जिसकी उत्तरी भुजा कृष्णा नदी थी और जिसकी अन्य दो भुजाओं के रूप में दोनों समुद्र थे। यह स्पष्ट ही अतिरंजना है।[9] किंतु लगभग इसी वर्ष में हम तैल को शिमोगा जिले में सिखिर नामक स्थान पर एक स्कंधावार में पड़ाव करते पाते हैं।[10] अनेक अभिलेखों में तैल की सफलताओं में पंचालदेव के शिरच्छेद का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मुलगुंड का उपर्युक्त अभिलेख के, जिसमें पंचालदेव के संबंध में उपर्युक्त गर्वोक्ति अंकित है, जारी होने के थोड़े समय बाद ही पंचालदेव युद्ध में मारा गया होगा। बेल्लारी जिले से अनेक ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनसे यह जाहिर होता है कि 976 ई० से पूर्व तैल ने सम्राटों की सभी शानदार उपाधियां धारण कर ली थीं। इनसे प्रकट होता है कि नोलंब पल्लव पूरी तरह से उसके अधीन हो चुके थे। 981 ई० में तैल नोलंब रानी रेवल देवी के कतिपय दानों की पुष्टि करता मिलता है।[11] बनवासि जिले के क्षेत्र में जिन राजाओं ने सबसे पहले तैल की प्रभुता स्वीकार की, उनमें कन्नप भी था। उसके छोटे भाई और उत्तराधिकारी सोभनरस ने भी उसी की नीति का अनुगमन किया। सोभनरस तैल के सबसे अधिक राजभक्त सामंतों में था। युद्ध में उसकी वीरता से प्रसन्न होकर तैल ने उसे 'गिरिदुर्गमल्ल' और 'सामंत चूड़ामणि' की उपाधियों से विभूषित किया था।[12]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बेलगांव जिले में सौंदत्ति के रट्टों ने, जिनका अभ्युदय राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के कारण हुआ था, तुरंत तैल की अधीनता स्वीकार कर ली। दो अभिलेखों में वे चालुक्य वंश के नव-स्थापित साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करते मिलते हैं।[13] ये दोनों अभिलेख 980 ई० के हैं। इनमें से एक अभिलेख कार्तवीर्य प्रथम का है जो सोगल में मिला है और दूसरा महा-सामंत 'शांतिवर्म' का सौंदत्ति अभिलेख है। इनमें 'शांतिवर्म' अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध है। स्वयं बिजापुर के पास बागाडगे शाखा के सिंदों ने पुलिकाल और उसके उत्तराधिकारियों ने नवोदित शक्ति की वंदना की।[14] उत्तर में उत्तरी कोंकण शिलाहार और सेडंड़ देश के यादवों ने स्वेच्छया तैल को अपना प्रभु मान लिया था। 997 ई० का शिलाहार वंश के राजा महामंडलेश्वर अपराजित का एक दानपत्र भदन में मिला है। इस लेख में बड़े खेद के साथ किंतु स्पष्ट ही कक्क के उखाड़ फेंकने का उल्लेख है। यह लेख राष्ट्रकूटों के स्थान पर चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करने का स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करता है।[15] तत्कालीन यादव राजा भिल्लभ द्वितीय का वर्णन हम अभी करेंगे। तैल के सेनापति बारप ने, जिसका दूसरा नाम चालुक्य था, लाट की विजय की। अनहिलवाड के राजा मलराज से बारप के संघर्ष के बारे में कुछ उलझे हुए साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे हमारा कोई सरोकार नहीं है। अतः हम उनपर विचार नहीं करेंगे। इस प्रकार तैल गुजरात को छोड़कर समस्त प्रदेश का स्वामी हो गया था जो राष्ट्रकूट साम्राज्य के 'अंग' थे।

रन्न ने अपने 'गदायुद्ध' नामक काव्य में कोंकण के शिलाहारों और उत्तर के गुर्जरों के विरुद्ध ऐसे युद्धों का वर्णन किया है जिसमें युवराज सत्याश्रय (इरिवबेडंग) ने वीरता प्रदर्शित की थी। तैल के आदेश से युवराज ने कोंकणेश्वर का समुद्र तक पीछा किया था, गुर्जर को जीता था और इस प्रकार पृथ्वी को सुखी किया था।[16] अपराजित शिलाहार के विरुद्ध युद्ध का और विशद वर्णन अन्यत्र उपलब्ध है,[17] तथापि यह प्रमाण भदन के दानपत्र के प्रमाण की पुष्टि करता है जिसका उल्लेख हमने अभी किया है।

तैल के उत्तराधिकारी इरिवबेडंग सत्याश्रय को रट्टपाडि का राजा बताया गया है।[18] चोलों के तत्कालीन अभिलेखों में चालुक्यों के राज्य को 'रट्टपाडि साढ़े सात लाख' कहा गया है। तैल की राजधानी मान्यखेट थी।[19] विल्हण के प्रमाण से अनुमान होता है कि सोमेश्वर प्रथम के राज्यकाल में कल्याणी साम्राज्य का केंद्र बनी।

तैल द्वितीय ने राष्ट्रकूटों का राज्य ही नहीं पाया था बल्कि विदेशनीति के क्षेत्र में उनके शत्रुओं और मित्रों को भी उत्तराधिकार में पाया था। मालवा के परमार और चोल राष्ट्रकूटों के प्रमुख शत्रुओं में थे। हो सकता है कि तैल जब राष्ट्रकूटों का सामंत मात्र था उस समय उसने इन राजाओं के विरुद्ध युद्धों में भाग लिया हो। 980 ई० में भी हम तैल का उल्लेख चोल रूपी शैल के लिए इंद्र के वज्र और लाट रूपी गज के लिए केसरी के रूप में पाते हैं। इस समय तो वह अपनी स्थिति मजबूत करने में लगा हुआ था। लाट गज केसरी की उपाधि में संभवतः बारप की गुजरात विजय की ओर इशारा है। परमारों से उसके संघर्ष का उल्लेख अभिलेखों और साहित्य में भी है। कौथेम के ताम्रपट्टों में (1003 ई०) में लिखा है कि तैल ने उत्पल (मुंज का दूसरा नाम) को, जिसने हूणों, मारवों (मारवाड़ के लोगों) और चेदियों से युद्ध में वीरता प्रदर्शित की थी, बंदी बना लिया था।[20] विक्रमादित्य का गडग अभिलेख इससे काफी बाद का है। इसमें कहा गया है कि तैल ने वीर मुंज को तलवार से मौत के घाट उतार दिया था।[21] शाके 922 (1000 ई०) के यादव भिल्लम द्वितीय के सामगनेर दानपात्र के अनुसार भिल्लम ने युद्धभूमि में लक्ष्मी की भरपूर ताड़ना की थी, क्योंकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने महाराज मजु का साथ दिया था और इस प्रकार उसने उसे 'रणरंगभीम' की साध्वी पत्नी बनने को बाध्य किया था। यह दानपत्र तैल की मृत्यु के थोड़े ही समय बाद का है। जैसा कि कीलहार्न ने बतलाया है, 'रणरंगभीम' आहवमल्ल का पर्यायवाची है जो तैल द्वितीय का नाम था।[22] इस प्रकार यादव जो पहले राष्ट्रकूटों के सामंत थे अब तैल के सामंत ही नहीं बन गए थे बल्कि परमारों के आक्रमणों से उत्तरी सीमा की रक्षा में चालुक्यों के सहायक हो गए थे। इस संबंध में मेरुतुंग की 'प्रबंधचिंतामणि' में भी उल्लेख है।[23] यह ग्रंथ चौदहवीं शती का है। 'प्रबंधचिंतामणि' में सुरक्षित परंपरा के अनुसार तैलप मुंज के राज्य पर बार-बार आक्रमण कर उसे तंग कर रहा था। मुंज ने इसका बदला लेने का निश्चय किया तो उसके महामात्य रुद्रादित्य ने उसे गोदावरी के पार न जाने की चेतावनी दी थी। मुंज ने उसकी चेतावनी की अवहेलना की, क्योंकि इसके पूर्व वह तैलप को छह-छह बार (कतिपय पांडुलिपियों में सोलह बार) हरा चुका था। जब रुद्रादित्य को यह समाचार मिला तो उसने आग में कूदकर आत्महत्या कर ली। तैलप ने छलबल से मुंज की सारी सेना को काट डाला। उसे भी बंदी बना लिया और मूंज से बांध दिया। बंदीगृह में मुंज की निगरानी का भार तैल की बहिन मृणालवती पर था जो एक अधेड़ विधवा थी। मुंज ने उससे संपर्क स्थापित कर लिया था। उसके प्रेमपाश से बंधकर उसने बंदीगृह से निकल भागने की अपनी सारी योजना उसे बता दी। मृणालवती ने उसके साथ दगा की। इसके बाद मुंज को तरह-तरह की यातनाएं दी गईं और अपमानित किया गया। उसे द्वार-द्वार भीख मांगने को बाध्य किया गया और अंत में उसका सिर काट लिया गया।

मेरुतुंग की उस प्रेमकथा के सभी ब्यौरे ऐतिहासिक नहीं हो सकते, किंतु इसका मूल सच है। इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है कि मुंज की मृत्यु दकन के युद्ध में हुई। उसकी मृत्यु का समय 995 ई० के आसपास माना जा सकता है। अमितगति ने अपनी एक रचना 993-94 ई० में मुंज को समर्पित की थी और तैल की मृत्यु 997-98 ई० में हुई थी। 995 ई० की तिथि इन दोनों का मध्य है।[24]

कृष्ण तृतीय के आक्रामक युद्धों के कारण दक्षिण के तमिल-चोल राजाओं और कर्नाटक के राजाओं के बीच शत्रुता गहरी हो गई थी। इस युद्ध में कृष्ण के अनेक सामंतों ने भाग लिया था। जैसा कि हम बतला चुके हैं, उनमें तैलप भी रहा होगा। वेंगि के पूर्वी चालुक्यों में जो राजनीतिक क्रांतियां हुई थीं उनसे यह गुत्थी और भी उलझ गई थी। कृष्ण तृतीय के आक्रमण से चोलों में जो अस्तव्यस्तता आ गई थी उससे राजराज के नेतृत्व में वे संभल गए थे। अब वे बड़ी तेजी से अपने राज्य का चतुर्दिक विस्तार कर रहे थे। 993 ई० से आगे के राजराज के लेखों में गंगवाडि और नोलंबवाडि की विजय का उल्लेख मिलता है। मैसूर में राजराज का 991 ई० का एक अभिलेख मिला है। लगभग इसी वर्ष या उसके तुरंत बाद कोलार का एक गंग अधिकारी दक्षिण अरकाट में एक अक्षयनिधि की स्थापना करता हुआ पाया जाता है। राजराज के इन अभियानों में तैल द्वितीय से उसका संघर्ष अवश्य हुआ होगा। तैल इन प्रदेशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में मानता था। बेल्लारी जिले में कोगलि नामक स्थान पर एक अभिलेख मिला है[25] जिसे 992 ई० के अंत में आहवमल्लदेव (तैल) ने अनंतपुर जिले के रेड्डा नामक स्थान के स्कंधावार से जारी किया था। इस लेख में आहवमल्ल इस बात का दावा करता है कि उसने चोल राजा को युद्ध में पराजित कर उससे युद्ध के 150 हाथी छीन लिए थे। स्वाभाविक ही है कि इस संबंध में चोलों की ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

जाकव्वे से तैल के दो पुत्र हुए थे जिनमें सत्याश्रय बड़ा था। तैल की मृत्यु के बाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

997 ई० में या उसके ठीक बाद वही राजा हुआ। छोटे लड़के को प्रायः दशवर्मन कहते थे। कभी-कभी उसे यशोवर्मन भी कहा गया है। उसकी पत्नी का नाम भाग्यवती था। विक्रमादित्य पंचम की माता वही थी। सत्याश्रय के बाद विक्रमादित्य ही राजा हुआ था। 997 ई० के एक अभिलेख में मैसूर जिले में पेरुमाणडिदेव चालुक्य की पंपादेवी नाम की एक बेटी राज्य करती मिलती है।[26] कहा नहीं जा सकता कि क्या पंपादेवी तैल की पुत्री थी।

सत्याश्रय

तैल ने अभ्युदय की जिस नीति का श्रीगणेश किया था, उसके बेटे सत्याश्रय इरिवबेडंग (जो आक्रमण के समय धंस पड़ते हैं उनमें आश्चर्य) ने उसे जारी रखा। चालुक्यों के प्रधान शत्रु चोल थे। इस समय प्रतापी राजराज के नेतृत्व में वे समूचे दक्षिण भारत और लंका और मालदिवे को धीरे-धीरे अपने अधीन कर रहे थे। सत्याश्रय के गद्दी पर बैठने के पूर्व ही वे गंगवाडि और नोलंबवाडि तक पहुंच चुके थे। रेड्डा में तैल से हुए संघर्ष में चोलों को अपने कुछ हाथियों से हाथ धोना पड़ा था। इस समय दानार्णव के बेटे वेंगि की गद्दी पुनः प्राप्त करने का यत्न कर रहे थे। राजराज उनकी सहायता कर आंध्र में अपनी शक्ति के विस्तार की तैयारी कर रहा था। 999-1000 ई० तक ये अपने काम पूरा कर चुके थे। यह वेंगि की गद्दी पर शक्तिवर्मन के बैठने की तिथि है। इस प्रकार तमिल के राजा ने जो दक्षिण और पूरब की ओर से कर्णाटक को घेरने की कोशिश की उससे सत्याश्रय का रुष्ट होना स्वाभाविक था, क्योंकि अब उसे दो तरफ से शत्रु के आक्रमण का खतरा पैदा हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्याश्रय ने वेंगि की ओर कूच करने की योजना बनाई। वेंगि के सिंहासन पर शक्तिवर्मन थोड़े समय पूर्व ही बैठा था। अभी तक उसे अपनी शक्ति सुदृढ़ करने का पूरा मौका नहीं मिल पाया था। सत्याश्रय के लिए आक्रमण करने के हेतु इससे बेहतर स्थिति नहीं हो सकती थी। घटनाक्रम के बारे में दो अभिलेखों से पता चलता है। इनमें से एक जनवरी, 1005 ई० का है।[27] इसमें सत्याश्रय को श्री पर्वतपर स्कंधावार में पड़ाव करते दिखाया गया है। यह स्थान युद्ध के दोनों मोर्चों के ठीक बीचोंबीच था। दूसरा अभिलेख इसके ठीक बाद का अर्थात शाके 928 (1006 ई०) का है जो गुंटूर जिले के चेब्रोल नामक स्थान से प्राप्त हुआ है।[28] इस तेलुगु अभिलेख में बतलाया गया है कि सत्याश्रय के एक ब्राह्मण सेनापति बयल नंबि ने धन्नड (धान्य-कटक) और येन मंडल के दुर्गों में आग लगाने के बाद इस स्थान पर पड़ाव किया था। चोल राजा ने वेंगि पर चालुक्यों के इस आक्रमण के जबाव में अपने बेटे युवराज राजेंद्र के नेतृत्व में चालुक्यों के गृह-प्रदेश में ही विशाल सेना भेज दी। होट्टूर अभिलेख में (1007-8 ई०) में इसका बड़ा सजीव वर्णन है।[29] 'राजराज को सदा हर्षित करने वाले चोल कुल के भूषण राजेंद्र विद्याधर ने जो सौगुना चोल था 9 लाख की सेना के साथ सीमा पार कर ली और दोनवुर में स्कंधावार किया। समूचे देश को लूटा, स्त्रियों, बालकों और ब्राह्मणों की हत्या की, स्त्रियों को पकड़वा मंगाया और उनका सतीत्व नष्ट कर दिया।' इसमें कोई शक नहीं कि इस वर्णन में काफी प्रचार निहित है या यह कल्पनामात्र है। आखिर प्रचार भी कोई नई कला तो नहीं है। किंतु यह दोनवुर तो बिजापुर जिले का दोनूर ही है। कम से कम चालुक्यों के एक लेख में यह तो स्वीकार किया गया है कि चोल एक बहुत बड़ी सेना लेकर उनके राज्य के हृदय प्रदेश तक चढ़ आए थे और उन्होंने उनकी प्रजा को सताया था। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उस समय सत्याश्रय की हालत खराब थी। इस प्रकार वेंगि का आक्रमण उसके लिए काफी महंगा पड़ा था। इससे चालुक्यों के धन-जन की काफी हानि हुई थी। राजराज के तंजौर के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख में चालुक्यों की लूट से मिले धन का वृहत देवालय को भेंट का उल्लेख है।[30] राजेंद्र के शासन के प्रारंभ के लेखों में इस बात का संकेत मिलता है कि सत्याश्रय के होट्टूर के अभिलेख की सूचना सही है। राजेंद्र के ये लेख होट्टूर के लेख की सूचनाओं के पूरक हैं। इन लेखों में बतलाया गया है कि राजेंद्र ने अपनी प्रबल सेना की सहायता से इडै-तुरै-नाडु (दो आब देश) जंगलों से घिरे बनवासि, सुल्लि की परिखा वाले कोल्लिपाक्कै और असंदिग्ध रूप में दृढ़ मण्णैक्कडक्कम पर अधिकार कर लिया था। इनमें इडै-तुरै-नाडु तो रायचुर दोआब है, बनवासी कदंबों की राजधानी थी ही और कोल्लिपाक्कै हैदराबाद से करीब 45 मील उत्तर पूरब में स्थित आधुनिक कुलपाक है। मण्णैक्कडक्कम संस्कृत अभिलेखों का मान्यखेट अर्थात् आधुनिक मानखेड है जो उस समय चालुक्यों की राजधानी था। इस प्रकार चोलों का यह आक्रमण होट्टूर अभिलेख में वर्णित रूप से कहीं भयंकर था। ऐसा प्रतीत होता है कि इससे चालुक्यों के राज्य का काफी बड़ा भाग और उनके कई नगर, जिनमें उनकी राजधानी भी थी, चोलों के अधिकार में चले गए थे। कुलपाक के निकट जो युद्ध हुआ था, वह पश्चिमी चालुक्यों की उस सेना से हुआ था जो वेंगि के हमले से गृह प्रदेश की रक्षा के लिए वापस बुलाई गई थी। यह प्रदेश इस समय राजेंद्र की सेनाओं से आक्रांत हो गया था। राजेंद्र बनवासि और रायचुर दोआब को जीतकर चालुक्यों की राजधानी की ओर बढ़ रहा था।

सत्याश्रय ने 'अकलंकचरित' की उपाधि धारण की थी। उसकी एक बेटी थी जिसका विवाह नोलंब पल्लव राजा इरिव नोलंबाधिराज से हुआ था। उसको विक्रमादित्य के अलूर अभिलेख[31] में तैल की पौत्री, सत्याश्रय की पुत्री और विक्रमादित्य की छोटी बहिन ('तम्गे') कहा गया है। वस्तुतः वह विक्रमादित्य की चचेरी बहन थी। एक अन्य लेख में उसका नाम महादेवी बतलाया गया है।[32] यद्यपि इस लेख में उसे सत्तिगतणुंगि कहा गया है किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि वह सत्याश्रय की पुत्री थी। कुंदमरस की बात कुछ दूसरी ही है। इसे विक्रमादित्य पंचम और उसके उत्तराधिकारी जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के अभिलेखों में बनवासि 12,000 और संतलिगे 1000 का शासक कहा गया है। उसे प्रायः इरिवबेडंगदेव का पुत्र कहा गया है। यहां 'पुत्र' कहने से यही सिद्ध होता है कि राजा उसे पुत्रवत मानता था। इस सामंत ने सत्याश्रय की बड़ी भक्तिपूर्वक सेवा की थी। उसे 'तिगुलरमारि'[33] (तमिलों की मृत्यु) भी कहा गया है। सत्याश्रय के सामंतों में यह उपाधि सिर्फ उसे ही प्राप्त थी। इससे यही अनुमान होता है कि चोलों ने कर्नाटक पर जो आक्रमण किया था, उस समय उसने युद्ध में सत्याश्रय की बड़ी सहायता की होगी। इतने अभिलेखों में उसका जो संबंध बतलाया गया है, उसे चालुक्य 'प्रशस्ति' भी प्राप्त न थी। न वह सिंहासन पर बैठा और न इनकी वंशावलियों में ही उसका कोई नामोल्लेख है। इसलिए वह सत्याश्रय का पुत्र नहीं हो सकता।[34]

विक्रमादित्य पंचम

सत्याश्रय के बाद 1008 ई० में उसका भतीजा विक्रमादित्य पंचम राजा हुआ। उसने सिर्फ छह या सात साल तक राज्य किया। उसके शासनकाल के अभिलेखों की संख्या बहुत कम है उनमें भी किसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है। इनमें कौथेम के ताम्रपट्ट उसके शासन के प्रारंभ के हैं। इनमें मात्र चार छंदों में पारंपरिक शैली में यही कहा गया है कि वह एक अच्छा राजा था। उसके यश और दानशीलता से आकृष्ट हो अनेक व्यक्ति कुंतल में आ गए थे। 1010 ई० के एक अभिलेख में उसकी बहिन अक्का देवी को किसुकाड 70 की शासिका कहा गया है। उसे लक्ष्मी का अवतार, अनेक दानों का वितरण करने वाली, बुद्धिमती, सत्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सच्चरित्रता की देवी बतलाया गया है।[35] यह इस महान शासिका की दीर्घचर्या का श्रीगणेश है। इस रानी के बारे में विक्रमादित्य पंचम के उत्तराधिकारियों के उल्लेख में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

अय्यन

लगभग 1015 ई० में विक्रमादित्य के बाद उसका छोटा भाई अय्यन और फिर जयसिंह राजा हुए। अय्यन द्वितीय के गद्दी पर बैठने का प्रमाण ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध और बारहवीं शती के वे अभिलेख हैं जिनमें चालुक्यों की वंशावलियों में इसके नाम का उल्लेख है।[36] उसने कुछ सप्ताह से अधिक राज्य न किया होगा। इसका कोई लेख प्राप्त नहीं है। जयसिंह की सबसे पहली तिथि 1015 ई० और सबसे अंतिम तिथि 1042 ई० है।[37]

जयसिंह द्वितीय

जयसिंह के शासनकाल में कई मोर्चों पर युद्ध हुए। मुंज के वध का बदला लेने के लिए परमार राजा भोज ने युद्ध छेड़ा था जिसमें कई वर्षों तक वह सफल रहा था। इस अवधि में संभवतः उसने चालुक्यों के कतिपय उत्तरी इलाकों पर अधिकार भी कर लिया था। 1020 ई० के आसपास भोज ने कोंकण पर विजय और अधिकार के उपलक्ष्य में दो उत्सव मनाए थे।[38] यशोवर्मन के कल्वन ताम्रपट्टों में,[39] जिनपर कोई तिथि नहीं है, कहा गया है कि भोज ने कर्णाट, लाट और कोंकण पर अधिकार किया था। इनमें हम यशोवर्मन को भोज के सामंत के रूप में नासिक जिले में 1500 गांवों की जागीर पर राज्य करते पाते हैं। भोज के 1020 ई० और इसके किंचित बाद के लेखों में[40] उसके द्वारा उन ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख है जो वातापि और मान्यखेट से कर्नाटक में आए थे। दूसरी ओर 1019 ई० के बेलगंवे अभिलेख[41] में जयसिंह को 'नृपति भोज कमलचंद्र' कहा गया है। इसके आगे उसे सप्त मालवों को अधीन करने वाला और चूर्ण करने वाला कहा गया है। बेशक भोज के उपर्युक्त लेखों के संदर्भ में यह अत्युक्ति ही है। 1024 ई० के मीरज के ताम्रपट्टों[42] में यह कहा गया है कि जयसिंह ने कोंकणाधीशों के समस्त प्रदेश छीनकर कोल्लापुर (कोल्हापुर) के पास स्कंधावार में पड़ाव किया था और वहां से वह उत्तरी इलाकों की विजय की योजनाएं बना रहा था। अंततोगत्वा उसने भोज से कोंकण को वापस छीन लिया था। इस अभियान में उसके प्रतापी सेनापति चावनरस ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी क्योंकि उसे सिंगण का शिष्य 'कोंकणधूमकेतु', और पन्नल का विध्वंसक कहा गया है। पन्नल का किला कोंकण में कोल्हापुर से बारह मील उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[43] कदंब के राजा चट्टुग या चट्ट के बारे में कहा गया है कि उसने मालव को भगा दिया था और गौतम गंगे (गोदावरी) के जल का पान किया था। उसने जयसिंह से 'अधीत्यका पाल' की उपाधि अर्जित की थी।[44] संभवतः इस विजय में कुंदमरस का भी हिस्सा था क्योंकि उसके बारे में कहा गया है कि उसने भोज के हाथियों को कुचल दिया था।[45] इसलिए हमारा विश्वास है कि जयसिंह ने वे सभी प्रदेश छीन लिए थे जिन्हें भोज ने उससे छीना था। किंतु हमें उत्तर की उस 'दिग्विजय' के बारे में कुछ भी पता नहीं है जिसकी 1024 ई० में जयसिंह योजनाएं बना रहा था।

जयसिंह के शत्रुओं में सबसे दुर्धर्ष राजेंद्र चोल था। मीरज के ताम्रपट्टों से ज्ञात होता है कि 1024 ई० में जब वह कोल्हापुर के स्कंधावार में उत्तर की दिग्विजय की योजना बना रहा था उससे पूर्व उसने द्रविड़ अर्थात चोल राजा का पीछा कर चालुक्यों के प्रदेश से बाहर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खदेड़ दिया था। इससे पूर्व बेलगंबे के अभिलेख के अनुसार 1010 ई० में ही जयसिंह को राजेंद्र-चोल रूप गज के लिए केसरी के समान कहा गया है। इसके विपरीत राजेंद्र प्रथम की राजकीय 'प्रशस्ति' में उसके शासन के नवें वर्ष अर्थात 1021 ई० में पहली बार जयसिंह के साथ उसके संघर्ष का उल्लेख हुआ है और यह कहा गया है कि मुशंगि में उससे डरकर जयसिंह मैदान छोड़कर छिप गया। इससे उसकी बड़ी बदनामी हुई। इस युद्ध में चालुक्यों का साढ़े सात लाख का बड़ा खजाना राजेंद्र के हाथ लगा और रट्टपडि पर भी उसका अधिकार हो गया। इससे राजेंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। राजेंद्र के तिरुवालंगाडु ताम्रपट्टों के संस्कृत भाग में उसे 'तैल वंश का एकमात्र उत्सादक' कहा गया है। यह तो करीब करीब वही है जो तमिल की उस 'प्रशस्ति' में कहा गया है जिसका जिक्र हमने अभी किया है। इसका अर्थ यही है कि चोलराज राजेंद्र को देखकर रट्ट देश का राजा अपना पूरा खजाना छोड़कर भाग खड़ा हुआ था। इस प्रकार उसका सारा यश जाता रहा था। उसके बाद उसकी सेना भी भाग गई। इस लेख में जयसिंह या मुशंगी के नाम नहीं दिए हैं।[46] अन्य अभिलेखों में दोनों तरफ से उन सेनापतियों के शौर्य का उल्लेख है जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था। पूर्ववर्णित चालुक्य सेनापति चावनरस की उपाधियों में से दो में उसे 'बलयेयपट्टन को चूर्ण करने वाला'[47] और 'विजेवाड के दुर्ग के गर्व को तोड़ने वाला'[48] कहा गया है। इनमें बलयेयपट्टन बलियापटम है। केशवराज के द्वितीय पुत्र माधवराज ने चोलों से युद्ध में एक शक्तिशाली घुड़सवार सेना को संभालकर सिंह (जयसिंह द्वितीय) से प्रशंसा पाई थी।[49] अनंतपुर जिले में कोट्टशिवरम् में तमिल और कन्नड़ के कई छोटे-छोटे लेख मिले हैं जिनमें एक चोल सेनापति की उपाधियां दी हैं। इनमें उसे 'जयसिंह कुलकाल' कहा गया है।[50] यह लेख सन 1022 ई० का है। एक दूसरे लेख में कहा गया है कि जब-जब वेंगि के राजा ने सुना कि चोल राजा ने उक्त सेनापति को आगे बढ़ने का आदेश दिया है तो वह भाग खड़ा हुआ।[51]

इन अभिलेखों के अनुसार 1020-21 ई० में एक भयंकर युद्ध मस्की (मुशंगी) में और गंग और वेंगि प्रदेशों में भी युद्ध हुए थे। इन घटनाओं का सार यही है कि जयसिंह जब गद्दी पर बैठा तो उसने चोलों से वे प्रदेश छीनने के प्रयत्न किए जो सत्याश्रय के शासन काल में उन्होंने चालुक्यों से छीन लिए थे। परिस्थितियां शुरू में उसके अनुकूल रहीं। 1015 से 1020 ई० के बीच चोलराज राजेंद्र दक्षिण में पांड्यों, केरलों और सिंहलों से युद्धों में बुरी तरह से फंसा हुआ था। इस बीच लगभग 1019 ई० में वेंगि के राजा विमलादित्य की मृत्यु हो गई अथवा वह स्वयं गद्दी से हट गया था। जयसिंह ने उसकी गद्दी पर अपने मन के राजा को बैठाने का मौका देखा। वह विमलादित्य के बेटे राजराज को उसके पिता के सिंहासन से वंचित करना चाहता था। राजराज की माता एक चोल राजकुमारी थी। उससे बीस साल पहले चोलों ने वेंगी का सिंहासन उन्हें सौंपा था। इसलिए वे चोलों के प्रति कृतज्ञ थे। प्रारंभ में जयसिंह की योजना काफी सफल रही। उसने रायचुर दोआब को वापस ले लिया, और तुंगभद्रा को पार कर दक्षिण में बेल्लारी जिले तक अपना राज्य फैला लिया।[52] संभवतः उसने गंगवाडि में भी अपने राज्य का विस्तार कर लिया था।[53] चोलों और गंगों की गजवाहिनी को भगाने के लिए कुंदमरस की जो प्रशंसा की गई है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है। उसने राजराज के विरुद्ध वेंगि में जिस राजकुमार का समर्थन किया था उसने चावनरस की सहायता से बेजवाडा के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उसने वेंगि के सिंहासन के वास्तविक हकदार को कम से कम दो-तीन साल तक गद्दी पर विधिवत न बैठने दिया। इस समय जयसिंह का अपने को केसरी और राजेंद्र को गज कहना वाजिब ही था। किंतु जब राजेंद्र ने दक्षिण से फुरसत पाकर इधर अपनी शक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केंद्रित की और एक साथ अपनी दो-दो सेनाएं युद्ध में उतार दीं तो स्थिति एकदम बदल गई। उसने अपनी एक सेना गंगवाडि, नोलंबवाडि और इडैतुरैनाडु (रायचुर दोआब) की दिशा में भेजी थी और दूसरी राजराज को राहत पहुंचाने के लिए वेंगि में भेजी। जयसिंह की सारी सफलताएं धूल में मिल गई। ऐसा प्रतीत होता है कि वेंगी में राजेंद्र की पूर्ण विजय हुई थी। राजराज का प्रतिद्वंद्वी, जो संभवतः विजयादित्य सप्तम था, भाग गया। राजराज ने 1022 ई० में बड़ी शांति से अपना अभिषेक कराया। पश्चिम में मुख्य युद्ध मस्की में हुआ था जो रायचुर दोआब में स्थित है। इससे यही सिद्ध होता है कि जयसिंह तंगभद्रा के पार खदेड़ दिया गया था। चोल और चालुक्य अभिलेखों में इस युद्ध का जिस रूप में वर्णन मिलता है उससे हम युद्ध के अंतिम निर्णय का अनुमान कर सकते हैं। चोल लेखों में कहा गया है कि जयसिंह ने युद्ध में पीठ दिखा दी थी जबकि स्वयं जयसिंह का दावा है कि उसने चोलों को खदेड़ दिया था। संभवतः उसमें विजय तो राजेंद्र की ही हुई थी तथापि वह इसके बाद आगे नहीं बढ़ा। संभवतः दोनों पक्षों ने एक प्रकार से तुंगभद्रा को अपने राज्य की सीमा मान लिया।

मीरज के ताम्रपट्टों में एक चलते ढंग से उत्तर में अभियान की योजना का उल्लेख अवश्य है। किंतु उनमें जयसिंह के शासन के शेष लगभग बीस वर्षों में फिर किसी युद्ध का कोई उल्लेख नहीं आया है। उसके राज्य के विभिन्न भागों से बहुत से लेख मिले हैं। उनमें इसी बात का वर्णन है कि किस प्रकार उसके शासन काल में साहित्य और ललित कलाओं की समृद्धि हुई और जयसिंह और उसके सामंतों ने उनकी श्रीवृद्धि में कितना योगदान दिया। कभी-कभी इन सामंतों में एक छोटे से स्थानीय संघर्ष का उल्लेख अवश्य मिलता है।[54] मैसूर के शिमोगा जिले के शाके 959 (1037 ई०) के एक अभिलेख में बनवासी 12000 और संतलिगे 1000 के शासक आलय्य की अग्रहार कुप्पगद्द के पास मांडलिक कुंदम से एक युद्ध में मृत्यु का उल्लेख है, जहां उसके बेटे जयसिंहदेव ने उसकी स्मृति में एक मंदिर बनवाया था। इस जयसिंह देव की उपाधियों से प्रकट होता है कि उसने मलेपों, वेडर और कुरुंबर के उपद्रवों पर अंकुश लगाया था। जयसिंह की बहन अक्कादेवी को युद्ध में भैरवी की भांति साहसी कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उसकी यह उपाधि कवि-कल्पना मात्र नहीं है तो इस अभिलेख[55] की तिथि, शाके 944 (1022 ई०) से पूर्व उसने स्वयं अनेक युद्धों में भाग लिया होगा। इसके करीब पंद्रह साल बाद हम अक्कादेवी को मयूरवर्मदेव के साथ बनवासी 12000 का शासन करते पाते हैं। मयूरवर्मदेव इसके अतिरिक्त पानुगल 1000 का भी शासक था। यह विश्वास निराधार नहीं है कि मयूरवर्मदेव और अक्कादेवी पति-पत्नी थे और तोयिसरस नाम का इनका एक पुत्र था।[56]

जयसिंह ने अपने को 'जगदेकमल्ल' कहा है। उसकी दो रानियों का पता है (1) सुग्गलदेवी, जिसे हम सन 1029 ई० के एक लेख में पाशुपताचार्य ब्रह्मर्षि पंडित को दान देते पाते हैं।[57] 'बसव पुराण' की एक कथा में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मर्षि और सुग्गल देवी के कारण जयसिंह ने जैन धर्म छोड़कर शैव धर्म अपना लिया था, यह उस तमिल कथा की स्पष्ट नकल है जिसमें यह कहा गया है कि चोल राजकुमारी मंगयर्क्करशि ने ज्ञान संबंदर की सहायता से अपने पति पांड्य राजा नेडुमारन को जैन से शैव बनाया था[58] और (2) देवल-देवी जो नोलंब राजकुमारी थी। संभवतः वह उदयादित्य-देव की बहन थी जैसा कि हम एक अभिलेख से अनुमान करते हैं जिसमें कहा गया है कि देवलदेवी ने अपनी माता नोलंब महादेवी की भस्म गंगा में प्रवाहित कराई थी और उदयादित्य की उपस्थिति में उन ब्राह्मणों को दान दिए थे जो गंगा की यात्रा कर वापस आए थे।[59] जयसिंह की एक बेटी जिसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम हम्मा अथवा आवल्लदेवी था, सेउण के राजा भिल्लभ तृतीय को ब्याही थी। प्रारंभ में वह जयसिंह के विरुद्ध था। संभवत: उस समय उस पर परमार भोज का प्रभाव था। पर बाद में उसने जयसिंह की प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसकी बेटी से विवाह कर लिया था। हम इस भिल्लभ तृतीय को 1025 ई० में अपने पैतृक राज्य पर शासन करते पाते हैं। इसकी राजधानी सिंदिनगर थी। यह स्थान आज नासिक जिले का सिन्नार है।[60]

चालुक्यों की राजधानी अभी तक मान्यखेट में ही थी जो राष्ट्रकूटों का प्रधान नगर था। चोल अभिलेखों में मान्यखेट का वर्णन मिलता है। किंतु वे राजेंद्र प्रथम के शासन के अंत (1044 ई०) तक कल्याणी के बारे में मौन हैं। अन्य उपराजधानियां भी थीं जहां समय-समय पर जयसिंह जाता था। उनके नाम हैं ईतगिरि अर्थात यातगिरि और हैदराबाद राज्य में कोल्लिपाके होट्टलकेरे जो इस समय बेलारी जिले में धण्णायकन केरे के नाम से प्रसिद्ध है, और घट्टदकेरे (1038 ई०)।[61] जयसिंह के शासन के अंतिम समय के एक अभिलेख में कल्याणी का उल्लेख नेलेवीडुस के रूप में हुआ है।[62]

सोमेश्वर

जयसिंह के बाद उसका बेटा सोमेश्वर प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने आहवमल्ल और त्रैलोक्य-मल्ल की उपाधियां धारण की थीं। शाके 964 (1042 ई०) से उसके अभिलेख मिलने लगते हैं।[63] बिल्हण के अनुसार उसने 'कल्याण नगर को बनाया और उसे सजाया जिससे वह दुनिया के सभी नगरों में श्रेष्ठ बन गया।' इसी राजा के शासन काल में चोलों के अभिलेखों में चालुक्यों की राजधानी के रूप में कल्याणी का उल्लेख आने लगता है। इन लेखों में उसे एक प्राचीन नगरी कहा गया है। हम देख चुके हैं कि सोमेश्वर के शासन से पूर्व ही कल्याणी को 'नेलुवीडु' (स्थाई स्कंधावार) कहा गया है। इस प्रकार सोमेश्वर के द्वारा कल्याणी के 'बनाने' का मतलब यह नहीं कि उसने इस नगरी की नींव रखी थी अपितु, उसने इसे अपनी राजधानी बना लिया और नए नए भवनों के निर्माण और अन्य नागरिक सुविधाओं से सुसज्जित किया।[64]

नांदेर (हैदराबाद राज्य)[65] के शाके 969 (1 अप्रैल, 1047 ई०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि सोमेश्वर ने मगध, कलिंग और अंग के शत्रु राजाओं की जानें ले ली थीं, उसने कोंकण के राजाओं पर आक्रमण कर उन्हें अपने पैरों पर गिरने को बाध्य किया था, उद्धृत मालवेश्वर ने स्वयं अपनी राजधानी धारा में अंजलिबद्ध हो उससे याचना की थी, उसने चोल राजा को युद्ध में पराजित किया था और वेंगि और कलिंग के राजाओं को अपनी ओर मिला लिया था। इसी अभिलेख में ब्राह्मण सेनापति नागवर्म का उल्लेख है जिसे राजा का दक्षिण बाहु कहा गया है और निम्नलिखित उपाधियां दी गई हैं; विंध्याधिपतिमल्ल शिरच्छेदन, चक्रकूट-कालकूट, धारावर्षादर्पोत्पाटन और मारसिंहमदमर्दन।

लेख के प्रारंभ में मगध, कलिंग और अंग के राजाओं के वध के उल्लेख को तो हम इतिहास नहीं बल्कि प्रशस्ति मात्र मानते हैं। ध्यान देने की बात है कि छंद के अंतिम अंश में कलिंग का पुन: उल्लेख हुआ है जिसका संदर्भ अधिक विश्वसनीय है। कोंकण में युद्ध, मालवा पर आक्रमण में उसका धारा तक पहुंच जाना और चोलों से संघर्ष चालू रखना, वेंगि और कलिंग को कूटनीति से अपनी ओर मिला लेना, ये सब सोमेश्वर के शासन के प्रारंभिक वर्षों की विशेषताएं हैं। नागवर्म के चरित के वर्णन से हमें इस काल के अन्य युद्धों का आभास हो जाता है जो कोंकण के युद्ध की भांति दूर-दूर के उन अविनीत सामंतों के विरुद्ध अभियान रहे होंगे जो चालुक्य साम्राज्य के साथ एक ढीले सूत्र में बंधे हुए थे। इस युद्धों का कालक्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ठीक ठीक निर्धारित करना कठिन कार्य है।

नागै के एक अभिलेख से (1058 ई०) कोंकण के युद्ध की पुष्टि होती है। इसमें कहा गया है कि कालिदास के पुत्र मधुसूदन ने कोंकण और मालवा में विजय प्राप्त की।[66] ऐसा प्रतीत होता है कि उन अभियानों में कोंकण से धारा तक मधुसूदन की विशेष भूमिका रही थी, जिनमें नागवर्म ने सेउण (यादव) और विंध्य के राजा मल्ल से जो युद्ध किये थे और जिनमें सेउण भाग खड़ा हुआ था तथा मल्ल का सिर नागवर्म द्वारा काट दिया गया था। चालुक्यों और भोज के संघर्ष का, जिसका प्रारंभ जयसिंह के शासन काल में हुआ था यह उत्तरार्ध था। संभवतः कोंकणों, सेउण और विन्ध्य के राजा मल्ल भोज के सहायक थे। यदि यह नहीं तो इतना तो अवश्य था कि वे उसकी प्रमुखता मानते थे। इसी कारण चालुक्य सेनापति ने उन पर आक्रमण किया था। यद्यपि नांदेर के अभिलेख से यह ध्वनित होता है कि भोज ने धारा में ही समर्पण किया था। उपर्युक्त नागै के अभिलेख में कहा गया है कि चालुक्यों ने धारा में आग लगा दी थी और मांडव पर अधिकार कर लिया था। विक्रमादित्य षष्टम के राज्यकाल के येरुर अभिलेख में कहा गया है कि मालवा के राजा ने सुरक्षा और शांति के लिए बारंबार मंडप में शरण ली।[67] इसका मतलब यह हुआ कि वह धारा छोड़कर मांडव में शरण लेने को बाध्य हुआ था। अथवा इसमें कवि ने नगर के नाम मंडप का श्लेष में प्रयोग किया है। बिल्हण की पुस्तक में ऐसे अनेक छंद हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चालुक्यों ने धारा पर आक्रमण किया था और भोज को धारा छोड़कर भागना पड़ा था।[68] किंतु बात संभवतः इससे कुछ अधिक ही हुई थी।[69] नागै के अभिलेख में भी उज्जयिनी के घेरने और उसे जलाने का वर्णन है। जिस छंद में धारा और मांडव के आक्रमण का उल्लेख है उसी छंद में यह वर्णन भी है। किंतु उज्जयिनी का उल्लेख कांची के आक्रमण और चोल का सिर काट लेने के उल्लेख के बाद आया है। अतः यह संभव है कि जब सोमेश्वर चोलों से युद्ध में बुरी तरह फंसा हुआ था तो भोज ने अधीनता का जुआ उतार फेंकने के लिए उसके प्रदेश पर दूसरी बार हमला किया था। 1066 ई० के होट्टूर के एक लेख में महामंडलेश्वर जेमरस को भोज का कालाग्नि कहा है।[70] यह वर्णन किसी उपाधि का सूचक है जो जेमरस को सोमेश्वर के शासन के प्रारंभिक वर्षों के बाद भोज के विरुद्ध किसी युद्ध में पराक्रम प्रदर्शन के फलस्वरूप मिली होगी। येरुर के अभिलेख के जिस जिस छंद में इस युद्ध का वर्णन है उसमें यह भी कहा गया है कि कन्नौज का राजा हिमालय की कंदराओं में चला गया था। किंतु यह अत्युक्ति है। हां, उस काल के अभिलेखों में इस बात की ओर अवश्य इशारा है कि चालुक्य सेनाएं उत्तर में गुर्जरों के राज्य में प्रवेश कर गई थीं। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि सोमेश्वर के सेनापतियों ने नर्मदा के दक्षिण के समस्त प्रदेशों पर सोमेश्वर का अधिकार सुदृढ़ कर दिया था। मालवा पर आक्रमण और धारा पर चढ़ाई भोज को इस बात की सीख देने के लिए थी कि वह दकन की राजधानी में दखलंदाजी का यत्न न करे जैसा कि उसने शुरू में किया था। भोज को कुछ समय के लिए चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। संभवतः चालुक्यों का राज्य पूरब में आधुनिक मध्य प्रदेश के दक्षिणी जिलों से होकर दक्षिण कोसल और कलिंग तक चला गया था।

सेनापति नागवर्म को चक्रकूट के लिए कालकूट और धारावर्षदर्पोत्पाटन कहा गया है। ये उपाधियां उस नागवंशी राजा के विरुद्ध अभियान की सूचना देती हैं जिसकी राजधानी मध्यप्रदेश के आधुनिक 'बस्तर राज्य' में चक्रकूट में थी। आगे हम धारावर्ष और उसके संबंधियों को चालुक्यों की ओर से चोलों के विरुद्ध युद्ध करते पाएंगे। चोलों से लगातार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लड़ाई सोमेश्वर के शासन की विशेषता है। नागवर्म की दूसरी उपाधि 'मारसिंहमदमर्दन' से राजधानी के पास की किसी छोटी मोटी घटना की ओर इशारा है जिसका शमन शीघ्र ही हो गया था। एक अभिलेख में जो नांदेर के लेख से करीब एक साल बाद का है किसी रट्ट सामंत अंक ने दावा किया है कि उसने मारसिंह को हराया था।[71] किसी मारसिंध प्रभु के शाके 971 और 985 (सन 1049 और 1062-63) के अभिलेख भी मिलते हैं जो सोमेश्वर की पत्नी लीलादेवी का पिता था।[72] निश्चय ही यह प्रभु वही है जिसने अंक और नागवर्म का विरोध किया था। अभी तक ऐसा कोई अभिलेख नहीं मिल पाया है जिससे यह बतलाया जा सके कि मारसिंह अपने प्रभु सम्राट से क्यों उलझ पड़ा? किंतु इतना तो स्पष्ट है कि शीघ्र ही उसका दिमाग ठिकाने आ गया था और फिर वह आजीवन शांति से सामंत बना रहा और उसने अपनी बेटी का विवाह भी सम्राट के साथ कर दिया।[73]

सोमेश्वर प्रथम के शासन के प्रायः एक शताब्दी बाद जिन काकतीयों ने प्रसिद्धि प्राप्त की उनका प्रारंभिक उल्लेख सोमेश्वर के अभियानों के सिलसिले में ही मिलता है। इनकी तिथियां तो ज्ञात नहीं क्योंकि ये उल्लेख परवर्ती लेखों में आए हैं और उनमें इनकी तिथियां नहीं दी गई हैं। किंतु इतना स्पष्ट है कि प्रोल प्रथम ने सोमेश्वर के कोंकण और चक्रकूट के अभियानों में और कुछ अन्य छोटे मोटे संघर्षों में भाग लिया था जिनके फलस्वरूप वह वारंगल के आसपास के इलाकों का स्वामी बन गया था। काजीपेट अभिलेख (1090 ई०) में इनके वर्णन हैं। इस लेख में यह भी कहा गया है कि उसकी सेवाओं और अनेक युद्धों में सेनापति के रूप में वीरता के प्रदर्शन से प्रसन्न होकर त्रैलोक्यमल्ल ने उसे अन्मकोंड विषय की जागीर सदा के लिए उसके नाम कर दी थी।[74] इसी अभिलेख में यह भी बतलाया गया है कि प्रोल का पुत्र बेट मालव और चोल रूपी हाथियों के लिए सिंह के समान था। इनमें स्पष्ट ही परमारों और चोलों के विरुद्ध सोमेश्वर के युद्धों का उल्लेख है। अन्य लेखों से भी जिनमें तत्कालीन काकतीय सेनापति बर्म की सफलताओं का वर्णन है यह स्पष्ट हो जाता है बेट उस चालुक्य अभियान में शामिल था जिसमें वे कांचीपुरम् तक पहुंच गए थे। पिललमर्रि के एक अभिलेख में यह कहा गया है कि एक भयंकर युद्ध के बाद वह कांची के द्वार उखाड़ लाया था।[75] इस प्रकार वह चोलों के सम्मान रूपी वृक्ष को उखाड़ने वाला बतलाया गया है। पलंपेट के अभिलेख में भी इसी घटना का और काव्यमय वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ने (बर्म का यही सही नाम था) कांची के द्वार रूपी पर्दे को हटाकर कांचीपुर की विजयवधू को काकतीवल्लभ के सामने प्रस्तुत कर दिया था। ठीक उसी समय उसके वाद्य यंत्रों ने संगीत की ध्वनि की।[76] 'काकतीयवल्लभ' में श्लेष के माध्यम से चालुक्य सम्राट और उसके काकतीय सामंत के बीच मधुर सम्बन्धों का उद्घाटन किया गया है।

नांदेर के अभिलेखों में जिन अन्य बातों का उल्लेख है जैसे युद्ध में चोलों की पराजय और सोमेश्वर का वेंगि और कलिंग को अपनी ओर मिला लेना उससे हम चोलों के साथ उसके संबंध के विषय की ओर आ जाते हैं। इस संबंध में चालुक्यों के अभिलेखों और बिल्हण की अपेक्षा हमें चोल अभिलेखों से अधिक जानकारी प्राप्त होती है। ये अभिलेख दोनों पक्षों के विभिन्न राजाओं के हैं। उनमें इस संघर्ष की अनेक घटनाओं के उल्लेख हैं। कभी बाद के अभिलेखों में घटनाओं के ब्यौरे बढ़ जाते हैं, जब कि चोल अभिलेखों में उन्हीं घटनाओं के दूसरे पक्ष का वर्णन होता है। सबसे अच्छा यह होगा कि चोल अभिलेखों से ही प्रारंभ किया जाए। इनमें घटनाओं का सदा पहला वर्णन होताहै। इनमें चालुक्य अभिलेखों की अपेक्षा पर्याप्त और अधिक निश्चित कथन मिलते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जयसिंह द्वितीय के शासन काल के चालुक्य चोल युद्धों में दो मोर्चे थे, एक मोर्चा पूरब में वेंगि में था और दूसरा पश्चिम में मैसूर प्रदेश और बनवासि, बंबई कर्नाटक और रायचूर दोआब में तुंगभद्रा के पार था। यही स्थिति बराबर रही। 1022 ई० की संधि के अनुसार जब राजराज नरेंद्र वेंगि के सिंहासन पर बैठा तो दोनों पक्षों ने मन ही मन तुंगभद्रा को पश्चिम में अपनी सीमा मान लिया था। इसके बाद करीब दो दशकों तक शांति रही। फिर जयसिंह की मृत्यु हो गई और उसके बाद सोमेश्वर गद्दी पर बैठा। इस अवधि में जैसा कि जयसिंह के बेल्लारी जिले के अभिलेखों[77] से अनुमान होता है उसने तुंगभद्रा के पास के कुछ इलाके हथिया लिए थे। उसके एक नोलंब पल्लव सामंत ने 1032 ई० और 1034 ई० के अभिलेखों में अपने को नोलंबबाड़ी 32,000 और अन्य जिलों का राजा बतलाया है।[78] चोल अभिलेखों में भी कांपिलि में एक चालुक्य महल का उल्लेख है। सोमेश्वर जब गद्दी पर बैठा तो उसने सोचा कि वह चोलो से मोर्चा ले सकता है। इसलिए पहले उसने वेंगि पर हमला किया। राजराज के 1022 ई० में अभिषेक के बाद से वेंगि की स्थिति अच्छी नहीं चल रही थी। राजराज की उसके सौतेले भाई विष्णुवर्धन विजयादित्य से अनबन थी। इससे सोमेश्वर को यह लालच हुआ कि इस इलाके में वह चोलों के आधिपत्य पर चोट कर सकता है। विजयादित्य के पामुलवाक ताम्रपट्ट उसके शासन के दूसरे वर्ष के हैं। इनमें यह कहा गया है कि उसने अपने सौतेले भाई राजराज को बारह साल राज्य करने के बाद गद्दी से उतार दिया था और शाके 952 ई० में (उस तिथि को जो 27 जून 1031 ई० को पड़ी थी) स्वयं सिंहासनारूढ़ हो गया था।[79] निश्चय ही यह विजयादित्य का विद्रोह मात्र था और बाद के सभी अभिलेखों में इसीलिए उसके शासन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उनमें यही लिखा है कि राजराज ने 1022 ई० में अपने अभिषेक के बाद लगातार 40 या 41 वर्षों तक राज्य किया था। इन अभिलेखों में राजराज के शासन के वर्षों में उसके अभिषेक के पूर्व के उन तीन चार वर्षों की गणना नहीं की गई है जबकि पामुलवाक के ताम्रपट्ट में ऐसा किया गया है। विजयादित्य के अभिलेखों की संख्या अत्यल्प है और परवर्ती पूर्वी चालुक्य अभिलेखों में राजराज के शासन का जिस रूप में उल्लेख है उससे यही सिद्ध होता है कि विद्रोह से प्राप्त राज्य का सुख विजयादित्य के लिए अल्पकालिक ही रहा था। किंतु इस बात के प्रमाण हैं कि सोमेश्वर जब गद्दी पर बैठा तो उसके थोड़े समय बाद से ही उसने असंतुष्ट विजयादित्य को चोलों के विरुद्ध मुहरा बनाने की भरपूर कोशिश की थी। विजयादित्य आजीवन सोमेश्वर का मित्र बना रहा। यदि पूर्व में कोई युद्ध रहता तो विजयादित्य वहां उपस्थित रहता अन्यथा वह सोमेश्वर के दरबार में उसका सम्मानित अतिथि बना रहा। सोमेश्वर ने उसे एक विशाल प्रदेश का शासक भी बना दिया था।

राजराज नरेंद्र के कलिदिंडि ताम्रपट्टों[80] और चोल राजा राजाधिराज प्रथम के प्रारंभिक अभिलेखों में युद्ध के प्रथम चरण का पूरा विवरण उपलब्ध है। इसमें कलिदिंडि के ताम्रपट्टों पर कोई तिथि नहीं है किंतु इनमें जो तथ्य वर्णित हैं उनका तालमेल राजाधिराज के प्रारंभिक लेखों में दी गई बातों और चालुक्यों के अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं से पूरी तरह से बैठ जाता है। राजराज के लेख में उन दानों का उल्लेख है जो उसने कलिदिंडि के तीन शैव मंदिरों को दिए थे। कलिदिंडि कृष्णा जिले के कैकलूर तालुक में एक गांव है। ये मंदिर उन तीन सेनापतियों की स्मृति में बनवाए गए थे जिन्हें राजेंद्र चोल ने वेंगि को प्रयाण करने का आदेश दिया था। वे आदेश के पालन के लिए तत्क्षण चल पड़े थे। इनमें से एक ने कर्नाटक की एक बहुत बड़ी सेना से घमासान युद्ध करते हुए अनेक चालुक्य सेनापतियों के साथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीरगति प्राप्त की थी। अभिलेख में इस युद्ध का वर्णन किंचित विस्तार से है और उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि दोनों सेनाओं का बल संतुलित था (समानयुद्धम, समबलत्वच्च)।[81] राजाधिराज ने सबसे पहले अपने शासन के सत्ताइसवें वर्ष (1045 ई०) के एक अभिलेख में चालुक्यों से युद्ध का उल्लेख किया है।[82] इनमें धन्नाड के भयंकर युद्ध का वर्णन है। धन्नाड से धान्यकटक का तात्पर्य है। इस युद्ध में राजाधिराज की सेना ने आहवमल्ल को भी भयभीत कर दिया था। आहवमल्ल के दो सेनापति गंडप्पय और गंगाधर अपनी हस्ति सेनाओं के साथ युद्ध में खेत रहे थे। विक्कि, विजयादित्य, बलवान संगमय्य और अन्य वीर रण छोड़ कर कायरों की भांति भाग खड़े हुए थे। चोलों ने चालुक्यों के बहुत से हाथी और घोड़े छीन लिए थे। इस विजय के बाद चोल कोल्लिपाकै की ओर बढ़ गए जिसे उन लोगों ने भस्मसात कर दिया। पश्चिमी चालुक्यों के अभिलेखों में कुछ ऐसे संकेत हैं जिनको उपर्युक्त कथन के साथ मिलाकर देखने पर घटनाक्रम का सही सही अनुमान किया जा सकता है। शाके 966 (1044 ई०) के नरेयंगल के अभिलेख में महामंडलेश्वर सोभनरस को वेंगिपति कहा गया है। युवराज (युवराजपदवियोलम) की उपाधि धारण कर वह बेल्वोले 300 और पुरिगेरे 300 का शासन करता था।[83] सोमेश्वर के एक दूसरे सामंत ने, जिसका नाम संगन देवरस था, 1045 ई० के एक अभिलेख में कोल्लिपाकेयकावम (कोल्लिपाक के रक्षक) की उपाधि धारण की थी।

सिंहासन पर बैठने के बाद शीघ्र ही सोमेश्वर ने वेंगि में एक विशाल सेना भेजी थी। उसने कुछ समय के लिए उस पर अधिकार भी कर लिया था। इस विजय के उपलक्ष्य में 1044 ई० में युवराज पद के साथ वेंगिनगर-नाथ की उपाधि जोड़ दी गई थी। इस समय तक चोलराज राजेंद्र प्रथम जीवित था। जब उसे इस आक्रमण का समाचार मिला तो उसने उन तीन सेनापतियों को वेंगि की ओर भेज दिया, जिनका कलिदिंडि के ताम्रपट्टों में उल्लेख है। संभवत: कलिदिंडि में या उसके आसपास ही कहीं दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हुई थी जिसमें दोनों सेनाओं के समबल होने के कारण कोई वारा-न्यारा न हो सका। अगले युद्ध में हम दोनों पक्षों के युवराजों को युद्ध के मैदान में पाते हैं। स्पष्ट है कि दोनों पक्षों ने अपनी और सेनाएं वहां बुलाईं। इस प्रकार पहली लड़ाई के बाद दोनों पक्षों ने कुमकें मंगाकर नई व्यूह रचना की और फिर कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर धस्यकटक (गुंटूर जिले में धरणिकोट) में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें राजाधिराज की ऐसी स्पष्ट विजय हुई कि आहवमल्ल सोमेश्वर भी, जो स्वयं वहां उपस्थित न था, युद्ध का समाचार सुनकर भयभीत हो गया। वक्कि और विजयादित्य के बारे में कहा गया है कि वे मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। इनमें बक्कि सोमेश्वर का बेटा विक्रमादित्य था और विजयादित्य राजराज नरेंद्र का सौतेला भाई था जो वेंगि के सिंहासन का दावेदार था किंतु उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता नहीं मिल पाई थी। इस समय वह सोमेश्वर की कठपुतली था। विजयी राजाधिराज चालुक्यों की सेना को वेंगि से पश्चिम में खदेड़ कर कोल्लिपाक्कै (कुलपाक) तक बढ़ गया था। वहां उसका सख्त प्रतिरोध हुआ। फिर वह आगे न बढ़ सका।

युद्ध के द्वितीय चरण का वर्णन राजाधिराज के शासन के उन्तीसवें और तीसवें वर्ष (1047 और 1048 ई०) के अभिलेखों में मिलता है।[84] उत्तर के इस द्वियीय अभियान का नेतृत्व स्वयं चोल सम्राट ने किया था। उसने अनेक छोटे मोटे राजाओं, जैसे गंडरदिनकरन (गंडरादित्य), नारायण, गणपति और सुगंधित मालाओं वाले मधुसूदन को भगा दिया, और एक प्रमाण के अनुसार पकड़ लिया था और कंपिलि में चालुक्यों के राजप्रासाद को ध्वस्त कर दिया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और विक्रम नारायण की सेनाओं को हरा दिया जो एक विशाल हाथी पर सवार होकर आया था और जिसके पीछे उसका पिता था। युद्ध का तृतीय अभियान भी, जैसा कि कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है,[85] संभवतः उसी समय शुरू हो गया था। इसकी सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई बड़ी नदी (कृष्णा) के किनारे पूंडि अथवा पूंडूर में हुई थी। इसमें चालुक्यों की ओर से तेलुगु राजा विच्चय की भूमिका बड़ी महत्व की थी। उसके माता-पिता और अन्य संबंधियों को चोलों ने बंदी बना लिया था। साथ ही अन्य चालुक्य सेनापति और हाथी भी पकड़ लिए गए थे। जब आहवमल्ल ने दया की भीख मांगने के लिए चोल स्कंधावार में अपने दूत भेजे तो उन्हें अपमानित किया गया। उनके शरीर पर 'आहवमल्लघृणित कायर' है लिखवाकर उन्हें बाहर कर दिया गया। पांडूर के नगर को भूमिसात कर दिया गया। उसके खंडहरों को गधों से जुतवाया गया। फिर एक कदन्न वराटिकै के बीज बोए गए। मणंदिपै नगर को जला दिया गया।[86] फिर चोल राजा आगे बढ़ा। उसके पीछे उसकी गजसेना थी। उसके हाथियों ने सिरुतुरै (छोटी नदी) पेरुदुरै (बड़ी नदी) और दैव भीमकसि (देवनदी भीमा) के घाट पर पानी पिया। चालुक्यों के येतगिरि (यादगिरि) में चोलों ने एक विजय स्तंभ, जिस पर उनका राजचिन्ह सिंह अंकित था, स्थापित किया। विजयी चोलों के स्कंधावार में खूब खुशियां मनाई गईं। जिन राजाओं ने अधीनता स्वीकार कर ली थी उन्हें पुरस्कार बांटे गए।[87] फिर शीघ्र ही युद्ध शुरू हो गया। इस बार चोलों ने शत्रु के अनेक सेनापतियों, जैसे नुलुंब, कालिदास, चामुंड, कोम्मय और वल्लवराज, को हराया। गुर्जर राजा का सिर काट लिया। जो उसके शरणागत हो गए उनके प्राण बच गए और उनके राज्य भी उन्हें वापस मिल गए। चालुक्य राजा ने अपने एक प्रधान अधिकारी (पेर्कडै) और दो नायकों के हाथ एक कठोर संदेश भेजा। इन नायकों का चोल स्कंधावार में घोर अपमान किया गया। एक को स्त्रियों के कपड़े पहनने को बाध्य किया गया और दूसरे की पंच शिखाएं छोड़कर सारा सिर मुंडवा दिया गया। इन दोनों के नाम आहवमल्लि और आहवामल्ल रखे गए। इसके बाद कल्याणपुरम के प्राचीन नगर पर हमला कर उसे लूट लिया गया। राजा के महल को गिरा दिया गया। उस नगर में राजाधिराज ने अपना वीराभिषेक कराया और विजयराजेंद्र की उपाधि धारण की। तंजोर जिले में दारसुरम नामक स्थान पर आज भी तत्कालीन चालुक्य शैली में बनी द्वारपाल की एक मूर्ति विद्यमान है जिस पर तमिल में इस आशय का लेख लिखा है उदैयार श्री विजयराजेंद्रदेव द्वारा कल्याणपुरम को भस्म करने के बाद लाया गया द्वारपालक।

चालुक्यों के अभिलेखों में इन युद्धों के बारे में विस्तार से कुछ भी नहीं कहा गया है, सिर्फ इनमें भाग लेने वाले कतिपय सेनापतियों के नाम भर बता दिए गए हैं। कालिदास, गंडरादित्य, मधुसूदन आदि जैसे नाम चोल लेखों में भी आए हैं। तेलुगु राजा विच्चय जिसकी पुंडूर के युद्ध में करारी पराजय हुई थी कोई महत्वपूर्ण चालुक्य सामंत रहा होगा। उसकी राजधानी हैदराबाद राज्य में यादगिरि में थी।[88] यहां हम विक्रमादित्य षष्टम के शासन के प्रारंभ में किसी विज्जन को राज्य करते पाते हैं। सोमेश्वर के बारे में 1047 ई० के एक लेख में[89] कहा गया है कि उसने चोल, लाट, द्राविड, नेपाल और पांचाल को जीता था। इसके सिर्फ तीन साल बाद एक अभिलेख में उसके एक महासामंत अज्जरस को चोल, आंध्र, मगध, कोंकण, मालव, पांचाल और लाट राजाओं का विजेता कहा गया है।[90] पांचाल से गुर्जर-प्रतीहार राज्य का तात्पर्य होगा क्योंकि उसकी राजधानी कन्नौज पंचाल में थी। चालुक्यों की ओर से युद्ध करते एक गुर्जर राजकुमार ने वीरगति पाई थी, यह इस बात का प्रमाण है कि कम से कम कुछ समय के लिए गुर्जर-प्रतीहार राज्य चालुक्यों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के आधिपत्य में अवश्य रहा था। मगध और नेपाल के उल्लेख का खुलासा आसानी से नहीं हो सकता। तथापि, इससे यह सिद्ध होता है कि चोलों से युद्ध के साथ साथ सोमेश्वर दूसरी दिशाओं में अपने साम्राज्य का विस्तार करता जा रहा था। 1049 ई० के एक अभिलेख[91] के अनुसार सोमेश्वर पल्लव-दिग्विजय-गेयडु अर्थात अपनी 'पल्लवों की विजय' के बाद करहाडनाडु के वग्घापुर नामक स्थान पर एक 'नेलेवीडु' में था। इसके बाद के नागै अभिलेख (1058 ई०) के अनुसार सोमेश्वर ने कांची को घेरकर उसमें आग लगा दी थी। बिल्हण ने इसी घटना का और काव्यमय ढंग से उल्लेख किया है। उसने लिखा है सोमेश्वर ने चोल राजा की लक्ष्मी को अपने वश में कर लिया था। उसने उसकी कांची (करधनी) पकड़ कर खींच लिया था।[92] 1059-60 में सोमेश्वर का एक तेलुगु चोड सामंत चिद्दन्न चोड महाराज सिंदवाडि पर शासन करता था। उसने कांची को ध्वस्त करने वाले महाराज की उपाधि धारण की थी। इस अभिलेख में सोमेश्वर के उस अभियान का भी उल्लेख है जो उसने कुछ साल पहले दक्षिण दिशा में किया गया था।[93] उपर्युक्त पांचाल शब्द की भांति 'पल्लव-दिग्विजय' में आए पल्लव शब्द से आशय उस प्रदेश से है जो कभी पल्लवों के अधीन रहा होगा। यदि यह सही है तब तो सोमेश्वर ने शत्रु के हृदय-प्रदेश पर हमला किया था। उसने यह हमला अपनी युद्धरत सेनाओं के पीछे से किया होगा। इससे उसने अपने शत्रुओं को पीछे लौटने को बाध्य किया होगा जो उस समय उसके प्रदेशों को रौंद रहे थे। यह कल्याणपुरम पर हमले का मुंहतोड़ उत्तर भी था। 1050 ई० के धारवाड़ जिले के सूडि के एक अभिलेख में चोल आक्रमण के कारण इस नगर के शासन के अस्तव्यस्त हो जाने का उल्लेख है—चोलिकर प्रघट्टदिम केट्ट।[94] इसी लेख में प्रशासन की पुन: स्थापना का भी उल्लेख है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय तक चोलों को वहां से निकाल कर बाहर कर दिया गया था।

किंतु चोल युद्ध में यह विराम अधिक समय तक नहीं चल सका। राजाधिराज चोल और उसके भाई ने नए सिरे से आक्रमण कर संघर्ष छेड़ दिया। यह अभियान राजाधिराज के शासन के अंतिम चरण में प्रारंभ हुआ। उसकी युद्ध भूमि में ही मृत्यु हो गई। उसके बाद भी कुछ समय तक युद्ध चला। इसके ब्यौरे राजेंद्र के लेखों में मिलते हैं।[95] इस युद्ध की प्रमुख घटना अर्थात कोप्पम के युद्ध का एक संक्षिप्त उल्लेख पहली बार राजेंद्र द्वितीय के दूसरे शासन वर्ष के एक लेख में आया है। यह घटना 1054 ई० की है। राजाधिराज के अंतिम लेख उसके शासन के छत्तीसवें वर्ष, अर्थात 1054 ई० के ही हैं। इस प्रकार युद्ध इसी वर्ष हुआ था। अभियान की शुरुआत इससे कुछ ही पहले चोल प्रदेश से हुई होगी।

चोल राजा युद्ध का बहाना खोज रहा था। उसने रट्टमंडलम पर हमला कर उसे तहस-नहस करना प्रारंभ कर दिया। उसने उसकी नदियों को दूषित किया नगरों और गांवों को भूमिसात कर दिया। अभिमानी आहवमल्ल ने जब यह सुना तो वह क्रोध से पागल हो गया। अपनी सेनाएं लेकर वह भी मैदान में आ गया। दोनों सेनाओं में कोप्पम में लड़ाई हुई। यह बड़ी नदी (कृष्णा) पर एक बड़ा मनोरम स्थान है। युद्ध काफी समय तक चला और बड़ा भयंकर हुआ। दोनों सेनाएं बड़ी वीरता से लड़ीं। प्रारंभ में राजाधिराज स्वयं अपनी सेनाओं का नेतृत्व कर रहा था। उसका भाई सुरक्षित सेनाओं का नायक था। चालुक्य सेनाओं ने उस हाथी को ही अपना लक्ष्य बनाया जिसपर राजाधिराज सवार था। राजाधिराज बुरी तरह घायल हुआ और 'स्वर्गवासी हुआ जहां इन्द्रलोक की रमणियों ने उसका स्वागत किया है।' फिर कुंतल की विशाल सेना चोलों पर टूट पड़ी। वे हमले को सहन न कर सके और छिन्न-भिन्न हो भागने लगे। तब राजेंद्रदेव मैदान में आया। भागते हुए सैनिकों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को उसने ललकार कर कहा 'डरो नहीं'। फिर अपने हाथी पर आरूढ़ हो साक्षात यम की भांति वह कर्नाटक की सेनाओं में घुस गया। उसने पराजय को विजय में परिणत कर दिया। फिर शत्रु ने राजा के हाथी को ही लक्ष्य बनाकर युद्ध किया। 'उसने बाण-वर्षा कर राजेंद्र के हाथी का मस्तक छेद दिया। राजेंद्र की जंघाए भी विंध गईं और पर्वत की भांति उसके कंधों में भी बाण घुस गए।' राजा के साथ हाथी पर जो अन्य योद्धा सवार थे उन्होंने वीरगति पाई। किंतु राजेंद्र अपने भाई से अधिक भाग्यशाली निकला। उसने अनेक चालुक्य सेनापतियों को मौत के घाट उतार दिया। चालुक्य राजा का भाई जयसिंह पुलकेशिन, दशपनमन और नन्नि नुलुवंन युद्ध में काम आए। अंततोगत्वा चालुक्य राजा की हार हुई। अस्तव्यस्तता की स्थिति में वह भाग निकला। उसके साथ उसके भाई, कई सेनापति जैसे वन्नियरेवन, तुत्तन और कुंदमयन भी भाग गए। चालुक्यों के बहुत से हाथी, घोड़े, ऊंट, विजयी वराहध्वज और अन्य राज चिह्न अनद्यागि सतियव्वै, सांगप्पै, और अन्य रानियां तथा अनेक स्त्रियां और बहुत सा धन जो आहवमल्ल छोड़ गया था, राजेंद्र के हाथ लगा। फिर राजेंद्र ने वह काम किया जो तब तक किसी राजा ने नहीं किया था। उसके घाव अभी भरे भी न थे पर उसने युद्ध क्षेत्र में ही अपना अभिषेक कराया। अन्य अभिलेखों[96] के अनुसार फिर वह कोल्लापुर की ओर बढ़ गया। अपनी राजधानी गंगापुरी को वापस लौटने से पूर्व उसने वहां एक जय-स्तंभ की स्थापना की। चोल अभिलेखों में कोप्पम् के युद्ध का ऐसा ही वर्णन मिलता है।

वह युद्ध ठीक कहां हुआ था इस संबंध में किंचित विवाद है, किंतु पूरे घटना-प्रवाह को देखते हुए अधिक संभव यही है कि यह कोप्पम हिरे-हल्ल (बड़ी नदी) के बाएं किनारे पर स्थित कोप्बल है। हिरे-हल्ल तुंगभद्रा की एक सहायक नदी है।[97] यह युद्ध चालुक्य चोल संबंधों के सबसे महत्वपूर्ण चरण का द्योतक है। इस प्रकार यह युद्ध भी दकन के चालकस्थान (काकपिट) रायचुर दोआब में ही लड़ा गया था।

चोलों के आक्रमण और उसमें राजाधिराज की मृत्यु का स्पष्ट उल्लेख 1071 ई० के कतिपय चालुक्य अभिलेखों में मिलता है।[98] यद्यपि ये लेख किंचित बाद के हैं पर इनमें चोल राजा की काफी निंदा की गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सोमेश्वर के लेखों में इसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया है। इन अभिलेखों में कहा गया है कि दुष्ट चोल राजा ने कुमार्ग नेले गेट्टु) ग्रहण कर अपने कुल के पुराने धर्म का परित्याग कर दिया था। वह बेलवोल प्रदेश में घुस गया था। उसने बहुत से मंदिरों में, यहां तक कि पेर्माणदि द्वारा निर्मित जिनालय में भी आग लगा दी, उसके कुकर्मों का उसे तुरत फल मिला। युद्ध में वह मारा गया। उसका कटा सिर आहवमल्ल को मिला। उसका वंश ही समाप्त हो गया। इसमें इस बात की ओर इशारा है कि वह निपूता मरा था, जिससे उसके बाद कुलोत्तुंग प्रथम राजा हुआ। लेखों में यह भी कहा है कि 'महापातक' पांड्यचोल नामक तमिल राजा ने स्वयं को बरबाद किया और अपने महापाप के कारण रसातल को चला गया। सन 1058 ई० के नागै अभिलेखों में कहा गया है कि कालिदास और रेव्वनव्वे के पुत्र बाछिराज ने अपने स्वामी को सार्वभौम पद दिलाया और फिर तत्काल बतलाया गया है कि जंगली और निर्दयी शत्रु को जिसने कुंतलेश का मुकाबला किया था युद्ध में मारकर वह उसका सिर काट लाया था।[99] यद्यपि चोल राजा का नाम नहीं दिया गया है तथापि यहां उसी घटना का उल्लेख है जिसका वर्णन चोल अभिलेखों के आधार पर हमने किया है। माररस (1062 ई०) की राजाधिराज चोलंगोंड की उपाधि और अण्णिगेरे के मंदिर का 'चोलंगोंड त्रैपुरुषदेव मंदिर' नाम सोमेश्वर के शासन के लेखों में मिलना इसी घटना की याद दिलाता है।[100]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोमेश्वर चोलों से निरंतर युद्ध में व्यस्त रहा, तथापि 1055 ई० के आस पास धारा के भोज की मृत्यु हो जाने के बाद उसका ध्यान पुनः 'मालवा' की ओर गया। परमारों की नागपुर प्रशस्ति में भोज की मृत्यु और उदयादित्य के गद्दी पर बैठने के उल्लेख के ठीक बाद यह कहा गया है कि 'राजाओं से त्रस्त और कर्ण द्वारा ग्रहीत पृथ्वी का उसने उद्धार किया था। कर्ण के सहायक कर्णाट थे जो महोदधि के तुल्य थे। इस प्रकार इस राजा ने सचमुच वाराहदेव का कार्य किया था।'[101] कुछ अभिलेख ऐसे भी हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि भोज की मृत्यु के बाद 'मालवा' में उसके किसी रिश्तेदार जयसिंह नामक एक राजा ने राज्य किया था। स्पष्ट ही वह 1055 से 1059 ई० के बीच राजा रहा।[102] उदयादित्य की सबसे पुरानी ज्ञात तिथि (छंद 11 से 16)[103] जयसिंह के शासन के अंत के ठीक बाद पड़ती है। इन तथ्यों के प्रकाश में और नागपुर की प्रशस्ति में जयसिंह के नाम का उल्लेख न होने के कारण हम यह अनुमान कर सकते हैं कि जयसिंह ने कर्ण और कर्णाटों की सहायता या तो मालव सिंहासन प्राप्त करने के लिए ली थी अथवा उदयादित्य के आक्रमण के मुकाबले के लिए उसने इनकी सहायता प्राप्त की थी। जयसिंह को कुछ समय तक सफलता भी मिली थी। यह कर्ण तो निस्संदेह गांगेयदेव विक्रमादित्य का बेटा दाहल का हैहय राजा था। उसने 1040 से 1070 ई० तक राज्य किया था। कर्णाटों से तात्पर्य सोमेश्वर प्रथम के समय के चालुक्यों से है। अपने पिता के शासन काल में विक्रमादित्य ने जो सफलताएं पाई थीं उसमें बिल्हण उसके द्वारा मालवा के राजा को दी गई सहायता का भी उल्लेख करता है। बिल्हण के अनुसार मालवा के राजा ने उससे रक्षा की प्रार्थना की थी। विक्रमादित्य ने उसके शत्रुओं से उसके राज्य को छीन कर उसे दिया था।[104] इसमें उस सहायता का ही उल्लेख है जो चालुक्यों ने जयसिंह को प्रदान की थी। किंतु उनकी यह मदद चिरकाल तक उसके काम न आ सकी, क्योंकि दक्षिण में चोलों से युद्ध फिर से भड़क उठा था जिसमें चालुक्य फंसे रहे और फिर वे जयसिंह की सहायता न कर सके। बिल्हण ने यह भी कहा है कि सोमेश्वर ने दाहल के राजा कर्ण की शक्ति चूर-चूर कर दी थी।[105] बिल्हण का यह कथन अत्युक्ति ही है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि चेदि और चालुक्य सम्राटों में अनबन मालवा के प्रश्न पर उन दोनों के द्वारा जयसिंह को दिए सहयोग से पूर्व की बात है अथवा उसके बाद की।

आहवमल्ल कोप्पम के युद्ध के निर्णय को स्वीकार करने को प्रस्तुत न था। यद्यपि इस युद्ध में राजाधिराज मारा गया था तथापि सैनिक दृष्टि से तो चालुक्यों की पराजय ही हुई थी। और इससे उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा धूल में मिल गई थी। सोमेश्वर ने इसके उद्धार के लिए जो योजना बनाई उसके दो भाग थे। पहले उसने यदि संभव हो तो किसी प्रकार वेंगी को अपनी ओर मिला लेने का अन्यथा वेंगि पर विजयादित्य के दावे का समर्थन कर अप्रत्यक्ष रूप से उसपर अधिकार करने का निश्चय किया। उसका दूसरा उद्देश्य 1054 ई० में हुई कोप्पम की हार का बदला लेना था। 1049ई० के एक लेख और 1053 ई० के सोमेश्वर के मुलगुंड के अभिलेख[106] में उसने अपने बेटे सोमेश्वरदेव को वेंगिपुरवरेश्वर की उपाधि दी है। इससे यह पता चलता है कि सोभनरस ने युवराज पद के साथ इससे पहले जो यह उपाधि ग्रहण की थी वह स्वयं युवराज को 1049 ई० में मिली थी। इससे वेंगि के प्रति उसकी नीयत का पता लगता है। इसके छः साल बाद 1055 में अर्थात कोप्पम के युद्ध के एक साल बाद वेंगि के हृद्प्रदेश में स्थित द्राक्षाराम में नारायण भट्ट की पुत्री और त्रैलोक्यमल्ल देव की प्रधानि ने कुप्पम के मंदिर में एक दीपक जलाने के लिए अक्षयनिधि दान दी थी।[107] जिसका एक लेख में उल्लेख है। इनके कुछ साल बाद अर्थात 1062 ई० से अनेक लेख मिलने लगते हैं जिनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विष्णुवर्धन विजयादित्य का उल्लेख सोमेश्वर के एक सामंत के रूप में आता है। उसमें उसकी उपाधि वेंगीमहामंडलेश्वर, वेंगीनाथ है।[108] तथ्य यह है कि उस अभियान के बाद, जिसमें कलिदिंडि और धान्यकटक की लड़ाइयां हुई थीं और सेनाएं कोल्लिपाकै तक पहुंच गई थी, चोल राजा अन्यत्र इतने व्यस्त हो गए कि वे वेंगी की ओर ध्यान न दे सके। राजेंद्र प्रथम की मृत्यु के बाद उसके दोनों पुत्रों राजाधिराज और राजेंद्र के लिए राजराज की सहायता करना असंभव हो गया था। राजेंद्र उसको सचमुच मदद करना चाहता था, जैसाकि उसके छोटे भाई वीरराजेंद्र के लेखों से पता चलता है। वह कुछ कर न सका। राजराज अपने शासन के बत्तीसवें वर्ष अर्थात लगभग 1051 ई० में वेंगी में था और सिंहासनारूढ़ था, जैसा कि उसके नंदमपुंडि दानपत्र से विदित होता है। इस बीच उसके सोमेश्वर से कैसे संबंध थे यह बतलाना आसान नहीं है। यद्यपि संभावना यही है कि वह सोमेश्वर की प्रभुता स्वीकार करने को बाध्य हुआ था और सोमेश्वर के कर्मचारियों का वह स्वागत करता था। सोमेश्वर भी इतने से संतुष्ट हो गया होगा क्योंकि उसके लिए वेंगी के सिंहासन से राजराज को हटाकर विजयादित्य को उस पर बिठाना कोई आसान काम न था। उसने इसके बदले विजयादित्य को अपने साम्राज्य में अन्यत्र सम्मानजनक पद दे दिया। 1049 ई० और 1050 ई० में राजराज ने तिरुवैयारु के मंदिर में स्वर्ण का दान दिया था।[109] यह कहना कठिन है कि कहीं राजराज दक्षिण में राजाधिराज से सहायता की याचना करने तो नहीं गया था। यदि यह सही हो तो उसकी यह यात्रा तत्काल फलवती नहीं हुई क्योंकि उस समय राजाधिराज का ध्यान पश्चिम में केंद्रित था। वह उस समय उस अभियान की तैयारी कर रहा था जिसमें कोप्पम का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। यह भी हो सकता है कि यह अभियान राजराज की यात्रा के फलस्वरूप हुआ था। पश्चिमी चालुक्यों के अधिकारियों के दबाव से राजराज को राहत देने का यह उत्तम उपाय था कि उन्हें अपने गृह प्रदेश की रक्षा में ही उलझा दिया जाय। यदि कोप्पम के युद्ध का मूल कारण यह रहा हो तब तो यही मानना पड़ेगा कि यह उद्देश्य कतई पूरा नहीं हुआ। राजराज को अपने बलबूते पर ही सोमेश्वर के प्रतिनिधियों से शांति स्थापित करनी पड़ी।

अब हम पुनः पश्चिम की ओर दृष्टि डालेंगे। कोप्पम के अपमान का बदला लेने के लिए आहवमल्ल ने एक बहुत बड़ी सेना दंडनायक वालादेव और अन्य सेनापतियों के साथ भेजी। मुडक्कारू (घुमड़ती नदी) के तट पर युद्ध हुआ। चोल अभिलेखों के अनुसार इसका नतीजा भी वही हुआ जो कोप्पम के युद्ध का था। राजेंद्रदेव के अभिलेख[110] (1061 ई०) में कहा गया है कि दंडनायक और उसके अन्य सहायक मारे गए। चोल सेनाओं का दबाव बर्दाश्त न कर चालुक्य इरुगैयन और सेनापति अपने राजा और अभिमानी विक्कलन के साथ मैदान छोड़ गए संभवतः राजेंद्रदेव, उसका बेटा राजमहेंद्र और उसका भाई वीरराजेंद्र भी इस युद्ध में शामिल हुए थे। उनके अभिलेखों से इस युद्ध के बारे में कुछ अन्य बातें भी ज्ञात होती हैं। राजमहेंद्र के अभिलेख (1062 ई०) में कहा गया है कि मुडक्कारू के युद्ध में एक हाथी से उसने आहवमल्ल को युद्ध क्षेत्र से भगा दिया और जयसिंह की सेना को उसकी सेना ने हरा दिया। वीर राजेंद्र के शासन के दूसरे (1064 ई०) और उसके बाद के वर्षों के अभिलेखों[112] में कूडल शंगमम् के युद्ध और उसके पूर्व की कतिपय घटनाओं का पता चलता है जिनमें इस राजा ने प्रमुख रूप से भाग लिया था। इन घटनाओं का कहीं वर्णन नहीं है। किंतु अभियान का घटनाक्रम उसकी संभावित तिथि तथा चालुक्य सेनापतियों को विभिन्न उपाधियों से यह बात निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाती है कि कूडल शंगमम् मुडक्कारू का ही दूसरा नाम है। वस्तुतः वीर राजेंद्र के एक अभिलेख में कूडल शंगमम् का उल्लेख न होकर मुडक्कारू का ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लख है।[113] इससे भी इस निष्कर्ष पर मुहर लग जाती है।

कूडलशंगमम् के युद्ध के पूर्व का वर्णन चोल अभिलेखों[114] में इस प्रकार हुआ है: वीरराजेंद्र ने गंगपाडि के युद्ध क्षेत्र में आगे बढ़कर युद्ध किया। उसने महासामंतों को, जिनके हाथों में क्रूर धनुष थे और विक्कलन को जो आगे आगे युद्ध कर रहा था तुंगभद्रा में खदेड़ दिया। उसने उस दुर्घर्ष, महान और शक्तिशाली सेना पर आक्रमण कर नष्ट कर दिया जिसे विक्कलन ने पुनः वेंगिनाडु में भेजा था। उसने महादंडनायकन चामुंडराज से भी युद्ध किया और उसका सिर काट लिया और चामुंडराज की इकलौती बेटी नागलै की नाक काट ली। नागलै इरुगैयन की पत्नी थी। वह मयूरी सी सुंदर थी।" यहां हमें दो अलग अलग किंतु एक दूसरी से प्रायः संबद्ध घटनाओं का वर्णन मिलता है। विक्रमादित्य को गंगवाड़ी से तुंगभद्रातट तक खदेड़ देना और एक पश्चिमी चालुक्य सेना की वेंगी में पराजय; संभवतः गंगवाडि का अभियान मुडक्काग (कूडल शंगमम्) के युद्ध की भूमिका थी। इनका प्रथम उल्लेख 1061 ई० में हुआ है। सूडि (जिला धारवाड़) से प्राप्त 1061 ई० के एक लेख[115] में बतलाया गया है सोमेश्वर उस समय दक्षिण में दिग्विजय कर और चोल को जीतकर सिंदवाड़ी में पुलियप्पणवोडु में पड़ाव कर रहा था। विक्रमादित्य का गंगवाडि के बाहर तक पीछा करने का मतलब यह हुआ कि कोप्पन की पराजय का बदला लेने में सोमेश्वर किस सीमा तक सफल हुआ। वेंगी में लड़ाई का कारण स्पष्ट नहीं है। किंतु युद्ध भयंकर और नृशंसतापूर्ण रहा। चालुक्य सेनापति चामुंडराय की मृत्यु हुई। इसकी पुत्री का बेरहमी से अंगभंग किया गया। संभवतः चालुक्यों ने राजराज की मृत्यु के बाद विजयादित्य की मदद के लिए वेंगी में सेना भेजी थी। बतलाया गया है कि विजयादित्य ने बलात सिंहासन छीनकर अपने बेटे शक्तिवर्मन को सौंप दिया था। यह शक्तिवर्मन भी चालुक्यों की ओर से वीरराजेंद्र के साथ गंगवाडि के युद्ध में काम आया। पश्चिम चालुक्यों के उन अभिलेखों से जिनमें चामुंडराज का उल्लेख है ऐसा ज्ञात होता है कि वीरराजेंद्र का वेंगी का यह अभियान कूडल-शंगमम् के बाद का है। किंतु इस अभियान का कोई नतीजा नहीं निकला। यह कूडल शंगमम् के मुख्य युद्ध से ध्यान बंटाने के लिए हुआ था। घटनाक्रम को ध्यान में रखते हुए अधिक संभव यही है कि यह कूडल शंगमम् मैसूर प्रदेश में तुंगा और भद्रा के संगम पर कडलै नामक स्थान है।[116] इस युद्ध में दोनों ओर के राजा और उनके निकट संबंधी लड़े थे। इसका काफी विशद वर्णन वीरराजेंद्र के अभिलेखों में मिलता है। इनमें तीसरी बार वीरराजेंद्र की चालुक्य सेना से मुठभेड़ हुई थी। यह युद्ध गंगवाडि और वेंगी में उपर्युक्त अभियान से बाद की घटना है।[117] इस बार भी दोनों पक्ष अपनी अपनी विजय का दावा करते हैं। तथापि, इसके ब्यौरे के बारे में चालुक्य लेखों का मौन धारण करना और चोल अभिलेखों का स्वर यही बतलाता है कि इस बार भी सैनिक दृष्टि से चोलों को ही सफलता मिली थी। चालुक्यों की ओर से उनके राजा आहवमल्ल के अतिरिक्त उसके बेटे—विक्रमादित्य (विक्कलन) और जयसिंह (सिंगणन), वणस कुल के यशस्वी सेनापति कालिदास के दोनों के बेटे केशव और मधुवर्णन (मधुसूदन) भी लड़े थे। किंतु राजनीतिक दृष्टि से चोलों को इसका लाभ नगण्य रहा। इसके बाद ही राजेंद्र की मृत्यु हो गई। इसलिए वीरराजेंद्र ने अपनी राजधानी को लौट जाने का निश्चय कर लिया होगा।

इससे आगे युद्ध की प्रगति के लिए हमें वीरराजेंद्र के शासन के परवर्ती अभिलेखों की सहायता लेनी होगी। उसी काल के चालुक्य लेखों में इनके ऐसे वर्णन हैं मानो वास्तविकता से कतराने की कोशिश की गई है। वीरराजेंद्र के शासन के पांचवें वर्ष (1067-8 ई०) के पांच अभिलेखों[118] में कहा गया है कि उसने 'फिर दूसरी बार निश्चित रण-क्षेत्र में आहवमल्ल को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रस्त किया। वेंगिनाडु पर अधिकार कर अपने बड़े भाई की प्रतीज्ञा पूरी की। ऐसे अभिलेख प्राप्त हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विष्णुवर्धन विजयादित्य दक्षिण के अभियान पर निकला था तथा 1063 ई० और 1065 ई० में उसने शिमोगा जिले के मुदुक्केरे में और अरसिकेरे में अपना स्कंधावार लगाया था।[119] यह अभियान वीरराजेंद्र के अभिलेखों में उल्लिखित पूर्वोक्त सुनियोजित दूसरी लड़ाई से असंबद्ध नहीं प्रतीत होता। उसी राजा के पांचवें वर्ष के मणिमंगलम् अभिलेख में इस मुठभेड़ के विस्तृत ब्यौरे उपलब्ध हैं। फिर कहानी के अगले चरण का उल्लेख है।[120] इस युद्ध में जिन सेनापतियों ने वीरगति पाई उनके नाम विशेषतः उल्लिखित हैं, वे थे—मल्लियणन मंजिप्पयन, पिरमदेवन, अशोकैयन, शत्तियणन, पत्तियणन, वीमयन और वंगरन। इनके अलावा गंग, नुलुंब, काडव और वैदुंब राजा भी इस युद्ध में खेत रहे। लेख में कहा गया है कि इन मृत सेनापतियों के सिर काट लिए गए थे जो गंगैकोंडचोलपुरम की दीवारों पर लटका दिए गए थे। इस पर चालुक्य राजा ने, यह सोचकर कि ऐसे अपमान से तो मृत्यु भली, यह पत्र (औलै) भेजा कि कूडल के ही रणक्षेत्र में जहां इससे पहले वह अपने पुत्रों के साथ पराजित होकर भागा था, अगली शक्तिपरीक्षा होगी। इस मैदान में जो नहीं आएगा, उसे राजा नहीं माना जाएगा। उसे युद्ध से भय खाने वाला कायर माना जाएगा। यह पत्र गंगाकेट्ट नामक संदेशवाहक के हाथ भेजा गया था। जब वह वीरराजेंद्र के दरबार में पहुंचा और उसने यह पत्र दिया तो चोल राजा की प्रसन्नता द्विगुणित हो गई। फिर वह निश्चित रणक्षेत्र में पहुंचा किंतु वल्लभ (चालुक्य राजा) नहीं आया। चोल राजा ने कूडल में निश्चित तिथि के बाद भी एक महीने तक उसकी प्रतीक्षा की। फिर जब चालुक्य भागकर पश्चिमी समुद्र तट पर जा छिपा और उसके तीन सेनापतियों देवनाथ, शित्ति, और केशि ने भी पीठ दिखा दी तो चोल राजा ने रट्टपाडि में सभी प्रतिरोधों को दबा कर तुंगभद्रा के तट पर विजय स्तंभ स्थापित किया, जिस पर व्याघ्र का उसका राजचिह्न अंकित किया गया। फिर उसने चालुक्य के संदेशवाहक को ही वल्लभ का वेश धारण कराया, उसे एक सुंदर माला पहनाई, उसकी छाती पर 'चालुक्य' लिखवाया और एक लेख लिखकर उसकी गर्दन से लटकवा दिया कि 'चोल हाथी द्वारा पकड़े जाने के भय से चालुक्य भाग गया'।[121]

फिर उस अभिलेख में एक दूसरी दिशा में भी वीरराजेंद्र के अभियान का वर्णन है। उसने अपने शत्रु को चुनौती दी कि 'मैं सुंदर वेंगीनाडु को फिर से प्राप्त किए बिना वापस नहीं जाऊंगा। यदि तुम सचमुच के वल्लभ (बलवान पुरुष और चालुक्य दोनों को वल्लभ कहते हैं।) हो तो आओ और उसकी रक्षा करो।' कृष्णा के किनारे विजयवाडा (बैजवाड़ा) के पास भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें एक विशाल सेना को जिसका नेतृत्व जननाथ, राजमयन और मुप्परसन कर रहे थे, जंगलों में खदेड़ दिया गया। इस महान विजय के बाद वीरराजेंद्र ने अपनी हाथियों को गोदावरी का पानी पिलाया। फिर कलिंगम को पारकर अपनी विजयिनी सेना को चक्रकूट तक भेजा। इस प्रकार उसने सुंदर वेंगीनाडु की विजय की और विजयादित्य को सौंप दिया जिसने स्वयं उपस्थित होकर उसके चरणकमल का अभिवादन किया था। फिर वह अपनी राजधानी गंगापुरी (गंगैकोंडचोलपुरम्) को लौट गया।

वीरराजेंद्र के पांचवें वर्ष के ही तिरुमुक्कूडल अभिलेख में कलिंगम के पार महेंद्रगिरि तक जाने का पूरा वर्णन है।[122] फिर उसमें विजयादित्य को वेंगी के सौंपने और उसके गंगापुरी लौटने का उल्लेख है। उससे आगे सिंहल से एक युद्ध का वर्णन है। फिर चालुक्य युद्ध का उल्लेख है। फिर चक्रकूट के पास एक मुठभेड़ का वर्णन है जिसका अन्य लेखों में संक्षेप में उल्लेख आया है; इसमें कहा गया है कि इस बार चालुक्य राजा ने पहले की अपेक्षा दूने हाथी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्ध में भेजे थे। चोलों से यह मुठभेड़ कोंडै (कोंडपल्लि ?) के पास हुई थी। इस बार भी चोलों ने चालुक्यों को हराया। अनेक चालुक्य सेनापति भाग गए। बाकी कैद कर लिए गए। उनके साथ काफी सामान और सुंदर स्त्रियां भी थी। कोंडै की विजय-स्मृति में व्याघ्र चिह्न से अंकित एक स्तंभ स्थापित किया गया।[123] फिर चोल सेनाएं शक्करक्कोट्टम् (चक्रकूट) की ओर बढ़ी जहां चालुक्यों को पुनः हराया गया। इस बार भी बहुत से चालुक्य कैद हुए। इन युद्धों में खासकर बस्तर क्षेत्र में राजराज नरेंन्द्र का पुत्र राजेंद्र अपने मामा वीरराजेंद्र के साथ लड़ा था यह बात कुलोत्तुंग प्रथम के लेखों से स्पष्ट है। राजराज का पुत्र राजेंद्र ही बाद में कुलोत्तुंग के नाम से गद्दी पर बैठा था। कुलोत्तुंग के अभिलेखों में बतलाया गया है कि जब वह युवराज (इलंगो) था तो उसने अपने शत्रुओं के विश्वासघात को समाप्त किया था। उसने वैरागढ़ में बहुत से हाथी छीन लिए थे और नागवंशी राजा धारावर्ष से कर ग्रहण किया था। इन्हीं घटनाओं की एक दूसरी आख्या में उसे तलवार खींचकर घुड़सवार सेना का नेतृत्व करते और कुंतलेश की सेना को भंग करते बतलाया गया है।[124] चालुक्यों की सेनाओं का वेंगी में विक्रमादित्य नेतृत्व कर रहा था और कलिंग और चक्रकूट में भी वही लड़ा था। यह बात स्पष्ट है। चोल अभिलेखों में कूडल-शंगमम् के युद्ध से पूर्व वेंगी में चालुक्यों द्वारा सेना भेजने का उल्लेख है। बिल्हण ने विक्रमादित्य की 'दिग्विजय'[125] के सिलसिले में उसके द्वारा वेंगी और चक्रकूट की विजय का उल्लेख किया है। तमिल काव्य 'कलिंगतुप्परणि' से लक्षित होता है कि कुलोत्तुंग ने चक्रकूट के युद्ध में विक्रमादित्य से मुकाबला किया था।

सोमेश्वर ने अपनी प्रतिष्ठा के उद्धार के लिए जिस युद्ध का आह्वान किया था उससे वह मुकर गया था। इसके बाद हमें उसके बारे में कम ही पता चलता है। सिर्फ इतना जरूर ज्ञात है कि वह बीमार पड़ा और बाद में उसने तुंगभद्रा में मार्च 1068 ई० के अंत में जल-समाधि ले ली। संभवतः वीरराजेंद्र को चुनौती देने के बाद वह बीमार पड़ गया था। अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने कारण उसकी बीमारी और बढ़ गई होगी। अंततोगत्वा उसने आत्म-हत्या ही कर ली। कूडल के रणक्षेत्र में उसके न जा सकने का उल्लेख 10 सितंबर, 1067 के एक लेख में आया है। कुरुवत्ति में तुंगभद्रा में उसका 'परम योग' (अंतिम मिलन) 29 मार्च 1068 ई० को हुआ।[126] बीच की यह अवधि कोई अधिक लंबी अवधि नहीं है। इसलिए चोल लेखों में कूडल के मैदान में उसके न जाने का जो कारण बतलाया गया है, वह सही नहीं है।

अब बेजवाड़ा की लड़ाई, बस्तर में फिर संघर्ष और विजयादित्य को वेंगी का राज्य सौंपने का खुलासा करना होगा। इनका अंततोगत्वा संबंध राजराज नरेंद्र के बाद वेंगी के उत्तराधिकार से है। हम देख चुके हैं कि चोलराजा राजेंद्र प्रथम की मृत्यु के बाद वेंगी के शासक को अपने ही सहारे छोड़ दिया गया था। इसलिए उसे सोमेश्वर से मेल करने को बाध्य होना पड़ा। यद्यपि राजराज की मृत्यु के तुरंत बाद वीरराजेंद्र के हस्तक्षेप से शक्तिवर्मन प्रथम की युद्ध में मृत्यु हो गई थी तथापि इससे उस समय के शक्ति संतुलन में कोई खास फर्क नहीं आया था। अतः वीरराजेंद्र ने निश्चय किया कि स्थिति में परिवर्तन किया जाए और वेंगी को पुनः चोल-प्रभाव में लाया जाए। अतः उसने विजयादित्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। विक्रमादित्य विजयादित्य का समर्थन कर रहा था। अंत में वीरराजेंद्र ने स्वयं वेंगी का राज्य विजयादित्य को सौंप दिया। यह एक कूटनीतिक क्रांति थी जिसका संबंध तत्कालीन दकनी राजनीति से था जिसमें विक्रमादित्य षष्ठम का प्रभाव बराबर बढ़ता जा रहा था। विजयादित्य ने वीर-राजेंद्र के प्रति अपने रुख में परिवर्तन कर समर्पण कर दिया और वेंगी का राज्य उसे चोल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा से जागीर के रूप में मिला। यह उसके तब तक के समूचे इतिवृत्त के ठीक उलटे था। इसका कारण विक्रमादित्य ही रहा होगा। यहां हम यह कल्पना कर सकते हैं कि यह सब सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के कारण और उसके तत्काल बाद हुआ। इसके बाद ही विक्रमादित्य और वीरराजेंद्र में संधि हो गई और दोनों राजवंशों में मित्रता स्थापित हो गई। अब हम उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस घटनाप्रवाह का विवेचन करेंगे।

वीरराजेंद्र के शासन के छठें और सातवें वर्ष (1068-70 ई०) के अभिलेख काफी अर्थपूर्ण हैं। छठें वर्ष के अभिलेखों[128] में कहा गया है कि 'तीसरी बार' अर्थात् कूडलशंगमम और नदी के पास की दो मुठभेड़ों के शीघ्र बाद वीरराजेंद्र ने कंपिली को जला दिया, सोमेश्वर उस समय तक अपनी 'कंठिका' भी न खोल पाया था। फिर चोल-राज ने रायचुर जिले के लिंगसगुर 'तालुक' में करडिकल में अपना विजयस्तंभ स्थापित कराया। यहां सोमेश्वर से निश्चिततः सोमेश्वर द्वितीय का तात्पर्य है। वह अपने पिता के राजकाल में ही 'युवराज' बन चुका था।[129] यहां 'कंठिका' से उसके युवराज के पद का तात्पर्य मानना होगा। भाव यह है कि सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के बाद उसका बेटा अपने अभिषेक के लिए युवराजपद की कंठी खोल सके इसके पूर्व ही वीरराजेंद्र ने कंपिली को जलाकर अपना विजयस्तंभ गाड़ दिया था। वीरराजेंद्र के सातवें वर्ष के एक अभिलेख में[130] साफ साफ कहा है कि उसने सोमेश्वर को कन्नड़नाडु से बाहर खदेड़ दिया, रट्टपाडि साढ़े सात लाख को जीत लिया और जब विक्रमादित्य ने उसकी अधीनता मान ली तो 'कंठिका' सहित उसे दे दिया। इस प्रकार यह बात पूरी तरह सिद्ध हो जाती है कि विजयादित्य ने अपने भाई के विरुद्ध सहायता लेने के उद्देश्य से ही वीरराजेंद्र की अधीनता स्वीकार की थी। प्रश्न है कि इसकी अन्य प्रमाणों से पुष्टि कहां तक होती है?

सोमेश्वर द्वितीय के एक अभिलेख में यह स्वीकार किया गया है कि वीरराजेंद्र ने यह मानकर गलती थी कि नए राजा के शासन के प्रारंभ में ही आक्रमण कर उसे जीतना सरल होगा क्योंकि तब तक पूरी तरह से उसका शासन दृढ़ न हो पाया होगा। इसीलिए उसने आक्रमण कर गूटी को घेर लिया। यह अनंतपुर जिले का प्रसिद्ध दुर्ग था। किंतु सोमेश्वर इतनी वीरता से लड़ा कि चोल पीठ दिखाकर भाग खड़े हुए। इसी अभिलेख में दंडनायक लक्ष्मण को चालुक्य-राज्य का जीवनाधार और भुवनैकमल्ल का शासन पुनः प्रतिष्ठित करने वाला कहा गया है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसके स्वामी पर कितना संकट आया था और उसने उसकी कितनी सहायता की थी। फिर लेख में उन प्रबंधों का ब्यौरा है जो सोमेश्वर ने अपनी दक्षिण की सीमाओं की रक्षा के लिए किए थे। इस संबंध में हम आगे चर्चा करेंगे। यहां इस बात का कोई जिक्र नहीं है कि विक्रमादित्य ने अपने भाई के विरुद्ध क्या किया। वस्तुतः इस समय भी वह शासकीय दृष्टि से अपने बड़े भाई के अधीन युवराज ही था। बिल्हण ने विक्रमादित्य के अपने भाई और वीरराजेंद्र से जिस प्रकार के संबंधों का जिक्र किया है उससे चोल लेखों से प्राप्त सूचनाओं के कारण मन पर जो छाप पड़ती है उसी की संपुष्टि होती है। बिल्हण ने लिखा है कि ज़ब विक्रमादित्य ने अपनी शिक्षा-दीक्षा पूरी कर ली और वह जवान हो गया तो उसके पिता ने उसे युवराज बनाने की कल्पना की। जब यह प्रस्ताव उसके सामने रखा गया तो उसने इनकार कर दिया। उसने यही कहा कि 'युवराज' का सम्मान बड़े भाई को ही मिलना चाहिए। इसलिए उसके पिता ने अपनी राय बदलकर सोमेश्वर को ही युवराज बना दिया। किंतु फिर भी विक्रम के भाग्य में सिंहासन और पितृप्रेम दोनों लिखे थे। उसने राजा और युवराज दोनों पदों के कर्त्तव्यों का भार वहन किया, फिर विक्रमादित्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'दिग्विजय' को निकला। इसमें चोलों, वेंगि और चक्रकूट के युद्ध शामिल हैं। वापस लौटते समय जब वह कृष्णा के तट पर पहुंचा तो उसने सुना कि उसके पिता ने असाध्य 'दाहज्वर' से पीड़ित हो तुंगभद्रा में जल-समाधि ले ली है। पिता का वहीं श्राद्ध कर वह कल्याणी वापस आया। कुछ समय तक दोनों भाई मित्र बने रहे। फिर सोमेश्वर ने कुमार्ग का अनुसरण कर प्रजा को पीड़ित करना प्रारंभ कर दिया। वह विक्रमादित्य के भी विरुद्ध हो गया। विक्रम ने अपने छोटे भाई जयसिंह के साथ राजधानी छोड़ दी क्योंकि वहां उसके प्राणों को खतरा था। सोमेश्वर ने अपने भाइयों को पकड़वाने और उनके वध के लिए बहुत प्रयत्न किए पर उसे इसमें सफलता न मिली। विक्रमादित्य अपनी सैन्य कुशलता से बच निकला। बड़े भाई से बचकर विक्रमादित्य तुंगभद्रा और बनवासी की ओर चला। वहां किंचित काल तक विश्राम कर वह चोलों पर आक्रमण करने के इरादे से आगे बढ़ा। तब कोंकण के जयकेशी और आलुपों के राजा ने उसकी अधीनता मान ली। चोल राजा ने भी समझ लिया कि वह विक्रमादित्य का सामना न कर सकेगा इसलिए उसने अपने दूत भेजकर उससे मैत्री स्थापित करने का संदेश भेजा। उसने उससे अपनी कन्या का विवाह करने का भी प्रस्ताव भेजा। विक्रम ने इस प्रकार अपना अभियान त्याग दिया और वह तुंगभद्रा चला गया, ताकि ऐसा लगे कि चोल राजा की विजय हुई है। दोनों राजाओं के राजधानी लौटने से पूर्व विधिवत यह विवाह संपन्न हो गया।

बिल्हण के इस अलंकृत वर्णन से कुछ तथ्य उजागर होते हैं अर्थात विक्रमादित्य अपनी योग्यता के अनुसार अधिकार चाहता था, उसने अपने पिता के बाद सोमेश्वर का राजा बनना पसंद नहीं किया था, वह उस चोल राजा से मित्रता स्थापित करने को उत्सुक था जिसके विरुद्ध अपने पिता के जीवन काल में वह बराबर लड़ता रहा था। बिल्हण ने गोवा के कदंब राजा जयकेशि (लगभग 1050 से 1080 ई०) की भूमिका का जो वर्णन किया है उसकी संपुष्टि उन अभिलेखों से होती है जिनमें कहा गया है कि उसने चालुक्यों और चोलों के राजाओं में कांची में मेल कराया था और चालुक्य राजा का अधिकार उसके राज्य में पुष्ट करने का कार्य किया था।[132] इस काल के कूटनीतिक चित्र को पूर्ण करने के लिए हम देखेंगे कि वीरराजेंद्र से मैत्री कर विजयादित्य और विक्रमादित्य को तो लाभ हुआ किंतु इससे राजराज के पुत्र राजेंद्र (कुलोत्तुंग) को, जो वेंगी के सिंहासन का वैध उत्तराधिकारी था, हानि ही हुई। वह वेंगी के बाहर रखा गया और वीरराजेंद्र की मृत्यु के बाद विक्रमादित्य ने राजेंद्र (कुलोत्तुंग) को चोल राज्य से बाहर रखने का बराबर प्रयत्न किया किंतु उसे इसमें सफलता नहीं मिली। अतः स्वाभाविक ही कुलोत्तुंग ने सोमेश्वर द्वितीय से मित्रता का यत्न किया और विक्रमादित्य का वह आजीवन शत्रु बना रहा।

सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु का तत्कालीन राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा यह देखते-देखते हम सोमेश्वर द्वितीय के शासन काल में काफी दूर तक आ पहुंचे हैं। अब हमको पुनः सोमेश्वर प्रथम की ओर लौटना होगा। उसके शासन काल में चालुक्य शक्ति का पर्याप्त विस्तार हुआ। उसके शासन के प्रारंभ से अंत तक वेंगी उसके अधीन ही रही। उत्तर भारत की दो प्रमुख शक्तियां परमार और प्रतीहार कुछ समय के लिए उसकी करद बन गईं। उसने चोलों से दीर्घ-कालीन संघर्ष जारी रखा। अपने जीवन के अंत तक वह उनसे लड़ता रहा। यद्यपि उसे अनेक बार पराजय का सामना करना पड़ा, किंतु उसने अपने प्रयास शिथिल नहीं किए। उसने हार नहीं मानी। उसके बेटों विशेषकर विक्रमादित्य के अतिरिक्त उसके साथ अनेक शूरवीर सेना-पति थे। इन्होंने हमेशा पूर्ण राजभक्ति दिखलाई और सभी युद्धों में उसका साथ दिया। वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने प्राण देकर भी उसके सम्मान की रक्षा को प्रस्तुत रहते थे। सोमेश्वर एक योद्धा से अधिक कूटनीतिज्ञ रहा होगा अन्यथा इतने राज्यों पर और वह भी इतने दीर्घ काल तक वह अपना प्रभाव न स्थापित कर पाता। यद्यपि सैनिक दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा सदा एक सी न रही। विजयादित्य से उसकी मैत्री और इस मैत्री का जिस रूप में उसने अपने हित में उपयोग किया वह कूटनीतिक सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि महत्ता की कसौटी निरंतर यशस्कर कार्य करना, अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उपलब्ध समस्त धन-जन का उत्तम से उत्तम उपयोग करना है तो सोमेश्वर निश्चय ही महान था। वह एक महान शासक था, अपने यशस्वी पुत्र विक्रमादित्य से भी महान। उसमें पूर्ण आत्म-विश्वास था। यह आत्म-विश्वास अपने अनुयायियों में भी पैदा करने की क्षमता उसमें थी। उसने ललित कलाओं और साहित्य की भी उपेक्षा न की। कल्याणी जैसी उत्तम नगरी उसी की रचना थी। उसका प्रभुत्व विंध्य से तुंगभद्रा तक समूचे दकन पर था। चालुक्यों के स्थाई राज्य में उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में बराबर कमोवेश वृद्धि होती रही।

शाके 980 (सन् 1058) के नागै अभिलेख में उसकी रायनारायण और वीरमार्तंड उपाधियां मिलती हैं। इसमें चौलिक राजा से एक युद्ध का भी उल्लेख है। यह भीमसेन प्रथम (1022 से 64 ई०) रहा होगा।[133] किंतु इस युद्ध के बारे में किसी अन्य स्रोत से हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। बतलाया गया है कि 1044 ई० में उसने पोट्टलकेड़े में[134] और 1045 ई० में शिवाप की विजय के बाद पूविनपडंगिले में[135] और पल्लव 'दिग्विजय' के चार साल बाद करहाडनाडु में वग्घापुर में स्कंधावार बनाए थे।[136] पता चला है कि 1052, 1054 और 1055 ई० में वह कल्याणपुर में था।[137] उसके अभिलेखों में ये तिथियां मिलती हैं। 1058 ई० में वह कोलूरू में था[138] और 1062 ई० में वेण्णेय में।[139] अभिलेखों से उसकी छः रानियों का पता चलता है। उनके नाम हैं—चंदलकब्बे अथवा चंद्रिकादेवी जिसका उल्लेख 1047 ई० के एक लेख में है;[140] मैललदेवी, उसकी भी दो साल बाद के एक अभिलेख में चंद्रिकादेवी जैसी उपाधियां दी गई हैं; यह रानी 1053 ई० में बनवासी 12000 की शासिका थी और उसने सम्राट के साथ 1057 ई० में श्रीशैल की यात्रा की थी;[141] लीलादेवी प्रभु मारसिंह की पुत्री (?), इस मारसिंह का उल्लेख हम कर चुके हैं; होयसल देवी, इसने तुंगभद्रा के किनारे एक 'तीर्थ' को दान दिया था जिसकी स्थापना ओन्नालै (आधुनिक होन्नालि)[142] के किसी गौड़ ने की थी; केतल देवी जो 1054 ई० में 'त्रिभोगाभ्यंतर-सिद्धि' के अनुसार पोन्नवाड अग्रहार की शासिका थी, फ्लीट इसका अर्थ यह करते हैं कि उस 'अग्रहार' की आमदनी का शासक, ब्राह्मणों और देवताओं में बराबर-बराबर बंटवारा होता था,[143] और बाछलदेवी, जो संभवतः अग्रमहिषी थी क्योंकि वह सोमेश्वर द्वितीय, विक्रमादित्य षष्टम, और जयसिंह तृतीय की माता थी।[144]

सोमेश्वर द्वितीय

मार्च, 1068 ई० में सोमेश्वर प्रथम ने तुंगभद्रा में जलसमाधि ली थी। उसके एक पखवारे के भीतर अप्रैल 1068 ई० में सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल गद्दी पर बैठा। स्पष्ट है कि शौच और श्राद्ध की समाप्ति के बाद ही सोमेश्वर का अभिषेक हुआ था।[145] इस घटना का उल्लेख जिस लेख में है उसमें आगे यह भी बतलाया गया है कि उसके अभिषेक के बाद ही चोल राजा ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण किया क्योंकि उसकी गणना के अनुसार नए शासन का प्रारंभ उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए सबसे उपयुक्त अवसर था। उसने गुत्ति (गूटी) पर घेरा डाल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया। किंतु चालुक्यों की घुड़सवार सेना ने उस पर आक्रमण कर उसे पीछे हटने को बाध्य कर दिया। सोमेश्वर ने दक्षिण की सीमाओं पर चौकसी बढ़ा दी और विभिन्न क्षेत्रों की रक्षा के लिए अलग-अलग सेनापति नियुक्त कर दिए। उसने सिंग (जयसिंह) को नोलंब सिंदवाड़ी का भार दिया और विक्रमादित्य को आलमपुर तक गंगवाड़ी का शासक नियुक्त किया। उसने अपने अति विश्वासी और स्वामिभक्त सेनापति लक्ष्मण दंडनायक को बनवासी 12000 का शासक नियुक्त किया। ऐसी व्यवस्था करते समय सम्राट ने इन सेनापतियों की वरीयता का क्रम भी निश्चित कर दिया। उसने कह दिया कि उसके बाद विक्रम-गंग-भूप का स्थान होगा, विक्रम के बाद वीर नोलंबदेव अर्थात जयसिंह का, फिर लक्ष्मण का जिसे 'भुवनैकमल्ल के राज्य का उपकर्त्ता' और 'चालुक्य राज्य के लिए अपरिहार्य सेवक' ('चालुक्य राज्यक्के कारणम् आदाल') कहा गया है। दूसरी ओर शत्रुओं को बाहर खदेड़ने के अतिरिक्त सम्राट को दुष्ट राज्य-द्रोही सामंतों और दुर्धर्ष पहाड़ी जातियों के शत्रुओं से भी निपटना था। इस प्रकार प्रारंभ से ही सोमेश्वर का शासन काल आपत्तियों से भरा था। सोमेश्वर और उसके भाई विक्रमादित्य में प्रेम समाप्त हो चुका था। विल्हण ने विक्रमादित्य की जो प्रशस्ति लिखी है उसका बारीकी से अध्ययन करने पर यही विदित होता है कि विक्रमादित्य ने प्रारंभ से ही अपने भाई के विरुद्ध षडयंत्र रचना शुरू कर दिया था, संभवतः सोमेश्वर के राज्यारोहण से भी पहले से। संभवतः चोलों से युद्ध और सामंतों के राज्य-द्रोह के पीछे भी उसी का हाथ था।

चोलों के आक्रमण को विफल करने के बाद दक्षिण में जो तथाकथित सीमा-व्यवस्था की गई, खासकर विक्रमादित्य को युवराज और गंगवाड़ी का शासक बनाने का खुलासा हमें चोल अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं के प्रकाश में करना होगा। एक तरफ चोल वीरराजेंद्र यह दावा करता है कि उसने सोमेश्वर को कर्णाटक से खदेड़कर संपूर्ण रट्टपाडि विक्रमादित्य को सौंप दिया था, दूसरी ओर लक्ष्मणरस के बारे में यह कहा गया है कि उसने भुवनैकमल्ल वल्लभ का राज्य बचाया। वस्तुतः सोमेश्वर के लेखों में विक्रमादित्य का सम्राट के बाद दूसरा स्थान बतलाया गया है। किंतु विक्रमादित्य उसके अधीन रहकर संतुष्ट न था। उसने 1071 ई० के बेल्लारी और अनंतपुर जिलों के अपने अभिलेखों में सम्राट की उपाधियां धारण की हैं।[146] यदि इससे यह न माना जाए कि उसने अधिकारों का अपहरण कर लिया था, तो यह मानना होगा कि चोल आक्रमण के फलस्वरूप चालुक्य राज्य दो हिस्सों में बंट गया था। यह एक प्रकार का राजनैतिक समझौता सा था। विक्रमादित्य के हिस्से में चोल राज्य से सटा हुआ भाग आया था। उसने चोलों से मैत्री भी कर ली थी और बिल्हण के कथनानुसार उसने चोल राजा वीरराजेंद्र की पुत्री का पाणिग्रहण भी किया था।

वीरराजेंद्र 1070 ई० में मर गया। इससे चोलों से उसकी मैत्री लाभ के स्थान पर हानिकर साबित हुई। अब एक ओर से उसे अपने भाई से निपटना पड़ा तो दूसरी ओर अपने साले अधिराजेंद्र को चोल सिंहासन पर बनाए रखने के लिए भी शक्ति लगानी पड़ी। अधिराजेंद्र अभी नवयुवक था और पूर्वी चालुक्यों के राजा राजेंद्र (कुलोत्तुंग प्रथम) ने चोल सिंहासन की ओर गृद्ध दृष्टि लगा रखी थी। विक्रमादित्य कांची गया जहां कुछ समय तक रुककर उसने विद्रोह के अंकुरों को कुचल दिया। फिर गंगाकुंड (गंगैकोंड चोलपुरम्) में उसने अपने साले अधिराजेंद्र का विधिवत् अभिषेक कराया। चोल राजधानी में एक मास रहकर विक्रमादित्य तुंगभद्रा को वापस आ गया।[147] इसके कुछ समय बाद (बिल्हण ने कुछ दिनों बाद कहकर अत्युक्ति ही की है) विक्रमादित्य को सूचना मिली कि जनता के विद्रोह (प्रकृति-विरोध) के फलस्वरूप चोल राजा मारा गया है और वेंगी के राजा राजिग ने चोलों के रिक्त सिंहासन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर अधिकार कर लिया है। यह राजिग निःसंदेह राजेंद्र (कुलोत्तुंग) ही था। बिल्हण ने उसे वेंगीनाथ कहा है। इससे जाहिर होता है कि वीरराजेंद्र ने जो विजयादित्य को वेंगी की भेंट दी थी उससे वेंगी के शासन के वास्तविक अधिकारी राजराज नरेंद्र के स्वत्वों पर कोई असर न था। अब चोल सिंहासन पर कुलोत्तुंग के आ जाने से विक्रमादित्य ने अनुभव किया कि वह दोनों तरफ शत्रुओं से घिर गया है। कर्नाटक में उसका भाई शत्रु था और चोल प्रदेश में कुलोत्तुंग। इसके पहले विजयादित्य चालुक्यों का मुहरा रह चुका था। किंतु अब उससे विक्रमादित्य को कोई खास लाभ दिखाई न देता था, यद्यपि विजयादित्य को सारा वैभव विक्रमादित्य की बदौलत ही प्राप्त हुआ था।

इन खतरनाक परिस्थिति से छुटकारा पाने में विक्रमादित्य को पांच-छह साल (1070 से 76 ई०) लग गए। उसके भाई ने उसे गंगवाड़ी का शासक बनाया था। अपनी उस स्थिति का उसने भरपूर लाभ उठाया। उसने बराबर आत्म विश्वास का परिचय दिया। उसे अपनी सफलता और चालुक्य-साम्राज्य की समृद्धि में पूर्ण विश्वास था। उसने अधीनता की कोई उपाधि न लेकर सदा सम्राटों की पूरी उपाधियां धारण की और त्रिभुवनमल्ल का 'विरुद' धारण किया। वह अच्छी तरह से जानता था कि सोमेश्वर और कुलोत्तुंग अंततोगत्वा उसके विरुद्ध मित्र बन जाएंगे, इसलिए अपनी योजनाएं बनाने में उसने साम और दाम के द्वारा अनेक सामंतों को अपनी ओर मिला लिया। 1071 ई० के बेल्लारी जिले के एक अभिलेख में[148] त्रिभुवनमल्ल (विक्रमादित्य) गोविंदवाड़ी के 'नेलेवीडु' से शासन करता उल्लिखित है। इस लेख में कुछ समय पूर्व ही उसके द्वारा दंडनायक विद्दय को हराने का उल्लेख है जिससे उसे बड़ा संतोष मिला था। यह गोविंदवाड़ी संभवतः बेल्लारी जिले के रायदुर्ग तालुक में गोविंदवाड़ा है। इसी राजधानी से प्रायः इसी समय त्रैलोक्यमल्ल जयसिंहदेव को, जिसने नोलंब-पल्लवों की आम उपाधियां धारण की हैं और जिसे 'अण्णन सिंगम' (अपने भाई का सिंह) कहा गया है,[149] नोलंबवाड़ी का शासन करते बताया गया है। यह बिल्हण की इस उक्ति का पक्का सबूत है कि विक्रमादित्य और जयसिंह दोनों भाई सोमेश्वर के विरुद्ध थे। विक्रमादित्य कूटनीति के क्षेत्र में पूर्ण सफल रहा। उसने खुला युद्ध छेड़ने से पहले अनेक राजाओं को अपनी ओर मिला लिया था। कदंब जयकेशि और विजयादित्य तो पहले से ही उसके साथ थे। संभवतः होयसल राजा विनयादित्य और उसके बेटे इरेयंग को उसने अपनी ओर कर लिया था। इनमें इरेयंग के बारे में कहा गया है कि वह चालुक्य सम्राट (विक्रमादित्य) का हुक्म बजा लाता था और उसने चोल राजा को पत्तों का वस्त्र पहनने को बाध्य किया था।[150] उच्चंगि के पांड्य राजा ने भी उसका साथ दिया। उसने त्रिभुवनमल्ल की उपाधि धारण कर और कुलोत्तुंग के विरुद्ध युद्ध कर अपनी राजभक्ति का परिचय दिया था। उसने 'राजिगचोलमनोभंग' की उपाधि प्राप्त की थी।[151] सुदूर की यादव राजा सेउण द्वितीय भी विक्रमादित्य का साथ देने को राजी हुआ था। 1069 ई० के अपने दो अभिलेखों में सेउण ने महामंडलेश्वर की उपाधि धारण की है जो उसके सामंत पद की सूचक है। हम यह मान सकते हैं कि अपने पूर्वजों की भांति सेउण चालुक्यों के राजा सोमेश्वर की अधीनता मानता था।[152] किंतु हेमाद्रि ने व्रतखंड की अपनी 'राज-प्रशस्ति' में कहा है कि सेउणचंद्र की बलशाली भुजाओं ने परमार्दिदेव (विक्रमादित्य) को शत्रुओं के दबाव से बचाया था और कल्याण के चालुक्य वंश की ज्योति स्थापित की थी।[153]

सोमेश्वर का शासन-काल बड़े संकट और परेशानियों का था। उसका भाई सभी तरफ से उसके विरुद्ध निरंतर षडयंत्र करता रहा। उसके ऐसे सहायकों की संख्या भी अल्प थी जिन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर वह विश्वास कर सकता। यशस्वी लक्ष्मण दंडनायक इसका एक मात्र अपवाद था। वह सदा स्वामिभक्त और उसकी आज्ञाओं के पालन में तत्पर रहा। सोमेश्वर के पिता के शासन-काल में चोल आक्रमणों से चालुक्य साम्राज्य की जो क्षति हुई थी उसके उद्धार के लिए इस लक्ष्मण ने बहुत कुछ किया।[154] साम्राज्य के हृदय प्रदेश में स्थित बेल्वोला 300 और पुरिगेरे 300 उसके अधीन थे। इसके पूर्व इस इलाके के शासक युवराज होते थे। सोमेश्वर के संबंधियों में कोई ऐसा न था जिस पर वह पूरा विश्वास कर सकता और उसमें इसकी योग्यता भी हो। इसलिए इस प्रांत का शासन उसने अपने सबसे योग्य और विश्वासपात्र सेनापति लक्ष्मण को सौंप दिया। लक्ष्मण के अधीन मनलवंश का महासामंत जयकेशिरस था। वह विक्रमादित्य के मित्र गोवा के कदंब जयकेशि से भिन्न था। 1074 ई० में यह जयकेशिरस पुरिगेरे का राष्ट्रकूट था।[155] 1071 ई० से 1075 ई० के बीच के अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बनवासी का शासक उदयादित्य, जिसकी राजधानी बंकापुर थी, उसके प्रति निष्ठा-वान रहा। एक अभिलेख में उसकी रानी लच्चलदेवी का नाम आया है। एक दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि सम्राट सोमेश्वर ने बंकापुर में स्कंधावार किया था और वह उदयादित्य का अतिथि था।[156] 1071 ई० में बनवासी में कदंब-कीर्तिदेव भी उपस्थित था। वह या तो किसी कार्यवश वहां उदयादित्य से मिलने आया था या फिर वह अस्थाई रूप में उसका कार्य देख रहा था।[157] एक अभिलेख में सोंदत्ति के रट्ट कार्त्तवीर्य को सोमेश्वर द्वितीय का सामंत बतलाया गया है। पर इस लेख पर कोई तिथि नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने सम्राट की कितने समय तक सेवा की थी। 1089 ई० के एक अभिलेख में सोमेश्वर की दो रानियों के नाम आए हैं, वे थीं कंचलदेवी और मैललदेवी।[158] सोमेश्वर के छोटे भाई जयसिंह का नाम 1068 ई० के एक लेख में कोगलि 500, कदंबलिगे 1000, और बल्लकुंडे 300 के शासक के रूप में आया है।[159] इसके कुछ ही बाद सीमा-व्यवस्था हुई जिस के अधीन कंपिली से वह नोलंबवाडि 32000 और सिंदवाडि 1000 का 1073 ई० तक शासन करता रहा।[160] उसने मोलंब पल्लवों के सभी 'विरुद' धारण किए हैं। उसे हम अन्य मंडलों का भी शासन करते पाते हैं, जैसे 1070 ई० में वह उच्चंगि का[161] और 1069 ई० से 1076 ई० तक किसुकाड 70 का शासक था। इस बीच इस मंडल का, पूरे नहीं तो कम से कम एक भाग का शासन उसके अधीन उसकी बहन सुग्गलदेवी करती रही।[162] नीरलगि से एक लेख मिला है जो 1075 ई० का है। इस लेख के अनुसार महामंडलेश्वर विक्रमादित्य निःसंदेह यह राजा का छोटा भाई और उसका प्रतिद्वंदी था—अपने मित्र भुवनैकमल्ल पल्लव पेर्माडि विष्णुवर्धन विजयादित्य के साथ सम्राट की सेवा में बंकापुर में दौरे पर आया था।[163]

सोमेश्वर द्वितीय साम्राज्य की अखंडता बनाए रखने के लिए सभी प्रयत्न कर रहा था जब कि उसका छोटा भाई अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए और सम्राट को नीचा दिखाने के लिए गुप्त रूप में षडयंत्र कर रहा था। हम सोमेश्वर को साम्राज्य के प्रदेशों का दौरा करते पाते हैं। 1072 ई० के बाद हम उसे तुंगभद्रा के किनारे कोक्करगोंड में एक स्कंधावार में देखते हैं।[164] यहां वह नदी से दूर दूर रहता है। यह इस बात का प्रमाण है कि साम्राज्य का एक प्रकार से बंटवारा हो गया था। विक्रमादित्य ईर्ष्या के कारण उसे उस प्रदेश से दूर ही रखता है जो उसके हिस्से में था। जब कि वह स्वयं सम्राट के बाद अपने पद की हैसियत से साम्राज्य की सेवा के बहाने उसके सभी भागों में घूमता है। अभि-लेखीय प्रमाणों के आधार पर सोमेश्वर 1071, 1074, और 1076 ई० में बंकापुर में,[165] सन 1074 ई० में कल्याणी और विक्रमपुर में और 1075 ई० में तर्दवाड़ी में पेर्दोरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(कृष्णानदी) के किनारे तंगडगे में था।[166]

सोमेश्वर की गतिविधियों और उसके भाइयों और सामंतों के साथ उसके संबंधों के बारे में इन अभिलेखीय प्रमाणों के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि उसने 1075 ई० के अंत तक सम्राट-पद पर अपनी स्थिति बनाए रखी और विक्रमादित्य भी उसे सम्राट मानकर उसके ठीक बाद अपनी पद-मर्यादा रखने को राजी था। बिल्हण ने दोनों भाइयों के बीच गृह युद्ध का जो वर्णन किया है उसमें घटनाओं का तिथि-क्रम ठीक-ठीक वर्णित नहीं है। कवि ने व्यंजित किया है कि विक्रमादित्य का कुलोत्तुंग पर आक्रमण, कुलोत्तुंग का विक्रमादित्य को दो मोर्चों पर उलझाने के लिए सोमेश्वर से मित्रता करना और वह अंतिम लड़ाई जिसमें वारा न्यारा हो गया, ये सब घटनाएं कुलोत्तुंग के चोल सिंहासन पर बैठने के तुरंत बाद हुई। बिल्हण का यह वर्णन सोमेवश्र और कुलोत्तुंग के समकालीन अभिलेखों के प्रमाण के विरुद्ध पड़ता है। बिल्हण ने अपने आश्रयदाता को ऊंचा उठाने के लिए जो नीरस उपदेश दिए हैं वे भी बे-बुनियाद है। इनका उद्देश्य यही है कि सोमेश्वर को चरित्रहीन और विक्रमादित्य को धर्मात्मा दिखाया जाए। बिल्हण के अनुसार सोमेश्वर ने अपने अधिकारों और सुख-सुविधा के लिए कुल के बैरी चोलों का साथ दिया। किंतु बिल्हण वीरराजेंद्र से विक्रमादित्य की मित्रता की प्रशंसा करता है और विक्रमादित्य ने जो अपने भाई के सामंतों में राजद्रोह फैलाने की चेष्टा की उसके संबंध में बिल्हण निंदा का एक शब्द भी नहीं कहता। विक्रमादित्य षष्ठम् ने गडग अभिलेख में (1099 ई०)[167] काफी देर से अपने कृत्यों का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसमें कहा गया है कि भुवनेकमल्ल ने उत्तराधिकार के 'क्रम' से अपने पिता का राज्य पाया था किंतु कुछ समय तक राज्य करने के बाद निरंकुश अधिकारों ने उसे भ्रष्ट कर दिया। वह अपनी प्रजा के प्रति कठोरता और निर्दयता का व्यवहार करने लगा। उसका छोटा भाई धर्मात्मा था ('तस्यानुजो धर्मात्मा')। वह इस स्थिति को बर्दाश्त न कर सका। उसने अपने दुराचारी भाई को कैद कर ('निग्रह्य') शासन की बागडोर संभाल ली। बिल्हण ने अपने 'चरित' में जो वर्णन किया है उसकी कुंजी यही है। यह मानना होगा कि घटनाओं का यही रूप विक्रमादित्य द्वारा अनुमोदित रहा होगा। किंतु सोमेश्वर के चरित्र और उसके शासन में गिरावट की बात काफी बाद में आई है। यह बात सोमेश्वर की मृत्यु के बाद प्रचारित की गई। इसका किसी अन्य स्रोत में उल्लेख नहीं है।

1075 ई० में विजयादित्य विक्रमादित्य के साथ बनवासी में था। बिल्हण बतलाता है कि अधिराजेंद्र की मृत्यु के बाद चोल सिंहासन पर अधिकार करने से पूर्व राजिग (राजेंद्र कुलोत्तुंग) वेंगी का स्वामी बन चुका था। इसके पूर्व वीरराजेंद्र ने विजयादित्य को वेंगी का राज्य दिया था। इस प्रकार वीरराजेंद्र की मृत्यु के बाद वेंगी के सिंहासन पर भी राजा बदल गया था। इस प्रकार कुलोत्तुंग ने वेंगी पर अधिकार कर अपने चाचा विजयादित्य और विक्रमादित्य के बीच हुए समझौते को उलट दिया। उसके बाद चोलों के राज्य में विद्रोह हुआ जिसमें अधिराजेंद्र के संक्षिप्त शासन का अंत हो गया और उसके बाद चोलों के सिंहासन पर कुलोत्तुंग ने अधिकार कर लिया। इसके बाद कुलोत्तुंग और सोमेश्वर द्वितीय में मित्रता स्थापित हो गई। फिर उस निर्णायक युद्ध की तैयारी शुरू हो गई। इस युद्ध का पहला उल्लेख कुलोत्तुंग के शासन के छठे वर्ष अर्थात 1076 ई० के उसके लेखों में आया है। उसके लेखों के वर्णन का चालुक्य लेखों के वर्णन से मेल खाता है जिसमें विक्रमादित्य के राज्य के प्रारंभ और चालुक्य-विक्रम संवत् की स्थापना की तिथि 1076-7 ई० में रखी गई है। कतिपय चोल अभिलेखों में इस युद्ध का हवाला बड़े संक्षेप में यह कहकर दिया गया है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि विक्कलन और सिगनन अर्थात विक्रमादित्य और जयसिंह पश्चिम समुद्र में कूद गए। अन्य अभिलेखों में कुछ विस्तार से उल्लेख हुआ है।[168] तत्कालीन तमिल साहित्य में भी इस युद्ध के उल्लेख हैं।

जाहिर है कि कोलार जिले में (नंगिली) विक्रमादित्य और कुलोत्तुंग की सेनाओं में मुठभेड़ से युद्ध प्रारंभ हुआ। स्पष्ट है कि चोल अभिलेखों में युद्ध के निष्कर्ष के बारे में अतिरंजना है। इसमें चोल राजा को उतनी सफलता नहीं मिली थी जितनी इनमें वर्णित है। संभवतः विक्रमादित्य को तुंगभद्रा वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इस प्रकार उसने तुंगभद्रा के दक्षिण और पूरब का समूचा प्रदेश खाली कर दिया था। पर हम यह नहीं मान सकते कि कुलोत्तुंग पश्चिम समुद्र तक पहुंच गया था क्योंकि कुलोत्तुंग द्वारा गंगमंडलम और सिगणम अर्थात जयसिंह द्वारा शासित प्रदेश पर कब्जा करने का तो अभिलेखीय प्रमाण है, किंतु ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उसके तुंगभद्रा के पश्चिम के प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था।

जहां तक चोल मोर्चे की घटनाओं का प्रश्न है, बिल्हण का वर्णन नितांत अर्थहीन है। किंतु इस युद्ध में सोमेश्वर की भूमिका क्या थी और उसका अंतिम हश्र क्या हुआ, इस संबंध में विक्रमादित्य के अभिलेखों में जो कुछ कहा गया है बिल्हण ही उसका एकमात्र समर्थक है। बिल्हण का कथन है कि इस तुमुल युद्ध के फलस्वरूप, जिसमें कुलोत्तुंग और सोमेश्वर ने एक साथ ही विक्रमादित्य की सेनाओं से लोहा लिया था, 'द्रविड़ राजा मैदान से भाग गया और सोमदेव ने कारागृह में प्रवेश किया।'[169] फिर विक्रम तुंगभद्रा चला गया। उसकी इच्छा अपने बंदी भाई को छोड़ देने की थी और वह उसे उसका सिंहासन भी वापस कर देना चाहता था किंतु युद्ध के प्रारंभ की भांति इस बार भी भगवान शिव ने हस्तक्षेप किया। उन्होंने कुपित होकर विक्रम को सिंहासन पर बैठने की आज्ञा दी। फिर विक्रम सिंहासन पर बैठा। उसने अपने छोटे भाई जयसिंह को बनवासी का उपराजा बना दिया।[170] जयसिंह ने सिंहासन पाने में विक्रमादित्य की सहायता की थी। 1081 ई० के एक अभिलेख में भी कहा गया है कि जयसिंह ने चोल राजा को खदेड़कर अपने भाई विक्रमादित्य को सिंहासन प्राप्त करने में मदद की थी।[171] सोमेश्वर कितने समय तक कैद में रहा और अंत में उसका क्या हुआ, यह सब मालूम नहीं है। हम यह मान सकते हैं कि सोमेश्वर कमजोर और अयोग्य शासक था, किंतु वह प्रजा-पीड़क और क्रूर भी था, यह मानने का कोई आधार नहीं है। इस संबंध में विक्रमादित्य के अभिलेखों में जो कुछ कहा गया है और बिल्हण ने जो कुछ लिखा है उसकी जब तक किसी अन्य निष्पक्ष प्रमाण से पुष्टि न हो जाए उसे कथमपि सत्य नहीं माना जा सकता।

विक्रमादित्य षष्टम

हैदराबाद संग्रहालय में दो अभिलेख सुरक्षित हैं जिनमें संस्कृत का एक श्लोक आया है, जिसमें स्पष्ट ही कहा है कि विक्रमादित्य ने सोमेश्वर से बाहुबल से राज्य ग्रहण कर कीर्ति अर्जित की थी।[172] इन अभिलेखों में कोई तिथि नहीं है। विक्रमादित्य के राज्यारोहण से शाके 999 (तदनुसार 1076-7 ई०) में एक नए संवत का प्रारंभ हुआ, जिसका पहला वर्ष नल अथवा अनल वर्ष है। हैदराबाद रियासत के वडगेरि नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में फाल्गुन शुल्क 5, नल वर्ष को विक्रमादित्य के 'पट्टबंधमहोत्सव' (अभिषेक महोत्सव) के अवसर पर दिए गए दानों का उल्लेख है। इस अभिलेख के अनुसार विक्रमादित्य नडवियुप्पयण-वीडु में एक स्कंधावार में था। यह स्थान वडगेरि के पास कहीं रहा होगा।[173] इस लेख की तिथि को किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अभिषेक की तिथि माना है तो किसी ने अभिषेक की जयंती की, जिसमें अभिषेक के अवसर पर दिए गए दानों का उल्लेख है। सबसे उत्तम मत यह है कि यह तिथि 11 फरवरी, 1076 ई० को पड़ती है और यह विक्रमादित्य के अभिषेक की तिथि है। अभिलेख में राजा के अन्यत्र स्कंधावार के उल्लेख से यह मत अन्यथा सिद्ध नहीं होता है।[74] किंतु ध्यान में रखने की बात यह भी है कि इस लेख ने ऐसी अनेक समस्याएं पैदा कर दी हैं जिनका समाधान अभी तक संतोषजनक रूप में नहीं हो पाया है।[175]

इस नए संवत् को चालुक्य-विक्रम संवत् नाम दिया गया था। विक्रमादित्य के शासन के 51 वर्षों में उसके समूचे राज्य में सर्वत्र इसका प्रयोग हुआ। इसके बाद भी इसका इक्का-दुक्का प्रयोग अगले करीब 50 वर्षों तक होता रहा। फिर इसका प्रचलन बंद हो गया। इसने विक्रमादित्य के उत्तराधिकारियों को अपने संवत् चलाने की प्रेरणा दी। किंतु इससे चालुक्य विक्रम संवत् के लोप में ही मदद मिली। यद्यपि बिल्हण ने इस संवत् के प्रारंभ के बारे में कुछ भी नहीं कहा है किंतु चालुक्य विक्रम वर्ष 23 के गडग अभिलेख में यह जरूर कहा गया है कि विक्रमादित्य ने शकवर्ष का प्रचलन बंद कराकर अपने नाम पर विक्रम-वर्ष चलाकर सारे संसार में अपना नाम प्रसिद्ध कर दिया। अभिलेख में यह भी कहा गया है कि अतुल बलशाली त्रिभुवन-मल्ल पृथ्वी को पुनः धन-धान्य से पूर्ण करेगा जिसने दुष्ट सोमेश्वर के शासन में बड़ा कष्ट पाया था।[176]

विक्रमादित्य ने सोमेश्वर और कुलोत्तुंग के विरुद्ध जब सफलता पाई थी, उसी के आस-पास श्रीलंका में भी एक युद्ध हुआ था जिसके फलस्वरूप चोल सेनाओं को वह द्वीप छोड़कर वापस आना पड़ा था और विजयबाडु श्रीलंका का निष्कंटक राजा बन गया था। विक्रमादित्य ने विजयबाडु का अभिनंदन किया और उसके साथ मित्रता स्थापित करने के लिए दूत-मंडल भेजा जो अपने साथ बहुमूल्य उपहार ले गया था।[477] श्रीलंका उस युग में दक्षिण भारत की राजनैतिक व्यवस्था का ही अंग था। विक्रमादित्य ने कुलोत्तुंग के सभी शत्रुओं से मित्रता स्थापित करने का यत्न किया था।

विक्रमादित्य जब वास्तव में सिंहासन पर बैठा उसके पूर्व वह बहुत से युद्ध कर चुका था। ये युद्ध पिछले 20 वर्षों से चल रहे थे। कुलोत्तुंग उसका मुख्य शत्रु था। उसके विरुद्ध उसने जो भी संभव था वह किया था। फिर भी उसे कोई खास सफलता नहीं मिली थी। कुलोत्तुंग युद्धकला में या कूटनीति की चालों में विक्रमादित्य से किसी प्रकार कम न था। कुलोत्तुंग को चोलों की गद्दी से वंचित रखने की सभी कोशिशें विक्रमादित्य ने की थीं, किंतु उसने ये सारे प्रयत्न बेकार कर दिए थे। इसके विपरीत कुलोत्तुंग ने दो-दो मोर्चों पर विक्रमा-दित्य को फंसाकर उसे नष्ट करने की जो योजना बनाई थी वह भी उसका कुछ न बिगाड़ सकी। उल्टे इससे सोमेश्वर को अवश्य अपनी गद्दी से शीघ्र ही हाथ धोना पड़ा। इसलिए दोनों पक्षों ने अब अपनी-अपनी सीमाओं को समझ लिया था। इस प्रकार जो शक्ति का संतुलन बन गया था वह चालीस वर्षों तक अर्थात इन दोनों राजाओं के अधिकांश राज्य काल तक अपरिवर्तित रहा। इसी बीच विजयादित्य मर गया और विजयादित्य की मृत्यु के बाद कुलोत्तुंग की स्थिति काफी अच्छी हो गई। अब कुलोत्तुंग वेंगी के शासन के लिए एक के बाद अपने दूसरे बेटे को वहां का राज्यपाल बनाकर भेजने लगा। वेंगी अब प्रायः पूरी तरह चोलों का आश्रित राज्य था।

विक्रमादित्य ने पूरे पचास वर्षों तक राज्य किया। इस अवधि में प्रायः शांति बनी रही। सिर्फ उसके शासन के अंतिम भाग में जब कुलोत्तुंग की मृत्यु हो गई तो विक्रमादित्य को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वेंगी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का चिर प्रतीक्षित अवसर अवश्य मिला था किंतु उसने तब भी शांति की ही नीति अपनाई और वह अपने पड़ोसियों से उनका राज्य छीनकर अपने साम्राज्य के विस्तार की नीति से विरत रहा। उसके भाई जयसिंह के विद्रोह, और होयसलों की गुस्ताखी के कारण उसके शासन के उत्तरार्द्ध में कुछ संघर्ष अवश्य हुए, अन्यथा बराबर शांति बनी रही। होयसल इस काल में अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। विक्रमादित्य के शासन काल के अभिलेख पर्याप्त संख्या में मिले हैं। इनसे साम्राज्य की सुख-समृद्धि का पता चलता है। जनता प्रायः संतुष्ट थी। विद्या और ललित कलाओं की चतुर्दिक उन्नति हुई। विक्रमादित्य के दरबार में दूर दूर से विद्वान और कलाकार आश्रय प्राप्त करने आते थे। कश्मीर से चलकर बिल्हण जैसा प्रसिद्ध कवि उसके दरबार में आया और वह कल्याणी में ही बस गया। प्रसिद्ध लेखक विज्ञानेश्वर ने राजा और राजधानी की पूरी-पूरी प्रशंसा की है। यह अनोखी बात नहीं है। उस काल के अभिलेखों में इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों और स्थानों के इसी प्रकार के गुण-गान मिलते हैं। उसके राज्य में वास्तविक सुख का वातावरण रहा होगा। सर्वत्र सुरक्षा का भाव था। इससे साहित्य और ललित कलाओं की श्रीवृद्धि हुई। इनके उदाहरण शताब्दियों के बाद आज भी उपलब्ध हैं।

विक्रमादित्य के राज्यारोहण के बाद उसके भाई जयसिंह तृतीय से संबंध कतिपय वर्षों तक बड़े सौहार्दपूर्ण थे। जयसिंह ने अपना राजनैतिक जीवन 1064 ई० के आसपास अपने पिता सोमेश्वर के अधीन तर्दवाड़ी के राज्यपाल की हैसियत से शुरू किया था। इससे कम से कम अपनी निगाह में वह अपने दोनों भाइयों के बराबर था। इसीलिए उसने अपने पिता का विरुद त्रैलोक्यमल्ल धारण किया था। सोमेश्वर द्वितीय ने उसे नोलंबवाडी का उपराजा बनाया था। जिसके बाद उसने नोलंबपल्लव पेर्माडि जयसिंहदेव की उपाधि धारण की थी। सोमेश्वर और विक्रमादित्य के गृह युद्ध में उसने विक्रमादित्य का साथ दिया था। बिल्हण के कथनानुसार जयसिंह को उसका पुरस्कार विक्रमादित्य के अभिषेक के दिन ही मिला।[178] उसने इस पुरस्कार का स्वरूप नहीं बतलाया है। किंतु एक दूसरे प्रकरण में अन्यत्र जयसिंह के विद्रोह का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि विक्रमादित्य ने उसे बनवासी का उपराजा बनाकर भेजा था। अभिलेखों में घटना का यथार्थ रूप मिल जाता है। उसमें उसे दो छह सौ (अर्थात बेल्वोला 300 और पुलिगेड़े 300) का 25 जून 1077 ई० को ही शासक बतलाया गया है।[179] यह मंडल बहुधा युवराज के अधीन रहता था। विक्रमादित्य के शासन के तीसरे वर्ष के एक अन्य अभिलेख[180] के अनुसार जयसिंह युवराज के रूप में इस मंडल के अलावा कंदूर 1000 का शासन करता था। इस लेख में उसे 'अण्णम् अंककार', अर्थात अपने भाई का रक्षक कहा गया है। इस लेख में उसके द्वारा एतगिरि के स्कंधावार (नेलेवीडु) में हिरण्यगर्भ और तुलापुरुष दान करने का उल्लेख है। इसके थोड़े समय बाद ही उसके इलाके का विस्तार हुआ और उसे बनवासी 12000,[181] सांतलिगे 1000[182] का भी शासक बना दिया गया। वस्तुतः जयसिंह की इस पदोन्नति से सम्राट के अनेक विश्वस्त सेनापतियों के पदमान घट गए। विक्रमादित्य के शासन के दूसरे वर्ष में बर्म्मदेव बनवासी और सांतलिग का स्वतंत्र रूप में शासन करता था जिसकी राजधानी बल्लिगावे थी। चौथे वर्ष (1080 ई०) में वही बर्म्मदेव जयसिंह के अधीन राजस्व के अधिष्ठायक के रूप में मिलता है।[183] चालुक्य विक्रम-वर्ष 7 अर्थात 1085 ई० तक जयसिंह युवराज बना रहा। उसके बाद किसी अभिलेख में उसका कोई जिक्र नहीं आता। तथापि इसके बाद क्या हुआ, इसकी जानकारी हमें बिल्हण से मिलती है। उसने दोनों भाइयों के संबंधों पर पूरे दो सर्ग (14, और 15) लिखे हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिल्हण ने लिखा है—विक्रमादित्य का एक 'आप्त पुरुष' (विश्वस्त सलाहकार) उससे मिला। उसने राजा से क्षमा पूर्वक निवेदन किया कि जयसिंह ने विश्वासघात किया है। धर्म का मार्ग छोड़कर उसने प्रजा के सभी वर्गों पर अत्याचार कर प्रभूत धन एकत्र कर लिया है और अब वह अपनी सेना बढ़ा रहा है, और अटवी जातियों के साथ घनिष्ट मित्रता स्थापित कर रहा है। यहां तक कि द्रविड़ राजा के पास संदेश और भेंटोपहार भेजकर वह उसे भी अपना मित्र बना रहा है। वह विक्रमादित्य की सेनाओं में फूट फैला रहा है। उसने शीघ्र ही कृष्णवेणी पहुंचने की योजना बनाई है। राजा के प्रति उसके मन में शत्रुता का भाव भर गया है। अपने बड़े भाई से युद्ध की स्मृतियां अभी तक विक्रम के मन को क्षुब्ध कर रही थीं। इस समाचार से उसे हार्दिक क्लेश हुआ। अब छोटे भाई से भी युद्ध की आशंका हो गई थी। विक्रम की समझ में ही नहीं आया कि जयसिंह ने यह रास्ता क्यों अपनाया है? विक्रमादित्य ने गुप्तचर भेजकर सही बात जाननी चाही। उन्होंने इन बातों की पुष्टि की। फिर भी विक्रम ने अपने भाई के पास मित्रता का संदेश भेजकर कहलवाया कि जयसिंह सिर्फ नाम के लिए सम्राट नहीं है उसे तो सम्राट के सभी अधिकार प्राप्त हैं। विद्रोह से उसे कोई लाभ नहीं है। किंतु मित्रता-पूर्ण समझौते के उसके सभी प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए। जयसिंह अपनी सेना लेकर कृष्णा तक बढ़ आया जहां अनेक 'मांडलिक' भी उससे आ मिले। विक्रम के मैत्रीपूर्ण संदेशों को जयसिंह ने उसकी कमजोरी समझने की भूल की। कृष्णा तक आसानी से जाने से और नए मित्र पाकर वह फूला न समाया। जयसिंह के सैनिकों ने जनता को त्रस्त करना, लूटना और कैद करना प्रारंभ कर दिया। उसने अपने भाई के पास, जो सम्राट था, अपमानपूर्ण संदेश भी भेजे। अब विक्रम के भी धैर्य का बांध टूट गया। प्रतिरक्षा के लिए युद्ध आवश्यक हो गया था। अपनी सेनाओं के साथ वह भी कृष्णा के तट पर पहुंच गया। उसने समझौते का अंतिम प्रयत्न किया किंतु उसमें भी असफल हुआ। युद्ध प्रारंभ हो गया। प्रारंभ में जयसिंह की गजसेना को सफलता मिली। विक्रम की सेना में भगदड़ मच गई। वीर विक्रम ने अपने बलवान हाथी पर सवार हो स्थिति संभाल ली। उसने जयसिंह की आशाओं को धूल में मिला दिया। मैदान उसके हाथ रहा। विद्रोही सेना के बहुत से हाथी और घोड़े उसके हाथ लगे। जयसिंह का रनिवास भी कैद हुआ। स्वयं जयसिंह पड़ोस के जंगलों में भाग गया। जब वह पकड़कर विक्रमादित्य के सामने उपस्थित किया गया तो सम्राट ने उससे प्रेम से बात की और उसका भय दूर किया। (संभाष्य संतोष्य च)

बिल्हण ने इतना ही लिखा है। उसने विद्रोह के लिए नैतिक दृष्टि से जयसिंह की निंदा की है। किंतु वह यह भूल गया कि जयसिंह ने जब अपने बड़े भाई के प्रति विद्रोह किया था तो वह विक्रमादित्य के ही पगचिह्नों पर चला था। आखिर विक्रम ने भी तो अपने भाई सोमेश्वर के प्रति विद्रोह कर उसे सिंहासन से उतार दिया था। जयसिंह का दुर्भाग्य यही था कि वह असफल रहा। कुलोत्तुंग चोल से सहायता की आशा थी किंतु वह पूरी न हुई। कुलोत्तुंग या तो अन्यत्र व्यस्त था या फिर उसे यह विश्वास न था कि जयसिंह की विजय होगी। किंतु बिल्हण ने यदि एक छोटी सी घटना के वर्णन में अतिरंजना न की हो तब तो स्वयं उसके कथनानुसार भी कुलोत्तुंग की सहायता के बिना भी जयसिंह विजय के नजदीक पहुंच गया था। हमें तो इस बात में संदेह ही है कि विक्रमादित्य ने विद्रोही भाई के प्रति कृपा और क्षमा का व्यवहार किया होगा जैसा कि बिल्हण ने लिखा है। चाहे जो भी हुआ हो, इसके बाद जयसिंह के बारे में फिर कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

अब हम विक्रमादित्य के होयसलों से संबंध पर दृष्टि डालेंगे। होयसल अपने को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चंद्रवंशी बतलाते थे। ये यादव कुल के थे। इन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार शांतिपूर्वक और धीरे-धीरे किया था। पहले ये चालुक्यों के अधीन थे और गंगवाड़ी के पश्चिम और मैसूर प्रदेश के परे की उस पट्टी में थे जो किसी की भूमि नहीं थी और चालुक्यों और चोलों के बीच अंतस्थ (बफर) इलाके के रूप में थी। इस इलाके में अनेक छोटे मोटे राजा थे जो गंग, आलुव, या कदंब परिवारों के थे। इनके अतिरिक्त अपेक्षाकृत अल्प ज्ञात सेनावर, सांतर, कोंगालव आदि वंशों के भी राजा थे। इसी इलाके में होयसल भी थे। इनकी राजधानी सोसेबूर में थी और ये कडूर जिले के मुदुगेरे तालुक के राजा थे।[184] हम देख चुके हैं कि सोमेश्वर प्रथम की रानियों में एक का नाम होयसला देवी था। विक्रमादित्य के शासन काल के अभिलेखों में होयसलों की तीन पीढ़ियों के नाम आए हैं; विनयादित्य, उसका बेटा एरेयंग और एरेयंग के पुत्र बल्लाल प्रथम और विष्णुवर्धन। विनयादित्य का उल्लेख चालुक्य विक्रम वर्ष 14 (1090 ई०) से होता है और उसे त्रिभुवनमल्ल-पोयसल देव और गंगवाडी 96000 का शासक कहा गया है। यह उपाधि गंगवाड़ी पर उसके दावे की सूचक है, न कि अधिकार की।[185] कुलोत्तुंग के विरुद्ध युद्ध में एरेयंग की भूमिका का उल्लेख उसके पोते नरसिंह के एक लेख में है जिसमें उसे चालुक्य राजाओं का दृढ़वाहु कहा गया है और उसे मलेपों (पर्वतीय राजाओं), चक्रकूट, कलिंग और धारा का विजेता कहा गया है। इसमें चोलों के विरुद्ध उसकी सफलता का भी वर्णन है।[186] वह दीर्घकाल तक युवराज की हैसियत से शासन में अपने पिता की सहायता करता रहा और अनेक युद्धों में उसने सफलता प्राप्त की। विनयादित्य की मृत्यु के बाद एरेयंग ने दो वर्ष से भी कम राज्य किया था।[187] इस पूरी अवधि में होयसल अपने सम्राट की ओर से युद्धों में लड़ते रहे और अपनी स्थिति दृढ़ करते रहे। विनयादित्य की मृत्यु के समय तक होयसलों का राज्य काफी बढ़ चुका था। उस समय उनके राज्य की सीमाएं अल्वखेद, कोंकण, बयलनाद (वयनाद) तलकाड और साविमले थीं। इनके बीच के इलाके उनके अधिकार में थे।[188] इनमें तलकाड से चोलों के उस प्रांत का तात्पर्य है जिसकी राजधानी तलकाड थी। साविमले के बारे में अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया है। वह शिभोगा जिले का कोई पहाड़ी इलाका रहा होगा।

बल्लाल प्रथम के राज्यकाल (1100 से 1110 ई०) में भी राज्य की यही सीमाएं थीं। उसके एक लेख में उसका विरुद त्रिभुवनमल्ल आया है जो यह सूचित करता है कि वह विक्रमादित्य का सामंत था।[189] बल्लाल के छोटे भाई का नाम बिट्टिग था जो बाद में विष्णुवर्धन नाम से विख्यात हुआ। बल्लाल के शासन के प्रारंभ में यह उसका सहायक था। 1101 ई० में बिट्टिग का गंगवाड़ी के शासक के रूप में उल्लेख मिलता है।[190] उस समय उसका भी विरुद त्रिभुवनमल्ल था। बिट्टिग एक प्रसिद्ध योद्धा था। अपनी सैनिक योग्यता के अनुकूल ही वह महत्वाकांक्षी भी था। उसके नेतृत्व में होयसलों ने चोलों और चालुक्यों से बराबरी के दर्जे से लोहा लिया था और इन दोनों सम्राटों से कुछ प्रदेश छीन लिए थे। अब वह औपचारिक रूप में भी चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करने से कुढ़ता था। बिट्टिग की सफलताओं के वर्णन तो अनेक अभिलेखों में मिलते हैं किंतु इस रूप में नहीं कि हम उसकी क्रमिक प्रगति का आकलन कर सकें। इस संबंध में अपेक्षाकृत परवर्ती अभिलेखों के वर्णन अधिक विशद हैं। किंतु यह बतलाना कठिन है कि उनमें कल्पना का अंश कितना है और वास्तविकता कितनी है। अन्य वंशों के लेखों में, जैसे येल्वर्गे के सिंदों के, कुछ उल्लेख अवश्य हैं, पर उनका स्वरूप भी वही है। इन लेखों की सहायता से भी वास्तविकता का पता लगाना कठिन है। अभिलेखों में जो प्रशस्तियां हैं उनका स्वरूप भी काव्य का ही है। इनमें किसी राजा की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सफलता का वर्णन करते हुए उसके पूर्वजों के कृत्य भी उसी के खाते जमा कर दिए हैं। इससे भी स्थिति जटिल हो जाती है। उदाहरणार्थ 1160 ई० के एक अभिलेख में यह कहा है कि विष्णुवर्धन ने मालवा और चक्रकूट की विजय की थी और सोमेश्वर के हाथी छीन लिए थे।[191] स्पष्ट ही यह कार्य एरेयंग का, और संभवतः विनयादित्य का था जो उन्होंने विक्रमादित्य के झंडे के नीचे चालुक्यों के लिए किया था, जबकि विक्रमादित्य सम्राट भी न बना था।

विष्णुवर्धन के अनेक विरुद थे। संभवतः वे उसकी विभिन्न सफलताओं के सूचक हैं। उनमें सबसे महत्व के विरुद ये हैं: तलकाडु-बनवासे-हानुंगल्लु-गोंड, वीरगंग, विजय-नोणंब और साहस-कदंब।[192] जिस अभिलेख में उसके ये विरुद मिलते हैं वह मार्च 1117 ई० का है। उसमें तलकाड और गंगवाडी की विजय और उसके क्षेत्र से चोल-शक्ति को समाप्त करने, उच्चंगि (नोणंबवाडी) के पांड्यों को हराने, तुलु राजाओं को जीतने और जगद्देव और इरूंगोल की शक्ति नष्ट करने और पूर्वी प्रदेश के उस अभियान के उल्लेख हैं जिससे कांची कांपने लगी थी।[193] इसमें कोंगकोंग के प्रदेश के समर्पण का भी उल्लेख है। कोंगकोंग से संभवतः कोंकण का तात्पर्य है। लगभग उसी समय के आसपास के अभिलेख में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा है कि विष्णुवर्धन कदंबों के लिए दावाग्नि और जयकेशि रूपी बादल के लिए चंडवात के समान था।[194] अन्य अभिलेखों के स्पष्ट ही अतिरंजित और काल्पनिक कथनों को छोड़कर हम 1160 ई० के उस अभिलेख की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसमें यह कहा है कि विष्णुवर्धन ने तलकाड के चोल राज्यपाल अदिग को अपने अधीन किया; उच्चंगि बनवासे और बेल्वोला पर लगातार हमले किए और हंगल के मार्ग से वह कृष्णानदी (पेद्दोरे) तक बढ़ गया। अभिलेख के अंत में कहा गया है कि विष्णुवर्धन कांचीपुरम् से पेद्दोरे तक समस्त प्रदेश का स्वामी था। जयकेशि का पीछा करने तथा हयवे 500 और पलसिगे 12000 पर अधिकार करने का उल्लेख (1136 ई० के) एक अभिलेख में खासतौर से हुआ है।[195] अन्त में वीर बल्लाल के गडग अभिलेख में[196] (1192 ई०) कहा है कि जगद्देव का राज्य छीनकर वह अपने भाई के बाद शासक हुआ। फिर उसने उच्चंगि और अन्य प्रदेशों को रौंद डाला तथा वह अपनी राजधानी से बेल्वोला तक के प्रदेशों का एकछत्र राजा बन गया। उसने अपने घोड़ों को कृष्णवेण्णा में स्नान कराया था। इसका ठीक-ठीक अर्थ यह हुआ कि उसने जगद्देव को 1111 ई० से पूर्व जीता था और उसी साल वह राजा बना था। उसके पांच-छह वर्ष के भीतर ही विष्णुवर्धन ने अपनी अधिकांश विजय पूरी कर ली थीं। वस्तुतः यही सब हुआ होगा, किंतु इसके संबंध में प्रमाण कम हैं और काफी बाद के हैं। अभिलेख के अंत में यही कहा है कि इस बीच विक्रमादित्य के मंत्री बार-बार उसे होयसलों से सावधान करते रहे। उन्होंने स्पष्ट ही सम्राट से कह दिया था कि मांडलिक राजाओं में होयसल सबसे खतरनाक हैं।[197]

बल्लाल और विक्रमादित्य के शत्रु जगद्देव की पहचान उसी नाम के तत्कालीन संतार राजा से की गई है, किंतु वह जगद्देव नहीं हो सकता। कालक्रम इसके विरुद्ध है। फ्लीट को इस कठिनाई का पता था। इसीलिए उसने यह सुझाव देते हुए भी अपनी शंका व्यक्त कर दी थी। परवर्ती लेखकों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया।[198] होयसल अभिलेखों में साफ साफ कहा गया है कि जगद्देव मालव था। हम देख चुके हैं कि मालवा में उस समय उत्तराधिकार के झगड़े और गुजरात के चालुक्यों और मध्यभारत के चेदियों के हमलों के कारण अस्त-व्यस्ता की स्थिति थी। अपने पिता के आदेश से विक्रमादित्य ने हस्तक्षेप कर वहां जयसिंह को गद्दी पर बैठाया था। जयसिंह के बाद लगभग 1160 ई० में उदयादित्य गद्दी पर बैठा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने विक्रमादित्य से मित्रता की होगी। जगद्देव उदयादित्य का ही बेटा था। उसके जैनाद अभिलेख में[199] कहा है कि उसने आंध्र के राजा को जीता, चक्रदुर्ग के राजा को पराजित किया और दोरसमुद्र नगर में प्रवेश किया। इसी प्रकार होयसलों के अभिलेखों में यह लिखा है कि चालुक्य सम्राट ने होयसलों के विरुद्ध जो सेना भेजी थी उसके सेनापतियों में मालवेश्वर जगद्देव भी था।[200] इसमें एक भयंकर युद्ध का बड़ा सजीव वर्णन है जिसमें जगद्देव हाथी पर सवार था और बल्लाल प्रथम घोड़े पर। इसमें जगद्देव ने बल्लाल की 'वीर' कहकर प्रशंसा की जिसके उत्तर में उसने कहा कि मैं ही वीर बल्लाल हूं। इसके बाद उसने जगद्देव की सेना में ऐसा कुहराम मचाया कि सारी दुनिया ने दांतों तले उंगली दबा ली।[201] यहां जो यह इशारा है कि जगद्देव 'सप्तांग' (राज्य) से हाथ धो बैठा, वह मात्र कवि-कल्पना है।

वर्णन की पूर्णाहुति स्वरूप यह भी बतला दें कि शाके 1039 (1118 ई०) के दो अभिलेखों में विष्णुवर्धन के सेनापति द्वारा विक्रमादित्य की सेनाओं पर कण्णेगल में रात्रि में किए गए आक्रमण का बड़ा सशक्त वर्णन है जिसमें शाही सेना की रसद और सवारियों की अपार क्षति हुई थी। विक्रमादित्य की सेनाओं का नेतृत्व बारह 'सामंत' कर रहे थे।[202] और उनके सैनिक पर्याप्त संख्या में हताहत हुए थे। चालुक्यों के किसी लेख में इस युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है। किंतु उच्चंगि के पांड्यों के अभिलेखों में बतलाया गया है कि उन्होंने चितलद्रुग जिले की सीमाओं पर दुम्मे के युद्ध में होयसलों से मोर्चा लिया था और उसके बाद कई वर्षों तक वे लगातार शांति से राज्य करते रहे।[203] इसी प्रकार हंगल और गोवा के कदंब भी राज्य करते रहे। विष्णुवर्धन के कारण जो अस्तव्यस्तता आ गई थी उसका लाभ उठाकर गोवा का राजा जयकेशि द्वितीय अपने को स्वतंत्र घोषित करना चाहता था, किंतु कुछ समय तक वह इससे हिचकिचाता रहा। अंत में उसने भी उसी राजा का साथ देने का निश्चय किया। उसने सम्राट की कन्या मैलल देवी से विवाह कर इस मित्रता पर मुहर लगा दी। इस रानी को हम 1124 ई० में गोवा पर उसके साथ संयुक्त रूप में शासन करते पाते हैं।[204] चालुक्य विक्रम वर्ष 46 (1121-2 ई०) के एक अभिलेख में शिभोगा जिले में हलसूर के एक दूसरे युद्ध का उल्लेख है।[205] इस युद्ध का कारण त्रिभुवनमल्ल भुजबल गंग पेर्माडिदेव के विरुद्ध पोयसल बिट्टिदेव के दंडनायक बोपन्न का विद्रोह बतलाया गया है। बोपन्न बनवासी इलाके में मंडलि प्रांत का शासक था। इस युद्ध को 'महाहव' (महायुद्ध) कहा गया है और इसमें भुजबल के बेटे संभवत: नन्नि गंग पेर्माडिदेव ने वीरगति पाई थी। फिर, सिंद अभिलेख होयसल अभिलेखों में उल्लिखित होयसल सफलताओं के अतिरंजित दावों को झूठा सिद्ध करते हैं। इनसे तो यही सिद्ध होता है कि विष्णुवर्धन के विरुद्ध विक्रमादित्य को ही काफी सफलता मिली थी और होयसलों की शक्ति उतनी तेजी से नहीं बढ़ी थी जितना कि उनके प्रशस्तिकार बतलाते हैं। कम से कम अपने पूरे जीवन काल में विक्रमादित्य ने उन पर अंकुश रखा था। सिंद अभिलेखों में[206] बतलाया गया है कि 'सार्वभौम सम्राट विक्रम के आदेश से रणसिंह, प्रखर किरणों वाले तप्त सूर्य सरीखे आचुगि (द्वितीय) ने पोयसलों को निकाल बाहर कर, गोवे पर अधिकार कर लिया, लक्ष्मण को युद्ध में मार डाला, पांड्यों का वीरता से पीछा किया, मेल्पों को तितर-बितर कर दिया और कोंकण को घेर लिया।' आचुगि के बेटे पेर्माडिदेव के बारे में कहा गया है कि उसने 'कुलशेखरांक का सिर काट लिया, चट्ट को जिंदा पकड़ लिया, जयकेशिन को उद्विग्न कर दिया और उसका पीछा किया, पृथ्वी के सबसे भयंकर पोयसल राजा को शक्तिविहीन कर दिया और सदा अपराजेय रहने का यश प्राप्त किया। वह उपद्रवी बिट्टिग के पहाड़ी दर्रों तक पहुंच गया और उसने उसे लूटा, घोरसमुद्र को घेर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिया, और तब तक उसका पीछा करता रहा जब तक कि वह बेलुपुर न पहुंच गया। बेलुपुर पर उसने अधिकार कर लिया। ऐसे पिथुल यश वाला पेर्मराजा अपनी तलवार से उसे खदेड़ते हुए बाहडि के दर्रे तक पहुंच गया। उसने सभी बाधाओं को पार कर संसार में यश प्राप्त किया।'[207] शाके 1084 (1162-63 ई०) के एक अन्य अभिलेख में[208] आचुगि और उसके बेटे की सफलताओं का दूसरे ढंग से ही वर्णन किया गया है जिसमें वे ब्यौरे भी दिए हैं जो पहले के लेखों में नहीं मिलते।

यद्यपि इन परस्पर विरोधी विवरणों में से सत्य का पता लगाना कठिन जरूर प्रतीत होता है तथापि इनमें तालमेल बैठाया जा सकता है। वस्तुतः ये घटनाक्रम के विभिन्न चरणों की रपट हैं जिनमें हर पक्ष अपने उज्ज्वल पक्ष को ही उजागर करना चाहता है। इस प्रकार बेलूर ताम्रपट्ट उस समय की घटनाओं का समाहित विवरण प्रस्तुत करता है जब विष्णुवर्धन ने प्रारंभ में अनेक सफलताएं प्राप्त की थी और अनेक नए मित्र बना लिए थे। ये मित्र या तो उसकी शक्ति के आगे झुक गए थे या फिर अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए आकर विद्रोह में शामिल हो गए थे। इस अवधि में विक्रमादित्य का साम्राज्य डावांडोल हो गया था। उसके दक्षिण के कुछ भागों पर विष्णुवर्धन ने अधिकार कर लिया था। उच्चंगि के पांड्य और गोवा का जयकेशि द्वितीय खुलकर उसका साथ दे रहे थे। उनके अतिरिक्त कई छोटे छोटे राजा भी उसके साथ थे जिनके राज्य विष्णुवर्धन के कृष्णा की ओर कूच के मार्ग में पड़ते थे। किंतु विक्रमादित्य भीरू न था और न ही उसकी उम्र या वर्षों की शांति ने उसकी सैनिक प्रवृत्ति को ही मंद किया था। जब होयसलों की धृष्टता ने उसे युद्ध के लिए बाध्य कर दिया तो वह मैदान में उतर आया। उसने सिंद आचुगि द्वितीय और उसके बेटे पेर्म की सहायता से पर्याप्त संख्या में सैनिक एकत्र किए। विष्णुवर्धन को तुरंत उस नए प्रदेश से, जो उसने हथिया लिया था, निकाल बाहर किया गया। उसके मित्रों को भी कठोर दंड दिया गया। गोवा पर आक्रमण कर उसे लूट लिया गया और उसमें आग लगा दी गई। पांड्य राजा भाग गया, पर उसका पीछा किया गया। होयसल राजा भी घने जंगलों और अपने घर के पास के दर्रों में छिप गया जहां शाही सैनिकों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। होयसल अभिलेखों में 1118 ई० में कण्णेगल में चालुक्यों के स्कंधावार का उल्लेख है। यह स्थान हसन जिले के बीच में पड़ता है। इसके पास ही होयसलों की राजधानी थी जिसे चालुक्यों ने घेर लिया था। यद्यपि युद्ध की घटनाओं का सिलसिलेवार विवरण तो संभव नहीं तथापि यह स्पष्ट है कि विष्णुवर्धन के दुःसाहस ने उसे विपत्तियों के समुद्र में डाल दिया था। यद्यपि चालुक्य साम्राज्य तो अपनी सैनिक क्षमता और कूटनीति से इस तूफान से बच निकला—आचुगि द्वारा गोवा की लूट के तुरंत बाद ही जयकेशि और विक्रमादित्य में संधि हो गई थी—किंतु होयसलों के प्रदेश पर शाही सेनाओं का कई साल तक कब्जा रहा। शिमोगा जिले में हलसूर में 1122 ई० में जो युद्ध हुआ था, जिसमें गंग राजा ने होयसलों के विरुद्ध सम्राट की ओर से युद्ध करते वीर-गति पाई थी, इस बात का सबूत है कि इस बार सैनिक गतिविधि काफी लंबी चली थीं और उन परिस्थितियों में भी, जब साम्राज्य के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया था, कुछ सामंत बराबर राजभक्त बने रहे। एक अन्य खंडित अभिलेख,[209] जिस पर कोई तिथि नहीं है और विद्वानों ने भी जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है, मैसूर जिले के येदतोरे 'तालुक' में मिला है।[210] इसमें होसवीडु नामक स्थान पर हुए एक दूसरे युद्ध का उल्लेख है जिसमें होयसल बड़ी वीरता से लड़े थे, किंतु विजय पेर्माडिदेव (विक्रमादित्य षष्ठम् अथवा सिंद पेर्माडि) की हुई थी। हम चालुक्य विक्रम वर्ष 46 और 47 (1122-3 ई०) में विक्रमादित्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को जयंतिपुर, वनवासी के एक स्कंधावार में पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उत्तर में स्थिति ठीक कर सम्राट दक्षिण में होयसलों से निपटने आया था। हो सकता है कि होयसलों के विरुद्ध युद्ध का नेतृत्व स्वयं उसने ही किया हो। विष्णुवर्धन को मुंह की खानी पड़ी और कम से कम कुछ काल के लिए उसे अपनी महती योजना का परित्याग करना पड़ा। होयसलों पर विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य ने विष्णुवर्धन का विरुद धारण किया।[211] इस प्रकार विजय का समारोह तभी मनाया जाता था जब कि किसी स्वतंत्र राजा को पहली बार हराते थे। इससे यह पता चल जाता है कि विष्णुवर्धन सफलता के कितने निकट पहुंच गया था। होयसलों के लेखों में जो कहा गया है कि उसने कांचीपुर से कृष्णा के प्रदेशों पर शासन किया, उसका तात्पर्य यही है कि उसका साम्राज्य इन स्थानों तक फैल गया था।

अन्य दिशाओं में विक्रमादित्य के साम्राज्य की परिधि की सूचना हमें शाके 1008 (1097 ई०) के राष्ट्रकूट सामंत राणक धाड़िदेव के सितावल्दि (नागपुर) अभिलेख;[212] नटवाडि के शासक दुग्गलभूप[213] के चालुक्य-विक्रम वर्ष 29 (1106 ई०) के निदिकोंड अभिलेख (दुग्गलभूप के राज्य का एक भाग कृष्णा के पार हैदराबाद रियासत में और कुछ भाग कृष्णा जिले के नंदिग्राम तालुक में पड़ता था); और काकती प्रोल के चालुक्य विक्रम वर्ष 42 (दिसंबर 1117 ई०) के अनंकोंड अभिलेख से मिलती है।[214] अंतिम लेख में इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार प्रोल के पिता बेट को उसके मंत्री बैज दंडनायक ने चालुक्य सम्राट के सम्मुख उपस्थित हो उसकी प्रभुता स्वीकार करने को राजी किया जिसके फलस्वरूप बेट को सब्बि 1000 की जागीर मिली। इस लेख के समय बेट का पुत्र प्रोल उस प्रदेश का शासक था। अतः हम यह मान सकते हैं कि बेट का विक्रमादित्य के दरबार में जाने का प्रकरण इससे पहले का है।[215] यह स्पष्ट नहीं है कि उसे विक्रमादित्य की प्रभुता पुनः स्वीकार करने की जरूरत क्यों पड़ी, तथापि हम उसका अनुमान कर सकते हैं। विक्रमादित्य ने कुलोत्तुंग के प्रति कभी ढिलाई नहीं बरती। वह उसको सदा तंग करने के उपाय ढूंढ़ता रहता था। हम देख चुके हैं कि विजयादित्य की मृत्यु के कई साल बाद तक कुलोत्तुंग के बेटे चोल सम्राट के उपराजाओं के रूप में वेंगी का शासन करते रहे।[216] 1092-3 ई० में जब विक्रम चोल वेंगी का उपराजा बना उससे पहले वेंगी में विक्रमादित्य के कहने पर या अन्यथा भी किसी प्रकार के उपद्रव का पता नहीं है। फिर तीन युद्ध हुए, दो कलिंग के विरुद्ध और एक कुलनु (कोलेर झील) के राजा भीम के विरुद्ध। इससे विक्रम चोल पर दो तरफ से आक्रमण का खतरा पैदा हो गया था। यद्यपि कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है तथापि अनुमान यही है कि कुलोत्तुंग और विक्रम चोल की कठिनाइयों का कम से कम आंशिक कारण विक्रमादित्य अवश्य रहा होगा जो हमेशा अवसर की ताक में रहता था और उनके विरुद्ध बराबर षडयंत्र किया करता था। चाहे जो भी हुआ हो, सच तो यह है कि 1115 ई० से द्राक्षाराम और अन्य तेलुगु प्रदेशों में ऐसे अभिलेख मिलने लगते हैं जिन पर तिथियां चालुक्य-विक्रम वर्ष में दी गई हैं।[217] इन अभिलेखों में चालुक्य सम्राट का उल्लेख परांतक के रूप में मिलता है। एक आंध्र राजा स्वयं को रायनारायण के समृद्ध राजकुल का मुख्य स्तंभ बतलाता है। 1118 ई० में विक्रमादित्य के प्रसिद्ध सेनापति अनंतपाल की वेंगी 14000 के शासक के रूप में नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।[218] इसके दो साल बाद अनंतपाल की 'पट्ट-महादेवी' ने द्राक्षाराम के प्रसिद्ध भीमेश्वर के मंदिर में दान दिया था।[219] इस मंदिर के अन्य अभिलेखों में चालुक्य विक्रम वर्ष में तिथियां दी गई हैं जिनमें वेलनांटि राजेंद्र और एक तेलुगु-चोड राजा की पत्नी मयिल के दानों का उल्लेख है।[220] एक अन्य पश्चिमी चालुक्य सेनापति, अनंतपाल का भतीजा,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोविंद दंडनायक 1127 ई० में कृष्णा जिले में कोंडपल्लि का शासक था।[221] वहां का शासक नियुक्त होने से पहले उसने जननाथपुर (बेजवाड़ा) पर आक्रमण कर कुमार[222] को पकड़ लिया था। उसने दुचेय (दुर्जय ?) गोंक का राज्य छीनकर उसे कैद कर लिया था, चोल राजा से घोर युद्ध किया था और वेंगीपुर को भस्मसात कर दिया था जिससे वहां के निवासी रोने लगे थे। इसमें शक नहीं कि यह अवश्य ही अतिरंजित वर्णन है किंतु इसमें तो शक की की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि वेंगी में अनंतपाल के शासन से पूर्व उसे वहां के चोल उपराजा और उसके सामंतों जैसे वेलनांटि के राजा गोंक—कुमार की पहचान नहीं हो सकी है—के साथ कड़ा संघर्ष करना पड़ा था जिसमें अनंतपाल की जीत हुई थी। द्राक्षाराम के अभिलेखों में चालुक्य विक्रम वर्ष 57 (1132-3 ई०) तक की तिथियां हैं। इनमें से इस अवधि के अंत के आसपास के एक लेख में कोल्लिपाके के राजा मल्ल के पुत्र नंबिराज का उल्लेख है जो षटसहस्रदेव का सामंत था। स्पष्ट ही वह चालुक्यों का सामंत रहा होगा।[223] इस प्रकार 1118 ई० से विक्रमादित्य के शासन के अंत तक और उसके बाद भी कुछ समय तक वेंगी में चोल शक्ति का लोप हो चुका था। मल्लपदेव (1202 ई०) के पीठापुरम् के अभिलेखों में इसी का वर्णन है जिसमें कहा है कि 'अपूर्वपुरुष' कुलोत्तुंग ने 50 वर्षों तक पंच द्रविड़ों और आंध्र का शासन किया, फिर विक्रम चोल दक्षिण में चोल-प्रदेश का शासन करने गया, वेंगी में अराजकता छा गई। (वेंगी-भूमिता-नायक-रहिर जाता)।[224] यद्यपि अपने शासन के प्रारंभ में विक्रमादित्य कुलोत्तुंग को चोल सिंहासन से वंचित करने में असफल रहा था, किंतु उसे अपने शासन के अंतिम समय में इस बात का संतोष अवश्य था कि उसने चोल साम्राज्य को खंडित कर दिया है।

विक्रमादित्य का शासन काफी लंबा रहा। उस काल के अभिलेखों की संख्या भी पर्याप्त है। सैकड़ों अभिलेखों में उसके बारे में जो रोचक विवरण उपलब्ध हैं उन्हें यहां उद्धृत नहीं किया जा सकता। ये अभिलेख दकन के प्रायः सभी प्रांतों और महत्वपूर्ण गांवों में बिखरे पड़े हैं। इनमें से कुछ का बड़ा साहित्यिक महत्व है। इनमें उस काल के धार्मिक, सामाजिक जीवन का विशद चित्र सुरक्षित है। इनका विषद अध्ययन पुस्तक में अन्यत्र प्रस्तुत किया जाएगा। हम यहां विक्रमादित्य की गतिविधियों, साम्राज्य के प्रशासन में उसकी भूमिका और उसके निजी कार्यों के बारे है कुछ तथ्यों का वर्णन करेंगे।

उसकी राजधानी कल्याणी में थी। किंतु सम्राट बहुधा राजधानी से बाहर ही रहता था। अपने शासन के प्रारंभ में (1083 ई०) राजा काफी समय तक राजधानी में रहा। इस अपवाद का खासतौर पर उल्लेख एक अभिलेख में आया है: 'श्रीकल्याणपुरे बहुदिवस स्थिर-निवासिनि'।[225] जब अभिलेख, और इनकी संख्या पर्याप्त है, यह बतलाते हैं कि विक्रमादित्य कल्याणी में सुखपूर्वक राज्य कर रहा था, तो यही संभव प्रतीत होता है कि वहां राजधानी का नाम बतलाना ही उद्देश्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि राजा सचमुच वहां वर्तमान था।[226] कल्याणी के बाद जिस नगर का सबसे अधिक उल्लेख हुआ है वह है अनंतपुर या बनवासी। यहां राजा अपने शासन के चौथे, तेरहवें, पच्चीसवें, बत्तीसवें, छियालीसवें, सैंतालीसवें, अड़तालीसवें और उंचासवें वर्ष में रहा था।[227] अन्य सैनिक या अस्थाई स्कंधावारों में राजा दूसरे वर्ष में पोनुगुप्पे में;[228] दूसरे और तीसरे वर्ष में एतगिरि में;[229] छठे वर्ष में पोट्टलकेरे में,[230] पच्चीसवें वर्ष में भीमरथी के तट पर अप्पयणदकुप्प में;[231] 27 वें वर्ष में बाल्लकुंडे में,[232] 34 वें और 37 वें वर्ष में मान्यकेर में[233] और 41 वें वर्ष में कोल्लिपाके में था।[234] भीमवरम् के एक तेलुगु लेख में[235] जननाथपुरम् का उल्लेख है पर इस पर कोई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तिथि नहीं है। फ्लीट के अनुसार 1091-2 ई० के एक लेख में विजयपुर (विजापुर) का एक राजधानी के रूप में उल्लेख हुआ है।[236] विक्रमादित्य को तमिल ब्राह्मणों से विशेष प्रेम था। उसने वहां से बहुत से ब्राह्मणों को बुलवाकर उन्हें अपने राज्य में बसाया था और भरण-पोषण के लिए उन्हें अग्रहार आदि का दान दिया था। नीरगुंड के एक ताम्रपट्ट में[237] उल्लेख आया है कि 1087 ई० में जब सम्राट कल्याणी में था तो उसने 500 द्रविण ब्राह्मणों को नीरगुंड के एक समूचे गांव का दान दिया था। इसके 36 वर्ष बाद इन्हीं ब्राह्मणों को उन्हीं में से एक के प्रयत्न से एक दूसरे गांव का दान मिला। यह ब्राह्मण उच्चंगि के राय पांड्य के यहां कोई ऊंचा पदाधिकारी था। उसे इस लेख में द्राविड़ादित्य 'श्रीकरणाधिकारि सर्वाध्यक्ष' (तमिलों का सूर्य जो मंदिर-विभाग का अधिकारी और मुख्य अधीक्षक) कहा गया है। इन दोनों अवसरों पर प्रार्थी पांड्य ही थे, पहली बार था, पलत पांड्य और दूसरी बार उसका पोता। इससे एक ओर जहां प्रार्थी के मन में तमिल-पांड्य प्रदेश से अपने मूल संबंध की स्मृतियां उजागर होती हैं वहीं विक्रमादित्य के मन में उसकी पट्टमहिषी चोल राजकुमारी के पीहर के प्रति प्रेम का भी परिचय मिलता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि विक्रमादित्य के मन में यश की स्पृहा सदा रही, विशेषकर वह अपने शत्रु कुलोत्तुंग के राज्य में अपने विद्याप्रेम और धर्मप्रेम की धाक जमाना चाहता था। शासन के 22 वें वर्ष में उसने तुंगभद्रा के तट पर एक मंदिर और एक दूसरी संस्था को सत्र चलाने के लिए दान दिया,[238] अगले वर्ष नर्मदा के तट पर उसने 'तुलापुरुष' दान दिया, शाके 1027 (1105 ई०) में[239] चंद्रदेवी के तट पर उसने अन्य 'दान' दिए।[240] उस काल की मान्यताओं के अनुसार ये सभी उसके धर्मप्रेम के उदाहरण हैं। उसके शासन काल के अभिलेखों में दो 'राजगुरुओं' के उल्लेख है। 1082 ई० के एक लेख में वामराशिदेव का नाम आया है और 1111 ई० के एक लेख में अनंतशिवदेव का।[241] इसमें अनंतशिवदेव तो ऊणुकुल्लु और गुरिंदालु का शासक बताया गया है। कोई पेर्गडे निर्वणय्य उसके अधीन था।

विक्रमादित्य की सेवा में अनेक योग्य सेनापति थे जो विद्वान भी थे। इनमें अधिकांश ब्राह्मण थे। इन सेनापतियों और उनके निकट-संबंधियों के बारे में अभिलेखों में अनेक मनोरंजक विवरण मिलते हैं। इनमें अनंतपाल प्रमुख था जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। वह राजा की ही तरह रहता था। सबसे पहले 1098 ई० के लगभग हम उसे देखते हैं। फिर इसके शीघ्र बाद वह दो छह सौ (अर्थात पुलिगेरे और बेल्वोल) के विश्वस्त शासक के रूप में युवराज पद पर प्रतिष्ठित मिलता है।[242] इसके तीन साल बाद उसके इलाके में बनवासि 12,000 भी जुड़ गया है।[243] वह इन दोनों पदों पर 5-6 वर्ष तक काम करता रहा। फिर वह हमें 1112 ई० में समस्त साढ़े सात लाख देश की वड्डरावुल आय का प्रबंध करते मिलता है। उसका भांजा गोविंद दंडनायक जो संभवतः उसका दामाद ('अलिय') भी था संभवतः सन 1117 ई० में बनवासि का शासक था।[244] इसके चार साल बाद मामा भांजे दोनों साथ-साथ बनवासि के शासक के रूप में उल्लिखित हैं। किंतु इन लेखों में अनंतपाल का नाम औपचारिक तावश ही आया जान पड़ता है क्योंकि उस समय वह वेंगी में था। इसके थोड़े समय बाद गोविंद भी वहीं चला गया। अनंतपाल और गोविंद दोनों ने 'अरस' की उपाधि धारण की थी। चेब्रोलु में एक बहुत बड़े तालाब का नाम अनंतसरोवर था।[245] अनंतपाल के पिता का नाम महेश्वर दंडाधिप था। उसने 'चालुक्य कुल-मूल-स्तंभ' का विरुद धारण किया था। अनंतपाल का दादा का विरुद धारण भी सेनापति था। इसी तरह गोविंद अरस के पिता, पितामह और प्रपितामह भी सेनापति थे। इन सबने युद्धक्षेत्र में पराक्रम दिखाए थे। गोविंद को ही चोल देश के जीतने और प्रभूत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धन और हाथियों के छीनने का श्रेय दिया गया है। पर उसने चोलों से कब युद्ध किया इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।[246] स्वयं अनंतपाल के चार भाई और थे। ये पांचों भाई एक से एक बढ़कर योग्य थे और विक्रमादित्य की सेवा में थे। अनंतपाल के भाइयों के नाम थे नंविदंडाधिप, नारायण, वामन और लक्कन दंडनायक। कालिदास, जिनकी नागै और अन्य लेखों में प्रशंसा की गई है, सुरेश्वर पंडित जो 1099 ई० में वेण्णेवूर 12 का शासक था,[247] कुरुवत्ति के 200 ब्राह्मण जो शास्त्र और शस्त्र दोनों क्षेत्रों में यशस्वी और धर्मात्मा थे[248] और इन सबसे ऊपर सोमेश्वर जिसकी सफलताओं और शौर्य की गडग के लेख में और अन्य लेखों में भी भूरि-भूरि प्रशंशा की गई है, ये सब एक प्रकार के आभिजात्य के विकास के प्रमाण हैं। इनमें विद्वत्ता और शौर्य तथा सम्राट के प्रति अटूट प्रतिबद्धता थी। इन्हीं गुणों के बल पर इनका इतना सम्मान था। इस अभिजातवर्ग और सम्राट के बीच घनिष्ट मैत्री के फलस्वरूप ही साम्राज्य विघटित होने से बचा रहा और वह उन सामंतों के सभी षडयंत्रों का सफलतापूर्वक मुकावला कर सका जो अपने वास्तविक अथवा काल्पनिक अतीत की स्मृतियों में खोए रहते थे और स्वयं सम्राट बनने के सपने देखा करते थे।

अभिलेखों में विक्रमादित्य की अनेक रानियों के नाम आए हैं। बिल्हण ने उसकी दो रानियों का उल्लेख किया है। इनमें से एक चोल सम्राट वीरराजेंद्र की पुत्री थी और दूसरी करहाटक की शिलाहार राजकुमारी चंद्रलेखा। अभिलेखों में उल्लिखित नामों में से चोल राजकुमारी की पहचान नहीं हो सकी है किंतु दूसरी चंदलदेवी है जिसका अनेक अभिलेखों में नाम आया है। बिल्हण ने भी यदाकदा इस नाम का उल्लेख किया है। विक्रमादित्य के शासन के दूसरे वर्ष में ही केतलदेवी कुंबित्तिगे (बीजापुर जिला)[249] के चंडेश्वर मंदिर में दान देते मिलती है। फिर वह 16 वें वर्ष में बेल्लारी जिले में सिरुगुप्पे, कोलनारू और एक अन्य गांव की शासिका के रूप में मिलती है।[250] लक्ष्मी महादेवी अपरनाम लक्ष्मीदेवी पांचवे वर्ष (1081 ई०) में द्रोणापुर (धारवाड़ जिले में दोणि) की शासिका थी।[251] इसके चार साल बाद सूडि के एक अभिलेख में उसका राजा की प्रिय रानी के रूप में और राजा के साथ कल्याणपुर से बराबरी के दर्जे से शासन करने का उल्लेख आया है।[252] 1096 ई० के आसपास वह धर्मपुरम् (डंबल) और 18 अग्रहारों का शासन करती थी।[253] इसके सात साल बाद जब सम्राट ने चंद्रदेवी के तट पर अनेक दान दिए तो वह भी वहां उपस्थित थीं। 1110-11 ई० में वह निट्टिंसिग की शासिका थी।[254] चंदनदेवी ने, जिसका पहला उल्लेख 1083 ई० के आसपास आया है, शिक्षा के लिए 1097 ई० में प्रभूत दान दिया था।[255] उसके दो पुत्र जयकर्ण और सोमभूप का नामोल्लेख है।[256] 1093-94 ई० में जक्कलदेवी इंगुणिगे गांव का शासन करती मिलती है। इस गांव में सम्राट ने महामाणिक्यदेव की प्रतिमा के लिए एक जैन मंदिर बनवाया था। यह जैन-प्रतिमा एक श्रावक को एक सार्थवाह ने दी थी। यह रानी संभवतः कदंब वंश की राजकुमारी थी।[257] 1095 ई० में पट्टमहादेवी मैलसल महादेवी कण्णवल्ले का शासन करती थी।[258] यह रानी संभवतः वही मलयमतीदेवी थी जिसकी 'मृदु-मधुर-वचन-रचना-चतुरकलालापी' के रूप में 1108 ई० के एक अभिलेख में प्रशंसा की गई है।[259] राजा की अन्य रानियों में यलवट्टि के सेनभोव रयण की पुत्री राजा की 'चित्त-वल्लभा' माललदेवी जिसने मालेश्वर मंदिर का निर्माण कराया था;[260] पद्मलदेवी जो 1119 ई० में मंगोली के अग्रहार की शासिका थी[261] और भागलमहादेवी के नाम उल्लेख्य हैं जिसके चाचा (माव) का नास मांडलिक राजरस पेर्गाडे मार्तण्डय्य था और जिसने सिरुर में स्वर्णदास दिया था।[262] फ्लीट ने कतिपय अभिलेखों के आधार पर, जिसका ज्ञान आधुनिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसंधानकर्ताओं को नहीं है, एक अन्य रानी का भी उल्लेख किया है जिसका नाम 'शावलदेवी' था, और जो सूर्यवंश के महामंडलेश्वर जोगमरस अथवा जोगमरण की पुत्री थी। यह महामंडलेश्वर दरिकाडुनाड का स्वामी और मंगलवाड का मंडलेश्वर था। इसकी पत्नी का नाम तारादेवी था। शावलदेवी 1177-8 ई० में या उसके कुछ बाद नरेयंगल के अग्रहार का प्रबंध करती थी। यह अग्रहार उसके पति ने उसके 'अंगभोग' (वैयक्तिक खर्च) के लिए दिया था।[263] विक्रमादित्य की पुत्री मैललमहादेवी के गोवा के कदंब राजा जयकेशि द्वितीय के साथ विवाह का उल्लेख हम कर चुके हैं। उसके बेटे भल्लिकार्जुनदेव का सबसे पहले राजा के शासन के दूसरे वर्ष अर्थात 1077 ई० में हानुंगल में शासन करने का उल्लेख हुआ है।[264] उसे हम युवराज के रूप में 1096 से 1116 ई० के आसपास तक तरवाडि 1000 का शासन करते पाते हैं। इसके बाद उसके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता। वह पिता के जीवन काल में ही मर गया होगा। विक्रमादित्य के दूसरे पुत्र का नाम सोमेश्वर था जिसकी माता चंदलदेवी का उल्लेख हम कर चुके हैं। कुछ कारणों से उसके जन्म से ही उसे सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित किया गया था। 1089 ई० में ही वह दो छह सौ और बनवासि का शासक था। उसका दर्जा महाप्रधान का था और उसे 'अण्णनसिंग' (पिता का सिंह) कहा गया है।[265] इसके पूर्व 1083 ई० में वह किसुकाड 70, वागाडगे 70 और नरेयंगल 12 का शासक था और उसकी उपाधि महामंडलेश्वर भूलोकमल्ल पेर्माडि थी।[266] इसके कुछ साल बाद उसे गंग पेर्माणडि कहा गया है। 1110 ई० में वह कोल्लिपाके से कई मंडलों का शासन करता था। इस पद पर वह संभवत: विक्रमादित्य के शासन के अंत तक बना रहा।[267] उसे कतिपय तेलिंगन अभिलेखों में कुमार सोविदेव कहा गया है। उसका भाई कुमार जयकर्णदेव सन 1112 ई० में महाग्रहारसिंदिगे का शासक था। इसके दस साल बाद उसने बीजापुर के पास के एक मंदिर में दान दिया था।[268] विक्रमादित्य के एक अन्य पुत्र का नाम कुमार तैलप था। वह तुंबल को 'नेलेवीडु' बनाकर कम से कम 1113 से 1123 ई० के बीच सिंदवाडि का शासन करता रहा।[269]

सोमेश्वर तृतीय

विक्रमादित्य के बाद उसका बेटा सोमेश्वर तृतीय गद्दी पर बैठा। उसने भूलोकमल्ल और सर्वज्ञ चक्रवर्ती के विरुद धारण किए थे।[270] उसके शासन का प्रारंभ चालुक्य-विक्रम वर्ष 51 में हुआ। उसके अंतिम अभिलेख में उसके शासन के तेरहवें वर्ष का उल्लेख है।[271] इसलिए मोटे तौर पर उसने 1126 से 1138 ई० तक राज्य किया। उसका शासन प्राय: शांति से बीता। विक्रमादित्य ने अपनी मृत्यु के समय जितना बड़ा साम्राज्य छोड़ा था, करीब-करीब वे सभी प्रदेश उसके समय में भी साम्राज्य में बने रहे। अपने पिता की भांति उसने भी एक नए संवत् का प्रचलन किया जिसे उसने भूलोकमल्ल-वर्ष का नाम दिया था। तथापि उसके शासन-काल में चालुक्य-विक्रम-वर्ष का भी यत्रतत्र प्रयोग होता रहा। सिर्फ एक बार अपने शासन के तीसरे वर्ष में वह दक्षिण की 'दिग्विजय' को गया था जब उसने हल्लुणियतीर्थ में स्कंधावार किया था।[272] यदि हम हैदराबाद संग्राहालय में सुरक्षित एक अभिलेख[273] का विश्वास करें तो दिग्विजय यात्रा का मुहुर्त्त उसके राज ज्योतिषी नन्नय भट्ट ने उसके राज्यारोहण की तिथि को निकाला था। इस नन्नय भट्ट को मुहुर्त्त-शोधन के लिए एक गांव का दान मिला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह 'दिग्विजय' एक औपचारिकता मात्र थी। इसकी उस समय न कोई आवश्यकता थी और न सम्राट कोई नए प्रदेश ही जीतना चाहता था। उसके समय में कल्याणी में ही राजधानी रही। कई अखिलेखों में राजा के कल्याणी में निवास का उल्लेख है।[274] उसके शासन के दूसरे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और छठे वर्षों में जयंतिपुर और पिंजरासंगभद कुप्प में 'नेलेवीडु' के उल्लेख भी मिले हैं।[275] इस अंतिम तिथि को (1132 ई०) तैलपदेव को हम युवराज के रूप में शासन करते पाते हैं जब उसका सामंत वाचरस गुत्तिकल को राजधानी बनाकर सिंदवाड़ी का शासन करता था। तेलुगु प्रदेश सोमेश्वर के शासन-काल में पश्चिमी चालुक्यों के साम्राज्य का अंग बना रहा इसका प्रमाण वह तेलुगु अभिलेख है जो भीमवरम् (गोदावरी जिला) से उसके शासन के नवें वर्ष में जारी हुआ था जिसमें दंडनायक लक्ष्मरस ने केशवदेव को जो दान दिया था उसका उल्लेख है और भूलोकमल्लदेव के धनधान्य, समृद्धि और दीर्घायुष्य की प्रार्थना की गई है। उसी स्थान से संस्कृत का भी एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। उससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इस लेख पर कोई तिथि नहीं है। इससे कल्याणी के चालुक्यवंश की भुवनैकमल्ल तक वंशावली दी है।[276] इनके अतिरिक्त उसी समय के द्राक्षाराम के भी कई लेख हैं। किंतु वेंगी का प्रदेश उनके हाथ से निकलता जा रहा था। विक्रमादित्य षष्टम् की मृत्यु के बाद तो उसके दक्षिणी आधे भाग पर चोलों का अधिकार ही हो गया था। गुंटूर जिले में चेब्रोल वेंगी के हृदय प्रदेश में पड़ता है। यहां कभी दंडनायक अनंतपालय्य का शासन था। 1127 ई० में हम यहीं महामंडलेश्वर नंवय्य को, जो अपने को कोल्लिपाके और षट्सहस्रनाडु का स्वामी बतलाता है, विक्रम चोल की अधिराजकता मानते हुए पाते हैं।[277] स्पष्ट है कि वह नंविराज के नाम से अंततोगत्वा अपने को स्वतंत्र घोषित करने की इच्छा रखता था।[278] किंतु उसके प्रयत्न सफल नहीं हुए क्योंकि विक्रम चोल की शक्ति बढ़ती जा रही थी। 1182 ई० के निडिब्रोलु के एक अभिलेख में हम पाते हैं कि वेलनांडु के राजाओं पर विक्रम की अधिराजकता पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[279] अधिराजकता में यह परिवर्तन बिना खून-खराबे के न हुआ होगा। जबकि पूर्वी समुद्र तक पश्चिमी चालुक्यों के साम्राज्य का विस्तार करने वाला विक्रमादित्य जीवित न रहा तो सौ साल पहले से पूर्वी चालुक्य प्रदेशों में चोलों की प्रभुता पुनः स्थापित होती जा रही थी। अब साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों की रक्षा के लिए सोमेश्वर तृतीय को भी शस्त्र उठाना आवश्यक हो गया।[280] द्राक्षाराम के एक अभिलेख में, जिस पर कोई तिथि नहीं है, गोदावरी के तट पर एक युद्ध का उल्लेख है जिसमें वेलेनांटि चोड गोंक द्वितीय ने पश्चिम चालुक्यों की सेना को भगा दिया था। कुंतल नरेश भी इस युद्ध में उपस्थित था। उसने गोविंद और लक्ष्मण को जीता था। ये चालुक्यों के प्रसिद्ध सेनापति थे। इस युद्ध में बहुतसा सोना, घोड़े और ऊंट भी गोंक के हाथ लगे थे। इस युद्ध के बारे में इससे अधिक ब्यौरे उपलब्ध नहीं हैं। यह युद्ध 1135 ई० में या उससे कुछ ही पहले हुआ होगा। तेलुगु प्रदेश के लेखों में इसके बाद चोल-विक्रम-वर्ष में तिथियां नहीं मिलती हैं। जिन दो प्रसिद्ध चालुक्य दंडनायकों की पराजय का इस लेख में उल्लेख है उनके बारे में अन्य अभिलेखों में भी उल्लेख आए हैं। ये पूरब के इलाके में चालुक्य-सम्राट के प्रतिनिधि थे। ध्यान देने की बात यह है कि इस अभिलेख में यह भी लिखा है कि इस युद्ध में सोमेश्वर भी उपस्थित था।

ऐसा प्रतीत होता है कि होयसल नरेश विष्णुवर्धन काफी समय तक सोमेश्वर की अधीनता मानता रहा। उसके अभिलेखों में 1135 ई० तक सोमेश्वर को सम्राट और उसे सामंत कहा गया है। इनमें उसे गंगवाड़ी और नोलंबवाड़ी तक दोरसमुद्र के 'नेलेवीडु' से शासन करते बतलाया गया है।[281] फ्लीट ने सिंदिगेर के 1137 ई० के एक अभिलेख का उल्लेख किया है जिसमें विष्णुवर्धन को 'चालुक्य-मणि-मंडलिक-चूड़ामणि' कहा गया है।[282] किंतु सोमेश्वर के शासन के अंतिम समय उसके शासन के 13वें वर्ष अर्थात 1139 ई०, का एक अभिलेख मिला है जो काफी खंडित अवस्था में है। पर इसका जितना अंश बच रहा है उसमें यह स्पष्ट है कि महा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंडलेश्वर होयसलदेव ने गंगवाड़ी, नोलंबवाड़ी और बनवासी को छीन लिया था और उस समय वह हंगल पर घेरा डाले हुए था।[283] इसके अलावा हम यह भी पाते हैं कि 1137 ई० से पूर्व भी होयसल राजा पूरी शाही उपलब्धियां धारण करने लगा था। इससे यही पता चलता है कि सोमेश्वर की शांतिप्रिय प्रकृति के कारण विष्णुवर्धन की एक बार पुनः स्वतंत्र होने और सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा जग गई थी।

सोमेश्वर के दूसरे वर्ष के एक अभिलेख से पता चलता है कि बीजापुर जिले में कड़ले-वाद, 'दक्षिण वाराणसी' के स्वयंभु सोमनाथदेव के मंदिर में दर्शन के लिए गया था जहां उसने षोडश 'महादान' और मंदिर को भी प्रभूत दान दिए थे।[284] सोमेश्वर को युद्ध और राजनीति से अधिक धर्म और साहित्य में रुचि थी। उसने 'अभिलाषितार्थ चिंतामणि' अथवा 'मानसोल्लास' नामक एक महाग्रंथ की रचना की थी जिसे विभिन्न विषयों का आकर ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ में 100 अध्याय हैं जिनमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से ग्रंथ का 'अभिलषितार्ध-चिंतामणि' नाम और इसके लेखक का 'सर्वज्ञ' नाम सार्थक ही है। विक्रमादित्य ने जो व्यवस्था की थी और अधिकारियों और सामंतों में जो राजभक्ति की भावना भरी थी उससे साम्राज्य प्रायः अखंड बना रहा। अनंतपालय्य इस राजा के अधीन भी कई वर्षों तक बना रहा।[285] इसी प्रकार अन्य प्रमुख व्यक्ति भी रहे होंगे। सोमेश्वर के शाके 1056 (1134 ई०) के एक लेख में उसकी रानी का नाम बर्मलदेवी आया है।[286] सोमेश्वर के दोनों पुत्रों की माता वही थी अथवा राजा की अन्य रानियां भी थीं, इन सब बातों का पता नहीं।

जगदेकमल्ल द्वितीय

सोमेश्वर तृतीय के दो बेटे थे। बड़े बेटे का असली नाम क्या था, इसका पता नहीं। पिता की मृत्यु के बाद वही गद्दी पर बैठा था।[287] अभिलेखों में उसका उल्लेख पेर्म और जगदेकमल्ल के रूप में ही हुआ है जो उसके 'विरुद' थे। इतिहासकार इसका उल्लेख जगदेकमल्ल द्वितीय के नाम से ही करते हैं। उसके लेख आमतौर पर जयसिंह जगदेकमल्ल प्रथम के लेखों से भिन्न हैं क्योंकि इसने 'प्रताप चक्रवर्त्तिन' का भी विरुद धारण किया था। होयसल विष्णुवर्धन के कतिपय लेखों में उसे त्रिभुवनमल्ल भी कहा गया है। चालुक्य-विक्रम वर्ष 65 (1141 ई०) के एक अभिलेख में उसे त्रिभुवनमल्ल पेर्माडिदेव कहा गया है।[288] जगदेकमल्ल का सबसे प्राचीन उल्लेख चित्तलद्रुग के 1124 ई० के एक अभिलेख में मिलता है।[289] इस लेख में वह सम्राटों की समस्त उपाधियां धारण करता है और इसमें उच्चंगि का विजयपांड्य उसके सामंत के रूप में उल्लिखित है। किंतु उस समय वह अपने पितामह के अधीन किसी उच्च पद पर रहा होगा। इसके बाद हम उसके शासन के अभिलेखों में ही उसका उल्लेख पाते हैं। शाके 1060 (1138 ई०) में पिता की मृत्यु के बाद वह राजा हुआ था।[290] जगदेकमल्ल ने अपना एक संवत् भी चलाया था किंतु उसकी मृत्यु के बाद वह संवत आगे न चला। उसके शासनकाल में भी सदा उस संवत का प्रयोग नहीं हुआ है।

हम देख चुके हैं कि सोमेश्वर तृतीय की शिथिलता के कारण होयसल विष्णुवर्धन की महत्वाकांक्षाएं जग गई थीं। तथापि वह अपने अभिलेखों में सम्राट की अधीनता मानने की औप-चारिकता का निर्वाह करता रहा।[291] किंतु इन लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस शक्ति-शाली सामंत की शक्ति और महत्व में निरंतर वृद्धि होती जा रही थी। शाके 1066 (1143 ई०) के एक अभिलेख में विष्णुवर्धन के एक अभिलेख में माहलिगे के विरुद्ध एक 'महादंड' (महा-अभियान) का उल्लेख है जिसमें घनघोर युद्ध में हकर नाम के एक 'महावीर' योद्धा ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीरगति पाने से पूर्व शत्रु की चतुरंग सेना पर आक्रमण कर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया था।[292] होयसलों के इस अभियान के बारे में इससे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं। तथापि 1149 ई० में विष्णुवर्धन धारवाड़ में बंकापुर को अपनी राजधानी ('नेलेवीडु') बतलाता है जहां से वह गंगवाड़ी,[293] नोलंबवाड़ी, बनवासे, हंगल और कृष्णा नदी तक हूलिगेरे का शासन करता था।[294] इसके तीन साल बाद, जगदेकमल्ल की मृत्यु के ठीक बाद विष्णुवर्धन बंकापुर से शासन करता रहा था और उसके बेटे और सहायक नरसिंह की राजधानी दोरसमुद्र थी। कृष्णा नदी तक शासन करने के होयसल राजा के दावे का आंशिक रूप से खंडन जगदेकमल्ल के लेखों से ही हो जाता है। अतः यह तो उसकी अतिरंजना ही है तथापि यहां हम उस साम्राज्य के अंत का प्रारंभ अवश्य देखते हैं जो इससे एक ही पीढ़ी पूर्व विक्रमादित्य के शासन-काल में अपनी पराकाष्ठा पर था।

तथापि जगदेकमल्ल के शासन के अंत तक साम्राज्य का बाहरी स्वरूप खंडित न हुआ था। यहां तक कि होयसलों ने भी अधीनता का मुखौटा खुलेआम नहीं फेंक दिया था। कलचुरियों और काकतीयों ने तो और भी नहीं। अन्य अभिलेखों में सफलता के अतिरंजित विवरण को छोड़ भी दें[295] तो भी 1143 ई० के चित्तलद्रुग जिले के एक अभिलेख में चोलों और होयसलों के विरुद्ध उसकी सफलता की प्रशंसा की गई है।[296] इसके चार साल बाद 1147 ई० के मुत्तुगे के एक अभिलेख के बर्म्म दंडाधिप की प्रशंसा में कहा गया है कि सम्राट जगदेकमल्ल की आज्ञा पाकर उसने होयसल राजा पर जोरदार हमला किया और उसका पीछा किया।[297] लक्ष्मेश्वर के एक अन्य अभिलेख में (1147 ई०) में सच्चे वीर (निचल्ला गलि) केशिराज दंडाधीश की प्रशंसा में कहा गया है कि वह चोल-लाट और गुर्जर राजाओं को खदेड़ने के लिए 'प्रबल मंत्र' के समान था, उसने मालव, कलिंग और चोल से सम्राट के लिए कर ग्रहण किया[298] और वह चालुक्य-वंश का प्रतिष्ठापक था। यह वर्णन इतिहास से अधिक 'प्रशस्ति' है। चाहे जो भी हो इस 'प्रशस्ति' में केशिराज की सफलताओं का जो वर्णन है उसकी पुष्टि के लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है। हां, इसके अंतिम कथन से यह तात्पर्य अवश्य निकलता है कि उसकी नीति और सैन्य कौशल से साम्राज्य का विघटन होने से बचा रहा। एक अभिलेख में जिस पर कोई तिथि नहीं है उसे हलसिगे 12,000, हंगल 500 और दो छह सौ (पुरिगेरे और बेल्वोल) का शासक बतलाया गया है। सिंद बोप्पदेव उसके अधीन मुलगुंड 12 का मन्नेय था।[299] यह सुझाव दिया गया है कि यह केशिराज गोवा का कदंब जयकेशि द्वितीय है। किंतु इसकी संभावना नहीं है।[300]

जगदेकमल्ल के अंतिम प्राप्त अभिलेख पर शाके 1074 (सन 1151) की तिथि है। इसमें कीर्तिदेव के पुत्र गंग मारसिंह को जिडुवलिगे, एडेनाड और हन्निपल्लि का शासक बतलाया गया है।[301] मारसिंह के पुत्र एक्कल का उल्लेख इससे पहले के अभिलेखों में भी आया है।[302] बेल्लारी जिले के बगलि के एक अभिलेख की तिथि आंगिरस वर्ष तदनुसार चालुक्य विक्रम वर्ष 16 में दी गई है। यदि हम यह मानें कि भूल से जगदेकमल्ल संवत् के स्थान पर इस संवत् का उल्लेख हो गया है तब तो उसका शासन 1153 ई० तक चला होगा।[303] और यदि हम चिन्न तंबलम् के एक अन्य लेख का विश्वास करें तो उसने 1155 ई० तक राज्य किया था।[304] कल्याणी ही जगदेकमल्ल द्वितीय की राजधानी बनी रही जहां राजा मुख्यतः रहता था। उसके शासन के अनेक अभिलेखों में इसका उल्लेख है। एक बार 1148 ई० में जयंतिपुर का भी उल्लेख आया है।[305]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तैल तृतीय

जगदेकमल्ल द्वितीय के बाद उसका छोटा भाई तैलप तृतीय गद्दी पर बैठा जिसे आमतौर पर त्रैलोक्य मल्ल कहा गया है, यद्यपि कई अभिलेखों में विशेषकर होयसलों के अभिलेखों में, त्रिभुवनमल्ल उसे भी कहा गया है।[306] इस काल में चालुक्य राजाओं की 'मल्ल' उपाधि में काफी घालमेल हो गया था। इससे अभिलेखों में वर्णित चालुक्य शासकों की निश्चित पहचान करना कठिन है। अत: यदि किसी अभिलेख के प्रमाण के बारे में इस संबंध में कोई शंका हो तो उसे छोड़ देना ही ठीक होगा। कतिपय अभिलेखों में तैल को चालुक्य-चक्रवर्त्ति-विक्रम भी कहा गया है।[307] इसके शासन के सबसे पुराने अभिलेखों में एक बीजापुर (राजधानी विजयपुर) में मिला है जो तैलप के शासन के तीसरे वर्ष तदनुसार 28 अगस्त 1151 ई० का है।[308] अत: तैलप ने 1149-50 ई० में शासन शुरू किया होगा जब कि उसका भाई जगदेकमल्ल जीवित था और सिंहासन पर विराजमान था। यह असंभव नहीं। तैलप कोई योग्य शासक न था। कठिन परिस्थितियों में वह गद्दी पर बैठा था। सम्राट के सामंत विशेषकर नए सामंत जैसे होयसल, काकतीय और यादवों ने चालुक्यों की सेवा में रहते हुए अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था। वे कई पीढ़ियों से विभिन्न प्रांतों में शासन करते आ रहे थे। अब वे अपनी स्वतंत्रता की घोषणा के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे ताकि वे आघात कर सकें। तैलप के पास न इतनी राजनैतिक योग्यता थी और न सैनिक कुशलता ही कि वह विघटनकारी शक्तियों पर अकुंश लगा सकता। उसके अभिलेखों में ऐसे छंद अवश्य मिलते हैं जिनमें चोलों, मालवों और गुर्जरों के विरुद्ध उसके अभियानों के उल्लेख हैं,[309] तथापि ये वंश के प्राचीन-गौरव की अनुगूंज मात्र हैं। वस्तुतः इनमें उसके शासन के किसी वास्तविक अभियान का तात्पर्य नहीं है। सबसे आसन्न खतरा कलचुर्य बिज्जल की ओर से आया। बिज्जल हेम्माडियरस का पुत्र था जो सोमेश्वर तृतीय के शासन काल में तर्द्दवाड़ी का शासक था जो साम्राज्य के हृदय-प्रदेश में स्थित था। स्वयं बिज्जल (ण) ने इसी मंडल के महामंडलेश्वर के रूप में शासन प्रारंभ किया था। उसने तैलप का विश्वास भाजन बनकर अथवा बलात् बड़ी शीघ्रतासे पर्याप्त संचयकर लिया था और वह ऊंचे पद पर पहुंच गया था। अब वह इस स्थिति में था कि सम्राट को गद्दी से उतारकर उसके स्थान पर स्वयं बैठ जाए।

फ्लीट ने तैल के शासन के बारे में एक बात की और हमारा ध्यान आकृष्ट किया था, जिसे दुहराना आवश्यक है। तैल के अभिलेखों की संख्या आशा से कम ही है। अनेक सामंत राजाओं, जैसे शिवचित्त-पेर्माडि और गोवा के कदंब-वंश का विजयादित्य[310] रट्ट राजा कार्त्तवीर्य तृतीय, सेलार विजयादित्य, और वारंगल के काकतीय अपने अभिलेखों में सम्राट के रूप में तैल का उल्लेख नहीं करते। हम अभी देखेंगे कि इनमें से अनेक सामंतों ने क्रांति में बिज्जण का साथ दिया था। और यह क्रांति सफल रही थी।

अब हम बिज्जण और उसके क्रियाकलापों पर दृष्टि डालें। तैल तृतीय के तीसरे वर्ष के बिजापुर के अभिलेख (1151 ई०) के अनुसार वह चालुक्य सम्राट का 'महामंडलेश्वर' था।[311] किंतु उसे बिज्जल क्षेणिपाल कहा गया है और मालवा, लाट, नेपाल और गुर्जरों को पराजित करने वाला बतलाया गया है। उसके यशस्वी सेनापति का नाम सैलार था। अन्य 'करणों' (अधिकारियों) के साथ उसे साम्राज्य के हृदय प्रवेश तर्द्दवाड़ि का शासक कहा गया है। 1156-7 ई० तक के लेखों में उसे सामंत ही कहा गया है।[312] किंतु इसके बाद शीघ्र ही उसे सभी प्रदेशों का शासक कहा गया है।[313] और उसके दंडनायक महादेवरस को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनवासे का प्रधान बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चार अन्य अधिकारियों को बिज्जण देव का 'अंतःकरणस्य' कहा गया है। इन सेनापतियों को इतनी भड़कीली उपाधियां देने से यही प्रकट होता है कि बिज्जल अपने सहायकों की मदद से गुप्त रूप में सम्राट बनने की कोशिश में लगा हुआ था। अगले चरण में वह तैल का उल्लेख सम्राट के रूप में (तत्पादपदमोपजीवी) नहीं करता बल्कि वह उसके समकालीन (तत्कालोदोलु) के रूप में करता है।[314] हावेरी के अभिलेख की तिथि तैल वर्ष 8 तदनुसार दिसंबर 1157 ई० है। इसमें बिज्जल को महाराजा धिराज भुजबल चक्रमवर्त्तिन कलचुर्य बिज्जलदेव कहा गया है।[315] इसी के आस-पास उसने स्वयं अपना संवत भी चलाया और 'त्रिभुवनमल्ल' का 'विरुद' धारण किया उसका अण्णिगेरे का अभिलेख उसके शासन के दूसरे वर्ष में जारी हुआ था।[316] इस लेख की तिथि हावेरी के लेख की तिथि से एक सप्ताह के भीतर पड़ती है। हावेरी वाले लेख में तैल की प्रभुता को स्वीकारा गया है किंतु अण्णिगेरे के लेख में तैल का कीई उल्लेख नहीं है। सम्राट पद के अपहरण की घोषणा उन अभिलेखों में है जिनमें बिज्जल ने चालुक्य सम्राटों के सभी विरुद धारण कर लिए हैं और उसे कल्याणी से शासन करते बतलाया गया है। इस प्रकार के अभिलेखों में पहला ज्ञात लेख वह है जिसकी तिथि उसके शासन के सातवें वर्ष (चित्रभानु) में है जो 16मई, 1162 ई0 को पड़ी थी।[317]

बिज्जण के अभिलेखों में उसका उल्लेख अनेक रूपों में हुआ है। यह स्वाभाविक भी है। इनमें एक उदाहरण बड़ा रोचक है। 1163 ई० बिजापुर जिले के कड़लेवाड़ अभिलेख में उसे 'त्रिभुनैक निजमुजवीरमल्लदेव' कहा गया है।[318] इस लेख में बिज्जण के भुजबल की प्रशंसा है जिस, की बदौलत त्रिभुवन का सर्वश्रेष्ठ मल्ल बना था। इसी प्रकार सन् 1170 ई० के मुत्तगे के अभिलेख में कहा है कि कलचुरिवंश के सभी राजा प्रसिद्ध सम्राट थे।[319] किंतु कुछजिन का बल क्षीण हुआ वे 'मांडलिक' बने। बिज्जण ने 'मांडलिक' बनना अपनी योग्यता की दृष्टि से हेय समझा। उसने अपनी सेना की सहायता से अपने को सार्वभौम सम्राट बनाया। किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। बिज्जण के एक लेख के अंत में 'सिलाहारों' की विशेष प्रशंसा की गई है।[320] 1191 ई० के एक सिलाहार ताम्रपट्ट अभिलेख में यह कहा गया है कि सिलाहार विजयादित्य की सहायता से बिज्जल सम्राट बना था।[321] अनमकोड के एक लेख में बतलाया गया है कि चालुक्यों के साम्राज्य को नष्ट करने में काकतीय राजाओं ने किस प्रकार सहायता दी थी। इस काकतीय लेख के एक छंद में कहा गया है[322] कि हाथी पर सवारी के शौकीन तैलपदेव को जब वह इस प्रकार युद्ध में हाथी पर सवार था प्रोल ने पकड़ लिया। यद्यपि वह ऐसे बंदी राजाओं का सिर काट लेने के लिए प्रसिद्ध था किंतु अपने पूर्व सम्राट के प्रति उसके मन में तब भक्ति शेष थी। इसलिए उसने उसे दया की भीख दी। इसी वर्णन में यह भी कहा है कि जगद्देव ने अनेक 'मांडलिकों' की सहायता से अनमकोंड नगरी को घेर लिया था। यह जगद्देव संभवतः संतार राजा पंबुच्च था जो इस युद्ध में चालुक्यों की और से लड़ा था।[323] इसी लेख में आगे के एक छंद में लिखा है कि प्रोल के पुत्र रूद्र के भय से तैल को 'अतिसार' हो गया था जिससे उसकी मृत्यु हो गई।[324] तह काकतीय अभिलेख 1163 ई० के अंतिम दिनों का है और तैल की अंतिम ज्ञात तिथि 17 जून 1163 ई० है जो पट्टदकल के सिंद चावुंड के लेख की है। अतः हम यह मान सकते हैं कि तैल का निधन 1163 ई० के उत्तरार्ध में हुआ होगा।[325]

कलचुयों ने जो क्रांति की उससे उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ। प्रताप चक्रवर्ती वीर बिज्जल शाके 1090 (1168 ई०) तक कल्याणी से राज्य करते मिलता है,[326] फिर उसका कोई पता नहीं चलता। हां उसके बारे में कतिपय संदेहास्पद दंत-कथाएं अवश्य मिलती हैं। इनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह बतलाया गया है कि उसने नवोदित लिंगायतों का दमन किया था जिन्होंने अंत में उसे मार डाला। इन दंत कथाओं का खंडन कदंबों की हंगल शाखा के कामदेव के समय के अबलूर के अभिलेखों से हो जाता है[327] जो प्राय: उसके समकालीन प्रमाण है। बिज्जल के चार बेटे थे इनके लेख 1167 ई० से 1183 ई० तक मिलते हैं। तैलके बेटे सोमेश्वर चतुर्थ ने 1184 ई० में शासन प्रारंभ किया। तैल की मृत्यु और सोमेश्वर के राज्यारोहण के बीच की अवधि चालुक्य इतिहास में अराजकता की स्थिति रही। तैल की मृत्यु का वास्तविक कारण चाहे जो भी रहा हो, इतना स्पष्ट है कि बिज्जल का पटाक्षेप शीघ्र ही हो गया था। उसके पुत्रों में सोविदेव पहला और सबसे महत्वपूर्ण था। उसके अभिलेख अपने पिता के अभिलेखों के साथ-साथ समूचे कर्णाटक में मिलते हैं। उसे आम तौर पर रायमुरारि कहा गया है। कभी-कभी उसका नाम सोमिदेव भी मिलता है। उसका अंतिम अभिलेख संभवत: दसवें वर्ष (1176 ई०) का है।[328] उसके अन्य भाइयों के नाम संकम, आहवमल्ल और मलुगि अथवा मल्लिकार्जुन थे। फ्लीट ने उसके पुत्रों में महाराजाधिज सिंघण का भी उल्लेख किया है। इसका आधार 1183 ई0 का एक ताम्रपट्ट है।[329] इन अभिलेखों में हमारे काम की बात कम ही है। इनका महत्व इस बात में है कि इनसे यही पता चलता है कि कलचुरियों ने बिज्जल की सफलता का भरपूर लाभ नहीं उठाया। चालुक्य सत्ता का पतन बिना संघर्ष के नहीं हुआ था। इसी काल के जगदेकमल्ल तृतीय के कई लेख मिले है जिनमें उसने चालुक्य सम्राटों की सभी उपाधियां धारण की हैं। वे चित्तलद्रुग जिले तक ही सीमित नहीं है,[330] जैसाकि कहा गया है। इनमें सबसे प्राचीन लेखों में एक चित्तलद्रुग जिले के दवणगेरे 'तालुक' का है जो1164 ई०का है।[331] इसके प्रारंभ में चालुक्यों की सामान्य 'प्रशस्ति' है, फिर जगदेकमल्ल का उल्लेख है। इसमें कलचुरि-संवत 8की तिथि दी गई है। जगदेकमल्ल तृतीय के अंतिम अभिलेखों में एक चित्तल दुर्ग 'तालुक' में मिला है जिस पर सोमकृत वर्ष (1182 ई०) की तिथि है।[332] इसमें जगदेकमल्ल का सम्राट के रुप में और विजय पांडय का उसके सामंत के रूप में उल्लेख है। इसमें कलचुरियों का कोई उल्लेख नहीं है। इनसे भी महत्वपूर्ण अभिलेख बेल्लरी जिले के हरपणहल्लि का अभिलेख है इसमें जगदेकमल्ल को कल्याण से शासन करते बतलाया गया है। इसमें उसके सामंत विजयपांड्य और उसके अधीनस्थों का उल्लेख है। फिर कलचुर्य भुजबल चक्रवर्ती राय नारायण आहवमल्ल का उल्लेख है। इस आहवमल्ल का कोई पद स्पष्ट नहीं किया गया है। इस लेख की तिथि उसके चौथे वर्ष की है। वर्ष का नाम शोभकृत ही (7 जून, 1183 ई०)[333] दिया है। इन अभिलेखों में या अन्यत्र कहीं जगदेकमल्ल का उसके पूर्ववर्तियों या परवर्तियों से संबंध नहीं बतलाया गया है। संभावित निष्कर्ष यह है कि वह तैल तृतीय का, सोमेश्वर चतुर्थ की ही भांति, बेटा रहा होगा। यह भी हो सकता है कि वह तैल का भाई या चचेरा भाई रहा हो जिसने सोमेश्वर चतुर्थ की आवश्यकता की अवधि में चालुक्यों के दावे को बनाए रखा। चाहे जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि कलचुरियों का काम आसान न था। सिंहासन छीनने के उनके प्रत्यनों का प्रबल विरोध हुआ। संभवत सिंहासन बचाने के प्रयत्न में पूरे परिवार को ही कष्ट सहने पड़े। इस पूरे प्रसंग में होयसलों ने ही चतुराई से काम लिया वे सम्राट की अधीनता नाम मात्र को मानते रहे और उपयुक्त समय भी प्रतीक्षा करते रहे। उन्होंने बिज्जल और उसके बेटों की भूलों का पूरा लाभ उठाया।

सोमेश्वर चतुर्थ

तैल तृतीय का पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ त्रिभुवनमल्ल वीर सोमेश्वर चतुर्थ कल्याणी के चालुक्यवंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अंतिम शासक था। इसके बाद हम इस वंश के बारे में फिर नहीं सुनते हैं। एक अभिलेख में उसके चतुर्थ वर्ष को शोभा कृत वर्ष[334] 1105 लिखा गया है। इस प्रकार उसने 1177 से 1180 ई० के बीच शासनारंभ किया। किंतु दूसरे अभिलेखों में उसके शासन का प्रारंभ 1183 ई० से माना गया है।[335] उसके शासन-काल का सबसे प्राचीन लेख कुर्गोद का सिंद अभिलेख है। इसमें शाके 1103 (1181 ई०) में राचमल्ल द्वितीय द्वारा शिव के मंदिर में दान देने का उल्लेख है।[336] उसके शासन-काल का अंतिम अभिलेख चित्तलद्रुग 'तालुक में मिला है, जिसकी तिथि 17 जनवरी, 1200 ई० को पड़ी थी।[337] सोमेश्वर के अभिलेखों में उसकी राजधानी कल्याण ही प्रायः बतलाई गई है किंत दो अभिलेखों में जो 1184 ई० और 1186 ई० के हैं, जयंतीपुर (वनवासी) का उल्लेख है। 1200 ई० वाले अंतिम अभिलेख में भी इसी नगर का उल्लेख है।[338] 1184 वाले अभिलेख से उस काल की राजनैतिक परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख का प्रारंभ चालुक्यों की शाही 'प्रशस्ति' से होता है। फिर तत्कालीन सम्राट चालुक्याभरण श्रीमत् त्रैलोक्यमल्ल भुजबलवीर सोमेश्वरदेव का उल्लेख है। यह भुजबलवीर विरुद संभवतः कलचुरियों के विरुद्ध किसी महत्वपूर्ण सफलता का द्योतक है जिससे चालुक्यों के राजा की पुनः प्रतिष्ठा हो गई जिससे बिज्जल ने उन्हें वंचित कर दिया था। अभिलेख में इसके बाद कालिदास दंडाधिप के पुत्र तुंबुल बम्मिदेव का नाम आया है, जिसने रायमुरारि सोमिदेव महिप की आज्ञा से मल्लनृप के विरूद्ध युद्ध किया और आसमुद्र चोल राज्य को लूटा। चोल राजा अपनी रक्षा के लिए समुद्र तट पर चला गया। यह रायमुरारि सोविदेव कौन है? इस अभिलेख में शाके 1106 (1184 ई०) की तिथि है। उसने रायमुरारि और भुजबल के विरुद धारण किए क्योंकि बिज्जल के पुत्र का इस नाम से कोई लेख 1176-7 ई० के बाद का नहीं मिलता। अंत में, अभिलेख में कहा गया है कि बम्मिदेव का पुत्र पद्मिदेव और पद्मिदेव का मामा वत्सराज सिंदवाड़ी 1000 के मंडल और उसके पूरब के सभी प्रदेशों का अपने बाहुबल से (निजवीर्यभुजबलदिम्) शासन करते थे। इससे यही अनुमान होता है कि चालुक्य सम्राट जिसकी प्रभुता ये स्वीकार करते थे उन्हें किसी प्रकार की सहायता देने की स्थिति में न था।

बम्म, बर्म या बम्मि ब्रह्म के अपभ्रंश-रूप हैं जो इस काल में खूब प्रचलित थे। अनेक चालुक्य सेनापति इस नाम के थे। तत्कालीन अभिलेखों में इस नाम के विभिन्न सेनापति के कार्यों के विववरण उपलब्ध हैं। अतः एक के कार्य का दूसरे के कार्यो से घालमेल संभव हैं। तुंबुल बम्मिदेव के अलावा दो अन्य सेनापति इस नाम के थे। इनमें एक बूतुग (भूतिग) का बेटा था। यह शाके 1100 (1188 ई०) में महामंडलेश्वर के रूप में तोड़गले का शासन शरता था। उसके अभिलेख में तत्कालीन चालुक्य सम्राट सोमेश्वर चतुर्थ का कोई उल्लेख नहीं है,[339] किंतु वह अपने को महामंडलेश्वर आहवमल्ल बूतुग का बेटा बतलाता है जो नूर्मडि तैल अर्थात तैल द्वितीय का सामंत था। उसने कल्याणी से चालुक्य राज्य की स्थापना में हिस्सा लिया था। उसके बारे में कहा गया है कि उसने पांचाल के राजा को मारा था और हम यह जानते हैं कि पांचाल की विजय तैल द्वितीय के उत्थान में एक महत्वपूर्ण घटना थी। दूसरा बर्म इस काल के इतिहास का एक मनोरंजक चरित्र था क्योंकि उसी पर सोमेश्वर और संभवतः अपने शासन के अंतिम चरण में जगदेकमल्ल तृतीय भी कल्याणी के चालुक्य साम्राज्य की रक्षा के लिए आश्रित थे। ब्रह्म काम अथवा कावण का पुत्र था। इसे एक लेख में 'कलचुर्य-राज्य-समुद्धरण' कहा है।[340] इस विरुद से यही अनुमान होता है कि कलचुरियों के शासन का विरोध बढ़ रहा था और उसके समुद्धार की आवश्यकता थी। ब्रह्म संभवतः 1175 ई० के आसपास कलचुर्य सोविदेव की सेना का अधिकारी था। यदि यह सत्य है तो उसके थोड़े समय बा . ही उसने कलचुर्यों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ छोड़कर चालुक्यों की सहायता की क्योंकि सोमेश्वर के दूसरे वर्ष (क्रोधि, 1184 ई०) के अण्णिगे के अभिलेख में[341] सोमेश्वर का दंडनायक और 'कलचुरि वंश के लिए अग्नि' कहा गया है। अब्लूर के एक अभिलेख में,[342] जिस पर कोई तिथि नहीं है, उसे 'चालुक्य राज्य-प्रतिष्ठापक' कहा गया है। अण्णिगेरे के लेख में यह भी कहा गया है कि चालुक्यवीर सोम ने ब्रह्म डदेश की सहायता से कलचुर्यों से राज्य छीना था। 1158 ई० के एक लेख में सोमेश्वर को ही 'कलचुर्य-कुल-निर्मूलन' कहा गया है।[343] कलचुर्यों के विरुद्ध युद्ध में विरुद्ध ब्रह्म की भूमिका के बारे में एक होयसल लेख में विवरण मिलते हैं जिसका उल्लेख हम यहां करेंगे।

एक अभिलेख 1184 ई० में कहा गया है कि चोल, लाट, गौड़, मलेयाल, तेलुंग, कलिंग, वंग, पांचाल, तुरुष्क, गुर्जर, जभौति, मालव और कोंकण के राजा सोमेश्वर के इशारों पर पर चलते थे।[344] यह स्पष्ट ही अतिरंजना है। किंतु अब्लूर का उपर्युक्त तिथि-हीन लेख कलचुर्यों के विरुद्ध सफलता का श्रेय उसे देता है। तथापि इस संबंध में वह बम्मैय की भूमिका का प्रमुख रूप से उल्लेख करता है।

सोमेश्वर ने वीर नारायण का विरुद धारण किया था।[345] प्रतापी ब्रह्म के अलावा महामंत्री तेज़िमय्य दंडनायक[346] और मालप दंडनायक उसके प्रमुख सेनापति थे। मालप दंडनायक 1186 ई० में सिंदवाड़ी 1000 का शासक था।[347]

होयसल बड़े गोलमटोल ढंग से चालुक्यों की प्रभुता स्वीकार करते थे। किंतु उनके लेखों में चालुक्य सम्राटों के जिन विरुदों के उल्लेख हैं उनसे चालुक्य लेखों में आए सम्राटों के अनुक्रम का कोई संबंध नहीं है। शिमोगा जिले के एक अभिलेख में जिसमें शोभकृत वर्ष (1182 ई०) की तिथि है[348] बल्लाल द्वितीय के किसी उत्पात का उल्लेख है जिसके कारण चालुक्य प्रजा को, जिसमें स्त्रियां भी थीं, काफी परेशानी का सामना करना पड़ा था। यह एक स्थानीय उत्पात रहा होगा। बल्लाल ही ऐसा अकेला राजा न था जिसने समझ लिया था कि सोमेश्वर चतुर्थ ने जिस चालुक्य साम्राज्य का उद्धार किया है वह चिरस्थाई नहीं है। अण्णिगेरे के सन् 1189 ई० के एक अभिलेख में यादव राजा भिल्लम को 'कर्णाट-श्री-वल्लभ वभूव' कहा है।[349] ये यादव पहले चालुक्यों के सामंत थे। कलचुर्यों की भांति इन्हें भी अपनी स्वतंत्रता की मान्यता के लिए कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। रट्टों, सिलाहारों और कदंबों और नोलंबवाड़ी के पांड्यों ने उनका प्रभुत्व कभी स्वीकार नहीं किया। होयसलों की सफलता से इनका भी उत्साह बढ़ा। जब से विक्रमादित्य षष्टम् ने विष्णुवर्धन का दमन किया था, मनही मन ये अपनी स्वतंत्रता के सपने देखते रहे थे। भिल्लम[350] और बल्लाल द्वितीय[351] (1192 ई०) के गडग के अभिलेखों से हमें चालुक्यों के साम्राज्य के लोप की कहानी समाप्त करने में सहायता मिलती है। भिल्लम ने अपनी विजयों के संगठन के लिए कुछ वर्ष दक्षिण में बिताए। उसके दवाव के कारण सोमेश्वर और विश्वस्त सेनापति ब्रह्म को दक्षिण की ओर खिसकने को बाध्य होना पड़ा। 1186 ई० में सोमेश्वर की जयंतिपुर (बनवासी) में उपस्थिति और उसके बाद के अभिलेखों में कल्याणी का कोई उल्लेख न होने से यही अनुमान होता है कि कल्याणी पर देवगिरि के यादवों ने अधिकार कर लिया था। वीर बल्लाल ने दक्षिण में वही दुहराने की कोशिश की जो उत्तर में यादवों ने किया था। इस प्रकार पहले उसका सोमेश्वर और उसके सेनापति ब्रह्म से संघर्ष हुआ फिर बाद में यादव भिल्लम से जिसने उन्हें कल्याणी से निकाल बाहर किया था। बल्लाल द्वितीय के अभिलेख में लिखा है "ब्रह्म दंडनायक ने अपने विरद हाथी पर अकेले सवार होकर शत्रु के सुशिक्षित 70 हाथी छीन लिए। इस प्रकार उसने कलचुरि क्षत्रियों को उस लक्ष्मी से वंचित कर दिया जो उसके पिता की बदौलत उन्हें मिली थी। ब्रह्म की सेना में हाथियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भी मजबूत दस्ता था। उसे बल्लाल ने अपनी घुड़सवार सेना से पराजित कर दिया और उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। फिर उसने भिल्लम के दक्षिण बाहु जयत्रसिंह को मारकर कुंतलेश की पदवी प्राप्त की।"[352] बल्लाल की ब्रह्म पर विजय सोमेश्वर के अधीन चालुक्य साम्राज्य को अंतिम करारी चोट थी। इसके बाद करीब दस साल तक वह गुमनाम कहीं जीवित रहा। उसके या उसके परिवार के लोगों का अंत किस प्रकार हुआ, इस संबंध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। भिल्लम का दक्षिण-बाहु जयत्रसिंह संभवतः उसका कोई मंत्री था, उसका बेटा जैतुगि नहीं। यादवों के विरुद्ध इस विजय के बाद होयसलों के प्रदेश में बल्लाल ने मलप्रभा और कृष्णा नदी तक इजाफा कर दिया। उसके उत्तर के प्रदेश यादवों के अधिकार में रहे। चालुक्य अधिराजत्व की समाप्ति से काकतीयों को भी लाभ हुआ। चालुक्य विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद प्रोलू द्वितीय ने कोंडपल्लि के गोविंद दंडनायक को हटाकर चालुक्यों का राज्य हड़पना शुरू कर दिया था।[353]

परवर्ती कालों के अभिलेखों में अनेक राजा अपने को चालुक्यवंशी बतलाते हैं, और 'कल्याणपुरवराधीश्वर' कहते हैं। पर ये अभिलेख सदा असली नहीं भी होते। इनमें सबसे महत्व का राजा दक्षिण कोंकण में यादवों का (रत्नागिरि जिला) एक सामंत महामंडलेश्वर कामदेव है। कामदेव के मंत्री केशव महाजनि ने एक ब्राह्मण को तेरवाटक, तेरवान के गांव का दान दिया था। यह दान उसी स्थान से प्राप्त एक ताम्रपट्ट में लिखा है जिस पर शाके 1182 (1260-1 ई०) की तिथि है।[354]

संदर्भ

1. 'बा० क०', 1928-9 का सं० 176.
2. 'बा० क०', 1932-3 का सं० 381 में 'ए० क०', xi, कन्नड़, 25, 'इं० हि० क्वा०', xiii, 253 के चालुक्य राजा को विक्रमादित्य चतुर्थ नहीं मान सकता, इस लेख में राजा का नाम स्पष्ट नहीं है. तिथि भी काफी बाद की है. मिला०, 'इं० ऐं०', 1918, पृ० 286, टि०-3.
3. 'बा० क० ', 1933-4 का 178 और 1929-30 का 113 ('सा० इं० इं०', xi, (i), 40.
4. 'इं० ऐं०' xxi, 167-8, 'ए० इं०', xv, 350.
5. सोगल अभिलेख 'ए० इं०', xvi 10, तथा वही 6, (5 का संशोधित-संवर्धित अंश).
6. सेवेल ने उसे कक्कं द्वितीय की पुत्री कहा है, पर इसके लिए कोई प्रमाए नहीं दिया हे, 'हि० इं० सा० इं०', पृ० 53 और 384.
7. 'ए० क०', ii, 59, (38); 'मैं० आ० रि०', 1911, पैरा 77.
8. 'ए० क०', viii, sb. 479 और 4771 इसमें पहले पर कोई तिथि नहीं है.
9. 'ए० इं०', vi, 257.
10. 'ए० क०', viii sb. 445.
11. 'सा० इं० इं०', ix, (i) सं०, 73, 74.
12. 'ए० इं०', iv, 206.
13. वही, xvi, 1, ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', x, 204.
14. 'डा० क० डि०', 576-7, भैरनमत्ति अभिलेख, 'ए० इं०', iii, 230-6.
15. 'ए० इं०', iii, 272, छंद 13.
16. रन्न: 'गदायुद्ध' ii, 47
17. वही, 1, 22-6.
18. 'ए० इं०', iii, 297 खरेपतन दानलेख.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

19. 'बा० क०', 1933-4 का 170 (993 ई०)
20. 'इं० ऐं०', xvi, 23, 41-43.
21. वही, xxi, 1678='ए० इं०', xv, 350 पंक्ति 2 4.
22. 'ए० इं०', ii, 215.
23. टानी का अनुवाद (1901) पृ० 33-6.
24. 'ए० इं०', i, 228.
25. 'सा० इं० इं०', ix (i) 77.
26. 'ए० क०', iv, Hs. 50.
27. 'सा० इं० इं०', xi (i) सं० 50, i.
28. वही, vi, 102.
29. 'ए० इं०', xvi, 73.
30. 'सा० इं० इं०', ii, सं० 1, पैरा 92.
31. 'ए० इं०', xvi, 27-31.
32. 'सा० इं० इं०', xi (i) सं० 61.
33. 'ए० क०', vii, श० 285.
34. वी० वेंकटरायन ने कल्याणी के चालुक्यों पर लिखी किंतु अप्रकाशित थीसिस में इस.प्रश्न पर सबसे पहले किंचित विस्तार से विचार किया था.
35. 'ए० इं०', xv, 75 और आगे.
36. 'इं० ऐं०', 1918, 287-8.
37. सबसे प्राचीन B K, 1935-6 का 92 'ऐ० रि० ए०' सबसे बाद का 'सा० इं० इं०', 11 (i), सं० 75.
38. 'ए० इं०', xi, 182 पंक्ति 10, 18, 321, 'भोजचरित' ('इं० ऐं०', 1919, 177) में कहानी दी गई है कि भोज ने तैल को पकड़ लिया था और उसके साथ भी उसने वही व्यवहार किया जो भुंज के साथ किया गया था. इस कथा पर विश्वास नहीं किया जा सकता. यह कपोलकल्पित है.
39. 'ए० इं०', xix, 69-75.
40. 'इं० ऐं०', vi, 54.
41. 'इं० ऐं०', v, 15-17.
42. 'ए० इं०', xii, 303
43. वही, xvi, 75 तथा आगे.
44. वही, 357, छंद 10, विक्रमादित्य षष्टम् के शासनकाल का लेख.
45. वही, xvi, 351 छंद 1.
46. 'सा० इं० इं०', iii, सं० 99, 105, 107.
47. 'ए० इं०', xvi, 77.
48. वही, 16-75, होट्टूर अभिलेख 1037 ई०.
49. 'सा० इं० इं०', xi (i) सं० 76
50. 'चोलाज' i, 551, 'ऐ० रि० ए०', 1917 ई० के 23, 24, 30 और 31.
51. चोलाज i, पृ० 279, 'ऐ० रि० ए०', 1917 का 751.
52. 'सा० इं० इं०', ix (i) सं० 80.
53. 'ए० इं०', xv, पृ० 331, छंद 1.
54. 'ए० क०', viii, sb.184.
55. 'इं० ऐं०', xviii, 270-5.
56. 'ए० इं०', xvi, 75 और आगे. हंगल तालुक के कल्लप मंदिर के शाके 960 के एक अभिलेख में लक्मादेवी (अक्का देवी ?) और मयूरवर्म के नाम साथ-साथ आए हैं और इसमें कहा गया है कि मयूरवर्म 'एकभोग' के रूप में पनुगल का शासक था. यह लेख मैकेंजी के संग्रह के स्थानीय अभिलेखों में सुरक्षित है. (वी० वेंकट्रायन).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

57. B K 1936-7 का 25.
58. 'डा० क० डि०' पृ० 437 टि० 5 और 'पांड्यन किंगडम', पृ० 53-5.
59. 'सा० इं० इं०', xi, (i) सं० 91, 92.
60. 'डा० क० डि०', पृ० 437 और 514-5, 'इं० ऐं०', xii, पृ० 120, छंद 9; 17, पृ० 117.
61. 'ए० क०', vii, संस्कृत 153.
62. वही, xii, si. 37 और 'सा० इं० इं०', xi (i), सं० 69, यद्यपि इसकी तिथि संदेहास्पद है. संभवत: लेख बाद की नकल है.
63. B K, 1934-35 का 69.
64. विक्रमा० ii, 1-25.
65. ये विवरण वी० वेंकटरायन की हैदराबाद म्यूजियम में अप्रकाशित लेखों की सूची से लिए गए हैं.
66. 'है० आ० सि० सं० viii पृ० 13, छंद 43.
67. 'इं० ऐं०', viii, 11 तथा आगे.
68. बिल्हण, i, 91-96.
69. नार्गें अभिलेख, छंद 17.
70. 'ए० इं०', xvi, 81.
71. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०', x, 172 और 'लो० रि०', (वी० वी०).
72. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 85, 99,
73. मारसिंध प्रभु ग्रौर लीलादेवी का संबंध संदेह से परे नहीं है. अभिलेख में रानी लीला का उल्लेख है फिर उसे 'तस्या मातुर्गुरुतरवरः श्री प्रभुर्म्मारसिंघः' कहा गया है. यहां कुछ भूल का संदेह होता है. 'सा० इं० इं०', xi, (i), पृ० 85, पंक्ति 27.
74. 'हैद० ग्राकं० सिरी०', xiii, पृ० 26, छंद 2-4.
75. 'तेल० इंस्क्रिं० कर्ना०, ix, पंक्तियां 11-13.
76. हैद० आर्कं० सिरी०', iii, पृ० 3, छंद 11,
77. 'ऐ० रि० ए०', 1914 का 489; 1914 का 501; 1904 का 93 आदि.
78. 'सा० इं० इं०', ix, (i), सं० 85, 87.
79. 'ज० आ० हि० रि० सो०', ii, पृ० 287, पं० 63.
80. एन० वेंकटरामनय्यः (संपा०), 'भारती-चित्रभानु'.
81. राजराजा नरेंद्र का कलिदिंडि अभिलेख, पंक्तियां 91, 96.
82. 1893 का सं० 54—'सा० इं० इं०', iv, 867, इस कथन के कुछ स्पष्ट अपवाद भी हैं, जिनमें 1929 का 245 प्रमुख है, जिसमें 'ऐ० रि० ए०' में दिया गया राज्यवर्ष 24 स्पष्ट ही गलत है. सही पाठ 34 है. 1894 के 172 ('सा० इं० इं० v, 465) की तिथि (2) 6 है और जबकि वास्तव में (3) 6 होनी चाहिए. 1925 का 484 भी 10वें वर्ष का ('ऐं० रि० ए०') न होकर (3) 6 का है. इसके विपरीत 1892 का 90 (सा० इं० इं०, iv, 537), 1903 (viii, 675) का 365 ए देखिए. ये दोनों 27वें वर्ष के हैं. और 1902 (vii, 842) 215 ग्रौर 1902 (viii, 3) का 417 28वें वर्ष के हैं. इस बाद वाले लेख की तिथि अक्षरों में दी गई है. इन सबमें दन्नडे के युद्ध ग्रौर कोल्लिपाक्के तक पहुंचने का उल्लेख है.
83. 'ए० क०', vii, श० 323.
84. 1896 का 114 (सा० इं० इं०, v, 978) का 114, सा० इं० इं०, iii, सं० 28, 1890 का 6 (सा० इं० इं०', iv, सं० 329).
85. जैसे—'सा० इं० इं०', v, सं० 520.
86. वही.
87. यहां से 1894 का 172 (सा० इं० इं०, v, 465).
88. 'सा० इं० इं०', xi (i), 147.
89. 'लो० रि०', 25, पृ० 98 (वी० वी०).
90. 'सा० इं० इं०', xi (i), 86.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

91. वही, सं० 83.
92. 'हैद० आर्क सिरी०', सं० 8, पृ० 10, छंद 17, 'विक्रमा०' i, 114-17.
93. 'सा० इं० इं०', ix, (i), सं० 123, पंक्तियां 8-9, 13.
94. 'ए० इं०', xv, 78.
95. विशेषकर 'सा० इं० इं०', iii, 29 और v, 647.
96. वही, iii, 55, ii, 304c.
97. 'हैद० ग्रार्क० सिरी०', सं० 12, पृ० 5, फ्लीट का सुझाव कृष्णा पर खिद्रापुर से है, (ए० इं०, 12, 296-8) जो ग्रब कम संभव प्रतीत होता है.
98. 'ए० इं०', xv, 23, बां०, 'गजेटि०', i (2), 441, 'ए० क०', viii, sb 325.
99. नार्गे अभिलेख, छंद 36 ग्रौर 37; 'हैद० आर्क० सिरी०', सं० 8, 12.
100. 'बा० क०' 1932-33 का 189 'सा इं० इं०' xi (i) सं० 97, 103.
101. 'ए० इं०' ii, 192, छंद 32.
102. मांधाता दानपत्र, छंद 11-12; 'ए० इं०', iii, पृ० 47, पनहेरा प्रस्तरलेख, 'आ० स० रि०', 1916-17, पृ० 19-20..
103. 'ज० ए० सो० बं०', ix, 545 तथा ग्रागे.
104. 'विक्रमा०', iii, 67.
105. वही, i, 102-3.
106. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 84, 'ए० इं०', xvi, 53.
107. 'सा० इं० इं०', iv, 1010
108. नार्गे, (एल० ग्रार०), 'ए० क०' vii, ci, 18 आदि.
109. 'सा इं० इं०', v, 520.
110. वही v, 647.
111. वही, vii, 743
112. वही, v, 976.
113. वही, iii, 84.
114. वही, यह ग्रौर वही iii, 37 एक ही है.
115. 'ए० इं०', xv, 82 तथा आगे F.
116. 'सा० इं० इं०', iii, 32.
117. 'चौलाज', i, 318-9.
118. 'सा० इं० इं०', iii, 193.
119. 'ए० क०', vii, ci 18, 'सा० इं० इं०', ix (i), 128.
120. 'सा० इं० इं०', iii, 30.
121. हुल्ट्ज्श ने इस भाग का जो अर्थ दिया है ('सा० इं० इं०', iii, 30, पंक्तियां 26, 8), उससे यहां भिन्न अर्थ दिया गया है हुल्ट्ज्श का अर्थ बेसिलसिला है, दे० 'ए० इं०', xxi, 230 तथा ग्रागे.
122. 'ए० इं०', xxi, 230, पंक्तियां 8-9
123. के० वी० एस० ग्रय्यर यहां एक भौगोलिक नाम शुट्टुक्कल या पुलिशुट्टुकल की कल्पना करते हैं किंतु उसके लिए गुंजाइश नहीं है, 'ए० इं०', xxi.
124. 'सा० इं० इं०', iii, सं० 64 तथा ग्रागे
125. वही, iv, 29-30 बिल्हण ने इस 'दिग्विजय' का जो वर्णन किया है उस संबंध में ब्हूलर की टिप्पणी (भूमिका पृ० 31, टि० 3) मुझे वाजिब लगती है. ब्हूलर के बाद बहुत से नए ग्रभिलेख मिले हैं ग्रौर हमारा ज्ञान काफी बढ़ा है, फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि विक्रमादित्य ने केरल, सिंहल, गौड़ ग्रौर कामरूप को भी जीता था. इस पुस्तक में मैंने बिल्हण का कोई भी कथन तब तक सही नहीं माना है जब तक कि किसी दूसरे प्रमाण से उसकी पुष्टि न हो गई हो. इसलिए उत्तर भारत के बारे में प्रशस्ति के ग्रस्पष्ट विवरण मैंने छोड़ दिए हैं. इसके विपरीत दे० राय, 'डा० हि० ना० इं०', i, पृ० 203, 250-1.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

126. 'ए० इं०', vii, 9
127. 'ए० क०', संस्कृत 136.
128. 'सा० इं० इं०', iii. 83.
129. 'विक्रमा०', iii, 55.
130. 'सा० इं० इं०', iii, 84.
131. 'ए० क०', vii, सं० 136.
132. 'ज० बां० बां० रा० ए० सो०', ix, पृ० 242 पंक्ति 2; पृ० 278, पंक्ति 12.
133. 'हैद० श्रार्क० सिरी०', viii, छंद 16, 21 नागै (का).
134. 'सा० इं० इं०', ix, 98.
135. वही, 101.
136 वही, 83.
137. एल० आर० (वी० वी०); 'बां० कं०', 1936-7 का 23; 'ए० क०', xi, cd 47.
138. 'सा० इं० इं०' ix, (i), 122.
139. नागै श्रभिलेख, पृ० 31, पंक्ति 244.
140. एल० श्रार० (वी० वी०).
141. 'सा० इं० इं०', xi, (i), 83, 'बां० क०', 1932-33 का 72; 'सा० इं० इं०', ix, (i), 119, 121.
142. 'ए० क०', vii, HL i, फ्लीट का मत है कि होयसल विनयादित्य सोमेश्वर का सामंत था; 'डा० क० डि०'. 439, 492.
143. 'इं० ऐं०', xix, 268.
144 'डा० क० डि०', पृ० 438 श्रौर टि० 1, कल्याण से इस क्षेत्र पर शाके 984(1072 ई०) में उसके शासन का उल्लेख हुवांडसे प्राप्त शाके 995 के एक लेख में है ('बा० क०', 1933-4 का 169).
145. 'ए० क०', vii, संस्कृत 136.
146. 'सा० इं० इं०'. ix, (i), सं० 135, 138; दे० चौलाज, 1, 333-5.
147. 'विक्रमा०', vi, 7-25.
148. 'सा० इं० इं०', ix, (i), सं० 135.
149. 'ए० इं०', iv, 215.
150. 'चोलिकर अण्णलेयम् तलिरनुडिसि—'ए० क०' v, AK, 102, (a).
151. वही, तथा 'ए० क०', vii, ci, 33.
152. 'डा० क० डि०', पृ० 515.
153. 'बं० गजेटि०', i, 2 पृ० 271, छंद 29.
154. 'ए० क०', xv, 340.
155. 'बां० क०', 1935-6 का 20.
156. 'ए० क०', viii, sb, 276; 7, संस्कृ० 129, 132, 295, 221, 130, 109.
157. वही, 317.
158. सा० इं० इ०', ix (i), 134.
159. वही, 132.
160. वही, 133; 'ए० क०' ix, cd, 82, 'सा० ई० इं०', xi, 109, 110.
161. 'सा० इं० इं०', vi, 571.
162. वही xi, (i) 117. इं० ना० क० को० सं०', viii, 'बा० क०' 1929-30 का 100 में चालुक्यों का जो वंशक्रम दिया है वह उससे भिन्न है जो हम यहां दे रहे हैं.
163. 'ए० इं०', xvi, 68.
164 वही, xvi, 337.
165 'ए० क०', vii, श 129, 221, 'बा० क०' 1926-7 का 207, 1935-6 का 75.
166. 'सा० इं० इं०', xi, (i), 114, 116.
167. 'ए० इं०', xv, 351.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

168. दे० 'चोलाज', ii, पृ० 10 तथा आगे. यहां चोल अभिलेख के इस भाग की नई व्याख्या दी गई है.
169. 'विक्रमा०' vi, 90.
170. वही, 98-99 और xiv, 4.
171. 'बा० क०' 1933-4 का 75.
172. 'सोमेश्वरात्बाहुबलेन राज्यं गृहीतवानाजित कीर्तिलक्ष्मीः'
173. 'इं० ऐं०', xxii, 109-10; 'डा० क० डि०', 556 लो० रि० (वी० वी०).
174. दे० 'इं० ऐं०', 1918, पृ० 290, 'डा० क० डि०' पृ० 446 और 'अ० हि० द०', (तृ० सं०) पृ० 147, और टि० 49 तथा (चतु० सं०) पृ० 217, टि० 5.
175. फ्लीट द्वारा विवेचन, 'इं० ऐं०', viii, पृ० 187, कीलहार्न, वही, xxii, 109 तथा वेंकटसुब्बय, 'सम शक डेट्स' पृ० 83 तथा आगे और 'इं० ऐं०' 47 पृ० 289-90.
176. 'ए० इं०' xv पृ० 350, छंद 17, 25.
177. 'चूलवंश', अ० 60, छंद 24; 'चोलाज' ii, 13-14
178. 'विक्रमा०' vi, 99; xiv, 4.
179. ए० इं०, xvi, 329.
180. 'बा० क०', 1928-9 का 237.
181. वही, 1933-4 का 64.
182. वही, 1933-4 का 4, और 'ए० क०' viii, sa 109.
183. 'ए० क०', viii, SL, 124 और 135; 'बा० क०' 1932-3 का 14!.
184. होयसलों का विवरण देने में मैंने मद्रास विश्वविद्यालय के शोध विद्यार्थी (1932-4) श्री ए० कृष्णमूर्ति के इस विषय पर अप्रकाशित एक शोध प्रबंध से सहायता ली है.
185. 'ए० क०' vi, Kd 22, v, Cn 148, Bl 200.
186. वही, Sh, 64, v, Bl 58; तथा AK 117, मालवा अभियान पर.
187. वही, ci, 72.
188 वही, vi, Cm 160 में फ्लीट के इस कथन से सहमत नहीं कि यह सीमा सबसे पहले विष्णुवर्धन ने बनाई थी ('डा० क० डि' पृ० 492).
189. वही, v, Bl 199.
190. वही, vi, Kd 164.
191. वही, vi, Kd 69.
192. वही, v, Bl 58; फ्लीट ने ('डा० क० डि०', पृ० 495) इसे ताम्रपट्ट बतलाया है; 'ए० क०' में प्रस्तरलेख लिखा है. AK 34 की तिथि संदेहास्पद है. उसका विचार नहीं करना चाहिए.
193. 'डा० का० डि०', पृ० 495-6.
194. वही.
195. 'ए० क०', v, BL 17.
196. 'इं० ऐं०', ii, 300
197. मैं० सर रा० गो० भंडारकर के 'अ० हि० द०' पृ० 219 की टि० 1 से सहमत हूं किंतु मैं इस छंद का अनुवाद दूसरी तरह से करता हूं.
198. 'डा० क० डि०', 494.
199. 'हैद० आर्कं० सर्वे० रिपोर्ट' 1927-8 पृ० 1927-8 पृ० 23-4.
200. 'ए० क०', ii, 349 (138).
201. वही, vi, TK 45.
202. वही, ii, 73 (59), 125 (45).
203. वही, vi, cm 99, 100.
204. 'ए० इं०', xvii, 117 तथा 13, 301.
205. 'ए० क०', vii, Sh 12, 15 और 4.
206. 'ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०', xi, 234, 244, फ्लीट के अनुवाद में और गहराई से अध्ययन करने पर कुछ परिवर्तन किए गए हैं.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

207. वही, 244-5, शाके 872 स्पष्ट ही गलत है.
208. वही, पृ० 269-70.
209. 'ए० क०', iv yd, 30.
210. 'वां० क०', 1936-7 का 94, 'सा० इं० इं०', ix (i) 204.
211. 'वां० क०', 1929-30 का 96, 'इं० ना० क० को०' सं० 8, पंक्ति 12-13
212. 'ए० इं०', iii, 305.
213. 'हैद० आर्कं० रिपो०', 1933-4 पृ० 20-21, 'ऐ० रि० ए०', 1924, ii, 57.
214. 'ए० इं०', ix, 256.
215. वैट शाके 1001 के अभिलेख के लिए दे०, 'हैद० आर्क० सि०', 13, 25.
216. 'चोलाज', ii, पृ० 30-2, 44-9.
217. 'सा० इं० इं०', iv, 1017, 1036, 1214 आदि.
218. वही 9(i) 196 तथा वही, 4, 1322.
219. वही, iv, 1211.
220. वही, 1216, 1228.
221. 1905 का 258; 'ए० इं०', ix, 261; 'सा० इं० इं०', ix(i) 213.
222. 'सा० इं० इं०', iv, 1018.
223. वही, 1127.
224. 'ए० इं०', iv, सं० 33 छं० 22-4,
225. वही, iii, 306.
226. 'सा० इं० इं०', ix(i) 145, 152, 159 आदि.
227. लो० रि० 'ए० क०', viii, sb 549; 'सा० इं० इं०' ix(i) 175, 204, 207 आदि.
228. 'वां० क०', 1936-7 का 67.
229. 'ए० क०', vii संस्कृ० 124, 'वां० क०', 1928-9 का 237.
230. सा० इं० इं०, ix, (i) 150.
231. 'वा० क०', 1936-7 का 72.
232. 'सा० इं० इं०', ix (i) 167.
233. 'हैद० म्यु०', 'सा० इं० इं०', ix (i) 190.
234. तैल० इं० चालु०, 32.
235. 'सा० इं० इं०', v, 51.
236. 'डा० क० डि०', पृ० 450.
237. 'ए० इं', xii, 154.
238. वा० क० 1934-5 का 54.
239. लो० रि०.
240. वही.
241. 'सा० इं० इं०', ix (i), 151, 185.
242. 'ए० क०', vii, संस्कृ० 13; 'वां० क०', 1926-7 का 151.
243. 'ए० क०', vii संस्कृ० 98, 192; 'वां० क०', 1932-3 का 80.
244. 'ए० क०', vii सं० 316, 'वां० क०', 1933-4 का 20.
245. 'सा० इं० इं०', vi, 112.
246. वही 9 (i) 213, 220.
247. वही, 165.
248. वही.
249. 'वां० क०', 1436-7 का 67.
250. 'सा० इं० इं०', ix (i) 159.
251. 'वा० क०', 1927-8 का 76.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

252. 'ए० इं०', xv, 101.
253. 'इं० ए०', x, 185-90.
254. लो० रि० (vv).
255. 'हैद० म्यु०'; 'बां० क०', 1928-9 का 150.
256. 'लो० रि०', 'हैद० म्यू', (vv).
257. 'लो० रि०', (vv) तथा 'बा० क०', 1932-3 का 105 (n. d.).
258. 'बा० क०', 1935-7 का 56.
259. 'सा० इं० इं०', ix (i), 175.
260. 'लो० रि०'.
261. 'सा० इं० इं०', ix (i), 195.
262. 1927-8 का 90.
263. 'डा० क० डि०', पृ० 448.
264. 'ए० क०', viii, 172.
265. 'बी० क०', 1934-5 का 66.
266. वही, 1927-8 का 2.
267. 'हैद० म्यु०', बा० क० 1926-7 का 196, 'तेले० इंस्क्रि०, चालु०', 35-36.
268. 'बी० क०', 1936-7 का 93 और 94.
269. 'सा० इं० इं०', ix (i), 190, 202, 221.
270. 'बां० क०', 1932-3 का 82 और 104.
271. 'ए० क०', viii sb, 414.
272. वही vii, संस्कृ० 100.
273. 'हैद० म्यु', सं० 1377 (vv).
274. 'सा० इं० इं०', ix (i), 224 (वर्ष 5), 230-1 (वर्ष 8).
275. 'बा० क०', 1936-37 का 35, सा० इं० इं० ix (i), 226.
276. 'सा० इं० इं०', v, 68, 88.
277. 1897 का 153, 'ए० इं०', vi, 223.
278. 1893 का 266 ('सा० इं० इं०', iv, 1127).
279. 1897 का 163 (सा० इं० इं० 6, 123).
280. 1893 का 277 छंद 10 (सा० इं० इं०, iv, 1141) तिरुपति ओरिय कांफ्रेंस में मैंने 'गोंक सैकिड ऐंड दि चालुक्य' शीर्षक निबंध में इसका विमर्श दिया है.
281. 'ए० क०', xii Tp 104, Gb 34; v Cn. 248, Ak 30; vi, Kd 35.
282. 'डा० क० डि०', पृ० 498.
283. 'ए० क०', viii, sb. 414.
284. 'बा० क०', 1936-7 का 35.
285. 'सा० इं० इं०', ix (i) 224.
286. 'लो० रि०', (vv).
287. 'ए० क०', xi Dg 41.
288. 'सा० इं० इं०', ix (i) 236; तथा 'ए० क०', vi kd 76 (c–v वर्ष 71).
289. 'ए० कं', xi, CL 13.
290. वही, viii, sb. 233.
291. वही, v Ak 124, Hn. 114; vi Cm. 161; xii ck 35; vi Kd 76.
292. वही, Sa 58.
293. वही xii Ck 40.
294. वही v, AK 52. मैं नहीं मानता कि 'ए० क०', vi Cm. 96 का हिरियअरस बिट्टिदेव विष्णुवर्धन है. इसके विपरीत दे०, राइस 'ज रा० ए० सो', 1915 पृ० 32.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

295. 'ए० क०', xi Dg 85.
296. 1929-30 का 100; 'इ० ना० क० को०', सं० 9.
297- 'इ० ना० क० को०', सं० 8, पंक्तियां 17-18.
298. 'ए० इं०', xvi, पृ० 47 छंद 9 और 12 और पंक्तियां 54-5.
299. 'बां० क०', 1926 का 83 और 109.
300. सेवेल; 'हि० इं० सा० इं०', पृ० 106, Sub 1047 ई०.
301. 'ए० क०', viii sb 132.
302. वही, Sub 233.
303. 'सा० इं० इं०', ix (i) 258, मिला० बा० क०, 1934-5 का 47 जहां वही स्वरूप है.
304. 'सा० इं० इं०', ix (i), 265.
305. लो० रि०.
306. 1919 पृ० 4; 'ए० क०', viii, Sa. 159; Ak 117 आदि.
307. 1926-7 का 54, 'सा० इं० इं०', ix (i) 268.
308. 'बा० क०', 1933-4 का 24, सं० 130 पांचवें वर्ष का है.
309. 'ए० इं०', v, 235.
310. 'ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०', ix, 296, 278.
311. 'बा० क०', 1933-4 का 124, 'इ० ना० क० को', 10, 'बा० क०', 1935-6 n.d. का 10 भी.
312. 'बा० क०', 1933-4 का 130.
313. 'ए० क०', vii, sk 104.
314 वही 7, sk सं० 108, 11 D 35.
315. बा० क०, 1932-3; का 103.
316. 1928-9 का 201.
317. 1927-8 का 14.
318. बा० क०, 1936-7 का 33.
319. 1929-30 का 101, 'इ० ना० का० को०', पृ० 31, छंद 27.
320. 'बा० क०', 1929-30 का 101, 'इ० ना० का० को०', पृ० 33 पंक्ति 46.
321. 'डा० क० डि०', पृ० 475 तथा 548.
322. 'है० आ० सि०', 13 पृ० 9 छंद 8 और 11.
323. 'ए० इं०', ix, 261.
324. 'है० आ० सि०', 13 पृ० 11 छंद 18.
325. 'इं० ऐं०', 1919, पृ० 4 और टि० 30.
326. बां० क०', 1934-5 का 58.
327. 'ए० इं०', v, 237.
328. 'बां क०', 1937-8 का 53.
329. 'इं० ऐं०', iv, 274.
330. वही, 1919, पृ० 5.
331. 'ए० क०', xi Dg 43.
332. वही, cd. 13.
333. 'सा० इं० इं०', ix (i) 276 ऐसा लगता है कि संपादकों ने इस अभिलेख का मर्म नहीं समझा है.
334. 'ए० क', viii, sb 419.
335. 'बां० क०', 1928-9 का 207.
336. 'ए० इं०', xiv, 267.
337. 'ए० क०', xi, cd 36 और 'इं० ऐं', 1919 पृ० 5.
338. 'सा० इं० इं०', ix (i) 277, 279.
339. 'इं० ऐं०', xii, 96.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

340. 'डा० क० डि०', पृ० 464-5; 'ए० क०', xi, Dg 44.
341. वा० क०, 1928-9 का 207.
342. 'ए० इं०', v, पृ० 250, पंक्ति 69.
343. 'सा० इं० इं०', ix (i) 278.
344. लो० रि०.
345. 'सा० इं० इं०', ix (i) 279.
346. 'बां० क०', 1928-9 का 86.
347. 'सा० इं० इं', ix (i) 279.
348. 'ए० क०', viii sb, 419.
349. 'डा० क० डि०', पृ० 518-19.
350. 'ए० इं', iii, 217.
351. इं० ऐं०', ii, 299; ए० इं० 6, 89.
352. मिला०, 'ए० इं', vi, 92, यहां मेरा निर्वचन दूसरे विद्वानों से भिन्न है.
353. 'ए० इं०', ix, 261.
354. 'ज० रा० ए० सो०', v. पृ० 177, सं० 18.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रशासन

राजकीय परंपराएं और चिह्न

कल्याणी के चालुक्य अपनी वंशपरंपरा वादामी के चालुक्यों से जोड़ने का सदा ध्यान रखते थे। वे अपने ताम्रपट्टों में अपना इतिहास पुलकेशिन प्रथम से प्रारंभ करते है। इस प्रकार का सबसे पुराना अभिलेख विक्रमादित्य पंचम का कौथम ताम्रपट्ट-अभिलेख है।[1] इस वंश की कुलागत वस्तुओं में कात्यायिनी देवी प्रदत्त मयूरध्वज भी बतलाया गया है।[2] कौथम के ताम्र-पट्टों में यह भी कहा गया है कि इस वंश के राजाओं ने समस्तभुवनाश्रय, सर्वलोकाश्रय, विष्णुवर्धन और विजयादित्य के 'विशेष नाम' धारण किए। इनकी मुहरों पर वराह का चिह्न है। इसके महत्व के बारे में अनेक अभिलेखों में मंगलाचरण के रूप में एक छंद आया है जिसमें विष्णु द्वारा वराह का रूप धारण कर समस्त पृथ्वी के उद्धार का कथन है।[3] इस छंद के द्वारा चालुक्य यह घोषित करते प्रतीत होते हैं कि विष्णु की भांति वे भी समस्त पृथ्वी की रक्षा के लिए हैं। कौथम के ताम्रपट्टों में इरिव-बेदंग सत्याश्रय के धनुष के वर्णन में श्लेष के माध्यम से यही भाव वयक्त है। 'सर्ववर्णधरम् धनुः' अर्थात वह धनुष जो सभी वर्णों में (चारों वर्णों) की समान रूप से सहायता करता है और धनुष जो इन्द्रधनुष की भांति सभी रंग धारण करता है।

एकतंत्र-प्रथा

एकतंत्र आनुवंशिक था। आमतौर पर राजा के बाद उसका सबसे बड़ा बेटा राजा होता था। विक्रमादित्य पंचम और उसके भाई गद्दी पर इसलिए बैठे थे क्योंकि इरिव-बेदंग के कोई पुत्र न था। यहां तक कि विक्रमादित्य षष्टम ने भी, जिसने अपने बड़े भाई से युद्ध किया था, सिंहासन पर सबसे बड़े भाई के उत्तराधिकार को चुनौती नहीं दी थी।

अभिषेक

बादामी काल की भांति इस काल में भी किसुवोलल में ही राजाओं के 'अभिषेक' होते थे। 1070 ई० के एक अभिलेख में[4] इस स्थान को समस्तभुवनाश्रय श्री पृथिवी वल्लभों का महा-वीर सिंहासन और देश के समस्त नगरों में श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि चालुक्यवंश के सभी राजाओं के अभिषेक के महोत्सव यहीं होते थे। इस स्थान का आधुनिक नाम 'पट्टदकल' (अभिलेख प्रस्तर) है। यह नाम इसी ऐतिहासिक तथ्य की यादगार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युवराज

वयस्क होने पर 'युवराज' की नियुक्ति की प्रथा थी। युवराज को दो केंद्रीय मंडलों बेल्वोला 500 और पुरिगेरे 300 का शासक बना देते थे। इन मंडलों को कभी कभी एक साथ एरड-रूनरु (दो मंडलों को मिलाकर छः सौ) भी कहते थे। युवराज पद का चिह्न एक 'कंठिका' होती थी। युवराज को कंठिका पहनाने की प्रथा संभवतः राष्ट्रकूटों ने चलाई थी।[5] यदि राज-वंशों में कोई सुयोग्य व्यक्ति न रहता तो किसी विश्वस्त राजसेवक को युवराज पद दे देते थे। राजनीतिक इतिहास वाले अध्याय में इसके कतिपय उदाहरणों का उल्लेख किया जा चुका है।

सम्राट के विरुद

इस काल के सभी औपचारिक दस्तावेजों में सम्राट का पूरा विरुद यह था : 'समस्तभुवनाश्रय', श्री पृथ्वीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक सत्याश्रयकुलतिलक चालुक्याभरण श्रीमत'। इसके बाद राजा के अपने विरुद होते थे जिसके अंत में मल्ल-आता था। इस मल्ल विरुद से राजा की सही पहचान में बाधा उपस्थित हो जाती है। कभी-कभी एक ही राजा के ऐसे दो दो विरुद होते थे, जैसे सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल भी था और त्रैलोक्य-मल्ल भी। इसमें कोई शक नहीं कि मूल अभिलेखों में अथवा उनके खंडित या नष्टप्रायः हो जाने पर उनकी फिर से तैयार की गई प्रतिलिपियों में कभी-कभी दुराख्यान भी हुए हैं। बार-हवीं शती के होयसल राजाओं को चालुक्य राजाओं की अधीनता इतनी खलती थी कि वे अपने अभिलेखों के प्रारंभ में सिर्फ मल्ल विरुद का आख्यान ही पर्याप्त समझते थे।

मांडलिकों से संबंध

किंतु सम्राटों के अपने मांडलिकों के साथ संबंध सदा इतने कटु नहीं होते थे जितने कि होयसलों के साथ थे। याज्ञवल्क्य[6] और उसके दो टीकाकार अपरार्क और विज्ञानेश्वर, जो इसी युग में हुए थे, स्पष्ट कहते हैं कि किसी विजय के दौरान अव्यवस्था की स्थिति में स्थानीय आचार आदि का जो भी अतिक्रमण हुआ हो विजयी राजा का यह कर्तव्य है कि वह विजित राज्य के आचार व्यवहार की रक्षा उसी प्रकार करे जैसे अपने देश के आचार-व्यवहार आदि की करता है। बीसियों अभिलेखों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि चालुक्यों ने इस नियम का पूर्णतया पालन किया था। विजित राजाओं को उनके प्रदेशों में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया जाता था। हां, उन्हें सम्राट की अधीनता माननी पड़ती थी और अपने दस्तावेजों के प्रारंभ में सम्राट का उसकी उपाधियों के साथ उल्लेख करना पड़ता था। फिर वे 'तत्पादपद्मोपजीवी' जैसी शब्दावली के बाद अपनी 'प्रशस्ति' देते थे। आधुनिक पुरालेखशास्त्रियों से बहुत पहले कवि पंप ने लक्षित किया था[7] कि सामंत राजाओं की 'प्रशस्तियां' बहुचर्चित 'समधिगतपंच-महाशब्द' से प्रारंभ होती थीं। उदाहरणार्थ 992 ई० के कोगलि अभिलेखों में कदंब आदित्य-वर्मन अपने कुल की प्रशस्ति में वंश-ध्वज, मुद्रा आदि का उल्लेख करता है।[8] 1044 ई० के एक नोलंबाधिराज सामंत के एक लेख में उसके 'पट्टबंध' (अभिषेक) का विशेषकर वर्णन हैं।[9] इन सामंत राजाओं को भी अर्जियां उसी तरह दी जाती थीं जैसे सम्राट को। 1078-9 में 'पेर्गडे' कंबण्ण ने 'मांडलिक' जोयिमय्य को बेल्लारी जिले में कंबेश्वर के मंदिर में जमीन दान देने के लिए 'बिन्नप' दिया था।[10] इनके शासन का भी वर्णन प्रायः उसी प्रकार होता था जैसे सम्राट के शासन का। ये भी अपने 'नेलेवीडु' या 'राजधानी' से शासन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करते थे। दुष्टों का दमन और सज्जनों की रक्षा करना, फ़ुर्सत के समय उत्तम सामाजिक और बौद्धिक कार्य करना इनका व्यवहार था। सम्राटों की भांति इनके भी दरबार होते थे। इनके अपने मंत्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये सम्राट के अधिकारियों से पृथक होते थे। एक अभिलेख में तो एक सामंत के कम से कम पांच मंत्रियों का उल्लेख है।[11] सम्राट से इनकी 'प्रशस्ति' में एक ही मुख्य भिन्नता यह पाई जाती है कि इनकी प्रशस्तियों में 'उत्तरोत्तराभि-वृद्धि प्रवर्धमानम् आचंद्रार्क्कतारंबरम् सलुत्तम इरे' जैसी पदावलि नहीं लिखी जाती थी जैसा कि सम्राटों के लेखों में मिलता है।

राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा

अब हम पुनः सम्राट के दरबार की ओर लौटेंगे। अभिलेखों अथवा साहित्य में राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के बारे में कोई सूचना नहीं है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में प्राचीन प्रथा की पुनरा-वृत्ति भर कर दी गई है कि राजा को 'आन्वीक्षकी', 'त्रयी', 'दंडनीति' और 'वार्ता' का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। याज्ञवल्क्य के इस वचन पर टीका करते हुए अपरार्क या विज्ञानेश्वर ने किसी समसामयिक तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' में भी इस संबंध में कोई अतिरिक्त बात नहीं कही गई है। 'विक्रमांकदेव चरित' में सोमेश्वर एक बार प्रासंगिक रूप में अपनी पट्ट-महिषी से अवश्य कहता है कि वह वेदों, आगमों और इतिहास का विद्वान है और उसके मन में अपने गुरुओं के प्रति पूर्ण आदर है।[12] तृतीय सर्ग में विक्रमादित्य की शिक्षा-दीक्षा का वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है कि शिशुकाल में विक्रमादित्य लोहे के पिंजड़े में बंद सिंह-शावकों से खेलता था। बाद में उसने सभी लिपियों का (सर्वासु लिपिषु) का ज्ञान प्राप्त किया और वह एक कवि और उत्तम वक्ता बना था।[13] जैसा कि आगे उल्लेख होगा, हमें राजकुमारियों, उच्च पदाधिकारियों और आम जनता के अधिगमों के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। हम यह मान सकते हैं कि एक ऐसे सुसंगठित समाज में और एक ऐसी राज्य-व्यवस्था में जिसमें सब कुछ राजा पर ही निर्भर था, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा।

सम्राट

राजा को सदा सजग रहना पड़ता था। याज्ञवल्क्य ने राजा के गुणों में 'महोत्साह' को सबसे ऊपर स्थान दिया है। जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तैल द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों ने इन आदर्शों के अनुरूप आचरण करने का यत्न किया था। युद्धकाल हो या शांति वे सदा नीतियों के निर्धारण और अन्य निर्णयों में सक्रिय रूप में भाग लेते थे। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी सहायता के लिए योग्य और विश्वस्त मंत्री होते थे और इन मंत्रियों में अधिकांश राज-काज के अलावा युद्ध की कला में भी निष्णात थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इन राज्यों में कोई सुसंगठित मंत्रिपरिषद न थी। अथवा कम से कम आज की भांति उनके बीच विभागों का विधिवत बंटवारा न होता था। आवश्यक विषयों पर चर्चा के लिए जो भी सरदार या राजा का सभासद पास में होता था उसे बुला लिया जाता था। अन्य पदाधिकारी विभिन्न कार्यों से राज्य के विभिन्न भागों में रहते थे। हमें यह पता नहीं है कि उन मंत्रियों को आपस में अथवा प्रशासन और राजनीति की सद्यः घटित घटनाओं के बारे में जानकारी देने की क्या व्यवस्था थी। मंत्रियों को अकेले या बैठकों में राय देने का अधिकार था और सम्राट उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता था। फिर वह स्वयं निर्णय करता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था अथवा 'पुरोहित' से 'विचारविमर्श' कर स्मृतियों की व्यवस्था का अनुगमन करता था। पुरोहित धार्मिक मामलों के अतिरिक्त विद्या और राजनय का भी पंडित माना जाता था। इस प्रकार सम्राट के शासन का स्वरूप व्यक्तिनिष्ठ था और उसे सभी बातों पर ध्यान देने को तत्पर रहना पड़ता था। ये मामले चाहे बड़े हों या छोटे या साम्राज्य के किसी अतिदूरस्थ स्थान से ही संबंधित क्यों न हों। राजा के पास 'दानों' के लिए अगणित अर्जियां आती थीं। उनके निपटारे के लिए भी उसे काफी समय देना पड़ता था। ये अर्जियां सीधे उसके पास आती थीं अथवा यदि दूसरे पदाधिकारियों ने दान दे भी दिए हों तो उनकी मंजूरी के लिए आती थीं जैसा कि हम अनेक उदाहरणों में देखते हैं कि अभिलेखों में 'परमेश्वर दत्ति' (सम्राट ने दिया) लिखा होता है। इस प्रकार की व्यवस्था अथवा व्यवस्था के अभाव से भी काम इसलिए चल जाता था क्योंकि भारतीय राजा का कर्तव्य शांति और व्यवस्था को बनाए रखना होता था जो कि एक अभावात्मक (नेगेटिव) कर्तव्य है। राजा का परम कर्तव्य था कि वह प्रजा के विभिन्न वर्गों में, जातियों, निगमों, संप्रदायों, गांवों, मंदिर और शेष सभी वर्गों में शांति और व्यवस्था कायम रखें। सभी अपने अपने धर्मों का पालन करते रहें और एक दूसरे के धर्म का अतिक्रमण न करें।

स्थानीय और सामाजिक स्वायत्तता

यदि कभी शुद्ध पुलिसराज्य रहा हो, तो निश्चय ही प्राचीन हिंदू राज्य पुलिसराज्य था। राष्ट्र का वास्तविक जीवन राजनीति से भिन्न प्रणालियों में प्रवाहित होता था। अगणित निकाय और संस्थाएं राष्ट्र के भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए थीं। ये तभी राजनीति के अखाड़े में आती थीं जब कोई गतिरोध होता, अन्यथा राजनीति से उनका कोई वास्ता नहीं रहता था। गतिरोध की स्थिति में वे स्थिति स्पष्ट करने और नई शुरुआत के लिए राजकीय अधिकारियों से और यदि आवश्यक होता तो राजा से भी मदद लेती थीं। सारी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। 981 ई० में बेल्लारी जिले में अग्रहार कंचगार-बेलालि के पास तीन प्राचीन 'स्थान-मान्य' (मंदिर के पुजारियों के भरण-पोषण के लिए खैरात में दी गई जमीनें) थे। इन तीनों 'स्थान-मान्यों' की तैल द्वितीय ने पुष्टि की थी।[14] यह पुष्टि इसलिए जरुरी हो गई थी क्योंकि जिस गांव में ये जमीनें थीं उन्हें हाल ही में चालुक्यों ने जीता था। दूसरा उदाहरण और भी सार्थक है। इसका संबंध भी उसी जिले से और तैल द्वितीय के ही शासनकाल से है। बात 991 ई० की बागली की है।[15] राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के शासनकाल में एक बोझ पान के पत्तों पर $2\frac{1}{2}$ 'पण शुंक' निर्धारित था। चालुक्य सम्राट की ओर से नियुक्त कोगलि 500 के शासक आदित्यवर्मरस ने 'शुंक' की दर अन्यायपूर्ण ढंग से (अन्याय पेच्चिदेडे) बढ़ा दी जिस पर बाल्गुलि के 50, 1000 'तंबुलिगों' के प्रतिनिधि तीन 'सेट्टि' और 500 राजा के पास गए और उसे साष्टांग दंडवत कर (श्रीपा-दंगलगे साष्टांगमेरगि) अर्जी दी। राजा ने उस पर आज्ञा दी कि शुल्क की दर वही रखी जाए जो कृष्ण तृतीय के शासनकाल में थी। यह तो अभिलेख की बात हुई। इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि आदित्यवर्म ने किस दर से शुल्क लगाया था। अंत में जो 500 का जिक्र आया है वे कौन थे? इससे यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि आदित्यवर्म के अन्याय के विरुद्ध स्था-नीय आधार पर उन्होंने क्या किया था? इस लेख से यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि प्रति-निधि मंडल राजा से कहां मिला था। किंतु जब राजा के अधिकारियों और जनता के बीच विवाद समाप्त नहीं हुआ तो प्रजा के लिए क्या करणीय था, यह बात इससे स्पष्ट है। वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीधे राजा के यहां गए। उसने उनकी बातें सुनीं और अपना फैसला दे दिया। ध्यान देने की बात यह है कि 'तंबुललिगों' ने अपने बीच से ही चंद प्रतिनिधि चुने, जनता और राजा दोनों की दृष्टि यथास्थितिवादी थी, जहां परिवर्तन आवश्यक न होता वे परिवर्तन के पक्ष में न थे। 1104 ई०[16] में गंडरादित्यनहोलल के 'अग्रहार' (ब्राह्मणों का गांव) के 'महाजनों' ने किसी बोप्पय के विरुद्ध राजा के यहां शिकायत की थी। बोप्पय वहां का 'मन्नेय' (मुखिया) था। उसने अपने पद का दुरुपयोग कर गांव पर हमला किया और लोगों की सारी संपत्ति लूट ली थी। उसने ब्राह्मणों की हत्या भी की थी। राजा ने उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनी (केल्डव-धारिसी) और अपने समस्त प्रधानों की उपस्थिति में बोप्पय को दंड दिया। राजा ने उस 'अग्रहार' से 'मन्नेय' का पद ही समाप्त कर दिया। राजा ने प्रधानों और मलयालपंडितदेवर और सोमेश्वर भट्ट को यह भी आदेश दिया कि वे उसके आदेश का पालन कराने के लिए बोप्पय से लिखित रूप में ले लें कि वह अपनी और अपने वंशजों की ओर से 'मन्नेय' का पद छोड़ रहा है। इसकी पुष्टि के लिए बोप्पय त्रिपुरांतक देव के सामने शपथ ले और जल का पान करे। यह 'आणेपत्र' (सशपथ करार) विधिवत संपन्न हुआ उसका पंजीकरण हुआ और संरक्षण के लिए किसी अन्य 'धर्म' की भांति स्थानीय अधिकरण और केंद्रीय सरकार को दिया गया। इस मामले में गांव के लोगों ने काफी कष्ट सहे थे। इसके बदले में उन्हें व्यवस्था मिल गई जिससे भविष्य में कोई बोप्पय उन पर अत्याचार नहीं कर सकता था। ध्यान देने की बात यह है कि यह उपचार 'तदर्थ' ही था और राजा की इच्छा पर निर्भर था। इसके लिए किसी संहिता के आधार पर फैसला नहीं किया गया था। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार की घटनाएं अपेक्षाकृत बहुत कम ही होती थीं।

कानून और न्याय

सम्राट प्रशासन का ही प्रधान न था, वह उच्चतम न्यायालय भी था। साथ ही वह प्रधान सेना-पति और सभी सम्मानों का उत्स भी था। विधायिकाशक्ति, जैसा कि हम उसका आज अर्थ लेते हैं राजा में निहित न थी। किंतु विवाद अथवा विरोध की स्थिति में राज्य के प्रधान के नाते उसे यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने विधि-मर्मज्ञों से परामर्श कर यह घोषित करे कि कौन सी व्यवस्था अथवा आचार विहित है और यदि वर्तमान कानून अथवा व्यवहार में कोई व्यवस्था उपलब्ध न हो तो वह नए विनिर्णय (रूलिंग) भी दे सकता था। यही प्रक्रिया अधीनस्थ न्यायालयों में भी चलती थी। और ऐसा प्रतीत होता है कि कानून की व्याख्या के नाम पर निर्णयों के रूप में भी पर्याप्त मात्रा में नए कानून भी बनते रहते थे। इसमें शर्त यह थी कि यह सब न्याय और अधिकारों के जो मौलिक सिद्धांत स्मृतियों में निर्धारित और शिष्टों में मान्य थे उसी के अनुरूप होना चाहिए अन्यथा नहीं। किंतु न्याय-प्रदान का वास्तविक स्वरूप इस काल में क्या था इस संबंध में हमें बहुत कम ज्ञान है। विधि की पुस्तकें योजनाबद्ध विवरणों से भरी पड़ी हैं। यहां उनके उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है।

राजा के पुरोहित

अभिलेखों में अनेक 'राजगुरुओं' के उल्लेख हैं। ये प्रायः शैव होते थे। इनमें कई जैन भी थे। क्या ये 'राजगुरु' पुरोहित का भी कार्य करते थे जिन्हें स्मृतियों में राजा के परामर्शदाताओं में बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है, या ये आध्यात्मिक विषयों में राजा और उसके परिवार का मार्गदर्शन मात्र करते थे, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी कह सकना कठिन है।

अंतःपुर अधिकारी

अंतःपुर और साम्राज्य का प्रबंध अब अपेक्षाकृत उतना सरल कार्य न रह गया था जितना कि बादामी काल में था। शासन-तंत्र काफी जटिल हो गया था और कार्यालयों की संख्या कई गुनी हो गई थी, अतः योग्य और अनुभवी अधिकारियों को प्रायः एक से अधिक कार्य दे दिए जाते थे। अंतःपुर के प्रमुख अधिकारियों में 'मने-वेर्गडे' (प्रतीहार) और 'मानस-वेर्गडे' (खानसामा, मानस का अर्थ रसोईघर है) प्रमुख थे। विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारी के शासनकाल में अनंतपाल ने इन दोनों पदों पर साथ-साथ कई वर्ष तक काम किया था।[17] एक अंतः पुराध्यक्ष अथवा 'अंतःपुराधिकारी' भी होता था। इस पद पर प्रायः प्रमुख सेनापतियों और राजनीतिज्ञों की नियुक्ति होती थी। किंतु इस पद के कर्तव्य स्पष्ट नहीं हैं।[18] 1050 और 1135 ई० के दो अभिलेखों में 'अडप' (तांबूलपुट) के दो पद का उल्लेख है।[19] 'कडित-वेर्गडे' और 'करणम्'[20] जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है उस समय राजा की सेवा में उपस्थित रहते थे जब कि वह कोई राजकाज देखता था। वे उसके मौखिक आदेशों को लिख लेते थे और उन्हें सुव्यवस्थित कर उचित कार्यवाही के लिए भेज देते थे। इनके कार्य आधुनिक मुख्य सचिवों जैसे होते थे।[21] चोल आक्रमण के कारण जो अस्तव्यस्तता आ गई थी उसे ठीक करते समय 1050 ई० में पम्मालेयकोटे में 'तंत्रपाल' और 'तंत्रदसेनबोव' नामक अधिकारी उपस्थित थे। इनके पदनामों को पार्षद और परिषद-सचिव का सूचक माना गया है।[22] जब तक कि इन पदाधिकारियों के कार्यों पर और अधिक प्रकाश नहीं पड़ता हमें इनकी उपर्युक्त व्याख्या ही ठीक माननी होगी। 'संधि विग्रहिक' जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है राजनयिक कार्यों में नियुक्त था। इस पद का अर्थ है 'संधि और विग्रह करने वाला'। किंतु इसमें संदेह ही है कि इस पद का संबंध सिर्फ अथवा मुख्यतया एक राज्य के दूसरे राज्यों के साथ के संबंधों से ताल्लुक रखता था जैसाकि आज के उदाहरणों से ज्ञात है क्योंकि उस काल में साम्राज्य के अधीन ही अनेक अर्धस्वतंत्र मांडलिक हुआ करते थे। ये प्राचीन राजघरानों के होते थे। इनके हृदय में विगत गौरव की स्मृतियां और भविष्य में स्वतंत्र होने के सपने होते थे। इनकी अपनी सेनाएं होती थीं। प्रभु राष्ट्र से इनके संबंधों को लेकर अनेक समस्याएं उठती रहती थीं जिनका समाधान बड़े नाजुक ढंग से राजनयिक तरीकों से ही संभव हो सकता था। 'मानसोल्लास' में 'संधिविग्रहिक' के लिए अनेक भाषाओं और लिपियों का ज्ञान, और सामंतों और 'मंडलेशों' के साथ विदग्धता और कौशल से व्यवहार की योग्यता आवश्यक गुण माने गए हैं। उसके लिए राजनय और वित्तीय मामलों में निपुण होना भी आवश्यक था। उस समय 'संधिविग्रहिक' के कर्तव्यों का राजनैतिक दृष्टि से बड़ा महत्व था। उसका विस्तार सम्राट के आंतरिक और बाह्य सभी प्रकार के संबंधों तक था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कार्य के लिए साम्राज्य के विभाग कर दिए जाते थे। उत्तरी विभाग को लाट अथवा लाला कहते थे और दक्षिणी विभाग को कर्णाटक। हमें 'कन्नड़ संधि विग्रहिक'[24] और लाट-संधि बिग्रहिक[25]' के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि सिर्फ 'संधि-विग्रहिक' का ही उल्लेख हुआ है।[26] कभी कभी 'संधि-विग्रहिक' के साथ लाट और कन्नड़ दोनों का साथ साथ पूर्व-प्रत्यय के रूप में प्रयोग मिलता है।[27] कतिपय उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें इस के साथ 'हेरि' विशेषण का भी प्रयोग हुआ है। 1147 ई० के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में 'हेरिग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि 'हेरिग-संधि-विग्रहिक' का अर्थ विदेश-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभाग की गुप्तचर्या का मंत्री है।[28] किंतु इसका इससे अधिक आसान खुलासा यह है कि 'हेरि' शब्द वरीयता का सूचक है।[29] अधीनस्थ कर्मचारी से ऊपर के अधिकारी को 'हेरि' कहते थे क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि ऐसे अधिकारी को जिसे इतने नाजुक और महत्व के काम सौंपे जाएं और उसके अधीन कर्मचारी न देकर उसे अकेले ही काम करने को कहा जाए। अतः 'हेरि-संधि-विग्रहिक' 'महा-संधि-विग्रहिक' का कन्नड़ रूप रहा होगा। 1066 ई० के एक लेख में 'महा-संधि-विग्रहिक' पद आया भी है।[30]

राजस्व पदावली

राजस्व संबंधी कार्यों के लिए अन्य पदाधिकारी थे और इसी प्रकार सैनिक सेवा के भी पद थे। महान सेनापति अनंतपाल को 1083 ई० के एक लेख में 'पन्नायदधिष्टायक' कहा है।[31] इसके 20 साल बाद के एक लेख में एक अन्य पदाधिकारी मुद्दरस को 'अच्चुपन्नायदधिष्ठायक' कहा गया है।[32] इससे कुछ ही पहले (1102 ई०) भीवणय्य दंडनायक को अन्य बातों के अतिरिक्त समूचे साढ़े सात लाख देश के 'अच्चुपन्नाय' का 'आलुत्तम-इरे' कहा गया है।[33] उसके अधीन माधव नामक एक अधिकारी था जिसे भी 'अच्चुपन्नायदधिष्ठायक' कहा गया है। इन अभिलेखों में राजस्व के जितने पारिभाषिक शब्द आते हैं उनका अध्ययन अभी शुरू भी नहीं हो पाया है। अतः यहां जो भी सुझाव दिए गए हैं वे अंतिम सुझाव नहीं हैं। अनेक स्थानीय उपकर और उगाहियों को इस समय छोड़ दें क्योंकि इनका जिक्र बाद में करेंगे। तथापि, संभवतः केंद्रीय सरकार की आमदनी दो प्रकार के राजस्व से होती थी एक 'आय' और दूसरा 'शुंक'। इनमें 'शुंक' एक प्रकार से सामानों पर, खासकर मार्गस्थ सामानों पर ली जाने वाली उगाही थी। 'आय' दूसरे प्रकार की सभी आमदनियों को कहते थे। इसके कई वर्ग थे जिनमें सबसे महत्वपूर्ण 'सिद्धाय,' 'पन्नाय' और 'दंडाय' थीं। 'सिद्धाय' उन करों को कहते थे जो परंपरा से चले आते थे। इनके लिए किसी नए नियम आदि की आवश्यकता न थी। इनके बारे में यह बात मान्य थी कि उनकी अदायगी तो होगी ही। 'पन्नाय' पण्य से प्राप्त आय अर्थात चुंगी जिनकी दरें समय समय पर निश्चित की जाती थीं। इसकी वसूली जिंसों में या नकद जैसी स्थिति हो उस रूप में होती थी। 'दंडाय' जुर्माने के रूप में प्राप्त आय थी। अपराधों के लिए अदालतों द्वारा या दूसरे रूप में जुर्माने किए जाते थे। उपर्युक्त पदों में आए 'अधिष्ठायक' शब्द से किसी स्थान के विभागाध्यक्ष का बोध होता है। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि भीवणय्य जो समूचे राज्य और पलसिगे 12000 के अच्चुपन्नाय का शासक नियुक्त किया गया था, उसका काम समूचे अथवा आंशिक रूप में कर की निबल उगाही के साथ साथ उसके समूचे प्रशासन का उत्तरदायित्व और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार सौंपा गया था। यदि 'अच्चु' का अर्थ सिक्का है जैसा कि 'अच्चिन-टंकशाले'[34] से जाहिर है तो 'अच्चुपन्न' का अर्थ वह 'पन्नाय' हुआ जो जिंसों में नहीं बल्कि नकद वसूल किया जाता था। 'पन्नायाद शुंकदोलगे' 'तिंगलिगे' 'पणवेरडु' अर्थात 'पन्नाय' के 'शुंक' से दो पण प्रतिमास, पदावली से स्पष्ट है कि 'पन्नाय' में कुछ तरह के 'शुंक' भी शामिल थे। यह भी हो सकता है कि यहां 'शुंक' का प्रयोग शिथिल रूप में सामान्य आय के लिए हुआ है अन्यथा 'पन्नाय' में नकद रूप में प्राप्त 'शुंक' को अवश्य शामिल करना होगा। 1138 ई० के एक लेख में 'दंडायद वेर्गडे'[36] का उल्लेख आया है और यह संभव है कि उसके नीचे और ऊपर ऐसे अधिकारी रहे होंगे जिनका संबंध इसके प्रशासन से था क्योंकि यह आय का नगण्य साधन न था। 'शुंक' की भांति की कई उगाहियों के उल्लेख मिलते हैं जैसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'वड्डरावुलदशुंक', 'पेर्ज्जुंक' और 'मन्नेय शुंक'। 1037 ई० को होट्टूर के अभिलेख से स्पष्ट है कि इनमें से सभी 'शुंकों' की वसूली के लिए हर जिले में अभिकरण थे। इस अभिलेख में हर वर्ग के 'शुंकदवरूप' (कर एकत्र करने वाला) का अलग अलग उल्लेख आया है। इस कार्य के लिए इनकी बैठक बुलाने और एक ही उद्देश्य से कार्य करने का उल्लेख इस अभिलेख में मिलता है।[37] 'बड्डरावुल' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है।[33] किंतु उपर्युक्त दो 'शुंकों' के साथ इसके प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शुंक' तीन भागों में वसूल किए जाते थे। एक तो स्थानीय अधिकरण लेता था जिसका स्थानीय 'मन्नेय' होता था, दूसरा भाग उसके ठीक ऊपर का अधिकारी लेता था जो उसके और केंद्रीय 'पेर्ज्जुंक' (उच्चतर शुंक) के बीच होता था और तीसरी प्रभुसम्राट, 'वड्डारावुल' के पास जाता था और इसलिए वह केंद्रीय राजस्व का अंश होता था। इसीलिए 1127 ई० में राज्य का एक उच्च पदाधिकारी भोगभट्टय्य समूचे देश के 'बड्डरावुल शुंक' के प्रशासन का अधिष्ठायक था। उसके अधीन अनेक अधिकारी थे जिनमें एक 'दंडनायक' भी था जो नोलंबवाडी के 'अच्चुपन्नाय' का अधिष्ठायक था।[39] कभी कभी जब कि 'पेर्ज्जुंक' और 'मन्नेय-शुंक' का उत्तरदायित्व किसी खास अधिकारी के जिम्मे न होता तो उसकी वसूली भी सम्राट के कर्मचारी ही करते थे। इसीलिए 1106 ई० में नोलंबवाडि वत्तीस हजार के 'बड्डरावुल' और 'पेर्ज्जुक' दोनों का प्रशासन अणुकपल्लवराय-दंडनायक करता था और उसके अधीन सम्राट के स्टाफ के शुंक के अधिकारी 'देवर' 'शुंकद' 'वेर्गडे' काम करते थे।[40]

सैनिक पदाधिकारी

सैनिक अधिकारियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध 'सेनाधिपति', 'महा (प्रचंड) दंडनायक', 'दंडनायक' और 'करि-तुरंग' ('पट्ट') 'साहिनी' थे।[41] इनमें पहले तीन पैदल सेना के उच्च अधिकारी थे और अंतिम हस्ति और अश्व सेना के थे। इनकी एक ही उपाधि होने से ऐसा प्रतीत होता है कि हस्ति और अश्व सेना का अलग अलग डिवीजन न होकर एक ही डिवीजन था।[42] हां, 'आनेयसाहिनी' का पृथक उल्लेख अवश्य हुआ है।[43] 'मानसोल्लास' के अनुसार सेनापति को घुड़सवारी और हस्ति-चालन में कुशल होना चाहिए। उसमें अपने अधीन सैनिकों की योग्यता का सही सही मूल्यांकन करने की क्षमता होनी चाहिए।[44] किंतु हमें इस काल के सैनिक संघटन और साज के बारे में प्रामाणिक जानकारी नहीं है।

अनेक पदों का सम्मिलित भार

राज्य के उच्चतम पदाधिकारियों की अन्य उपाधियां भी थीं। इनमें से अधिकांश उपाधियों का संबंध उनके कार्यों से था किंतु इस समय उनकी स्पष्ट व्याख्या संभव नहीं है। फिर भी शासन पद्धति का विवरण देते समय उनका उल्लेख तो आवश्यक ही है। इससे कम से कम यह तो विदित हो ही जाएगा कि किस प्रकार बड़े प्रतापी से प्रतापी मंत्री एक साथ कई कई पदों का भार संभालते थे। इसके लिए अभिलेखों में आए उन पदों का उल्लेख यहां करना पड़ेगा जिनका उल्लेख पहले नहीं किया है। सूडि के 1060 ई० के एक अभिलेख में दंडनायक नागदेवय्य को जो 'मन्नेय वेर्गडे' था सम्राट त्रैलोक्यमल्ल (सोमेश्वर प्रथम) ने अपने राजप्रासाद का 'अमात्य' बनाया था। उसे चालुक्य-सम्राट की राजधानी के ,2 अधिकारियों का भी प्रधान माना गया था ('चालुक्य-चक्रेश्वर-कटक-बाहत्तर-नियोगि-निवहाराध्यनुम्')।[45] यह पारंपरिक 72 'नियोगों' के सबसे पुराने उल्लेखों में है। इनके अन्य हवाले जो इसके बाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के हैं फ्लीट ने दिए हैं। 1058 ई० के एक अभिलेख में इस संस्था का इससे पहले का उल्लेख है।[46] यहां इस पारिभाषिक शब्द के प्रयोग से राज-प्रासाद, राजसभा और राजधानी के प्रशासनिक ढांचे की जटिलता प्रकट होती है। इस संबंध में कोई पुष्ट समकालीन प्रमाण शेष नहीं बचा है। अभिलेखों से उनकी झांकी मात्र प्राप्त होती है। सोरटूर के एक अभिलेख में (1071 ई०) जो सोमेश्वर द्वितीय के शासनकाल का है बलदेवय्य को 'श्रीमन् महाप्रधानम् हेरिसंधिविग्रहि सेनाधिपति काडितवेर्गडे-दंडनायक बलदेवय्य'[47] कहा गया है। इसी अभिलेख में इससे पहले उसे 'कुंतलाधीश-हितोपदेश धुरंधर' कहा है। यहां 'महाप्रधानम्' कोई पद न होकर उच्च ओहदे का सूचक प्रतीत होता है। अंतिम विशेषण से यह सिद्ध होता है कि बलदेवय्य सम्राट का विश्वस्त सलाहकार था। शेष सभी विशेषण पदों के सूचक हैं। ये सभी पद एक ही व्यक्ति साथ-साथ ग्रहण करता था या उसने एक के बाद दूसरा पद प्राप्त किया। इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मजे की बात यह है कि 'सेनाधिपति' की उपाधि के उल्लेख के बाद भी दंडनायक की उपाधि का प्रयोग हुआ है। दो अभिलेखों में 'सहवासिगल-अधिष्ठायक' पदावलि आई है।[48] यह महत्वपूर्ण बात है। बार्नेट ने इसका अर्थ 'अधीक्षकों का अध्यक्ष' किया है जब कि राइस इसका अर्थ 'सहचरों का नियामक' करता है। राइस का अर्थ शाब्दिक अधिक है तथापि यह अर्थगर्भ उपाधि अवश्य है। 'सहवासी' तो सहचर ही थे, वे सम्मानित सहचर थे। ऐसे चुने हुए सैनिक रखे जाते थे जो राजा के लिए सदा जान देने को तैयार रहते थे। नवीं शताब्दी के बाद जो विदेशी यात्री भारत आए थे उन्होंने ऐसी कंपनियों का उल्लेख किया है।[49] इस मत का समर्थन 1127 ई० के एक अभिलेख से भी होता है। जिसमें महाप्रधान दंडनायक इंदराणय्य की प्रशंसा में कहा गया है कि वह 'शुकों के लिए सरस आमों से लदा वृक्ष' था। यहां शुकों से तात्पर्य सहवासी-जनों से था।[50] प्रसंगवश यह भी बता दें कि भीम की भांति इंदराणय्य भी कश्मीरी था। अतः 'सहवासिगल-अधिष्ठायक' का अर्थ हम 'सम्मानित सहचरों का कप्तान' कर सकते हैं।

अंतिम उदाहरण एक मांडलिक की राजसभा का है जो 1108 ई० का है। नोलंबवाडि के शासक 'विनय-पांड्यदेव' के अधीन कोई हेम्मादि दंडनायक था जिसके परिचय में उसे 'श्रीमन् महाप्रधानम्', 'श्रीकरणम्', 'सर्वाध्यक्षम्', 'तत्राधिष्ठायकम् मनेवेर्गडे', 'महापसायितम् विजय' 'हेम्माडि दंडनायकम्' कहा गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सामंतों की राजसभा और गृह व्यवस्था ठीक वैसी ही होती थी जैसी कि सम्राटों की होती थी।

राजसभा की प्रक्रिया

गुंटूर जिले के कोल्लूर नामक स्थान से प्राप्त एक खंडित अभिलेख में[51] यह महत्वपूर्ण बात कही गई है कि त्रिभुवनमल्ल ने एक दान 'मंत्रि', 'पुरोहित', 'सेनापति', 'दौवारिक', 'युवराज', 'राष्ट्रकूट' और 'कुटुंबि' के समक्ष दिया था। संभवतः यह एक पारंपरिक तरीका यह कहने का है कि दान खुले दरबार में दिया गया था। यह अभिलेख विक्रमादित्य षष्ठम के 12वें वर्ष (1115-6 ई०) का है। स्पष्ट ही जो दान दिया गया था उसका संबंध कोल्लूर से था। यह इलाका उस समय अन्य तेलुगु प्रदेशों की भांति अनंतपाल के अधीन था। किंतु सम्राट के आदेश उस स्थान से जारी हुए थे जहां उसका निवास था, जो संभवतः कल्याणी में था।

विक्रमादित्य षष्ठम के शासनकाल में संभवतः चालुक्य राजसभा की प्रक्रिया पहले से अधिक शान-शौकत की हो गई थी। नियम यह बन गया था कि दानों की प्रार्थनाएं राज-परिकर का कोई जिम्मेदार अधिकारी उपस्थित करे और उसके ब्योरे राज-शासनलेख में दर्ज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किए जाएं। इसीलिए येवूर के अभिलेख में (1077 ई०) लिखा है कि एक चंद्रग्रहण के अवसर पर जब राजा कल्याणी में था और अनेक 'महादान' दे रहा था तो संधि-विग्रहिक रवियणभट्ट ने निवेदन किया ('विण्णयदिम') कि राजा ने एहूर में स्वयंभूदेव का जो मंदिर बनवाया है उसे विभिन्न कार्यों के लिए धन की आवश्यकता है। राजा ने उसकी प्रार्थना मान ली और प्रसन्न होकर 412 मत्तर भूमि का एक बहुत बड़ा दान दिया। रवियणभट्ट ही 'विन्नप' (निवदेक) के रूप में 15 साल बाद सन 1192 ई० में एक बार और मिलता है जब उसने हूविन हड़गलि (बेल्लारी) में केशवदेव के मंदिर के लिए दान की 'प्रार्थना' की थी।[53] चालुक्य-विक्रम-वर्ष 12 के नीलगुंड ताम्रपट्टों में पलत पांड्य को 'विज्ञप्ति' कहा गया है। इसके 36 साल बाद उसी मंदिर के लिए उसके पोते राय पांड्य को 'विज्ञप्ति' कहा गया है। पलत पांड्य कल्याणी में और राय पांड्य बैजयंती (वनवासी) में सम्राट के सम्मुख उपस्थित हुए थे।[54] इसके विपरीत विक्रमादित्य पंचम के कौथेम ताम्रपट्टों में (1009 ई०), और जयसिंह द्वितीय के दौलताबाद (1017 ई०) और मीरज (1024 ई०) के ताम्रपट्टों में किसी 'बिन्नप' या 'विज्ञप्ति' का उल्लेख नहीं है। इनमें सम्राट सीधे दान देते हैं। अन्य अभिलेखों में कभी कभी आवेदकों के उल्लेख मिलते हैं। किंतु ये उल्लेख अधिकारियों द्वारा विशेष परि-स्थितियों में की गई अपवादात्मक कार्यवाहियों के स्पष्टीकरण के रूप में हैं न कि राजसभा के आम नियम के अंतर्गत। 1005 ई० में राज्यपाल सोमनरस ने किन्हीं परिस्थितियों में मूल स्थान (सिरिवूर) के मंदिर के रेरव्व गोरवि को कुछ भूमि दान में दी थी। इस मामले में 8 'गावंडों', 60 रैयतों ('ओक्कलु')[55] ने निवेदन किया था ('विन्नपम्गेय्य')। 1074 ई० में लक्ष्मरस ने जो उस समय बेलवोल और पुलिगेरे का शासक था, पोन्नगुंड में अरसर-वसदि को सभी प्रधानों के निवेदन पर ('इंतु समस्त प्रधानर बिन्नहदिम') भूमि का दान दिया था। इन प्रधानों में दो 'पेर्गडों', एक 'करण' और एक 'मापसयित' का नामोल्लेख हुआ है और विभिन्न शब्दावलियों में यह बतलाया गया है कि वे बड़े धार्मिक जैन थे।[56]

विभिन्न सम्मान

सभी सम्मानों का आदि स्रोत सम्राट ही था। ऐसे उदाहरण हम देख चुके हैं जब राजा ने किसी व्यक्ति की सैनिक अथवा सभा-परिषद में की गई विशिष्ट सेवा के लिए उसे उपाधियां दी थीं। यह विशेषाधिकार उन उपराजाओं को भी दिया गया था जो राजा के विश्वासपात्र होते थे क्योंकि सोमेश्वर प्रथम के शासनकाल में पेट्टियूर (होट्टूर) के गुडुव कुल के किसी केशव गावुंड ने हरिग से राज चिह्न प्राप्त किए थे। यह हरिग निश्चय ही बंकापुर का कदंब हरिकेशिन था। इसी प्रकार उसने विक्रमादित्य से, जो उस समय गंगवाडि का शासक था, ऐसा ही सम्मान प्राप्त किया था। विक्रमादित्य ने केशव को अपना ही पुत्र कहकर सम्मानित किया था। और उसे अपनी ही उपाधि चालुक्य गंग वेर्मांडि प्रदान की थी और उसे श्वेतछत्र, सोने की दुहरी 'चावरी', ध्वज, दुंदुभी और मयूरपंख का छत्र और अन्य राज-चिह्न धारण करने की आज्ञा दी थी। शाके 988 (1066-7 ई०) के होट्टूर के एक अभिलेख में इसके ब्योरे दिए हैं।[57] एक बार भी जिसे ये सम्मान मिल जाते थे वह उन्हें सदा याद करता था विशेषकर जब इनके प्राप्त करने वाले स्थायी निकाय होते थे। 'धर्मवोलल' (डंबल) के 16 सेट्टियों को जगदेकमल्ल (जयसिंह द्वितीय) ने 'छत्र', 'चामर' और 'शासन' का सम्मान दिया था। ये सेट्टि अवश्य ही डंबल के महानगर की प्रबंध समिति के सदस्य रहे होंगे। 1095-6 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि जगदेकमल्ल ने देश में उन्हें जो सम्मान प्रदान किया था उसे उन्होंने अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'प्रशस्ति' में सम्मिलित किया था।[58]

ऊपर हमने मुख्यतः अभिलेखों के आधार पर चालुक्यों की केंद्रीय शासन-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें बहुत सी खाली जगहें हैं। जो सामग्री प्राप्त है उसके महत्व के बारे में भी कुछ अनिश्चय बना है। भर्ती कैसे होती थी और उनकी पदोन्नति के क्या नियम थे, किसी पद पर रहने की पूरी अवधि क्या थी और विभिन्न पदों के वेतन मानों आदि के बारे में भी कुछ भी ज्ञात नहीं है। यद्यपि प्राप्त सामग्री से हम यह तो अनुमान कर ही सकते हैं कि एक विभाग या स्थान से दूसरे विभाग या स्थान को तबादले अक्सर होते थे, किंतु यदि काम अच्छा हो तो किसी अधिकारी का स्थानांतरण कम ही होता था। निश्चित स्थानों के राजस्व में से उन्हें निश्चित मात्रा में हिस्सा मिलता था। कुछ खास परिवारों में पदों पर नियुक्तियां आनुवंशिक होती थीं। इन परिवारों में से कुछ तो कुंतुल के बाहर से भी आए थे।

राज्य का स्वरूप

प्रशासन नितांत केंद्रीभूत भी नहीं था। साम्राज्य विभिन्न शक्ति केंद्रों का शिथिल संघ सा था जिसका अध्यक्ष सम्राट था। उसका शासन इस अर्थ में अवश्य ही वैयक्तिक और अनियंत्रित था कि वह किसी की सलाह मानने को बाध्य न था और अपने कार्यों के लिए वह किसी मानवीय अभिकरण के प्रति उत्तरदायी न था। किंतु वह एक ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में रहता था जिसका यह विश्वास था कि राजा एक दैवी सत्ता का अंग है जिसमें अपने अपने धर्म के अनुसार हर एक के कर्तव्य निर्धारित हैं। सच तो यह है कि सामाजिक जीवन में ऐसे क्षेत्र बहुत ही सीमित थे जिनपर राजा या उसकी सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण था। राजा का कर्त्तव्य व्यवस्था की रक्षा करना और उसके सम्मुख जो विवाद आएं उनका फैसला करना था। राज्य से प्राप्त आय उसके नियंत्रण में थी किंतु वह स्वयं अपने ऊपर उसका अल्पांश ही व्यय करता था। उसका अधिकांश सार्वजनिक सेवाओं के रखरखाव पर व्यय होता था। इनमें सेना भी शामिल थी। इसके अतिरिक्त वह राजस्व से दान भी करता था जिसका उपयोग विद्वानों या मंदिरों, पाठशालाओं, तालाबों, सिंचाई और अन्य सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए किया जाता था। राजा अपने गुणों के बल पर ही राज्य में अपना प्रथम स्थान बनाए रख सकता था। उसका सम्मान तभी तक सुरक्षित था जब तक कि वह अपने गुणों से अधिकारियों और सामंतों की सहायता और सहयोग प्राप्त करता था। जहां तक साम्राज्य को एक राजनैतिक संस्था माना जा सकता है यह मानना गलत नहीं होगा कि यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें सार्वजनिक शक्तियां, सामंत और मांडलिक अर्थात सम्राट, युवराज, मंत्री और अधिकारी-वर्ग एक दूसरे पर निगाह रखते थे। वे एक दूसरे की अपनी योग्यतानुसार प्रशासन की पवित्रता की रक्षा में सहायता करते थे।

उच्च अधिकारियों का शासन

प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन के ब्यौरों पर विचार करने से पूर्व कुछ खास उदाहरणों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर हम यह दिखाने का यत्न करेंगे कि शाही शासन में उच्च अधिकारियों की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका थी। कल्याणी के साम्राज्य के संस्थापक तैल द्वितीय के अधीन धल्ल की हैसियत के बारे में 1007 ई० के लुक्कुंडि अभिलेख में विस्तृत सूचना उपलब्ध है[59] धल्ल जन्मना ब्राह्मण था और वाजि-कुल का था। 'महामात्राक्षपटलाधिपति' के रूप में राज्य का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समूचा बोझ उस पर था। यह एक असाधारण प्रयोग है जिसका अर्थ यह हुआ कि वह तैल का मुख्य मंत्री था। धल्ल को तैल का बाहु कहा गया है। उसने सम्राट की ओर से कोंकण, वेंगी और मालवा के युद्ध जीते थे। वस्तुतः राजा और उसके मंत्री के कार्यों में कोई खास अंतर न था, सिवाय इसके कि राजा सिंहासन पर बैठता था और सिद्धांत रूप में मंत्री उसका सेवक था। धल्ल का बेटा नागदेव भी उच्च कोटि का सैनिक और राजनीतिज्ञ था। तैल के उत्तराधिकारी के शासन-काल में उसने भी उच्च स्थान पाया था। वानसकुल का वशिष्ठ गोत्रीय मधुवरस उससे भी उच्चकोटि का सैनिक और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने आहवमल्ल सोमेश्वर के शासन में बड़ी प्रतिष्ठा पाई थी। इन ब्राह्मण सैनिक-राजनीतिज्ञों की कई पीढ़ियों का इतिहास हैदराबाद रियासत के नागवावि, आधुनिक नागै नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में काफी विस्तार से दिया गया है।[60] उसके सभी ब्यौरों का यहां उल्लेख संभव नहीं क्योंकि हम मधुवरस पर ही अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जो कि इस वंश का सबसे यशस्वी व्यक्ति था। वह कालिदास और रेब्बणब्बे के छः पुत्रों में तीसरा था। कालिदास को चालुक्य-वंश के उत्थान का कर्त्ता बतलाया गया है। मधुवरस के बड़े भाई बाचिराज के बारे में कहा गया है कि उसने राजा को सम्राट का गौरव दिलाया था। किंतु मधुवरस तो स्वयं मधुसूदन (भगवान विष्णु) था। कालिदास के पुत्र के रूप में उसका जन्म कलि के कलंक को धोने के लिए हुआ था। उसके उज्ज्वल चरित्र और अद्वितीय रणकौशल का लाभ आहवमल्ल को मिला और इससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। उसने चोल-शक्ति को हिला दिया था और आंध्रों को समाप्त कर दिया था। धाराधीश को उसने धारा से बाहर खदेड़ दिया था। दूर-दूर के राजाओं को भी उसके शौर्य और शक्ति का अनुभव हुआ था। वह जितना पराक्रमी था उतना ही उदार भी था। उसने असंख्य दान दिए थे। साम्राज्य का शायद ही कोई ऐसा स्थान रहा हो जो उसके दानों से लाभांवित न हुआ हो। संसार की दृष्टि में उसमें और सम्राट में कोई भेद न था। 'कुंतलराज-लक्ष्मी' रूपी लता के पुष्पित होने के लिए वह वसंत के समान था। उन शत्रु राजाओं के लिए वह यम के समान था जो कुमार्ग पर चलते थे। उसने राज्य से सभी द्रोहियों को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय किया था और अपने ऊपर राज्य का पूरा भार ले लिया था। वह साम्राज्य के अधिकारी-वर्ग का प्रधान था। उसने विद्वान-कुलों के अनेक युवक अपने अधीन भर्ती किए थे। इन युवकों को इर्द-गिर्द के प्रदेशों की भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। इन्हें वह कठिन से कठिन कार्य सौंपता था। वहां महा सांधि-विग्रहिक के रूप में अश्वपति, गजपति और अन्य राजा उसके कृपा-कांक्षी रहते थे। राजा ने कृपापूर्वक उसे युवराज-पद पर आसीन कर उसका सम्मान बढ़ाया था। मंत्र-चातुर्य के क्षेत्र में वह चाणक्य, कामंदक और बृहस्पति से भी आगे था और राजसभा के 72 'नियोगों' के कुशल संचालन में वह यौगंधरायण के तुल्य था। उसकी तेजस्विनी बुद्धि की प्रशंसा पंडित-जन भी करते थे। उसमें कोई शक नहीं कि मधुवरस का यह चित्र किंचित अति-रंजित है पर इतना स्पष्ट है कि वह अपने समय का अद्वितीय सेनापति और राजनीति-विशारद रहा होगा। उसकी इस रूप में प्रतिष्ठा राजा की जानकारी में और उसके अनुमोदन से रही थी। मधुवरस का वर्णन समाप्त करने से पूर्व उल्लेख कर दें कि उसके बेटे कालिदास (द्वितीय) ने भी विक्रमादित्य षष्ठम् के शासन-काल में अत्यंत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

विक्रमादित्य षष्ठम् के येबूर के अभिलेख (1077 ई०) और बेल्लारी के (1090 ई०) के अभिलेखों में सेनापति रविदेव के कुल और उसके चरित का विस्तार से उल्लेख है।[61] रविदेव प्रसिद्ध संगीतकार था। जब वह वाद्य यंत्र बजाने लगता था तो हर एक यही पूछता था कि "क्या हम पर ताजे मधु की वर्षा तो नहीं हो रही है, अमृत की सरिता तो नहीं बह रही है?"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह अनेक भाषाओं और लिपियों का आचार्य था। आहवमल्ल (सोमेश्वर प्रथम) के शासन-काल में वह 'लाट-संधिविग्रहिक' था। राजा ने उसे मुक्कुंडे, गंगापुर और एहूर के तीन समृद्ध गांव दिए थे, जिन्हें उसने वहीं के ब्राह्मणों को माफी में दे दिया था। बाद में सोमेश्वर द्वितीय ने उसे 'सेनाधिपति' और 'हेरिसंधि-विग्रहिक' दोनों पदों पर नियुक्त कर दिया था। फिर जब विक्रमादित्य सम्राट बना तो उसने रविदेव को छत्र-दुंदुभी और चावर के राज-चिह्नों से विभूषित किया। इस प्रकार चालुक्यों की तीन-पीढ़ियों तक 'हाथ में दर्पण की भांति' (कय-गन्नडि-यादम्) सेवा की थी। येवूर के अभिलेख में सात-छंदों में रविदेव के नैतिक गुणों की प्रशंसा है। ये छंद उस काल की कन्नड़ कविता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनका किसी दूसरी भाषा में अनुवाद या संक्षेप देना संभव नहीं। वेल्लारी के अभिलेख में यह भी कहा गया है कि रविदेव की नीति और शौर्य चालुक्य प्रशासन का मध्यमूल था। उसने समूचे साम्राज्य में अपने दान से प्याऊ, चरागाह, पांथ शालाएं, विष्णु मंदिर और द्विजों के लिए सत्र स्थापित किए। अभिलेख में उसकी पत्नी का नाम रेब्बणब्बे दिया है। उसकी गद्य और पद्य में लंबी 'प्रशस्ति' है जिसमें उसकी सुंदरता, विद्वता, विदग्धता और कला नैपुण्य की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। उसे वीणावादन का शौक था। वह सच्चे अर्थों में अपने पति की योग्य सहचरी थी।

महाप्रधानम् दंडनायकम् श्रीमद्अय्यंगलु सोमेश्वरभट्टोपाध्याय विक्रमादित्य षष्ठम् का धर्माधिकारी था। उसकी प्रतिष्ठा एक दूसरे ही रूप में थी। चालुक्य विक्रम वर्ष 23 (1098ई०) के गडग अभिलेख में[62] इस विद्वान और राजनीति-विशारद का विस्तार से उल्लेख आया है। इसकी प्रशस्ति में कन्नड़ और संस्कृत में एकांतर से 30 मधुर छंद हैं। इसके कवि का दोनों भाषाओं पर सुंदर अधिकार था। इन भाषाओं के इतिहास-लेखक उसकी प्रशंसा अवश्य करेंगे। इसके बाद में कन्नड़ में प्रशस्ति का सारांश दिया है जो उसी तिथि के कुंडितनि अभिलेख में यथावत् उद्धृत है।[63] सोमेश्वर मौन-गोत्र का था। उसने अपने परिवार में अद्वितीय उन्नति की थी। उसके पिता और पितामह का नाम तो 'प्रशंस्ति' में स्मृतियों के विधान का पालन करने के लिए ही हुआ है, अन्यथा वे सामान्य कोटि के ही व्यक्ति थे। सारी प्रशंसा का पात्र सोमेश्वर ही है। पूरी प्रशस्ति में हमारा ध्यान उसी की विद्या, सच्चरित्रता, सत्कृतियों और व्यावहारिकता पर केंद्रित रहता है। धुरंधर से धुरंधर विद्वान भी उससे धर्म और 'ऋग्वेद' के पद और क्रम के बारे में परामर्श करने आते थे। वह सभी लौकिक और वैदिक विद्याओं में पारंगत था। विक्रमादित्य ने राज्य के आर्थिक मामलों के प्रबंध में उसकी कुशलता और चारित्रिक शुचिता से प्रसन्न होकर उसे 'महामात्य' बना दिया था और उसे सभी राज-चिह्नों से विभूषित किया था। उसने उसे 'धर्माधिकार' का भी अधिष्ठायक बना दिया था। इस पद पर उसका कार्य दानों का प्रबंध करना था। राजा ने अपनी 'समस्तसंपद' उसको सौंप दी थी। इसका उपयोगकर सोमेश्वर ने सभी नगरों में व्याख्यान मंडप बनवाए जहां 'वेद-शास्त्र' और 'सूर्य-सिद्धांत' और'सोम-सिद्धांत' पर व्याख्यान होते थे। सोमेश्वर ने अपने धन से लोक्किगुंडि में 'प्रभाकर-मीमांसा' के अध्यापन के लिए एक पाठशाला स्थापित की थी। राजा उसको 'अंजलिबद्ध प्रणाम करता था। अंतःपुर की सभी स्त्रियां उसका 'गुरू' की तरह सम्मान करती थीं। राजकुमार उसे संत की भांति मानते थे। वस्तुतः सोमेश्वरभट्ट अपने युग का मूर्त्तिमान साकल्य था। वह प्रथित-कवि-वनलक्ष्मी-वसंत था। ऐसे व्यक्ति को भी 'दंडनायक' कहने से यही प्रतीत होता है कि दंडनायक के पद का सेना से कोई निश्चित संबंध न था। संभवतः उसका संबंध नागरिक शासन से, विशेषकर न्यायांग से रहा होगा। वस्तुतः 'दंडनायक' को सेनापति से अधिक न्यायाधीश मानना ही अधिक समीचीन होगा। 'दंडनायक' उस अधिकारी की आख्या थी जो यह निर्देश देता था कि दंड का विशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मामलों में किस प्रकार प्रयोग किया जाए। इस प्रकार दंडनायक सेनापति से अधिक न्यायाधीश था, यद्यपि इस शब्द से सेनापति का भी अर्थ निकल सकता है। हम देख चुके हैं कि कतिपय 'सेनापतियों' को 'दंडनायक' भी कहा गया है। यह अकारण नहीं है। किंतु 'दानाधिकारिन्' और 'शासनाधिकारिन्' के रूप में दंडनायकों की नियुक्ति उनके पांडित्य के कारण होती थी न कि उनके शौर्य के कारण।[64]

इनके अलावा अभिलेखों में ऐसे महत्वपूर्ण अधिकारियों के उल्लेख हैं जिन्होंने साम्राज्य की सेवा की थी।[65] विक्रमादित्य के शासन-काल के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकारी अनंत-पालय्य का हम राजनैतिक इतिहास वाले अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। वह उन चंद सेनापतियों और राजनीतिज्ञों में था जिन्हें सम्राट का पूर्ण अनुग्रह प्राप्त था। उसे राजा ने वे सम्मान हैसियत और राजचिह्न प्रदान किए थे जो कुलीन सामंतों को भी सदा प्राप्त नहीं हो पाते थे। विक्रमा-दित्य के शासन के अंतिम कतिपय वर्षों में वह तेलुगु जिलों का उपराजा भी था। वेंगी की विजय में उसका महत्वपूर्ण योगदान था। उसकी सेवाओं का वाजिब पारितोषिक उसे मिला था। विक्रमादित्य के शासन के ठीक अंतिम वर्ष का एक लेख त्रिपुरांतकम् में प्राप्त हुआ है।[66] इसमें उसके पिता-पितामहादि का परिचय दिया है और उन संबंधियों के भी नाम दिए हैं जो सम्राट की नौकरी में थे और उन्होंने विविध रूपों में साम्राज्य की सेवा की थी। इनमें उसका बहनोई और भांजे भी थे। यह इस बात का एक और प्रमाण है कि किस प्रकार पीढ़ी दर-पीढ़ी से समूचे परिवार के लोग एक ही पेशे में प्रतिष्ठित थे।

प्रशासनिक इकाइयां

प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन के संबंध में पहला प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न मंडल के नामों के साथ जिन संख्याओं का प्रयोग हुआ उनका तात्पर्य क्या है। सूमूचे कुंतल प्रदेश को ही 'साढ़े सात लाख' कहते थे। अभिलेखों में कभी-कभी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि किसी खास मंडल के साथ जिस संख्या का प्रयोग है वह उससे बड़ी इकाई के साथ दी गई संख्या से बड़ी है। उदाह-रणार्थ महाराजवाड़ी नाडु में मुगुंद 30 पसलिगे 12000 का अंग था।[67] इन संख्याओं के अर्थ पर बार-बार विचार हुआ है, पर कोई अंतिम हल नहीं निकल पाया है। बादामी के चालुक्यों के शासन-काल में किसी इकाई के साथ रूढ़ संख्या का प्रयोग नहीं होता था। ऐसे प्रयोग तो राष्ट्र-कूट काल में चालू हुए। हम यही कह सकते है कि इनका तात्पर्य अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। न तो यही का जा सकता है कि देश के उपमंडलों के प्रशासन तै करने या नियंत्रण करने में इनका कोई महत्व था क्योंकि ऐसा कोई स्पष्ट सिद्धांत नहीं दीखता कि इस कार्य के लिए किस प्रकार इलाकों को एक साथ जोड़ते थे।

स्थानों के नामों के साथ रूढ़ संख्याओं के जोड़ने के अलावा सबसे प्रचलित प्रशासनिक विभाग थे 'राष्ट्र', 'विषय', 'नाडु', 'कंपण', और 'ठाण'। इनमें से पहले तीन शब्दों का प्रयोग बेतरतीब हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि कभी-कभी 'विषय' और 'नाडु' का प्रयोग 'राष्ट्र' से छोटी इकाइयों के लिए हुआ है। ताम्रपट्टों में उल्लिखित दान संबंधी आदेश आमतौर पर 'राष्ट्र-पतियों', 'विषयपतियों', 'ग्रामकूटों', आयुक्तकों', 'नियुक्तकों', 'अधिकारिकों', 'महत्तरों' आदि को संबोधित होते थे[68]। यह रूढ़ फार्मूला संभवतः राष्ट्रकूटों के समय से चला आ रहा था। किंतु इससे बात स्पष्ट नहीं होती तथापि इससे इस बात का कुछ-कुछ अंदाज अवश्य मिल जाता है कि स्थानीय प्रशासन में किस प्रकार के अभिकरण कार्य करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गांवों के मुखिया और महत्तर

'ग्राम-कूट' संभवतः गांव का मुखिया था। भारत के संपूर्ण दीर्घकालीन इतिहास में वह सरकार और गांव के बीच कड़ी का कार्य करता था। वैदिक काल में उसे 'ग्रामणी' कहते थे, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उसे 'ग्राम-स्वामि' कहा गया है। अन्य चालुक्य अभिलेखों में उसकी आख्या 'ग्राम भौजक' और 'ऊरेडिय' थी। 'महत्तर' गांवों के विशिष्ट जन थे। आमतौर पर वेड किसी मंडल के विशिष्ट जन होते थे। जैसी उन व्यक्तियों की योग्यता होती, चरित्र होता और उनके पास संपत्ति होती उसी हिसाब से सरकार के प्रतिनिधियों और जनता में उनकी प्रतिष्ठा होती थी। इसके अतिरिक्त केंद्रीय सरकार के विभिन्न श्रेणियों के अधिकारी होते थे। संस्कृत में इनके लिए जिन शब्दों के प्रयोग मिलते हैं और अभिलेखों में कन्नड़ में जिन पदनामों का प्रयोग है इन इन दोनों में क्या संबंध था, यह स्पष्ट नहीं है। किंतु कन्नड़ के शब्द जीवित शब्द हैं क्योंकि उनका सीधा संबंध जन-जीवनसे है, इसलिए प्राचीन रूढ़ शब्दों की अपेक्षा उनका अधिक महत्व है।

'नाडु' का प्रयोग अपेक्षाकृत बड़ी इकाइयों के लिए हुआ है और इनके साथ संख्याएं भी जुड़ी हैं, जैसे एक अभिलेख में (1079 ई०)[69] कन्ने 300, पेडेकल 800 और नरवाड़ी 300 का अलग-अलग उल्लेख है। इन सबके लिए 'इंती' 'पुरम्' 'नाडमम्' 'ये तीन नाडु' कहा गया है। 'नाडु' से छोटी 'कंपण' की इकाई थी, जैसे-कोगलि 'अय्नूरर' कंपणम् 'बिक्किगन'एर्यत्तर ओलगन तलवगे,[70] अर्थात तलवगे जो 'किपंणम' बिक्किग 70 में था जो कोगलि 500 का हिस्सा था। 'ठाण' संभवतः अन्य छोटी इकाई थी। या तो यह 'कंपण' के बराबर थी या उससे भी छोटी। (धारवाड़) के 1072 ई० के एक अभिलेख में उसे कुंटिगे 30 का 'ठाण' कहा गया है और इसमें वहां के 'शुंकवेर्गडे' (चुंगी अधिकारी) का उल्लेख है।[71] संभवतः 'ठाण' वित्तीय इकाई थी, न कि प्रशासनिक।[72]

नाडरस, नालगावुंड

आम प्रशासन की दृष्टि से हर 'नाडु' 'नाडरस' के अधीन एक पृथक प्रशासनिक इकाई था। 'नाडरस' की सहायता के लिए एक 'नालगावुंड' होता था। कभी-कभी 'महा-नालप्रभु' के उल्लेख मिलते हैं। इसमें 'प्रभु' शब्द 'अरस' का पर्याय है और 'महा' आदरसूचक पूर्व-प्रत्यय है क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि 'नाडु' से बड़ी कोई 'महानाडु' इकाई थी। 'नाडरस' के काम सामान्य प्रकार के और सर्व-व्यापी थे, यह बात 1045 ई० के मोरिगेरि के एक लेख[73] से स्पष्ट है। इसमें एक स्थानीय 'मठ' को दिए कुछ दानों का उल्लेख है। लेख में मठ को 'नैष्ठिक स्थान' अर्थात् ब्रह्मचारियों का निवास कहा गया है। यदि मठ का कोई ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के व्रत से च्युत हो जाता था या किसी दूसरे प्रकार से उसके लिए अवांछित हो जाता तो 'नाडरस' का कर्तव्य था कि वह 'मन्नेय' के मोरिगेरे और 'ऊरोडेय' से विचार विमर्श कर उसे मठ से निकाल बाहर करे। उसके स्थान पर वह दूसरे ब्रह्मचारियों को, संभव हो तो उसी परिवार के, मठ में ले सकता था बशर्ते कि वे ब्रह्मचर्य का पूरी तरह से पालन करने का व्रत लें।[74] 1058-9 में जब पोसवूर के आय्चगावुंड न अपनी पत्नी कंचिकब्बे की स्मृति में बनवाई 'बसदि' को एक सुपारी के बाग और मकान बनाने के चार स्थलों का दान दिया तो उस समय 'नाडरस' और 'नालगावुंड' दोनों उपस्थित थे।[75] इन प्रमाणों से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 'नाडरस' और 'नालगावुंड' के काम क्या थे और उनमें परस्पर क्या संबंध था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनके पदनामों से हम अनुमान कर सकते हैं कि 'नालगावुंड' का काम राजस्व की वसूली रहा होगा। 'नाडरस' अथवा 'नालप्रभु' जिले के आम-प्रशासन का अधिष्ठायक रहा होगा। ध्यान देने की बात है कि (होट्टूर का) केशवगावुंड पेट्टियूर 'गावुंड' और 'नालप्रभु' दोनों पद संभाले था।[76] ये दोनों पद एक साथ धारण करना आधुनिक विचार के विरुद्ध है। नेरिलगे के 'नालप्रभु' मल्लगावुंड को चतुर्थ वर्ण का बतलाया गया है (1147 ई०)।[77]

नगर और ग्राम

जहां तक नगरों और ग्रामों के प्रशासन का प्रश्न है यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें हर मामले में, सिवाय उनके जिनका संबंध राज्य के वित्त से था, पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी। जब तक उनमें कोई ऐसा विवाद उपस्थित न हो जिसे वे स्वयं न निपटा सकें, जनता को जिसके विभिन्न प्रकार के संगठन थे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूरी आजादी थी। आबादी के बड़े केन्द्रों को 'नगर', 'पट्टण' या 'पुर' कहते थे। ऐहोले, डंबल जैसे नगरों में व्यापारियों की बड़ी-बड़ी बस्तियां थीं। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि तमिल प्रदेश की भांति यहां भी नगर व्यापारिक मंडियों की आख्या थी और 'पट्टण' समुद्री पत्तन की। कभी-कभी 'पट्टणस्वामियों' और 'नगरसेट्टियों' के उल्लेख मिलते हैं, किंतु इनसे यह पता नहीं चलता कि मोटे तौर पर भी नगर का शासन किस तरह चलता था। कुछ नगरों का स्पष्ट ही दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व था क्योंकि वहां पुश्त दर पुश्त शासक-परिवार के लोग रहते थे। अतः उन्हें 'राजधानी' कहते थे। 'राजधानी' पुलिगेरे (मीरज रियासत में आधुनिक लक्ष्मेश्वर) से अनेक ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें नगर के शासन के संबंध में कुछ रोचक ब्यौरे हैं। 1082 ई० के एक अभिलेख में शांतिसेट्टि के नेतृत्व में 500 के द्वारा नगर के एक ब्राह्मण की जमीन खरीदने का उल्लेख है।[78] 1111 ई0 के एक लेख में दंडनायक अनंतमय्य द्वारा 'नगर' के 'महाजनों' 'गावुंडों' आदि से जमीन खरीदने का उल्लेख है।[79] इसी प्रकार 1122 ई० मे दंडनायक नागवर्म ने 'राजधानी-पट्टण' पुलिगेरे के ब्रह्मेश्वरगेरि के 120 महाजनों से जमीन खरीदी थी।[80] इसके सात-आठ साल बाद जयकेशि ने वहीं के शिव मंदिर से संबद्ध 'घलिगे' (कालेज) को अक्षय-दान दिया था।[81] 1138 ई० में जब कंदब राजा जयकेशि ने वहीं के एक प्रसिद्ध शिवमंदिर को एक महत्वपूर्ण दान दिया था तो उस समय 'राजधानी पट्टण' पुलिगेरे के 'महाजन', दो 'दंडनायक' और अन्य व्यक्ति उपस्थित थे।[82] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस महानगर में तीन बड़ी-बड़ी सभाएं थीं जिनमें से हर एक को 'महाजन' कहते थे।[83] इनमें एक नगर की आम बातों के लिए थी, दूसरी ब्राह्मण निवासियों से संबंधित थी जो उनके निवास, संपत्ति, आदि की समस्याओं का निराकरण करती थी और तीसरी नगर के सेट्टियों की सभा थी जो उनकी समस्याओं का नियमन करती थी। ऐसा अनुमान है ब्राह्मण सभा के लिए 120, और सेट्टियों की सभा के लिए 500 की संख्या संभवतः रूढ़ थी। इनमें से प्रत्येक सभा की निगमित (कोर्पोरेट) हैसियत थी। इनकी सम्मिलित संपत्ति होती थी। ये संपत्ति का क्रय-विक्रय कर सकती थीं। ये मुकदमें दायर कर सकती थीं और इन पर मुकदमें दायर किए जा सकते थे। प्रसंगतया, हमें यह सूचना भी मिलती है कि वहां उच्च अध्ययन के लिए एक 'घटिका' (कालेज) की भी व्यवस्था थी। साम्राज्य के इतने महत्वपूर्ण और बड़े नगर के लिए यह उपयुक्त भी था।

प्राचीन भारत की प्रथा के अनुसार जिसमें नगर और ग्राम शासन की अलग-अलग व्यवस्था थी, और अभिलेखों में भी 'पौर-जानपद'[84] पद द्वारा भी यह अंतर स्पष्ट है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अन्य नगरों के भी अलग अलग संविधान रहे होंगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भुवनेकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय के शासनकाल के लक्ष्मेश्वर के 1074 ई० के अभिलेख में कहा गया है कि पुरिगेरे 300 के राष्ट्रकूटक महासामंत जयकेशिरस पुरिगेरे की पेर्माडि-बसदि में आए। त्रिभुवन चंदपंडित की प्रार्थना पर उन्होंने इसे 'पुर' बना दिया[85] यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि 'पुर' नाम एक विशेष हैसियत का सूचक था और इसका सांविधानिक महत्व था। 'पुर' के रूप में मान्यता आवश्यक थी, और यह कि किसी स्थान के प्रशासन के अधिष्ठायक को किसी बस्ती को 'पुर' का दर्जा प्रदान करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार का दर्जा मिल जाने पर उसे आंतरिक शासन में विस्तृत अधिकार मिल जाते थे। 'बसति' के मामले में तो संभवत: वहां सीमित व्यक्ति ही बस सकते थे। नगरसभाओं की प्रबंध-समितियां होती थीं जिनकी सदस्य संख्या निश्चित थी। यद्यपि हमें इस बात का पता नहीं है कि ये समितियां कैसे बनती थीं और इनमें स्थान रिक्त होने पर उसकी पूर्ति कैसे की जाती थी। दैनिक प्रशासन तो प्रबंध-समिति ही करती थी, तथापि महत्वपूर्ण मामले में प्रबंध-समिति और नगर सभा दोनों की सम्मिलित बैठकों में निर्णय होते थे जैसे 1095-6 में डंबल के 16 'सेट्टियों' और 'महानगम्' ने साथ साथ फैसला किया था।[86]

ग्रामीण अर्थव्यवस्था

ग्राम प्रशासन के मामले में हमें तत्कालीन चोल-अभिलेखों में जितने उल्लेख मिलते हैं उतने चालुक्यों के बारे में नहीं मिलते तथापि इनके बारे में भी काफी उल्लेख प्राप्त हैं। 981 ई० के अग्रहार कंचगार बेल्गुलि (बेल्लारी जिला) के एक अभिलेख में उस गांव में चालुक्यों की विजय से पूर्व 'मान्यों' की जो व्यवस्था थी, विजेताओं द्वारा उनकी पुष्टि करने का उल्लेख है। इनमें तीन 'स्थान-मान्य' (पुजारियों के लिए माफी जमीनें) शिवमंदिर, पंचिकेशव मंदिर और भटारि मंदिर के थे जिनका रकबा 18 'मत्तर'। इनके अलावा 6 मत्तर 'भट्टगेयि (गांव के अध्यापक के लिए भूमि), 6 'मत्तर' था 'चट्टगेयि' (छात्रों के लिए भूमि), 8 मत्तर 'पेर्गाडे गेयि, (पेग्गेडे (क्लर्क) की भूमि), 8 मत्तर 'अंबिगगेयि' (मल्लाहों की भूमि), और 12 मत्तर 'तलारिगेयि' भी शामिल थी।[87] इस शासन से औसत आकार के एक गांव की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था का आभास मिलता है। और यह भी पता चल जाता है कि राजनैतिक परिवर्तनों का स्थानीय प्रशासन पर प्राय: कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। 980 ई० के सोगल अभिलेख में सुवर्णाक्षि-मंदिर और सुवर्णाक्षितीर्थ के संन्यासियों के सत्र के लिए भूमि के दान का उल्लेख है। यह अभिलेख कई दृष्टियों से रोचक है।[88] इसमें प्रतिमा की प्रतिष्ठा के बारे में अनुश्रुति लिपिबद्ध है कि इस मंदिर की स्थापना त्रेतायुग के मालि और सुमालि नामक दानव-राजाओं ने की थी। उस स्थान का सोवल या सोल नाम सुमालि राजा के नाम पर है। सोल के 30 ने उस भूमि की पैमाइश की थी जिसका अक्षयदान किया गया था। संन्यासियों के भोग स्थान का ठीक-ठीक स्थान बताते हुए जो विवरण दिया गया है उससे विदित होता है कि वहां 'नापितों' और मल्लाहों की बस्तियां अलग-अलग थीं और उनके स्थान निश्चित थे और कि नगर के मध्य से एक सड़क जाती थी। सबसे मजेदार बात यह है कि अक्षयदान के समुचित रख-रखाव के लिए चौकीदारों की भी व्यवस्था की गई थी। अभिलेख में स्पष्ट लिखा है कि 'स्थान-आचार्य' (मंदिर के पुजारी) और ऊर (तीस) सम्मिलित रूप से केंद्रीय सरकार के प्रतिनिधियों 'भूनाथरों' के अतिक्रमण से उसकी रक्षा करें। 'स्थान-आचार्य' 'ऊरों' से होने वाली हानियों के विरुद्ध रक्षा करेंगे और 'ऊर स्थान-आचार्यों' से रक्षा करेंगे। प्राचीन भारत में इस प्रकार के परस्पर निग्रहों के बारे में हम अनुमान तो करते रहे हैं किंतु यह लेख उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिखित प्रमाण है कि किस प्रकार इस व्यवस्था पर अमल होता था। इससे भारत की प्राचीन संस्थाओं के स्थायित्व के कारणों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

बाल्गुलि, अर्थात बेल्लारी जिले का बागली ऐसा स्थान है जहां से चालुक्य काल के पुराने लेख पर्याप्त संख्या में मिले हैं। ये अभिलेख चालुक्य काल के प्रारंभ से लेकर प्रायः अंत तक के है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार बाल्गुलि के 50 ने 'तंबुलिगों' और 500 के साथ मिलकर 'अन्यायपूर्ण' कराधान का विरोध किया था और इस काम में उन्हें सफलता भी मिली थी। 987 ई०[89] में गांव में नए आदित्यदेव के मंदिर के लिए उन्होंने एक बाग का दान दिया था। उन्होंने इस बगीचे के मौरूसी काश्तकार निश्चित कर दिए। उनको आदेश दिया कि वे मंदिर के लिए प्रतिवर्ष आनेय-पोन्नु के 6 'गद्याण' और 'धरण-पोन्नु' का एक 'गद्याण' और निश्चित मात्रा में सोना दिया करेंगे। यह बगीचा एक मत्तर से भी कम था। अभिलेख में कुछ टूट आ गई है जिसकी वजह से उसका ठीक-ठीक रकबा नहीं बतलाया जा सकता। कतिपय अभिलेखों में इस गांव को चालुक्य सम्राट का दान लिखा है[90] जबकि कतिपय परवर्ती लेखों में दाता का नाम हरिश्चंद्र लिखा है।[91] 50 को एक लेख में नारायण का सतत पूजक कहा है जबकि दूसरे लेख में उन्हें स्वयं कलिदेव का पूजक और श्री महालक्ष्मी का कृपा-भाजन कहा है।[92] इनका जो भी महत्व हो महाजनों की 'प्रशस्तियों' में विभिन्न तिथियों के जो भेद मिलते हैं वे ध्यान देने लायक हैं। एक बार कलिदेव-स्वामि के मंदिर में उनकी सभा का उल्लेख है जिसमें सभी बाशिंदे उपस्थित थे ('सबाल-वद्ध-सहितवशेषम्')।[93] उरोडेय के नेतृत्व में सभी 'महाजन' का उल्लेख 1079 ई० के एक लेख में 50 के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है (बालालिय-ऊरोडेय-प्रमुखवअशेष-महाजनंगल-ऐवंदिंबर')।[94] 1060 ई० के एक लंबे अभिलेख में एक ब्राह्मणी धर्मियक्क द्वारा स्वनिर्मित लक्ष्मीनारायण के मंदिर को सुपारी के एक बहुत बड़े बाग के दान का उल्लेख है। दान के बगीचे के कुएं से एक दूसरे व्यक्ति के 150 पेड़ों की सिंचाई की इजाजत दी गई थी। जाहिर है कि उस व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त रहा होगा जिसमें दान से परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। 50 की पाद-पूजा कर ब्राह्मणी ने उन्हें बगीचा सौंप दिया था। यह बगीचा सर्वबाधाओं से मुक्त था और इसका सदा के लिए दान दिया गया था : 'सर्वबाधापरिहारमम् सर्वनमस्यमम् सर्वमान्यमम् पडेड्डु।' इस बगीचे का दान देवता की विधिवत पूजा और 'नैवेध' की व्यवस्था करने और आवश्यकतानुसार मंदिर की मरम्मत कराने के लिए दिया गया था। इसकी आय से 'उपाध्याय' (अध्यापक) को पारिश्रमिक के रूप में सात बागुलि 'गद्याण' वार्षिक देने की भी व्यवस्था की गई थी। यह 'उपाध्याय' देवता के सम्मुख शास्त्र और पुराण की व्याख्या करने के लिए नियुक्त किया गया था : 'आदेवरलिल शास्त्र व्याख्यानमम् भादलुम पुराणमम् हेललु वोर्व्बर उपाध्यायरर्गे।' इसके साथ ही देवता की सेवा करने वाले सात ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था करने की भी हिदायत की गई थी : 'आदेवरग्रासानद ब्राह्मण भोजनक्कम्।'[95] इसी प्रकार अभिलेखों से अन्य गांवों की संस्थाओं का भी अध्ययन किया जा सकता है।[96]

उम्मचिगे (आधु० कोटवुमच्गि) में विक्रमादित्य पंचम के शासन-काल का 1012 ई० का एक अभिलेख मिला है[97] जिसमें एक अग्रहार की स्थापना का उल्लेख है। यह लेख अग्रहार की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था के बारे में रोचक विवरण देता है। दंडनायक केशवय्य ने उम्मचिगे गांव को रोण के मौनर श्रीधरभट्ट को 'शासन', 'श्वेतछत्र' और एक 'धलिगे' (सभामंडप) के साथ सर्वनमस्य के रूप में आंतरिक अधिकारों समेत सौंप देने की आज्ञा सम्राट से प्राप्त की। इस रूप में गांव पाने के बाद भट्ट ने स्वयं और 'महाजनों' और 'प्रजेगम' (अन्य जनों)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को 'व्यवस्था' में बांधकर उस गांव को 104 महाजनों को दे दिया। उस भूमि और मकानों का ब्यौरा दिया गया है जिनका उपयोग निर्दिष्ट पुण्य कार्यों में करने और उस स्थान में विशिष्ट प्रकार की सेवाएं प्रदान करने में किए जाने की हिदायत थी। 'व्यवस्था' की शर्तें संक्षेप में ये थीं : 500 मत्तर भूमि और 113 मकानों की आमदनी पुण्य-कार्यों और गौण सेवाओं के लिए थी, इनमें से 50 'मत्तर' और चार मकान की आमदनी का बंटवारा 6 मंदिरों और 'एल्कोटि' संन्यासियों के एक लंगर के बीच किया गया था। यह संपत्ति 'वेंदेयभटार' संप्रदाय के नैष्ट्रिकों के अधिकार और प्रबंध में दी गई थी—संभवत: एल्कोटि के संन्यासी और स्वयं भौनर श्रीधरभट्ट वेंदेयभटार संप्रदाय के ही थे। शेष संपत्ति में से 12 'मत्तर' भूमि और एक मकान एक भटारि मंदिर को, 100 'मत्तर' भूमि और एक मकान दो प्रकार की शिक्षा के लिए— 'न्याय' और 'प्रभाकर' की उच्च शिक्षा के लिए 50 मत्तर और अध्यापक के लिए एक मकान और 25 मत्तर विद्यार्थियों के लिए, 'गणित', 'जेसिय' (ज्योतिष) 'चंद' (छंद) और अलंकार अध्यापन में पटु नागदेशिग द्वारा प्राथमिक शिक्षा देने के लिए; अपने विद्यार्थियों को दिन में एक बार भोजन और साल में एक वस्त्र देने का उत्तरदायित्व नागदेशिक का था। नागदेशिक को 25 'मत्तर' भूमि और एक मकान 'अवकरिग-वृत्ति' के रूप में नेने की हिदायत थी। फिर गौण सेवाओं का उल्लेख हैं। 2 मत्तर कुरुवगेय (काली जमीन) और एक मकान ताजे नारियलों की पूर्ति के लिए, 6 मत्तर और एक मकान अभिषेक के विशेष पात्रों की पूर्ति के लिए, 8 मत्तर और मकान एक नापित के लिए; 12 मत्तर और एक मकान नगाड़े वाले के लिए, 100 मत्तर और 2 मकान एक नि:शुल्क भोजनशाला के लिए जहां सिर्फ सच्चरित्र व्यक्ति ही भोजन कर सकते थे। इसके बाद 'ऊरोड्रेय' (मुखिया) का मान्य (अलाटमेंट) दिया गया है। उसे 200 मत्तर और मकान बनाने के तीन स्थल-प्रत्येक 25 हाथ लंबा और 3 हाथ चौड़ा था। इसके अतिरिक्त उसे कतिपय 'शाश्वत शुंक' भी दिए गए थे जैसे एक 'गद्याण' एक वैदिक यज्ञ पर, दो 'पण' विवाह पर, एक 'पण' 'उपनयन' पर, एक 'गदयाण' 'दीपालि' पर (यद्यपि यह नहीं बतलाया गया है कि यह 'शुंक' कौन अदा करेगा) आदि आदि। इसके बाद आमदनी की आय के कई साधन गांव की सिंचाई के लिएकामआने वाले देयिम्गेरे नामकतालाब क रख रखाव के लिए दिए गए थे। ये साधन थे : दूसरे को गाली देने पर एक पण का जुर्माना, पीटने पर 12 पण, छुरा निकालकर धमकाने पर ('सुरिगे गिल्तदे') 5 'गद्याण', छुरे से घायल करने पर 12 'गदयाण', तथापि अपराधी के वर्ण के मुताबिक जुर्माने की रकम अलग अलग होती थी;[98] यदि को अविवाहित पुरुष किसी स्त्री के साथ बलात्कार करे तो उसे 3 गद्याण जुर्माना देना पड़ता था और अपने अपराध के लिए 'प्रायश्चित' करने पर उसे फिर 3 गद्याण शुंक' देना पड़ता था। यदि (अपराध करके) कोई अविवाहित पुरुष हथियार हाथ में लेकर 'मंडप' में पहुंच जाए तो उसे कोई दंड नहीं दिया जा सकता था। एक मकान गाय-बैलों के रहने के लिए, दूसरा गावुंडों के लिए और तीसरा छोटी जातियों के सरदारों ('कीलजातिय मुख्यर्गम्') के लिए सुरक्षित रखा गया था। खेद है कि इस अभिलेख में गांव की कुल कृषि भूमि का रकबा नहीं दिया है और इसमें अन्य जातियों के बारे में भी कुछ नहीं कहा गया है। फिर भी इस लेख में 'ऊरोडेय' की स्थिति, शिक्षा व्यवस्था, धर्म और पुण्य की संस्थाओं, न्याय व्यवस्था में स्थानीय स्वशासन के विस्तार और जुर्माने के विभाजन आदि के जो ब्यौरे हैं, वे बड़े महत्व के हैं।

('अनादि') 'अग्रहार' स्थानकुंदूर (तालगुंड) के 32,000 ब्राह्मणों का कई अभिलेखों में उल्लेख हुआ।[99] उनकी एक लंबी 'प्रशस्ति' भी मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अहिच्छत्र से आए थे। उन्होंने मयूरवर्मन के लिए 18 अश्वमेध कराए थे जिन यज्ञों की दक्षिणा स्वरूप उन्हें 144 गांव मिले थे। इन अनुश्रुतियों के अलावा यह भी कहा गया है कि इन 32,000 ने सभी ब्राह्मणों और राजसभाओं में प्रथम सम्मान प्राप्त किया : 'ब्रह्म-राजसभा-पूजाग्रह ग्राहिगल'। यह कथन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें 32,000 के 'समय' के अनुसार सम्मान के बारे में इस पद का संभावित खुलासा है—इसका मतलब यही है कि इन ब्राह्मणों को खूब सम्मान प्राप्त था। गंज का अग्रहार भी 32,000 'महाजनों' का दावा करता है।[100] इससे संभावना यही है कि प्रशस्ति के 144 गांवों में एक यह भी रहा होगा। इसी प्रकार जिस-जिस गांव के साथ 32,000 की संख्या आई है वे सभी उन 144 गांवों में शामिल रहे होंगे।

सन 1040 ई० में जब एक निःशुल्क भोजन-शाला के लिए एक बहुत बड़े गांव के दान की घोषणा की गयी थी तो सिरुवर के 3 गावुंड, पांच मठों के प्रधान[101] ('पंच-मठ-स्थान') और जेंतेवाड़ी के 'ऊरोडेय' के नेतृत्व में 200 महाजन भी उपस्थित थे। इस दान का प्रबंध उन तीन 'गावुंडों' और पंचमठों के प्रधानों को सौंपा गया था। सौंदत्ति के निकट ही पोलियूर (हुलि) का महाग्रहार था इसमें एक 'ऊरोडेय' और एक 1000 महाजन थे जिन्हें स्वर्णपात्र, 6 श्वेत छत्र, चामर, 'पंचमहाशब्द', 'घटिका' (सभा मंडप) और दुंदुभि का सम्मान प्राप्त था। ये 'वेदों', 'शास्त्रों', व्याकरण, छंद, 'पुराण' और 'काव्य' के पंडित, सोमयानी', अपने दैनिक व्रत के पालन करने वाले और सच्चरित्र थे। चालुक्य सम्राट ने यह बस्ती शुरू में 'ब्रह्मपुरी-स्थान' के रूप में बसाई थी।[102] 1049 ई० के होंबल के एक अभिलेख में पोंबुल्च के 120 'महाजनों' और 'अशेष ब्रह्म सभे' (सभी ब्राह्मणों की सभा) का उल्लेख है। यह स्पष्ट प्रमाण है कि 'महाजनों' का अर्थ किसी स्थान के सभी गृहस्थ न था। गृहस्थों की आम-सभाएं भी होती थीं जिनकी यदाकदा बैठकें भी होती थीं।[103] शिरूर (बीजापुर जिला) के उसी तिथि के एक दूसरे अभिलेख में 'ग्राम राजाओं' (गांव के शासकों) का यह कर्तव्य बतलाया गया है कि यदि स्थानीय 'मठ' का कोई संन्यासी ब्रह्मचर्य के व्रत से च्युत हो तो वे उस मठ से निकाल दें।[104] यह पदावली किंचित अस्पष्ट है और यह सकारण है क्योंकि इन मामलों में या तो केंद्रीय सरकार के अधिकारी या स्थानीय संस्थाएं ही हस्तक्षेप कर स्थिति को ठीक कर सकती थीं।

धार्मिक संस्थाएं

1058 ई० के नागै के एक अभिलेख में अन्य बातों के अलावा त्रैपुरुषदेव के मंदिर से संबद्ध 'शाला' (भोजनशाला) की 'परिषद' के 'माणियों' (ब्रह्मचारियों) को 1000 मत्तर की सिंचित भूमि के एक बहुत बड़े दान का उल्लेख है।[105] इससे पता चलता है कि अर्ध-धार्मिक स्वरूप वाली पूर्त (Chari table) स्थापनाओं का भी अपना संविधान था और कि 'मठों' और 'शालाओं' के निवासी जो अपना घरबार छोड़कर वहां रहते थे और जिनकी कोई निजी संपत्ति न थी, वे इतने योग्य थे कि आम जनता उन्हें उनकी स्थापनाओं के प्रबंध आदि का काम सौंप देती थी। इस प्रकार संभवतः मध्ययुगीन यूरोप के चर्चों से 'मठ' भिन्न न थे।

नगरों का विकास

1062 ई० में[106] में मुलगुंड त मंदिर के लिए कुछ जमीन खरीद कर दान देते समय 'आदिपट्टन मुलगुंड के 4 'सेट्टियों' के नेतृत्व में (इनके नाम दिए हैं) वहां के गावुंडों, 120 'महाजन', 50 'सालिग' (बुनकर), 120 'तेल्लिग' (तेली), 58 (?) 'मालागार' (मालाकार), और पंच मठ स्थान उपस्थित थे। इस लेख में 'आदिपट्टन' के उल्लेख से नगर का इतिहास विदित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है। जाहिर है कि इस नगर की नींव व्यापार के केंद्र के रूप में पड़ी थी। 1064 ई० के उच्चंगिदुर्ग के एक अभिलेख में एक 'कालामुख स्थान' (शैव केंद्र) की रक्षा का भार वहां की 'नकर' (व्यापारियों की श्रेणी) को सौंपा गया है।[107] 1071 ई० में जब विक्रमादित्य गोविंदवाडि का शासक था और खास तौर पर दंडनायक छिद्दय (सोमेश्वर द्वितीय के सेनापति) पर अपनी विजय से प्रसन्न था तो अग्रहारम पुविन-वंडगिलि के 120 'महाजन' उसके पास आए। उन्होंने छंदों में उसकी स्तुति की और उसे आशीर्वाद दिया ('बंदु श्लोकार्थमम् पेर्दोशीर्वादमम् कोट्टेडे')। विक्रमादित्य ने उन्हें पुरस्कार दिए।[108] महाजनों का कार्य स्पष्टतः राजनीति से प्रेरित था। उनका मंतव्य सोमेश्वर के विरुद्ध युद्ध में विक्रमादित्य के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करना था। 1090 और 1144 ई० के दो अभिलेखों में इन 'महाजनों' की एक लंबी प्रशस्ति मिलती है।[109] 1074 ई० में गंडरादित्य चतुर्वेदिमंगलम (वेल्लारी जिले) के गवरेश्वर देवता को वहां के 120, ('महाजनों'), 50 तेल्लिग परिवारों, 'मुम्मुरिदंडों' और 4 'सेट्टि पुत्रों' (इनके नाम दिए हैं) ने दान दिए थे। दान के ब्यौरे देते समय 500 और तेल्लिगों के 60 परिवारों का उल्लेख आया है। इसके बाद के दो अभिलेखों में पुनः महाजनों के उल्लेख हैं। इन अभिलेखों में कोई तिथि नहीं दी है।[110]

स्थानीय कार्यों में सहकारिता

निड्गुंडि (धारवाड़ जिला) से सोमेश्वर द्वितीय के शासनकाल का (1076 ई०) एक अभिलेख मिला है[111] जिससे इस बात का अच्छा अंदाज हो जाता है किसी स्थान की आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार विभिन्न अधिकरणों के लोग परस्पर सहयोगपूर्वक करते थे। इसमें एक प्रासंगिक कथन से ज्ञात होता है कि उस स्थान का कुल राजस्व राजा की आज्ञा से ('शासन मर्यादे') 500 'गद्याण' निश्चित किया गया था, इससे यही प्रतीत होता है कि इस प्रकार के बंदोबस्त दूसरे स्थानों के बारे में भी होते थे। उनमें यथावश्यक परिवर्तन होते रहते थे। गांव के 400 'महाजनों' ने 'पूर्वस्थितियम्' जारी रखते हुए $3\frac{1}{2}$ पारिखायद पोन दूसरे स्थानों से आने वाले 'महाजनों' के सम्मान में व्यय के लिए अपनी रजामंदी दी थी; 'महाननद भयागत पूजये'। उस जिले के शासक सिंगण्णदेव ने गांव के 500 गद्याण' के राजस्व में से 10 'गद्याण' 'पवित्रारोहण' उत्सव पर और उस उत्सव की अवधि में स्वयंभू कालिदेव स्वामि के मंदिर में शास्त्रों का पाठ करने वाले ब्राह्मणों की दक्षिणा के लिए खर्च करने की आज्ञा दी थी। सम्राट की बहन सुग्गलदेवी उस अग्रहार की 'त्रिभोगाभ्यंतर सिद्धि' से शासन करती थी। उसने अपने भाई से, जो उस समय अवगेवाडि में स्कंधावार में था, आज्ञा लेकर उस मंदिर की मरम्मत और मंदिर में शाश्वत दीप जलाने के लिए एक तेल मिल और उसी गांव में ग्रामदेवी भगवती ('ग्रामाधिदेयम भगवती') के मंदिर में शाश्वत दीप जलाने के लिए एक दूसरी तेल मिल का दान करने की आज्ञा मांगी थी। 1074 ई० के नीरल्गि के एक अभिलेख में एक हरकारा भेजकर वहां के 300 'महाजनों' को बुलाने का उल्लेख है।[112]

स्वेच्छिक उगाही

सन 1092 ई० में नागवावि (नागै) के 400 'महाजनों' और समस्त व्यापारियों ('अलिय समस्त नकरमुम्') ने सभा कर रामेश्वर मंदिर के एक गौण मंदिर की आवश्यकताओं की पूर्ति और मुख्य मंदिर के 'गोपुरम्' की मरम्मत के लिए व्यवस्था की। उन्होंने फैसला किया कि राममंदिर के सामने के लक्ष्मण मंदिर में दैनिक 'अर्चना' व 'निवेद्य' और विभिन्न पर्वों पर विशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूजादि के लिए स्थानीय व्यापारी और बाहर के व्यापारी जो उस गांव में आएंगे कपड़े ('सीरे') और सुपारी की बिक्री ५र सोलहवां भाग सोने के रूप में देंगे। इसके अतिरिक्त वे सभी लोग जो अपनी मनोकामनाएं पूरी हो जाने पर दर्शन के लिए आते हैं ओर 'मुद्रापण' देते हैं उसके समेत सारा धन 'गोपुर' की मरम्मत पर खर्च किया जाएगा। इन सभी उपायों से जो भी रकम वसूल होगी वह वहां के सम्मनित व्यापारियों को सीप दी जाएगी और उपर्युक्त कार्यों के लिए यथावश्यक खर्च की जाएगी।[113] स्थानीय संस्थाओं की कार्य-प्रणाली पर इस प्रकार के संकल्पों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, किंतु इससे कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका तुरंत उत्तर देना कठिन है। उदाहरण के लिए, प्रश्न यह उठता है कि लक्ष्मण के मंदिर का खर्च पहले कैसे चलता था? क्या पहले 'गोपुर' की मरम्मत की कोई व्यवस्था न थी। क्या कपड़े और सुपारी पर जो उगाही लगी थी वह कोई नई उगाही थी? क्या इन वस्तुओं पर पहले कोई कर नहीं लगता था? यदि नागवावि के स्थानीय निकायों का पूरा दस्तावेज प्राप्त होता तो हम इन प्रश्नों का आसानी से उत्तर दे सकते थे। किंतु हमें तो कुछ प्रासंगिक उल्लेख भर प्राप्त हैं। तथापि जो कुछ सामग्री प्राप्त है उसकी सहायता से हम इन बातों का संभावित उत्तर अवश्य दे सकते हैं। हां, अभिलेखों में निश्चित सूचनाएं न मिलने की वजह से हम विस्तृत विवरण नहीं दे सकते हैं।

पट्टेदारी में परिवर्तन

1116 ई० में भांगोल का 'अग्रहार' विक्रमादित्य की रानी पद्मलदेवी के शासन में था। 'अग्रहार' के 200 'महाजनों' ने रानी को अर्जी दी और उस पर विचार कर (कारुण्यवचन) रानी ने आज्ञा दी कि नरसिंहदेव की पूजा के लिए पर्याप्त भूमि रख छोड़ें। रानी की आज्ञा का पालन करते हुए पुलियम नायक ने 11 'मत्तर' भूमि की व्यवस्था कर दी।[114] सन 1124 ई० में विक्रमादित्य के सामंत अत्यण चोल ने राजा की मंजूरी लेकर मुडिवेमु का पूरा 'अग्रहार' 108 'महाजनों' को 'त्रिभोग' पट्टेदारी पर सौंप दिया। इस व्यवस्था के अधीन आमदनी का शासक, ब्राह्मणों, और स्थानीय देवताओं के बीच बराबर बराबर भाग कर दिया जाता था।[115] गांव के राजस्व के बारे में यह एक महत्वपूर्ण और स्थायी परिवर्तन था। इस प्रकार का परिवर्तन पुश्तदरपुश्त से शासन करने वाला सामंत भी सम्राट की मर्जी के बिना नहीं कर सकता था।

वनवासि के एक गांव का नाम पुरुवनपल्लि सरे अर्थात 'ब्राह्मणों का गांव' सरे था। गांव वालों ने इसका नाम बदलकर सिर्फ सरे रखना चाहा था। जाहिर है कि कालांतर में वहां दूसरे वर्णों के भी काफी लोग गांव में बस गए होंगे। इसलिए पुरुवनपल्लि का विशेषण निरर्थक हो गया होगा। इस नाम परिवर्तन के लिए प्रांत के अधिष्ठायक ब्रह्मय्यदेव को 'मानेय प्रधानम्' की उपस्थिति में एक 'शासन' (चार्टर) जारी करना पड़ा। यह 'शासन' 1132 ई० का है।[116]

चालुक्य साम्राज्य में ग्राम प्रशासन के इस सर्वेक्षण में प्राथमिक प्रमाणों का सार दिया गया है। ये प्रमाण यथासंभव काल-क्रम से दिए गए हैं। इस विषय के पक्के अध्ययन का अभी समय नहीं आया है। अभी तक अनेक अभिलेखों के संपूर्ण पाठ प्रकाशित नहीं हुए हैं। इनकी रिपोर्टें सरकारी तौर पर अवश्य छपी हैं। किंतु अनुभव बतलाता है कि इन रिपोर्टों पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। जो अभिलेख प्रकाशित भी हुए हैं उनमें पूरे पाठ स्पष्ट नहीं हैं। इनके निर्वचन में भी मतभेद की गुंजाइश है। किंतु जितने प्रमाण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्धृत किए गए हैं उनसे यह वात स्पष्ट हो जाती है कि प्रवृत्ति स्वशासन की ओर ही थी। सामाजिक जीवन के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की संस्थाएं बनी हुई थीं। इन संस्थाओं के अपने अपने नियम विनियम थे। राजा, उसके अधिकारी और सामंत तो इन नियमों आदि का पालन कराने के लिए एक प्रकार से बाहरी प्राधिकरण के रूप में थे। हमेशा अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर वल दिया जाता था। विभिन्न प्रकार के समुदाय बने थे। व्यक्ति इन्हीं समुदायों का अंग था। इनमें भी उसे अपनी योग्यतानुसार आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलता था। इस अवस्था का मूलाधार यह था कि समाज शरीर है जिसके विभिन्न अंग परस्पर आश्रित हैं। इन अभिलेखों में दैनंदिन की कार्यविधि की जो झलक मिलती है उससे यही प्रतीत होता है कि समाज के विभिन्न समुदायों में काफी मेलजोल था और वे परस्पर सहयोग से कार्य करते थे। गांव, नगर और इससे बड़े इलाकों की अपनी अपनी सभाएं थीं। इनकी अपनी परंपराएं थीं और विशेषाधिकार भी थे। इनमें संबद्ध क्षेत्र के सभी परिवारों के मुखिया सदस्य होते थे। सभी कार्य यहां तक कि न्याय भी इनके अधीन थे। वह किसी खास छोटे वर्ग का विशेष क्षेत्र न था। सिर्फ 'अग्रहारों' (ब्राह्मण गांवों) में इसका अधिकार ब्राह्मणों को था। गांव के कर्मचारियों को पारिश्रमिक स्वरूप गांव की कुछ जमीन दे दी जाती थी। कर्मचारियों में गांव का अध्यापक भी था। इसके बाद कारीगरों और व्यापारियों की श्रेणियों का महत्व था। इनके बारे में हम और भी बतलाएंगे। इनका यह महत्व इनकी आर्थिक स्थिति के कारण था और इस कारण भी था क्योंकि ये मंदिरों, पाठशालाओं, चिकित्सालयों, तालाबों आदि सार्वजनिक हित के अन्य कामों के लिए धन देते थे। इसके लिए वे समय-समय पर अपने वर्गों पर सामयिक उगाहियां लगाकर धन वसूल करते थे या फिर ऐसी संस्थाओं के लिए वे एकमुश्त नकद राशि देते थे या भूमि-दान करते थे। इस प्रकार की अनेक अन्य संस्थाएं भी थीं जो मंदिरों, 'शालाओं' (भोजन-गृहों), मठों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को चलाती थीं। ये थोड़ी थोड़ी दूरी पर रहते हुए भी बड़े सौहार्दपूर्ण ढंग से काम करती थीं क्योंकि सभी का उद्देश्य अपने दैनिक जीवन में 'धर्म' के सिद्धांतों के अनुसार आचरण करना था। इन सिद्धांतों में एक सिद्धांत यह भी था कि यदि आपस में कोई विवाद न निपट सके तो तीसरे पक्ष को पंच मानकर उसके फैसले पर अमल किया जाए अथवा अंतिम स्थिति में राजा या मंत्री से ही विवाद का निपटारा करा लिया जाए।

गांव के अधिकारियों में मुख्य 'ऊरोडेय' (मुखिया) था। ऊपर हमने जिस उम्मचिगे अभिलेख का हवाला दिया है उसमें इस अधिकारी को जितना पारिश्रमिक निर्धारित किया गया है उससे यही अनुमान होता है कि यह पद गांव में काफी सम्मानजनक माना जाता था। उसके अतिरिक्त 'पेर्गडे', 'गावुंड', 'सेनबोव' और 'कुलकर्णि' के भी उल्लेख आए हैं। इनड़ अंतिम दो संभवतः मुनीम और क्लर्क थे। इन अधिकारियों में काम का ठीक-ठीक बटवारा कैसे होता था इसका पता नहीं है। इनके स्त्रीवाचक शब्द भी अभिलेखों में आए हैं जैसे 'गावुंडिगि', 'हेग्गडिति' या 'गौडि'।[117] इनके अलावा 'अरसि', 'नायकित्ति' और 'दंड-नायकित्ति' के भी उल्लेख मिले हैं। ये शब्द अधिकांश में इन अधिकारियों की पत्नियों के सूचक हैं, न कि इस बात के उदाहरण हैं कि इन पदों पर स्त्रियां भी काम करती थीं, यद्यपि कतिपय स्त्रियां 'अरसि' अवश्य थीं।

कराधान

इसके बाद हम स्थानीय या प्रांतीय करों और उगाहियों पर विचार करेंगे। हम इनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से कुछ का अन्य विषयों के विवेचन के समय प्रसंगवश उल्लेख कर चुके हैं। यहां उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं है। राजा की सरकार के हाथ में ही वित्तीय अधिकारों की इजारेदारी न थी। हर स्थानीय सभा या श्रेणी को अपने उद्देश्यों और कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अपने-अपने क्षेत्र में इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कतिपय उल्लेखों से इन उगाहियों के स्वरूप और इनकी दरों का कुछ-कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है किंतु किसी भी लेख में प्रत्यक्ष रूप में कराधान की व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु हम इसका अनुमान दानपत्रों के अध्ययन और उनमें दी गई छूटों आदि के विवरणों से लगा सकते हैं। इसीलिए हमारा यह ज्ञान अप्रत्यक्ष ही हुआ। इसलिए वर्तमान में यह बतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता कि किस मद पर कितना कर लगता था। अतः उसकी दूसरे देशों या कालों से तुलना करने का भी प्रश्न नहीं है। जहां तक हम देखते हैं उस काल में समाज के किस वर्ग पर कितना बोझ डाला जाए इसका फैसला मोटे तौर पर ही किया जाता था। हां, इसमें इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि सबके साथ न्याय और समानता का व्यवहार हो। खास तौर पर ध्यान देने की बात यह है कि अनेक छोटी-मोटी उगाहियां खास-खास वर्गों पर ही लगाई जाती थीं, सर्वसाधारण पर नहीं। यदि हम यह बात ध्यान में न रखेंगे तो उन उगाहियों के सर्वसाधारण पर भार के बारे में गलत धारणाएं बना सकते हैं।

दान में सभी तरह की वस्तुएं होती थीं। इन सब पर उगाहियां देय होती थीं। इसलिए उन पर छूट मिल सकती थी। दान में बगीचे की भूमि ('तोंट'), सुपारी के बगीचे ('अडकेय तोंटें'), सिंचित भूमि ('केय'), सूखी भूमि ('गल्डे'), तेल मिलें ('गाण'), मकान, मकानों के लिए जमीन ('मने' और 'मनें-निवेशन'), स्वर्ण 'गद्याण' ('पोन गद्याण') के रूप में नकद धन के उल्लेख बार-बार आए हैं। कभी-कभी तो खास खास करों और उगाहियों का ही दान खास कामों के लिए किया जाता था। इसके अलावा कभी-कभी स्वेच्छा से भी उगाहियां होती थीं, खास व्यापारी वर्ग अक्सर इस प्रकार की व्यवस्था करता था। इस विषय की व्याख्या करते समय जिन अभिलेखों के प्रमाण दिए जाएंगे उनमें भी इन सामान्य कथनों के उदाहरण मिलेंगे।

परिहार

अब हम खास खास करों के ब्यौरों का अध्ययन करने से पूर्व 'परिहारों' अर्थात भूमि के दानों के साथ दी जाने वाली छूटों और उससे संबद्ध पट्टेदारी के विषय पर चर्चा करेंगे। सिलाहार मंडलिक रट्टराज के 1008 ई० के खारेपटन ताम्रपट्टों में तीन गांवों के दान का उल्लेख है। इनकी सीमाएं निश्चित थीं। गांव के साथ-साथ उससे राज्य को प्राप्त होने वाली सारी आमदनी का भी दान किया गया था ('सर्वराजकीया याभ्यंतरसिद्धम्)। गांव में 'चाटों' और 'भटों' का प्रवेश निषिद्ध किया गया है। इससे पूर्व ब्राह्मणों और देवताओं को जो दान मिल चुके थे, उनको बरकरार रखा गया था। गांव के शैव संन्यासियों के प्रसिद्ध संप्रदाय 'मत्तमयूरों' के 'अन्वय' (line) के 'कार्क रोणि संतति' (आध्यात्मिक संतति) के ब्रह्मचारी आचार्य के शाश्वत प्रबंध में दिया गया था।[118] ग्यारहवीं शताब्दी के मीरज के 'ताम्रपट्टों' (1024 ई०)[119] और अन्य दान-पत्रों में दान की मानक शब्दावली यह थी 'गांव का दान उसकी धान्य और सुवर्ण की समस्त आय, उसकी निधियों और निक्षेपों के साथ दिया गया; राजकीय अधिकारी इसकी ओर किसी प्रकार की उंगली नहीं उठाएंगे; दान में 'शुल्क' भी सम्मिलित है, और गांव पर कोई 'कर' या 'बाधा' (महसूल) नहीं लगाई जाएगी, इसका सभी आदर करेंगे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

('सर्व नमस्य')। इस पदावली का यह मतलब हुआ कि जो बात राजा के अधिकारियों पर लागू है वह सब पर लागू है अर्थात इस गांव से किसी भी रूप में कोई भी किसी किस्म का अंशदान नहीं मांग सकता था। किंतु कभी-कभी इस प्रकार के आम परिहारों के बाद भी जमीनों से एक मुश्त रकम वसूल की जाती थी। जैसे, निलगुंड के ताम्रपट्टों के अनुसार जब चालुक्य विक्रम वर्ष 48 में द्रविड़ देश के 300 ब्राह्मणों को गांव के दान की पुष्टि की गई और इसके साथ कृष्णपल्लिका का भी दान जोड़ दिया गया तो सम्राट ने आदेश दिया था कि ये ब्राह्मण 'देश-स्वामि' (राजा) को 400 'सुवर्ण पिंडदान' देंगे अर्थात लगान के रूप में एक मुश्त 400 सुवर्ण देंगे। यद्यपि यह लेख में स्पष्ट तो नहीं लिखा है, परंतु संभवतः यह रकम सालाना लगान रही होगी। इस प्रकार 'सर्वमान्य' ('सर्व नमस्य') का सदा शाब्दिक अर्थ ही नहीं ग्रहण करते थे। कभी-कभी इससे पूर्ण परिहार का अर्थ न होकर, लेख में उल्लिखित अदायगियों के अतिरिक्त सभी अदायगियों की छूट का अर्थ होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकप्रियता और धार्मिक पुण्य की कामना से प्रभूत दान देते समय भी सार्वजनिक वित्तीय व्यवस्था के स्थायित्व का उचित ध्यान रखा जाता था। छोटे-छोटे दानों के समय भी इस प्रकार उनसे कुछ राजस्व ग्रहण करने के उदाहरण अज्ञात नहीं है। उदाहरणार्थ सिरिवूर में मूलस्थान के रेवब्बे गोंरवी मंदिर में 1005 ई० में सोभनरस ने 6 'मत्तर' भूमि दान देते समय पांच 'गद्याण' का 'अरुवण' निर्धारित किया था। इसके अतिरिक्त उसी अवसर पर जिस बगीचे का दान किया गया था उससे भी एक 'बल्लि' निर्धारित की गई थी। यह बल्लि उपर्युक्त बगीचे में पान की एक लता की उपज थी।[120] यहां यह स्पष्ट नहीं है कि 'अरुवर्ण' क्या था किंतु एक बार हम कृषिवतभूमि ('केयू'), मकान ('मने') और बगीचे ('तोट') देय से भी इसकी वसूली का उल्लेख पाते हैं।[121]

भूमि की पट्टेदारी

विभिन्न वर्गों और संस्थाओं को पट्टे की विभिन्न शर्तों पर अलग-अलग मात्रा में अलग-अलग तरह की छूटों के साथ जमीनें मिलती थीं। मंदिरों, 'मठों', गांव-सभाओं और अन्य स्थायी निगमों को जमीनों के स्थाई पट्टे मिलते थे, सिर्फ युद्ध, हमले आदि असामान्य परिस्थितियों में ही उनकी पट्टेदारी में कुछ परिवर्तन संभव होते थे, अन्यथा नहीं। राज्य और इन संस्थाओं में परस्पर सहमति से भी परिवर्तन संभव थे। इस प्रकार का सबसे बड़ा हकनामा 'परमेश्वर-दत्ति' होता था जिसका अर्थ था सम्राट का दान। इसमें सम्राट से सीधे मिले दान ही नहीं होते थे बल्कि उसकी मंजूरी से मिलने वाले दान भी शामिल थे।[122] 1037 ई० के एक उदाहरण में एक जमीन खरीद कर एक मंदिर को दान की गई। उसे अविकल्प (इरेवाकेबिल) कहा गया है : 'आ केयगे बेन्निवर्के-यिल्ल' अर्थात इस भूमि का पुनर्ग्रहण नहीं है।[123]

तलवृत्ति

मंदिरों में विभिन्न सेवाओं के लिए दिए गये दानों को कभी-कभी 'तलवृत्ति' कहा गया है। 'वृत्ति' किसी सेवा की पट्टेदारी का सूचक है इसके आगे विशेषण लगाकर उस सेवा का भाव प्रकट करते थे। जैसे हम 'भट्ट वृत्ति' का प्रयोग देख चुके हैं। 'भट्टवृत्ति' का अर्थ है शास्त्रों के अध्यापक के लिए माफी जमीन। इसी प्रकार 'अक्करिक वृत्ति' उस अध्यापक को मिली माफी जमीन का सूचक है जो गांव के बच्चों को अक्षर ज्ञान कराता था। 'तलवृत्ति' का स्पष्ट अर्थ हुआ 'तल' ('स्थल') अर्थात मंदिर की सेवाओं के लिए दी गई माफी जमीन। अत्तिंब्बे ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोक्किगुंडि में ब्राह्म जिनालय-जैन 'बसदि' बनवाई थी। 1007 ई० में उसने सुरुकि गांव का इस जिनालय की 'तल-वृत्ति' स्वरूप दान किया था।[124] नागदेव ने सूंडि में नागेश्वर का शिव-मंदिर बनवाया था। इस मंदिर को सिवुणूर गांव 'तल-वृत्ति' के रूप में मिला था।[125] सिवणूर को 'देवभोग' भी कहा गया है और उसकी सीमाएं ब्योरेवार दी गई है। फिर यह बतलाया है कि इस सीमा के भीतर जो कुछ भी है वह 'तल-वृत्ति' है। फिर विभिन्न मदों में उसका विभाजन किया गया है : देवता को चंदन आदि दैनिक पूजा और यथावश्यक मंदिर के जोर्णोद्धार के लिए 150 'मत्तर', निवासी संन्यासियों के भोजन के लिए 300 मत्तर, इन संन्यासियों के 'भट्ट' (अध्यापक) के लिए 30 मत्तर, मठ 'कर्मचारियों' ('माणि') को पढ़ाने वाले 'ओझा' (अध्यापक) के लिए 8 मत्तर, होम करने वाले 2 ब्राह्मणों के लिए 8 मत्तर, 'धलिगे' (सभामंडप) के चार 'माणियों' के लिए 20 'मत्तर', नागगोंड तालाब के लिए 20 मत्तर 16 नर्तकियों में 1 को 20 'मत्तर', दूसरी को 15 और शेष में हर एक को 12 कुल 203 'मत्तर'; दुंदुभि वादक को 24 'मत्तर', बांसुरी-वादक को 12 'मत्तर'; सूले-वाल (?) को 12 मत्तर, संगतराश चंदोज को 30 मत्तर। यहां यह भी बतलाने की आवश्यकता है कि सिवणूर गांव से जो सामंती आय प्राप्त होती थी ('मन्नेय सांयद तेरेयम्') उसे भी वहां के 3 सामंतों ने अपने और अपने वंशजों की ओर से हमेशा के लिए मंदिर को दान कर दिया। इस अभिलेख में जिस प्रकार से दान का विभाजन हुआ है उससे जाहिर हो जाता है कि किसी मंदिर को उसके आसपास की अर्थ-व्यवस्था में क्या स्थान प्राप्त था। इसके अलावा भी इसी बात को प्रकट करने वाले अन्य अभिलेख भी हैं। 1148 ई० के एक अभिलेख[126] में लिखा है कि तोही नामक गांव को 80 'वृत्तियों' में विभाजित किया गया था। इन वृत्तियों का विभाजन ब्राह्मणों और संस्थाओं में हुआ था जिसमें एक 'पुराणिक', एक वेदाध्यापक, एक शास्त्राध्यापक, एक अग्निहोत्री भी था। पूरा गांव महाजनों को 'त्रिभोगाभ्यंतर सर्वनमस्य' के रूप में सौंप दिया गया था। प्रासंगिक रूप में ध्यान देने की बात यह है कि अभिलेख में जिन ब्राह्मणों के नाम आए हैं उनमें से कई को 'अरस' और 'नायक' बतलाया गया है। वे आवश्यकता पड़ने पर शास्त्र के स्थान पर शस्त्र धारण करने को प्रस्तुत रहते थे। इनमें से एक का नाम उय्याकोंडभट्ट सोमयाजी था। यह एक तमिल नाम प्रतीत होता है। 1057 ई० के एक अभिलेख[127] में 'कुमार-वृत्ति' शब्द आया है जिससे विक्रमादित्य का बनवासि और नोलंबवाडि से संबंध सूचित होता है। उस समय विक्रमादित्य का पिता जीवित था। यद्यपि यह प्रयोग कम ही मिलता है पर इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि राजकुमारों को बड़े-बड़े इलाकों की पूरी आमदनी अपने व्यय के लिए मिलती थी। इसी प्रकार राजा के नौकरों को भी अकेले या सामूहिक तौर पर 'वृत्तियां' मिलती थीं।[128] 965 ई० में राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के अधीन तद्दवाड़ी का इलाका तैल द्वितीय को 'अणुगजीवित' (अनुचर के जीवन निर्वाह के लिए वृत्ति) के रूप में मिला हुआ था।[129] ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में 1000 'लेंकों' ('गोंडों') को भी इसी प्रकार 6 गांव 'अणुग-जीवित' के रूप में मिले थे। ये जीवित 'त्रिभोगाभ्यंतर सिद्धि' के अधिकार के साथ होते थे।[130] इसके कुछ ही बाद 1067 ई० में 'महामंडलेश्वर' जेमरस को पोट्टियूर और कुछ दूसरे नगर 'अणुग-जीवित' के रूप में मिले थे। जेमरस ने अपने बेटे जोयिमरस को पेट्टियूर 'कुमार-जीवित' के रूप में दिया था। यह उप-सामंत का एक उदाहरण है।[131] पट्टेदारी व्यवस्था का वर्णन समाप्त करने से पहले हमें 'दसवंद' या 'दसबंध' शब्द का अर्थ देखना होगा। इसका सबसे समीचीन अर्थ यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार आमदनी के किसी स्रोत का दसवां हिस्सा किसी कार्य के लिए अलग कर दिया जाता था।[132] यह अर्थ 1108 के एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख से समर्थित है जिसका हवाला फ्लीट ने दिया है।[133] इसके 100 साल बाद के एक दूसरे अभिलेख में भी इसकी पुष्टि होती है।[134] इस प्रकार की व्यवस्था बिना इसका ध्यान किए की जा सकती थी कि इस स्थान का लगान क्या है जैसा कि नागै और लक्ष्मेश्वर के कतिपय अभिलेखों में है।[135] इस प्रकार की व्यवस्था दूसरे प्रकार की नकद आय के बारे में भी की जा सकती है, जिसके उदाहरण अभी दिए गए हैं।

कर की दरें

अब हम करों और उगाहियों के विषयों और उनकी दरों के बारे में विचार करेंगे। इनके उल्लेख अभिलेखों में या तो सीधे आए हैं या फिर परिहारों के सिलसिले में अप्रत्यक्ष रूप से। इनमें से कुछ के उल्लेख तो हम प्रसंगानुसार पहले कर चुके हैं जैसे, 'अरुवण', 'बल्लि' और पान के पत्तों पर 'शुंक'। अत्तियब्बे के लक्कुंडि अभिलेख में (1007 ई०)[136] बतलाया गया है कि एक 'बसदि' को एक बगीचा और तेल की एक मिल दान में दी गई। इन दोनों को 'करवंद' 'तलभोग' और 'मसतु' आदि से परिहार दिया गया है। जाहिर है कि ये छोटे मोटे उपकर थे। किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि इनका स्वरूप क्या था? बेल्लारी जिले के 1045 ई० के अभिलेख में[137] लिखा है कि उदयायित्व सिंदरस ने दोंडवट्टि गांव के 'मन्नेय' के रूप में उसे जो भी करों से आमदनी होती थी उसे एक सिंचाई के तालाब के रखरखाव के लिए दान किया। यद्यपि इसमें करों के विवरण या उनकी दरें तो नहीं दी गई हैं तथापि इस दस्तावेज का बड़ा महत्व है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं जिनकी ओर हल्का सा इशारा अन्य अभिलेखों में है। 'मन्नेय' किसी गांव की सामंती को कहते थे। इस सामंती में कतिपय आर्थिक अधिकार होते थे, और यह कि इन अधिकारों से जो आमदनी होती और स्वयं यह 'मन्नेय' भी हस्तांतरित किया जा सकता था। इसका दान भी हो सकता था। प्रश्न यह है कि क्या 'मन्नेय' सदा के लिए किसी के नाम हस्तांतरित किया जा सकता था या उसी समय तक के लिए जितने समय तक दाता का उस पर अधिकार था। इस लेख से लिखा है कि उदयादित्य का दान 'आ-चंद्रार्कतारांवरम्' अर्थात सदा के लिए था। इसमें यह भी इशारा नहीं है कि इसके लिए सम्राट की मंजूरी ली गई थी। संभवत: प्रांतीय राज्यपालों को किसी स्थान का 'मन्नेय' इस प्रकार सदा के लिए हस्तांतरित कर देने का अधिकार था। हम देख चुके हैं कि किसी प्रकार बोप्पय के अत्याचारों के कारण सम्राट ने होललु का 'मन्नेय' समाप्त कर दिया था।[138] 1054 ई० के एक अभिलेख में चार 'देवदासियों' को गृहकर ('मने-वण') और दर्पण कर ('कन्नडिवण') से परिहार मिला था।[139] अन्य अभिलेखों से भी प्रकट है कि गृहकर तो संभवत: एक ऐसा कर था जो सिर्फ देवदासियों पर ही नहीं बल्कि सभी निवासियों पर लगता था[140] किंतु दर्पण कर तो एक प्रकार का विशेष कर था जो देवदासियों पर ही लगता था। इससे बीस साल बाद के एक अभिलेख में इसका पुन: उल्लेख मिलता है।[141] इस बार यह एक अक्षयनिधि के अंग के रूप में वर्णित है। दान की दूसरी मद वहां के 70 परिवारों द्वारा विवाह के लिए बनाए पंडालों पर लिया जाने वाला कर है। ('एलपत्तोक्कल मदुवेय पंडर-पणम्')। इन सभी दृष्टांतों में कर की दरें नहीं दी हैं। बेल्लारी जिले के बागली के 1068 ई० के एक अभिलेख में नापितों पर कर ('नाविद-वारियम्) का उल्लेख है।[142]

व्यापार और व्यापारी सदा से करों के उत्तम विषय रहे हैं। इन्हें अनेक मदों पर कर अदा करने होते हैं। पान और सुपारी आम इस्तेमाल की वस्तुएं थीं। बहुत से लोग इनका उत्पादन और व्यापार करते थे। इस काल के लेखों में इनके उल्लेख बार-बार आए हैं। 1103 ई० के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बागली के एक अभिलेख में लिखा है कि एक बोझ पान के पत्तों पर 6 'पण' नकद मिलता था।[143] बेल्लारी जिले के 1106 ई० के एक लेख में अन्य करों के अलावा 'बलंजीयतेरे' 'व्यापारी पर कर' का खासतौर पर उल्लेख है।

चालुक्य शासन का सामान्य-स्वरूप

इस काल में चालुक्य-शासन का सामान्य स्वरूप क्या था ? क्या शासन में आंतरिक शांति थी ? क्या वह कुंतल पर विदेशी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा कर सकने में समर्थ था ? हमने इस काल का जो राजनैतिक विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि करीब-करीब दो सदियों तक, सिर्फ कुछ छोटी-छोटी अवधियों और कुछ छोटे-मोटे अपवादों को छोड़कर देश विदेशी हमलों की तबाहियों से बचा रहा। चालुक्यों की सेनाएं प्रायः कुंतल की सीमाओं के परे ही व्यस्त रहीं। जहां तक आंतरिक संघर्ष का प्रश्न है सिर्फ एक बार सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य के बीच बड़े पैमाने पर गृह-युद्ध हुआ था। उस काल में जो भी विदेशी-यात्री आए उनमें से किसी का कोई यात्रा-विवरण नहीं मिला है। जहां तक भारतीय लेखकों के साहित्य या अन्य ग्रंथों का संबंध है उन्हें वास्तविक घटनाओं में कोई रुचि न थी। उदाहरण के तौर पर बिल्हण ने लिखा है कि विक्रमादित्य ने 'रामराज्य' की पुनः स्थापना की। प्रजा को अपने घरों में ताले लगाने की आवश्यकता न थी।[145] किंतु इसके विपरीत बहुत से ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें कानून और शांति-भंग की घटनाओं का जिक्र है। लोगों के शरीर और संपत्ति पर अतिक्रमण के उल्लेख हैं, खासकर उन जिलों में जो जंगलों और पहाड़ों के करीब थे। मैसूर के शिभोगा जिले से दो अभिलेख मिले है जिनमें एक में 975 ई० में एक सड़क पर किसी 'गावुंड' के एक पुत्र कल्लन का डाकुओं द्वारा वध किए जाने का उल्लेख है। दूसरे अभिलेख में जो 979 ई० का है, लुटेरों से गांव की रक्षा करते एक मनिहार की मृत्यु का उल्लेख है।[146] 1007 ई० में होट्टूर के 'तलारि' की लुटेरों से संघर्ष में मृत्यु हुई थी।[147] ये लुटेरे गांव के जानवर चुराने आए थे। 1016 ई० के एक अभिलेख में लिखा है कि मुलगेरे के गांव से कुछ स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण हो रहा था। कुम्भर बर्म ने उनका उद्धार किया किंतु इस संघर्ष में उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।[148] 1032 ई० में जानवरों के अपहरण के लिए एक डाके का उल्लेख मिला है। यह भी शिभोगा जिले की ही घटना है। इस डाके में गांव के कई व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी जिनकी स्मृति में पत्थर खड़े किए गए।[149] सन 1047 ई० में कोगलि (बेल्लारी) के पड़ोस में एक स्थानीय सरदार उदयादित्य एचनायक की चोरों से हुई लड़ाई में मृत्यु हुई थी।[150] सन् 1049 ई० में जानकर-चोरों से हुए संघर्ष में बेंटूर का 'मादिमय्य' वीरगति को प्राप्त हुआ था।[151] 1058 ई० में शिभोगा जिले के शिकारपुर 'तालुक' में मुडयनगेरि से जानवर और औरतों को लूटने के लिए डाकू आए थे। इनसे हुए संघर्ष में वीर माचल गावुंड की मृत्यु हुई थी।[152] इस प्रकार की बहुत-सी घटनाएं, विशेषकर जानवरों की लूट से संबद्ध संघर्ष, शिभोगा जिले के अभिलेखों में वर्णित हैं।[153] इससे बड़े पैमाने पर धन और जन की हानि साम्राज्य के भीतर सामंतों के आपसी संघर्षों में होती थी। किंतु यदि केंद्रीय शक्ति मजबूत होती थी, तो इस प्रकार की घटनाओं पर अंकुश रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य षष्टम् की मृत्यु के बाद इस प्रकार की घटनाओं में वृद्धि हो गई थी। 1127 ई० में शिभोगा की उद्रि की संतर के राजा से टक्कर हुई। इस राजा ने कदंब तैलप के विरुद्ध विद्रोह किया था। उसके कारण गांव की भूमि और स्त्रियों को कष्ट हुआ था।[154] 1149 ई० में कटकद चंद्र 'दंडनायक' के साले मधुवरस ने कुरुमरि (कुडप्पा जिला) पर चालीस घुड़सवारों के साथ हमला किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भीमरस के नेतृत्व में स्थानीय जनता ने उसका मुकाबला किया। इस लड़ाई में कई जानें गईं थीं।[155] 1050 में उद्धारे से एक्कलरस ने जिला शिभोगा में गुंबसे (कुम्सी) के ब्राह्मणों पर आक्रमण किया। ब्राह्मणों की रक्षा में लुहार के एक बेटे ने वीरगति पाई थी।[156] इस प्रकार की अन्य घटनाएं भी हुई होंगी जिनसे स्पष्ट है कि दैनिक जीवन सदा सरल नहीं था। किंतु यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार की घटनाओं का मुकाबला करने के लिए जनता हमेशा तैयार रहती थी। जनता यह जानती थी कि अपने घरबार और सम्मान की रक्षा करने की प्राथमिक जिम्मेदारी स्वयं उसकी है। वह उन्हें बड़ा सम्मान देती थी और उन पर गर्व करती थी जो अपने पड़ोसियों की धन-संपत्ति और स्त्रियों के सम्मान की रक्षा में अपने प्राण दे देते थे। इसमें कोई शक नहीं कि 'तलारि' की अधीनता में गांव में पुलिस होती थी जिसका काम गांव की चौकसी रखना था। स्थानीय राज्यपाल के पास सेना भी रहती थी जिसमें घुड़सवार भी थे। इसका काम स्थानीय उपद्रवों का दमन करना और व्यवस्था की रक्षा करना था। किंतु आपात-स्थिति में गांव की पुलिस अपर्याप्त सिद्ध होती थी और सेना के आने में कुछ समय तो लगता ही है, इसलिए ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए जनता सदा तैयार रहती थी। वह अपनी रक्षा जान पर खेलकर भी करती थी। उस समय आज की अपेक्षा साहस और आत्मविश्वास की भावना कहीं अधिक थी।

सेना

सेना में भरती और पदोन्नति के तरीकों के बारे में कोई प्रत्यक्ष सूचना उपलब्ध नहीं है। राजनीति के योजना परक ग्रंथों में जो विभाग किए गए हैं उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। अभिलेखों से इस मत का समर्थन नहीं होता कि किसी खास वर्ग या वर्गों के लोगों को ही सेना में भर्ती किया जाता था। हमने आम जनता में वीरता की जिस भावना का उल्लेख अभी अभी किया है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय की कर्नाटक की सेना का आधार पर्याप्त विस्तृत रहा होगा। वह एक राष्ट्रीय सेना थी, न कि सिर्फ क्षत्रियों की। सेना में अनेक प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापतियों की उपस्थिति और आवश्यकता पड़ने पर कारीगरों और व्यापारियों का भी शस्त्र ग्रहण कर लेने के उदाहरण इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। सोमदेव सूरि ने अपने 'यशस्तिलक' चंपू[157] में सेना का जो विवरण दिया है वह रोचक है। समय की दृष्टि से वह चालुक्यों के निकट भी है। अतः उसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। सोमदेव के वर्णन के अनुसार पैदल सेना के सैनिक लाल पगड़ियां पहनते थे। ये ऊपर की ओर पतली होती जाती थीं। इस प्रकार वे एक-शृंगों की पंक्तियों की भांति दीखते थे। वे दाढ़ियां मुड़वा देते थे। वे अपनी ढकी गर्दनों पर विभिन्न रंगों के मनकों के तिलड़े हार पहनते थे। सैनिक सांप के आकार के लोहे के मणिबंध धारण करते थे। उनकी कमर पर छुरा होता था। कमर में अपने कपड़े कसकर बांधते थे और अनक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे। सेना के आगे-आगे चारण उनके शौर्य की गाथा गाता चलता था और उन्हें कुछ कर दिखाने को उत्साहित करता रहता था। सैनिक के आदर्श उच्च थे, जय या मृत्यु। युद्ध से पीठ दिखाने पर कलंक का जो टीका लगता था वह कभी मिट नहीं सकता था। अभिलेखों में इस संबंध में संस्कृत के दो श्लोक अक्सर मिलते हैं जिनसे इस आदर्श की मान्यता प्रमाणित होती है। इनमें एक श्लोक में युद्ध में आगे बढ़कर मृत्यु का वरण करने वाले सैनिक को 'योगी' कहा गया है। उसे सूर्य मंडल को भेदकर स्वर्ग में यश प्राप्त होता है। दूसरे श्लोक में शौर्य की प्रशंसा में कहा गया है कि इससे विजयी होने पर यश और मृत्यु की स्थिति में स्वर्ग की सदरियों का साथ मिलता है। युद्ध में मृत्यु की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परवाह नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीवन तो छोटा ही होता है ।[158] युद्ध में सफलता मिलने पर किस प्रकार की प्रशंसा मिलती थी, इसका एक खास उदाहरण बेल्लारी जिले का एक अभिलेख है जिस पर कोई तिथि नहीं है। इसमें लिखा है कि महामंडलेश्वर बर्मदेवरस पहले लक्ष्मी का पति हुआ, फिर उस देवी का वल्लभ हुआ, 'श्री-वधगीश-नागि जयलक्ष्मिगे-वल्लभ-नागि भारत देविगे नल्ल नागि'।[159] इसके पहले हम शिवासिगल और लेंकों की भांति रक्षकों और अनुजीवियों का उल्लेख कर चुके हैं ।

खेलकूद

घोड़े की पीठ पर बैठकर खेले जाने वाले गेंद के एक खेल का कभी-कभी उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। इसके ठीक ठीक स्वरूप का पता नहीं। किंतु यह एक प्रकार का पोलो का खेल था। अभिलेखों में नागदेव और मधुसूदन को 'कदुंक पुरंदर' कहा गया है ।[160] इसी खेल का श्रवण वेलगोला के एक अभिलेख में विस्तृत वर्णन है। यह लेख राष्ट्रकूट राजा इंद्र चतुर्थ के शासन काल (972 ई०) का है ।[161] चोल अभिलेखों में राजाधिराज चोल के बारे में कहा है कि उसने पडूर के युद्ध के वाद चालुक्य सेनापतियों और सरदारों के साथ एतगिरि में 'सेंडू' का खेल खेला था।[162] अभी तक फौजी खेलों के इस काल के ये ही उल्लेख मिले हैं ।

संदर्भ

1. 'इं० ऐं०', xvi, पृ० 15-24 (1008 ई०).
2. 'है० आ० सि०', viii पृ० 9, पंक्तियां 23-6.
3. 'सा० इं० इं०', xi (i) 47, पंक्तियां 2-3.
4. वही, 120, पंक्तियां 10-13.
5. 'सा० इं० इं०', iii, 83, अल्तेकर, 'राष्ट्रकूटाज', पृ० 151.
6. याज्ञवल्क्य, 342-3.
7. 'विक्रमार्जुन विजय', इस अंश के अर्थ को लेकर काफी विवाद हुआ है. फ्लीट : 'का० इ० इं०', iii, 296 सं० 9 अभी तक सबसे समीचीन है.
8. 'सा इं० इं०', ix (i) 77, पंक्तियां 5-10.
9. वही, 98, पंक्ति 6.
10. वही, 143, पंक्तियां 21-2.
11. वही, 115 (1054 ई०) और दे०, वही, 75, 80, 112 आदि. फ्लीट ने बा० गजेटि० i (ii) पृ० 428 में मंत्रिमंडल की जो रूपरेखा रखी है उसका समर्थन उन बहुसंख्य अभिलेखों से नहीं होता जो अब उपलब्ध हैं.
12. 'विक्रमा०', ii, 39.
13. वही, iii, 15-9.
14. सा० इं० इं०, ix (i) 74,
15. वही, 76.
16. वही, 169.
17. सा० इं० इं०, ix (i) 153 (1083 ई०) और 224 (1130 ई०).
18. वही, 232, 240; 'ए० क०', vii संस्कृत, 106; 'ए० इं०', xvi, 32-3 और 47.
19. 'ए० इं०', xv, 79; सा० इं० इं०, ix (i), 232
20. बार्नेट के अनुसार इसका अर्थ "कोश" है 'ए० इं०', xvi, 50.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

21. सा० इं० इं०, ix (i) 111, 232 और 'है० आ० सि०', viii.
22. 'ए० इं', xv, 79-80.
23. 'मानसोल्लास', ii, 127-30.
24. 'है० आ० सि०', viii पृ० 3, पंक्तियां 4-5; सा० इं० इं०, ix (i), 223.
25. सा० इं० इं०, ix (i) 240.
26. वही, 111.
27. 'ए० क०', vii, संस्कृ० 106,
28. 'ए० इं०', xvi, 45.
29. मिला 'ए० क०', vii, संस्कृ० 106 का राइस का अनुवाद : 'यह अधिकारी और उसकी उपाधियां वही हैं जो लक्ष्मेश्वर के अभिलेखों में उल्लिखित हैं.
30. 'सा० इं० इं०', ix (i) 129, पंक्तियां 10-11.
31 वही', 153, पंक्तियां 66-7.
32. वही, 168, पंक्ति 12.
33. 'ए० इं० इं०', xvi, 33, पंक्तियां 11-15, 30-1
34. 'सा० इं० इं०', ix (i), 228.
35. वही, 223, पंक्ति 28.
36. वही, xi (i) 50, पंक्तियां 23-4.
37. 'ए० इं०', xvi, 79, पंक्तियां 37-41.
38. वही, 80 टि० 5 और दूसरे सुझावों के लिए दे; 'क० क० इं०'.
39. 'सा० इं० इं०', ix (i) 223, पंक्तियां 9-10, 17-18.
40. वही, 170, पंक्तियां 15-18.
41. वही, 50 पंक्तियां 23-4; 232, पंक्तियां 8-11; 240, पंक्तियां 5-7 आदि.
42. बार्नेट ने इसका अनुवाद 'हाथियों और घोड़ों के तबेलों का अध्यक्ष' किया है 'ए० इं०', xvi, 50.
43. 'सा० इं० इं०', ix (i), 206.
44. 2, 90-2.
45. 'ए० इं०', xv, 88, पंक्ति 18. बार्नेट ने 'कटक' का अर्थ कैंप किया है. मेरी राय में यहां प्रसंग राजधानी का है. 'डा० क० डि०', अनुक्रमणिका, 'बाहट्ट-रनिशेगाधिपति' दे०, 'सा० इं० इं०', ix (i) 233, पंक्ति 35 भी.
46. 'है० आ० सि०', viii, पृ० 14, पंक्तियां 152-3.
47. सा० इं० इं०, xi (i) 111, पंक्तियां 13-14 और 11.
48. ए० क०, 7, सं० 106; ए० क० 16, 33 पंक्तियां 12-14
49. नीलकंठशास्त्री : 'फारेन नोटिसेज आफ साउथ इंडिया' पृ० 128-9, 165 और 'चोलाज' ii, 225-6.
50. सा० इं० इं० ix (i) 221 पंक्ति 16.
51. वही, 193.
52. 'ए० इं०', xii, 283.
53. 'सा० इं० इं०', ix (i) 158, पंक्तियां 60-1.
54. 'सा० इं०', xii, 154.
55. 'सा० इं० इं०', xi (i) 50, पंक्तियां 16-17.
56. वही, 113.
57. 'ए० इं०', xvi; 84, पंक्तियां 23-6.
58. 'इं० ऐं०', x, 186, पंक्ति 15.
59. 'सा० इं० इं', xi (i) 52, पंक्तियां 6-11, 13-16.
60. 'है० आ० सि०', viii.
61. 'ए० इं०', xii, 274 और आगे; 'सा० इं० इं०', ix (i) 158.
62. वही, xv 352-4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

63. 'सा० इं० इं०', ix (i) 164, पंक्तियां 8-16=गडग, पंक्तियां 47-50.
64. दौलताबाद, मीरज और नीलगुंड के ताम्रपट्टों के अंतिम भागपर देखिए 'है० ग्रा० सि०', ii; ए० इं०, xii.
65. सभी ज्ञात अभिलेखों के आधार पर शासकीय अभिजात वर्ग पर योजनाबद्ध कार्य करने की काफी गुंजाइश है.
66. 'सा० इं० इं०', ix (i) 213.
67. वही, xi (i) 78, पंक्तियां 41-2.
68. 'ए० इं०', xii, 154, 303.
69. 'सा० इं० इं०', ix (i) 147, पंक्तियां 11-13.
70. वही, 87 (1034 ई०), पंक्तियां 13-14.
71. वही, xi, (i) 112, पंक्तियां 21-3.
72. मिला०, एन० वेंकटरामनय्य : 'थर्ड डाइनेस्टी आफ विजयनगर' पृ० 238-9.
73. 'सा० इं० इं०', ix (i) 101, पंक्तियां 57-9.
74. वही, पंक्तियां 56-9.
75. वही, ii (i) 65, पंक्ति 45.
76. 'ए० इं०', xvi; 84, पंक्ति 22.
77. 'बा० क०', 1933-4 का 12.
78. वही, 1935-6 का 61.
79. वही, 2.
80. वही, 15.
81. वही, 13.
82. वही, 1.
83. अब फ्लीट की महाजनों पर टिप्पणी ('ए० इं०', v, 10-11 तथा टि०) का कोई मूल्य नहीं.
84. उदा०, रट्टराजा (1008 ई०) के खरेपतन ताम्रपट्ट में, 'ए० इं०', iii. 297.
85. 'बा० क०', 1935-6 का 29.
86. 'इं० ऐं', x, 186.
87. 'सा० इं० इं०', ix (i) 74.
88. 'ए० इं०', xvi, 1-9.
89. 'सा० इं० इं०', ix (i) 75.
90. वही, 80, पंक्तियां 22-3 (1018 ई०).
91. वही, 145 (1079 ई० ई०), पंक्तियां 21; 168 (1103 ई०), पंक्तियां 18.
92. वही, 132, पंक्तियां 18-19 और 145, पंक्तियां 20-1.
93. वही, 89 पंक्तियां 11-12.
94. वही, 145, पंक्तियां 21-22; 168 पंक्तियां 18-20.
95. सा० इं० इं०', ix (i) 267, पंक्तियां 60-4.
96. उदा०, कोगलि, वही 77 और 130.
97. 'ए० इं', xx, 67.
98. इन्हीं अपराधों के लिए मिलने वाला दंड सम्राट ने 1046 ई० में मैलम् के एक तालाब के नाम पर दिया था, 'सा० इं० इं०', ix (i) 102, पंक्ति 44-7.
99. 'ए० क०', vii, संस्कृ०, 177-8.
100. वही, संस्कृ०, 50,
101. 'ए० इं०', xv, 335.
102. 'सा० इं० इं०', v, 849 (1044 ई०).
103. वही, ix (i) 84, पंक्तियां 11-12.
104. वही, 85, पंक्ति 39.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

105. 'है० म्रा० सि०', viii, 16 पंक्तियां 199-202.
106. 'सा० इं० इं०', xi (i) 97, पंक्तियां 26-7 और 29.
107. वही, 126, पंक्ति 18.
108 वही, ix (i) 135, पंक्तियां 5-8.
109. वही, 158. पंक्तियां 41-6; 254 पंक्तियां 59-60.
110. वही, 139, पंक्तियां 34-42; 285, 286.
111. वही, xi (i), 117.
112. 'ए० इं०', xvi, 71, पंक्ति 33.
113. 'है० आ० सि०', viii, 3, पंक्तियां 6-11.
114. 'सा० इं० इं०', ix (i) 195.
115. वही, 207 'त्रिभोग' के लिए दे० 'इं० ऐ०', xix, 271, किंतु इसका यह तात्पर्य संदेह से परे नहीं है.
116. 'ए० क०', viii, sb, 9.
117. 'सा० इं० इं०', ix, (i) 298; xi (i) 68.
118. 'ए० इं०', iii, पृ० 297 तथा आगे.
119. वही' xii, 303.
120. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 50, पंक्तियां 19-20; तथा वही, 52, पंक्तियां 58-9 1007 ई०.
121. वही, 78, पंक्ति 56 (1045 ई०).
122. उदा०' 'है० आ० सि०', नागै अभिलेख, पृ०, 22 टि०.
123. 'ए० इं०'. xix, 219, पंक्ति 8.
124. 'सा० इं० इं०', xi (i) 52, पंक्ति 56.
125. 'ए० इं०', xv, 89.
126. 'सा० इं० इं०', ix (i) 250.
127. वही, 118, पंक्ति 22.
128. वही, 83, पंक्ति 15 (1049 ई०).
129. वही, xi, (i) 40.
130. 'सा० इं० इं०', ix (i) 101 पंक्तियां 21-2; 104, पंक्तितां 4-5.
131. 'ए० इं०', xvi, 83 पंक्तियां 6, 8.
132. 'इं० ऐं०', xxx, 267 टि० 2
133. वही, 107.
134. 'सा० इं० इं०', ix (i), 239.
135. 'है० म्रा० सि०', viii, पृ० 32, पंक्ति 268 और पृ० 33 पंक्ति 301; 'ए० इं०', xvi. 48 पंक्ति 52.
136. 'सा० इं० इं०', xi (i) 52, पंक्ति 74-5.
137. वही, ix (i) पंक्ति 100.
138. पूर्व, पृ० 386-7; ,सा० इं० इं०', ix (i) 169.
139. वही, 113, पंक्तियां 14-15.
140. वही, 172, पंक्ति 18 'मनेदेरे के लिए'.
141. 'ए० क०', xii सं० 295.
142. 'सा० इं० इं०', ix (i) 152, पंक्ति 27.
143. वही, 168, पंक्तियां 25-6.
144. वही, 172, पंक्ति 17-20.
145. 'विक्रमा०' 17, छंद 4, 6.
146. 'ए० क०', viii, sb. 445, 530.
147. 'ए० इं०', xvi, 74-5.
148. 'ए० क०', vii, सं० 307.
149. वही, viii, sb, 60-4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

150. ,सा० इं० इं०', ix (i) 106.
151. वही, xi (i) 81.
152. 'ए० क०', vii, संस्कृत, 83.
153. वही, viii, sb 235, 236 ग्रादि.
154. वही, sb, 141
155. 'सा० इं० इं०', ix (i) 256 और 284.
156. 'ए० क०', viii, sb 86.
157. खंड 1, 'काव्यमाला', 70 पृ० 461-3 इस संदर्भ के जिए में डाक्टर वें० राघवन का ऋणी हूं.
158. 'सा० इं० इं०', xi (i), 57; 'ए० क०', vii, सं० 307 ग्रादि आदि.
159. 'सा० इं० इं०', ix (i) 287, पंक्तियां 11-12.
160. वही, xi (i) 52 पंक्तियां 14, 92, पंक्ति 9.
161. 'ए० क०', ii, 133 (57).
162. पूर्वोक्त, पृ० 336, 1892 का 92.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था

सामाजिक आदर्श

सामाजिक जीवन पुरानी परंपराओं के अनुसार ही चलता था जिसमें नई परिस्थितियों के दबाव से किंचित परिवर्तन अवश्य हुए थे। जाति प्रथा का सर्वत्र प्रचार था। जाति जन्म से जानी जाती थी। किंतु जाति और व्यवसाय में संबंध अपरिवर्तनीय न थे। जैसी कि आम बात है अभिलेखों आदि में ऊंची जातियों के बारे में ही ज्यादा विवरण उपलब्ध हैं। सर्वसाधारण के बारे में इनमें सूचनाएं अपेक्षाकृत कम ही हैं। 'आश्रमों' में 'गृहस्थाश्रम' ने काफी पहले महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था क्योंकि सभाज का मेरुदंड वही था। इस काल में भी उसने अपना वह स्थान सुरक्षित रखा। नागै के अभिलेख में कालिदास दंडनायक की सद्गृहस्थ के रूप में प्रशंसा करते हुए एक श्लोक आया है उसकी उद्धरणी की जा सकती है: 'गृहस्थ के रूप में उसका जीवन संसार भर में सबसे पवित्र था। उसकी धर्म-परायण आत्मा सदा ब्राह्मणों को संतुष्ट करने, यज्ञ, देव पूजा और पितरों को प्रसन्न करने में, अतिथि सत्कार करने और लोक और शास्त्र में वर्णित दैनिक और विशेष अवसरों के लिए निर्धारित अनुष्ठान करने में लीन रहती थी।'[1] इसमें शक नहीं कि यह एक गतानुगतिक वर्णन है और एक 'प्रशस्ति' का अंग है, तथापि किसी व्यक्ति के बारे में इस प्रकार का निश्चित कथन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि वैयक्तिक जीवन में उसमें इसके अनुरूप गुण न हों। अभिलेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किन कर्मों से समाज का कल्याण माना जाता था और उसके कर्ता की समाज में प्रतिष्ठा होती थी। कतिपय अभिलेखों में इस प्रकार के कार्यों की वास्तविक घटनाओं के उल्लेख हुए हैं जिनसे कि बात और भी साफ हो जाती है। 987 ई० के एक लेख में प्रयाग और कुरुक्षेत्र में एक हजार ब्राह्मणों के भोज और बनारस में एक ऐसी ही गाय के दान का उल्लेख है जो ब्यानेवाली ही ('उभयमुख') थी। ये अति पुण्य के कर्म माने गए थे।[2] 1046 ई० के एक दूसरे अभिलेख में इससे भी अधिक व्यय-साध्य आदर्श बनारस में सहस्र अश्वमेध करने और ब्राह्मणों और संन्यासियों को एक सहस्र गायों के दान देने का उल्लेख है। इन गायों के सींगों और खुरों में पंच रत्न बंधे हुए थे।[3] इसी तरह के जैन आदर्श का 1059 ई० के डंबल के एक जैन अभिलेख में उल्लेख हुआ है, इसमें 'तीर्थस्थान' में 'महाध्वज' की स्थापना की बात है।[4] यह लेख वास्तविकता को ही लिपिबद्ध करता प्रतीत होता है। संभवतः ये काल्पनिक आदर्श के अतिवादी और अतिरंजित दृष्टांत हैं क्योंकि ये दाताओं द्वारा अभिलेखों में उल्लिखित दानों के समुचित रख-रखाव के लिए कहे गए औपचारिक आशीर्वचनों के अंग हैं। दान देना हर समर्थ व्यक्ति का कर्तव्य माना जाता था। 1067 ई० के होट्टूर के अभिलेख[5] के अनुसार केशिराज ने जिसे कुमार विक्रमादित्य ने राज-चिह्नों से विभूषित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया था, अपने 'उदक', 'सुवर्ण', 'अन्न', 'गौ', 'भूमि', 'उक्ष', (बैल) 'विविध विद्या' और 'कन्या' के प्रभूत दानों से सज्जनों को प्रसन्न किया था। उसने पत्थर का एक शिव मंदिर भी बनवाया था जिसमें अनेक ऊंचे-ऊंचे सुंदर तोरण थे ('राजितोत्तुंगतोरणवम्')। इस मंदिर का का नाम उसके निर्माता के नाम पर केशवेश्वर मंदिर पड़ा था। दाता की इच्छानुसार दान का अक्षुण्ण रखना कठिन कार्य माना जाता था। इसमें असफलता से महापातक लगता था। इस संबंध में एक श्लोक अक्सर मिलता है जिसमें कहा गया है कि 'देवस्व' का हरण 'कालकूट' के समान है। सामान्य विष जो उसे ही मारता है ओ उसे ग्रहण करता है, किंतु देवस्व तो भविष्य की पीढ़ियों को भी नष्ट कर देता है।[6] यही बात दानों से संबद्ध 'परिहारों' आदि आर्थिक व्यवस्थाओं पर भी लागू थी। इस संबंध में जनमत क्या था इसका अनुमान एक श्लोक से मिल जाएगा जिसमें कहा गया है कि जो ऐसा कर लगाता है जो पहले कभी नहीं लगा था उसे एक हजार गायों के बध का पाप लगता है और जो पहले से चले आते किसी कर को समाप्त कर देता है उसे एक करोड़ गायों के दान का पुण्य प्राप्त होता है।[7] पुण्य का भी दान किया जा सकता था। एक दृष्टांत में तो सूर्य, चंद्रमा और आकाश को साक्षी मानकर पुण्य का दान किया गया था।[8] एक दूसरे उदाहरण में तो हमें उन व्यक्तियों की सूची मिलती है जिन्हें 'पुण्य' का दान किया गया था। इसमें से हर व्यक्ति को पुण्य का जितना अंश मिलता था वह भी लिखा है।[9]

स्मारकों का निर्माण

मृत संबंधियों, 'गुरुओं' या महापुरुषों की स्मृति में स्मारकों के निर्माण का भी पता चलता है। इन स्मारकों को 'परोक्ष विनय' कहा गया है। 1028 ई०[10] में शैव पुरोहित भावशिवदेव ने अपने शिष्य नागस्वामिन को आज्ञा दी कि उसकी 'मुक्ति' (मृत्यु) के बाद परोक्ष-विनय के रूप में वह गंगा में स्नान कर पिंडदान दे और वाराणसी में एक मंदिर बनवाए। इस लेख में भावशिवदेव ने अपनी गद्दी के उत्तराधिकार और श्राद्ध की व्यवस्था लिखाई है। लेख के अनुसार एक सप्ताह पूर्व ही उसे अपनी मृत्यु का ज्ञान हो गया था। उसका शिष्य नागस्वामी 'कन्यादान', त्रिपुरुष के मंदिर, एक मठ और अन्य पुण्य कार्यों द्वारा प्रभूत यश अर्जित कर चुका था। वह मुलगुंड के ब्राह्मणों का मुखिया—ब्रह्मपुरी मुख्यम् था। नागस्वामी के पास जो भी संपत्ति थी, 60 गद्याण सोना, 12 'मत्तर' कृषिभूमि और एक मकान, उसका मंदिर, मठ और अन्य शिक्षा-संस्थाओं को दानकर गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए वह तीर्थयात्रा पर चला गया। अभिलेखों में इस प्रकार के अन्य पुण्य कार्यों के उल्लेख मिलते हैं।[11]

आत्मवध

सम्राट सोमेश्वर ने 'महायोग' के द्वारा अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी थी। उसने एक असाध्य रोग से तंग आकर कुरुवत्ति में तुंगभद्रा नदी में जलसमाधि ले ली थी।[12] इसके अतिरिक्त जैनों का 'सल्लेखन' कर्म भी था जिसमें कतिपय परिस्थितियों में जैन धर्मावलंबी अन्न जल का परित्याग कर शरीर छोड़ देते थे। कभी कभी तो लोग छोटे मोटे कारणों से भी, जिन्हें हम बचपना या अंधविश्वास कहेंगे, अपना बलिदान कर देते थे। एक बार तो जमीन पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए इस असंगत तरीके का इस्तेमाल किया गया था। दोनेकल्लु (अनंतपुर जिला) के 1059-60 ई० के एक अभिलेख में[13] लिखा है कि दो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणों ने तीन 'गावुंडों' की कुछ भूमि पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया था। उस पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए गावुंडों ने फैसला किया कि उनमें से एक आत्मबलिदान करेगा। इसके बदले उसके उत्तराधिकारियों को अतिरिक्त भाग मिलेगा। इस प्रकार उनमें से एक ने दोनों ब्राह्मणों के सामने अपने पेट में छुरा भोंककर आत्महत्या करली। इस पर उन ब्राह्मणोंने वह ज़मीन छोड़ दी। पहले की तै की गई शर्त के अनुसार उसके वारिसों को उनके हिस्से से ज्यादा जमीन मिल गई। आधुनिक शब्दावली में यह सफल 'सत्याग्रह' का 'एक अतिवादी' उदाहरण है। इसके अलावा भी आत्मबध के दो अन्य मामलों का अभिलेखों में उल्लेख मिलता है। ये दोनों शिभोगा जिले के हैं। उनमें से एक शूल-ब्रह्म मृत्यु का उदाहरण है जिसमें व्यक्ति ऊंचाई से भाले की नोंक पर कूदकर प्राण त्याग देता है। यह 1060 ई० की घटना है[14]। दूसरी घटना (1136 ई० में) बोप्पन द्वारा 'वेले बाक्य'[15] अर्थात किसी प्रण को पूरा करने के लिए आत्मवध की है जिसमें उसने कदंब राजा तेलपदेव के साथ स्वर्ग जाने का व्रत लिया था : 'बोप्पन बेलेबाकियम निलिसि तैलपदेवन कूड़े स्वर्गस्थन आगलू'। एक अन्य उदाहरण वीर सोमेश्वर चतुर्थ की रानी लच्छलदेवी की 'बेलेक्कार' बोका का है। बोका ने व्रत लिया था कि वह रानी के साथ ही मरेगी। और उसने, राजा के शासनकाल के पांचवें वर्ष (1185 ई०) में अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।[16] 'सती' का आम रिवाज तो न था पर यह प्रथा अपरिचित न थी। 1180 ई० आसपास जब सिंद राजमल्ल प्रथम के मंत्री बेचिराज की मृत्यु हुई तो उसके साथ उसकी दो पत्नियां वैलियक्क और मत्यनियक्क 'सती' हुई थी।[17] इससे करीब सौ साल पूर्व देकब्वे के 'सती' होने की घटना का बेलतूर के अभिलेख में बड़ा हृदयद्रावक वर्णन मिलता है। इस काल के कन्नड़ साहित्य के इतिहास में इस लेख का अपना स्थान है।

नारी का स्थान

भारत के इतिहास में विभिन्न कालों में विभिन्न स्थानों में नारी का स्थान परिस्थितियों के के अनुरूप अलग अलग रहा है। कल्याणी के चालुक्यों के काल में बादामी के चालुक्यों की ही भांति सामाजिक स्थिति सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों के भाग लेने के लिए अनुकूल थी। कम से कम समाज के उच्च वर्गों में तो यही स्थिति थी। हम कतिपय प्रमुख महिलाओं की भूमिका का उल्लेख कर चुके हैं। इनमें सबने उच्च स्थान अक्कादेवी का था। यह महिला युद्धों में भाग लेती थी और सेना का संचालन भी करती थी। 1084 ई० के सूडि के अभिलेख में विक्रमादित्य षष्ठम की रानी लक्ष्मादेवी का उल्लेख कल्याणी में उसी प्रकार शासन करते हुआ है जैसे स्वयं सम्राट का।[18] किंतु इससे पहले रानी के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है उनसे यही अनुमान होता है कि उसमें नारियों के वे सभी गुण थे जिनके कारण वे महलों की शोभा बढ़ाती थीं। उनमें वे गुण थे जिनसे उसने राजा का प्यार पाने वालियों में प्रथम स्थान पाया था और उसने अपना वह स्थान सुरक्षित बनाए रखा था। वह सुंदर थी, यौवन से भरपूर थी, सभी कलाओं में निपुण थी, धर्मपरायणा थी और पुण्यात्मा थी जिसके कारण जनता उसे प्यार करती थी। उसमें इतनी चातुरी थी कि वह अपनी प्रतिद्वंद्विनी सभी महिलाओं को नीचा दिखा सकती थी। क्या इस प्रकार की महिलाएं सार्व-जनिक कार्यों को प्रभावित कर सकती थी? यदि हां, तो किस सीमा तक और किस रूप में, इन प्रश्नों का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। चाहे जो भी हो, राजकुमारों को जो शिक्षा दी जाती थी उसमें स्त्रियों के दुर्गुणों पर व्याख्यान अवश्य दिए जाते थे। विक्रमा-दित्य की एक अन्य रानी केतलदेवी बड़ी विदुषी और संगीत में निपुण थी।[19] सामंतों में होय-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सल वल्लाल प्रथम की तीनों पत्नियां, पद्मलदेवी, चावलिदेवी और बोप्पदेवी नृत्य और संगीत में निष्णात थीं।[20] कलचुर्य सोविदेव की रानी सावलदेवी इन कलाओं में निपुण तो थी ही, साथ ही वह अपनी कला का सार्वजनिक प्रदर्शन भी करती थी। यह स्त्री-स्वातंत्र्य का उदाहरण है जो उस काल के लिए एक असामान्य सी बात है।[21] बतलाया गया है कि उसने एक ऐसी सभा में अपनी कला का प्रदर्शन किया था जिसमें उसके देश के ही नहीं बल्कि विदेशों के भी कला मर्मज्ञ एकत्र हुए थे। उसने अपनी कला से श्रोताओं और स्वयं सम्राट का मन मोह लिया था। संगीत तो उसकी घुट्टी में था। उसका भाई 'ब्रह्मवीणा' के ताल और लय का आचार्य था। एक अन्य कुलीन महिला का परिचय देंगे। त्रिभुवनमल्ल-मल्लिदेव-चोल महाराज की रानी लक्ष्मादेवी ने पट्टमहिषी के रूप में राजा के साथ शासन किया था।[22] वह 'काव्य' में निपुण थी, साथ ही कंठ और वाद्य संगीत और नृत्य में भी पटु थी। वह पार्वती के चरण कमलों की सतत उपासिका थी। उसने इतने दान दिए थे कि संकल्प के जल से उसके आसपास की भूमि सदा भीगी रहती थी। उसने कवियों शास्त्रार्थियों और चारणों को (दान देकर) प्रसन्न किया था। वह चलती थी तो उसके नूपुरों की कल-ध्वनि से आकर्षित हो 'राजहंस' उसके पास खिंचे आते थे। वह अपनी कलाइयों, बाहुओं, पैरों और केशों में रत्न-जटित आभूषण धारण करती थी। उसके पीन-पयोधरों पर मोतियों की चमकती हुई माला आकाश की तारिकाओं को लज्जित करती थी। अपने मस्तक वह रक्तचंदन का सुगंधित 'तिलक' लगाती थी। उसकी मंद मुस्कान उसकी वाणी को ओर भी मृदु बनाती थी। वह अपने शरीर में कस्तूरी का लेप करती थी। मल्लिदेव की निलय लक्ष्मी सचमुच कलि की सीता थी। बिल्हण ने अपने नायक विक्रमादित्य द्वारा कमल-सरोवरों, प्रमद-वनों में तथा झूले पर कामिनियों के साथ केलि का विशद वर्णन किया है किंतु वह उस काल के दरबारी जीवन का वास्तविक चित्र नहीं है। यहां तक कि अभिलेखों में रानियों और कुलीन महिलाओं के गुणों का जो आलंकरिक वर्णन आया है उसे भी हम यथावत सही नहीं मान सकते, किंतु इतने पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं जिनमें यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों के लिए ललित शिक्षा का अच्छा प्रबंध था और हर पीढ़ी में इस प्रकार की शिक्षा वे प्राप्त करती थीं। उच्च वर्ग की ऐसी महिलाओं के अतिरिक्त सुलेयर-गणिका भी थीं जो संगीत और नृत्य का अभ्यास करती थीं। इनकी संख्या पर्याप्त थी और ये बड़े शहरों के जीवन को सरस बनाती थीं। मंदिरों में दैनिक पूजा के समय और विशेष अवसरों पर उनके संगीत के कार्यक्रम होते थे। ये भी इन कलाओं में पारंगत होती थीं। इन्हें अन्य महिलाओं की अपेक्षा समाज में बड़ी छूट मिली हुई थी। समाज के अन्यथा नीरस जीवन में ये अपनी उपस्थिति से रस का संचार करती थीं।

ललित कलाएं

संगीत और उससे संबद्ध कलाओं के कुछ दूसरे उल्लेख भी हैं। 1045 ई० के आसपास मुगद के एक जैन-मंदिर के परिसर में एक 'नाटकशाला' का निर्माण हुआ था।[23] 1049 ई० के शिरुर (बीजापुर जिला) के एक अभिलेख में एक मंदिर को मिले एक बहुत बड़े दान का उल्लेख है। इसमें 'गीतनृत्योपहार' के रूप में देवता के सामने प्रतिदिन गीत और नृत्य के आयोजन की व्यवस्था की गई है।[24] बीजापुर जिले के एक अभिलेख में जिसमें कोई तिथि नहीं है एक मंदिर से संबद्ध एक बांसुरीवादक, दो गायकों, दो नर्तकियों, चार अन्य गणिकाओं और एक मालाकार के लिए दान में बहुत बड़ा हिस्सा रखा गया है।[25] नागै के अभिलेखों में एक में (1086 ई०) में 80 'मत्तर' भूमि दो गायिकाओं और चार ढोलकवादकों के लिए दी गई है जिन्हें प्रतिदिन तीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बार सेवा करने को कहा गया है। 60 'मत्तर' भूमि चारणों के दो समूहों के लिए, 40 'मत्तर' 2 नर्तकियों को, 36 'मत्तर' 4 नाचनेवालियों को (इन्हें 'कंभदसूलेयर' कहा गया है, संभवतः ये देवता के सम्मुख जुलूस बनाकर सोने के दंड हाथों में लेकर चलती थीं) दिया गया है।[26] 1086 ई० में बेलारी जिले में चिन्नतुंबलम् के एक मंदिर में मिले दान में गायक-गायिकाओं, नर्तकियों और ढोलक वादकों का भी हिस्सा रखा गया है।[27]

मंदिर

दरबार के बाद कलाओं के संवर्धन में मंदिरों का ही योगदान रहता था। इसमें संगीत और नृत्य को तो प्रोत्साहन मिलता ही था। इसके साथ ही समाज में कला के क्षेत्र में जो उत्तम था वह मंदिर के इर्दगिर्द एकत्र होता था। उत्तम से उत्तम वस्तुएं देवता को अर्पित की जाती थीं। वस्तुतः देवता को अर्पित कर इन्हें स्वयं को ही अर्पित करते थे। किंतु यह अर्पण थोड़ा घुमाकर होता था। इसी प्रकार सभी मंदिर में रुचि लेते थे और इसे सामाजिक जीवन को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी के रूप में विकसित करते थे। सदियों तक मंदिरों ने ऐसी भूमिका निभाई है। जाति प्रथा में सामाजिक विविक्तता निहित है। किंतु इस विविक्ता को तोड़ने में मंदिरों ने जो भूमिका निभाई है, उसका भली-भांति मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। 1073 ई0 कुडल (बेल्लारी) के संगमेश्वर मंदिर को 'पुण्यतिथियों' पर 'पंचामृतस्नान' और 'गंधानुलेप' के लिए अक्षय दान मिला।[28] 'पंचामृत तो एक प्रकार से फलों का स्वादिष्ट रस मिश्रण सलाद है जो यदि ठीक से बनाया जाए तो कई दिनों तक नहीं बिगड़ता। आज तक कुछ मंदिरों में इस प्रकार के उत्तम 'प्रसाद' बनते हैं। 'पंचामृत' में प्रतिमा को थोड़ी देर तक स्नान कराते हैं। फिर उसे अलग कर भक्तों में वितरित कर देते हैं। भक्तों की जाति, धन या व्यवसाय का इसमें कोई ध्यान नहीं रखा जाता। इसी प्रकार चंदन (गंध) का लेप त्वचा पर करने से आनंद मिलता है, विशेषकर गर्मी के दिनों में। क्या ये पदार्थ धातु और पत्थर की उन प्रतिमाओं के काम के ही थे जिन पर इनका प्रथम प्रयोग होता था या वे उन सैंकड़ों भक्तों के लिए तैयार किए जाते थे जो बड़ी उत्कंठा से उनमें से अपना भाग लेने के लिए प्रतीक्षा करते रहते थे ?

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अर्थ व्यवस्था में मंदिरों की भूमिका की अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। इस संबंध में प्रसंगानुसार काफी कहा जा चुका है, तथापि यहां इस विषय पर विशेषयता कुछ कहने की आवश्यकता है। तैल के शासन काल के सोगल अभिलेख में[29] (980 ई०) कहा गया है कि मंदिर के साथ जो 'सत्र' है उसमें बनने वाला भोजन कोई ब्राह्मणी बनाएगी। यह विवरण मनोरंजक है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय भी इस संबंध में विचार आज के विचारों से भिन्न न थे। बड़े-बड़े दान अनेक कार्यों के लिए दिए जाते थे। इनमें से हर एक कार्य के लिए उसकी कितनी आमदनी खर्च होगी यह भी स्पष्ट कर दिया जाता था। 1018 ई० में बागली (बेल्लारी) के कलिदेव स्वामि के मंदिर को अक्षय दान मिला था जिससे देवता के 'निवेदय' शाश्वत दीप 'नंदादीविगे' संन्यासियों के लिए सत्र, 12 गणिकाओं के भरण-पोषण, एक सूलेवाल, एक बांसुरीवादक, एक नगाड़ेवाला, और एक 'पात्र' (नर्त्तकी) के भरण-पोषण और बाहर से आने वाले विद्यार्थियों 'देसिग छात्र' के भोजन के लिए व्यवस्था की गई थी।[30] 1029 ई० में देवूर के शिव मंदिर को रानी सुग्गलदेवी ने दान दिया था जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त स्थानीय संन्यासियों और विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र और चिकित्सा की व्यवस्था की गई थी।[31] इसमे चिकित्सा के उल्लेख से विजय पंडित नामक एक कलियुग-धन्वंतरि का ध्यान हो आता है जिनका नामोल्लेख देवणगेरे के 1054 ई० के एक अभिलेख में हुआ है।[32]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदयादित्य ने 1034 ई० में तलवागे (वेल्लारी) के भोगेश्वर मंदिर को जो दान दिया था उसमें देवार्चना के लिए चंदन की व्यवस्था के अलावा एक 'मठ', एक ढोलक वादक, एक गायक, एक पुजारी और मारसिंधोज नाम के एक संगतराश के लिए भी अलग से व्यवस्था थी।[33] गुडिहल्लि के नोलंबेश्वर मंदिर को बिज्लदेव ने जो दान दिया या उसके तीन बराबर भाग कर एक मंदिर के खर्च के लिए, दूसरा संन्यासियों के सत्र के लिए, और तीसरा 'विद्यादान' के लिए सुरक्षित कर दिया था।[34] अभिलेखों में इस प्रकार के और भी बहुत से दृष्टांत हैं।[35] किंतु न तो यह संभव है और न ही आवश्यक कि उन सबका उल्लेख यहां किया जाए। 1079 ई० के बागली के कालिदेव के मंदिर में बच्चलदेवी ने जो दान दिया था उसमें मंदिर में 'पुराणों' के पाठक को भी हिस्सा दिया था।[36] प्राचीन काल में जन साधारण की शिक्षा की व्यवस्था मंदिरों में धर्म ग्रंथों के पाठ के द्वारा की जाती थी। यह व्यवस्था काफी सफल रही थी।

वास्तु और प्रतिमाएं

वास्तु, पत्थर और धातु की प्रतिमाओं का निर्माण और चित्रकारी का अभ्यास मुख्य रूप से मंदिरों में या मंदिरों के लिए होता था। उस काल का कोई भी महल या घर अब नहीं बच रहा है, तथापि पत्थरों के बने बहुत से मंदिर अभी अवशिष्ट हैं जिनसे कल्याणी के चालुक्यों के अधीन इन कलाओं का अच्छा-खासा अभ्यास मिल जाता है। इसी ग्रंथ के एक पृथक अध्याय में इस विषय का विशद विवेचन किया गया है। किंतु समकालीन अभिलेखों से प्राप्त इस विषय के कतिपय तथ्यों का उल्लेख करना यहां अप्रासंसिक न होगा। इनमें मंदिरों के निर्माण के तुरंत बाद उनके रूप के बारे में अतिरंजित वर्णन मिलते हैं। इनमें से एक दो वर्णनों का संक्षेप दिया जा सकता है। 1062 ई० के नागै के एक अभिलेख में मधुसूदन दंडनायक द्वारा बनवाए मधुसूदन के मंदिर का वर्णन है।[37] लेख में लिखा है: इसका शिखर आसमान को चूमता था, इसके विशद कक्षों में स्थान-स्थान पर सुंदर प्रतिमाएं सुशोभित थीं, इसमें एक 'नाट्यशाला' थी, एक 'गरुड़स्तंभ' था' इसके प्रवेश का गोपुरम् तिमंजिला था, वह इंद्र के विमान की भांति दीखता था, एक 'अनुष्ठान भवन' था जहां विभिन्न संप्रदायों के संन्यासी और विद्वान शास्त्रार्थ और पूजा-पाठ करते थे, एक 'मठ' था जहां वेद की सभी शाखाओं और 'वेदांगों' के साथ अध्ययन होता था, अनेक 'तोरण', 'प्रासाद' और 'प्राकार' थे। 1090 ई० के आसपास चावुंडरस द्वारा हलगोंदि में बनवाए बालेश्वर के मंदिर के बारे में कहा गया है कि वह देवेंद्र के 'विमान' के सदृश था।[38] इसका मतलब यह हुआ कि यह मंदिर उड़ते हुए रथ के सदृश बना था जिसमें पहिए और घोड़े बने थे। 1119 ई० में मार्तंडय्य नायक ने कुडितणि में मार्तंडेश्वर नामक एक शिव मंदिर बनवाया था। उसके साथ सरस्वती और विनायक के छोटे-छोटे मंदिर भी थे। इस मंदिर में एक विशाल सभामंडप था जिसमें बहुत से लोग एक साथ बैठ सकते थे। यह मंडप लता मंडप की भांति सुशोभित था।[39] संसार के सभी मंडपों में यह श्रेष्ठ गिना जाता था। 1147 ई० में अप्रितम नेचरस ने लक्ष्मेश्वर के दक्षिण सोमेश्वर मंदिर में सोने का एक 'कलश' चढ़ाया था।[40] 1159 ई० का बेलगांवे के एक अभिलेख के अनुसार दंडनायक केसिराज ने केशव का एक मंदिर बनवाया था जिसकी लकड़ियों, पत्थरों आदि में भांति भांति की उत्तम नक्काशी की गई थी और उन पर सुंदर चित्र बने थे। इस उत्कृष्ट मंदिर के सामने उसने एक सुंदर नगर बसाया था जिसमें बड़े बड़े मकान थे, हर मकान के हर कक्ष में मुलायम से मुलायम पलंग और तरह तरह के बर्त्तन थे। इन मकानों को उसने विद्वान ब्राह्मणों को दान कर दिया था। यह एक गोलमोल अलंकारिक कथन है जिसे हम वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।[41] किंतु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इमारतों में अलंकरण पर खूब जोर दिया जाता था, यह बात उस काल की प्रतिमाओं से भी स्पष्ट है। इसमें कहीं यह बात तो सच मानी ही जानी चाहिए कि दान में दिए जाने वाले मकानों में भी सुख सुविधा की सभी बातें मुहैया की जाती थीं।

अब हम कतिपय तकनीकी बातों का जिक्र करेंगे। 1042 ई० में किसी कुंचवडुग दासय्य ने सिरुर में एक 'सिरिवागिलु' लक्ष्मी के द्वार का निर्माण किया था।[42] सूंडि में नागेश्वर का मंदिर प्रसिद्ध विद्वान शंकरार्य ने बनवाया था जिनकी विद्वता और चरित्र की प्रशंसा निर्माण के अभिलेख में (1060 ई०) पूरे दो श्लोकों में की गई है। शंकर को ज्ञान का आगार और 'वक्रोक्ति वाचस्पति' कहा गया है। लेख में खास तौर पर यह कहा गया है कि उन्होंने मंदिर को पूरा कराया और उस पर इतना सुंदर कलश रखा जिसकी बिना देखे कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।[43] 1085 ई० के नागै के एक अभिलेख में घड़ी (कपिन घटियाड़रु) का उल्लेख आया है जिससे पता चलता है कि उस समय किसी तरह का काल-मापी यंत्र भी मंदिरों में और अन्यत्र होता था।[44] उसी अभिलेख में एक श्रेष्ठ शिल्पी (कल्कुटिग) नागोज का भी नामतः उल्लेख है उसे 'कंडरण विद्याधिराजम्' कहा गया हैं। 'कंडरण' तक्षण-कला को कहते थे। उसने ही शायद लेख खोदा था और संभवतः मधुसूदन के मंदिर के निर्माण में भी उसका हाथ था।[45] चितलदुर्ग 'तालुक' के एक अभिलेख में महाकाल नाम के एक शिल्पी (रूवारि) का उल्लेख आया है जो अपने खोदे अक्षरों से हाथी, शेर, तोते और अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की शक्लें बना देता था।[46] देवाणगेड़े के 1113 ई० के एक दूसरे लेख में इक्कुडोज नामक एक दूसरे कुशल तक्षक का भी उल्लेख आया है।[47] बहुत से दूसरे अभिलेखों के अंत में उनके खोदने वालों के नाम आए हैं। यद्यपि उस समय प्रायः समूचे भारत में ऐसे संगतराश और शिल्पी पर्याप्त संख्या में थे जो बड़ी कुशलता से अभिलेख खोद सकते थे किंतु महाकाल की भांति कुशलता का दावा शायद किसी ने नहीं किया है।[48]

जड़ाई की कला

जड़ाई की कला अमीरों के लिए है। इसे मंदिरों और राज-परिवारों से ही प्रोत्साहन मिलता रहा होगा। मारसिंध प्रभु के शिरुर के अभिलेख में उन रत्नों की सूची दी है जिन्हें 1049 ई० में उसने वहां के विष्णु के मंदिर में दान दिया था। उसमें 'कंकण', 'कटिसूत्र', 'बाहुपूर्ण', (?) 'नूपुर', 'मकुट'' 'कुंडल', 'केयूर', और हारादि पदकम् त्रिकम्' (बढ़िया लटकन के साथ हार के तीन सेट) का विशेष रूप से उल्लेख है।[49] विष्णु के आयुध-शंख, चक्र, गदा और पद्म-सभी रत्न जटित थे। चोल अभिलेखों में विशेषकर तंजोर के आभूषणों के इस प्रकार के विशद वर्णन तो खूब मिलते हैं, पर चालुक्य अभिलेख विरले ही इनका उल्लेख करते हैं। हमने युवराज पद के चिह्न-कंठिका का उल्लेख किया था। खास-खास स्त्रियों के वर्णनों में उनके भांति भांति के आभूषण धारण करने के उल्लेख मिलते हैं। 1147 ई० के एक अभिलेख में सेबिसेट्टि नामक एक जौहरी का उल्लेख आया है जो सम्राट और सेनापति बर्म्मदेव को रत्न बेचता था।[50]

शिक्षा

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इन कलाओं की शिक्षा पुश्तैनी होती थी। महीन काम करने के अपने-अपने तरीके होते थे और इन्हें कलाकार दूसरों को नहीं बतलाते थे। यदा-कदा ही परि-वार के बाहर के किसी व्यक्ति को यह भेद बतलाते थे सो भी कभी यदि वह व्यक्ति योग्य और विश्वस्त हुआ। इनके सीखने का तरीका यह होता था कि विद्यार्थी गुरु की देखरेख में उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बताए ढंग से काम करता जाता था। यही आम तरीका था। आज की भांति पुस्तकों से सिद्धांत की बातें नहीं सिखाई जाती थीं।

आम शिक्षा, प्राथमिक और उच्चतर, के लिए पाठशालाएं थीं। प्रायः हर गांव में अक्षरारंभ का प्रबंध था। हम यह मान सकते हैं कि यदि सभी गांवों में नहीं तो कम से कम अधिकांश गांवों में अवश्य ही अक्खरिग-वृत्ति अर्थात स्कूल मास्टर के लिए माफी जमीन रखने की प्रथा प्रचलित थी। अभिलेखों में आमतौर पर मंदिरों में जन साधारण के लाभार्थ 'पुराणों' के पाठ का अक्सर उल्लेख आया है। पुराण से वास्तव में 'रामायण', 'महाभारत' और 'पुराण' सबका सम्मिलित बोध होता था। इस प्रकार के कतिपय दृष्टांतों का उल्लेख हम कर चुके हैं। कुछ और दृष्टांत भी दिए जा सकते हैं। 1085 ई० के नागै के एक अभिलेख में 40 'मत्तर' भूमि 'पुराण-भट्ट' के लिए दी गई थी जिसका काम देवता के सामने मंदिर में और 'मठ' में पुराणों का पाठ करना था।[51] 1103 ई० में बागली के कल्लेश्वर मंदिर में 'पुराण' के लिए एक 'पण' प्रतिमास की छोटी रकम रखी गई थी।[52] चार साल बाद इसमें बुद्धि हुई। फिर 'पुराण' के पाठक ईश्वरभट्टोपाध्याय को 60 'कम्म' बगीचे की जमीन दान में मिली।[53] 1126 ई० में उन्हें एक मकान भी दान में मिला[54] बागली में 6 'होन्तुस' का एक दान 'पुराण' के ही पाठक को मिला था जिसकी तिथि नहीं दी गई है। इसमें चेन्नकेश्वर मंदिर में 'ऐंद्र' सूक्त का पाठ करने वाले को 4 'होन्नुस' की भी व्यवस्था थी।[55] 1112 ई० में सिंदिगे 'महाग्रहार' में पुराण के पाठक को 'भट्टवृत्ति' के रूप में भूमि और मकानों को बनवाने के लिए जगह दी गई थी।[56] 1129 ई० में जब तर्द्दवाडि पर हैम्माडि कलचुर्य का शासन था तो इंग्लेश्वर में पुराण-खंडिक को एक दान दिया गया था।[57] उच्च शिक्षा का माध्यम प्रायः संस्कृत था और विषय थे वेद, दर्शन, व्याकरण। इनके लिए अलग से विद्यालय थे। प्रायः समूचे देश में ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनसे इस बात का अच्छा ज्ञान हो जाता है कि इन विद्यालयों का पोषण किस प्रकार होता था और इन्हें अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिली थी। इनमें से कुछ चुने हुए अभिलेखों का उल्लेख हम कर सकते हैं। 'विद्या दान' के बारे में जो गोलमोल कथन है जिनका कोई ब्यौरा नहीं दिया गया है, उनका हवाला देना बेकार है।[58] इनमें से कुछ दृष्टांतों का, जैसे उम्मचिगे में शिक्षा की व्यवस्था का, उल्लेखतो हम दूसरे प्रकरण में पहले ही कर चुके हैं। 1058 ई०में मधुसूदन के मंदिर में मधुव ने जिस 'घटिका' (कालेज) (इसे शाले भी कहते थे) की स्थापना की थी[59] उसमें 'वेद' के 200 विद्यार्थियों, 'शास्त्रों के 50 विद्यार्थियों, 'शास्त्रों' के तीन अध्यापकों (मीमांसा के), एक 'भाट्टसंप्रदाय' के लिए, दूसरा 'न्याय' संप्रदाय के लिए और तीसरा 'प्रभाकर' संप्रदाय के लिए, 'वेदों के' तीन अध्यापक एक ग्रंथालयाध्यक्ष कुल 257 व्यक्तियों की व्यवस्था थी।[60] अक्षय दान की आमदनी से इन सबके भोजन और वस्त्र का प्रबंध किया गया था। अध्यापकों में 35 'मत्तर' भूमि 'भट्टदर्शन' के अध्यापक के लिए, 30 'मत्तर' 'न्याय दर्शन' के अध्यापक के लिए और 45 'मत्तर' 'प्रभाकर-दर्शन के अध्यापक के लिए ग्रंथालयाध्यक्ष और टाइम कीपर में हर एक के लिए 30-30 'मत्तर' भूमि वेतन के रूप में अलग रखी गई थी। 'वेद' के अध्यापक के वेतन के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया था। यह संभवतः 400 ब्राह्मणों के गांव उसे 'ब्रह्मलोक' ही समझिए के लगान से मिलता रहा होगा। मधुसूदन ने इस दान के साथ वह गांव भी बसाया या और अक्षय दान दिए थे। 1107 ई० में बेल्लारी जिलें के चिन्न तुंबलम गांव में रानी मलयमती देवी ने उसे जो उस गांव की शासिका (आलके) थी उस के राजस्व ('सिद्यायद पोन्') में से नीचे लिखे दान दिए।[61] 'व्याख्यानदुपाध्याय' के लिए 8 'गद्याण', 'पुराण' के पाठक के 8 'गद्याण', 'ऋग्वेद' और 'यजुर्वेद' की 'खंडिकाओं' के 2 अध्यापकों के लिए 12 'गद्याण', ओर 'अग्निष्टगेय' ब्राह्मण के लिए 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'गद्याण'-कुल 30 'गद्याण'। सोमेश्वर भट्टोपाध्याय ने शिक्षा-संस्थाओं के उन्नयन के लिए जो कुछ किया था उसका उल्लेख हम कर चुके हैं।[62] यहां उसे भी स्मरण रखना होगा। अंत में, 1111ई० के रोन (धारवाड़ जिला) के एक अभिलेख में 'वक्खान' (व्याख्यान)-'शाला' का उल्लेख है जहां 'तर्क' का अभ्यास होता था।[63] 1124 ई० के पुलिकोडे के एक अक्षय दान में 'कुमार-व्याकरण' के अध्ययन का उल्लेख है।[64]

देश भर में 'ब्रह्मपुरियां' स्थापित थीं। उन्होंने संस्कृत ज्ञान के विधिवत प्रचार के लिए सेवा की। इन ब्राह्मणों के ज्ञान, चरित्र, श्रौर आयुधों के लाघव के बारे में सामान्य प्रशंसा के कितने ही उदाहरण हम देख चुके हैं। कुछ और खास उदाहरण दिए जा सकते हैं। 1024 ई०के मरोल के अभिलेख में[65] जैन अध्यापक अनंतवीर्य मुनि की प्रशंसा में कहा गया है कि वह 'व्याकरण', 'निघ्टु', 'गणित', 'वात्स्यायन', 'ज्योतिष', 'शकुन', 'छंदस','मनु घंगांधर्व', 'अलंकार', 'महाकाव्य', 'नाटक', 'आध्यात्मिक', 'अर्थशास्त्र', सिद्धांत और 'प्रमाणों' का पंडित था। यह सूची काफी बड़ी है। इससे पता चलता है कि कोई अध्यवसायी उस काल में किन किन विषयों और पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। पोंबुलल्च के पंडित 'वेदों', 'वेदागों', 'वेदांत', 'पुराण', 'न्यास' 'मीमांसा', और 'आगमों' का अध्ययन करते थे।[66] वाल्गुलि के 'अग्रहार' का विस्तार से वर्णन हम कर चुके हैं। इस अग्रहार के 'महाजन' किसी भी पंडित से 'भरत', 'व्याकरण', 'आगम', 'स्मृति', 'पुराण', और 'षट्टर्क', (छह प्रकार के शास्त्रों) पर शास्त्रार्थ कर सकते।[67] सूड़ि के 1060 ई० के एक लेख में शैव विद्वान और अध्यापक सोमेश्वर-लंबे पंडित देव की दो कन्नड़ छंदों में प्रशंसा की गयी है।[68] सोमेश्वर तप, चरित्र, पांडित्य विशेषकर 'वैशेषिक', 'न्याय', 'सांख्य', 'शब्द-ज्ञान' और 'मीमांसा' में अद्वितीय था। बड़े बड़े राजा-महाराजा उसकी चरण रज लेने आते थे। इन सभी अभिलेखों में व्याकरण का उल्लेख है। इससे ध्यान देने की बात यह है कि शब्द शास्त्र के कई संप्रदाय थे और इस विषय का प्राचीनकाल में इतना गहन अध्ययन हुआ था जितना विश्व की किसी दूसरी भाषा के व्याकरण का नहीं हुआ। ग्यारहवीं शती के मध्य के मुलगुंड के एक अभिलेख में दो जैन वैयाकरणों, नरेंद्रसेन और उसके शिष्य नयसेन, का उल्लेख आया है।[69] ये व्याकरण के अनेक संप्रदायों में निष्णात थे। कतिपय संप्रदायों के नाम भी दिए हैं जैसे, चंद्र, कातंत्र, जैनेंद्र, शाकटायन का शब्दानुशासन, पाणिनीय ऐंद्र और कोमार। नरेंद्रसेन को 'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' का लेखक भी कहा गया है।[70] 1141 ई० के बेल्लारी जिले के सिदिगेरे के एक अभिलेख[71] में कालामुख के एक आचार्य की प्रशंसा में कहा गया है कि वह 'व्याकरण', 'तर्क', 'सिद्धांत', 'काव्य', 'नाटक', 'नाटिका', 'वेदाभिधान', (?), 'अलंकार', 'प्रतिश्रुति', (?) 'पुराण', 'इतिहास', 'मीमांसा', 'नीतिशास्त्र' और अन्य शास्त्रों का पंडित था। वह शास्त्रार्थ के लिए सदा प्रस्तुत रहता था। उसने कालामुख संप्रदाय को पुनः प्रतिष्ठित किया था। संस्कृत में उसकी वाणी धाराप्रवाह निकलती थी।

शिक्षा और शिक्षण-संस्थाओं और ज्ञान के प्रसार के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से एक बात जाहिर होती है कि यद्यपि उच्च शिक्षा तो आज की भांति तब भी कुछ खास खास केंद्रों में सीमित थी, क्योंकि इसके लिए सर्वत्र साधन उपलब्ध न थे, तथापि इस प्रकार के ज्ञान का जो रस था वह सर्वत्र फैला था। ऊंचे से ऊंचा विद्वान, और अति प्रबुद्ध और परिष्कृत बुद्धिजीवी गांवों में जाकर रहता था और जहां वह अपने आस-पास के लोगों के जीवन का मार्गदर्शन करता था। शिक्षा सभी रूपों में सामाजिक जीवन और संस्थाओं से जुड़ी हुई थी। आज की अपेक्षा वह समाज के लिए अधिक स्थाई और स्पष्ट ही लाभप्रद थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृषि

अब हम कुछ देर के लिए देश की सामान्य आर्थिक स्थिति और व्यापार और उद्योग की ओर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। आज की भांति उस काल में भी कृषि ही समाज की अर्थव्यवस्था का मेरुदंड थी। कृषि जल पर निर्भर थी। ऐसी नदियों की संख्या कम थी जो सदानीरा हों और उनसे नहरें निकाल कर सिंचाई की जा सके। बरसात पूरे साल में रुकरुक कर कभी कम कभी अधिक होती थी। अतः स्थान स्थान पर तालाब बनाकर पानी इकट्ठा किया जाता था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उस काल में इन तालाबों के रख-रखाव पर पूरा पूरा ध्यान दिया जाता था। अभिलेखों से मंदिरों के बाद इसी विषय का सबसे अधिक महत्व मालूम पड़ता है। होट्टूर के पास केम्गेरे (लाल तालाब) था। 1037 ई० से इसके रख-रखाव के लिए छह बोझपान के पत्तों पर केंद्रीय और स्थानीय अधिकारियों को जो कर मिलता था वह इसके लिए सुरक्षित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त करीब 1000 'तंबुलिगों' को हिदायत कर दी गई थी कि हर बोझ पर एक 'वीस' (पण का ?) बिला नागा दिया करें।[72] बीजापुर जिले में मेंटूर में 1041 ई० में स्थानीय रट्ट राज्यपाल के नाम पर बनने वाले रट्ट-समुद्र की खुदाई के लिए करों और जुर्माने से प्राप्त होने वाली आय का एक हिस्सा बांध दिया गया था।[73] 1052 ई० में कदंब राजा हरिकेसरिन ने नीरिल (नीरलिग, धारवाड़ में) के 'महाजनों' को वहां से मिलने वाला समूचा गृह-कर पोरियकेरे (बड़ा तालाब) के रख-रखाव के लिए दे दिया था।[74] वहां के 300 'महाजनों' को दान ग्रहण करने के लिए विशेष हरकारा भेजकर बुलवाया गया था। उसी साल बेल्लारी जिले में तलकल्लु में गुंडियकेरे तालाव के रख-रखाव के लिए भूमि का दान दिया गया।[75] केलवाड़ी (बादामी तालुक) के एक तालाब की मरम्मत के लिए 1053 में 20 'मत्तर' सिंचित भूमि और एक मकान का दान मिला था।[76] शिमोगा जिले के सोराब 'तालुक' के 1071 ई० के अभिलेख में एक ऐसी योजना का उल्लेख है जिसमें खेती के लिए नई जमीन के प्रयोग की बात है। इस जमीन की सिंचाई के लिए एक तालाब सेट्टिकेरे खोदा गया था और इस तालाब के रख-रखाव के लिए एक अक्षय दान दिया गया था।[77] अम्मेले (बेल्लारी) में 1106 में 'हेरिकेरे' के रख-रखाव के लिए चुंगी का दान दिया गया।[78] बालुगुली (बेल्लारी जिले में ही) दो तालाबों के रख-रखाव के लिए दान दिए गए। इसमें एक दान 1107 ई० में[79] और दूसरा 1188 ई० में दिया गया था।[80] 1132 ई० में चिलमकारू (कुडप्पा) में एक नया तालाब खुदवाया गया।[81] हावेरी (धारवाड़) के 'करणों' ने 1157 ई० में निश्चित नकद आय 'हिरियकेरे' तालाब के नाम की थी। यह तालाब नलचक्रवर्ती द्वारा खुदवाया बतलाया गया है।[82] ये सभी आधुनिक इंजीनियरी शब्दावली में लघु सिंचाई और मरम्मत के कामों के उदाहरण हैं। ये उदाहरण पूर्ण नहीं है किंतु इस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में भूमि की अर्थ-व्यवस्था में सिंचाई के महत्व का ध्यान लोगों को था।

व्यापारिक फसलें

अनाज और दालों की खेती के अतिरिक्त जो कि सिंचित और असिंचित दोनों प्रकार की जमीनों में होती थी, बहुत बड़े पैमाने पर गहन-कृषि के रूप में बगीचे लगाए जाते थे और कपास जैसी व्यापारिक फसलें भी उगाई जाती थीं। अभिलेखों में काली भूमि, लाल भूमि, सिंचित भूमि, उपवन-भूमि और ऊसर भूमि के खास तौर पर उल्लेख मिलते हैं। बगीचों की उपज के रूप में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पान के पत्तों, सुपारी, ताजे फलों, और फूलों के उल्लेख अभिलेखों में प्रायः मिलते हैं। यह सब होते हुए भी कृषि की उपज के संबंध में हमारा ज्ञान पूरा नहीं कहा जा सकता। विक्रमादित्य षष्टम के शासन-काल के सीताबल्दी (नागपुर) अभिलेख में उल्लेख आया है कि दंडनायक वासुदेव ने जमीन खरीद कर उसमें से 12 'निवर्त्तन', 'गो-प्रचार' (गायों की चरागाह) के लिए और 5 'निवर्त्तन' भूमि 'वाहक' (गाय चराने वाले) के लिए दान की थी।[83] इस उल्लेख में हमें पशु-पालन और डेरी-उद्योग की समस्याओं का ध्यान हो जाता है जिनके बारे में किसी भी दूसरे स्रोत से जानकीरी प्राप्त नहीं होती।

उद्योग

अन्य उद्योगों के बारे में हमें अप्रत्यक्ष रूप में ही जानकारी तब मिलती है जब अभिलेखों में व्यापारिक निगमों के उल्लेख आते हैं। इस विषय में दो विशद अभिलेख प्राप्त हैं जो करहाड़ के शिलाहारों के हैं। इनमें से एककोल्हापुर से प्राप्तहुआ है जो 1135 ई० का है औरदूसरा मीरज से जो 1142 ई० का है।[84] पहले अभिलेख में उस आमदनी की सूची है जो व्यापारियों ने एक जैन-मंदिर के नाम कर दी थी। उसके जो ब्यौरे दिए गए हैं उनसे हमें पता चलता है कि सुपारी और पान के पत्तों की माप एक बोझ, आधा बोझ और हसर के रूप में होती थी। घी और तेल की माप 'कोड', 'सिद्दिगे' और (उसके दुगुने) 'संगडि' से होती थी। रुई की तोल 'मालवे' में होती थी। 'लंका' (बढ़ई) पीढ़े, तिपाइयां, 'मरवि' (कटोरे), और 'मंच' (खाट) आदि बनाते थे। हरी अदरक, हल्दी, सोंठ, लहसन, 'वाजे,' और 'भद्रमुस्ते' की बिक्री तोलकर होती थी और बोझ, आधा बोझ और 'हसर' शब्दों का प्रयोग इनके लिए और जीरे और काली मिर्च के लिए भी होता था। नमक और 18 तरह के अनाज की तोल एक गाड़ी, दो गाड़ी और एक बोझ, दो बोझ—इस तरह होती थी। इसी तरह मेवे और फल की भी तोल होती थी। फलों का हिसाव टोकरियों में लगाया जाता था। बजाजों, सुनारों और कुम्हारों को दूकान पीछे अपना चंदा देना पड़ता था। दूसरा अभिलेख भी इसी तरह का है जिसमें शिव के एक मंदिर को दान का उल्लेख है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सुपारी की तोल कंधे से लटकने वाले थैले, गर्दभ-भार और वृषभ-भार के रूप में भी होती थी। तेल और घी की नाप 'मंडि-गोड' (=शकट-पात्र) में भी होती थी। सोने के सिक्कों की परख के लिए सुनार परखाई लेता था और चर्मकार 'पाद-रक्षे' (सेंडल) बनाते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर दैनिक अर्थ-व्यवस्था सरल थी। हम देखेंगे कि व्यापारियों की श्रेणियों की जो औपचारिक 'प्रशस्तियां' मिलती हैं उनमें बिलास की बहुमूल्य वस्तुओं के स्पष्ट उल्लेख हैं। इसलिए यह अनुमान स्वाभाविक ही है कि आम इस्तेमाल की वस्तुओं के साथ संपन्न लोगों के लिए इस प्रकार के उद्योग भी फलफूल रहे थे। तथापि, इस संबंध में हमारे पास प्रमाण अत्यल्प हैं।

व्यापार

हम भली भांति अनुमान कर सकते हैं कि उस काल में समुद्र पार के देशों से कुछ व्यापार अवश्य होता था। यह खेदजनक बात अवश्य है कि इस प्रकार के व्यापार और व्यापारिक जहाजी बेड़े या उसकी रक्षा करने वाली नौसेना के बारे में प्रत्यक्ष उल्लेख बादामी के चालुक्यों के काल की अपेक्षा भी बहुत कम मिलते है। विदेशी व्यापार के बारे में लगभग अकेला उल्लेख रट्टराज के खरेपटन के ताम्रपट्टों में (1008 ई०) आया है।[85] इस लेख में अब्वेश्वर के मंदिर को जिस दान का उल्लेख आया है उसमें 'द्वीपांतर' से आने वाले जहाजों पर प्रति जहाज एक 'गद्याण' सोना की उगाही का भी उल्लेख है। यहां 'द्वीपांतर' का अर्थ समुद्र पार के देशों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से है। आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार संभवतः यहां मलाया से तात्पर्य है।[86] इस लेख में यह भी कहा है कि मंदिर को कंदमूलीय देश से आने वाले माल पर प्रति गाड़ी पर एक 'धरण' मिलेगा।[87] चेमुल्य और चंद्रपुर को इस उगाही से छूट मिली थी। अभिलेखों में सड़कों के महापथों और सहायक पथों दोनों के उल्लेख प्रायः मिलते हैं।[88] देश का आंतरिक व्यापार इन्हीं सड़कों से होता था। गाड़ियों और जानवरों पर लादकर माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था। डाकुओं के खतरे से बचने के लिए व्यापारी सार्थ (कारवां) बनाकर निकलते थे। विभिन्न स्थानों में मंदिरों में जो मेले लगते थे उनकी तिथियों को ध्यान में रखकर ही ये व्यापारी चलते थे। उत्पादकों की भांति व्यापारियों ने भी अपने नियम बनाए थे। ये स्वशासी संस्थाएं थीं। इनकी अपनी परंपराएं होती थीं, अपने चिह्न होते थे और अपनी 'प्रशस्तियां' भी।

श्रेणियां

व्यापारियों की सबसे प्रसिद्ध 'श्रेणी' अय्यवोलेपुर के 500 स्वामियों की थी। विभिन्न नामों से संभवतः कई अभिलेखों में इनका उल्लेख मिलता है। उन सब में 500 की संख्या मिलती है। किंतु नाम में किंचित फर्क अवश्य मिलता है। ये नाम एक ही श्रेणी के हैं, यह बात इनकी 'प्रशस्ति' से स्पष्ट हो जाती है जो 1054 ई० के शिमोगा जिले में शिकारपुर 'तालुक' के एक अभिलेख में मिलती है।[89] इनमें मिथक, अनुश्रुतियां और ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के उल्लेख हैं। 'प्रशस्ति' से ज्ञात होता है कि ये लोग 'वीर-बणंजुधर्म (उत्तम वणिकों के धर्म) के रक्षक थे। 'बणंजु' संस्कृत 'वणिक' या 'वणिज' का तद्भव है। यह धर्म इनके 500 'वीर शासनों' में निहित था। उनके ध्वज पर पहाड़ी का एक चित्र होता था। संसार भर में ये अपने उद्यम के लिए विख्यात थे। ये स्वयं को वासुदेव, खंडलि, और मूलभद्र का वंशज कहते थे। ये वैष्णव और माहेश्वर धर्म के अनुयायी थे। ये चेर, चोल, पांड्य, मूलेय, मगध, कौसल, सौराष्ट्र, धानुष्ट्र, कुरुंब, कांबोज, गौल्ल, लाल, बर्व्वर, परस (फारस), नेपाल, एकपाव, लंबकर्ण, स्त्रीराज्य और गोलामुख की यात्राएं करते थे। इनमें से अंतिम चार नाम काल्पनिक हैं। इसलिए इस पूरी सूची के बारे में संदेह हो जाता है। ये स्थल और जल-मार्गों से यात्राएं करते थे। छहों महाद्वीपों के देशों में जाते थे। ये सुंदर हाथियों, उत्तम नस्ल के घोड़ों, बड़े-बड़े नीलम, चंद्रमणि, मोतियों, रुबियों, हीरों, वैदूर्य, सुलेमानी, पुष्पराग, लाल, मरकत और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं और इलायची, लवंग, गुग्गुल, चंदन, कर्पूर, कस्तूरी, केसर, 'मलेगज', और अन्य मसालों और इत्रों का व्यापार करते थे। वे थोक या कंधे पर रखकर खुदरा भी बेचते थे। वे बराबर 'शुंक' की अदायगी करते थे। इनके सोने और रत्नों से राज-कोष भरा रहता था। ये शस्त्रागारों को भी माल-बेचते थे। ये ब्राह्मणों और ऋषियों को जो चारों समयों और छहों दर्शनों के पंडित थे दान देते थे। इनमें 8 'नाडों' के 16 'सेट्टि' थे। ये गधों और भैंसों पर अपने सामान लादते थे। इनके अतिरिक्त दूसरे तरह के व्यापारी और सैनिक भी इनमें थे जैसे, 'गावड़े', 'गात्रिग', 'सेट्टि', 'सेट्टिगुत्त', 'अंककाड', 'वीर', 'बीर वणिज', 'गंडिग', 'गावुंड', और 'गावुंड-स्वामि'। इनमें सबसे ऊंचे अय्यवोले के 500 स्वामी थे। ये अपने को 'गुड्डशास्त्र' का आचार्य मानते थे। ये अपने व्यवसाय में किसी भी खतरे का सामना करने में समर्थ थे।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि देश भर के व्यापारियों के समूहों ने अपना एक प्रकार का संघ बना लिया था। इनकी अपनी किंवदंतियां थीं, मिथक थे, जिन पर इन्हें गर्व था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तमिल प्रदेश के अभिलेखों में इन्हें 'नाना-देशीय' और 'तिशैयायिरत्तु एन्नूर्रवर' (सहस्र दिशाओं के पांच सौ) कहा गया है। यह दूसरा विशेषण 1088 ई० के एक खंडित तमिल लेख में मिलता है। यह लेख सुमात्रा द्वीप में लोवोए तोएवा नामक स्थान पर मिला था।[90] उतने प्राचीन काल में व्यापार के माध्यम से लोग आपस में मिलते-जुलते थे, और इस प्रकार उनका दृष्टिकोण उदार और व्यापक था। इस दृष्टि से इनका जितना महत्व है उसका सही-सही मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। मलाबार के वणिक यदि कर्णाटक में बस नहीं गए थे तो कम से कम उनसे उनका घनिष्ट व्यापार संबंध तो अवश्य था। इसके बहुत से दृष्टांत मिलते हैं, खासकर बेल्लारी जिले में। एक मलेयाल बड्डुवेवहारी ने जिसका नाम कोमर मूर्क था, 1108 ई० में बागली के मंदिर में शाश्वत दीप के लिए 5 'गद्याण' का अक्षय दान दिया था।[91] पोन्मूर्कसेट्टि नाम के एक दूसरे व्यापारी ने 1113 ई० में इसी काम के लिए 14 'गद्याण' दिए थे।[92] एक तीसरे व्यापारी नंबिगण्णि 'सेट्टि' ने 1126 ई० दुग्गति में, जिसकी गढ़ी ('मेलाल्के') का वह स्वामी था, एक दान दिया था।[93] चोल प्रदेश में कावेरी नदी के दक्षिण आकूर नामक एक 'ब्रह्मदेय' था। यहां के पेरियालुवसेट्टि ने 1162 ई० में हंजेरू (अनंतपुर जिला) में वहां के 'समस्तदेशीयों' अर्थात 'नानादेशी' श्रेणी की इजाजत लेकर देशीश्वर की स्थापना की थी।[94] बेल्लारी जिले के 1146 ई० के एक लेख में तमिल पुरोहित उय्यक्कोंडभट्टार का जिक्र आया है।[95] इसी प्रकार देवांगेरे के 1224 ई० के एक लेख में वीर राजेंद्र चतुर्वेदिमंगलम् और कारैकाल अम्मै नाम की एक शैव भक्तिन का उल्लेख है।[96] यह इस बात का प्रमाण है कि चालुक्य कालीन कर्णाटक में तमिल भी पर्याप्त संख्या में रहे होंगे। कश्मीर से सैनिकों और कवियों के आगमन के बारे में हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग भी रहे होंगे जिनके बारे में हमें कुछ भी पता नहीं है। अपनी ऐतिहासिक स्थिति के अनुकूल कल्याणी की इस काल की संस्कृति का आधार काफी विस्तृत था और वह सभी क्षेत्रों से प्रभाव ग्रहण करने को प्रस्तुत थी। अब हम नगरों की श्रेणियों की ओर पुनः लौटेंगे। जैसा कि हम बतला चुके हैं कि इनके उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में विभिन्न रूपों में आए हैं। 1057 ई० के हिरे-हडगलि के अभिलेख में इन्हें 500 'वीर बलंजिय' कहा गया है। इसमें एक लम्बी 'प्रशस्ति' है जिसमें बहुत सी असंगत बातें भी हैं।[97] हम 8 'नाडों' के 16 और अय्यवोले के 500 'स्वामियों' का होलल के 1074 ई० के लेख में जिक्र पाते हैं।[98] नीलगुंड के 1079 ई० के एक लेख में 500 बलंजियों का[99] पेद्दतुंबलभ के 1106 ई० के लेख में[100] 'बलंजियों' और 'नानादेशियों' का उल्लेख है और रागिमसलवाड के 1127 ई० के अभिलेख में नानादेशियों का उनकी प्रशस्ति सहित उल्लेख है।[101] ये सभी अभिलेख बेल्लारी जिले के हैं। व्यापारियों की एक दूसरी श्रेणी मुम्मुलदंडों की थी। ये अपने को आर्यपुर अर्थात अय्यवोले के 5 0 स्वामियों की परंपरा में बतलाते हैं। पहले इनका मुख्य स्थान द्वारवतीपुर (हलेबिद) में था, फिर बाद में बेल्लारी जिले के कुरुगोडु में जो उनके लिए द्वितीय द्वारवतीपुर सरीखा था। कुरुगोडु के 1176 और 1177 ई० के दो अभिलेखों में इनकी प्रशस्ति मिलती है जो 'वीर बलंजियों' से मिलती-जुलती है।[102] संभवतः जैन और बौद्ध 'सेट्टियों' की अपनी शाखाएं भी थीं। संभवतः इनकी अपनी स्वतंत्र श्रेणियां न थीं। चाहे जो भी रहा हो इनकी अपनी 'प्रशस्ति' भी मुख्य रूप में वही थी जैसा कि कोल्हापुर, मीरज[103] और डंबल के अभिलेखों से स्पष्ट है। धारवाड़ जिले में डंबल का पुराना नाम धर्मवोलाल था। यह नाम 1059 ई० के एक अभिलेख में आया है।[104] इस लेख में 'नगर-जिनालय' और 'महा-नगर समुदाय' का जिक्र है जिसमें 16 सेट्टि थे। यह जिनालय कोई जैन या बौद्ध मंदिर रहा होगा। किंतु इस लेख में 'स्याद्वाद' का कोई जिक्र नहीं है और 1095-6 के एक लेख का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरूप बौद्ध है। अतः संभावना यही है कि यह जिनालय कोई बौद्ध मंदिर रहा होगा। इस दूसरे अभिलेख में 'उभय-नानादेशीय' की एक बहुत बड़ी प्रशस्ति है।[105] इसमें एक बौद्ध-विहार और तारादेवी के मंदिर में दान का उल्लेख है। यह विहार मंदिर और हाल ही में बना था। दान धर्मवोलल और महानगर के 16 सेट्टियों की उपस्थिति में दिया गया था जैसा कि 1059 के लेख में उल्लिखित है।

नगरों का जीवन

यहां नगरों के जीवन के एक विवरण का जिक्र करना रुचिकर होगा। यह विवरण 1123 ई० के तेरिडाल (सांगली रियासत) के एक लेख में आया है।[106] तेरिदाल जैनों का बहुत बड़ा केंद्र था। यहां नेमिनाथ का एक मंदिर था जिसे 1182 ई० में 'वीर बणंजों' ने दान दिया था। तेरिदाल, अभिलेख में यही नाम है, कुंडी जिले के मध्य में स्थित था। इसकी रक्षा के लिए 12 गावुंड थे। इसी से इसे 'तेरिदाल' (=12) कहते थे। इससे हम स्थानों के साथ जो संख्याएं आती हैं उनका भी खुलासा कर सकते हैं। इस बात पर जितना ध्यान दिया गया है इससे अधिक की आवश्यकता है। अभिलेख में लिखा है "तेरिदाल धान के रंगीन और सुगंधित खेतों से सुशोभित है। यह बगीचों, झीलों और जलाशयों से पूर्ण है। इसमें पहाड़ियों, चट्टानी द्वीपों और खुली भूमि पर गढ़ियों का समूह है। बुद्ध, माधव, अर्क (सूर्य), शंकर और जिन के मंदिरों को घेरती हुई गहरी परिखा हैं। इसमें अनेक सड़कें हैं जिन पर बाजार हैं। ब्रह्मा भी तेरिदाल के सौंदर्य की प्रशंसा करने में असमर्थ है। नगर में हजारों सुंदर हवेलियां हैं जिनमें सभी वर्गों के लोग रहते हैं, यहां सुशिक्षित सैनिक रहते हैं जो शत्रु के हृदय में भय का संचार करते हैं। नगर में सैकड़ों विद्वान और सज्जन रहते हैं जो ऊंचे ऊंचे पदों पर काम करते हैं। वे आश्रितों और मंडलीकों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं। 'गावुंडों' के अधीन नगर प्रशासन दर्शन और जैनों के छह व्रतों का उन्नयन करता है। नगर धान्य और पण्य वस्तुओं, दूध, नए नए आभूषणों और भांति भांति के वस्त्रों से भरा है। जौहरियों की दूकानों में सोने और रत्नों के अंबार लगे रहते हैं। देश के विभिन्न भागों से व्यापार के प्रवाह को चालू रखने के लिए बहुत से व्यापारी ऐसे हैं जो मुद्राओं का विनिमय करते हैं। ऐसा लगता है कि यह नगर यह कहकर कि 'कुबेर कौन है?' कुबेर का भी उपहास करता है। यह वर्णन आलंकारिक है। इसमें ब्यौरे नहीं हैं। तथापि इससे हम वास्तविक स्थिति का अनुमान तो कर ही सकते हैं।

ब्याज की दरें और मुद्राप्रणाली

चोल अभिलेखों के विरुद्ध चालुक्यों के अभिलेखों में ऐसी सूचनाएं बहुत कम ही हैं जिनसे हम उस काल में कीमतों और मजदूरी के स्तर के बारे में जान सकें। इनके बारे में अस्पष्ट इशारे भर मिलते हैं मूलधन पर ब्याज के बारे में कुछ सूचनाएं अवश्य प्राप्त हैं। 1054 ई० के तंब्रगुंडि (धारवाड़) के लेख[107] में मूलधन का जिक्र आया है जिसकी 'वृद्धि' (ब्याज) से खर्च की कतिपय मदें बतला दी गई हैं: एक शाश्वत दीप, 'निवेद्य', चंदन और गंध के लिए 15 'गद्याण', 8 'प्रवासियों' के भोजन के लिए 25 'गद्याण', एक रसोइये की मजदूरी 2 'गद्याण'। शिरुर (बीजापुर) के 1062-3 ई० के एक अभिलेख[108] में बड़ी बड़ी नकद रकमों के दान का उनके ब्याज की दर के साथ उल्लेख है। 1000 'गद्याण' पर वार्षिक 150 'गद्याण' ब्याज अर्थात 15 प्र० श० की दर से, आयुवडक के 'महाजनों' के पास जमा 200 गद्याण 'अक्षेण्णि-स्थिति' के आधार पर वार्षिक आय 40 'गद्याण' अर्थात 20 प्र० श० ब्याज की दर से, 1000 'गद्याण' का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरी अक्षयनिधि जिस पर सालाना 100 'गद्याण' अर्थात 10 प्र० श० मिलता था। सभी अक्षयनिधियां प्रभु मारसिंह ने स्थापित की थीं। 'अक्षोणीस्थिति' शब्द उत्तर भारत के अभिलेखों में प्रयुक्त 'अक्षय नीवी' शब्द की याद दिलाता है। इसी के लिए 'भूमिछिद्रविधानेन' पद का भी प्रयोग होता था। 'भूमि-छिद्र' पद का अर्थ ऊसर भूमि किया गया है जिसे जोतने पर कर नहीं लगता था। 'अक्षोणी' शब्द का अर्थ जो 'भूमि नहीं' है।[109] यह शब्द 'भूमि-छिद्र' के निकट है। यहां भाव यह है कि इस प्रकार के धन से जो आय होगी उस पर किसी प्रकार की कोई उगाही नहीं लगेगी। 'अक्षयनीवी' अर्थात वह निधि जिसका क्षय न हो, शब्द का भी वही अर्थ है। बागली के एक अभिलेख में जिस पर कोई तिथि नहीं है[110] 'पुराणवृत्ति' और 'ऐंद्र' के लिए 50 गद्याण की एक अक्षय-निधि मिली थी जो 2 'पण' प्रति 'पोन्' पर लगाई गई थी। इस ब्याज में से 6 'होन' पुराणों के पाठक को और 4 ऐंद्र को दिए जाने की व्यवस्था की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गद्याण' और 'होन' एक ही अर्थ के द्योतक थे और 'होन-गद्याण'[110] 'पण' के बराबर था।[111] इस प्रकार इस निधि पर 20 प्र० श० की दर से ब्याज मिलता था। 1116 ई० के रंगपुरम् (गुंटूर) के एक अभिलेख[112] और 1153 ई० के बागली के अभिलेख[113] में भी ब्याज की यही दर दी गई है। बागली वाले लेख में खर्च के मदों की एक लंबी सूची भी दी है। ब्याज से 13 व्यक्तियों को प्रति दिन भोजन कराने को कहा गया है। इस भोजन में कौन कौन सी चीजें होंगी उनकी एक फेहरिश्त भी है। इन अभिलेखों में ब्याज के लिए 'वृद्धि' के अलावा 'वडि' ('वड्डि') शब्द भी आया है।[114] बेशक आम जनता में यही शब्द अधिक प्रचलित रहा होगा।

हम जानते हैं कि दक्षिण भारत अभिलेखों के मामले तो काफी समृद्ध है, पर सिक्कों का प्रमाण वहां कम ही उपलब्ध है। अतः चालुक्यों की मुद्राप्रणाली के बारे में हमारा ज्ञान अल्प और अस्पष्ट है। हम देख चुके हैं कि 'पोन' या 'गद्याण' सोने का सिक्का था। 'पण' का छोटा सिक्का उसकेदसवें भाग के बराबर था यह चांदी का सिक्का रहा होगा। उससे भी छोटे सिक्के पग या हग (= । पण का चौथाई), विस (=एक पग का पांचवा भाग, और 'कणि' (=एक 'विस' का चोथाई) थे।[115] ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के राजाओं, जयसिंह, जगदेक-मल्ल और त्रैकोक्यमल्ल के सिक्कों का हमें पता है। ये चषक की आकृति के हैं ओर सोने और चांदी दोनों धातुओं के हैं। इन पर प्राचीन कन्नड़ लिपि में लेख हैं।[116] अभिलेखों में 'आनेय पोन'[117] का उल्लेख आया है। इनसे तमिल अभिलेखों में उल्लिखित 'आनै' 'अच्चु' का ध्यान हो जाता है। 1098 ई० के एक अभिलेख[118] में लोक्कि 'गद्याणों' के मयूर 'गद्याणों' में परिवर्तन का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि स्थान स्थान के हिसाब से सिक्कों की तोल और कारीगरी अलग-अलग किस्म की होती थी। सिक्कों के विनिमय का काम काफी लाभप्रद था। यत्रतत्र प्रांतीय नगरों की टकसालों का जिक्र आया है, उदाहरणार्थ 1133 ई० के एक अभिलेख में मल्लिदेव के तंबलबीडु की 'उच्चिनटंकशाला' का उल्लेख है।[119]

मापप्रणाली

भूमि की माप 'मत्तर' और 'कम्मों' में होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 900 'कम्म' एक 'मत्तर के बराबर होता था।[120] एक अभिलेख में 76 लट्टों ('कोल')[121] के एक 'मत्तर' का उल्लेख आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस इकाई की परिभाषा स्थान स्थान पर अलग अलग होती थी। किंतु 'कोल' की माप भी निश्चित न थी और कई तरह के लट्ठों का अभि-लेखों में उल्लेख है जैसे 'पिरिय कोल',[122] 'कुड़ितकुंतेय[123] कोल', 'भेरुंड गले' आदि। इसमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'भेरुंड गले' से 'गंडभेरुंड'[124] की प्राचीनता प्रकट होती है। इन बेतरतीब इकाइयों के मानक रूप स्थिर करने की कोशिश कम ही हुई थी।, हां 'राजमान' का उल्लेख अवश्य आया है। जिससे यह प्रकट होता है कि संभवत: मानकीकरण की कोशिश की गई थी। यदि ऐसा प्रयत्न हुआ भी हो तो जाहिर है कि इस प्रयोग में सफलता नहीं मिली। इस प्रकार किसी भी सौदे को तै करने में लोगों को काफी माथापच्ची करनी पड़ती रही होगी और इस काम में स्थानीय लोगों की सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती होगी। आज की परिभाषा में 'मत्तर' का क्षेत्र-फल बताना कठिन है। कभी कभी 'निवर्तन' और 'खंडुग'[125] का भी माप के रूप में इस्ते-माल होता था। 'खंडुग' बोवाई की क्षमता का द्योतक था जो आधुनिक मैसूर में कम से कम 333⅓ मद्र के बराबर था। इसी प्रकार अभिलेखों से तोल और द्रव-पदार्थों की माप के बारे में भी जो कुछ उल्लेख हैं उनसे आज की शब्दावली में उनकी माप या तोल बतलाना कठिन है।

धर्म

उस काल की धार्मिक अवस्था पर विचार करते समय पहली बात जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह यह है कि उस समय धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था। सभी धर्मों के अनु-यायी दूसरों के प्रति आदर नहीं तो सहनशीलता अवश्य प्रकट करते थे। इन सभी को राजाओं और सरदारों का निष्पक्ष आश्रय प्राप्त था। ब्राह्मण हिंदू धर्म में शैव और वैष्णव दो मुख्य संप्रदाय थे। अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से शैव-संप्रदाय अधिक महत्वपूर्ण था। शाक्त संप्र-दाय की देवी कोल्लापुर महालक्ष्मी थी, और कार्त्तिकेय की पूजा का स्थान इसके बाद आता है। बेल्लारी जिले में कुडितनि कार्त्तिकेय की पूजा का मुख्य गढ़ था। दूसरे धर्मों में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का अधिक प्रचार था। इसके अनुयायियों की संख्या भी अधिक थी। लिंगायत संप्रदाय के रूप में कलचुर्यों के शासन काल में शैवों का जबर्दस्त पुनरुत्थान हुआ। इस संप्रदाय के प्रवर्तक बसव थे। किंतु इस संप्रदाय का इतिहास परस्पर विरोधी प्रमाणों से भरा है। इनकी अनुश्रुतियां एक दूसरे का खंडन करती हैं। शैव धर्म के विकास के एक चरण के रूप में कर्नाटक पर लिंगायत संप्रदाय के प्रभाव की अपेक्षा कन्नड़ गद्य साहित्य को इसकी देन का अधिक महत्व है। इस दृष्टि से वीर शैवों के साहित्य पर हम बाद में विचार करेंगे। वीर-शैव लिंगायत संप्रदाय का ही दूसरा नाम है।

यद्यपि विभिन्न संप्रदायों में बराबर शास्त्रार्थ हुआ करता था तथापि धार्मिक क्षेत्र में कितनी शांति थी इसके प्रमाण में अभिलेखों में आए मंगलाचरणों का उल्लेख उचित होगा। 1119 ई० के कुडितनि अभिलेख[126] का प्रारंभ शंभु, वराह, सुब्रह्मण्य और विघ्नेश की प्रार्थना से होता है। इसमें एक बगीचे के साथ शिव के एक मंदिर और सरस्वती और विनायक के आयतन और एक सभामंडप के निर्माण का उल्लेख है। 1148 ई० के पेद्दतुंबलम् अभिलेख[127] में शंभु से पहले गणपति की प्रार्थना है। 1153 ई० के बागली के एक अभिलेख[128] के मंगलाचरण में ब्रह्मा, शिव, गणपति और वराह-विष्णु की प्रार्थना है। इसके अलावा (1095-96 ई०) के डंबल के अभिलेख[129] में तारादेवी की प्रार्थना है। यह लेख स्पष्ट ही, पर दबे स्वरों में, सांपदायिक ही है। इसी प्रकार 1160 ई० के बागली के सूर्य-नारायण के मंदिर से सबंद्ध एक लेख में[130] लक्ष्मीनारायण की प्रार्थना है। कुरुगोडु के 1173-4 ई० के एक अभिलेख में[131] लगातार आठ छंदों में शिव की प्रार्थना है। बादामी के पास बेलूर 1022 ई० के एक लेख में[132] बतलाया गया है कि जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहन अक्कादेवी ने जिन, बुद्ध, अनंत (विष्णु) और रुद्र (शिव) के 'आगमों' में उल्लिखित सभी धर्म (पुण्य के काम)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूरे किए थे। अन्य अभिलेखों से भी उसके इस दावे की पुष्टि होती है। उसने अरसिबीडी और सूड़ि में बहुत से दान दिए थे। उसने अरसिबीडी में गुडदवेडंगि में जिनालय और उसके भिक्षुओं को और सूड़ि में शिव के एक मंदिर को दान दिया था।[133] होसूर के 1028 ई० के एक अभिलेख में[134] जैन और वैष्णव प्रार्थनाएं हैं। इसमें एक 'गावुंड' द्वारा अपनी पत्नी की स्मृति में 'परोक्ष विनय' (किसी की स्मृति में 'बसदि') के निर्माण का उल्लेख है। दक्षिण भारत के ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की यादगारों का अन्य की अपेक्षा शैवों में अधिक प्रचार था। 1037 ई०[135] के आसपास किसी पेर्गडे धोयिप्पय ने लोक्किगुंडि में त्रिपुरुषदेव और बाराहनारायण के मंदिर बनवाए थे और 'गरुड़स्तंभ' स्थापित कराया था। उसकी पत्नी गुणब्बे के बारे में कहा गया है कि वह 'जिनदान धर्मामृते' अर्थात जैन-संस्थाओं को दान देने में आनंद का अनुभव करने वाली महिला थी। 1048 ई० के एक दूसरे अभिलेख में[136] नाग-वर्म के नाम सोमेश्वर प्रथम का एक सामान्य आदेश बनवासिनाड में जिन, विष्णु, ईश्वर, और 'मुनिगण' के मंदिर बनवाने के बारे में मिलता है। वल्लिगावे के प्रसिद्ध नगर में जिन, रुद्र, बुद्ध और हरि के मंदिर और 'पंचमठ स्थान' थे। यह बात लक्ष्मण नृप ने शांतिनाथ को खुले दरबार में बतलाई गई थी।[137]

धर्म का यह संकलनात्मक रूप कोई नया न था अपितु यह पुरानी परंपरा के अनुरूप ही था क्योंकि इस प्रवृत्ति के बारे में इससे भी पहले के प्रमाण वर्तमान हैं। 980 ई० के कुरहट्टि (धारवाड़) के अभिलेख[138] में एक ऐसे राज-परिवार का उल्लेख है जो अपनी उत्पत्ति रेवंत से मानते थे। इस परिवार में अभिलेख की तिथि से कई पीढ़ी पहले पिरिय कोटि-गावुंड नामक एक व्यक्ति हुआ था जिसने शिव का एक मंदिर और एक जिनालय बनवाया था। उसी अभिलेख में बतलाया गया है कि लेख लिखाने वाले का भाई एरेयम दीक्षित 'लाकुल सिद्धांत' का पंडित था यद्यपि वह स्वयं शाक्त था और उसने बहुत से यज्ञ भी किए थे। 981 ई० में[139] वीर नोलंब पल्लव पेर्मानडिदेव की पत्नी रेवलदेवी ने कंचगार वेलगलि में कालप्रियदेव और विष्णु के मंदिरों को साथ साथ दान दिया था।

यह सहनशीलता उन राजाओं के कारण न थी जिनके राज्य में नाना धर्मों के अनुयायी बसते थे, यद्यपि राजाओं की इस प्रकार की नीतियों का जनता पर प्रभाव अवश्य पड़ता था, बल्कि यह उस सच्चे विकास का फल था कि मुक्ति के अनेक मार्ग हैं। हिंदू धर्म एक ऐसा महल है जिसमें कितनी ही हवेलियां हैं। इसमें अनीश्वरवादियों, बौद्धों और जैनों सभी को साथ साथ रहने की पूरी गुंजाइश है, यद्यपि इन धर्मों ने समान रूप से वेदों का और दूसरे रूपों में भी हिंदू धर्म का विरोध किया है। हम देख चुके हैं कि दानों के माध्यम से राजा धर्म के प्रति अपनी रुचि का ही प्रदर्शन नहीं करते थे, बल्कि इनके माध्यम से वे जन कल्याण के कार्य भी करते थे। 1092 ई०[140] में विक्रमादित्य षष्ठम ने अनेक 'महादान' किए थे, जिनमें एक दान 'विश्वचक्र' का भी था। यह सोने का एक चक्र होता था जो संपूर्ण विश्व का प्रतीक था। 'महादानों' का यह उल्लेख इस दृष्टि से महत्व का है कि इस प्रकार की प्रथा दकन में हेमाद्रि के 'दानखंड' की रचना से पूर्व भी प्रचलित थी। 'दानखंड' में दानों का सिलसिले-वार वर्णन है।

शैवमत

हमारे मन पर जो छाप पड़ती है उससे यही अनुमान होता है कि देश और राजपरिवार में शैवमत ही प्रमुख था। राज परिवार के लोग प्रायः श्रीशैल के मंदिर में जाते थे।[141] रानी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और राजा भी यहां दर्शन के लिए आते थे। बागवाड़ी के एक अभिलेख में जिस पर कोई तिथि नहीं है, सोमेश्वर प्रथम की पत्नी मैललदेवी द्वारा 'लक्षहोम'[142] के अवसर पर 'पाशुपत' ज्ञानराशि को दान देने का उल्लेख है। वस्तुतः अभिलेखों में 'पाशुपत आगम' और इसके संन्यासियों के अनेक दलों का प्रमुख रूप में उल्लेख हुआ है। उन सभी का अध्ययन करने की आवश्यकता है। तथापि यहां स्थानाभाव के कारण यह संभव नहीं है। लकुलीश 'आगम' की कई लेखों में प्रशंसा मिलती है। इनमें इनके अनेक आचार्यों और उनकी शिष्यपरंपरा का ब्यौरेवार वर्णन है।[143] 'पाशुपतों' को 'कालामुख' भी कहते थे। बल्लिगांवे में उनका प्रमुख केंद्र था। बतलाया गया है कि यह केंद्र बौद्धों, मीमांसक, लोकायत, सांख्य, अद्वैत और अन्य प्रतिद्वंद्वी आगमों के खंडन का अगुवा था। 1035 ई० के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि इस 'स्थान' के 'अध्यापक' निरंतर शास्त्रार्थ में लगे रहते थे।[144] इस अभिलेख में अंत में एक छंद आया है[145] जिसमें महादेव और वेदों की श्रेष्ठता के विरोधियों को चुनौती दी गई है। इससे एक पीढ़ी पहले अब्बलूर[146] अभिलेख में (1101 ई०) सोमेश्वर नामक एक नैयायिक 'कालामुख' का उल्लेख है जिसने बौद्ध आदि मतों के आचार्यों से शास्त्रार्थ किया था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं सिलाहार रट्टराज (1008 ई०) के खरेपटन दान-पत्र में मत्तमयूर संप्रदाय की कर्करोणि शाखा का उल्लेख है। ये भी 'पाशुपत' ही थे। इन सभी अभिलेखों में पुरोहित के ब्रह्मचर्य पर बड़ा जोर दिया गया है। इनके स्थान को 'नैष्ठिक स्थान' कहते थे। इनमें रहने वाले जिस संन्यासी के ब्रह्मचर्य पर जरा भी संदेह होता उसे तुरंत निकाल बाहर करने का अधिकार सभी स्थानीय या केंद्रीय धार्मिक या लौकिक अधिकारियों को था और ऐसा कोई भी अधिकारी, यदि उसका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया जाता, संबंधित संन्यासी को नैष्ठिक स्थान से निकाल बाहर करता था।[147]

'शाक्त', 'पशुपतों' निकट थे। इस संप्रदाय का कोल्लापुर महालक्ष्मी और अन्य देवियों की पूजा से घनिष्ट संबंध था। 1049 ई० के एक लेख[148] में 'महालक्ष्मी' की विशद प्रशस्ति है जिसमें उसके 70 'तीर्थ' बतलाए गए हैं, श्री शैल को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कहा है कि सिंह पर आरूढ़ इस देवी की ब्रह्मा भी आराधना करते थे। प्रभु मारसिंह का एक पूर्वज प्रभु-राज वर्मन इसी देवी का आराधक था। 'पाशुपताचार्य' इस देवी के पुजारी थे। लोक में अन्य देवियों की उपासना का क्या स्थान था, इस संबंध में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। 1076 ई० के एक लेख[149] में निडुगंडि गांव की 'ग्रामाधिदैवम्' भगवती को एक शाश्वत दीप चढ़ाया गया था। 1147 ई० में[150] मल्लवल्लि में वहां के कतिपय गावुंडों ने भगवती और सप्तमातृकाओं की प्रतिष्ठा कराई थी। 1099 ई० के कुडितनि के एक अभिलेख में भी भगवती का उल्लेख है।[151]

प्रभु मारसिंह के लेख का इस दृष्टि से ही महत्व नहीं है कि उसमें महालक्ष्मी की पूजा का उल्लेख है, बल्कि इसका महत्व उस देव समूह के लिए भी है जिसकी पूजा मारसिंह ने की थी। इस सूची में विष्णु, विनायक, चंडी, हनुमान, हाटकेश्वर, मल्लिकार्जुन, नंदि, महाकाल, भैरव, दुर्गा, आदित्य और चंद्र के नाम हैं।[152] 987 ई० में दुग्गिमय्य द्वारा वागली में[153] आदित्य के एक मंदिर की प्रतिष्ठा का उल्लेख है।

यद्यपि कई जगहों में कार्त्तिकेय या सुब्रह्मण्य के मंदिरों का उल्लेख अभिलेखों में आया है तथापि इस काल में बेल्लारी में कुडितनि का कार्त्तिकेय का मंदिर सबसे प्रसिद्ध था। 1099 ई० के एक लेख[154] में इसी स्थान का नाम 'स्वामिदेवरपट्टण' दिया गया है। स्वामिदेव कार्त्तिकेय का ही दूसरा नाम है। चालुक्य और वंश काफी प्राचीन समय से कार्त्तिकेय की कृपा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का दावा करता था। एक प्रसिद्ध कार्त्तिकेय-तपोवन भी था जिसके 'नैष्ठिक आचार्य' होते थे। इस मंदिर में इस संप्रदाय के लोगों ने प्रभूत दान दिए थे। इन 'आचार्यों' के सिलसिले में कोट्टिदोणे के 'पंचवर्गों' का भी उल्लेख अक्सर आया है। किंतु इस शब्द का अर्थ स्पष्ट न ीं है।[155] कुडितनि के 'तपोवन' का 976 ई० के एक अभिलेख में भी उल्लेख आया है। इससे पहले राष्ट्रकूट अभिलेखों से पता चलता है कि वरेंद्री (पू० बंगाल) से गदाधर नामक एक विद्वान आया था और वह कुडितनि से करीब 20 मील दूर कोलेगल के कार्त्तिकेय तपोवन का प्रधान बना था। उसके बारे में बतलाया गया है कि राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय और खोट्टिग के शासन काल में वह 'तपोवन' की विस्तृत भूमि का प्रधान था। उसने सूर्य, विष्णु, महेश्वर, पार्वती, विनायक और कार्त्तिकेय की मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी और कोलेगल में एक मठ भी स्थापित किया था।[156] ये दोनों तपोवन एक दूसरे से काफी नजदीक थे। इनमें परस्पर क्या संबंध थे, इसका पता हमें नहीं है। अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों तपोवन एक ही 'तपोवन' थे, बाद में उसका स्थान बदल गया होगा। किंतु इस संबंध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हां, यह प्रमाणित है कि गदाधर ने कुडितनि में कार्त्तिकेय की एक मूर्ति भी स्थापित की थी।[157] इस प्रकार ये दोनों 'तपोवन' एक ही समय में थे और इनका मूल एक ही हो सकता है।

वैष्णव मत

अब तक हम वैष्णव मत के संबंध में प्रकारांतर से या सीधे ही जो कुछ कह चुके हैं उससे अधिक कहना शेष नहीं है। त्रैपुरुष और द्वादश नारायण के गडग के मंदिर (1037 ई०) का उल्लेख आ चुका है।[158] 1049 ई० में ब्राह्मण जक्किमय्य ने पोंबुल्च (धारवाड़ के गडग तालुक में होंबल) के विष्णु मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था। इस मंदिर का निर्माण उसके पूर्वजों ने ही कराया था। जीर्णोद्धार के समय जक्किमय्य ने मंदिर के साथ एक 'सत्र' की भी स्थापना की।[159] 1090 ई० में सेनापति रविदेव की पत्नी रेब्बलदेवी ने हूविन हडगल्लि में केशव का मंदिर बनवाया था। यह इस संप्रदाय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी।[160]

बेल्लारी में मैलर से एक बड़े महत्व का अभिलेख मिला है। इसमें वहां के 200 वैष्णव 'महाजनों' को एक 'शिवालय' का प्रबंध सौंपा गया है[161] (1040 ई०)। जैसा कि हम देख चुके हैं नागवावि का मधुसूदन का मंदिर एक बहुत बड़ा वैष्णव केंद्र था। एक अभिलेख से विदित होता है कि मंदिर के दो 'देहारियों' ('पुजारियों') के लिए 48 'मत्तर' भूमि दान में मिली थी। शर्त यह थी कि ये पुजारी ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, सिर्फ रात में भोजन ('नक्त भोजन') और भूमि-शयन ('अधः शयन') करेंगे।[162]

जैन मत और बौद्ध मत

कतिपय महत्व की जैन और बौद्ध संस्थाओं का उल्लेख कर हम धार्मिक अवस्था की रूपरेखा समाप्त करेंगे। जैन अभिलेखों में कुछ तो बहुत बड़े हैं। इनमें विभिन्न 'अन्वयों' और 'गच्छों' के आचार्यों के बारे में मनोरंजक विवरण आए हैं। जैन सिद्धांत और साहित्य के अन्वेषकों के लिए ये विवरण बड़े काम के हैं।[163] जैन मत के इतिहास में धल्ल की पुत्रवधू और नागदेव की पत्नी अत्तिमब्बे का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह दान-चिंतामणि के रूप में प्रसिद्ध थी। अपने पुण्य से वह चमत्कार दिखा सकती थी। उसने अनेक 'बसदियों' का निर्माण कराया था। लोक्किगुंडि में उसने एक बहुत बड़ी बसदि का निर्माण कराया था जिसके लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वयं सम्राट ने सोने का 'कलश' प्रदान किया था।[164] इन सभी कार्यों का लेखों में बड़े विस्तार से वर्णन आया है। अभिलेखों में जैन संप्रदाय के श्रेष्ठ जनों का 'सागारसुमार्ग-निरतार', अर्थात सुमार्ग पर चलने में आनंद प्राप्त करने वाले गृहस्थों के रूप में उल्लेख आया है। चोल सेना ने कुछ समय तक चालुक्य राज्य में काफी उपद्रव मचाया था। उनका क्रोध विशेषकर जैन-मंदिरों पर प्रकट हुआ था। जैसा कि 1071 ई० में गवरवाड अभिलेख से[165] प्रकट है युद्ध में उनकी अपार क्षति हुई थी और उनकी मरम्मत आवश्यक हो गई थी। बेलगावे और डंबल संभवतः बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केंद्र थे। बेलगावे में दंडनायक रूपभट्टय और अन्य पदाधिकारियों ने 1065 ई० में जयंति बुद्ध बिहार का निर्माण कराया था और तारा भगवती, केशव लोकेश्वर, बुद्ध और अन्य देवताओं की पूजा से लिए दान दिए थे। इससे यही सिद्ध होता है कि महायान संप्रदाय के इस रूप से दकन सुपरिचित था जो विगत शताब्दियों में अन्य धर्मों से प्रभाव ग्रहण कर धारण किया था। ध्यान देने की बात यह है कि इन प्रतिष्ठानों और दानों पर सम्राट की मंजूरी थी ('परमेश्वर दत्ति')। इसी लेख में एक 'पंचमठ' का भी उल्लेख है।[166] इसके दो साल बाद 1067 ई० में इन्हीं संस्थाओं को नाड-पेर्गडे सहवासि हंपचट्ट की पत्नी ने दान दिया था।[167] 1095-6 ई० के एक लेख से पता चलता है कि डंबल में एक बौद्ध बिहार था जिसका सोलह 'सेट्टियों' ने निर्माण कराया था। वे उसकी प्रबंध समिति के सदस्य थे। 'सेट्टि' संगवय्य ने आर्य तारादेवी का एक विशाल विहार बनवाया था। यह सेट्टि संगवय्य लोक्किगुंडि का 'बड्ड-व्यवहारी था।[168]

कन्नड़-साहित्य

कल्याणी के चालुक्यों के शासनकाल में राष्ट्रकूटों के शासन काल की भांति कन्नड़ साहित्य की बड़ी उन्नति हुई थी। कन्नड़ साहित्य ने अपनी वह गुणवत्ता सुरक्षित ही नहीं रखी, बल्कि उसमें और भी प्रौढ़ता आई। इसके साथ ही संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं की भी उन्नति हुई क्योंकि यह मान लिया गया था कि संस्कृत साहित्य से संपर्क टूट जाने पर कन्नड़ साहित्यिक संस्कृति की भाषा न रह पाएगी, फिर वह मात्र ग्राम्य भाषा हो जाएगी। व्याकरण, छंद, साहित्यिक आदर्श और यहां तक कि विषयों के चयन के लिए भी अन्य देशी भाषाओं की भांति कन्नड़ संस्कृत की ऋणी है, और इससे उसका हित ही हुआ है। उस काल के प्रसिद्ध साहित्कार इस बात में गर्व का अनुभव करते थे कि वे दोनों भाषाओं में समान अधिकार से रचनाएं कर सकते थे। इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए कई बड़े बड़े द्विभाषी लेख प्राप्त हैं। इनमें संस्कृत और कन्नड़ गद्य और पद्य का मणिकांचन संयोग हुआ है। कहीं भी भावों का प्रवाह टूटता नहीं। कई लेखकों के बारे में तो अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस संबंध में जिज्ञासु पाठकों के गहन अध्ययनार्थ आर०नरसिंहाचार की 'कर्णाटक कविचरिते' में प्रचुर सामग्री है।

कवियों का कवि और सखा मल्ल विरचित बेलतूरु अभिलेख (1057 ई०) बड़े महत्व का है।[169] यह अभिलेख देकब्बे की मृत्यु पर लिखा गया था। उसके पति एच को मृत्यु दंड दिया गया था। जब तलकाड में उसका बध किया गया तो उसकी पत्नी देकब्बे अग्नि कुंड में प्रवेश कर गई। उसके माता पिता और संबंधियों ने उसे अपने निश्चय से विरत करने की बहुतेरी कोशिश की किंतु वह अडिग रही। इस लेख के सभी छंद उच्चकोटि के हैं, भाषा प्रसाद गुण से पूर्ण है। करुण रस की प्रधानता है। इसमें 'अक्करम्' और 'ललितवृत्तम्' छंदों के प्रयोग के कारण छंद की दृष्टि से भी रचना महत्वपूर्ण है। वैसे यह एक चोल अभि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेख है जिस पर राजेंद्र द्वितीय के शासन की तिथि दी गई है। उसी ने एच को प्राणदंड दिया था। किंजु गंगवाडि में बार बार राज परिवर्तन होता था। सच तो यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी के कन्नड़ साहित्य का सिंहावलोकन करने में इस अभिलेख को छोड़ा नहीं जा सकता।

शिकारपुर के 1068 ई० के एक अभिलेख[170] में एक जैन कवि शांतिनाथ का उल्लेख है जो शास्त्रार्थों में भी पटु थे। यह लेख भुवनैकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय के शासन के प्रारंभ का है। शांतिनाथ सोमेश्वर के कुशल सेनापति लक्ष्मणभूप के अधीन बनवासी में 'अर्थाधिकारी' था। वह वर्धमान व्रति का शिष्य, एक योग्य न्यायाधीश, और कट्टर जैन था। जिसने अपसिद्धांतों के जंजाल का भेदन कर जैन मत को शुद्ध किया था। वह जन्मजात कवि था। उसने 'सुकुमार-चरित' नामक एक चंपू की रचना की थी। इस पुस्तक की एक खंडित प्रति ही मिली है। इस में एक राजकुमार के गृह त्याग की संभवतः 12 आश्वासों में कथा दी गई थी। 'चन्द्रचूड़ामणि शतक' नामक मत्तेभ छंद में सरल शैली में लिखी एक पुस्तक में वैराग्य के गुण बतलाए गये हैं। इस पुस्तक का रचयिता नागवर्माचार्य था जो अपने को उदयादित्य का संधिविग्रही बतलाता है। उसने इसी ग्रंथ में यह भी बतलाया है कि उसका बड़ा भाई भास्कर उदयादित्य का 'रायभारि' था। यह नागवर्माचार्य और उसका आश्रयदाता उदयादित्य वही हैं जिनके 1070 ई० के एक लेख में उल्लेख आए हैं। इस लेख के अनुसार नागवर्माचार्य की उपाधि 'अद्वैत-गुणगल्ल' थी और गंग उदयादित्य सोमेश्वर द्वितीय का सामंत था जो बनवासी, संतगिले और मंडलि का शासक था। इन दोनों का शिकारपुर के अन्य अभिलेख में भी उल्लेख आया है।[171]

अब हम कन्नड़ साहित्य की ओर पुनः चर्चा करेंगे। इस काल में प्रथम लेखक रन्न हुआ। रन्न, पंप और पोन्न को कन्नड़ का 'रत्नत्रय' कहते हैं जिन्होंने कन्नड़ साहित्य का उन्नयन किया था। रन्न के कथनानुसार ही पंप और पोन्न राष्ट्रकूट काल में हुए थे जब कि वह चालुक्य काल में हुआ था।[172] 'कविराजमार्ग' के लेखक राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम (815-77 ई०) के अनुसार कावेरी से गोदावरी तक फैला भूभाग कन्नड़ है। उसमें किसुवोलल, कोपन, पुलिगेरे तथा ओंकुंद की भाषा शुद्ध कन्नड़ है। पंप और रन्न भी पुलिगेरे (बेलवोल) की भाषा को श्रेष्ठ मानते हैं।[173] और वे इस बात में गर्व का अनुभव करते हैं कि उनकी रचना वहीं की भाषा में है। रन्न का जन्म मदुवोलल (जामखंडी 70) में चुड़िहारों के एक परिवार में 949 ई० में हुआ था। किंतु उन्नति करते करते उसने तैलप के दरबार में 'कवि-चक्रवर्ति' का पद पाया और उसे स्वर्ण के दंड, चमर, हाथी, छत्र आदि का सम्मान प्राप्त हुआ। उसने 993 ई० में 'अजितपुराण' की रचना की थी। यह एक चंपू है। इसमें 12 'आश्वास' हैं। इसमें दूसरे 'तीर्थंकर' का चरित वर्णित है। कवि ने अपने ग्रंथ को 'काव्य-रत्न' और 'पुराण-तिलक' की संज्ञा दी है। ग्रंथ की पुष्पिका के अनुसार 'दान-चिंतामणि' के कहने से कवि ने इस ग्रंथ की रचना की थी। यह उपाधि दंडनायक नागवर्मन की पत्नी अत्तिमब्बे की थी। पति की मृत्यु के बाद काफी समय तक यह महिला जीवित रही और उसने अपना शेष जीवन जैन धर्म की सेवा में बिताया था।[174] रन्न की एक दूसरी रचना 'साहसभीमविजय' अथवा 'गदायुद्ध' है। यह भी चंपू ही है। इसमें दस 'आश्वास' हैं। इसमें 'महाभारत' की ही कथा का अनुधावन है। विशेष वर्णन भीम और दुर्योधन के अंतिम गदायुद्ध का है। रन्न ने अपने आश्रयदाता इरिवबेडंग सत्याश्रय को साहस भीम की उपाधि दी है। इस प्रकार इस ग्रंथ में महाभारत की कथा के बहाने सत्याश्रय के ही युद्धों और उसकी सफलताओं का वर्णन किया गया है। ग्रंथ में स्वाभाविक ही वीररस की प्रधानता है। कवि की शैली इसी रस के अनुकूल है। इस ग्रंथ की रचना तिथि 982 ई० मानी जाती है। इस प्रकार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह अजित-पुराण से पहले की रचना है।[175] 'रन्नकंद' नामक एक 'निघंटु' को भी इसी कवि की कृतिमाना जाता है। इसके सभी छंदों के अंत में 'कवि-रन्न' की छापहै। 'अजितपुराण'। में रन्न की दो अन्य रचनाओं के भी नाम दिए हैं। वे हैं : 'परशुराम चरिते' और 'चक्रेश्वरचरिते'। किंतु ये ग्रंथ अप्राप्य हैं। कहा जाता है कि 'चक्रेश्वरचरिते' में कवि ने अपने आश्रदायता गंग सेनापति चावुंडराय का चरित लिखा था। चावुंडराय जन्मना ब्रह्म-क्षत्रिय था और गंग राचमल्ल का सामंत था। श्रवणवेलगोल में गोमटेश्वर की महामूर्ति बनवाने के उपलक्ष्य में चावुंडराय को राचमल्ल से राय की उपाधि मिली थी। उसने 978 ई० में 'चावुंडराय पुराणम्' की रचना की थी। यह कन्नड़ में गद्य का सबसे पुराना ग्रंथ है। इसमें जैनों के 24 'तीर्थकरों', 12 'चक्रवर्तियों, 9 'बलभद्रों', '9 नारायणों', और '9 प्रतिनारायणों', कुल मिलाकर63 के आख्यान हैं। उसने इस ग्रंथ को 'त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण' भी कहा है।

चावुंडराय के आश्रय में नागवर्म प्रथम भी था। वह भी अजित सेन का शिष्य था। वह कोंडिन्य ब्राह्मण था। पंप की भांति वह भी अपने वंश का आदि स्थान वेंगिपलु बतलाता है। नागवर्म ने 'छंदोम्बुधि' की रचना की थी। कन्नड़ में छंदशास्त्र का यह सबसे पुराना ग्रंथ माना जाता है। ग्रंथ के अनुसार इस विषय का सबसे पहले ईश्वर ने उमा को व्याख्यान किया था। पिंगल इसे इस पृथ्वी पर लाए। अब नागवर्म इसे अपनी पत्नी को बतला रहा है। इसी लेखक ने 'कर्णाटक-कादंबरी' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की थी। इसका आधार बाण की 'कादं-बरी' है। किंतु इसकी रचना चंपू में है। ग्रंथ प्रसाद-गुण से पूर्ण है और इसकी शैली सरस है। इस प्रकार यह कन्नड़ कवियों में उच्च स्थान का अधिकारी है। नागवर्म नामक एक दूसरा व्यक्ति इसके 150 साल बाद हुआ था। प्रायः इन दोनों में घालमेल कर दिया जाता है। पर यह अनु-चित है। दोनों अलग-अलग व्यक्ति थे।

इसके बाद दुर्गसिंह का नाम आता है। दुर्गसिंह जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल का 'महा-संधि-विग्रहि' था। इनके ग्रंथ का नाम 'पंचतंत्र' है। यह एक चंपू है। पांचों प्रकरणों के शीर्षक क्रमशः 'भेद', 'परीक्षा', 'विश्वास', 'वचन' और 'मित्रकार्य' हैं।' दुर्गसिंह ने ग्रंथ की उत्पत्ति की एक दंतकथा दी है जिसमें इसका संबंध गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से जोड़ा गया है। यह एक प्रौढ़ रचना है। यह पंडित-लभ्य और 'अनुप्रासों' से भरी है। दुर्गसिंह ने अपने पहले के और समका-लीन अनेक कवियों का नामोल्लेख किया है। किसी 'मादिरा-जमुनि ने 'पंचतंत्र' को पढ़कर उसमें संशोधन किए थे। इस ग्रंथ में 'मलवीमाधव' के रचयिता कर्णपार्य (कन्नभटय), एक नीति (राजनीति) ग्रंथ के रचियता कविता-विलास, कामशास्त्र की एक पुस्तक 'मदनतिलक' के रच-यिता चंद्रराज के उल्लेख हैं। चंद्रराज अनेक शास्त्रों का पंडित और वाजिगोत्र का ब्राह्मण था। वह बड़ी नम्रता से बतलाता है कि वह सभी 'व्याकरणों', अर्थशास्त्र', 'गणित', 'अलंकार', 'काव्य', 'नाटक', वात्स्यायन', 'नृत्त', 'गीत', 'हयशास्त्र', 'अद्वैत', 'गांधर्व', 'तर्क', 'कवींद्रागम', 'वैद्य और 'शकुन' का जानकार है। जयसिंह द्वितीय का एक 'सामंत' माच उसका आश्रयदाता था। 'मदन-तिलक' माच और उसकी पत्नी के संवाद के रूप में लिखा गया है। यह एक चंपू है जिसमें 18 'अधिकरण' और 500 छंद हैं। इसकी शैली कृत्रिम है किंतु दुरुह नहीं है। ग्रंथ मनो-रंजक है। लेखक ने दावा किया है कि उसने अपने समय की नवीनतम भाषा (पोस-कन्नड़) का प्रयोग किया है। अपनी कृति में उसने उस विषय में प्रचलित मतभेदों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

श्रीधराचार्य एक जैन ब्राह्मण कवि थे जिन्होंने आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम के शासन के प्रारंभ में अपने ग्रंथों की रचना की। इन्होंने कन्नड़ में 'ज्योतिष' के प्रथम ग्रंथ की रचना का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दावा किया है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'जातक तिलक' का रचना काल 1049 ई० लिखा है। इसमें फलित ज्योतिष और गणित ज्योतिष दोनों का विवेचन है। यह 'शास्त्र-कविता' में कवि के सामर्थ्य का सूचक है। श्रीधर ने अपनी 'काव्य-कविता' का परिचय 'चंद्रप्रभचरिते' में दिया था किंतु यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। जातक-तिलक में 24 'अधिकरण' हैं। सभी कंद छंद में है। कवि को 'गद्य-पद्य-विद्याधर' की उपाधि प्राप्त थी जो गद्य और पद्य दोनों विधाओं पर उसके समान अधिकार की द्योतक हैं।

नागचंद्र

अगला महान लेखक नागचंद्र था। उसे अभिनव पंप भी कहते हैं। उसके जन्म और परिवार आदि के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किंतु वह साधन संपन्न व्यवित रहा होगा क्योंकि उसने विजयपुर (विजापुर) में मल्लिनाथजिनालय का निर्माण कराया था। उसने उन्नीसवें 'तीर्थंकर' मल्लिनाथ के चरित के रूप में 'मल्लिनाथ-पुराण' की रचना की थी। यह एक 'चंपू' है जिसमें चौदह 'आश्वास' है। यह कवि की वर्णन क्षमता का द्योतक है। उसके 'गुरु' का नाम बालचंद्र-मुनि था। एक अनुश्रुति के अनुसार होयसल बल्लाल प्रथम के दरबार में उसका एक जैन-कवियत्री कंति के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। नागचंद्र की सबसे प्रसिद्ध कृति 'रामचंद्रचरित पुराण या 'पंप रामायण' है। इसमें राम की कथा का जैन रूप मिलता है। यह भी एक चंपू है जिसमें सोलह आश्वास हैं। किंतु मुख्य कथा तीसरे 'आश्वास' से ही शुरू होती है। यह काव्य पंप के 'भारत' का ही पूरक है। इसी ग्रंथ की रचना के कारण कवि को 'अभिनवपंप' की उपाधि प्राप्त हुई थी। यह उच्चकोटि की रचना है। इसमें प्रवाह है। वर्णनों में सौष्ठव है। इसकी कथा के अनुसार 'जिन-दीक्षा' लेकर राम मुनि हो जाते हैं और अंत में उन्होंने 'निर्वाण' प्राप्त किया। 'रामायण' के अन्य जैन रूप भी ज्ञात हैं। किंतु वे इस काल के नहीं हैं। तथापि, नरसिंहाचार के अनुसार संभवत: एक अन्य विद्वान वादि कुमुदचंद्र ने भी एक 'रामायण' इससे पहले लिखी थी।[176] वही बिजापुर के अभिलेख का भी लेखक रहा होगा।[177] इस अभिलेख में कतिपय छंद उसी की रचना के अंश बतलाए जाते हैं।

नयसेन

नयसेन ने 'धर्मामृत' की रचना शाके 1034 (1112 ई०) में मुलगुंद में पूरी की थी। इस ग्रंथ में जैन धर्म की मुख्य शिक्षाएं हैं। इसकी शैली बड़ी प्रवाहपूर्ण है। इसमें 14 आश्वास हैं। आठ आश्वासों में 8 गुणों, 5 में पांच 'अनुव्रतों' का और अंतिम 'आश्वास' में महापुरुषों का वर्णन है, जो पूर्व के अध्यायों में वर्णित गुणों-अनुगुणों के उदाहरण थे। नयसेन उन लोगों में संभवत पहला व्यक्ति था जिसने कन्नड़ में संस्कृत के शब्दों के अति-प्रयोग का विरोध किया था। वह शुद्ध कन्नड़ का पक्षपाती था। नागवर्मन द्वितीय के 'भाषाभूषण' में कन्नड़ व्याकरण के संबंध में नयसेन के मतों का उल्लेख है। यदि वे सचमुच इसी नयसेन के हैं तो हमें यह मानना होगा कि उसने कन्नड़ व्याकरण की भी कोई पुस्तक लिखी होगी।

1145 ई० के आसपास कर्णपार्य ने बाईसवें 'तीर्थंकर' का चरित 'नेमिनाथपुराण' में लिखा था। यह एक चंपू है जिसमें चौदह 'आश्वास' हैं। इसमें 'कृष्ण' और 'महाभारत' की कथा भी बड़ी चतुराई से कह दी गई है। इनके आश्रयदाता का नाम लक्ष्मीधर था जिसकी पहचान नहीं हो पाई है। यह 'पुराण' बड़ी मर्मस्पर्शी शैली में लिखा गया है और साहित्य की दृष्टि से यह एक उच्च कोटि की रचना है। 'काव्यावलोकन' का रचयिता नागवर्म द्वितीय भी बारहवीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी में ही हुआ। अलंकार और व्याकरण के इस ग्रंथ में पांच 'अधिकरण' है । पुस्तक पद्य में 'सूत्र' दिए गए हैं फिर साहित्य से उसके उदाहरण दिए गए हैं। इसी लेखक की दूसरी रचना 'कर्णाटक भाषा भूषण' है यह भी व्याकरण का ही ग्रंथ है। इसमें सूत्र और उनकी संक्षिप्त व्याख्या संस्कृत में है। उदाहरण कन्नड़ के हैं। उनकी तीसरी रचना का नाम 'वस्तुकोश' है। यह 800 श्लोकों का छोटा सा कोश है । इसमें संस्कृत शब्दों के कन्नड़ पर्याय दिए हैं। नागवर्म जगदेकमल्ल द्वितीय का अध्यापक रह चुका था (कटकोपाध्याय)। शिष्य की मृत्यु के बाद भी वह जीवित रहा। और बाद में जन्नकवि (लग० 1200 ई०) ने उससे शिक्षा ग्रहण की थी । जन्न के अनुसार नागवर्म ने एक अन्य 'पुराण' की भी रचना की थी । किंतु वह ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है। एक चोल राजकुमार उदयादित्य ने 'उदयादित्यालंकार' (लग० 1150 ई०) नामक एक काव्य शास्त्र के छोटे से ग्रंथ की रचना की थी। इसमें अनेक स्थानों पर दंडिन के 'काव्यादर्श' का अनुवाद है। इसमें कई संस्कृत कवियों का उल्लेख है। पर किसी कन्नड़ कवि का कोई उल्लेख नहीं है। कन्नड़ में 'कर्णाटक-कल्याण कारक' नामक वैद्यक के ग्रंथ की रचना भी इसी समय या इसके कुछ बाद हुई थी। यह पूज्यपाद के 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ का अनुवाद है। अनुवादक एक जैन लेखक जमद्दल सोमनाथ था। कन्नड़ में चिकित्सा-शास्त्र का यह सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ में सभी उपचार निरामिष और मद्य-रहित है।[178]

वीर शैवों का गद्य

जैनों के बाद कन्नड़ भाषा और साहित्य को, विशेषकर गद्य को वीर शैवों की देन है । उन्होंने अपना सारा धार्मिक साहित्य कन्नड़ भाषा में ही लिखा और विशेषकर गद्य को इसके लिए चुना। वसव और उसके समसामयिक लेखकों ने सरल गद्य में 'वचन' साहित्य को जन्म दिया जिसे आम जनता भी आसानी से समझ सकती है। इस काल में प्रायः 200 वीर शैव लेखक हुए हैं जिनमें कुछ महिलाएं भी थी। इनमें महादेवियक्का प्रमुख थी। इन सभी लेखक-लेखिकाओं के नाम और उनकी रचनाएं गिनाना संभव नहीं है। राइस ने इस साहित्य के बारे में जो कहा है उसे दुहरा देना उचित होगा।[179] वचन एक दूसरे से पृथक पैराग्राफ हैं। इनके अंत में शिव का कोई न कोई नाम आता है । जिस नाम से उनकी वंदना की जाती है। इनकी शैली सूक्तियों वाली, समांतरवादी, और संदर्भगर्भित है। धन का घमंड, कर्मकांड और किताबी ज्ञान की निस्सारिता, जीवन की अनिश्चितता, और शिव भक्तों के आध्यात्मिक विशेषाधिकार इनके विषय हैं। इनमें लोगों को सांसारिक धन-दौलत और सुख साधनों के परित्याग की शिक्षा दी गई है और धीरता और संसार से अलिप्तता का जीवन बिताने और शिव शरण में जाने का उपदेश है। ये उपदेश विवाद से परे हैं किंतु नितांत उपदेशात्मक, भक्तिपूर्ण, और अर्थगर्भ हैं। लिगांयतों के आचार्य आज भी उन्हीं वचनों का उपदेश करते हैं। कतिपय 'वचनों' में एक खंड 'कालज्ञान' अर्थात भविष्यकथन का है। इन वचनों में उनके लेखकों की 'मुद्रा' मिलती है। बसव और उसके भांजे चेन्नबसव के अतिरिक्त आचार्यों और लेखकों के दो वर्गों का विशेषतौर पर उल्लेख किया जा सकता है जिनके वचनों का बड़ा आदर है। इनमें प्रथम में पंडितत्रय, अर्थात मंचन्न जिसका अपर नाम शिवलेंक (शिव के रक्षक) भी है, श्रीपति पंडित और मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य हैं। दूसरे में वीर शैव के आचार्य पंचक अर्थात कोल्लिपाके रेवणसिद्ध अथवा रेणु-काचार्य; कोल्लापुर के मरुलसिद्ध; पंडितराध्य, जिनका उल्लेख हम कर चुके हैं, एकोराभितंदे और विश्वेश्वराचार्य। इनमें से अधिक लेखक बसव के समकालीन थे या उससे कुछ पहले या बाद में हुए थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्रमण काल

कन्नड़ भाषा और साहित्य में यह निश्चित रूप से संक्रमण का काल था। ळ अक्षर का प्रयोग बंद होने लगा था और इसके स्थान पर ळ या 'र्' का प्रयोग शुरू हुआ। विशेष स्थितियों में 'प' का स्थान 'ह' ले लेता है। 'चंपू' की रचना का प्रचार कम होने लगा। कन्नड़ के अपने विशेष छंदों जैसे षट्पदी और त्रिपदी का और टेक वाले गीत-रगले का उदय हुआ। यहां 'वचनों के के अलावा अन्य लिंगायत लेखकों पर संक्षेप में विचार कर सकते हैं। उनमें पहला नाम हरीश्वर का आता है। इस कवि का जन्म हलेबिद के करणिक परिवार में हुआ था और वह नरसिंह बल्लाल (1141-73 ई०) का समकालीन था। वह हंपे में कई वर्षों तक रहा था। उसकी रचनाओं में 'पंपाशतक' प्रसिद्ध है। इसमें उसी नगर के विरूपाक्ष के स्तवन में 100 छंद हैं। उसकी 'गिरिजा-कल्याण' नामक रचना पुरानी जैन शैली में है। यह एक 'चंपू' है और इसमें दस आश्वास हैं। इसकी शैली सरल और उद्‌बोधक है। इसमें शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। उसकी परवर्ती रचना 'शिवगण-दरगलेगलु' नए युग की सूचक है जिसका सूत्रपात उसने किया था। इसमें 63 प्राचीन शैव संतों और भक्तों का वर्णन है। अगला महान वीर शैव कवि राघवांक था जो हरीश्वर का भांजा था। इसका जन्म हंपे में हुआ था और वह आजीवन वहीं रहा। षट्पदी छंद का सबसे पहले इसी ने प्रयोग किया था। इसके प्रसिद्ध काव्य का नाम 'हरिश्चंद्र काव्य' है। इसमें सत्य के पथ पर अडिग रहने वाले हरिश्चंद्र की कथा है। काव्य की दृष्टि से यह एक उच्च कोटि की रचना है तथापि इसमें 'देश्य' शब्द पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इसमें व्याकरण के नियमों का भी कहीं कहीं उल्लघंन है। 'सोमनाथ चरिते' में पुलिगेरे के सोमय्य का और 'सिद्धरामपुराण' में सोन्नलिगे के सिद्धराम का चरित वर्णित है। ये दोनों पुस्तकें लिंगायतों के संतों के चरित हैं। हंपे के हरिहर की प्रशंसा में 'हरिहरमहत्व' नामक ग्रंथ की रचना कवि ने की थी। इनके अतिरिक्त 'वीरेश्वर चरिते' और 'शरभचरित्र' की रचना का भी श्रेय राघवांक को दिया जाता है। केरेय पद्‌मरस का जन्म जिस परिवार में हुआ था उसमें अनेक व्यक्ति होयसलों की सेवा में रह चुके थे। पद्‌मरस सेवा से निवृत हो जीवन बिता रहे थे कि एक तेलुगु ब्राह्मण वैष्णव मत का प्रचार करता हुआ नरसिंह बल्लालके दरबार में आया। उससे शास्त्रार्थ करने के लिए पद्‌मरस को बुलाया गया और उन्होंने उस ब्राह्मण को पराजित कर दिया। ब्राह्मण को शैवमत स्वीकार करना पड़ा। पद्‌मरस ने 'दीक्षाबोध' नामक ग्रंथ की 'रगले' शैली में रचना की है। यह पुस्तक गुरुशिष्य संवाद के रूपमें लिखी गई है जिसमें गुरु शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देता है और उसे वीर शैव धर्म का तत्व समझाता है। पद्‌मरस 'पद्‌मराजपुराण' (लगभग 1385 ई०) का नायक भी है। ध्यान देने की बात यह है कि हरीश्वर, राघवांक और पद्‌मरस के समयों के बारे में कुछ अनिश्चय जैसा है। नरसिंहाचार की तिथि (लग० 1165 ई०) के अनुसार वे नरसिंह प्रथम और बसव के समकालीन थे। किंतु इनमें से कोई बसव का उल्लेख नहीं करता। यदि वे उसके समकालीन होते तो इसकी आशा थी। पालकुरिकि सोमनाथ (लगभग 1195 ई०) का जन्म गोदावरी जिले के पालकुरिके नामक स्थान में हुआ था। उसने वीरशैव मत से संबंधित कई ग्रंथ तेलुगु और कन्नड़ में लिखें हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार उसने शास्त्रार्थ में अनेक विपक्षियों को हराया था। इनमें खासतौर पर वैष्णव विद्वान थे। उसने कैलास पर मुक्ति प्राप्त की। उसके जीवन पर तोंटदार्य (लगभग .560 ई०) ने एक पुराण लिखा था। सोमनाथ बसव का बहुत बड़ा प्रशंसक था। उसने तेलुगु में 'बसव-पुराण' में की रचना की थी। भीम कवि ने 1369 ई० में इसी के आधार पर कन्नड़ में 'बसवपुराण' की रचना की थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोमनाथ की मुख्य कन्नड़ कृतियों के नाम है: शीलसंपादने, सहस्रगणनाम और पंचरत्न। इनके अतिरिक्त उसने अनेक 'रगले' और 'वचन' भी लिखे थे। उसे 'सोमेश्वरशतक' की रचना का श्रेय भी दिया जाता है जिसमें नीति विषयक उपदेश है। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्व अल्प ही है और भाषा भी दोषपूर्ण है। अतः यह उसी नाम के किसी दूसरे कवि की रचना होगी, जो उसका समकालीन रहा होगा।

इस संक्षिप्त सिंहावलोकन में राजादित्य (लग० 1190 ई०) का नाम भी शामिल किया जा सकता है। इसने गणित पर अनेक ग्रंथ लिखे थे जैसे 'व्यवहार-गणित', 'क्षेत्रगणित', 'लीलावती' आदि। वह कोंडिमंडल में पूविनबागे कानिवासी और जैन था। तकनीकी विषयों को भी पद्य में समझाने की उसकी क्षमता अद्वितीय है। कन्नड़ में इन विषयों पर इसकी पुस्तकों का बड़ा आदर है।

'संस्कृत'

इस काल में संस्कृत साहित्य में प्रथम महत्वपूर्ण कृति जैन कवि 'वादिराज' की रचना 'पार्श्वनाथ चरित' है। वादिराज जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के दरबार में था। उसने इस काव्य को अंग्रेजी तिथि के अनुसार 27 अक्तूबर, 1925 ई० को पूरा किया था।[180] वादिराज सोमदेव सूरि का शिष्य था। सोमदेव सूरि राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय का समकालीन था। इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। अपने गुरू की भांति वादिराज ने भी 'यशोधर चरित' की रचना की थी जिसमें उसने अपने एक पहले के ग्रंथ 'पार्श्वनाथ चरित' का उल्लेख किया है। एक अन्य ग्रंथ 'एकीभावस्तोत्र' की रचना का श्रेय भी वादिराज को दिया जाता है किंतु इस ग्रंथ का लेखक वादिराज ही था, यह संदेह से परे नहीं है।[181] वादिराज ने संभवतः धनंजय का भी उल्लेख किया है जिसने 'द्विसंधान' 'काव्य' की रचना की थी। श्री वेंकटसुब्बय्य के अनुसार वह हेमसेन विद्या धनंजय था और उसे 'राघव पांडवीय' की रचना की थी 'द्विसंधान काव्य' के विवरण से 'राघवपांडवीय' का विवरण काफी मिलता जुलता है।[182] एक अन्य 'राघवपांडवीय' की रचना भी ठीक इसके बाद हुई थी। यह ग्रंथ संस्कृत में श्रुतिकीर्ति ने लिखा था। अभिनवपंप ने इसकी प्रशंसा की है।[183]

लग० 1000 ई० में लाट के कायस्थ सिड्ढल ने 'उदयसुंदरीकथा' नामक ग्रंथ की रचना थाना के मुंमुणिराज के आश्रय में लिखी थी। इसमें लेखक ने बाण के 'हर्षचरित' को अपना आदर्श माना है किंतु यह रचना उस स्तर तक कदापि नहीं पहुंच पाई है।

'बिल्हण'

बिल्हण कृत 'विक्रमांकदेवचरित' एक उच्च कोटि का महाकाव्य है। संस्कृत के सर्वोच्च काव्यों में इसकी गिनती हो सकती थी, पर यह उनसे कुछ ही नीचे की कृति है। विक्रमादित्य षष्ठम् के कश्मीरी 'विद्यापति' बिल्हण ने सम्राट के शासन के प्रारंभिक काल में इसकी रचना की थी। इसमें 18 सर्ग हैं। इसमें विक्रमादित्य का चरित वर्णित है। विक्रमादित्य के दरबार में पहुंचते समय कवि वृद्ध हो चुका था। पुस्तक के अंतिम दो अध्यायों में उसने अपनी ही जीवन-यात्रा का वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन सभी 'चरितों' में मिलते हैं जा इन अर्ध ऐतिहासिक ग्रंथों की विशेषता है। बिल्हण को अपनी जन्मभूमि कश्मीर से प्रेम था। स्वयं अपनी कहानी कहने से पूर्व उसने साठेक छंदों में कश्मीर के राजाओं के पराक्रम का वर्णन किया है, जिनपर उसे गर्व था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिल्हण का जन्म विद्वान ब्राह्मणों के परिवार में हुआ था जो मध्यदेश से कश्मीर में गया था। वहां उन्हें गोपादित्य ने बुलाया था। अपने भाइयों की भांति बिल्हण भी 'वेदों' और 'शास्त्रों' में निष्णात था। वह एक सुकवि भी था जिसकी ख्याति शीघ्र ही उन देशों में भी फैल गई थी जिनकी उसने यात्रा की थी और जहां उसने शास्त्रार्थ किए थे। उसकी यात्राओं में मथुरा और उसके आसपास के प्रदेशों, कान्यकुब्ज (कन्नौज), प्रयाग, बनारस, डाहल, अयोध्या, धारा, सोमनाथ का विशेष तौर पर उल्लेख हुआ है। दक्षिण के कतिपय देशों में होकर, जिनका नाम उसने नहीं दिया है, वह अपने जीवन की संध्या में कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य के दरबार में पहुंचा था। इस राजा ने उसे अपना प्रधान पंडित नियुक्त कर दिया। नील छत्र और मस्त हाथी अब उसके पद के प्रतीक चिह्न थे। कर्णाटक के राजा के प्रेम के वशीभूत हो उसने इस ग्रंथ की रचना की। ब्यूलर ने हिसाब लगाया है कि लगभग 1085 ई० में उसने 'विक्रमांकदेवचरित' की रचना की थी। बिल्हण की अन्य रचनाओं को अनेक काव्य-संग्रहों और अन्यत्र भी उद्धृत किया गया है। इससे अनुमान है कि उसने और ग्रंथों की भी रचना की थी। इनमें 'पंचाशिका' नामक शृंगार रस के एक ग्रंथ की भी गणना की जाती है। किंतु इसका रचियता बिल्हण ही था, इस संबंध में कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उसकी भाषा निर्दोष है और शैली में प्रवाह है और वह प्रसाद गुण संपन्न है। वह वैदर्भी रीति का अच्छा उदाहरण है। इस शैली के कवियों में कालिदास का स्थान सर्वोपरि है।

विज्ञानेश्वर

महान न्यायशास्त्री विज्ञानेश्वर भी विक्रमादित्य की सभा में वर्तमान थे। उन्होंने 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' पर 'मिताक्षरा' नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी थी। यह एक टीका मात्र नहीं है बल्कि एक स्वतंत्र ग्रंथ ही है जिसमें लेखक ने प्रत्येक विषय पर सभी महत्वपूर्ण 'स्मृतिकारों' के मत उद्धृत कर अंत में अपना स्वतंत्र मत दिया है। यह बाद के निबंधों का अग्रदूत है किंतु विषय प्रतिपादन, निर्णयों की प्रौढ़ता, और अभिव्यक्ति की संहति की दृष्टि से यह उन सबसे बढ़ चढ़ कर है। ग्रंथ के ये गुण उसकी प्रत्येक पंक्ति में मुखर हैं। अतः यह अकारण नहीं कि हिंदू धर्मशास्त्र के क्षेत्र में आज भी यह प्रमुख आकर ग्रंथ माना जाता है जिसे भारत के अधिकांश भागों में प्रमाण माना जाता है।

याज्ञवल्क्य पर एक दूसरी टीका भी उसी काल में लिखी गई, जिनका लेखक अपरार्क था। अपरार्क कोंकण का शिलाहार राजा (1115-60 ई०) था। इस टीका का क्षेत्र यद्यपि 'मिताक्षरा' से विस्तृत है तथापि इसका उतना प्रभाव नहीं है। अपरार्क एक प्रसिद्ध नैय्यायिक भी था। उसने भासर्वज्ञ के 'न्यायसार' पर 'न्यायमुक्तावलि' नामक टीका भी लिखी थी।

मानसोल्लास

अंत में, हम 'मानसोल्लास' का उल्लेख करेंगे। इस ग्रंथ का अपरनाम 'अभिलषितार्थचिंतामणि' भी है। इसकी रचना का श्रेय भूलोकमल्ल सोमेश्वर तृतीय को दिया जाता है। कहा जाता है कि उसने अपने राज्य के सभी वर्गों के हित के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में आदर्श राजा के रूप में स्वयं सोमेश्वर का नाम आया है।[184] इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस ग्रंथ का वास्तविक लेखक उसके दरबार का कोई अन्य कवि रहा होगा। किंतु हम निश्चय के साथ यह नहीं कह सकते कि मध्यकालीन दकन में शील और विनय के वही मानदंड थे, जो हमारे हैं। इस ग्रंथ के द्वितीय अध्याय के एक छंद[185] के अनुसार उस समय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाके 1051 तदनुसार 1129-30 ई० का वर्ष बीत रहा था। इससे ग्रंथ के रचना-काल के बारे में हमें अच्छा प्रमाण मिल जाता है।

पुस्तक से 100 अध्याय हैं। कुल पुस्तक 5 खंडों में विभाजित है। प्रत्येक खंड में 20 अध्याय हैं। पहले खंड में राज्य की लब्धि का, दूसरे में लब्धि के रक्षण का, तीसरे में राज-सुख का वर्णन है। अंतिम दो खंडों में अवकाश के क्षणों में राजाओं के योग्य क्रीड़ाओं और कौतुकों का वर्णन है। यह ग्रंथ विश्वकोश जैसा है। लेखक ने वैद्यक, इंद्रजाल, पशु चिकित्सा, रत्नों, मोतियों आदि के मूल्य निरूपण, दुर्ग निर्माण आदि तकनीकी विषयों के प्राचीन ग्रंथों से अपने ग्रंथ की सामग्री एकत्र की है। विषयों का चयन या विन्यास उच्चकोटि का नहीं है। इनके निरूपण में भी कोई खास मौलिकता या रोचकता के दर्शन नहीं होते। इसका मूल्य इस बात में है कि उससे एक राजा की बौद्धिक क्षमता और उसकी वैयक्तिक रुचि की झांकी मिलती है और इसमें उन अनेक ग्रंथों की सामग्री मौजूद है जो आज लुप्त हो चुके हैं।

संदर्भ

1. 'है० आर्क० सि०', viii, पृ० 11-12, छंद 31.
2. 'सा० इं० इं०', ix (i), 75, पंक्ति 12-13.
3. वही, 102, पंक्तियां 27-9.
4. वही, xi (i), 94, पंक्ति 13.
5. 'ए० इं०', xvi, पृ० 84-5, और पृ० 87-,8 छंद 8-9.
6. वही, 5, छंद 34; सा० इं० इं०, ix (i), 130, पंक्तियां 24-5, 11, 65, 67 आदि
7. 'सा० इं० इं०', ix (i) 187 पंक्ति 31.
8. वही, xi (i), 92, पंक्तियां 43-5 (1054 ई०).
9. वही, ix (i), 258, पंक्तियां 30-5.
10. वही, xi (i), 64.
11. वही 65; 9 (i), 105, 150 आदि.
12. 'ए० क०', vii, संस्कृ० 136.
13. 'सा० इं० इं०', ix (i), 123; मैंने इसका जो अर्थ किया है वह 'सा० इं० इं०' के संपादकों से भिन्न है.
14. 'ए० क०', vii, संस्कृ०, 152.
15. वही, hl 47.
16. वही, vii, संस्कृ०, 249.
17. 'ए० इं०', xiv, 273, पंक्तियां 48-50.
18. वही, xv, 102 पंक्तियां 12-22.
19. 1922, का 672.
20. 'डा० क० डि०', पृ० 485; टि० 1, 'ए० क०', ii, 132 (56).
21. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', xviii, 275.
22. 'सा० इं० इं०', ix (i), 273, पंक्तियां 36-56.
23. वही, xi (i), 78, पंक्ति 86.
24. वही, 85, पंक्ति 17.
25. वही, 103, तीसरा चेहरा.
26. 'है० आ० सि०', viii, 34 पंक्तियां 324-7.
27. 'सा० इं० इं०', ix (i), 155, पंक्तियां 5-6.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

28. वही, 138, पंक्तियां 16-17.
29. 'ए० इं०' xvi, 1.
30. 'सा० इं० इं०', ix (i), 80, पंक्तियां 14-16.
31. 'बा० क०', 1936-7 का 25.
32. 'ए० क०', 11, dg. 74.
33. 'सा० इं० इं०', ix (i), 87.
34. वही, 128.
35. 'दे०, विशेषकर 'सा० इं० इं०', ix(i), 133, 192; 'ए०इं०', xv, 82, 84 तथा आगे, 89; वही, xiii, 171-2 वही, xvi, 331; 'है० आ० सि०', vii.
36. 'सा० इं० इं०', ix (i), 192, पंक्तियां, 26-9.
37. 'है० आ० सि०', viii, पृ० 30-1, पंक्तियां, 231-9.
38. 'सा० इं० इं०', ix, (i), 163, पं० 19-20
39. वही, 197, पंक्तियां 35-8.
40. 'ए० इं०', xvi, 48 पंक्ति 48.
41. 'ए० क०', संस्कृ०, 124.
42. 'सा इं० इं०', xi (i), 75, पंक्तियां 15-16.
43. 'ए० इं०', xv, 90 छंद 15-16.
44. 'है० आ० हिस०', viii, 34, पंक्तियां 323-4.
45. वही, पंक्ति 341.
46. 'ए० क०', 11 cd, 47.
47. वही, dg. 149.
48. 'सा० इं० इं०', ix (i) 101, पंक्ति 78; 112, पंक्ति 26-8, 187, पंक्ति 32; 207, पंक्ति 58; पंक्तियां 15-17; xi (i), 81, पंक्ति 21; 116, पंक्ति 53 आदि.
49. 'सा० इं० इं०', xi (i), 85 पंक्तियां 30-1.
50. 'बा० क०', 1929-30 का 100, 'इं० ना० क० को०', ix (a).
51. 'है० आ० सि०', 34, पंक्तियां 312-13.
52. 'सा० इं० इं०', ix (i), 168, पंक्ति 39.
53. वही, 192.
54. वही, 211.
52. वही, 260.
56. 'बा० क०', 1936-7 का 93
57. वही, 1930-1 का 8
58. उदा०, 'सा० इं० इं०', xi (i) 47, 48, 62 और भी 'इं० ऐं०', xviii, 270-5 अक्कादेवी ने बैलूर (बादामीके पास) 500 विद्यार्थियों के लिए व्यवस्था की थी.
59. 'है० आ० सि०', viii, 15, 16.
60. मैं पंक्ति 196 में 'सर्वस्वती भंडारिगरोर्वर्गम्' पढ़ता हूं न कि 'ओगराव्वर्गम' जैसा कि प्रकाशित है.
61. 'सा इं० इं०', ix (i) 175, पंक्तियां. 21-5.
62. पूर्व, पृ० 371.
63. 'बा० क०', 1926-7 का 172.
64. वही, 1935-6 का 27.
65. 'सा० इं० इं०', xi (i) 61 पंक्तियां 21-6.
66. वही, 84, पंक्तियां 9-10 (1049 ई०).
67. वही, ix (i) 267, पंक्ति 32-3 (1160 ई०).
68. 'ए० इं०', xv, 88-9, छंद 10-11.
69. वही, xvi, 55 पंक्तियां 24-8

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

70. वही, 54.
71. 'सा० इं० इं०', xi (i), 235, पंक्तियां, 28-8.
72. 'ए० इं०' xvi, 79, पंक्तियां, 4-142.
73. 'सा० इं० इं०', xi (i), 174.
74. 'ए० इं०', xvi 67, पंक्तियां 13-14.
75. 'सा० इं० इं०', ix (i), 109.
76. 'ए० इं०', iv, 259.
77. 'ए० इं०', 8 sb 317.
78. 'सा० इं० इं०', ix (i), 170.
79. वही, 173.
80. वही, 281.
81. वही, 227.
82. 'वा० क०', 1932-3 का 103.
83. 'ए० इं०', iii, 303-6.
84. वही, पृ० xix 30 तथा आगे.
85. वही, iii, 297.
86. 'ज० ग्रै० इं०, सो० ix, 1-4.
87. मैं 'प्रवहण' शब्द का यही अर्थ लेता हूं, कीलहार्न ने इसका अर्थ 'जहाज' किया है.
88. बगडग का 'राजपथ', 'सा० इं० इं०', xi (i) 85, पंक्ति 32.
89. 'ए० क० vii सं० 118.
90. 'टि० ब० जै०', 1932 'ए तमिल मर्चेंट गिल्ड इन सुमात्रा', ले० नीलकंठ शास्त्री.
91. 'सा० इं० इं०', ix (i) 177.
92. वही, 189.
93. वही, 215.
94. वही, 268.
95. वही, 245.
96. 'ए० क०', 11 dg. 155.
97. 'सा० इं० इं०', ix (i) 118, पंक्ति 52 तथा आगे.
98. वही, 139, पंक्तियां 31.32.
99. वही, 141, पंक्तियां 30.1.
100. वही, 172, पंक्ति 31.
101. वही, 223, पंक्तियां 41-43.
102. वही, 296, पंक्तियां, 20-6; 297, पंक्तियां 30-40.
103. 'ए० इं०', xix, 30 (1135 और 1142 ई०).
104. 'सा० इं० इं०', xi (i) 94.
105. 'इं० ऐं०', x, 185, विशेषकर पंक्तियां 10-16 और 26-32.
106. वही, xiv, 14 तक आगे.
107. 'सा० इं० इं०', xi (i) 92 पंक्ति 33.
108. वही, 99.
109. 'ज० रा० ए० सो०', 1926, 488-9.
110. 'सा० इं० इं०', ix (i), 260 दे०, 145 की पंक्तियां 40-3 भी जहां 'ग'=10. पण है, वहां इसके लिए 'म' का चिह्न है.
111. मेरी समझ में ix (i) 168 की पंक्ति 38-40 का पाठ सही नहीं है इसलिए मैंने इस लेख को छोड़ दिया है.
112. वही, 195, पंक्ति 29.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

113. वही, 258, पंक्ति 23.
114. वही, पंक्ति 24.
115. राजराज के 'व्यवहारगणित' में लिखा है : 'पोदविद कार्णि नालकरेलु वीसमंतदु पागंतदु पागु नाल्कुं पणं विदितं पण् पत्तागै पोलुमदक्कुम्.
116. स्मिथ, इं० म्यु० कै०', 1 पृ० 313-14, ब्राउन; 'दि क्वायंस आफ इंडिया' पृ० 59-60.
117. 'सा० इं० इं०' ix (i), पंक्तियां 10-11.
118. वही, 164.
119. वही, 228.
120. वही, 165, पंक्तियां 53-8 और 276, पंक्तियां 45-50.
121. वही, xi (i), 88.
122. वही, ix (i), 105 पंक्ति 11.
123. वही, xi (i) 81, पंक्ति 17.
124. 'ए० क०', vii संस्कृ० 120.
125. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 85, पंक्तियां 18 तथा आगे और ix (i), 99 पंक्ति 21.
126. वही, 197.
127. वही, 250.
128. वही, 258.
129. 'इं० ऐं०, x, 185.
130. 'सा० इं० इं०', ix (i) 267.
131. 'ए० इं०', xiv, 270.
132. 'इ० ऐं०', xviii, 270-5.
133. 'ए० इं०', xvii, 122, xv, 82, 84 तथा आगे (1047 ई०).
134. 'सा० इं० इं०', xi (i) 65.
135. ए० इं०, xix, 220 पंक्ति 23, और 'सा० इं० इं०', xi, (i) 72.
136. 'ए० क०', vii, संस्कृत 120, अंतिम छंद.
137. वही, 7 संस्कृत, 136.
138. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 45.
139. वही, xi, (i) 74.
140. वही, 158, पंक्ति 60.
141. वही, 119, 121, 134.
142. वही, xi, (i) 83.
143. 'आगम', 'सा० इं० इं०', ix, (i) 101, पंक्तियां 30 तथा आगे; 119 पंक्तियां 14-24 : इसके अध्यापक ix, (i) 163, 165.
144. 'ए० क०' vii, संस्कृ० 126.
145. राइस की यह सूचना गलत है कि यह छंद कुमारिल का है. 'ए० क०', vii, भूमिका पृ० 19.
146. 'ए० इं०', v, 219-20.
147. वही, xvi, 3 छंद 14; 'सा० इं० इं०', ix (i) 102, 128, पंक्ति 29; xi, (i) 185, पंक्तियां 38-9; 97, पंक्ति 40.
148. 'सा० इं० इं०', xi (i) 85, पंक्तियां 1-5.
149. वही, 117 पंक्ति 19-20,
150. 'ए० क०', vii, संस्कृ० 267.
151. 'सा० इं० इं०', ix, (i) 166, पंक्ति 17.
152. वही, xi, (i) 85, पंक्तियां 28-30.
153. 'सा० इं० इं०', ix, (i) 75.
154. वही, 166, पंक्तियां 16-17.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

155. वही, 73, 164, 197, 252.
156. 'ए० इं०', xxi, पृ० 260-4.
157. 'ए० रि० ए०', 1904 का 44.
158. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 72.
159. वही, 84.
160. वही, ix, (i) 158.
161. वही, xi, (i) 102, पंक्तियां 31-32.
162. 'है० आ० सि०', viii, 34, पंक्तियां 321-2.
163. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 111, चित्रकूटान्वय; 'ए० इं०', xv, तथा आगे चंद्रकवाटान्वय आदि.
164. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 52.
165. 'ए० इं०', xv, 337.
166. 'ए० क०', vii, संस्क० 170.
167. वही, सं० 169.
168. 'इ० ऐं०', x, 186, पंक्ति 21.
169. 'ए० इं',० vi, 213-19.
170. 'ए० क०', vii, संस्क० 136.
171. वही, संस्क० पृ० 129.
172. 'क० क० च०', i, 63.
173. वही, iii, पृ० 22.
174. 'सा० इं० इं०', xi, (i) 52.
175. 'क०क०च०', i, 70.
176. वही, 114.
177. बीजापुर म्यूजियम प्रस्तर लेख ए 23, 'क०क०च०', i, 449-50.
178. राइस, पृ० 73.
179. वही, पृ० 56.
180. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', (1928), पृ० 140.
181. 'जेड० डी० एम० जी०', 68, 698.
182. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो०', (1928), पृ० 141.
183. वही, पृ० 141.
184. 1, 6 तथा पुष्पिकाएं.
185. सं० 62.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट क

कल्याणी के चालुक्यों की वंशावली

(1) तैल द्वितीय पत्नी बोंथादेवी
(973-97 ई०)

(2) सत्याश्रय इरिववेडंग
(997-1007 ई०)
महादेवी पति नोलंबादिराज

दशवर्मन पत्नी भाग्यवती

(3) विक्रमादित्य पंचम
(1007-15 ई०)

(4) अययन
(1015-7 ई०)

अक्कादेवी

(5) जयसिंह द्वितीय
(1015-42 ई०)

सोमेश्वर प्रथम
(1042-68 ई०)

आवल्लदेवी पति भिल्लम तृतीय सेउण

सोमेश्वर द्वितीय
(1068-76 ई०)

विक्रमादित्य षष्ठम
(1076-1126 ई०)

सुग्गल देवी

जयसिंह तृतीय

पत्नी चपलदेवी

अन्य पत्नियां

जयकर्ण

सोमेश्वर तृतीय
(1126-38)

मैललदेवी
पति गोआ का जयकेशि द्वितीय

मल्लिकार्जन

महादेवी

पेम जगदकेमल्ल द्वितीय
(1138-55 ई०)

तैलप तृतीय
(1149-63 ई०)

जगदेकमल्ल तृतीय
(1163-83 ई०)

सोमेश्वर चतुर्थ
(1184-1200 ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट ख

सहायक ग्रंथसूची

आकरग्रंथ

(क) अभिलेख

'ऐन्युअल रिपोर्ट आन आर्किअलाजी', मैसूर (मैं० ऐ० रि०)
'ऐन्युअल रिपोर्ट आन साउथ इण्डियन एपिग्राफी', (ऐ० रि० ए०)
'एपिग्राफिया कर्नाटिका' (ए० क०)
'इपिग्राफिया इंडिका', (ए० इं०)
'हैदराबाद आर्किलाजिकल सिरीज', (है० आ० सि०)
'इंडियन ऐंटिक्वरी', (इं० ऐं०)
'जर्नल आफ दि बांबे ब्रांच आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी', (ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०)
'कर्नाटक इंस्क्रिप्शंस', जिल्द 1, आ० एस० पंचमुखी (धारवाड़, 1941) (क० इं०)
'साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शंस', (सा० इं० इं)
'तेलिंगाना इंस्क्रिप्शंस', (ते० इं०)
कुंदनगर, के० जी० : 'इंस्क्रिप्शंस इन नार्दर्न कर्नाटक एंड दि कोल्हापुर स्टेट' (कोल्हापुर सिटी, न० सं०) (इं० ना० क० को०)

साहित्य

'अवंति सुंदरी कथा सार एंड कथा', (दक्षिण भारती सिरीज, सं० 3, मद्रास 1924)
विल्हण कृत 'विक्रमांकदेवचरित' (विक्र०) सं० ब्यूह्लर (वंबई, 1875)
रण्ण : 'गदायुद्ध'

आधुनिक ग्रंथ

भंडारकर, आर० जी० : 'अर्ली हिस्ट्री आफ दि दकन', (अ० हि० द०) (बंबई गजेटियर 1, 11 (1895), पृ० 132-275
फ्लीट, जे० एफ० : 'दि डाइनेस्टीज़ आफ दि कनडीज डिस्ट्रिक्ट्स आफ बांबे प्रेसिडेंसी', —डा० क० डि० वही, (1896) पृ० 277-584)
जे० दुब्रील : 'ऐंशयंट हिस्ट्री आफ दि दकन', (पांडिचेरी, 1920)
कृष्णराव, बी० वी० : 'अर्ली डाइनेस्टीज आफ आंध्रदेश', (मद्रास, 1942)
क्षेत्रेश चंद्र चट्टोपाध्याय : 'दि डेट आफ हर्ष—पुलकेशिन वार प्रोसी० (इंडि० हिस्ट्री कांग्रे०) तृतीय अधि०, कलकत्ता, 1939 पृ० 586-604)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लक्ष्मणराव, के० वी० : 'चालुक्युलु दाक्षिणास्युले', पृ० 54-69 आफ मेमोरियल एडि० आफ हिज एसेज (तेलुगु, मद्रास, 1923)

मोरेस, जी एम० : 'दि कदंब कुल', (बंबई 1931)

नरसिंहाचार, आर० : 'कर्नाटक कवि चरिते', जिल्द 1, (बंगलोर, 1924)

राइस, ई० पी० : 'ए हिस्ट्री आफ कनडीज लिटरेचर', (हेरिटेज आफ इंडिया (सिरीज कलकत्ता, 1939)

सरकार, दिनेशचन्द्र : 'दि सक्सेसर्स आफ दि सातवाहनाज इन लोवर दकन', (कलकत्ता, 1939)

सोमशेखर शर्मा एम० : 'वेंगि चालुक्युलु', (भारती रक्तासि सं०)
'विष्णुकुंडि मूडव माधववर्म',—'आंध्र साहित्य परिषच्छासनम्' (भारती)

वेंकटराम अय्यर, ए० वी० : 'दि लाइफ ऐंड टाइम्स आफ चालुक्य विक्रमादित्य' इं० ऐं०, 1919 (जिल्द 48)

वेंकट रामनय्य एन० : 'डिड परमेश्वरवर्मन कैप्चर वातापी', (मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैग० अक्तू० 1927, पृ० 236-42)
: 'दुर्विनीत एंड विक्रमादित्य प्रथम', (त्रिवेणी, 1, 112-120)
: महेंद्रवर्मन प्रथम ऐंड पुलकेशिन द्वितीय', (जी० वी० राममूर्ति कोमे० वाल्यू०)
: 'त्रैराज्य पल्लव' (मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैग०, जन० 1929 पृ० 7-18)

वेंकट सुब्बय्य ए० : 'दि क्रोनोलाजी आफ दि वेस्टर्न चालुक्याज आफ कल्याणी', (इं० ऐ० 1918-19)
: दि आथर्स आफ दि राघवपांडवीय एंड दि 'गद्यचिंतामणि' ज० बं० ब्रा० रा० ए० सो० (1928) नव सं० 111, (पृ० 134-60)
: केलवु कन्नड-कविगल जीव-काल-विचार' (बेंगलूर 1927)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट ग

कल्याणी के कलचुरि

कल्याणी के चालुक्यों के खंड में इस बात का कुछ विवरण दिया गया है कि किस प्रकार कलचुरियों ने कल्याणी के चालुक्यों के सिंहासन को हड़प लिया था और उनके शासनकाल में किस प्रकार शैवों के लिंगायत संप्रदाय का उदय हुआ। यह विवरण विशेषकर उस भाग में आया है जहां तैल तृतीय और सोमेश्वर चतुर्थ के शासनों का वर्णन है। इस परिशिष्ट में हम उन घटनाओं का और सिलसिलेवार वर्णन करेंगे।

इस राजवंश का नाम अनेक रूपों में अभिलेखों में आया है। ये अभिलेख एक विस्तृत क्षेत्र में मिले हैं और कई शताब्दियों के हैं। इसकी सबसे प्रचलित हिज्जै कलचुरि ही है और आधुनिक इतिहासकार इसीसे सबसे अधिक परिचित हैं तथापि इसके कटचुरि, कलत्सुरि, कलचुटि, कालचुरि, कलचुर्य, कलचुरि, और अन्य रूप भी मिलते हैं। परवर्ती काल में ये राजवंशी अपनी उत्पत्ति पुराणों में उल्लिखित माहिष्मती के हैहय राजा कार्त्तवीर्य अर्जुन से मानते थे और अपने को हैहयवंशीय और कलचुरि बतलाते थे। किंतु कलचुरि नाम संस्कृत भाषा का नहीं प्रतीत होता। इसका संबंध तुर्की भाषा के 'कुलुचुर' शब्द से जोड़ा गया है जिसका अर्थ 'उच्च अधिकारी होता है।[1] यदि यह सही है तो यह वंश विदेशी मूल का होना चाहिए। वैसी स्थिति में ये हूणों और गुर्जरों के साथ भारत में आए होंगे। सबसे पहले हमें उनका पता छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में गुजरात में मिलता है। कृष्णराज, उसका बेटा शंकरगण, और शंकरगण का बेटा बुद्धिराज इन तीन राजाओं के उल्लेख ताम्रपट्टों में आए हैं। इनमें बुद्धिराज का बादामी के चालुक्य राजा मंगलेश से संघर्ष हुआ था। बादामी के ही एक अन्य चालुक्य राजा विनयादित्य (68:-96 ई०) ने हैहयों को पराजित करने का दावा किया है। हमें इस बात का पता है कि विनयादित्य के पोते विक्रमादित्य द्वितीय ने दो हैहय राजकुमारियों से विवाह किया था। किंतु ये हैहय संभवतः मध्य भारत में डाहल के प्रसिद्ध चेदि राज्य के राजा थे। इस राज्य में ऊपरी नर्मदा घाटी में जबलपुर और मैहर और नागोद तथा रीवा और पन्ना की रियासतों के कुछ भाग शामिल थे। इन रियासतों का अब भारत-संघ में विलय हो गया है। इनकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर जिले में आज का तेवर) थी। यहां उन्होंने कई शताब्दियों तक राज किया था। ये कभी राष्ट्रकूटों से और पूर्वी चालुक्यों से मित्रता स्थापित करते थे कभी इनका उनसे संघर्ष चलता था। इनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

कल्याणी के कलचुरि संभवतः उसी वंश के थे। किंतु उनकी ठीक-ठीक वंशावली का पता नहीं। कल्याणी की शाखा ने अपनी स्वतंत्र परंपराएं बनाईं जो हरिहर में प्राप्त कन्नड़ के अभिलेख में मिलती है।[2] इस वंश का संस्थापक कोई कृष्ण था जो एक ब्राह्मण-कन्या से उत्पन्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ था जिसके पास स्वप्न में शिवजी आए थे। कृष्ण नापित के रूप में रह रहा था। उसने कालंजर के एक दुष्ट राजा को, जो नरभक्षी था, मारकर डाहल 9 लाख के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार वह कल-चुरि वंश (कन्नड़ में 'कल (कलि) जान से मारना और 'चुरि' (सुरिगे) = उस्तरा) का भूषण हुआ।[3] जैसा कि फ्लीट ने बतलाया है कि यह-भारतीय दंत-कथाओं में यूहीमरस-वाद का एक स्पष्ट उदाहरण है। यूहीमरस नामक यूनानी विद्वान ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि देवकथाओं का आधार मानव ही होता है। इस वंश के एक के बाद दूसरे कई राजा सिंहासन पर बैठे। अंत में कन्नमदेव राजा हुआ जिसके दो बेटे थे इनमें बिज्जल बड़ा था जो उसके बाद गद्दी पर बैठा। दूसरे बेटे का नाम संदराज था जिसके चार बेटे, अम्मुगि, शंख वर्मन, कन्नर और जोगम, हुए। इनमें पहले अम्मुगि राजा हुआ। उसके बाद जोगम राजा हुआ। जोगम के बेटे पेर्माडि का पुत्र बिज्जल हुआ जिसके समय का यह लेख है। दूसरे विवरण भी हैं। वे भी उतने ही काल्पनिक हैं। इनमें पुराने राजाओं के उपर्युक्त नाम भी दूसरे हैं। ये विवरण बिज्जल के बेटों के अभिलेखों में मिलते हैं जिनका यहां हवाला देने की आवश्यकता नहीं है। किंतु नोट करने की बात यह है कि इन परवर्ती विवरण में कुछ तो पूर्व-वर्ती विवरणों की अपेक्षा अधिक सरल और वास्तविकता के अधिक निकट हैं। उदाहरणार्थ जैसा कि फ्लीट ने कहा है[1] सोभिदेव के 1174 ई० के और सिंघण के 1183 ई० के दान-पत्रों मे सीधे सादे ढंग से यह लिखा है कि जोगम कलचुरि वंश के किसी कृष्ण का बेटा था। इनमें उसके पूर्ववृत्त के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। जबकि बिज्जल के दूसरे बेटे संकम के 1178 ई० के कुक्कनूर, (हैदराबाद रियासत) के अभिलेख में कहा गया है कि 'भगवान ईश्वर (शिव)' से उत्पन्न कलचुरियों के वंश में क़ोई कन्नम नामक राजा हुआ। उसके बेटों के नाम बिज्जल और राजल थे। और राजल का बेटा अन्य विवरणों का जोगम है।

वे पहले नाम जो सभी विवरणों में समान रूप से मिलते हैं और जिन्हें हम प्रामाणिक मान सकते हैं वे जोगम और उसके कल्याणी शाखा के वंशजों के हैं। इन्हें हम नीचे लिखे रूप में जान सकते हैं :

जोगम
|
पेर्माडि
(1128 ई०)
|
त्रिभुवनमल्ल बिज्जल
(1145 और 1152 से 67 ई०)
|

सोविदेव भुजबलमल्ल पत्नी सावलदेवी	संकम निश्शंकमल्ल	वीरनारायण आहवमल्ल	सिंघण
(1167-77 ई०)	(1177-81 ई०)	(1161-83 ई०)	(1183 ई०)

कलचुरियों का 'ध्वज' 'सुवर्णवृषभ' था। उनके आगमन की घोषणा घटी-पात्र के आकार के 'डमरू' से की जाती थी। उनके राज-चिह्न का कहीं उल्लेख नहीं है। उन्हें 'कालंजर-पूर्व-वराधीश्वर' कहा जाता था। कालंजर जहां इस वंश के नापित संस्थापक ने अपना पराक्रम दिखलाया था। बुदेलखंड के बांदा जिले में एक पर्वत दुर्ग है। यह खास कलचुरि क्षेत्र का हृदय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रदेश था। डाहल के कलचुरि बराबर उस रहस्य त्रैकूटक संवत का ही प्रयोग करते रहे जिसका प्रारंभ 248-9 ई० से हुआ था। इसी वजह से प्राय: इस संवत को कुलचुरि या चेदि-संवत कहा जाता है। चेदि कलचुरियों का ही अपरनाम है।

जोगम के बारे में कोई ऐतिहासिक विवरण प्राप्त नहीं है। पेर्माडि को, जिसके अपरनाम हेम्माडियरस और परमर्दि भी थे, हम 1128 ई० में चालुक्य खोमेश्वर के सामंत के रूप में बिजापुर जिले में तर्दवाडिनाडु का शासन करते पाते हैं।[5]

पेर्माडि का बेटा बिज्जल था जिसका सही नाम संभवत: विजयादित्य था[6] जैसा कि 1149 ई० के एक अभिलेख से प्राप्त होता है। इसके बिज्ज, बिज्जण, विज्जल और विज्जण रूप भी मिलते हैं। अपने महत्वाकांक्षी और घटनाओं से भरे जीवन में उसने त्रिभुवनमल्ल का 'विरुद' और 'मुजबलचक्रवतिन' और 'चलचुरिय चक्रवर्त्तिन' की उपाधियां भी धारण की थीं। कभी-कभी उसकी सम्मिलित उपाधि 'चलचुर्य-भुजवल-चक्रवर्त्तिन' भी मिलती है। उसके अन्य पदनाम थे 'शनिवार-सिद्धि' और 'गिरिदुर्गमल्ल' और 'निश्शंकमल्ल'।[7] गिरिदुर्ग उसने होयसलों से लिया था। अपने जीवन के अंत में उसने चालुक्यों के सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। अपनी महत्वाकांक्षा की अंतिम सीढ़ी तक पहुंचने के लिए उसे किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ा यह सब जानना रुचिकर होगा।

फ्लीट ने लिखा है[8] : 'बिज्जल के बारे के जो सबसे पहला विश्वस्त उल्लेख है वह मैसूर के हरिहर से प्राप्त अभिलेख में मिलता है। इस लेख के फोटोग्राफ में कोई तिथि नहीं दिखलाई पड़ती किंतु यह अभिलेख पश्चिम चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय के समय का है। इसलिए यह 1138-9 से 1149 ई० के बीच का होगा। इसे हम 1145 ई० के आसपास रख सकते हैं। इस लेख में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख नहीं है कि वह जगदेकमल्ल द्वितीय का सामंत था। इसमें उसकी कोई उपाधि; जो अधीनता या अन्यथा की सूचक हो, नहीं दी गई है। इसमें सिर्फ यही कहा है कि उस राजा के शासन काल में बिज्जल हुआ जिसका सेवक विजय पांड्य नोलंबवाडि 32,000 का शासक था।' जगदेकमल्ल के शासन काल के 1147 ई० के अभिलेखों में उसके दो सेनापतियों, बर्म्मदंडनायक और केशिराज दंडनाथ, का उल्लेख मिलता है। इन्हें हम फिर बिज्जल के अधीन महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त देखते हैं।[9] इस प्राचीन लेख में बिज्जल का उल्लेख चालुक्यों के सामंत रूप में न होना कम से कम इस बात का सबूत है कि उस समय भी वह सिंहासन हड़पने की ताक में रहा होगा। किंतु इसकी तिथि संदेह से परे नहीं है। यह भी संभव है कि इसमें उल्लिखित जगदेकमल्ल और पूर्व उल्लिखित 1149 ई० के अभिलेख का जगदेकमल्ल भी चालुक्यों का प्रतीकमात्र है।

तैल तृतीय के शासन के कतिपय प्रारंभिक अभिलेखों में फिर वही संदेहास्पद नुस्खा 'तैल तृतीय के शासनकाल में बिज्जल' मिलता है। सबसे पहली बार तैल तृतीय के शासन के तीसरे वर्ष (1151 ई०) के बिजापुर के अभिलेख में सम्राट के रूप में कल्याणी से शासन करते तैल का उल्लेख आया है।[10] इसमें बिज्जल को चालुक्य सम्राट के अधीन 'महामंडलेश्वर' बतलाया गया है। किंतु उसे बिज्जल क्षोणिपाल भी कहा गया है। और मालवा, लाट, नेपाल और घुर्जर का विजेता कहा गया है। कह नहीं सकते कि यह कथन ऐतिहासिक सत्य था या मात्र एक आलंकारिक उक्ति। इस लेख में बिज्जल के अधीन प्रसिद्ध सेनापति मैलार का भी उल्लेख आया है। यह सेनापति इससे पहले चालुक्य साम्राज्य के हृदय प्रदेश तर्द्दवाडि 1000 (कर्णो) का राज्यपाल था और उसके अधीन अनेक पदाधिकारी थे।

1156-57 ई० तक के अभिलेखों में बिज्जल को 'महामंडलेश्वर' कहा गया है जो उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधीनस्थ पद का द्योतक है।[11] किंतु इसके साथ ही उसे 'सकल देशंगलम् आलुत्तमिरे'[12] अर्थात सभी देशों का शासक भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त एक अभिलेख में इन दोनों शासकों को समकालीन दिखलाया गया है किंतु इनके बीच आपसी राजनैतिक संबंध का उल्लेख नहीं है।[13] किंतु दो बातों से बिज्जल की गतिविधियों का दिशा-निर्देश हो जाता है। बलगंवे के जिस अभिलेख का हमने अभी हवाला दिया है जिसमें बिज्जल को सभी देशों का शासक कहा गया है, उसी में यह भी लिखा है कि उसका दंडनायक महादेव कतिपय अन्य व्यक्तियों के साथ बनवासे का शासन करता था। इन्हें बिज्जल का 'अन्तःकरणरूप' कहा गया है। क्या यह कथन कोई दूर की कौड़ी लाना होगा कि बिज्जल अपने सम्राट के विरुद्ध कोई गुप्त षडयंत्र कर रहा था जिसमें उसे चालुक्यों के साम्राज्य के, जो उस समय तक वर्त्तमान था, विभिन्न भागों के बहुत से कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त था। पुनः बलगंवे अभिलेख की तिथि के थोड़े समय बाद ही बिज्जल ने एक नया संवत् चलाया जिसका पहला वर्ष धातु संवत्सर, शक संवत् 1079 चालू, 1156-57 ई० था। उसने 'त्रिभुवनमल्ल' का विरुद धारण किया और अपने को 'भुजबल चक्रवर्त्तिन' और 'कलचुर्य चक्रवर्त्तिन' कहा। महामंडलेश्वर की उपाधि भी वह कभी-कभी धारण करता था किंतु उसकी दूसरी उपाधियां तो सार्वभौम राजाओं की ही हैं।[14] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बिज्जल ने 1156 ई० में तैल तृतीय की अधीनता का जुआ उतारकर फेंक दिया था और कम से कम तैल के साम्राज्य के कुछ हिस्सों में उसकी बराबरी का दर्जा अख्तियार कर लिया था। हावेरी के एक लेख में जो तैल तृतीय के कहीं आठवें वर्ष (दिसंबर 1157 ई०) का है बिज्जल को सम्राटों की सभी उपाधियां दी हैं: 'महाराजाधिराज भुजबल-चक्रवर्त्तिन कलचुर्य बिज्जलदेव'।[15] इसी के आसपास का अण्णिगेरे का अभिलेख है जो बिज्जल के शासन के दूसरे वर्ष का है जिसमें तैल का कोई नामोल्लेख नहीं है।[16] सिंहासन हड़पने की प्रक्रिया की परिणति उन अभिलेखों में मिलती है जिनमें बिज्जल चालुक्य सम्राटों की सभी उपाधियों के साथ कल्याणी से शासन करता दिखलाया गया है। इन उपाधियों में उसे 'समस्त-भुवनाश्रय', 'श्रीपृथ्वीवल्लभ', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' और 'परमभट्टारक' कहा गया है। इस प्रकार के उसके प्राथमिक अभिलेखों में एक वह है[17] जिसमें उसके शासन के सातवें वर्ष (चित्रभानु) की वह तिथि है जो 16 मई, 1162 ई० को पड़ी थी।

किन-किन चरणों को पार कर बिज्जल ने सम्राट का पद पाया और अंततोगत्वा कम से कम कुछ समय के लिए चालुक्यों को कल्याणी से निकाल बाहर किया, यह सब आज मालूम नहीं है। अभिलेखों में यत्र-तत्र कुछ इशारे अवश्य हैं जिनसे अनुमान होता है कि इस यात्रा में उसने कूटनीति और शक्ति दोनों से काम लिया था। उसने सम्राट के अनेक सामंतों को उससे अलग कर दिया था और उन्हें अपनी योजना में सहयोग देने को राजी कर लिया था। बिज्जल अवश्य ही एक कुशल सैनिक और कूटनीतिज्ञ रहा होगा जिसमें अपने अनुयायियों में विश्वास पैदा करने की क्षमता रही होगी। सन् 1162 ई० के बिज्जल के अभिलेखों में तागर्ते के विरुद्ध उसकी सेनाओं के अभियान और दक्षिण विजय के लिए उसकी यात्रा के दौरान बल्लिगवे में उसके स्कंधावार के उल्लेख हैं।[18] उसके एक साल बाद के एक लेख में कहा गया है कि बिज्जल ने अपना राज्य समुद्र तक लिया था ('अंबुधिसीमे-बरम्')।[19] लगभग उसी समय या उसके पूर्व के एक अन्य लेख में कहा गया है कि उसने दक्षिण में समुद्र से उत्तर में चालुक्यों की राजधानी तक के प्रदेश अपने अधिकार में ले लिए थे—'तेनिकडिधये बदगे-सीमे चालुक्य कट्कब एने'।[20] सन 1163 ई० के एक लेख में जो बिजापुर जिले के कड्लेबाड में मिला है उसकी उपाधियों में 'त्रिभुवनमल्ल-निजभुज-वीर मल्लदेव' भी मिलती है।[21] इसमें बिज्जल के निजभुज के पराक्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उल्लेख है, जिससे उसने त्रैलोक्य में अद्वितीय मल्ल की ख्याति पाई थी। इसी प्रकार मुत्तगे के एक अन्य अभिलेख में[22] (1170 ई०) बतलाया गया है कि कलचुरि वंश के राजा प्रसिद्ध सम्राट थे, किंतु उनमें कुछ कम योग्य होने के कारण 'मांडलिक राजा' बन गए थे। किंतु शक्तिशाली बिज्जल ने अपनी सेना के पराक्रम से सार्वभौम सम्राट का पद प्राप्त किया।

बिज्जल को जिन मित्र राजाओं से सहायता मिली थी उनके नाम परवर्ती लेखों में आए हैं। बिज्जल की आज्ञा से लिखवाए गए एक अभिलेख में शिलाहारों की विशेष रूप में प्रशंसा की गई है।[23] स्वयं शिलाहारों के अभिलेख में शिलाहारों के 1191 ई० के एक ताम्रपट्ट में यह बतलाया गया है कि शिलाहार विजयादित्य की सहायता से बिज्जल ने सम्राटों का मुकुट प्राप्त किया था।[24] एक अन्य जैन सेनापति रेचदंडाधिक्य ने सिंहासन पाने में बिज्जल की मदद की थी।[25] उसी अभिलेख में यह भी कहा गया है कि चालुक्य 'राजलक्ष्मी' ने 'कलचुरि-तिलक' बिज्जल की सहायता का निश्चय किया था और उसका साथ दिया था। इसमें बिज्जल की हैसियत के बारे में अत्युक्ति के रूप में कहा गया है कि सिंहल का राजा उसका पात्र वहन करता था, नेपाल का राजा उसके गांधिक का कार्य करता था, केरल तांबूल-करंक-बाहक था, गुर्जर उसका शिल्पी था, तुरुष्क उसका परिचारक था, लाट उसका पार्श्वचर था, पांड्य उसका अवलंबनार्थ दंड था और कलिंग उसके हाथी की परिचर्या करता था। यह सच है कि इस प्रकार की स्तुतियां तो बिज्जल के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में भी मिलती हैं। इसलिए इनका कोई विशेष महत्व नहीं है। हमने बर्म्म और केशिरा जनाम के दो सेनापतियों उल्लेख किया है जिन्होंने पहले जगदेकमल्ल के शासन-काल में ख्याति प्राप्त की थी किंतु बाद में उन्होंने बिज्जल के प्रति निष्ठा ग्रहण कर ली।[26] केशिराज अथवा केशवदेव बिज्जल के अधीन फिर उसके बेटे आहवमल्ल के समय में भी बनवास का राज्यपाल था। बिज्जल के अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि उसने चालुक्यों के राज्य के बहुत बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। और उसने चालुक्यों के अधिकांश सामंतों को अपनी ओर मिला लिया था। उसके अधीन हंगल का कदंब राजा सोम या सोमिदेव, कराड का शिलाहार राजा विजयादित्य, सौंदत्ति के रट्ट-कुल का कार्त-वीर्य, सिंद-कुल का ईश्वर जिसके परिवार को 'उत्तम करहाटक नगर का स्वामी' की उपाधि मिली थी, जीमूतवाहन-वंश का कलियम्मरस आदि कितने ही प्रसिद्ध राजा थे।[27]

अनेक अभिलेखों में बिज्जल का मंगलिबेध[28] और कल्याणी से शासन करने के उल्लेख मिलते हैं। मंगलिबेध पंडरपुर से 12 मील दूर है। कतिपय विद्वानों ने इसे कल्याणी का ही अपर नाम कहा है, जो ठीक नहीं है। मंगलिबेध का उल्लेख तो बिज्जल के उत्तराधिकारी राजाओं के लेखों में और अधिक बार आया है।[29] इसके साथ 'नेलिबीडुओं' के रूप में मोदिगनूर[30] और सेलेयहल्लि[31] आदि के भी नाम इन लेखों में आए हैं। यह कहना कठिन है कि इतनी राज-धानियों का उल्लेख कहीं उस समय की अस्त-व्यस्त राजनैतिक स्थिति का द्योतक तो नहीं है जिससे किसी राजा को बार-बार अपनी राजधानी बदलने की आवश्यकता पड़ती रहती थी। जो भी हो, चालुक्यों का बिलकुल सफाया नहीं हुआ था। बिज्जल की मृत्यु के बाद एक के बाद दूसरे उसके सभी बेटे गद्दी पर बैठे और वे सभी अयोग्य सिद्ध हुए। फिर तो चालुक्यों ने अपनी सत्ता पुन: स्थापित कर ली। स्वयं बिज्जल के समय में भी उन्होंने अपने विस्तृत साम्राज्य के कुछ हिस्सों में अपनी सत्ता अक्षुण रखी थी। जैसे, 1160-70 ई० के दशक में चालुक्य तैलम तृतीय के सामंत के रूप में अनंतपुर जिले के मक्किसर 'तालुक' के केत्र में मल्लिदेव चोल महा-राज शासन करता था। कुछ समय के लिए उसने अपनी निष्ठा में परिवर्तन अवश्य किया था किंतु तब वह कलचुरियों का सामंत न होकर चोल कुलोत्तुंग तृतीय का सामंत बना था।[32] इसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विपरीत उसी अवधि में उच्चंगि के वीर पांड्य ने चालुक्यों की अधीनता का परित्याग कर कलचुरियों की अधीनता स्वीकार की थी।[33] इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि उस अवधि में काफी लड़ाई-झगड़े हो रहे थे और स्थानीय रूप में धावे और खून-खराबे की घटनाएं बढ़ गई थीं। उस समय कानून और व्यवस्था की रक्षा करना आसान काम नहीं रह गया था। दूर के जिलों में अनधिकृत तौर पर काफी झगड़े-फसाद होते थे। अधिकांश मामलों में इस अव्यवस्था के ठीक-ठीक ब्यौरे तो प्राप्त नहीं हैं, और न तो यह संभव ही है न ही जरूरी कि इन सबका ब्यौरा दिया जा सके। तथापि कुछ खास-खास मामलों का उल्लेख किया जा सकता है। कुपटूर में एक युद्ध,[34] गुत्ति अर्थात बनवासे में चंद्रगुत्ति में कई युद्ध, कई वर्षों तक उसकी घेरेबंदी (1158-64 ई०)[35] 1166 ई० में गिन्नलगुंडि का घेरा जिसमें एक होयसल 'मंडलिक' के विरुद्ध कलचुरियों को नाकामयाबी हाथ लगी,[36] ये कुछ उदाहरण उन संघर्षों के हैं जिनके बारे में हमें पता है।

बिज्जल का शासनकाल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें वीरशैव मत अथवा लिंगायतमत के रूप में शैव धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इस पुनरुत्थान के बारे में फ्लीट ने लिखा है :[37] 'शिवभक्तों के इस नए संप्रदाय को वीरशैव कहते थे, जनता में उन्हें लिंगायत या लिंगवंत अर्थात 'लिंग धारण करने वाला' कहते थे। लिंगायत लोग—इस संप्रदाय के लोग अपने लिए इसी नाम का प्रयोग करने के हिमायती हैं—अन्य शैवों से वाह्यतः इस बात में भिन्न हैं कि वे सदा एक सूक्ष्म 'लिंग' अपने पास रखते हैं। यह आमतौर पर चांदी की डिबिया में रहता है जिसे ये अपनी गर्दन में धागे से लटकाते हैं जो कमर तक लटकता है। इनके संप्रदाय की मुख्य विशेषता लिंग और नंदि की पूजा है। ये ब्राह्मण-द्वेषी होते हैं और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। इनमें बाल-विवाह को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। विधवा-विवाह की अनुमति है और चलन भी।' कतिपय आधुनिक अनुसंधायक लिंग को शिश्न का प्रतीक न मानकर उसे परमात्मा की प्राप्ति का प्रतीक मानते हैं।[38] उनका यह भी मत है कि वीर शैवों के कतिपय विचार तो उतने ही प्राचीन हैं जितने 'उपनिषद' और 'ऋग्वेद'। उनका तर्क है कि यह संप्रदाय बिज्जल और उसके समसामयिक सुधारक बसव से बहुत पहले का है।[39] इन मतों की विस्तृत समीक्षा का अवसर नहीं है। इस संबंध में इतना कहना ही अलम होगा कि इन स्थापनाओं की पुष्टि के लिए पक्के प्रमाण नहीं हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत को न मानना लिंगायतों की विशेषता है। किंतु लिंगायतों का यह विश्वास अवश्य है कि जो भी यथाविधि उनके संप्रदाय में दीक्षित होता है उसे मुक्ति प्राप्त होती है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। दूसरे शब्दों में पुनर्जन्म ही आत्मा की नैसर्गिक परिणति है किंतु जो लिंगायत संप्रदाय में दीक्षित हो जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

लिंगायत संप्रदाय के बारे में बहुत सी लिंगायत और जैन अनुश्रुतियां हैं। इनमें परस्पर विरोध है। ये विभिन्न समयों की भी हैं। जैन अनुश्रुतियां लिंगायतों से बाद की है। अतः इनके जरिये घटना-प्रवाह का वास्तविक क्रम निर्धारित करना कठिन है। इस संबंध में फ्लीट का मत ही मान्य है जिसमें आधुनिक अनुसंधानों के संदर्भ में यत्र तत्र कुछ संशोधन की आवश्यकता है। फ्लीट का मत इस प्रकार है : बसव के माता पिता धार्मिक प्रवृति के ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम मादिराज और माता का नाम मादलांबिका था। ये बगेबाडी (बिजापुर जिला) के निवासी थे। बसव शिव के नंदी के अवतार माने जाते हैं। इनका अवतार शैव संप्रदाय के उद्धार के लिए हुआ था जो उस समय गिरी अवस्था में था। आठ वर्ष की आयु तक पहुंचते पहुंचते बसव ने शैवमत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्होंने अपना उपनयन कराने से इनकार कर दिया था। उन्होंने अपने को शिव का विशेष भक्त बताया और कहा कि वे इस संसार में जाति प्रथा के अंत के लिए आए हैं। वसव के कार्यों और उनके चरित्र की ओर उनके मामा बलदेव का ध्यान आकृष्ट हुआ जो बिज्जल के प्रधान मंत्री थे। बलदेव ने वसव से अपनी पुत्री गंगादेवी अपर नाम गंगंबा का विवाह कर उन्हें अपना दामाद बना लिया किंतु ब्राह्मण उनके क्रांतिकारी विचारों से बड़े उद्विग्न हुए और उन्होंने वसव को सताना प्रारंभ किया। उन्होंने कप्पडी नामक गांव में शरण ली और वहां उन्हें स्वयं भगवान संगनेश्वर ने उपदेश दिया। बलदेव की मृत्यु के बाद बिज्जल ने वसव को प्रधानमंत्री बनाने का निमंत्रण दिया। इस समय तक वसव की बुद्धि और गुणों की बड़ी ख्याति फैल चुकी थी। वसव ने यह सोचकर कि उस पद पर रहते हुए वे अपने मत का अच्छी तरह प्रचार कर सकेंगे, प्रधानमंत्री का पद स्वीकार कर लिया। अपनी बड़ी बहन नागलांबिका के साथ वे कप्पडी से कल्याणी चले गए। यहां राजा ने उनका बड़ा सम्मान किया और उन्हें प्रधानमंत्री, प्रधान सेनापति और कोषाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। अब राजा के बाद शासन में उनका ही स्थान था। राजा ने अपने प्रधानमंत्री को सदैव अपने पक्ष में रखने के लिए अपनी छोटी बहिन नीललोचना का विवाह उनके साथ कर दिया। इसी के आसपास चन्नवसव का जन्म हुआ। उसका यह नाम इस कारण पड़ा क्योंकि वह बसव से भी सुन्दर था। चन्नवसव भगवान शिव के पुत्र षण्मुख अथवा कार्तिकेय का अवतार था। उसमें माता पार्वती की बुद्धि थी। वह वसव की कुमारी बहन का भगवान शिव द्वारा उत्पन्न पुत्र था। फ्लीट का कहना है कि चन्नवसव ने नए मत के प्रचार में संभवतः वसव से भी अधिक कार्य किया था क्योंकि अनुश्रुतियों के अनुसार अनेक प्रश्नों पर बसव उससे भी उपदेश ग्रहण करते थे।

इस प्रकार अपने योग्य भांजे की सहायता से तथा अपने पदाधिकार का पूरा पूरा उपयोग कर बसव ने अपने मत का जोरदार प्रचार किया और उसका पुनरुद्धार उन्होंने किया था। उन्होंने इस दिशा में जो प्रयत्न किए उनमें अन्य धार्मिक संप्रदायों पर अत्याचार हुए और कभी कभी तो उनका सफाया भी कर दिया गया। इस प्रक्रिया में जैनियों पर भी अत्याचार हुए। इन सब बातों से बिज्जल के मन में वसव के प्रति संदेह और अविश्वास पैदा हुआ। बिज्जल को प्रायः जैन बतलाया भी गया है। फिर मंचण्ण जैसे कई मंत्री भी बसव के विरोधी थे, जिन्होंने राजा के मन में बसव के प्रति जो आग सुलग रही थी, उसे भड़काया। विस्फोटक स्थिति तब पैदा हुई जब बिज्जल ने हल्लेयग और मधुवय्य नामक दो कट्टर लिंगायतों की आंखें निकलवा लीं। वसव ने भागकर कूडलि-संगम में शरण ली और जगद्देव नामक अपने एक अनुयायी को राजा की हत्या करने को भेजा। जगद्देव ने खुले दरबार में अपने दो मित्रों की सहायता से राजा को मार डाला। इसके बाद गृह-युद्ध छिड़ गया। बसव कूडल-संगम के देवता संगमेश्वर में विलीन हो गए। चन्नबसव ने भागकर उत्तर कन्नड़ में उलवि की एक गुफा में शरण ली। 'बसव पुराण' की मुख्य कथा यही है।

'चन्नबसव पुराण' की कथा इससे कुछ भिन्न है। इसमें वसव के संगनेश्वर देव में विलीन होने की तिथि शक संवत् 707 (785 ई०) दी है जो असंभव है। इसमें यह भी कहा है कि बसव के बाद चन्नबसव मंत्री हुआ था और उसने गृहयुद्ध में बिज्जल को हरा दिया था। किंतु अपनी माता की सलाह मानकर उसने बिज्जल के मृत सैनिकों को जिंदा कर दिया था और बिज्जल को सदुपदेश के साथ उसका राजपाट वापस कर दिया था।

किंतु जैनों का पक्ष जो 'बिज्जलाचार्यचरित' में दिया गया है इससे एकदम भिन्न है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें यह कहा गया है कि बसव की एक बहुत सुंदर बहिन थी जो बिज्जल की रक्षिता थी। उसी के कारण राजा पर बसव का अत्यधिक प्रभाव था। एक जैन छद्मवेशी जंगम (लिंगायत संन्यासी) ने राजा को एक विषयुक्त फल दिया जिसे सूंघने के कारण बिज्जल की मृत्यु हुई। मरने से पूर्व बिज्जल ने अपने बेटे इंमडि बिज्जल को बतला दिया था कि वह फल बसव ने ही भिजवाया था। मृत्यु से पूर्व उसने अपने पुत्र को आदेश दिया था कि वह बसव का बध करा देगा। इस पर इंमडि बिज्जल ने बसव का सिर काट लेने और सभी जंगमों का नाश करने की आज्ञा दे दी। यह सुनकर बसव ने एक कुंए में कूदकर जान दे दी। उसकी पत्नी नीलांबा ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। जब इंमडि बिज्जल का क्रोध शांत हुआ तो चन्नबसव ने अपने मामा का पूरा खजाना राजा को सौंप दिया। राजा ने उस पर कृपा की और उसे अपने दरबार में मंत्री बना दिया।

ये दंत-कथाएं परस्पर विरोधी हैं। इसलिए इनकी आलोचना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः फ्लीट तो इनमें आए दो नामों, बसव और चन्नबसव को छोड़कर इनके सभी विवरणों को अस्वीकार करने के पक्ष में थे।[10] फ्लीट के मतानुसार शैवमत का वास्तविक उद्धार करने वाला एकांतद रामय्य था। इसके चमत्कारों की कहानी पारवर्ती काल के अबलूर के अभिलेखों में मिलती है जिन पर हम यहां किंचित विस्तार से विचार करेंगे। फ्लीट तो इन 'पुराणों' के विवरणों के प्रति इतना अविश्वास करता था कि वह यह भी मानने को तैयार न था कि बसव के माता-पिता का नाम मादलांबिका और मादिराज था। उसके मतानुसार बसव के पिता का नाम चंदिराज और माता का नाम चंद्राविका था। बसव कश्यप गोत्री था। हारिति गोत्र के मादिराज का बसव से कोई संबंध ही न था।[11] फ्लीट ने वस्तुतः मनगोली के अभिलेख का गलत अर्थ लगाया है। 1161 ई० के इस अभिलेख में मादिराज और बसव दोनों के नाम आए हैं। इसमें मादिराज को 'माणिक्यवल्लीपरप्रभु' कहा गया है और उसकी गणना वहां के 500 'महाजनों' में की गई है। इस लेख के अनुसार बसव ने उसी नगर में कालीदेवेश्वर का मंदिर बनवाया था।[12] किंतु यह बसव एक भिन्न व्यक्ति था। वह सुधारक बसव नहीं जैसा कि फ्लीट ने माना है। यह बात यादव कन्नर के अर्जुनवाड अभिलेख (1160 ई०) से स्पष्ट है जिसमें बसव की वंशावली दी है। इस लेख में साफ साफ लिखा है कि बसव या संगमबसव मादिराज का छोटा बेटा था। इसमें मादिराज को 'तृर्दवाडि मध्यग्राम-बागवाडि पुरवराधीश्वर' कहा गया है।[13] यह तो संभव है कि मनगोली के अभिलेख का माणिक्यवल्लीपर प्रभु मादिराज और यादव अभिलेख का बागवाडी पुरवराधीश्वर एक ही हों। इतना तो निश्चित है कि इन दोनों अभिलेखों के बसव एक नहीं बल्कि दो व्यक्ति हैं और फ्लीट ने मनगोली अभिलेख के बसव को महान सुधारक बसव मान लेने में गलती की है। सुधारक बसव के पिता के नाम की तो अभिलेखीय प्रमाण से पुष्टि हो गई है किंतु 'पुराणों' में आए उसकी माता मादलंबिका के नाम की अभी पुष्टि नहीं हो पाई है।

फ्लीट का मत है कि 'दरअसल जिस व्यक्ति ने यह आंदोलन चलाया और जिस रूप में उसने इसे चलाया' यह सब अब्लूर के अभिलेख से स्पष्ट है[14] और तदनुसार प्रायः यह कहा जाता है कि लिंगायत आंदोलन का वास्तविक जनक एकांतद रामय्य था। बसव ने तो उससे काफी बाद में इसको राजनैतिक सहायता प्रदान की थी। यदि 'पुराणों' के प्रति अनुचित अविश्वास छोड़ दें और उनमें उल्लिखित मुख्य बातें मान लें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि रामय्य बसव के नए मत का एक उत्साही अनुयायी था जिसकी अपनी जान देकर भी रक्षा करने को वह प्रस्तुत था। दरअसल 'बसव पुराण' का तो इसी ओर इशारा भी है। उसमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साफ साफ लिखा है कि बसव की ख्याति सुनकर रामय्य उससे मिलने कल्याणी गया था।[45] रामय्य के उल्लेख वाले अब्लूर अभिलेख की तिथि 1200 ई० है। इसमें बहुत से अलौकिक चमत्कारों का उल्लेख है। कोई वजह नहीं कि बसव और चन्नबसव के बारे में 'पुराणों' में जो उल्लेख आए हैं उनसे इस अभिलेख की बातों को अधिक प्रामाणिक माना जाए। संक्षेप में रामय्य की कथा यह है। रामय्य कुंतल देश में अलंदे के एक शैव ब्राह्मण परिवार में हुआ था। शिव पर उसकी अनन्यमनसा भक्ति थी। इसलिए उसका नाम एकांतद (एकांतमन) रामय्य हुआ। अबलूर में जैनों से उसका विवाद हुआ। गांव का मुखिया शंकगौंड जैनों का नेता था। रामय्य ने दिव्य-परीक्षा के लिए गांव के शिव मंदिर से लाई गई शिव जी की प्रतिमा के चरणों में अपना सिर काटकर चढ़ा दिया। सात दिन बाद देवताओं ने उसका सिर उसे वापस कर दिया। उसके शरीर पर कोई दाग भी न रहा। दिव्य-परीक्षा से पहले जैनों ने वादा किया था कि यदि रामय्य इस परीक्षा में सफल रहा तो वे अपने मंदिर से जिन की मूर्ति हटाकर वहां शिव की मूर्ति स्थापित कर देंगे। जब जैन अपने वादे से मुकर गए तो रामय्य ने जैनों के विरोध के बावजूद स्वयं उनके मंदिर को नष्ट कर दिया और उसके स्थान पर 'वीर सोमनाथ' का एक विशाल मंदिर, 'पर्वत की भांति विशाल' बनवाया। जैनों ने बिज्जल के दरबार में फरियाद की। बिज्जल की उपस्थिति में रामय्य ने अपनी चुनौती फिर दुहराई। उसने कहा कि वह अपना सिर पुनः काट देने को प्रस्तुत है बशर्ते कि जैन लक्ष्मेश्वर की आनेसेज्जैय-बसदि समेत अपने 800 मंदिर दांव पर लगाने को तैयार हों। बिज्जल ने इस प्रस्ताव को उचित ठहराया। किंतु जैन इसे मानने को तैयार न हुए। इसलिए 'बिज्जल ने हंसकर उन्हें सलाह दी कि भविष्य में वे झगड़ा-फसाद न करें और अपने पड़ोसियों से मिलजुल कर शांतिपूर्वक रहें।' उसने आमसभा में एकांतद रामय्य को जयपत्र दे दिया। उसने वीर सोमनाथ के नए मंदिर को एक गांव भी दान में दिया बाद में चालुक्य वीर सोमेश्वर चतुर्थ और हंगल के महामंडलेश्वर कामदेव ने भी इस मंदिर को अन्य दान दिए।[46]

बिज्जल का इस नए आंदोलन के प्रति क्या भाव था ? उसका अपना धर्म क्या था ? वीरशैव और जैन दोनों साहित्यिक प्रमाण उसे जैन बतलाते हैं। तेलुगु 'बसवपुराणमुलु' में उसे पांडुरंग का उपासक अवश्य कहा गया है।[47] किंतु ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि बिज्जल सचमुच जैन था। उसका परिवार शैव था। कलचुरियों का राजचिह्न भी शैव ही था। जिसका उसके शासन-काल में बदलने का कोई प्रमाण नहीं है। उसके और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में आमतौर पर शुरू में शिव, हरिहर आदि की बंदना मिलती है। उसके शासन काल में स्वयं उसने, उसके सामंतों और अधिकारियों ने शिव और विष्णु के अनेक मंदिरों का पुनर्निर्माण कराया और उन्हें प्रभूत दान दिए। सचाई तो यह प्रतीत होती है कि वह कट्टर शैव था किंतु वीरशैव का अनुयायी न होने के कारण वीरशैव मत वाले उसे जैन कहकर उसकी निंदा करते थे जो उनके कट्टर शत्रु थे। एकांतद रामय्य और जैनों के बीच विवाद में उसने जिस प्रकार नितांत निष्पक्षता का व्यवहार किया उससे इस मत की पुष्टि होती है। जहां तक जैनों का प्रश्न है वे तो हर प्रसिद्ध व्यक्ति को जैन कहते हैं। अतः जैनों की पक्षपात पूर्ण साक्षी पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

लिंगायत आंदोलन के संबंध में हमारा निष्कर्ष संक्षेप में यह है कि इसका श्रीगणेश बसव ने किया था। उसने जाति-प्रथा पर जो आक्षेप किए उससे समाज को धक्का लगा। एकांतद रामय्य उसके प्रारंभिक और कट्टर अनुयायियों में था। उसका जैनों से घोर विरोध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ जिसमें खून खराबा भी हुआ। इससे और इस बात से भी कि बसव अपने मत के प्रचार में प्रधान मंत्री के रूप में अपने राजनैतिक पद का भी उपयोग करता था, बिज्जल के लिए विरोधी मतों के बीच संतुलन बनाए रखना आवश्यक हो गया। संभवतः इसी वजह से उसके विरुद्ध षड्‌यंत्र हुआ और उसके फलस्वरूप उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। बिज्जल के हाथों लिंगायतों के सताए जाने की जो कहानियां प्रचलित हैं उन पर हमें सावधानी से विचार करना होगा। इसमें कोई शक नहीं कि उसके शासनकाल में कर्नाटक में जैन धर्म की स्थिति काफी बिगड़ गई थी।

बिज्जल के शासन का अंतिम लेख उसके बारहवें वर्ष का है जिसमें 1197 ई० या 1168 ई० के प्रारंभ की तिथि है।[48] शाके 1091 (सर्वधारी वैशाख संभवतः 24 अप्रैल 1168 ई०) के एक अभिलेख के आधार पर फ्लीट का कहना है कि इसी के आसपास बिज्जल ने सिंहासन का परित्याग कर उस पर अपने बेटे सोविदेव को बैठा दिया था। इस लेख में लिखा है: 'समस्त पृथ्वी के एक मात्र प्रभु, एक छत्र राजा बिज्जल ने शासन का भार अपने प्रिय पुत्र सोविदेव को दे दिया।' अन्य अभिलेखों के अनुसार सर्वजित संवत्सर सोविदेव के शासन का प्रथम वर्ष था।[49]

बिज्जल के तीन अन्य पुत्र भी थे जो सोविदेव के बाद बारी-बारी सिंहासन पर बैठे। फ्लीट के अनुसार 1179 ई० के राने के और 1180 ई० के सुडी के अभिलेख के अनुसार बिज्जल को उसकी पत्नी ईचलदेवी से—यह संभवतः सोविदेव और उसके अन्य भाइयों की माता न थी—उसे वज्रदेव नामक एक पुत्र और एक पुत्री भी थी। जिसका नाम सिरियादेवी था। इसका विवाह महामंडलेश्वर चावुंड द्वितीय से हुआ था जो येलुबर्ग के सिंदकुल का था।'[50]

सोविदेव (वास्तविक नाम सोमेश्वर) ने सम्राट की समस्त उपाधियों के साथ दस वर्ष तक (1167-7. ई०) राज्य किया। राजमुरारि उसका विरुद था। उसके अभिलेख काफी संख्या में मिले हैं। उसके 1176 ई० से कुरुगोडु (देल्लारी तालुक) के एक अभिलेख में[51] राचमल्ल नामक एक सामंत वहां के दुर्ग का स्वामी था। जिससे अनुमान होता है कि सोविदेव ने कुछ नए प्रदेश भी जीते थे। 1171 ई० के एक लेख के अनुसार उस समय बनवासी के कदंब राज्यपाल सोविदेव ने उस साल अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हुए चंगालूव राजा को बेड़ियां पहना दी थीं।[52] इसके दो साल बाद के एक लेख से विदित होता है कि लगान की वसूली के लिए राजा को सेना भेजनी पड़ी थी। अभिलेखों से विदित होता है कि उस समय शांति और व्यवस्था भंग होने की बहुत सी घटनाएं हुई थीं। राजमुरारि सोविदेव की एक रानी का नाम सालवदेवी था जिसके बारे में कहा गया है कि राजा को वह प्राणों से प्यारी थी। वह संगीत और नृत्य में पटु ही न थी बल्कि इन कलाओं का वह सार्वजनिक प्रदर्शन भी करती थी।[53] उसका भाई भैरव वाद्य प्रवीण था। विशेषकर ब्रह्मवीणा तो बहुत ही अच्छी बजाता था। रानी की एक बहन वाचलदेवी भी गीत और नृत्य में कुशल थी।

सोविदेव के बाद उसका छोटा भाई संकम निश्शंकमल्ल गद्दी पर बैठा। संभवतः 1176 ई० से ही वह शासन में अपने भाई सोविदेव का हाथ बंटाने लगा था किंतु उसके शासन की तिथियां 1177 से 1180 ई० के बीच की हैं। अभिलेखों में उसके भी वैसे ही विरुद हैं जो सोविदेव के थे। इनमें से एक में तो पारंपरिक शैली में उसका गुणगान खूब बढ़ा चढ़ा कर किया गया है।[54] इसमें यह भी बतलाया गया है कि 1179 ई० में उसने अपने मंत्रियों और सेनापतियों के साथ दक्षिण केदारेश्वर के मंदिर की यात्रा की थी। इस राजा के सामंतों में दंडनायक कावण अथवा कावणय्य का उल्लेख आया है उसे। 'कलचुर्य राज्यलक्ष्मी का उद्धारक' कहा गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे सामंत होयसल महामंडलेश्वर वीर बल्लाल द्वितीय ने अपनी 'प्रिय-अरसि' (अग्रपत्नी) रेमादेवी के साथ हैदराबाद राज्य में कौलूर के हरि हरेश्वर के मंदिर में दान दिया था।[55] कावणय्य और वीर बल्लाल के उल्लेख कई अभिलेखों में आए हैं। इनमें दो महत्व के हैं। एक लेख में वीर बल्लाल ने सम्राटों की सभी उपाधियां ली हैं। उसी लेख में बतलाया गया है कि जब संकम ने पश्चिमी तट (कडलसीमे) पर आक्रमण किया तो वीर बल्लाल ने कलचुरि सेनाओं का मुकाबला किया था। 1180 ई० के एक लेख में कावणय्य को 'होयसन दिशापट्ट' (होयसनको हटानेवाला) की उपाधि दी गई है[56] किंतु इसके बाद एक लेख में वह संकम के रूप में आया है।[57] इससे प्रकट है कि इस युद्ध में होयसल की विजय नहीं हुई थी। कावणय्य के बारे में यह भी कहा गया है कि उसने बलेनाडु के चोडों को उनल निवास से उखाड़ फेंका था और कोंकणों (शिलाहारों) को भयभीत किया था। किंतु इनके ब्यौरे नहीं दिए हैं।

1182 ई० में या उसके ठीक बाद संकम के बाद उसका छोटा भाई राजा हुआ। उसके सही सही नाम का पता नहीं। सिर्फ अपने बिरुद आहवमल्ल से ही वह ज्ञात है। उसके लेख 1180 ई० से ही मिलने लगते हैं। इससे पता चलता है कि उसी साल से वह शासन में हाथ बंटाने लगा था। पारंपरिक परमभट्टारक के अलावा उसकी उपाधि वीरनारायण भी थी। फ्लीट का कहना है कि संभवतः 1179-80ई० में राज्य का दोनों भाइयों में बंटवारा हो गया था। संकम ने उत्तरी और पूर्वी हिस्से अपने पास रख लिए थे और आहवमल्ल दक्षिण के अधिकांश भाग का राजा हुआ था। किंतु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। उसके आखिरी अभिलेख 1183 ई० के हैं। एक अकेले ताम्रपट्ट[58] से विदित होता है कि इसी समय के आसपास उसका छोटा भाई सिंघण राजा हो गया था। इसके बाद इन भाइयों के कुछ भी उल्लेख नहीं हैं, सिवाय इसके कि तव कलचुर्य शासन का अंत हो गया और चालुक्यों ने पुनः अपने साम्राज्य की एकता स्थापित कर ली। इन घटनाओं का विवरण हम चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ के शासन के वर्णन के सयय दे चुके हैं।

कलचुरियों के शासनकाल में सामाजिक और प्रशासनिक अवस्था प्रायः वैसी ही रही जो चालुक्यों के शासनकाल में थी। सिर्फ इस काल में लिंगायतों के आंदोलन के कारण सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उफान अवश्य आया था। लिंगायतों के आंदोलन के कारण और कुछ इस वजह से भी कि एक सामंत राजवंश ने सम्राट सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था, उस समय कानून और व्यवस्था की रक्षा का कार्य कुछ कठिन अवश्य हो गया था। इस काल के अभिलेखों से यही धारणा बनती है कि स्थानीय आधार पर बराबर उपद्रव होते रहे और एक प्रकार की असुरक्षा की स्थिति थी। कभी कभी तो दौरों के समय राजा के कैंप में भी उपद्रव हो जाते थे।[59] किंतु असुरक्षा के इस माहौल में भी ससाज के नेता धार्मिक और लौकिक कार्यों के लिए न्यास स्थापित करने से बिरत न हुए ये[60] जो शांति काल की विशेषताएं हैं। बिज्जल के अधीन बनवासी के राज्यपाल केशवदेव ने 1159 ई० में बलिपुर (बलगंवे) में केशवेश्वर का एक मंदिर बनवाया था जो बाद की शताब्दियों में लुप्त हो गया किंतु उसके निर्माण लेख के अनुसार इसकी लकड़ी और पत्थर को वह रूप दिया गया था 'मानो ब्रह्मा की सृष्टि में जो भी रूप है यह उसका मूर्त्त स्वरूप है।' मंदिर के सामने के पुर में बड़े बड़े मकान थे, उनके हर कमरे में सुंदर खाटें थीं, जिन पर मुलायम से मुलायम बिस्तरे थे, तरह तरह के बर्तन थे जो ब्राह्मणों को दान में दिए गए थे। इन दानों के अलावा भी उस सामंत ने पंच मठों और तीन पुरों के प्रतिनिधियों के सान्निध्य में बहुत से दान दिए थे। पंच मठों के पुजारियों के नाम भी दिए गए हैं। इसके अलावा ब्रह्मपुरियों के भी उल्लेख हैं। इन सबकी देखरेख के साथ नए 'पुर' की देखरेख का भार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केशिमय्य ने अपने आराध्य राजगुरु वामशक्ति को सौंपा था जो गौतम का पुत्र था और लाकुलागन का आभूषण था। दक्षिण केदार स्थान का अध्यक्ष वही था। प्रसंगवश यह भी उल्लेख है कि इस उल्लेख से और बाद में के उल्लेखों से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि लिंगायत मतेतर शैव धर्म भी इस काल में फल-फूल रहा था। वह केशव (केशिमय्य) दंडनायक आहवमल्ल के अधीन बनवासी का राज्यपाल भी था। उसने बड़ी शान से इस प्रांत का शासन किया। एक बार उसने अपने सेनापतियों और वणंजु व्यापारियों (नानादेशियों, मनेवरत और जोरूप) को बुलाकर उनकी उपस्थिति में आज्ञा दी कि बल्लिगावे का जो भी वणिजिग पुत्रहीन हो मरेगा उसकी सारी संपत्ति भगवान गवरेश्वर को मिलेगी और जो नगर में मरेगा उसकी संपत्ति नगरेश्वर स्वामि को मिलेगी और सभी पंच 'मठों', तीन 'पुरों', और सात 'ब्रह्मपुरियों' में जहां भी इस प्रकार की बिना दावेदारों की संपत्ति होगी वह वहां के देवता की होगी।' यह आज्ञा उसने राज्यपाल के मंत्री और वामशक्ति के शिष्य स्वामिदेव की सलाह पर दी थी।

बिज्जल के ही शासन काल के 1162 ई० के एक अभिलेख में कसपय्य नामक एक दूसरे महान मंत्री का उल्लेख है जिसकी सलाह पर राजा ने बम्मरस को बनवासीनाड का शासक नियुक्त किया था। इस लेख में हमें शासन प्रणाली और उच्च शिक्षा में मठों की भूमिका का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता हैं कि बम्मरस पर 5 'करणमों' का अकुंश था। ये 'करणम्' राजा की ओर से नियुक्त थे ताकि वे 'यह देखते रहें कि बम्मरस का शासन भ्रष्ट न हो। अर्थात वे उसकी राजभक्ति पर नजर रखते थे। ये बिज्जल की पंचेंद्रियां थे 'मंत्रित्व के कौशल' में अद्वितीय, उद्दंड सिंहों की भांति साहसी, कूटाचरण पकड़ने में दक्ष, सभी विरोधियों से श्रेष्ठ थे। एक दिन बामरस और उसके दरबारी और ये कारणम धर्म चर्चा कर रहे थे। वे कोडियमठ, दक्षिण केदार स्थान का गुणगान करने लगे। प्रशंसा में यह भी कहा गया कि यहां 'चारों 'वेदों' और 'वेदांगों' का पाठ होता है। कौमार, पाणिनीय, शाकटायन, शब्दानुशासन और अन्य व्याकरणों की टीका होती है। षाड्दर्शनों-न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य और बौद्ध आदि की टीका होती है। लाकुलसिद्धांत, पातंजल और अन्य योग-शास्त्रों की टीका होती है। अठारहों 'पुराणों' 'धर्म-शास्त्रों', सभी काव्यों, नाटकों, प्रहसनों आदि सभी विद्याओं का अध्ययन होता है। यहाँ सभी देशों के निर्धनों, अनाथों, अपंगों, अंधों, बधिरों, कथाश्रावकों, गायकों, आहतों, 'क्षपणिकों', 'एकदंडिनों', 'त्रिदंडिनों', 'परमहंसों' और भिक्षुकों को मुफ्त भोजन दिया जाता है। अनाथ रोगियों की मुफ्त शिक्षा होती है। सभी के लिए यह अभयस्थल है। इसी बीच बिज्जल महाराज जो दक्षिण विजय के लिए निकले थे वहां आ पहुंचे। उनका स्कंधाबार बल्लिगवे में था। वे सभी उनके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने दक्षिण केदार और बामशक्ति की प्रशंसा की। राजा ने दक्षिण केदारेश्वर और अब्बूलुर (अब्लूर) के मंदिरों को प्रभूत दान दिया।'

अन्य लेखों में जो बिज्जल के उत्तराधिकारियों के शासन कालों के हें दक्षिण केदार को अन्य दानों और अन्यत्र भी निधियां स्थापित करने और दान देने के उल्लेख हैं। किंतु ये उल्लेख उतने ब्यौरेवार नहीं हैं। इन सबका विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि इस काल के अंतिम चरण में, 1200 ई० के आसपास इस बात के प्रमाण हैं कि जैन-धर्म अपने पैरों पर खड़ा था।[61] चारुकीर्ति पंडित देव-श्रवण बेलगोल के गुरुओं की यही उपाधि थी—ने एक पंच बस्ति का जीर्णोद्धार कराया था और उन्होंने इसके लिए एक गांव का दान भी प्राप्त किया था। यह गांव पहले एक दूसरे बस्ति के नाम में था जो तब लुप्त हो चुकी थी। अतः यह गांव चारुकीर्ति पंडित देव ने इस पंचबस्ति के नाम करा दिया था। संभवतः पुरानी बस्ति लिंगायतों और जैनों के झगड़े में उससे पहले नष्ट हो चुकी थी।[62]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. प्रोसीडिंग्स, 'इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस', 1943, पृ० 44.
2. ए० क०, xi, Dg 42.
3. डा० क० डि०, 458, टि० 2.
4. डा० क० डि०, 468-9.
5. 'इं० ऐं०', xii, पृ० 12, स० 57; बा० क०, 1930-1 का 8; तथा 1936-7 का 95.
6. मैं० आ० रि०, ˏ928 का 79.
7. ए० क०, vii, संस्कृ०, 123.
8. डा० क० डि०, 471-2.
9. पूर्व पृष्ठों में जगदेकमल्ल द्वितीय में.
10. बा० क०, 1933-4 का 124, इ० ना० क० को० 10, तथा बा० क० 1935-6 का 10 n.d.
11 बा० क०, 1933-4 का 130.
12. ए० क०, vii, संस्कृ० 104. 108. इन दोनों में 'महामंडलेश्वर'. 104 में सभी मंडलों का शासक. फ्लीट ने उसकी तिथि दिसंबर 1155 रखी है, डा० क० डि, 473. किंतु उनका यह कथन है कि 'बिज्जल द्वारा तैल तृतीय को सम्राट मानने वाला यह अंतिम अभिलेख है" अब सत्य नहीं रह गया है.
13. ए० क०, vii, Sb, 277, 328 आदि.
14. 1149 ई० का अभिलेख (मैं० आ रि० 1928 का 79) विजयादित्य नाम के अतिरिक्त 'महाराजाधिराज' को उपाधि भी देता है. क्या इसमें किसी पूर्व कृत्य को बाद में लिपिबद्ध किया गया है ?
15. बा० क०, 1932-3 का 103.
16. 1928-9 का 201; डा० क० डि, 474.
17. 1937-8 का 14, अन्य प्रमाणों के लिए दे० डा० क० डि०, 474-5.
18. ए० क० vii, संस्कृ० 56, 102.
19. वही, सं० 242; तथा xi, Dg, 35.
20. वही, संस्कृ० 123; राइस, 'मैसूर ऐंड कुर्ग', 81.
21. बा० क०, 1936 का 33.
22. 1929-30 का 101; इ० ना० क० को०, 31, छंद 27.
23. बा० क० 1929-30 का 101; इ० ना० क० को०, 33 पंक्ति 46.
24. डा० क० डि०, 475 और 548.
25. ए० क०, vii संस्कृ० 197.
26. वही, vii, संस्कृ० 123.
27. डा० क० डि०, 475-6.
28. बा० क०, 1937-8 का 68; 1940-1 का 110 आदि.
29. वही, 1936-7 का 37.
30. वही, 1933-4 का 184; 1929-30 का 101.
31. वही, 1936-7 का 42.
32. सा० इं० इं०, ix, (i) सं० 268-9; 1899 का 117; सा० इं० इं०, vi, सं० 553.
33. सा० इं० इं०, ix (i) सं० 267 (1160) और 293 (1162).
34. ए० क० viii, sb, 255.
35. वही, sb, 416, 568 और 287.
36. मैं० आ० रि०, 1928, 81.
37. डा० क० डि०, 477.
38. 'ए हैंड बुक आफ वीरशैविज्म', लेखक नंदिमथ, अध्याय 7 दि लिंग.
39. वही, यत्रतत्र.
40. डा० क० डि०, 481, 484; ए० इं०, v, 244-5.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

41. ए० इं० इं०, v, 242.
42. वही, x.
43. वही, 21, 12 (पंक्ति 8) और 16.
44. वही, v, 243.
45. थीसिस, पृ० 45.
46. ए० इं० v, 244.
47. थीसिस, पृ० 46.
48. वा० क०, 1934-5 का 58.
49. डा० क० डि०, 476-7 राइस का मत है "कतिपय अभिलेखों में (HL 50 संस्कृत 197, 119) बिज्जल के छोटे भाई मैलुगिदेव और उसके बेटे कलिदेव गा कंदर और रायमुरारि देव के छोटे भाई (संभवतः चचेरे भाई) मैलुगि-देव का इस रूप में उल्लेख है मानों वे गद्दी पर बैठे हों। ये संभवतः शासन से संबद्ध थे।"—'मैसूर ऐंड कुर्ग फ्राम दि इंस्क्रिप्शंस' 81 टि० 2.
50. डा० क० डि०, 477.
51. सा० इं० इं०, ix (i), 296.
52. ए० क० viii, sb, 345, 139; राइस 'मैसूर ऐंड कुर्ग', 81.
53. 'ज० बा० ब्रां० रा० ए० सो', xviii, 272-81, विशेषकर 275.
54. ए० क०, vii, संस्कृ० 96.
55. डा० क० डि०, 488.
56. मैं० आ० रि०, 1931 सं० 2; ए० क० vii, HL, 50.
57. ए० क० ii, sb, 124.
58. डा० क० डि०, 489C. 1933-4 का 3, ऐ० रि० ए०.
59. ए० क०, viii, sb 139 और थीसिस, पृ० 55.
60. यहां जो ब्यौरे दिए हैं वे मैंने राइस से ग्रहण किए हैं, ए० क०, vii, भूमि० 27-30.
61. ए० क०, vii संस्कृ० 227.
61. सहायक ग्रंथ सूची वही है जो कल्याणी के चालुक्यों की. उसमें एक ग्रंथ का और समावेश किया जा सकता है. यह श्री जी० आर० कुप्पुस्वामी अय्यंगार बी० ए० (आनर्स) की 1944 की 'दि कलचुरिज आफ कल्याणी ऐंड देअर टाइम्स' नामक थीसिस है जो मैसूर विश्वविद्यालय में सुरक्षित है. संदर्भों में मैंने इसका उल्लेख 'थीसिस' के नाम से किया है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाग दो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड सात

पूर्वी चालुक्य वंश

प्रोफेसर के० ए० नीलकंठ शास्त्री तथा डा० एन० वेंकटरमनैया

1. वंश का इतिहास : कुब्ज विष्णुवर्धन, जयसिंह प्रथम, विष्णुवर्धन तृतीय, विष्णुवर्धन चतुर्थ, विजयादित्य द्वितीय, विजयादित्य तृतीय (गुणग), चालुक्य भीम प्रथम, विजयादित्य चतुर्थ, अम्म प्रथम, लघु शासनकाल, युद्धमल्ल द्वितीय, चालुक्य भीम द्वितीय, अम्म द्वितीय, दानार्णव.

2. तेलुगु चोड अंतर्काल तथा पुनर्स्थापनोत्तर काल (973-1075 ई०) : शक्तिवर्मन प्रथम, विमलादित्य, राजराज नरेंद्र, शक्तिवर्मन द्वितीय, राजेंद्र तथा विजयादित्य सप्तम, विजयादित्य का परिवार.

3. प्रशासनिक व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन : जनता, धर्म, साहित्य।

परिशिष्ट :

(अ) पूर्वी चालुक्य वंशावली

(ब) संदर्भ ग्रंथ सूची

(स) वेमुलवाड का चालुक्य वंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश का इतिहास

पुलकेशिन द्वितीय ने अपने शासनकाल के आरंभ में ही संपूर्ण पूर्वी दकन को जीत लिया तथा अपने भाई को उस नव विजित प्रदेश का उपराजा (वाइसराय) नियुक्त किया। शीघ्र ही यह उपराजत्व स्वतंत्र राज्य के रूप में विकसित हो गया, जिसका पुलकेशिन् ने विरोध नहीं किया। पुलकेशिन का भाई विष्णुवर्धन, जिसे परवर्ती अभिलेखों में प्राय: 'कुब्ज' (कुबड़ा) कहा गया है, उस राजवंश का संस्थापक हुआ जो मुख्य वंश के बाद भी अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा तथा जो इतिहास में पूर्वी चालुक्य वंश के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः बहुत ही कम भारतीय वंशों ने इतने दीर्घकाल तक शासन किया है, दक्षिण में तमिल का राज्य पाने के पूर्व वे लगभग पांच शताब्दियों तक वेंगि के स्वामी थे तथा उसके पश्चात भी कई पीढ़ियों तक वेंगि पर उनका आधिपत्य बना रहा। वास्तव में वे तेलुगु साहित्य एवं संस्कृति के निर्माता थे।

कुछ शिलालेख और अगणित ताम्रपत्राभिलेख इस वंश के इतिहास के मुख्य स्रोत हैं। विजयादित्य तृतीय गुणग के शासनकाल और उसके बाद (नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध) के प्रत्येक ताम्रपत्राभिलेख में उस तिथि तक का लगभग संपूर्ण वंश का इतिहास प्राप्त है। इस प्रकार वंशावलीय संबंध, प्रत्येक राजा के शासन की अवधि, तथा प्रमुख राजनीतिक घटनाओं की रूपरेखा अनेक पाठांतरों में मिलती है, जिनमें वस्तुतः असामान्य मतैक्य है इनमें निश्चय ही कुछ मतभेद भी है; किंतु इन सबके विस्तृत विवेचन अथवा अभिलेखों में सुरक्षित गणित ज्योतिष विषयक विवरणों से उत्पन्न होने वाले तिथिक्रम संबंधी सूक्ष्म प्रश्नों को इस सामान्य इतिहास की विषय वस्तु से बाहर समझना चाहिए। नीचे के वर्णन में हम प्रमाणों के अध्ययन के अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे तथा उनकी पुष्टि के लिए आवश्यक तर्कों का सारांश देंगे। तिथिक्रम के संबंध में हम श्री बी. वी. कृष्णराव द्वारा प्रस्तुत सामग्री का अनुसरण करेंगे, जिन्होंने 1891 ई० में फ्लीट द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों को तब से संचित नवीन खोजों के प्रकाश में संशोधित किया है।

कालांतर में जो वेंगि साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उस राज्य की सीमा का सर्वाधिक विस्तार कलिंग में स्थित महेंद्र-पर्वत-श्रृंखला से लेकर नेल्लोर में मण्णेरु नदी के बीच के पूरे भूभाग में था।[1] इसकी पश्चिमी सीमा सामान्यतया पूर्वी घाटों के नीचे के भाग तक फैली थी, किंतु कभी-कभी उनसे और अधिक आगे के पश्चिमी क्षेत्र भी वेंगी शासकों के अधीन रहे। पूर्वी चालुक्य वंश का इतिहास मुख्यतः उत्तराधिकार संबंधी उन संघर्षों का लेखा है, जिनमें कुछ समय तक पश्चिम से राष्ट्रकूटवंशी एवं कल्याणी के चालुक्यों तथा बाद में दक्षिण से चोलों ने प्राय: स्वार्थवश हस्तक्षेप किया। पर कलिंग एवं मैसूर के गंगवंशी तथा वेमुलवाड एवं भुदुगोंड के चालुक्य भी कभी कभी जोर आजमाइश करने से बाज नहीं आए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुब्ज विष्णुवर्धन

पुलकेशिन के कोप्परम पत्रों के जारी किए जाने के समय (631 ई०), तक उसके भाई विष्णुवर्धन को पूर्वी दकन में अनेक सफलताएं प्राप्त हो चुकी थीं और वह लगभग स्वतंत्र भी हो चुका था। यह उस वक्तव्य का अर्थ प्रतीत होता है जिसके अनुसार उसने अपने पुत्र के लिए वह साम्राज्य सुरक्षित कर दिया था। सभी परवर्ती दानपत्रों में उसे समान रूप से दिए गए 18 वर्षों की अवधि को 624-41 ई० का काल माना जा सकता है। सभी प्रकार के अगम्य दुर्गों को अधिकृत करने की अपनी महान योग्यता के कारण उसने विषमसिद्धि (वह, जिसने कठिन साहसिक कार्यों में सफलता प्राप्त की हो) की उपाधि धारण की। उसने भारतीय देवता मदन के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों, मकरध्वज एवं कामदेव, को भी उपाधिस्वरूप धारण किया। यदि वह वास्तव में विकलांग था तो ये विशेषण उसके व्यक्तित्व पर व्यंग्य करते हुए प्रतीत होते हैं। स्वतंत्र शासक के रूप में उसने जो दो ताम्रपत्राभिलेख जारी किए थे, वे दोनों ही विजगपटम जिले से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक उसके 18 वें वर्ष का है तथा दूसरा, जो तिथिविहीन है, पिष्टपुर में जारी किया गया था। इनसे यह अनुमान लगाना उचित ही है कि कलिंग का कुछ भाग विष्णुवर्धन के साम्राज्य में सम्मिलित था; किंतु और अधिक दक्षिण में भी उसके शासनचिह्नों की कमी नहीं है। यदि माधव तृतीय अथवा उसके पुत्र मंचणभट्टारक के काल में, विष्णुकुंडिन वेंगि (देंदलुरु) में राज्य करते रहे, तो यह उन्होंने एक श्रेष्ठतर शक्ति के अधीनस्थ होकर उसी प्रकार किया होगा, जैसे उनके राज्य के उत्तर में वन-प्रदेश के दुर्जयों ने किया था।[2] गुंटूर जिले में चेजर्ला से प्राप्त विषमसिद्धि का एक प्राचीन शिलालेख उसके शासनकाल का भी लेखा हो सकता है।[3] किंतु यदि इसमें संदेह हो तो गुंटूर जिले से ही प्राप्त 1132 ई० के अन्य अभिलेख में स्पष्ट वक्तव्य है कि कुब्ज विष्णुवर्धन ने कोंडपडुमटि वंश के संस्थापक बुद्धराज को अपनी सेवा में नियुक्त किया था। बुद्धराज को अपनी सेवाओं के बदले में उससे 73 ग्रामों के एक जिले का शासनाधिकार पुरस्कारस्वरूप प्राप्त था।[4] इसके अतिरिक्त कोप्परम ताम्रपत्राभिलेख में अंकित पुलकेशिन के दान से संबंधित भूमि भी कर्मराष्ट्र में स्थित थी, जो गुंटूर एवं नेल्लोर क्षेत्रों में है।[5] इसमें संदेह नहीं कि वस्तुतः विष्णुवर्धन प्रथम लगभग संपूर्ण वेंगि साम्राज्य का राजा हो गया। इस साम्राज्य के विस्तार की सीमाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह सम्भव है कि उसके भाई पुलकेशिन तथा पल्लव सम्राट नरसिंहवर्मन प्रथम के युद्धों ने उसे दक्षिण में अपने क्षेत्र के विस्तार का अवसर प्रदान किया हो।

परवर्ती अभिलेखों में कहा गया है कि पट्टवर्धनवंश के सेनापति कालकंप ने विष्णुवर्धन के आदेश पर दद्दुर नामक कट्टर शत्रु को युद्ध क्षेत्र में तलवार के घाट उतार दिया तथा उसके राज्यचिह्न को जब्त कर लिया।[6] हमें परवर्ती शासकों के अधीन कालकंप के उत्तराधिकारियों के संबंध में विवरण मिल जाते हैं, किंतु यह ज्ञात नहीं कि दद्दुर कौन था। अय्यण महादेवी, विष्णुवर्धन की रानी प्रतीत होती है तथा जैसा कि उसके एक उत्तराधिकारी विष्णुवर्धन तृतीय के अभिलेख से पता चलता है, उस राजा के एक दानपत्र में रानी को उसकी प्रतिपालिका कहा गया था। विष्णुवर्धन तृतीय के इस अभिलेख में, मूल्यतः बेजवाड़ा में रानी द्वारा निर्मित नडुंबिबसदि जैन मंदिर को दिए गए ग्रामदान को पुनः जारी किया गया था। तेलुगु प्रदेश में उपलब्ध जैनधर्म के प्राचीनतम उल्लेख के कारण भी यह अभिलेख रोचक है।[7]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जयसिंह प्रथम

विष्णुवर्धन के पश्चात क्रमशः उसके पुत्र जयसिंह वल्लभ प्रथम तथा इंद्र भट्टारक सिंहासन पर आए। जयसिंह ने 33 वर्षों (641-73 ई०) की दीर्घ अवधि तक शासन किया। उसके शासनकाल के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं किंतु उसके इतिहास से संबद्ध सूचनाएं बहुत कम हैं। असनपुर नामक स्थान में एक 'घटिका' अर्थात उच्च शिक्षा की संस्था थी, यहां से राजा ने अपनी एक घोषणा जारी की थी। अपने पिता के समान ही जयसिंह भी भागवत था। उसने सर्वसिद्धि, अर्थात प्रत्येक कार्य में सिद्ध, की उपाधि धारण की थी तथा उसकी विद्वता की भी प्रशंसा की गई है। उसके शासनकाल के आठवें वर्ष में उत्कीर्ण विप्पर्ला शिलाभिलेख तेलुगु के प्राचीनतम ज्ञात अभिलेखों में से एक है[8]। उसके पश्चात उसका छोटा भाई इंद्र भट्टारक राजा बना, जिसका शासन विरोधी राजकुमारों के संगठन के कारण, जिसका नेतृत्व किसी अधिराज इंद्र ने किया था, बहुत कम दिनों तक टिक पाया। उस अधिराज इंद्र की तादात्म्यता स्थापित करना अत्यंत कठिन है।[9] इंद्र भट्टारक द्वारा जारी की गई दान की एक घोषणा में उसे त्यागधेनु (उदारता की गाय) की उपाधि दी गई।[10] कहा जाता है कि उसका अपना शासनकाल केवल सात दिनों तक ही रहा, किंतु उसके पुत्र विष्णुवर्धन द्वितीय ने नौ वर्ष राज्य किया तथा विषम-सिद्धि, प्रलयादित्य आदि की उपाधियां धारण की। उसके पश्चात उसका पुत्र मंगि युवराज राजा बना, जिसने विजयादित्य एवं विजयसिद्धि की उपाधि प्राप्त की और 25 वर्षों (682-706ई०) तक राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुवर्धन द्वितीय तथा मंगि युवराजदोनों अपने चाचा जयसिंह प्रथम के शासनकाल में ही वयस्क हो गए थे। अपने एक अभिलेख में विष्णु-वर्धन स्वयं को जयसिंह का पुत्र कहता है—किंतु निश्चय ही इसका शाब्दिक अर्थ ग्राह्य नहीं है।

मंगि युवराज, विजयसिद्धि, ने 25 वर्ष (682-706) तथा उसके पुत्र जयसिंह द्वितीय सर्वसिद्धि ने 13 वर्ष (706-18 ई०) शासन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह के राज्य-काल के पश्चात, उत्तराधिकार संबंधी प्रथम संघर्ष, उसके सौतेले भ्राताओं के बीच हुआ, जिसमें छोटे भाई कोक्किलि ने सिंहासन पर अधिकार कर, छः मास तक राज्य किया और फिर उसे बड़े भाई विष्णुवर्धन तृतीय के सामने समपर्ण करना पड़ा। स्पष्टतः, संघर्ष का अन्त एक पारस्परिक समझौते से हुआ, जिसके अनुसार कोक्किलि को मध्य कलिंग में ऐलमंचि के चारों ओर के क्षेत्र पर राजदेय के रूप में शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस तथ्य के प्रमाण उपलब्ध हैं कि यदि सांपार्श्विक राजवंश, कम से कम चार पीढ़ियों तक इस जिले पर शासन करता रहा।[11] इसमें कोक्किलि का जीवनकाल भी सम्मिलित था, जिसने वेंगी के राजा के रूप में, अपने छोटे से शासनकाल में, विजयसिद्धि की उपाधि धारण की थी। संभवतः, यह द्रष्टव्य है कि मंगि युवराज से बड़ें, किंतु उसके समकालीन, पश्चिमी चालुक्यनरेश विक्रमादित्य प्रथम की अनेकों उपाधियों में से एक कोक्कलि भी थी।[12]

विष्णुवर्धन तृतीय

अनधिकार राज्य पर अधिकार कर लेने वाले अपने छोटे भाई को सिंहासन से हटाकर विष्णु-वर्धन तृतीय स्वयं सिंहासन पर बैठा और 37 वर्षों की दीर्घ अवधि (719-55 ई०) तक शासन करता रहा। उसके राज्यकाल में जारी की गई अनेक दान-घोषणाएं प्रकाश में आई हैं, जिनमें से कई किसी न किसी रूप में, रोचक भी हैं। कुब्ज विष्णुवर्धन के द्वारा प्रदत्त एक पुराने दान-पत्र के नवीकरण का उल्लेख हम उसके शासनकाल के वर्णन में पहले ही कर चुके हैं। एक अन्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अभिलेख में विष्णुवर्धन की रानी विजयमहादेवी को परिपालिका (आज्ञप्ति) तथा दानपत्र के परिशिष्ट में स्वयं राजा को त्रिभुवनाकुंश (तीनों लोकों के लिए गजांकुश) की उपाधि धारण करने वाला बतलाया गया है।[13] एक तीसरे अभिलेख में मंगि युवराज की पुत्री, अत: विष्णुवर्धन तृतीय की भगिनी, पृथ्वी पोड़ि के दान का उल्लेख है।[14] इस राजा की उपाधि विषमसिद्धि थी। इसी के शासनकाल में इसके एक अधिकारी, पृथ्वी व्याघ्र नामक एक निषाद बोय प्रमुख का प्रसिद्ध पल्लव सेनापति उदयचंद्र से संघर्ष हुआ था। उदयचंद्र ने उसे नेल्लोर के युद्ध में पराजित कर उसकें अनेक हाथियों तथा बहुत सारे सामान पर अधिकार कर लिया तथा पल्लव सम्राट नंदिवर्मन द्वितीय के लिए विष्णुराज के राज्य का कुछ भाग भी प्राप्त किया था।[15] इस घटना के संबंध में यह पल्लवों का कथन है। स्पष्ट है कि विष्णुवर्धन की सहमति के बिना पृथ्वी-व्याघ्र दक्षिण के शक्तिशाली राज्य से संघर्ष नहीं कर सकता था। इसलिए दोनों ही शासकों की क्षति हुई। किंतु यह सीमा पर हुई छुटपुट लड़ाई जैसी थी, जिसमें निश्चय ही कुछ क्षेत्र का ह्रास हुआ परंतु वेंगि साम्राज्य की शक्ति एवं स्थिरता पर इससे कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

विष्णुवर्धन तृतीय का उत्तराधिकारी, उसका पुत्र विजयादित्य प्रथम विजयसिद्धि था। जिसने 18 वर्ष (755-72 ई०) राज्य किया। उसके पिता के शासनकाल के अंत तथा स्वयं उसके शासनकाल के आरंभ में पश्चिमी दकन में एक राजनीतिक क्रांति हुई, जिसके फलस्वरूप बादामी के चालुक्य अपना साम्राज्य हार बैठे तथा उनके स्थान पर दंतिदुर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों का उदय हुआ। चालुक्यों के प्रति इस नवीन वंश की शत्रुता शीघ्र ही वेंगि साम्राज्य के विरुद्ध भी प्रकट होने लगी। 769 ई० के एक राष्ट्रकूट अभिलेख के अनुसार युवराज गोविंद द्वितीय ने वेंगिमंडल के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया था[16] तथा मुसी एवं कृष्णा नदियों के संगम पर अपने विजयशिविर में कोष, सैनिक एवं भूमि सहित वेंगिनरेश के समर्पण को स्वीकार किया था। इस वक्तव्य को यथावत स्वीकार कर लेने पर भी यह नहीं पता चलता कि इस अवसर पर वेंगि राज्य की कोई विशेष हानि हुई थी। राष्ट्रकूट सेना ने वेंगि राज्य में प्रवेश नही किया था और न सेनाओं की वास्तविक मुठभेड़ ही हुई थी। दूसरी ओर युवराज द्वारा वेंगि राज्य की सीमाओं की ओर किया गया सफल अभियान, जहां उसकी भेंट विरोधी दरबार से आए राजदूतों से हुई थी, पूर्वी चालुक्यों के भविष्य का पूर्वाभास है।

विष्णुवर्धन चतुर्थ

विजयादित्य का पुत्र विष्णुवर्धन चतुर्थ था, जिसने 36 वर्षों (772-808 ई०)तक राज्य किया। अपने शासन साल के आरंभ में ही वह राष्ट्रकूट गोविंद द्वितीय तथा उसके छोटे भाई ध्रुव के संघर्ष में सम्मिलित हो गया। उसने विद्रोही भाई के विरुद्ध शासक गोविंद का साथ दिया। किंतु ध्रुव विजयी हुआ तथा सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात स्वंय गोविंद के सहायकों को, जिनमें वेंगिनरेश भी था, दंड देने के लिए निकल पड़ा। पूर्वी चालुक्य राज्य के विरुद्ध अपने अभियान में ध्रुव को वेमुलवाड के चालुक्य सामंत अरिकेसरि प्रथम की योग्य सेवा प्राप्त हुई। विष्णुवर्धन को अपनी पराजय स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा तथा उसे अपनी पुत्री शीलमहादेवी का हाथ ध्रुव को सौंपकर संधि भी करनी पड़ी, जो बाद में उस राजा की प्रमुख रानी बनी।[17] वेंगि पर राष्ट्रकूटों का प्रभुत्व ध्रुव के पश्चात उसके पुत्र गोविंद तृतीय के शासनकाल में भी बना रहा, जिसके अभिलेखों में दावा किया गया है कि वेंगिनरेश अपने स्वामी की आज्ञाओं का तत्परता से पालन करने के लिए सदा उद्यत रहता था।[18] उसके द्वारा स्वामी के शिविर के चारों ओर की प्राचीर के निर्माण में दी गई सहायता संबंधी वक्तव्य के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बारे में ऐसा भी कहा गया है कि इसमें मान्यखेट की किलेबंदी का उल्लेख निहित है। विष्णुवर्धन चतुर्थ के तीन पुत्र थे, जिनमें से दो, विजयादित्य द्वितीय तथा भीम सालुकि, ने उत्तराधिकार के लिए संघर्ष किया तथा रुद्र नामक तीसरे पुत्र ने, जिसकी माता हैहय राजकुमारी थी, विजयादित्य का साथ दिया।

विजयादित्य द्वितीय

विजयादित्य द्वितीय एक महान योद्धा था जिसने अनेक वर्षों तक राष्ट्रकूटों एवं उनके मित्रों के विरुद्ध भयंकर युद्ध किए। वह नरेंद्रमृगराज (राजाओं में सिंह) चालुक्यराम तथा विक्रमधवल (देदीप्यामान शौर्य संपन्न) की उपाधियों से प्रसिद्ध था। उसने 40 वर्षों तक (808-47 ई०) राज्य किया,[19] ये वर्ष कलह एवं विरोध से परिपूर्ण थे। उसने वेंगि पर राष्ट्रकूटों के शासन का विरोध किया, जिसके कारण उन लोगों ने उसे राजद्रोही करार कर दिया एवं उसके सौतेले भाई भीम सालुकि को अपना अस्त्र बनाकर उसके विरोध में खड़ा किया। जब तक गोविंद तृतीय को पश्चिमी गंग एवं वेमुलवाड के चालुक्यों जैसे सामंत राज्यों की सहायता प्राप्त रही, तब तक विजयादित्य का भाग्य अंधकार में रहा, किंतु 814 ई० में गोविंद जब अमोघवर्ष प्रथम को, जो अभी बच्चा ही था, राष्ट्रकूट सिंहासन पर छोड़ कर मर गया, तो विजयादित्य का पलड़ा भारी हो गया। उसने गंगों को पराजित किया, भीम सालुकि को पदच्युत किया, साम्राज्य को पुनः प्राप्त किया तथा राष्ट्रकूट साम्राज्य के अनेक भागों पर भी आक्रमण किया।[20]

विजयादित्य के संबंध में परवर्ती अभिलेखों में कहा गया है कि वह लगातार 12 वर्षों तक, रात दिन हाथ में खड्ग धारण किए हुए गंगों एवं रट्टों के विरूद्ध लड़ता रहा और कुल मिला कर उसने 108 युद्ध लड़े तथा उसने अपनी उपाधि नरेंद्रेश्वर नाम से 108 शिव मंदिरों का भी निर्माण करवाया। स्पष्ट है कि यह 108 की संख्या पारंपरिक है जिसे शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यह 12 वर्ष का काल भीम सालुकि की चाटुकारिता का काल रहा होगा। विजयादित्य को युद्धों में उसके पुत्र विष्णुवर्धन पंचम ने पर्याप्त सहायता दी, जिसके उपलक्ष में उसने कलि (युद्ध) उपनाम धारण किया था। विष्णुवर्धन ने संभवतः गुजरात शाखा की राष्ट्रकूट राजकुमारी शीलमहादेवी से विवाह किया था तथा अपने पिता की मृत्यु के पश्चात उसने केवल लगभग डेढ़ वर्ष तक राज्य किया।

विजयादित्य तृतीय गुणग

कलि विष्णुवर्धन अथवा विष्णुवर्धन पंचम के छोटे से शासनकाल के बाद हुई उसकी मृत्यु के उपरांत, 849 ई० में उसका सबसे बड़ा पुत्र, विजयादित्य तृतीय सिंहासनारूढ़ हुआ, जो गुणग विजयादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसने 44 वर्षों तक राज्य किया। उसकी अनेक उपाधियां थीं, जिन में से 'गुणके-नल्लाट' (विशिष्टता एवं सदाचार का प्रेमी), 'परचक्र-राम' (अपने शत्रु के वृत्त में राम), 'त्रिपुर-मर्त्य-महेश्वर' (तीन नगरों के लिए मरणशील महेश्वर) तथा 'वल्लभ' (स्वामी) सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। उसके शासनकाल के इतिहास में तीन स्पष्ट अवस्थाएं दृष्टिगोचर हैं: (1) इसका आरंभ विजय एवं विस्तार के छोटे काल से हुआ, (2) उसके पश्चात दुर्भाग्यपूर्ण पराजय तथा विदेशी शासन की अधीनता का काल आया, और (3) अंत पुनः देदीप्यान सैनिक विजयों का काल था, जिसके परिणामस्वरूप लगभग संपूर्ण दकन पर उसका प्रभुत्व हो गया।

सिंहासन पर आते ही विजयादित्य तृतीय को दक्षिण में बोयों जिले अर्थात बोय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोट्टम के विरुद्ध अभियान भेजना पड़ा। बोय एक शक्तिशाली लड़ाकू कौम के लोग थे, जो पल्लव साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर आधुनिक नेल्लोर जिले के रहने वाले थे, तथा जिन्होंने दक्षिण में चालुक्य सेनाओं की प्रगति का जमकर विरोध किया था। यद्यपि गुणग विजयादित्य के राज्यरोहण से कुछ समय पूर्व उनके क्षेत्र पर आक्रमण करके उसे पूर्वी चालुक्यों के साम्राज्य में मिला लिया गया था, फिर भी उनकी शक्ति को पूर्णरूपेण नष्ट नहीं किया जा सका था। विष्णुवर्धन पंचम की मृत्युतथा उसके युवापुत्र के राज्यारोहण ने उन्हें अपनी स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने उसके आदेशों को मानने से इनकार कर दिया तथा अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

विजयादित्य तृतीय, जो दृढ़ एवं शक्तिशाली राजा था, अपने प्रभुत्व के इस उल्लंघन को सहन नहीं कर सका। उसने विद्रोह का दमन करने तथा बोयों को उनकी धृष्टता के लिए दंड देने का दृढ़निश्चय कर लिया। उसने कडेयराज के पुत्र पंडरंग के नेतृत्व में एक सेना को यह निर्देश देकर भेजा कि वह बोयों के गढ़ों को नष्ट करके उनके प्रदेश को अपने अधीन करे। इस संबंध में कट्टेम एवं नेल्लोर के दो दुर्गों का, जहां विद्रोहियों ने अपनी शक्ति केंद्रित कर रखी थी, उल्लेख किया गया है। आक्रामक ने दोनों पर ही बुरी तरह से हमला बोला। पंडरंग ने कट्टेम को तोडफोड़ दिया तथा नेल्लोर के दुर्ग को ध्वस्त कर दिया। विजय प्राप्त करता हुआ वह तोंडैमंडल की सीमा तक बढ़ गया तथा पुलिकत झील के किनारे पहुंच कर रुक गया, जहां उसने पंडरंगम नामक एक नए शहर की स्थापना की तथा शिव के सम्मान में पंडरंग महेश्वर नामक मंदिर का निर्माण कराया। शहर एवं मंदिर दोनों का ही नाम उसने अपने नाम पर रखा[21]।

बोय-कोट्टमों के विरुद्ध पंडरंग का अभियान केवल सैनिक आक्रमण ही न था। इसके परिणामस्वरूप स्थाई रूप से दक्षिण-पूर्वी तेलुगु प्रदेश का विलय भी हो गया, जो संभवतः उस समय तक पल्लवों की सैनिक जागीर थी। वेंगी साम्राज्य का भी विस्तार हुआ; तथा पंडरंग ने, जिसे राजा ने विजित प्रदेश का गवर्नर पद सौंपा था, स्वयं को नेल्लोर जिले के कंदुकुर स्थान पर स्थापित किया, जिसे उसने पूर्वी चालुक्यों की राजधानी बेजवाड़ा जैसा प्रसिद्ध बना दिया।[22]

इसके पश्चात विजयादित्य राहण नामक सरदार के युद्धरत हुआ। इस व्यक्ति अथवा उसके अधीनस्थ क्षेत्र की पहचान के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। पंडरंग ने इसे भी युद्ध में पराजित किया तथा अपने स्वामी के लिए एक अन्य महान विजय प्राप्त की।[23]

किंतु विजयादित्य के शासनकाल के आरंभिक वर्षों की विजयों की श्रृंखला एक गंभीर हार के कारण टूट गई। यद्यपि विजयादित्य इंद्रवल्लभ की पुत्री शीलमहादेवी का पुत्र होने के नाते गोविंद तृतीय का छोटा भाई तथा राष्ट्रकूट शाही परिवार का ही वंशज था, फिर भी राहण पर अपनी विजय के कुछ समय पश्चात अपने चचेरे भाई अमोघवर्ष प्रथम से उसका संघर्ष हुआ। युद्धोन्मुख करने वाली परिस्थितियां स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। बोयों एवं राहण पर प्राप्त विजयों से उन्मत्त होकर विजयादित्य ने स्तंभपुरी पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। स्तंभपुरी कुर्नूल जिले के आज के कुंबुम की जगह पर स्थित था और उस समय राष्ट्रकूट साम्राज्य में सम्मिलित था। स्वभावतया इस अतिक्रमण ने बदले की भावना को को जाग्रत किया। अमोघवर्ष ने विजयादित्य को दंड देने तथा उसे अपने अधीन करने के लिए 'वेंगी' की ओर एक सेना भेजी। संभवतः कुंबुम के निकट ही स्थित वींगावल्लि ग्राम के स्थान पर दोनों सेनाओं में एक घमासान युद्ध हुआ। पूर्वी चालुक्य सेनाएं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुरी तरह से पराजित हुई तथा विजयादित्य को अमोघवर्ष प्रथम के सामने समर्पण करना पड़ा तथा उसको अपना स्वामी एवं शासक स्वीकार करना पड़ा।[24]

इस प्रकार उस पर लादे गए राष्ट्रकूट आधिपत्य को विजयादित्य सुगमता से न हिला सका तथा 880 ई० में अमोघवर्ष प्रथम की मृत्यु तक वह अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने में सफल न हो पाया था। फिर भी स्वतंत्रता के ह्रास एवं राष्ट्रकूट प्रभुत्व को किए गए समर्पण ने उसकी सैनिक गतिविधियों को पूर्ण रूप से कम नहीं किया। यह सत्य है कि उसने अपनी निजी शक्ति के बल पर कोई युद्ध नहीं किया, किंतु उसने अपने स्वामी की सेना में सम्मिलित होकर उसकी शक्ति को उखाड़ने की चेष्टा करने वाले सामंतों के विद्रोहों के विरुद्ध अमूल्य सेवा की। लगभग 866 ई० में तालकाड़ के पश्चिमी गंगनरेश नीतिमार्ग पेर्मानडि ने गंगवाडि में विद्रोह किया तथा अपनी स्वतंत्रता स्थापित की।[25] अनेक राष्ट्रकूट सामंतों, विशेषकर 'नोलंबवाडि' के पल्लव प्रमुखों ने उसके उदाहरण का अनुसरण किया और उसके साथ मिलकर राजकीय प्रभुसत्ता का उल्लंघन किया। स्थिति ने इतना अधिक उग्र रूप धारण कर लिया कि अमोघवर्ष को शाही 'मूलबल' के सेनापति वंकेय सेल्लकेतन की संपूर्ण सेना सहित दक्षिण में भेजने के लिए बाध्य होना पड़ा। यद्यपि विद्रोहियों के विरुद्ध युद्ध में वंकेय सफल रहा तथा उसने उनपर अनेक विजय प्राप्त कीं, फिर भी अभियान पूर्ण होने से पहले ही स्वामी ने उसे वापस बुला लिया क्योंकि अमोघवर्ष उसे लाट प्रदेश में हुए विद्रोह के कारण उत्तर की ओर भेजना चाहता था। इस विद्रोह में युवराज कृष्ण अर्थात भावी कृष्ण द्वितीय भी किसी प्रकार से सम्मिलित था। किंतु अमोघवर्ष ने गंग नरेश एवं उसके साथियों को स्वच्छंद रूप से विद्रोह करने का मौका नहीं दिया। उसने विजयादित्य तृतीय को अपनी सेना सहित विद्रोहियों का दमन करने एवं राज्य की प्रभुसत्ता को पुनर्स्थापित करने के लिए गंगवाडि की ओर बढ़ने का आदेश दिया। अपनी सेनाओं का नेतृत्व करते हुए, विजयादित्य ने आदेशानुसार गंगवाडि की ओर कूच कर दिया। जब वह अपने मार्ग पर आनेवाली नोलंब-वाडि की सीमा पर पहुंचा तो उसने अपने मार्ग को नीतिमार्ग 'पेर्मानडि' के सहायक तथा नोलंबों के राजा मंगि (नोलंबाधिराज प्रथम) द्वारा अवरुद्ध पाया। वहां घमासान युद्ध हुआ, जिसमें विजयादित्य के सैनिक परामर्शदाता विनयडि शर्मन की सूझ बूझ के कारण पूर्वी चालुक्य सेनाओं को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। इस युद्ध में मंगि मारा गया तथा इस प्रकार अवरोधविहीन मार्ग पर बढ़ते हुए विजयादित्य ने 'गंगवाडि' पहुंच कर गंग सेना को बुरी तरह से पराजित किया। गंग सेना ने गंगाकूट अर्थात मैसूर राज्य में वर्तमान बंगलौर जिले के नेलमंगल 'तालुक' में शिवगंग पहाड़ी की ऊंची चोटी पर शरण ले ली थी।[26] इस प्रकार गंग विद्रोह का दमन कर दिया था तथा नीतिमार्ग 'पेर्मानडि' को अमोघवर्ष प्रथम से संधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

लगभग 880 ई० में अमोघवर्ष प्रथम की मृत्यु हो जाने से विजयादित्य तृतीय को राष्ट्रकूट प्रभुसत्ता को उखाड़ने तथा अपनी स्वतंत्रता को पुनः स्थापित करने का स्वर्ण अवसर मिल गया। कृष्ण द्वितीय, जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रकूट सिंहासन पर आरूढ़ हुआ, लोकप्रिय न था तथा यह असंभव नहीं कि अपने पितृभक्ति विहीन आचार के कारण वह अपने 'सामंतों' की, विशेषकर उनकी जो उसके साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतों का शासन कर रहे थे, राजभक्ति प्राप्त करने में असफल हो गया था। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि विजयादित्य से हुए संपूर्ण संघर्ष के दौरान कृष्ण द्वितीय को चेदि नरेश संकिल (शंकरगण) की सहायता पर निर्भर होना पड़ा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने राजा एवं स्वामी की सेवा में पंडरंग द्वारा किए गए युद्धों का वर्णन करने वाले धर्मवरम अभिलेख से प्रतीत होता है कि विजयादित्य ने दो भिन्न अवसरों पर कृष्ण द्वितीय से युद्ध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण द्वितीय ने डाहल के चेदि नरेश, अपने सहयोगी और भ्रातृसन संकिल (एंडरगरत्र), उपरोह, के साथ मिल कर विजयादित्य पर आक्रमण किया किंतु युद्ध में पराजित हो जाने के कारण उसे अपना साम्राज्य छोड़ना पड़ा तथा दूर डाहल, किरणपुर में स्थित अपने मित्र के दरबार में शरण लेनी पड़ी। राष्ट्रकूट सेनाओं पर अपनी विजय से प्रोत्साहित होकर, अब विजयादित्य ने डाहल के विरुद्ध सैनिक अभियान की योजना बनाई तथा अपने योग्य सेनापति पंडरंग के नेतृत्व में सेना भेजी। यह सत्य है कि इस अभियान तथा पूर्वी चालुक्य सेनाओं द्वारा अपनाए गए मार्ग संबंधी समुचित विवरण नहीं मिलते, किंतु पूर्वी चालुक्य अभिलेखों में यत्रंतत्र मिलने वाली सूचना की सहायता से उनकी कूच का मार्ग तथा अभियान के इतिहास को पुनर्गठित करना असंभव नहीं है।[27] ऐसा संभव है कि यह सैनिक अभियान वेंगी से प्रारंभ होकर कलिंग से होता हुआ पूर्वी घाट के दर्रों को पार करके दक्षिणी कोशल तथा मध्य भारतीय पठार पहुंचा। किंतु विजयादित्य की सेना की प्रगति विरोध रहित न थी। अनेक राजकुमारों ने, जिनमें से अधिकांश राष्ट्रकूट एवं चेदि शासकों के सामंत थे तथा जिनके राज्य पंडरंग के मार्ग पर ही स्थित थे, उसके विरुद्ध हथियार उठाए तथा अभियान की प्रगति में बाधा खड़ी की। किंतु पंडरंग ने अपयी सैनिक योग्यता से सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की तथा सभी बाधाओं पर काबू पाया। कलिंग एवं कोशल के राजा तथा वेमुलवाड के चालुक्य प्रमुख ने उसकी प्रगति का विरोध करने तथा आक्रमण का जवाब देने का प्रयत्न किया था, लेकिन वे रणक्षेत्र में पराजित हुए तथा उसके मार्ग से हट जाने के लिए बाध्य हुए। अंत में वह चेदि साम्राज्य में आ पहुंचा। उसने डाहल एवं दलेनाड को ध्वस्त किया, युद्ध में कृष्ण एवं संकिल को पराजित किया तथा डाहल राज्य के दो प्रमुख नगरों, किरणपुर एवं अचलपुर में आग लगा दी। विजयादित्य की विजय पूर्ण थी। कृष्ण और अधिक विरोध करने में असमर्थ था; उसने हथियार डाल दिए तथा संधि कर ली। विजयादित्य, जिसे अब क्षेत्रीय विस्तार की अभिलाषा न थी, अपने प्रभुत्व की स्थापना से ही संतुष्ट हो गया। उसने विजित नरेश से पालि पताका ले ली, राष्ट्रकूट साम्राज्यवाद के राजचिह्न (गंगा यमुना नदियों के चिह्न) प्राप्त किए, वल्लभ की उपाधि धारण की तथा स्वयं को संपूर्ण दक्षिणापथ एवं त्रिकलिंग प्रदेश का प्रभुत्वशाली स्वामी घोषित किया। कृष्ण द्वितीय ने स्वयं उससे भेंट की, अधीनस्थ के रूप में उसका अभिवादन किया तथा उसके हथियारों की पूजा करके उसे प्रसन्न किया। राष्ट्रकूट नरेश द्वारा किए गए इस अद्‌भुत सम्मान से विजयादित्य अत्यंत संतुष्ट था, उसने राष्ट्रकूट नरेश का राज्य उसे वापस दे दिया तथा महान विजेता के रूप में वेंगि वापस लौटा।

'पूर्वी चालुक्य' अभिलेखों में उपर्युक्त विजयों के अतिरिक्त विजयादित्य तृतीय की दक्षिण के अनेक राजाओं पर विजयों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ, धर्मवरम अभिलेख के एक प्रसंग के अनुसार उसके सेनापति पंडरंग ने चोल नरेश को संरक्षण प्रदान किया क्योंकि एक अज्ञात आक्रामक ने उसे असहाय बना दिया था। सतलुरु दानपत्र में पल्लवों एवं पांड्यों के विरुद्ध उसके युद्धों का उल्लेख है। किंतु कहीं भी उन परिस्थितियों की चर्चा नहीं है, जिनके कारण विजयादित्य का दक्षिण के राजाओं से संघर्ष हुआ था, और इन सैनिक अभियानों का विस्तृत विवरण भी उपलब्ध नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विजयादित्य तृतीय वेंगि के राजसिंहासन पर बठनेवाले शासकों में महानतम शासक था। उसके शासनकाल के दौरान पूर्वी चालुक्य साम्राज्य का विस्तार, उत्तर में महेन्द्रगिरि से लेकर दक्षिण में पुलिकत झील तक हो गया था। वह एक महान योद्धा था। यद्यपि कुछ समय के लिए उसे राष्ट्रकूट प्रभुत्व के संमुख समर्पण करने पर बाध्य होना पड़ा, फिर भी अमोघवर्ष प्रथम की मृत्यु के तुरंत बाद ही उसने अपनी शक्ति पुनः स्थापित कर ली तथा कृष्ण द्वितीय का ऐसा तख्ता पलटा कि उसे विजयादित्य को अपना स्वामी एवं दक्षिणापथ का सम्राट माननाही पड़ा और उसको नमन करने पर बाध्य होना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि विजयादित्य तृतीय के कुछ पूर्वजों ने विशेषकर उसके दादा नरेंद्रमृगराज ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध सतत युद्ध किए थे तथा उन पर विजय भी प्राप्त की थी, किंतु गुणग के समान कोई भी उनसे समर्पण करवाने तथा कर प्राप्त करने में कभी भी सफल नहीं हुआ था। विजयादित्य की सफलता का श्रेय काफी हद तक उसकी सेवा में लगे ब्राह्मण अधिकारियों की क्षमता एवं योग्यता की है। इनमें उस युग की महानतम सैनिक प्रतिभा, प्रसिद्ध सेनापति पंडरंग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने काल के आरंभ में ही इस सेनापति ने बोयों के विरुद्ध दक्षिणी अभियान में तथा चोलनरेश के शत्रुओं को पराजित करने एवं उसे उसके राज्य पर पुनः स्थापित करने में महत्वपूर्ण भाग लेने में अपनी विशिष्टता का परिचय दिया था। किंतु उसके जीवन की सर्वाधिक देदीप्यमान उपलब्धि डाहल अभियान थी, जिसके दौरान उसने अपने शत्रुओं को लगातार पराजित किया तथा दकन के सबसे शक्तिशाली सम्राट को बुरी तरह से घुटने टेकने पर बाध्य किया।

44 वर्षों के लंबे शासनकाल के पश्चात विजयादित्य तृतीय ने 892 ई० में अंतिम सांस ली। उसका कोई पुत्र न था तथा उसका छोटा भाई, जिसे उसने अपना उत्तराधिकारी चुना था, उससे पहले ही एक पुत्र भीम को छोड़कर स्वर्ग सिधार गया था। ताऊ की मृत्यु के पश्चात इसी भीम को सिंहासन प्राप्त हुआ।

चालुक्य भीम प्रथम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है विजयादित्य तृतीय की मृत्यु के पश्चात उसका भतीजा चालुक्य भीम प्रथम राजा बना। किंतु उसके 'सपित्र्यों' ('दायादों') ने, विशेषकर चाचा युद्ध मल्ल प्रथम ने उसके राज्यारोहण का विरोध किया। निजी सामर्थ्य से शक्ति प्राप्त करने में अत्यंत कमजोर होने के कारण, उन्होंने अपने वंश के पुराने शत्रु अर्थात राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय से सहायता मांगी। कृष्ण ने, जो हाल में ही गुणग विजयादित्य के हाथों पराजित होने के कारण अपमान का अनुभव कर रहा था, बड़ी तत्परता से इस अवसर का लाभ उठाया और भीम के राज्याभिषेक संपन्न होने से पहले ही एक बड़ी सेना के साथ वेंगी पर आक्रमण कर दिया।[28] आक्रमण के पूर्ण विवरण प्राप्त नहीं हैं। फिर भी तीन घटनाएं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं :

1. आरंभ में राष्ट्रकूटों ने अपने सामने आए सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, पूर्वी चालुक्य सेना को पराजित किया तथा साम्राज्य के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया।
2. वेंगि राज्य के ठीक मध्य में हुई एक मुठभेड़ में स्वयं चालुक्य भीम प्रथम बंदी बना लिया गया था। वेमुलवाड के चालुक्य प्रमुखों के अभिलेखों तथा पंप की कृति 'विक्रमार्जुन विजय' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कृष्ण द्वितीय के समकालीन एवं अधीनस्थ बद्दुग ने भीम को बंदी बनाया।[29] चालुक्य भीम प्रथम ने शीघ्र ही अपनी स्वतंत्रता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनः प्राप्त कर ली, किंतु यह बताना संभव नहीं कि उसने अपने विजेता को किस प्रकार धोखा दिया।

3. राष्ट्रकुटों की सफलता स्थाई न थी। यद्यपि कृष्ण द्वितीय ने चालुक्य भीम प्रथम के 'दायादों' को अपनी ओर कर लिया था, फिर भी 'सामंतों' एवं पूर्वी चालुक्य राजघराने के पैतृक सेवकों ने चालुक्य भीम प्रथम को सहायता देने के उद्देश्य से मुदुगोंड के चालुक्यों के प्रमुख अर्थात कुसुमायुध प्रथम के नेतृत्व में संगठित होकर कृष्ण द्वितीय एवं उसके सहायकों को साम्राज्य से बाहर खदेड़ दिया तथा उसे उसके न्यायोचित स्वामी को पुनः सौंप दिया। इस प्रकार जब देश आक्रामकों से स्वतंत्र हो गया तथा चालुक्य भीम प्रथम ने अपने पैतृक सिंहासन पर दृढ़तापूर्वक अधिकार कर लिया, तो उसने शक सं० 814 के मेष-चैत्र की द्वितीया अर्थात 14 अप्रैल, 892 ई० को राज्याभिषेक संपन्न किया और राजकीय नाम विष्णुवर्धन धारण किया।

किंतु कृष्ण द्वितीय ने पूर्वी चालुक्य साम्राज्य संबंधी अपनी योजनाओं का त्याग नहीं किया। कुछ वर्ष पश्चात उसने निडर सेनापति दंडेन गुंडय के नेतृत्व में पुनः सैनिक अभियान भेजा जिसमें कर्णाट तथा लाट प्रदेशों की सेनाएं भी थीं। यह अभियान साम्राज्य के आंतरिक भागों तक प्रवेश कर गया तथा उसकी राजधानी वेंगी की सीमाओं तक पहुंच गया। राजा के पुत्र एवं युवराज इरिमर्तिगंड के नेतृत्व में चालुक्य सेना ने पूर्वी गोदावरी जिले के निरवद्यपुर अर्थात वर्तमान निड्वोलु में उनका विरोध किया तथा उन्हें पराजित कर लिया। पेरुवंगूरुग्राम (पश्चिमी गोदावरी जिले के ऐल्लोरे 'तालुक' में पेद-वंगुरु) के निकट एक अन्य मुठभेड़ में दण्डेन गुण्डय मारा गया तथा कर्णाट एवं लाट सेनाएं तितर-बितर हो गईं। वेंगि को पुनः विदेशी आधिपत्य से बचा लिया गया था, किंतु चालुक्य सेनाओं को विजयश्री दिलाने वाला वीर राजकुमार भी अपने दुखी पिता को अकेले ही विजय का फल देखने के लिए छोड़कर युद्ध में मारा गया।[30]

चालुक्य भीम प्रथम के शासन काल के शेष वर्ष घटनाविहीन थे। वह शिव का आराधक था तथा उसने पूर्वी गोदावरी जिले में चालुक्य भीमवरम् एवं द्राक्षारामम स्थानों पर अपने आराध्य के सम्मान में मंदिरों का निर्माण कराया।[31] चालुक्य भीम 30 वर्षों तक राज्य करने के बाद, 921 ई० में अपने सबसे बड़े जीवित पुत्र विजयादित्य चतुर्थ को राज्य सौंपकर मर गया।

विजयादित्य चतुर्थ

विजयादित्य चतुर्थ ने, जिसका उपनाम कोल्लभिगंड था, छः महीने तक शासन किया। शासन-काल छोटा होता हुआ भी घटनाविहीन न था। सिंहासनारूढ़ होते ही उसने कलिंग पर आक्रमण करने की आवश्यकता अनुभव की। इस प्रकार कलिंग पर आक्रमण करने के लिए बाध्य करने वाली परिस्थितियों का पता नहीं है, किंतु यह बहुत संभव है कि अपने उद्यमी राजा वज्रहस्त तृतीय के नेतृत्व में पूर्वी गंगों ने पूर्वी चालुक्यों की प्रभुसत्ता का उल्लंघन कर अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर ली थी। चाहे कुछ भी रहा हो, हमें यह ज्ञात है कि कोल्लभिगंड अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए कलिंग में घुस गया तथा विरज नगर के निकट उसका विरोध करने वाले शत्रु को उसने उखाड़ फेंका।[32] किंतु युद्ध में ही अथवा उसके तुरंत बाद ही विजयादित्य की मृत्यु हो जाने के कारण विजय एक महान विपत्ति में परिणत हो गई। अपने नेता को खो देने के पश्चात सेना को लौटना पड़ा। उत्तराधिकार संबंधी संभावित युद्ध में भाग लेने के लिए सामंत एवं अन्य उच्चाधिकारी शीघ्र ही राजधानी की ओर वापस लौटे।

विजयादित्य चतुर्थ की मृत्यु हो जाने से प्रभुसत्ता के लिए संघर्षों एवं गृहयुद्ध के काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का आरंभ होता है। द्रुत एवं व्याकुलता पूण श्रृंखला में एक के वाद दूसरा राजा आया। लगभग 12 वर्षों के छोटे से काल में ही वेंगि ने छः राजाओं का शासन देखा। इनमें से किसी के पास भी राज्य पर आधिपत्य बनाए रखने एवं उस पर नियंत्रण करने की न तो शक्ति थी और न ही योग्यता। अव्यवस्थित परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए विदेशी आक्रामकों के आ जाने से स्थिति और अधिक गंभीर हो गई थी।

अम्भ प्रथम

सबसे पहले विजयादित्य चतुर्थ के पुत्र, अम्भ प्रथम राजमहेंद्र ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात स्वयं को राजा घोषित किया। किंतु उसके चाचा विक्रमादित्य द्वितीय ने साम्राज्य पर शासन करने के उसके अधिकार पर विरोध प्रकट करते हुए अपने भतीजे के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्वयं सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस पर अम्भ के सामंतीय संबंधियों ने भी उसके प्रति स्वामित्व भाव को त्याग दिया तथा राष्ट्रकूट सम्राट इंद्र तृतीय से भी सहायता प्राप्त की। वंश की सेवा करने वाली पैतृक शक्तियों ने भी अम्भ को अकेले छोड़ दिया तथा शत्रु का साथ दिया। निश्चय ही स्थिति अत्यंत गंभीर थी। किंतु अम्भ प्रथम वीर राजकुमार था। उसने दृढ़ता से शत्रुओं का सामना किया, कतिपय राजभक्त अधिकारियों की सहायता से कठिनाइयों पर काबू पाया और स्वयं को सुदृढ़ रूप से सिंहासन पर स्थापित किया।[33] अम्भ प्रथम ने सात वर्षों तक साम्राज्य पर शासन किया। वह 927 ई० में मरा जब वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। कभी कभी कहा जाता है कि उसने गोदावरी नदी के तट पर अपने ही नाम पर राजमहेंद्रपुर (राजमहेंद्री) नामक नवीन शहर की नींव रखी, जो उसके उत्तराधिकारियों के काल में वेंगि राज्य की राजधानी बनी।[34] किंतु इस विचार की पुष्टि के साक्ष्य नगण्य हैं, वास्तव में इस बात का कोई यथार्थ प्रमाण नहीं कि उसने प्राचीन राजधानी से अपनी सरकार के मुख्यालय का कभी स्थानांतरण किया।

लघु शासनकाल

अम्भ प्रथम के पश्चात उसका युवा पुत्र विजयादित्य पंचम राजा बना, पूर्वी चालुक्य अभिलेखों में प्रायः बेत अथवा कंठिका विजयादित्य के नाम से इसका उल्लेख मिलता है। राज्यारोहण के समय एक छोटा सा बालक होने के कारण, बेत उस उपद्रवपूर्ण युग में शासन का भार संभालने योग्य न था। राज्याभिषेक से पंद्रह दिन बाद ही उसे सिंहासन से हटा दिया गया तथा पिठापुर के दुर्ग में शरण लेने पर बाध्य किया गया, जहां वह एक स्थानीय वंश का संस्थापक बना। युद्ध मल्ल प्रथम के पुत्र ताल प्रथम ने संभवतः राष्ट्रकूटों की सहायता से राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया। किंतु उसके भाग्य में भी अधिक समय तक राज्य करना नहीं था। केवल एक महीना ही बीता था कि पिछले आठ वर्षों से सिंहासन प्राप्त करने के लिए संघर्षरत विक्रमादित्य द्वितीय ने उस पर आक्रमण किया तथा उसे मौत के घाट उतार दिया।[35] यह विक्रमादित्य उद्यमी राजकुमार था। अपने ग्यारह महीने के छोटे से शासनकाल में ही उसने त्रिकलिंग को पुनः प्राप्त कर लिया, जिसे चालुक्य भीम प्रथम की मृत्यु के पश्चात खो दिया गया था।[36] काडिम, अम्म प्रथम के एक पुत्र भीम ने उसकी हत्या कर दी। इस घटना का उल्लेख करने वाला एकमात्र स्रोत दिगुमर्डु दानपत्र है। भीम ने आठ मास तक शासन किया और वह स्वयं भी ताल प्रथम के पुत्र युद्धमल्ल द्वितीय द्वारा सिंहासन से हटा दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्धमल्ल द्वितीय

युद्धमल्ल द्वितीय की विजय का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि उसे राष्ट्रकूट की सहायता प्राप्त थी। इंद्र तृतीय ने, जो वेंगि को राष्ट्रकूट साम्राज्य के आधिपत्य में लाने के लिए उत्सुक था, उस प्रदेश में उत्पन्न अव्यवस्थित स्थिति का लाभ उठाकर युद्धमल्ल द्वितीय को सहायता भेजने का स्वांग रचाकर एक बड़ी सेना भेजी। इसकी सहायता से युद्धमल्ल, भीम को पदच्युत करने तथा राज्य को जब्त करने में सफल हो गया। उसने स्वयं को राजा घोषित कर सरकार की बागडोर अपने हाथों में ले ली। किंतु वास्तव में स्वयं उसके पास अधिक शक्ति न थी। राज्य के बहुत बड़े भाग पर उन राष्ट्रकूट अधिकारियों एवं उच्च लोगों का अधिकार था जो उसकी प्रभुसत्ता का आदर नहीं करते थे। सिंहासन पर आंख रखने वाले उसके अनेक दायाद भागे हुए थे तथा उसको नष्ट करने के षडयंत्र रच रहे थे। यद्यपि वह सात वर्षों तक अपनी स्थिति बनाए रखने में सफल रहा किंतु उसे शांति प्राप्त न हुई। उसके एवं उसके शत्रुओं के पारस्परिक शक्ति-संघर्ष के कारण प्रदेश में जो अराजकता फैली तथा जनता पर जो विपत्तियां आईं, उनकी ओर समकालीन लेखों में संक्षिप्त किंतु स्पष्ट संकेत हैं। एक अभिलेख के अनुसार विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु के पश्चात 'युद्धमल्ल' राजमार्तांड, एवं कंठिका विजयादित्य जैसे बंधु बांधव तथा राजकुमार प्रभुसत्ता के लिए लड़ रहे थे तथा राक्षसों की भांति जनता को सता रहे थे'।[37] एक अन्य अभिलेख में कहा है कि 'शबर प्रमुख सामंतों, वल्लभ (अर्थात् राष्ट्रकूट) के सैनिकों आदि ने' आपस में ही राज्य को बांट लिया तथा 'उसे सात वर्षों तक अपने पास रखा'[38]।

चालुक्य भीम द्वितीय

राज्य को गृह-युद्ध एवं अराजकता की स्थिति से चालुक्य भीम द्वितीय राजमार्तांड ने बचाया, जो विजयादित्य चतुर्थ की पत्नी मेलांबा की कोख से उत्पन्न हुआ था तथा अम्म प्रथम का सौतेला भाई था। पांच वर्ष के घोर संघर्ष के पश्चात वह स्वराज्य से राष्ट्रकूटों को बाहर निकालने तथा राज्य में शांति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना करने में सफल हुआ। इस संघर्ष में उसे राष्ट्रकूट राज्य में हुई वंशीय क्रांति के उदय से पर्याप्त सहायता मिली। 930 ई० में मान्यखेट का सिंहासन प्राप्त करने वाले गोविंद चतुर्थ ने राज्य के उच्च अधिकारियों के एक वर्ग को रुष्ट कर दिया था। असंतुष्ट वर्ग का नेतृत्व गोविंद के चाचा बड्डेग के हाथों में था। गोविंद ने बड्डेग एवं उसके आकांक्षी पुत्र कन्नर को देश निकाला दे दिया था। बड्डेग तथा कन्नर ने त्रिपुरी के हैहय सम्राट, युवराजदेव प्रथम के दरबार में शरण ली और फिर वहां से वेमुलवाड तथा मुदुगोंड के चालुक्य प्रमुखों को अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काया। गोविंद चतुर्थ ने विद्रोहियों को दबाने के लिए सेना भेजी परंतु वह स्थिति पर नियंत्रण न कर सकी। अतः विद्रोह फैलता ही गया तथा राज्य प्रभुसत्ता का विघटन हो गया। चालुक्य भीम द्वितीय राजमार्तांड ने इस अवसर का लाभ उठाया तथा विद्रोहियों के साथ मिलकर अपने पैतृक साम्राज्य के शासक के रूप में स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए गोविंद को आघात पहुंचाया। वेंगि पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए गोविंद चतुर्थ के प्रयत्न विफल रहे, उसकी सेनाओं की पराजय हुई तथा उसके द्वारा रक्षित युद्धमल्ल द्वितीय ने भागने में ही अपनी खैरियत समझी। राष्ट्रकूट सेनाओं की पराजय तथा उसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रकूट साम्राज्य में ही विद्रोहों के उदय ने चालुक्य भीम द्वितीय को अपने विरोधी बांधवों से निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने तथा साम्राज्य में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी प्रभुसत्ता को सुरक्षित करने के लिए स्वतंत्र कर दिया। जब संपूर्ण राज्य को स्वतंत्र कर लिया गया तथा सभी विरोधियों को नष्ट कर दिया गया, तब उसने 934-5 ई० में स्वयं को राजा घोषित किया तथा अपना अभिषेक करवाया।[30] यद्यपि चालुक्य भीम द्वितीय ने 12 वर्षों तक राज्य किया फिर भी उसके शासन काल की घटनाओं के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। उसकी दो पत्नियां थीं : पूर्वी गंग वंश की ऊर्जपा अथवा अंकिदेवि तथा अज्ञात कुल की लोकांबा। जिनमें प्रत्येक से उसे एक पुत्र हुआ। इनके नाम क्रमशः दानार्णव तथा अम्भ रखे गए।[10]

अम्भ द्वितीय

चालुक्य भीम द्वितीय के पश्चात उसका दूसरा पुत्र अम्भ द्वितीय, जो उस समय 12 वर्षीय बालक था, अपने बड़े सौतेले भाई दानार्णव के बदले राजा बना। यह निश्चय करना संभव नहीं कि यह हुआ कैसे। अपने बड़े भाई के विपरीत, अम्भ द्वितीय का पालन पोषण अत्यंत वैभव में हुआ था और संभवतः साम्राज्य पर शासन करने के लिए उसके चयन का यही कारण था। यद्यपि दानार्णव ने शायद यह प्रबंध स्वीकार कर लिया था, तथापि अम्भ द्वितीय अपने राज्य में शांतिपूर्वक नहीं रह सका। 945 ई० में उसके राज्याभिषेक के तुरंत बाद ही युद्धमल्ल द्वितीय के पुत्रों बादप तथा ताल द्वितीय ने, जिन्होंने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रकूट दरबार में शरण ले ली थी, उस पर आक्रमण कर दिया। युवा अम्भ द्वितीय के राज्यारोहण तथा राज्य के प्रमुख उच्चाधिकारियों के दल बदल के कारण वे अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न करने लगे। उन्होंने कृष्ण तृतीय से सहायता ली तथा लेना लेकर वेंगि पर आक्रमण कर दिया। अम्भ द्वितीय स्वयं असहाय था, उसके समर्थक कमजोर थे, तथा उच्चाधिकारी विरोधी बनकर शत्रु से मिल गए थे। विरोध करने में स्वयं को असमर्थ पाकर उसने संघर्ष छोड़ दिया तथा राज्य से भाग गया। सिंहासन पर बादप ने अधिकार कर लिया तथा स्वयं को राजा घोषित कर विजयादित्य के नाम से राज्य करने लगा। यह आश्चर्य की बात है कि बादप एवं उसके छोटे भाई द्वारा वेंगी में किए गए हस्तक्षेप तथा बाद में उस पर उनके शासन के संबंध में पूर्वी चालुक्य अभिलेख कुछ नहीं बताते। किंतु स्वयं उनके अभिलेखों से[41] इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि उन्होंने अम्भ द्वितीय को सिंहासन से बलपूर्वक हटाया तथा कुछ समय तक उसके साम्राज्य पर राज्य किया। यह सत्य है कि उनके शासन की अवधि तथा शक्ति के विस्तार के संबंध में कोई निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है। जब बादप मरा तब सिंहासन पर उसका पूर्ण अधिकार था। उसके पश्चात उसका छोटा भाई ताल द्वितीय राजा बना, जिसने राजा बनने के बाद विष्णुवर्धन नाम धारण किया। ताल द्वितीय का शासन अधिक समय तक न चला तथा अम्भ द्वितीय के निर्वासन से लौटने पर शीघ्र ही समाप्त हो गया। जिन उच्चाधिकारियों ने पहले अम्भ को हटाने में सहायता दी थी, उन्होंने अब उसके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल दिया तथा उसकी वापसी का समर्थन किया। कोलनु के प्रमुख नृपकाम ने अपनी एक पुत्री का विवाह उससे किया तथा उसको सब तरह की सहायता दी। इस प्रकार उच्चाधिकारियों का समर्थन पाकर अम्भ वेंगी वापस लौट आया, युद्ध में ताल द्वितीय को मौत के घाट उतारा तथा अंत में साम्राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

किंतु फिर भी अम्भ द्वितीय की स्थिति अधिक सुरक्षित न थी। वह कुछ समय तक शांतिपूर्वक राज्य करता रहा लेकिन 956 ई० में वह एक बार पुनः राष्ट्रकूटों से युद्धरत हुआ। उसे दूसरी बार राज्य से भागने पर बाध्य होना पड़ा और देश से बाहर शरण लेनी पड़ी। कृष्ण तृतीय महत्वाकांक्षी सम्राट था तथा संपूर्ण दक्षिण भारत को अपने अधीन करने की उसकी उत्कट इच्छा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी। इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए उसने 949-50 ई० में तमिल राज्य पर आक्रमण कर दिया, चोलनरेश परांतक को तक्कोलं के युद्ध में पराजित किया, कांची एवं तंजावूर नगरों को लूटा तथा संपूर्ण तांडेमंडल को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसके पश्चात उसने अपनी दृष्टि वेंगी की ओर फेरी तथा उसका समर्पण प्राप्त करने के लिए सेना भेजी। इसके साथ ही उसने अम्भ के बड़े भाई दानाणंव को सिंहासन पर बैठाने का वचन देकर उससे मैत्री कर ली तथा उसे अपनी ओर मिला लिया। दानार्णव तथा कृष्ण तृतीय के संयुक्त आक्रमण का सामना करने में असमर्थ होने के कारण, अम्भ द्वितीय ने अपने राज्य से भाग कर कलिंग में शरण ली। कृष्ण तृतीय ने अपना वचन निभाया। उसने दानार्णव को वेंगी का शासक नियुक्त किया तथा उसके पैतृक राज्य के शासन की बागडोर उसी को दे दी।

यह ज्ञात नहीं है कि दानार्णव कितने समय तक तक सत्तारुढ़ रहा। राष्ट्रकूट सेना की वापसी के कुछ समय बाद अम्भ द्वितीय फिर देश लौटा तथा उसने अपने सौतेले भाई से राज्य वापस ले लिया और 970 ई० तक उस पर शांतिपूर्वक राज्य किया। किंतु फिर भी उसके शासन का अंत उपद्रव हीन न रहा। दानार्णव ने जिसने सिंहासन से कभी भी अपनी आंख नहीं हटाई थी, उसके विरुद्धविद्रोह कर दिया तथा संभवतः मुदुगोंड वंश के मल्लन एवं गोंदिय की सहायता से अम्भ द्वितीय को युद्ध में मार दिया और साम्राज्य पर अधिकार कर लिया।[42]

दानार्णव

दानार्णव का शासन काल केवल तीन वर्षों के छोटे से काल तक ही रहा, जिसके दौरान वह निरंतर अपने शत्रुओं खासकर आधुनिक कर्नूल जिले में पेडकल्लु का तेलुगु चोड प्रमुख जटा चोड भीम से युद्ध करता रहा। जिन परिस्थितियों में दानार्णव और इस शक्तिशाली अधिकारी का संघर्ष हुआ, वे स्पष्ट नहीं हैं। किंतु भीम संभवतया अपनी मां के माध्यम से राज भीम अथवा चालुक्य भीम द्वितीय का नाती तथा अम्भ द्वितीय का साला था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अम्भ की मृत्यु का बदला लेने के लिए उसने दानार्णव पर आक्रमण किया और 973 ई० में हुए युद्ध में उसे मौत के घाट उतार दिया।

संदर्भ

1. ए० इं०, vi, पृ० 342.
2. मत्स्य वंश का अटवि दुर्जय, चीपुरप्ल्ली ताम्रपत्राभिलेख में आज्ञप्ति के रूप में आता है, इं० एँ, xx पृ० 15.
3. 1899 ताम्रपत्राभिलेख नं० 154, ऐ० रि० सा० इं० ए०, 1900, पैरा 35.
4. 1892 का ताम्रपत्र, नं० 214, और ए० इं०, vi, पृ० 269-270.
5. ए० इं०, xxviii, पृ० 257-8.
6. सा० इं० इं०, i, पृ० 40.
7. 1916-17 का ताम्रपत्र नं० 9.
8. 1899 का ताम्रपत्र नं० 147.
9. इं० ऐं०, xx, पृ० 97, ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो०, xvi, पृ० 117,
10. ए० इं०, xviii, पृ० 3.
11. 1908-9 के ताम्रपत्र नं० 10 और 11, ऐ० रि० सा० इं० ए०, 1909, ii, पृ० 55-7.
12. ए० इं०, xiv, पृ० 148.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

13. 1913-14 का ताम्रपत्र नं० 9.
14. 1919-20 का ताम्रपत्र नं० 10; ए० इं, xviii, पृ० 58.
15. सा० इं० इ०, ii, पृ० 368.
16. ए० इं०, vi, पृ० 210-11.
17. वही, खंड xxii, पृ० 107, पंक्तियां 36-39.
18. वही, vi, पृ० 244-5, पद्य 19.
19. 'ज० ग्रा० हि० रि० सो०', ix, पृ० 28.
20. ऐ० रि० सा० इं० ए०, 1912, ii, पृ० 62; 1918, ii, पृ० 4 से; सा० इं० इं०, i, पृ० 39.
21. न्यू० इं० ऐ०, i, जी० 86-105.
22. ए० इं०, xix, पृ० 275.
23. भारती, v (i), पृ० 619.
24. ए० इं०, vi, पृ० 103; ix, पृ० 39; xviii, पृ० 246.
25. वही, vi पृ० 30-31.
26. वही, ix, पृ० 47.
27. 'भारती', v (i), पृ० 619; 'ज० ते० ऐ०', xi, पृ० 241; iii, पृ० 407; 1917-18 का ताम्रपत्र नं० 15; 'ज० आ० हि० रि० सो०', xi, पृ० 80 से; 'लो० रि०' 15-6-26, i, 348-58.
28. 'तेलिगान इंस्क्रिप्शंस', ओ० आई० नं० 12.
29. 'ज० म० यू०', xv, पृ० 114-16.
30. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1914, भाग ii, पैरा 6.
31. 'ए० इं०', iv, पृ० 240; ज० ते० ऐ०, पृ० 251.
32. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1917, भाग ii, पैरा 26; 1918, भाग 2, पैरा 5.
33. 'सा० इं० इं०', i, नं० 36, 38
34. 'ज० ग्रा० हि० रि० सो०', iii, पृ० 144-59.
35. 'ए० इं०', xxv, पृ० 108, ix, पृ० 55.
36. 'सा० इं० इं०', i, नं० 37, पृ० 45.
37. 'ए० इं०', ix, पृ० 55.
38. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1917, ii, पैरा 24.
39. 'ए० इं०', खंड 12, पृ० 249, ix, पृ० 47.
40. 'ज० आ० हि० रि० सो०', xi, पृ० 80-88; 1916-17 का ता० प० नं० 1.
41. 'ए० इं०', xix, पृ० 137; 1938-39 का ता० प० न० 6 (अप्रकाशित); 'ए० इं०', xix, पृ० 148.
42. एलियट संग्रह ('लो० रि०'), 15, 6, 26, पृ० 34-8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तेलुगु चोड अंतर्काल तथा पुनर्स्थापनोत्तर काल

पूर्वी चालुक्यों के इतिहास में दानार्णव की मृत्यु एक महत्वपूर्ण अवस्था का निदेश करती है। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुब्ज विष्णुवर्धन द्वारा वेंगी में उसके वंश की स्थापना के बाद पहली बार इस वंश का शासन निश्चित रूप से समाप्त हुआ। इसमें संदेह नहीं कि पहले भी गृह युद्ध हुए थे तथा अनेक अवसरों पर विदेशी आक्रामकों ने राज्य पर अपना आधिपत्य भी जमा लिया था, किंतु सदा ही स्वतंत्र रूप में अथवा किसी विदेशी शक्ति के अधीन रह कर चालुक्यवंशी ही सिंहासनारूढ़ रहा तथा वही राज्य पर शासन करता था। परंतु दानार्णव की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों को देश से निकाल दिया गया तथा चालुक्यों के साम्राज्य का अंत हो गया। उनसे दूरस्थ क्षेत्र के तेलुगु चोड वंश के एक सदस्य ने उनके सिंहासन पर अधिकार कर उनके पैतृक राज्य पर स्वयं को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर लिया।

973 से 1000 ई० तक के 27 वर्षों में जटा चोड भीम ने वेंगि पर राज्य किया। इस काल को परवर्ती पूर्वी चालुक्य अभिलेख में प्रायः अंतर्काल कहा गया है। अब तक प्राप्त अपने एकाकी अभिलेख में[1] भीम ने अपनी तुलना गुणग विजयादित्य से की है और गर्वपूर्वक उसी से अपनी उत्पत्ति भी बताई है। यह तुलना पूर्णतया महत्वहीन नहीं है। गुणग के अतिरिक्त वेंगी सम्राटों में से किसी ने भी इतने शत्रुओं से युद्ध नहीं किया अथवा इतने विस्तृत साम्राज्य पर राज्य नहीं किया, जितना भीम ने किया था। उसने अंग, कलिंग, वैदुंब तथा द्राविड़ के नरेशों को पराजित किया तथा अपने वैभव की चरम सीमा में महेंद्रगिरि से कांजीवरं तक के संपूर्ण तट प्रदेश तथा बंगाल की खाड़ी से कर्नाटक की सीमाओं तक अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी।

1001 ई० में भीम ने दक्षिण में तोंडैमंडल पर भी आक्रमण किया। यद्यपि इस अतिक्रमण के कारणों का निश्चित रूप से अंकण नहीं हुआ है, फिर भी समकालीन चोल एवं पूर्वी चालुक्य अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि चोल नरेश राजराज प्रथम के आक्रामक दृष्टिकोण ने इस स्थिति को जन्म दिया। राजराज प्रथम ने अपनी विस्तारवादी आकांक्षाओं का परिपालन करते हुए दानार्णव के पुत्रों के हितों को आगे बढ़ाया तथा उनमें से छोटे राजकुमार विमलादित्य के साथ अपनी पुत्री कुंदवै का विवाह कर, बड़े भाई शक्तिवर्मन प्रथम को उसके पैतृक सिंहासन पर पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से 999-1000 ई० में वेंगि पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि राजराज के शासनकाल के 14 वें वर्ष (999-1000 ई०) में उत्कीर्ण अभिलेखों में स्पष्ट रूप से कहा गया हैं कि उसने वेंगी पर विजय प्राप्त की थी, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वह पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ था। जटा चोड भीम एक भीषण शत्रु था, जिसे अनेक शक्तिशाली मित्रों का समर्थन प्राप्त था। वह उतनी सुगमता से उखाड़ा नहीं जा सका जितना चोल अभिलेख हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि शक्तिवर्मन प्रथम के शासन कालीन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलख,[2] चोलों द्वारा दी गई सहायता के संबंध में पूर्णतया मौन हैं तथा उसके अतुलनीय शौर्य को विजय को संपूर्ण श्रेय का भागी मानते हैं। लेकिन इनसे भी भीम के विरुद्ध दो तीन सैनिक अभियानों का अनुमान होता है। (1) जब निश्चय ही अपने चोल सहयोगी के साथ शक्तिवर्मन प्रथम वेंगी की ओर बढ़ा तो सबसे पहले उसका विरोध एकवीर नामक प्रसिद्ध योद्धा ने किया, जिसे भीम ने आक्रमण की प्रगति रोकने के लिए भेजा था। किंतु एकवीर योग्य एवं अनुभवी होते हुए भी स्थिति का सामना न कर सका। वह स्वयं युद्ध में मारा गया तथा उसके सहयोगियों को तितर-बितर कर दिया गया। (2) इसके पश्चात शक्तिवर्मन पर महाराज एवं बद्देम ने आक्रमण किया, जो संभवतया तेलुगु चोल राजकुमार थे और दक्षिण-पश्चिमी तेलुगु प्रदेश में राज्य कर रहे थे। वे भी पराजित हुए तथा उन्हें भी भाग कर बाहर शरण लेने पर बाध्य होना पड़ा। इन पराजयों से भीम को स्थिति की गम्भीरता का एहसास हुआ। उसे वेंगी छोड़ना ही पड़ा तथा कलिंग के पहाड़ों एवं जंगलों में शरण लेनी पड़ी। शक्तिवर्मन प्रथम ने राज्य पर अधिकार कर स्वयं को राजा घोषित कर दिया। चोल सेना अपना उद्देश्य पूरा कर तथा यह सोच कर कि वह अपने पैतृक राज्य पर सुरक्षित रूप से स्थापित हो गया था, अपने राज को वापस चली गई। किंतु शीघ्र ही उनका भ्रम दूर हुआ। भीम हतोत्साह नहीं हुआ था। उसने नई सेना का संगठन कर, उसका नेतृत्व करते हुए वेंगि की ओर प्रयाण किया। शक्तिवर्मन प्रथम द्वारा उसके विरोध के उपायों के बारे में जानकारी नहीं है। यदि वास्तव में उसने कोई विरोध किया था, तो वह विरोध सफल नहीं हो सका होगा क्योंकि भीम वेंगि में विजय पताका फहराते हुए जैसा पहले ही कहा जा चुका है, तांडैमंडलं के मध्य तक पहुंचने में सफल हो गया। उसने चोल साम्राज्य के दूसरे नगर कांची का घेरा डाला तथा 1001-2 ई० में उसे जीत लिया। किंतु उसे वहां अधिक दिन तक नहीं रहने दिया गया। राजराज प्रथम ने शीघ्र ही उसे अपने राज्य से बाहर खदेड़ दिया तथा उसकी निर्णायक पराजय की योजना बनाई। 1002-3 ई० में राजराज ने पुन: तटीय तेलुगु प्रदेश पर आक्रम किया। वह उत्तर में कलिंग तक बढ़ गया तथा युद्ध में भीम को मार कर उसने शक्तिवर्मन प्रथम को स्थाई रूप से वेंगि के सिंहासन पर आरूढ़ किया।

शक्तिवर्मन प्रथम

शक्तिवर्मन प्रथम के राज्यारोहण से वेंगी के इतिहास में एक नए युग का आरंभ हुआ। यों वह अपना पैतृक साम्राज्य पुन: प्राप्त करने में सफल हो गया, किंतु अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे काफी अधिक मूल्य चुकाना पड़ा था। वह अपने शत्रुओं को उखाड़ने में चोल नरेश से संधि के कारण समर्थ हो सका था, पर इस संधि का अर्थ राष्ट्रीय स्वतंत्रता का त्याग करना था। उसे चोल प्रभुसत्ता के सामने समर्पण करना पड़ा तथा चोल नरेश को अपना स्वामी एवं शासक स्वीकार करना पड़ा। वेंगी अब स्वतंत्र राज्य न होकर चोल साम्राज्य का संरक्षित राज बन गया था। चोल चालुक्य संधि के गठन तथा संपूर्ण तटीय तेलुगु प्रदेश में चोल सत्ता की स्थापना ने दक्षिणी दकन का राजनीतिक संतुलन समाप्त कर दिया तथा उस क्षेत्र में अनवरत वंशीय युद्धों की शुरूआत की। कल्याणी के चालुक्यों ने, जो दकन में राष्ट्रकूटों की शक्ति के उत्तराधिकारी थे, समुद्री मैदान के तेलुगु प्रदेश पर चोल प्रभुसत्ता को चुनौती दी तथा वेंगि एक अत्यंत दीर्घकालीन युद्ध का क्षेत्र बन गया। यह युद्ध छोटे-छोटे मध्यांतरों के साथ अगले 135 वर्षों तक चला। इस काल के दौरान वेंगि का इतिहास इसी युद्ध का इतिहास है। इस प्रदेश के पूर्वी चालुक्य शासक तो पृष्ठभूमि में चले गए तथा चोल एवं कल्याणी के चालुक्य इस क्षेत्र में संघर्ष करते रहे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परवर्ती पूर्वी चालुक्य दानपत्रों के अनुसार शक्तिवर्मन प्रथम का शासन 12 वर्षों तक रहा, किंतु उसके शासनकाल की आंतरिक घटनाओं के संबंध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इसमें संदेह नहीं कि उसके अभिलेख जटा चोड भीम व उसके मित्रों से उसके (शक्तिवर्मन प्रथम) संघर्ष के संबंध में पर्याप्त सूचना प्रस्तुत करते हैं, किंतु उसके राज्यारोहण के बाद की घटनाओं के बारे में वे कोई प्रमाण नहीं देते। परंतु शक्तिवर्मन का शासनकाल निष्कंटक और उपद्रव विहीन न था। आगामी लगभग 125 वर्षों तक वेंगी को नष्ट करने वाले कर्नाटक आक्रमणों की श्रृंखला का पहला आक्रमण उसी के शासन काल के आरंभिक वर्षों में हुआ। संभवतया चोल चालुक्य संधि को तोड़ने एवं पूर्वी तट को अपने नियंत्रण में करने के उद्देश्य से तैलप द्वितीय के पुत्र सत्तिग अथवा सत्याश्रय ने पूर्वी चालुक्य राज्य पर आक्रमण करने के लिए 1006 ई० में एक सेना भेजी। उसके एक सेनापति बयल नंबि ने सेना का नेतृत्व करते हुए दक्षिण की ओर से वेंगी में प्रवेश किया, धरणिकोट एवं यनमदल दुर्गों को भस्मसात कर दिया तथा स्वयं को गुंटूर जिले में चेब्रोलु पर स्थापित कर लिया। कहीं भी इस विषय पर सामग्री न होने के कारण यह निश्चित करना संभव नहीं कि शक्तिवर्मन प्रथम ने आक्रमण का मुकाबला कैसे किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके मित्र चोल नरेश राजराज प्रथम ने स्वयं परिश्रम करके वेंगी की सुरक्षा की योजना बनाई थी। 1007 ई० में राजेंद्र चोल प्रथम द्वारा कर्नाटक का आक्रमण संभवतया सत्याश्रय का ध्यान बंटाने तथा अपने राज्य की सुरक्षा के लिए वेंगी से सेना हटाने पर उसको बाध्य करने के लिए ही किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी चालुक्य सेना पूर्वी तट से वापस लौट गई तथा शक्तिवर्मन अपने साम्राज्य का अधिकारी बना रहा। अपने शासन के अंतिम वर्षों में उसने अपने साम्राज्य के आंतरिक प्रशासन की ओर ध्यान दिया। उसने उन लोगों की जागीरें छीन लीं, जो उसके प्रति वफादार नहीं थे। इन जागीरों को उसने अपने सहयोगियों को, उनकी स्वामिभक्ति के लिए उपहार स्वरूप दे दिया। उसके पारिवारिक जीवन के संबंध में बहुत कम ज्ञात है। यह भी मालूम नहीं कि उसने विवाह किया था या नहीं। वह 1011 ई० में संतानविहीन मर गया तथा उसके बाद उसका छोटा भाई विमलादित्य राजा बना।

विमलादित्य

विमलादित्य 1011 ई० में सिंहासन पर बैठा तथा सात वर्षों अर्थात 1018 ई० तक राज्य करता रहा। वह महत्वकांक्षी न था तथा अपनी मौजूदा परिस्थितियों से पर्याप्त संतुष्ट था। उसके बारे में वास्तविक रूप से ज्ञात तथ्य ये हैं: उसका जैनधर्म में स्थाई अथवा अस्थाई रूप में धर्म परिवर्तन तथा चोल वंश की दो राजकुमारियों से उसका विवाह। उसकी पहली पत्नी, महान चोल सम्राट राजराज प्रथम की पुत्री कुंदवै थी, जिसके पुत्र का नाम, उसके नाना राजराज के नाम पर रखा गया। राजराज को युवराज नियुक्त किया गया तथा वही अपने पिता के बाद वेंगि का राजा बना। विमलादित्य की दूसरी पत्नी मेलम, संभवतया जटा चोड भीम की पुत्री थी। उससे भी विजयादित्य नामक एक पुत्र था। यद्यपि रणस्थिपूंडि दानपत्र में उसके पूर्वजों के समान ही उसे भी 'परमब्रह्मण्य' तथा 'परममाहेश्वर' कहा गया है, किंतु एक समय ऐसा आया जब विमलादित्य जैन मतावलंबी हो गया। विजगपटम जिले में रामतीर्थ के एक तिथिविहीन अभिलेख में, त्रिकालयोगि सिद्धांत देव नामक एक जैन संन्यासी का उसके गुरू के रूप में उल्लेख किया गया है[3] तथा यह असंभव नहीं कि विमलादित्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने संभवत: पहले सिंहासन का त्याग कर, उसी से धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी।

1018 ई० में विमलादित्य के शासनकाल के अंत में उत्तराधिकार के प्रश्न पर संघर्ष हुआ। मेलम से उत्पन्न उसके पुत्र विजयादित्य ने कल्याणी के राजा जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल की सहायता से शक्ति अपने हाथों में ले ली तथा उसने अपने भाई राजराज को साम्राज्य से बाहर रखा।[4] राजराज ने अपने मामा, चोल सम्राट राजेंद्र चोल से सहायता की प्रार्थना की, जिसने तुरंत ही उसकी सहायतार्थ सेना भेजी। जयसिंह द्वितीय का ध्यान विकेंद्रित करने तथा विजयादित्य को प्रभावशाली सहायता देने से उसको रोकने के लिए, राजेंद्र चोल ने एक शक्तिशाली सेना रट्टपाडि के विरुद्ध भेजी। इस सेना ने इस प्रदेश को नष्ट कर दिया तथा जयसिंह द्वितीय को अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए कदम उठाने पर बाध्य किया। इसके साथ ही उसने अपने एक सेनापति शोलियवरशन् को एक अन्य सेना का नेतृत्व करते हुए वेंगि की ओर कूच करने तथा उसके (राजेंद्र चोल के) भानजे को पैतृक राज्य पर पुनः स्थापित करने का आदेश दिया। इस आदेश का पालन करते हुए शोलियवरशन अपनी सेना सहित वेंगि में बढ़ता गया। उसने विजयादित्य एवं उसके मित्रों को अनेक युद्धों में पराजित किया, फिर राजराज की ओर से राज्य पर अधिकार जमाया तथा इसके पश्चात अपने स्वामी के आदेश पर उसकी सेना ने गंगा की घाटी की ओर कूच कर दिया। अपने प्रदेश से चोल सेना के वापस लौटने पर, उत्कलों ने, जिन्हें शोलियवरशन ने दबा दिया था, संभवतः जयसिंह द्वितीय के उकसाने पर पुनः विद्रोह करके संचारसेवा के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। उत्कलों को नष्ट करने एवं गंगा की घाटी में अभियान करने वाली अपनी सेना को पीछे से सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से, राजेंद्र चोल प्रथम अपने सैनिकों के साथ उत्तर की ओर बढ़ते हुए गोदावरी के तट पर आ पहुंचा, जहां उसने किलेबंदी से युक्त एक शिविर की स्थापना की। उसने उत्कलों को दंड देने के लिए सेना भेजी और इस बीच गंगा की घाटी से अपने सेनापति के आगमन की प्रतीक्षा की। गोदावरी तट के अपने प्रवास के दौरान उसने अपने भानजे राजराज को वेंगि के सिंहासन पर बैठा दिया। 16 अगस्त 1022 ई० को उसका अभिषेक करा और उत्तर दिशा से लौटने वाली विजयी सेना के साथ वह अपने राज्य को वापस लौट गया।[5]

राजराज नरेंद्र

इस प्रकार गृहयुद्ध की अशुभ घड़ी में आरंभ होने वाला राजराज का संपूर्ण शासनकाल अनवरत राजनीतिक अशांति का काल था। अपने 41 वर्षीय दीर्घ शासनकाल के दौरान उसे निरंतर आपत्तियों का सामना करना पड़ा तथा अपने शत्रुओं का विरोध करने में असमर्थ होने के कारण अनेक बार राज्य से बाहर भी भागना पड़ा। उसके सौतेले भाई विजयादित्य ने युद्ध में हारने पर भी सिंहासन प्राप्त करने की अपनी अभिलाषा नहीं छोड़ी तथा अपने शत्रु के विनाश के अपने प्रयत्नों में कभी ढील नहीं दी। राज्याभिषेक के पश्चात राजराज के शासनकाल के प्रारंभिक कुछ वर्ष शांतिपूर्ण थे, किंतु, लगभग 1030 ई० में एक बार पुनः विजयादित्य से उसका संघर्ष हुआ, जिसने उसे राज्य से बाहर खदेड़ कर, 27 जून 1031 ई० को अपना राज्याभिषेक कराया तथा अपना नाम विष्णुवर्धन विजयादित्य धारण कर राज्य करने लगा।[6] जिन परिस्थितियों में विजयादित्य अपने भाई को पदच्युत करने तथा सिंहासन प्राप्त करने में सफल हुआ, वे अभी रहस्य हैं। संभवतया उसे पश्चिमी चालुक्य दरबार से सहायता प्राप्त हुई जहां उसे बाद में शरण भी मिली थी। यह जानना संभव नहीं है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्याभिषेक के बाद विजयादित्य कितने समय तक अपनी शक्ति को बनाए रखने में सफल हुआ, किंतु पूर्वी गोदावरी जिले के कोकनद तालुक में भीमवरं के अभिलेख में, जो राजराज के 16वें वर्ष (1035 ई०) में उत्कीर्ण किया गया था, स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तब से कुछ समय पूर्व वह निर्वासन से वापस लौट आया था तथा उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था।[7]

किंतु राजराज को अधिक समय तक शांतिपूर्वक अपने राज्य में रहने नहीं दिया गया। राजेंद्र चोल के शासनकाल के अंतिम वर्षों में, लगभग 1042 ई० में, पश्चिमी चालुक्यों ने वेंगि पर आक्रमण कर दिया। जिन परिस्थितियों में यह आक्रमण हुआ, वे स्पष्ट नहीं हैं, किंतु हमारा यह अनुमान है कि कल्याणी का नवीन शासक, सोमेश्वर प्रथम आक्रामक नीति अपनाने लगा था। पश्चिमी चालुक्यों के इस आक्रमण का समाचार शीघ्र ही चोल राजधानी गंगापुरी पहुंच गया। संभवतः राजराज सहायता मांगने के लिए स्वयं अपने मामा के दरबार पहुंचा। उस समय तक राजेंद्र काफी बूढ़ा हो चुका था, अतः वह स्वयं सेना का नेतृत्व करने में असमर्थ था, और उसके पुत्र भी अधिकांश सेना सहित साम्राज्य के सुदूर दक्षिण में थे। फिर भी, उसने उपलब्ध सैनिकों को एकत्र किया तथा उत्तम चोड चोडकों नामक कमांडरों के साथ अपने ब्राह्मण सेनापति राजराज ब्रह्ममहाराज के नेतृत्व में वेंगि की ओर भेज दिया। चोल सेना शीघ्र ही वेंगि पहुंच गई और तत्काल ही शत्रु से मुकाबला करने लगी। वेंगि शहर के निकट ही कलिदिंडि के स्थान पर एक घमासान युद्ध हुआ जिसमें दोनों ओर का नेतृत्व करने वाले अफसर मारे गए।[8] युद्ध के कारण का कोई निर्णय न हो सका।

संभवतया, कलिदिंडि के युद्ध के बाद युद्धों की गति मंद पड़ गई। इसी दौरान राजेंद्र चोल का निधन हो गया और उसके पश्चात राजाधिराज प्रथम राजा बना। राजाधिराज प्रथम वेंगी पर पहले जैसी पूर्ण चोल प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए उत्सुक था चोल साम्राज्य के सर्वोच्च शासक के रूप में स्वयं को दृढ़तापूर्वक स्थापित करते ही, उसने तटीय तेलुगु प्रदेश में एक सैनिक अभियान का नेतृत्व किया। उसके शासन काल के 27 वें वर्ष (1045 ई०) के अभिलेख में सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल से हुए उसके प्रथम युद्ध का उल्लेख है। उनमें कहा गया है कि राजाधिराज अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए आगे बढ़ा, उसने कृष्णा नदी के तट पर धन्नाड (धान्यकटक) के युद्ध में पश्चिमी चालुक्य कमांडरों अर्थात गंदप्पय्यन एवं गंगाधरन की मौत के घाट उतार दिया, तथा विक्कि (विक्रमादित्य) और विजयादित्य (राजराज का शत्रु एवं सौतेला भाई) को अव्यवस्थित रूप में लौटने पर बाध्य किया। फिर वह पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य में घुस गया तथा उसने कल्याणी एवं वेंगि के मध्य की सीमा पर स्थित कोल्लिप्पाकइ (हैदराबाद राज्य में कुल्पक) के महत्वपूर्ण दुर्ग में आग लगा दी।

राजाधिराज के इस विजयी अभियान ने निश्चय ही वेंगि से पश्चिमी चालुक्य सेनाओं को हटा दिया होगा तथा राजराज को संपूर्ण राज्य पर अपनी शक्ति को पुनः स्थापित करने योग्य बनाया होगा। किंतु यह शांति अस्थाई थी क्योंकि पश्चिमी चालुक्य शीघ्र ही पुनः स्थल पर आ पहुंचे और उन्होंने उसे समर्पण करने के लिए बाध्य किया। अनेक तत्कालीन पश्चिमी चालुक्य अभिलेखों में वेंगि पर सोमेश्वर प्रथम अहवमल्ल के शासन का उल्लेख है। 1047 ई० के एक अभिलेख में उसके द्वारा वेंगि और कलिंग के राजाओं के दमन का उल्लेख है, 1049 से 1054 ई० तक के अभिलेखों की नवीन श्रृंखला में उसके सबसे बड़े पुत्र, भुवनेकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय को वेंगिपुरवरेश्वर कहा गया है[9] तथा पूर्वी चालुक्य दरबार में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके एक स्थानिक प्रधानी नारायणभट्ट की पुत्री, कुप्पं ने 1055-56 ई० में, पूर्वी गोदावरी जिले में द्राक्षाराम के शिव मंदिर को एक दान दिया[10] । इस अभिलेख की पुष्टि, वीर राजेंद्र के कन्याकुमारी और चार्ला अभिलेखों के प्रमाणों से भी होती है, जिनमें यह स्पष्ट कहा गया है कि उसके वेंगि और कलिंग के प्रदेश जो 'वंशजों के हाथों में थे, उसके दो बड़े भाइयों द्वारा त्याग दिए जाने पर, शत्रुओं के अधिकार में थे'[11] यह स्पष्ट है कि राजाधिराज प्रथम के शासनकाल में वेंगि और कलिंग प्रदेश चोलों के हाथ से निकलकर चालुक्यों के अधिकार में आ गए, जिन्होंने उनको वीरराजेंद्र के शासनकाल के लगभग अंतिम वर्षों तक अपने पास रखा। फिर भी, राजराज को उसके साम्राज्य से बाहर नहीं निकाला गया था तथा दो या तीन वर्ष के लघु मध्यांतर को छोड़ कर, वह 1061 ई० में अपने शासनकाल के अंत तक उस पर राज्य करता रहा।[12] संभवतः, पश्चिमी चालुक्य विजय के तुरंत बाद वह कुछ समय के लिए अपना राज्य छोड़ कर, सहायता की खोज में चोल दरबार पहुंचा,[13] किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने उद्देश्य में असफल होने पर वह वापस वेंगि लौट गया तथा उसने पश्चिमी चालुक्यों से संधि कर ली। यह समझना अत्यंत कठिन है कि अचानक ही राजाधिराज ने वेंगि के मामलों में रूचि लेना क्यों छोड़ दिया और इस प्रकार उस प्रदेश को अपने वंश के पारंपरिक शत्रुओं का शिकार बनने दिया। इसमें संदेह नहीं कि वह अपने शासनकाल के शेष वर्षों में थोड़े-थोड़े समय पर पश्चिमी चालुक्यों से युद्धों में रत रहा, किंतु फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उसने तेलुगु प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता को पुनः स्थापित करने के लिए संभवतः कोई प्रयास नहीं किया।

राजराज ने स्वयं को नवीन परिस्थिति के अनुकूल बना लिया तथा चोलों के स्थान पर पश्चिमी चालुक्यों को अपने स्वामी के रूप में स्वीकार कर लिया। उसने कल्याणी के दरबार से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल का एक प्रधानी, नारायणभट्ट उसकी राजधानी में स्थाई स्थानिक था। वह ख्यातिप्राप्त विद्वान था तथा उसने राजराज के दरबारी कवि एवं 'पुरोहित' नन्नय भट्ट को, उसकी तेलुगु महाभारत की रचना में सहायता दी, जिसके लिए 1051 ई० में राजा ने उसे नंदंपूडि ग्राम के अग्रहार दान से पुरस्कृत किया।[14]

1061 ई० में राजराज की मृत्यु हुई और उसका शासनकाल समाप्त हो गया। इसके बाद विजयादित्य ने सिंहासन पर अधिकार कर स्वयं को राज्य पर स्थाई रूप से स्थापित कर लिया।[15] यह द्रष्टव्य है कि विजयादित्य, सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल का सामंत था, जिसकी उसने उसके राज्यरोहण के समय से ही अत्यंत स्वामिभक्ति से सेवा की थी। यह स्पष्ट है कि वह अपने स्वामी की सहमति के बिना वेंगि को प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं कर सकता था तथा राजराज की मृत्यु ने कल्याणी दरबार को वेंगि पर अपने आधिपत्य को और अधिक सुदृढ़ करने का अवसर प्रदान किया।

अपने 41 वर्षीय दीर्घ शासनकाल में राजराज को बहुत कम ही शांति मिली थी। उसके सौतेले भाई की कुटिल योजनाओं तथा विस्तारवादी विरोधी शक्तियों की परस्पर विरोधी आकांक्षाओं ने उसके समृद्ध राज्य को युद्ध का अखाड़ा बना दिया। राजराज भाग्य चंचला का निस्सहाय क्रीड़ाकंदुक था। उसने साम्राज्य खो कर अंत में फिर खोने के लिए ही उसे पुनः प्राप्त किया। वह बारी बारी चोलों एवं कल्याणी के चालुक्यों पर निर्भर था तथा उसने संभवतः अपने दीर्घ एवं घटनाप्रधान शासनकाल का अंत, निर्वाचन तथा सापेक्ष अल्पदृश्यता में किया था। दुर्भाग्य के थपेड़े खाते हुए भी उसने अपनी स्थिति का धैर्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से सामना किया तथा जब स्वयं को बनाए रखने में असमर्थ हुआ तो उसने अवश्यंभावी के प्रति समर्पण कर दिया। राजराज एक प्रबुद्ध एवं सहिष्णु शासक था। यद्यपि वह स्वयं शिव का परम भक्त था, तथापि उसने सभी मतों के अनुयायियों को अपना संरक्षण प्रदान किया। वह विद्या प्रेमी था तथा कवियों एवं विद्वानों को उदार दान देकर प्रोत्साहित करता था। उसी के कहने पर उसके प्रमुख दरबारी कवि, नन्नय भट्ट ने, व्यास के महाकाव्य पर आधारित 'आंध्र महाभारत' की रचना आरंभ की। किंतु संभवत: अपने स्वामी के शासन के आकस्मिक अंत तथा उसके परिणामस्वरूप संरक्षण समाप्त हो जाने के कारण, वह उसे अपूर्ण ही छोड़ गया।

राजराज ने अपनी ममेरी बहन अम्मंगै से, जो उसके मामा राजेंद्र चोल की पुत्री थी, विवाह किया, जिससे उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम महान चोल सम्राट के नाम पर राजेंद्र रखा गया।

शक्तिवर्मन द्वितीय

यद्यपि विजयादित्य ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया था, फिर भी उसने तत्काल ही शासन आरंभ नहीं किया। उसने अपने एकमात्र पुत्र शक्तिवर्मन द्वितीय को, जिसे वह अत्यंत प्यार करता था, सिंहासन पर बिठाया और स्वयं पृष्ठभूमि में चला गया। किंतु इसका एकमात्र कारण शक्तिवर्मन के प्रति उसका पितृप्रेम ही न था। विजयादित्य की सेवाओं की आवश्यकता कहीं और ही थी। पश्चिमी चालुक्यों के मूल स्थान, रट्टपाडि की सीमाओं की रक्षा करने वाले नोलंबवाडि पर लगातार चोलों के आक्रमण हो रहे थे तथा यह आवश्यक था कि उसकी सुरक्षा का काम योग्य हाथों को सौंपा जाए। विजयादित्य पराक्रमी योद्धा तथा अनुभवी सेनापति था तथा आहवमल्ल ने उसे जिले की सुरक्षा को संगठित करने के लिए नोलंबवाडि का गवर्नर भी नियुक्त कर दिया था।

शक्तिवर्मन द्वितीय ने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। र्‌यालि ताम्रपत्राभिलेखों के अनुसार उसका शासनकाल केवल एक वर्ष था, जिसके पश्चात वह अर्जुन के वीर पुत्र अभिमन्यु के समान, जिसने महाभारत युद्ध में अनेक कठिनाइयों के विरुद्ध लड़ते हुए प्राण त्यागे थे, स्वर्ग सिधार गया।[16] शक्तिवर्मन की मृत्यु की अभिमन्यु की मृत्यु से तुलना से ऐसा प्रतीत होता है कि वह युद्ध में मारा गया था। संभवत: वेंगि पर हुए तत्कालीन चोल आक्रमण में ही उसने अपने प्राण खोए थे। वीरराजेंद्र के दूसरे वर्ष (1063 ई०) के अभिलेखों में उसके द्वारा विक्रमादित्य की वेंगि में भेजी गई पश्चिमी चालुक्य सेना की पराजय का उल्लेख है।[17] इससे यह स्पष्ट है कि इस वर्ष से कुछ पूर्व,संभवत: 1062 ई० के अंत में चोलों ने वेंगि पर आक्रमण किया था। चूंकि वास्तव में इसी समय शक्तिवर्मन की मृत्यु युद्ध में हुई थी, अत: यह असंभव नहीं कि उसने इस अवसर पर चोलों के विरूद्ध लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की। यद्यपि वीरराजेंद्र, विक्रमादित्य की सेना को हराने, उसके सेनापति चामुंडरायन को मौत के घाट उतारने तथा उसकी सुदंर पुत्री नागलई की नाक काटने का दावा करता है, फिर भी वह वेंगि पर अपना पांव जमाने में असफल रहा तथा वहां से वापस लौटने को बाध्य हुआ। सोमेश्वर प्रथम ने विजयादित्य के नेतृत्व में चोल साम्राज्य में एक अभियान भेजा तथा एक बड़ी सेना का नेतृत्व करते हुए मैसूर प्रदेश में तुंगा एवं भद्रा नदियों के संगम पर स्थित, कूडल-शंगम की ओर आगे बढ़ा। पश्चिमी चालुक्य सेनाओं की इन गतिविधियों के कारण वीरराजेंद्र वेंगि में अपने अभियान का परित्याग करने तथा अपने ही प्रदेश में वापस लौटने पर बाध्य हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विजयादित्य सप्तम

अपने पुत्र की मृत्यु के समय विजयादित्य जिसका पुरा नाम विष्णुवर्धन विजयादित्य था, वेंगि में नहीं था। अपने पौराणिक पूर्वज अर्जुन के समान, जिससे वह अपनी तुलना करता है, वह अन्यत्र शत्रु से युद्ध करने में व्यस्त था। इस दुख के होते हुए भी उसके मित्रों एवं चाहनेवालों ने उसे राज्य का शासन संभालने के लिए राजी कर लिया।

विजयादित्य सप्तम का राजनीतिक जीवन 1018 ई० में उसके पिता की मृत्यु से आरंभ हुआ। सिंहासन प्राप्त करने एवं अपने सौतेले भाई राजराज को साम्राज्य से उखाड़ने के लिए किए गए उसके आरंभिक प्रयासों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 1031 ई० में राज्याभिषेक के पश्चात अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रखने में असमर्थ होने के कारण उसने अपना देश छोड़ दिया तथा कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य दरबार में शरण ली, जहां उसने सोमेश्वर प्रथम की सेवा में विशिष्टता प्राप्त की, जिसने उसे अपने अंककार अर्थात वीर योद्धा के रूप में स्वीकार किया तथा कुमार अर्थात राजकुमार की उपाधि से अलंकृत किया।[19] 1063 ई० में उसे चोल आक्रमणों के विरूद्ध नोलंबवाडि प्रांत की सुरक्षा के लिए उसका गवर्नर नियुक्त किया गया था। अपने पुत्र की मृत्यु के समय, विजयादित्य, चोल साम्राज्य में एक अभियान का संचालन कर रहा था। मैसूर राज्य में मुदुककेर्रे से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार वह वहां से शीघ्र ही विजयी होकर वापस लौटा।[20] फिर भी, चोलों ने अपनी विस्तारवादी योजनाओं का परित्याग नहीं किया। यह अपेक्षित था कि अपने वंश की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का इच्छुक वीरराजेंद्र, जो अपने बड़े भाई राजेंद्र द्वितीय के बाद गंगापुरी के सिंहासन पर बैठा था, शीघ्र ही वेंगि को अपने अधीन करने का नवीन प्रयास करेगा। अंत सोमेश्वर प्रथम ने अपने राज्य की रक्षा के लिए पहले से ही आवश्यक कदम उठा लिए थे। अपनी सेवा में लगे संभवत परमार कुमार, धारा के जननाथ के नेतृत्त में उसने बेजवाड़ा के निकट एक शक्तिशाली सेना भेज दी, तथा 1064 ई० में विजयादित्य को सेना सहित दक्षिण भेजा,[21] जिसका उद्देश्य शत्रु के ही राज्य में युद्ध करके उसकी योजनाओं की प्रगति को रोकना था।[22]

वीरराजेंद्र उत्तर में व्यस्त था, और इधर सोमेश्वर प्रथम बीमार पड़ा और मर गया। फलस्वरूप चोल शत्रु से उसकी मुठभेड़ नियत समय पर न हो सकी, तथा विक्रमादित्य ने स्वयं सिंहासन प्राप्त करने के प्रयास शुरू कर दिए। उसने पहले विजयादित्य से वीरराजेंद्र के प्रति समर्पण करवाया और उससे संधि करवाई, तथा शीघ्र ही उसने भी यही मार्ग अपनाया। इस प्रकार विजयादित्य, चोल शासक के सामंत के रूप में वेंगि का शासक बन गया।

राजेंद्र तथा विजयादित्य सप्तम

1070 ई० के आरंभ में वीरराजेंद्र की मृत्यु तथा उसके कुछ मास पश्चात उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी अधिराजेंद्र की हत्या के बाद, अपनी मां की ओर से राजेंद्र चोल प्रथम के वंशज राजेंद्र ने वेंगि को छोड़ दिया तथा दक्षिण में जाकर स्वयं को चोल सिंहासन पर स्थापित किया। इस काल में वेंगि एवं चोल साम्राज्य के उत्तरी भागों में हुई घटनाओं के संबंध में स्पष्टतया कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। फिर भी, इस संदर्भ में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं। एक : विजयादित्य के अभिलेखों के अध्ययन से वेंगि के उसके शासन में 1068 ई० से 1072 ई० तक के काल में व्यवधान होना प्रकट होता है। उसके अभिलेख 1063 ई० से 1068 तक की एक श्रृंखला में पाए जाते हैं, इसके पश्चात व्यवधान काल आता है और फिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1072 ई० से पहले उसका कोई अभिलेख नहीं मिलता। दो: अनंतवर्मन चोड गंगदेव कालीन कुछ पूर्वी गंग अभिलेखों में कहा गया है कि राजराज देवेंद्रवर्मन पहले द्रमिलों के युद्ध में विजयश्री का स्वामी बना तथा उसके पश्चात उसने चोल नरेश की पुत्री राजसुंदरी से विवाह किया, और अब वृद्धावस्था को प्राप्त करते हुए विजयादित्य ने वेंगि (राज्य को) को ऐसे छोड़ा जैसे कि सूर्य आकाश का त्याग कर रहा हो, और जब चोडों के महासमुद्र में डूबने को था, तब दुखियों को शरण देने वाले राजराज ने उसे पश्चिमी क्षितिज पर दीर्घ काल तक सुख प्रदान किया।[23] एक अन्य अभिलेख के अनुसार जिस चोल नरेश की पुत्री राजसुंदरी से राजराज ने इस प्रकार विवाह किया था, उसका नाम राजेंद्र चोल था।[24] तीन: चोल सिंहासन प्राप्त करने के बाद राजेंद्र द्वारा कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से जारी किए गए कुछ ताम्र दानपत्रों में कहा गया है कि वह अपने पिता के 41 वर्षीय शासन के बाद पहली बार वेंगि का राजा बना तथा चोल साम्राज्य का इच्छुक होने के कारण उसने इस पैतृक राज्य को अपने चाचा को सौंप दिया और स्वयं दक्षिण चला गया।[25] इन अभिलेखों की तुलना से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वीर राजेंद्र द्वारा विजयादित्य को वेंगि राज्य को सौंपे जाने के बाद, उसके (विजयादित्य के) भतीजे राजेंद्र ने, राज्य को स्वयं प्राप्त करने के लिए प्रयास किया, जिसके कारण विजयादित्य ने वेंगि से भाग कर पूर्वी गंग दरबार में शरण ली, जहां वह संभवत: राजेंद्र के शासन काल के दौरान ठहरा हुआ था। किंतु ज्योंही अपहरण कर्त्ता ने अपनी अधिकांश सेना सहित वेंगि को छोड़ कर चोल राज्य की ओर प्रस्थान किया, त्योंही कलिंग नरेश राजराज देवेंद्रवर्मन ने, विजयादित्य सप्तम को सिंहासन पर पुन: स्थापित करने के उद्देश्य से, उस प्रदेश (वेंगि) पर तथा उस की रक्षा के लिए राजेंद्र द्वारा छोड़ी गई छोटी सी सेना पर भी आक्रमण कर दिया। विजयादित्य को पुन: स्थापित करने की राजराज की उत्कंठा के कारण जानना कठिन नहीं है। ऐसा उसने आहत शासक के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए कम तथा उसको सहायता देने के बहाने अपने हितों का विस्तार करने के लिए अधिक किया था। राजराज चोल सामंत था, जो उनकी प्रभु-सत्ता को त्याग कर अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने को इच्छुक था। उसने सावधानी से राज-नीतिक स्थिति का अध्ययन किया तथा समय को अपनी योजनाओं के परिपालन के अनुकूल देखकर, वेंगि पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। उस समय राजेंद्र (कुलोत्तुंग प्रथम) अपने विरुद्ध विक्रमादित्य की गतिविधियों का विरोध करने में पूर्ण रूप से व्यस्त था तथा वेंगि में किसी भी प्रकार से शक्तिशाली सेना भेजने की स्थिति में न था। कलिंग के ब्राह्मण सेनापति बनपति ने, पश्चिम की ओर कूच किया तथा राज्य की सुरक्षा के लिए राजेंद्र द्वारा छोड़ी गई चोल सेना से मुकाबला किया। संभवत: कम संख्या के कारण चोल सैनिक पराजित हुए। यह विपत्ति अधिक गंभीर न थी, किंतु राजेंद्र किसी भी प्रकार से सेना के प्रबलीकरण में असमर्थ था। उसने यह भली-भांति समझ लिया होगा कि जिन परिस्थितियों में वह था, उसमें कलिंग से युद्ध में स्वयं को फंसा लेना बुद्धिमत्ता नहीं कहलाएगी तथा उस समय प्रतिष्ठा के ह्रास के होते हुए भी संधि करना ही अधिक लाभदायक होगा। राजराज देवेंद्रवर्मन जैसे खतरनाक शत्रु के अधिकारों को कुछ दूर तक स्वीकार कर लेने से वह उपयोगी मित्र हो जाता तथा उसके वृद्ध चाचा की पुन: स्थापना से, जिसकी अधिक समय तक जीवित रहने की संभावना न थी तथा जिसका कोई पुत्र न होने के कारण उत्तराधिकारी भी न था कोई स्थाई हानि नहीं होती। अत: राजेंद्र ने राजराज देवेंद्र वर्मन से संधि कर ली, जिसकी शर्तों के अनुसार उसने विजयादित्य को, उसके जीवन के शेष वर्षों तक वेंगि पर शासन करने की स्वीकृति दे दी, उसने राजराज को भी स्वतंत्र मित्र के रूप में स्वीकार किया तथा अपनी ही पुत्री राजसुंदरी का उससे विवाह करके इस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मित्रता को और दृढ़ कर लिया।

पुनर्स्थापना के पश्चात विजयादित्य का शासन अधिक समय तक न चला। उसके शासन काल के 12वें (1072 ई०) तथा (1073 ई०) वर्ष के अभिलेखों से पता चलता है कि वह उस समय तक साम्राज्य पर राज्य कर रहा था।[26] इसके पश्चात वेंगि पर उसके शासन के संबंध में एक भी अभिलेख नहीं मिलता। इससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः उसने पुनः राज्य खो दिया था। इस संदर्भ में दो तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है। अभी तक अज्ञात किसी कारण से डाहल के चेदि नरेश यशः कर्णदेव ने लगभग 1073 ई० में वेंगि पर आक्रमण कर दिया। वह दावा करता है कि (यद्यपि उस राजा के) शस्त्र चालन में कोई कमी न थी फिर भी उसने सुगमता पूर्वक आंध्र देश के शासक को नष्ट कर दिया 'तथा उसने द्राक्षाराम के पावन भीमेश्वर का उदारतापूर्ण उपहारों से सम्मान किया।[27] इसी प्रकार पूर्वी गंग नरेश राजराज देवेंद्रवर्मन के सेनापति ने, दिर्घसि से प्राप्त 1075 ई० के एक अभिलेख में कहा है कि उसने अनेक बार वेंगि नरेश को पराजित किया तथा उसकी संपत्ति को अपने अधिकार में कर लिया।[28] यह ज्ञात नहीं है कि इन अभिलेखों में वर्णित वेंगि के आक्रमण आपस में संबंधित थे अथवा स्वतंत्र घटनाएं थीं। यह भी जानना संभव नहीं है कि तीन वर्ष पूर्व ही विजयादित्य को वेंगि के सिंहासन पर स्वयं पुनर्स्थापित करने वाले राजराज देवेंद्रवर्मन को इस प्रकार उसके विरुद्ध हथियार क्यों उठाने पड़े। किंतु, यह निश्चित ही है कि इन आक्रमणों के फलस्वरूप विजयादित्य ने अपना राज्य खो दिया तथा उसे अपने जीवन के शेष वर्ष देश से बाहर व्यतीत करने पड़े। 1074-5 ई० के एक पश्चिमी चालुक्य अभिलेख में उसका उल्लेख भुवनिकमल्ल सोमेश्वर द्वितीय के सामंत के रूप में हुआ है।[29] इस अभिलेख में उसके लिए पल्लवान्वयं कांचीपुरवरेश्वरं तथा पल्लव-पेर्मानडि जैसी प्रसिद्ध नोलंब उपाधियों के प्रयोग से प्रतीत होता कि वह उस समय नोलंबवाडि प्रांत का शासन कर रहा था तथा पश्चिमी चालुक्य विधि का अनुसरण करते हुए उसने नोलंबों एवं पल्लवों की उपाधियों को धारण किया क्योंकि वह उन्हीं के पैतृक राज्यों पर राज्य कर रहा था। यह स्पष्ट है कि अपनी पराजय के पश्चात विजयादित्य पश्चिमी चालुक्य दरबार में पहुंच गया, जहां उसका हार्दिक स्वागत एवं सम्मान हुआ। किंतु अपना साम्राज्य खो देने के पश्चात वह अधिक समय तक जीवित न रह सका। चूंकि टेकि, चेलर एवं पिठापुरं दान पत्रों में कहा गया है कि उसने केवल 15 वर्षों तक राज्य किया[30] अतः वह 1075 ई० में मर गया होगा। विजयादित्य की मृत्यु के पश्चात पूर्वी चालुक्य वंश का अंत हो गया। यद्यपि दानार्णव के उत्तराधिकारियों के काल में वेंगि की स्वतंत्रता समाप्त हो गई, फिर भी उसे पर्याप्त स्वायत्तता मिली रही तथा उसे सदा अलग राज्य के रूप में माना जाता था किंतु विजयादित्य की मृत्यु के पश्चात उसका विशिष्ट स्वरूप समाप्त हो गया तथा पूर्ण रूप से चोल साम्राज्य में उसका विलय हो गया। वास्तव में आगामी अर्द्ध शताब्दी में राजराज के उत्तराधिकारियों ने ही उसके भाग्य पर अपना नियंत्रण बनाए रखा किंतु वे अब अपने राज्य में नहीं रहते थे। उन्होंने अपना निवास स्थान छोड़ दिया, वंश के नाम एवं परंपराओं का त्याग कर दिया तथा वे चोलों के नाम एवं प्रतिष्ठा में ही गर्व का अनुभव करते थे। चोल साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनने पर उन्होंने उसी को अपना मान लिया।

विजयादित्य का परिवार

विजयादित्य ने दो विवाह किए। उसके एकमात्र पुत्र शक्तिवर्मन द्वितीय की माता मादव, उसकी मुख्य रानी थी। वह हैहय वंश की राजकुमारी थी।[31] 1065 ई० के द्राक्षाराम अभिलेख में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रैवल नामक एक अन्य रानी का उल्लेख हुआ है। उसने सोमल नामक एक पुत्री को जन्म दिया, जिसने उसी वर्ष भीमेश्वर देव के मंदिर को दान दिया।[32] अपने दो बच्चों के अतिरिक्त विजयादित्य ने, मुम्मडि भीम नामक धात्रीपुत्र का भी पालन-पोषण किया। वह सूर्यवंशी कुमार था, जिसको उसने 'अपने पुत्र के समान' ही माना।[33] कुलोत्तुंग प्रथम के काल में वेंगि के प्रथम चोल उपराजा राजराज द्वितीय के अधीन भीम का उदय हुआ। गंग, कलिंग एवं कुंतल नरेशों के विरुद्ध युद्धों में भीम ने राजराज द्वितीय की महत्वपूर्ण सहायता की।[34]

संदर्भ

1. 'ए० इं०', xxi, पृ० 32.
2. 'लो० रि०', 15-2-26, पृ० 348 से; 'ज० ते० ऐ०', ii, पृ० 349-411; 1917-18 का ता० प० 15.
3. 1917 का ता० प० 831; 'सा० इं० इं०', ix (i), पृ० 403.
4. यहां पर वर्णित घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन के अधिक विस्तृत विवरण के लिए कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य शीर्षक अध्याय को देखिए.
5. 'चोलाज', (द्वितीय संस्करण), पृ० 204-11.
6. 'ज० आ० हि० रि० सो०'. ii, पृ० 287, पंक्ति 63.
7. 1893 का 'ता० प०' 482; 'सा० इं० इं०', v, नं० 82.
8. 1937-38 का ता० प० 5, ऐ० रि० सा० इं० ए०, 1937-8, भाग ii, पैरा 14; 'भारति', xx, पृ० 439.
9. 'बा० क०', xi, भाग i, नं० 84; 'ए० इं०', xvi, नं० 9 अ०, पृ० 53-7; 'बा० क०', xi, भाग i, नं० 90.
10. 'सा० इं० इं०', iv नं० 1010.
11. 'ए० इं०', xxv, पृ० 262.
12. 1893 का० ता० प० 183; 'ए० इं०', iv, पृ० 300; 1920 का ता० प० 663, 1893 का 468, 1920 का 671.
13. तंजौर जिले में तिरुवैयाडु के शिवमंदिर के एक अभिलेख में (1894 का 221, 'सा० इं० इं०', v, पृ० 520) राजाधिराज प्रथम के शासनकाल के 31वें (1049 ई०) तथा 32वें (1050 ई०) वर्ष में उसके द्वारा मंदिर को दिए गए धन के दो दानों का उल्लेख है। दूर स्थित मंदिरों को ऐसे दान प्राय: दाताओं की यात्रा के अवसर पर ही दिए जाते हैं.
14. 1893 का ता० प० 183; 'सा० इं० इं०', iv. नं० 1010.
15. 1924-5 का ता० प० 8; 'ज० आ० हि० रि० सो०', ix भाग i, पृ० 24 से.
16. 1924-5 का ता० प० 8; 'ज० आ० हि० रि० सो०', ix, भाग i, पृ० 24.
17. 'चोलाज', पृ० 318-19.
18. 'ए० क०', vii, छन्नगिरि तालुक का अभिलेख नं० 18.
19. पश्चिमी चालुक्य अभिलेखों के विजयादित्य तथा राजराज के सौतेले भाई की तादात्म्यता में अब कोई संदेह नहीं है; कुछ पश्चिमी चालुक्य अभिलेखों में उसे अनेक सामंतों के समान सोमेश्वर प्रथम का मग (पुत्र) कहा गया है, किंतु सोमेश्वर के एक और पुत्र की कल्पना करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि अन्य किसी स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं होती है.
20. 'ए० क०', vii, छन्नगिरि तालुक का अभिलेख नं० 18.
21. 'सा० इं० इं०', ix (i), पृ० 127.
22. इसके बाद के अभियानों का वर्णन कल्याणी के चालुक्यों के खंड में किया गया है.
23. 'इं० ऐ०', xviii, पृ० 171.
24. वही, पृ० 164.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

25. 'ए० इं०', vi, पृ० 344; 'सा० इं० इं०', i, पृ० 60; 'इं० ऐं०', xix, पृ० 427; 'ए० इं०', v, पृ० 77.
26. 1924-5 के ता० प० 8 और 9; 'ज० आ० हि० रि० सो०', ix, पृ० 177-180.
27. 'ए० इं०', xii, पृ० 216.
28. वही, iv, पृ० 316.
29. वही, xvi, पृ० 68-73.
30. वही, vi, नं० 35; 'सा० इं० इं०', i, पृ० 39; 'इं० ऐं०', xix, पृ० 427; 'ए० इं०', v, नं० 10.
31. 'ज० आ० हि० रि० सो०', v, पृ० 47.
32. 1893 का 182; 'सा० इं० इं०', iv, 1007,
33. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1922, भाग ii, पैरा-6.
34. वही, 2.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रशासनिक व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन

पूर्वी चालुक्यों के प्रशासन एवं समाज के संबंध में हमें अपने अभिलेखीय अथवा साहित्यिक स्रोतों से बहुत कम ज्ञान मिलता है। हम यह धारणा बना सकते हैं कि पूर्वी चालुक्य दरबार की नींव लगभग बादामि के दरबार का ही प्रतिरूप था। ज्यों ज्यों पीढ़ियां बीतती गईं, स्थानीय शक्तियां अधिक समर्थ हुईं तथा वेंगि के राजत्व में निजी विलक्षणताओं का विकास हुआ। फिर भी, उस पर राष्ट्रकूटों, चोलों एवं कल्याणी के चालुक्यों का प्रभाव पड़ता ही रहा होगा, क्योंकि इन सभी से वेंगि साम्राज्य के दीर्घ एवं घनिष्ठ संपर्क रहे थे, जो कभी मैत्रीपूर्ण व कभी शत्रुतापूर्ण थे। प्रारंभिक अवस्थाओं में कुछ पल्लव प्रभाव भी रहा होगा, जो साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतों में विशेष रूप से देखा जा सकता है।

अभिलेखों में राज्य के पारंपरिक सप्तांगों एवं 18 तीर्थों (पदों) जैसे: 'मंत्रि', 'पुरोहित', 'सेनापति', 'युवराज', 'दौवारिक', (द्वारपाल), 'प्रधान', 'अध्यक्ष' आदि का उल्लेख मिलता है।[1] एक एक परवर्ती ताम्र दानपत्र में इस तथ्य का वर्णन है कि मेडमार्य को वीर-चोड द्वारा 'सेनापति' के उच्च पद पर नियुक्त किया गया तथा इस इस अवसर पर राजा ने उसके सिर पर पगड़ी रखी।[2] अम्म प्रथम के एक अभिलेख में राज्य में अनेक पीढ़ियों से एक ही पद पर अधिकार करने वाले पट्टवर्धनि वंश की चर्चा है। इस संबंध में 'नियोगाधिकृत' ('नियोगों' का पर्यवेक्षक) शब्द का प्रयोग हुआ है,[3] जो पर्याप्त आरंभिक काल में 72 'नियोगों' के रूप में प्रासादीय अधिकारियों के संगठन के अस्तित्व की ओर इंगित करता है। इस काल में यह व्यवस्था वेंगि प्रदेश के बड़े मंदिरों में भी मिलती हैं।[4] यह भलीभांति ज्ञात है कि दरबार एवं मंदिरों का संगठन समान रूप से होता था।

'विषय' एवं 'कोट्टम्' प्रशासनिक उपभाग थे। कर्मराष्ट्र, जो बाद में कम्माडुविषय कहलाया तथा बोय-कोट्टम इनके उदाहरण हैं।[5] सर्वलोकाश्रय का चेंदलूर दानपत्र सभी 'नैयोगिक-वल्लवों' एवं 'ग्रामेयकों' को संबोधित करता है। इनमें से पूर्वोक्त पद अत्यंत सामान्य वक्तव्य है तथा उसके कर्तव्यों का कोई विवरण नहीं दिया गया है। ग्रामेयक ग्राम के निवासी थे तथा वही दानपत्र के मुख्य विषय थे।[6] कभी कभी 'मन्नेय' नामक एक अन्य अधिकारी वर्ग का उल्लेख मिलता है।[7] वे विभिन्न ग्रामों में भूमि अथवा राजस्व संबंधी कार्यों की देखरेख करते थे, किंतु उनके संबंध में इससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। वास्तव में यह धारणा गलत नहीं है कि साम्राज्य में पूर्ण रूप से कोई विशेष प्रशासनिक व्यवस्था न थी। राज्य में प्राय: गृहयुद्ध एवं विदेशी आक्रमणों का खतरा बना रहता था तथा राज्य को अनेक छोटे छोटे प्रदेशों में बांट दिया गया था। ये प्रदेश ऐलमंचिलि, पिठापुरं तथा मुदुगोड जैसे चालुक्यों की सांपार्श्विक शाखाओं के युद्धप्रिय सामंतों के हाथों में थे। कोलनु के सरोंनाथों एवं कोन के हैहयों जैसे संबंधी भी इन पदों पर आसीन थे। इन सबके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे जिन्हें शासक वंश के प्रति उनकी सेवाओं के कारण अनुकूल प्रदेश उपहारस्वरूप देकर ऊंची उपाधियों से विभूषित किया गया था। इस अंतिम वर्ग में वेलनाडु, कोंडपडुमटि, छागि, परिच्छेदि आदि वंश सम्मिलित हैं। ये सभी वेंगि सम्राट के शक्तिशाली होने पर उसकी प्रभुता स्वीकार कर लेते थे तथा उसे कर भी देते रहते थे। किंतु साथ ही कमजोरी नजर आते ही वे शासक के शत्रुओं के साथ मिलकर षडयंत्र रचने अथवा उत्तराधिकार संबंधी युद्धों में भाग लेने के लिए सदा तैयार रहते थे। फिर भी, साम्राज्य की राजनैतिक उथल-पुथल से प्रभावित हुए बिना ही, ग्रामों में पारंपरिक स्थानीय प्रशासन चलता रहा होगा। उनकी अर्थव्यवस्था निश्चय ही साधारण थी तथा 'ग्रामेयकों' एवं 'राष्ट्रकूट-प्रमुखों' के उल्लेखों से पता चलता है कि लोग, अपने ही बीच रहने वाले महत्वपूर्ण एवं चरित्रवान व्यक्तियों के स्वाभाविक नेतृत्व में अपना जीवन व्यतीत करते थे। शक्तिवर्मन प्रथम के 'पभ्रुपर्ड़ु' दानपत्र में एक उदाहरण मिलता है, जिसमें राजा ने राज्यविरोधी एवं राजद्रोही व्यवहार के कारण एक 'ग्रामणी' को पदच्युत कर एक अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त किया।[8] अराजकतापूर्ग इस वातावरण में भी केंद्रीय सरकार, प्रशासनिक व्यवस्था के प्रमुख अंग ग्राम्य जीवन से संपर्कविहीन न थी। वास्तव में गांवों से संपर्कविहीन होना कभी भी सरकार के हित में नहीं था।

जनता

यह आश्चर्य की बात है कि पूर्वी चालुक्य साम्राज्य की स्थापना के तुरंत बाद ही आंध्र प्रदेश में यात्रा करने वाले ह्यून-त्सांग ने उसकी जनता के बारे में बहुत कम लिखा है।[9] उसके अनुसार इस प्रदेश की भूमि काफी उपजाऊ थी तथा जलवायु आद्र-उष्ण थी, लोग विद्रोही स्वभाव के थे, उनकी भाषा मध्यदेश के लोगों की भाषा से भिन्न थी किंतु उनकी लिपि एक ही थी। उस युग के लिए यह सभी सही था। एक अन्य स्थल पर उसने कहा है कि लोग 'श्यामवर्ण' तथा कलाओं के प्रेमी थे। साम्राज्य के कुछ भागों में छिटपुट आबादी थी तथा तेलुगु-चोड जैसे अन्य भागों में घने वन थे जहां डाकुओं के गिरोह खुले रूप में सक्रिय थे। उसने पाया कि सभी जगह बौद्ध धर्म अवनत अवस्था में तथा देवपूजा अर्थात हिंदू धर्म उन्नत अवस्था में था।

सामाजिक व्यवस्था के सामान्य वर्गों के अतिरिक्त, अभिलेखों में बोयों तथा सवरों जैसी जातियों का भी उल्लेख मिलता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि समाज में उन्हें निम्न स्तर ही प्राप्त था। प्रमुख स्थान अब भी ब्राह्मणों को ही प्राप्त था तथा सामान्यतया उनके अध्ययन एवं चरित्र के कारण उनका आदर किया जाता था। विशेष अवसरों पर उन्हें उपहार एवं दान दिए जाते थे। फिर भी, प्रायः वे सैनिक व असैनिक अधिकारियों के रूप में राज्य की सेवाओं में भर्ती हो जाते थे तथा इनमें से कुछ ने, इन पदों पर विशिष्टता प्राप्त की। रणप्रिय याद्धावर्ग तथा उनकी सामान्य गतिविधियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'कोमटियों' के नाम से प्रसिद्ध तेलुगु प्रदेश का व्यापारी वर्ग अत्यंत समृद्ध था। प्रायः अभिलेखों में उनके द्वारा मंदिरों तथा अन्य धार्मिक एवं धर्मार्थ संस्थाओं को दिए गए दानों का उल्लेख मिलता है। यह संभव है कि शक्तिशाली श्रेणी (नकर) के रूप में उनके संगठन का आरंभ भी इसी काल में हुआ था। इसका मुख्य कार्यालय पेनुगोंड (पश्चिमी गोदावरी) में था तथा इसकी 17 शाखाएं अन्य केंद्रों में स्थित थीं। संभवतः 16वीं शताब्दी में रचित ग्रंथ 'वैश्यपुराण' (सातवां सर्ग) में श्रेणी एवं उसके संगठन का पूर्ण विवरण मिलता है। सामान्यतया 1000 तेलिकों (तेल व्यापारी) की एक अन्य श्रेणी थी, जिसे 1084 में वेंगि के चोल उपराज राजराज चोड-गंग से कुछ सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त थे।[10] अधिकांश जनसंख्या के लिए सैन्य सेवा महत्वपूर्ण पेशा थी और जैसा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि पहले ही कहा जा चुका है, सफल महत्वाकांक्षी पण्यसैनिक के लिए यह अत्यंत आसान था कि वह अपने ही बल पर अधिक शक्तिशाली नेता के सामंत के रूप में स्वयं को एक छोटे से प्रदेश पर मुखिया के रूप में स्थापित कर ले।

धर्म

हुआन-च्वांग के समय से धर्म के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अधिकाधिक ह्रास हो रहा था और वास्तव में अमराराम (अमरावती) के बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप में पूजा होने लगी थी। भीमपुर, डाकरेमि, पलकोलनु तथा द्राक्षाराम के अन्य चार 'आराम' बौद्ध धर्म के प्रमुख केंद्र थे, जो कालांतर में अत्यंत प्रसिद्ध हिंदू तीर्थ बन गए, जहां बड़ी संख्या में तीर्थयात्री जाते थे। चेब्रोलु में महासेन, बिदपुर में हुंकार-शंकरी तथा बेजवाडा में मल्लेश्वर के मंदिर तीर्थ यात्रा के अन्य महान केंद्र थे। चेब्रोलु का महासेन का मंदिर अपनी वार्षिक यात्रा के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। चेब्रोलु से बेजवाड़ा और वहां से वापसी अर्थात लगभग 25 मील की दूरी तक मूर्ति का भव्य जुलूस ही इस यात्रा की विशेषता थी। वैष्णवधर्म की तुलना में शैव धर्म अधिक लोकप्रिय था तथा विष्णु की तुलना में अधिक शैव मंदिरों के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं। नरेंद्र मृगराज विजयादित्य द्वितीय कालीन 108 नरेंद्रेश्वरों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। युद्धमल्ल प्रथम ने बेजवाड़ा में कार्तिकेय का मंदिर बनवाया तथा चालुक्य भीम प्रथम ने द्राक्षाराम एवं चालुक्य भीमवरं के प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण करवाया था। राजराज नरेंद्र ने युद्ध में मारे गए तीन चोल सेनापतियों की स्मृति में कलिदिंडि के स्थान पर तीन स्मारक मंदिर बनवाए।

बौद्ध धर्म के विपरीत, जैन धर्म को अब भी जनता का आदर प्राप्त था तथा अभिलेखों में राजाओं एवं जनता द्वारा उसके समर्थन में दिए गए दानों एवं 'बसदियों' के निर्माण का उल्लेख मिलता है। राजमहेंद्र अम्भ द्वितीय ने जैनियों के प्रति सहानुभूति प्रकट की, किंतु पूर्वी चालुक्य वंश में विमलादित्य को छोड़कर अन्य किसी भी राजा ने स्पष्ट रूप से महावीर की शिक्षाओं का अनुसरण नहीं किया। अम्भ द्वितीय ने सर्वलोकाश्रय तथा कटकाभरण नाम के दो 'जिनालयों' (जैन मंदिरों) का निर्माण करवाया तथा प्रत्येक के साथ एक आहार गृह ('सत्र') स्थापित किया, जहां पर संस्थान के खर्चे से चारों वर्णों के श्रमणों को भोजन कराया जाता था।[11]

वास्तव में, राज्य में शिक्षा एवं नैतिकता के प्रसार में मठों ने विशेष योगदान दिया। यह अपेक्षित ही था कि इस प्रकार के शैव व्यवस्थापन अन्य व्यवस्थापनों की तुलना में कहीं अधिक थे। बेजवाड़ा में क्रमशः विजयादित्य द्वितीय तथा युद्धमल्ल प्रथम द्वारा निर्मित शिव एवं महासेन के मंदिरों में ऐसे ही दो मठ संलग्न थे। भिक्षु गरीबों को भोजन खिलाते थे, रुग्णों की सेवा करते थे, पीड़ितों को सांत्वना देते थे तथा बच्चों एवं नवयुवकों की शिक्षा के लिए विद्यालय की स्थापना करते थे।

साहित्य

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुणग विजयादित्य तृतीय के काल के अभिलेखों में पहली बार तेलुगु पद्य दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु तेलुगु साहित्य के उदय एवं विकास का निश्चित विवरण नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसके आरंभ से संबंधित सभी प्रमाण लुप्त हो चुके हैं। तेलुगु 'कुमारसंभव' के लेखक नन्ने चोड ने अपनी भूमिका में कहा है कि पहले कविता की रचना केवल मार्ग अर्थात चिर प्रतिष्ठित शैली में होती थी तथा चालुक्य एवं अन्य नरेशों ने देशी अर्थात लोकप्रिय शैली में काव्यों की रचना करवाई तथा आंध्र प्रदेश में तेलुगु भाषा के साहित्यिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयोग को प्रोत्साहन दिया।[12] यद्यपि इस संदर्भ में उसने चालुक्य नरेश का नाम नहीं दिया है, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि वह तेलुगु साहित्य की प्राचीनतम कृति 'महाभारत' के लेखक नन्नय भट्ट के संरक्षक, राजराज नरेंद्र से बहुत पहले हुआ होगा। वस्तुतः तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों एवं साहित्यिक परंपरा के कारण तेलुगु साहित्य बहुत बाद में अस्तित्व में आया तथा उसके विकास में अवरोध उत्पन्न हुए। विदेशी आक्रमण एवं गृह युद्ध के कारण वेंगि की स्वतंत्रता एवं अखंडता सदा ही खतरे में थी। अभी तक तेलुगु भाषा ने वह परिमार्जित रूप प्राप्त नहीं किया था, जो उसे बाद में मिलने वाला था। साहित्य जगत में संस्कृत के पश्चात कन्नड़ भाषा को ही सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। कन्नड़ के तीन महान कवियों पोन्न, पंप तथा नागवर्म का कंमनाडु तथा वेंगिपलु अर्थात आधुनिक गुंटूर जिले के नरसराओपेट तालुक के वेंगि-पुरं से घनिष्ट संबंध था। ये तीनों ही जैन थे। किंतु निश्चय ही नन्नय तेलुगु भाषा का आदि कवि नहीं था क्योंकि उसका काव्य अत्यंत उच्चकोटि का एवं विकसित शैली में है। और ऐसी परिपक्वता युगों के प्रयास के बाद ही संभव हो सकी होगी। फिर भी, यह सत्य है कि अभिलेखों में पाए जाने वाले कतिपय पद्यों को छोड़कर पूर्वनन्नयकाल की कोई भी कृति प्राप्त नहीं है। नन्नय के संरक्षक, राजराज के शासनकाल के वर्णन के दौरान उन परि-स्थितियों के बारे में कहा जा चुका है, जिनमें नन्नय के ग्रंथ की रचना हुई उसके बीच में ही उसके स्थगित किए जाने के संभावित कारणों का भी उल्लेख किया जा चुका है। हम यह भी कह सकते हैं कि जैन भावना से प्रेरित पंप कृत 'भारत' के प्रभाव का प्रत्युत्तर देने के लिए ही नन्नय ने महाकाव्य के तेलुगु संस्करण का आरंभ किया था। अपूर्ण होते हुए भी नन्नय की कृति सार्व-भौमिक रूप से उत्कृष्ट मानी जाती है। उसने तेलुगु महाकाव्यों के लिए मानदंड स्थापित किया है। आकर्षक एवं प्रशंसनीय शब्दविन्यास से युक्त इस काव्य में वह आकर्षण है जो तेलुगु साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। मधुर, मृदु एवं परिष्कृत पद्य के रूप में यह अद्वितीय है।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', iv पृ० 307, vi, पृ० 307; 1916-17 का ता० प० नं० 1.
2. 'सा० इं० इं०', i, पृ० 39; v, पृ० 30.
3. वही, नं० 36, पंक्ति 45.
4. 1920 का ता० प० 729.
5. 'इं० ऐं०', vii, पृ० 186 से; 'ए० इं०', viii, पृ० 236; 'इं० ऐं०', xx, पृ० 104 आदि.
6. 'ए० इं०', viii, पृ० 239.
7. वही, xxi, पृ० 33.
8. 'ज० ते० ऐ०', ii, पृ० 403.
9. के० ए० एन० शास्त्री, 'फौरन नोटिसिज', पृ० 98-101.
10. 'ए० इं०', vi, पृ० 35.
11. वही, ix, पृ० 49, vii, पृ० 191.
12. 'कुमारसंभव', i; 23.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट अ

पूर्वी चालुक्य वंशावली

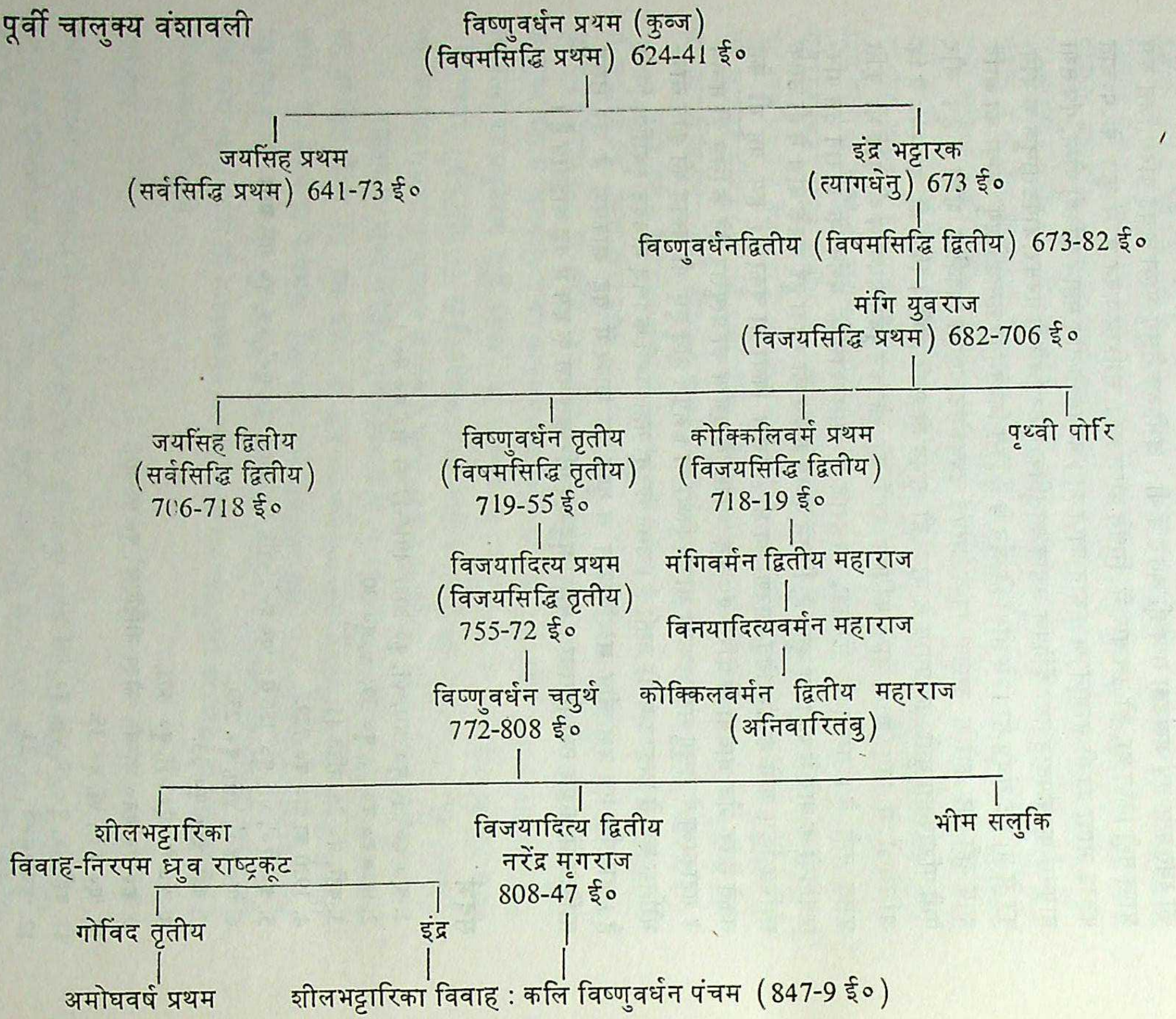

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

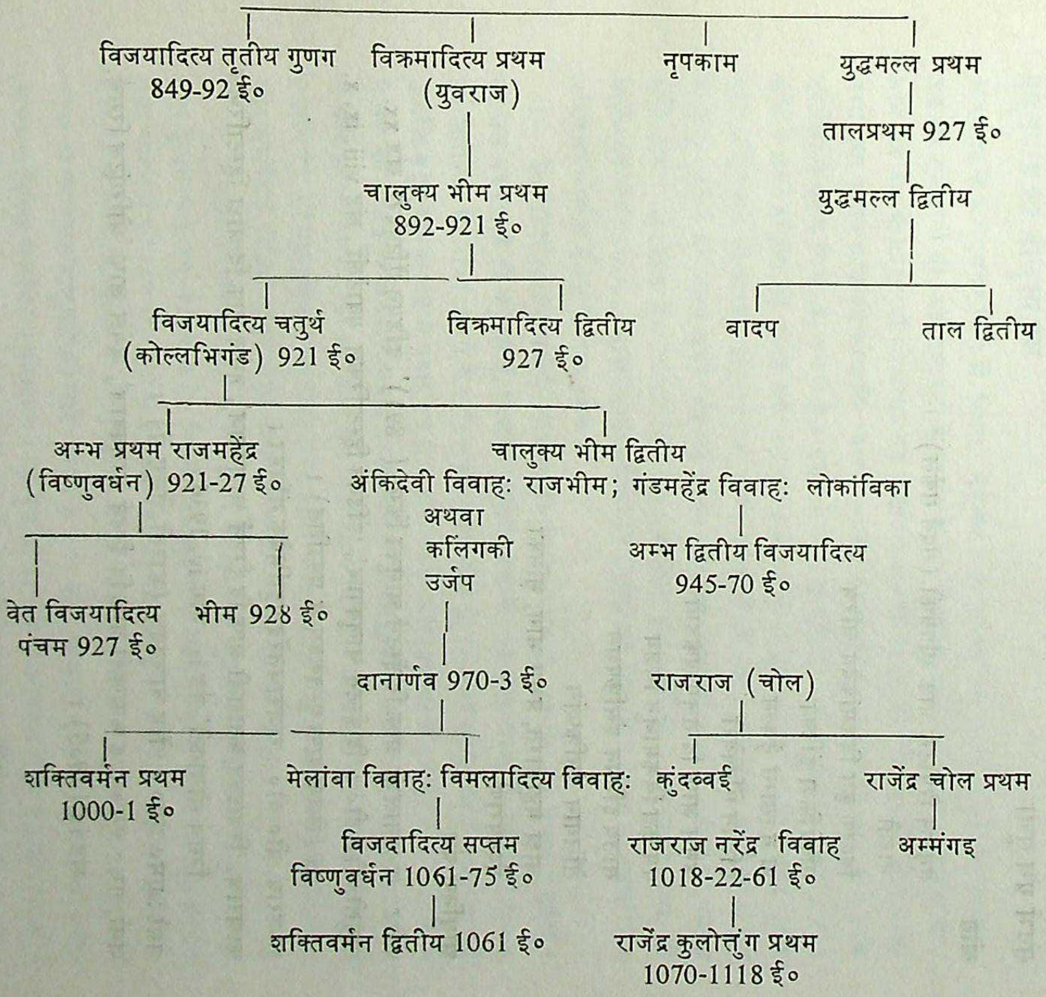

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिट 'ब'

संदर्भ ग्रंथ सूची

स्रोत

ऐनुअल रिपोर्ट्स आफ एपिग्रेफी (सदर्न सर्कल)
भारती
बिल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित्र
एपिग्रेफिया इंडिका
ह्यू न त्सांग्स ट्रैवल्स
इंडियन ऐंटिक्वेरी
जर्नल आफ दि तेलुगु अकेडमी
पंप कृत विक्रमार्जुन विजय
साउथ इंडियन इंसक्रिपशंस
तेलिंगान इंसक्रिप्शंस
आंध्र महाभारत, प्रथम भाग, भूमिका
वैश्यपुराणं

आधुनिक ग्रंथ

फ्लीट : 'द क्रनालजी आफ दि ईस्टर्न चालुक्य किंग्स (891)', इंडियन ऐंटिक्वेरी, खंड xx.
गांगुली, सी० डी० : 'दि ईस्टर्न चालुक्याज', 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', खंड viii, ix, x, xi (लेखक द्वारा पुस्तकरूप में प्रकाशित)।
कृष्णराव, वी० वी० : राजराजनरेंद्र पट्टाभिषेक संचिका।
कृष्णराज, 'रिवाइज्ड क्रनालजी आफ दि ईस्टर्न चालुक्याज', जर्नल आफ दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी' खंड ix, भाग iv, 1936।
शर्मा : एम० एस० : 'वेंगि चालुक्यलु (भारती, तेलुगु में)'।
शर्मा, एम० एस० : 'द क्रनालजी आफ दि ईस्टर्न चालुक्वाज', जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च, खंड ix (1935)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट स

वेमुलवाड़ का चालुक्य वंश

हैदराबाद के करीमनगर जिले में स्थित, लेमुलवाड़ के नाम से प्रसिद्ध, वेमुलवाड़ उस चालुक्य वंश की राजधानी थी, जो राष्ट्रकूटों के सामंत के रूप में एक विस्तृत क्षेत्र पर राज्य करता था। अधिराज वंश के कारनामों की प्रकाशमय पादटिप्पणीरूपी उनका इतिहास मुख्यतः तीन अभिलेखों तथा कन्नड कवि पंप की कृति 'भारत' अथवा विक्रमार्जुन विजय में पाए जाने वाले उनके उल्लेखों से एकत्र किया जा सकता है। वेमुलवाड़ का अरिकेसरी द्वितीय पंप का संरक्षक था। कवि ने अपने संरक्षक की तादात्म्यता महाकाव्य के नायक अर्जुन से स्थापित की है तथा इसके माध्यम से उसने समकालीन इतिहास की अनेक घटनाओं को अपने काव्य के कथानक में गूंथ दिया है। इसके अतिरिक्त अपने ग्रंथ की भूमिका में उसने अपने संरक्षक के पूर्वजों का पर्याप्त सही वृतांत भी दिया है। उल्लिखित तीन अभिलेख इस प्रकार हैं: अरिकेसरी प्रथम के कोल्लिपर्र (गुंटूर जिला) ताम्रपत्रक,[1] अरिकेसरी द्वितीय का वेमुलवाड़ शिला अभिलेख[2] तथा अरिकेसरी तृतीय के पर्भणी ताम्रपत्रक।[3]

शिलाभिलेख तथा पर्भणी ताम्रपत्राभिलेखों में वंश की उत्पत्ति सूर्य से बताई गई है। यह उस परंपरा के ही अनुरूप है, जिसके अनुसार वंश के 59 नरेश दकन में स्थापित होने से पूर्व अयोध्या में राज्य करते थे। किंतु यह सर्वविदित है कि अन्य अभिलेखों में इस वंश की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा चंद्र से बताई गई है।[4] कोल्लिपर्ड़ ताम्रपत्रक को छोड़कर हमारे सभी स्रोतों में वंश की वंशावली विनयादित्य युद्धमल्ल प्रथम से आरंभ होती है जबकि इस ताम्रपत्राभिलेख में चार अधिक पीढ़ियों की भी चर्चा है। कुछ अनिर्णयात्मक आधारों पर कोल्लिपर्ड ताम्रपत्राभिलेख की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया गया गया है। कोल्लिपर्ड अभिलेख में प्राप्य चार आरंभिक पीढ़ियों सहित संपूर्ण वंशावली पृष्ठ 482 पर दी गयी है।

संभवतः लिपिक की भूल के कारण पंप की कृति में युद्धमल्ल (द्वितीय एवं तृतीय) का नाम दुग्धमल्ल के रूप में मिलता है। विनयादित्य युद्धमल्ल प्रथम के चार पूर्वजों की तादात्म्यता तथा चालुक्यों की अन्य शाखाओं से इस वंश के पितृ-निश्चयन के संबंध में पर्याप्त विवाद हैं। मंगलौर के श्री तिम्मप्पय्या ने 'नाडोज पंप' नामक अपने ग्रंथ में सुझाव दिया है कि युद्धमल्ल प्रथम की तादात्म्य चालुक्यों की लाट शाखा के उसी नाम वाले राजा से संभव है। यह वलसर ताम्रपत्राभिलेख में वर्णित जयसिंहवर्मन का पुत्र था।[5] श्री तिम्मप्पय्या ने ही युद्धमल्ल प्रथम के चार पूर्वजों की तादात्म्यता उसी क्रम से बादामी के पुलकेशिन प्रथम, कीर्तिवर्मन प्रथम, पुलकेशिन द्वितीय तथा पुलकेशिन द्वितीय के पुत्रों में से लाट के जयसिंहवर्मन धराश्रय से स्थापित की है। यद्यपि पीढ़ियों की संख्या तथा कुछ उपाधियां आपस में मिलती हैं, फिर भी इस सुझाव में अनेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूर्य से उत्पन्न चालुक्य वंश
सत्याश्रय रणविक्रम
|
पृथ्वीपति
|
महाराज
|
राजादित्य (पृथुविक्रम)
|
विनयादित्य युद्धमल्ल प्रथम (राजाश्रय)
|
अरिकेसरि प्रथम
|
नरसिंह प्रथम राजादित्य — भद्रदेव
|
युद्धमल्ल द्वितीय — अन्य पुत्र
|
बद्देग सोलदगण्ड — अन्य पुत्र
|
युद्धमल तृतीय
|
नरसिंह द्वितीय
|
अरिकेसरी द्वितीय
|
भद्रदेव द्वितीय
|
अरिकेसरी तृतीय, शक सं० 888, पर्भणी ताम्रपत्र की तिथि।

कठिनाइयां हैं तथा संपूर्ण प्रश्न की ध्यानपूर्वक विवेचना करने पर डा० वेंकटरमनैया इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि तादात्म्य के ये सुभाव और अधिक प्रत्यक्ष प्रमाणों के बिना स्वीकार्य नहीं हैं।

वैयक्तिक शासनकालों के विवरण देने से पूर्व तिथिक्रम से संबंधित कुछ शब्द अनिवार्य हैं। पर्भणी ताम्रपत्राभिलेखों की तिथि शक संवत 888 (966 ई०) है, जो वंश के अंतिम राजा अरिकेसरी तृतीय की तिथि है। उसके एवं युद्धमल्ल प्रथम के बीच आठ पीढ़ियां थीं। यदि हम प्रत्येक पीढ़ी के लिए औसतन 25 वर्ष रखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्धमल्ल प्रथम के शासनकाल के अंत तथा अरिकेसरी तृतीय के आरंभ में 200 वर्षों का अंतर रहा होगा। यदि हम यह मान लें कि वह पर्भणी दानपत्रक की तिथि से लगभग 10 वर्ष पूर्व से राज्य कर रहा था, तो हमें युद्धमल्ल प्रथम के शासनकाल के अंत की तिथि 756 ई० प्राप्त होती है। वास्तव में बल्सर ताम्रपत्र में उसके लिए 731 ई० (शक सं० 653)की तिथि भी मिलतो है। संभवत: यह उल्लेख उस समय का है जब वह अपने मूल प्रदेश लाट में ही था।

युद्धमल्ल प्रथम के संबंध में, उसके पुत्र द्वारा जारी किए गए कोल्लिपर्र दानपत्र में अत्यंत प्रशस्त्यात्मक वर्णन मिलता है। पराक्रम में उसकी तुलना राम से की गई है तथा उसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'विश्वराट' (सार्वभौमिक शासक) बताया गया है। यह भी कहा गया है कि वंश को भगवान नारायण से वरदान स्वरूप प्राप्त वराह शीर्ष की सहायता से उसने संपूर्ण विश्व पर अपना राज्य स्थापित कर लिया तथा उसके चरणों में समर्पण करने वालों में तुरुष्क, यवन, बर्बर, काश्मीर, कांबोज, मगध, मालव, कलिंग, गंग, पल्लक, पाण्ड्य, केरल आदि के नरेशों की गणना की गई है। ऐसा अनैतिहासिक शब्दाडंबर ही इस अभिलेख की सामान्य प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट करने के लिए काफी है। इसके विपरीत परवर्ती अभिलेखों तथा पंप से हमें राजा की गतिविधियों से संबंधित कुछ निश्चित तथ्य मिलते हैं। ये तथ्य कुल तीन हैं : (1) वह सपादलक्ष प्रदेश पर राज्य करता था तथा अनेकों सामंतों ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया था, (2) उसने पोदन में ईंट एवं गारे (सौधमयीम) के कृत्रिम सरोवर बनवाए, उन्हें तेल से भरा और इस प्रकार अपने पर्याप्त भौतिक साधनों से प्रतिदिन 500 हाथियों के स्नान का प्रबंध किया, (3) उसने चित्रकूट नामक अभेद्य प्राकृतिक दुर्ग को भी जीता। यह अंतिम तथ्य केवल वेमुलवाड शिलाभिलेख में ही वर्णित है।

यदि, जैसा संभव है, विनयादित्य युद्धमल्ल लाट के धराश्रय जयसिंहवर्मन के तीन पुत्रों में से एक था, तो इन तथ्यों की व्याख्या संभव है। वह युग अत्यंत कठिन तथा अराजकतापूर्ण था तथा प्रतिभासंपन्न महत्वाकांक्षियों को विशिष्टता प्राप्त करने तथा प्रसिद्धि एवं कोष संचय के लिए अच्छा अवसर प्रस्तुत कर रहा था। युद्धमल्ल के एक भाई पुलकेशिन ने दकन में बलपूर्वक प्रवेश करने के अरबों के प्रयास को सफलतापूर्वक रोक कर अपने अधिराज चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय की कृतज्ञता प्राप्त की। विक्रमादित्य ने अपने शौर्य के सम्मान में उसे 'अवनिजनाश्रय' अर्थात विश्व के लोगों को शरण प्रदान करने वाले की उपाधि प्रदान की। राष्ट्रकूट वंश के शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी नवयुवक दंतिदुर्ग के सहयोग में युद्धमल्ल को अपना अवसर मिला। इसने बादामी के अंतिम सम्राट कीर्तिवान द्वितीय को उखाड़ने की योजना बनाई और उसे क्रियान्वित भी किया। चालुक्य शक्ति पर अंतिम प्रहार करने से पूर्व दंतिदुर्ग ने मही, महानदी तथा नर्मदा नदियों पर तथा मध्यदेश राज्य में युद्ध किए। सपादलक्ष प्रदेश में युद्धमल्ल का शासन तथा उसके द्वारा चित्तौड़ दुर्ग की विजय को दंतिदुर्ग के अभियान का ही एक पहलू समझना चाहिए क्योंकि इस अभियान का मुख्य नायक युद्धमल्ल ही था। यह लगभग निश्चित ही है कि सपादलक्ष पूर्वी राजपूताना में शाकंभरी अर्थात आधुनिक सांभर क्षेत्र था तथा लाट एवं सपादलक्ष के बीच की रेखा पर स्थित कथानक में चितौड़ के उल्लेख से इस तादात्म्यता की पुष्टि भी हो जाती है।[6] हमें दंतिदुर्ग के युद्धों के संबंध में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। किंतु दशावतार गुहा के एक अभिलेख में कुछ खंडित पद्यों के आधार पर यह सुझाव देना संभव हो गया है कि दंतिदुर्ग ने गुर्जर प्रतिहार नरेश, नागभट्ट प्रथम के विरुद्ध किसी देव अथवा देवराज का पक्ष लिया था। उज्जैन में दंतिदुर्ग की उपस्थिति की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उसने जैसे चाहुमान वंश के सामंतों के अधीन शाकंभरी पर आक्रमण किया था, वैसे ही नागभट्ट राजधानी की मेदंतपुर (मेर्त) पर भी। इस प्रकार कुछ समय के लिए दंतिदुर्ग सपादलक्ष एवं गुजरात के तटीय प्रदेश सहित संपूर्ण गुर्जर प्रदेश का स्वामी बन गया।[7] यह स्पष्ट है कि यहां पर हमारा संबंध किसी स्थायी राजनीतिक गठबंधन से नहीं अपितु लगभग सफल सामरिक आक्रमणों के अस्थाई परिणामों से है। अतः हम यह मान सकते हैं कि युद्धमल्ल ने चितौड़ एवं सपादलक्ष प्रदेश को जीतने में दंतिदुर्ग की सहायता की तथा थोड़े समय के लिए उसने वहां उसी के गवर्नर के रूप में राज्य भी किया। उसके इस साहसिक कार्य की याद को—उसके एवं उसके सहायक के लिए यह इससे अधिक कुछ न था—उसके वंशजों ने खूब संजो कर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखा तथा बाद में युद्धमल्ल को वंशकर्ता (संस्थापक) माना।

पोदन की तादात्म्यता सुगमतापूर्वक हैदराबाद के निजामाबाद जिले में स्थित बोधन से स्थापित की गई है। यह प्राचीन स्मृतियों से जुड़ा हुआ स्थल है तथा 1056 ई० के एक अभिलेख में उस शहर में राष्ट्रकूट इंद्रतृतीय द्वारा निर्मित विष्णु मंदिर का उल्लेख है। वेमुलवाड चालुक्यों के तीन अभिलेखों के इस प्राप्तिःस्थान के तथ्य तथा इसकी स्थिति को ध्यान में रखने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि यदि स्वयं युद्धमल्ल प्रथम के नहीं तो कम से कम उसके उत्तराधिकारियों की गतिविधियों के केंद्र की स्थिति तो हैदराबाद के पूर्वाध अर्थात तेलिंगाना में ही होनी चाहिए। कुछ अन्य तथ्य भी इस मत की पुष्टि करते हैं। कोल्लिपड़ दानपत्र में कुर्नूल जिले के श्रीशैल नामक प्रसिद्ध पर्वत श्रेणी के उत्तर में स्थित ऐलेश्वर के एक शैव यति को दिए गए दान का उल्लेख है। वेमुलवाड अभिलेख में वर्णित आदित्य का मंदिर तथा उसको दान दी गई भूमि दोनों ही वेमुलवाड में ही स्थित हैं तथा पर्भणी ताम्रपत्राभिलेख में तो स्पष्टरूप से इस शहर को अरिकेसरी तृतीय की राजधानी बताया गया है। यह लगभग निश्चित ही है कि प्रारंभिक अवस्था में संभवतः अरिकेसरी प्रथम के काल में ही वेमुलवाड, चालुक्यों की इस शाखा का प्रधान केंद्र बन गया था। अतः यह संभव है कि इस से कुछ समय पूर्व, अपने जीवन के अंत में युद्धमल्ल ने बोधन के निकट दंतिदुर्ग को दी गई सेवाओं के वदले में जागीर स्वीकार कर ली। यही क्षेत्र बाद में वंश की अन्य उपलब्धियों का आधार बना।

अरिकेसरी प्रथम युद्धमल्ल प्रथम का पुत्र था और कोल्लिपर्र ताम्र पत्र का दाता भी। किंतु इस अभिलेख में उसके जीवन के विशिष्ट तथ्यों का कोई चर्चा नहीं है, केवल सामान्य शब्दों में उसके रणकौशल की प्रशंसा है। इसमें उसकी अनेक उपाधियों का भी वर्णन है तथा उसको व्याकरण, विधि, हस्तीविद्या, तर्कशास्त्र, धनुर्विद्या तथा चिकित्सा जैसे विविध विषयों में निष्णात बताया गया है। अन्य सभी स्रोत इस तथ्य पर एकमत हैं कि उसने अपने भुजवल से त्रिकलिंग सहित वेंगि को जीता तथा उस पर राज्य किया। पंप का कहना है कि यह निरूपम अर्थात ध्रुव के शासन काल (780-93 ई०) में घटित हुआ जिसमें अरिकेसरी प्रथम के शासन के बाद का काल भी निहित है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि कुछ ही दिन पहले समाप्त हुए गृहयुद्ध में गोविंद द्वितीय का साथ देने पर वेंगि के विष्णुवर्धन चतुर्थ को दंद देने के लिए ध्रुव ने उस पर आक्रमण किया था। इस कार्य में अरिकेसरी ने उसकी पर्याप्त सहायता की, जिसके लिए उसे उचित रूप से पुरस्कृत किया गया था। हम यह मान सकते हैं कि अरिकेसरी के अभियान के फलस्वरूप तेलिंगाना के कुछ भागों का निश्चय ही हस्तांतरण हुआ तथा वे राष्ट्रकूट साम्राज्य के अंग बन गए। नवीन विजित प्रदेशों का शासन अरिकेसरी एवं उसके उत्तराधिकारियों को सौंप दिया गया। यह संभव है कि इसके पश्चात वेमुलवाड उनकी शक्ति का केंद्र बना।

वेमुलवाड अभिलेख में अरिकेसरी प्रथम के वाद की चार पीढ़ियों का एक ही पद्य में उल्लेख है तथा एक शताब्दी तक वंश के इतिहास में लगभग पूर्ण रिक्तता है। यहां तक कि पंप और पर्मणी अभिलेख भी इस काल के इतिहास के संबंध में हमारा ज्ञानवर्द्धन नहीं करते हैं। तिथिक्रमानुसार राजाओं के नाम थे : नरसिंह प्रथम राजादित्य, युद्धमल्ल द्वितीय, बद्देग प्रथम तथा युद्धमल्ल तृतीय। पंप का कहना है कि बद्देग 42 युद्धों में विजयी रहा था। उसने 'सोलदगंड' अर्थात अपराजित सैनिक की उपाधि अर्जित की। पंप एवं पर्मणी ताम्रपत्राभिलेख—दोनों में ही कहा गया है कि उसने 'युद्ध में भयंकर शक्तिवाले' भीम को उसी प्रकार जीता जैसे कोई मगरमच्छ को उसी के घर अर्थात जल में जीतता हो। यहां पर वर्णित भीम निःसंदेह चालुक्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भीम प्रथम है, जो 892-3 ई० में अपने चाचा गुणग विजयादित्य तृतीय की मृत्यु के पश्चात वेंगि के सिंहासन पर बैठा था। किंतु पूर्वी चालुक्य लेखों से पता चलता है कम से कक एक बार वद्देग को गुणग विजयादित्य से हार खानी पड़ी और उसने सम्माननीय शर्तों पर उससे संधि कर ली।[8] चालुक्य भीम प्रथम से बद्देग का युद्ध बाद में हुआ। युद्धों के विवरणों के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। पंप एवं पर्भणी ताम्रपत्रों में प्रयुक्त मगरमच्छ की तुलना के आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि भीम को अनेक निर्णायक युद्धों के स्थल कोलर झील के मध्य स्थित दुर्ग में जीता गया था।[9] किंतु यह तो राष्ट्रकूटों एवं पूर्वी चालुक्यों के मध्य दीर्घकालीन संघर्ष की घटना मात्र थी। चालुक्यों की मुदुगोंड शाखा के कुसुमायुध की सहायता से भीम कारावास से भाग निकला तथा तुरंत ही राष्ट्रकूटों के दूसरे आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गया।[10]

वेमुलवाड का अगला महान शासक युद्धमल्ल तृतीय का पुत्र नरसिंह द्वितीय था। पंप के संरक्षक अरिकेसरी द्वितीय का पिता होने के कारण पंप ने उसकी गतिविधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वेमुलवाड अभिलेख में इस बात का उल्लेख है कि उसने अकेले सप्तमालवा तथा गुर्जर राज की सेना पर विजय प्राप्त की। इसमें यह भी कहा गया है कि उसने कालप्रिय पहाड़ी पर राजाओं के समूह पर विजय प्राप्त करके अपनी प्रसिद्धि को निर्णायक रूप से स्थापित कर लिया।[11] पंप ने यह महत्वपूर्ण तथ्य भी दिया है कि गुर्जर नरेश का नाम महीपाल था, जिस पर नरसिंह ने वज्र की भांति आघात किया और उसे अपनी राजधानी से अव्यवस्थित रूप में ही भागने पर बाध्य किया। पंप ने लाटों पर नरसिंह की विजय को उसकी प्रथम उपलब्धि भी कहा है। कालप्रिय पर तलवार के बल से अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के पूर्व उसने अपने घोड़ों को गंगा का जल भी पिलाया था।

इन वक्तव्यों की व्याख्या के लिए हमें एक बार पुनः राष्ट्रकूट इतिहास की ओर लौटना चाहिए। नरसिंह के लाट शत्रु का नाम नहीं दिया गया है। किंतु राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय ने लाट पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। स्पष्ट है कि अपने अधिराज इंद्र की सेवा में किए गए उत्तरी अभियान के आरंभ में ही नरसिंह द्वितीय के लिए उसे (लाट को) पुनः जीतना आवश्यक हो गया। तथ्य की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है : (1) लाट प्रदेश राष्ट्रकूट नियंत्रण से निकलकर मालव प्रदेश के समान स्वतंत्र राज्य बन गया था (पंप एवं अभिलेख के सात मालव), अथवा (2) संभवतः मालव तथा लाट सहित संपूर्ण क्षेत्र प्रतिहारों के आधिपत्य में आ गया था और इस स्थिति में महीपाल के विरुद्ध अभियान का आरंभ लाट की विजय से हुआ होगा। चाहे कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि इंद्र तृतीय तथा नरसिंह द्वितीय के अभियान के परिणामस्वरूप निश्चय ही लाट एवं मालव कुछ समय के लिए राष्ट्रकूट नियंत्रण में आ गए (सामंत के रूप में परमारों को मालवा में स्थापित किया गया) तथा महीपाल को अपना राज्य हार कर अस्थाई रूप से निर्वासित होना पड़ा। गोविंद चतुर्थ के कंबे ताम्र पत्रों में कहा गया है कि इंद्र के हाथियों ने अपने दांतों के प्रहार से कालप्रिय के प्रांगण को ऊबड़खाबड़ कर दिया, उसके घोड़ों ने 'समुद्र सदृश गहरी' यमुना को पार किया तथा उसके अभियान के पश्चात महोदय (महान समृद्धिवाला) शहर कुशस्थली (एक चरागाह) बन गया।[12] पंप भी गंगा के जल तथा कालप्रिय का वर्णन एक ही पद्य में करता है। सामान्यतया कालप्रिय को उज्जैन का महाकाल माना गया है, किंतु यह समीकरण संगत नहीं है क्योंकि कालप्रिय और महाकाल दोनों ही बहुत भिन्न नाम हैं और यह सुझाव उचित ही है कि कालप्रिय को कल्पि के अर्थ में लेना चाहिए, जहां से अन्य अनेक सेनाओं ने यमुना को पार किया है[13] तथा जहां आज भी कालप्रिय का मंदिर स्थित है।[14] कल्पि, दक्षिण से लेकर गंगा पर स्थित प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज को पहुंचनेवाले सीधे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मार्ग पर ही स्थित है। कँबे ताम्रपत्र में शहर के लिए दो वैकल्पिक नामों (महोदय एवं कुश-स्थली) के चतुर प्रयोग से स्पष्ट है कि कन्नौज का नाश ही इंद्र के अभियान का अंतिम कृत्य था। इसके अतिरिक्त पंप जैसे महान कवि के लिए उज्जैन का पुनः उल्लेख करने का कोई अर्थ नहीं होता, विशेषकर जब उसने पहले के एक पद्य में मालव प्रदेश की विजय की चर्चा कर ही दी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग 916 ई० में इंद्र के उत्तरी अभियान की भव्य सफलता में नरसिंह का महत्वपूर्ण हाथ था। वेमुलवाड अभिलेख के अनुसार, यह उसने इंद्र की सेनाओं के बिना ही, अपनी ही सेना की सहायता से कल्पि के निर्णायक युद्ध में प्राप्त की थी। अपनी राजधानी की ओर बढ़ती हुई दक्षिणी सेना की प्रगति को रोकने के लिए महीपाल ने यहीं पर अपनी शक्ति केंद्रित कर रखी थी। संभवतः इंद्र तृतीय की बहन जाकव्वे ही नरसिंह की पत्नी तथा पंप के संरक्षक अरिकेसरी द्वितीय की मां थी।[15]

पंप के अनुसार अरिकेसरी द्वितीय इंद्र के हाथों में पला—निस्संदेह यह उल्लेख देवताओं के नरेश तथा इंद्र तृतीय के लिए है। इसका उद्देश्य इंद्रपुत्र तथा महाकाव्य के नायक अर्जुन से अरिकेसरी की तादात्यता स्थापित करना था। वेमुलवाड अभिलेख के अनुसार अरिकेसरी ने इंद्र की पुत्री रेवकनिर्मड़ि से विवाह किया। किंतु पर्भणी ताम्रपत्रों में कहा गया है कि राष्ट्रकूट वंश की ही लोकांबिका, अरिकेसरी की रानी थी। यह स्पष्ट नहीं है कि लोकांबिका रेवकनिर्मड़ि की उपाधि थी अथवा अरिकेसरी की दूसरी पत्नी का नाम। वेमुलवाड अभिलेख, पंप तथा पर्भणी ताम्रपत्र—ये सभी अरिकेसरी की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। इस कीर्ति-प्रसारक प्रशस्ति को पुनः प्रस्तुत करने के लिए रुके बिना ही हम निम्न ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख कर सकते हैं: (1) अरिकेसरी ने चालुक्य बिज्ज (विजयादित्य) की मांग पर 'सकल-चक्रवर्ती' अर्थात बिज्ज एवं अरिकेसरी दोनों के अधिराज, गोविंदराज के क्रोध के विरुद्ध, बिज्ज को सहायता एवं रक्षा प्रदान की, (2) जब अरिकेसरी ने विजयादित्य को शरण दी तो गोविंद ने अनेक 'सामंतों' को उसके विरुद्ध भेजा। अरिकेसरी ने इन सभी को पराजित किया और इस प्रकार 'सामंत-चूड़ामणि' कहलाया, (3) फिर उसने स्वयं गोविंद के विरुद्ध युद्ध किया तथा उसे हराकर उसका राज्य बद्देग को सौंप दिया, जो उसके पास सहायता मांगने के लिए आया था, अन्ततः (4) जब कक्कल के छोटे भाई बप्पुव ने जंगली जानवरों के समूह के साथ उस पर आक्रमण किया उसने केवल एक ही हाथी से बप्पुव को उखाड़ फेंका।

इन सभी वक्तव्यों की सर्वाधिक संतोषदायक व्याख्या पुनः राष्ट्रकूट इतिहास तथा राष्ट्रकूटों एवं पूर्वी चालुक्यों के संबंधों के उल्लेख से कर सकते हैं।[16] 930 ई० में गोविंद चतुर्थ ने अपने बड़े भाई अमोघवर्ष द्वितीय को सिंहासन से हटा दिया था, अतः कुछ दरबारी उसके विरोधी हो गए। इन असंतुष्ट सामंतों को शाही परिवार में ही गोविंद के चाचा बद्देग तथा बद्देग के महत्वाकांक्षी पुत्र कृष्ण तृतीय का भी समर्थन प्राप्त हो गया। गोविंद ने सभी को देश से निकाल दिया तथा वे त्रिपुरी के चेदि दरबार में गए क्योंकि बद्देग की रानी चेदिनरेश युवराज देव प्रथम की पुत्री थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वहीं से गोविंद के विरुद्ध अपने षडयंत्र किए। गोविंद ने भी प्रजा के प्रति अपने को लोकप्रिय बनाने का कोई विशेष यत्न नहीं किया था। गोविंद का साला होते हुए भी वेमुलवाड के अरिकेसरी द्वितीय ने उसके शत्रुओं का साथ दिया तथा बद्देग के हित का ही समर्थन किया। इसी प्रकार का कार्य करने वाला एक अन्य शक्तिशाली सामंत, गंगवंशी बूटुग था, जिसने त्रिपुरी पहुंच कर बद्देग की पुत्री से विवाह कर लिया। उसका उद्देश्य बद्देग की सहायता कालांतर में अपने बड़े भाई तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासक गंगनरेश राजमल्ल तृतीय के विरुद्ध अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर पैतृक गद्दी को प्राप्त करना था। इस बीच एक अन्य दिशा में भी, जहां आरंभ में गोविंद की नीति सफल दृष्टिगोचर होती थी, उसे जटिल कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इंद्र तृतीय के शासनकाल के अंत से ही वेंगि में विवादग्रस्त उत्तराधिकार तथा अराजकता का काल आ गया था। अपने राज्यारोहण के तुरंत बाद ही गोविंद ने उसके शत्रुओं के विरुद्ध युद्धमल्ल द्वितीय का समर्थन किया तथा वेंगि को लगभग राष्ट्रकूट प्रांत के रूप में परिणत कर दिया क्योंकि संपूर्ण वास्तविक शक्ति राष्ट्रकूट अधिकारियों के हाथ में पहुंच गई थी। मुख्य शाखा के चालुक्य भीम द्वितीय ने इसका विरोध किया तथा गोविंद के विरोधी लोगों के दल से संपर्क स्थापित किया। इस दल वालों ने उसे स्पष्ट अथवा गुप्त रूप से अपना समर्थन भी प्रदान किया। जब चालुक्य भीम द्वितीय ने स्वतंत्रता का युद्ध आरंभ किया तो विद्रोह का दमन करने के लिए गोविंद ने अपने भक्त सामंतों के नेतृत्व में सेना भेजी। किंतु इस सेना की सफलता से पहले ही, चालुक्यों की मुदुगोंड शाखा के विज्ज अथवा विजयादित्य ने भी विद्रोह कर उसके पीछे की ओर खतरा उत्पन्न कर दिया। विज्ज, दक्षिण में वेमुलवाड प्रदेश के साथ के क्षेत्र पर राज्य कर रहा था। जब गोविंद ने उसके विरुद्ध एक अन्य सेना भेजी, तो उसने अरिकेसरी से सहायता की याचना की। यह सहायता उसे शीघ्र ही मिल गई तथा गोविंद की सेनाओं को हरा दिया गया। इन गतिविधियों पर नजर रखने वाले बद्देग को त्रिपुरी से बुलवाया गया तथा संभवतः उसे वेमुलवाड में राजा घोषित किया गया। गोविंद के शासनकाल का आकस्मिक अंत हो गया तथा 934-5 ई० में बद्देग अमोघवर्ष तृतीय तथा चालुक्य भीम द्वितीय ने अपने अपने राज्यों के शासन की बागडोर संभाल ली।

अरिकेसरी की अंतिम उपलब्धि अर्थात बप्पुव की पराजय की संतोषप्रद व्याख्या करना सुगम नहीं है। यह संभव है कि वह बप्पुक ही हो, जिसने दंतिग के साथ मिलकर अमोघवर्ष तृतीय का विरोध किया था और परिणामस्वरूप कृष्ण तृतीय द्वारा मार दिया गया।[17]

वेमुलवाड अभिलेख में दान का उल्लेख करने वाले भाग में अरिकेसरी द्वितीय की महत्वपूर्ण उपाधियों के अतिरिक्त, जो बाद में पर्भणी ताम्रपत्रों में उसके पौत्र अरिकेसरी तृतीय के लिए भी पुनः प्रयुक्त हुई है, हमें उसके 'महासंधिविग्रहि गुणकरस, सत्राधिपाल' ('आहार गृहाध्यक्ष') नागमार्य, राजा बद्देग (अमोघवर्ष तृतीय) तथा नागमार्य के पुत्र और राजा गुणाकर (अर्थात अरिकेसरी द्वितीय) के 'तंत्रपाल' पेद्दाणार्य के नाम भी मिलते हैं। पेद्दाणार्य के अनुरोध पर 'उत्तरायण संक्रांति' के अवसर पर अरिकेसरी द्वितीय ने अपने द्वारा निर्मित आदित्य मंदिर में पूजा के लिए आने वाले आराधकों के आहार के लिए सत्र निर्माण के लिए 100 'निर्वतन' कृष्य भूमि दान में दी। इसके अतिरिक्त उसने शुद्ध जल के एक सरोवर के निर्माण के लिए भी ('पानीय-भूमि-क्षेत्रं') आठ 'निर्वतनों' के एक क्षेत्र का दान किया। दान के गवाहों की गणना भी, जिज्ञासु के लिए अत्यन्त मनोरंजक है क्योंकि इस सूची में क्रमानुसार वेमुलवाड के चार मंदिरों, मल्लिकार्जुन, व्यक्तिलिंगि तथा विद्याराशि नामक तीन शैव गुरु ('व्याख्यानिभट्टारक') तथा अंततः चंद्रश्रेष्ठि के नेतृत्व में नौ श्रेष्ठियों को भी सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार दान दिए गए क्षेत्र पर 12 'द्रम्मों' का 'सिद्धाय' (धन-कर) भी लगा।

पर्भणी ताम्रपत्रों में वंश के अंतिम दो राजाओं—भद्रदेव द्वितीय तथा अरिकेसरी तृतीय—के शासनकालों से संबंधित किसी भी राजनीतिक घटना का उल्लेख नहीं है। इस अभिलेख में अपने पिता बद्देग द्वारा वेमुलवाड में निर्मित शुभधाम-जिनालय नामक जैन मंदिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की मरम्मत तथा पूजा की देखरेख के लिए अरिकेसरी तृतीय द्वारा दिए गए दान का उल्लेख है। इस दानपत्र में अरिकेसरी तृतीय को अकालवर्ष कृष्णराजदेव (तृतीय) के सामंत के रूप में वर्णित किया गया है। किंतु दानग्राही के नाम के कारण यह दस्तावेज अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह नाम है 'यशोवरा-चरित' तथा 'स्याद्वादोपनिषद' एवं अन्य ग्रंथों के लेखक और उद्भट जैन विद्वान सोमदेवसूरी का। राज्य में अनेक राजकुमार उसका अत्यंत आदर करते थे तथा उसका सम्मान करके स्वयं को संमानित करते थे। 'यशस्तिलक-चंपू' के प्रायोक्त परिशिष्ट से हमें पता चलता है कि उसने उस ग्रंथ की रचना शक संवत 881 (959 ई०) अर्थात पर्भणी ताम्रपत्र की तिथि से सात वर्ष पूर्व की थी। उस समय कृष्ण तृतीय दक्षिण में अपने अभियान के पश्चात मेल्पाड़ि के अपने शिविर में ही ठहरा हुआ था तथा उसका सामंत वद्यग, जो अरिकेसरी द्वितीय का सबसे बड़ा पुत्र था, धन से भरपूर गंगधारा नामक स्थान पर शासन कर रहा था। पर्भणी ताम्रपत्र में सोमदेव की आध्यात्मिक पितृपरंपरा की व्याख्या इस प्रकार की है : गौड़संघ में यशोदेव नामक प्रसिद्ध विद्वान था। वह एक मुनि था, जिसने अपने तप से शासन देवता से संपर्क स्थापित कर लिया था। उसका शिष्य नेमिदेव था, जो जैन शिक्षाओं में निष्णात तथा विरोधी मतों के तार्किकों के 'अहं के लिए परशु' समान था। नेमिदेव के महान प्रतिष्ठा वाले अनेक शिष्य थे, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध श्री सोमदेव था। वह विद्या का आवास, प्रसिद्धि का केंद्र था, जिसकी सुंदरता की समता उसके उच्च चरित्र से ही संभव थी। संभवतः पर्भणी ताम्रपत्र के बाद रचित, 'नीतिवाक्यामृत' के परिशिष्ट में सोमदेव स्वयं को श्री नेमिदेवभगवान का 'प्रियशिष्य' बताया गया है। उसने बोध गया के दसवीं शताब्दी के शासक धर्मावलोक का उल्लेख किया है, जो राष्ट्रकूट उत्पत्ति का था। इस उल्लेख में गौड़संघ से उसकी साम्यता स्थापित की गई है।[18] पंप एवं सोमदेव ने भी वेमुलवाड के दरबार को अपनी आभा से देदीप्यमान किया। ये दोनों ही जैन थे तथा मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के महानतम लोगों में से हैं।

संदर्भ

1. एम० रस० शर्मा (संपादक,) 'भारती' vii पृ० 2 (प्रमोदूत, श्रावण).
2. बी० वी० कृष्ण राव (संपादक): 'ज० आ० हि० रि० सो०' vi, पृ० 169-92 कोल्लिलपार्ड मूल भी यहां उद्धृत है,
3. एस० एन० जोशी (संपादक), 'ज० मा० इ० सं० मं०, xii, पृ० 3; मूल को नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रंथ 'जैन साहित्य और इतिहास' में उद्धृत किया है, पृ० 85-92,
4. डा० कॅ० डि०, पृ० 339,
5. 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०, xvi, पृ० 5,
6. एन० लक्ष्मीनारायण राव का विचार है कि सपादलक्ष प्रदेश 'करीमनगर जिले से बहुत दूर स्थित न था' ('ज० प्रो० रि०', xviii, पृ० 41) तथा उसमें 'वर्तमान हैदराबाद राज्य अर्थात निज़ाम।बाद के कम से कम मध्य तथा पूर्वी भाग एवं करीमनगर जिले का अधिकांश भाग सम्मिलित था, किंतु हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में उसका वास्तविक विस्तार तथा सीमाओं का निर्धारण नहीं हो सकता' (वही, पृ० 42). उन्होंने एम० वेंकटरमैया के एक वक्तव्य तथा एक अभिलेख को अपना आधार बनाया है. दुर्भाग्यवश, ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर ये दोनों ही अनिर्णयात्मक सिद्ध होते हैं. वेंकटरमैया ने कहा है कि पंप एवं वेमुलवाड़ अभिलेख दोनों ही एकमत हैं कि बोदन, सपादलक्ष प्रदेश में स्थित था जिस पर युद्धमल्ल प्रथम का शासन था (वही, xii, पृ० 264). वास्तव में वे ऐसा कुछ नहीं करते और यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'ज॰ म॰ यू॰', XV पृ॰ 107-8 में दिए गए गद्यांशों में भी देखा जा सकता है. वे 'यशस्तिलक' की टीका का भी उद्धरण देते हैं जिसमें अश्मंतक को सपादलक्षनिवासिन के अर्थ में लिया गया है. किंतु यह परवर्ती दृष्टांत केवल इसी अर्थ का द्योतक है कि भाष्यकार के विश्वास के अनुसार, उसके काल में अश्मंतक को सपादलक्ष भी कहते थे। किंतु क्या अश्मंतक एवं प्रश्मक समान हैं ? वास्तव में एन एल राव द्वारा उद्धृत अभिलेख का पाठ इस प्रकार है :

श्रीमन् महामण्डलेश्वरं राजादित्य–
रसर कोसवलं-सवलक्खवेय–
भागमुमं छब्बि-जोयि यिप्पत्-ओंदु-
सासिरमुमं दुष्ठ-निग्रह विशिष्ट–
प्रतिपालनदिं प्रति-पालिसुत्तुं
राजधानी लेंबुलवाडेय-नेल्वीडिनोल
सुख-संकथा-विनोददिं
राज्यं-गेय्युत्तुं इद्दुं

(तेलिंगान इंसक्रिप्शन्स,
चालुक्य, नं॰ 19, लेमुलवाड़,
करीमनगर जिला, तिथि 1083-4 ई॰)

अभिलेख के सपादलक्ष (सवलक्ख) का नाम कोसवलां था, जिससे संपूर्ण स्थिति ही बदल जाती है। स्वयं सपादलक्ष भी मूलतः सिवालिक का नाम था, जो बाद में सांभन क्षेत्र के लिए प्रयोग किया जाने लगा (वा॰ ग॰ 1, (i), पृ॰ 157, 184)

7. 'भारति', सर्वधरि-आषाढ़, पृ॰ 179-81
8. एन॰ वेंकटरमनैया, 'ईस्टर्न चालुक्याज' पृ॰ 126-7.
9. 'भारति' वही' पृ॰ 389-90.
10. 'ईस्टर्न चालुक्याज', पृ॰ 139.
11. अभिलेख का मूल इतना अस्पष्ट है कि यह निर्णय करना आसान नहीं है कि, उसमें वर्णित (विजय का) स्तंभ वास्तव में पाषाण स्तंभ (शैल-स्तंभ) है या केवल एक रूपक अलंकार ही है: 'कालप्रिये राजकदम्बकस्य स्तम्भे स्व शौर्य विलिलेख शैले'.
12. ए॰ इं॰, vII पृ 26 (पद्य 19)
13. एन॰ वेंक्टरमनैया द्वारा 'भारति' सर्वधरि में, पृ॰ 398.
14. अल्तेकर, 'राष्ट्रकूटाज, पृ॰ 102, टिप्पणी 44.
15. यह तिम्यप्पयया का अत्यंत संभव सुझाव है, वही, पृ॰ 46.
16. 'ईस्टर्न चालुक्याज, पृ॰ 165-77.
17. वही, पृ॰ 187, टि॰ 1.
18. डा॰ वी॰ राघवन द्वारा 'एन॰ डी॰ आई॰ vi, 3 जून, 1943, पृ॰ 68-9.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड आठ

सेउणदेश का यादववंश

प्रो० ए० एस० अल्तेकर

1. वंश की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक शासक.
2. स्वतंत्र शासक : भिल्लम पंचम—लगभग 1175-1191 ई०, जंतुगि—1191-1210 ई० (?), सिंहण—लगभग 1210 (?)—47 ई०, कृष्ण—1246-60 ई०, महादेव—1260-70 ई०, अम्मण—1270-1 ई०, रामचंद्र—1271-1311 ई०, तथा शंकरदेव—1311-12 ई०.
3. प्रशासनिक व्यवस्था : राजा, सामंत एवं उपराजा, मंत्रिपरिषद, प्रांतीय एवं जिला अधिकारी, कारागार तथा ग्रामपंचायतें, राजस्व के स्रोत, सैनिक संगठन, तथा नौसेना.
4. धर्म : हिंदूधर्म, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म, लिंगायत संप्रदाय तथा नवीन धार्मिक आंदोलन.
5. सामाजिक दशा : वर्णव्यवस्था, नारी.
6. शिक्षा एवं साहित्य.
7. आर्थिक दशा.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक सामंतीय शासक

13 वीं शताब्दी में दकन की राजनीति में छाए रहने वाले यादव वंश का इतिहास नवीं शताब्दी के अंत से आरंभ होता है। किंतु इसके आरंभिक काल के बारे में अभी भी बहुत जानकारी नहीं है अब तक कुछ ही समकालीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं और वंश की उपलब्धियों का वर्णन करने वाला हेमाद्रि भी केवल उसके आरंभिक शासकों के नाम का उल्लेख करके ही संतुष्ट हो जाता है। चूंकि वह स्वयं 13 वीं शताब्दी का था अत: 10 वीं एवं 11 वीं शताब्दियों के राजाओं के संबंध में उसकी सूचना का प्राय: अपूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण होना स्वाभाविक ही है।

यादववंशी, दावा करते हैं कि उनकी उत्पत्ति पौराणिक नायक यदु से हुई है तथा उनका कहना है कि उनके पूर्वज पहले मथुरा में रहते थे और फिर काठियावाड़ में द्वारवती अथवा द्वारका की ओर चले गए थे। उनका यह विश्वास पौराणिक परंपरा के अनुरूप ही है, किंतु हमारे लिए इसकी ऐतिहासिक शुद्धता की जांच करना आवश्यक नहीं क्योंकि इसमें उस काल का उल्लेख है, जिसके संबंध में कोई दस्तावेज प्राप्य नहीं है तथा जिसका संबंधित काल में वंश के इतिहास पर कोई प्रभाव भी नहीं है।

फिर भी हम संभवत: प्राचीनतम यादव लेखों में पाए जाने वाले उस वक्तव्य को स्वीकार कर सकते हैं जिसके अनुसार वे मूलत: द्वारका से दकन आए हुए प्रवासी थे।[1] वास्तव में इसमें कोई अंतर्निहित असंभावना नहीं है और वस्तुस्थिति यही हो भी सकती है क्योंकि खानदेश में स्थित उनका एक सामंत वंश काठियावाड़ के अन्य शहर वलभि से आए हुए प्रवासी के रूप में प्रसिद्ध है। किंतु काठियावाड़ से अब तक ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है जो नवीं शताब्दी में वहां से महाराष्ट्र की ओर हुए किसी भी यादव वंश के निकास को सिद्ध करे। यादवों के कृत्य एवं उनकी नीतियों में मूल स्थान की पितृ संपत्ति को पुन: प्राप्त करने अथवा उस प्रदेश से किसी भी प्रकार के राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक संबंधों को पुन: स्थापित करने की उत्सुकता भी परिलक्षित नहीं है। एक जैन कथा के अनुसार वंश के संस्थापक की गर्भवती मां को एक जैन संत ने द्वारका को नष्ट करने वाले संघर्ष से बचाया तथा उसने बाद में अपने नवीन घर में एक पुत्र को जन्म दिया था। इस कथानक में पौराणिक कल्पना अधिक और वास्तविक इतिहास कम है। अत: यादवों को द्वारका का स्वामी बताने वाला दावा अभी तक ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध नहीं हो पाया है। इसका आधार वंश द्वारा यदु से अपनी उत्पत्ति बताना है, न कि उस शहर से वंश के संस्थापकों का वास्तविक प्रवासी के रूप में आना। यह अत्यंत मनोरंजक बात है कि यदु से अपनी उत्पत्ति बताने वाला होयसल वंश भी स्वयं को द्वारका नगर का स्वामी बताने का ऐसा ही दावा करता है।

कर्नाटक से प्राप्त अभिलेखों से नवीं शताब्दी के अंत में धारवाड़ जिले में कुछ छोटे यादव सामन्तों के अस्तित्व का पता चलता है।[3] यह उस समय की बात है जब यादव वंश पहली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बार नासिक जिले में प्रमुखता प्राप्त कर रहा था। फिर भी, चूंकि मुख्य यादवों एवं इन परिवारों के समकालीन नामों में कोई भी एकरूपता नहीं है, अतः इस समूह के लिए कर्नाटक उत्पत्ति को सिद्ध करता संभव नहीं है। हालांकि यह सत्य है कि कन्नड़ प्रतीत होने वाले अनेक नाम बाद में वंश के मंत्रियों में पाए जाते हैं।

जाति की आरंभिक पितृ संपत्ति उत्तरी महाराष्ट्र में भी, जहां पर बाद में उसकी राजधानी देवगिरी भी स्थित थी तथा परवर्ती काल में शाही दरबार में मराठी साहित्य भी पल्लवित हुआ। अतः हमारे लिए पूर्वानुमान लगाना संभव है कि यादव वंश वास्तव में देशी मराठी घराना था, जो राजनैतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करने पर यदु से अपनी उत्पत्ति तथा काठियावाड़ में द्वारका से अपने प्रवास का दावा करने लगा।

वंश के भाग्य का उदय करने वाला तथा उसे विशिष्टता प्रदान करने वाला पहला सदस्य दृढ़प्रहार था। जैन परंपरा के अनुसार वह पिता की मृत्यु के बाद पैदा हुआ था तथा उसकी माता यादव महिला थी जिसे जैनप्रभसूरि ने द्वारका के अग्निकांड में बचाया था। इस परंपरा से हमें यह भी पता चलता है कि किस प्रकार लोगों ने उसे नेता के रूप में स्वीकार किया तथा उसे कर देना आरंभ किया क्योंकि वह डाकुओं से उनकी रक्षा कदता था।[4] दृढ़प्रहार के संभावित काल अर्थात 860 ई० के लगभग राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम कमजोर शासन तथा प्रतिहार नरेश भोज प्रथम से हो रहे उसके युद्धों के कारण नासिक एवं खानदेश में स्थिति अत्यंत अनिश्चित थी। यह संभव है कि इन परिस्थितियों ने विंध्य जातियो की लुटेरी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया होगा तथा उन्हीं के आक्रमणों से नासिक एवं खानदेश के लोगों पर आतंक छाया होगा। दृढ़प्रहार ने उनकी रक्षा कर एक योद्धा के रूप में अपनी योग्यता सिद्ध की। इस प्रकार उसने अपने वंश को प्रमुखता प्रदान की। उसने नासिक से 42 मील दूर उत्तर पूर्व की दिशा में चंद्रादित्यपुर अर्थात आधुनिक चंदोर नगर की स्थापना की तथा उसे अपना प्रधान कार्यालय बनाया। किंतु दृढ़प्रहार के पुत्र सेउणचंद्र ने ही पहली बार अपने वंश को सामंतीय स्तर दिलवाया। तेरहवीं शताब्दी तक न केवल महाराष्ट्र अपितु कर्नाटक एवं तेलंगान में भी उसका वंश एवं वंशधन उसी के अर्थात सेउणवंश तथा सेउणदेश, नाम से प्रसिद्ध रहा।[5] उसने अपने ही नाम पर सिंदिनेरि पर सेउणपुर नामक नवीन शहर की स्थापना की तथा उसे अपनी राजधानी बनाया। यह शहर संभवतः नासिक जिले में स्थित आधुनिक सिन्नर ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेउणचंद्र ने प्रतिहारों के विरुद्ध हो रहे युद्धों में राष्ट्रकूटों की सहायता की तथा उसकी इन सेवाओं के बदले उसे सामंतीय स्तर प्रदान किया गया। संभवतः उसके प्रदेश का विस्तार नासिक जिले के बाहर न था। उसका शासनकाल लगभग 880 ई० से 900 ई० तक मानना चाहिए।

वंश के अगले तीन शासक, दाढ़ियप्प, भिल्लम प्रथम, तथा राजिरा, मंदकांतिवाले चरित्र हैं जिन्होंने लगभग 900 से 950 ई० तक राज्य किया। उसके पश्चात वंदुगि अथवा बड्डिग आया, जिसके काल में वंश ने राजनीतिक प्रमुखता प्राप्त की क्योंकि उसने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के छोटे भाई धोरप्प की पुत्री अर्थात शाही राष्ट्रकूट परिवार की राजकुमारी वोहियव्वा से विवाह किया था। यह कुमार प्रसिद्ध योद्धा था, जिसने अपने सामंतीय अधिराज एवं चाचा ससुर कृष्ण तृतीय के अनेक अभियानों में सक्रिय भाग लिया। अतः बहुत संभव है कि कृष्ण ने अपने उत्साही दामाद की जागीर में वृद्धि का आदेश दिया हो। किंतु बड्डिग के अधीन यादव राज्य का निश्चित विस्तार ज्ञात नहीं है।

अगला शासक धाड़ियस (लगभग 970-85 ई०) पुनः ऐसा राजा है, जिसके बारे में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ जानकारी प्राप्त है। उसी के शासनकाल में राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंत हुआ, किंतु हमें यह ज्ञात नहीं है कि उसने इस संकटकाल में अपने शाही संबंधी को सहायता दी अथवा नहीं। राजनीतिक संकटकालों में प्रायः स्थिति की अपरिहार्यता, (न कि रक्त संबंध) ही राज्यनीतिओं को प्रभावित करती है। अतः हम देखते हैं कि धाड़ियस के पुत्र एवं उत्तराधिकारी भिल्लम द्वितीय ने अपनी राज्यास्था चालुक्यों को हस्तांतरित कर दी जिन्होंने राष्ट्रकूटों का पतन करवाया। इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि भिल्लम ने स्वयं लक्ष्मी नामक राष्ट्रकूट राजकुमारी से विवाह किया था।[6] वस्तुतः भिल्लम, तैलप द्वितीय द्वारा स्थापित नवीन चालुक्य साम्राज्य का पक्का समर्थक था। उसी के एक ताम्रपत्राभिलेख में एक पद्य में कहा गया है; 'उसने श्री देवी को रणराजरंग, (तैलप द्वितीय) के घर में पतिव्रता पत्नी के रूप में रहने को बाध्य किया।' उसने परमारों के विरुद्ध उस युद्ध में भी सक्रिय भाग लिया, जिसका अंत राजा मुंज के पतन एवं मृत्यु से हुआ।[7] चालुक्य नरेश को इस प्रकार सोल्लास दी गई सहायता पुरुस्कृत हुए बिना नहीं रही क्योंकि हम देखते हैं कि लगभग इसी समय अहमदनगर जिला उसके पैतृक राज्य में सम्मिलित कर दिया गया। संभव है कि खानदेश की दिशा में परमार राज्य के कुछ सीमावर्ती प्रदेश भी उसे दे दिए गए हों। किंतु अब तक इस विचार की पुष्टि करने के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है।

अपनी विजयों के परिणामस्वरूप भिल्लम ने विजयाभरण की उपाधि धारण की तथा अपनी सफलता के उपलक्ष में संगम्नेर में विजयाभरणेश्वर नामक शैव मंदिर का निर्माण करवाया। अब तक प्राप्त प्राचीनतम यादव दानपत्र, इस राजा द्वारा इसी मंदिर को दिए गए दान से संबंधित है। अंततः उससे नासिक जिले में सिंदिनगर अर्थात आधुनिक सिन्नर को अपनी राजधानी बनाया।[8]

गुजरात के चालुक्य सामंत की पुत्री नयिल्लादेवी से विवाह करने वाले अगले शासक वेसुगि के शासनकाल के संबंध में अब तक कोई विवरण प्रकाश में नहीं आया है। यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने लगभग 1005 से 1025 ई० तक शासन किया। इसके पश्चात भिल्लम तृतीय आया, जो हमें उसी के द्वारा जारी किए गए दानपत्र के माध्यम से ज्ञात है।[9] उसके शासनकाल को हम लगभग 1020 और 1040 ई० के बीच रख सकते हैं। उसके सामंतीय अधिराज चालुक्य सम्राट जयसिंह प्रथम की पुत्री आवल्लदेवी से उसके विवाह द्वारा उसके शासनकाल में यादव वंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। स्वभावतः उसने अपने श्वसुर के अभियानों में सक्रिय भाग लिया होगा तथा परमार शासक भोज प्रथम से उसके युद्धों में भी काफी सहायता दी होगी।

अगले दो शासक यादुगि एवं भिल्लम चतुर्थ थे। कुल मिलाकर उनके शासनकाल दस वर्षों तक रहे तथा अब तक अज्ञात कारणों से इस काल में वंश के भाग्य ने पलटा खाया। ऐसा कहा गया है कि भिल्लम चतुर्थ के पश्चात उसके पुत्र सेउणचंद्र द्वितीय ने वंश के भाग्य को उसी प्रकार बढ़ाया एवं पुनः स्थापिन किया जैसे हरि ने अपने वाराह अवतार के दौरान संपूर्ण पृथ्वी के भाग्य को पुनः स्थापित किया था। हाल ही में प्राप्त इस शासक के नवीन ताम्रपत्र[10] के प्रकाश में उसके राज्यारोहण को लगभग 1050 ई० में रखना होगा। सेउणचंद्र के प्रयासों को पर्याप्त सफलता मिली। उसने महामंडलेश्वर की उपाधि धारण की तथा वह अनेक उपसामंतीय वंशों का, जिनमें से एक खानदेश में शासन कर रहा था, अधिराज भी बन गया। उसके शासनकाल के दौरान यादव प्रशासनिक व्यवस्था में भी सुधार हुआ। 1069 ई० में उसकी मंत्रिपरिषद में ऊंची ऊंची उपाधियों से युक्त सात अधिकारी थे।[11]

सेउणचंद्र चतुर कूटनीतिज्ञ भी था। जब उसके अधिराज के वंश में दो भाइयों के बीच

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिंहासन के लिए संघर्ष आरंभ हुआ तो वह अंतिम विजेता का सही पूर्वानुमान करने में सफल हुआ। उसके छोटे पुत्र विक्रमादित्य का साथ दिया तथा उसके बड़े भाई एवं तत्कालीन शासक सोमेश्वर द्वितीय को उखाड़ने के लिए उसे महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। किंतु विजय सुगमतापूर्वक प्राप्त नहीं हुई थी, क्योंकि चोल राजधानी में क्रांति हो जाने के कारण, वहां से विक्रमादित्य को प्राप्त होने वाली सहायता की आशा समाप्त हो गई थी। वास्तव में नवीन चोल नरेश, वीरराजेंद्र ने सोमेश्वर द्वितीय के हित का ही समर्थन किया था। सेउणचंद्र के सबसे बडे पुत्र एवं भावी उत्तराधिकारी एरम्मदेव ने सोमेश्वर द्वितीय के विरुद्ध इन अभियानों में अपने पिता की सहायता की थी।[12] वह लगभग 1085 ई० में अपने पिता का उत्तराधिकारी बना तथा लगभग 1105 ई० तक शासन करता रहा। उसके शासनकाल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। उसके पश्चात उसका भाई सिंहराज गद्दी पर आया, जिसे कर्पूर हाथी की प्राप्ति द्वारा अपने अधिराज विक्रमादित्य षष्ठ के कर्पूरव्रत की समाप्ति में सहायता देने का श्रेय दिया जाता है। उसका शासनकाल लगभग 1105 और 1120 ई० के बीच माना जा सकता है।

सिंहराज की मृत्यु के बाद के 50 वर्षों के दौरान यादव इतिहास पुनः अंधकाराच्छन्न है। 1142 ई० में सेउणचंद्र नामक यादव नरेश नासिक जिले में राज्य करता हुआ प्रतीत होता है।[13] किंतु हेमाद्रि ने इसका वर्णन नहीं किया है। उसके पश्चात लगभग 1145 ई० में मल्लुगि राजा बना, जो अपने अधिराज तैलप तृतीय के प्रति निष्ठावान बना रहा, क्योंकि हमें ज्ञात है कि उसका सेनापति दादा और उसका पुत्र महीधर, सदा तैलप को उखाड़ने की चेष्टा करने वाले विज्जण की सेनाओं के लिए आतंक ही वने रहते थे।[14] यह स्वाभाविक ही था कि मल्लुगि ने अपनी समकालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों से लाभ उठाया तथा पर्णखेट (अकोला जिले में आधुनिक पतखेड़) को जीतकर, और फिर काकतीय शासक रुद्र पर आक्रमण कर, बरार की दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार करने की चेष्टा की। यह आक्रमण केवल संबंधित शासकों को व्याकुल एवं आतंकित करने के लिए किया गया था तथा इसके परिणामस्वरूप कोई क्षेत्रीय लाभ नहीं हुआ था। मल्लुगि के शासनकाल का अंत लगभग 1160 ई० में हुआ।

मल्लुगि के दो पुत्र अमरगांगेय तथा कर्ण थे। अमरगांगेय उसके बाद राजा हुआ था किंतु वह अपने अत्यंत अल्प शासनकाल के बाद मर गया तथा उसके पश्चात उसका पुत्र अमरमल्लुगि सिंहासन पर बैठा। कुछ समय बाद कालियबल्लाल ने बलपूर्वक अमरमल्लुगि पर काबू कर लिया। किंतु वंशावली में कालियबल्लाल की स्थिति अनिश्चित है। अंत में कर्ण के पुत्र भिल्लम पंचम द्वारा अराजकता के काल का अंत हुआ।[15] लगभग 1175 ई० में भिल्लम अपने परिवार के लिए यादव साम्राज्य प्राप्त करने में सफल हो गया।

संदर्भ

1. वस्तुतः 7 वीं शताब्दी में काठियावाड़ में सिंहपुर के स्थान पर एक यादव वंश शासन कर रहा था (ए० इं०, i, पृ० 12), किंतु मथुरा से इसका कोई संबंध न था और न ही इसके वंशधर द्वारका की ओर गए हुए प्रतीत होते हैं.
2. ए० इं०, ii, पृ० 225.
3. 'इंसक्रिप्शंस फ्राम बांबे कर्नाटक, नं० 11, 12.
4. 'इं० ए०' xii, पृ० 124.
5. देखिए 'इं० ऐं०' xiv, पृ० 314; स० इं०' xii, पृ० 198.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6. सर आर० जी० भंडारकर का यह मत मान्य नहीं है कि लक्ष्मी क पिता झंझ उसी नाम का, थाना का शीलहार नरेश था. पश्चातोक्त कुमार लगभग 910 और 930 ई० के बीच हुआ था तथा यह संभव प्रतीत नहीं होता कि लगभग 980 से 1000 ई० तक शासन करने वाला नरेश उसका दामाद हो.
7. संगम्नेर ताम्रपत्र, पद्य 16.
8. अपराजितदेव नामक शीलहार नरेश (975-1010 ई०), भिल्लम नामक राजा को सुरक्षा प्रदान करने का दावा करता है. यह समकालीन यादव नरेश प्रतीत होता है. अपराजितदेव राष्ट्रकूटों का पक्षपाती था, जबकि भिल्लम चालुक्यों का अनुयायी. अतः अपराजितदेव द्वारा भिल्लम की सहायता का तर्क देना अनुचित है. संभवतः यह वक्तव्य दोनों के बीच उस समय की संधि की ओर निर्देश करता है, जबकि दोनों ही राष्ट्रकूटों के सामंत थे.
9. कलस बुद्रक दानपत्र, 'इं० ऐं०', xvii, पृ० 117.
10. 26 दिसंबर, 1955 को अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के अन्नमलै अधिवेशन में प्रदर्शित इस शासक का देओललि (अहमदनगर जिला) ताम्रपत्र, शक संवत 974 अर्थात 1052 ई० का है.
11. 'इं० ऐं०', xii, पृ० 120.
12. अस्वि अभिलेख, विक्रमादित्य षष्ठ के राज्यारोहण का श्रेय एरम्मदेव को देता है, किंतु हेमाद्रि इसका श्रेय उसके पिता सेउणचंद्र को देता है. हम संभवतः दो साक्षियों के विरोधी प्रमाणों की साम्यता मूल में निर्देशित सुझाव से स्थापित कर सकते हैं
13. अंजनेरि अभिलेख द्वारा सिद्ध, 'इं० ऐं०', xii, पृ० 126. चूंकि हेमाद्रि की वंशावली में उसका उल्लेख नहीं है, अतः आर० जी० भंडारकर ने उसे यादवों का उपसामंत माना था.
14. 'सूक्तिमुक्तावली'. पद्य 5-9, 'अ० हि० डे०', पृ० 184.
15. भिल्लम की वंशावली, हेमाद्रि अथवा रामचंद्र के पैठन दान पत्र में दी गई वंशावली से भिन्न है यह स्वयं भिल्लम द्वारा जारी किए गए गदग अभिलेख पर आधारित है और सुगमतापूर्वक अनुमानित किया जा सकता है कि उसने दानपत्राभिलेख के लेखक को अपने ही पिता के नाम की सही सूचना दी होगी. हेमाद्रि उससे एक शताब्दी बाद आया और संभव है कि उसे उचित ज्ञान न था. किंतु आर० जी० भंडारकर का विचार था कि गदग अभिलेख जाली था और उन्होंने भिल्लम के पितृत्व के संबंध में हेमाद्रि के वर्णन को स्वीकार किया.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वतंत्र शासक

भिल्लम पंचम

भिल्लम पंचम पहला यादव शासक था जिसने सम्राट-स्तर का दावा किया और सम्राटोचित उपाधियां धारण कीं। ऐसा उसने अपने निधन से केवल चार वर्ष पूर्व, लगभग 1187 ई० में किया। इसी साल उसने अपना शासन वर्ष आरंभ किया, जबकि उसका शासनकाल कम से कम दस वर्ष पूर्व ही शुरू हो गया था।[1] उसके शासनकाल के महत्व को उचित रूप में समझने के लिए दकन की उस काल की राजनीतिक स्थिति पर एक सरसरी नजर डालना आवश्यक है।

लगभग 1150 ई० से चालुक्य शक्ति का पतन आरंभ हो गया। उस समय राजसिंहासन पर आने वाला तैलप तृतीय अपने कलचुरि सामंत बिज्जल द्वारा सत्ता के क्रमिक अपहरण को रोकने में असमर्थ सिद्ध हुआ। वस्तुतः वह अत्यंत दुर्बल शासक था, यहां तक कि काकतीय प्रोल जैसे तुच्छ सामंत ने भी उसे रणक्षेत्र में बंदी बना लिया था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बिज्जल जैसे चतुर एवं प्रवीण व्यक्तित्व ने ऐसे क्षीण विरोध के सम्मुख अति सुगमता से स्वतंत्र स्तर प्राप्त कर लिया। हम देखते हैं कि यद्यपि उसने अपने शासनकाल के वर्षों की गणना छः वर्ष पूर्व आरंभ कर दी थी, किंतु 1162 ई० में अपने नाममात्र के अधिराज तैलप तृतीय की मृत्यु के तुरंत पश्चात ही उसने सम्राटोचित उपाधियां धारण कर लीं।

सामान्यतया प्राचीन भारत में साम्राज्य एकात्मक राज्य न होते थे। प्रायः वे अनेक सामंतीय राज्यों के संघ के रूप में गठित होते थे। यह लगभग नियम सा बन गया था कि प्रत्येक राज्य, उचित्त अवसर पर राजकीय अधीनता को तोड़ने के लिए उत्सुक रहता था। चालुक्य साम्राज्य का रूप भी यही था। तैलप तृतीय के अधीन अनेक सामंत थे, यथा वारंगल के काकतीय, द्वारसमुद्र के होयसल, सौंदत्ति के रट्ट, कोंकण के शिलाहार तथा उत्तरी महाराष्ट्र के यादव। ये सभी बिज्जल के सम्राट-स्तर को मान्यता प्रदान करने के लिए अधिक उत्सुक न थे। स्वयं बिज्जल भी अपनी शक्ति को संगठित करने में असफल रहा तथा 1167 ई० में उसकी हत्या कर दी गई। उसके पश्चात उसके पुत्र सोयिदेव संकभ, आहवमल्ल तथा सिंहण जल्दी जल्दी राजा बने, किंतु इनमें से किसी ने भी शासक के रूप में अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं किया। लगभग 1183 ई० में तैलप तृतीय के एक पुत्र, सोमेश्वर चतुर्थ द्वारा कलचुरियों को हटा दिया गया।

जब चालुक्य साम्राज्य के ठीक मध्य में अत्यंत द्रुत गति से एक के बाद एक ऐसी राजनीतिक क्रांतियां हो रही थीं तो यादव एवं होयसल जैसे उसके सीमावर्ती सामंत स्वयं सम्राट बनने की अपनी योजनाओं को पूरा करने में लगे थे, क्योंकि स्वभावतः उन्हें केंद्र से पूरी तरह नियंत्रित नहीं किया जा सकता था। विष्णुवर्धन के शासनकाल में एक बार पहले भी होयसल लगभग स्वतंत्र हो गए थे, किंतु अंत में विक्रमादित्य षष्ठ ने उनका दमन कर दिया था। सिंहा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सनासीन बल्लाल, जो एक योग्य शासक था, उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक था जो उसके दादा नहीं कर पाए थे। उसने विज्जल के कमजोर उत्तराधिकारियों को सम्राट मानने से इनकार कर दिया तथा 1179 ई० में उनसे दो युद्ध किए।[2] 1180 ई० के बाद उसने राजाधिराज की उपाधि धारण की तथा 1185 ई० से उसने महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक प्रतापचक्रवर्ती सम्राट की सी जैसी उपाधियां धारण करना आरंभ कर दिया था।[3]

जब सामान्य राजनीतिक स्थिति इतनी अनिश्चित थी, तो आश्चर्य नहीं कि यादवों ने भी अपने वंश के लिए सम्राट स्तर प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो। मल्लुगि कुछ समय तक तैलप के प्रति निष्ठावान रहा। जब वह अपने सामंतीय अधिराज के लिए युद्ध करने का स्वांग कर रहा था तो उसका सेनापति दादा, संभवत: बिज्जल के विरुद्ध विजय प्राप्त कर रहा था। किंतु जब अंत में तैलप ने बिज्जल के आगे समर्पण भी कर दिया था, फिर भी दादा के पुत्र महीधर के नेतृत्व में मल्लुगि की सेनाएं बिज्जल से युद्ध करती रहीं। इन युद्धों का उद्देश्य कलचुरि शक्ति को उखाड़ फेंकना तथा स्वयं मल्लुगि द्वारा सम्राट स्तर प्राप्त करना था।

किंतु मल्लुगि सम्राट बनने की अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए अधिक समय तक जीवित न रहा और 1170 ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात यादव राजधानी में अराजकता फैल गई। अराजकतापूर्ण इस परिस्थिति ने वंश को समकालीन राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने से रोक दिया। मल्लुगि के पश्चात उसका सबसे बड़ा पुत्र अमरगांगेय राजा बना, जो थोड़े समय शासन करने के बाद परलोक सिधार गया। यदि इस संदर्भ में हेमाद्रि के वर्णन पर विश्वास किया जाए तो अमरगांगेय के बाद अमरमल्लुगि, गोविंदराज तथा कालिय-बल्लाल राजा बने। इन शासकों के पारस्परिक संबंधों तथा उनके शीघ्र अंत के कारणों के संबंध में हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि राजधानी में द्रुत गति से होने वाले अयोग्य शासकों के राज्यारोहण ने यादवों द्वारा सम्राट स्तर की प्राप्ति की प्रत्येक संभावना को प्राय: समाप्त ही कर दिया।

इस प्रकार जब अमरगांगेय के उत्तराधिकारी परस्पर युद्ध करने तथा यादव शक्ति को कमज़ोर करने में व्यस्त थे, उसका भाई कर्ण एवं कर्ण का पुत्र भिल्लम, एक अन्य यादव प्रदेश की नींव डाल रहे थे, जो शीघ्र ही संपूर्ण दकन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाला था। कर्ण के जीवन के संबंध में हमारे पास कोई निश्चित सूचना नहीं है। संभवत: वह अपने भाई अमर-गांगेय के शासनकाल में एक जिला अधिकारी अथवा उपसामंत था। भिल्लम उसका एक योग्य पुत्र था, जिसने शीघ्र ही यह जान लिया कि क्षीण कलचुरि नरेश अपने छोटे सामंतों की रक्षा करने में अब अधिक समर्थ न थे। अत: छोटी सी पैतृक संपत्ति के संबंध में उसने अपने चचेरे भाइयों से संघर्ष न करने, तथा कोंकण एवं मध्य महाराष्ट्र में अनेक छोटे राजाओं द्वारा शासित क्षेत्रों को अपने आधिपत्य में लाने का निर्णय किया। परवर्ती युग के शिवाजी के समान उसने भी अपने जीवन का आरंभ कोंकण में स्थित दुर्गों को जीतकर किया। उसने सबसे पहले कोंकण के बंदरगाह अर्थात श्रीवर्धन के राजा को पराजित किया और फिर प्रत्यंतगढ़ के शासक को। प्रत्यंतगढ़ निश्चय ही भूतपूर्व भोर राज्य में प्रचंडगढ़ अथवा तोरन का आधुनिक दुर्ग था। इसके पश्चात वह शोलापुर की ओर बढ़ा, जहां उसने जिले के छोटे शहर मंगलवेशटक अथवा मंगलवेधे के राजा बिल्लण को मौत के घाट उतार दिया।

इस प्रकार भिल्लम उत्तरी कोंकण तथा मध्य महाराष्ट्र में अपने लिए पर्याप्त विस्तृत प्रदेश प्राप्त करने में सफल हो गया, जबकि पैतृक यादव राजधानी में स्थिति निरंतर बिगड़ती ही जा रही थी। हेमाद्रि के वर्णन से प ा चलता है कि यादव वंश की 'भाग्य श्री' ने वैध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उत्तराधिकारियों की परित्याग कर उस वंश के दुर्बल शासक के चाचा, भिल्लम की विशुद्ध योग्यता एवं प्रशंसनीय गुणों से आकर्षित होकर, उसी को सिंहासनासीन किया। दरबारी कवि के इस वक्तव्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि भिल्लम ने अंत में सिन्नेर के मामलों में हस्तक्षेप कर, वहां के राजा को हटाकर, स्वयं सिंहासनारूढ़ होना ही न्यायोचित समझा। इस हस्तक्षेप की निश्चित् तिथि तो ज्ञात नहीं है किंतु इसे 1180 ई० के आसपास मानना गलत नहीं होगा।

भिल्लम को उत्तरी महाराष्ट्र में अपती पितृभूमि प्राप्त कर लेने ही से संतोष नहीं हुआ, वह उसकी सीमाओं तथा प्रभाव का विस्तार करने के लिए भी बहुत उत्सुक था। कलचुरियों, चालुक्यों तथा होयसलों के प्रभुत्व की स्थापना के लिए होने वाले त्रिपक्षीय संघर्ष के कारण कर्नाटक की स्थिति अत्यंत अराजकतापूर्ण तथा अनिश्चित थी, किंतु संभवतः आरंभ में भिल्लम ने इसमें हस्तक्षेप करने का विचार नहीं किया। इसके विपरीत उसने अपना ध्यान मालवा एवं गुजरात की ओर केंद्रित किया।[4] वाह्य आक्रामक के लिए इन दोनों ही प्रांतों की स्थिति अत्यंत अनुकूल थी। गुजरात के चालुक्यनरेश अजयपाल ने अपनी जैन प्रजा को रुष्ट कर दिया था तथा 1176 ई० में वह अपने ही द्वारपालक के हाथों मारा गया। उसका उत्तराधिकारी मूलराज द्वितीय (1176-78 ई०) तथा 1178 ई० में राजा बनने वाला उसका छोटा भाई—दोनों ही बालक थे। चालुक्य सरकार की कमजोरी से लाभ उठाते हुए विंध्यवर्मन ने पुनः गुर्जरों से मालवा को जीत लिया तथा पुनः परमार शक्ति की उसके पैतृकगृह में स्थापना की। किंतु विंध्यवर्मन स्वयं को दृढ़ता से मालवा में स्थापित करने में असमर्थ था। इसके अतिरिक्त, यद्यपि चालुक्यों से होने वाले संघर्ष में तत्काल सफलता मिली, फिर भी उसने विंध्यवर्मन की शक्ति को क्षीण तथा उसके साधनों को समाप्त कर दिया था।

अतः भिल्लम ने आक्रामक के लिए संभावनाओं से पूर्ण मालवा एवं गुजरात के प्रदेशों की ओर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। 1189 ई० के मुतुगि अभिलेख[5] का वक्तव्य, 'वह मालवों के सिर का प्रचंड दर्द', तथा 'गुर्जरों रूपी हंसों के समूह के लिए घनगर्जन था', केवल अतिशयोक्तिपूर्ण ही न था। वास्तव में यादव सेनाओं ने संपूर्ण मालवा तथा लाट अर्थात दक्षिणी गुजरात को पददलित किया था। चालुक्य, जो इस समय मुस्लिम आक्रमणों द्वारा प्रस्तुत समस्या में व्यस्त थे, जमकर विरोध न कर सके तथा भिल्लम की कुछ सेना मारवाड़ तक घुस गई, क्योंकि भूतपूर्व जोधपुर राज्य में नड्डूल (आधुनिक नाडौल) का चाहमान नरेश केल्हण, उसी जिले में भिल्लम की सेना को पराजित करने का दावा करता है। उसका विरोधी अपने मुख्य शिविर से बहुत दूर था, अतः उसने केल्हण, के विरोध को देखकर वापस लौटने का निश्चय किया होगा। मुतुगि अभिलेख में भिल्लम को अंग,वंग, नेपाल, और पंचाल के राजाओं को हराने का भी श्रेय दिया गया है। किंतु यह तो केवल खोखली डींग है क्योंकि उसके द्वारा गुजरात के पार बढ़ने का कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है। यश से युक्त, किंतु यादव साम्राज्य में किसी क्षेत्र का स्थाई विस्तार किए बिना ही उसकी सेनाएं राजपूताना की सीमाओं से वापस लौट गईं। गुजरात अभियान में भिल्लम को अपने सेनापति जूहल से पर्याप्त सहायता मिली। उसने चतुराई से एक मदोन्मत्त हाथी को उनके बीच छोड़कर, गुर्जरों के विरुद्ध आसानी से विजय प्राप्त की थी क्योंकि इस चाल के परिणामस्वरूप शत्रु शीघ्र ही तितर बितर होकर भाग गए।

मालवा, गुजरात एवं राजपूताना में भिल्लम के अभियानोंसे उसके साम्राज्य में स्पष्टतः क्षेत्रीय विस्तार न हुआ। फिर भी, इसने उसका आत्म-विश्वास बढ़ाया और वह यह सोचने लगा कि वह दक्षिणी पड़ोसियों के विरुद्ध भी ऐसा ही सफल आक्रमण करके अपने वंश के लिए साम्राज्यिक स्थिति प्राप्त कर सकता है। जब वह उत्तर के युद्धों में व्यस्त था तो कर्नाटक में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्रुत परिवर्तन हो चुके थे। कलचुरि शक्ति को, जिसे पहले ही होयसल नरेश बल्लाल के आक्रमणों ने क्षीण कर दिया था, 1183 ई० में चालुक्य शासक सोमेश्वर चतुर्थ ने अंतिम रूप से समाप्त कर दिया। किंतु सोमेश्वर स्वयं सैनिक नेता प्रतीत नहीं होता, यह विजय तो लगभग पूर्णरूपेण उसके सेनापति ब्रह्म की प्रतिभा एवं शक्ति के कारण हुई थी। अनेक समकालीन लेख इस सेनापति को चालुक्य यश का रक्षक तथा कलचुरि वंश के लिए वड़वानल के रूप में चित्रित करते हैं। वह हाथियों के समूह का चतुर नेता था तथा उसने कलचुरियों के भाग्य को पूर्ण रूप से समाप्त करने वाले निर्णायक युद्ध में शत्रु के 60 हाथियों को जीतने में सफलता प्राप्त की थी।[6]

किंतु अपने सेनापति की विजयों का आनंद अधिक दिन तक उठाना सोमेश्वर के भाग्य में न था। होयसल शासक बल्लाल ने साम्राज्यिक स्थिति प्राप्त करने का निश्चय किया तथा भिल्लम ने भी अनुभव किया कि इस दिशा में सफलता की सम्भावनाएं बहुत हैं। इस प्रकार कमजोर चालुक्य साम्राज्य पर लगभग एक ही साथ उत्तर में भिल्लम तथा दक्षिण में बल्लाल द्वारा आक्रमण हुआ। सोमेश्वर ने पहले दक्षिणी आक्रामक से निबटने का निश्चय किया और उसने बल्लाल के विरुद्ध अपने सेनापति ब्रह्म को भेज दिया। किंतु इस बार ब्रह्म अपने स्वामी के लिए विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहा। उसके शक्तिशाली हाथी संगठन की चालों को बल्लाल के द्रुत अश्वारोहियों के समूहों ने मात दे दी तथा चालुक्य शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट कर दी गई। सोमेश्वर ने अपनी राजधानी कल्याणी की रक्षा करने की कोई चेष्टा नहीं की। वह वापिस लौट गया तथा उसने जयिंतपुर, तथा वनवासी, में अपनी सरकार का नवीन केंद्र स्थापित किया, जहां से उसने अपने कदंब सामंत कामदेव की सहायता से 1189 ई० तक अपने सांघातिक अस्तित्व को बनाए रखा।[7]

यद्यपि इस विषय पर कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, फिर भी यह संभव है कि बल्लाल ने और अधिक सफलता पाई तथा वास्तव में साम्राज्यिक राजधानी कल्याणी को भी जीत लिया। यह संभव नहीं लगता कि जब राजा अपनी राजधानी छोड़कर वनवासी भाग गया, तो बल्लाल ने कल्याणी को चालुक्य सेना के हाथों में रहने दिया हो।

जब भिल्लम ने बल्लाल को राजनीतिक चुनौती देने तथा दकन में साम्राज्यिक स्थिति प्राप्त करने का फैसला किया तो सामान्य राजनीतिक स्थिति ऐसी ही थी। निस्संदेह होयसल सेना हाल ही की अपनी सनसनीखेज जीतों के कारण अत्यंत प्रसन्न थी, किंतु ऐसा जान पड़ता है कि इसके साथ ही वह इन लड़ाइयों के चलते काफी कमजोर भी हो गई थी, क्योंकि भिल्लम कल्याणी की प्राचीरों पर अपने साम्राज्यिक गरुड ध्वज को फहराने में सफल हुआ था। कल्याणी लगभग दो शताब्दियों से दकन की राजधानी थी। बल्लाल को शीघ्र ही अपनी राजधानी द्वारसमुद्र की ओर लौटना पड़ा तथा उसने ब्रह्म एवं सोमेश्वर से जो संपूर्ण दक्षिणी चालुक्य साम्राज्य को जीता था, वह भी भिल्लम के हाथों में आ गया,[8] जिसने तुरंत ही संपूर्ण क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाकर लौटती हुई होयसल सेनाओं का कम से कम मैसूर राज्य में हस्सन जिले तक पीछा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अश्वारोहियों के सेनापति पेरिय सहन ने इस भव्य अभियान में महत्वपूर्ण भाग लिया था। कुछ भी हो, नवीन क्षेत्रों का शासन उसी को सौंपा गया था।[9] भिल्लम के कुछ अभिलेखों से यह संकेत मिलता है कि उसने 1187 ई० में अपने प्रशासनिक वर्षों की नवीन गणना आरंभ की।[10] संभव है कि यह उसके द्वारा कल्याणी की युगांतरकारी विजय का ही वर्ष था।

बल्लाल दीर्घकाल से दकन मे अपने परिवार के लिए साम्राज्यिक स्थिति प्राप्त करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की योजना बना रहा था तथा वह कल्याणी के पतन के बाद भी अपना संघर्ष समाप्त करने के लिए तैयार न था। उसने कुछ वर्ष अपनी सेनाओं के पुनर्गठन में लगा दिए और फिर उसने निश्चेष्ट चालुक्य साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतों को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर कूच किया। जून, 1189 ई० तक वह बनवासी एवं नोलंबवाडि पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने में सफल हो गया था,[11] और वहां से संभवतः अंतिम रूप से कल्याणी को जीतने की प्रस्तावना के रूप में बीजापुर एवं धारवाड़ जिलों पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा।

बल्लाल की इस नवीन चाल से उत्पन्न होने वाले खतरे को समझने में भिल्लम ने देर नहीं की। उसने 200,000 प्यादों तथा 12,000 अश्वारोहियों से युक्त शक्तिशाली सेना का गठन किया तथा आक्रामक का मुकाबला करने के लिए निकल पड़ा। जून 1191 ई० में ही हम उसे दक्षिणी कूच के दौरान, धारवाड़ जिले में स्थित गदग के स्थान पर शिविर लगाए हुए पाते है। इस तिथि के तुरंत बाद ही दकन की प्रभुसत्ता के दो विरोधी दावेदारों ने धारवाड़ के निकट सोरतुर में एक दूसरे का सामना किया, जहां एक घमासान युद्ध भी हुआ। इस बार बल्लाल पूर्ण रूप से सफल हुआ तथा यादव सेना का बहुत बड़ा कत्लेआम हुआ। एक समकालीन अभिलेख के अनुसार[12] अपने यश के विकास के अन्य बीज बोने के उद्देश्य से, दक्षिण के इस नरेश ने अपनी विजयों द्वारा सोरतुर से बेल्वोल तक की भूमि को सेवण सेना के असंख्य वीर योद्धाओं की लाशों की खाद कर, कृषकों के हलों के चलने के लिए तैयार किया।'

इस अभिलेख में प्रयुक्त भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती है किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि होयसल विजय निर्णायक थी। यादव सेनापति जैत्रपाल ने लोक्किगुंडि (आधुनिक लोक्कुंदि) के गढ़ में शरण लेकर विजय के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न किया, किंतु बल्लाल ने बिना किसी कठिनाई के ही दुर्ग को जीत लिया। यादव सेनापति इस स्थान की रक्षा करते हुए मारा गया तथा इसके पतन के पश्चात यादव सेना में भगदड़ मच गई। बल्लाल ने एरंबर (हैदराबाद राज्य में येल्लुर्ग),कुर्रुगोद (बेल्लारिके निकट),गुत्ति (बेल्लारि से 50 मील पूर्व में) तथा हंगल जैसे अनेक महत्वपूर्ण दुर्गों को जीता। सभी यादवों को कृष्णा तथा मलप्रभा नदियों के पार खदेड़ दिया गया तथा उनके उत्तर में स्थित क्षेत्र से उनका सफाया कर दिया। इसके पश्चात आगामी 25 वर्षों तक ये नदियां संघर्षरत शक्तियों के बीच सीमारेखा बनी रहीं।

1198 ई० के एक होयसल अभिलेख से ज्ञात होता है कि किस प्रकार बल्लाल ने पांड्य नरेश के रक्त से अपनी तलवार को तर किया, भिल्लम के सिर रूपी सान पर तेज किया तथा जैतुगि के कमलमुख रूपी म्यान में घुसेड़ दिया।[13] यह तो विदित ही है कि सोरतुर का युद्ध लगभग 1191 ई० के अंत में हुआ था और भिल्लम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी जैतुगि के राज्यारोहण का काल भी यही था।[14] यह भी विदित है कि उच्छंगि का पांड्य नरेश कामदेव तथा भिल्लम का सेनापति जैतुगि, दोनों ही होयसलों के विरुद्ध लड़ते हुए मारे गए थे।

तो फिर क्या हम बल्लाल के इस दावे को स्वीकार कर लें कि उसने युद्ध में न केवल जैतुगि एवं कामदेव को मारा अपितु अपने मुख्य शत्रु भिल्लम पंचम को भी? संभवतः नहीं, क्योंकि यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। बल्लाल के गदग अभिलेखों में, जो उसकी सन्सनीपूर्ण विजयों के एक वर्ष के अंदर ही जारी किए गए थे तथा उस शहर में उत्कीर्ण हुए थे, जो उसके विजय अभियानों एवं युद्धों का साक्षी था, कहा गया है कि होयसल नरेश ने इस युद्ध में केवल जैत्रसिंह को मारा था, जिसे अभिलेखों में स्पष्ट रूप से भिल्लम का दायां हाथ भी बताया गया है। इस अभिलेख की रचना, राजा बल्लाल के निर्देशन में अग्निशर्मन ने की थी तथा यह संभव नहीं जान पड़ता कि यदि भिल्लम की मृत्यु सचमुच रण क्षेत्र में हुई होती तो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह उसका वर्णन नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि भिल्लम, जो वृद्ध हो चुका था, इस पराजय से हिल गया, और इसने उसके जीवन के सभी स्वप्न भंग कर दिए। इससे उसका दिल टूट गया और वह तुरंत ही मर गया। अतः परवर्ती होयसल अभिलेखों के कवियों ने अपने स्वामी द्वारा भिल्लम के सिर को अपनी तलवार तेज करने के लिए सान के रूप में प्रयोग करने के वर्णन को उचित समझा।

भिल्लम के जीवन का अपना वर्णन समाप्त करने से पूर्व हमें पृथ्वीराज चाहमान एवं शशिव्रता के विवाह की कथा का उल्लेख करना है। शशिव्रता, देवगिरी के यादव नरेश भानु की पुत्री थी। इस विवाह कथा का वर्णन चंदबरदाई ने अपने ग्रंथ पृथ्वीराज रासो में किया है।[16] अपने प्रसिद्ध काव्यात्मक अलंकरणों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों के द्वारा यह भाट हमें बताता है कि किस प्रकार दोनों ही दरबारों में जाने वाले भाट के गीतों में एक दूसरे के बारे में सुनकर शशिव्रता एवं पृथ्वीराज प्रेम करने लगे, किस प्रकार उनके प्रेम का अंत दृष्टिगोचर होने लगा क्योंकि शशिव्रता के पिता ने पहले ही उसका विवाह कन्नौज के राजा जयचंद्र के भतीजे वीरचंद्र से निश्चित कर दिया था, तथा किस प्रकार आखिरी समय पृथ्वीराज अपने घोड़े पर सवार हो देवगिरी पहुंचा तथा इच्छुक राजकुमारी को अपने साथ भगाने में सफल हो गया। उसने यादव एवं गाहड़वाल सेनाओं को पराजित करने के लिए अपनी सेना को वहीं छोड़ दिया। पृथ्वीराज तथा जयचंद्र को कुछ सीमा तक पंचाल के विरोधी नरेश मान सकते हैं और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, भिल्लम द्वारा उस प्रदेश के राजा की पराजय का यादव अभिलेख दावा भी करते है। किंतु यह कहना अत्यंत कठिन है कि चंदबरदाई द्वारा वर्णित कथा में कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रतिबिंबित होता है। उसके वर्णन में दिया गया यादव नरेश का नाम अर्थात भानु भिल्लम से कुछ मिलता है तथा यादव नरेश द्वारा कन्नौज वंश के कुमार से विवाह संबंध की योजना भी असंभव न थी। किंतु जब तक इस बात की पुष्टि के लिए ऐतिहासिकप्रमाण नहीं मिल जाते कि गाहड़वाल एवं चाहमान सेनाओं ने वास्तव में वहीं एक-दूसरे से युद्धकरने के लिए दकन में प्रवेश किया, तब तक इस कथा को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। यह भी संभव है कि पृथ्वीराज एवं जयचंद्र के झगड़े को दीर्घकालीन बताने तथा केवल संयोगिता के विवाह से ही उसके उदय के विचार का खंडन करने के उद्देश्य से चारण ने यह कल्पना की हो। शशिव्रता के विवाह का वर्णन केवल संयोगिता के स्वयंवर की कथा का नवीन संस्करण मात्र है। लगभग 1180 ई० में देवगिरी को यादवों की राजधानी बताना भी गंभीर कालभ्रम प्रस्तुत करता है। भिल्लम का नरेंद्र नामक कोई पुत्र न था, जैसा कि कि रासो में उल्लिखित है (25-174)। वर्तमान स्थिति में उसका कोई ऐतिहासिक आधार नजर नहीं आता।

भिल्लम की मृत्यु रणक्षेत्र में हुई हो या नहीं, इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके जीवन का अंत अत्यंत दर्दनाक था। पहले परमारों एवं गुजरात चालुक्यों और फिर कर्नाटक चालुक्यों एवं होयसलों के विरुद्ध उसने जो लगातार विजय प्राप्त की थीं, उनके कारण वह सोचने लगा था कि वह दकन का असंदिग्ध अधिराज बना रहेगा। किंतु सोरतुर के निर्णायक युद्ध ने उसकी सभी योजनाओं पर पानी फेर दिया। कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के बीच का जो क्षेत्र अनेक शताब्दियों से दकनी तथा मैसूरी शक्तियों के बीच संघर्ष का कारण था, वह उसके हाथों से निकल कर होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के हाथों में पहुंच गया, जिसने वहां के सभी महत्वपूर्ण दुर्गों एवं नगरों को जीत लिया और उन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। भिल्लम इस समय 60 वर्ष से अधिक उम्र का था और वह उसी प्रकार अपना दिल तोड़ कर मरा होगा जैसे पानीपत के युद्ध के पश्चात नानासाहब पेशवा मरा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किंतु भिल्लम के दर्दनाक अंत से हमें एक योद्धा एवं राजनीतिज्ञ के रूप में उसकी महानता के प्रति नेत्र नहीं मूंद लेने चाहिए। वह स्वनिर्मित व्यक्तित्व था, उसे कोई भी पैतृक संपत्ति सहीं मिली थी। उसे स्वयं ही अपने लिए उत्तरी कोंकण तथा दक्षिणी महाराष्ट्र में राज्य का निर्माण करना पड़ा था। निस्संदेह, एक दृष्टिकोण से सिन्नेर के यादवों के मामलों में उसका हस्तक्षेप न्यायसंगत नहीं था किंतु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि अधिक समय तक अमरगांगेय एवं कालियवल्लाल जैसे निम्न कोटि के राजा उसके अधिकारी रहे होते, तो यादव वंश कभी भी दकन का अधिराज न बन पाता। भिल्लम ने केवल महाराष्ट्र में ही अपनी शक्ति का संगठन नहीं किया अपितु मालवा और गुजरात में भी सफल अभियान किए, जिससे उसकी सेनाओं को यश मिला और उसके राजकोष में वृद्धि हुई। उसने उचित समय पर कर्णाटक की राजनीति में हस्तक्षेप किया तथा वह चालुक्यों एवं होयसलों, दोनों को ही खदेड़ने में सफल रहा। एक समय उसकी सेना ने संपूर्ण रायचुर दोआब में आक्रमण करके उसे अपने आधिपत्य में कर लिया था। वास्तव में उसी ने यादव साम्राज्य की स्थापना की थी, क्योंकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सोरतुर की निर्णायक विजय के बाद भी उसका विपक्षी बल्लाल, कृष्णा नदी को पार करके महाराष्ट्र आने की हिम्मत नहीं कर सका था। यद्यपि यादव सेनाएं पराजित हो गई थीं, किंतु उनका नाश नहीं हुआ था तथा शत्रु, सिंह का उसी के घर में सामना नहीं कर सकता था। निष्कर्षतः अधिकांश साम्राज्यों के संस्थापकों के समान, भिल्लम कुशल सैनिक, राजनीतिज्ञ तथा चतुर एवं दूरदर्शी व्यक्ति था।

जैतुगि
(1191 से 1210 (?) ई०)

लगभग 1191 ई० के अंत में भिल्लम का पुत्र जैतुगि सिंहासन पर बैठा। एक समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि इस कुमार ने अपने पिता के कर्णाटक अभियान के दौरान ही वीर-गति प्राप्त कर ली थी, किंतु अब यह विचार स्वीकार्य नहीं है। होयसल युद्ध में मारा गया जैतुगि अथवा जैत्रसिंह, निश्चय ही एक गदग अभिलेख में वर्णित भिल्लम का सामंतीय सेना-पति तथा मंत्री है।[17] यदि जैतुगि नामक युवराज युद्ध में मारा जाता तो होयसल अभिलेख, यादव नरेश से उसका संबंध बताना नहीं भूलते, वे केवल उसके नाम का ही वर्णन करके संतुष्ट न हो जाते। वास्तव में हेमाद्रि निश्चित रूप से उसके शासन का उल्लेख करता है तथा उसके शासन का विवरण देने वाले समकालीन अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जो इतिहासज्ञों की बातों का समर्थन करते हैं।[18]

जैतुगि के राज्यारोहण के समय यादव साम्राज्य संकटपूर्ण स्थिति में था।[19] ऐसा प्रतीत होने लगा था कि हाल की अपनी विजयों से प्रफुल्लित होकर होयसल सेनाएं कृष्णा नदी को पारकर संपूर्ण यादव साम्राज्य पर आक्रमण कर देंगी। जैतुगि निस्संदेह महान साहसी तथा दृढ़निश्चयी सैनिक था क्योंकि वह हाल की विपदाओं से तनिक भी विचलित न हुआ था। उसने अपनी सेनाओं का पुनर्गठन किया तथा ऐसा दृढ़ मुकाबला किया कि बल्लाल को अपनी अन्य विजयों को कल्याणी एवं देवगिरी की विजय का सेहरा पहनाने का विचार छोड़ना पड़ा। दोनों पक्षों ने मलप्रभा-कृष्णा नदियों को अपने साम्राज्यों की सीमा मान ली और किसी ने भी लगभग दो दशकों तक उसका उल्लंघन करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया।

किंतु जैतुगि अन्यत्र विजय प्राप्त करके अपनी सेना की सामरिक प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना चाहता था, और उसने तेलंगाना में काकतीयों की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आक्रमण करने का निश्चय किया। यादवों का विचार था कि चूंकि वे चालुक्यों के उत्तराधिकारी थे, अतः उनके सभी भूतपूर्व सामंतों को भी उनकी (यादवों की) प्रभुसत्ता को स्वयं ही तुरंत मान्यता देनी चाहिए। काकतीयों ने न केवल ऐसा नहीं किया, अपितु उन्होंने यादवों पर पीछे से आक्रमण करके भीषण कर्णाटक अभियान के बाद उत्पन्न होने वाली संकटमय स्थिति से पूर्ण लाभ भी उठाया। एक अवसर पर तो तत्कालीन शासक के भाई महादेव के सेनापतित्व में काकतीय सेनाएं यादव राजधानी तक घुस गईं।[20] कुछ समय के लिए जैतुगि को प्रतीक्षा करनी पड़ी। जब लगभग 1194 ई० में कृष्णा नदी की सीमा निश्चित हो गई और होयसल आक्रमण का कोई तात्कालिक खतरा नहीं रह गया, तब उसने काकतीयों के विरुद्ध अनाचक ही भीषण आक्रमण कर दिया। अभियान के दौरान तत्कालीन काकतीय शासक रुद्र मारा गया।[21] हेमाद्रि इस घटना का अत्यंत स्पष्ट वर्णन इन शब्दों में करता है कि जैतुगि ने तेलंगाना के राजा रुद्र की बलि चढ़ाकर पुरुषमेघ यज्ञ संपन्न किया।

रणक्षेत्र में राजा की मृत्यु ने संपूर्ण काकतीय विरोध का अंत कर दिया, क्योंकि स्वयं काकतीय अभिलेख, इस घटना के बाद फैलनेवाली अराजकता का वर्णन करता है तथा यह बताता है कि किस प्रकार अनेक मुखियों ने काकतीय 'राज्यश्री' का हाथ पकड़ने की चेष्टा की, क्योंकि काककीय राज्यश्री स्वयं को कुछ समय के लिए कटीले जंगल में फंसी महसूस कर रही थी।[22]

रुद्र की मृत्यु 1195 ई० के तुरंत बाद हुई थी। आगामी कुछ वर्षों में काकतीय इतिहास पर्याप्त अराजकता एवं अनिश्चितता के संवरण के कारण अस्पष्ट हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो उस निर्णायक युद्ध में जिसमें रुद्र मारा गया था अथवा उसके तुरंत बाद ही, जैतुगि दिवंगत काकतीय नरेश के भतीजे गणपति को बंदी बनाने में सफल हो गया। यह कुमार देवगिरी के कारागार में बंदी रहा, किंतु उसके पिता महादेव ने यादव आक्रामकों का विरोध जारी रखा। महादेव ने लगभग 1196 ई० में अपने भाई रुद्र के पश्चात सिंहासन प्राप्त किया था। रुद्र के एक सेनापति रचेर्ल ने महादेव को पर्याप्त सहायता दी थी।

महादेव द्वारा आक्रामक को खदेड़ने के प्रयास उतने ही असफल रहे जितने उसके भाई के रहे थे, तथा वह भी यादव आक्रामकों से संघर्ष करते हुए रणक्षेत्र में मारा गया। एक काकतीय लेख में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इस अभिलेख में अत्यंत अलंकृत शब्दों में कहा गया है कि यह शासक रणक्षेत्र में अपने शाही हाथी की कनपटी पर सो गया तथा स्वर्ग में ही उठा, जहां उसने अपने सिर को अपनी स्वर्गीय पत्नी के वक्षस्थल पर टिका पाया।

महादेव की मृत्यु ने काकतीय साम्राज्य की अराजकता की ओर अधिक बढ़ा दिया। चारों ओर अंधकार और अस्तव्यस्तता का राज्य था, जीवन एवं संपत्ति की सुरक्षा नहीं रही तथा अब ब्राह्मण अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय के लिए जैतुगि ने संपूर्ण राज्य का विलय करने तथा देवगिरी से ही उसका प्रशासन करने की चेष्टा की। वह अपने इस प्रयास में सफल न हुआ और अंततः उसने हिंदू राजाओं की पारंपरिक नीति का अनुसरण करने का निर्णय किया। इस नीति के अनुसार विजेता को विजित प्रदेश के सिंहासन पर दिवंगत राजा के निकट संबंधी को पुनः स्थापित करना चाहिए। महादेव का पुत्र गणपति पहले ही उसके हाथों में बंदी बना हुआ था[23] और उसने उसे ही काकतीय सिंहासन पर बिठाने का निश्चय किया। निस्संदेह उसने पहले ही उससे स्वामिभक्त सामंत के रूप में शासन करने का वचन ले लिया था।

हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि गणपति को यादव राजधानी के कारागार से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कब छोड़ा गया तथा उसे पुनः कब शासनारूढ़ किया गया।[24] निश्चय ही इस बीच एक अराजकतापूर्ण काल आया था, जिसका संकेत पालंपेत अभिलेख में मिलता है। किंतु हमें यह नहीं मानना चाहिए कि यह काल बहुत लंबा था और गणपति लगभग 1210 ई० तक देवगिरी में बंदी का जीवन व्यतीत करता रहा,[25] क्योंकि अभी हाल ही में उसका एक अभिलेख मिला है, जिससे यह पता चलता है कि वह 1203 ई० में राजा के रूप में शासन कर रहा था।[26] उसके परवर्ती अभिलेखों से सिद्ध होता है कि 1198 ई० ही उसके प्रशासन का पहला वर्ष था। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वास्तव में उसी वर्ष उसके पिता की मृत्यु के तुरंत बाद ही उसे कारागार से छोड़ दिया गया था। गणपति दीर्घकाल तक अपने अधिराज का निष्ठावान सामंत बना रहा।

जैतुगि के शासनकाल की अन्य बहुत कम ही राजनीतिक घटनाएं ज्ञात हैं। एक अभिलेख में उसे पांड्यों, चोलों, मालवों, लाटों, गुर्जरों, तुरुष्कों के राजाओं तथा नेपाल एवं पांचाल के शासकों को पराजित करने का श्रेय दिया गया है।[27] किंतु इसमें से अधिकांश दावा निस्संदेह केवल कोरी आत्मश्लाघा है। निश्चय ही पिछले शासनकाल की घातक पराजय के पश्चात यादव सेनाओं ने पुनः कृष्णा नदी पार नहीं की, और इस प्रकार चोलों एवं पांड्यों के विरुद्ध तथाकथित विजय कल्पनामात्र है। इसी प्रकार नेपाल, पांचाल तथा तुरुष्कों के राजाओं को उखाड़ फेंकने का दावा भी निराधार ही प्रतीत होता है। किंतु लाट (दक्षिणी गुजरात) तथा मालवा के नरेशों की पराजय का वक्तव्य संभवतः यादव साम्राज्य के उत्तर में स्थित इन राज्यों की सेनाओं से हुई सीमांतीय मुठभेड़ों की ओर इंगित करता है। यह संभव प्रतीत नहीं होता कि जैतुगि के शासनकाल के दौरान यादव सेनाओं ने कभी भी इन प्रदेशों में से किसी में भी वहुत अंदर तक प्रवेश किया हो। वह होयसल तथा काकतीय मामलों में ही बहुत अधिक व्यस्त था। ऐबक के हाथों चालुक्य नरेश भीम की पराजय से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाकर, मालवा के परमार शासक सुभटवर्मन ने दक्षिणी गुजरात के राजा सिंह पर आक्रमण कर दिया। वह एक चालुक्य सामंत था। संभव है कि इस मामले में सुभटवर्मन की व्यस्तता से लाभ उठाकर जैतुगि के साम्राज्य की उत्तरी सीमा के रक्षक सेनापति सहदेव ने मालवा पर चढ़ाई की हो। मंगोली अभिलेख में जैतुगि के नाम से मालव, लाट तथा गुर्जर नरेशों को पराजित करने के दावे में केवल यही एक ऐतिहासिक तथ्य निहित प्रतीत होता है।

संकम, जैतुगि का मुख्य मंत्री (महाप्रधान) तथा सेनापति था।[28] उसे एक हज़ारी तर्दवदि की जागीर दी गई थी। संभवतः काकतीय अभियान की सफलता का श्रेय मुख्य रूप से उसी को था। राज्य में अब भी ऐसे अनेक सामंत थे, जिन्होंने नवीन साम्राज्यिक शक्ति के प्रति अपनी राज्यास्था हस्तांतरित नहीं की थी। किंतु खानदेश में सोइदेव तथा हेमाडिदेव नामक निकुम्भ बंधु, यादव नरेश के निष्ठावान सामंतों के रूप में राज्य कर रहे थे।

जैतुगि केवल सैनिक ही न था। उसे अध्ययन से वास्तविक प्रेम था तथा उसने विद्वानों को संरक्षण भी प्रदान किया। उसने प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को अपने दरबार के मुख्य पंडित के रूप में चुना। अपने पिता के समान ही लक्ष्मीधर ने भी विद्वान के रूप में विशिष्टता प्राप्त की।

निश्चित रूप से जैतुगि के शासनकाल का अंत बताना कठिन है। अब तक प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात उसकी अंतिम तिथि 1196 ई० है[29] तथा उसके उत्तराधिकारी सिंहण के एकमात्र अभिलेख से पता चलता है कि उसने 1197 ई० से ही शासन करना आरंभ कर दिया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था।[30] किंतु इस प्रश्न पर अभिलेखीय प्रमाण अत्यंत विवादग्रस्त है।[31] कुछ अभिलेखों में संकेत है कि 1200ई० उसके शासनकाल का प्रथम वर्ष था;[32] कुछ दूसरे अभिलेखों से 1207 ई० की संभावना प्रकट होती है,[33] तथा कुछ अन्य अभिलेख यह बताते हैं कि वह 1210 ई० में ही सिंहासनारूढ़ हुआ[34] इसमें संदेह नहीं कि जैतुगि 1197 ई० के बाद भी राज्य करता रहा, क्योंकि अन्यथा गणपति को पुनः शासनारूढ़ करने का श्रेय उसे नहीं दिया जा सकता, और यह निश्चय ही 1198 ई० से पहले नहीं हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि 1200 ई० के बाद सिंहण को उसके पिता ने युवराज के रूप में औपचारिक रूप से प्रशासन में सम्मिलित कर लिया था, और इसीलिए उसके कतिपय परवर्ती अभिलेख उसी तिथि से उसके शासनकाल की गणना करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रमाणों का संतुलित रूप यही दर्शाता है कि, जैतुगि 13 वीं शताब्दी के पूरे प्रथम दशक में भी राज्य करता रहा तथा उसका पुत्र 1210 ई० में ही राजा बना।[35]

सिंहण
(लगभग 1210 (?) से 1247 ई०)

सिंहण[36], जो लगभग 1210 ई० में अपने पिता का उत्तराधिकारी बना, निस्संदेह यादवों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली शासक था। उसने लगभग दस वर्षों तक युवराज के रूप में कार्य किया, जिसके दौरान उसे प्रशासन एवं सैनिक अभियानों के संबंध में मूल्यवान प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। उसने काकतीयों के विरुद्ध सफल अभियानों में सक्रिय भाग लिया था तथा अपने अनुभवों से रणकौशल के महत्वपूर्ण पाठ सीखे थे।[37] बल्लाल द्वारा उसके दादा की पराजय उसके मस्तिष्क को पीड़ित करती रहती थी तथा वह उसका बदला लेने के लिए अत्यंत उत्सुक था। वह उन सामंतों की शक्ति पर भी अंकुश लगाने के लिए उत्सुक था, जो सदा अधिराजिक शक्ति की कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिए तैयार रहते थे। वह योग्य शासक तथा चतुर सेनापति था। उसकी अभिलाषा थी कि वह यादव साम्राज्य को चालुक्यों के साम्राज्य जैसा विस्तृत बनाए। वह इस अभिलाषा को पूर्ण करने में सफल हुआ क्योंकि वह दीर्घायु था तथा उसमें योग्य अधिकारियों को चुनने की क्षमता एवं उन पर विश्वास करने की बुद्धिमता थी।

राज्यरोहण के पश्चात उसका प्रथम उद्देश्य सोरतुर की पराजय का बदला लेना था। युवराज के रूप में वह पहले ही यादव शक्ति के दक्षिणवर्ती विस्तार में भाग ले चुका था। वास्तव में यादव एवं होयसल साम्राज्यों के बीच कृष्णा मलप्रभा सीमारेखा का उल्लंघन 1206 ई० में ही हो चुका था, क्योंकि उसी वर्ष के एक अभिलेख से पता चलता है कि बीजापुर जिले के कुछ भाग को उस समय तक जीत लिया गया था तथा उसे केशवदेव नामक यादव सेनापति के अधिकार में दे दिया गया था।[38] 1210 ई० में सिंहण के राज्यारोहण के पश्चात होयसलों के विरुद्ध युद्ध को दुगुनी शक्ति तथा दृढ़ संकल्प से जारी किया गया। एक गदग अभिलेख यह दर्शाता है कि 1213 ई० में ही धारवाड़ जिले का अधिकांश भाग उसके आधिपत्य में था।[39] किंतु इससे भी एक वर्ष पहले उसकी सेनाएं और अधिक दक्षिण में घुस गई थीं तथा अनंतपुर, बेल्लरी, चितलदुर्ग एवं शिमोगा जिलों के अधिकांश भागों को पद दलित कर चुकी थीं। इन जिलों से प्राप्त अनेक यादव अभिलेखों से यह तथ्य स्पष्ट है।[40] अभियान का पर्यवेक्षण तथा निर्देशन स्वयं सिंहण ने ही किया था। 1215 ई० से रहले ही संपूर्ण बनवासी (मैसूर का शिमोगा जिला) को साम्राज्य में मिलाया जा चुका था तथा उसे सर्वाधिकरिन मयिदेव को दे दिया गया था, जो राजा का महान विश्वासपात्र था।[41] 1222 ई० में इस सेनापति का उत्तराधिकारी बंक रवत हुआ, जो सतारा जिले के कराड स्थान से आने वाला एक अधिकारी था।[42]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मद्रास प्रेसिडेंसी के अनंतपुर तथा बेल्लरी जिलों एवं मैसूर के चितलदुर्ग जिले को भी यादव आधिपत्य में ले लिया गया था तथा इस समय इनका प्रशासन या तो स्वयं राजा द्वारा नियुक्त अधिकारियों के हाथों में था या फिर यादव विजेता के प्रति हार्दिक राज्यास्था रखने वाले सामंतों के अधीन। इस संदर्भ में यह कहना उचित ही है कि लगभग संपूर्ण 13 वीं शताब्दी के दौरान, इस पूरे क्षेत्र पर यादवों का शासन बना रहा क्योंकि सभी परवर्ती यादवों के अनेक अभिलेख यहां से प्राप्त हुए हैं। यह स्पष्ट है कि बाद में आने वाले होयसल शासकों ने इस क्षति को स्वीकार कर लिया तथा इसको पुनः जीतने की चेष्टा नहीं की।

1215 ई० तक कर्नाटक अभियान का सफल अंत हो चुका था किंतु सिंहण अपनी सेनाओं को अधिक आराम नहीं दे सकता था। हम उसे 1216 ई० में कोल्हापुर के शिलाहार राजा भोज द्वितीय के विरुद्ध एक दुष्कर अभियान में व्यस्त पाते हैं, जिसने उसकी सेनाओं को लगभग दो वर्षों तक व्यस्त रखा। संघर्षरत शासकों की साम्राज्यिक अभिलाषा के कारण ही युद्ध हुआ था। भोज द्वितीय के पिता विजयादित्य ने राज्य निर्माता का काम किया था। उसी ने तैल तृतीय को उखाड़ने के लिए तथा कल्याणी का सिंहासन प्राप्त करने के लिए बिज्जल को सहायता दी थी। अतः जब भोज (1175-1215 ई०) ने चालुक्यों, कलचुरियों, यादवों तथा होयसलों को अंतहीन पारस्परिक संघर्ष में स्पष्ट रूप से व्यस्त पाया तो उसने स्वभावतः ही साम्राज्यिक उपाधियां धारण करने का निश्चय किया। 1187 ई० में उसे कलियुग का विक्रम कहा गया हैं।[43] तथा 1205 ई० में हम देखते हैं कि उसका आश्रित सोमदेव उसे परमभट्टारक राजाधिराज तथा पश्चिमचक्रवर्ती जैसी साम्राज्यिक उपाधियों से विभूषित कर रहा था।[44] यह स्पष्ट है कि होयसलों के हाथों यादवों की पराजय तथा बाद में आंध्रदेश में उनकी वचनबद्धता से भोज को विश्वास हो गया कि अपनी स्वतंत्रता स्यापित करने के लिए यह समय अत्यंत अनुकूल था। उसने यादवों का मुकाबला करने का निश्चय किया तथा 1210-15 ई० के दौरान, जब वे अपने कर्णाटक आक्रमण में व्यस्त थे, उसने पीछे से यादवों पर आक्रमण कर दिया। अतः अपने विजयी अभियान से लौटकर सिंहण ने इस कांटे को सदा के लिए निकालने का दृढ़ निश्चय किया तथा उसने शिलाहार राज्य पर आक्रमण कर दिया। भोज की पराजय हुई तथा वह अपनी राजधानी कोल्हापुर से भाग कर निकट के दुर्ग पर्नाल अथवा पन्हाला जा पहुंचा। सिंहण के लिए कहा गया है कि वह 'एक गरुड़ था' जिसने पर्नाल के दुर्ग में छिपे हुए शक्तिशाली राजा भोज रूपी सर्प को भागने पर बाध्य किया।[45] ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुर्ग अत्यंत दीर्घकालीन घेरे को सह नहीं सकता था तथा भोज को यह अंतिम गढ़ छोड़कर कहीं और शरण लेनी पड़ी।

इसके बाद भोज के भाग्य के संबंध में कुछ पता नहीं चलता। उसके संबंध में और अधिक कुछ भी सुनाई नहीं देता। वह इस समय तक पहले ही वृद्ध हो चुका था और ऐसा प्रतीत होता है कि वह रणक्षेत्र में ही अथवा युद्ध के तुरंत बाद ही दिल टूट जाने के कारण मर गया। गंडरादित्य नामक उसका एक पुत्र था, किंतु ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जो यह दर्शाए कि इस कुमार को सामंत के रूप में शासन करने दिया गया। इस तिथि के बाद हमें शिलाहार राजधानी कोल्हापुर से ही यादवों के अभिलेख मिलते हैं, जिनमें से प्राचीनतम अभिलेख 1218 ई० का है, जो सिंहण के एक अधिकारी तैलण द्वारा अंबबई के मंदिर के सामने एक द्वार के निर्माण का उल्लेख करता है।[46] अतः यह स्पष्ट हैं कि सिंहण कोल्हापुर को सामरिक महत्व का क्षेत्र मानता था तथा उसे अपने ही प्रशासन के अधीन रखना चाहता था। इसीलिए उसने शिलाहार राज्य का विलय करने का निश्चय किया। यह विलय 1217 ई० से कुछ पहले हो गया, क्योंकि दूर स्थित शिमोगा जिले से प्राप्त होने वाला उसी तिथि का एक यादव अभि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
लेख भी यह कहने में गर्व का अनुभव करता है कि पर्नाल दुर्ग के लिए वज्र के समान था ।[47] निश्चय ही दुर्ग की विजय हाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी तथा यह आवश्यक था कि कर्णाटक की नई प्रजा को इस संबंध में उचित और पर्याप्त सूचना दी जाए ।

एक ओर यादवों तथा दूसरी ओर परमारों एवं चालुक्यों के संबंध कभी भी बहुत मैत्री-पूर्ण न थे। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि भिल्लम पंचम ने 1185 ई० में इन दोनों के क्षेत्रों में आक्रमण किया था। आगामी 30 वर्षों के दौरान चालुक्य साम्राज्य धीरे-धीरे क्षीण होता गया, किंतु यादव इस स्थिति से लाभ उठाने में असमर्थ थे क्योंकि वे दक्षिण में हार चुके थे तथा बाद में वे उस सीमा पर अपने भाग्य को संभालने तथा स्थिति को सुधारने में व्यस्त थे । किंतु परमार नरेश सुभटवर्मन अब भी पिछली अर्ध शताब्दी में अपने राज्य पर हुए चालुक्यों के निर्मम आक्रमणों की स्मृतियां संजोए हुए था। 1194 ई० में कुत्ब-उद्दीन ऐबक द्वारा चालुक्य शक्ति के पतन के तुरंत बाद ही उसने गुजरात पर आक्रमण करने के लिए प्रयाण कर दिया । चालुक्य नरेश भीम, इस आक्रमण का सामना करने में असमर्थ था तथा उसे हार स्वीकार करनी पड़ी । बाद में, दक्षिणी गुजरात को भी गुर्जर साम्राज्य से छीन लिया गया तभा चाहमान प्रमुख सिंह को, जो वहां चालुक्यों के सामंत के रूप में राज्य कर रहा था अपनी राज्यावस्था सुभटवर्मन को हस्तांतरित करनी पड़ी। भड़ौच को आधार बनाकर सुभटवर्मन ने गुजरात पर आक्रमण किया तथा उसकी राजधानी को जीत लिया। किंतु उसकी विजय अल्पकालीन ही थी, क्योंकि शीघ्र ही भीम के मंत्री लवणप्रसाद ने उसे बाहर निकाल दिया था । फिर भी सुभटवर्मन के उत्तराधिकारी अर्जुनवर्मन (लगभग 1210-17 ई०) के शासन काल के दौरान भी परमार, लाट के राजा सिंह पर अपना अधिराजत्व बनाए रहे।

जब दक्षिण में अपनी महत्वपूर्ण सफलता से प्रफुल्ति होकर सिंहण ने उत्तर में अपना भाग्य आजमाने का निश्चय किया, तब मालवा एवं गुजरात की स्थिति ऐसी ही थी। नए परमार शासक अर्जुनवर्मन ने सर्वकला नामक होयसल राजकुमारी से विवाह किया था ।[48] जो संभवतः होयसल नरेश बल्लाल की पुत्री अथवा पौत्री थी। जब सिंहण, होयसल नरेश को निरंतर पराजित कर रहा था, तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, उसका परमार दामाद भी अपनी पत्नी के संबंधियों के दुर्भाग्य के प्रति निष्क्रिय दर्शक नहीं बना रहा होगा। उसने उत्तर की ओर से सिंहण पर आक्रमण किया होगा अथवा आक्रमण करने की तैयारी की होगी। अतः कर्णाटक एवं कोल्हापुर में अपनी व्यस्तता से कुछ खाली होते ही सिंहण ने 1215 ई० में मालवा के विरुद्ध जवाबी आक्रमण आरंभ कर दिया।

यह अभियान पर्याप्त सफल रहा । हेमाद्रि का कहना हैं कि अर्जुनवर्मन केवल पराजित ही नहीं हुआ अपितु, रणक्षेत्र में मारा भी गया—जब हम यह याद करते हैं कि इस शासक का शासनकाल अचानक ही 1216 अथवा 1217 ई० से पहले समाप्त हो गया था, तो हम इस वक्तव्य को भी स्वीकार कर सकते हैं ।[49] परमारों की पराजय के पश्चात लाट के राजा सिंह की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई। सिंहण और उसका कोई मुकाबला न था। अतः उसने अपने भूत-पूर्व अधिराज को ही अपनी राज्यास्था सौंप दी तथा चालुक्य नरेश भीम ने उसे अपने योग्य मंत्री लवणप्रसाद की सहायता प्रदान की। किंतु यह आश्चर्य की बात है कि इस संधि का उल्लेख करने वाला नाटक 'हम्मीरमदमर्दन' इसके बाद आने वाली घटनाओं के संबंध में मौन है ।[50] परंतु 'कीर्तिकौमुदी' के अनुसार लवणप्रसाद ने सिंहण को वापस लौटने पर बाध्य किया ।[51] किंतु यह निश्चित करना कठिन है कि यह वापसी 1215 ई० के अभियान से संबंधित है अथवा बाद के अन्य किसी आक्रमण से। संभवहै कि सिंहण अपनी मालवा विजय से ही संतुष्ट हो गया होगा तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब उसने यह जाना कि लाट के राजा ने गुर्जर नरेश से संधि कर ली थी, तो उसने उसी अभियान में लाट पर आक्रमण करने का संकट मोल लेना उचित नहीं समझा। कुछ भी हो, उसकी सेना 1218 ई० राजधानी की ओर लौट गई, क्योंकि हम देखते हैं कि सितंबर 1218 ई० की ही एक घोषणा में उसकी नवीन कर्णाटक प्रजा को मालवा एवं गुजरात विजयों से अवगत कराया गया है।[52] लाट एवं गुजरात के राजा, सिंहण की वापसी को कुछ औचित्य से अपनी ही सेनाओं की विजय के रूप में वर्णित कर सकते थे।[53] यद्यपि लाट की विजय की उसकी योजना विफल कर दी गई, फिर भी सिंहण अपने अभियान के कुल परिणामों से अत्यंत प्रसन्न होगा क्योंकि उसने परमारों की शक्ति को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया था तथा यह उपलब्धि गुजरात की विजय की आवश्यक भूमिका थी।

कर्नाटक एवं कोल्हापुर में अपनी सेनाओं के एक बार पुनः मुक्त हो जाने पर, सिंहण ने 1220 ई० में एक बड़ा तथा भली भांति सुसज्जित अभियान लाट के विरुद्ध भेजा। सिंहण के ब्राह्मण सेनापति खोलेश्वर को, जो पहले ही अनेक रणक्षेत्रों में विशिष्टता प्राप्त कर चुका था, यादव सेना का नेतृत्व करने के लिए चुना गया था। यह चुनाव अत्यंत उपयुक्त था क्योंकि सेनापति की जागीर भी खानदेश एवं बरार में थी। अतः वह उस संपूर्ण क्षेत्र के भूभाग से परिचित था जहां उसकी सेनाओं को क्रियाशील होना था। लाट अथवा दक्षिणी गुजरात पर अब भी चाहमान राजासिंह का शासन था। उसका राज्य छोटा सा था लेकिन वह अभी तक यादवों के आक्रमण को झेलने में समर्थ था क्योंकि उसे परमारों अथवा चालुक्यों की सहायता का भरोसा था। किंतु परमार शक्ति अब नष्ट हो चुकी थी तथा चालुक्य सिंहासन पर जयंतसिंह नामक अनभिजात ने बलपूर्वक अधिकार जमा लिया था। भीम एवं उसका मंत्री लवणप्रसाद दोनों ही इसी बलाद्ग्राही को उखाड़ने में व्यस्त थे, न कि सिंह को सहायता देने में। और फिर उनके प्रति सिंह की निष्ठा भी सदा नहीं रही थी, अतः खोलेश्वर ने आसानी से विजय प्राप्त कर ली और राजासिंह तथा उसका भाई सिंधुराज मारे गये। सिंधुराज का पुत्र संग्रामसिंह अथवा शंख बंदी बना लिया गया तथा भड़ौच की प्राचीर पर यादव पताका फहराने लगी।[54] 1228 ई० के खोलेश्वर के लंबे अभिलेख में भड़ौच के तट पर विजयी सेनापति द्वारा विजय स्तंभ की स्थापना का वर्णन है। किंतु सिंहण ने लाट को अपने साम्राज्य में विलयन करने का निश्चय किया। कुछ समय पश्चात उसने संग्रामसिंह को अपने कारागार से छोड़ दिया और उसे भड़ौच पर अपने सामंत के रूप में शासन करने दिया। सिंहण के इस द्वितीय अभियान को लगभग 1223 ई० में समाप्त हुआ मानना चाहिए।

लगभग इस समय चालुक्य एवं परमार—दोनों ही राज्य अत्यंत क्षीण हो गए थे। अतः संग्रामसिंह ने सिंहण के प्रति सतत रूप से निष्ठावान रहकर, उसकी सहायता से ही अपनी स्थिति को सुधारने का निश्चय किया। जब उसके पिता एवं चाचा यादवों के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त थे, तब वस्तुतः चालुक्य शासक लवणप्रसाद ने लाट साम्राज्य के कैंबे के महत्वपूर्ण बंदरगाह पर अधिकार करके उसे गुजरात में सम्मिलित कर लिया। 1219 ई० में वास्तुपाल को उसका राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया तथा उसके योग्य प्रशासन में शहर अत्यंत समृद्ध होने लगा। किंतु शीघ्र ही उत्तर की ओर से मारवाड़ के राजा ने गुजरात के लिए संकट उत्पन्न कर दिया तथा मुसलमानों ने भी अणहिलपट्टण पर आक्रमण करने के उद्देश्य से अपनी सेनाओं की अमांगलिक गतिविधियां आरंभ कर दीं। संग्रामसिंह ने अपने हित के लिए इस स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया तथा उसने वास्तुपाल को भड़ौच का समर्पण करने की अंतिम चेतावनी भेजी। वास्तुपाल के ऐसा करने से मना करने पर उसने शहर पर आक्रमण कर दिया, किंतु अपने इस प्रयास में वह बुरी तरह से असफल रहा। उसे पराजित एवं अपमानित होकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वापस लौटना पड़ा। इस घटना की निश्चित तिथि को निर्धारत करना कठिन है, किंतु यह घटना शायद 1225 ई० के आसपास घटित हुई थी।

संग्रामसिंह अपने सहायताविहीन प्रयासों से जो उपलब्ध न कर सका, वह उसने संधि द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की। उसने अपने अधिराज सिंहण को मालवा के नवीन राजा देवपाल के साथ संधि करने तथा गुजरात के लड़खड़ाते साम्राज्य पर संयुक्त आक्रमण करने के लिए प्रवृत्त किया। स्वयं उसने ही एक आक्रामक सेना का नेतृत्व संभाला। मुख्य यादव सेना का नेतृत्व खोलेश्वर के हाथों में था, जो पहले ही गुजरात अभियान में ख्याति प्राप्त कर चुका था।

आक्रामक मित्र सेना की प्रगति से गुजरात में जैसे आतंक का तूफान आ गया जिसका 'कीर्तिकौमुदी' के पंचम सर्ग में विस्तृत वर्णन है। राजधानी में अराजकता फैल गई, जनता ने गृह निर्माण तथा खेतों से अनाज संचय का कार्य बंद कर दिया। शहरों में लोग आपस में ही लड़ने लगे ताकि वे शत्रु सेनाओं के आगमन से पहले ही किसी भी प्रकार का वाहन प्राप्त कर देश से भाग जाएं। कवि का कहना है कि आपत्ति के समय में 'चक्रभूत' (अर्थाय विष्णु भगवान 'चक्र' धारण करने वाला। इसका अन्य अर्थ है 'चक्रों' से युक्त गाड़ी) ही लोगों का एकमात्र सहारा होता है। जनता का भयभीत होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि आक्रामक सेना अपने मार्ग में आने वाले ग्रामों को जलाती जा रही थी तथा रात में उसकी लपटें आकाश को छूती दृष्टिगोचर होती थीं।

विभिन्न लेखकों के विवरणों में ऐतिहासिक जानकारी की अपेक्षा काव्यात्मक भावना का पुट अधिक स्पष्ट है। परिस्थिति के जो विभिन्न वर्णन इन लोगों ने प्रस्तुत किए हैं उनसे इस आक्रमण की प्रगति को निश्चित रूप से पुनर्गठित करना अत्यंत कठिन हो गया है। हमारे किसी भी लेखक ने घटनाओं के अपने वर्णन में कोई भी तिथि प्रस्तुत नहीं की है। इससे इतिहासकार की दिक्कतें और बढ़ती जाती हैं। किंतु यह संभव है कि 'कीर्तिकौमुदी' में वर्णित जन व्याकुलता, 'हम्मीरमदमर्दन' के पृष्ठ 5 और 17 में वर्णित संधि के समय फैली होगी। यदि यही तथ्य है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि लवणप्रसाद ने अंततः अपनी एक चतुर चाल से स्थिति को संभाल लिया। उसके एक गुप्तचर ने मालवा नरेश देवपाल के शिविर में नौकरी प्राप्त कर ली तथा वह मालिक के नाम से अंकित उसके सर्वोत्तम घोड़े को चुराने में सफल हो गया। एक अन्य गुप्तचर ने इसे देवपाल की ओर से उपहार बताकर संग्रामसिंह को दे दिया। कालांतर में यह योजना बनाई गई कि सिंहण के हाथों एक ऐसा जाली पत्र पहुंचे, जो देवपाल की ओर से संग्रामसिंह को दिए गए गुप्त संदेश से युक्त हो! इस पत्र ने घोड़े की भेंट का उल्लेख किया, संग्रामसिंह को आश्वासन दिया कि गुजरात में प्रवेश करते ही देवपाल सिंहण पर पीछे से आक्रमण कर देगा तथा संग्राम को इस बात के लिए उकसाया कि वह इस अवसर का लाभ उठाकर सिंहण का सिर काट दे और दकन नरेश द्वारा अपने पिता की मृत्यु का बदला ले। पत्र का प्रभाव वही हुआ जो अपेक्षित था तथा सिंहण को विश्वास हो गया कि उसके तथाकथित मित्र केवल उसका पतन करने का षडयंत्र रच रहे थे। लवणप्रसाद पर उत्तर की ओर से एक शक्तिशाली संगठन का संकट बना हुआ था तथा उसने सिंहण को संधि का संदेश भेजा। सिंहण ने इसका स्वागत किया। 'कीर्तिकौमुदी' (iv : 63) के उस वक्तव्य को अधिक गंभीरता से नहीं लेना चाहिए, जिसमें यह कहा गया है कि, यद्यपि लवणप्रसाद ने अपने उत्तरी शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेनाएं हटा ली थीं, फिर भी सिंहण गुजरात में और अंदर घुसने की हिम्मत नहीं कर सकता था, क्योंकि 'सिंह द्वारा पददलित मार्ग पर चलने में मृग को डर लगता है।' यदि यादव आक्रमण ने वास्तव में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
काव्य में वर्णित व्याकुलता को जन्म दिया था, तो यह असंभव ही लगता है कि सिंहण अपने मित्रों के प्रति संदिग्ध होने के बाद भी इतनी तत्परता से पीछे हट गया होगा। शत्रुता की समाप्ति के समझौते के बाद ही सेनाओं की वापसी हुई होगी। इस अनुमान की पुष्टि लवणप्रसाद एवं सिंहण के बीच हुई उस मैत्रीसंधि से भी होती है, जिसका उल्लेख 'लेखापधति' (पृ० 52) के लेखक ने ऐसी संधियों के उदाहरण के रूप में किया है। निश्चय ही स्पष्ट कारणों से उदाहरण स्वरूप उल्लिखित संधि को किसी ऐतिहासिक दस्तावेज की सही प्रतिलिपि नहीं मान सकते, किंतु इसमें संदेह नहीं कि, इस ग्रंथ के लेखक ने 1232 ई० से कुछ समय पूर्व लवणप्रसाद और सिंहण के बीच हुई लगभग ऐसी ही संधि के बारे में अवश्य सुना होगा। अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि 'लेखापधति' के प्रारूप से मिलती हुई पारस्परिक अनाक्रमण एवं सहायतासंधि द्वारा लगभग 1231 ई० में सिंहण और लवणप्रसाद का संघर्ष समाप्त हो गया। यह नहीं सोचना चाहिए कि इस प्रयास से सिंहण को कोई लाभ नहीं हुआ। उसे लूट का काफी माल मिला होगा। इसके अतिरिक्त दक्षिणी गुजरात पर उसके संरक्षण की पुष्टि हुई तथा वह और अधिक सुरक्षित हो गया।

आगामी कुछ वर्षों में यादव सेनाएं साम्राज्य के निकट ही व्यस्त रहीं। बंवई राज्य का वेलगांव जिला अनेक शताब्दियों से रट्टों का क्षेत्र था। उसके शासकों की यह आदत थी कि वे ऐसी किसी भी साम्राज्यिक शक्ति को अपनी राज्यास्था दे देते थे, जो कुछ समय के लिए दकन में अपनी प्रभुसत्ता को स्थापित करने में समर्थ होती थी। लक्ष्मीदेव द्वितीय इस वंश का अंतिम शासक था। 1228 ई० उसकी अंतिम ज्ञात तिथि है। इस तिथि के शीघ्र बाद ही, इस रट्ट शासक ने सिंहण की कृपादृष्टि खो दी तथा कुछ अज्ञात कारणों से उसपर संदेह किया जाने लगा। यादवनरेश ने अपने दक्षिणी उपराज तथा विश्वसनीय सेनापति बीचण को रट्ट प्रदेश के विरुद्ध कूच करने का आदेश दिया। वह छोटा सा प्रदेश, आक्रामक शक्ति के सामने कुछ भी न था तथा 1228 और 1238 ई० के बीच किसी समय थोड़ा सा विरोध करके ही उसने आक्रामक के सामने घुटने टेक दिए। सिंहण ने इस प्रदेश का विलय करने का निश्चय किया तथा उसका शासनभार, उसके विजेता बीचण को सौंप दिया, जिसे बाद में सामंत का स्तर भी प्रदान कर दिया गया।

साम्राज्य के दक्षिणी प्रांतों में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने में अपनी सफलता के कारण सेनापति बीचण सिंहण के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। वहां पर अनेक छोटे छोटे शासक थे, जैसे धारवाड़ के गुत्त तथा हंगल एवं गोआ के कदंब, जो अर्ध स्वतंत्र सामंत थे तथा कभी होयसलों को और कभी यादवों को अपनी राज्यास्था का पात्र मानते थे। किंतु वे सदा उचित अवसर पर अपने लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का ध्येय बनाए रहते थे। असहयोग के थोड़े से चिह्न मिलते ही, प्रत्येक को तुरंत दंडित कर, बीचण ने सभी पर साम्राज्यिक शक्ति के दबाव को बनाए रखा। यादवों और इन छोटे राज्यों के राजाओं के बीच इस काल में हुए छिट-पुट संघर्षों के विवरणों के बारे में अधिक लिखना अनावश्यक है।[56]

हम अब आसानी से काकतीयों से सिंहण के संबंधों का उल्लेख कर सकते हैं। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि किस प्रकार सिंहण के पिता जैतुगि ने काकतीय शक्ति को पूर्णरूपेण नष्ट कर दिया था। उसने साम्राज्य के विलय की योजना बनाई थी, किंतु जब उसने इस उद्देश्य की प्राप्ति को असंभव पाया, तो उसने काकतीय कुमार गणपति को अपने कारागार से छोड़ दिया और उसे अपने सामंत के रूप में शासन करने की अनुमति दे दी। गणपति 60 वर्ष के दीर्घकाल तक शासन का सुख भोगता रहा और इसके पूर्वार्द्ध में वह अपने अधिराज के प्रति निष्ठावान भी बना रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सिंहण के उत्तरी अभियान में भी भाग लिया, क्योंकि 1228 ई० के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उसके एक अभिलेख में उसके द्वारा लाटों की पराजय का उल्लेख है।[57] इस दावे की व्याख्या केवल यही मानकर की जा सकती है कि वह अनेक गुजरात अभियानों में से एक में यादव सेनाओं के साथ गया था। उपर्युक्त अभिलेख में गणपति साधारण उपाधियां धारण करके ही संतुष्ट हो जाता है, किंतु अपने शासन के परवर्ती काल में वह अपने साम्राज्य का पर्याप्त दक्षिण-वर्ती विस्तार करने में सफल हुआ तथा अपनी स्वतंत्र स्थिति के लिए स्वयं को शील समझने लगा। परिणामस्वरूप, दो पड़ोसी राज्यों में कभी कभी संघर्ष भी हो जाता था।[58] किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी पक्ष मामले को सशस्त्र संघर्ष की स्थिति तक पहुंचाने के लिए उत्सुक न था। सिंहण वृद्ध होता जा रहा था तथा किसी भी नवीन जोखिम को उठाने के लिए दिनोंदिन अनुत्सुक हो रहा था। इसका एक विशेष कारण उसका गुजरात अभियानों में निरंतर व्यस्त रहना भी था। गणपति भी देवगिरी में अपने कारावास को भूला न था। अतः सिंहण के शासन-काल के दौरान काकतीयों तथा यादवों के मध्य कोई और महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ।

लगभग 1239 ई० में सिंहण ने गुजरात को जीतने का एक अन्य प्रयास किया, जो संभवतः उसका चौथा प्रयास था। उस प्रदेश के अंतिम आक्रमण के बाद केआठ वर्षों के मध्यांतर के दौरान उत्तर में अनेक परिवर्तन हो चुके थे। उसका विश्वसनीय सेनापति खोलेश्वर मर चुका था जिसका स्थान उसके पुत्र राम ने ले लिया था। लवण प्रसाद और उसका पुत्र वीरधवल भी मर चुके थे। वीरधवल का पुत्र वीसलदेव ही गुजरात का ताथ्यिक गवर्नर बन गया था। खोलेश्वर का युवा एवं उद्यमी पुत्र राम, अपने पिता के उदाहरण का अनुसरण करने के लिए उत्सुक था। उसका अनुमान था कि वह वीसलदेव को सुगमता से उखाड़ सकता था, क्योंकि वह हाल ही में सिंहासनारूढ़ हुआ था। अतः उसने सिंहण को नवीन अभियान ले जाने का परामर्श दिया। इस परामर्श को क्रियान्वित किया गया तथा इस नवीन प्रयास का नेतृत्व राम को ही सौंपा गया।

लाट का शासक यादवों का ही निष्ठावान सामंत था, अतः राम बिना किसी विरोध के ही नर्मदा तक बढ़ गया। किंतु वहां पर उनका सामना वीसलदेव से हुआ, जो अपनी संपूर्ण सेना से सुसज्जित था तथा उस नदी को पार करने का विरोध करने के लिए तैयार था। घाट पर ही घमासान युद्ध हुआ तथा यादवों के वर्णन के अनुसार, राम ने वहां दैविक शौर्य का प्रदर्शन किया और उसके सैनिकों ने शत्रु की सेना में तबाही मचा दी। किंतु यह भी स्वीकार किया गया है कि उसने इस संघर्ष में अपने प्राण खो दिए और वास्तव में उसकी सेना के लिए किसी विजय का दावा नहीं किया गया है।[59] दूसरी ओर गुजरात के एक अभिलेख में वीसलदेव को सिंहण की सेनारूपी समुद्र के नीचे जलने वाली वड़वानल के रूप में वर्णित किया गया है।[60] अतः हम अधिकाधिक यही मान सकते हैं कि यह युद्ध अनिर्णीत रहा। युद्ध में अपने सेनापति की मृत्यु के पश्चात यादव सेनाओं ने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया होगा और हमें ज्ञात है कि अंततः सिंहण ने नर्मदा से अपनी सेनाएं हटा ली थीं।

यादवों और गुर्जरों के बीच होने वाले दीर्घकालीन संघर्ष को, जो 20 वर्षों से अधिक समय तक चलता रहा, दर्दनाक ही कहा जाएगा। इस संघर्ष से किसी भी पक्ष को लाभ नहीं हुआ तथा दोनों ही और अधिक क्षीण हुए। यह निश्चय ही खेद की बात है कि सिंहण तत्का-लीन उत्तरी एवं मध्य भारत की राजनीतिक स्थिति के प्रति दूरदर्शितापूर्ण तथा राजनीतिज्ञो-चित दृष्टिकोण नहीं ले सका। मुसलमानों ने हाल ही में गाहड़वालों को उखाड़ दिया था, आधे से अधिक मालवा पर काबू पा लिया था तथा अब वे अणहिलपट्टण के द्वार पर पहुंच गए थे। नवीन आक्रामक का सामना करने के शौर्यपूर्ण तथा निराशोन्मत्त प्रयास करने वाले गुर्जरों एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परमारों का साथ देने के स्थान पर, सिंहण निरंतर उनकी पीठ में छुरा भोंकने की चेष्टा कर रहा था। दकन में संघर्षरत दलों की वंशानुगत शत्रुता ने, उन्हें सामान्य खतरे के प्रति अंधा बना दिया। इस संबंध में सर्वाधिक उत्तरदायित्व सिंहण पर ही है, क्योंकि अपने समकालीन शासकों में वह ही सबसे अधिक शक्तिशाली तथा अनुभवी था तथा उसे ही उन सब को उत्तरी संकट के विरुद्ध, दकन में संयुक्त मोर्चे के संगठन की बुद्धिमत्ता का निर्देश देना चाहिए था। उसकी मृत्यु के पश्चात अर्ध शताब्दी से कम समय में ही, उसके वंशधरों को दूरदर्शिता की इस कमी का भारी मूल्य चुकाना पड़ा।

हेमाद्रि ने दावा किया है कि सिंहण ने राजा जाजल्ल के हाथियों के एक दस्ते को पराजित किया तथा राजा कक्कुल को उसकी प्रभुसत्ता से विहीन कर दिया। 1206 ई० के एक पाटन अभिलेख[61] में इस बात का उल्लेख है कि मथुरा एवं बनारस के राजाओं ने यादव शक्ति का लोहा मान लिया था तथा सिंहण के छोटे से सेनापति ने ही मुसलमान शासक को हरा दिया था। पर्याप्त पुष्ट प्रमाणों की अनुपस्थिति में, इनमें से अधिकांश दावों को निराधार ही कहा जाएगा। राजा जाजल्ल निश्चय ही छत्तीसगढ़ का शासक होगा, किंतु उस प्रांत में उस नाम का कोई भी कुमार सिंहण का समकालीन न था। उस नाम का अंतिम ज्ञात शासक जाजल्ल द्वितीय 1170 ई० में ही मर गया था। प्रत्यक्षत:, कक्कुल तो त्रिपुरि का राजा प्रतीत होता है, किंतु उस नाम का अंतिम राजा सिंहण के सिंहासनारोहण से 200 वर्ष पहले हुआ था।[62] यह तथ्य भी संदिग्ध है कि सिंहण के शासनकाल के दौरान मथुरा और काशी में हिंदू शासक राज्य कर रहे थे। अंबे अभिलेख में कहा गया है कि सिंहण द्वारा पराजित काशी के राजा का नाम रामपाल था, किंतु ऐतिहासिक शोध से अब तक 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनारस में राज्य करनेवाले इस नाम के किसी भी शासक का पता नही चला है।[63] यह असंभव नहीं कि रामपाल का नाम बनारस से इसलिए जोड़ा गया होगा कि सिंहण के कवि इतिहासज्ञों को इस बात का धुंधला सा आभास होगा कि किसी समय बनारस रामपाल के शासनाधीन था, जैसे छत्तीसगढ़ और जबलपुर पर क्रमश: जाजल्ल एवं कोक्कल्ल का आधिपत्य था। सिंहण के महत्वहीन सेनापति द्वारा पराजित तथाकथित मुसलमान शासक का विशेष नाम नहीं दिया गया है। संभवत: अभिलेख सीमांतीय मुठभेड़ों का उल्लेख कर रहा था, जो उस समय हुई होंगी जबकि सिंहण की सेनाओं ने मालवा और गुजरात में डेरे डाले थे। यह भी संभव है कि जब मुसलमानों ने मथुरा और बनारस पर अधिकार कर लिया, तब वहां के भूतपूर्व शाही हिंदूवंशी शासकों ने मध्य भारत एवं मध्य प्रदेश में शरण ली होगी और वहीं पर अपने लिए राज्य बना लिया होगा। जैसे धारवाड़ के गुत्त स्वयं को उज्जयिनी अथवा पाटलीपुत्र का स्वामी बताते थे अथवा जैसे यादव पहले कभी द्वारवती में शासन करने का दावा करते थे, हालांकि वास्तव में कभी भी इन शहरों पर उनका अधिकार नहीं रहा था। ठीक उसी प्रकार बनारस और मथुरा से आए हुए शाही परिवारों के प्रवासी वंशजों ने, जिन्होंने संभवत: मध्य भारत में अपने लिए छोटे राज्य बना लिए थे, स्वयं को मथुरा और बनारस का स्वामी कहा होगा, हालांकि ये नगर अब उनके वंशों के अधिकारों में न थे। इसी प्रकार जबलपुर और तुम्माण के स्थानीय शासक भी अपने समकालीन शासकों को कोक्कल्ल एवं जाजल्ल के नामों से ज्ञात होंगे। यह स्वाभाविक ही है कि, चूंकि सिंहण के साम्राज्य की सीमाएं छत्तीसगढ़ एवं जबलपुर क्षेत्र को छूती थीं, अत: कभी कभी इन क्षेत्रों के शासकों से उसकी मुठभेड़ हो जाती होगी और वह उनके राज्यों में घुस जाता होगा। इस प्रकार का सुझाव, छत्तीसगढ़ से प्राप्त सिंहण के कुछ सिक्कों से भी मिलता है।[64] संभवत: जब हेमाद्रि, सिंहण द्वारा कोक्कल्ल एवं जाजल्ल राजाओं की पराजय का उल्लेख करता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
है, तो उसके मस्तिष्क में यही सामंतीय मुठभेड़ें रही होंगी।

कुछ यादव अभिलेखों का दावा है कि स्वयं सिंहण ने अथवा उसके सेनापतियों खोलेश्वर, राम अथवा बीचण ने सिंध, पंचाल (रोहिलखंड), बंगाल, बिहार (अंग और वंग), केरल तथा पांड्य के राजाओं को पराजित किया था। ये सभी दावे संभवतः काल्पनिक हैं, क्योंकि यादवों के प्रदेश के बाहर ऐसा कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, जिनसे यह सिद्ध होता हो कि यादव सेनाओं ने कभी भी इन दूरस्थ प्रदेशों में प्रवेश किया था।

इस संदर्भ में सिंहण के शासनकाल को महत्वपूर्ण गरिमा प्रदान करने वाले दो सेनापतियों का संक्षिप्त जीवनचरित प्रस्तुत करना अनुचित न होगा। यह आश्चर्य की बात है कि उनमें से एक, अर्थात खोलेश्वर ब्राह्मण था तथा दूसरा, अर्थात बीचण वैश्य था। खोलेश्वर खानदेश का निवासी था और अंततः वह खानदेश, बरार एवं मध्य प्रदेश के कुछ भागों से युक्त, यादव साम्राज्य के एक विस्तृत भाग का गवर्नर बन गया। यह भी मनोरंजक तथ्य है कि खोलेश्वर का पिता त्रिविक्रम एक पवित्र ब्राह्मण था, जो अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध था तथा अपने 'अग्रहार' का आभूषण माना जाता था। किंतु उसके पुत्र खोलेश्वर ने खडग के लिए स्रुक (यज्ञीय कलछी) का त्याग कर दिया और अंत में वह उस युग का महानतम सेनापति सिद्ध हुआ। उसने संभवतः अपने जीवन का आरंभ, मंभागिरि में शासन करनेवाले लक्ष्मीदेव नामक स्थानीय अमीर प्रमुख को दबाने में सिंहण की सहायता करके किया था। मंभागिरि संभवतः पश्चिमी खानदेश का भामेर ही है, जहां अब भी एक ध्वस्त दुर्ग स्थित है।[65] उसी क्षेत्र के हेमाद्रि नामक एक अन्य स्थानीय प्रमुख को उखाड़ना तथा मध्य प्रदेश में चंदा के तुच्छ राजा भोज को हराना उसकी अगली उपलब्धियां थीं। उसने होयसलों के विरुद्ध अभियान में भी ख्याति पाई तथा दक्षिणी मराठ प्रदेश में तोर्गल के दुर्ग को जीतने में अपने स्वामी की सहायता की। किंतु उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विजयें मालवा और लाट अभियानों के दौरान प्राप्त की गई थीं, जिनका वर्णन पहले ही ऊपर किया जा चुका है। खोलेश्वर के पुत्र राम ने भी अपने पिता के ही सैनिक जीवन को अपनाया और वह अंत में उस युद्ध में मारा गया, जिसका उद्देश्य गुजरात का विलय करना था। यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि खोलेश्वर ने स्वयं पुरोहित जीविका त्याग दी थी, फिर भी उसका अनुसरण करने वालों के लिए उसके दिल में अब भी जगह थी। उसने स्वयं अनेक नवीन अग्रहार ग्रामों का दान दिया तथा वहां पर विद्वान ब्राह्मणों के उपनिवेश बसाए।

1223 ई० में जगदल पुरुषोत्तमदेव, दक्षिण में सिंहण का उपराजा था तथा उसे ही उसके प्रशासन का संपूर्ण भार सौंपा गया था। लगभग 1230 ई० में चिक्कदेव का पुत्र बीचण उसका उत्तराधिकारी हुआ, जो बाद में सिंहण के सर्वाधिक प्रसिद्ध सेनापतियों में से एक हुआ। वह वैश्य जाति का था। उसे विध्वंस में यम और राजनीतिक बुद्धिमत्ता में नवीन चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त के रूप में वर्णित किया गया है। उसका स्वामी उस पर उतना ही विश्वास करता था जितना स्वयं अपने हृदय पर। उसने होयसलों के विरुद्ध युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया। उसके एक अभिलेख में कहा गया है कि उसने कावेरी नदी के तट पर एक विजय स्तंभ स्थापित किया।[66] उसकी महत्वपूर्ण सेवाओं को मान्यता प्रदान करने के लिए उसे कर्णाटक का उपराजा नियुक्त किया गया तथा वहां पर उसने सामंतों को दबाने और शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने में अपने अधिस्वामी की बड़ी सहायता की।

ऊपर दिए गए युद्धों एवं विजयों के विस्तृत वर्णन से पाठक को यह आभास हो सकता है कि सिंहण एक योद्धा के अतिरिक्त कुछ न था, किंतु तथ्य यह नहीं है। वह संगीत का प्रशंसक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
और साहित्य को संरक्षण प्रदान करने वाला एक सुसंस्कृत शासक था। सारंगदेव कृत 'संगीत-रत्नाकर' की रचना उसी के दरबार में हुई थी। संगीत के संबंध में यह एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें दक्षिण एवं उत्तर भारत के संगीत का विस्तृत परिचय मिलता है। संगीतविद्या के इतिहास में यह कृति एक मानदंड की स्थापना करती है। स्वयं सिंहण इस कृति पर टीका लिखने के लिए प्रसिद्ध है।[67] हमारे पास यह जानने के लिए साधन नहीं कि वस्तुतः उसने टीका स्वयं लिखी थी या उसके किसी दरबारी ने उसे रचकर अपने शाही संरक्षक की कृति के रूप में प्रस्तुत किया।

छंगदेव तथा अनंतदेव इस युग के दो प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और दोनों ही सिंहण के दरबार के सदस्य थे। उदार शाही संरक्षण के कारण छंगदेव ने अपने प्रसिद्ध पितामह भास्करा-चार्य की स्मृति में खानदेश में पाटण के स्थान पर एक ज्योतिष महाविद्यालय की स्थापना की। अनंतदेव ने ब्रह्मदेव कृत 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' के एक अध्याय तथा वराहमिहिर के ग्रंथ 'बृहज्जा-तक' पर टीकाएं लिखीं।

सिंहण के शासनकाल में यादव साम्राज्य अपने यश और शक्ति की चरम सीमा पर था। दकन में उसकी प्रभुसत्ता को चुनौती देने का साहस न तो होयसलों में था न काकतीयों में, न परमारों में था और न चौलुक्यों में। इनमें से प्रत्येक शक्ति पर सिंहण ने एक एक करके आक्रमण किया और उसे पराजित किया। होयसलों को बंबई, कर्णाटक तथा मैसूर राज्य के उत्तरी भाग समर्पित करने पड़े। चौलुक्यों को लाट अर्थात दक्षिण गुजरात का त्याग करना पड़ा तथा काफी दिनों के लिए नर्मदा नदी ही साम्राज्य की उत्तरी सीमा बनी रही। उसकी निश्चित सीमा निर्धारित करना कठिन है, किंतु यह कहना गलत न होगा कि भड़ौंच और नागपुर को मिलाने-वाली रेखा के दक्षिण के सभी क्षेत्र तथा गिरसोप्प को कुर्नूल से मिलानेवाली रेखा के उत्तरी क्षेत्र उसमें सम्मिलित थे। इसमें संदेह नहीं कि इस विस्तृत राज्य के एक बड़े भाग पर वास्तव में सामंतों का शासन था, किंतु वे सभी अधिराजिक शक्ति के प्रति निष्ठावान थे और उससे डर कर रहते थे। इनमें से कुछ, जैसे कोल्हापुर के शिलाहार और सौंदत्ति के रट्ट को, उनके असह-योग के कारण तुरंत दंडित किया गया था तथा उनके प्रदेशों को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था।

किंतु यह स्वीकार्य होना चाहिए कि सिंहण ने दकनी शक्ति की पारंपरिक नीति का अनुसरण किया। यह नीति उत्तर और दक्षिण के पड़ोसियों को समाप्त कर निरंतर अपनी शक्ति का विस्तार करने की थी। वह उत्तरी भारत की घटनाओं से अधिक विचलित हुआ प्रतीत नहीं होता। यहां तक कि जब मालवा और गुजरात भी धीरे धीरे शक्तिशाली इस्लाम सेनाओं के आक्रमणों के दबाव में नष्ट होते जा रहे थे, तब भी सिंहण अपने वंश के संकुचित हितों से ऊपर उठकर उनकी सहायता करने के लिए नहीं गया। उत्तरी आक्रामकों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चे का संगठन करने के स्थान पर, उसने पीछे से गुजरात एवं मालवा पर आक्रमण किया और इस्लाम की सेनाओं के विरुद्ध उनके पतन को तीव्रतर कर दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात 50 वर्ष से कम समय में ही उसके वंशजों को इस महान राजनीतिक भूल की भारी कीमत चुकानी पड़ी।

सिंहण का एक पुत्र जैतुगि था,[68] जो उससे पहले ही मर गया था। हमें इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि सिंहण ने 37 वर्ष राज्य किया, तथा 1246 ई० में अपनी मृत्यु के समय वह लगभग 70 वर्ष का रहा होगा। हमें यह ज्ञात नहीं कि जैतुगि के अन्य भाई थे या नहीं। सिंहण की मृत्यु के पश्चात उसके सबसे बड़े पौत्र कृष्ण को ताज सौंपा गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौभाग्यवश, सिंहण के सिंहासनारोहण के समान उसकी मृत्यु की तिथि भी असंदिग्ध है। उसके उत्तराधिकारी के दो अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसका निधन लगभग 1246 ई० के अंत, संभवतः उस वर्ष के नवंबर अथवा दिसंबर मास में हुआ।[69]

कृष्ण
(1246-60 ई०)

हम ऊपर देख चुके हैं कि कृष्ण का राज्यारोहण नवंबर अथवा दिसंबर 1246 ई० में हुआ। चूंकि नवीन राजा अपने दादा के पश्चात सिंहासनारूढ़ हुआ था, अतः वह अपने सिंहासनारोहण के समय संभवतः 30 वर्ष से अधिक उम्र का न था। अनेक कन्नड़ अभिलेखों में उसका नाम अपने प्राकृत रूप में मिलता है, यथा कण्ह, कंहर अथवा कंधर।

यादवों, चालुक्यों एवं परमारों के बीच होने वाला अंतहीन वंशीय संघर्ष, जिसने किसी भी पक्ष को स्थाई रूप से लाभ नहीं पहुंचाया और अंततः सभी को कमजोर किया, इस नवीन शासनकाल के दौरान भी अविरल रूप से जारी रहा। लगभग 1239 ई० में नर्मदा नदी के तट पर हुए युद्ध में अपने सेनापति राम की मृत्यु हो जाने के पश्चात, सिंहण ने अपने उत्तरी पड़ोसियों के मामलों में सक्रिय हस्तक्षेप बंद कर दिया। वह वृद्ध होता जा रहा था तथा संभवतः युद्ध के जीवन से थक गया था। किंतु उसका पोता उत्साही युवक था, जो रणक्षेत्र में नवीन विजय प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। उसने उत्तर में सैनिक अभियान भेजने का निश्चय किया। निस्संदेह परिस्थितियां ऐसे प्रयास के अनुकूल थीं, क्योंकि पिछले दो दशकों में परमार शक्ति अत्यंत क्षीण हो चुकी थी। 1235 ई० में इल्तुतमिश द्वारा भिलसा और उज्जयिनी की विजय तथा वहां के प्रसिद्ध मंदिरों के विनाश ने परमारशक्ति की प्रतिष्ठा को गंभीर आघात पहुंचाया था। 1240 ई० में आने वाले देवपाल के उत्तराधिकारी, जैतुगिदेव के पास स्थिति को सुधारने के लिए न तो साधन थे और न ही योग्यता। अपने राज्यारोहण के तुरंत बाद कृष्ण ने मालवा पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अनेक यादव अभिलेखों[70] में दावा किया गया है कि मालवनरेश रूपी मदन के लिए वह वास्तविक शिव था। किंतु इस उपमा में निहित अर्थ के आधार पर यह कहना कि जैतुगिदेव वास्तव में इस अवसर पर युद्ध में मर गया था, संदेहपूर्ण है। वह केवल पराजित ही हुआ होगा। परमारों के विरुद्ध कृष्ण की विजय का उल्लेख 1250 ई० के आरंभिक यादव अभिलेखों में भी मिलता है। अतः मालवा का यह आक्रमण स्पष्ट रूप से नवीन राजा का पहला सैनिक प्रयास था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके परिणामस्वरूप किसी क्षेत्र का विलय नहीं किया गया था।

परमारों को हराने के पश्चात कृष्ण ने गुजरात पर आक्रमण करने का प्रयास किया, जहां वीरधवल का पुत्र वीसलदेव शासन कर रहा था। यों दोनों वंशों के बीच पुराना झगड़ा था, किंतु होयसल राजकुमारी से वीसलदेव का विवाह कृष्ण के आक्रमण का अतिरिक्त कारण था।[71] हेमाद्रि की प्रशस्ति और पैठन ताम्रपत्रों में दावा किया गया है कि कृष्ण ने वीसलदेव को पराजित किया;[72] यद्यपि वीसलदेव के लेखों के अनुसार उसने ही यादव शासक को हराया था।[73] ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण का आक्रमण काफी तगड़ा नहीं था। केवल कुछ अनिर्णीत सीमांतीय मुठभेड़ें हुईं; जिनमें कभी कृष्ण का तो कभी वीसलदेव का पलड़ा भारी रहा। इनमें से किसी भी मुठभेड़ के परिणामस्वरूप कोई महत्वपूर्ण क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं हुआ।

कृष्ण के लघु शासनकाल में अन्य कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं हुई। 1252 ई० में अपने राज्यारोहण के तुरंत बाद ही जटावर्मन सुंदर पांड्य ने काकतीय साम्राज्य पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
आक्रमण कर दिया और वह नेल्लोर तक अंदर घुस गया।[74] कृष्ण के सेनापति बीचण ने भी 1253 ई० से कुछ पूर्व पांड्यों को हराने का दावा किया है[75]। ऐसा प्रतीत होता है कि काकतीय शासक गणपति ने, जो कई वर्षों से यादवों का सामंत था, कृष्ण से सहायता की याचना की। दक्षिण के तत्कालीन उपराजा बीचण को गणपति की याचना पर ही भेजा गया होगा, तथा कुछ हद तक ऐसा चौकसी के लिए भी किया गया होगा, ताकि आक्रामक और अंदर तक घुसने तथा स्वयं यादव प्रदेश का उल्लंघन करने का प्रयत्न न करे। कृष्ण के एक अन्य सेनापति चामुंड ने, 1250 ई० से कुछ पूर्व होयसल नरेश सोमेश्वर का अहंभंग करने का दावा किया है। यह उल्लेख संभवतः वर्तमान अथवा पिछले शासनकाल के दौरान हुई किसी सीमांत मुठभेड़ के संबंध में है। कृष्ण के मुनोलि अभिलेख में कहा गया है कि उसने चोलों को भी पराजित किया था, किंतु हमें इस दावे को बहुत महत्व नहीं देना चाहिए।[76] एक अन्य अभिलेख में कृष्ण द्वारा त्रिपुरि पर किया गया आधिपत्य संबंधी वक्तव्य सत्य हो सकता है;[77] उस समय प्राचीन हैहय साम्राज्य लगभग स्वामीहीन था तथा कृष्ण अथवा उसके किसी सेनापति ने कुछ समय के लिए उसकी राजधानी पर अपना आधिपत्य जमा लिया था।

अपने लघु शासनकाल के दौरान, कृष्ण ने अपने दादा से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित बनाए रखने में सफलता प्राप्त की। वह वैदिक हिंदुत्व का अनुयायी था तथा अपने अनेक यज्ञों द्वारा उसने उसे नवीन शक्ति प्रदान की थी। प्रशासन के कार्यों में सहायता देने के लिए उसके पास अनेक योग्य मंत्री तथा सेनापति थे। सेनापति बीचण और उसका बड़ा भाई मल्लिसेट्टि अब भी यादवों के प्रति निष्ठावान बने रहे तथा कर्णाटक में दक्ष गवर्नरों का कार्य करते रहे। मल्लिसेट्टि, जो सिंहण के काल में केवल एक जिला अधिकारी था, कृष्ण के शासनकाल के आरंभ में ही सर्वदेशाधिकारी अर्थात संपूर्ण प्रदेश के उपराजा के पद पर पहुंच गया। लगभग 1250 ई० के आसपास उसका पुत्र चामुंडराय उसका उत्तराधिकारी बना, जिसने 'महाप्रधान' तथा 'महामात्य' को उपाधियां धारण कीं।[78] गुजरात का ब्राह्मण लक्ष्मीदेव उसका एक और मंत्री था, जो शक्ति के संगठन में अपने मालिक की सहायता करने का दावा करता है।[79] उसके पश्चात उसका पुत्र जह्लण आया, जो परामर्श देने तथा हाथियों के समूह का नेतृत्व करने में प्रवीण था। वह अपने अधिस्वामी के लिए अनेक रणक्षेत्रों में विजय प्राप्त करने का दावा करता है। जह्लण साहित्यिक रुचि का व्यक्ति भी था, क्योंकि उसने 'सूक्तिमुक्तावली' नामक पद्यसंग्रह का स्वयं संकलन किया अथवा करवाया था, जिसमें संस्कृति के प्रसिद्ध कवियों की चुनी हुई रचनाएं एकत्र की गई थीं। जह्लण के रामचंद्र और केशव नामक दोनों पुत्रों को सतारा जिले में अलग अलग जागीरें दी गई थीं तथा वे अपने पिता की मृत्यु के बाद भी साम्राज्यिक हितों की रक्षा करते रहे।[80] कृष्ण के शासन काल में केवल हल्के फुलके साहित्य की ही रचना नहीं हुई। शंकराचार्य के 'वेदान्तसूत्रभाष्य' नामक ग्रंथ की 'भामती' नामक टीका पर 'वेदान्तकल्पतरु' नामक टीका की रचना इसी काल में हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 1246 ई० में कृष्ण के राज्यारोहण के समय उसका या तो कोई पुत्र न था, अथवा एक पुत्र था, जो इतना बड़ा न था कि युवराज का स्थान ले सके। अतः हम देखते हैं कि 1250 ई० जैसे प्रारंभिक काल में ही उसका भाई महादेव, युवराज के रूप में प्रशासन का कार्यभार संभाल रहा था। इस समय दोनों भाइयों के पारस्परिक संबंध अत्यंत मैत्रीपूर्ण थे, क्योंकि उनका वर्णन राम और लक्ष्मण के संबंधों के रूप में किया गया है।[81] 1260 ई० में कृष्ण की अकाल मृत्यु हो गई तथा ऐसा प्रतीत होता है कि मरते समय उसने अपने भाई को राजा बनाने की सहमति दे दी थी। यह संभवतः इस समझ से किया गया था कि कालांतर में महादेव के पश्चात कृष्ण का पुत्र रामचंद्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ही राजा बनेगा, जो उस समय शासन करने के लिए बहुत छोटा था। 1260 ई० के अप्रैल की 12 तारीख, कृष्ण की अंतिम ज्ञात तिथि है।[82] उसकी मृत्यु संभवतः उसके तुरंत बाद ही हो गई थी, क्योंकि रौद्र संवत्सर, 1260-1 ई०, उसके उत्तराधिकारी के शासन काल के पहले वर्ष में ही पड़ा था।

महादेव
(1260-70 ई०)

कृष्ण का छोटा भाई महादेव, 1260 ई० के उत्तरार्ध में उसका उत्तराधिकारी बना। ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वह अपने नाबालिग भतीजे के संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा था। उसने संपूर्ण साम्राज्यिक उपाधियां धारण की थीं।

13 वीं शताब्दी के प्रारंभ में कोंकण में दो शिलाहार वंश राज्य कर रहे थे। इनमें से एक, जिनकी राजधानी कोल्हापुर थी, 1215 ई० में सिंहण द्वारा पराजित हुआ था। दूसरा वंश, यादवों के सामंत के रूप में ही, थाना को राजधानी बनाकर उत्तरी कोंकण में 1260 ई० तक अपना प्रभुत्व बनाए रहा। 1195 से 1240 ई० तक थाना में केशिराज शिलाहार शासन कर रहा था। इस दौरान भी उसके एवं यादव अधिराजों के मध्य कभी कभी मुठभेड़ें हो जाती थीं।[83] किंतु उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर के शासन काल में, शिलाहारों और यादवों के पारस्परिक संबंध और अधिक बिगड़ गए, जिसके कारण ज्ञात नहीं है। 1260 ई० सोमेश्वर की अंतिम ज्ञात तिथि है। हेमाद्रि के अनुसार उसके संरक्षक महादेव ने इस शासक को पराजित कर उसे पूर्णरूपेण विनष्ट कर दिया। संभवतः उत्तरी कोंकण का आक्रमण, नए यादव राजा की सर्वप्रथम सैनिक गतिविधि थी। हाथियों की शक्ति से शिलाहार सेना निश्चित रूप से थलयुद्ध में पराजित हुई। इसके पश्चात सोमेश्वर ने अपनी नौकाओं का प्रयोग किया। महादेव ने अपने जहाजी बेड़े को साथ लेकर समुद्र में उसका पीछा किया तथा इसके परिणामस्वरूप जो युद्ध हुआ, उसमें सोमेश्वर डूब गया। हेमाद्रि का कहना है कि शिलाहारनरेश ने समुद्र की लहरों में ही डूबना अधिक उत्तम समझा, क्योंकि वह सोच रहा था कि समुद्र के नीचे जलने वाली आग, महादेव के प्रकोप की तुलना में कम उत्पीड़क होगी।[84]

सामान्यतया यह माना जाता है कि सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात, थाना के शिलाहार साम्राज्य को यादव राज्य में सम्मिलित कर लिया गया, क्योंकि हम देखते हैं कि 1273 ई० में उसका शासन यादव राज्यपाल के हाथों में था।[85] किंतु एक खंडित अभिलेख के कारण इस विषय में कुछ संदेह है;[86] क्योंकि इससे पता चलता है कि 1266 ई० में महाराजाधिराज कोंकण चक्रवर्ति जैतुगिदेव, कोंकण में राज्य कर रहा था। चूंकि इस शासक ने कोंकणचक्रवर्ति की उपाधि धारण की थी, जो प्रायः शिलाहारों द्वारा धारण की जाती थी, और चूंकि मैनायक एवं चंद्रप्रभु नामक उसके दो मंत्री सोमेश्वर के शासनकाल में भी अधिकारीपद पर थे, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सोमेश्वर के पुत्र अथवा संबंधी जैतुगि ने, 1266 ई०तक शिलाहार शक्ति को पुनः स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। दूसरी ओर जैतुगि द्वारा धारण की गई महाराजाधिराज रूपी साम्राज्यिक उपाधि तथा स्वयं उसका नाम इस ओर इंगित करता है कि वह शाही यादववंश का कुमार था, जो पुराने शासन के मंत्रियों की सहायता से इस प्रदेश पर शासन कर रहा था।[87] तथ्यों के संबंध में यह अनिश्चितता तो केवल नई सामग्री की खोज से ही हल हो सकती है, जो अब भी निर्णायक सिद्ध हो सकती है।

यादव सम्राट कृष्ण की मृत्यु के तुरंत बाद ही, 1261 ई० में काकतीय नरेश गणपति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी मर गया तथा उसके पश्चात उसकी पुत्री रुद्रंबा सिंहासन पर बैठी। सिंहासन पर स्त्री की उपस्थिति से स्वभावतः उसके सामंतों को विद्रोह करने की प्रेरणा मिली तथा कुछ समय के लिए आंध्र प्रदेश में अराजकता फैली। महादेव ने इस स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया और काकतीय साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। हम हेमाद्रि के इस वक्तव्य को स्वीकार कर सकते हैं कि यादव सेना विजयी रही तथा उसने शत्रु के अनेक हाथियों को जीत लिया। यह कहना कठिन है कि यह केवल सीमांतीय मुठभेड़ थी अथवा, जैसा कि हेमाद्रि का दावा है, महादेव राजधानी तक अंदर घुस गया, किंतु उसने अपनी विजय पर अधिक बल नहीं दिया क्योंकि उसकी विरोधी एक स्त्री थी।

इस समय तक होयसल साम्राज्य का दो भागों में विभाजन हो चुका था। उत्तर के आधे भाग पर शासन करने वाला नरसिंह द्वितिय, 1262 ई० में अपने राज्यारोहण के समय केवल 22 वर्ष का था। जब महादेव को लगभग 1266 ई० में कोंकण एवं आंध्र प्रदेश में अपनी व्यस्तता से कुछ अवकाश मिला, तो उसने नवीन होयसल राजा पर आक्रमण करने का निश्चय किया। हेमाद्रि अपने संरक्षक महादेव की कर्णाटक के राजा पर किसी विजय का दावा नहीं करता, दूसरी ओर दो होयसल अभिलेख वर्णन करते हैं कि किस प्रकार नरसिंह की शक्ति को नगण्य मानकर सेवुण नरेश महादेव ने अपने हाथी पर बैठकर भव्य रूप से युद्ध में प्रवेश किया, किस प्रकार शत्रु के आक्रमण का सामना करने में असमर्थ होकर, उसने अपने घोड़े का सहारा लिया, तथा किस प्रकार आतंक से भयभीत होकर 'परिस्थितिवश भागने को ही सर्वोत्तम आशा मानकर, वह रात ही में घोड़े पर बैठकर भाग निकला।[88] इस विवरणात्मक तथा ब्यौरेवार वर्णन से कोई संदेह नहीं रह जाता कि महादेव होयसल सेनाओं द्वारा वास्तव में पूर्ण रूप से पराजित हुआ था।

यादवों सेनाओं के इस संकट ने कदंबों को विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित किया तथा महादेव ने अपने सेनापति वलिगेदेव को इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा।[89] ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने उद्देश्य में तथा 1268 ई० के लगभग अपने स्वामी की प्रभुसत्ता को पुनः स्थापित करने में सफल हो गया।

अब हमें उसके शासन काल के दौरान, यादवों और उनके उत्तरी पड़ोसियों के पारस्परिक संबंधों का सर्वेक्षण करना चाहिए। पैठन ताम्रपत्रक में कहा गया है कि महादेव ने वीसलदेव को पराजित किया था, किंतु चूंकि यह शासक 1262 ई० में ही मर गया था, अतः यह वक्तव्य संभवतः कृष्णकालीन अभियान से संबंधित है, जिसमें महादेव ने युवराज के रूप में भाग लिया होगा। हेमाद्रि ने कहा है कि मालवों ने एक बालक को सिंहासन पर बिठा दिया, क्योंकि वे जानते थे कि महादेव नाबालिग पर आक्रमण नहीं करेगा। किंतु महादेव द्वारा मालवा और गुजरात पर आक्रकण न करने का वास्तविक कारण तो उसका दक्षिण की सैनिक गतिविधियों में व्यस्त होना प्रतीत होता है।

महादेव के संबंध में एक अभिलेख में कहा गया है, 'गौड़ बांबी में घुस गए तथा उत्कल अपमानित होकर भाग गए।'[90] बंगाल एवं उड़ीसा के शासकों की यह पराजय केवल काल्पनिक प्रतीत होती हैं।

महादेव के शासन काल में महाराज तप्परस सर्वाधिकारिन अर्थात् प्रधान मंत्री था। वह 1275 ई० तक इस पद को संभाले रहा।[91] देवराज, दक्षिणी प्रांतों में काम करने वाला एक अधिकारी था।[92] नोलंबवाडि (शिमोगा जिला), चट्टराज एवं कुचराज नामक दो भाइयों के प्रशासन में था, जिनका प्रधान कार्यालय वेलूर में था।[93] ये भाई ब्राह्मण जाति के थे। वे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण धर्म को पसंद तथा प्रोत्साहित करने में उतने ही उत्सुक थे, जितना वे अपने नवीन क्षात्र जीवन में स्वयं को विशिष्टता प्रदान करने में। मैदेव नामक सामांत कोल्हापुर का प्रशासन संभाल रहा था।[94] और अंत में, स्वयं हेमाद्रि भी एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। सचिवालय तथा हाथियों के दस्तों के पर्यवेक्षण का कार्यभार संभालने के पश्चात वह रामचंद्र के काल में भी अपने पद पर आसीन रहा।[95] उसने अपना ग्रंथ 'वृतखंड' महादेव के शासनकाल में ही समाप्त किया।

मई-जून, 1270 ई०, महादेव के शासन काल की अंतिम ज्ञात तिथि है।[96] उसके तुरंत बाद ही वह मर गया और फिर उसका पुत्र अम्मण उत्तराधिकारी बना।

अम्मण

अम्मण का शासनकाल 1270 ई० के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ लेकिन वह बहुत थोड़े समय तक ही शासन करने वाला था। उसका चचेरा भाई रामचंद्र, अम्मण के चाचा कृष्ण का सबसे बड़ा पुत्र था। महादेव ने अपने राज्यारोहण के समय वचन दिया था कि वह अपने पश्चात सिंहासन अपने पुत्र को नहीं, अपितु अपने भतीजे व दिवंगत भाई के नाबालिग पुत्र को सौंपेगा। अम्मण के राज्यारोहण से इस वचन का उल्लंघन हुआ था, अतः जनमत संभवतः रामचंद्र के पक्ष में था। अधिकांश महत्वपूर्ण अधिकारी तथा विश्वसनीय सेनापति भी उसी के पक्ष में थे, क्योंकि हम देखते हैं कि उनमें से अनेक ने, जैसे हेमाद्रि एवं तिक्कम, जो वस्तुतः महादेव को बहुत मानते थे,[97] उनके पुत्र अम्मण के राज्यारोहण के तुरंत बाद ही उसका साथ छोड़ दिया तथा अपनी राज्यास्था रामचंद्र को हस्तांतरित कर दी।

जब रामचंद्र ने सिंहासन प्राप्त करने की चेष्टा की, तब अम्मण ने उसे बंदी नहीं बनाया। संभवतः वह ऐसा करने में समर्थ ही न था। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचंद्र राजधानी से बच कर निकल गया तथा अपने गुप्त स्थान से ही उसने एक चाल द्वारा सिंहासन प्राप्त करने की योजना बनाई। शोख एवं विलासप्रिय युवा अम्मण, नृत्य और संगीत का शौकीन था। रामचंद्र ने कुछ वीर एवं दृढ़ निश्चयी अनुयायियों को चुना तथा चलते फिरते अभिनेताओं के दल के नेता के रूप में वह उनके साथ देवगिरी के दुर्ग में प्रवेश कर गया। एक बार वहां पहुंचने के पश्चात, उसने अम्मण के सम्मुख एक नाटक दिखाने का आयोजन करने में सफलता प्राप्त कर ली। जब राजा इसका आनंद लेने में लीन था, तो अभिनेताओं ने अपने मुखौटे उखाड़ फेंके तथा उसको और उसके मुख्य समर्थकों को पकड़ लिया।[98] यह राज्यविप्लव पूर्ण रूप से सफल रहा, क्योंकि निस्संदेह नरसिंह को छोड़कर, अम्मण के अधिकांश सेनापयियों को उसके हित से कोई वास्तविक सहानुभूति न थी।

स्वयं रामचंद्र द्वारा जारी किए गए समकालीन अभिलेख में दिए गए घटना के इस विवरण को सही मानना चाहिए। प्रथम दृष्टि में यह कुछ असंभव प्रतीत होता है, किंतु यदि हम यह मान लें, और ऐसा करने के लिए हमारे पास सभी कारण हैं, कि रामचंद्र को दरबारी अधिकारियों की गुप्त सहानुभूति प्राप्त थी, तो ध्यान से देखने में इसमें भी कुछ असंभव प्रतीत नहीं होता।[99]

अनेक 'महानुभाव' कृतियों में कहा गया है कि रामचंद्र ने अपने चचेरे भाई को बंदी बनाने के तुरंत बाद ही अंधा कर दिया।[100] एक प्रमाण के अनुसार तो उसने उसको मरवा दिया। किंतु यह संभव है कि अम्मण जेल में ही अपनी मौत मरा हो, तथा जनता ने यह विश्वास किया हो कि उसके चचेरे भाई द्वारा ही उसकी मृत्यु जल्दी कर दी गई।[101]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अम्मण का लघु शासनकाल केवल लगभग एक वर्ष का था। इस काल के दौरान वह अपने चचेरे भाई द्वारा उससे सिंहासन छीनने के प्रयासों के विरुद्ध संघर्ष करने में ही पूर्ण रूप से व्यस्त रहा होगा। यह आश्चर्य की बात है कि उसके शत्रु के दानपत्रों में भी उसको कुछ अस्पष्ट उपलब्धियों का श्रेय दिया गया है, किंतु इन्हें केवल काल्पनिक ही मानना चाहिए।

रामचंद्र
(1271-1311 ई०)

रामचंद्र का राज्यारोहण 1271 ई० के उत्तरार्द्ध में हुआ।[102] जनमत के अनुसार, सिंहासन प्राप्त करने के लिए बल एवं षडयंत्र का प्रयोग करना उसके लिए उचित था क्योंकि वही सिंहासन का न्यायोचित अधिकारी था। किंतु हमें यह ज्ञात नहीं कि जनमत ने उसके द्वारा बाद में अम्मण को अंधा करने (या उसकी हत्या करने) का समर्थन किया या नहीं। महादेव के अधिकांश विश्वसनीय मंत्री, उसके पुत्र के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने तुरंत ही अपनी राज्यास्था रामचंद्र को हस्तांतरित कर दी तथा उन्होंने निष्ठा एवं उत्साहपूर्वक उसकी सेवा करनी आरंभ कर दी।

रामचंद्र ने अपने राज्यारोहण का आरंभ, मालवा के विरुद्ध सैनिक अभियान के संगठन द्वारा किया। हाल ही में (लगभग 1270 ई० में) अर्जुनवर्मन द्वितीय परमार सिंहासन पर बैठा था तथा उसके और उसके मंत्री के बीच झगड़ा शुरू हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप रक्तपातपूर्ण संघर्ष हुआ और अंततः दोनों द्वंद्वियों के बीच साम्राज्य का विभाजन हो गया था[103]। अतः रामचंद्र ने शक्तिक्षीण एवं उत्साहभंग मालवा सेना को बड़ी आसानी से पराजित तथा तितर-बितर कर दिया।[104] ऐसा प्रतीत होता है कि इसी अभियान के दौरान यादवों और गुर्जरों के बीच कुछ अनिर्णीत सीमांतीय मुठभेड़ें हुई थीं। हम देखते हैं कि प्रत्येक पक्ष इन मुठभेड़ों में अपनी विजय का दावा करता है[105]। चार पांच महीनों के छोटे अभियान के पश्चात 1271 ई० के अंत से पहले ही यादव सेना वापस मुख्यालय लौट आई[106]।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि जब महादेव ने स्वयं होयसलों के दक्षिणी साम्राज्य के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया था, तो किस प्रकार यादव सेनाएं बुरी तरह से पराजित हुई थीं। यह पराजय बहुत समय से रामचंद्र के हृदय को झकझोर रही थी तथा उसने अब इसका बदला लेने के लिए शक्तिशाली अभियान का संगठन करने का निश्चय किया। विस्तृत तैयारियां करने में दो तीन वर्ष लग गए तथा यह कार्य अभ्यस्त सैनिक एवं सेनापति सलुव तिक्कमरस को सौंपा गया। जोयिदेव तथा हरपाल को,[107] जो अनुभवी सेनापति थे, तिक्कमरस की सहायता करने के लिए कहा गया।

बनवासि तथा नोलंबवाडि के अपने केंद्र से चलकर, अभियानिक सेना ने 1275 ई० की शरद ऋतु में होयसल प्रदेश में प्रवेश किया। उसने अपने सामने आनेवाली सभी चीजों पर अधिकार कर लिया और अंत में होयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र को घेरने और जीतने के लिए अपनी योजना को पूर्ण करने के उद्देश्य से ही, तिक्कमरस वहां कुछ समय के लिए रुक गया। इस बीच होयसल नरेश नरसिंह ने भी अपने युवा एवं शक्तिशाली सेनापतियों अंक और भाइदेव के नेतृत्व में, आक्रामक को खदेड़ने के लिए एक सेना भेजी। ये सभी प्रयास असफल रहे तथा 1276 ई० के जनवरी मास के अंत में होयसल सेना बुरी तरह पराजित हुई। इन विजयों से प्रोत्साहित होकर, तिक्कमरस राजधानी की ओर बढ़ा तथा उसको घेर लिया। अब घिरी हुई सेनाओं ने अपनी राजधानी और राजा के लिए वीरतापूर्वक युद्ध किया। नंजेय और गुल्लय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सहित अनेक होयसल सेनापति इन प्रयास में मारे गए। अंततः, 25 अप्रैल 1276 ई० को होयसलों के सर्वोच्च सेनापति के पुत्र अंकेय नायक ने दृढ़ निश्चय से आक्रमण किया तथा आक्रमकों को वापस खदेड़ दिया। एक होयसल अभिलेख में कहा गया है, 'तिक्कमरस ने शेखी मारी थी कि मैं एक मिनिट में ही द्वारसमुद्र को जीत लूंगा, किंतु जब वीर अंकेय यादवों की सेनाओं पर टूट पड़ा तो हरपाल भयभीत हो गया, सलुव तिक्कम भाग गया तथा जोयिदेव को मुंह की खानी पड़ी।···यद्यपि सलुव संपूर्ण बेलवाड़ी प्रदेश पर छाया हुआ था, फिर भी अंकेय ने उसे न तो अपना अंतिम शिविर उठाने का समय दिया और न ही खाना खाने दिया तथा उसे धुम्मि तक पीछे खदेड़ दिया।[108]

इसमें संदेह नहीं कि सलुव तिक्कमरस होयसल राजधानी को जीतने के प्रयास में असफल हो गया था तथा 1276 ई० की ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में उसे घेरा उठाना पड़ा और घर वापस लौटना पड़ा, किंतु फिर भी वह अपने साथ पर्याप्त लूट का माल लाया, जिसमें घोड़ों और हाथियों की बड़ी सेना भी सम्मिलित थी।

अगामी 15 वर्षों में यादवों और होयसलों के बीच छिटपुट मुठभेड़ें होती रहीं, पर कोई बड़ा संघर्ष न हुआ। यद्यपि नरसिंह और रामनाथ के पिता ने विशेष रूप से झगड़े से बचने के लिए साम्राज्य को उनके बीच बांट दिया था, फिर भी दोनों होयसल भाइयों का पारस्परिक द्वंद्व बढ़ता ही गया। अतः वे यादवों द्वारा उनकी राजधानी को घेरे जाने वाले अपमान का बदला चुकाने की स्थिति में न थे। दूसरी ओर रामचंद्र भी अन्यत्र सैनिक अभियानों में पूर्ण रूप से व्यस्त था। इसलिए अपने साम्राज्य की दक्षिणी सीमाओं पर जो विजय प्राप्त हुई थी, उससे आगे बढ़कर सैनिक कार्यवाही करने का उसके पास समय नहीं था।

दक्षिण में अपने दायित्व से मुक्त होते ही रामचंद्र ने उत्तर पूर्व में अपने साम्राज्य के विस्तार की योजना बनाई।[109] सबसे पहले उसने वज्राकर (संभवतः चंदा से 80 मील उत्तर-पूर्व में स्थित वैरागढ़) तथा भंडागार (नागपुर से 38 मील पूर्व में स्थित भंडारा) के राजाओं पर आक्रमण किया तथा उनके क्षेत्रों को अपने प्रभावक्षेत्र में सम्मिलित कर लिया। फिर वह उत्तर दिशा में जबलपुर के निकट त्रिपुरि की ओर बढ़ा, जो कभी कलचुरि साम्राज्य की राजधानी थी, तथा उसने बिना किसी कठिनाई के उस पर अधिकार कर लिया। इस नगर को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाकर, उसने मुस्लिम साम्राज्य पर साहसिक आक्रमण करने का निश्चय किया। वह बनारस में हिंदू शासन को पुनः स्थापित करने के लिए अत्यंत उत्सुक था; अतः सीधा उस नगर की ओर कूच करके उसने उस पर अधिकार कर लिया। चूंकि पुरुषोत्तमपुरि ताम्र-पत्रों में कहा गया है कि उसने बनारस की विजय के पश्चात वहां एक मंदिर बनवाया, जो शारंगधर देव को समर्पित किया गया था, अतः हम यह मान सकते हैं कि रामचंद्र ने बनारस पर केवल अपना अधिकार ही स्थापित नहीं किया अपितु वह कम से कम दो तीन वर्षों तक वहां रहा भी था। यह सब 1286 ई० में बलबन की मृत्यु के बाद तथा जलाल-उद्-दीन खिल्जी के राज्यारोहण से पहले हुआ होगा, क्योंकि हम यह जानते हैं कि इस मध्यांतर के दौरान, कुछ समय के लिए दिल्ली अपने सीमांतीय प्रान्तों को सुरक्षित एवं अपने अधिकार में रखने में असमर्थ थी। इसके अतिरिक्त, यह दावा भी किया गया है कि रामचंद्र ने कन्नौज के राजा को पराजित किया तथा कैलाश पर्वतश्रेणी तक कूच किया, किंतु इन कथनों में सत्यता प्रतीत नहीं होती।[110] इसमें कोई संदेह नहीं कि यादव सेनाओं तथा इलहाबाद के निकट कड़ा के सूबेदार के बीच छिटपुट मुठभेड़ हुई थी, किन्तु रामचंद्र द्वारा कन्नौज अथवा हिमालय तक किए गए प्रयाण को दर्शाने के लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामचंद्र अधिक समय तक बनारस पर अपना अधिकार बनाए रखने में समर्थ न था। कड़ा के गवर्नर के रूप में अला-उद्-दीन के आगमन से, उसकी सेनाओं को दक्षिण की ओर लौटना पड़ा। यह घटना 1291 ई० में या उसके पहले ही हुई होगी।

जबकि साम्राज्यिक सेनाएं गंगा के मैदान में व्यस्त थीं, कोंकण में संगमेश्वर एवं खेड (रत्नागिरि जिले में) तथा बंबई के निकट महिम पर शासन करने वाले सामंत प्रमुखों ने रामचंद्र के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। रामचंद्र ने उनको दंडित करने के लिए अपने पुत्र को भेजा तथा उसने सफलतापूर्वक अपना कार्य संपन्न किया।[111]

निस्संदेह, 1292 ई० में यादव अपने यश की चरम सीमा पर थे। उनके वंशानुगत शत्रु अर्थात होयसलों को नष्ट कर दिया गया था तथा वे बनारस तक पहुंचने में सफल हुए थे। किंतु शीघ्र ही उनकी शक्ति का पतन हो गया और लगभग 20 वर्षों के बाद उनके साम्राज्य को उत्तर भारतीय इस्लाम साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

कड़ा-मानिकपुर के तत्कालीन गवर्नर अला-उद्-दीन द्वारा 1294 ई० में किए गए साहसपूर्ण आक्रमण से यादव शक्ति के पतन का प्रथम चरण आरंभ होता है। सामान्यता यह माना जाता है कि आक्रमण का मुख्य कारण, गवर्नर द्वारा संपत्ति को एकत्र करने की उत्कट इच्छा थी। उसे इसकी विशेष आवश्यकता थी क्योंकि उसके उचित उपयोग से ही वह एक दिन अपने राज्यारोहण के मार्ग को पक्का करने की आशा करता था। किंतु कुछ वर्ष पूर्व किए गए उत्तर प्रदेश के आक्रमण के लिए रामचंद्र को दंडित करना भी इस कृत्य का उद्देश्य रहा होगा।

अला-उद्-दीन ने अपने धृष्ट अभियान की योजना अत्यंत सावधानी से बनाई थी। उसने कूच करने का निश्चय तब ही किया, जब उसके गुप्तचरों ने उसे पूर्ण रूप से आश्वस्त कर दिया कि मुख्य यादव सेना सुदूर दक्षिण में आक्रामक अभियान के लिए गई हुई थी। पहले तो उसने यह प्रचार किया कि वह केवल चंदेरी के विरुद्ध दांडिक सेना का नेतृत्व कर रहा था। उसके पश्चात उसने कहा कि अपने ही चाचा के बर्ताव से असंतुष्ट होकर, वह राजमहेंद्रि के शासक के अधीन नौकरी ढूंढने जा रहा था। इसके अतिरिक्त, ध्यानाकर्षण से बचने के लिए, अपनी कूच के दौरान उसने वीरान स्थानों की सीमाओं पर ही अपने शिविर स्थापित किए थे। किंतु जब वह लचुर पहुंचा, तो उस स्थान के गवर्नर ने शत्रु सेना के आगमन की सूचना राजधानी को भेजी तथा उसकी प्रगति को रोकने का प्रयास किया। परंतु अला-उद्-दीन ने सुगमता पूर्वक विरोध पर काबू पा लिया तथा आश्चर्यजनक गति से जबरदस्ती बढ़ते हुए वह शीघ्र ही देवगिरी पहुंच गया।

रामचंद्र आश्चर्यचकित रह गया। अला-उद्-दीन के साथ लगभग 6000 से 8000 अश्वारोहियों की सेना थी। इसके विपरीत रामचंद्र केवल लगभग 4000 की पैदल सेना ही तैयार कर पाया, अतः वह राजधानी के निकट हुए युद्ध में आसानी से पराजित हो गया तथा उसे दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। किंतु, तब तक इसके चारों ओर खाई न थी और न ही इसकी दीवारें पूर्ण हो पाई थीं। राजा की योजना थी कि जब तक उसका पुत्र, जिसे अत्यंत तत्परता से सहायता के साथ आने के लिए बुलवाया गया था, उसकी रक्षा के लिए राजधानी नहीं पहुंच जाता, तक तक वह दुर्ग में ही रहने की चेष्टा करेगा। किंतु घेरे का सामना करने के लिए दुर्ग में खाद्य-सामग्री भी न थी, अतः रामचंद्र को संधि करने पर बाध्य होना पड़ा। अला-उद्-दीन ने लगभग 1500 पौंड सोना, मोतियों और रत्नों की बड़ी मात्रा, 40 हाथी तथा हजारों घोड़ों से युक्त हर्जाना लेकर वापस लौटना स्वीकार कर लिया। उसने रामचंद्र की किसी एक पुत्री का हाथ भी प्राप्त किया तथा रामचंद्र ने ऐलिचपुर जिले के राजस्व के बराबर वार्षिक कर देना भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
स्वीकार किया। आक्रामक ने यह संपूर्ण लूट प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली थी तथा वह अपने आगमन के पश्चात 15 दिनके बाद ही वापस लौटने वाला था कि युवराज शंकरदेव, अला-उद्-दीन की सेना से दुगुनी सेना लेकर राजधानी पहुंच गया।

युवराज के आगमन के पश्चात की घटनाओं के संबंध में मुस्लिम इतिहासज्ञ एकमत नहीं हैं। उनमें से बाद के इतिहासज्ञ, जैसे फिरिश्ता, हमें बताते हैं कि अपने पिता के परामर्श के बावजूद उसने पुनः संघर्ष आरंभ किया। किंतु वह अला-उद्-दीन द्वारा पराजित हुआ, तथा उसने निश्चय ही और अधिक हर्जाना लगाया। किंतु इसामी का कहना है कि युवराज ने अपने पिता की परामर्श मान ली तथा अपने शत्रु की तुलना में बहुत बड़ी सेना का नेतृत्व करते हुए भी, उसने आक्रमण नहीं किया।

निस्संदेह अला-उद्-दीन का आक्रमण प्रत्येक दृष्टि से एक साहसिक कार्य था, 'चाहे हम योजना को बनाने का निश्चय देखें, या उसके क्रियान्वयन की दृढ़ता को अथवा उसके परि-पूर्ण होने में निहित सौभाग्य को।' यादव प्रशासन द्वारा उत्तर से मुस्लिम आक्रमण के संकट का पूर्वानुमान न करना तथा विंध्य दर्रों को सुदृढ़ न करना, आदि के कारण इस प्रशासन की दक्षता के बारे में शक पैदा होता है। इससे राजधानी भी असुरक्षित हो गई थी। अला-उद्-दीन के लौटने के मार्ग को न काटना, तथा अप्रसिद्ध दर्रों और वनों में छुपकर लौटती हुई सेना को घेर कर और नष्ट करके, देवगिरी की हार से स्थिति को सुधारने के लिए कोई प्रयास न करना भी यही सिद्ध करता है कि यादव नेतृत्व का उत्साह पूर्णरूपेण भंग हो चुका था, उसकी सेनाओं में खलबली मच गई थी और वह निरुत्साहित हो गयी थी।

आगामी आठ-नौ वर्षों में अला-उद्-दीन, उत्तर भारत के अनेक मामलों और घटनाओं में व्यस्त रहा। यह आश्चर्य की बात है कि देवगिरी, वारंगल, द्वारसमुद्र, और मदुरा स्थित दक्षिण के चार हिंदू राज्यों ने अला-उद्-दीन के आक्रमणों तथा उसकी भावी संभावनाओं से भी कोई पाठ नहीं सीखा। खिल्जी वंश लगभग संपूर्ण उत्तर भारत का स्वामी बन गया तथा जन-शक्ति, धन व सामग्रीरूपी उसके साधन, दक्षिण के किसी भी अकेले हिंदू साम्राज्य से कहीं अधिक थे। इनके बचने का एकमात्र उपाय, संपूर्ण दक्खन के साधनों को एकत्र कर अखिल हिंदू संगठन का निर्माण करना था। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि जब चौलुक्य एवं परमार, दिल्ली के आक्रमणों द्वारा क्षीण किए जा रहे थे, तब किस प्रकार यादवों ने उनकी पीठ में छुरा भोंका था। अतः अब काकतीय नरेश प्रतापरुद्र तथा होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय, दोनों ने ही अला-उद्-दीन के हाथों यादवों की पराजय से लाभ उठाया। ज्योंही रामचंद्र की पराजय का सामाचार वारंगल पहुंचा प्रतापरुद्र ने आक्रमण कर दिया तथा यादवों के अनंतपुर एवं रायचूर जिलों को अपने राज्य में मिला लिया। कुछ समय पश्चात, 1296 ई० में होयसल शासक बल्लाल ने एक हजारी संतलिग का विलय कर लिया तथा 1300 ई० में बारह हजारी बन-वासी पर आक्रमण कर दिया। इनमें से किसी भी शासक में सामान्य संकट को समझने तथा संयुक्त मोर्चा बनाने की दूरदर्शिता न थी। यादवों से उनके प्राचीन वंशानुगत झगड़े थे तथा वे इस बात से अत्यंत प्रसन्न थे कि यादवों के विरुद्ध मुसलामानों की विजय ने उन्हें प्राचीन झगड़ों का बदला लेने का अवसर प्रदान किया था।

1303 अथवा 1304 ई० तक रामचंद्र दिल्ली को निश्चित कर भेजता रहा। उस वर्ष बंगाल की ओर से काकतीयों के विरुद्ध बढ़ती हुई अला-उद्-दीन की सेनाएं, प्रतापरुद्र द्वारा पराजित हुई थीं। इस घटना ने यादव दरबार के कुछ लोगों को यह कल्पना करने के लिए प्रलोभित किया कि साम्राज्यिक शक्ति का पतन हो रहा था तथा दंडाभाव से उसका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लंघन किया जा सकता है। युवराज शंकर इस दल का नेता था तथा उसने अपने पिता को वार्षिक कर की अदायगी समाप्त करने के लिए राजी कर लिया। उसने गुजरात के राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी से विवाह करने का निश्चय करके भी सम्राट के क्रोध को भड़का दिया। अला-उद्-दीन चाहता था कि देवलदेवी उसको सौंप दी जाए, क्योंकि उसकी माता कमलादेवी, जिसे उसने बंदी बनाने के बाद अपने साथ विवाह सूत्र में बांध लिया था, अपनी पुत्री के साथ की इच्छुक थी।

मालवा की विजय एवं उसके विलय के पश्चात सुल्तान ने 1307 ई० में दो सेनाएं भेजीं। एक देवलदेवी को जीतने के लिए मलिक अहमद के नेतृत्व में, तथा दूसरी यादवों पर अपने प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने के लिए मलिक काफूर के नेतृत्व में। ईसामी की यह सूचना सही प्रतीत होती है कि रामचंद्र ने सुल्तान के नाम एक गुप्त संदेश भेजा था, जिसमें यह सूचित किया गया था कि वह अपने युवराज के हाथों बंदी बना हुआ था तथा उसके विद्रोह से कोई सहानुभूति न रखता था। क्योंकि, जब मार्च 1307 ई० में, शंकरदेव के नेतृत्व में यादव सेनाओं को मलिक काफूर ने देवगिरी के निकट पराजित किया, तथा राजा रामचंद्र को बंदी बनाकर दिल्ली भेजा गया, तब उसे सुल्तान से अद्‌भुत नम्रतापूर्ण सत्कार प्राप्त हुआ। अला-उद्-दीन ने उसका राज्य पुनः उसे सौंप दिया तथा इसके अतिरिक्त निजी 'जागीर' के रूप में नाओसारी का जिला भी दिया। उसे 'राज-ए-राजान' की उपाधि भी दी गई तथा देवगिरी वापस आने पर सुल्तान के सामंत के रूप में अपने राज्य पर शासन करने की अनुमति भी मिल गई।

रामचंद्र इस नम्र व्यवहार से अत्यंत प्रभावित हुआ तथा अपने संपूर्ण जीवन के दौरान सुल्तान के प्रति पूर्णरूपेण निष्ठावान बना रहा। जब 1309 ई० में वारंगल जाते हुए, सम्राट की सेना देवगिरी में रुकी, तब उसने उसे सभी संभव सुविधाएं प्रदान कीं। दो वर्ष बाद जब दूसरी सेना द्वारसमुद्र जाते हुए देवगिरी पहुंची, तब भी उसने अपने साम्राज्य के सभी साधन अपने अधिराज के लिए जुटा दिए। उसने न केवल 'अगणित' सूती, ऊनी व पीतल की वस्तुएं प्रदान की, अपितु अपने सेनापति पुरुषोत्तम को यह आदेश भी दिया कि वह सेना को होयसल साम्राज्य की सीमाओं का मार्ग प्रदर्शन करे। किंतु इस व्यवहार की अंतःप्रेरणा केवल वैयक्तिक स्वामीभक्ति ही न थी। यादववंशी होयसलों के पारंपरिक शत्रु थे तथा होयसलों के राजा बल्लालदेव ने हाल ही में अला-उद्-दीन के हाथों रामचंद्र की पराजय से लाभ उठाकर, संतलिगे एवं बनवासी जिलों को उससे छीन लिया था। अतः सुलतान के हाथों ही राजा बल्लाल की पराजय की संभावना, वृद्ध यादव नरेश के लिए अप्रिय न थी।

राजा रामचंद्र की मत्यु की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी मृत्यु 1311 ई० में हुई थी।[112]

रामचंद्र का शासनकाल 40 वर्षों तक रहा (1271-1311 ई०)। लेकिन यह दीर्घकालीन शासन शानदार नहीं था। यह सत्य है कि अपने प्रारंभिक वर्षों में उसने होयसलों को बुरी तरह हराया तथा उसने आक्रमण के दौरान बनारस तक प्रवेश करने में भी सफलता प्राप्त की थी। किंतु उसमें वास्तविक राजनीतिक दूरदर्शिता न थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उत्तर भारत में मुस्लिम शक्ति के विकास के महत्व को नहीं समझा अथवा उससे कुछ नहीं सीखा। उसे यह समझ लेना चाहिए था कि अपनी तुलना में अत्यधिक साधनों से युक्त, दिल्ली के सुल्तान की साम्राजियक अभिलाषाओं के सामने घुटने टेकने वाला, वह ही सर्वप्रथम दकनी राजा होगा। राजनीतिज्ञोचित बुद्धिमत्ता वाला अन्य शासक, उत्तर भारतीय इस्लाम साम्राज्य-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद के आक्रमण का विरोध करने के लिए, दक्षिण भारतीय हिंदू संघ का निर्माण करने की चेष्टा करता। रामचंद्र ऐसी किसी भी योजना की कल्पना करने में भी असफल रहा। इस संबंध में संभवतः उसे उसके समकालीन राजाओं की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। वारंगल, द्वारसमुद्र तथा मदुरा पर शासन करने वाले सभी समकालीन राजा अपनी वैयक्तिक ईर्ष्याओं से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण, संयुक्त मोर्चे का विचार भी नहीं कर सकते थे। इसमें संदेह नहीं कि 1294 ई० में हुई रामचंद्र की पराजय का कारण, उसका तैयार न होना था। किंतु बाद के वर्षों में भी उसने अपनी स्थिति को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया था। संभवतः वह समझता था कि अला-उद्-दीन की तुलना में उसके साधन बहुत ही कम थे। अतः अपने पुत्र का विरोध होते हुए भी उसने उसके प्रति निष्ठावान बने रहने का निश्चय किया। निस्संदेह इस नीति के द्वारा, वह अपने शासनकाल के अंत तक अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाए रखने में सफल रहा।

शंकरदेव
(1311-1312 ई०)

राजा रामचंद्र के शंकर, बल्लाल और बिंब नामक तीन पुत्र थे। इनमें से शंकर, जो सबसे बड़ा था, स्थाई रूप से राजधानी में रहता था तथा प्रशासन के कार्यों में अपने पिता की सहायता करता था। 1311 ई० में अपने पिता की मृत्यु के बाद वही देवगिरी के सिंहासन पर बैठा। रामचंद्र के शासनकाल के दौरान, राजकुमार बिंब दक्षिण गुजरात तथा बल्लाल दक्षिण महाराष्ट्र के उपराजा थे। संभवतः शंकर के राज्यारोहण के बाद भी यही प्रबंध जारी रहा।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि, किस प्रकार एक युवराज के रूप में शंकर, दिल्ली के आदेशों को चुपचाप स्वीकार कर लेने की अपने पिता की नीति का सदा विरोध करता रहता था। अतः जब वह स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ, तब उसने तुरंत ही अला-उद्-दीन के अधिराजत्व को अस्वीकार कर दिया तथा अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। निस्संदेह इस विषय में शंकरदेव का साहस प्रशंसनीय था। सुल्तान की तुलना में उसके सैनिक एवं वित्तीय साधन कुछ भी न थे, क्योंकि सुल्तान अब तक लगभग संपूर्ण भारत का असंदिग्ध अधिराज हो चुका था तथा उसकी सेनाओं ने अपराजेयता की ख्याति भी प्राप्त कर ली थी। शंकरदेव के विद्रोह का समाचार सुनकर, अला-उद्-दीन ने उसे दबाने के लिए एक बार फिर मलिक काफूर को भेजा। उसने सुगमता से शंकरदेव को पराजित किया, और वह संभवतः बंदी बना लिया गया तथामार डाला गया। मलिक काफूर ने यादव राज्य का विलय कर लिया तथा स्वयं देवगिरी से उसका प्रशासन करने लगा। देवगिरी में वह लगभग तीन वर्ष रहा। वह अधिकांश यादवक्षेत्र को अपने अधीन करने में सफल हुआ। दक्षिण में रायदुर्ग, कंपिलि तथा कंध्यन (पूना के निकट आधुनिक सिंहगढ़) जैसे स्थानों के कुछ स्थानीय गवर्नरों ने नवीन सरकार को मान्यता देने से इनकार कर दिया, किंतु मलिक काफूर ने उन पर आक्रमण करने का ख्याल नहीं किया। उसने अपना संपूर्ण समय एवं ध्यान, नवीन प्रशासन के उचित संगठन में लगा दिया।

उसने उन सभी से नम्र तथा शील व्यवहार किया, जिन्होंने उसके प्रति समर्पण कर दिया था। उसके शासन में, जनता स्वयं को सुरक्षित समझने लगी तथा सामान्य दृष्टि से प्रांत पर्याप्त समृद्ध हो गया। किंतु, अपने युग के अन्य सभी मुसलमानों की भांति, मलिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काफूर भी मंदिरों को गिराकर, उनके स्थान पर मस्जिदों को बनवाना श्रेयस्कर समझता था। इस विश्वास के साथ किए गए उसके कर्मों ने, उसकी हिंदू प्रजा को अत्यंत अप्रसन्न कर दिया। किंतु उसके प्रशासन के अधीन, देवगिरी इस्लामिक सभ्यता का महान केंद्र बनने लगा।

जब 1315 ई० के अंत में अला-उद्-दीन अधिक बीमार हो गया, तो ऐन-उल-मुल्क को देवगिरी का प्रशासन सौंप कर मलिक काफूर जल्दी से दिल्ली पहुंचा। किंतु अपने नवीन कर्तव्यों में हाथ बंटवाने के लिए काफूर ने ऐन-उल-मुल्क को भी शीघ्र बुलवा लिया। अब देव-गिरी में बहुत थोड़े से मुसलमान सैनिक रह गए थे। संभवतः राजा रामचंद्र के दामाद हरपालदेव और उसी राजा के एक मंत्री राघव ने यादवशक्ति को पुनः स्थापित करने का साहस किया। किंतु पुनर्जीवित हिंदू राज्य स्वयं को दो वर्ष से अधिक समय तक बनाए रखने में असमर्थ रहा। अंततः जब कुत्ब-उद्-दीन मुबारक शाह ने खिलजी साम्राज्य पर अपना दृढ़ नियंत्रण स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली, तो उसने विद्रोह को दबाने के लिए स्वयं देवगिरी के विरुद्ध कूच करने का निश्चय किया। वह 1318 ई० में दकन पहुंचा। उसने बिना किसी कठिनाई के हरपाल और राघव को पराजित किया तथा महाराष्ट्र पर अपने प्रभुत्व को पुनः स्थापित किया। राजा हरपाल उसके हाथों बंदी बना तथा मौत के घाट उतार दिया गया।

इस प्रकार 1318 ई० में यादवशक्ति का अंत हो गया। अब खल्जी सम्राट ने महाराष्ट्र के विभिन्न जिलों पर प्रशासन करने के लिए मुसलमान अधिकारियों को ही नियुक्त किया।

संदर्भ

1. वर्ष 1184 ई०, जो कुछ अभिलेखों में (उदाहरणार्थ, 'आ० स० इं० ऐ० रि०' 1930-40), उसके शासन काल के प्रथम वर्ष के रूप में दिया गया है, वह वर्ष होगा, जबकि वह स्वयं को वंश की मुख्य शाखा के प्रदेशों का पूर्ण स्वामी बनाने में सफल हुआ था।
2. 'ए० क०', खंड xi, (दावनगिरी तालुक) नं० 44; खंड vi, (मुद्गेरे तालुक) नं० 33.
3. वही,v, (हसन तालुक) नं० 70; (अर्सी केरे तालुक) नं० 127.
4. मालवा और गुजरात में भिल्लम के आक्रमणों को, होयसलों से उसके युद्धों से पहले होने का बताने के लिए कोई निश्चित एवं निर्णायक प्रमाण नहीं हैं किंतु हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि 1185 ई० के बाद वह पूर्ण रूप से दक्षिणी अभियानों में व्यस्त था, अतः यह लगभग निश्चित ही है कि मालवा और गुज-रात के उसके आक्रमणों की योजना बनाने और क्रियान्वन करने का कार्य उससे पहले ही किया गया होगा, जबकि उसे दक्षिण की ओर से कोई खतरा न था क्योंकि उस समय कलचुरि तथा चालुक्य भीषण पारस्परिक संघर्ष तथा होयसलों के विरुद्ध युद्धों में व्यरत थे. परमारों और गुजरात चौलुक्यों को पहले हराने में भिल्लम का उद्देश्य, अपनी उत्तरी सीमा को सुरक्षित करना रहा होगा, ताकि जब बाद में वह चालुक्यों और होयसलों से भीषण संघर्ष करे, तो उसे उस दिशा से किसी संकट का सामना न करना पड़े.
5. 'सूक्ति मुक्तावली, भूमिका, पद्य 11.

   गूर्जरभूभृत्कटके कंटकविषमेऽतिदुर्गमे येन ।
   भगदत्तकीर्तिभाजा दुष्टगजः स्वेच्छया नीतः ।।

   गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज के संस्करण में 'गूर्जर' के स्थान पर 'घुर्जर' दिया गया है; यह स्पष्टतः अशुद्ध पाठांतर है.
6, 'ए० इं०' vi, पृ० 96.
7. 'ए० क०', xi, (चितलदुर्ग तालुक) नं० 93.
8. हेमाद्रि ने कहा है कि होयसल नरेश कल्याणी के पतन पर अथवा उसके बाद मार दिया गया था. यदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह वक्तव्य तत्कालीन होयसल शासक बल्लाल के संबंध में है तो गलत है. संभवतः 'होयसल वंश का कोई सांमर्शिक राजकुमार, नगर की रक्षा करते हुए मारा गया होगा.

9. 'ए० इं०', xv, पृ० 39
10. 'सा० इं० ए० रि०', 1930, परिशिष्ट 'ई' नं० 18.
11. 'ए० क०', v, (अर्सी केरे तालुक) नं० 57.
12 1192 ब० का अन्नेगिरी ताम्र पत्र, 'ए० क०', v, (छन्नरायपट्टणतालुक)नं० 179.
13. 'ए० क०, 'vi, बेलर नं० 77.
14. बिजापुर अभिलेख से यह पता चलता है कि दिसंबर 1106 ई०, जैतुगि के शासन काल के छठे वर्ष में पड़ता है, बा० ग०, i, भाग ii, पृ० 521.
15. यादव होयसल संघर्ष की घटनाओं के संबंध में श्री वेंकटसुब्बैया तथा श्री श्रीकांत्य ने भिन्न भिन्न वर्णन किए हैं. उनका तर्क है कि सोरतुर का युद्ध दिसंबर 1190 ई० से पूर्व हुआ, कि लगभग जून, 1191 ई० में भिल्लम ने अपनी सेनाओं का पुनर्गठन किया तथा होयसल राज्य पर पुरः आक्रमण किया तथा उन अधिकांश दुर्गों को पुनः जीत लिया जो पहले उससे छिन गए थे; कि वह 1191 ई० के जुन और दिसंबर के बीच कभी दूसरी बार पराजित हुआ और मार दिया गया; तथा यह कि बल्लाल ने आगामी दो तीन वर्षों के दौरान दुर्गों को पुनः जीत लिया (इं० हि० क्वा०, खंड 4, पृ० 120; 'न्यू० इं० ऐ०, खंड 1, पृ० 414) यह नितांत असंभव प्रतीत है कि, यदि भिल्लम वास्तव में सोरतुर के युद्धों में उतनी बुरी तरह पराजित हुआ था जितना कि होयसल अभिलेख में बताया गया है, तो वह इतनी जल्दी अपनी सेनाओं का पुनर्गठन करके केवल छः महीनों के दौरान ही बल्लाल को उन अधिकांश दुर्गों से खदेड़ने में सफल हो गया, जो थोड़े ही समय पूर्व उससे छीन लिए गए थे.
16. 'समय', 25.
17. 'ए० इं०, iii, पृ० 219.
18. फ्लीट; 'बा० ग०' i, भाग ii, पृ० 521.
19. निस्संदेह, 1194 ई० का एक होयसल अभिलेख 'ए० क०', v, (अर्सी केरे तालुक) नं० 5), बल्लाल द्वारा जैतुगि के विरुद्ध लोक्कुंदि के दुर्ग की विजय का उल्लेख करता है. किंतु वह इसे हाल की घटना नहीं बताता. उसमें वर्णित दुर्ग की विजय वस्तुतः वही थी, जो उस समय हुई जबकि वह मंत्री जैत्रपाल के अधिकार में था, जो स्वयं वास्तव में पिछले शासन काल के दौरान अपने अधिकृतक्षेत्र की रक्षा करते हुए मारा गया गया था,
20. गरपद अभिलेख, 'ए० इं०', xviii, पृ० 351; यह घटना स्वयं महादेव के लघु शासनकाल के दौरान नहीं हो सकती थी, क्योंकि उस समय काकतीय साम्राज्य के अधिकांश भाग पर यादवों का प्राभाविक आधिपत्य था। यह घटना केवल रुद्र के ही शासनकाल में संभव थी, जबकि गादव वंशी होयसलों के विरुद्ध भीषण संघर्ष में व्यस्त थे.
21. हेमाद्रि की 'प्रशस्ति' में, युद्ध में मारे गए काकतीय नरेश का नाम रौद्र दिया गया है। इससे यह निदश मिलता है कि स्वयं रुद्र नहीं, अपितु उसका पुत्र रणक्षेत्र में मारा गया था. यदि रणक्षेत्र में मारे जाने की अपेक्षा, रुद्र स्वाभाविक मौत मरा होता, तो काकतीय साम्राज्य में वह अराजकता न फैलती, जिसका विस्तृत वर्णन पालंपेत अभिलेख में किया गया है ('है० आ० सि०, विनिबंध नं० 3)तथा यह भी सत्य है कि रुद्र का कोई पुत्र ज्ञात नहीं है. उसके बाद भाई महादेव राजा बना था. अतः हमें निस्कर्ष निकालना पड़ता है कि हेमाद्रि को 'प्रशस्ति' में 'रौद्र' 'रुद्र' के लिए लिपिक की भूल थी, क्योंकि वह 'रुद्रस्य-रुद्राकृतेः' में समान प्रतीत होने वाले एक साथ प्रयुक्त दो शब्दों में अंतर बताने के लिए उत्सुक था. दासगुप्ता का यह सुझाव कि रौद्र का प्रयोग, रुद्र के उत्तराधिकारी उसके भाई महादेव के लिए हुआ है (इं० क०, 'vi. पृ० 475) अत्ययंत असंभव प्रतीत होता है क्योंकि भाई को कभी इस प्रकार तद्धित शब्द रूप से इंगित नहीं करते.
22. पालंपेत अभिलेख, है० आ० सि०, विनिबंध नं० 3.
23. वही
24. आर० जी० भंडारकर का मत कि गणपति को उसके चाचा रुद्र ने कारागार में रखा था ('आ० हि० डे०, पृ० 186) तथा एन० एन० दासगुप्ता का अनुमान कि उसके पिता ने ही दुर्व्यवहार के कारण उसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंदी बनाया था, ('इं० क०, 'iii, पृ० 474)—ये दोनों ही मान्य नहीं हैं। इस विषय से 'युधि धृतं' शब्द महत्वपूर्ण हैं, जो स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि गणपति को युद्ध में बंदी बनाया गया था.

25. यह डा० रामराव का विचार है। उनके अनुसार गणपति ने अपने शासन काल के वर्षों की गणना अपने वास्तविक राज्यारोहण के समय से नहीं, अपितु अपने पिता की मृत्यु के समय से की होगी ('ज० आ० हि० रि० सो' vi, पृ० 34). इस सुझाव के समर्थ में उनका मुख्य तर्क यह था कि 1209 ई० से पहले गणपति का कोई अभिलेख नहीं मिलता.
26. 'ए कार्पस आफ़ इंस्क्रिप्शंस इन दि तेलिंगान डिस्ट्रिक्ट्स' पृ० 40.
27. मंगोलि अभिलेख, 'ए० इं०', v, पृ० 33.
28. 'बा० ग०', i, भाग ii, पृ० 521.
29. वही
30. 'आ० स० इं० ऐ० रि०', 1928-9, पृ० 172.
31. कंदगल्ल नामक एक ही ग्राम से प्राप्त, दो अभिलेखों में कहा गया है कि 1500 ई० शासन काल का प्रथम वर्ष था, किंतु तीसरे अभिलेख के अनुसार वह 1210 ई० से पहले आरंभ नहीं हो सकता था. 'अ० स० इं० ऐ० रि०, 1928-9, पृ० 118.
32. क्रमशः 1220 और 1208 ई० के दो कंदगल अभिलेखों को राजा सिंहण के शासनकाल के क्रमशः 20 वें और 8 वें वर्ष का बताया जाता है; वही, और देखिए 'सो० मे० हि० डे०', ii, पृ० 58.
33. 'अ० स० इं० ऐ० रि०', 1928-30, पृ० 175, कल्लरु अभिलेख x, ए० क०, 'viii, सोरब तालुक नं० 2139 का सुझाव है कि 1208-1 ई० प्रारंभिक वर्ष था.
34. कंदगल अभिलेख ('इं० ऐ०', xii, पृ० 100), कुप्पतरु अभिलेख 1 'ए० क०' viii, (सोरब तालुक नं० 250), तथा एलेवत अभिलेख (वही, (सौरब तालुक) नं० 402) एक तीसरी ही तिथि का सुझाव देते हैं.
35. यह तर्क देना संभव है कि सिंहण 1200 ई० में सिंहासन पर बैठा तथा किसी महत्वपूर्ण विजय की खुशी में 1210 ई० में उसका दूसरा अभिषेक हुआ, जब शासन काल के वर्षों की नवीन गणना आरम्भ हुई. किंतु यह वास्तविकता प्रतीत नहीं होती.
36. सिंहण के जन्म को पर्णरवेट की देवी नारसिंही की कृपा माना जाता था, अत: उसका नाम भी वैसा ही रखा गया. देखिए तसगांव तामपत्र पद्य 51, 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 120.
37. कुछ परवर्ती अभिलेख उसे किसी तेलंगान नरेश का सिर काटने तथा अन्य किसी सिर को रिक्त सिंहासन पर रखने का श्रेय देते हैं (मुनोलि अभिलेख, 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०', xii, पृ० 42, चिक्क सकुन अभिलेख, 'मे० आ० स० रि०', 1929, पृ० 143). किंतु यह परंपरा स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रतिबिंबत करती है कि, 'युवराज के रूप में उसने इन घटनाओं के होने में अपने ि ता को सहयोग दिया.
38. 'सा० इं० ए० रि०', 1927-8, परिशिष्ट 'ई' नं० 264.
39. 'इं० ऐं०', ii, पृ० 297.
40. 'ए० क०', ii, (सोरब तालुक) 221, 224, 227, 309, 376; 'सा० इं० इं०', ix, नं० 363-7.
41. 'ए० क०', vii (शिकारपुर तालुक) 95; (होन्नालिता) नं० 44 और 48.
42. वही, vii (होन्नालिता) नं० 20.
43. ग्राहम, कोल्हापुर, पृ० 397.
44. 'इं० ऐं०', x, पृ० 756.
45. 'बा० ग०', i, भाग 2, पृ० 254.
46. 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 19.
47. 'ए० क०', viii, (सोरब तालुक) नं० 135.
48. 'ए० इं०', viii, पृ० 103, पद्य 2.
49. किंतु यह निर्देशित कर देना चाहिए कि 1222 ई० के बहाल अभिलेख के वर्णन से हेमाद्रि के दावे की सत्यता में कुछ संदेह उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि यह अभिलेख के अर्जुनवर्मन की पराजय की चर्चा करता है, उसकी मृत्यु की नहीं.
50. 'हम्मीरमदमर्दन', अंक 1, पद्य 13.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

51. दक्षिणः क्षोणिपालोपि घनसैन्योत्थविक्रमः ।
यैन तद्विपरीतैन परित्यजति विग्रह्य ।।
52. 'ए० क०', vii, (शिकारपुर तालुक) नं० 91,
53. 'वसन्तविलास', पद्य 30.
54. 1222 ई० की तिथि, जो ऊपर मूल पाठ में उस अभियान के संबंध में दी गई है, जिसमें सिह और सिंधु-राज मारे गये थे तथा शंख बंदी बनाया गया था, केवल अत्यंत संभव अनुमान मात्र है. 1228 ई० का अंबे अभिलेख युद्ध में राजा सिंह की मृत्यु का उल्लेख करता है. 1220 और 1230 ई० के बीच रचित 'हम्मीरमदमर्दन' यादवों के हाथों केवल सिंह के भाई सिंधुराज की मृत्यु का ही उल्लेख नहीं करता, अपितु यह भी प्रकट करता है कि इस समय तक संग्रामसिंह को यादवों के कारागार मे छोड़ दिया गया था तथा उसने सिंहण की सहायता से दो बार गुजरात के विरुद्ध अभियान का संगठन करने की चेष्टा की थी। संभवतः कैवे की पुनर्स्थापना की संग्रामसिंह की मांग ('वसन्तविलास', सर्ग 5 में वर्णित) भी 1230 ई० से पहले की गई थी. अतः संग्रामसिंह 1230 ई० से कुछ वर्षपूर्व भड़ोच के सिंहासन पर अधिकार जमाए हुए होगा. इसलिए, उसके पिता एवं चाचा की मृत्यु लगभग 1222 ई० में हुई होगी और उसी साल वह बंदी बनाया गया होगा.
55. 'वसन्तविलास', सर्ग 5; 'कीर्तिकौमुदी', सर्ग 5. यह संभव प्रतीत नहीं होता कि इस अभियान में संग्रामसिंह को अपने सामंतीय अधिराज सिंहण से सहायता प्राप्त हुई थी.
56. गुत्ति के शासक ने 1237 ई० में विद्रोह कर दिया तथा यादव प्रदेश पर आक्रमण किया. सिंहण ने 30,000 घोड़ों से युक्त दृढ़ सेना भेजी, जिसने 1239 ई० में गुत्ति के मुख्य दुर्ग को जीत लिया 'ए० क०', viii, (सोरब तालुक) 250 और 319.
57. 'ए कार्पस इंसक्रिप्शंस इन दि तेलिंगान डिस्ट्रिक्ट्स', पृ० 52.
58. 'इं० ऐं०', xxi, पृ० 200.
59. अंबे अभिलेख 'आ० स० वे० इं०', iii, पृ० 85 से.
60. 'ए० इं०', i, पृ० 45; 'इं० ऐं०', vi, पृ० 212.
61. 'ए० इं०', i, पृ० 340-1.
62. इसी समय दक्षिणी कर्नाटक में काकल नामक एक शासक भी बताया जाता है, ('मैं० आ० स० रि०', 1929, पृ० 142). क्या वह हेमाद्रि द्वारा वर्णित कक्कुल हो सकता है ?
63. गौडनरेश रामपाल, सिंहण के राज्यारोहण से लगभग 80 वर्ष पूर्व ही मर गया था.
64. 'ज० न्यू० सो० इं०', viii, पृ० 151.
65. 'ए० इं०', xxv, पृ० 213 में मिराशो का मत.
66. 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०', xv, पृ० 387.
67. 'अ० हि० डे०', iii, पृ० 195.
68. वह 1229 ई० में युवराज के रूप में कार्य कर रहा था तथा उसके अधीन एक मंत्री था. 'सा० इं० इं०', ix, नं० 367, वह इस तिथि के बाद मर गया होगा.
69. 2 नवंबर 1248 ई०, कृष्ण के शासनकाल के दूसरे वर्ष में पड़ा, किंतु 25 दिसंबर 1248 ई० उसके तीसरे वर्ष में था; 'ए० क०', vii (शिकारपुर तालुक) नं० 217; 'सा० इं० ए० रि०', 1926, परिशिष्ट 'सी', पृ० 426
70. मुनोलि अभिलेख, 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐं० सो०', xii, पृ० 35, नुलंदपुर अभिलेख, 'ए० इं०', xix, पृ० 27.
71. 'इं० ऐं०', vi, पृ० 196.
72 वही, xiv, पृ 314.
73. उदाहरणार्थ, दभोई अभिलेख, 'ए० इं०', i, पृ० 28.
74. 'पी० ए० एच० आई०', पृ० 283.
75. 'ज० बा० रा० ऐं० सो०', xii, पृ० 42.
76. वही, xii, पृ० 4.
77. 'इं० ऐं०', vi, पृ० 196; xiv, पृ० 69.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

78. 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐं० सो०', xii, पृ० 43
79. दभोइ अभि०, 'ए० इं०', i, पृ० 28.
80. 'पी० ए० एच० आई०', पृ० 283.
81. 'ए० इं०', xix पृ० 19.
82. वही, xxi, पृ० 11.
83. उदाहरण के लिए देखिए कृष्ण के तसगांव ताम्रपत्र का पद्य 18, जिनमें जह्लण के पुत्र चंद्रदेव ने कोंकण के राजा को पराजित करने का दावा किया है.
84. 'इं० क०', ii पृ० 417.
85. 'ज० रा० ऐ० सो०', v, पृ० 178.
86. 'ए० इं० xxv, पृ० 129-
87. इसमें कुछ असंभव नहीं है जब अंग्रेजों ने प्राचीन वंश को पदच्युत कर सिंहासन पर हिंदू राजा को बिठाया। तब भी टीपू का मंत्री पूर्निया राज्य पर प्रशासन करता रहा.
88. 'ए० क०', iv (नागमंगल ताबुक नं० 9 : iv, (छन्नरायपट्टण तालुक) नं० 269.
89. वही, vii, (शिकारपुर तालुक) नं० 41; xi, (दावनगिरि तालुक) नं० 79.
90. वही, xi, (दावनगिरि) नं० 59) हरिहर अभिलेख).
91. वही, (दावनगिरि तालुक) नं० 102 और 70.
92. 'सा० इ० ए० रि०', 1932-3, नं० 172.
93. 'ए० क०' vii, (छन्नगिरि तालुक) नं० 21.
94. 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 22.
95. थाना तामपत्र, 'ज० रा० ऐं० सो०', v, पृ० 183.
96. फ्लीट : 'डायनेस्टीज', पृ० 529.
97, तिक्कम को महादेन से इतना अधिक लगाव था कि, महादेव की मृत्यु के दस वर्ष बाद उसने 1280 ई० में, अपने स्वर्गीय मालिक की याद को बनाए रखने के लिए हरिहर नामक स्थान पर मंदिर का निर्माण करवाया, 'ए० क०', xi, (दावनगिरि तालुक) नं० 59.
98. 'ए० इं०', xxv, पृ० 290.
99. 'भानुविलास' नामक महानुभाव ग्रंथ के लेखक ने कहा है कि रामचंद्र ने, अपने चचेरे भाई को अचानक ही उस समय पकड़ लिया, जब वे दोनों शिकार के लिए गए हुए थे. सरकारी दस्तावेज होने के कारण ताम्रपत्र के वर्णन को 'भानुविलास' के वर्णन की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय मानना चाहिए, क्योंकि उसका लेखक लौकिक की अपेक्षा आध्यात्मिक मामलों में अधिक रुचि रखता था.
100. 'लीलाचरित्र', लीला नं० 725, 'भानुविलास'.
101. परशुराम व्यास के 'नागदेवचरित्र' में कहा गया है कि अम्मण रामचंद्र द्वारा मारा गया था. किंतु, चूंकि यह ग्रंथ बाद में मुसलमानों द्वारा रामचंद्र की पराजय एवं कैद का कारण उसके चचेरे भाई को मारने का पाप बताता है, अतः उसके वक्तव्य की ऐतिहासिक सत्यता पर संदेह हो जाता है, अन्य महानुभाव ग्रंथ केवल यही कहते हैं कि अम्मण को अंधा किया गया था.
102. फ्लीट, 'डायनेस्टीज', पृ० 329, रामचंद्र के कुछ परवर्ती अभिलेख (उदाहरणार्थ 'ए० क०', viii, नं० 209) इस बात का सुझाव देते हैं कि उसके शासनकाल का आरंभ 1270 ई० में हुआ. इसका कारण, अम्मण के लघु शासनकाल की अवहेलना करना होगा, क्योंकि रामचंद्र के समर्थक उसे केवल बलाद्ग्राही मानते थे.
193. एलियट, iii, पृ० 24.
104. उदरि अभिलेख' 'मैं० आ० स० रि०', 1929, पृ० 143.
105. थाना ताम्रपत्र में यादवों की विजय का दावा किया गया है, जबकि 'चित्र प्रशस्ति' में गुर्जरों की विजय का उल्लेख है.
106. जनवरी 1272 ई० में जारी किए गए पैठन ताम्रपत्र में मालवों के विरुद्ध प्राप्त की गई विजय का उल्लेख है.
107. बाद में हम एक अन्य हरपाल का उल्लेख पाएंगे, जो रामचंद्र का दामाद था. चुंकि 1275 ई० में रामचंद्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल लगभग 25 वर्ष का युवक था, अत: यह संभव नहीं प्रतीत होता कि होयसल अभियान के समय उसका कोई भी दामाद हो सकता था.

108. 'ए० क०', v, वेलूर नं० 120, 165, 167.

109. निम्न गद्यांश, रामचंद्र के पुरुषोत्तमपुरि ताम्रपत्र द्वारा दी गई सूचना पर आधारित है, 'ए० इं० xxv, पृ० 199.

110. पुरुषोत्तमपुरि ताम्रपत्र के पद्य 17 में किए गए कान्यकुब्ज और कैलाश के वर्णन का कारण अनुप्रास अलंकार व्यक्त करने का इच्छा प्रतीत होती है न किसी वास्तविक घटना का वर्णन करने की इच्छा.

111. पुरुषोत्तमपुरि ताम्रपत्र, पद्य 17 तथा बा० ग०, i, भाग ii, पृ० 27: (सोरब तालुक) से प्राप्त, 1294 ई० के एक अभिलेख में 'शत्रु कोंकणकों के शिकारी' के रूप में एक अधिकारी का उल्लेख हुआ है ('ए० क०', viii एस० बी० नं० 502). यह व्यक्ति हाल ही में कोंकण के अभियान से लौटा होगा.

112. वह सितंबर 1310 ई० में जीवित था, जबकि उसने पुरुषोत्तमपुरि ताम्रपत्र को जारी किया था.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रशासनिक व्यवस्था

यादव साम्राज्य में राजतंत्र की सामान्य विशेषताएं थीं। पिता के बाद ताज प्रायः सबसे बड़े पुत्र को मिलता था। कुछ दृष्टांतों में, जब सबसे बड़ा पुत्र नाबालिग होता था, तो अंतिम राजा का छोटा भाई सिंहासन पर बैठता था। इससे कभी कभी पारस्परिक झगड़े हो जाते थे, उदाहरणार्थ भिल्लम पंचम के राज्यारोहण (लगभग 1180 ई०) से पहले के 25 वर्षों में एक से अधिक बार ऐसे झगड़े हो चुके थे। विरोधी राजकुमारों के हितों को संतुष्ट करने के लिए साम्राज्य के विभाजन का कोई उदारहण ज्ञात नहीं है और छोटे भाई द्वारा अपने वंशजों के लिए सिंहासन बनाए रखना भी जनमत को सह्य नहीं था। अपने बड़े भाई कृष्ण के शासनकाल के दौरान, महादेव ने ही युवराज के कर्तव्य निभाए थे, तथा उसके बाद वही सिंहासन पर बैठा क्योंकि कृष्ण का पुत्र रामचंद्र अपने पिता की मृत्यु के समय अत्यंत छोटा होने के कारण शासन करने योग्य न था। किंतु न्यायोचित अधिकारी और अपने भतीजे रामचंद्र की जगह अपने पुत्र अम्मण के लिए सिंहासन प्राप्त करने के महादेव के प्रयास अस्थाई रूप से ही सफल हुए। उच्च अधिकारियों तथा सेनापतियों ने रामचंद्र का पक्ष लिया और उसी का समर्थन किया।

राजा

राजनीतिशास्त्र के समकालीन ग्रंथों में अभिव्यक्त यह धारणा कि राजा के कर्तव्य पृथ्वी के दैविक रक्षकों के समान होते हैं, हमारे कुछ अभिलेखों में पाई जाती है।[1] किंतु राजाओं ने कभी यह दावा नहीं किया और न कभी उनको इसका श्रेय ही दिया गया कि वे कोई गलती न करेंगे। रानियां तथा राजकुमारियां शायद ही कभी प्रशासन में भाग लेती थीं। सिंहण के अधीन, खानदेश के सामंत खोलेश्वर की बहन लक्ष्मी, अपने भतीजे के नाबालिग होने के दौरान अपने भाई के प्रदेश पर शासन करती हुई दिखाई देती है। तर्देवादि पर शासन करने वाली भागुबाइ संभवतः सिंहण की ही संबंधी थी। किंतु ये दो दृष्टांत अपवाद ही प्रतीत होते हैं।

लगभग 300 वर्षों तक यादव राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के सामंत के रूप में छोटे से प्रदेश पर शासन करते रहे। किंतु जब उन्होंने साम्राज्यिक स्तर प्राप्त कर लिया, तो उनके नियंत्रण में आने वाले क्षेत्र का तब तक निरंतर विस्तार होता गया, जब तक अंत में वह राष्ट्रकूटों अथवा चालुक्यों के साम्राज्य के बराबर क्षेत्र में फैल नहीं गया। सिंहण एवं उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल के दौरान, दक्षिणी गुजरात, मराठी मध्यप्रदेश तथा बरार, बंबई महाराष्ट्र, हैदराबाद राज्य का पश्चिमार्ध, बंबई कर्णाटक, सीडिड प्रांत तथा मैसूर के उत्तरी जिले भी यादव साम्राज्य में सम्मिलित थे। हैदराबाद राज्य के पूर्वी अर्धभाग में राज्य करने वाले काकतीय, दीर्घकाल तक यादवों के सामंत थे, किंतु उन्हें पूर्ण आंतरिक स्वायत्तता दे दी गई थी। प्रथानुसार साम्राज्य के अंदर ही ऐसे अनेक सामंत थे, जिनके प्रायः निजी सामंत एवं उप प्रमुख होते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदाहरणार्थ, सिंहण के शासन काल के दौरान, खानदेश और बरार का प्रशासन खोलेश्वर के हाथों में था, जिसके अधीन अमीर, निकुंभ व अन्य परिवारों के अनेक छोटे छोटे राजकुमार थे। कर्णाटक में भी यादवों के सामंतों के रूप में रट्ट, गुप्त तथा कदंबवंशी शासन कर रहे थे, किंतु उन्हें इच्छानुसार बहुत से कार्य करने की वास्तविकता स्वतंत्रता भी प्राप्त थी।

सामंत तथा उपराजा

सामान्यतया इन सामंतों की शक्ति एवं उनके विशेषाधिकार वही प्रतीत होते हैं जो उन्हें राष्ट्रकूट प्रशासन के अधीन प्राप्त थे। उन्हें निश्चित कर राशि देनी पड़ती थी तथा सम्राट के आदेश पर साम्राज्यिक अभियानों में भाग लेने के लिए अपनी सेनाएं लानी पड़ती थीं। लेकिन अन्य मामलों में लगभग स्वतंत्र शासकों के समान प्रतीत होते हैं। वे धर्मार्थ व अन्य विषयों के लिए राजस्व अलग कर सकते थे; इतना ही नहीं, साम्राज्यिक उपराजा को भी उनके राजस्व में से दान देने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त करनी होती थी।[2]

जो क्षेत्र सामंतों के अधीन न थे, उन पर उपराजाओं के माध्यम से केंद्रीय सरकार का प्रत्यक्ष प्रशासन होता था। यह आश्चर्य की बात है कि प्रायः इनको भी सामंत की हैसियत एवं उपाधि प्राप्त थी उनके बा उनका पद, उनके पुत्रों को मिलता था।[3] अतः पिछले गद्यांश में वर्णित सामंतों से इनका अंतर केवल यही है कि इनकी उत्पत्ति बाद में हुई थी तथा इनके ऊपर साम्राज्यिक शक्ति का अधिक प्रत्यक्ष अधिकार था। सर्वाधिक सफल सैनिक नेताओं में से ही प्रांतीय उपराजाओं का चयन होता था, प्रायः उन्हें दंडनायक की उपाधि दी जाती थी। वे छोटे स्तर के सामंतीय प्रमुखों पर नियंत्रण रखते थे, कानून और व्यवस्था को बनाए रखते थे, केंद्रीय सरकार को कर उगाह कर देते थे तथा भू-राजस्व का संग्रह करते थे। उन्हें राज्यकरों को बांटने अथवा ग्राम दान का कोई अधिकार नहीं था। बीचण जैसे शक्तिशाली एवं अधिराज के कृपा-पात्र उपराजा को भी, जिसके सामने छोटे छोटे मुखिए तो डर से कांपते थे, धार्मिक उद्देश्य के लिए एक ग्राम के राजस्व को दान करने से पहले अपने अधिराज सिंहण की अनुमति प्राप्त करनी पड़ी थी।[4] महत्वपूर्ण प्रांतीय उपराजाओं को न केवल सामंतीय स्तर प्राप्त था, अपितु उनके न्यायालय भी थे तथा वे निजी मंत्रियों को भी नियुक्त करते थे।

यह अचरज की बात है कि यादव अभिलेख राष्ट्रकूट दान पत्रों की तरह 'राष्ट्रपति', 'विषयपति' एवं 'भोगपति' जैसे क्षेत्रीय अधिकारियों के विभिन्न स्तरों का उल्लेख नहीं करते हैं। इसी कमी के कारण, यादवों के काल के निश्चित प्रशासनिक प्रभागों एवं उनके नामों के संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है। यद्यपि उपलब्ध विद्यमान दान पत्रों में इनका विशेष रूप से कोई उल्लेख नहीं है, फिर भी यह संभव है कि यादव साम्राज्य भी 'राष्ट्रों' और 'विषयों' में विभक्त था।

मंत्रिपरिषद

केंद्रीय सरकार का कार्य मंत्रिपरिषद की सहायता से राजा स्वयं चलाता था। सुचारु प्रशासन के लिए ऐसी परिषद का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। जब युवराज उपराजा का कार्य करते थे तो वे अपने मंत्रियों को स्वयं नियुक्त करते थे तथा महत्वपूर्ण गवर्नरों के पदों पर नियुक्त किए गए साधारण व्यक्तियों के संबंध में भी ऐसा ही होता था। इस प्रकार एक जगह युवराज जैतुगि के मंत्री तथा दूसरे अभिलेख में रामचंद्र के दक्षिणी उपराजा तिक्कमदेवराय के महामंत्री का उल्लेख है।[6] 1063 ई० में, जब यादव छोटी सामंतीय शक्ति के रूप में थे, उनके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंत्रिमंडल में सात अधिकारी थे, जिनमें प्रधानमंत्री (महाप्रधान), विदेश मंत्री (संधिविग्रही) राजस्व मंत्री (महामात्य), युद्धमंत्री (महा-प्रचंडदंडनायक) तथा मुख्य सचिव (पटलकरणि) सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि, साम्राज्यिक काल के अभिलेखों में विभिन्न मंत्रियों के विभागों के नाम सुरक्षित नहीं हैं। किंतु पूर्ववर्ती एवं समकालीन प्रथा के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 1069 ई० में विद्यमान सभी विभाग मंत्रिमंडल में सम्मिलित होंगे ही तथा इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकारी भी होंगे, जैसे धर्म विषयक मंत्री (पंडित) तथा न्याय मंत्री (प्राड्विवाक)। राज्य का विस्तार साम्राज्य के रूप में हो जाने पर विभिन्न मंत्रियों के अधीन काम करने वाले सहायकों अथवा सचिवों की संख्या भी काफी बढ़ गई होगी।

बीचण, तिक्कमरस, पुरुषोत्तम आदि कुछ अधिकारियों को, जो निस्संदेह प्रांतीय उपराजा थे, यादव अभिलेखों में महाप्रधान अर्थात प्रधान मंत्री के रूप में भी वर्णित किया गया है। चूंकि तत्कालीन संचार साधन अत्यंत शिथिल थे, अतः यह संदिग्ध है कि देवगिरी में स्थित केंद्रीय सरकार के मुख्य अधिकारी, दक्षिणी कर्णाटक जैसे दूर स्थित प्रांतों के उपराजाओं के रूप में भी कार्य कर सकते थे। किंतु, अनेक यादव वाइसरायों द्वारा महाप्रधान अर्थात प्रधान मंत्री की उपाधि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपाधि इस ओर इंगित करती थी कि उससे विभूषित प्रांतीय उपराजाओं का स्तर वास्तव में प्रधानमंत्री के स्तर के समान था, न कि यह कि वे वास्तव में उस अधिकारी के कर्तव्य निभा रहे थे।

राष्ट्रकूटों के काल के समान ही यादवों के काल में भी, मंत्री पद प्राप्त करने के लिए, प्रत्यक्षतः सैनिक कमांडर के रूप में दक्षता को अपरिहार्य गुण माना जाता था। पहले यादव सम्राट भिल्लम पंचम का प्रधान मंत्री जैत्रपाल, सेनापति के रूप में भी उतना ही महान था जितना राजनीतिज्ञ के रूप में। लगभग सभी महत्वपूर्ण अधिकारियों का यही हाल था, जिन्हें हमारे अभिलेखों में प्रायः दंडनायकों अर्थात सैनिक नेताओं के रूप में वर्णित किया गया है।

यह सोचा जा सकता है कि 'वृतखंड' के कट्टर ब्राह्मण लेखक हेमाद्रि को जब महादेव ने मंत्री पद के लिए चुना तथा जब रामचंद्र ने उसे उसी पद पर बनाए रखा, तो सैनिक योग्यता की आवश्यकता का परित्याग कर दिया गया होगा। किंतु वास्तव में ऐसा नहीं हुआ था। समकालीन प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि युद्ध के लिए हाथियों के प्रशिक्षण के सिद्धांत एवं प्रयोग से हेमाद्रि उसी प्रकार भली भांति परिचित था जैसे विभिन्न वृत्तों के विवरणों से। केवल यही नहीं उसने एक सफल सैनिक अभियान का नेतृत्व भी किया था, तथा झाड़ि जिले में एक विद्रोह का दमन किया था।[6] कृष्ण का प्रधान मंत्री नागरस भी उतना ही महान विद्वान था जितना महान वह सैनिक के रूप में था।[7]

यह स्पष्ट है कि इस युग में, साहित्यकार भी सैनिक ज्ञान तथा नेतृत्व की कला का संवर्द्धन करते थे। चंगदेव, जो सिंह के दरबार का ज्योतिषी था, अत्यंत चतुर खड्गधारी तथा प्रवीण भालाधारी था।[8] मंत्रियों से राजनीतिक मामलों के सिद्धांत एवं प्रयोग में निष्णात होने की भी अपेक्षा की जाती थी। उनमें से कुछ का स्पष्टतः ऐसे व्यक्तियों के रूप में वर्णन किया गया है, जिनकी बुद्धि राजनीति व अन्य विज्ञानों के अध्ययन से मिश्रित तथा विकसित हुई थी[9]। कृष्ण का प्रधानमंत्री नागरस विद्वान और सैनिक के रूप में समान रूप से पारंगत था[10]।

ऐसा माना जाता था कि मंत्रिमंडल की कार्यशीलता की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि राजा अपने मंत्रियों में उतना ही विश्वास रखने में समर्थ हो जितना वह अपने दिल पर रखता था, तथा दूसरी ओर मंत्रियों को भी 'राजनीति शास्त्र में विष्णुगुप्त (कौटिल्य)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा चतुर, तथा शत्रु का नाश करने में यम देवता जैसा दक्ष' होना चाहिए था। वास्तव में इस अधिघोषणा के अनुरूप ही, कुछ मंत्रियों को राजा के घनिष्ठ मित्र तथा निकट साथियों में रूप में, तथा अन्य को उसके दायां हाथ अथवा उसके प्रवक्ता के रूप में वर्णित किया गया है।[11]

अधिकांश महत्वपूर्ण मंत्रियों तथा सेनापतियों को 'महासामंतों' अथवा 'महामंडलेश्वरों' का स्तर प्राप्त था। संभवतः उन्हें मौद्रिक वेतन के बराबर दी गई जागीरें भी प्राप्त थीं तथा वे उनके उचित प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी थे। महाप्रधान मल्लिसेट्टि को अपने ही अधिकार अथवा जागीर (स्वाधिकारविषये) में स्थित ग्राम के राजस्व का दान करते हुए वर्णित किया गया है।[12] छः हजारी तोरगल तथा एक हजारी सिंदेवादि, जिन पर क्रमशः महाप्रधान पुरुषोत्तम एवं बसवर्स का प्रशासन था, संभवतः उन्हीं की जागीरें थीं।

प्रांतीय एवं जिला अधिकारी

प्रांतीय एवं जिला अधिकारियों को केंद्रीय सचिवालय अपने निरीक्षक कर्मचारी वृंद के माध्यम से नियंत्रित करता था। इस वृंद के सदस्यों को गणक अथवा लेखाकार कहते थे। उनके कर्तव्य संभवतः वाकाटक प्रशासन के 'वल्लभाज्ञसंचारिनों' के कर्तव्यों के समान ही थे। इस निरीक्षक कर्मचारीवृंद के सदस्य कभी कभी स्वयं भटक जाते थे तथा उनके ऊपर के अधिकारी उन्हें सचेत करते थे।[13] जब शाही अधिकारी निरीक्षण के लिए ग्रामों में जाते थे, तब उनका पर्याप्त मनोरंजन किया जाता था।[14] ग्रामीण जनता ही इस व्यय को वहन करती थी। अनेक अभिलेखों में, इन शाही अधिकारियों के आगमन, अस्थाई निवास तथा प्रस्थान के संबंध में जिन शुल्कों एवं विशेष करों का वर्णन किया गया है, वे उनके खर्चे के भुगतान के लिए ही लगाए जाते होंगे।

सामान्यतया प्रशासनिक व्यवस्था काफी दक्ष एवं सचेत थी। सेनाओं की गतिविधियों तथा शत्रुओं के कृत्यों से होने वाली हानि के लिए, सरकार ग्रामीणों को मुआवजा दिया करती थी।[15] जब धार्मिक उद्देश्यों के लिए भूमि का दान होता था तब भी दक्ष प्रशासन के लिए आवश्यक कदम उठाए ही जाते थे। ऐसे अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती थी जो स्थानीय प्रयोग एवं प्रथाओं के प्रतिकूल थे। प्रशासन दूरस्थ जमींदारी को प्रोत्साहन नहीं देता था। कुछ दानपत्रों में कहा गया है कि यदि दान लेने वाले ब्राह्मण गांव में रहें तभी दान दिए गए राजस्व में अपना हिस्सा ले सकते हैं। उनसे व्यवहार में सच्चरित्र और निष्ठावान रहने की भी अपेक्षा की जाती थी। गणिकाओं को शरण देने पर पाबंदी थी, जुआ खेलना भी वर्जित था तथा दानग्रहण करने वाले सैनिक समूहों में संगठित नहीं हो सकते थे।[16]

कारागार एवं ग्रामपंचायतें

अपराधियों को कैद में रखने के लिए कारागार थे, जहां उन्हें जंजीरों में रखा जाता था। छोटे अपराधों तथा असैनिक मुकद्दमों की सुनवाई, प्रधान की अध्यक्षता में ग्राम पंचायत की सहायता से स्थानीय स्तर पर ग्रामचावडि[17] में होती थी। गंभीर अपराधों का निर्णय केंद्रीय सरकार के अधिकारी करते थे। केंद्रीय यादव प्रशासन पर जनमत का कितना प्रभाव था उसका कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। हमारे अभिलेखों में केंद्रीय अथवा प्रांतीय स्तर पर जनता की प्रतिनिधि सभाओं का कोई उल्लेख नहीं है, संभवतः ऐसी सभाएं थी ही नहीं। किंतु कानून और व्यवस्था बनाए रखने के अतिरिक्त, केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के कुछ अन्य कर्तव्य भी थे। सरकार के अधिकांश कल्याणकारी एवं विकासमूलक कार्य ग्राम सभाएं संपन्न करती थीं, जिनमें

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जनमत का प्राबल्य था। अतः प्रशासनिक मामलों में केवल ग्राम पंचायतों के माध्यम से ही, निश्चित रूपरेखा के अंतर्गत ही जनता का मत प्रभावशाली हो सकता था।

राजस्व के स्रोत

हमारे अभिलेखों में दान ग्रहण करने वालों को दिए विशेषाधिकारों से यादवों के काल में राजस्व के मुख्य स्रोतों का अन्दाज लगता है। हम देखते हैं कि वे लगभग वही थे, जो राष्ट्रकूटों के काल में भी थे। खदानों, छुपे हुए कोषों, बंजर भूमि, चारागाहों, वनों, फलोद्यानों (राज्य की भूमि पर), झीलों तथा सार्वजनिक कुओं पर राज्य का स्वामित्व था; हमारे अनेक अभिलेख उपर्युक्त स्रोतों से हुई आय के राज्य द्वारा दानपत्र में दिए गए व्यक्तियों को हस्तांतरण का उल्लेख करते हैं। कृषियोग्य भूमि व्यक्तियों की निजी संपत्ति थी।[18] जो राज्य को भूमि कर (उद्रंग) दिया करते थे तथा यही राजस्व का मुख्याधार होता था। कृषकों पर कुछ अन्य छोटे शुल्क भी लगाए जाते थे, जिन्हें उपरिकर कहते थे। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यादवकालीन भूमि कर का संपात निश्चित नहीं किया जा सकता, किंतु जब भूमि मंदिरों तथा ब्राह्मणों को दानकर दी जाती थी, तो भूमिकर की प्रतिशत दर कम कर दी जाती थी।

आगमशुल्क तथा उत्पादनशुल्क राजस्व के अन्य महत्वपूर्ण स्रोत थे। यादव अभिलेखों में प्रायः आगमशुल्क अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।[19] किंतु यह ज्ञात नहीं कि वे अपने कर्तव्य किस तरह निभाते थे तथा विभिन्न वस्तुओं पर किस दर से शुल्क लगाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य व्यापारी द्वारा बाजार में लाए गए माल में से सर्वोत्तम माल को अपने कर का हिस्सा मानकर मांग लेना अपना अधिकार समझता था। निस्संदेह यह अधिकार सदा लागू नहीं किया जाता था, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि आम तौर पर माल के विक्रय पर 5 से लेकर 20 प्रतिशत तक का शुल्क लगाया जाता था।

सैनिक संगठन तथा नौसेना

अंशतः समकालीन अभिलेखों से तथा अंशतः लगभग 1290 ई० में रचित ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' से हमें कभी कभी यादवकालीन सैनिक संगटन की झलक मिल जाती है। ग्राम्य प्रजारक्षक दलों के सदस्यों में से सावधानी पूर्वक सैनिकों का चयन होता था। तीर कमान, खड्ग, तथा भाला मुख्य हथियार थे। आत्मरक्षा का मुख्य साधन ढाल थी, किंतु सैनिकों को बख्तर भी दिए जाते थे। नियमित सेनाओं में नौकरी के लिए प्रतिस्पर्धा रहती थी, क्योंकि युद्ध में प्राप्त लूट का कुछ अंश सैनिक अपने पास रखते थे।[20]

यादव सेनाओं का कुछ अंश स्थाई सेना थी, जिनकी भरती स्वयं केंद्रीय सरकार करती थी और वही उनको वेतन भी देती थी, इसके अतिरिक्त प्रांतीय उपराजा तथा सामंत भी सैनिक जुटाते थे। इस प्रकार संपूर्ण साम्राज्यिक सेना में सामान्य एकता स्थापित करने की भावना का अभाव था तथा उसकी शक्ति उपराजाओं एवं सामंतों की निष्ठा, सद्भावना और दक्षता पर निर्भर करती थी, क्योंकि वे ही विभिन्न टुकड़ियों का नेतृत्व करते थे। यादव साम्राज्य के पास लंबा समुद्र तट था तथा इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उसने एक छोटी स्थाई नौसेना भी बना रखी थी। वास्तव में शिलाहारों की द्वितीय राजधानी पुरी को जीतने के लिए इसका प्रयोग भी किया गया था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी अथवा पश्चिमी मार्गों पर नियंत्रण करना नौसेना का उद्देश्य नहीं था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. 'ए० इं०', iii, पृ० 112, बद्दाल अभिलेख, पद्य 10.
2. देखिए हरतल्लि ताम्रपट्ट, 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०', xv, पृ० 386.
3. इस प्रकार खोलेश्वर तथा मल्लिसेट्टि के उत्तराधिकारी क्रमश: उनके पुत्र रामचंद्र और चौंडिसेट्टि थे.
4. थाना ताम्रपत्र में इस अनुमति के उल्लेख की भूल केवल आकस्मिक ही प्रतीत होती है, देखिए 'ए० इं०'. xiii, पृ० 203.
5. 'सा० इं० इं०', ix, नं० 367 और 387.
6. 'ज० रा० ए० सो०', v, पृ० 183.
7. 'इं० ऐं०', vii, पृ० 39.
8. वही.
9. तुलना कीजिए : अनेकराजनीतिशास्त्रोक्तविवेकवर्द्धितबुद्धिकौशल:='इं० ऐं०', xii, पृ० 126.
   यो जिह्वा पृथिवीशस्य यो राक्षो दक्षिणो भुज: =इं० ऐं०, xiv, पृ० 10.
10. 'ए० इं०', xxi, पृ० 13.
11. विश्वासे हृदयोपमं परबलध्वंसे कृतान्तोपमं । बुद्धौ
    नूतनविष्णुगुप्त सदृशं='ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०', xv, पृ० 5.
12. 'सा० इं० इं०', ix, नं० 363.
13. 'इं० ऐं०', xii, पृ० 127.
14. ज्ञानेश्वरी', 18. 795.
15. स्वचक्रपरचक्रोत्थितविदुलादिद्रव्योपक्षयाद्युपद्रवादिविवर्जित : 'इं० ऐं०', xii, पृ० 119.
16. 'ए० इं०', ii, पृ० 217; 'इं० ऐं०', xiv, पृ० 318-19.
17. 'ज्ञानेश्वरी', 16, 295.
18. मंदिरों अथवा ब्राह्मणों को जब ग्राम दान कर दिए जाते थे, तब वे केवल उन्हीं राजस्वों के अधिकारी होते थे, जो राज्य ग्रामों से प्राप्त करते थे. इन ग्रामों के सम्मिलित खेतों से एकत्र की गई उपज पर उनका कोई अधिकार नहीं होता था देखिए 'इं० ऐं०', xiv, पृ० 69; 'ज० बा० ब्रा० रा० ऐ० सो०', xii, पृ० 7.
19. 'सा० इं० इं०', ix, नं० 364.
20. 'ज्ञानेश्वरी', 7. 11; 9. 214; 18, 1047, 18-46.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म

हिंदू, जैन एवं बौद्ध धर्म

हिंदू, जैन एवं बौद्ध --प्राचीन भारत के इन तीन प्रमुख धर्मों में से, यादव काल के दौरान बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त हो चुका था। हमारे काल के दौरान कन्हेरी अथवा अंजता को बौद्ध धर्म के सक्रिय केंद्र दर्शाने के लिए न तो मूर्तियां हैं, न चित्रकला और न ही अभिलेख। 11वीं शताब्दी में कर्णाटिक में दंबल नामक स्थान पर एक बौद्ध प्रतिष्ठापन स्थित था, किंतु यादव काल में उसका अस्तित्व संदिग्ध है। उसके मठों के लुप्त हो जाने से, बौद्ध धर्म भी इस भूमि से समाप्त हो गया क्योंकि अब साधारण अनुयायियों के लिए उसका कोई संगठन न था। हिंदू धर्म ने बौद्ध की अनेकों विशेषताएं ले लीं तथा उसने धीरे धीरे अपनी उन सभी विलक्षणताओं को छोड़ दिया, जिसका बौद्ध परिहास करते थे। स्वयं बुद्ध को, इस समय तक, हिंदू धर्म में सर्वोच्च देव का अवतार मान लिया गया था। इस प्रकार हिंदू और बौद्ध धर्मों का मिश्रण हो गया। हिंदू धर्म ने बौद्ध धर्म का स्थान नहीं लिया, अपितु उसे अपने में मिला लिया।

प्राचीन काल से हिंदू समाज में चली आ रही सहिष्णुता और एकरूपता की भावना, यादव काल में भी जारी रही। इस काल का एक दकनी अभिलेख, जो सर्वोच्च भावना को एक ही समय में शिव, ब्रह्मदेव, विष्णु, जिन और बुद्ध भावना के रूप में वर्णित करता है, इस युग की धार्मिक प्रवृत्ति की झलक प्रस्तुत करता है। यह प्रवृत्ति नास्तिक धर्मों के संस्थापकों को भी सर्वोच्च आत्मा के अनेक अवतार मानती थी।[1]

इसमें आश्चर्य नहीं कि जब धार्मिक दृष्टिकोण ही इतता विस्तृत और सहिष्णु था, तो विभिन्न प्रकार के मतों के अनुयायी भी एक साथ मित्रतापूर्वक रहते थे। वास्तव में हम देखते हैं कि हिंदुओं और जैनों में परस्पर विवाह भी होते थे। उदाहरणार्थ, होयसल नरेश वीर-बल्लाल का एक मंत्री, चंद्रमौलि, शैव था किंतु उसकी पत्नी अच्यक्का कट्टर जैन थी, जो नियमित रूप से जैन मंदिर में पूजा करती थी[2]। ब्राह्मणों को प्रायः जिनके कमलपुष्परूपी पादों के भंवरें बताया गया है[3] अतः हमें एक ही दानकर्ता द्वारा हिंदू मंदिरों और जैन 'बसदियों' की स्थापना एवं स्थाई निधि बनाने के दृष्टांतों से अंचभित नहीं होना चाहिए[4]।

दुर्भाग्यवश, तत्कालीन एकरूपता की भावना को, 12वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वीर-शैव (लिंगायत) मत के उदय से, कुछ हद तक आघात पहुंचा। जैनधर्म और इस नवीन धर्म के अनुयायियों के बीच कड़ा विरोध था, तथा कभी कभी वे खुलेआम लड़ पड़ते थे। इस स्थिति का एक कारण यह भी था कि वीरशैव संप्रदाय के अधिकांश अनुयायी व्यापारी वर्ग के थे, जबकि एक लंबे अर्से से जैनधर्म ही इस वर्ग में अत्यंत लोकप्रिय धर्म था। किंतु, जिसे सक्रिय धार्मिक संहार कहते हैं, वह विद्यमान न था, क्योंकि शासक विरोधी मतों एवं उनके अनुयाइयों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण बनाए रखने की चेष्टा करते थे। यादव नरेश कट्टर हिंदू थे किंतु, हम देखते हैं कि वे नवीन धर्म तथा अपने धर्म के भी अनुयायियों को संरक्षण प्रदान करते थे। उदाहरणार्थ सिंहण के गदग अभिलेख में उसके द्वारा गदग के त्रिकूटेश्वर नामक एक वीरशैव मंदिर को दिए गए दान का उल्लेख है[5]।

देवालय

देवालय अब भी हिंदुओं द्वारा सार्वजनिक पूजा के प्रमुख केंद्र थे। उनमें पूजे जाने वाले देवता पौराणिक देवता थे जैसे शिव, कृष्ण, माधव, सूर्य आदि। पंधरपुर तथा उसका विट्ठल मंदिर पहले ही पूजा का प्रसिद्ध केंद्र बन चुका था। हम देखते हैं कि अपने अभियान के दौरान, कृष्ण के दक्षिणी उपराजा मल्लिसेट्टि ने उसके निकट अपने शिविर लगाए हुए उसके मंदिर को दान दिया था[6]। यह द्रष्टव्य है कि उस समय पंधरपुर के देवता विष्णु के नाम से प्रख्यात थे, न कि विट्ठल के नाम से। मरे हुए राजाओं के नामों पर भी मंदिरों का निर्माण होता रहा। उदाहरणार्थ, महादेव के सेनापति तिक्कम ने अपने स्वर्गीय स्वामी की स्मृति में हरिहर के स्थान पर महादेव-राय-नारायण नामक मंदिर बनवाया।[7]

इस काल के अभिलेखों से पता चलता है कि तत्कालीन मंदिरपूजा लगभग वैसी ही थी जैसी आजकल है। कस्तूरी एवं चंदन तिलक का प्रयोग होता था। पुष्प एवं मालाएं अर्पित की जाती थीं, सुगंधित इत्र जलाए जाते थे, तथा आनुष्ठानिक लय पर दीपों एवं कर्पूर पात्रों को धीरे धीरे हिलाया जाता था। विशेष अवसरों पर संगीत एवं नृत्य से भी आराधकों का मनोरंजन किया जाता था।[8]

कल्याणकारी एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए भी मंदिर अब भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र बने रहे। उनमें विश्राम गृहों का संचालन होता था, जहां निराश्रय लोगों को निःशुल्क भोजन प्राप्त होता था। कुछ मंदिर उच्च शिक्षा के लिए महाविद्यालयों का संचालन करते थे तथा उनके द्वारा प्रशासित सत्रों में गरीब विद्यार्थियों को अमूल्य सहायता दी जाती थी।[9]पुराणों का सस्वर पाठ शिक्षितों एवं अशिक्षितों—दोनों में ही हिंदू सिद्धांत एवं संस्कृति का प्रसार करता था, और इस संपूर्ण काल में मंदिर की गतिविधियों का विशिष्ट तथ्य बना रहा।

इस काल में निजी अथवा वैयक्तिक धर्म, स्मृतियों, पुराणों एवं निबंधों द्वारा प्रस्तुत विचारों एवं सिद्धांतों से पूर्णरूपेण प्रभावित था। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इस काल का कोई भी राजा अथवा दान ग्रहण करनेवाला वैदिक अनुष्ठानों को संपन्न करता हुआ नहीं दिखाया गया है। इसमें संदेह नहीं कि वेदों को अब भी श्रुति ही माना जाता था, किंतु धर्म के क्षेत्र में अब वेदों में प्रतिपादित सिद्धांतों का नहीं अपितु पराशर एवं अंगिरस जैसे परवर्ती स्मृति लेखकों के विचारों का आधिपत्य था।[10] किंतु सामान्यतया इन स्मृतियों का स्थान भी अब पुराण एवं निबंध लेते जा रहे थे, जिनमें दिए गए व्रत भी लोकप्रिय होते जा रहे थे। उदाहरणार्थ, राजा भिल्लम को वैदिक यज्ञों का नहीं अपितु व्रतों एवं उपवासों का भक्त बताया गया है।[11] महादेव और रामचंद्र कालीन एक राज्य मंत्री हेमाद्रि ने इन सभी व्रतों और उपवासों का संक्षिप्त संग्रह तैयारकिया था। हमयह आसानी से मान सकते हैं कि इनमें से अधिकांश सामान्यतया लोकप्रिय हो गए थे तथा स्वतंत्र रूप से उद्धृत किए जाते थे। कुछ बाद के काल के एक अभिलेख (1378 ई०) से पता चलता है कि किस प्रकार वेम के राजा ने हेमाद्रि द्वारा निर्देशित सभी दानकर्म संपन्न किए थे।[12] इस काल के धार्मिक ग्रंथों में पाए जाने वाले व्रतों के समय दिए गए धर्मार्थ दानों के सतत उल्लेख का निश्चय ही यह अर्थ नहीं कि ये दान केवल पुरोहित वर्ग के स्वार्थी हितों की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही रक्षा करते थे, अप्रत्यक्ष रूप से ये संपूर्ण समाज की भी सहायता करते थे। वास्तव में हम देखते हैं कि अनेक दानदाताओं ने अपनी उदारता का प्रयोग सरोवरों तथा सिंचाई के साधनों का निर्माण करने और बांधों, नहरों, अस्पतालों तथा निराश्रितों को भोजन खिलाने के व्यवस्थापनों के संचालन में किया था।[13] उत्तराधिकारीविहीन मरनेवाले ब्राह्मणों की संपत्ति को राज्य नहीं ले सकता था; प्रायः इसका उपयोग सार्वजनिक हितों, जैसे पानी की कमी को पूरा करने के लिए कृत्रिम सरोवरों के निर्माण तथा देखभाल में किया जाता था।[14]

धर्मार्थ दान देने के समय की जाने वाली औपचारिकताओं का उल्लेख भी हमारे अभिलेखों में हुआ है, तथा उन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। उचित समय एवं स्थान का चयन अत्यंत आवश्यक समझा जाता था। ऐसा करने के पश्चात दानी को प्रातः स्नान करना पड़ता था, वह सूर्य को अर्घ्य तथा पूर्वजों को आहुति अर्पित करता था, अपने ग्राम देवताओं की पूजा करता, होम संपन्न करता, परिवार के बड़े लोगों की अनुमति प्राप्त करता और फिर दान देने के लिए जाता था।[15]

भूत-प्रेतों में विश्वास भी सामान्य बात थी, तथा ऐसे लोग भी थे जो उन्हें सफलता पूर्वक झाड़ने का दावा करते थे। कुछ हठयोगी भी थे, जो अपने शरीरों से मांस काटकर, बलि के रूप में देवताओं को समर्पित करते थे। कुछ लोग परिवहनीय मंदिर अपने सिरों पर ढोते थे तथा उसी से अपनी जीविका कमाते थे।[16]

नवीन धार्मिक आंदोलन

अब हमें इस युग में होने वाले नवीन धार्मिक आंदोलनों पर दृष्टिपात करना चाहिए। इनमें से सबसे पहले महानुभाव पर विचार करना चाहिए। इस संप्रदाय के इतिहास में गोविंदप्रभु तथा चक्रपाणि केवल छायारूप प्रतिभाएं हैं तथा इनका उल्लेख प्रायः इसलिए होता है कि ये इस आंदोलन के वास्तविक संस्थापक अर्थात चक्रधर के क्रमशः गुरु तथा गुरु के गुरु थे। चक्रधर गुजरात के एक राजकुमार वीसलदेव का पुत्र था।[17] उसका मूल नाम हरिपाल था। अन्ततः उसने संसार त्याग दिया तथा वह गोविंदप्रभु का शिष्य बन गया, जिससे उसकी भेंट रामटेक तीर्थ जाते हुए रिद्धिपुर नामक स्थान पर हुई थी। 1273 ई० में उन्हें पूर्ण देवत्व प्राप्त हो गया था तथा उसके पश्चात ही उन्होंने महानुभाव संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने कृष्ण और दत्त की पूजा सराहना की; भक्ति, अहिंसा तथा सदाचार की विशेष आवश्यकता पर महत्व दिया, तथा भगवान के सगुण रूप को माना। उसके अनुसार आराध्य और आराधक का पारस्परिक संबंध स्वामी और सेवक जैसा होता है। प्रत्येक आराधक के लिए संन्यास ही सर्वोत्तम आदर्श है तथा नारियों को भी भिक्षुणियों के रूप में, इस संप्रदाय में प्रवेश मिल जाता था। यह अंतिम कार्य हिंदू तथा बौद्ध धर्म की तत्कालीन प्रथा के विरुद्ध था, तथा बाद में इस संप्रदाय की अलोकप्रियता के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी था। इसका एक अन्य कारण यह भी था कि भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों को बिना किसी भेद भाव के सभी जातियों के सदस्यों से पके हुए भोजन की भिक्षा मांगने की अनुमति दे दी गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि महानुभाव संप्रदाय ने राजा रामचंद्र का ध्यान भी आकृष्ट किया तथा वह एवं उसकी कुछ रानियां इस संप्रदाय के अनुयायी थे। किंतु बाद में कुछ अज्ञात कारणों से शाही आराधकों ने इस आंदोलन के प्रति अपनी आस्था का त्याग कर दिया। आगामी शताब्दियों में महानुभाव संप्रदाय ने पंजाब और अफगानिस्तान में भी अपने मठों की स्थापना की, किंतु वह महाराष्ट्र में पुनः कभी लोकप्रिय न हो सका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंधरपुर के श्री विट्ठल अथवा पांडुरंग के भक्ति आंदोलन का इतिहास बहुत भिन्न है। हम यह पहले ही वतला चुके हैं कि किस प्रकार 1249 ई०में एक यादव मंत्री ने, इस देवता के प्रति एक दान दिया था। पंधरपुर के विट्ठल मंदिर में उत्कीर्ण, 1273 ई० के अभिलेख से पता चलता है कि तेलंगाना तथा कर्णाटक, महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश से यात्री इस मंदिर के दर्शनार्थ आते थे तथा उदारता दिखाने और प्रतिष्ठापनों को स्थापित करने में एक दूसरे से होड़ लेते थे। 13 वीं शताब्दी के अंत में यह मंदिर दकन में सार्वजनिक पूजा का सर्वाधिक प्रसिद्ध केंद्र था और इसके इष्ट देवता भक्ति संप्रदाय में आराधना के मुख्य विषय थे। अनेक कवि संतों के माध्यम से, जिनमें से अधिकांश, जाति से अ-ब्राह्मण थे, भक्ति आंदोलन अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। इन संतों में से नामदेव दर्जी, जनाबाई नौकरानी, सेना नाई तथा नरहरि सुनार था। इनमें से नामदेव 1270 ई० में पैदा हुआ था[18], जबकि अन्य अगली शताब्दी में पल्लवित हुए। इन संतों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया भक्ति संप्रदाय वास्तव में पिछले वर्षों से महाराष्ट्र के जन जन का वास्तविक धर्म बना हुआ है। इसने धर्म के क्षेत्र में प्रजातंत्र का आरंभ किया तथा अपने सिद्धांत उस भाषा में प्रस्तुत किए जो अपनी सरलता, प्रभाविकता तथा सत्यनिष्ठा से साधारण नर नारियों के हृदयों को आकर्षित कर लेती थी।

लिंगायत संप्रदाय के उदय एवं उसकी शिक्षाओं की विवेचना पहले ही की जा चुकी है।

संदर्भ

1. शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाए तस्मै सकलात्मेन नमः— 'ए० क०', xii, (तुम्कूर तालुक) 9.
2. 'ए० क०', ii, नं० 327.
3. जिनपादपद्मभृंगेण विप्रकुलसमुत्तुंगेन। 'ए० इं०', iii, पृ० 201.
4. 'ए० क०', ix, (नेलमंगल तालुक) 84; xii, (तुम्कुर तालुक) 9.
5. 'इं० ऐं०', ii, पृ० 297.
6. वही, xiv, पृ 69.
7. 'ए० क०', xi, (दावनगिरि तालुक) 59.
8. 'ए० क०', iii, पृ० 292; 'ए० क०', viii, (सोरब तालुक) 391; 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 15.
9. देखिए तसगांव ताम्रपत्र 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 15; बगेवादि ताम्रपत्र, 'इं० ऐं०', vii, पृ० 304 वब्ली अभिलेख, 'ए० इं०', ii, पृ० 227.
10. देखिए सगंनेर नान पत्र 'ए० इं०', ii, पृ० 219; कलस बुदुक दान पत्र, 'इं० ऐं०', xvii, पृ० 121.
11. 'ए० इं०', ii, पृ० 219.
12. वही, iii, पृ० 61.
13. 'ए० क०', vii, (सोरब तालुक) 277. 'ए० इं०', xxiii, पृ० 189.
14. वही, xi, (दावनगिरि तालुक) नं० 70.
15. 'सो० मे० हि० डे०', iii, पृ० 15.
16. 'ज्ञानेश्वरी', 11, 234; 17.97; 17.716.
17. यह वीसलदेव इसी नाम का वाघेला शासक प्रतीत नहीं होता.
18. यह पारंपरिक तिथि है इसकी सत्यता पर संदेह प्रकट किए जा चुके हैं.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक दशा

वर्ण व्यवस्था

यादव काल में वर्ण व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। जाति का निर्धारण जन्म से ही होता था। यह सत्य है कि वीरशैव एवं महानुभाव आंदोलनों ने सिद्धांत रूप से जाति व्यवस्था की दृढ़ता के विरुद्ध आवाज उठाई थी, किंतु उन्होंने व्यवहार में उसे स्वीकार किया। जहां तक अंतर्जातीय विवाहों पर निषेध का प्रश्न था, व्यवस्था कट्टर बनी रही। परंपरानुसार जाति के पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे को अपनाने में कोई बंधन न था। हमारे पास ब्राह्मण एवं वैश्य वर्णों के अनेक सेनापतियों के उदाहरण हैं। इस संदर्भ में जल्हण एवं खोलेश्वरं ब्राह्मणों तथा मल्लिसेट्टि वैश्य के कुछ थोड़े से विशिष्ट उदाहरण दिए जा सकते हैं।

महाराष्ट्र के ब्राह्मण पक्के शाकाहारी थे। वे अ-ब्राह्मणों से कभी भोजन स्वीकार नहीं करते थे तथा यथासंभव अछूतों से संपर्क का परिहार करते थे। प्राय: उनके पेशे वही थे, जो राष्ट्रकूटकाल में उनके सजातीयों के थे।

इस काल में क्षत्रियों एवं वैश्यों का पतन हो चुका था तथा वे शूद्रों के स्तर तक पहुंच गए थे। इसी काल के दौरान अछूत प्रथा ने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया था। अब भी अछूत वर्ग के लोग वही थे, जिन्हें पिछले काल में भी अछूत समझा जाता था।

समकालीन अभिलेखों में प्राय: दानग्रहणकर्ताओं के उपनाम मिलते हैं तथा हम देखते हैं कि इनमें से कुछ, आज भी प्रयोग किए जाते हैं। उदाहरणार्थ पट्टवर्धन तथा घलिसास जैसे उपनामों का आरंभ 13वीं शताब्दी में देखा जा सकता है।[1] समय समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ब्राह्मणों का देशांतरगमन होता रहा। उदाहरणार्थ, कलस बुद्रुक ताम्रपत्र का ग्रहीता, मध्यप्रदेश (उत्तरप्रदेश) के एक गांव से आया हुआ प्रवासी था। वह नासिक जिले में बस गया और राज्य मंत्री भी बना। चिक्कबगेवादि दानपत्र के एक ग्रहीता को वाराणसीय कहा गया है, जो संभवत: बनारस से आया हुआ प्रवासी था। इन प्रवासियों के बच्चों ने संभवत: स्थानीय ब्राह्मणों के बच्चों से विवाह किया। इस काल में तब तक अंतर्प्रान्तीय विवाहों के विरुद्ध कोई दृढ़ प्रतिकलता न थी।

नारी

जहां तक नारी की स्थिति का प्रश्न है, 10 अथवा 11 वर्ष की आयु में ही लड़कियों के विवाह की प्रथा इस काल में काफी प्रचलित हुई। इस प्रथा से नारी शिक्षा पर गहरा आघात पड़ा। शाही परिवारों में सती प्रथा का भी प्रचलन आरंभ हो गया था। रामचंद्र की मृत्यु पर उसकी अनेक रानियों ने सती होकर स्वयं को जला लिया। किंतु क्षत्रिय वर्ग के बाहर यह प्रथा अधिक लोक-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रिय न थी। विज्ञानेश्वर जैसे कुछ तत्कालीन लेखकों के अनुसार कम से कम ब्राह्मण विधवाओं के लिए यह जायज न था, क्योंकि कुछ भी हो यह एक प्रकार की आत्महत्या ही थी। इस काल के दौरान दकन में संपत्ति की दायप्राप्ति में विधवा का अधिकार पूर्णतः स्थापित हो चुका था। सामान्यतया, विधवाएं अपने सभी आभूषण उतार देती थीं, किंतु अभी तक उनके द्वारा सिर मुंडवाना आरंभ नहीं हुआ था। पर्दा प्रथा भी तब तक अस्तित्व में नहीं आई थी।

संदर्भ

1. 'इं० ऐं०', vii, पृ० 306.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा एवं साहित्य

मंदिर, अग्रहार ग्राम और राजधानी नगर, अब भी उच्च शिक्षा के मुख्य केंद्र बने रहे। दुर्भाग्यवश, समकालीन अभिलेख इनमें से किसी भी शिक्षण संस्थान का वर्णन प्रस्तुत नहीं करते। कुछ दानपत्रों के दानदाताओं को 'वेदार्थद' अर्थात 'वैदिक मंत्रों के व्याख्याता', 'क्रमविद' अर्थात 'क्रमपाठ में विशेषज्ञ', 'दशग्रंथि' अर्थात 'वैदिक परंपरा की दसो शाखाओं में निपुण', 'सर्वज्ञसरस्वति' अर्थात 'सरस्वती के समान सर्वज्ञाता' अथवा 'प्रसन्नसरस्वति' अर्थात 'विद्या की देवी का प्रिय' कहा गया है। यह स्पष्ट है कि ये प्रसिद्ध शिक्षक होंगे, जो अपनी निजी पाठशालाओं में निशुल्क उच्च संस्कृत शिक्षा देते थे। इन संस्थाओं को ब्रह्मशालाएं कहते थे।

अग्रहार ग्रामों के अतिरिक्त, विशेष उद्देश्यों के लिए संस्थापित विशेष महाविद्यालय भी होते थे। ऐसा ही एक महाविद्यालय खानदेश में पाटण नामक स्थान पर स्थित था, जिसकी स्थापना भास्कराचार्य के पौत्र चंगदेव ने, अपने ख्यातिप्राप्त दादा के ज्योतिष संबंधी ग्रंथों के अध्ययन का प्रसार करने के लिए की थी। इस संस्थान को राज्य से उदार सहायता भी प्राप्त हुई थी, तथा अनेक मांगलिक अवसरों पर शहर के निवासी भी, धन और संपत्ति के रूप में ऐच्छिक सहयोग देकर इसकी सहायता करते थे।[1]

खानदेश में एक अन्य नगर वघ्लि भी, उच्च शिक्षा का केंद्र था।[2] प्राचीन भारत के अन्य राजधानी नगरों के समान, यादवों की राजधानी देवगिरी भी प्रसिद्ध शिक्षणकेंद्र रही होगी। पैठन और नासिक के संबंध में भी यही बात होगी क्योंकि ये अत्यंत प्राचीन काल से प्रसिद्ध पवित्रस्थल थे। यह खेद की बात है कि प्राप्त अभिलेख इन स्थानों की शैक्षणिक गतिविधियों के संबंध में मौन हैं। वे किसी मंदिरविद्यालय का उल्लेख नही करते हैं, हालांकि इसमें कोई संदेह नही कि अन्य वंशों के कालों के समान, यादवकाल में भी ऐसे संस्थानों का अस्तित्व रहा होगा।

अब हमें इस काल की साहित्यिक गतिविधियों पर दृष्टिपात करना चाहिए। यादवों के काल में दकन में ज्योतिष संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे गए। 'दमयन्तीकथा' के लेखक, कवि-चक्रवर्ति त्रिविक्रम द्वारा संस्थापित विशिष्ट अध्ययनशील परिवार के अनेक सदस्यों ने इस क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। उसका पुत्र विद्यापति भास्करभट्ट परमारनरेश भोज के आश्रय में था। भास्करभट्ट का प्रपौत्र, कवीश्वर महेश्वराचार्य (लगभग 1125 ई०) था, जिसने 'शेखर' एवं 'लघुटीका' नामक दो ज्योतिष ग्रंथों की रचना की थी। महेश्वर का पुत्र, प्रसिद्ध भास्कराचार्य था, जिसने गणित एवं नक्षत्र विद्या पर अनेक ग्रंथ लिखे। इनमें से 'सिद्धांत शिरोमणि' (1150 ई० में रचित) तथा 'करणकुतूहल' प्रमुख हैं। इनमें से प्रथमोक्त ग्रंथ का दूसरा अध्याय संस्कृत साहित्य में पाई जाने वाली बीजगणित की सर्वोत्तम कृति है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भास्कराचार्य, जिसे 'सर्वज्ञ' अर्थात 'सर्वज्ञाता' मथा 'विद्यासद' अर्थात 'विद्या की देवी का आवास' की उपाधियों से विभूषित किया गया था, सांख्य और वेदांत दर्शनों में पारंगत था। उसका पुत्र लक्ष्मीधर तथा पौत्र चंगदेव, क्रमशः जैतुगि एवं सिंहण के दरबारी ज्योतिषी थे। भास्कराचार्य का भ्रातृ-पौत्र अनंतदेव भी सिंहण का आश्रित था; उसने वराहमिहिर की कृति 'बहज्जातक' तथा बृह्मगुप्त के ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' के सातवें अध्याय पर टीकाएं लिखी।[3]

सिंहण के दरबार में सारंगदेव द्वारा रचित 'संगीतरत्नाकर', संगीत कला का ग्रंथ है। यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है, जिसमें दक्षिणी और उत्तरी भारत के संगीत का विस्तृत पचिचय मिलता है। संस्कृत पद्यों के संग्रह 'सूक्तिमुक्तावली' की रचना 1258 ई० में यादव दरबार में ही हुई थी। इसकी भूमिका में कहा गया है कि इसकी रचना राजा कृष्ण के हस्ति समूह के नेता जह्लण ने की थी। किंतु इसके परिशिष्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसका संकलन, चिकित्सक भानु ने जह्लण के लिए किया था, जो संभवतः उसका संरक्षक था।[4]

यादव युग का सबसे प्रसिद्ध संस्कृत लेखक निस्संदेह हेमाद्रि था। वह यादवों के हाथियों की सेना का सेनापति था, जिस पद पर वह संभवतः जह्लण का उत्तराधिकारी था। बाद में लगभग 1263 ई० में महादेव ने उसे सरकार का मुख्य सचिव बना दिया। इस पद पर वह लगभग 1285 ई० तक कार्य करता रहा।[5]

हेमाद्रि संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों का लेखक था। इनमें से मुख्य ये हैं : 'चतुर्वर्गचिंतामणि', 'कालनिर्णय', 'तिथिनिर्णय', 'आयुर्वेदरसायन', 'दानवाक्यावली', 'पर्जन्यप्रयोग', 'त्रिस्थलीविधि' तथा 'अर्थकांड'।[6] यह तथ्य संदेहपूर्ण है कि एक व्यस्त मंत्री, जो अपने पद के कार्यभार के अतिरिक्त राज्य द्वारा संचालित हाथियों की टुकड़ियों की भी अध्यक्षता करता था, इन सभी महाकाय ग्रंथों की रचना कर सका हो। यह संभव है कि उनमें से कुछ की रचना हेमाद्रि के नेतृत्व एवं निर्देशन में हुई हो तथा बाद में उसके आश्रितों ने लेखक के रूप में उसी का नाम दे दिया हो, जैसा कि 'सूक्तिमुक्तावली' के संदर्भ में भानु ने किया था।

इन ग्रंथों में से 'चतुर्वर्गचिंतामणि' को संगत रूप से तत्कालीन धार्मिक दृष्टिकोण एवं विश्वासों का प्रतिनिधि मान सकते हैं। यह उस युग के धार्मिक जीवन तथा प्राचीन वैदिक धर्म को स्थानच्युत करने वाले विभिन्न अनुष्ठानों एवं व्रतों का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें संदेह नहीं कि इनमें से अधिकांश प्रथाओं का यादवों के शासनकाल में सामान्य जनता के अधिकांश लोगों द्वारा सक्रिय रूप से पालन किया जाता था।

12 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वीरशैव संप्रदाय के उदय ने कन्नड़ साहित्य को प्रेरणा प्रदान की। इसके अनुयायियों द्वारा कन्नड़ ग्रंथों की रचना का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। 13 वीं शताब्दी के सभी महान कवि, जैसे : जन्न, मल्लिकार्जुन, केशिराज आदि होयसल दरबार में पल्लवित हुए थे। यादवों के काल में कन्नड़ साहित्य उतना समृद्ध न हुआ जितना वह राष्ट्रकूटों तथा परवर्ती चालुक्यों के काल में हुआ था। इसका कारण ढूंढना कठिन नहीं है। स्वयं यादव नरेश मराठी बोलते थे तथा उनकी राजधानी भी देवगिरी थी, जो महाराष्ट्र के ठीक मध्य में थी। अतः यादवों का युग मराठी साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका उदय इसी काल में हुआ था। कुछ यादव अभिलेखों में उनके औपचारिक अंश मराठी भाषा में लिखे जाने लगे। हमारे काल का सबसे प्राचीन अभिलेख, जिसमें मराठी का अंश मिलता है, 1187 ई० का परेल शिलालेख है, जिसमें मराठी भाषा में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाप दिया गया है। 1200 ई० के पाटण अभिलेख में नागरिकों के ऐच्छिक दानों का उल्लेख करनेवाली अंतिम पंक्तियां भी मराठी में ही हैं। यद्यपि हमारे पास इस प्रारंभिक काल के ग्रंथ प्राप्त नहीं हैं, फिर भी हम यह उचित रूप से अनुमानित कर सकते हैं कि 11 वीं और 12वीं ई० शताब्दी के दौरान, विचारों एवं साहित्य के प्रसार के लिए मराठी के प्रयोग का आरंभ हो गया था। किंतु साहित्य के माध्यम के रूप में भाषा का परिपक्व विकास, जो मुकुंदराय और ज्ञानेश्वर के ग्रंथों में देखने को मिलता है, कम से कम दो शताब्दियों की साहित्यिक गतिविधियों की अग्रकल्पना करता है।

अब तक ज्ञात प्राचीनतम मराठी कवि, मुकुंदराय, 12 वीं शताब्दी के उतरार्ध में पल्लवित हुआ। बल्लाल का पुत्र, जोगइ का राजा जयंतपाल, जो उसका शिष्य कहा जाता है, अब तक निर्धारित नहीं किया जा सका है, किंतु हम जानते हैं कि मुकुंदराव ने अपने 'विवेकसिंधु' की रचना 1188 ई० में की थी। इस ग्रंथ में उसने शंकर के मतों पर आधारित अद्वैत दर्शन की व्याख्या की है।

13 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महान ज्ञानेश्वर पल्लवित हुआ, जिसने अपनी युवावस्था में ही 1290 ई० में गीता की ज्ञानेश्वरी नामक अमर टीका की रचना की। मराठी में लिखने वाला लगभग प्रथम साहित्यकार होते हुए भी, ज्ञानेश्वर को अत्यंत गूढ़ विचारों तथा सर्वाधिक प्रतारणापूर्ण एवं कोमल मनोभावों को भी अभिव्यक्त करने में इस भाषा की क्षमता पर पूर्ण विश्वास था। उसने पहले ही यह कह दिया था कि उसकी रचना, अपने पाठकों के लिए अमृत से भी अधिक मधुर सिद्ध होगी तथा उसकी रचना को सभी अध्ययनशील व्यक्तियों की प्रशंसा प्राप्त होगी। वस्तुत: उसकी भविष्यवाणी पूर्ण रूप से सही उतरी है। वास्तव में, 'ज्ञानेश्वरी' मराठी की प्रथम महत्वपूर्ण कृति है' तथा काव्यात्मक कृति अथवा धर्म एवं दर्शन की कृति के रूप में किसी भी उत्तरकालीन ग्रंथ की तुलना इससे नहीं की जा सकती। ज्ञानेश्वर प्रतिभाशाली कवि, विद्वान, मौलिक तथा अत्यंत चिंतक धार्मिक व्यक्तित्व था। मराठी भाषा के अन्य किसी भी लेखक में इन सभी गुणों का इतना संपूर्ण सम्मिश्रण नहीं मिलेगा। यद्यपि प्रत्यक्षत: 'ज्ञानेश्वरी' गीता की टीका समझी जाती है, किंतु वास्तव में यह एक स्वतंत्र दर्शन ग्रंथ है।

नामदेव एवं जनाबाइ ज्ञानेश्वर के अवर समकालीन थे, तथा उनके भक्तिप्रधान मराठी गीत अपनी सुंदरता में अद्वितीय तथा धार्मिक उत्साह में अतुलनीय हैं। नामदेव ने पैदल ही संपूर्ण भारत का भ्रमण किया तथा उत्तर में भी कुछ स्थानों पर अपने मठों की स्थापना की। उसने पंजाब में भी कुछ वर्ष व्यतीत किए, जहां उसने गुरदासपुर जिले में धोमन नामक स्थान पर एक मठ स्थापित किया, जो आज भी विद्यमान है। इस तरह हम नानक के 'ग्रंथ साहब' में उसके गीत के सम्मिलित किए जाने के कारण समझ सकते हैं।

यादवकाल में महानुभाव संप्रदाय के उदय से मराठी साहित्य के हित को और अधिक प्रोत्साहन मिला। इस संप्रदाय को सर्वप्रथम चक्रधर ने महत्वपूर्ण बनाया। वह इस बात पर विशेष बल देता था कि उसके अनुयायी संस्कृत की अपेक्षा मराठी में ही लिखें तथा इस प्राथमिकता के परिणामस्वरूप नवीन संप्रदाय की साहित्यिक गतिविधियों से मराठी साहित्य अत्यंत समृद्ध हुआ। स्वयं चक्रधर की कोई साहित्यिक कृति उपलब्ध नहीं, किंतु उसके एक दर्जन से भी अधिक शिष्यों ने मराठी भाषा में ग्रंथ लिखे, जिनमें से अधिकांश धार्मिक विषयों पर थे। इनमें से भानुभट्ट 'शिशुपालवध' (1273 ई०), दामोदर पंडित कृत 'वत्सलाहरण' (1278 ई०), नरेंद्रपंडित कृत 'रुक्मिणीस्वयंवर' (1288 ई०), केशवराज कृत 'सिद्धांत-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूत्रपाठ' (1288 ई०), नृसिंहकेसरि द्वारा रचित 'नलोपाख्यान', महेश्वरपंडित के 'रिद्धि-पुरवर्णन' (1373 ई०) तथा महेंद्र कृत 'लीलाचरित्र' का यहां उल्लेख किया जा सकता है। इसमें से कुछ ग्रंथ, समकालीन इतिहास की घटनाओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

संदर्भ

1. 'ए० क०', i. पृ० 341.
2. यही, ii, पृ० 221.
3. वही, i, पृ० 343; iii, पृ० 112.
4. गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, खंड 82.
5. सो० मे० हि० डे०', ii, पृ० 6.
6. आफरेक्ट, 'कैटेलागस कैटेलागोरम', पृ० 768.
7. वर्तमान रूप में 'विवेकसिंधु' की भाषा 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा से बहुत्त बाद की है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्थिक दशा

राष्ट्रकूट काल के संदर्भ में देश के धन, उसके उद्योगों, व्यापार, श्रेणीसंगठन आदि के बारे में किया गया निरूपण, यादवों के युग के संबंध में भी सही है। अतः यहां हम उसकी पुनरावृत्ति नहीं करेंगे और समकालीन अभिलेखों एवं 'ज्ञानेश्वरी' से लिए गए कुछ अन्य नए विवरणों को ही प्रस्तुत करेंगे।

वीरबलंज प्रभावपूर्ण व्यापारसंगठन बना रहा, जिसका प्रधान कार्यालय ऐहोले में था तथा दक्षिण भारत के अधिकांश महत्वपूर्ण नगरों में उसकी शाखाएं थीं। यह शक्तिशाली श्रेणी थी, जो अधिकांश प्रमुख वस्तुओं में व्यापार करती थी। उसकी कार्यकारी परिषद में लगभग 500 सदस्य थे। 'ज्ञानेश्वरी' में यादव सरकार द्वारा जारी की गई स्वर्णमुद्रा का उल्लेख है तथा किस्तन जिले में रचपतनं ढेर की प्राप्ति से उसके वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। स्वर्णसिक्के तथाकथित 'पद्म-टंक' प्रकार के थे, जिनका वजन लगभग 57 ग्रेन था, तथा जिन पर उन विभिन्न शासकों के नाम थे, जिनके काल में वे जारी किए गए थे। अब तक सिंहण, कन्हर अथवा कृष्ण, महादेव तथा श्रीराम अथवा रामचंद्र के ही सिक्के पहचाने जा सके हैं।[1] ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यादव सरकार ने चांदी अथवा तांबे के सिक्के भी जारी किए थे। छोटे पैमाने का लेनदेन संभवतः वस्तुविनिमय द्वारा होता था। एक स्थल पर 'ज्ञानेश्वरी' ने उत्कीर्ण चर्म टुकड़ों के रूप में सिक्कों का उल्लेख किया है, किंतु किसी भी हिंदू सरकार द्वारा अपनी प्रजा के लिए ऐसे सिक्कों का जारी किया जाना अत्यंत संदेहपूर्ण प्रतीत होता है। यह असंभव नहीं कि 'ज्ञानेश्वरी' का यह विशेष खंड, मुहम्मद बिनतुगलक के काल के बाद उसमें जोड़ दिया गया हो।

'ज्ञानेश्वरी' के प्रासंगिक उल्लेखों से पता चलता है कि यादवों के शासन काल में दकन अत्यंत समृद्ध था। 12 वीं एवं 13 वीं शताब्दी में मुसलमान आक्रामकों द्वारा उत्तर की ओर ले जाई गई लूट के वर्णनों में भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। देवगिरी तथा साम्राज्य के अन्य महत्वपूर्ण नगरों की मुख्य सड़कों पर सुनारों, चांदी का काम करने वालों तथा मोतियों एवं बारीक तथा मंहगी मलमल के व्यापारियों की दुकानों की कतारें थीं। वहां अनेक धनाढ्य गृहस्थ थे, अतः ऐसी वस्तुओं की बड़ी मांग थी। धनी व्यक्ति स्वयं को और अपनी पत्नियों, बच्चों तथा देवताओं की मूर्तियों को विभूषित करने के उद्देश्य से आभूषणों की मांग करते थे। अधिक धनी लोग अपने घरों में आभूषणों एवं सोने को जमीन के नीचे दबा देते थे। ये लोग तीन तीन मंजिलों के मकानों में रहते थे, जिनमें सुंदर खिड़कियां और द्वार होते थे, जिनके बाहरी ओर चित्रांकन होता था, तथा प्रवेश द्वारों पर रक्षक रहते थे। प्रायः उनके अनुचरवर्ग में भोजन पकानेवाला, छत्रवाहक तथा पानवाहक सम्मिलित थे। सामान्यतया पालकी परिवहन के लिए फैशन की सवारी थी, किंतु विवाह जैसे अवसरों पर, जब अनेक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोगों के परिवहन की आवश्यकता होती थी, तब धनी लोग भी बैलगाड़ियों में ही यात्रा करते थे। उस काल में घोड़ागाड़ी का प्रयोग न था। गरीब लोग आजकल के समान उस समय भी झोपड़ियों में रहते थे। इस काल में दरिद्रों एवं धनाढ्यों के सही अनुपात को बताने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है। उधार लिए गए धन पर दिए जाने वाले ब्याज की दर सामान्यतया 12 प्रतिशत वार्षिक थी।

संदर्भ

1. 'ज० रा० ऐ० सो०', 1925, पृ० 16

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड नौ

वारंगल का काकतीयवंश

डा० एन० वेंकटरमनैया तथा एम० सोमेश्वर शर्मा

1. वंश की उत्पत्ति तथा उसके प्रारंभिक सामंतीय शासक : बेत प्रथम, प्रोल प्रथम, बेत द्वितीय तथा प्रोल द्वितीय.
2. स्वतंत्र शासक : काकति रुद्रदेव, पड़ोसी राजकुमारों पर उसकी विजयें; तेलुगु चोल वंश के भीम से रुद्रदेव का युद्ध; दक्षिण में कोटों तथा कोंडपडुमटियों का दमन, देवगिरि के सेउणों से संघर्ष, पराजय तथा युद्ध में मारा जाना; उसके मंत्री तथा अधिकारी. महादेव (1195-98-99 ई०)—वीर योद्धा, सेउण साम्राज्य पर आक्रमण किया तथा युद्ध के दौरान हाथी की पीठ पर बैठें हुए मरा. गणपतिदेव (1199-1261 ई०) तथा उसकी कैद; नागति तथा चोल सम्राट कुलोत्तुंग तृतीय के ग्राक्रमण; इसके बाद गणपति की पुनर्स्थापना तथा पृथ्वीश्वर के विरुद्ध तटीय ग्रांध्र जिलों के ग्राक्रमण; पृथ्वीश्वर की विजय के बाद गणपति ने कलिंग पर आधिपत्य करने के लिए सेना भेजी; पूर्वी गंग ग्रतिक्रमण; कोलनु की विजय; गणपति का दक्षिणी ग्रभियान; सेउणों से उसके संबंध; मदुरा के पांड्यों से उसके युद्ध; गणपति के अंतर्राज्यीय संबंध, उसका वंश तथा सामंत, सेनापति तथा मंत्री. रुद्रमदेवी (1259-95 ई०); कुछ कुलीनों की सहायता से उसके सौतेले भाइयों का विद्रोह, उन्होंने उसे राजधानी से खदेड़ दिया, जिसे उसने पुनः जीता तथा अपने सौतेले भाइयों को मौत के घाट उतार दिया; नायक सेनापतियों की सहायता से गोदावरी घाटी में काकतीय प्रभुत्व की पुनर्स्थापना हुई; दक्षिण में काकतीय क्षेत्र पर बलपूर्वक अधिकार करने वाले पांड्यों से युद्ध; सेउण महादेव ने काकतीय साम्राज्य पर आक्रमण किया किंतु रुद्रम वीरता से लड़ी तथा शत्रु को भागने पर बाध्य किया; कायस्थ प्रमुख अंबदेव ने काकतीय रानी के प्रति ग्रपनी राज्यास्था की सौगन्ध तोड़ दिया, उसने श्रेष्ठ काकतीय सेनाओं का जम कर सामना करने के लिए सेउणों एवं पांड्यों से संधि की; रुद्रमदेवी ने अंबदेव तथा उसके मित्रों पर तीन ओर से ग्राक्रमण किए; रुद्रमदेवी के सामंत मंत्री तथा ग्रधिकारी; उसका परिवार. प्रतापरुद्र (1295-1323 ई०) ने ग्रपने राज्य की रक्षा-पंक्ति को सुदृढ़ करने के लिए 77 'नायकों' को भर्ती किया;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसने कुछ विभ्रांत कायस्थ प्रमुखों के विरुद्ध अपनी नवीन आदर्श सेना का परीक्षण किया तथा उन्हें पराजित किया; दकन में मुसलमानों के आक्रमण जिनमें सबसे पहले आक्रमण अला-उद्-दीन के थे. 1303 ई० में तेलिंगान के विरुद्ध सबसे पहला अभियान, मुसलमान सेनापति फख्-उद्-दीन एवं झाजु-साम्राज्य के मध्य तक घुस गए तथा वारंगल के निकट पहुंच गए, वे बुरी तरह पराजित हुए; अभियान की असफलता ने अला-उड्-दीन की विजय योजनाओं को प्रभावित नहीं किया तथा उसने मलिक नायब के नेतृत्व में और बड़ी सेना भेजी, जो 24 जनवरी 1310 ई० को काकतीय राजधानी के निकट पहुंची, शत्रु द्वारा दीर्घकालीन घेरे के पश्चात् प्रतापरुद्र ने संधि की याचना की तथा मलिक नायब इस शर्त पर राजी हो गया कि प्रतापरुद्र ने संधि की याचना की तथा मलिक नाबब इस शर्त पर राजी हो गया कि प्रतापरुद्र अपना संचित धन उसे देगा और इसके अतिरिक्त निश्चित धनराशि प्रति वर्ष देगा तथा कर के रूप में दिल्ली के सुल्तान को प्रशिक्षित हाथियों एवं घोड़ों की एक टुकड़ी भेजेगा. विश्वसनीय मित्र के रूप में प्रतापरुद्र पर अला-उद्-दीन का विश्वास; उसने प्रतापरुद्र को दक्षिण भारत की विजय में मलिक नायब की सहायता करने केलिए कहा, प्रतापरुद्र ने शाही सेना को सहयोग प्रदान किया, दिल्ली में नवीन सुल्तानों का आगमन, दकन पर शाही नियंत्रण की कमजोरी के कारण प्रतापरुद्र ने निश्चित वार्षिक कर दिल्ली नहीं भेजा; गियास-उद्-दीन तुगलक ने एक बड़ी सेना के साथ अपने पुत्र उलुग खां को भेजा, जिसने वारगंल को घेर लिया, घेरा छः मास तक रहा, मुसलमान इतिहासज्ञों द्वारा घेरे के विरोधी वर्णन, सापेक्षिक रूप से ईसामी अधिक विश्वसनीय, अंत में प्रतापरुद्र ने समर्पण कर दिया, परिवार सहित दिल्ली ले जाने का उलुग खां का आदेश, मार्ग में ही मृत्यु, प्रतापरुद्र का परिवार, उसके सामंत, सेनापति, तथा मंत्री.

3. सैनिक संस्थान तथा प्रशासन : स्रोत, सैनिक संगठन, सेना; प्रशासन; कर व्यवस्था; सिंचाई; भूमि उद्धार.
4. साहित्य—संस्कृत एवं तेलुगु.
5. धर्म.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक सामंतीय शासक

काकतीयों की शक्ति का उदय कल्याणी के चालुक्यों के राज्य के दौरान हुआ था। कुछ विद्वानों ने इस वंश की उत्पत्ति को पूर्वी चालुक्य नरेश अम्भ द्वितीय (945-70 ई०) के सहायक, काकर्त्य गुंड्यन, से बताने का जो प्रयास किया है वह सफल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, वे पर्याप्त पुष्ट नहीं है। यह संभव है कि काकर्त्य, काकत्य एवं काकतीय नाम, शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से संबंधित हों, किंतु इस धारणा का कोई आधार नहीं कि अनुमकोंड एवं वारंगल के काकतीय नरेश वास्तव में, पूर्वी चालुक्य राजा अम्भ द्वितीय के सामंत गुंड्यन के ही वंशज थे।

त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1126 ई०) का सहायक, बेत द्वितीय, अपने शासन के विवरण छोड़ने वाला पहला काकतीय वंशी कुमार था। उसके अनुमकोंड एवं काजीपेट अभिलेख, जो क्रमश: 1079 ई० तथा 1090 ई० के हैं, केवल उसके शासन के काल को ही इंगित नहीं करते, अपितु उसके तत्काल पूर्वजों के संबंध में भी रोचक तथ्य प्रस्तुत करते हैं।[1]

काजीपेट अभिलेख के अनुसार, बेत द्वितीय के दादा, बेत प्रथम ने 'चोल नरेश की सेना के समुद्र को मथा तथा लक्ष्मी (विजय श्री) की प्राप्ति की।' इस दावे की तुलना, गणपति कालीन पालंपेट अभिलेख[2] के उस वक्तव्य से करनी चाहिए जिसमें कहा गया है कि रेचेर्रल रुद्र के पिता, रेचेर्रल ब्रह्म ने, जो संभवत: बेत प्रथम की सेना का नायक था, 'कांची नगर के द्वारों को पर्दे के समान खोल दिया' तथा 'शीघ्र ही काकति सम्राट एवं विजय श्री का विवाह करवाया।' न तो इस विजय की वास्तविक तिथि और न ही इसको प्राप्त करने की परिस्थितियां ज्ञात हैं। बेत प्रथम, तेलिंगाना में छोटा सा मंदकांति वाला प्रमुख था। उस समय तेलिंगाना पश्चिमी चालुक्य साम्राज्य में सम्मिलित था। अत: यह स्पष्ट है कि वह अकेले ही अर्थात सहायता लिए बिना पूर्वी चालुक्य साम्राज्य के परे कांची पर आक्रमण कर शक्तिशाली चोल सम्राट को पराजित तथा शहर को विजित नहीं कर सका होगा। दूसरी ओर, यह असंभव नहीं कि वास्तव में बेत प्रथम एवं उसके सेनापति ब्रह्म ने अभियान के दौरान, अपने पश्चिमी चालुक्य अधिराज का साथ दिया हो। उसने यह अभियान चोल साम्राज्य के विरुद्ध भेजा था। काजीपेट अभिलेख की तिथि से पहले पश्चिमी चालुक्यों ने केवल एक बार ही चोल राज्य पर आक्रमण किया था तथा वह आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम के शासन काल के दौरान किया गया था। चोल नरेश राजाधिराज प्रथम ने, सोमेश्वर के मालवा अभियान से लाभ उठाकर, उसकी राजधानी कल्याणी पर आक्रमण कर दिया, तथा 1052 ई० में आग लगाकर उसे नष्ट कर दिया। इस पर, मालवा से लौटते ही सोमेश्वर ने पोलकेशिन के नेतृत्व में सेना भेजी, तथा बदला लेने के लिए चोल साम्राज्य की उत्तरी राज-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धानी अर्थात कांची शहर को ध्वस्त कर दिया। वह अत्यंत संभव है कि बेत एवं उसके सेनापति ने पोलकेशिन के अभियान में भाग लिया तथा बाद में इस प्रयास की सफलता का श्रेय स्वयं ले लिया। बेत के शासन काल की अन्य घटनाओं के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण से उसकी वापसी के तुरंत बाद ही उसका शासन समाप्त हो गया था।

वेत प्रथम के बाद उसका पुत्र प्रोल, शासक बना। कहा जाता है कि उसने अपने अधि-राज के अनेक शत्रु प्रमुखों का दमन किया तथा सोमेश्वर प्रथम से अनुमकोंड विषय का पैतृक शासनत्व प्राप्त किया; चक्रकूट विषय अर्थात बस्तर में चक्रकोट को 'सीधा किया', उसे अपने शत्रुओं से लेकर व्यवस्थित किया; कोंकण मंडल को पराजित किया, भद्रंग को भागने पर बाध्य किया, काडर्पति के दुग्ग के पुत्र (नाम नहीं दिया गया है) को जंगलों में खदेड़ कर परा-जित किया, तथा पुरुकूट के प्रमुख गोन्न को युद्ध में मार गिराया। इन प्रमुखों पर प्रोल की विजय संभवतः उसकी सर्वप्रथम उपलब्धि थी, जिसके बाद अनुमकोंड-विषय के पैतृक शासनत्व को प्राप्त कर उसने ऐसे नवीन राज्य की नींव रखी, जो अगली शताब्दी के दौरान, संपूर्ण आंध्र प्रदेश में फैला।

प्रोल प्रथम ने अपने स्वामी एवं अधिराज सोमेश्वर प्रथम के सैनिक अभियानों में सक्रिय भाग लिया। 'विक्रमांकदेव-चरित्र' के लेखक बिल्हण के अनुसार, आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विकमादित्य षष्ठ ने, अपने पड़ोसी चोल राज्य की अराजकता को देखकर, अपने पिता की अनुमति प्राप्त की तथा विजय के अभियान पर निकल पड़ा। सबसे पहले विक्रमादित्य कोंकण की ओर बढ़ा, जिसे उसने अपने नियंत्रण में कर लिया, तथा फिर वह केरल तथा पांड्य प्रदेशों से गुजरा। इसके पश्चात उसने चोल साम्राज्य के दो महान शहरों गंगकुंड एवं कांची पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की, तथा फिर उसने वेंगी और चक्रकोट को जीता।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रोल 1066 ई० में राजकुमार विक्रमादित्य के नेतृत्व में चालुक्य सेना के साथ कोंकण गया था, तथा बाद में उसने चक्रकोट से चोलों को हटाने और उसके आश्रित प्रदेश सहित दुर्ग पर आधिपत्य जमाने में उसकी सहायता की थी। प्रोल द्वारा भगाए जाने वाले भद्रंग की तादात्म्यता को स्थापित करना आसान नहीं है। वास्तव में भद्रंग तो वैयक्तिक नाम भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उस नाम के किसी भी कुमार अथवा प्रमुख के अस्तित्व का पता नहीं है। यह भी असंभव नहीं कि यह किसी स्थान का नाम हो। वास्तव में बस्तर के अत्यंत निकट ही भद्रक नामक नगर है, जो गोदावरी की सहायक नदी, इंद्रावती के तट पर स्थित है। चूंकि क ा जाता है कि प्रोल प्रथम ने भद्रंग को भागने पर बाध्य किया, अतः इसका अर्थ यह लगाना चाहिए कि उसने उस स्थान के प्रमुख वहां की जनता को मार भगाया था। चक्रकूट से उसकी साम्यता के कारण, पुरुकूट को बस्तर के निकट ही ढूंढना चाहिए। वास्तव में उसके निकट ही परकोट नामक शहर है, जो संभवतः पुरुकूट हो सकता है। जैसे चक्रकूट बदल कर चक्रकोट हो गया, वैसे ही पुरुकूट भी पुरुकोट और फिर स्थानीय भाषा में परकोट हो गया होगा। प्राचीन काल में भद्रंग और पुरुकूट, बस्तर राज्य के महत्वपूर्ण स्थान प्रतीत होते है। स्पष्टतः प्रोल प्रथम ने चक्रकोट के विरुद्ध पश्चिमी चालुक्य अभियान के दौरान उन पर काबू पाया था। उसने भद्रंग की जनता को नगर से भगा दिया तथा पुरुकूट के प्रमुख, गोन्न को मौत के घाट उतार दिया। दुग्ग प्रमुख का, जिसके अज्ञात पुत्र को प्रोल प्रथम ने हराया था, काडर्पति स्थिति प्रधान कार्यालय संभवतः वारंगल के पड़ोस में ही पड़ता था। यह संभवतः आधुनिक वारंगल जिले के वारंगल 'तालुक' में ही उसी नाम के वर्तमान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गांव से साम्यता रखता है।

इस प्रकार, पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम एवं उसके पुत्र विक्रमादित्य के सभी महत्वपूर्ण अभियानों में काकतीयों ने उनको विजय दिलाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग लिया। पहले बेत प्रथम और उसके पश्चात उसका पुत्र प्रोल प्रथम पश्चिमी चालुक्यों के प्रभुत्व के प्रति दृढ़ रूप से निष्ठावान बने रहे, तथा इस प्रकार उन्होंने अपने अधिराजों से प्रेम एवं कृपा प्राप्त की। प्रोलप्रथम की सैनिक योग्यता तथा अटल निष्ठा से प्रसन्न होकर, सम्राट आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम ने उसे स्थाई रूप से अनुकोंड 'विषय' की जागीर प्रदान की। इस प्रकार प्रोल प्रथम, काकतीय राज्य का संस्थापक हुआ। उसके आकांक्षी उत्तराधिकारियों के काल में यह राज्य शक्तिशाली साम्राज्य बन गया, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र सम्मिलित था। यद्यपि वह अपने जीवन भर अनेक युद्धों में व्यस्त रहा, फिर भी प्रोल प्रथम ने राज्य के असैनिक प्रशासन तथा उसकी आर्थिक समृद्धि में ध्यान लगाने के लिए समय निकाल ही लिया। कांची एवं मोटुपल्लि के एकाम्रनाथ मंदिर के अभिलेखों के अनुसार, जो उसके पौत्र गणपति के हैं, उसने अपनी ही उपाधि (विरुद)की स्मृति में केसरि अथवा जगतीकेसरि नामक सिंचाई का सरोवर बनवाया।[4] अपने पिता के समान ही, प्रोल प्रथम भी शैव था, तथा रामेश्वर पंडित का शिष्य था, जो 'लकुलीश्वर आगम' का प्रसिद्ध व्याख्याता था। प्रोल ने उसे दान में वैजनंपल्लि का ग्राम दिया और उसका नाम शिवपुर रखा।[5]

लगभग 1075 ई० में प्रोल प्रथम की मृत्यु हो गई और उसके बाद, उसका युवा पुत्र बेत द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्य में गंभीर विप्लव का उदय होना इस शासक के काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। इस विद्रोह ने उसके वंश की शक्ति को गहरा आघात पहुंचाया। इस घटना के घटित होने की परिस्थितियां ज्ञात नहीं हैं। यह असंभव नहीं कि यह विप्लव साम्राज्यिक सिंहासन के अधिकार के लिए सोमेश्वर द्वितीय एवं विक्रमादित्य षष्ठ के बीच होने वाले गृहयुद्ध का ही परिणाम हो। संभवतः बेत द्वितीय ने सोमेश्वर का समर्थन किया, तथा उसके पराजित होने पर या तो विक्रमादित्य ने उसको दंड देने के लिए सेनाएं भेजीं अथवा उसके सामंत प्रमुखों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने एवं उसके प्रभुत्व को उखाड़ने के लिए उकसाया। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि शक सं० 1001 (1079-80 ई०) के हनुमकोंड अभिलेख में, बेत द्वितीय के नाम के साथ त्रिभुवनमल्ल की उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है, और न ही उसमें त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य का कोई उल्लेख है, जो उस समय तक स्वयं को साम्राज्यिक सिंहासन पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करने में सफल हो गया था। किंतु बेत द्वितीय के पास भी शक्तिशाली मित्र थे, जो संकट की घड़ी में भी उसके साथ रहे तथा जिन्होंने उसके शत्रुओं का दमन करने में उसकी सहायता की। इनमें से सर्वप्रमुख एर्र एवं रेव थे, जो क्रमशः विरियाल और वेमचोल वंशों के अध्यक्ष थे। वारंगल जिले के गूडूर स्थान से प्राप्त तिथिविहीन अभिलेख के अनुसार एर्र ने पोट्ट-बेत (अर्थात बेत द्वितीय) का साथ दिया, युद्ध में उसके शत्रुओं को मौत के घाट उतारा तथा उसे कोरंवि प्रदेश में दृढ़तापूर्वक स्थापित किया।[6] उसी जिले में भाटूरू के स्थान से प्राप्त, 1120 ई० के एक अभिलेख के अनुसार रेव ने काकति वंश के राजाओं को सुरक्षा प्रदान की, उनके शत्रुओं को पराजित किया तथा उनके राज्य की अखंडता को सुरक्षित किया।[7] किंतु अपने मित्रों की विजयों के बाद भी, बेत द्वितीय सम्राट की आज्ञप्ति के बिना, स्वयं को अपने राज्य में सुरक्षित रूप में स्थापित हुआ नहीं समझता था। अतः विरियाल प्रमुख एर्र की योग्य पत्नी कामसानि सहित, उसका मंत्री वैज दंडाधीश, उसे कल्याणी स्थति विक्रमादित्य के दरबार में ले गया। वहीं पर सम्राट के कदमों में उससे साष्टांग प्रणाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करवा कर, उसके लिए सब्बि-हजारी का प्रशासन प्राप्त किया, जिसमें संभवतः अनुमकोंड एवं कोर्रवि के जिले भी सम्मिलित थे। इस प्रकार उसने काकईय प्रदेश की अखंडता की रक्षा की।[8] यह घटना 1090 ई० से पहले हुई होगी, क्योंकि उसी वर्ष के काजीपेट अभिलेख में कहा गया है कि बेत ने उसमें वर्णित दान को, त्रिभुवनमल्ल देव अर्थात विक्रमादित्य षष्ठ के शासन काल के दौरान दिया था।[9] बाद में उसके द्वारा धारण की गई त्रिभुवनमल्ल एवं विक्रमचक्री की उपाधियां भी यही इंगित करती हैं कि उसने विक्रमादित्य के प्रति समर्पण कर दिया था। उसके शासन के दौरान हुई इसके बाद की घटनाओं के संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं है। इस संदर्भ में केवल यह अनुमान किया जाता है कि उसने संभवतः विक्रमादित्य के मालव एवं चोलयुद्धों में भाग लिया था।[10] उसके शासनकाल की अवधि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वह लगभग 1075 ई० में अपने पिता का उत्तराधिकारी बना तथा 1090 ई० में अथवा आसपास परलोक सिधार गया।

बेत द्वितीय के उत्तराधिकारी

1090 ई० में अथवा उससे पहले, बेत द्वितीय का पुत्र दुर्गनृपति उत्तराधिकारी बना। उसका उल्लेख केवल वारंगल जिले के काजीपेट अभिलेख में मिलता है, किंतु यह भी ऐतिहासिक महत्व की कोई सूचना प्रस्तुत नहीं करता। इससे केवल यही तथ्य मिलता है कि अपने पिता के समान उसने भी त्रिभुवनमल्लदेव की उपाधि धारणा की थी।[11] उसके शासनकाल की अवधि अथवा उसके दौरान होने वाली घटनाओं के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है

1117 ई० में अथवा उसके लगभग ही दुर्ग के पश्चात उसका भाई प्रोल शासक बना। हाल ही में प्रकाश में आने वाले उसके शासनकाल के दो अभिलेखों में उल्लेख है कि उसने गोकर्ण के पुत्र को उसके सिंहासन पर स्थापित किया, मेडराज को पराजित किता, पोलवासदेश (संभवतः इस प्रमुख का प्रदेश) जीता तथा उसे गंगराज को सौंप दिया, जिसने हनुमकोंड के स्थान पर प्रसन्न केशवदेव भगवान के लिए मंदिर बनवाया।[12] किंतु ये तथ्य उसके पुत्र रुद्रदेव के हनुमकोंड अभिलेख में वर्णित नहीं है, जो उसकी उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन करता है। इस अभिलेख के अनुसार प्रोल द्वितीत ने चालुक्यों के शिखरमणि तैलप को पराजित किया, किंतु उसकी धर्मनिष्ठा एवं सद्भाव से प्रभावित होकर, तुरंत ही उसको छोड़ दिया। उसने गोविंदराज को भी जीता, उदय के प्रदेशों को लूटा, किंतु इन्हें उनके स्वामी को पुनः लौटा दिया। उसने मंत्रकूट के गुंड का पीछा किया, जो युद्ध में हार कर अपनी राजधानी की ओर भाग गया, जहां उसके विजेता ने उसका सिर मुंडवाया तथा उसकी छाती पर जंगली सूअर का चिह्न खुदवाया। प्रोल ने जगद्देव को भी पीछे खदेड़ दिया, जिसने उसकी राजधानी अनुमकोंड को घेर लिया था।[13] प्रोल द्वितीय के शत्रुओं की तादात्म्यता, तथा उनसे संघर्ष करने की परिस्थितियों पर विचार करने से पहले यह जान लेना चाहिए कि मूलतः वह केवल 'मांडलिक' अर्थात छोटे से प्रदेश का सामंत शासक था, जिसने अपनी राज्यास्था कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य सम्राट को समर्पित कर रखी थी। उसके अधीनस्थ प्रदेश की अधिकतम सीमा के अंतर्गत तथा तेलिंगाना में करीमनगर जिलों के कुछ भाग आते थे। इसी प्रकार जिन शत्रुओं को उसके द्वारा पराजित हुआ बताया जाता है, वे भी उसी अधिराज के सामंत थे, जो प्रोल के प्रदेश के पड़ोस में ही तेलिंगाना के भिन्न भागों पर प्रशासन करते थे।

दुर्भाग्यवश, प्रोल के अभिलेखों में गोकर्ण के पुत्र तथा उसके वंश के नामों का उल्लेख नहीं मिलता है। किंतु गोकर्ण नाम से, जो टेलुगु चोल वंश की कंदूर शाखा की विशिष्टता है,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीत होता है कि अनाम राजकुमार एवं उसके पिता वास्तव में इसी वंश के थे। माभिल्लपल्लि से प्राप्त शक सं० 1100 (1178 ई०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि वह सूर्यवंशी गोकर्ण के बड़े भाई, भीम नामक राजा के शासन काल के दौरान स्थापित किया गया था। इस अभिलेख में राजाओं की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है, यथा गोकर्ण प्रथम, उसका पुत्र उदयादित्य तथा उसके पौत्र भीम एवं गोकर्ण द्वितीय।[14] यह असंभव नहीं कि, प्रोल द्वितीय द्वारा सिंहासन पर आसीन किए जाने वाले राजकुमार का गोकर्ण नामक पिता, माभिल्लपल्लि अभिलेख में वर्णित गोकर्ण प्रथम था। वस्तुतः हम यह जानते हैं कि गोकर्णदेव चोड, वास्तव में प्रोल द्वितीय के प्रारंभिक वर्षों के दौरान, नलगोंड जिले में पानुगल के स्थान पर राज्य कर रहा था क्योंकि, सूर्यग्रहण के अवसर पर उसने कुछ ब्राह्मणों को भूमि का दान दिया। यह ग्रहण शुभकृत वर्ष की फाल्गुन-बहुल अमावस्या को शुक्रवार के दिन हुआ, जो 1043 चालुक्य-विक्रम (शकसं० के स्थान पर की गई भूल) के बराबर है (शुक्रवार, 10 मार्च, 1122 ई०)।[15] यह अत्यंत संभव है कि वह तथा उपरोक्त माभिल्लपल्लि अभिलेख का गोकर्ण प्रथम, एक ही व्यक्ति था। वास्तव में गोकर्ण, तोंड तथा उसकी रानी मैलांबिका के तीन पुत्रों में से सबसे छोटा था, तथा पानुगल से प्राप्त शक सं० 1046 क्रोधि (1124 ई०) के एक अन्य अभिलेख में वर्णित उदयादित्य एवं भीम का छोटा भाई था।[16] तोंड तेलुगु चोड वंश की ऐर्रुव शाखा का वंशज तथा पश्चिमी चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य षष्ठ का सामंत था जैसा कि उसकी रानी मैलभदेवी (मैलांबिका) के शक सं० 1043—चालुक्य विक्रम— 46 (1121 ई०) के दाक्षारामं अभिलेख में दिखाया गया है।[27] यदि प्रोल द्वितीय के अभिलेखों के गोष्कर्ण तथा माभिल्लपल्लि अभिलेख के गोकर्ण प्रथम की तादात्म्यता के सुझाव को मान लिया जाए, तो इससे निष्कर्ष निकलेगा कि गोकर्ण के पुत्र का नाम, जिले प्रोल द्वितीय ने अपने सिंहासन पर बिठाया था, उदयादित्य था। वह संभवतः, रुद्रदेव एवं गणपति के क्रमशः अनुमकोंड एवं गणपेश्वरं अभिलेखों में वर्णित उदय अथवा चोडोदय ही था; क्योंकि उनमें कहा गया है कि प्रोल द्वितीय ने उसके प्रदेश का अतिक्रमण किया किंतु बाद में उसको ही पुनः सौंप दिया।[18] पोलवासदेश का शासक मेड शक्तिशाली प्रमुख था। यद्यपि यह कहा जाता है कि वह प्रोल द्वितीय से पराजित हुआ था तथा इसके परिणामस्वरूप उसने अपना राज्य भी खो दिया, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना प्रदेश पुनः प्राप्त कर लिया, क्योंकि अनुमकोंड अभिलेख में उसका उल्लेख, बाद में रुद्रदेव द्वारा पराजित शत्रुओं के साथ किया गया है। 'चालुक्यों का शिखरमणि' तैल, विक्रमादित्य षष्ठ का पुत्र था। 1110 ई० से 1125 ई० के अनेक अभिलेखों में उसका उल्लेख, कुमार अथवा युवराज तैलपदेव के रूप में किया गया है। यह स्पष्ट है कि उस समय वह कंदूरु-नाड तथा उसके आस पास के क्षेत्र पर शासन कर रहा था।[19] गोविंदराज को सामान्यतया तेलिंगाना एवं तटीय आंध्र के अनेक अभिलेखों में वर्णित तथा विक्रमादित्य षष्ठ के प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापति, अनंतपाल दंडनायक का भानजा ही माना जाता है। वह वीर योद्धा था, और उसने 1118 ई० में अपने भाई लक्ष्मण के साथ मिलकर, वेंगी एवं अन्य समुद्री क्षेत्रों पर आधिपत्य जमाने में अपने मामा को अमूल्य सहायता प्रदान की थी। वह 1126 ई० में कोंडपल्लि एवं उसके आश्रित प्रदेशों पर राज्य कर रहा था।[20] किंतु यह अधिक संभव है कि प्रोल का विपक्षी यह गोविंदराज नहीं था, अपितु बागि मादिमय्य नायक का उसी नाम का पुत्र था,जो भूलोकमल्ल सोमेश्वर तृतीय के अधीन, 1133 ई० में वेंगी के प्रशासन में, माकांबा के पुत्र लक्ष्मण दंडनायक के साथ संलग्न था।[21] जगद्देव, निःसंदेह ही, उसी नाम का परमार राजकुमार था, जो विक्रमादित्य षष्ठ एवं सोमेश्वर तृतीय के अधीन सात-हजारी कोल्लिपाक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर शासन करता था।[22] मंत्रकूट के गुंड के प्राग्भूत ज्ञात नहीं हैं। वह भी संभवतः कल्लाणी के चालुक्यों का सामंत था।

इन प्रमुखों के विरुद्ध प्रोल द्वितीय के सफल युद्धों के संबंध में, न तो उनके काल और न ही उनकी परिस्थितियों का निश्चित रूप से ज्ञान है। जब 1135 ई० में तटीय आंध्र प्रदेश में पश्चिमी चालुक्यों की हार हुई और उन्हें वहां से निकाल दिया गया, तब उनके राज्य में अराजकता फैल गई थी। अतः यह असंभव नहीं कि स्थिति का लाभ उठाते हुए जब प्रोल ने अपने लिए राज्य की स्थापना करने का प्रयास किया, तो उसका इन प्रमुखों से संघर्ष हुआ था।

समुद्री आंध्र प्रदेश में हुई पराजय तथा उसके कुछ वर्ष पश्चात 1139 ई० में हुई सोमेश्वर तृतीय की मृत्यु ने विखंडन की सुप्त शक्तियों को जाग्रत कर दिया तथा शीघ्र ही चालुक्य साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होने लगा। शक्ति के सामान्य संघर्ष में सामंतों ने अपने ही हितों की देखभाल की तथा प्रत्येक ने अधिकाधिक क्षेत्र को हथियाने की चेष्टा की। लगभग इसी समय प्रोल द्वितीय के प्रभुत्व का उदय हुआ होगा, तथा उसने साम्राज्यिक आधिपत्य को उखाड़ कर अपनी स्वतंत्रा स्थापित की होगी। इससे पहले, उसके आक्रमण संभव न थे, क्योंकि उस समय वेंगी और उसके निकटवर्ती प्रदेशों में स्थित साम्राज्यिक सेना उसे सुगमता से कुचल देती।

उपर्युक्त युद्धों के परिणामस्रूव, उसके द्वारा प्राप्त किए गए प्रदेश की सीमा को निश्चित रूप से निर्धारित नहीं कर सकते हैं। किंतु, यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उसने स्वयं को गोदावरी एवं कृष्णा नदियों के बीच के प्रदेशों का स्वामी बना लिया था। गुंड की पराजय से, गोदावरी पर स्थित मंथेन एवं उसके आश्रित प्रदेश, उसके हाथों में पहुंच गए होंगे, तथा नलगोंड-पानुगल के तेलुगु चोल उदयादित्य ने, जिसको उसने विजय के पश्चात पुनः राज्य लौटा दिया था, उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली होगी। प्रमाणों की अनुपस्थिति में, पश्चिम में उसके प्रभुत्व की सीमा को निर्धारित करना संभव नहीं है। किंतु यह निश्चित है कि प्रोल द्वितीय के विजयी जीवन को गहरा आघात पहुंचा था। अपने शासन काल के अंत में उसने वेंगी पर आक्रमण किया, जब उसकी प्रगति का विरोध करने वाले स्थानीय प्रमुखों के संगठन की सेनाओं से हुए युद्ध में, वह संभवतः मारा गया।

कोट सूरममहादेवी के शक सं० 1091 (1169 ई०) के दाक्षारामं अभिलेख में उसके पति कोट चोडयराज की अनेक उपाधियों में से एक 'काकति-प्रोल-निर्दहन' का भी उल्लेख हुआ है। इस तथ्य से पता चलता है कि काकति प्रोल, जो प्रोल द्वितीय ही था, उसी के द्वारा मारा गया था।[23] ऐसा प्रतीत होता है कि कोट चोडयराज के समान ही, कोन प्रदेश के हैहय प्रमुखों अर्थात मन्म सत्य एवं मल्लिदेव तथा मलय प्रदेश के सूर्यवंश प्रमुख, महादेव राज ने भी इसी प्रकार की उपाधियां धारण की थीं। ऊपर वर्णित हैहय प्रमुखों के शक सं० 1117 (1195 ई०) के पिठापुरं स्तंभ अभिलेख में,[24] मन्म सत्य को 'प्रोड-क्षितिपाल-मौलि-मकुट-आलंकार-सिंहासनः अर्थात 'वह, जिसका सिंहासन, प्रोड-क्षितिपाल के सिर के मकुट से विभूषित था' कहा गया है। अभिलेख के संपादक, डा० ई० हूल्श ने प्रोड को 'प्रौढ़' के रूप में सुधारा तथा उसे 'क्षितिपाल' का विशेषण मान लिया। यह उनकी भूल थी। सुधार की कोई आवश्यकता ही न थी। यह स्पष्ट है कि प्रोड शब्द प्रोल नाम का ही भिन्न रूप है। इसके अतिरिक्त, डा० हूल्श का सुधार, संदर्भ में ठीक भी नहीं बैठता। राजाओं को प्रायः वीर एवं शूर शब्दों से वर्णित किया जाता है और प्रौढ़ शब्द का प्रयोग अत्यंत विरल है। अतः पिठापुरं स्तंभ अभि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेख में प्रयुक्त उपाधि का अर्थ हैहय प्रमुखों मन्म सत्य एवं मल्लिदेव के हाथों काकति प्रोल की पराजय के उल्लेख के रूप में ही लेना चाहिए। इसी प्रकार अपने अधिराज के मद्रास संग्रहालय के ताम्रपत्र के अनुसार सूयंवंशी मलय प्रमुख महादेवराज, वेत-विजयादित्य वंश के उत्तरकालीन पूर्वी चालुक्य नरेश मल्ल विष्णुवर्धन के सामंत ने भी 'प्रोड-आरि-बडल-आनलः' अर्थात 'प्रोड शत्रु के लिए बड़वानल' यह उपाधि धारण की।[25] यहां भी प्रोड शब्द को 'प्रौढ़' नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रौढ़-अरि का कोई महत्वपूर्ण अर्थ नहीं हो सकेगा। प्रोड किसी राजा के वैयक्तिक नाम के रूप में लेना ही अधिक उचित है। इस विचार की पुष्टि, गणपतिदेव के एकामनाथ अभिलेख से भी होती है, जिसमें कहा गया है कि उसके पूर्वज प्रोडराज ने 'जगती केशरि' नामक सरोवर का निर्माण करवाया था।[26] गणपति देव के ही मोटुपल्लि अभिलेख में बताया गया है कि जगती केशरि नामक सरोवर का निर्माण प्रोल द्वितीय ने कराया था। अतः यह स्पष्ट है कि प्रोड एवं प्रोल एक ही नाम है। यदिउपर्युक्त पिठापुरं स्तंभ अभिलेख एवं मद्रास संग्रहालय ताम्र पत्र में वर्णित प्रोड, प्रोल द्वितीय से साम्यता रखता है, तो यह निश्चित प्रतीत होता है कि उसने लगभग 1150 ई० में वेंगी प्रदेश पर आक्रमण किया होगा तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के सामंतों अर्थात अमरावती के कोट, कोनमंडल के हैहय, तथा मलय के सूर्यवंशी प्रमुखों ने उसका विरोध किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसी आक्रमण के दौरान पराजित हुआ और मार दिया गया।

काकतीयों के इतिहास में प्रोल द्वितीय का शासनकाल एक महत्वपूर्ण चरण का निर्धारण करता है। वह वीर योद्धा था, उसने अपनी सैनिकशक्ति द्वारा, अपनी पैतृक सामंतीय जागीर को प्रभुत्वशाली राज्य में परिणत कर दिया। यद्यपि उसने अपना जीवन, चालुक्य साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्रों में साधारण से मांडलिक के रूप में आरंभ किया था, फिर भी उसने सोमेश्वर तृतीय की मृत्यु के पश्चात राज्य में होने वाली अव्यवस्था से लाभ उठाकर, साम्राज्यिक शक्ति को उखाड़ने में सफलता प्राप्त की और अपने लिए स्वतंत्र राज्य की स्थापना की, जो उसके उत्तराधिकारियों के काल में संपूर्ण आंध्र प्रदेश में फैल गया और शक्तिशाली साम्राज्य बन गया।

संदर्भ

1. कार्पस, नं० 7, पृ० 25 से.
2. है० आ० सि०, नं० 3.I, गणपतिकालीन शक स० 1135(1213 ई०)के पालंपेट स्तंभाभिलेख में कांची की विजय का श्रेय एक काकति नरेश को दिया गया है तथा अभियान का निर्देशन, उसके सेनापति, रेचेरंल-वंशीय ब्रह्म ने किया था (पद्य 11)। वास्तव में यहां पर उल्लिखित काकति नरेश, बेत प्रथम के अतिरिक्त और कोई नहीं है। काम चमूपति के पिता, काट एवं रेचेरंल वंश के प्रथम ज्ञात सदस्य ब्रह्म के पारस्परिक संबंध को इस अभिलेख में स्पष्ट नहीं किया गया है। काम को, मथेन गुंड के विरोधी अर्थात् काकति प्रोल का मुख्य अधिकारी बताया जाता है। यह प्रोल स्पष्टतः प्रोल द्वितीय ही है। अतः यह मानना उचित ही है कि रेचेरंल ब्रह्म एवं उसके वंशज काम के बीच उतना ही समयांतर था, जितना बेत प्रथम एवं प्रोल द्वितीय के बीच था। किंतु, रेचेरंल प्रमुख नाम के गिल्ललमर्रि अभिलेख (कार्पस, नं० 41, पृ० 114 से) में कहा गया है कि काट का पिता मुच्च था तथा वह बंम अर्थात् ब्रह्म के परिवार में उत्पन्न हुआ था, जिसने 'कांची नगर के द्वार का हरण करके, भयंकर युद्ध के खेल में चोड नरेश के मानरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंका था'('यः कांची नगरी-कवाट-हरणकृत्वा प्रचण्डाहव क्रीडस्-चोड-नराधिपस्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृतवान् मान-द्रुमोन्मूलनं । वहीं, पद्य 4) । वास्तव में मुच्च का समय काट से बहुत पहले का है । वह संभवतः ब्रह्म का पौत्र अथवा उसका भतीजा था । ब्रह्म के काल से ही, इन रेचेर्रल प्रमुखों ने अत्यंत निष्ठा से काकतीयों की सेवा की । रेचेर्रल प्रमुखों एवं उनके अधिराजों की तुलनात्मक तिथियों को समझने के लिए, नीचे दी गई वंशतालिका पाठकों के लिए सहायक होगी ।

रेचेर्रल प्रमुख	काकतीय नरेश
ब्रह्म अथवा बंम (बेत प्रथम का सेनापति)	बेत प्रथम
मुच्च	प्रोल प्रथम
काट	बेत द्वितीय
काम (प्रोल द्वितीय का सेना पति)	प्रोल द्वितीय

इन वंशतालिकाओं से यह संभव प्रतीत होगा कि मुच्च एवं उसका पुत्र काट, क्रमशः प्रोल प्रथम एवं उसके पुत्र बेत द्वितीय के सेनापति थे । इस स्थिति में, काकति सम्राट बेत तथा रेचेर्रलवंशीय उनका सेनापति ब्रह्म अथवा बम्म, पश्चिमी चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम (1044-1068 ई० अथवा शक 966-90) के समकालीन एवं सहायक थे.

3. 'विक्रमांकदेव-चरित्र', 4, 11-18.
4. इं० ऐं० खंड xxi, पृ० 137 से; 'ए० इं०' खंड xii, पृ० 188 से.
5. कार्पस, नं० 12.
6. वही, नं० 24, 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', काक०, 55.
7. वही, 54, तेलिंगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड (अप्रकाशित) नं० 47.
8. तेलि० इंसक्रिप्शंस, काक०, 55; 'ए० इं०', खंड ix, पृ० 256, पद्य 3.
9. कार्पस, नं० 7.
10. वही.
11. वही.
12. 'ज० आ० हि० रि० सो०', xxi, पृ० 105-6.
13. कार्पस, नं० 3.
14. एम० रामकृष्ण कवि, 'लिथिक रेकार्ड्स इन दि हैदराबाद स्टेट'.
15. कार्पस, नं० 32.
16. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', मिसलेनियस, 18. पाठ को गलत तरह से पढ़ा एवं संपादित किया गया है । इस अभिलेख में दी गई वंशावली इस प्रकार है :

राजाओं का शिखरमणि
···र्प्पेरि का विवाह बेडंगा से
|
मैलांबिका का विवाह राजा तोंड से
|
उदयादित्य | भीम | गोकर्ण

17. सा० इं० इं० iv, पृ० 1216, 'ऐ० रि० सा० इं० ए', 1893 का 335.
18. 'ए० इं०', iii, पृ० 89.
19. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड' (अप्रकाशित): नं० 44 (आलवानिपल्ले), 45. (आवंच), 53 (नेक्कोंड), 59 (पानुगल्लु (नलगोंड)).
20. 'ए० इं०', xii, पृ० 261.
21. 'सा० इं० इं०', xii, पृ० 261; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 243-ब.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

22. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस' चालुक्य, 13-42.
23. 'सा० इं० इं०', iv, पृ० 1242; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 351.
24. 'ए० इं०', iv, पृ० 91.
25. 1916-17 का ताम्रपत्र नं० 10.
26. 'इं० ऐं०', xxi, पृ० 197.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वतंत्र शासक

काकति रुद्रदेव
(1150 ई० से 1195-6 ई०)

प्रोल द्वितीय के पांच पुत्र थे'[1] जिनमें से सामान्यतया केवल दो, अर्थात रुद्रदेव एवं महादेव का ही उल्लेख अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों में मिलता है। एक अन्य पुत्र रेपल्लि दुग्गराज (दुर्गराज) का वर्णन 1163 ई० के दाक्षारामम अभिलेख में मिलता है।[2] उसका यह नाम इसलिए पड़ा कि उसके राजदेय का नाम रेपल्लि था। गणपांबिका के येनमदल अभिलेख में माधव को प्रोल द्वितीय के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है।[3] स्पष्टत: यह महादेव के नाम की ही भूल है क्योंकि अन्य किसी अभिलेख में माधव का उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त इस अभिलेख में उसे गणपति का पिता बताया गया है और इसी अभिलेख से यह तथ्य भी स्पष्ट है कि यह माधव महादेव के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं था। नाम के भिन्न रूप का कारण लिपिक की भूल ही हो सकता है। प्रोल द्वितीय के दो अन्य पुत्रों के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। रुद्र को प्रोल द्वितीय के पुत्रों में सबसे बड़ा समझना चाहिए, क्योंकि काकति गणपतिदेव के एकाम्रनाथ अभिलेख में महादेव का वर्णन इस प्रकार हुआ है: 'जैसे समुद्र से पारिजात का जन्म हुआ था वैसे ही सूर्यवंश से उत्पन्न अनेक छोटे भाइयों में वह सर्वप्रथम था।'[4] इस उपमा का निहित अर्थ यह है कि रुद्रदेव के चार छोटे भाई थे, जिनमें से महादेव सबसे बड़ा था। संभवत: अपने राज्यारोहण के समय रुद्रदेव एक युवा राजकुमार था, क्योंकि वह अपने पिता के युद्धों में भाग ले चुका था।

रुद्रदेव वीर योद्धा था। जैसा ऊपर सुझाव दिया जा चुका है, उसने संभवत: अपने पिता प्रोल द्वितीय द्वारा आयोजित अभियानों में भाग लिया था, तथा उसे अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने एवं उसके पूर्वजों द्वारा प्रदत्त प्रदेश को सुरक्षित बनाए रखने में सहायता दी थी। राज्यारोहण के पश्चात उसने अपनी संपूर्ण शक्ति एवं अपने सारे साधन अपनी स्वतंत्र सत्ता की रक्षा और अपने राज्य के यथासंभव विस्तार के लिए लगाए। अत: यह कहा जा सकता है कि उसकी राजनीतिक गतिविधियां, उसके पिता प्रोल द्वितीय की विजय योजनाओं को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से ही निर्देशित हुई थीं। राज्य विस्तार की इस नीति के क्रियान्वयन में रुद्रदेव को अनेक प्रमुखों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा था। उसकी उपलब्धियों का वर्णन, उसके अनुमकोंड अभिलेख में मिलता है।[5] यह विस्तृत विवरण बड़े ऐतिहासिक महत्व का है और उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में निहित उसकी शक्ति की प्रशंसा को पूर्ण रूप से संगत बताता है। उसमें केवल रुद्रदेव के ही नहीं, अपितु उसके पिता, प्रोल द्वितीय के शौर्यपूर्ण कर्मों का भी वर्णन का भी मिलता है। इस अभिलेख की तिथि अर्थात शक सं० 1084 (1162 ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक, रुद्रदव ने अपने अनेक शत्रुओं को पराजित कर दिया था तथा अपने छोटे से प्रदेश को विस्तृत साम्राज्य में परिणत कर लिया था। अनुमकोंड अभिलेख में उसके विपक्षियों के रूप में डोम्मराज, मेडराज तथा मैलिगिदेव का उल्लेख है; इन्हें उसने युद्धों में हराया था। वे पड़ोसी कुमार प्रतीत होते हैं, जिनके राज्य, रुद्रद्देव के क्षेत्रों से सटे हुए थे। प्रमादियुग वर्ष के तुल्य चालुक्य विक्रम वर्ष (शक सं० 1081—1159 ई०) के[6] महामंलेश्वर डोम्मराज के एक अभिलेख में मेडराज एवं जगद्देव का वर्णन है, तथा एक अनाम शत्रु के विरुद्ध, 80,000 की सेना सहित उनके द्वारा प्राप्त विजय का उल्लेख है। यह अभिलेख करीमनगर जिले में नगुनुरू से प्राप्त हुआ है। यह असंभव नहीं कि इसमें वर्णित अनाम शत्रु स्वयं रुद्रदेव था तथा अभिलेख में संघर्ष की उस आरंभिक अवस्था का उल्लेख है जिसमें वह इन प्रमुखों से संघर्षरत था। चाहे ऐसा कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अंत में रुद्रदेव ही विजयी रहा, उसने घुड़सवार तथा अश्वसेना के सेनापति के रूप में प्रसिद्ध डोम्मराज को, 'अपने सैकड़ों चमकते हुए तीरों से' वैसे ही भागने पर बाध्य किया, जैसे 'अर्जुन ने कर्ण' को किया था, तथा 'सभी सुविधाओं से युक्त, उसके नगर एवं ग्राम पर जो उसकी सीमा पर ही करीमनगर जिले में स्थित था, अधिकार कर लिया।

रुद्रदेव के अन्य शत्रुओं अर्थात मेडराज एवं मैलिगिदेव की तादात्म्यता स्थापित करना अधिक कठिन है। उपर्युक्त नगुनूरु अभिलेख में जगद्देव के साथ ही किसी मेडराज का भी वर्णन हुआहै। किंतु यह निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता कि वह रुद्रदेव द्वारा पराजित मेडराज ही था, अथवा उसी नाम का कोई अन्य व्यक्ति।

हनुमकोंड के एक अभिलेख में उग्रवाडि मेलरस नामक महामंडलेश्वर का उल्लेख है। वह माधववर्मन के परिवार में उत्पन्न हुआ था तथा 8000 हाथियों, 8 करोड़ घोड़ों एवं असंख्य प्यादों आदि का स्वामी था। वह संभवतः, पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ का सामंत था। चालुक्य विक्रम वर्ष 4 , हेमलंबि अर्थात शक सं० 1040 (1118 ई०) में, प्रोल द्वितीय के मंत्री बेत की पत्नी मैलम द्वारा निर्मित जैन मंदिर कदललाय बसदि के दानग्रहण कर्ताओं में उसका नाम आता है। इस अवसर पर उसने एक मत्तर सिंचित प्रदेश, इस संस्थान को दिया था। यह प्रदेश उसके अधीन वारंगल में निहित कूचकेरें बंध के नीचे की नहर के शीर्ष पर स्थित था। इसके अतिरिक्त उसने इसी प्रदेश के निकट दस मत्तर अन्य भूमि भी दी।[7] इससे पता चलता है कि इस समय मेलरस प्रोल के सहायक के रूप में ही वारंगल के आस पास के प्रदेश पर शासन कर रहा था। यह असंभव नहीं कि प्रोल की मृत्यु के पश्चात उसने काकतीय प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने एवं अपनी स्वतंत्रता को स्थापित करने का चेष्टा की[8] किंतु रुद्रदेव ने उसे युद्ध में पराजित कर दिया तथा उसके द्वारा शासित प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

मैलिगिदेव कौन था, यह अब भी विवादास्पद है। अनमकोंड अभिलेख के संपादक डा० फ्लीट ने उसकी तादात्म्यता निर्धारित करने में अपनी असमर्थता स्वीकार की है;[9] किंतु डा० हूल्श का विचार था कि वह भिल्लम का पूर्वज एवं यादव नरेश मल्लुगि था।[10] किंतु यह सुझाव मान्य नहीं है, क्योंकि भाषाविज्ञान के आधार पर मल्लुगि नाम को मैलिगि से व्युत्पन्न नहीं मान सकते। वह कोई भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि वह रुद्रदेव का पड़ोसी था। अनुमकोंड अभिलेख में कहा गया है कि रुद्रदेव ने एक युद्ध में मैलिगिदेव के अंहकार का दमन किया तथा प्राचीन हैदराबाद राज्य के आधुनिक करीमनगर जिले के जगत्यल तालुक में स्थित पोलवास के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया।[11] इस प्रकार अनमकोंड के उत्तर के क्षेत्र में स्थित डोम्मराज, मेडराज एवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मैलिगिदेव पर प्राप्त विजयों से, रुद्रदेव ने गोदावरी नदी के तट तक अपने साम्राज्य काविस्तार कर लिया।

इसके पश्चात रुद्रदेव ने अपना ध्यान दक्षिण की ओर केंद्रित किया। इस संदर्भ में अनमकोंड अभिलेख के चार राजाओं, भीम, गोकर्ण, चोडोदय एवं तैलप का वर्णन है। गोकर्ण भीम द्वारा मारा गया था; चोडोदय 'रुद्रदेव की शक्ति से उत्पन्न भय के कारण' मर गया; तथा तैलप भी रुद्रदेव के डर से 'शरीर के पूर्णतया संग्रहणी रोग से ग्रस्त हो जाने से' मर गया। इसके पश्चात थोड़े समय के लिए भीम ने राज्य सुख भोगा। उसने खाने में जहर मिला कर अथवा खानाखाते समय किसी अन्य तरीके से अपने भाई को मार दिया तथा अपनी सौतेली मां को पत्नी बना लिया। उसके कुकृत्यों का अंत करने के लिए रुद्रदेव ने उसके क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया, और भीम अपनी माता, भाइयों एवं पत्नियों सहित जंगल की ओर भाग गया। इसके बाद रुद्रदेव ने वर्धमान (वर्धमान नगरी) और फिर चोडोदय नगर को जो चारों ओर वनों के कारण सुरक्षित समझा जाता था, जला दिया। चोडोदय दुर्ग एवं उसके चारों ओर के वनों को जला कर उसने दुर्ग के मध्य में एक बड़ा सरोवर बनवाया तथा 'कंदूर ओदय चोड वंश रूपी क्षीर सागर से उत्पन्न देदीप्यमान कमल (पद्म) का आवास' बन गया (पंक्ति 107)। डा० हूल्श जैसे विद्वानों का विचार था कि 'पद्मा का अर्थ वास्तव में चोडोदय की पुत्री के रूप में लेना होगा। यद्यपि रुद्रदेव ने उसके पिता को मार दिया था तथा शहर को नष्ट कर दिया था, फिर भी उसने राजनीतिक कारणों से उससे विवाह कर लिया।'[12]

भीम से हुई रुद्रदेव की लड़ाई अत्यंत महत्व की घटना प्रतीत होती है, और यह उसके शासन काल के आरंभिक वर्षों में घटित हुई। अनमकोंड अभिलेख में इस संघर्ष का विस्तृत वर्णन है। कुल 50 पद्यों में से 12 पद्य इसी युद्ध के वर्णन से संबंधित हैं। युद्ध के कारणों को बताते हुए अभिलेख के लेखक ने सबसे पहले भीम के अत्याचारी अपराधों की गणना की है, जिन्होंने रुद्रदेव को उसके विरुद्ध आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। भीम का सबसे पहला कुकर्म गोकर्ण नामक व्यक्ति को पकड़ना एवं उसकी हत्या करना था, फिर उसने चोडोदय एवं तैलप नामक दो प्रमुखों के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। ये दोनों ही रुद्र की सैनिक सफलताओं के डर से मरे बताए गए हैं। इस अभिलेख में चोडोदय के क्षेत्र के अधिकरण को उतनी स्पष्टता से वर्णित नहीं किया गया है, जितना कि तैलप के क्षेत्र के अधिकरण को। किंतु वर्णन का ध्यान से परीक्षण करने पर कोई संदेह नहीं रह जाता। वर्धमान के विध्वंस के बाद, भीम का पीछा करते हुए रुद्र चोडोदय के शहर कंदूर तक पहुंच गया और उसे जला दिया। इस वक्तव्य से यह पता चलता है कि इस घटना से कुछ समय पूर्व वह भीम के हाथों पकड़ा गया होगा। यदि वह भीम के राज्य का अंग न होता, तो रुद्र उस पर आक्रमण न करता और न ही उसे नष्ट करता। इसके अतिरिक्त जैसा हम जानते हैं, नृशंस एवं दुष्ट भीम ने अपने गुणवान भाई को खाने में जहर देकर मार दिया था तथा अपनी सौतेली मां को अपनी पत्नी बना लिया था। किंतु वास्तव में ये दुष्कर्म तो भीम पर रुद्र के आक्रमण के लिए केवल बहाना थे। युद्ध का वास्तविक कारण तो राजनीतिक शत्रुता थी। भीम ने छोटे छोटे प्रमुखों को अपने चारों ओर एकत्र किया तथा स्वयं को अधिराज घोषित करके तेलिंगाना के प्रभुत्व के लिए रुद्र का विरोधी बन गया। अतः उसे नीचा दिखाने के लिए एवं संपूर्ण प्रदेश पर अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि रुद्र भीम विरुद्ध युद्ध की घोषणा करे।

अभिलेख में वर्णित युद्ध की पहली महत्वपूर्ण घटना थी भीम की राजधानी वर्धमान नगर को जलाना। यह नगर महबूबनगर जिले के बड्डमान नाम स्थान पर स्थित था। यह कहा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
गया है कि भीम के विरुद्ध अपनी प्रगति में 'तीन या चार कदम' चलकर, रुद्र ने अपने क्रोधाग्नि को वर्धमान नगर रूपी आहुति अर्पित की। विरोध करने में असमर्थ होने के कारण, भीम अपनी मां भाइयों एवं पत्नियों के साथ अपनी राजधानी तथा अपनी शाही संपत्ति छोड़कर जंगल की ओर भाग गया। रुद्र ने उसका पीछा किया तथा उसने उदय अथवा ओदयचोड़ के नगर कंदूर पर आक्रमण किया, जहां संभवतः भीम ने शरण ली थी। सबसे पहले रुद्र ने जंगल को काटा, जो शहर के चारों ओर सुरक्षापंक्ति के रूप में था, फिर उसे जलाया तथा दुर्ग को नष्ट कर दिया। उसने दुर्ग के स्थान पर ही, शहर के मध्य में एक बड़ा एवं रमणीक सरोवर बनाया। उसके पश्चात उसने संभवतः कंदूर ओदय चोड की पुत्री पद्मा से विवाह कर लिया। पर भीम का क्या हुआ, जिसका पीछा करते हुए ही रुद्र कंदूर पहुंचा था ? इस संबंध में निश्चित कुछ ज्ञात नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कंदूर पर रुद्र के आक्रमण के दौरान अथवा उसके कुछ समय पश्चात ही मर गया क्योंकि अनमकोंड अभिलेख में कहा गया है कि 'भीम एवं अन्य राजा, जो कांची मंडल तथा विंध्य पर्वत श्रेणियों के बीच के क्षेत्रों में स्थिति थे, तथा जिनके संबंध में रुद्रदेव ने सुन रखा था, वे उसको देखते ही देवता बन गए (अर्थात मर गए)[13]।

अनमकोंड अभिलेख में वर्णित भीम तथा उसी के साथ उल्लिखित तीन अन्य प्रमुखों, गोकर्ण, चोडोदय एवं तैलप, की तादात्म्यता एवं पूर्व इतिहास को अभिलेख में स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि तैलप को छोड़ कर अन्य सभी कुमार जन्म से तेलुगु चोल थे। गोकर्ण असाधारण नाम है, जो उस वंश की कंदूर शाखा विशिष्टता थी। यदि यह अन्यत्र मिलता भी है, तो अत्यंत विरलता से। अतः गोकर्ण को निश्चित रूप से कंदूर तेलुगु चोल वंशज कहा जा सकता है। चोडोदय के पारिवारिक संबंधों के विषय में तो संदेह के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है; उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि वह जन्म से तेलुगु चोल था। भीम भी उसी वंश का सदस्य प्रतीत होता है। उसके द्वारा जहर देकर जिस भाई की हत्या की गई थी, वह गोकर्ण माना जाता है। इस अनुमान का आधार यह है कि एक तो उसका नाम तेलुगु चोल वंश की विशिष्टता थी तथा वह भीम के हाथों मारा गया था। यह तादात्म्यता संभवतः उचित ही है। अतः यह मान लेना चाहिए कि गोकर्ण एवं चोडोदय के समान ही भीम भी कंदूर तेलुगु चोल परिवार का सदस्य था। वास्तव में इस वंश के अभिलेखों में भीम, गोकर्ण एवं ओदय अथवा उदय प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। ये अभिलेख प्राचीन हैदराबाद राज्य के नलगोंडा एवं महबूबनगर जिलों में अनेक स्थानों पर मिले हैं। इन क्षेत्रों पर उन्हीं का आधिपत्य था। जैसा ऊपर देख चुके हैं, मैलांबिका का शक सं० 1046 (1124 ई०) का पानुगल अभिलेख और भीम का विलंबि तिथि (शक 1100/1178-9 ई०) का मामिल्लपल्लि अभिलेख वंशावलियां प्रस्तुत करते हैं, जिनमें क्रमशः दो और तीन पीढ़ियां दी गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पानुगल अभिलेख में तोंड-नृप, उसकी रानी मैलांबिका तथा उनके तीन पुत्रों, उदयादित्य, भीम एवं गोकर्ण का, तथा मामिल्लपल्लि अभिलेख में, गोकर्ण (प्रथम), उसके पुत्र उदयादित्य, एवं उदयादित्य के दो पुत्रों, भीम और गोकर्ण (द्वितीय) का उल्लेख मिलता है।[11] किंतु मामिल्लपल्लि अभिलेख के उदयादित्य को छोड़कर, इनमें से किसी को भी, अनमकोंड अभिलेख में वर्णित किसी भी प्रमुख से मिलाया नहीं जा सकता, क्योंकि पानुगल अभिलेख के उदयादित्य, भीम, एवं गोकर्ण, एक पीढ़ी पहले के थे; अतः वे रुद्र के समकालीन नहीं हो सकते थे। चूंकि मामिल्लपल्लि अभिलेख के भीम एवं गोकर्ण द्वितीय, अनुमकोंड अभिलेख की तिथि के लगभग चौदह वर्ष बाद भी शासन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, अतः वे भी उन्हीं नामों के वे प्रमुख नहीं हो सकते, जिनकी मृत्यु का उल्लेख उस (अनुमकोंड) अभिलेख में हुआ है। यह असंभव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं कि इन दो कुमारों का पिता, उदयादित्य, रुद्र का समकालीन रहा हो। संभव है कि वह चोडोदय ही था, जो, अनुमकोंड अभिलेख के अनुसार, रुद्र की सैनिक सफलताओं से उत्पन्न डर के कारण मर गया तथा बाद में जिसकी लड़की से रुद्र ने, शहर को जलाकर, विवाह किया था। वह संभवतः सूर्यवंश के करिकाल चोड के परिवार का महामंडलेश्वर कंदूर उदय चोड महाराज ही था। मंगलवार, पौष्य ब 2, चित्रभानु चालुक्य विक्रम (शक सं० की भूल) 1084 (मंगलवार, 25 दिसम्बर, 1162 ई०) के जेड्चेर्ल अभिलेख (महबूबनगर जिला) के अनुसार वह उस समय पड़ोस के प्रदेश में ही शासन कर रहा था[15]। वारंगल जिले में स्थित नेलकोण्डपल्लि का अभिलेख भी इसी राजा के शासनकाल का है। इस अभिलेख में, माघ शु, मन्मथ, शक सं० 1097 (1175 ई०) में, महामंडलेश्वर कन्दूरि ओदय चोड महाराज के शासनकाल में किसी 'नायक' द्वारा कोंडपल्लि के बड़े सरोवर में जलद्वार के निर्माण का उल्लेख है[16]। इस स्थिति में कंदूर उदय अथवा ओदय चोड महाराज को 1162 और 1175 ई० के बीच शासन करते हुए मानना पड़ेगा। इससे एक मनोरंजक प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। यह याद रखना चाहिए कि अनमकोंड अभिलेख, चोडोदय की मृत्यु का उल्लेख करता है, किंतु जेड्चेर्ल एवं नेलकोंडपल्लि अभिलेख स्पष्ट रूप से यह दर्शाते हैं कि वह 1163 एवं 1175 ई० के बीच शासन कर रहा था। इन अभिलेखों के परस्पर विरोधी प्रमाणों में सामंजस्य स्थापित करना आसान नहीं है। यों तो अनमकोंड अभिलेख का चोडोदय, चेड्चेर्ल एवं नेलकोंडपल्लि अभिलेखों में वर्णित अपने एकनामी व्यक्ति से भिन्न होगा, अथवा पूर्वोक्त अभिलेख में उसकी मृत्यु का वक्तव्य अविश्वसनीय पूर्वानुमान है। यह तथ्य की बात है कि जेड्चेर्ल अभिलेख, अनमकोंड अभिलेख की तिथि से केवल 26 दिन पहले का है। अतः इस छोटे से अंतर में वे सभी घटनाएं संभव नहीं हैं, जो अनमकोंड अभिलेख में वर्णित है। अतः इस सुझाव की संभावना की पूर्णतया अवहेलना नहीं की जा सकती कि चोडोदय वास्तव में रुद्र के भय से नहीं मरा, जैसा कि उस अभिलेख में कहा गया है। उसने अपनी लड़की के विवाह द्वारा उस प्रमुख से संधि की और उसके बाद भी वह अनेक वर्षों तक जीवित रहा।[17]

तैलप के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उसके नाम के कारण तथा भूलोकमल्ल सोमेश्वर तृतीय के पुत्र तथा पश्चिमी चालुक्य नरेश तैलप तृतीय के समकालीन होने के तथ्य के आधार पर, सामान्यतया उसे तथा इस नरेश को एक ही माना जाता है। किंतु इस तादात्म्यता को स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि तैलप तृतीय के अभिलेखों के अनुसार, उसके शासन का अंतिम वर्ष 15 है, जो शक 1087 (1165 ई०) के बराबर है। चूंकि अनमकोंड अभिलेख का तैलप, रुद्र के भय से उत्पन्न संग्रहणी रोग के कारण शक 1084 (1162-3 ई०) में या उससे पहले मर गया था, अतः वह पश्चिमी चालुक्यनरेश नहीं हो सकता। वह संभवतः भीम के राज्य के पड़ोस में शासन करने वाला कोई अन्य ही प्रमुख था, जिसकी पहचान अब तक नहीं हो सकी है।

अनमकोंड अभिलेख में इतने विस्तृत रूप से वर्णित तेलुगु चोल प्रमुखों के विरुद्ध रुद्र की विजयों ने उसे नवीन क्षेत्र का स्वामी नहीं बनाया, क्योंकि उनके अधीन क्षेत्रों अर्थात नलगोंड एवं महबूबनगर जिलों में किसी भी स्थान से अब तक रुद्र का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। दूसरी ओर ओदय चोड भीम एवं गोकर्ण के नेलकोंडपल्लि और मामिल्लपल्लि अभिलेख ऐसे किसी अधिराज का उल्लेख नहीं करते, जिसे उन्होंने अपनी राज्यास्था सौंपी थी। यह स्मरणीय है कि ये दोनों ही अभिलेख अनमकोंड अभिलेख की तिथि के बाद के हैं। इन तथ्यों को दृष्टिगत रख यह मानना उचित ही है कि तेलुगु चोल प्रमुखों के विरुद्ध, रुद्र की विजयें उतनी पूर्ण न थीं जितनी अनमकोंड अभिलेख की भाषा हमें विश्वास दिलाना चाहती है। ये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
प्रमुख किसी भी बाह्य प्रभुत्व से स्वतंत्र रहकर अपने पैतृक प्रदेशों पर शासन करते रहे।

ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्र ने अपने शासनकाल के शेष वर्ष तटीय प्रदेश को जीतने में लगा दिए। यह प्रदेश उसके राज्य एवं समुद्र के बीच में स्थित था। अपने पिता के समान ही वह भी स्वयं को पश्चिमी चालुक्यसम्राटों के साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों में उनका राजनीतिक उत्तराधिकारी समझता था। पश्चिमी चालुक्य नरेश पहले उसके परिवार के अधिराज थे। वेंगी एवं तटीय आंध्र प्रदेश के अन्य भागों को विक्रमादित्य ने जीता था। उसने तथा उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय ने 1133 ई० तक इस प्रदेश पर शासन किया था। रुद्र ने इस प्रदेश की प्रभुसत्ता पर अपने अधिकार का दावा किया। अपने संपूर्ण दीर्घ शासनकाल के दौरान परिस्थितियों के अनुकूल होते ही वह इस तटीय प्रदेश को जीतने का सतत प्रयास करता रहा। यद्यपि अनमकोंड अभिलेख में समुद्री प्रदेशों अथवा उन पर शासन करने वाले प्रमुखों के विरुद्ध विजयों का कोई उल्लेख नहीं है, किंतु फिर भी दृढ़ साक्ष्य के आधार पर यह माना जा सकता है कि उस अभिलेख की तिथि अर्थात 1162 ई० से पहले उसने वेंगी पर आक्रमण किया था, क्योंकि अभिलेख में कहा गया है कि उस समय, पूर्व में रुद्र का साम्राज्य समुद्र तक फैला हुआ था। इस दावे की पुष्टि, 1158 ई० के उसके दाक्षाराम अभिलेख से भी होती है[18]। इस अभिलेख में रुद्र की सेवारत एक 'प्रेगड' अथवा मंत्री इनंगल ब्रह्मि रेड्डि द्वारा भीमेश्वर के मंदिर को दान किए गए 'दीप' का उल्लेख है। किंतु अभिलेख में उन परिस्थितियों को प्रकट नहीं किया गया है, जिनमें उसने गोदावरी के डेल्टा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, हालांकि अभिलेख की तिथि के रूप में कुछ निर्देश मिलते हैं। ब्रह्मि रेड्डि ने इस अभिलेख की तिथि, अपने स्वामी के शासनकाल के वर्षों अथवा केवल शक संवत में नहीं दी, जैसी कि रुद्र के अन्य अभिलेखों में प्रथा थी, अपितु शक सं० 1080 के साथ ही चालुक्य चोल सम्राट राज-राज द्वितीय के शासनकाल के 13वें वर्ष का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार तिथि देने का महत्व अब तक अस्पष्ट है। यह याद रखना चाहिए कि कुलोत्तुंग प्रथम एवं उसके उत्तराधिकारी, जिन्हें आधुनिक इतिहासकार चालुक्य चोलों के नाम से पुकारते हैं, इस समय तक वेंगी एवं तटीय आंध्र प्रदेश के स्वामी माने जाते थे तथा इस क्षेत्र में उनके प्रभुत्व को व्यापक मान्यता प्राप्त थी। किंतु उनकी शक्ति उसके प्रत्येक भाग में बहुत प्रभावपूर्ण नहीं थी। रुद्र ने राजराज द्वितीय से संधि कर गोदावरी का डेल्टा जागीर के रूप में प्राप्त कर लिया था। इसके पश्चात उसने इस प्रदेश पर आक्रमण कर दिया क्योंकि वह कोन के हैहयों एवं मलय के सूर्यवंशियों के हाथों अपने पिता की पिछली पराजय एवं मृत्यु का बदला लेना तथा इन जातियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। एक अन्य संभावना यह भी है कि चालुक्य-चोल सम्राट की सहायता के बिना ही रुद्र ने स्वयं गोदावरी डेल्टे पर आक्रमण किया तथा दाक्षारामम एवं उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रचलित प्रथा का अनुसरण करते हुए, उसने इस अभिलेख की तिथि शक संवत् तथा तत्कालीन चालुक्य चोल शासक के शासनकालीन बर्ष में भी दे दी। कुछ भी हो, यह निश्चित प्रतीत होता है कि रुद्र ने गोदावरी के डेल्टा की ओर किए गए अभियान का नेतृत्व किया तथा वह उस पर अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो गया। अपनी जागीर के नाम से प्रसिद्ध रेपल्लि दुग्गराज (दुर्गराज) का एक अभिलेख इसी स्थान से प्राप्त हुआ है, जिसमें यह स्पष्ट है कि रुद्र ने इस प्रदेश की विजय के पश्चात 1163 ई० तक लगभग तीन चार वर्षों तक इस पर अपना प्रभुत्व बनाए रखा[19]। रेपल्लि दुग्गराज, अनमकोंड प्रोल नृपति (प्रोल द्वितीय) का पुत्र था और निश्चय ही रुद्र के छोटे भाइयों में से एक था, जिसे उसने विजित प्रदेश का अध्यक्ष बना दिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किंतु गोदावरी डेल्टे में रुद्र के प्रभुत्व का शीघ्र ही विरोध किया गया। कुलोत्तुंग प्रथम के काल से ही वेंगी एवं उसके आस पास के क्षेत्र में वेलनाडु के प्रमुख राज्य कर रहे थे, जो चालुक्य-चोलों के सामंत थे। वे इस प्रदेश को अपना समझते थे, अतः वहां किसी दूसरी विरोधी शक्ति की उपस्थिति को सह नहीं सकते थे। कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड द्वितीय ने, जो उस समय वहां शासन कर रहा था, अमृतलूरि मंचिराजु के पुत्र एवं अपने प्रधान, देवेन 'प्रेग्गड' के नेतृत्व में गोदावरी डेल्टा में सेना भेजी जिसका उद्देश्य उस प्रदेश को अपने नियंत्रण में करना था। देवेन-'प्रेग्गड' ने अपना कार्य सफलतापूर्वक किया। पहले समुद्र के सीमावर्ती प्रदेशों को जीता तथा 1163 ई० में स्वयं दाक्षारामम के स्थान पर स्थापित हो गया[20] फिर 1165 ई० में वह कोन प्रदेश के हैहयों के विरुद्ध बढ़ा। एक युद्ध में हरा कर उन्हें अपने स्वामी की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने पर बाध्य किया[21]। यद्यपि कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड द्वितीय एवं उसके सहायकों के अभिलेखों की प्राप्ति से पता चलता है कि, कम से कम 1181 ई० तक इस प्रदेश पर उसका शासन बना रहा, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्र ने उसको निश्चित नहीं बैठने दिया, क्योंकि 1168 ई० के दाक्षारामम अभिलेख से यह निर्विवाद सिद्ध है कि रुद्र ने उस समय एक बार फिर अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए, इस प्रदेश पर आक्रमण किया था।[22] यह अभिलेख, राजराज द्वितीय के 23वें वर्ष (1168 ई०) में रुद्र की रानी दन्नमदेवी द्वारा भीमेश्वर के मंदिर को दिए गये दीप दान का उल्लेख करता है। किंतु, रुद्र के दूसरे अभियान का कोई स्थाई परिणाम न निकला, क्योंकि उसके बाद के वर्षों में, गोदावरी डेल्टे में उसके शासन के प्रमाण नहीं मिलते।

1172 ई० में चालुक्य-चोल सम्राट राजराज द्वितीय की मृत्यु से तटीय आंध्र प्रदेश के इतिहास में एक महत्वपूर्ण युग का आरंभ होता है। वह अपने वंश का अंतिम शासक था, जो आंध्र प्रदेश में अपने सामंतों पर वास्तविक रूप से अपना प्रभुत्व जमाने तथा उनकी पृथकात्मक प्रवृत्तियों को रोकने में सफल रहा था। उसका उत्तराधिकारी, राजाधिराज द्वितीय एक कमजोर शासक था, तथा उसके आंध्र सामंत उसके प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते थे। शीघ्र ही शक्ति के लिए संघर्ष आरंभ हो गया, तथा सामंतीय प्रमुख भी शीघ्र ही पारस्परिक संघर्ष में रत हो गए, जिसमें प्रत्येक अपने को स्वतंत्र शासक के रूप में स्थापित करने का प्रत्यन करने लगा। निस्संदेह उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली सामंत, कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड था, जो वेलनाडु का शासक था। उसने साम्राज्यिक शक्ति के इस विघटन का शीघ्र ही लाभ उठाया और जल्दी ही स्वयं को लगभग सम्पूर्ण समुद्री क्षेत्र का स्वामी बना लिया।

अब वेलनाडु के प्रमुखों की शक्ति अपनी चरम सीमा पर थी। दक्षिण-पश्चिम में उनके क्षेत्र की सीमा, कुर्नूल क्षेत्र के मर्कपुर तालुक में त्रिपुरांतकम से भी आगे तक फैली हुई थी; उनके साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों की रक्षा, नादेंड्ल के कोंडपडुमटि प्रमुख करते थे, जो उन्हीं के प्रभुत्व के अधीन थे। दक्षिण में उनका शासन, नेल्लोर प्रदेश में दर्शि तक फैला था। आधुनिक गुंटूर जिले के नरसराओपेट एवं विनुकोंड 'तालुकों' का प्रदेश भी उनके राज्य में सम्मिलित था। उत्तर एवं उत्तर-पूर्व में उनके अधिकार को संभवतः विशाखापटनम जिले में सिंहाचलम तक मान्यता प्राप्त थी।

रुद्रदेव, जिसने स्वयं तटीय क्षेत्रों के संबंध में ऐसी ही योजनाएं बना रखी थीं, समुद्री प्रदेशों में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों के प्रति उदासीन न था। किंतु, जब तक चंदवोलु में कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड द्वितीय का प्रभुत्व था, तब तक उसे अपनी आक्रामक योजनाओं का त्याग करने पर बाध्य होना पड़ा। किंतु शीघ्र ही परिस्थितियां उसके अनुकूल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गई। कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड द्वितीय अचानक ही 1181 ई० में मर गया, तथा उसकी मृत्यु के पश्चात वेलनाटि प्रमुखों की शक्ति का शीघ्र पतन हो गया। इसके कारण निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। पालकुरिकि सोमनाकृत 'पंडिताराध्य-चरित्र' में सुरक्षित एक परंपरा में उनके पतन का कारण, स्वर्गीय राजा के उत्ताधिकारियों के बीच हुए सिंहासन के अधिकार के लिए होने वाले गृहयुद्ध को बताया गया है। कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड का पुत्र अर्थात गोंक तृतीय संभवतः युद्ध के दौरान मारा गया, और उसके पौत्र पृथ्वीश्वर को उसके राज्य से बाहर खदेड़ दिया गया था। लगभग इसी समय, पल्नाडु में हैहय कुमार नलगाम एवं उसके भाइयों के बीच एक भ्रातृघातक युद्ध छिड़ गया, जिसमें वेलनाडु के दुर्जयों सहित अनेक स्थानीय प्रमुख सम्मिलित थे। प्रसिद्ध कवि श्रीनाथ के महाकाव्य 'पल्नाटिविरुल चरित्र' के अनुसार जो पल्नाडु के योद्धाओं के शौर्यपूर्ण कर्मों का उल्लेख करता है, नलगाम ने काकति रुद्र से सहायता मांगी और निस्संदेह उसने तुरंत मदद भेजी। रुद्र ने कृष्णा नदी की घाटी के साथ-साथ स्थित तटीय प्रदेश पर अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए इसे स्वर्ण अवसर समझा था। मल्याल, कोमरेवेल्लि, विप्पर्ल एवं अन्य वंशों के नायकों, मडपल्लि (वारंगल जिले में मंथेन के निकट) के नातवाडियों तथा अन्य सामंतों सहित वह एक बड़ी सेना लेकर निकल पड़ा तथा कृष्णा नदी के तट तक पहुंच गया। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने पल्नाटि युद्ध में अधिक रुचि नहीं ली, क्योंकि उसने अपने मित्र नलगम की सहायता के लिए केवल एक हजार अश्वारोहियों की एक टुकड़ी भेजी थी। इसके विपरीत उसने अपनी सेना पेन्नातवाडि एवं कोंड अथवा कोन्नातवाडि विषयों को जीतने में लगा दी थी। ये जिले नदी के क्रमशः उत्तरी एवं दक्षिणी किनारों पर स्थित थे और कृष्णा जिले के आधुनिक नंदिगम के 'तालुक' के बराबर थे। उस समय उस पर धरणिकोट (धान्यवटि, दन्नवाद एवं दन्नाड के नाम से भी ज्ञात) के कोटप्रमुख राज्य करते थे, जो अपनी उत्पत्ति हरिसीमकृष्ण एवं धनंजय से बताते थे। ये कोटप्रमुख, चालुक्य-चोल सम्राट के प्रति राज्यास्था रखते थे तथा वेलनाडु के प्रमुखों से भी वैवाहिक संबंधों के द्वारा निकट रूप से संबंधित थे। वेलनाटि कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड द्वितीय के दामाद भीम द्वितीय अथवा दोड्ड भीम ने, रुद्र की सेनाओं की प्रगति को रोकने के लिए अपनी सेनाओं को आगे बढ़ा दिया। धरणिकोट के स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें सब्ब 'सेनानि' के पुत्र काट एवं मल्याल परिवार के बोल्लम ने शत्रु पर विजय प्राप्त की तथा नगर पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि संघर्ष के दौरान, विप्पर्ल, कोमरवेल्लि एवं पेंपाल परिवारों के प्रमुखों के हाथों ही दोड्ड भीम मारा गया था। इस उपलब्धि की स्मृति में ही, इन प्रमुखों ने 'दोड्ड-भीमनि-शिरश्छेदक' की उपाधि धारण की थी। रुद्र अत्यंत प्रसन्न हुआ तथा उसने काट को 'कोटगेल्पात' अर्थात धरणिकोट का विजेता की उपाधि प्रदान करके सम्मानित किया[24] कोटों की शक्ति समाप्त हो गई थी, उनकी राजधानी रुद्र के हाथों में आ गई, तथा उनका राज्य उसके चरणों में पड़ा था; किंतु रुद्र ने उसे अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया। उसका विश्वास था कि विजित शत्रु के राज्य को दबाने की अपेक्षा उसके साथ नम्रता एवं सौहार्द्र का व्यवहार करने से उसके उद्देश्यों की पूर्ति अधिक अच्छी प्रकार से होगी। इसीलिए उसने कोटों को प्रसन्न रखने की नीति अपनाई, दोड्ड भीम के पुत्र केत द्वितीय को ही उसके पिता के सिंहासन पर स्थापित किया तथा उसके पैतृक प्रदेश भी उसे ही लौटा दिए। फलस्वरूप केत द्वितीय, रुद्र का निष्ठावान मित्र बन गया तथा उसने रुद्र के दक्षिणी अभियानों में भी उसकी सहायता की। इस प्रकार स्वयं को कोट राज्य का स्वामी बनाकर, रुद्र ने वेलनाडु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमुखों के क्षेत्रों के विरुद्ध कूच किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने प्रयासों को, कोंडपडुमटियों को दबाने में केंद्रित किया था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कोंडपडुमटि प्रमुख, वेलनाटि कुमारों के साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों के रक्षक बनकर सेवा करते थे। यद्यपि इस अभियान के विवरण प्राप्त नहीं है, फिर भी यह निश्चित है कि रुद्र सफल रहा था। 1185 ई0 के त्रिपुरांतकम अभिलेख से स्पष्ट रूप से पता चलता हैं कि वह वेलनाटि साम्राज्य के बहुत अंदर तक घुस गया था तथा उसने त्रिपुरांतकम को अपने आधिपत्य में कर लिया था। इस अभिलेख में उसके द्वारा रेवरू ग्राम के दान का उल्लेख है। यह ग्राम कोंडपल्लिनाडु में कृष्णा नदी के तट पर स्थित था, तथा उस स्थान के त्रिपुरांतक महादेव के मंदिर को दिया गया था[25]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अभियान के दौरान, कोंडपडुमटियों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया था, क्योंकि इसके बाद के वर्षों में, शासकवंश के रूप में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

जब रुद्र दक्षिण में कोटों एवं कोंडपडुमटियों को दबाने में व्यस्त था, तब उधर पूर्व में गोदावरी के डेल्टाक्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। 1172 ई0 में, चालुक्य-चोल सम्राट राजराज द्वितीय की मृत्यु के पश्चात, उत्तरकालीन पूर्वी चालुक्यवंश के वेत-विजयादित्य शाखा के विजयादित्य तृतीय के पुत्र, मल्लपदेव ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी तथा स्वयं को 'प्रोलनाडु' का स्वामी बना लिया, जिसमें पूर्वी गोदावरी जिले के पिहापुरम एवं काकिनाड 'तालुकों' के अंश सम्मिलित थे। किंतु यह स्पष्ट नहीं कि किसी बाह्य शक्ति के दृढ़ समर्थन के बिना ही मल्लपदेव जैसा तुच्छ प्रमुख, चालुक्य-चोल सम्राटों के प्रतिनिधियों अर्थात वेलनाटियों के प्रभुत्व का उल्लंघन करके अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने में कैसे सफल हो गया। बाद के वर्षों में काकति रुद्र एवं उसके बीच स्पष्ट मैत्रीपूर्ण संबंधों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रुद्र द्वारा उसको सहायता प्रदान करना असंभव नहीं है, क्योंकि अपने राज्यारोहण के समय से ही वह गोदावरी डेल्टा क्षेत्र को अपने नियंत्रण में लाने का भरसक प्रत्यन कर रहा था। कुछ भी हो, 1184 ई० में स्थिति गंभीर हो गई। वेलनाटि पृथ्वीश्वर बहुत बड़ी सेना का नेतृत्व करते हुए गोदावरी जिले में आ पहुंचा। जैसा ऊपर कहा जा चुका है उसने अपने प्रदेश का आधिपत्य खो दिया था। अतः उसने मल्लपदेव पर आक्रमण कर दिया, किंतु अकेले विरोध करने में असमर्थ होने के कारण मल्लपदेव ने रुद्र से सहायता की मांग की। इसके जवाब में रुद्र ने शीघ्र ही अपनी सेना सहित गोदावरी घाटी में प्रवेश किया तथा दाक्षारामम नामक स्थान पर मुलाकात की। इसकी पुष्टि, दाक्षारामम के ही एक अभिलेख से होती है, जो सलोकाश्रय विष्णुवर्धन के शासन-काल के 5वें वर्ष अर्थात शक सं० 1108 (1185-6 ई०) का है।[26] किंतु रुद्र की सहायता मल्लपदेव के लिए अधिक सहायक सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि वह युद्ध में पराजित हुआ तथा पदच्युत कर दिया गया था। पृथ्वीश्वर के अभिलेख इस विषय में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते कि 1185 ई० में यह कुमार, प्रोलूनाड का स्वामी बन गया था तथा अपनी मृत्यु के समय तक सफलतापूर्वक शासन करता रहा।[27]

रुद्र के शासनकाल के अंतिम दशक का इतिहास घटनाविहीन है। यह ज्ञात नहीं कि त्रिपुरांतकम एवं दाक्षारामम अभिलेखों की तिथि अर्थात 1185-6 ई० तथा 1195-6 ई० में रण-क्षेत्र में उसकी मृत्यु की तिथि के बीच क्या हुआ। किंतु यह निश्चित है कि अपने शासनकाल के अंतिम वर्ष में, उसने देवगिरी के सेउणों से संघर्ष किया था। जिन परिस्थितियों में इस संघर्ष का उदय हुआ था, उनको अब तक निर्धारित करना संभव नहीं हो सका है। पश्चिम दिशा में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने राज्य का विस्तार करने की चेष्टा करते हुए, रुद्र ने सेउण देश पर आक्रमण किया था; अथवा सेउण लोगों ने उसकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की आशा से ही पहले ही उस पर आक्रमण किया था ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका पर्याप्त सूचना प्राप्त न होने के कारण, उत्तर नहीं दिया जा सकता। जो भी हो, यह निश्चित है कि सेउण सेना से मुठभेड़ में रुद्र पराजित हुआ एवं मारा गया। काकतीय नरेश के विरुद्ध सेउण सेना की विजय का सर्वप्रथम उल्लेख पाटन अभिलेख में मिलता है, जो सिंहणकालीन (1210-47 ई०) तिथि से युक्त है। इस अभिलेख में कहा गया है कि सिंहण के पिता जैतुगि अथवा जैत्रपाल प्रथम ने, 'आंध्र की स्त्रियों के प्रेमियों के आनंद को समाप्त कर दिया था'।[28] इस निर्देश का विस्तार, हेमाद्रि ने किया है जो महादेव एवं उसके भतीजे रामचंद्र का 'श्रीकर्णाधिप' था। उसने अपने ग्रंथ 'चतुर्वर्गचितामणि' के 'वृत-खंड' में कहा है कि जैत्रपाल ने 'युद्ध क्षेत्र की पवित्र भूमि पर यज्ञीय प्रण लिया तथा शस्त्ररूपी कलछियों द्वारा से अनेक राजाओं को अपनी शक्ति की आग में झोंककर, 'तिल्लिंगाधिप' अर्थात तैलिंगियों के स्वामी, रुद्र के रूप में एक वलि चढ़ाकर पुरुषमेध यज्ञ संपन्न किया, और इस प्रकार तीनों जगत को जीत लिया।'[29]तेलुगु नरेश के विरुध सेउण विजयों के अन्य उल्लेख, सिंहण एवं उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में मिलते हैं। उनकी चर्चा अन्य संदर्भ में की जाएगी। ऐसा इसलिए कि उनमें काकतीय इतिहास की किन्हीं उत्तरकालीन घटनाओं का उल्लेख है।

रुद्र के शासनकाल के अंतिम वर्षों में हुई एक महत्वपूर्ण घटना की चर्चा यहां कर देनी चाहिए। कोलनि गणपतिदेव के 'शिवयोगसार' के अनुसार उसने अपनी राजधानी अनुमकोंड के निकट ही, ओरुगल्लु नामक नवीन शहर की स्थापना की, जो उसके उत्तराधिकारियों के काल में संपूर्ण आंध्र प्रदेश का मुख्य नगर बना। गणपति कालीन गणपेश्वरं अभिलेख में यह बताया गया है कि रुद्र ने इस नगर का कैसे निर्माण किया। ऐसा कहा गया है कि 'जिन नगरों को उसने ध्वस्त किया था, वे (केवल) उन्हीं कक्षों से ज्ञात थे, जिन्हें (उसने) उन्ही के नामों से औरुगल्लु नगर में स्थापित किया था, तथा उन्हीं की जनता से आवासित किया था।'[30]

रुद्रदेव शक्तिशाली राजा था। उसने अपने पिता द्वारा बनाई क्षेत्रीय विस्तार की नीति का दृढ़ता से पालन किया तथा अपने मूल प्रदेशों को एक विस्तृत साम्राज्य में बदल लिया जिसे आरंभिक मध्ययुगीन दकन के प्रमुख राज्यों में गिना जाना चाहिए। रुद्र ने पर्याप्त सीमा तक अपने पिता की अभिलाषाओं को साकार किया था। उसने जिस साम्राज्य की स्थापना की वह उत्तर में गोदावरी से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदियों तक फैला हुआ था। यद्यपि वेंगी को जीतने एवं समुद्र को अपनी पूर्वी सीमा बनाने के उसके प्रयास विफल हो गए फिर भी उसने कोटों एवं नातवाडियों जैसे महान सामंत वंशों से राजनयिक एवं वैवाहिक संबंध स्थापित कर अपने उत्तराधिकारियों के काल में इस क्षेत्र के अधिकरण का मार्ग तैयार कर दिया था। अपने युद्धों में रुद्र को चेरुर्कु, संकिसपुर के मल्यालों तथा पिल्लमर्डि के रेचेर्रलों वंश के निष्ठावान नायकों के समूह से पर्याप्त सहायता मिली थी। इनमें से पिल्लमरिड़ के रेचेर्रलों ने बेत प्रथम के काल से लेकर अनेक पीढ़ियों तक, श्रद्धा एवं स्वामीभक्ति पूर्वक काकतीयों की सेवा की थी। काट का पुत्र, काम एवं पौत्र नाम की दोनों ही रुद्र सेनाओं में सेनानायक के रूप में सेवा कर रहे थे। मल्याल वंश के सब्ब एवं आचम का पुत्र काट उसका सेनापति एवं 'प्रधानि' था। यही वह काट था जिसने कोट प्रमुखों का समर्पण करवाया तथा अपने स्वामी से 'कोटगेल्पात' (कोट का विजेता) की उपाधि प्राप्त की थी।

रुद्रदेव के मंत्री एवं अधिकारी : रुद्रदेव को अपने युद्धों में अनेक सामंतों से सहायता मिली थी। रेचेर्रल, मल्याल, एवं चेर्रकु वंशों के प्रमुखों की सेवाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके अतिरिक्त उसके कुछ मंत्रियों एवं अधिकारियों के नाम भी अभिलेखों में मिलते हैं। रुद्रदेव के मंत्रियों में, वेल्लकि वंश के गोविंद पुत्र गंगाधर का उल्लेख सबसे पहले करना चाहिए, क्योंकि राजा उसे अत्यंत सम्मान की दृष्टि से देखता था। प्राचीन हैदराबाद राज्य में करीमनगर के स्थान पर शक सं० 1092 (1170 ई०) में उसी द्वारा स्थापित किए गए एक अभिलेख में वह अपने ही अधिकारी जीवन का भी संक्षिप्त वर्णन देता है। सबसे पहले उसने राजा प्रोल द्वितीय का ध्यान आकृष्ट किया जिसने उसे अपने दरबार में आने का निमंत्रण दिया तथा उसे अपनी सेवा में ले लिया। उसगे इस अभिलेख में कहा है, 'अत्यंत ख्याति प्राप्त राजा प्रोल ने नम्रता-पूर्वक मुझे बुलवाया', क्योंकि 'मैं भयंकर युद्धों का प्रेमी तथा सच्चे स्वभाव का व्यक्ति था,' 'मैं सभी कालाओं का ज्ञाता समझा जा सकता था' तथा 'गुणों के समूह से', संपन्न था एवं 'विद्वानों की सभाओं में सभी के द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता था' अतः उसने 'मुझे (शाही) महल में प्रत्येक आवश्यक कार्य के निरीक्षण का आदेश दिया।'[31] ऐसा प्रतीत होता है कि गंगाधर ने अपने कर्त्तव्यों को संपन्न करने में सभी को संतुष्ट किया। युवराज रुद्रदेव विशेषरूप से संतुष्ट था क्योंकि प्रोल द्वितीय की मृत्यु के बाद उसने गंगाधर को राज्य का मंत्री बनाया, उस 'नियोगंम' (पद) से संबंधित 'वृत्ति' (भूमि) उसे प्रदान की तथा उसे एक पालकी (अंदलम), श्वेत छत्र, रत्न मणियां, सुगंधियां एवं वस्त्र, उपहारस्वरूप दिए।[32] गंगाधर धार्मिक प्रवृत्ति का मंत्री था। उसने राजधानी तथा साम्राज्य के अन्य स्थानों पर अनेक मंदिर बनवाए, ब्राह्मणों का 'अग्रहार' स्थापित किया। संभवतः वह एक हितकारी भी था, जिसने 'अनमकोंड के स्थान पर प्रसन्नकेशव के मंदिर के निकट ही गंगचियचेरुंवु नामक सरोवर बनवाया था।[33] राजा का एक अन्य मंत्री मल्लिनायक था। अभिलेखों में उसका उल्लेख भी मिलता हैं। उसने अपने स्वामी के लिए पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से, नलगोंड जिले में पानुगल के मंदिर को एक दान दिया। वह तंत्रपाल अर्थात युद्धमंत्री के महत्वपूर्ण पद का अधिकारी था।[34] 'शिवयोगसारंम' में दो अन्य अधिकारियों के नाम आते हैं। ये इन्दुलूरि वंश के नानगौर्य के पुत्र, पेद मल्लन एवं चिन मल्लन थे, जो राज्य में उत्तरादायित्व के पद पर थे। पेद मल्लन, नव निर्मित राजधानी, ओरुगल्लु का गवर्नर तथा चिन मल्लन, 'पेद संप्रति' अर्थात मुख्य लेखाकार था। इन दोनों अधिकारियों को सदा याद रखना चाहिए, क्योंकि उनके वंशज रुद्रदेव के उत्तराधिकारियों के काल में उच्च एवं विशिष्ट पदों पर पहुंच गए थे, तथा उन्होंने अपने अधिराजों की सेवा स्थिर निष्ठा एवं श्रद्धा से की।

रुद्र कला एवं साहित्य का संरक्षक था। उसने अपने वंश के भूतपूर्व अधिराजों अर्थात पश्चिमी चालुक्यों की स्थापत्यात्मक परंपरा से प्रेरणा प्राप्त की। वह शिव का आराधक था, अतः अपने राज्य में शिव के भव्य मंदिर बनवा कर उसे अत्यंत आनंद प्राप्त होता था। उपर्युक्त गणपेश्वरंम अभिलेख में कहा गया है कि उसने अपने द्वारा नष्ट किए गए शत्रुओं के नगरों में रुद्रदेश्वरं नामक अनेक प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण करवाया। स्पष्टतः उसने मंदिरों का नाम, अपने ही नाम पर रखा था। संभव है कि अनुमकोंड स्थित, सहस्र स्तंभीय प्रसिद्ध मंदिर (वेयि-स्तंभाल गुडि) भी उसी के द्वारा बनवाया गया था, क्योंकि इसका सभापति मंडल रुद्रेश्वर के नाम से ज्ञात है। इस विषय में मंत्रियों, अधिकारियों एवं सामंतों तथा उनके परिवारों ने भी राजा के उदाहरण का अनुसरण किया। जनता द्वारा अपने संबंधियों के नामों पर, उनकी स्मृति को बनाए रखने एवं उनके लिए पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से, शिव के 'त्रिकूट' (तीन का समूह) मंदिरों का निर्माण करने की भी प्रथा थी। इन मंदिरों को उदारता पूर्वक भूमि दान दिए जाते थे तथा उनमें दैनिक पूजा एवं आगमीय संस्कारों को संपन्न करने के लिए भी स्थाई प्रबंध किए जाते थे। इस प्रकार, संपूर्ण प्रदेश में चालुक्यशैली के देवालयों का निर्माण हुआ तथा परिणाम-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरूप, तेलिंगना उचित रूप से मंदिरों की वास्तविक भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रुद्रदेव साहित्य एवं विद्या का भी महान संरक्षक था; उसने साहित्यिक व्यक्तियों का सहायता प्रदान की तथा उनको अपनी कला को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया। नामि रेड्डि के 1195 ई० के पिल्लमडि अभिलेख में उसे, विद्वानों का आवास एवं शरण बताया गया है, जिसे वे अत्यंत प्रेम से देखते थे।[35] 1186 ई० के दाक्षारामं अभिलेख के अनुसार, वह 'विनय-विभूषण' (वह, जिसका अलंकार ही नम्रता है) की उपाधि से ज्ञात था।[36] वस्तुतः 'नीतिसारं' नामक 'राजनीति' ग्रंथ की रचना का श्रेय भी उसे दिया जाता है। इसका आधार एक अप्रमाणिक पद्य है, लो बद्देन के ग्रंथ 'नीतिशास्त्रमुक्तावलि' की एक पांडुलिपि में है। किंतु यह अत्यंत संदेहपूर्ण तथ्य है कि 'नीतिसारं' की रचना वास्तव में उसी ने की थी क्योंकि उपर्युक्त 'नीतिशास्त्रमुक्तावलि' के पद्य में भी उसके लेखक का नाम प्रतापरुद्र दिया गया है, न कि रुद्र।

महादेव
(1195/6—98/9 ई०)

रुद्र की कोई संतान न थी, इसलिए देवगिरि के यादवों के विरुद्ध युद्ध में उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात, उसका छोटा भाई महादेव राजा बना। उसने लगभग तीन साल के छोटे से समय तक राज्य पर शासन किया। अब तक उसके काल का केवल एक खंडित अभिलेख ही प्राप्त हुआ है, जो उसके शासन काल की घटनाओं के संबंध में नगण्य सूचना देता है।[37] जहां तक उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में उसके शासन के वर्णन का प्रश्न है, वे अत्यंत सामान्य एवं अस्पष्ट है तथा उसकी गतिविधियों से संबंधित कोई प्रामाणिक सूचना प्रस्तुतः नहीं करते। अतः इतिहासकार के लिए वे महत्वहीन हैं। 'प्रताप चरित्रमु' में सुरक्षित एक परंपरा उसे अत्यंत वीर योद्धा के रूप में प्रस्तुत करती है, जिसने सेउण साम्राज्य पर आक्रमण किया और हाथी की पीठ पर बैठ कर लड़ते हुए, सेउण राजधानी देवगिरि के आक्रमण में वीरगति प्राप्त की।[38] कुछ अंश तक शक सं० 1172 (1249-50 ई०) के येनदल अभिलेख से भी इस कथा की पुष्टि होती है। इस अभिलेख में कहा गया है कि एक महान युद्ध में महादेव हथनी की दोनों कनपटियों पर सो गया तथा जब जगा तो उसने स्वयं को देवलोक में अपनी पत्नी के वक्ष पर लेटा हुआ पाया।[39] सेउण राजाओं के समकालीन अथवा निकट समकालीन अभिलेखों में उनके अथवा पूर्वजों द्वारा एक तेलुगु नरेश के विरुद्ध प्राप्त की गई विजयों का उल्लेख मिलता है। किंतु उनके प्रमाण एकरूप नहीं है। जबकि सिंहण के कुछ अभिलेखों में, उसे कलम पुष्प अर्थात तेलुंग नरेश के सिर को उखाड़ने वाला, तेलुंग नरेश का विजेता तथा बाद में तेलुंग नरेश को उसके राज्य पर स्थापित करने वाला बताया गया है।[40] किंतु अन्य अभिलेखों में, इन गतिविधियों का श्रेय सिंहण को नहीं, अपितु जैतुगि अथवा जैत्रपाल प्रथम को दिया गया है। सिंहण के 1222-3 ई० के भवल अभिलेख में कहा गया है कि करुणा के समुद्र, जैत्रपाल ने, गणपति को जिसे युद्ध में जीवन दान दिया गया था, आंध्र प्रदेश का राजा बनाया।[41] रामचंद्र के 1271 ई० के पैठन ताम्रपत्राभिलेख के अनुसार जैतुगि (जैत्रपाल) ने युद्ध में त्रिकलिंग (यह स्पष्ट रूप से त्रिलिंग की ही भूल है, क्योंकि नामों की साम्यता से गड़बड़ उत्पन्न हुई प्रतीत होती है) के राजा को मार डाला, अपने कारागार से गणपति को निकाला तथा उसे राज्य का स्वामी बनाया।[42] चूंकि सिंहण के शासन काल के दौरान किसी भी तेलुंग नरेश की मृत्यु नहीं हुई थी अथवा किसी ने भी शासन आरंभ नहीं किया था, अतः सेउण अभिलेखों में वर्णित घटनाएं उसके शासनकाल (1210-47 ई०) में होनी संभव नहीं हैं। जैतुगि अथवा जैत्रपाल, जो 1191 ई० में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिंहसानारूढ़ हुआ था, 1210 ई० तक शासन करता रहा। यदि हम हेमाद्रि के प्रमाण पर विश्वास करें तो इस काल के दौरान, 1196 ई० में जैत्रपाल से युद्ध करते हुए रुद्र मारा गया था तथा उसके पश्चात राजा बनने वाले महादेव ने 1199 ई० में सेउणों से युद्ध करते हुए ही अपना जीवन खोया था। उसी वर्ष उसका पुत्र गणपति राजा बन गया था। अतः यह निश्चित है कि उद्धृत अभिलेखों में वर्णित घटनाएं केवल जैतुगि प्रथम के शासनकाल में ही हो सकती थीं। यह असंभव नहीं कि अपने पिता के युवराज के रूप में सिंहण ने काकतीयों के युद्धों में तथा गणपति को कारागार से छुड़वाने एवं उसे फिर से राज्य दिलाने में सक्रिय भाग लिया हो। संभवत इसी आधार पर उसने 'तेलुंगराय शिरः कमलोत्पाटन' एवं 'तेलुंगराय स्थापनाचार्य' की उपाधियां धारण की थीं।

किंतु, जैतुगि द्वारा जिस तेलुंग नरेश का सिर काटा गया था, उसकी तादात्म्यता पर सेउण अभिलेख कोई प्रकाश नहीं डालते। चूंकि रुद्र एवं महादेव दोनों ही उसके द्वारा युद्ध में मारे गए थे, अतः इन अभिलेखों में इन्हीं की मृत्यु का उल्लेख होने की संभावना है। इन सभी अभिलेखों में सामान्य रूप से मिलने वाला एक तथ्य यह है कि, तेलुंग नरेश के शिरोच्छेदन के साथ साथ ही कारागार से गणपति को छोड़ने एवं साम्राज्य पर उसकी पुनर्स्थापना का भी उल्लेख किया गया है। अतः इस तथ्य पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि जो राजा मारा गया था,वह गणपति का तात्कालिक पूर्वज अर्थात उसका पिता महादेव, ही था। अतः यह अधिक संभव है कि गणपति, अपने चाचा की अपेक्षा पिता के साथ ही युद्ध में गया था। चाहे कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि महादेव के लघु शासनकाल का अंत अत्यंत घातक था तथा उसके परिणामस्वरूप साम्राज्य में गड़बड़ मच गई थी।

पुत्र गणपति के अतिरिक्त, महादेव की दो पुत्रियां, मेलांबिका अथवा मेलमा एवं कुंदांबिका थीं।[43] दोनों का विवाह बुद्ध के पुत्र एवं नतवाडि के प्रमुख रुद्र से हुआ था। इस नतवाडि प्रमुख रुद्र से ही पुत्रियों का विवाह होना यह दर्शाता है कि महादेव ने अपने पूर्वज द्वारा आरंभ की गई, सामंत वंशों से मित्रता एवं अंतर्विवाह की नीति का पालन किया। महादेवकट्टर शैव मतावलंबी था; वह ऋषि ध्रुवेश्वर का शिष्य था, जिनसे उसने धर्म की शिक्षा ली थी, यद्यपि उसने गौरि स्वामी की कृपा से पृथ्वी की प्रभुसत्ता प्राप्त कर ली थी, किंतु कहा जाता है कि उसने 'उसकी तनिक भी परवाह नहीं की, तथा वह भगवान शिव के कमल चरणों की आराधना में पूर्ण रूप से रत हो गया।'[14] किंतु, सांसारिक शक्ति एवं संपत्ति के प्रति उसकी तथाकथित विरक्ति के होते हुए भी, उसने साम्राज्य को सुरक्षित रखने में सदा रुचि ली, तथा जब कर्त्तव्य की पुकार हुई तो साम्राज्य की सुरक्षा में जान भी गंवा देने में वह हिचकिचाया नही।

गणपति देव
(1199-1261 ई०)

गणपति की बंदी स्थिति : देवगिरि में महादेव की मृत्यु एवं उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी गणपति की कैद के परिणाम स्वरूप साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई थी। सामंतों ने विद्रोह कर दिया तथा पड़ोसी राज्यों के शासकों ने साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस काल में आने वाले विदेशी आक्रामकों में से दो के नाम के ज्ञात हैं। ये हैं - राजा नागति (जिसकी तादात्म्यता स्थापित नहीं हो सकी है) तथा चोल सम्राट कुलोत्तुंग तृतीय। कुलोत्तुंग के एक अभिलेख के अनुसार, उसने वडगुओं (तेलुगुओं) का दमन किया, जो युद्ध में अत्यंत भयंकर थे तथा (इस प्रकार) वेंग-मंडल' को अपने अधिकार में कर लिया।[15] कुलोत्तुंग तृतीय ने घूस एवं सोने के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपहार देकर वारंगल में प्रवेश किया। किंतु पिछले शासक के सेनापति रेचेर्रल प्रमुख ने साम्राज्य को खंडित होने से बचाया। उसने वास्तव में एक उद्दंड सामंत का सिर काटा तथा जनता के देखने के लिए एक काक भगौड़े के रूप में ऊंचे ध्वज स्तंभ पर लटका दिया ताकि इन शत्रु राजाओं रूपी जंगली जीवों को डरा सके।[46] रुद्र के सैनिकों के भालों में फहराती पताकाओं से डर कर राजा नागति शीघ्र ही भाग गया। कुलोतुंग तृतीय ने भी उसके उदाहरण का अनुसरण किया। 'जब काकतियों की भाग्यदेवी ने भूल से नुकीले कांटों पर सपना पांव रख दिया था तब स्वयं उसने (रुद्र) अपनी सेना की शक्ति द्वारा बलपूर्वक उन्हें नष्ट करके निकाल दिया तथा उसे सुरक्षित रूप से दृढ़ता पूर्वक स्थापित किया।'[17] ऐसा प्रतीत होता है कि अपने स्वामी की अनुपस्थिति में, रुद्र ने शासन की बागडोर अपने ही हाथों में ले ली। उसके नाम से संलग्न 'काकतीय-राज्य-भार धौरेय' एवं 'काकति-राज्य-समर्थ' उपाधियां[18] स्पष्ट रूप से बताती हैं कि उसने अपने स्वामी एवं अधिराज के नाम पर ही प्रशासन किया था।

गणपति को शीघ्र ही कारागार से मुक्त कर दिया गया तथा साम्राज्य पर शासन करने के लिए वापस भेज दिया गया। चूंकि सामान्यतया उसके शासन काल का आरंभ 1199 ई० में माना जाता है, अतः उसका कारावास अधिक समय तक न रहा होगा। जिन परिस्थितियों में उसे मुक्त किया गया था, वे निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। निस्संदेह, सेउण अभिलेखों में उसकी स्वतंत्रता की पुनः प्राप्ति का कारण, यादव सम्राट जैत्रपाल द्वारा उसके प्रति दया का भाव बतलाया है। यह ठीक है कि इस कृत्य में सहानुभूति एवं उदारता का अंश भी रहा होगा, किंतु इस युवक कैदी को मुक्त करने में यादव नरेश ने राजनीतिक हितों को ध्यान में रखा होगा। संभवतः वह दक्षिण में होयसलों के विरुद्ध युद्ध की स्थिति में, स्वयं को पूर्व संभावित आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षित करने का इच्छुक था। बल्लाल द्वितीय की आक्रामक नीति ने जिसने इससे पहले ही उत्तरी कर्णाटक का एक बड़ा भाग छीन लिया था, उसे अपनी दक्षिणी सीमा की सुरक्षा के संबंध में आशंकित कर दिया होगा।

यद्यपि गणपति के शासन काल का आरंभ प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ था फिर भी उसका शासनकाल आंध्रप्रदेश के इतिहास में अत्यंत शानदार युग हुआ। गणपति उत्साही शासक था तथा अपने 63 वर्षीय दीर्घ शासनकाल के दौरान, उसने युद्ध अथवा राजनीति द्वारा, तेलुगु-भाषियों के लगभग संपूर्ण प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। पश्चिमी चालुक्य एवं चोल साम्राज्यों के विघटन से उत्पन्न राजनीतिक अराजकता ने उसके कार्य को कुछ सरल बना दिया। प्रदेश में अनेक छोटे छोटे प्रमुखों का प्रभुत्व था, जो निजी विस्तार के लिए सतत रूप में पारस्परिक युद्धों में रत थे। सर्वप्रथम, वेलनाडु के प्रमुखों की ओर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि लगभग 1181 ई० में चोड द्वितीय की मृत्यु के पश्चात, उनकी शक्ति का पतन हो गया था, किंतु फिर भी दाक्षारामं, पिठापुरं एवं श्रीकूर्मम अभिलेखों से पता चलता है कि लगभग 1210 ई० में पृथ्वीश्वर की मृत्यु पर्यंत, समुद्र तटीय आंध्र प्रदेश के उत्तरी भागों पर उसका प्रभुत्व बना रहा था।[49] डीवि द्वीप एवं उसके निकटवर्ती प्रदेशों में स्थित, उसके कुछ निष्ठावान सामंतों ने उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया तथा युद्धों में उसकी सहायता की।[50] हालांकि वे अपनी ही जागीरों में स्वतंत्र शासकों के रूप में शासन कर रहे थे। आरंभिक 15 वीं शताब्दी ई० में गोपराजु द्वारा तेलुगु भाषा में रचित, 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' में सुरक्षित एक परंपरा, पृथ्वीश्वर को कृष्णा जिले में अपनी पैतृक राजधानी, रुसंदवोलु से शासन करते हुए बताती है।[51] अतः अभिलेखों तथा साहित्यिक परंपरा के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यदि संपूर्ण नहीं तो तटीय आंध्र प्रदेश के कुछ भागों पर वेलनाटि वंशका शासन बना रहा। चाहे जैसी भी हो, उसकी प्रभुता को अनेक स्वायत्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा अर्ध स्वायत्त छोटे सामंतीय राज्यों की शक्ति ने सीमित कर दिया था। ये राज्य संपूर्ण प्रदेश पर मधुछत्तों की तरह छाए हुए थे। कोलनु अथवा सरसीपुरी के प्रमुख कोलर झील के आसपास के क्षेत्र पर शासन करते थे। कृष्णा क्षेत्र के भीतरी कुछ भागों पर गुडिमेट्ट के छागियों का आधिपत्य था तथा उसी नदी के उत्तरी तट के समीपवर्ती क्षेत्र पर, जो अब प्राचीन हैदराबाद राज्य के कम्मम्मेत जिले में सम्मिलित है, नातवाडियों का राज्य था। कोट प्रमुख एवं कोणिदेन के तेलुगु चोल आधुनिक गंटूर क्षेत्र के भागों पर शासन करते थे तथा इसके भी दक्षिण में नेल्लोर का तेलुगु चोल साम्राज्य था, जिसमें आंध्र प्रदेश के नेल्लोर एवं कुड्डपह जिले तथा मद्रास राज्य के चिंगलपुट जिले के अधिकांश भाग सम्मिलित थे। नेल्लोर एवं कांची इसकी वैकल्पिक राजधानियां थीं। नेल्लोर, गुंटूर एवं कुर्नूल जिलो के संगम पर स्थित ऐर्रुव के छोटे से प्रदेश के तुच्छ प्रमुखों ने नेल्लोर चोलों का प्रभुत्व स्वीकार किया, जबकि कुर्नूल एवं कुड्डपह प्रांतों में अनेक छोटे छोटे राज्य भी थे। इसके अतिरिक्त, उत्तर पूर्व में कलिंग के गंगवंशी उस प्रदेश के भागों में प्रभुत्वशाली थे। आखिर जब गणपति ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली तो आंध्र प्रदेश की राजनीतिक स्थिति ऐसी ही थी।

गणपति एवं पृथ्वीश्वर : इन राज्यों के प्रति अपनाई जाने वाली नीति का निर्धारण उसके पूर्वजों ने ही कर दिया था। प्रोल द्वितीय एवं रुद्र दोनों की ही साम्राज्यिक अभिलाषाएं थीं जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, वे केवल तेलिंगाना को ही नहीं, अपितु तटीय जिलों को भी अपने शासनाधीन करने एवं संपूर्ण आंध्र प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के इच्छुक थे। यद्यपि तेलिंगाना को जीतने में वे पूर्ण रूप से सफल हो गए थे किंतु दक्षिण एवं पूर्व में अपने राज्य का विस्तार करने में वे असफल ही रहे। इसका मुख्य कारण वेलनाटि प्रमुखों का विरोध था, जो उस समय दक्षिण के चालुक्य चोल साम्राटों के नाम मात्र के प्रतिनिधियों के रूप में तटीय प्रदेशों पर शासन कर रहे थे। किंतु लगभग 1181 ई० में चोड द्वितीय के पौत्र, पृथ्वीश्वर ने, अपने पैतृक राज्य पर कुछ हद तक प्रभुत्व रखा। किंतु वह भी सामंतों के विप्लवों अथवा विखंडन की शक्तियों को रोकने के लिए पर्याप्त न थी। गणपति ने इस अवसर का लाभ उठाया तथा 1201 ई० में एक शक्तिशाली सेना लेकर तटीय प्रदेशों पर आक्रमण कर दिया। उसने कोटों, नातवाडियों एवं मल्यालों जैसे सभी संभव सहायक प्रमुखों को भी साथ ले लिया था। सबसे पहले उसने काकतीय साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर स्थित बेजवाड़ा पर आक्रमण किया। नातवाडि कुमार, वक्कडिमल्ल रुद्र के 1201 ई० के एक अभिलेख से जो इद्रकील पहाड़ी के पद पर स्थित कंकदुर्ग मंटप से प्राप्त हुआ था, पता चलता कि उस समय नगर में नातवाडि सैनिक और संभवतः काकतीयों के सैनिक भी उपस्थित थे।[52] बेजवाड़ा शीघ्र ही जीत लिया गया तथा आक्रामक कृष्णा नदी के मुख के निकट स्थित डीवि द्वीप की ओर बढ़े, जो उस समय डेल्टा की उपजाऊ भूमि पर आधिपत्य रखने वाले अय्य प्रमुखों का प्रधान केंद्र था। इन अय्य प्रमुखों ने दृढ़ विरोध के बिना समर्पण नहीं किया। अपने द्वीप दुर्ग की दृढ़ किलेबंदी में विश्वास रखते हुए उन्होंने आक्रामक की प्रगति का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। किंतु अंततः, उन्हें समर्पण करना पड़ा और उन्होंने शत्रुओं द्वारा अपनी समृद्ध एवं सुंदर राजधानी को लुटते हुए देखा। मल्याल प्रमुख चौंड की श्रेयस्कर सेवाओं को मान्यता देने के लिए, गणपति ने उसे 'द्वीपी-लुंताक' अथवा 'दीवि-चूरकार' अर्थात 'द्वीपी अथवा द्वीवि को लूटने वाला' की उपाधि से अलंकृत किया। इस संबंध में हमें शक सं० 1125 (1203 ई०) के कोंडिपर्ति अभिलेख से सूचना मिलती है।[53] किंतु गणपति ने विजित प्रदेश का अपने साम्राज्य में विलय नहीं किया क्योंकि वह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने यह समझ लिया था कि मैत्री की नीति अपनाकर वह अपनी शक्ति को स्थाई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नींव पर खड़ा कर सकेगा। अतः उसने विजित अय्य प्रमुखों से नम्रतापूर्ण व्यवहार किया, उसने केवल उनके प्रदेशों को ही नहीं लौटाया, अपितु उनसे वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए। उसने अय्य पिन चोडि की दो पुत्रियों नारांवा एवं पेरांबा से विवाह किया तथा उनके भाई जाय अथवा जायप को अपनी सेवा में ले लिया। यह असंभव नहीं कि इन विजयों के परिणामस्वरूप केवल दीवि ही नहीं, अपितु इस समय संपूर्ण वेलनाडु ही गणपति के अधिकार में आ गया था। वास्तव में 1211 ई० के गणपेश्वरं अभिलेख में इस तथ्य का उल्लेख भी हुआ है।[54]

पृथ्वीश्वर नाम मात्र को ही संपूर्ण तटीय प्रदेश का शासक माना जाता था। वास्तव में जैसा पहले ही कहा जा चुका है, उसका प्रभुत्व उसके कुछ भागों तक ही सीमित था। उसके विभिन्न अभिलेखों के प्राप्ति स्थान इस बात के साक्षी हैं कि पूर्वी गोदावरी जिले में दाक्षाराम से लेकर श्रीककुलं जिले में श्रीकूर्मम तक का प्रदेश ही वास्तव में उसके अधिकार में था। यह स्पष्ट नहीं कि गणपति की दीवि विजय के तुरंत बाद के वर्षों में क्या हुआ था। संभवतः गणपति द्वारा जीते गए दीवि एवं अन्य प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए पृथ्वीश्वर ने अभियान संगठित किया था किंतु वह बुरी तरह पराजित हुआ। समकालीन तेलुगु साहित्य एवं अभिलेखों में कहा गया गया है कि नेल्लोर के नौजवान तेलुगु चोल नरेश तिक्क रणक्षेत्र में पृथ्वीश्वर के सिर की गेंद बनाकर खेला।[55] चोड तिक्क के अतिरिक्त अन्य भी इस उपलब्धि का श्रेय लेते हैं। महामंडलेश्वर बल्लय चोल, जो संभवत कम्मनाडु का था तथा काकतीय नरेश गणपति दोनों ही अलग अलग इस कार्य का दावा करते हैं। प्रत्येक ने, स्वयं पृथ्वीश्वर के सिर को काटने के पश्चात वैसे ही किया, जैसे तिक्क ने किया था।[56] अतः यह स्पष्ट है कि गणपति तथा तेलुगु चोल प्रमुखों अर्थात तिक्क एवं बल्लय ने एक साथ मिलकर पृथ्वीश्वर के विरुद्ध किया और उसे मार दिया। किंतु यह ज्ञात नहीं कि वे कैसे एकत्र हुए तथा उन्होंने किस प्रकार पृथ्वीश्वर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह असंभव नहीं कि उसने आंध्र प्रदेश परआक्रमण किया और गणपतिएवं दोनों तेलुगु चोड कुमारों ने, जो उस राजकुमार के सामंत अथवा मित्र थे, उसका विरोध किया; तथा उसके बाद होने वाले युद्ध में पृथ्वीश्वर को मार दिया गया। उसकी मृत्यु से वेलनाटि प्रमुखों की शक्ति का अंत हो गया तथा उनका राज्य काकतीय नरेश के हाथों में चला गया।

दक्षिण में काकतीय : गणपति ने अपने शासनकाल के बिलकुल शुरू में ही दक्षिणी साम्राज्यों के मामलों में रुचि लेनी शुरूकर दी थी। जाय सेनापति का शक सं० 1135 (1213 ई० के) चेब्रोलु अभिलेख में दक्षिणी क्षेत्र के राजाओं के विरुद्ध उस अभियान का उल्लेख है, जो गणपति ने पहले कभी भेजा था।[57] दक्षिणी राजाओं की विजय तथा उस दिशा में काकतीय शक्ति का विस्तार नेल्लोरके तेलुगु चोलों से उसकी संधिके प्रत्यक्षपरिणामथे। तेलुगुचोल 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वहां स्थापित हो गए थे। नल्ल सिद्धि एक सुसंबद्ध राज्य का स्वामी बन गया था। इस राज्य में आधुनिक नेल्लोर, कुडुपह एवं चिंगलपुट जिले सम्मिलित थे। नेल्लोर अथवा विक्रमसिंहपुर एवं कांची के समृद्ध नगर भी उसी के पास थे तथा उसकी वैकल्पिक राजधानियों का कार्य करते राजाधिराज द्वितीय की कमजोरी का लाभ उठाते हुए, नल्ल सिद्धि के उत्तराधिकारी स्वतंत्र हो गए। बेत प्रथम एवं उसके उत्तराधिकारी एर्रसिद्धि के शासनकालों के संबंध में बहुत कम ही जानकारी प्राप्त हैं। एर्रसिद्धि के तीन पुत्र थे—मनुम सिद्धि प्रथम, बेत द्वितीय एवं तम्मु सिद्धि। इनमें से सबसे बड़ा अर्थात मनुम सिद्धि प्रथम ही उसके बाद सिंहासन पर बैठा। मनुम सिद्धि प्रथम के शासन के दौरान चोड तिक्क प्रथम के पिता कुलोत्तुंग तृतीय ने तेलुगु चोड साम्राज्य को पुनः अपनी प्रभुसत्ता के अंतर्गत लाने के लिए उस पर आक्रमण कर दिया। चूंकि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके शासन काल के तीसरे वर्ष (1180 ई०) के अभिलेख, कांची कालहस्ति एवं नंदलूर में मिलते हैं,[58] जो सभी उस समय नेल्लोर के साम्राज्य के अंग थे, अतः उत्तर के राजाओं के विरुद्ध किया गया अभियान और कांची नगर का प्रवेश भी इसी समय हुआ होगा। स्पष्टतः यह अभियान मनुम सिद्धि प्रथम के विरुद्ध था तथा अपनी पराजय के परिणामस्वरूप उसने अपना सिंहासन खो दिया। विजयी चोल सम्राट ने राज्य का कार्यभार मनुम सिद्धि के छोटे भाई नल्ल सिद्धि को सौंप दिया तथा स्वयं विजय पताका फहराते हुआ अपने राज्य को वापस लौट गया। 1187 ई० और 1204 ई० के बीच नल्लसिद्धि के अभिलेखों से, जो नेल्लोर राज्य के ही विभिन्न क्षेत्रों में मिल जाते हैं, पता चलता है कि वह अपने अधिराज के प्रति निष्ठावान बना रहा।[59] इसके बाद प्रशासन, उसके छोटे भाई तम्मु सिद्धि के हाथों में पहुंच गया, जिसने संभवतः बलपूर्वक ही सिंहासनारूढ़ होकर 1207-8 ई० तक राज्य किया। मनुम सिद्धि प्रथम के पुत्र तिक्क ने, जो स्वयं को सिंहासन का न्यायोचित अधिकारी मानता था, अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए गणपति से सहायता मांगी। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, वह गणपति की सेना से मिल गया, जो उस समय वेलनाटि प्रमुख पृथ्वीश्वर से युद्ध कर रही थी। तिक्क ने युद्ध में पृथ्वीश्वर की हत्या करने में गणपति की सहायता की। इस सहायता के बदले में गणपति ने वेलनांडु का समर्पणप्राप्त करने के बाद नेल्लोर के विरुद्ध कूच किया तथा तम्मु सिद्धि एवं उसके समर्थकों को भागने पर बाध्य करके[60] तिक्क को उसके पैतृक राज्य के सिंहासन पर स्थापित किया और स्वयं ताम्रपुरी के मार्ग से स्वदेश लौट गया। उपर्युक्त चेब्रोल अभिलेख में भी यही उल्लेख मिलता है।

गणपति द्वारा नेल्लोर के सिंहासन पर विठाया गया तिक्क वास्तव में योग्य एवं युद्धप्रिय शासक था। शक्तिशाली पड़ोसियों के आक्रमणों के कारण उसे प्रायः अपनी सीमाओं की रक्षा करने तथा राज्य की अखंडता सुरक्षित रखने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता था। संभवतः इसी कारणवश उसने कुलोत्तुंग तृतीय की प्रभुसत्ता स्वीकार कर उसे प्रसन्न किया,[61] हालांकि वह स्वयं काकतीय सम्राट की सहायता से राजा बना था। उसी की सहायता से उसने अपने चाचा को सिंहासनच्युत किया था, जो स्वयं ही चोल सम्राट का निष्ठावान सामंत था। अपने शासन के आरंभ में ही तिक्क को सेउण आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा, जिससे उसकी शक्ति को बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। इसके पश्चात उसने तमिल राज्य में फैली राजनीतिक अव्यवस्था के परिणामस्वरूप कांची एवं अपने अन्य प्रदेश खो दिए, किंतु वह चोल नरेश कुलोत्तुंग तृतीय की प्रभुसत्ता को स्वीकार करता रहा और उससे मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रहा। 1215 एवं 1228 ई० के बीच उसके अभिलेखों के पूर्ण अभाव से पता चलता है कि इस अवधि में वह एक बार पुनः सिंहासन से हटा दिया गया था। समकालीन तेलुगु साहित्य एवं तेलुगु चोल अभिलेखों के अनुसार, तिक्क ने अपने मित्रों की सहायता के बिना, अकेले ही, अपने निजी प्रयासों से शत्रुओं को नष्ट कर दिया, कुड्डपह जिले में कुरुमुलूर के युद्ध में सेउण सेना को पराजित किया तथा उसके सभी अश्वारोहियों को बंदी बना लिया।[62] किंतु ऐसा सोचना उचित ही ही है कि वास्तव में तिक्क की सफलता का कारण, यदि पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से अवश्य ही, गणपति द्वारा भेजी गई सहायता थी। वारंगल जिले में स्थित मट्टेवाड के 1228 ई० के अभिलेख में कहा गया है कि गणपति ने एक चोल राजधानी को लूटा। यह संभवतः कांची ही थी।[63] इस दिशा में उसकी उपलब्धियों से संबंधित और अधिक स्पष्ट उल्लेख, जाय सेनापति के गणपेश्वरं अभिलेख में मिलता है। यह अभिलेख 1231 ई० का है। इसमें कहा गया है कि गणपति ने सुगमता से चोलों, कलिंगों, सेउणों, बृहत-कर्णाटियों एवं लाटों को पराजित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करके…द्वीप सहित संपूर्ण वेलनांडु प्रदेश को प्राप्त कर लिया।[64] इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि लाट नरेश को छोड़कर, यहां पर वर्णित सभी राजा दक्षिण भारतीय साम्राज्यों के शासक थे। यह स्पष्ट है कि तिक्क को उपर्युक्त राजाओं के संगठन का मुकाबला करना पड़ा तथा उसने अपने पुराने मित्र से ही सहायता की याचना की। इन परिस्थितियों में ही गणपति ने अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए, दक्षिण की ओर कूच किया तथा संगठित राजाओं ओ पराजित कर एवं खदेड़ कर तिक्क को नेल्लोर एवं कांची में पुनः स्थापित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि तिक्क ने अपने साम्राज्य के भीतरी प्रदेशों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से इसी अवसर पर कायस्थ गंगय साहिनि को ऊपरी पाकनाडु का गवर्नर नियुक्त किया। गंगय अंबदेव प्रथम का संबंधी था तथा अंबदेव स्वयं गणपति का सामंत था। किंतु अभी तिक्क की कठिनाइयों का अंत नहीं हुआ था। उसके हित होयसलों के हितों के विपरीत थे तथा शीघ्र ही उन दोनों का युद्ध छिड़ गया।

अपने ग्रंथ 'निर्वचनोत्तर रामायण' की भूमिका में तिक्कन सोमयाजि ने लिखा है कि कर्णाट सोमेश्वर को पराजित करके तिक्क ने अपनी शक्ति को स्थापित किया तथा बिना किसी कठिनाई के ही चोल नरेश को उसके सिंहासन पर पुनर्स्थापित कर उसकी (सोमेश्वर की) 'चोल-स्थापनाचार्य' अर्थात चोल नरेश की स्थापना करने वाला उपाधि को धारण किया। इस कथन से यह स्पष्ट पता चलता है कि तिक्क ने चोल सम्राट राजराज तृतीय की ओर से ही यह युद्ध लड़ा था। इस युद्ध के विवरण ज्ञात नही हैं, किंतु यह स्पष्ट है कि तिक्क ने अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए दक्षिण की ओर कूच दिया तथा 1239 ई० में जंबई के युद्ध में नरसिंह द्वितीय का संहार किया। अगले ही वर्ष उसने नरसिंह के पुत्र सोमेश्वर को भी पराजित किया, जिसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए उस पर आक्रमण किया था। इसके पश्चात उसने 'चोल-स्थापनाचार्य' की उपाधि धारण की।[65] होयसलोंके विरुद्ध युद्धोंमें गणपति द्वारा तिक्क को सहायता दिए जाने के संबंध में अभी तक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। किंतु यह असंभव नहीं कि गणपति ने इस युद्ध में भी भाग लिया हो, क्योंकि होयसल, जो उस समय अपनी शक्ति की चरम सीमा पर थे, केवल तिक्क जैसे छोटे से प्रमुख के वाह्य सहायता विहीन, प्रयासों से ही पराजित नहीं हो सकते थे। किंतु इस अनुमान की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। अतः अधिक जानकारी के अभाव में विजय का पूर्ण श्रेय, स्वयं तिक्क की ही शक्ति को दिया जाना चाहिए।

कलिंग अभियान : पृथ्वीश्वर के विरुद्ध अपनी विजय के पश्चात गणपति ने कलिंग में उसके प्रदेशों को अपने अधीन करने की अभिलाषा की। अतः उस प्रदेश पर अपना अधिकार जमाने के लिए उसने वहां सेना भेजी। कोलनु (सरसी अथवा कमलाकरपुरी) के शक्तिशाली प्रदेश और कलिंग सहित वारंगल के पूर्वी तटीय जिले विजित हुए। वीरशैव धर्मविद्या से संबंधित 15 वीं शताब्दी की एक कृति,'शिवयोगसार' के अनुसार यह संपूर्ण विजय एक ही अभियान के दौरान प्राप्त की गई थी तथा इसका नेतृत्व गणपति के एक मंत्री इंदुलूरि सोम प्रधानि ने किया था।[66] किंतु प्राप्य अभिलेखीय प्रमाण की इस वर्णन की पुष्टि नहीं करते। इसके विपरीत काकतीयों द्वारा तटीय आंध्र प्रदेश एवं कलिंग की विजय अलग ही संपन्न हुई प्रतीत होती हैं। वास्तव में तथ्य तो यह है कि 1231 ई० तक, अर्थात गणपति के कलिंग आक्रमणके अनेक वर्ष बाद, कोलनु काकतीय शक्ति के अधीन नहीं आया था। ऐरुंव के तेलुगुचोलप्रमुख भीम ने, जो गणपति का समकालीन रहा होगा, संभवतः अभियान में भाग लिया था; क्योंकि जगतापि गंगदेव के शक सं० 1244 (1322-3 ई०) के ताल्ल-प्रोद्दुटूरु अभिलेख के एक पद्य में यह कहा गया है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भीम ने वेंगी, उड़ीसा, तथा मध्य प्रदेश के वस्तर राज्य में स्थित अनेक स्थानों को जीता था।[67] भीम एक छोटा-सा प्रमुख था, जो केवल अपने ही साधनों से इन सभी सफल आक्रमणों को संपन्न नहीं कर सकता था। अन्य भाग्यशाली सामंतों एवं सैनिकों के समान ही, उसने भी काकतीय सेना का साथ दिया होगा, तथा उपर्युक्त जिले में गणपति के अभियानों में भाग लिया होगा। इनके अतिरिक्त, रेचेर्रल का सेनानायक राजनायक भी अभियान के साथ रहा तथा आक्रमण के दौरान स्वयं को विशिष्ट किया।[68]

संभवतः अभियान का आरंभ गोदावरी तट पर स्थित किसी अड्डे से हुआ और कलिंग में प्रवेश करके, उसने मडियों तथा बाहर मंन्नियों अर्थात आधुनिक मध्य प्रदेश एवं उड़ीसा की सीमाओं तक फैले हुए प्रदेश को जीता। तेक्कलि को हरा दिया गया था तथा गंजाम जिले के अस्क तालुक में बोक्केर नामक स्थान पर महान युद्ध हुआ जिसमें गोधुमर्राति की उपाधि से युक्त एक प्रसिद्ध योद्धा अपने सारे अनुयाथियों सहित मार दिया गया।[69] पेदकिमिडि ऐजेन्सी में उदयगिरि के निकट एक अन्य मुठभेड़ हुई। उस स्थान के शासक पडियराय को भागने पर बाध्य होना पड़ा तथा दुर्ग को जीत लिया गया।[70] अभी तक गोधुमर्राति एवं पडियराय की तादात्म्यता स्थापित नहीं हो सकी है। यह असंभव नहीं कि वे पूर्वी गंग नरेश राजराज तृतीय के जो उस समय कलिंग पर शासन कर रहा था, सामंत थे। इसके पश्चात काकतीय सेना ने बस्तर में प्रवेश किया, चक्रकोटपर विजय प्राप्त की तथा गोदावरी नदीको पार करउसके दक्षिणी तट पर स्थित मंथेन को अपने अधिकार में कर लिया।[71] इस प्रकार पहाड़ी प्रदेश की विजय को पूरा कर अंततः विजयी सेना वापस दाक्षारामं लौट गई। यहीं पर रेचेर्रल सेनाओं के सेना नायक राजनायक ने, धन्यवाद देने के उद्देश्य से, भीमेश्वर देव के मंदिर में, इतवार, वैशाख, शु 11, शक सं० 1134 (29 अप्रैल, 12.2 ई०) के दिन, अखंड दीप की स्थापना की।[72]

इसमें संदेह नहीं कि गणपति का कलिंग अभियान, उसकी सैनिक शक्ति का भव्य प्रदर्शन था, किंतु इसका कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकला। अभी तक दाक्षारामम के उत्तर में काकतीय शासन के कोई प्रमाण नहीं मिले हैं। हम शीघ्र ही देखेगें कि पूर्वी गंगों ने, जिनसे अभियान के दौरान गणपति की सेना की मुठभेड़ हुई होगी, शीघ्र ही अपने प्रभुत्व को स्थापित कर लिया तथा अपने विरुद्ध किए गए उसके अभियान के सभी चिह्नों को मिटा दिया।

कम्मनाडु : कम्मनाडु की स्थिति पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता थी। इस जिले के कुछ प्रमुखों ने जो संभवतः कोणिदेन के तेलुगु चोल ही थे, गणपति की प्रभुसत्ता का उल्लंघन कर स्वतंत्र शासक के रूप में शासन करना आरंभ कर दिया। उनको अपना आज्ञानुयायी बनाने तथा संपूर्ण जिले को अपने आधिपत्य में लाने के लिए गणपति ने तेलुगु चोल वंश की पोत्तपि शाखा के वंशज, ओपिलि सिद्धि को भेजा। औपिलि सिद्धि ने जिस सफलता से वह कार्य संपादित किया उससे उसका स्वामी पूरी तरह संतुष्ट हुआ। उसकी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप उसे इस क्षेत्र का गवर्नर पद मिला।[73]इसी समय अद्दंकि एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर शासन करने वाले चक्रनारायण कुमारों को भी जीता गया था। यद्यपि इसके प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव है, फिर भी गणपति के अनेक अभिलेखों के प्राप्ति स्थानों के कारण इसमें संदेह की कोई गुंजायश नहीं रह जाती कि 1217-18 ई० से पहले ही इस क्षेत्र पर भी उसका अधिकार हो गया था।[74]

पूर्वी गंग अतिक्रमण : गणपति के आक्रमण के समय कलिंग पर शासन करने वाला राजराज तृतीय उसके शीघ्र बाद मर गया। 1211 ई० में उसके उत्तराधिकारी उसके पुत्र अनंग (अनियंक) भीम तृतीय ने राज्य को काकतीयों के प्रभुत्व से स्वतंत्र कराया, तथा अपने शासनकाल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
के आठवें वर्ष (1217 ई०) से पहले ही गणपति के क्षेत्रों में पश्चिम में वेंगी की सीमा तक प्रवेश कर गया। उसी वर्ष के एक दाक्षारामम अभिलेख में वह 'त्रयि-वसुन्धरा' अर्थात त्रिकलिए प्रदेश को स्वतंत्र कर चुकने का दावा करता है।[75] अनंग भीम तृतीय महत्वाकांक्षी शासक था। वह केवल स्वदेश से आक्रामकों को बाहर निकाल कर ही संतुष्ट न था, अपितु वेंगी की उपजाऊ भूमि को जीतने का भी इच्छुक था। किंतु इस योजना को तत्काल क्रियान्वित करने के लिए परिस्थितियां संभवतः अनुकूल नहीं थीं। अतः उसे अपना समय बिताना था तथा वह उस प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए अवसर की तलाश में था।

कोलनु की विजय : यहां यह ध्यातव्य है कि 1230 ई० तक वेंगी अथवा उसका एक बड़ा भाग कोलनु प्रमुख के नेतृत्व में स्वतंत्र बना रहा। इनका प्रधान कार्यालय कोलनु अथवा सरसीपुरी में था। 1192 ई० में सिंहासन प्राप्त करने वाले महामंडलेश्वर कोलनि केशवदेव ने उस प्रदेश पर 36 वर्ष अर्थात 1228 ई० तक राज्य किया।[76] संभवतः इसी प्रमुख की मृत्यु के बाद, अनियंक भीम तृतीय ने सोचा कि उसकी दीर्घकालीन अभिलाषा को पूरा करने के लिए वही समय अनुकूल था। अतः उसने वेंगी को अपने आधिपत्य में लाने का निश्चय कर लिया। इस समय काकतीय सेनाएं भी नेल्लोर के तेलुगु चोल तिक्क की और से होयसलों एवं अन्य दक्षिणी शासकों के विरुद्ध युद्धों में व्यस्त थीं। अपने प्रयास की सफलता को निश्चित करने के उद्देश्य से अनियंक भीम के कुलोत्तुंग राजेन्द्र चोड एवं गोंक नामक वेलनाटि प्रमुखों के हित का समर्थन किया। ये वेलनाटि पृथ्वीश्वर के ही वंशज थे। भीम ने वेंगी की अंतिम विजय के लिए अपनी सेनाएं भेजीं। उसकी सेना का सेनापति, खड्गसिंह का पुत्र, जेन्नाजक, 1230 ई० में दाक्षारामं पहुंच गया, जहां पर वह भीमेश्वर देव के मंदिर की मरम्मत करवाने में व्यस्त हो गया। वास्तव में दाक्षारामम में उसका आगमन ही युद्ध के छिड़ने की भूमिका थी तथा आगामी तीन वर्षों के दौरान वह पूर्ण रूप में अपना उद्देश्य पूरा करने में लगा रहा।[77]

कलिंग नरेश की आक्रामक गतिविधियों के प्रति गणपति उदासीन न रहा। ज्योंही 1228 ई० में उसने कांची में तिक्क को स्थापित कर दिया वैसे ही उसने दक्षिण से अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया तथा वेंगी से कलिंगों को निकालने एवं उस प्रदेश को अपने नियंत्रण में करने पर अपना ध्यान केंद्रित कर लिया। उसने इंदुलूरि सोम प्रधानि के नेतृत्व में सेना भेजी तथा उसके साथ जाने वाले ऐर्रव भीम, कालप नायक एवं मल्याल हेमाद्रि रेड्डि ने भी महत्वपूर्ण सहायता दी। काकतीय अभिलेखों के प्राप्तिस्थानों के अध्ययन से पता चलता है कि विजय का दौर 1231 ई० में ही आरंभ हो गया था। पश्चिमी गोदावरी जिले में इरगवरं स्थान पर पालीश्वर के मंदिर के एक स्तंभ पर उत्कीर्ण गणपति के 1231 ई० के एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने उसी वर्ष में कोलनु को जीता था।[78] मल्याल हेमाद्रि रेड्डि के हाथों पराजित होने वाले वेलनाटि गोंक को भागना पड़ा।[79] ऐसा प्रतीत होता है कि कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड ने स्वयं ही समर्पण कर दिया था, क्योंकि कालप नायक, जो 1254 ई० के अभिलेख के अनुसार वेंगी का गवर्नर नियुक्त किया गया था, कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड का रक्षक होने का दावा करता है।[80] यह ज्ञात नहीं कि इसके बाद क्या हुआ। संभवतः उसी वर्ष अथवा अगले वर्ष के आरंभ में अनंग भीम तृतीय की मृत्यु के परिणाम स्वरूप संघर्ष बंद कर दिया गया था।

किंतु अनंग भीम की मृत्यु से ही काकतीय साम्राज्य पर पूर्वी गंगों के आक्रमण समाप्त नहीं हो गए थे; क्योंकि 1238 में सिंहासनारूढ़ होने वाले उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने भी अपने पिता की आक्रमण नीति को जारी रखा। कृष्णा जिले में श्रीकाकुलं के 'स्थलपुराणं' संस्कृत के 'श्रीकाकुलं महात्म्यं' के उत्तर कालीन तेलुगु संस्करण अर्थात 'वल्लभा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भ्युदय' में कहा गया है कि नरसिंह ने अपने सौतेले भाई दंडनायक अनंतपाल के नेतृत्व में एक सैनिक अभियान कांची के विरुद्ध भेजा। अपनी प्रगति के दौरान, अनंतपाल, तेलुगु वल्लभ (आंध्र विष्णु) के एक मंदिर का निर्माण करवाने के लिए श्रीकाकोलनु में रुक गया। वहीं से वह कांची की ओर बढ़ा, जहां अपने शत्रुओं को हराने एवं उनसे कर वसूल करने के पश्चात उसने अपने कर्मों का उल्लेख करने वाले एक विजयस्तंभ को स्थापित किया और अंत में विजय पताकाएं फहराते हुए स्वदेश वापस लौट आया।[81] अब तक अनंतपाल का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। अतः वर्तमान स्थिति में 'स्थल-पुराणं' के प्रमाण की जांच नहीं की जा सकती है।

नरसिंह के आक्रमण के समय गणपति पश्चिमी आंध्र प्रदेश के मामलों में व्यस्त था। उसको अपनी संतुष्टि के अनुरूप ठीक करने के बाद उसने अपनी सेना को गोदावरी के पार भेजा तथा उस नदी के उत्तरी छोर पर स्थित पूर्वी गंग क्षेत्रों पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के संबंध में हमें जानकारी नहीं है, क्योंकि इस विषय पर प्राप्त सूचना अत्यंत अपर्याप्त है। मनुम सिद्धि द्वितीय कालीन 1257-8 ई० के नंदलूर अभिलेख में उसका उल्लेख मात्र है। इसमें कहा गया है कि गणपति की मित्रता प्राप्त करने की इच्छा से मनुम सिद्ध द्वितीय ने गोदावरी के तट पर उसकी सेनाओं से मेल किया। वहीं पर उसने कलिंगों के विरुद्ध घोर युद्ध किया तथा उनको स्वदेश लौटने पर बाध्य किया।[82] इसी अवसर पर चालुक्य वंश के पडिकमु बोप्पदेव ने, जो उस समय गणपति की सेवा में 'पट्टसाहिणि' एवं 'सकलसेनाधिपति' था, गोदावरी के तट पर हुए एक युद्ध में गोंटूरि नागदेव को मौत के घाट उतार दिया।[83] नागदेव का प्रदेश कृष्णा नदी के तट पर स्थित था। अभिलेखों से पता चलता है कि नरसिंह के आक्रमण के समय नागदेव एवं नारायणदेव नामक गोंटूरिप्रमुख बेजवाड़ा के निकटवर्ती क्षेत्र में शासन कर रहे थे।[84] संभवतः उन्होंने उसके साथ मिलकर गणपति के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाया। किंतु उन्होंने भी उसकी पराजय में हिस्सा बटाया होगा तथा इसके परिणामस्वरूप अपना प्रदेश गंवा दिया। इस विजय के फलस्वरूप, गणपति के शासनकाल के अंत तक गोदावरी की घाटी पर काकतीय आधिपत्य बना रहा।

गणपति का दक्षिण अभियान : 1248 ई० मे तिक्क की मृत्यु से दक्षिण के मामलों में आकस्मिक परिवर्तन आ गए। नेल्लोर राज्य में अराजकता फैल गई। शीघ्र ही हस्तक्षेप करने एवं शांति और व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के लिए गणपति को बुलाया गया। तिक्क की मृत्यु के बाद नेल्लोर के सिंहासन का उत्तराधिकार विवादास्पद था। मुख्य अधिकारी थे : तिक्क का पुत्र, मनुम सिद्धि द्वितीय तथा कोई विजय अथवा विजय गंडगोपाल। शाही तेलुगुचोलवंश की नेल्लोर शाखा से विजय का संबंध निश्चित नहीं है। तिक्क की मृत्यु के बाद विजय ने चिंगलपुट एवं उत्तरी अर्काट जिले हथिया लिए, जो उस समय नेल्लोर राज्य में सम्मिलित थे। आधुनिक नेल्लोर एवं कुड्डपह जिलों से युक्त राज्य के केवल उत्तरी भागों पर ही उसके विरोधी का अधिकार रह गया था। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए उसने द्राविड़ एवं कर्णाट नरेशों से भी संधि कर ली। द्राविड़ नरेश निस्संदेह चोल सम्राट राजराज तृतीय अथवा उसका सह-शासक राजेंद्र तृतीय था, जिसे 1246 ई० में चोल सिंहासन के युवराज के रूप में मान्यता दी गई थी, तभी से वह संपूर्ण चोल साम्राज्य का वास्तविक शासक था। कर्णाटक नरेश भी निश्चय ही वीर सोमेश्वर (1234/5-60 ई०) था। यद्यपि उसके दो पुत्र, नरसिंह तृतीय एवं वीर रामनाथ क्रमशः उसके कर्णाटक एवं तमिल क्षेत्रों के प्रशासन में उसकी सहायता करते थे, फिर भी वह अपने शासनकाल के अंत तक अपने संपूर्ण साम्राज्य पर सर्वोच्च प्रभुसत्ता बनाए रहा। सोमेश्वर ने विजय गंडगोपाल की मित्रता का स्वागत किया होगा, क्योंकि इसने उसे कांजीवरं एवं उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
निकटवर्ती प्रदेश पर अपना आधिपत्य पुनः स्थापित करने का अवसर प्रदान किया था। इस प्रकार स्वयं को सुदृढ़ कर विजय गंडगोपाल ने उत्तर की ओर नेल्लोर जिले में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने का प्रयत्न किया।[85] उसी समय बय्यन एवं तिक्कन 'पडिहारियों' के नेतृत्व में, मनुम सिद्धि द्वितीय के विरुद्ध नेल्लोर में विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मनुम को राजधानी से खदेड़ दिया गया।[86] 'रक्कस गंग' की उपाधि से प्रसिद्ध तथा वैडुंबवंश की कलुकड शाखा के वंशज, तक्करस गंग, ने मनुम सिद्धि के राज्य में कुड्डपह जिले पर आक्रमण कर दिया था। मनुम सिद्धि के सेनानायक गंगय साहिणि को पराजित करके तथा उसे गवर्नर पद से उखाड़ कर, तक्करस ने उसके क्षेत्र का विलय कर लिया।[87] इस प्रकार अपने नियंत्रण से बाहर अनेक परिस्थितियों के संगठन के फलस्वरूप, मनुम सिद्धि द्वितीय एक साम्राज्य विहीन राजा मात्र रह गया। अतः उसने गणपति से सहायता की याचना की। मनुम का निष्ठावान मंत्री एवं प्रसिद्ध तेलुगु कवि तिक्कन एक योग्य समर्थक था। उस युग के महानतम तेलुगु कवि के रूप में तिक्कन की ख्याति, पहले ही आंध्र प्रदेश के दूर दूर के कोने में पहुंच चुकी थी। अतः जब वह वारंगल पहुंचा, तो गणपति ने उसका भव्य स्वागत किया। गणपति ने कवि के आने का प्रयोजन जानकर, उसके स्वामी की सहायता करना सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा अपने वचन को क्रियान्वित करने के लिए, अपने सेनापति सामंत भोज के नेतृत्व में शक्तिशाली सेना भेजी। अभियान की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त उल्लेख, गुंटूर जिले में नायनिपल्लि के तिथिविहीन अभिलेख में मिलता है। इसके अनुसार दक्षिणी प्रदेशों की विजय के उद्देश्य से काकतीय सेना ने कूच किया।[88] उसने नेल्लोर को राख कर दिया, बय्यन एवं तिक्कन 'पडिहारियों' का साथ देने वाले अपने सभी विरोधियों के सिरों को गेंद बना कर खेला, तथा 'द्रविड़-मंडल' में प्रवेश करके कुलोत्तुंग राजेंद्र चोल को जीत लिया और नेल्लोर के राजा से हाथियों का उपहार प्राप्त किया। इस अभिलेख में वर्णित कुलोत्तुंग राजेंद्र चोड को कुछ इतिहासकार, चोल नरेश राजेंद्र चोल तृतीय ही मानते है। यदि ऐसा है तो वह उसी नाम के उस कुमार से भिन्न व्यक्ति था, जिसे 1237 ई० में मल्याल हेमाद्रि रेड्डि ने कलिंग में पराजित किया था।[89] चाहे कुछ भी हो, इसी अभियान के दौरान मनुम सिद्धि द्वितीय ने, प्रायेरु अर्थात तंजोर जिले में पलैयारु नामक स्थान पर द्रविड़ एवं कर्णाटक के राजाओं और विजय गंडगोपाल की संयुक्त सेनाओं को पराजित किया होगा।[90] यद्यपि अपने स्वामी के लिए प्राप्त इस विजय का संपूर्ण श्रेय, तिक्कन स्वयं ही लेता है, किंतु काकतीय सेना के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि, जैसा कि कुछ विद्वानों का तर्क है, गणपति द्वारा बंदी बनाया गया राजा राजेंद्र चोल तृतीय था, तो यह अधिक संभव है कि वह अन्य किसी समय अथवा स्थान की अपेक्षा पलैयारु के स्थान पर हुई अपनी पराजय के बाद ही अपने शत्रु के हाथों में आया होगा। पलैयारु के रणक्षेत्र में शत्रु की सेनाओं को नष्ट करके, सामंत भोज पीछे मुड़ा तथा कांची की ओर बढ़ते हुए उसने बिना किसी कठिनाई के ही उस नगर को जीत लिया।

पश्चिमी आंध्र में गणपति : पलैयारु के युद्ध में प्राप्त विजय तथा 1250 ई० में ही सामंत भोज द्वारा कांची की विजय से कोई स्थाई परिणाम निकले प्रतीत नहीं होते। विजय गंडगोपाल के अभिलेखों के प्रचलन से इसमें संदेह नहीं रह जाता कि उसने शीघ्र ही कांची एवं उसके निकटवर्ती प्रदेशों पर पुन. अधिकार प्राप्त कर लिया तथा वह वहां 1282 ई० तक राज्य करता रहा।[91] पश्चिमी तेलुगु प्रदेश में मनुम सिद्धि द्वितीय और गणपति की व्यस्तता ने ही विजय को बिना किसी कठिनाई के अपना प्रभुत्व प्राप्त करने में सहायता दी थी। यह स्मरणीय है कि रक्कस गंग ने कायस्थ प्रमुख गंगय साहिणि को हराया था, जिसे चोड तिक्क ने ऊपरी पाकनडु में अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेनाओं का सेनानायक नियुक्त किया था। इसके बाद रक्कस ने गंगय के अधीनस्थ क्षेत्र पर भी आधिपत्य जमा लिया था। अपने इस प्रयास में उसे जगतापि गुत्ति (अनंतपुर जिले में आधुनिक गुत्ति) के तेलुगु चोल प्रमुख से भी सहायता मिली थी, जिसने इसके परिणामस्वरूप, 'गंडपेंदेर गंगय साहिणी-सर्वस्व-बंदिकार' अर्थात 'गंडपेंदेर गंगय साहिणी की संपत्ति को लूटने वाले' की उपाधि धारण की।[92] तमिल प्रदेश में अपने सफल अभियान के पश्चात मनुम सिद्धि एवं गणपति ने चित्तूर जिले में कालहस्ति के मार्ग से उसके विरुद्ध कूच किया तथा आक्रमण कर दिया। तदोपरि होने वाले युद्ध में रक्कस गंग पराजित हुआ तथा उसे वे क्षेत्र समर्पित करने पड़े, जो उसने गंगय साहिणि से छीने थे। यद्यपि तिक्कन इस विजय का श्रेय अपने स्वामी मनुम सिद्धि की शक्ति को देता है, फिर भी अभिलेखीय प्रमाण स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि वह काकतीय सहायता के बिना प्राप्त नहीं हुई थी। रक्कस गंग के हाथों पराजित होने तथा उसके फलस्वरूप अपना क्षेत्र गंवा देने के उपरांत गंगय साहिणि ने गणपति की सेवा स्वीकार की। गणपति ने उसे अपने दरबार में 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' अर्थात 'बाहत्तर नियोगों के अध्यक्षों' का उच्च पद प्रदान किया।[93] 1254 ई० के त्रिपुरांतकं अभिलेख में वह इस बात का दावा करता है कि उसने रक्कस गंग को पराजित किया तथा उसे भागने पर बाध्य किया था।[94] गंगय साहिणि के भतीजे एवं गणपति देव तथा बाद में रुद्रांबा के सामंत, गंडपेंदेर जन्निगदेव ने भी, रक्कस गंग के विरुद्ध किए गए अभियान में अपने चाचा की सहायता की थी, क्योंकि कुछ वर्ष बाद 1264 ई० के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसने रक्कस की पराजय के बाद भी उसका पीछा किया था।[95] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैडुंब प्रमुख की शक्ति को उखाड़ने के लिए गणपति ने मनुम सिद्धि द्वितीय एवं गंगय साहिणि को सहायता दी थी। इसमें संदेह नहीं कि उसी विजय के परिणामस्वरूप वैडुंबों द्वारा बलाधिकृत प्रदेशों को पुनः जीत लिया गया। किंतु मनुम सिद्धि को जिसका इस प्रदेश पर मूल अधिकार था, यह क्षेत्र वापस नहीं मिला। उसे यह क्षेत्र गणपति को समर्पित करना पड़ा तथा गणपति ने मनुम की सहमति से ही उसे गंगय साहिणि को पारिवारिक संपत्ति के रूप में प्रदान कर दिया। तिक्कस ने अपने 'निर्वचनोत्तर-रामायणं' में इसी विनिमय को अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि वह कायस्थ प्रमुख को उसके अधिराज द्वारा उदारतापूर्वक दिया गया उपहार था, जो उसने अपने स्वामीभक्त आश्रित के प्रति अपना स्नेह दिखाने के लिए दिया था।[96]

गणपति एवं सेउण वंशी : गणपति एवं उसके पश्चिमी पड़ोसियों अर्थात सेउणों के पारस्परिक संबंध सामान्यतया शांतिपूर्ण थे। यह सत्य है कि गणपेश्वरं अभिलेख उसके द्वारा जीते गए शत्रुओं में सेउण नरेश का भी उल्लेख करता है।[97] सेउणों से संघर्ष होने की परिस्थितियां पूर्ण रूप से अज्ञात है। संभवतः अपने साम्राज्य को सेउणों के आक्रमण से बचाए रखने के लिए गणपति ने अपने मित्र नेल्लोर के चोड तिक्क को सहायता दी। चाहे कुछ भी हो, यह तथ्य विश्वसनीय है कि कुरुमलूर के युद्ध के पश्चात दोनों साम्राज्यों के पारस्परिक संबंधों में सुधार की दिशा में परिवर्तन हुए तथा उन दोनों ने पांड्यों के आक्रमण का विरोध करने के लिए संधि भी कर ली थी। जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम द्वारा जीते गए शत्रुओं में सेउणों के संदर्भ में क्षेम अथवा क्षेमासुर नामक राजा का उल्लेख किया गया है।[98] इस राजा की तादात्म्यता अत्यंत संदेह का विषय है। तिरुपति के एक मंदिर के खंडित अभिलेख में 'गणपति-क्षेमासुर' के प्रयोग के आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि वह उसी नाम के काकतीय नरेश के अतिरिक्त और कोई न था।[99] क्षण भर के लिए इस तादात्म्यता की तर्कपूर्णता को स्वीकार करते हुए यह सुझाव दिया जा सकता है कि जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम के शासनकाल के प्रारंभिक वर्षों में पांड्य शक्ति के विस्तार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को रोकने के लिए गणपति एवं सेउणों ने संयुक्त मोर्चा बनाया था। यह तनिक भी असंभव नहीं, क्योंकि कुछ वर्ष बाद, जब 1263 ई० में पांड्य नरेश ने नेल्लोर पर आक्रमण किया तो उसने अपने विरुद्ध तेलुगु चोड, काकतीय एवं आर्य (अर्थात सेउण) नरेशों की सेनाओं को मुत्तुकूर के रणक्षेत्र में खड़ा पाया था।[100]

गणपति एवं पांड्य : नेल्लोर के तेलुगु चोल नरेशों से अपनी मैत्री के कारण गणपति को मदुरा के पांड्यों से युद्धरत होना पड़ा। पांड्यों ने प्रसिद्ध जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम के योग्य नेतृत्व में 1251 एवं 1257 ई० के बीच संपूर्ण दक्षिणी भारत को जीत लिया तथा उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। चुंकि नेल्लोर के तेलुगु चोल शासक, नाम मात्र के लिए ही, चोल सम्राट के अधीन थे; अतः उनके प्रभुत्व को उखाड़ने वाले पांड्यों का विचार था कि उसके राजनीतिक उत्तराधिकारियों के रूप में उन्हें तेलुगु चोल क्षेत्रों को भी अपने आधिपत्य में लेना चाहिए। तिक्क के बाद आनेवाले दो तेलुगु चोल प्रमुखों में से, बीर गंडगोपाल के नाम से भी ज्ञात उसका पुत्र मनुम सिद्धि द्वितीय उत्तरी अथवा तेलुगु जिलों पर राज्य करता था, जबकि दक्षिणी अर्थात तमिल जिलों पर विजय गंडगोपाल का शासन था। पांड्य साम्राज्य से उसके क्षेत्रों की निकटता के कारण तथा कोप्पेरुंजिग नामक दुर्जेय काडव प्रमुख से उसकी संधि के कारण भी, विजय गंडगोपाल ही पांड्यों के प्रथम आक्रमण का स्वाभाविक लक्ष्य बना। पांड्य आक्रमणों से अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए विजय गंडगोपाल ने जो कदम उठाए थे, वे ज्ञात नहीं हैं। अंततः उसे पांड्यों की श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति के सामने समर्पण करना पड़ा था उनकी प्रभुसत्ता को भी स्वीकार करना पड़ा। जटावर्मन वीर पांड्य के 1260 ई० के कांची अभिलेख से पता चलता है कि उस समय तक पांड्यों ने उसके विरोध पर काबू पा लिया था तथा उसकी राजधानी में प्रवेश कर लिया था।[101] फिर उन्होंने अपना ध्यान नेल्लोर की ओर लगाया किंतु उसकी विजय इतनी सुगमता से प्राप्त हुई, क्योंकि उसको अधिकार में लाने के प्रयास में उत्तरी शक्तियों से उनका युद्ध छिड़ गया खासकर काकतीय नरेश से जिससे वीर गंडगोपाल की, जो मनुम सिद्ध द्वितीय के नाम से भी जाना जाता था, मैत्री थी। अपने क्षेत्रों पर तात्कालिक पांड्य आक्रमण से आशंकित होकर उसने काकतीय, सेउण एवं बाण शासकों से सहायता मांगी। विकेंद्रीकरण के जरिए शत्रु की सेना को कमजोर करने के लिए पांड्यों ने अधिकांशतया सामंतीय सेनाओं से युक्त एक अभियान काकतीय सम्राज्य में भेजा। काकयीय सम्राज्यों के मध्यवर्ती त्रिपुरांतकं में मिले, पांड्यों द्वारा सामंत बनाए गए राजेंद्र चोल तृतीय, कोप्पेरुंजिग एवं विजय गंडगोपाल के अभिलेखों से स्पष्ट है कि इन प्रमुखों ने भी अभियान में भाग लिया था।[102] कोप्पेरुंजिग, जिसने संभवतया पांड्या सेना की अग्रिम पंक्ति का नेतृत्व किया था, पूर्वी गोदावरी जिले में दाक्षारामं तक पहुंच गया, क्यों कि कह काकतीय नरेश के शत्रु अर्थात कलिंग के राजा से संपर्क स्थापित करना चाहता था।[103] किंतु वह गणपति के हाथों पराजित हुआ था उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार करने पर बाध्य हुआ।[104] स्पष्टतया इस पराजय के बाद ही, जब कोप्पेरुंजिग ने गणपति को अपनी राज्यास्था प्रस्तुत की, गणपति ने उसे 'वीर-पाद्मुद्र' अर्थात योद्धाओं का नूपुर की उपाधि से सम्मानित किया।[105] राजेंद्र चोल तृतीय एवं विजय गंडगोपाल शीघ्र ही अपने प्रदेशों की ओर वापस भाग गए। वे सम्भवतया कायस्थ प्रमुख जन्निगदेव के नेतृत्व में काकतीय सामंतों की सेना के विरुद्ध लड़ते हुए पराजित हुए थे। संभवतया इसी कारणवश विक्रमा पांड्य ने काकतीय सामाज्य पर आक्रमण करने का विचार छोड़ दिया, हालांकि वह स्वयं इसका कारण, गणपति पर आक्रमण करने की अनिच्छा बताता है जिसकी आकृति पर दो मछलियों (पाण्ड्य राज्य का चिह्न) की प्रतिकृति थी; साथ ही उस राज्य पर मनुष्य के नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से एक स्त्री शासन कर रही थी ।[106]

उधर उत्तर में कोप्पेरुंजिग के नेतृत्व में भेजा गया अभियान अग्रसर होता रहा, और इधर मुख्य पांड्य सेना तट के साथ साथ नेल्लोर की ओर बढ़ी । इस पांड्य सेना का नेतृत्व कम से कम उनके तीन राजा कर रहे थे जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम, भुवनैकवीर विक्रम पांड्य एवं जटावर्मन वीर पांड्य । संपूर्ण विरोध को काबू कर वे मत्तुकूर पहुंच गए, जो नगर से 13 मील पूर्व में समुद्र के निकट स्थित ग्राम था । यहां पर 1263 ई० में हुए भयंकर युद्ध में वीर गंडगोपाल मारा गया तथा उसके मित्र बुरी तरह से पराजित हुए और पोरारु (कृष्णानदी) की ओर वापस लौट गए । अपनी बापसी के दौरान काकतीय एवं सेउण सेनाओं को भारी क्षति उठानी पड़ी । समकालीन पांड्य अभिलेखों के अनुसार, पोरारु के तट तक फैले हुए संपूर्ण प्रदेश पर उन्हीं की लाशें बिखरी हुई थीं तथा बाण नरेश ने भागकर जंगल में शरण ली ।[107] इस विजय के परिणामस्वरूप नेल्लोर का तेलुगु चोल राज्य, पांड्य राज्य में मिला लिया गया था । किंतु उसके प्रशासन का कार्य, वीर गंडगोपाल के भाइयों को सौंप दिया था, जिन्हें स्पष्ट रूप से पांड्यों के सामंतों के रूप में शासन करने पर बाध्य किया गया ।[108] अपनी विजय के उपलक्ष में जटार्वमन सुंदर पांड्य ने 'वीराभिषेक' अर्थात विजयी योद्धा का अभिषेक संपन्न किया । यह नेल्लोर एवं कांची में किया गया था, जो नेल्लोर राज्य की वैकल्पिक राजधानियां थीं ।[109] उसने एक सिक्का भी जारी किया, जिसके पृष्ठ भाग पर दंड से अलग की गई दो मछलियों वाला पांड्य राजचिह्न एवं तामिल में सुंदर पांड्य अंकित था । उसके सम्मुख पक्ष पर सूर्य एवं अर्द्धमंडलाकार चंद्र के चिह्न के नीचे, दाईं ओर मुख किए हुए काकतीय जंगली सूअर प्रदर्शित किया गया था ।[110]

अंतर्राज्यीय संबंध : गणपति के कुछ अभिलेखों में उसे अन्य कई प्रदेशों के राजाओं पर विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया जाता है । उदाहरणार्थ, जायप के चेब्रोलु अभिलेख में कहा गया है कि माद्र नरेश, पांचाल, विदेह, हम्मीर, हूण एवं काशी के नरेश भी उसके द्वार पर प्रार्थी बने रहे ।[111] इसी प्रकार पाखल अभिलेख में कहा गया है कि प्रत्येक सभा में उसके भाट, उसके सामने काशी के स्वामी, कलिंग एवं शक नरेश, केरल के शासक, 'तुम्माण के (राजा) हूण नरेश' कुरु प्रदेश के कुमार अरिमर्द के स्वामी, मागधों के शासक तथा नेपाल एवं चोल सम्राटों' के नाम पुकारता था तथा उन सभी को उसके सम्मुख प्रस्तुत करता था ।[112] कलिंग एवं चोल प्रदेश के शासकों से गणपति के संबंधों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है । अन्य राज्यों में से, माद्र पांचाल, विदेह, 'काशी, मगध, कुरु एलं नेपाल उत्तर में स्थित थे तथा, नेपाल को छोड़कर, सभी राज्य गणपति के शासनकाल से बहुत पहले ही लुप्त हो चुके थे, क्योंकि उस समय संपूर्ण उत्तरी भारत दिल्ली के मुसलमान सुल्तानों के अधीन था । शक राज्य जो प्राचीन भारत में पश्चिमी भारत तक सीमित था, चौथी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में ही गुप्त सम्राट, चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा नष्ट कर दिया गया था तथा पांचवी शताब्दी के आरंभ में यशोवर्मन एवं नरसिंह गुप्त बालादित्य ने हूणों को गहरी शिकस्त दी थी । इसके पश्चात भारत के किसी भी भाग में शकों अथवा हूणों के शासन के चिह्न नहीं मिलते । अतः गणपति को प्रणाम करने के लिए आने वाले राजाओं में इन प्रदेशों के शासकों को सम्मिलित किए जाने का कारण, वह साहित्यिक परंपरा थी, जो उस काल के 'प्रशस्ति', लेखकों में अत्यंत लोकप्रिय थी । इस सूचना की गंभीर विवेचना अनावश्यक है । तुम्माण मध्य प्रदेश में स्थित था, जो तेलिंगाना से लगा हुआ था । केरल, पश्चिमी तट पर सुदूर दक्षिण में स्थित था । अरिमर्द को बर्मा के तट पर स्थित पेगु माना गया है । यह असंभव नहीं है कि गणपति ने इन प्रदेशों के शासकों से मैत्रीपूर्ण अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य प्रकार के संबंध स्थापित किए हों। सेउणों के अभिलेखों में भी सिंहण के विरोधियों के रूह में वर्णित हम्मीरों के संबंध से कुछ ज्ञात नहीं है, हालांकि कुछ इतिहासकारों ने उनकी तादात्म्यता मुसलमानों से स्थापित की।[113] किंतु यह विचार अत्यंत अपर्याप्त प्रमाणों पर आधारित है।

गणपति की उपलब्धियां : काकतीय सम्राटों में गणपति सर्वाधिक शक्तिशाली था। यद्यपि अपने 63 वर्षीय दीर्घ शासनकाल में वह निरंतर युद्ध करता रहा, किंतु 1263 ई० के पांड्य आक्रमण को छोडकर, वह इक्के दुक्के अवसर पर ही पराजित हुआ। उसके राज्यारोहण के समय आंध्र राज्य में पूर्ण राजनीतिक अव्यवस्था थी। चालुक्य-चोलों एवं कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति का अंत हो चुका था तथा उनके पीछे छोटे बड़े अनेक सामंतीय राज्य रह गए थे जो प्रभुसत्ता संघर्ष में रत थे। राज्य की राजनीतिक एकता को स्थापित करना उसका लक्ष्य था तथा बहुत दूर तक वह इसउद्देश्य को प्राप्त करने में सफल भी हुआ।

गणपति कुशल प्रशासक था। उसने सामान्यतया व्यापार एवं उद्योगों ओर विशेषरूप से कृषि को बढ़ाने के लिए कदम उठाए। मोटुपल्लि के आसपास के क्षेत्र पर शासन करने वाले छोटे छोटे प्रमुख उस बंदरगाह पर आनेवाले विदेशी व्यापारियों को डरा कर भगा देते थे। इन प्रमुखों ने आयात एवं निर्यात पर भारी शुल्क लगा दिए थे तथा वे तट पर रखी वस्तुओं को जब्त कर लेते थे। गणपति ने जबरदस्ती की गई इस वसूली का अंत किया। बंदरगाह पर व्यापार के लिए आनेवाले व्यापारियों को रियायतें देकर तथा उनके जानमाल की सुरक्षा के लिए कदम उठाकर, उसने उन्हें अपने राज्य की ओर आकर्षित किया। इस नीति के परिणामस्वरूप राज्य की आर्थिक समृद्धि अत्यंत शीघ्रता से बढ़ी तथा व्यापार एवं उद्योगों के विस्तार एवं समृद्धि से शहर और नगर भी धनी हुए।

राज्य के असैनिक प्रशासन की एक महत्वपूर्ण घटना यह थी कि अनमकोंड के बदले वारंगल राजधानी बनी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नई राजधानी की नींव गणपति के चाचा रुद्रदेव ने अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में रखी थी। गणपति ने उसके कार्य को जारी रखा तथा एक के अंदर एक करके दो दुर्ग बनवाए, जो क्रमशः पत्थर एवं गीली मिट्टी से बने थे। यदि हम परंपरा पर विश्वास करें तो यह कह सकते हैं कि नवीन दुर्ग में 75 बुर्ज थे जिनमें से प्रत्येक की रक्षा राजा की सेवा में लगा हुआ 'नायक' करता था।

गणपति का परिवार : गणपति का कोई पुत्र न था। हां उसकी दो पुत्रियां थीं। बडी का नाम रुद्रांबा अथवा रुद्रम देवी तथा छोटी का नाम गणपांबाअथवा गणपमदेवी था। रुद्रांबा का विवाह पूर्वी चालुक्यवंश के वीरभद्र से तथा गणपांबा का विवाह कोट वंश के बेत से हुआ था। गणपति ने अपनी बड़ी पुत्री रुद्रांबा को ही अपना उत्तराधिकारी चुना, पुत्र मानकर उसका नाम रुद्रदेव रखा तथा 1260 ई० में अथवा उससे कुछ पहले उसे अपना सहशासक भी बनाया।

गणपति के सामंत, सेनापति एवं मंत्री : अपने युद्धों तथा साम्राज्य के प्रशासन में गणपति को अनेक सामंतों सेनापतियों, मंत्रियों एवं अधिकारियों से सहायता मिलती थी। चाहे वे किसी भी श्रेणी के हों, उन सभी को सेना में भी सेवा करनी पड़ती थी क्योंकि जन सेवाएं भी सैनिक आधार पर ही संगठित की गई थीं।अतः सैनिक एवं असैनिक का अंतर बताना संभव नहीं है क्योंकि उस समय ऐसा अंतर था ही नहीं। मोटे तौर पर सामंतों को पुराने एवं नए दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—रेचेर्ल एवं मल्याल वंशी काकतीयों के प्राचीनतम सामन्त थे। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, आरंभ से ही उनका भाग्य काकतीय नरेशों के भाग्य से जुड़ा हुआ था। रेचेर्ल वंश के सर्वोच्च रुद्र ने गणपति के शासन काल के आरंभिक वर्षों के काकतीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मामलों में महत्वपूर्ण भाग लिया तथा वास्तव में उसे नष्ट होने से बचाया। जब सेउणों के विरुद्ध युद्धों में काकति रुद्र तथा उसका भाई महादेव दोनों गए और गणपति को देवगिरी में बंदी बना लिया तो सामंतों ने विद्रोह कर दिया तथा सीमा पार के आक्रमकों ने राज्य पर आक्रमण कर दिया। ऐसी परिस्थिति में भी रुद्र निष्ठावान बना रहा तथा साम्राज्य की अखंडता को सुरक्षित रखने का कार्य भी उसने अपने ऊपर लिया। उसने विदेशी आक्रामकों को बाहर निकाला, दृढ़तापूर्वक सामंतों का दमन किया तथा देवगिरी के कारागार से अपने युवा मालिक की वापसी तक राज्य पर शासन किया।[114] उसकी सेनाओं के नेता राजनायक ने कलिंग में काकतीय सेना का साथ दिया। जब वेलनाटि नरेश पृथ्वीश्वर की मृत्यु के पश्चात गणपति ने 1212 ई० में उस प्रदेश पर आक्रमण किया तो राजनायक ने भी अनेक रणक्षेत्रों में विशिष्ट सेवा प्रदान की।[115] यद्यपि रेचेर्रल वंश के अन्य अनेक सदस्यों का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है, किंतु उनके विशेष वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य के मामलों में उनका कोई विशेष हाथ न था। मल्यालवंश के प्रमुखों में कोटविजेता काट के पुत्र, चौड का विशेष उल्लेख होना चाहिए क्योंकि उसने वेलनाटि शासक पृथ्वीश्वर के विरुद्ध गणपति के आरंम्भिक युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया था। अभिलेखों में उसके नाम से संलग्न 'द्वीपि-लुंताक' 'एवं दीवि-चूर्रकार' की उपाधियों से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि उसने अय्य वंश को उखाड़ने तथा कृष्णा नदी के मुहाने के तट पर स्थित दीवि के अधिकरण में सक्रिय भाग लिया था।[116]

द्वितीय श्रेणी के सामंत, गणपति काल के दौरान ही काकतीय शासन के अधीन हुए थे। इनमें से दीवि के अय्य प्रमुख सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। यह रमरणीय है कि गणपति ने लगभग 1202 ई० में अय्य वंश को जीता था। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसने पिन चोडि की दो पुत्रियों नांरमबा एवं पेरमांबा से विवाह किया तथा उस प्रमुख के तीन पुत्रों में से जायप को अपनी सेवा के लिया।[117] जायप विशिय्टता प्राप्त सैनिक था, जिसे युद्ध के हाथियों के प्रशिक्षण तथा रणक्षेत्र में उनके प्रयोग की देख भाल करने में विशेष दक्षता प्राप्त थी। वह गणपति का 'गज साहिणि' बना तथा उसके युद्धों में, विशेषतया उसके कलिंग अभियान में, उसने महत्वपूर्ण सेवा की। जायप कला प्रेमी तथा प्रसिद्ध विद्वान था। उसने नृत्य एवं नृत्य संरचना से संबंधित ग्रंथ 'नृत्तरत्नावली' की रचना की जो दक्ष लेखकों द्वारा इस विषय पर किसी भी भारतीय लेखक द्वारा रचित सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। किंतु गणपति के सर्वाधिक महत्वपूणं एवं शक्तिशाली सामंत तेलुगु चोल वंश की विभिन्न शाखाओं के थे। इनमें से नेल्लोर के तेलुगु चोलों पर पहले ध्यान केंद्रित करना चाहिए। उन्हें सामंतों की अपेक्षा सहायक मित्र समझना चाहिए। तिक्क एवं मनुम सिद्धि द्वितीय ने, गणपति के दक्षिणी युद्धों में जो भाग लिया उसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। वर्तमान संदर्भ में उनकी गतिविधियों के पुनःउल्लेख की आवश्यकता नहीं है। महत्ता की दृष्टि से इस वंश की ऐर्रुव एवं पोत्तपि शाखाओं का नाम ठीक बाद में आता है। निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि इन पर कब और कैसे आधिपत्य स्थापित हुआ, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वेलनाडुओं के उखाड़े जाने के तुरंत बाद ही ऐर्रुव प्रमुख भी काकतीय शक्ति के अधीन आ गए थे। चूंकि यह कहा जाता है कि पृथ्वीश्वर के विरुद्ध गणपति के अंतिम युद्ध में भाग लेने वाले चोड तिक्क मे ऐर्रुव के मन्निय प्रमुखों को उस राजा के शासनकाल के आरंभिक वर्षो में जीता था; अतः यह असंभव नहीं कि वास्तव में तिक्क ने इस प्रदेश की विजय का कार्य अपने मित्र के कहने पर ही किया होगा। चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित ही प्रतीत होता है कि विजय 1212 ई० में गणपति के कलिंग आक्रमण से पहले हुई

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगी क्योंकि जैसा कि ऊपर वर्णन कर चुके हैं, ऐर्रुव भीम ने, जो अपने प्रदेश के अधिकरण के पश्चात ही काकतीय सम्राट की सेवा में लगा होगा, इसमें सक्रिय भाग लिया था। पोत्तपि के तेलुगु चोल भी लगभग इसी समय सथवा इसके कुछ समय बाद ही काकतीय शासन के अंतर्गत आ गए थे। इस वंश के ओपिलि सिद्धि ने, अपने मालिक गणपतिदेव के कहने पर, कोणिदेन के तेलुगु चोल शासक मल्लिदेव को पराजित किया, कम्म-नाडु को जीता अपनी सेवाओं के बदले उसे पुरस्कार स्वरूप छः हजारी प्रदेश का अधिकार दिया गया।[118] लगभग इसी समय अद्दंकि के चक्रनारायण कुमारों को भी समर्पण करने पर बाध्य किया गया। इस वंश के महामंडलेश्वर माधव महाराज को जो 1208-9 ई० में स्वतंत्र प्रमुख के रूप में शासन कर रहा था, उसीके पुत्र शारंगधरदेव के 1254-5 ई० के अभिलेख में काकति गणपतिदेव का सामंत बताया गया है।[119] 1239-40 ई० में इस क्षेत्र में कोई मादेव अथवा माधव नायक, गणपति के सहायक के रूप में शासन कर रहा था। उसकी तादात्म्यता इसी महामंडलेश्वर माधव महाराज से स्थापित की गई है।[120] यदि तादात्म्यता स्वीकार कर ली जाती है तो उससे शारंगदेव के अभिलेख की पुष्टि होगी, जिसमें यह कहा गया है कि माधव वास्तव में गणपति का ही सामंत था। उसके पश्चात उसके दो पुत्रों, सिंघलदेव एवं शारंगधरदेव का उल्लेख है, जिन्होंने 1257 ई० तक संयुक्त रूप से गणपति के सहायक के रूप में अपने प्रदेश पर शासन किया।[121]आधुनिक लेखकों ने चक्रनारायण वंश को देवगिरि के सेउण वंश की शाखा मान कर गलती है। इस विचार के समर्थन के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। हालांकि माधव महाराज एवं उसके वंशज शालंकायन गोत्र अथवा जाति के थे फिर भी यह असंभव नहीं कि उनका उस शालंकायन वंश से दूर का संबंध था जिसका ईसा की चौथी और पांचवी शताब्दियों में तटीय आंध्र प्रदेश पर शासन था। वास्तव में गणपति के अभिलेखों में पूर्वी चालुक्य उत्पत्ति के कुछ प्रमुखों का उल्लेख मिलता है, किंतु उनके संबंध में कोई महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात नहीं है, हालांकि गणपति की पुत्री रुद्रांबा का विवाह इसी वंश के एक सदस्य वीरभद्र से हुआ था।[122] इस वंश के एक अन्य सदस्य भीमराजु ने गणपति के दक्षिणी अभियान में सक्रिय भाग लिया था। इसी ने 1257 ई० त्रिपुरांतक महादेव मंदिर को ग्राम-दान किया था। उसकी 'द्रविड़ भयज्वर', 'कर्णाट-मांडलिक-वैरिगोधुम-धट्टन-धरट्ट,' एवं 'बल्लाडराय-दिशापट्ट', उपाधियों से स्पष्ट है कि उसने 1249 ई० में सामंत भोज के अभियान में भाग लिया था।[123] एक अन्य चालुक्य प्रमुख जिसका नाम दुर्भाग्यवश प्राप्य नहीं है, 'सकल-सेनाधिपति' (सभी सेनाओं का सेनापति) एवं 'पट्टसाहिणि' पदों पर आसीन था। वह गोदावरी तट पर होने वाले युद्ध का गांडीव (अर्जुन) होने का दावा करता है तथा यह भी कहता है कि उसने वहां पर गोंटूरि नागदेव का सिर काटा था।[124] जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नागदेव संभवतः पूर्वी गंग नरेश नरसिंह प्रथम का मित्र था।

गणपति की सेवा में लगे हुए अनेक सेनाध्यक्षों के नाम, उसके शासनकालीन अभिलेखों में दर्ज हैं। किंतु, क्योंकि उनके जीवन अथवा अपने मालिक के युद्धों में उनकी भूमिका के संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं है, अतः उनमें से अधिकांश का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। किंतु कुछ अपवादों का उल्लेख तो करना ही चाहिए। दोची वंश के सामंत भोज ने 1249 ई० में गणपति के दक्षिणी अभियान के दौरान काकतीय सेनाओं का नेतृत्व किया था। उसने दक्षिणी शासकों को पराजित किया और कांची नगर को जीता, चहां पर उसने नेल्लोर के तेलुगु चोल नरेश के अधिकार को पुनः स्थापित किया।[125] यह असंभव नहीं कि उसने कलुकड प्रमुख रक्कस गंग को उखाड़ने में मनुम सिद्धि द्वितीय एवं गंगय साहिणि की भी सहायता की थी। भास्कर अथवा भास्करदेव एवं प्रोल रौतु की भी चर्चा आवश्यक है। भास्कर हाथियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की सेना का सेनापति था तथा प्रोलु 'तंत्रपाल' अर्थात युद्ध मंत्री के पद पर अधीन था।[126] राजा के मंत्रियों में, इंदुलूरि वंश का सोमय सर्वाधिक प्रसिद्ध था। यद्यपि वह जन्म से ब्राह्मण था तथा दरबार में महाप्रधान कहलाता था, फिर भी अपने वर्ग के अनेक लोगों की भांति, उसने भी सैनिक जीवन अपनाया तथा केवल अपने गुणों के कारण ही अपने मालिक की सेवा में सर्व-अग्रणी सेनापतियों के स्थान पर पहुंच गया था। यदि हम 'शिवयोगसार' के प्रमाण पर विश्वास करें, तो कह सकते हैं कि उसने 1212 ई० कलिंग में काकतीय आक्रामक सेना का निर्देशन किया। इस अभियान में उसने संपूर्ण प्रदेश पर अतिक्रमण किया तथा कोलनु प्रमुखों के अधिकार को नष्ट करके वेंगि पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसकी श्रेयस्कर सेवाओं के बदले गणपति ने उसे 'कोलनि-सोम' की उपाधि से विभूषित किया। इस राजा का अन्य महाप्रधान प्रोल भीम नायक था, जो अनेक विशिष्ट उपाधियां धारण किए हुए था। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपाधियां थी–'आरुवेल-दूषक' (आरुवेलु अर्थात वेलनाडु छः हजारी प्रदेश का नाशक), 'सूर्यवंश-प्रतिष्ठाचार्य' (राजाओं के सूर्यवंश का संस्थापक) एवं 'कांची-चूर्रकार' (कांची को लूटने वाला)। चूंकि यह महाप्रधान 1213 ई० में मर गया था; अतः हम यह मान सकते हैं कि उसने वेलनाडु के पृथ्वीश्वर के विरुद्ध गणपति के अंतिम युद्ध में सेवा की थी, जिसमें उसने नेल्लोर के चोड तिक्क को उसके पैतृक राज्य पर पुनः स्थापित किया तथा इस कुमार को, उसके शत्रुओं से कांची नगर को पुनः जीतने में सहायता भी प्रदान की।[127] मुसुंडुरि-अन्वय के मुचेनायक ने भी कांची को पुनः जीतने में प्रोल भीम नायक की सहायता की थी। मुचे नायक पेनुंगल वंश एवं मनुम कुल का था। वह 'कोटगुलुव' का 'अंधकार' तथा 'कांचीपुर' निर्जित-जयांगनवल्लभ' अर्थात कांची नगर को जीतने से नारी विजय का स्वामी भी था।[128] पोतन, कुचेन प्रेग्गेड, एवं कोंडय प्रेग्गड—ये सभी प्रधान थे।[129] अधिकारियों के सोपान में, 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' के रूप में पद धारण करने वाले गंगय साहिणि की स्थिति को निर्धारित करना आसान नहीं है। उसकी सरकारी पदवी के अत्यंत शाब्दिक निर्वचन के अनुसार वह शाही सेवाओं के 72 वर्गों का अध्यक्ष होगा, जिसके अंतर्गत 'सेनाध्यक्ष', 'महाप्रधान' प्रधान आदि भी सम्मिलित थे। किंतु यह निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता कि गणपति के दरबार में वास्तव में इतने ऊंचे पद पर आसीन था। इस विषय से संबंधित सामग्री अत्यंत अपर्याप्त एवं खंडित है। 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' के रूप में अपनी स्थिति के अतिरिक्त, गंगय साहिणि एक विशिष्ट सैनिक अधिकारी भी था। वह संभवतया काकतीय अश्वारोहियों का अध्यक्ष था, क्योंकि एक त्रिपुरांतक अभिलेख में उसे 'तुरग-साधनिक' कहा गया है।[130] गंगय साहिणि का आरंभिक इतिहास अस्पष्ट है। औगूरु की कैफियत के अनुसार वह मूलतः नेल्लोर के चोड तिक्क की सेवा में था, जिसने उसे पूर्वीघाट के निकट के अपने प्रदेशों का गवर्नर नियुक्त किया था।[131] 1248 ई० में अपने मालिक की मृत्यु पर कलुकड प्रमुख रक्कस गंग ने उस पर आक्रमण किया तथा उसे निर्वासित कर दिया। इसके पश्चात ही, 1220 ई० में उसने गणपति की सेवा में प्रवेश किया। इसमें संभवतया उसे अपने भ्रातृतुल्य संबंधी अंबदेव की सहायता प्राप्त हुई थी। 1253 ई० से कुछ पहले वह अपने राज्य को पुनः जीतने में सफल हो गया था। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गणपति ने उसे 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' के पद पर नियुक्त किया, और प्राचीन हैदराबाद राज्य के नलगोंड जिले में पानुगल से लेकर मैसूर राज्य के कोलार जिले में कैवारं के दुर्ग तक का विस्तृत क्षेत्र उसे प्रदान किया। गंगय ने इस प्रदेश पर वल्लूरुपट्टन से शासन किया, जो आंध्र राज्य के कुड्डपह जिले में स्थित था।[132] यहां पर यह द्रष्टव्य है कि गणपति द्वारा गंगय साहिणि को जागीर के रूप में दिया गया यही प्रदेश, वल्लूर के अल्पकालीन कायस्थ साम्राज्य का केंद्र बना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह साम्राज्य उसके उत्तराधिकारियों के काल में अत्यंत शक्तिशाली सिद्ध हुआ। उसके अभिलेखों में गंगय साहिणि को अनेक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला बताया गया है। किंतु, हमें इनके नामों से अधिक कुछ ज्ञात नहीं। आठ वर्ष तक गणपति की सेवा करने के पश्चात 1267 ई० में गंगय साहिणि मर गया। चूंकि उसकी कोई सन्तान न थी, अतः उसका भांजा जन्निदेव ही उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह गंगय की छोटी बहन चंदलदेवी का पुत्र था। गंगय साहिणि की सेवा में नामदेव पंडित नामक एक योग्य मंत्री था' जिसने उसके प्रशासन में सहायता दी थी। गणदति की उस पर कृपा दृष्टि थी। और उसने उसे 'मूरुराय-जगदल' का ध्वज एवं 'चलर्मति-गंड' की उपाधि प्रदान की।[133]

रुद्रदेवी
(1259-95 ई०)

यह स्मरणीय है कि रुद्रदेवी रुद्रांबा ने जिसे उसके पिता गणपतिदेव ने सिंहासन का उत्तराधिकारी चुना था, सिंहासन पर उसके साथ ही शक सं० 1182 (1259-60 ई०) से शासन करना आरंभ कर दिया था।[134] वह रुद्रदेव महाराज के नाम से शासन करती थी। अपने पिता के साथ संयुक्त शासन के पहले दो या तीन वर्षों के दौरान जब उसे, सरकार के रहस्यों की दीक्षा दी जा रही थी तो जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पांड्य आक्रमण और मुत्तुकूर के रणक्षेत्र में हुई घातक पराजय के कारण राज्य में अराजकता एवं अव्यवस्था फैली हुई थी। यद्यपि, जैसा हम जानते हैं, गणपति अंत में पांड्य सेना को हराने में सफल हो गया था, जो उत्तर में कृष्णा नदी के तट तक घुस आई थी; फिर भी आक्रमण के बहाव को रोकने में ही उसने पर्याप्त क्षेत्र खो दिया तथा सामंतों एवं कुलीनों के ऊपर उसका नियंत्रण भी काफी ढीला हो गया था। इसके परिणामस्वरूप वे और अधिक शक्तिशाली हो गए तथा उनमें केंद्रीय शासन के उल्लेख के बिना ही, स्वतंत्र रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं को नवीन स्थिति का सामना करने के लिए अत्यंत वृद्ध एवं क्षीण जानकर, गणपति ने लगभग इसी समय सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया तथा सरकार को पूर्ण रूप से अपनी पुत्री एवं उसके परामर्शदाताओं के हाथों में छोड़कर स्वयं पृष्ठभूमि में चला गया।

किंतु जैसा साधारणतया माना जाता है, राजा अपने संन्यास के तुरंत बाद ही मरा नहीं था। यद्यपि वह साम्राज्य के मामलों में अधिक भाग नहीं लेता था, फिर भी यह विश्वासयोग्य है कि वह कम से कम 1269-70 ई० तक जीवित था। इस संदर्भ में दो अभिलेखों का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। शक 1188 क्षय (1266 ई०) के एक त्रिपुरांतकं अभिलेख में दानी तम्मिराज के सामंतीय स्वामी पेद्द मल्लय प्रेग्गड को गणपति देव महाराज का 'महाप्रधान' एवं सहायक कहा गया है।[135] अतः यह स्पष्ट है कि गणपति उस समय भी जीवित था, अन्यथा अभिलेख का दाता शासक रुद्रमदेवी के नाम को भूल कर, अपने स्वामी को गणपतिदेव का 'महाप्रधान' न बताता। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अभिलेख, कायस्थ प्रमुख जन्निगदेव का है, जो शक सं० 1191 शुक्ल (1269 ई०) का है और गुंटूर जिले पल्नाड 'तालुक' में दुग्गि के स्थान पर प्राप्त हुआ था। इस अभिलेख में रुद्रमदेवी को औपचारिक रूप से राजकीय प्रभुसत्ता प्राप्त रानी नहीं, अपितु गणपतिदेव महाराज की 'पट्टोद्धति' बताया गया है[136] 'पट्टोद्धति' शब्द से जो स्पष्ट रूप से 'पट्टोद्धृति' ('पट्ट, राजत्व, एवं उद्-धृति' चुनी हुई) शब्द के लिए लिपिक की भूल है, पता चलता है कि उस समय भी रुद्रमदेवी केवल भावी रानी थी, न कि औपचारिक रूप से अभिषिक्त साम्राज्ञी। इससे दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं: (1) गण ति शक सं०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1191 (1269 ई०) तक जीवित था और (2) उस वर्ष तक काकतीय साम्राज्य की रानी के रूप में रुद्रमदेवी का अभिषेक नहीं हुआ था। वास्तव में राज्य की राजनीतिक स्थिति संकटमय थी; आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही खतरों ने साम्राज्य की स्थिरता के लिए संकट उत्पन्न कर दिया था।

अपने उत्तराधिकारी के रूप में गणपतिदेव द्वारा किए गए रुद्रांबा के चुनाव तथा अपने सहशासक के रूप में उसकी नियुक्ति को सामान्य समर्थन प्राप्त न था। राज्य के कुछ सामंतों ने, जो स्त्री को अपनी राज्यास्था देने एवं उसके प्रभुत्व के प्रति समर्पण करने के इच्छुक न थे, उसके विरुद्ध हथियार उठा लिए तथा उसकी प्रभुसत्ता को उखाड़ने के लिए प्रयत्न करने लगे। 'प्रतापचरित्र' के अनुसार शाही परिवार के कुछ अन्य सदस्यों ने भी सिंहासन प्राप्त करने का प्रयास किया। यह कहा गया है कि गणपतिदेव की दूसरी रानी से, जो रुद्रांबा की मां न थी, उत्पन्न दो पुत्रों, हरिहरदेव एवं मुरारिदेव ने अपने अनुयायियों को संगठित किया, वारंगल को जीता तथा रुद्रांबा को राजधानी से निकाल दिया। किंतु उसके पास शक्तिशाली समर्थक थे, जिन्होंने उसका साथ दिया तथा विद्रोहियों को दृढ़तापूर्वक दबाने में उसकी सहायता की। एक बड़ी सेना का नेतृत्व करते हुए वह द्रुत गति से राजधानी की ओर बढ़ गई। उसने नागरिकों को उसका साथ देने तथा उसके शत्रुओं का साथ छोड़ने के लिए मना लिया। उनकी सहायता से वह सुगमतापूर्वक दुर्ग में प्रवेश पा गई तथा उसने अपने हाथों अपने सौतेले भाइयों को मौत के घाट उतार दिया।[137] किंतु इस वर्णन की पुष्टि अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होती है। 'प्रतापचरित्र' के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर गणपतिदेव के पुत्रों अर्थात हरिहरदेव एवं मुरारिदेव का उल्लेख नहीं मिलता, हालांकि इस काल से संबंधित अनेक अभिलेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं। अतः विश्वसनीय एवं पुष्ट प्रमाणों की अनुपस्थिति में हरिहरदेव एवं मुरारिदेव की कथा को कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। किंतु यह असंभव नहीं कि इस वर्णन में रुद्रांबा के अधिकार के विरुद्ध विद्रोह की स्मृति निहित हो।। अधिकांश सामंत, सेनापति एवं अधिकारी रानी के प्रति दृढ़तापूर्वक निष्ठावान बने रहे। कायस्थ प्रमुख जन्निगदेव एवं उसके छोटे भाइयों त्रिपुरारि एवं अंबदेव, रेचेर्रल वंश के प्रसादित्य तथा गोन गन्नय रेड्डि जैसे कुछ रेड्डि प्रमुखों ने भी उसी के हित का समर्थन किया तथा विद्रोहियों को हराने में उसकी सहायता की। 'वेलुगोटिवारिवंशावलि' के अनुसार विद्रोहियों के विरुद्ध रुद्रांबा की विजय का एकमात्र कारण था, रेचर्रल प्रसादित्य की अटल स्वामिभक्ति तथा सैनिक शक्ति। कहा जाता है कि रानी के शत्रुओं को नष्ट करके उसने रानी का अभिषेक करवाया तथा स्वयं 'काकतीय-राज्य-स्थापनाचार्य' एवं 'राय-पितामहांक' जैसी गौरवपूर्ण उपाधियां धारण कीं।

'वेलुगोटिवारि-वंशावलि', जो वास्तव जो रेचर्रल प्रमुखों के वंश का ही वृत्तांत है, विद्रोहियों के दमन का पूर्ण श्रेय प्रसादित्य को देती है तथा अन्य लोगों के योगदान की अवहेलना करती है। किंतु, वास्तव में केवल प्रसादित्य ही उपर्युक्त उपाधियों से अलंकृत न था। ऐसी ही अथवा इनसे मिलती जुलती उपाधियां धारण करने वाले अनेक सामंतों एवं अधिकारियों ने विद्रोहियों का दमन करने तथा रानी को उसके पिता के सिंहासन पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करने में उसका साथ दिया होगा।[139] इनमें से 'महाप्रधान' कन्नर नायक, 'महाप्रधान' गणपद्देव महाराजुलु, निस्संकमल्ल मल्लिकार्जुन नायक, एवं अंबदेव विशेषरूप से उल्लेखीय हैं। शक सं० 1196 (11275 ई०) एवं शक सं० 12.2 (1290 ई०) के बीच की तिथियों के इनके अभिलेखों में, इन सभी को 'रायस्थापनाचार्य' के रूप में वर्णित किया गया है।[140] इसके अतिरिक्त गुंडय नायक एवं मादय नायक ने, जिन्होंने 'स्वामिद्रोहर गंड' के 'विरुद' धारण किए थे तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माचय नायक ने भी, जो इसके अतिरिक्त 'स्वाभिवंचकर गंड' भी कहलाता था, विप्लवी प्रमुखों को दबाने के कार्य में भाग लिया होगा।[141]

बाह्य संकट भी कुछ कम खतरनाक न थे। कुछ पड़ोसी शासकों ने अपनी सीमाओं से लगे काकतीय प्रदेशोंको जब्तकर लिया तथा वहां पर स्थाई रूप से जम गए। यह स्मरणीय है कि कलिंग के गजपति नरसिंह प्रथम ने 1159-8 ई० में अथवा उससे पहले, गोदावरी के तट पर हुए युद्ध में गणपति के हाथों हार खाई थी तथा नदी के तट पर स्थित जीते हुए प्रदेश को छोड़ उसे स्वदेश लौटना पड़ा था। वहां पर शक सं० 1184 (1262 ई०) तक काकतीयों का प्रभुत्व बना रहा। यह तथ्य कोप्पेरुंजिग के इसी तिथि के दाक्षारामं अभिलेख से भी सिद्ध हो जाता है, जिसमें वह गणपतिदेव की प्रभुसत्ता को स्वीकार करता है।[142] 1278-9 ई० तक काकतीय शासन का कोई भी प्रमाण गोदावरी घाटी से नहीं मिला है। 1278-9 ई० में किसी कारपर्रति सूरय रेड्डि ने दाक्षारामं के भीमेश्वर देव के मंदिर को एक दान दिया था। यह दाता काकतीय रुद्र-देव महाराज अर्थात रुद्रांबा का सेवक था।[143] यह स्पष्ट है कि इस मध्यांतर में गोदावरी घाटी से काकतीय शक्ति का पतन हो गया होगा। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि इस काल के दौरान वहां क्या हुआ था। किंतु यह असंभव नहीं कि तत्कालीन काकतीय राज्य की अव्यवस्थित स्थिति से लाभ उठाकर कलिंग के गजपति नरसिंह प्रथम ने अपने हारे हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के उद्दृश्य से अपनी सेनाओं को गोदावरी के डेल्टा में भेजा। दाक्षारामं से प्राप्त, शक सं० 1184 (1262 ई०) के एक लघु एवं अपूर्ण अभिलेख में नारसिंग नराधिप का उल्लेख है, जो वास्तव में वही व्यक्ति होगा।[144]

चाहे कुछ भी हो, रुद्रमदेवी के शासनकाल के प्रथम 16 वर्षों के दौरान, गोदावरी घाटी अथवा वेंगी में काकतीय शासन के कोई चिह्न नहीं मिलते हैं। इस क्षेत्र पर उस समय पूर्वी चालुक्य एवं हैहय प्रमुख शासन कर रहे थे, जिन्हें कोई भी अधिराज स्वीकार्य नहीं था। यह निर्धारित करना संभव नहीं कि वे वास्तव में स्वतंत्र शासक थे अथवा रानी ने अपने विवाह द्वारा बने निकट संबंधों के कारण उन्हें कुछ समय के लिए स्वायत्त शासकों की तरह राज्य करने की अनुमति दे दी थी। फिर भी, उसके शासक काल के उत्तरार्ध में, गोदावरी घाटी एवं वेंगी एक बार पुन: उसके आधिपत्य में आए प्रतीत होते हैं। शक सं० 1196 (1274 ई० में) में नर-सिंह प्रथम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी, गजपति वीर भानुदेव प्रथम ने मत्स्य प्रमुख अर्जुनदेव तथा अन्य लोगों को साथ लेकर वेंगी पर आक्रमण कर दिया तथा गोदावरी पर स्थित दाक्षा-रामम तक बढ़ गया।[145] उसकी प्रगति को रोकने तथा संभवतया अपने आधीन वेंगी के तुच्छ प्रमुखों के क्षेत्र की रक्षा करने के उद्देश्य से, रुद्रमदेवी ने दो योग्य सेनानायकों—नल्लप नायक के पुत्रों, पोति नायक एवं प्रोलि नायक—के नेतृत्व में पूर्व की दिशा में सेना भेजी। इसका कार्य, आक्रमण का विरोध करना था। काकतीय सेनापतियों ने गोदावरी के तट पर कहीं गजपति से मुठभेड़ की और उसे बुरी तरह से पराजित किया। अपनी विजय की स्मृति में उन्होंने 'गज-पति-मत्त-मातंग-सिंह' (मदोन्मत्त हाथी अर्थात गजपति के लिए सिंह सदृश) एवं 'ओड्डि-यराय-मान-मर्दन' (ओड्डियराय अर्थात गजपति के अहंकार का नाशक) की उपाधियां धारण की।[146] इस प्रकार तटीय आंध्र प्रदेश में एक बार पुन: काकतीय प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी। इस प्रदेश में पाए जाने वाले रुद्रांबा एवं उसके सामंतों के अनेक अभिलेखों से प्रकट होता है कि रुद्रांबा के शासनकाल के अंत तक वहां पर काकतीय प्रभुसत्ता निर्विरोध बनी रही।[147]

इस समय पांड्य काकतीयराज्य के एक बड़े भाग के अधिकारी थे, जो उन्होंने मुत्तुकूर की विजय के बाद प्राप्त किया था। वास्तव में जटावर्मन सुंदर पांड्य ने इस प्रदेश को वीर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गंडगोपाल के भाइयों को सौंप दिया था। वीर को उसने युद्ध में मारा था; स्पष्ट है कि उसके भाइयों ने पांड्यों के सामंत के रूप में शासन किया था।[148] किंतु वास्तव में इन भाइयों अथवा नेल्लोर पर उनके प्रसिद्ध शासन के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। संभव है कि जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम के सहशासकों में से एक, विक्रम पांड्य, ने वास्तव में काकतीय साम्राज्य पर असफल आक्रमण किया था। उसके एक तिथिविहीन चिदांबरं अभिलेख में कहा गया है कि उसने उत्तर में सेनाएं इसलिए नहीं भेजी थीं कि वहां पर राजा का नाम धारण कर एक स्त्री शासन करती थी। यह वास्तव में उसके द्वारा निर्देशित काकतीयसाम्राज्य के विरुद्ध किए गए असफल प्रयास को अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में छिपाने का प्रयत्न ही प्रतीत होता है।[149] प्राप्य अभिलेखीय प्रमाणों से पता चलता है कि जटावर्मन सुंदर पांड्य के दक्षिण लौटने के तुरंत बाद ही नेल्लोर एवं उसके आश्रित प्रदेश त्रिभुवनं चक्रवर्तिन वीरराजेंद्र चोल के हाथों में चले गए, जो अंतिम चोल नरेश राजेंद्र तृतीय ही है।[150] तथा जिसने, स्पष्टतया इस प्रदेश पर पांड्य सम्राट के रूप में शासन किया था। नंदलूर एवं तिरुपति से प्राप्त जटावर्मन सुंदर पांड्य प्रथम के अभि-लेखों से पता चलता है कि कुड्डपह जिले का पूर्वी अर्ध भाग और चित्तूर जिला भी उसके द्वारा विलय कर लिए गए थे।[151] कलुकड प्रमुखों केशवदेव एवं उसके भाई रायमुरारि सोमिदेव ने संभवतया पांड्यों द्वारा उकसाए जाने पर, अपनी राज्यास्था तोड़ दी और स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। वे दोनों रायदेव महाराज के पुत्र थे, जिसे गंगय साहिणि ने पहले ही युद्ध में पराजित किया था। वे कायस्थ राज्य में अतिक्रमण कर उसके एक बड़े भाग को जीतने में सफल हो गए। यद्यपि अपने शक सं० 1186 एवं 1191 के दो अभिलेखों में गंडपेंडेर जन्निगदेव स्वयं को पानुगल से लेकर कोलार जिले में कैवारंकोट तक के प्रदेश का शासक बताता है, किंतु दोनों कलुकड प्रमुखों के अभिलेखों से इस दावे का खंडन होता है।[152] कुड्डपह जिले के कमलपुर तालुक में एल्लारेड्डि पल्ले के स्थान से प्राप्त, शक स० 1189 प्रभव (1267-8 ई०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि, भुजबल वीरनारायण सोमेश्वर महाराज, जो उपर्युक्त सोमिदेव ही है, कायस्थ राजधानी वल्लूरि पट्टणं से मुलिकि 300 होंनहटि (होन्नलाडि) 90 एवं पेंडेकल्लु 800 जिलों का नियं-त्रण करता था।[153] कुड्डपह जिले के कुड्डपह तालुक में चिंतलपुत्तूरु से प्राप्त, शक सं० 1190 विभव (1268-9 ई०) के एक अन्य अभिलेख में, कलुकडपुर के स्वामियों, 'महामंडलेश्वरों' मुरारि केशवदेव महाराज एवं सोमिदेव महाराज के तत्कालीन कायस्थ प्रदेशीय प्रशासन को प्रमाणित किया गया है।[154] यदि कुड्डपह जिले के राजंपेट तालुक में गुंड्लुरु से प्राप्त, शक सं० 1206 के एक अभिलेख में वर्णित सोमिदेव, उस नाम का कलुकड प्रमुख ही था, जैसा अत्यंत संभव है, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कम से कम उस वर्ष तक कायस्थ प्रदेश कलुकड प्रमुखों के आधीन रहा।[155] इसी प्रकार जन्निगदेव के भाइयों एवं उत्तराधिकारियों त्रिपुरारिदेव एवं अंबदेव के अभिलेखों में, शक सं० 1194 (1272 ई०) से पहले कलुकड प्रमुखों के विरुद्ध किसी भी विजय के उल्लेख का न होना भी इसी दिशा की ओर इंगित करता है[156]

किंतु काकतीय राजतंत्र को दबानेवाला सबसे गंभीर संकट, पश्चिम की ओर से आया था। सेउण नरेश महादेव ने, जो अपने चचेरे भाई कृष्ण के बाद 1260 ई० में राजा बना, अपने राज्यारोहण के तुरंत बाद ही काकतीय साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसके कुछ अभिलेखों में, महादेव को 'तिल्लिंगराय के शीर्ष रूपी कमल की जड़ को उखाड़ने वाला' कहा गया है। उसके संबंध में यह भी कहा गया है कि उसने 'रुई के ढेर को उड़ाने वाली आंधी के समान तिल्लिंग प्रदेश के राजा को उड़ा दिया' तथा 'युद्ध में तिल्लिंग के शासक के हाथियों एवं पांच वाद्य यंत्रों को भी जीता,' किंतु 'एक स्त्री को मारने की अपनी अनिच्छा के कारण' उसने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्रम शासक को स्वतंत्र ही रहने दिया।[157] संभवतया इन वक्तव्यों को, इनके बाह्य रूप में ही स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ये स्पष्ट रूप से एकपक्षीय है तथा अत्यंत अतिशयोक्तिपूर्ण तो है ही। सबसे पहले तो यही देखना चाहिए कि वास्तव में महादेव ने कभी भी किसी तिल्लिंग शासक को नहीं मारा जैसा कि उसकी 'तेलुंगराय-शिरः कमल-मूलोत्पाटन' उपाधि में कहा गया है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आंध्र सिंहासन पर उसकी समकालीन रुद्रांबा वास्तव में उसके बाद भी अनेक वर्षों तक शासन करती रही। तथ्य तो यह है कि यह उपाधि पैतृक संपत्ति बन गई थी। इसकी उत्पत्ति 1196 ई० में हुई जबकि जैतुगि प्रथम ने काकति रुद्र को जीता था। महादेव के सिंहासनारोहण से पहले भी कम से कम एक सेउण नरेश ने इसे धारण किया था।[158] किंतु काकतीय राज्य पर उसका आक्रमण एक तथ्य था। यह ऐसा आक्रमण था, जो आरंभ में तो सफल रहा, किंतु उसका अंत सेउण अभिलेखों के वक्तव्य के ठीक विपरीत, नितांत असफल रहा। इसका प्रमाण 'प्रतापचरित्र' में मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि यद्यपि महादेवराज ने वास्तव में काकतीय साम्राज्य पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी वारंगल को घेर लिया था किंतु फिर भी रानी रुद्रांबा ने वीरतापूर्वक 15 दिनों तक उससे युद्ध किया, जिसके दौरान उसने सेउण सेना के तीन लाख प्यादों एवं एक लाख अश्वारोहियों को नष्ट कर दिया था। अंत में दुर्ग की चारदीवारी में हुए युद्ध में उसने महादेव को पूर्ण रूप से पराजित किया और उसे भागने पर बाध्य किया। उसने भागती हुई सेउण सेना का उनकी राजधानी देवगिरि की दीवारों तक पीछा किया। उसकी प्रगति को रोकने में असमर्थ होकर महादेव ने संधि कर ली, जिसके अनुसार उसने युद्ध के हरजाने के रूप में एक करोड़ स्वर्णमुद्राएं देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार प्राप्त धन को रुद्रांबा ने अपनी सेना के नायकों में बांट दिया तथा एक विजय स्तंभ की स्थापना करने के पश्चात स्वदेश वापस लौट आई।[159] ऐसा प्रतीत होता है कि सेउण आक्रमण के इस वर्णन में तथ्य का पर्याप्त पुट सम्मिलित है। रुद्रांबा द्वारा सेउण सेना के प्यादों एवं घुड़सवारों को बड़ी संख्या में मारने के वर्णन को निस्संदेह ही अतिशयोक्तिपूर्ण मानकर छोड़ सकते हैं, किंतु प्राप्त अभिलेखीय एवं मुद्रा संबंधी प्रमाणों से 'प्रतापचरित्र' के वृतांत की सामान्य ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। इस संदर्भ में दो महत्वपूर्ण तथ्यों की चर्चा करना आवश्यक है; अब तक विद्वानों ने इनकी अवहेलना की है। प्राचीन हैदराबाद राज्य के नलगोंड जिले में पानुगल से प्राप्त, शक सं० 1189 (1267 ई०) के एक अभिलेख में, उस स्थान के छाया-सोमनाथ के मंदिर को दिए गए दान का उल्लेख है। यह दान सेउण नरेश सिंहण के पुत्र एवं काकतीय मनुम-रुद्रदेव अर्थात रुद्रांबा के सामंत शाश्रृंग पाणिदेव ने दिया था[160] मैसूर राज्य के शिमोगा जिले के छन्नगिरि तालुक में हिरे कोगिलूर से प्राप्त, एक अन्य अभिलेख से हमें पता चलता है कि यह शाश्रृंग पाणिदेव, महादेव का पिता था।[161] यह अभिलेख शक सं० 1190 (1268 ई०) का है। महादेव के पिता शाश्रृंगपाणिदेव को रुद्रांबा के अधीन सेवा स्वीकार करनी पड़ी तथा उसका सामंत बनना पड़ा, यह तथ्य इस बात की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि सेउण नरेश निश्चय ही पराजित हुआ होगा, और इस प्रकार 'प्रतापचरित्र' के वर्णन की पुष्टि होती है। यह स्पष्ट है कि इस आक्रमण के दौरान पानुगल के दुर्ग पर अधिकार करने वाला शाश्रृंग पाणिदेव पराजय और अपने पुत्र की वापसी के बाद भी समर्पण करने तथा स्वदेश लौटने के लिए इच्छुक न था। यह जानकर कि इन परिस्थितियों में वहां पर स्वतंत्र प्रभुत्ता का अधिकार दिखाना उसके लिए असंभव होगा, उसने काकतीय रानी की प्रभुसत्ता को ही स्वीकार करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त दुर्ग को अपने ही अधिकार में बनाए रखने के उद्देश्य से, उसने रुद्रांबा का सामंत बनना भी स्वीकार कर लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1922 ई० में कृष्णा जिले के कैकलुर तालुक में राचपटणं के स्थान पर एक गड़ा हुआ कोष मिला था। इससे भी इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। इस प्राप्ति में 'पदम टंक' नामक 43 स्वर्णमुद्राएं थीं जिन पर देवनागरी लिपि में सिंहण, कण्हप, महादेव एवं श्रीराम के लेख थे।[162] इन सिक्कों के आधार पर इस समय में तटीय आंध्र प्रदेश पर सेउण शासन के अस्तित्व का समर्थन करने वाले सिद्धांत का निर्माण करने के प्रयत्न किए गए हैं।[163] किंतु ऐसा कोई भी सिद्धांत मान्य नहीं है। गड़े हुए धन के प्राप्तिस्थान के प्रमाण के आधार पर कोई क्षेत्रीय अधिकार नहीं बताया जा सकता। सिक्के उल्लेखनीय रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जानेवाली सामग्री है तथा वे प्रायः अपने निर्माण स्थल से दूर दूर के स्थानों पर पहुंच जाते हैं।'[164] और वास्तव में यह भी असंभव नहीं कि राचपटणं में प्राप्त सेउण सिक्कों का ढेर वस्तुतः उसी धन का अंश था, जो 'प्रतापचरित्र' के अनुसार, रुद्रांबा ने महादेव से युद्ध के हर्जाने के रूप में प्राप्त किया था और अपने सैनिक अधिकारियों को बांट दिया था।

ऐता प्रतीत होता है कि रुद्रमदेवी ने अपने शासनकाल के काफी शुरू में ही वह क्षेत्र पुनः प्राप्त कर लिया था, जो 1263 ई० के अपने आक्रमण के दौरान पांड्यों ने जीत लिया था। यद्यपि इस समय होनेवाली घटनाओं के संबंध में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है, फिर भी कुड्डपह एवं नेल्लोर जिलों के पूर्वी भागों से प्राप्त रुद्रमदेव एवं उसके सामंतों के अभिलेखों से इस क्षेत्रों में काकतीय सेनाओं की विजय के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कुड्डपह जिले के राजंपेट तालुक में नंदलूर से प्राप्त एक अभिलेख में उस स्थान पर सौम्यनाथस्वामि के मंदिर को दिया गया दान अंकित है। यह दान गंडपेडेर जन्निगदेव के 'प्रधान' नागराज ने दिया था। इससे पता चलता है कि शक् सं० 1186 रक्ताक्ति (1264 ई०) जैसे आरंम्भिक काल में ही कायस्थों ने अपने पड़ोस से पांड्यों को हटा दिया था।[165] एक अन्य अभिलेख अटलूरु से प्राप्त हुआ है। यह स्थान कुड्डपह जिले के ही सिद्धवतं तालुक में स्थित है। अभिलेख की तिथि शक सं० 1190 प्रभव (1268 ई०) है। इससे प्रमाणित होता है कि कायस्थों की सफलता अस्थाई न थी, अपितु उसमें इस क्षेत्र से पांड्यों को स्थाई रूप से निकालना निहित था।[166] दुर्भाग्यवश, यह दूसरा अभिलेख खंडित है तथा इसकी स्थापना करवाने वाले प्रमुख का नाम भी ज्ञात नहीं हैं। किंतु 'मंडलिक ब्रह्मराक्षस' एवं 'गंडपेंडेर' नामक उपाधियों और अभिलेख की तिथि से इसमें संदेह नहीं रह जाता कि उसमें वर्णित शासक जन्निगदेव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं था।

जैसा हम देख चुके हैं शक सं० 1185 से 1190 (1263-8 ई०) तक नेल्लोर पर शासन करने वाले वीर राजेंद्र चोल को, किसी महामंडलेश्वर नागदेव महाराज ने उखाड़ फेंका था। नागदेव, रुद्रदेव महाराज अर्थात रुद्रमदेवी का ही सामंत था। इससे यह स्पष्ट है कि रुद्रमदेवी ने नेल्लोर एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली थी तथा नागदेव महाराज को उसके प्रशासन का कार्यभार सौंप दिया था। वहां पर उसका शासन शक सं० 1193 से 1197 (1271-5 ई०) अर्थात पांच वर्षों तक रहा। इस काल के अंत में उसे कम्मनाडु के दक्षिणी प्रांतों में पहुंचने के लिए उत्तर की ओर जाने को बाध्य होना पड़ा। कम्मनाडु के इन प्रांतों में वह मणिकेश्वरं तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के गवर्नर के रूप में शक सं० 1202 (1280) ई० तक कार्य करता रहा।[168] मणिकेश्वरं, गुंटूर जिले के आंगोले तालुक में स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिभुवनचक्रवर्ति इरुमडि (इम्मडि) तिरुकालत्तिदेव अथवा तिरुकालत्तिदेव द्वितीय ने उसे वहां से पद्च्युत किया था। तिरुकालत्तिदेव के शासनकाल के दूसरे वर्ष अर्थात शक सं० 1201 (1279 ई०) का एक अभिलेख गुदुर तालुक में मंदनूर के स्थान पर प्राप्त हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह स्थान नेल्लोर के दक्षिण में 20 मील से भी कम दूरी पर स्थित था।[169] वह नेल्लोर के तेलुगु चोल नरेश मनुम सिद्धि द्वितीय का ज्येष्ठ पुत्र था।[170] मनुम सिद्धि, 1263 ई० के पांड्य आक्रमण के दौरान मुत्तुकूर के रणक्षेत्र में मारा गया था। किंतु तिरुकालत्तिदेव के पूर्व जीवन के संबंध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। अपनी वर्तमान जानकारी के आधार पर हम निश्चित रूप से यह निर्धारित नहीं कर सकते कि वह नेल्लोर से काकतीय गवर्नर को निकालने तथा अपने पैतृक क्षेत्र को पुनः प्राप्त करने में कैसे सफल हुआ था। यद्यपि 'त्रिभुवनचक्रवर्ति' की उपाधि उसकी स्वतंत्रता की सूचक हैं, किंतु संभवतया वह काकतीयों के किसी बाह्य शत्रु के हाथों के खिलौने से अधिक कुछ न था और नेल्लोर प्रदेश पर अपनी आंखें गड़ाए हुए था। वर्तमान संदर्भ में एक ऐसे रोचक तथ्य का उल्लेख कर देना चाहिए जिस पर अब तक इतिहासकरों का ध्यान नहीं गया है। जैसा कि विजय गंडगोपाल के 29 वें वर्ष (1278-9 ई०) के नंदलूर अभिलेख से स्पष्ट है, नेल्लोर पर इरुमडि तिरुकालत्तिदेव के आक्रमण के साथ ही विजय गंडगोपाल ने भी कायस्थ राज्य पर आक्रमण कर दिया था।[171] इस स्थल पर हम यह पुनः याद कर सकते हैं कि नेल्लोर जिले का संपूर्ण गुदुर 'तालुक' तथा कालहस्ति एवं तिरुपति से युक्त चित्तूर जिले के कुछ भाग विजय गंडगोपाल के अधिकृत प्रदेशों में सम्मिलित थे।[172] यह असंभव नहीं कि नेल्लोर पर किया गया तिरुकालत्तिदेव का आक्रमण किसी प्रकार से कायस्थ राज्य पर विजय गंडगोपाल के आक्रमण से संबंधित था। यह ज्ञात नहीं कि शक सं० 120। (1279 ई०) के बाद कितने सनय तक नेल्लोर पर इरुमडि तिरुकालत्तिदेव का शासन चलता रहा; संभवतय उसका शासन शक सं० 1204 तकचला, जबकि मनुम-गंडगोपाल उसका उत्तराधिकारी बना था। यह निश्चित है कि मनुम एक अन्य तेलुगु चोल प्रमुख था, किंतु उचित प्रमाणों के अभाव में इरुमडि से उसका संबंध निर्धारित नहीं किया जा सकता।

अंबदेव : कायस्थ प्रदेश पर विजय गंडगोपाल का आक्रमण संभवतया एकाकी आक्रामक कृत्य न था। यह संभवतया पांड्यों के उस संगठित प्रयास का ही भाग था जो उन्होंने अपने क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने के लिए किया था। हाल ही में काकतीय रानी एवं उसके कायस्थ सामंतों ने पांड्यों से पर्याप्त क्षेत्र छीन लिया था। विजय गंडगोपाल के अतिरिक्त कोप्पेरुंजिंग एवं अन्य पांड्य सामन्तों ने भी अभियान में भाग लिया तथा 1268 ई० में शक्ति प्राप्त करने वाले कुलशेखर ने नेतृत्व में कायस्थ राज्य के विरुद्ध कूच किया। यह स्वाभाविक ही था कि इस आक्रमण के फलस्वरूप महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली कायस्थ प्रमुख अंबदेव से संघर्ष होता, जो 1272 ई० में अपने भाई त्रिपुरारिदेव का उत्तराधिकारी बना था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने जीवन के आरंभ में ही वंश के पुनः भाग्योदय का तथा अपने लिए स्वतंत्र राज्य बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। उसके आने से पहले उसके वंश का भाग्य अत्यंत अंधकारमय था। इन दोनों उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपने 32 वर्षीय दीर्घ शासन काल के दौरान उसे अपने पड़ोसियों से लगातार युद्ध करना पड़ा था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने शासनकाल के आरंभ में ही अंबदेव ने काकतीय रानी के प्रति अपनी राज्यास्था भंग कर दी थी, क्योंकि उसके किसी भी अभिलेख में अधिराज का वर्णन नहीं मिलता। शक सं० 1212 विकृति (1290 ई०) के त्रिपुरांतकं अभिलेख में उसकी उपलब्धियों का पूर्ण विवरण दिया गया है।[173] अभिलेख के प्रथम भाग में, जो पूर्णतया संस्कृत पद्यों में है, अंबदेव ने श्रीपति गणपति नामक प्रमुख को जीता तथा उसकी उपाधि 'रायसहस्रमल्ल' को धारण किया। उसके संबंध में यह भी कहा गया है कि उसने 75 राजाओं के सिर काट दिए, युद्ध में ऐरुंव मल्लिदेव का संहार किया तथा बारह 'क्षोणी मंडलिकों' की सहायता से, सोमिदेव एवं अल्लगंग सहित केशव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को भागने पर बाध्य किया । उसने देवताओं एवं ब्राह्मणों के शत्रु मल्किकार्जुन को मार दिया, राजा बोल्लय के पुत्र से अपनी पुत्री का विवाह किया, तथा संभवतया विवाह के उपलक्ष्य में उसे नंदनपुर का निकटवती क्षेत्र भेंट किया । उसने सभी आंध्र राजाओं को भी पराजित किया और प्रसिद्धि पाई । अपने ही अनुयायियों द्वारा राज्य से वंचित किए गए मनुम गंडगोपाल को पुनः विक्रमसिंहपुर (नेल्लोर) के सिंहासन पर स्थापित किया । अंत में उसने अपने शत्रुओं के, समुद्र का मंथन किया, जिससे उसने घोड़े एवं हाथियों की सेना, धन, अमर प्रसिद्धि यथा 'पांड्य-कल्प द्रुम' इच्छादायक वृक्ष अर्थात (पांच) पांड्यों को प्राप्त किया । संस्कृत गद्य से युक्त 'प्रशस्ति' ही इस अभिलेख का दूसरा भाग है, जिसमें अंबदेव के अनेक विरुदों अर्थात उपाधियों की गणना है । इनमें से कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे उसके जीवन के दौरान घटित वास्तविक घटनाओं का उल्लेख करती हैं । इन उपाधियों में से निम्नलिलित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : (1) 'रायसहस्रमल्ल' (हजार राजाओं से मल्ल-युद्ध करने वाला), (2) 'ऐरुंव-मल्लिदेवनि-तल-गोंडु गंड' (ऐरुंव मल्लिदेव का सिर लेने वाला योद्धा), (3) 'प्रत्यनीक-प्रासादयमान-कुलशेखर गंड' (विरोधी सेना को अपना महल बनाने वाले कुलशेखर को नष्ट करने वाला), (4) 'देवगिरिराय-प्रस्थापित-प्राभृतमणि- कनक-भूषण' (देवगिरि के राजा द्वारा उपहार स्वरूप भेजे गए स्वर्ण एवं रत्नजटित आभूषणों से विभूषित), (5) 'मल्लिकार्जुन-सप्तांग हरण' (मल्लिकार्जुन के राजत्व के सात अभिन्न सदस्यों का हरण करने वाला), (6) 'काडवराय-विध्वंसन' (काडव नरेश को नष्ट करने वाला) तथा (7) 'अति पांडव-पराक्रम-पांड्य-राजन्य-प्रिय प्रेषित चंड वेतंद वैनतेय-जंघाल-तुरंग-सार्थ-विराजमान संपोषित-सौहार्द' [वह जिसकी मित्रता को, (शौर्य में पांडवों) को भी मात देने वाले (पांच) पांड्य नरेशों द्वारा, प्रेम से भेजे गए वैन्तेय (अर्थात गरुड़) स्वरूप भयंकर हाथियों एवं घोड़ों की सेनाओं से पोषित किया जाता था] । ये न केवल अभिलेख के पूर्व भाग में दिए गए वक्तव्यों की पुष्टि करते हैं, अपितु पर्याप्त नवीन सूचनाएं भी देते हैं, जो पूर्व वर्णित नहीं हैं । इस अभिलेख में निहित सूचना अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि वह रुद्रांबा के शासनकाल की ऐसी अनेक घटनाओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है जो पहले रहस्यमय बनी हुई थीं । किंतु उनके तिथि क्रमानुसार विवरण को निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता । फिर भी इस काल के अन्य अभिलेखों से प्राप्त सामग्री के आधार पर उसको अनुमानित रूप से निर्धारित करना पूर्ण रूप से असंभव नहीं है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के काफी शुरू में ही अंबदेव ने उन काकतीय सामंतों से संघर्ष किया जिनकी रानी के प्रति राज्यास्था थी । उपयुक्त त्रिपुरांतकं अभिलेख के अनुसार उसके द्वारा पराजित पहला शत्रु श्रीपति गणपति नामक प्रमुख था, जो 'राय-सहस्रमल्ल' की उपाधि से विभूषित था । अंबदेव, के ही नीलगंगवरं अभिलेख में उसे 'गरिंदाल-गणाधिप' कहा गया है ।[174] इस तथ्य के आधार पर यह अनुमानित किया जा सकता है कि वह गुरिंदाल अर्थात गुंटूर जिले के पलनाड 'तालुक' में गुरिजाल का शासक था । इसकी पुष्टि एक अन्य अभिलेख से भी होती है जो गुरिजाल के निकट ही मुतुकूर से प्राप्त हुआ है । यह अभिलेख शक सं० 1190 विभव (1268 ई०) का है और इसमें कहा गया है कि उस समय गुरिंदाल पर श्रीपति गणपति का शासन था । स्पष्टतया वह वहां रुद्रदेव महा राज (रुद्रांबा) के सामंत रूप में था क्योंकि उसी पत्थर पर तथा उसी दिन उत्कीर्ण एक अन्य अभिलेख के अनुसार उसी समय स्थानीय वीर बलंज समाज ने भी रानी की ओर से ग्राम के एक मंदिर को दान दिया था ।[174] अतः रानी रुद्रांबा एवं श्रीपति गणपति दोनों ही उस समय जिले पर शासन कर रहे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे; रानी की प्रभुसत्ता थी और गणपति उसका सामंत था। श्रीपति गणपति की उपाधि अर्थात '(राय) सहस्रमल्ल' इस नेता के पिछले इतिहास पर प्रकाश डालती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः वह किसी महादेवराज से संबंधित था, जो शक सं० 1170 कीलक (1248 ई०) में पल्नाडु के कुछ भाग का शासक था।[176] 'सहस्रमल्ल' की उपाधि के अतिरिक्त, उसे 'राय-दंडाधिपति' की पदवी भी प्राप्त थी, जिससे यह सिद्ध है कि वह कभी गणपति के अधीन सेना का अध्यक्ष था। संभवतया महादेवराज उन विद्रोही काकतीय सामंतों में से था जिन्होंने रुद्रमदेवी के अभिषेक का विरोध किया था। यह असंभव नहीं कि रानी के प्रति निष्ठावान श्रीपति गणपति ने उसके हित का समर्थन किया तथा महादेव पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और फिर उसने अपने शत्रु की उपाधि एवं राज्य पर अधिकार कर लिया। अंबदेव से हुए उसके संघर्ष की परिस्थितियां ज्ञात नहीं है। किंतु वह निश्चित रूप से 1273 ई० 'के युद्ध' में पराजित हुआ तथा अपनी विजय के उपलक्ष में अंबदेव ने भी उसके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और उसकी उपाधि की छीन लिया।[177] यह भी निश्चित है कि श्रीपति गणपति के विरुद्ध विजय के परिणामस्वरूप, अंबदेव का काकतीय रानी से भी संघर्ष हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी ने एक शक्तिशाली सेना उसके विरुद्ध भेजी और उसके विद्रोह को दबाने का असफल प्रयास किया; क्योंकि अंबदेव युद्ध में जिन 75 कुमारों का शिरोच्छेदन करने का दावा करता है वे निस्संदेह रानी की मेवारत 75 नायक थे। किंतु यह नहीं मान लेना चाहिए कि अंबदेव ने वास्तव में उन सभी 75 नायकों से युद्ध किया था जिनका उसने सिर काट लिया था। अंबदेव के दावे की अभिव्यक्ति अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में हुई है और इसे शब्दशः स्वीकार नहीं करना चाहिए। निस्संदेह, इस संदर्भ में 75 नायकों का अर्थ संपूर्ण काकतीय सेना लेना चाहिए तथा उनके शिरोच्छेदन के तथ्य का अर्थ वास्तव में उसके विजयी होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझना चाहिए।

काकतीय सेना के विरुद्ध अपनी विजय के कुछ समय बाद अंबदेव ने अपने वंश के पैतृक क्षेत्रों को पुनः जीतने के लिए यत्न किए। 1263 ई० के पांड्य आक्रमण के समय से ही ये प्रदेश कलुकड प्रमुखों के आधिपत्य में थे। यद्यपि कलुकडों को अपने मित्र एवं सजातीय अल्लुगंग का दृढ़ समर्थन प्राप्त था, जो जगतापि गुत्ति अर्थात आंध्र प्रदेश के अनंतपुर जिले में आधुनिक गुत्ति का तेलुगु चोल शासक था; फिर भी उन्होंने सोचा कि वे अकेले ही कायस्थ आक्रमण का मुकाबला नहीं कर सकते और इसलिए उन्होंने पांड्यों से सहायता मांगी। पांड्य नरेश इस समय संपूर्ण दक्षिणी भारत के स्वामी थे। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस अनुरोध के जबाब में पाड्यों ने विजय गंडगोपाल एवं कोप्पेरुंजिंग को आदेश दिया कि वे अपनी सेनाओं सहित उत्तर की ओर कूच करें तथा कलुकड प्रमुखों को सहायता प्रदान करे ताकि वे अपने प्रदेश की रक्षा कर सकें। वे दोनों अपनी सेनाएं लेकर 12 78 ई० में निकल पड़े तथा यथासमय सीमाओं पर पहुंच गए। ऐसा प्रतीत होता है कि नंदलूर आस पास ही कहीं पर अंबदेव से उनकी मुठभेड़ हुई थी। इसके परिणामस्वरूप होने वाले युद्ध में वे पराजित हुछ; कोप्पेरुंजिंग मारा गया।[178] तथा विजय गंडगोपाल वापस स्वदेश लौट गया, जहां वह संभवतया उसी वर्ष मर गया। इस विजय के तुरंत बाद ही अंबदेव को पूर्व दिशा में अपने आधिपत्य को नेल्लोर तक बढ़ाने का अवसर मिला। तेलुगु चोल वंश के मनुम गंडगोपाल ने, जिसे उसके अनुयायियों ने उसके राज्य से निकाल दिया था, उससे सहायता की याचना की। वह तुरंत ही अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए नेल्लोर की ओर बढ़ा तथा मनुम गंडगोपाल के शत्रुओं का दमन करके उसने मनुम को पुनः सिंहासन पर स्थापित किया। नेल्लोर के मामले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में अंबदेव के हस्तक्षेप का निश्चित तिथि रूप से ज्ञात नहीं हैं। संभवतः उसकी तिथि 12,2 है क्योंकि मनुम गंडगोपाल के अभिलेखों के अनुसार उसने उसी वर्ष अपने शासनकाल का आरंभ किया था।[179]

किंतु पांड्यों ने कायस्थ साम्राज्य संबंधी अपनी योजनाओं का परित्याग नहीं किया। विजय गंडगोपाल की पराजय एवं नेल्लोर साम्राज्य की आंतरिक राजनीति में अंबदेव के हस्तक्षेप ने उन्हें दक्षिणी आंध्र को जीतने तथा उत्तरी सीमा पर संकट उत्पन्न करने वाले कायस्थ शासक को नष्ट करने के लिए पुनः उत्तेजित किया। जब अंबदेव संभवतया नेल्लोर के मामले में ही व्यस्त था तो 1282-3 ई० में जटावर्मन सुंदर पांड्य द्वितीय (राज्यारोहण, 1276 ई०), मारवर्मन सुंदर पांड्य (राज्यारोहण, 1270 ई०)[180] तथा मारवर्मन कुलशेखर (राज्यारोहण, 1268 ई०) के नेतृत्व में, पांड्य सेना पोत्तपिनाडु में घुस गई। इसका प्रमाण भारवर्मन सुंदर पांड्य के शासनकाल के तेरहवें वर्ष का वह अभिलेख है, जो कुड्डपह जिले के राजंपेट तालुक में लेपाक के स्थान से प्राप्त हुआ हैं।[181] उसी क्षेत्र के गुंडलूरु से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जो शक सं० 1204 तारण (1282-3 ई०) का है तथा सोमिदेव द्वारा जारी किया गया था। यह सोमिदेव स्पष्ट रूप से कलुकड के केशवदेव का भाई था। इस अभिलेख से इस तथ्य में कोई संदेह नहीं रह जाता कि कलुकड प्रमुखों ने भी आक्रामकों का साथ दिया था।[182] लेपाक नंदलूर क्षेत्र में पांड्य अभिलेख के मिलने से प्रकट होता है कि राज्य के इस भाग में पांड्यों का शासन लगभग पांच वर्षों तक रहा, जिसके दौरान पांड्य-मंडलं में स्थित तुंजलूर का पिल्लै पल्लवरायन इसके प्रशासन का अध्यक्ष रहा।[183] इस काल के दौरान अंबदेव की गतिविधियों के संबंध में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है। वास्तव में तथ्य तो यह है कि शक सं० 1194 (1272-3 ई०) और शक सं० 1209 के बीच उसका कोई अभिलेख नहीं मिलता है। किंतु आश्चर्य की बात है कि कुड्डपह जिले के बद्वेल तालुक में अक्कारेड्डिपल्लि से प्राप्त, शक सं० 1205 स्वभानु (1283 ई०) के अभिलेख में तत्कालीन शासक गंडपेंडेर त्रिपुरारिदेव महाराज का उल्लेख है तथा गौरेश्वरवायम्मंगारु द्वारा गोश्रृंगेश्वर की पूजा के लिए शिव के मंदिर के निर्माण की भी चर्चा करता है।[184] अंबदेव से उसके संबंध और उसी के शासनकाल के मध्य में उसके द्वारा 'पृथ्वी पर शासन' करने की परिस्थितियों को समझाना आसान नहीं है। सरकारी अभिलेखविद का विश्वास है कि वह अंबदेव का बड़ा भाई था, हालांकि संभव यह भी है कि वह उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी, त्रिपुरारि द्वितीय हो।[185] इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि लगभग इसी समय अंबदेव ऐर्रुव प्रदेश हार गया था, जो उसे कुछ वर्ष बाद पुनः जीतना पड़ा। यह बहुत संभव है कि पांड्यों से उसका संघर्ष हुआ था तथा वह उनके द्वारा पराजित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसके साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई और उसने अस्थाई, रूप से सरकार पर नियंत्रण खो दिया। चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अंबदेव ने अपनी सेनाओं को एकत्र किया तथा 1296 ई० में पांड्यों पर आक्रमण कर दिया। यह भी निश्चित है कि उसने मारवर्मन कुलशेखर को, जो एक शक्तिशाली सेना के नेता के रूप में उसका विरोध करने आया था, पराजित किया जिसके परिणामस्वरूप पांड्य सेना के हाथी, घोड़े एवं अन्य सामान उसके हाथ लगे।[186] इसके पश्चात पांड्य, कायस्थ राज्य से वापस लौट गए और अंबदेव अपने अन्य शत्रुओं से निबटने के लिए स्वतंत्र हो गया। सबसे पहले उसने कलुकड प्रमुखों, केशवदेव और सोमिदेव पर ध्यान दिया। उन्हें तथा उनके मित्र अल्लु गंग को, जो जगतापि गुत्ति का तेलुगु चोल शासक था, युद्ध में हराकर अंबदेव ने वल्लूरुपट्टण की राजधानी सहित संपूर्ण कायस्थ प्रदेश वापस जीत लिया, जो 1263 ई० के पांड्य आक्रमण के समय से ही उनके पास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। अंबदेव ने वल्लूरुपट्टण को अपनी राजधानी बनाया तथा सुदृढ़ पर्वतीय दुर्ग गंडकोट मनोरथ पुर को और अधिक सुदृढ़ करके उसमें रहना शुरू किया। यह दुर्ग उस तंग घाटी के सम्मुख था जिससे होकर पेन्नार नदी नीचे के मैदान की ओर अपना मार्ग बनाती है। इस प्रकार कलुकड प्रमुखों एवं उनके मित्रों की शक्ति को नष्ट करके तथा स्वयं को उनके अधीनस्थ क्षेत्रों का स्वामी बनाकर, अंबदेव ऐर्रुव के तेलुगु चोल शासक मनुमल्लिदेव की ओर बढ़ा क्योंकि उसने संभवतया उसकी प्रभुसत्ता का उल्लंघन किया था। यद्यपि मनु मल्लिदेव के शक सं० 1189 प्रभव (1267-8 ई०) के ही दो अभिलेख त्रिपुरांतकं से प्राप्त हुए हैं, किंतु वे उसके अधिराज अथवा उसकी राजनीतिक राज्यास्था को प्रकट नहीं करते हैं।[187] यह संभव है कि वह काकतीय सामंत था जिसकी रुद्रांबा के प्रति राज्यास्था थी तथा रानी के प्रति उसकी निष्ठा के कारण ही अंबदेव से उसका संघर्ष हुआ। मनुमल्लिदेव अंबदेव का सामना न कर सका तथा वह युद्ध में मारा गया और उसका प्रदेश विजेता के पास पहुंच गया। इस प्रकार ऐर्रुव को जीतकर अंबदेव ने पेंडेकल्लु की ओर प्रस्थान किया, जो उसके प्रदेश के पास ही पश्चिम में स्थित था। इस प्रदेश में कुर्नूल जिले का धोने तालुक और पुराना बंगानिपल्ले राज्य सम्मिलित था। अपने प्रयास की सफलता को निश्चित करने के लिए अंबदेव ने बोल्लय नामक प्रमुख से मित्रता की। इस मित्रता की कड़ियों को और अधिक दृढ़ करने के उद्देश्य से उसने अपनी पुत्री का विवाह बोल्लय के पुत्र राजण्ण से कर दिया तथा नंदनपुर (बंगानिपल्ले राज्य में नन्दवरं) के साथ का क्षेत्र दहेज स्वरूप प्रदान किया। किंतु पेंडेकल्लु पर अंबदेव का आक्रमण निर्विरोध न हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी प्रगति को रोकने एवं प्रयास को विफल करने के उद्देश्य से रानी रुद्रांबा ने एक सेना भेजी। अंबदेव के त्रिपुरांतकं अभिलेख के अनुसार संपूर्ण आंध्र प्रदेश के कुमारों ने पेंडेकल्लु के पड़ोस में हुए युद्ध में उसका विरोध किया था। निस्संदेह ये सभी रुद्रांबा के ही सामंत थे।[188] किंतु युद्ध में अंबदेव सफल रहा तथा अभिलेख की भाषा में, 'उसने आंध्र के सभी राजाओं को जीत कर यश प्राप्त किया।' इस विजय के फलस्वरूप कृष्णा नदी तक संपूर्ण पेंडेकल्लु उसके अधिकार में आ गया और वह एक विस्तृत राज्य का स्वामी बन गया। उस समय अंबदेव अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। कुड्डपह जिले के राजंपेट तालुक में अत्तिराल से प्राप्त शक सं० 1209 सर्वजित (1287 ई०) के एक अभिलेख के अनुसार उस समय वह गंडकोंट, मुलिकिनाडु, रेनांडु, पेंडेकल्लु, सकिलि, ऐर्रुव एवं पोत्तपिनाडु के सभी क्षेत्रों पर अपनी राजधानी वल्लूरपट्टण से राज्य करता था।[189] और पश्चिम में संभवतः उसका प्रभुत्व अनंतपुर जिले में गुत्ति तक फैला हुआ था। त्रिपुरांतकं अभिलेख का एक पद्य तो लगभग ऐसा सुझाव देता है कि दुर्ग उसी के संरक्षण में था।[190] उसकी सेवा में बारह सामंतीय कुमार थे तथा पड़ोसी राज्यों के शासक, उसके दरबार में हाथी, घोड़े, बहुमूल्य रत्न एवं अन्य मूल्यवान उपहार भेजते थे।[191]

अंबदेव के शासनकाल के आरंभ से ही जिस सौभाग्य ने उसका साथ दिया था, वह उसके उसके शासनकाल के अंत में न रहा। अंत में उसके विरुद्ध विद्रोह हो गए। काकतीय सिंहासन के युवराज कुमार रुद्रदेव जैसे शत्रु का मुकाबला करना आसान न था। कुमार रुद्रदेव, रुद्रमदेवी का नाती था–उसकी पुत्री मुम्मडम्म एवं उसके दामाद महादेव का पुत्र था–जिसे रुद्रमदेवी ने अपने पुत्र के रूप में गोद लिया और युवराज नियुक्त किया था।[192] जब 1272 ई० में अंबदेव अपने बड़े भाई त्रिपुरारि प्रथम का उत्तराधिकारी बना था, तब तक कुमार रुद्रदेव पूर्ण रूप से जवान हो चुका था। 'तेलुगुराजुल चरित्रमु' में निहित एक परंपरा के अनुसार वह शक सं० 1166 (स्पष्टतया शक सं० 1176 की भूल) आनंद (1254 ई०) में पैदा हुआ था।[193] यह असंभव नहीं है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्योंकि, रुद्रमदेवी के शक सं० 1183 दुर्मति (1261 ई०) के माल्कापुरं अभिलेख में भी उसका उल्लेख है।[194] जब से उसने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली थी, साम्राज्य के पुनार्स्थापन का ही उसने अपना एकमात्र उद्देश्य बना लिया था। यदि परंपरा पर विश्वास करें तो, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने राज्य की सैनिक शक्ति का पुनर्गठन किया तथा नायंकर व्यवस्था को सुदृढ़ किया। पिछले शासनकाल के दौरान यह व्यवस्था छिन्नभिन्न हो चुकी थी। अंबदेव भी राज्य की सुरक्षा के खतरों से बेखबर न था। ज्योंही खतरे ने निश्चित रूप धारण किया, उसने अपने अधिकृत प्रदेशों की सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक कदम उठाए। उसकी सेना शक्तिशाली थी तथा अनेक रणक्षेत्रों पर निरंतर विजय प्राप्त कर चुकी थी। फिर भी अंबदेव का विचार था कि वह काकतीय सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सकेगी; अतः उसने काकतीयों के वंशानुगत शत्रुओं अर्थात सेउणों एवं पांड्यों से संधि कर ली। उसके शक सं० 1212 विकृति (1290-1 ई०) के त्रिपुरांतकं एवं नीलगंगवरं अभिलेखों के अनुसार सेउणों के ने तो अपनी सद्भावना के रूप में केवल रत्नजटिल स्वर्णाभूषणों के उपहार ही उसे भेजे थे; किंतु पांड्यों ने अपनी मित्रता का प्रदर्शन, उसकी सहायता के लिए भयंकर हाथियों एवं द्रुतगति वाले घोड़ों से युक्त सहायक सेना भेज कर की।[195] इसकी पुष्टि नंदलूर के तीन अभिलेखों से होती है, जो जटावर्मन के शासनकाल के हैं। इनमें से एक उसके 15वें वर्ष का तथा दो 17 वें वर्ष के हैं, जो क्रमशः (शक सं० 1208) व्यय एवं (शक सं० 1214) नंदन (1279-92 ई०) के बराबर है। ये अभिलेख कायस्थ साम्राज्य में पांड्यों की मित्र सेना की उपस्थिति सिद्ध करते हैं।[196]

युद्ध की तैयारियां समाप्त करने के बाद जब कुमार रुद्रदेव को अपनी विजय का विश्वास हो गया तो उसने अत्यंत सतर्कता से आक्रमण की योजना बनाई। वह इस बात के लिए पूर्ण रूप से सचेत था कि अंबदेब पर आक्रमण करने से उसके मित्रों से भी युद्ध होगा। अतः उसका उद्देश्य अंबदेव को उसके मित्रों अलग करना था ताकि वह उनसे अलग अलग निबट सके। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर उसने अंबदेव के राज्य पर तीन ओर से आक्रमण करने की योजना बनाई तथा इसके साथ ही उसके मित्रों के विरुद्ध अलग अलग अभियान भी भेजे। 1291 ई० में अंबदेव पर आक्रमण करने के लिए रानी रुद्रांबा, त्रिपुरांतकं की ओर बढ़ी। उसके साथ एक बड़ी सेना थी जिसका नेतृत्व कोलनि सोममंत्रि के पुत्र, मनुमगन्नय तथा उसी के चचेरे भाई अन्नयदेव के हाथों में था। अन्नय देव इन्दुलूरि पेद गन्नयमंत्रि का पुत्र था। इस युद्ध के कोई विवरण नहीं मिलते हैं। किंतु यह निश्चित है कि अंबदेव पराजित हुआ था तथा दक्षिण की ओर मुलिकिनाडु को वापस लौट गया था। इसका प्रमाण 'शिवयोगसारं' में मिलता है। इसके अनुसार उपर्युक्त कोलनि एवं इंदुलूरि प्रमुखों ने रुद्रमदेवी के शौर्यपूर्ण नेतृत्व से प्रेरित होकर शत्रु के सैनिक संगठनों को तितर बितर कर दिया तथा एक ही आक्रमण के दौरान 72 दुर्गों को जीता।[197] इस विजय के फलस्वरूप, त्रिपुरांतकं एवं उसके निकटवर्ती प्रदेश रुद्रमदेवी के हाथों में आ गए, जिसने उन जिलों पर अपने प्रभुत्व को पुनः दृढ़तापूर्वक स्थापित करने के लिए कदम उठाए। इस क्षेत्र की पुर्नविजय की निश्चित तिथि तो ज्ञात नहीं है, किंतु इस क्षेत्र से प्राप्त अनेक कायस्थ एवं काकतीय अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि यह संभवतया 1291 के मध्य में हुई थी।[198] उत्तरकालीन आरेवीडु वंश के पूर्वज एवं चालुक्य प्रमुख, तात पिन्नम द्वारा इसी समय किया गया चेर्कु राजनरेंद्र पर आक्रमण भी रुद्रमदेवी के त्रिपुरांतकं अभियान से संबंधित था। राजनरेंद्र संभवतया अंबदेव का सामंत एवं मित्र था। दोनेरुनाथ द्वारा रचित तेलुगु 'द्विपद बालभागवतं' में उसका उल्लेख सभी प्रकार के कर्मों के कर्ता के रूप में किया गया है।[199] तात पिन्नम, कुमार रुद्रदेव का समकालीन प्रतीत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है और यह संभव नहीं कि वह चेरंकु प्रमुख के विरुद्ध रुद्रदेव के कहने पर ही बढ़ा था। उसने राजनरेंद्र के दुष्ट जीवन का अंत कर दिया। यह तथ्य रोचक है कि शक सं० 1212 (1290-1 ई०) के बाद ही कुर्नूल जिले के नंदिकोत्कुर 'तालुक' से प्राप्त अभिलेखों में चेरंकुओं के उल्लेख का आरंभ होता है तथा प्रायः उन्हें काकतीय सम्राट के सामंत के रूप में ही वर्णित किया गया है। कुमार रुद्रदेव (जो इस समय तक सामान्यतया प्रतापरुद्रदेव के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था) के प्रति उनकी राज्यास्था थी। चेरंकु वंश सबसे पहला अभिलेख शक सं० 1212 विकृति का है, तथा कुर्नूल जिले के नंदिकोत्कुर तालुक में मल्याल से प्राप्त हुआ। इसमें, महा-सामंत चेरंकु बोल्लय रेड्डि के पुत्र, रुद्रदेव को काकति रुद्रकुमार अर्थात कुमार रुद्रदेव के सामंत के रूप में वर्णित किया गया है।[200] यह प्रमुख, संभवतः 'महासामंत' चेरंकु वेलूरु बोल्लय रेड्डि का पुत्र, राच रुद्रदेव ही था। काकति प्रतापरुद्रदेव के सामंत के रूप में इसका उल्लेख एक अन्य अभिलेख में भी हुआ है, जो उसी 'तालुक' एवं जिले में लिंगाल से प्राप्त हुआ है और इसकी तिथि शक सं० 1213 नंदन (1293 ई०) है।[201] यद्यपि राच रुद्रदेव एवं तात पिन्नम के शत्रु, राजनरेंद्र की तादात्म्यता स्थापित करना अत्यंत रोचक है, किंतु प्राप्य प्रमाणों से इस संबंध में कोई निश्चित निष्कर्ष प्राप्त नहीं होते। अभी तो उपर्युक्त चेरंकु प्रमुखों से राजनरेंद्र के संबंध अनिश्चित ही हैं, हालांकि ये सभी प्रमुख निस्संदेह एक ही वंश के सदस्य थे।

जब रुद्रमदेवी एवं तात पिन्नम, पश्चिम की ओर से अंबदेव एवं चेरंकुओं से युद्ध कर रहे थे, उसी समय प्रतापरुद्र के 'सकल-सेनाधिपति' एवं उसके दाएं हाथ (दक्षिण भुजादंड) अडिदम मल्लु ने भी तट के सहारे सहारे दक्षिण में विक्रमसिंहपट्टण (नेल्लोर) की ओर कूच किया। यहां पर अब भी मनुम गंडगोपाल का शासन था, जो अंबदेव का आश्रित था तथा जिसे अंबदेव ने ही 1282 ई० में उसके सिंहासन पर पुनः स्थापित किया था। इस कूच में अडिदम मल्लु का यही उद्देश्य था कि मनुमगंडगोपाल अपने संरक्षक के साथ न मिल सके तथा उसके द्वारा भेजी जाने वाली सैनिक सहायता को रोका जा सके। मनुम गंडगोपाल ने बढ़ी हुई काकतीय सेना को रोका तथा वह इस मुठभेड़ में मारा गया। इसके पश्चात ही अपनी विजय की स्मृति में अडिदम मल्लु ने, 'मनुम गंडगोपाल-शिरः-खंडन' (मनुम-गंडगोपाल का शिरोच्छेदन करने वाला) की उपाधि धारण की।[202] काकतीय सेनापति से मनुम गंडगोपाल की मुठभेड़ और बाद में उसकी मृत्यु की तिथि ज्ञात नहीं है। किंतु राज गंडगोपाल के नाम से ज्ञात किसी मधुरांतक पोत्तपि चोड रंगनाथ ने नेल्लोर के सिंहासन पर उसके उत्तराधिकारी के रूप शक सं० 1212 (1290 ई०) में शासनारंभ किया था। यह उसके अभिलेखों से स्पष्ट है। अतः यह विश्वसनीय रूप से कहा जा सकता है कि काकतीय आक्रमण एवं मनुम गंडगोपाल की मृत्यु उसी वर्ष हुई थी।

राज गंडगोपाल द्वारा नेल्लोर के सिंहासन को प्राप्त करने की परिस्थितियां अस्पष्ट हैं। संभवतः वह अपने राज्यारोहण के लिए काकतीय सम्राट के समर्थन का ऋणी है। यदि ऐसा है तो चयन अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि राज गंडगोपाल धोखेबाज निकला। उसने शीघ्र ही पांड्यों का साथ देकर अपने उपकारी का विरोध किया। अतः उसके विश्वासघात के लिए उसको दंडित करने के उद्देश्य से, नेल्लोर के विरुद्ध दूसरा अभियान भेजना आवश्यक हो गया था और इससे पांड्यों के साथ भी युद्ध करना पड़ा। सेना का नेतृत्व प्रतापरुद्र के तेलुगु चोल सामंत मनुम गंडगोपाल को सौंपा गया, इसे उसी नाम का, अंबदेव का आश्रित नहीं समझना चाहिए क्योंकि वह तो पहले ही अभियान में मारा गया था। मनुम गंड-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गोपाल, गुंटूर जिले में नरसाराओपट के निकटवर्ती क्षेत्र का शासक था। जब मनुम गंडगोपाल अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए नेल्लोर के निकट पहुंचा, तो राज गंडगोपाल एवं उसके पांड्य मित्र ने कड़ा विरोध किया। फिर भी, उनकी पराजय हुई, क्योंकि मनुम गंडगोपाल के शक सं० 1219 हेवलंबि (1297 ई०) के नरसाराओपेट अभिलेख के अनुसार उसने 'द्रविड़ (पांड्य) सेना रूपी समुद्र को बड़वानल की भांति पी लिया, तथा राज गंडगोपाल एवं उसके मित्र भी उसके सम्मुख अपमानित हुए थे।'[203]

लगभग इसी समय, गोन विट्ठल के नेतृत्व में एक अन्य अभियान गोन वंश की राजधानी वर्धमानपुर से चला। वर्धमानपुर महबूबनगर जिले में अब वड्डमानु नाम से ज्ञात है। उसने काकतीय साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर सेउण प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। नरसाराओपेट के उपर्युक्त मनुम गंडगोपाल एवं नल्लप नायक के पुत्र प्रोली नायक ने भी अभियान में भाग लिया तथा दोनों ने ही रणक्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त की। इन दोनों प्रमुखों ने क्रमशः सेउण-कटकवेणु-कबलन-दाव-पावक' (सेउण सेना रूपी बांस के वनों को घेरने वाले दावानाल) तथा, 'सेउण-लवणि पंचान' (सेउण-हरिण पंचानन की भूल, जो सेउण नरेश रूपी मृग के लिए सिंह के समान है) उपाधियां धारण की थीं।[204] अभियान के दौरान घटित की कुछ महत्वपूर्ण घट-नाओं का उल्लेख, उस अभिलेख में है जो गोन विट्ठल ने अपनी उपलब्धियों का वर्णन करने के लिए शक सं० 1216 जय (1294 ई०) में रायचूर के दुर्ग में स्थापित किया था। इस अभि-लेख के अनुसार विट्ठल ने रायचूर 'दोआब' में मानुव एवं हालुव सहित अविभाजित मद्रास राज्य के प्राचीन बेल्लारी जिले में आदवानि एवं तुंबुलम के दुर्गों को जीता था। इस क्षेत्र पर अधिकार करने वाले प्रमुखों को पराजित कर विट्ठल ने अंतिम रूप से रायचूर नगर में प्रवेश किया, जहां उसने इस प्रदेश एवं उसके निवासियों को भावी आक्रमणों से सुरक्षित करने के लिए सुदृढ़ दुर्ग बनायां।[205] यह स्पष्ट है कि विट्ठल ने कृष्णा तुंगभद्रा 'दोआब' को देवगिरि के यादवों से ही छीना होगा, तथा रायचूर की किलाबंदी करके उसके पुर्नविजय को रोकने के कदम उठाए होंगे। 'रायचूर' के दुर्ग से वह संपूर्ण क्षेत्र का समुचित नियंत्रण कर सकता था।

सेउणों के विरुद्ध उपर्युक्त अभियान, संभवतः रुद्रमदेवी के शासन काल की अंतिम सैनिक गतिविधि थी। कृष्णा-तुंगभद्रा 'दोआब' की विजय एवं रायचूर के दुर्ग के निर्माण के कुछ समय बाद ही, शक सं० 1217 (1295 ई०) में, रानी मर गई। निस्संदेह, रुद्रमदेवी आंध्र प्रदेश के महानतम शासकों में से एक थी। यद्यपि वह स्त्री थी, फिर भी उसने लिंग संबंधी कठिनाइयों को अपने उच्च पद के कर्त्तव्यों पर हावी नहीं होने दिया। उसने अनेक मामलों के सुसंचालन द्वारा अपने पुरुष नाम, रुद्रदेव, के औचित्य को सिद्ध किया। यह नाम उसके पिता ने ही रखा था। उसने राज्य के प्रशासन में सक्रिय भाग लिया; उसने पुरुषों के वस्त्र धारण करके प्रतिदिन दरबार की अध्यक्षता की, विदेशियों से भेंट की, गुप्तचर सेवाओं की रिपोर्टों को सुना, अपने राज्यों के मंत्रियों सेनापतियों एवं अन्य उच्चाधिकारियों से विचारविनिमय किया और इन सभी को राज्य के सर्वोत्तम हितों की वृद्धि करने के लिए राय दी। संकट के समय में शत्रु के विरुद्ध अपनी सेना का स्वयं नेतृत्व करने में भी वह हिचकिचकाई नहीं। वह केवल वीर एवं हिम्मतवाली योद्धा ही न थी, अपितु उसने सेनापति के रूप में भी महान योग्यता प्रदर्शित की। इस संदर्भ में सेउण नरेश महादेव के विरुद्ध उसका नेतृत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महादेव ने इस विश्वास के साथ आक्रमण किया था कि वह स्त्री द्वारा निर्देशित सेना को आसानी से जीत लेगा। राज्य को अव्यवस्थित कर देने वाले निरंतर युद्धों के होते हुए भी, रुद्रमदेवी के शासनकाल में जनता संतुष्ट एवं प्रसन्न रही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
रुद्रमदेवी के सामंत, मंत्री एवं अधिकारी : मल्यालों, गोनों एवं रेचेर्रलों जैसे महान सामंत वंश, जिन्होंने काकतीयों के आरंभिक इतिहास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था, अब साम्राज्य के मामलों में सक्रिय रुचि नहीं ले रहे थे। यद्यपि रुद्रदेव (रुद्रांबा) के शासन काल का सेनापति, मल्याल गुंड, शक सं० 1196 (1274 ई०) तक जीवित रहा, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अवकाश प्राप्त कर लिया और रानी के शासनकाल के प्रथम दशक में साम्राज्य की नींव हिला देनेवाली उत्तेजक घटनाओं में उसने कोई भाग नहीं लिया। उसके पुत्र एवं परिवारके अन्य सदस्य, अब राजनीतिक मामलों की अपेक्षा, मंदिर निर्माण तथा सिंचाई के तालाब एवं नहरें बनवाने में अधिक रुचि लेते थे।[206] किंतु मल्यालों के विपरीत गोनों ने, जो उनसे वैवाहिक संबंधों में भी बंधे थे, कई महत्वपूर्ण सैनिक प्रयासों में उत्साहपूर्वक भाग लिया तथा पश्चिमी आंध्र प्रदेश की पुनर्विजय में, कुमार रुद्रदेव की बहुमूल्य सेवा की थी। इस संदर्भ में सेउण सेना के विरुद्ध, बेल्लारी एवं रायचूर जिलों में गोन गन्नय एवं उसके सेनापति विट्ठल की विजयें तथा रायचूर में सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस काल के अनेक अभिलेखों में, रेचेर्रलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता, हालांकि उसी नाम के वेलम परिवार ने राजनीतिक शक्ति के रूप में उनका स्थान ले लिया था। इस वंश के संस्थापक, चेव्वि रेड्डि अथवा बेताल नायडु के पुत्र प्रसादित्य के योगदान का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इस वंश का एक अन्य सदस्य, कोंताल नागि नायडु का पुत्र 'महामंडलेश्वर' मुम्मडि नायडु था, जिसे रुद्रमदेवी के शासनकाल के अंतिम वर्षों में 'सकल-सेनाधिपति' अर्थात सारी सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर का पद प्राप्त था।[207] किंतु हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में, चेव्वि रेड्डि के परिवार से उसका निश्चित संबंध निर्धारित नहीं किया जा सकता।

निस्संदेह, रुद्रदेवी के सामंतों में कायस्थ ही सर्वाधिक शक्तिशाली थे। चूंकि उसके इतिहास का पर्याप्त विस्तृत वर्णन पहले ही किया जा चुका है, अतः उसका और अधिक विवरणात्मक वर्णन व्यर्थ होगा। किंतु यह बता देना चाहिए कि, 1272 ई० में अंबदेव के राज्यारोहण तक वे रानी के प्रति सच्चे बने रहे और दृढ़तापूर्वक उसका समर्थन करते थे। यह भी विश्वासनीय तथ्य है कि अंबदेव भी, स्वयं शक्ति प्राप्त करने से पहले, निष्ठापथ से विचलित नहीं हुआ, तथा हठी सामंतों के दमन एवं सिंहासन पर रानी की स्थिति को संगठित करने में, उसने अपने अधिराज को बहुमूल्य सहायता दी। इस संदर्भ में, उसके अभिलेखों में उसके नाम के साथ प्रयुक्त 'राय-स्थापनाचार्य' की उपाधि विशेष महत्व की है क्योंकि इससे स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि कुलीनों के विरुद्ध युद्धों में उसके द्वारा लिया गया भाग भी कुछ कम महत्वपूर्ण न था।[208] किंतु रानी के विरुद्ध उसके विद्रोह एवं उसकी स्वतंत्रता की घोषणा की परिस्थितियां अत्यंत अस्पष्ट हैं, हालांकि उसके काल के प्राप्त अभिलेखों में उसके घटनाप्रधान जीवन की प्रमुख घटनाएं पर्याप्त स्पष्ट हैं।

नेल्लोर के तेलुगु चोलों के राज्य की स्थिति ही अत्यंत महत्वपूर्ण थी। वे पांड्यों, कायस्थ एवं काकतीय राज्यों के मिलन स्थल पर स्थित थे। अतः उन्होंने अंतर्राजीय संबंधों में महत्वपूर्ण भाग लिया, जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। 1263 ई० में पांड्यों के आक्रमण के दौरान मनुम सिद्धि द्वितीय की मृत्यु के बाद उनकी शक्ति के अस्थाई ह्रास के बावजूद, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वे अंत में अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने में सफल हो गए थे। राज गंडगोपाल के नाम से ज्ञात मनुम सिद्धि द्वितीय के पौत्र, रंगनाथ अपने दादा के सिंहासन पर स्वयं आसीन होने में सफल रहा।

इस काल में वेंगी पर अनेक क्षत्रिय वंशों ने राज्य किया, किंतु अधिराजिक शक्ति से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके संबंधों का जानना अत्यंत कठिन है, क्योंकि वे अपने अभिलेखों में किसी अधिराज का उल्लेख नहीं करते हैं। 1262 एवं 1278-9 ई० के बीच, वेंगी में काकतीय अभिलेख पूर्ण रूप से अनुपस्थित हैं, जिससे यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि इस काल के दौरान रुद्रमदेवी ने इस प्रदेश का नियंत्रण खो दिया था और उपर्युक्त अनेक क्षत्रिय वंश स्वतंत्र अधिकारों का प्रयोग कर रहे थे। इस संदर्भ में निडदवोलु के चालुक्यों एवं कोन के हैहयों के दो वंश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, इसलिए नहीं कि वे राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली थे, बल्कि इसलिए कि काकतीय शाही परिवार से उनके संबंध थे। वीरभद्र निडदवोलु जाति का था, जिससे काकतीय गणपतिदेव ने अपनी पुत्री रुद्रमदेवी का विवाह किया था। यद्यपि अभिलेखों में उसके माता पिता एवं परिवार से संबंधित कुछ सूचना दी गई है। फिर भी इस कुमार का पूर्व जीवन, स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। सबसे पहला अभिलेख शक सं० 1181 (1257 ई०) का है, जो पश्चिमी गोदावरी जिले के तनुकु तालुक में जुत्तिग नामक स्थान पर स्थित, वासुकिरवि सोमेश्वर के मंदिर के सम्मुख 'मंटप' में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसमें, चालुक्य वंश के उस वीरभद्रेश्वर के मंत्री विष्णु के दान का उल्लेख है जिसने काकतीय नरेश गणपति की पुत्री रुद्रमदेवी से विवाह किया था।[209] इसके वाद शक सं० 1186 (1264 ई०) का अभिलेख आता है, जो उसी जिले के नरसपुर 'तालुक' में पालकोल से प्राप्त हुआ था। इसमें वीरभद्र की माता उदयांबा द्वारा दिए गए दान का वर्णन है। यह दान, वीरभद्र के द्वारा धार्मिक पुण्य प्राप्ति के लिए किया गया था। इसमें कहा गया है कि वीरभद्र किसी चालुक्य प्रमुख विष्णुवर्धन का पौत्र और इंदुशेखर एवं उसकी पत्नी उदयांबा का पुत्र था।[210] किंतु इस विष्णुवर्धन की तादात्म्यता स्थापित नहीं जा सकती, क्योंकि इस काल में, पूर्वी चालुक्य उत्पत्ति के लगभग सभी कुमारों ने सामान्य रूप से इस नाम को उपाधि के रूप में धारण किया था।

रुद्रमदेवी के सामंतों में अनेक कुलीन, आरे अथवा महाराष्ट्र उत्पत्ति के थे। आरे अथवा महाराष्ट्र उत्पत्ति के अनेक परिवार, काकतीय पूर्व काल में, पश्चिम दकन से तेलुगु प्रदेश की ओर चले आए, और श्रीशैल पर्वतश्रेणी के पूर्वी किनारे पर पहाड़ी इलाकों में बस गए थे। ये क्षेत्र बाद में 'आरे भूमि 'अथवा' आरेवीडु' अर्थात् आरे लोगों का प्रदेश कहलाने लगा। उत्तर कालीन चालुक्य सम्राटों की राजधानी कल्याणी, एक विशेष केंद्र था, जहां से ये लोग आए थे। इन लोगों ने काकतीयों की सेवा स्वीकार कर ली तथा अनेक युद्धों में उल्लेखनीय योगदान दिया। गणपतिदेव के समकालीन वणग एवं उसके छोटे भाइयों दावुल एवं पेद्दिग ने उसके अधिकांश युद्धों में भाग लिया। शक सं० 171 (1249 ई०) में अथवा उससे कुछ पहले किसी अज्ञात शत्रु के विरुद्ध घमासान युद्ध में, दावुल एवं पेद्दिग मारे गए थे।[211] यह स्मरणीय है कि गणपति देव एवं नेल्लोर के मनुम सिद्धि द्वितीय की सेनाओं के साथ ही आर्यों ने भी पांड्यों का विरोध किया था, तथा मुत्तुकुर के रणक्षेत्र में पराजित हुए थे।[212] रुद्रमदेवी के आरे सामंतों में शार्ङ्गपाणिदेव, निस्संदेह ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, जो राजा सिंहण का पुत्र एवं देवगिरि के राजा महादेव का पिता था।[213] आरे उत्पत्ति के दो अन्य प्रमुख भी उल्लेखनीय हैं। उनमें से एक राणक गोपदेवराज था, जिसका उल्लेख शक सं० 1195 श्रीमुख (1273 ई०) के अभिलेख में हुआ है। यह अभिलेख, गुंटूर जिले के पल्नाद तालुक में गुंडुलापड्डु नामक स्थान से प्राप्त हुआ था।[214] राणक गोपदेव की उपाधि 'राय-दण्डाधिपति' से पता चलता है कि वह शाही सेना में सेनानायक था। दूसरा आरे प्रमुख पिन्नम अथवा तात पिन्नम था, जो परवर्ती आरेवीडु प्रमुखों का प्रवर्तक था। वह कुमार रुद्रदेव का आश्रित था जिसने उसे चेरकु प्रमुखों का दमन करने के लिए भेजा था। इसका उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'सामंत' संभवतः भिन्न भिन्न वर्गों के थे। इनके दो वर्ग थे : एक तो वे, जो 'सामंत' ही कहलाते थे तथा दूसरे वर्ग के महासामंत कहे जाते थे। रुद्रमदेवी के शक सं० 1195 श्रीमुख (1273 ई०) के कोटगिरि ताम्रपत्र में, विरियाल वंश के सामंत सूर का उल्लेख है।[215] दुर्जय-कुल के आभूषण, 'सामंत' पोति नायडु का उल्लेख, शक सं० 1199 बहुधान्य (1277 ई०) के अभिलेख में हुआ है, जो गुंटूर जिले के नरसाराओपेट तालुक में राविपाडु के स्थान पर है।[216] इस काल के अभिलेखों में चेरकु वंश के अनेक 'महासामंतों' के नाम मिलते हैं। शक सं० 1212-13 (1290-1 ई०) में वे कुर्नूल जिले के नंदिकोत्कुर तालुक के भागों पर राज्य कर रहे थे।[217] उपर्युक्त सामंतों की तुलना में 'सामंत' एवं 'महासामंत' किसी रूप में भिन्न थे, तथा उनकी पदवी, विशेषाधिकार एवं कर्तव्य क्या थे, ये सभी विवरण अभी निश्चित रूप से नहीं दिए जा सकते हैं।

अभिलेखों में रुद्रमदेवी एवं कुमार रुद्रदेव के अनेक 'महाप्रधानों' का उल्लेख आता है। इनमें से सर्वप्रथम, गन्नय के पुत्र महाप्रधान इंदुलरि अन्नयदेव का उल्लेख करना चाहिए क्योंकि वह शाही परिवार से संबंधित था।[218] महत्ता में उसके बाद 'महाप्रधान' पोंकल मल्लय 'प्रेग्गड' था, जो रानी का बाहत्तर-नियोगाधिपति था।[219] (यह द्रष्टव्य है कि 1258-9 ई० में गंडपेंडेर गंगयसाहिणि की मृत्यु के उपरांत इस पद को संभालनेवाला वह पहला मंत्री था। कुछ अस्पष्ट कारणोंवश इस मध्यांतर के दौरान इस पद पर कोई नियुक्ति नहीं हुई थी तथा सिंहासन पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित हो जाने के बाद ही रानी ने इस पद को पुनः नियुक्ति की। दो अन्य मंत्री 'महाप्रधान' गणपद्देव महाराज एवं 'महाप्रधान' गंगिदेव भी रानी की सेवा में थे। अपनी नानी की भांति कुमार रुद्रदेव के भी अपने विशेष मंत्री थे।[220] उसके एक 'मंत्री', बोल्ल 'सेनापति' का उल्लेख, नलगोंड जिले में पानुगल से प्राप्त, शक सं० 1212 विकृति (1290 ई०) के एक अभिलेख में हुआ है।[221] रुद्रांबा के शासनकाल के अभिलेखों में उसके अनेक 'महासेनाधिपतियों' 'सेनापतियों' एवं अन्य अधिकारियों का वर्णन मिलता है, किंतु चूंकि उनका उल्लेख अन्यत्र प्रशासन के अध्याय में किया गया है, अतः इस संदर्भ में उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। किंतु फिर भी, गोदावरी तट पर स्थित 'एक्कडील' मडपल्ले का स्वामी बोल्लि नायक, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गुंटूर जिले के पल्नाड 'तालुक' में पिन्नलि से प्राप्त शक सं० 1214 नंदन (1292 ई०) के एक अभिलेख में उसे 'वाहिनीपति' अर्थात सेना का कमांडर कहा गया है।[222] बोल्लि नायक मडपल्ले गांव का था जिसके नाम के आगे 'एक्कडीलु' जुड़ा हुआ है। यह एक्कडि अथवा 'एक्कटि' शब्द का, जिसका अर्थ असंबद्ध योद्धा होता है, बहुवचन है। अतः यह मान लेना उचित ही है कि बोल्लि नायडु, 'एक्कडियों' के बटेलियन का ही सेनानायक था।

प्रायः अभिलेखों में वर्णित 'अंगरक्षक' संभवतया सेना की अलग ही टुकड़ी थी। उनका मुख्य कर्त्तव्य सम्राट की रक्षा करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके दो वर्ग थे। वे जो रानी एवं सहशासक के अंगरक्षक थे तथा दूसरे वे जो महल की रक्षा के लिए थे। परुवत नायक, अप्पन बोल्लि नायक एवं चेन्न 'सेनाधिपति' पहले वर्ग के थे तथा नीलि नायक एवं बोल्लि नायक के पुत्र, बल्लय, कालय एवं वल्लय, दूसरे वर्ग के अंगरक्षक थे।[223] अंगरक्षक ऊंचे व्यक्तित्व के व्यक्ति होते थे, उन्हें सेना में सेनानायकों के रूप में नियुक्त किया जाता था तथा राजा के अन्य अधिकारियों के समान उन्हें भी नायंकर व्यवस्था के अंतर्गत जागीरें दी जाती थीं।

रुद्रमदेवी का परिवार : जैसा कि हम देख चुके हैं, रुद्रमदेवी ने निडदवोलु के पूर्वी चालुक्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुमार वीरभद्र से विवाह किया था। उसका कोई पुत्र न था तथा केवल दो पुत्रियां थीं मुम्म-डम्म एवं रुय्यम्म। 'प्रतापरुद्र-यशोभूषणं' के अनुसार मुम्मडम्म ने महादेव नामधारी किसी कुमार से विवाह किया जो अन्यथा अज्ञात है। उन दोनों का वीररुद्र अथवा प्रतापरुद्र नामक पुत्र हुआ, जिसे अपने पिता गणपतिदेव के आदेश पर रुद्रमदेवी ने अपने पुत्र के रूप में गोद लिया तथा सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाया। यद्यपि उसे युवावस्था में ही कठिन परिस्थि-तियों में विस्तृत साम्राज्य के प्रशासन का भार संभालने का दायित्व दे दिया गया था; फिर भी जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रतापरुद्र कसौटी पर खरा उतरा तथा उसने राज्य की नौका का उल्लेखनीय दक्षता एवं योग्यता से निर्देशन किया। 'प्रतापचरित्र' में निहित परंपरा के अनु-सार अन्नमदेव नामक उसका एक छोटा भाई भी था, किंतु किसी भी समकालीन अभिलेख में इस कुमार के अस्तित्व का चिह्न नहीं मिलता; हालांकि बस्तर के अंतिम वंश के शासक अपने वंश की उत्पत्ति उसी से बताते हैं। रुद्रमदेवी की दूसरी पुत्री रुय्यम्म [224] का विवाह, इंदुलूरि वंश के गन्नय के पुत्र, अन्नलदेव अथवा अन्नय से हुआ था।[225] वह रानी की सेवा में 'महाप्रधान एवं सेनाधिपति था। उसने राज्य के प्रशासन तथा रानी द्वारा अपने शत्रुओं के विरुद्ध लड़े गए युद्धों में बहुमूल्य सहायता दी।

प्रतापरुद्र
(1295-1323)

1294 ई० के अंत में रुद्रमदेवी की मृत्यु के बाद, 1295 ई० के आरंभ में प्रतापरुद्र वारंगल के सिंहासन पर बैठा। अपने राज्यारोहण के समय वह लगभग 35 वर्ष का था। चूंकि अपनी नानी की मृत्यु से अनेक वर्ष पहले ही वह उसके साम्राज्य के प्रशासन से संबंधित रहा था, अतः उसे पर्याप्त सैनिक एवं प्रशासनिक अनुभव था। स्वर्गीय रानी के अंतिम वर्षों के दौरान उसके द्वारा निर्देशित युद्धों के फलस्वरूप, राज्य के शत्रुओं का दमन हो चुका था उत्साहित युवकसम्राट के राज्यारोहण पर किसी ने भी सिर उठाने की हिम्मत न की। एक परंपरा के अनुसार, सिंहासन पर बैठते ही उसने साम्राज्य की सुरक्षा को दृढ़ करने के उद्देश्य से प्रशासनिक व्यवस्था का संगठन किया। कहा जाता है कि प्रतापरुद्र ने केवल वेलम जाति से ही 77 'नायकों' को भरती किया, उन्हें क्षेत्र दिए तथा प्रत्येक को राजधानी वारंगल के दुर्ग 77 बुर्जों में से एक एक की सुरक्षा का काम सौंपा।[226] यद्यपि यह परंपरा प्रांतीय पक्षपात से परिपूर्ण है, फिर भी यह निस्संदेह विश्वसनीय तथ्यों पर आधारित हैं। अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि कम से कम रुद्रांबा के काल से, यदि उससे पहले नहीं तो, साम्राज्य का प्रशासन 'नायकों' द्वारा होता था। ये लोग स्थलों अर्थात जिलों पर अधिकार रखते थे, किंतु वे किसी विशेष वर्ग के ही नहीं होते थे, अपितु जनता के सभी वर्गों में से भरती किए जाते थे। इसके अतिरिक्त इस परंपरा के विपरीत, नायकों की संख्या 77 न होकर वास्तव में 75 थी[227]। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि उनके पास राजधानी की सुरक्षा का दायित्व भी था।

प्रतापरुद्र ने अपनी नव-आदर्श सेना का परीक्षण उसे कायस्थ प्रमुखों के विरुद्ध युद्ध के लिए भेज कर किया। यह स्मरणीय है कि लगभग 1293 ई० में अंबदेव प्रतापरुद्र के हाथों परा-जित हुआ। उस समय वह अपनी नानी रुद्रांबा का सहशासक था। इस पराजय के परिणाम स्वरूप अंबदेव को त्रिपुरांतकं एवं उसके निकटवर्ती प्रदेश से पीछे हटने को बाध्य होना पड़ा। किंतु वह 1304 ई० तक अपने प्रदेश मुलिकि नाडु पर शासन करता रहा। उसके बाद उसका पुत्र त्रिपुरारि द्वितीय शासक बना, जो कम से कम 1305 ई० तक अपने पैतृक राज्य पर शासन करता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा।[228] अम्बदेव की उपरोक्त पराजय के बाद प्रतापरुद्र एवं कायस्थों के पारस्परिक संबंध स्पष्ट नहीं है। यद्यपि काकतीय इतिहास के लेखकों का कहना है कि अम्बदेव बाद में प्रतापरुद्र का सामंत बन गया, किंतु प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों से निश्चित रूप से पता चलता है कि स्वयं उसकी एवं उसके उत्तराधिकारियों की स्वतंत्र स्थिति पूर्ववत बनी रही। न अंबदेव के और न ही उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में किसी अधिराजका उल्लेख मिलता है। अतः यह स्वीकार कर लेना ही उचित प्रतीत होता है कि वे कुछ समय स्वतंत्र बने रहे। किंतु उनकी शक्ति बहुत दिन तक चलने वाली न थी। 1309 ई० में प्रतापरुद्र ने अपने सेनापति 'महाराय-पट्टसाहिणि' सोमय नायक के नेतृत्व में उनके विरुद्ध सेना भेजी। इन्दुलूरि अन्नय एवं अनेक अन्य सेनानायक भी अपनी सेनाएं लेकर उसके साथ गए। इसके पश्चात होने वाले युद्ध में मोपूरू अर्थात कायस्थों के राजाओं को उखाड़ दिया गया तथा उनके प्रदेशों का शासन सोमय नायक को सौंप दिया गया। ये प्रदेश साम्राज्य में मिला भी लिए गए थे।[229]

दक्कन में मुसलमानों के अतिक्रमणों के स्थाई संकट ने दक्षिण हिंदू राज्यों की सुरक्षा को खतरे में डाल दिया था। अत. साम्राज्य की सुरक्षा को सुदृढ़ करना वास्तव में तात्कालिक ध्यान का विषय बन गया था। अभिलेखीय प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि दक्खन में मुस्लिम सेनाएं सबसे पहले 12 वीं शताब्दी के मध्य में आई थीं। प्राचीन हैदराबाद राज्य के नालगोंड जिले में पानुगल से प्राप्त, 1267ई० के एक अभिलेख में रुद्रांबा के सहायक सेउण कुमार शार्ङ्गपाणिदेव के संबंध कहा गया है कि उसने तुरुष्क के जलप्लावन में डूबी पृथ्वी की रक्षा की थी।[230] इसी प्रकार की उपलब्धि का श्रेय 1282 ई० के अन्य अभिलेख में सेउण नरेश रामचंद्रराय अर्थात रामदेव को दिया गया है। यह अभिलेख बेल्लारी जिले में हलुवागलु के स्थान से प्राप्त हुआ है, और इसमें रामचंद्रराय को 'तुरुष्कों के विध्वंस से पृथ्वी के रक्षक' के रूप में वर्णित किया गया है।[231] यद्यपि प्रतापरुद्र के राज्यारोहण से अनेक दशक पहले ही, दक्खनी हिंदू राज्य उत्तर की ओर से आने वाले मुस्लिम खतरे से अवगत थे, किंतु प्रतापरुद्र द्वारा अपने साम्राज्य के सैनिक साधनों को पुनर्गठित करने के लिए त्वरित करने वाली घटना 1292 ई० में दैवगिरि पर गर्शास्प मलिक का आक्र-मण था, जो उसके राज्यारोहण के वर्ष में ही हुआ। इससे पहले यह कभी प्रकट नहीं हुआ था कि नवीन खतरे का सामना करने में हिंदू सैनिक संगठन कितना अपर्याप्त एवं अदक्ष था। अतः प्रतापरुद्र ने अपनी रक्षा के लिए नायंकर व्यवस्था को घुड़सवारों एवं हाथिओं के अतिरिक्त 900,000 सुसज्जित धनुर्धारियों द्वारा पुनर्गठित किया।[232] यह व्यवस्था उसके पूर्वजों के काल में प्रचलित की गई थी। नव-आदर्श सेना के परीक्षण का अवसर भी शीघ्र ही आ गया। देव-गिरि के विरुद्ध किए गए अपने अभियान से हिंदुस्तान को लौटने के तुरंत बाद ही गर्शास्प मलिक ने अपने चाचा व सम्राट सुल्तान जलाल उद्दीन खल्जी को धोखे से मार दिया और आलाउद् दीन खल्जी की उपाधि धारण करके दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तथा साम्राज्य का शासन आरंभ कर दिया। दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले तुर्की उत्पत्ति के शासकों में से वह सर्वा-धिक योग्य एवं महत्वाकांक्षी था। उसने अपने शासन काल के काफी शुरू में ही स्वयं को केवल हिंदूस्तान का ही नहीं, अपितु दकन एवं दक्षिण का भी स्वामी बनाने का दृढ़ निश्चय किया। इस उद्देश्य से उसने विस्तार की नीति का आरंभ किया, जिसके परिणामस्वरूप उसके उत्तरा-धिकारियों के काल में सुदूर दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वरम् तक सपूर्ण प्रायद्वीप पर दिल्ली का आधिपत्य हो गया था। समकालीन हिंदू स्रोतों के अनुसार, प्रतापरुद्र के शासन काल के दौरान केवल तेलिंगाना के विरुद्ध ही कम से कम आठ मुस्लिम आक्रमण हुए थे। अंतिम आक्रमण को छोड़कर, शेष सभी आक्रमणों में उसने सफलतापूर्वक आक्रमकों का सामना किया। अंतिम अभि-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यान में वह पराजित हुआ तथा बंदी बना लिया गया।[233] किंतु मुस्लिम इतिहासकारों ने केवल पांच आक्रामणों का उल्लेख किया है, जिनमें से तीन विजयी तथा दो घातक थे। अत्यंत संभव है कि मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने महत्वहीन अभियानों का उल्लेख नहीं किया। किंतु प्रतापरुद्र को अंतिम आक्रमण को छोड़कर सभी आक्रमणों के विरुद्ध निरंतर विजय प्राप्त करने का जो श्रेय दिया गया है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राप्त प्रमाण निश्चित रूप में से इसकी असत्यता की ओर इंगित करते हैं।

तेलिंगान के विरुद्ध अला-उद्-दीन का सर्वप्रथम अभियान 1303 ई० में हुआ। लूट एवं क्षेत्रीय विस्तार आक्रमण के उद्देश्य थे। दिल्ली के सल्तनत की सुरक्षा को खतरा पहुंचाने वाले राजपूतों एवं मंगोलों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अला-उद्-दीन को धन की आवश्यकता थी। वह दक्षिण के धनाढ्य हिंदू साम्राज्यों को लूटने के लिए उत्सुक था ताकि वह अपने निजी क्षेत्रों की सुरक्षा का सुदक्ष संगठन कर सके। तेलिंगाना के विरुद्ध अपने पहले आक्रमण के समय अला-उद्-दीन राजपूताना में चित्तौड़ के दुर्ग को घेरने में भी व्यस्त था। 'दाद्बेक-ए-हजरत' मलिक फख्र-उद्-दीन जूना तथा नुस्रत खां के भतीजे, कड़ा के झाजु को हिंदुस्तान के सभी अधिकारियों एवं सेनाओं के साथ वारंगल पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। चूंकि जिन मुस्लिम इतिहासकारों ने इसका वर्णन किया है, उन्होंने शीघ्रतापूर्वक इसे कुछ ही शब्दों में समाप्त कर दिया है; अतः हमारे पास अभियान के जो वर्णन हैं, वे अत्यंत अपर्याप्त हैं। उपर्युक्त दो सेनापतियों के नेतृत्व में मुस्लिम सेना बंगाल के मार्ग से बढ़ी तथा कूच के दौरान बाढ़ आने से उसे गहरी क्षति पहुंची, जिसमें अधिकांश लोग मर गए। चाहे कुछ भी हो, ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि अभियान वास्तव में तेलिंगाना पहुंच गया था। यह विश्वसनीय है कि काकतीय सेनाओं से हुई मुठभेड़ में वह पराजित हुआ था। 'वेलुगोटिवारि वंशावलि' में निहित वेलम प्रमुखों के वृत्तांत, मलिक नायब काफूर के आगमन से पूर्व, दिल्ली के मुसलमानों के विरुद्ध काकतीय विजय का उल्लेख करते हैं। प्रतापरुद्र के दरबार का एक अधिकारी, पोतुगंटि मैलि, प्राचीन हैदराबाद राज्य के करीमनगर जिले में उप्परपल्लि के निकट हुए युद्ध में दिल्ली के तुरुष्कों का मानभंग करने का दावा करता है।[234] चूंकि बाद में एक मौके पर मैलि दिल्ली में अला-उद्-दीन खल्जी के दरबार में गया था, अतः उप्परपल्लि की विजय उसी ने प्राप्त की होगी तथा यह विजयमलिक फख्र-उद्-दीन जूना के नेतृत्व वाली सेना के विरुद्ध ही हुई होगी। रुद्रांबा के एक मंत्री रेचेर्रल प्रसादित्य के पुत्र वेन्न ने भी युद्ध में तुरुष्कों को परास्त किया।[235] चूंकि वेन्न के पुत्रों को भी मुसलमानों के विरुद्ध प्रतापरुद्र के उत्तरकालीन युद्धों में भाग लेते हुए बताया गया है, अतः तुरुष्कों के विरुद्ध वेन्न की विजय भी उप्परपल्लि के स्थान पर ही हुई होगी। वारंगल के दुर्ग में स्थापित एक स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख, जिसकी नकल 1806 ई० में मैकेंजी सर्वेक्षकों ने की थी, 1362 सम्वत (1304-5 ई०) में मुसलमानों के विरुद्ध मनरंगोदरि राजु एवं लयिंगदेव की विजय का उल्लेख करता है।[236] इन अभिलेखों से स्पष्ट है कि मलिक फख्र-उद्-दीन एवं झाजु, तेलिंगाना के अंदर तक घुस गए और वारंगल राजधानी के पड़ोस में उप्परपल्लि तक पहुंच गए थे। इस स्थल पर काकतीय सेना ने उनकी प्रगति को रोक दिया तथा इसके बाद होने वाले युद्ध में दिल्ली की सेना बुरी तरह से पराजित होकर अव्यवस्थित रूप में वापस लौटने पर बाध्य हुई।

किंतु इस अभियान की असफलता से अला-उद्-दीन की विजय योजनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हालांकि उसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मंगोलों के निरंतर आक्रमणों तथा राजपूताना एवं पश्चिमी भारत में युद्धों के छिड़ जाने के कारण वह दक्षिण से मामलों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तात्कालिक ध्यान न दे सका। 1309 ई० तक हिंदुस्तान एवं पश्चिमी भारत की स्थिति का संतोषपूर्वक निराकरण किया जा चुका था; मंगोलों को अंतिम रूप से नष्ट कर दिया गया था; मालवा को जीत लिया गया था; गुजरात के राजा राय करन को पराजित कर उसे उसके राज्य से खदेड़ दिया गया था; देवगिरि के रामदेव के पुत्र संगम के विद्रोह का दमन हो चुका था तथा महाराष्ट्र को प्रभाविक रूप में सुल्तान के नियंत्रण में ले लिया गया था। अतः सुल्तान ने विचार किया कि अब वह विकेंद्रित हुए बिना ही दक्षिणी हिंदू राज्यों की विजय में लग सकता है। इसी उद्देश्य से उसने तेलिंगाना की विजय के लिए, मलिक नायब काफूर एवं ख्वाजा हाजी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। दक्षिण के हिंदू राज्यों को लूटने की अपनी इच्छा के अतिरिक्त, तेलिंगाना की ओर अभियान भेजने में अला-उद्-दीन के दो अन्य निश्चित उद्देश्य थे। एक तो वह अपनी सेना की पिछली पराजय के अपमान की स्मृति को मिटा देना चाहता था और दूसरी ओर वह प्रतापरुद्र को दंडित करना चाहता था क्योंकि उसने गुजरात के राय करन को शरण दी थी, जो उसके दरबार में शरण मांगने के लिए आया था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान को अभियान की सफलता के प्रति कुछ संदेह था, क्योंकि उसने मलिक नायब काफूर को कड़े उपाय न करने की चेतावनी थी तथा तो उसे यह आदेश भी दिया कि यदि प्रतापरुद्र समर्पण कर दे तथा कर देना कर ले तो उसे उसके प्रदेश से वंचित न करे।[237]

दिल्ली से अभियान का आरंभ हिजरी संवत (हि० सि०) 709 के जुमाद के 25 वें दिन (31 अक्टूबर, 1309 ई०) हुआ; अभियान देवागिरि में कुछ दिन के लिए रुका और फिर वसिरगढ़ के हीरे की खानों के जिलों से होकर तेलिंगाना की ओर बढ़ा तथा सर्बर के दुर्ग पर पहुंच गया, जिसे उसने घेरे बाद जीत लिया। नेता तथा दुर्ग रक्षकों ने मुसलमानों के हाथों में पड़ने की अपेक्षा मर जाने का निश्चय किया। उन्होंने महान अग्नि प्रज्वलित की तथा अपनी पत्नियों एवं संतानों सहित उसमें कूद पड़े। दुर्ग को स्वर्गीय नेता के जीवित भाई अन्ना नीड को सौंप दिया गया, क्योंकि उसने सुल्लतान की आज्ञा मानना स्वीकार कर लिया था।[238]

सर्बर से आए प्रवासियों ने जो रक्षा के लिए राजधानी की ओर भाग आए थे, प्रतापरुद्र को मुस्लिम आक्रमण की सूचना दी थी। किंतु उसे अचंभा नहीं हुआ, क्योंकि वह कभी न कभी सुल्तान द्वारा अपने राज्य पर आक्रमण की अपेक्षा कर ही रहा था। उसके पास 900,000 प्यादों, 20,000 घुड़सवारों एवं 1000 हाथियों से सुसज्जित शक्तिशाली सेना थी। इसके अतिरिक्त कुछ पड़ोसी प्रमुखों ने भी उसे सहायता देने का वचन दिया था। किंतु मलिक नायब ने उसे अपनी सेनाओं को लड़ने के लिए एकत्र करने का समय ही नहीं दिया। वह द्रुत गति से से वारंगल की ओर बढ़ा तथा प्रतापरुद्र द्वारा तैयारियां पूरी की जाने से पहले ही उस नगर को घेर लिया।

मलिक नायब काफूर को किसी गंभीर विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। 20 जनवरी 1310 ई० को काकतीय राजधानी के निकट पहुंचने पर असने आनुमकोंड की पहाड़ी पर कब्जा कर लिया तथा अपने शिविर की सुरक्षा के लिए 'कटखर' अर्थात लकड़ी का अवरोध खड़ा करके, स्वयं वहां जम गया। वारंगल नगर में एक के अंदर दूसरा दुर्ग था, तथा दोनों के चारों ओर गहरी खाई थी। बाहरी दुर्ग कर्दम से बना हुआ था और 'प्रतापचरित्र' के अनुसार 77 बुर्जों से सुरक्षित था, जिनमें से प्रत्येक की रक्षा का काम एक-एक 'नायक' को सौंपा गया था। राज्य के सभी सैनिक उसमें एकत्र थे। अंदर का दुर्ग पत्थरों से निर्मित था तथा सहायक प्रमुख विशिष्ट कुलीन अपने अपने कोषों एवं हाथियों सहित राजा के साथ इसी में निवास करते थे। दुर्ग का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घेरा 19 जनवरी 1310 ई० को आरंभ हुआ। मुस्लिम शिविर पर हिंदुओं के जवाबी आक्रमण के होते हुए भी, वह 25 दिनों तक पूरे जोर पर रहा, जबकि 12 फरवरी 1310 ई० को कर्दम दुर्ग पर धावा बोला गया। युद्ध के पश्चात जो रक्षक बच गए, वे अंदर के दुर्ग में घुस गए। किंतु प्रतापरुद्र ने समर्पण करने से इनकार कर दिया तथा मलिक नायब काफूर को पत्थर के दुर्ग का भी घेरा डालना पड़ा। उसके चारों ओर के प्रदेशों में हिंदू सैनिकों की गतिविधियों से उसका ध्यान विकेंद्रित हो जाता था। उसकी सेना के प्रधान कार्यालय एवं दिल्ली के बीच की संचार एवं पत्राचार व्यवस्था को भंग कर दिया गया था, इस बात की आशंका की जाती थी कि संपूर्ण यातायात को नष्ट कर दिया जाएगा। फिर भी, मलिक नायब ने अपनी गतिविधियों को क्रियान्वित करने में ढील नहीं डाली। उसने प्रदेश को ध्वस्त करने एवं निवासियों को आतंकित करने के लिए अपने सैनिकों के दलों के नगर के अंदर भेजा। निवास स्थल के अभाव में अंदर के दुर्ग में घिरे हुए लोगों की दशा अत्यंत गंभीर हो गई और अंत में प्रतापरुद्र अधिक देर तक न टिक सका। अतः उसने संधि की वार्ता आरंभ की। मलिक नायब ने घेरे को उठाना तथा दिल्ली लौट जाना स्वीकार कर लिया; किंतु इस शर्त पर कि प्रतापरुद्र अपनी संपूर्ण संचित संपत्ति का त्याग करे. सुल्तान को वार्षिक रूप से निश्चित धन राशि देने का वचन दे तथा कर के रूप में हाथियों की टुकड़ी भेजे। प्रतापरुद्र ने ये शर्तें स्वीकार कर लीं तथा अपने संपूर्ण कोष हाथी एवं घोड़े समर्पित कर दिए। मलिक नायब, जो इस बात से संतुष्ट था कि उसने अपने सुल्तान के निर्देशों का पूर्ण रूप से पालन कर लिया था, दिल्ली के लिए रवाना हुआ तथा 10 जून, 1310 ई० को वह सुरक्षित रूप से राजधानी में पहुंच गया।[239]

प्रतापरुद्र ने अपने कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक निभाए। उसके पश्चात प्रत्येक वर्ष वह एक निश्चित धन राशि तथा कुछ हाथी, दिल्ली के दरबार को भेज देता था। एक अवसर पर जब प्रतापरुद्र के अधिकारी सुल्तान के दरबार में थे तो एक मनोरंजक घटना हुई, जो उल्लेखनीय है। यह घटना विजेता एव विजित के मैत्री पूर्ण संबंधों को प्रदर्शित करती है। प्रतापरुद्र के दो अधिकारियों, पोतुगंटि मैलि एवं तेलिग बिज्जन ने, जो संभवतया श्रद्धा व्यक्त करते के लिए भेजे गए सैनिकों के नेतृत्व में दिल्ली गए थे, शाही दरबार की उपस्थिति में 'दाखोल' पर द्वन्द्व का प्रदर्शन किया। वे सुल्तान एवं उसके दरबारियों के सम्मुख खड्ग चलाने की कला की दक्षता दिखाना चाहते थे, जिसके लिए दक्खनी लोग दीर्घ काल से प्रसिद्ध थे। सुल्तान अला-उद्-दीन संभवतः प्रतापरुद्र का अत्यधिक सम्मान करता था क्योंकि उसने बाद में, जैसा कि अभी दिखाया जाएगा, अपने कुछ दक्षिणी अभियानों में उसकी सहायता की मांग की थी।

मुस्लिम आक्रमण को दूर रखने में प्रतापरुद्र की असफलता ने उसके साम्राज्य में विखंडन की शक्तियों को प्रोत्साहित किया। यह स्थिति विशेष रूप से दक्षिणी जिलों में गंभीर थी, क्योंकि उन्हें हाल ही जीता गया था। पूर्वकालीन कायस्थ प्रदेशों में विप्लव हो गया तथा नेल्लोर के तेलुगु चोल शासक रंगनाथ ने भी आधिपत्य को त्याग कर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। तेलिंगाना से मुस्लिम आक्रामकों के लौटते ही परिस्थितियों के अनुसार प्रतापरुद्र ने शीघ्र ही विद्रोहियों का दमन करने तथा दक्षिणी जिलों को पुनः अपने नियंत्रण में लाने के लिए निश्चित उपाय किए। उसने जुट्टय-लेंक गोंकय रेड्डि के नेतृत्व में एक सेना मल्लिदेव के विरुद्ध भेजी, जो संभवतया कायस्थ परिवार का वंशज था और जिसने स्वयं को गंडिकोट में में जम कर अपने पैतृक राज्य को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया था। संभवतः सेउणों से भी कुछ सहायता मिली थी, क्योंकि गोंकण रेड्डि के अभियान का वर्णन करने वाले अभिलेख में प्रतापरुद्र को 'ओड्डियराय-दिशापट्ट' एवं 'सेउण-धट्ट-विभाल' कहा गया है।[240] मल्लिदेव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पराजित हुआ और मार दिया गया तथा गंडिकोट जीत लिया गया। प्रतापरुद्र ने गोंकय रेड्डि को मुलिकि-नाडु एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों का उपराजा नियुक्त किया तथा उसे गंडिकोट भेज दिया। किंतु जब वह नेल्लोर के तेलुगु चोल राज्य पर आक्रमण करने की तैयारियों में व्यस्त था, तभी उसे दिल्ली से आदेश प्राप्त हुआ, जिसमें उसे ससैन्य शाही सेना के साथ, दक्षिण में पांड्य राज्य के विरुद्ध अभियान में जाने का निर्देश दिया गया था।

जिन परिस्थितियों में सुल्तान ने प्रतापरुद्र को दक्षिण की ओर बढ़ने का आदेश दिया था उसकी व्याख्या की आवश्यकता है। 1310 ई० में पांड्य नरेश मारवर्मन कुलशेखर की मृत्यु पर, उसके दो पुत्रों अर्थात सुंदर पांड्य एवं वीर पांड्य के बीच सिंहासन के लिए गृह-युद्ध दिया छिड़ गया था। जब दोनों भाइयों का पारस्परिक युद्ध जारी था तथा प्रश्न अनिर्णीत ही था, मलिक नायब काफूर ने अपने स्वामी अलाउद्दीन खलजी के कहने पर 1311 ई० में पांड्य राज्य पर आक्रमण कर दिया। पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न अराजकता के कारण वह दक्षिण में पांड्य राजधानी मदुरा तक निर्विरोध बढ़ने में सफल हो गया। किंतु यद्यपि आरंभ में उसने जो सामने आया उसी पर आधिपत्य कर लिया, फिर भी अंत में वह पराजित हुआ और उसे वापस स्वदेश लौटना पड़ा। वह जो कुछ भी लूट सका था, अपने साथ ले गया। मलिक नायब के आक्रमण के कारण जो गृह-युद्ध कुछ समय के लिए रुक गया था, वह उसकी पराजय के बाद पुनः आरंभ हो गया। शीघ्र ही क्विलोन के रविवर्मन कुलशेखर के उदय से स्थिति और अधिक पेचीदा हो गई। वह सुंदर पांड्य का सहायक था और उसने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करके उसे साम्राज्य से बाहर खदेड़ दिया, फिर उसने वीर पांड्य पर आक्रमण किया तथा एक घमासान युद्ध में उसे भागने पर बाध्य करके, स्वयं को 1313 ई० ई० में कांची के स्थान पर अभिषिक्त करवा लिया था। इस प्रकार अपने राज्य से वंचित होकर सुंदर पांड्य दिल्ली के दरबार की ओर भाग गया तथा उसने अलाउद्दीन से सहायता की मांग की। अलाउद्दीन ने, जो पांड्य साम्राज्य को अपनी प्रभुसत्ता के अंतर्गत लाने के लिए उत्सुक था, उसे सिंहासन पर पुनः स्थापित करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। किंतु वह इस उद्देश्य के लिए पूर्ण अभियान भेजने में असमर्थ था। इस असमर्थता के दो कारण थे : एक तो 1312-13 ई० में रामदेव की मृत्यु के उपरांत देवगिरि में विद्रोह आरंभ हो गया था, दूसरी ओर मलिक नायब के नेतृत्व में उसकी अधिकांश सेना महाराष्ट्र के युद्ध में व्यस्त थी। अतः सुंदर पांड्य के साथ कुछ टुकड़ियां भेजते समय सुल्तान ने प्रयास की सफलता को निश्चित करने के उद्देश्य से, प्रतापरुद्र को भी, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, शाही सेना की सहायता करने का आदेश दिया था। इस संयुक्त सेना का उद्देश्य पांड्य नरेश को उसके हारे हुए प्रदेश पर पुनः स्थापित करना था।

सुल्तान का आदेश प्रतापरुद्र की योजनाओं के अनुकूल था क्योंकि इसके द्वारा वह न केवल बिना किसी कठिनाई के नेल्लोर के राज्य पर अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित करने में समर्थ होता, अपितु पांड्यों से कांची नगर भी छीन सकता था, जो उन्होंने पूर्ववर्ती काल में उसके पूर्वजों से छीन लिया था। अतः उसने अपनी संपूर्ण सेना को एकत्र किया तथा उसे मुप्पिडि नायक के नेतृत्व में दक्षिण की ओर भेज दिया। उसे नेल्लोर पर अधिकार करने एवं सुंदर पांड्य को उसके राज्य पर पुनः स्थापित करने के निर्देश दिए गए थे। यद्यपि प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सुल्तान की सेना ने भी इस संघर्ष में भाग लिया था,[211] फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि अभियान का मुख्य भार स्वयं प्रतापरुद्र के ही कंधों पर पड़ा था; क्योंकि 1316 ई० में दिल्ली में सुल्तान की मृत्यु हो गई थी तथा बाद में मलिक नायब काफूर के आदेश पर संपूर्ण मुस्लिम सेना को दकन से हटा लिया गया था।[212] अभियान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के दौरान गतिविधियों की तीन निश्चित अवस्थाएं थीं : (1) नेल्लोर के राज्य का अधिकरण (2) बल्लाल तृतीय से युद्ध एवं शंबुवराय की पुनर्स्थापना तथा (3) पांड्यों से युद्ध तथा सुंदर पांड्य की पुनर्स्थापना। मुप्पिडि नायक के पुत्र, पेद्द रुद्र के नेतृत्व में काकतीय सेना वारंगल से रवाना हुई तथा नेल्लोर के श्रीरंगनाथ के विरुद्ध बढ़ती हुई प्रतीत होती है, जो पराजित हुआ और भाग गया। इसके बाद, उसी के आसपास कोट तिक्क नामक किसी प्रमुख से सेना नायक का संघर्ष हुआ। तिक्क अपने साथियों सहित युद्ध में मारा गया। तदुपरांत पेद्द रुद्र नारायणवन के वन क्षेत्र की ओर बढ़ा और अनेक मन्निय दुर्गों को जीता, जो उस क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में थे। प्रतापरुद्र द्वारा जागीर के रूप में मुप्पिडि नायक को दिया गया नेल्लोर का राज्य शीघ्र ही नियंत्रित कर लिया गया तथा पेद्द रुद्र बल्लाल तृतीय के विरुद्ध बढ़ा, जो उस समय उसी के पड़ोस में कहीं था। किंतु वह वहां आया ही कैसे था यह अनुमान लगाना कठिन है। अपने चचेरे भाई विश्वनाथ की मृत्यु तथा 1300 ई० में उसके राज्य के एकीकरण के समय से ही परिस्थितियों के अनुकूल होते ही बल्लाल तृतीय तामिल प्रदेश में अपने वंशीय क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने के सतत प्रयास कर रहा था। इस प्रकार 1310 ई० में मारवर्मन कुलशेखर की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्रों वीर पांड्य एवं सुंदर पांड्य में गृहयुद्ध छिड़ जाने पर बल्लाल दक्षिण की ओर विजय अभियान के लिए रवाना हुआ। किंतु अपने पीछे मलिक काफूर के नेतृत्व में दिल्ली की सेना के अप्रत्याशित आगमन को देखकर उसे पीछे लौटने को बाध्य होना पड़ा। यद्यपि सुल्तान के भय तथा दकन में मलिक नायब की उपस्थिति के कारण उसे कुछ समय के लिए दक्षिणी क्षेत्र का विलय करने की अपनी योजना को छोड़ना पड़ा, फिर भी सुल्तान की मृत्यु एवं मलिक नायब एवं मुसलमान सेना की नर्मदा को पार कर दिल्ली की ओर वापसी ने उसे अपनी अभिलाषाओं को पूरी करने के लिए नवीन प्रयास करने के लिए उत्साहित किया। इस बार वह स्पष्ट रूप से अपने प्रयास में सफल हुआ। तोंडैमंडलं का अधिकांश भाग, जिसमें संभवतया जिले की राजधानी कांची भी थी, उसके हाथों में आ गया, तथा पडैवीडु के शंबुवराय एवं चंद्रगिरि के यादवराय जैसे कुछ स्थानीय प्रमुखों ने संभवतया समर्पण कर दिया। किंतु पेद्द रुद्र ने बल्लाल तृतीय एवं उसके सामंतों को पराजित किया, बल्लाल द्वारा हाल ही में जीते गए प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा उसी समय शंबुवराय को उसके पैतृक राज्य पर पुनः स्थापित कर उसे प्रसन्न किया। फिर वह कांची नगर की ओर बढ़ा तथा बिना किसी विशेष विरोध के उस पर भी अधिकार कर लिया।[243]

कांची पर काकतीयों के अधिकार ने पांड्यों की नवीन गतिविधियों को जागृत किया। 'वेलुगोटिवारि वंशावली' के अनुसार पांच पांड्यों ने अपनी सेनाएं एकत्र कीं तथा काकतीयों को शहर से निकालने एवं वहां अपने प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने के लिए कांची की ओर बढ़े। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मौके पर युद्ध का संचालन करने के लिए स्वयं प्रतापरुद्र आ पहुंचा और सेना का नेतृत्व करने लगा। कांची के समीप ही एक महान् युद्ध हुआ जिसमें दोनों ही पक्ष अत्यंत दृढ़ता से लड़े। पांड्यों की हाथी सेना ने तेलुगु घुड़सवारों पर धावा बोल दिया तथा उनके दलों में आतंक फैला दिया, किंतु अपने प्रमुख रेचेर्ल एर्रर दाच के नेतृत्व में वेलमों तथा रेड्डि सैन्य दलों में भी दृढ़ता से सामना किया और पराजय से बच गए। एर्रर दाच ने पांड्य हाथी सेना के नेता पर धावा बोलकर तथा उसे बंदी बनाकर प्रतापरुद्र के दरबार के प्रसिद्ध योद्धाओं की प्रशंसा प्राप्त की। यही कृत्य युद्ध का मोड़ था और शीघ्र ही काकतीय सम्राट की विजय हो गई। प्रतापरुद्र ने मानवीर को कांची का उपराजा नियुक्त किया तथा देवरि नायक को आदेश दिया कि वह पाड्य राज्य के अंदर घुस कर युद्ध करे तथा वीरधावल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुंदर पांड्य को उसके सिंहासन पर स्थापित करे। इसके पश्चात् स्वयं प्रतापरुद्र अपनी राजधानी को वापस लौट गया।

अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए देवरि नायक दक्षिण की ओर बढ़ा। उसकी सेना की गतिविधियों एवं इस दौरान हुई घटनाओं के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। किंतु यह निश्चित है कि वीर पांड्य ने अपने भूतपूर्व शत्रु, रविवर्मन कुलशेखर से संघर्ष समाप्त कर दिया तथा अन्य पांड्य कुमारों को अपने ध्वज के नीचे एकत्र करके, तेलुगु सेना की प्रगति का सामना करने की तैयारियां कीं। विपक्षी दल, दक्षिणी अर्काट जिले के जिंजी तालुक में तिरुवडिकुन्नं ग्राम के निकट मिले तथा घमासान युद्ध हुआ, जिसमें हाथियों ने पुनः महत्वपूर्ण भाग लिया, देवरि नायक ने वीर पांड्य तथा ललयाल तिरुवडि रविवर्मन् कुलशेखर को पराजित किया तथा वीरधावल सिंहासन पर सुंदर पांड्य को पुनः स्थापित किया।[244]

किंतु जब प्रतापरुद्र दक्षिण में पांड्यों से युद्ध करने में व्यस्त था तो दिल्ली में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। मलिक नायब काफ़ूर, जो सुल्तान शिहाब उद् दीन के नाम पर साम्राज्य का प्रशासन कर रहा था, मार दिया गया; तथा अलाउद्दीन का अन्य पुत्र कुत्बउद्दीन मुबारक शाह सिंहासनारूढ़ हुआ। अपनी स्थिति को संगठित करने के तुरंत बाद ही, अपने शासनकाल के दूसरे वर्ष में (1318 ई०) वह दक्षिण के अभियान पर रवाना हुआ। वह मर्हट्ट में शाही प्रभुसत्ता को पुनः स्थापित करना चाहता था, जहां हरपालदेव के नेतृत्व में भयंकर विद्रोह हो गया था। हरपालदेव ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी तथा देवगिरी के प्राचीन सेउण राज्य को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। अभियान का दूसरा उद्देश्य प्रतापरुद्र से कर वसूल करना था, क्योंकि उसने साम्राजिक राजधानी में क्रांति तथा दकन में मुस्लिम शक्ति के विघटन से लाभ उठाकर अपना वार्षिक कर नहीं भेजा था। सुल्तान शीघ्र ही मर्हट्ट आ पहुंचा तथा वहां पर उसने हिंदू विद्रोह को दृढ़तापूर्वक दबा दिया। फिर उसने अपने प्रिय दास खुसरौ खां के नेतृत्व में एक सेना वारंगल की ओर भेजी। उसे आदेश दिए गए थे कि यदि प्रतापरुद्र तत्काल समर्पण न करे तथा सुल्तान को दिए जाने वाले कर का पूर्ण भुगतान न करे तो उसे उखाड़ फेंका जाए। खुसरौ खां के वारंगल अभियान के दौरान क्या हुआ यह निर्धारित करना आसान नहीं है, क्योंकि इस विषय पर प्राप्त प्रमाण परस्पर विरोधी हैं। अभियान से संबंधित घटनाओं का वर्णन करनेवाले सर्वप्रथम इतिहासज्ञ अमीर खुसरो एवं इसामी भी दुर्भाग्य वश विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। अमीर खुसरो के अनुसार प्रतापरुद्र ने कर देने से इनकार कर दिया और उसका विरोध किया। अपने से पूर्व मलिक नायब काफूर की भांति खुसरौ खां ने भी अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए देवगिरी से कूच किया तथा वह वारंगल के पास पहुंच कर ही रुका। कहा जाता है कि प्रतापरुद्र ने अपने 10, 000 अश्वारोहियों एवं असंख्य प्यादों के साथ उसपर आक्रमण किया, किंतु वह लगभग 300 अवारहियों के छोटे से दल से ही पराजित हो गया तथा उसे दुर्ग में वापस लौटना पड़ा। फिर खुसरौ ने वारंगल को घेरा तथा बाहरी दुर्ग को जीत लिया। विशिष्टता प्राप्त अनेक हिंदू इस युद्ध में मारे गए। इनमें प्रतापरुद्र का सेनापति अंतिल महत भी सम्मिलित था। मुस्लिम सेना की साहसपूर्ण प्रगति ने प्रतापरुद्र को भयभीत कर दिया जिसने और अधिक विरोध को व्यर्थ जानते हुए खुसरौ खां से संधि कर ली। उसने अपने राज्य के पांच जिले सुल्तान को स्वीदेने कार कर लिए। इसके अतिरिक्त उसे 100 हाथियों एवं 12, 000 घोड़ों से अधिक का वार्षिक कर भी देना पड़ा। स्वर्ण, रत्नों एवं बहुमूल्य पत्थरों की गणना ही नहीं हो सकती। इसके पश्चात खुसरौ खां ने घेरा उठा लिया और अत्यधिक लूट के माल को लेकर दिल्ली वापस लौट गया।[245]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तेलिंगाना में खुसरौ खां की उपलब्धियों का यह वर्णन अत्यंत पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि खुसरौ के तेलिंगाना अभियान का वर्णन करने वाले इसामी ने किसी प्रकार की शत्रुता का उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत वह कहता है कि शक्तिप्रयोग के बिना ही खुसरौ ने अपने मालिक को दिए जाने वाले संपूर्ण कर को वसूल कर लिया था।

जब खुसरौ खां तेलिंगाना की सीमा पर पहुंचा, तो उसने पत्र के साथ अपने संदेश वाहक को प्रतापरुद्र के दरबार में भेजा। उसने बकाया कर की वसूली की मांग की और उसके इनकार करने पर घातक परिणामों की धमकी दी। जब संदेशवाहक वारंगल पहुंचा, तो प्रतापरुद्र ने मित्रता एवं सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया। उसने खुसरौ खां के भेजे गए जवाब में कहा कि, वह सुल्तान का निष्ठावान सामंत था। उसके द्वारा कर देने की असफलता का कारण, टालमटोल करने का प्रयास नहीं, अपितु सड़कों की सुरक्षा थी क्योंकि उन पर अनेक डाकुओं का डेरा था। वह शीघ्र ही अपने राज्य में आए हुए खां को कर भेजेगा तथा स्वयं सेनापति के लिए उपहार भी देगा। इस उत्तर के साथ उसने संदेशवाहक को वापस भेज दिया और तुरंत ही एक सौ से अधिक हाथियों सहित कर का निश्चित राशि भी खां के शिविर में भेज दी। खुसरौ संतुष्ट हो गया और सुल्तान के आदेशों के अनुसार ही, उसने प्रतापरुद्र को एक क्षत्र, एक 'दुरवश' एवं रत्न जटित 'कावा' उपहार स्वरूप प्रदान किया। सुल्तान द्वारा सौंपे गए कार्य को सफलतापूर्वक संपन करके खुसरौ खां अपनी सेना सहित दिल्ली की ओर बढ़ा।[246]

इस परस्पर विरोधी वर्णनों में सामंजस्य स्थापित करना संभव नहीं है। अमीर खुसरो समकालीन इतिहासज्ञ था; अभियान के दौरान हुई घटनाओं से वह अनभिज्ञ नहीं हो सकता था। किंतु इसामी दकनी था तथा उसमे अपना इतिहास इन घटनाओं के 30 वर्ष पश्चात लिखा उसके वृतांत के विश्वसनीय स्वरूप को देखते हुए, उसके वर्णन को सुगमतापूर्वक अविश्वसनीय मानकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। इन दोनों में से चाहे कोई भी वर्णन स्वीकार किया जाए, इसमें कोई संदेह नहीं कि खुसरो ने स्वयं को सौंपे गए कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न किया था। अमीर खुसरो एवं इसामी दोनों ही इस बात पर एकमत हैं कि उसने प्रतापरुद्र से लेने वाले कर का बकाया वसूल कर लिया था तथा तेलिंगगाना में साम्राज्यिक प्रभुत्व को पुन: स्थापित किया था।

तेलिंगाना से खुसरो खां के जाने के कुछ समय बाद ही प्रतापरुद्र ने कंपिलि के साम्राज्य के साम्राज्य के विरुद्ध अभियान भेजा। जिन परिस्थितियों में उसके कंपिलि पर आक्रमण किया वे निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। 'कुमार-रामन-सांगत्य' में निहित परंपरा एवं अन्य परवर्ती कन्नड़ साहित्यिक कृतियों के अनुसार कंपिलिराय का पुत्र कुमार राम, बल्लाल तृतीय के विरुद्ध प्रतापरुद्र की सहायता मांगने के लिए उसके वारंगल दरबार में पहुंचा। उस समय बल्लाल एवं कुमार राम का संघर्ष हो रहा था। यद्यपि प्रतापरुद्र ने कुमार राम का सम्मान किया तथा उससे नम्रता का व्यवहार किया, किंतु उसने बल्लाल तृतीय के विरुद्ध युद्ध में उसका साथ देने से इनकार कर दिया। कुमार राम क्रोधित होकर स्वदेश लौट आया तथा उसने कुछ काकतीय उपाधियों को धारण कर प्रतापरुद्र को अपमानित किया। इस कृत्य से कुपित होकर प्रतापरुद्र ने युद्ध की घोषणा कर दी तथा कंपिलि के साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। किंतु वह युद्ध में कुमार राम द्वारा पराजित हुआ तथा उससे संधि करके स्वदेश वापस लौटना पड़ा।[247] किंतु उत्तरकालीन शताब्दियों के तेलुगु साहित्यिक ग्रंथों के प्रमाणों ने इस वर्णन का विरोध किया है। श्रीनाथ के 'भीमेश्वर पुराण' के अनुसार प्रतापरुद्र के एक सेनानायक प्रोलय अन्नय ने कंपिलिराय की काजधानी कुम्मठ के सीमावर्ती मनोरंजन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उद्यानों को नष्ट कर दिया।[248] कहा जाता है कि उत्तरकालीन आरेवीड्डु प्रमुखों के एक प्रवर्तक, सोमदेवराज के बड़े भाई कोटिकंटि राघव ने, युद्ध में कंपिलिराय को पराजित किया तथा उसे राजत्व के सात सदस्यों से वंचित कर दिया।[249] यद्यपि ज्ञान की वर्तमान स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि वास्तव में युद्ध का अंतिम परिणाम क्या हुआ। किंतु कन्नड एवं तेलुगु दोनों ही स्रोतों के प्रमाणों को दृष्टि में रख यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि एक बार विजय कंपिलिराय की ओर थी तो दूसरी बार प्रतापरुद्र की ओर।

किंतु प्रतापरुद्र को अपने राज्य पर दीर्घकाल तक शांतिपूर्वक राज्य नहीं करने दिया गया। वारंगल से वापस जाने के एक वर्ष के अंदर ही, मुस्लिम सेनाएं पुनः क्रियाशील हो गईं। मलिक एक-लखी ने, जिसे सुल्तान कुत्ब-उद्-दीन ने महाराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया था, विद्रोह कर दिया तथा अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। उसने राजस्व का चिह्न धारण कर लिया, शम्स-उद्दीन की उपाधि भी तथा अपने नाम से ही सिक्के भी जारी कर दिए। इस विद्रोह का समाचार मिलते ही सुल्तान ने पुनः खुसरौ खां को सेना सहित भेजा और उसे आदेश दिया कि वह न केवल एक-लखी का दमन कर महाराष्ट्र में साम्राज्यिक प्रभुसत्ता को पुनः स्थापित करे, अपितु माबर को भी अपने अधिकार में ले ले। अपनी सीमा पर दिल्ली की सेना की उपस्थिति ने प्रतापरुद्र को अत्यंत व्याकुल बना दिया, किंतु यह तूफान उसके राज्य को प्रभावित किए बिना ही चला गया। खुसरौ खां ने एक-लखी को सुगमतापूर्वकपराजित कर दिया और बंदी बनाकर दिल्ली भेज दिया। उसने राज्य में पुनः व्यवस्था की तथा प्रशासन का कार्य चलाने के लिए उपाय किए। फिर वह माबर की ओर बढ़ा और उसकी राजधानी पट्टन पहुंच गया, किंतु तभी उसकी सेना में विद्रोह हो गया। विद्रोहियों को साम्राज्यिक सरकार के प्रति उसकी निष्ठा पर संदेह था। अतः उन्होंने उसे बंदी बना लिया और दिल्ली वापस ले आए। सुल्तान ने, जो उससे अत्यंत आकर्षित था, उसे स्वतंत्र कर दिया तथा पुनः अपना कृपापात्र बना लिया। इसके पश्चात अनेक ऐसी घटनाएं हुईं, जिन्होंने दिल्ली के मुस्लिम साम्राज्य की नींव हिला दी। खुसरौ खां ने अपने स्वामी एवं उपकारी की निर्मम हत्या कर दी और बलपूर्वक सिंहासन पर अधिकार कर लिया। किंतु उसके बलाधिकरण का विरोध करने वाले तुर्की कुलीनों ने उसके विरुद्ध षडयंत्र रचा और उसे मार दिया। फिर उनके नेता, गियास-उद्दीन तुगलक ने सिंहासन पर अधिकार किया तथा 1320 ई० में स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। अपने शासन के प्रथम तीन वर्षों में वह हिंदुस्तान पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में व्यस्त रहा। जब यह कार्य सफलतापूर्वक संपन्न हो गया तो उसने अपनी निगाह दक्षिण की ओर फेरी और 1323 ई० में अपने पुत्र उलुग खां के नेतृत्व में तेलिंगाना के विरुद्ध अभियान भेजा।

जिन परिस्थितियों में गियास-उद्दीन तुगलकशाह ने तेलिंगाना के विरुद्ध अपनी सेनाएं भेजने का निश्चय किया था, वे निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। परंतु 17वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में फिरिश्ता ने लिखा है : 'वारंगल के राजा रुद्रदेव ने, विगत विप्लवों के दौरान, कर भेजने से इनकार कर दिया था' और इसीलिए उलुग खां को उसके विरुद्ध भेजा गया था।'[250] यह अपने आप में असंभव नहीं क्योंकि ऐसी ही परिस्थितियों में एक बार पहले भी प्रतापरुद्र ने कर की अदायगी रोक दी थी। उलुग खां देवगिरि के मार्ग से वारंगल की ओर बढ़ा। फिरिश्ता के अनुसार प्रतापरुद्र ने उत्साहपूर्वक मुसलमान सेना की प्रगति का विरोध किया। किंतु अंत में उसे अपनी राजधानी पहुंचना ही पड़ा जिस पर तत्काल ही उलुग खां का आक्रमण हो गया।[251] इसके बाद होनेवाला युद्ध वास्तव में दीर्घकालीन एवं भयंकर था, और लड़ाई वारंगल एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। जब उलुग खां वारंगल को जीतने का विफल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयास कर रहा था तो उसी समय मजीरअबू रुरिजा के नेतृत्व में मुस्लिम सेना के कुछ भाग, कोटगिरि का घेरा डालने में व्यस्त थे। यह तनिक भी असंभव नहीं कि राज्य के अन्य महत्व-पूर्ण स्थानों पर भी भिन्न टुकड़ियों ने आक्रमण किया था। फिर भी उलुग खां अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल रहा तथा उसे शीघ्र ही तेलिंगाना से वापस लौटना पड़ा। काकतीय सेना ने काफी दूर तक उनका पीछा किया। मुसलमान इतिहासकारों ने उलुग खां की असफलता का कारण कवि उबैद की चालाकियां बताया है। वह युवराज का धोखेबाज साथी एवं मित्र था। बरनी के अनुसार उलुग खां ने वारंगल को निकट से घेर लिया था, तथा उसके रक्षकों को लाचार कर दिया था। शहर को घेरनेवाले दो दुर्गों में से बाह्य अर्थात् कर्दम दुर्ग का पतन होने ही वाला था कि प्रतापरुद्र ने संधि की याचना की और सुल्तान की प्रभुसत्ता के प्रति समर्पण एवं मांगी गई कर राशि को देना स्वीकार कर लिया। किंतु उलुग खां प्रतापरुद्र एवं उसकी राजधानी को जीतना चाहता था, अतः उसने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। इसी बीच मुस्लिम सेना के उत्साह में परिवर्तन आ गया। चूंकि संचारव्यवस्था ध्वस्त हो गई थी, अतः हाल की कोई भी खबर देहली से शिविर को नहीं पहुंची थी। इसी मौके पर उलुग खां के मित्रों, कवि उबेद एवं शेख जाद-ए-दिमिश्की ने सेना में यह गलत अफवाह उड़ा दी कि दिल्ली में सुल्तान मर गया, किसी ने बलपूर्वक सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा खां सेना के कुछ महत्वपूर्ण प्रमुखों को बंदी बनानेवाला है, क्योंकि खल्जियों के प्रति उनकी सहानुभूतियों के कारण वह उनको संदेह की दृष्टि से देखता है। खां के घनिष्ठ साथियों के मुखों से आने वाली इस सूचना ने उनके दिमागों को आतंकित कर दिया और वे अपने साथियों के साथ शिविर से भाग गए। इसके परिणामस्वरूप मुस्लिम सेना में अराजकता फैल गई। हिंदुओं ने, उनकी सेना पर आनेवाली इस आकस्मिक विपत्ति का लाभ उठाकर उलुग खां के शिविर पर धावा बोल दिया और उसे लूट लिया। उनके आक्रमण का सामना करने में असमर्थ होकर उसने अपने सैनिकों को एकत्र किया और शीघ्रतापूर्वक देवगिरि की ओर वापस लौट गया।[252] तेलिंगाना की विजय के लगभग दस वर्ष बाद भारत आने वाले इब्न बट्टूटा के अनुसार इस महान पराजय का कारण, स्वयं उलुग खां की महत्वाकांक्षी योजनाओं का दुर्वहन था। वह उबैद को उसकी घोखेबाजी का दुर्भाग्यशाली शिकार बताता है। बट्टूटा के अनुसार, उलुग खां अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह की योजना बना रहा था, उसी ने उबेद को सुल्तान की मृत्यु की गलत अफवाह को सेना में फैलाने के लिए उकसाया। उसने आशा की थी कि सेना के नेता उसे ही राजा मानकर अपनी राज्यास्था प्रकट करेंगे। किंतु उसकी योजना विफल रही। 'अमीरों' ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे उसे मार भी देते। किंतु सेना के प्रमुख 'अमीर', मलिक तीमूर ने उसे सुरक्षा प्रदान की तथा दिल्ली की ओर भागने में सहायता दी। यद्यपि सुल्तान अपने पुत्र की विश्वासघाती योजनाओं से अवगत था, फिर भी उसने अपने पुत्र द्वारा 'अमीरों' के विरुद्ध लगाए गए झूठे आरोपों को स्वीकार कर लिया। उसने केवल 'अमीरों' को ही दण्डित नहीं किया अपितु अपने पुत्र को धन एवं जन के साथ तेलिंगाना वापस भी भेजा ताकि वे इस पराजय का बदला ले सकें।[253] यद्यपि इब्न बट्टूटा वारंगल के पतन के दस वर्षों के अन्दर ही भारत आया था, परन्तु वास्तव में उसने अपने ग्रन्थ 'रिसाल' की रचना, अपने स्वदेश मोरोक्को पहुंच-कर, 14वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में अपनी स्मृति से ही की थी। उसके वर्णन की सत्यता संदेहरहित नहीं है, क्योंकि वह न केवल समकालीन मुसलमान इतिहासज्ञों के प्रमाणों के, अपितु सुल्तान के स्वभाव के भी प्रतिकूल है। गियास-उद्दीन तुगलक शाह न्यायप्रिय एवं साधु स्वभाव का शासक था। यह संभव नहीं कि यदि वास्तव में उलुग खां ने वैसा ही किया था, जैसा इब्न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बट्टूटा ने बताया है, तो सुल्तान उसके विश्वासघात को क्षमा कर देता और उसे धन-जन के साथ तेलिंगाना वापस भेजता।

उपरोक्त घटनाओं का सर्वाधिक संतोषजनक वर्णन इसामी की लेखनी से मिलता है। वह इस विषय पर लिखने वाला सर्वप्रथम लेखक है, जिसने अपना इतिहास 1349 ई० में समाप्त किया। उसके अनुसार, वारंगल तक पहुंचने तक उलुग खां ने संपूर्ण प्रदेश को लूटा। फिर उसने छः मास तक दुर्ग का घेरा डाला, किन्तु उसे जीत न सका। दिल्ली में सुल्तान व्याकुल हो गया तथा उसने उलुग खां को पत्र लिखा, जिसमें उसने अपने आदेशों को क्रियान्वित करने में उपेक्षा का आरोप लगाया। उलुग खां ने घेरे का सफल अंत करने की उत्सुकता से उबैद ज्योतिषी से परामर्श किया कि किस दिन दुर्ग उसके हाथों में आएगा। ज्योतिषी ने गणना की, पतन का दिन निश्चित किया और घोषणा की कि यदि दुर्ग उस दिन भी अविजित रहा तो वह उसी के निकट फांसी के तख्ते पर अपना जीवन दे देगा। उबैद द्वारा निश्चित किया हुआ दिन निकटआता गया, किन्तु दुर्ग के रक्षकों की ओरसे समर्पण के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिए। उबैद अत्यन्त भयभीत हो गया। यदि उसकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई, जैसा कि निश्चित दृष्टिगोचर हो रहा था, तो उलुग खां अवश्य ही उसका सिर मांग लेगा। अपनी भविष्यवाणी के गलत सिद्ध होने के कुपरिणामों से बचने के लिए, उसने एक योजना बनाई। सेना में सुल्तान की मृत्यु की झूठी खबर फैलाकर, राजधानी में क्रांति की चर्चा कर, तथा शिविर में मुख्य 'अमीरों' को, उनकी तथाकथित सहानुभूतियों के लिए उलुग खां द्वारा मारने के गुप्त निश्चय की खबर से उबैद ने आतंक उत्पन्न कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने प्रतापरुद्र से संधि कर ली और फिर वे वारंगल से चल पड़े। स्वयं उलुग खां भी उनके पीछे आया।[251]

यद्यपि उपर्युक्त तीनों मुसलमान लेखक उलुग खां (बाद में मुहम्मद बिन तुगलक) के समकालीनी थे, फिर भी, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इसामी का वर्णन सबसे पहला है और अन्य दो की अपेक्षा, उसी को अधिक विश्वसनीय मानना चाहिए। वारंगल में संभवतः जो हुआ, उसे यहां पर संक्षेप में बता देना चाहिए, हालांकि प्राप्त प्रमाणों के परस्पर विरोधी स्वरूप होने के कारण, निर्विवाद रूप से घटनाओं का सही चित्र प्रस्तुत करना संभव नहीं है। उलुग खां अपनी सेना सहित वारंगल की ओर बढ़ा तथा उसने छः महीने तक नगर को घेरे रखा, किंतु वह उसको जीतने में असफल रहा। उबैद की, जिसे कवि अथवा ज्योतिषी कहा गया है, चतुराई के कारण उसके शिविर में विद्रोह हो गया, जिसके परिणामस्वरूप उलुग खां को घेरा उठाने एवं स्वदेश वापस लौटने पर बाध्य होना पड़ा। हिंदुओं ने उसका पीछा किया, प्रायः उस पर आक्रमण किया, उसके सामान को लूटा, तथा कोटगिरि तक उसका पीछा किया। कोटगिरि में मजीर अबु रिजा ने उसकी सहायता की तथा उसे ध्वस्त होने से बचा लिया। मजीर वहां पर दुर्ग का घेरा डाले हुए था।

तेलिंगाना का द्वितीय आक्रमण : गियास-उद्दीन तुगलक दृढ़ इच्छा एवं सुदृढ़ निश्चय वाला शासक था। पराजय ने उसे निरुत्साहित नहीं किया अपितु अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए नवीन प्रयास करने को उत्साहित किया उसने विद्रोही 'अमीरों' को कठोर दंड दिया तथा देवगिरि की ओर सहायक सेना भेजी, जहां उलुग खां ने शरण ले ली थी। उसने अपने पुत्र को यह निर्देश भी भेजा कि वह पुनः तेलिंगाना की ओर कूच करे और उस प्रदेश पर अधिकार करे। देवगिरि में सहायक सेना के पहुंचते ही, उलुग खां ने तेलिंगाना की ओर प्रस्थान किया और शीघ्र ही बद्रकोट (बिदर ?) की सीमा चौकी पर पहुंचकर वह तेलिंगाना पहुंच गया। उसने इस दुर्ग एवं अपने मार्ग में आए अनेक दुर्गों को जीता तथा अपने विश्वसनीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकारियों के नेतृत्व में वहां रक्षा सेनाओं को स्थापित किया। उसने उन सबको निर्देश दिए थे कि वे अंत तक वहां डटे रहें। अंत में वह बोधन पहुंचा, जो वारंगल से दस दिन की यात्रा की दूरी पर स्थित था। तीन-चार दिन के घेरे के पश्चात दुर्ग का पतन हो गया तथा गवर्नर एवं उसके साथियों ने इस्लाम धर्म को अपना कर अपनी रक्षा की। इसके पश्चात उलुग खां वारंगल की ओर बढ़ा तथा उसने नगर को घेर लिया। उलुग खां द्वारा वारंगल के दूसरे घेरे के संबंध में अधिक सूचना प्राप्त नहीं है। बरनी तथा उसके वर्णन का अनुकरण करने वाले उत्तर-कालीन मुस्लिम इतिहासज्ञों ने इसका अत्यंत संक्षिप्त वर्णन किया है। यह कहा गया है कि उलुग खां ने पहले कर्दम दुर्ग को घेरा और उसे जीता, इसके पश्चात आंतरिक गढ़ भी उसके हाथों में आ गया। किला जीत लिया गया था, प्रतापरुद्र को बंदी बनाकर दिल्ली के सुल्तान के दरबार में भेज दिया गया, वारंगल की विजय उतनी सुगमता से प्राप्त नहीं हुई थी, जितना कि इतिहासज्ञ हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं। प्रतापरुद्र में दूरदर्शिता के आश्चर्यजनक अभाव के बिना, यह संदेहपूर्ण है कि उलुग खां उसको इतनी सुगमता से जीत लेता, जितनी जल्दी उसने वास्तव में उसे जीता था। वास्तव में घेरा पांच मास तक चला। इसामी ने इस घेरे का एवं दुर्ग को जीतने की परिस्थितियों का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि, प्रथम अभि-यान के अंत में, वारंगल से उलुग खां की वापसी के पश्चात प्रतापरुद्र ने मुसलमानों के विरुद्ध अपनी विजय का समारोह मनाने के लिए दावत दी थी। यह विश्वास करके कि अब निकट भविष्य में वे पुनः उसके राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे, उसने अपने दुर्ग में अनाज भंडारों के द्वार खोल दिए तथा वहां सुरक्षित संपूर्ण अनाज बेच दिया। उसने अपनी प्रजा को यह आदेश भी दिया कि वे अपनी सैनिक गतिविधियों को त्यागकर कृषि एवं मवेशियों की देखभाल करें। किंतु शीघ्र ही उसकी आंखें खुल गईं। अपनी वापसी के चार महीनों के अंदर ही उलुग खां नवीन सेना लेकर वारंगल पहुंच गया तथा प्राचीरों के सामने बैठ गया। दुर्ग में उसकी सुरक्षा के लिए पर्याप्त रक्षा दल न था तथा घेरे के दौरान सुरक्षा दल को भोजन प्रदान करने के लिए पर्याप्त अनाज भी संचित न था। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मुसलमानों ने उसको शीघ्र ही जीतने में सफलता प्राप्त कर ली। यद्यपि प्रतापरुद्र विस्मित था, फिर भी उसने कड़ा मुकाबला किया, किंतु जल्दी में जो थोड़ा सा अनाज भंडार उसने एकत्र किया था, वह शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा दुर्ग में सैनिक भूख से पीड़ित होने लगे। प्रतापरुद्र को समर्पण करने पर बाध्य होना पड़ा। उसने दुर्ग के द्वार खोल दिए तथा स्वयं को परिवार के अन्य सदस्यों सहित, उलुग खां के हाथों में सौंप दिया। इसके पश्चात मुसलमानों ने दुर्ग में प्रवेश किया, घरों को लूटा तथा सार्वजनिक भवनों को ध्वस्त कर दिया।

प्रतापरूद्र के समर्पण के पश्चात, उलुग खां ने उसे तेलिंगाना में अधिक समय तक नहीं रहने दिया। यह सोचकर कि उसे प्रदेश में ही रखना सुरक्षित न था क्योंकि वहां पर उसकी उपस्थिति से लोकप्रिय विद्रोह एवं अन्य राजनीतिक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाएंगी, उसने प्रतापरूद्र एवं उसके परिवार के सभी सदस्यों को तुरंत ही दिल्ली भेज दिया। उनके साथ, कादिर खां एवं ख्वाजा हाजी के नेतृत्व में एक सैन्य दल भी भेजा गया था। उलुग खां को इन दोनों ही अधिकारियों पर अत्यंत विश्वास था। किंतु, उनके भाग्य में पराजित राजा को राज-धानी में लाना नहीं लिखा था, क्योंकि उनके दिल्ली पहुंचने से पहले ही वह मर गया। शम्स-ए-सिराफ 'अफीफ' ने, जो एक ही वाक्य में उसे नरक पहुंचा देता है, उसकी मृत्यु की परिस्थितियों को प्रकट नहीं किया है।[55] इस विषय पर अधिक सूचना अभिलेखों से मिलती है। मसुनूरि प्रोलय नायक (लगभग 1330 ई०) के विलस दान-पत्र में कहा गया है कि, जब प्रतापरूद्र को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बंदी बना कर दिल्ली ले जाया जा रहा था, तो वह सोमोद्भवा अर्थात नर्मदा नदी के तट पर मर गया।[256] उसकी मृत्यु संभवतः स्वाभाविक कारणों से नहीं हुई, क्योंकि अनितल्लि नामक रेड्डि रानी के 1423 ई० के कलुवचेरू दान-पत्र के अनुसार, वह अपनी इच्छानुसार ही देवलोक पहुंच गया।[257] इससे यह प्रकट होता है कि उसने या तो आत्महत्या कर ली, अथवा उसी के कहने पर, उसके किसी साथी ने उसे मार दिया। प्रतापरुद्र अभिमानी सम्राट था, और ऐसा प्रतीत होता है कि वह कैद के जीवन की नवीन परिस्थितियों के लिए तैयार नहीं था। अपमान की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझ कर, उसने स्वेच्छानुसार उसे अपना लिया। प्रतापरुद्र की पराजय एवं मृत्यु से, काकतीय वंश का अंत हो गया तथा राज्य विदेशी जाति एवं धर्म के शासकों के हाथों में पहुंच गया।

प्रतापरुद्र का परिवार : प्रतापरुद्र के परिवार से संबंधित प्राप्त प्रमाण अत्यंत अपर्याप्त हैं। उस काल के अनेक अभिलेखों एवं साहित्यिक ग्रंथों में उसकी किसी भी रानी का उल्लेख नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि काकतीय नरेशों के उत्तरकालीन काल्पनिक वर्णन 'प्रतापचरित्र' में उसकी प्रमुख रानी, विशालाक्षी का उल्लेख किया गया है ;[258] किंतु यह ग्रंथ पौराणिक कथाओं से भरा हुआ है, अतः उसके प्रमाण पर विश्वास नहीं किया जा सकता। राविपाटि त्रिपुरांतक कृत संस्कृत ग्रंथ 'विधिनाटक प्रेमाभिरामम्' का विनुकोंड के वल्लभाचार्य द्वारा 15 वीं शताब्दी में, 'क्रीड़ाभिरामम्' नाम से किया गया तेलुगु अनुवाद, वारंगल की माचलदेवी नामक सुंदर एवं सभ्य गणिका को उसकी प्रिय दासी बताता है।[259] यद्यपि उसके कुछ तथाकथित पुत्रों का उल्लेख अभिलेखों तथा ऐतिहासिक एवं अर्धऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है, किंतु वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि वह निःसंतान मरा था। उसके वंशजों के रूप में वर्णित अनेक व्यक्तियों में से जुट्टय-'लेंक' गोंका रेड्डि का उल्लेख सबसे पहले करना चाहिए। कुड्डपह जिले के प्रोद्दुतुर 'तालुक' में उप्परपल्लि के स्थान से प्राप्त तिथिविहीन अभिलेख में उसे उसका (प्रतापरुद्र का) प्रिय पुत्र कहा गया है।[260] जुट्टय-'लेंक' गोंका रेड्डि, संभवतः प्रतापरुद्र का पुत्र नहीं हो सकता, क्योंकि उसके नाम से स्पष्ट पता चलता है कि उसके पिता का नाम जुट्टय था जो अपने पेशे से 'लेंक' था। जुट्टय लेंक गोंका रेड्डि संयुक्त शब्द जिसमें दो नाम हैं, जुट्टय 'लेंक' एवं गोंका रेड्डि। इसका अर्थ यह है कि जिन व्यक्तियों के नाम इस प्रकार जोड़े गए हैं, वे क्रमशः पिता एवं पुत्र के रूप में एक दूसरे से संबंधित है ; फिर गोंका रेड्डि, जुट्टय-'-लेंक' एवं प्रतापरुद्र दोनों का पुत्र नहीं हो सकता था। वास्तव में तथ्य तो यह है कि अपने पिता जुट्टय एवं छोटे भाई रुद्रय के समान ही, जो कुड्डपह जिले के सिद्धवत 'तालुक' में चंदुवायि के अभिलेख में वर्णित है,[261] गोंका रेड्डि भी 'लेंक' पेशे का सदस्य था। प्रथानुसार ही, इस भ्रातृसंघ के अन्य व्यक्तियों की तरह, अभिलेख में उसे भी राजा का पुत्र बताया गया है। इतिहासज्ञ फिरिश्ता, प्रतापरुद्र का किशन नायक नामक एक अन्य पुत्र बताता है, जिसने 1336 ई० में तेलिंगाना में मुसलमानों के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया था, तथा उनको निकाल कर स्वयं उस प्रदेश का स्वामी बन गया था।[262] किशन नाम लिपिक की भूल का परिणाम है। वास्तविकता तो यह है कि, किशन नायक नाम के किसी भी व्यक्ति ने, उस समय ऐसा कोई भाग नहीं लिया, जैसा फिरिश्ता ने कहा है। फिरिश्ता के ग्रंथ की प्राप्त पांडुपिलियों के मूलपाठ का ध्यानपूर्वक परीक्षण एवं इनका और अन्य इतिहासों में पाए जाने वाले वर्णनों की तुलना से, 1336 ई० में मुसलमानों के विरुद्ध किए गए विद्रोह के नेता का नाम कापय नायक मिलता है। उसके द्वारा छोड़े गए अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि वह मुसुनूरि वंश का सदस्य था, तथा किसी भी रूप में काकतीयों से संबंधित नहीं था। जितने स्रोत हमें प्राप्त हैं, उनसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक स्रोतों के बिना यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि फिरिश्ता ने कापय को प्रतापरुद्र का पुत्र कैसे माना। अतः, किशन नायक नामक प्रतापरुद्र के पुत्र के उसके वक्तव्य को पूर्णरूप से अनैतिहासिक मानकर छोड़ देना चाहिए। 'प्रतापरित्रम्' में कहा गया है कि, प्रतापरुद्र के बाद उसका पुत्र वीरभद्र राजा बना। कहा जाता है कि प्रतापरुद्र की मृत्यु पर अन्नमदेव ने उसका दाह संस्कार किया और स्वयं संसार से संन्यास ले लिया। अपने भतीजे वीरभद्र की इच्छानुसार उसने उसे राजा बना दिया तथा विरूपाक्ष सहित स्वयं उत्तर पूर्व में विंध्यपर्वत श्रेणियों में चला गया।[263] किंतु यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि प्रतापरुद्र का वीरभद्र नामक पुत्र था, अथवा अपने पिता की मृत्यु के बाद इस नाम का कोई व्यक्ति इस प्रदेश का राजा बना था। ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तांत के लेखक ने प्रतापरुद्र को, उसी नाम के गजपति नरेश से समाकुलित कर दिया है, जो 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तटीय आंध्र प्रदेश एवं तेलिंगान पर राज्य करता था। इस प्रतापरुद्र का वास्तव में वीरभद्र नामक पुत्र था, जो प्रसिद्ध योद्धा था, तथा अपने पिता के काल में कोंडवीडु-'दंडपथ' पर उपराजा के रूप में अधिकार किए हुए था। यह असंभव नहीं कि वीरभद्र को प्रतापरुद्र का पुत्र बताते समय, 'प्रतापचरित्रम्' के लेखक के मस्तिष्क में यही व्यक्ति रहा हो। यद्यपि प्रतापरुद्र के कोई संतान न थी, किंतु यह निश्चित है कि उसका एक भाई अन्नमदेव था, जो आधुनिक मध्य प्रदेश में बस्तर के उत्तरकालीन शासकों का प्रवर्तक हुआ।[264]

उसके सामंत, सेनापति एवं मंत्री : अनेक सामंतीय कुमारों, कुलीन, मंत्रियों, सेनापतियों एवं अन्य अधिकारियों ने साम्राज्य के कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सामंतों में से सर्वप्रथम कायस्थों का उल्लेख करना चाहिए। अंबदेव एवं उसके पुत्रों जन्निगदेव द्वितीय एवं त्रिपुरारि द्वितीय ने संभवतः प्रतापरुद्र को राज्यास्था प्रदान नहीं की थी। उनके बाद आने वाले मल्लिदेव को, उसकी प्रभुसत्ता के प्रति समर्पण करने पर बाध्य किया गया होगा। यद्यपि 1310 ई० में मलिक नायब काफूर के आक्रमण से लाभ उठाकर, कायस्थ कुमार ने अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने का असफल प्रयास किया था, किंतु उसके परिणामस्वरूप उसने अपना जीवन गंवा दिया और उसके साथ ही वल्लूरुपट्टण के कायस्थ नरेशों के लघुकालीन वंश का अंत हो गया।

महत्ता में इसके बाद तेलुगु चोलों का स्थान है। तेलुगु चोलों की क्रमशः नेल्लोर एवं कोट्टयदोन की दो शाखाओं, विशेषकर नेल्लोर शाखा के विशेष उल्लेख की आवश्यकता है। अडिदम मल्लु के हाथों मनुम गंडगोपाल की मृत्यु के बाद, नेल्लोर का इतिहास अस्पष्ट है। इस शासक के बाद संभवतः मधुरांतक पौत्तपि चोड रंगनाथ आया, जिसने 'त्रिभुवन चक्रवर्ति' एवं 'राज गंडगोपाल' की उपाधियां धारण कीं। उसके शासनकाल के वर्षों को शक सं० की तिथियों के साथ देनेवाले उसके अभिलेखों से प्रकट होता है कि वह शक सं० 1213 (1291-2 ई०) में राजा बना,[265] हालांकि उसके राजा बनने की परिस्थितियां ज्ञात नहीं है। उसके शासनकाल के आरंभिक वर्षों से ही काकतीयों के विरुद्ध उसकी शत्रुता से यह मान लेना अनुचित न होगा कि मनुम गंडगोपाल की मृत्यु के पश्चात उसने पांड्यों की सहायता से राज्य पर अधिकार किया। पांड्यनरेश, नेल्लोर के तेलुगु चोल साम्राज्य में बड़ी रुचि लेते थे। चाहे कुछ भी हो, अपने राज्यारोहण के तुरंत बाद ही, प्रतापरुद्र ने अपने राज्य के दक्षिणी जिलों में अपने प्रभुत्व को दृढ़ करने के लिए कदम उठाने आवश्यक समझे, और इसी उद्देश्य से वहां सेना भेजी। इस सेना का नेतृत्व संभवतः बोल्नेनिगारु को सौंपा गया था। गुंटूर जिले के नरसाराओपेट 'तालुक' में उप्पुमागलूरु से प्राप्त तिथिविहीन अभिलेख में कहा गया है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बोल्नेनिंगारु ने इस समय पांड्यों के विरुद्ध भियान का नेतृत्व किया था।[266] कोट्यदोन के मनुम गंडगोपाल ने भी अभियान का साथ दिया। इस अभियान के दौरान घटित कुछ घटनाओं का उल्लेख, मनुम गंडगोपाल के अभिलेख में मिलता है, जो उसी जिले में 'नरसराओपेट' से प्राप्त हुग्रा है और 1297 ई० का है। इस अभिलेख में मनुम गंडगोपाल को 'द्रविड़ों की सेना रूपी समुद्र की बड़वाग्नि' तथा राय गंडगोपाल के मित्रों जैसे अपने शत्रुओं का नाश करनेवाला बताया गया है।[267] इस अभिलेख में वर्णित राय गंडगोपाल, निःसंदेह ही नेल्लोर का रंगनाथ-राजगंडगोपाल था; तथा द्रविड़, जिनकी सेना को मनुम गंडगोपाल ने नष्ट किया, उसके पांड्य मित्र थे, जिन्हें उपर्युक्त उप्पु मागलूरू अभिलेख में वर्णित बोल्नेनिंगारु ने भी परास्त किया था। अभियान पूर्णरूप से सफल हुआ प्रतीत होता है तथा अपनी पराजय के पश्चात अनेक वर्षों तक रंगनाथ ने अपने अधिराज के विरुद्ध सिर उठाने का प्रयास नहीं किया। किंतु मलिक नायब काफूर के नवीन तेलिंगाना आक्रमण ने उसे पुनः अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। प्रतापरुद्र की पराजय एवं उसके बाद हुई मानहानि से लाभ उठाकर, उसने पुनः विद्रोह कर दिया, किंतु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, प्रतापरुद्र के कहने पर, अपने पुत्र पेद्दरुद्र एवं अन्य अधिकारियों को साथ लेकर, 'महाप्रधान' मुप्पिडि नायक ने एक बड़ी सेना का नेतृत्व करते हुए कूच कर दिया। उसने नेल्लोर राज्य का अतिक्रमण किया, रंगनाथ को उसके राज्य से निकाल दिया, तथा स्वयं को तोंडैमंडलम में कांची तक के तटीय क्षेत्र का स्वामी बना लिया। रंगनाथ की पराजय एवं पलायन से, नेल्लोर का तेलुगु चोल साम्राज्य लुप्त हो गया, तथा अंतिम रूप से नेल्लोर का राजनैतिक महत्व समाप्त हो गया।

कोट्यदोन वंश संभवतः ओपिलि सिद्धि से संबंधित था, जिसने गणपति के कहने पर कम्मनाडु जिले को जीता था। नेल्लोर के चोल परिवार के वंशज, मनुम गंडगोपाल का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। उसके उप्पु-मागलूरु अभिलेख के अनुसार, वह नेल्लोर के राजा मनुम सिद्धि द्वितीय के दूसरे पुत्र, नल सिद्धि के पांच पुत्रों में सबसे बड़ा था। वह प्रतापरुद्र का निष्ठावान सामंत था और अपनी संपूर्ण समृद्धि का श्रेय उसी को देता है।[268] 1296 ई० में बोल्नेनिंगारु के दक्षिणी अभियान में उसके योगदान का भी हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। यह ज्ञात नहीं कि उसने इस घटना के पश्चात कितने समय तक अपने राजा की सेवा की।

तेलुगु बिज्जन एक अन्य तेलुगु चोल कुमार था, जिसने प्रतापरुद्र के अधीन, योद्धा के रूप में महान प्रसिद्धि अर्जित की थी। किंतु उसके पारिवारिक संबंध निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। 'वेलुगोटिवारि वंशावलि' में निहित वेलम परिवारों की 'प्रशस्तियों' में वेलम प्रमुख पोतुगंटि मैलि के नाम के साथ ही बिज्जन का नाम जुड़ा रहता है। कहा जाता है कि उसने प्रतापरुद्र के दरबार के 77 'नायकों' के साथ दिल्ली की यात्रा की थी, तथा 'दाखोल' में सुल्तान अला-उद्-दीन एवं मलिक नायब की उपस्थिति में, मैलि से प्रदर्शन द्वंद्व किया था, जिसमें वह मारा गया। काकतीय सम्राट की ही सेवा में लगे इन दोनों कुलीनों के बीच हुए द्वंद्व का कारण, कहीं भी व्यक्त नहीं किया गया। इसका आयोजन संभवतः सुल्तान एवं उसके दरबारियों की उत्सुकता को शांत करने के लिए किया गया था, क्योंकि वह दक्खनियों की खड्गविद्या का प्रदर्शन देखने के इच्छुक थे। दक्खनी इसके लिए सदा से प्रसिद्ध थे।[269]

प्रतापरुद्र के काल में साम्राज्य के मामलों में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले सामंतों की एक अन्य जाति, चेर्रकु वंश के रेड्डियों की थी। वे कुर्नूल जिले के नंदिकोत्कुर 'तालुक' में मल्याल के निवासी थे और इस वंश के सदस्य सदा ही 'महासामंत' की उपाधि धारण करते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। चेर्रकु पेद देवय का पुत्र 'महासामंत' चेर्रकु बोल्लय रेड्डि, इस वंश का पहला सदस्य था जिसका वर्णन अभिलेखों में मिलता है।[270] मनुम बोल्लय अथवा 'पौत्र-बोल्लय' के रूप में उसका उल्लेख होने के तथ्य के आधार पर यह मान लेना अनुचित न होगा कि उसका नाम दादा के नाम पर था।[271] बोल्लय के दो अथवा तीन पुत्र थे। इनमें से एक, राजन्न, कायस्थ नरेश अंबदेव का अनुयायी बन गया[272]; क्योंकि यह मान्य है कि उसने उसका साथ देकर प्रतापरुद्र के विरुद्ध युद्ध किया। दोनेरु कोनेरुनाथ कृत 'द्विपद बाल भागवतम्' की भूमिका में, उत्तरकालीन आरवीडु वंश के प्रवर्तक, तात पिन्नम द्वारा चेर्रकु प्रमुखों के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व करने का उल्लेख है। उसी में राजन्न को सभी प्रकार के कुकर्म करने वाला एवं इस अभियान का विरोधी बताया गया है। किंतु वह युद्ध में पराजित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसका उत्तराधिकार संबंधी अधिकार नष्ट हो गया और उसे राज्य से वंचित कर दिया गया।[273] किंतु स्वयं चेर्रकुओं ने अपना क्षेत्र नहीं खोया, क्योंकि बोल्लय रेड्डि के दोनों पुत्रों—रुद्रदेव एवं राच रुद्रदेव,[274] तथा चेर्रकु जगद्दालु मारय गणपय रेड्डि, चेर्रकु जगद्दालु अन्नय अथवा अन्नय रेड्डि एवं चेर्रकु महेश्वर रेड्डि जैसे 'महासामंतों' ने[275], लगभग प्रतापरुद्र के शासन-काल के अंत तक अपने पैतृक राज्यों पर, उसके सामंतों के रूप में शासन किया था।

रेचेर्रल वंश के वेलमों अथवा पद्मनायकों ने, जैसा कि उन्हें कभी कभी कहा जाता है, काकतीयों के इतिहास में विशेषरूप से महत्वपूर्ण भाग लिया। रेचेर्रल 'कुल' के 'महामंडलेश्वर' कोंताल नागि नायडु के पुत्र, मुम्मडि नायडु का उल्लेख, शक सं० 1213 (1291 ई०) के 'त्रिपुरांतकम्' अभिलेख में हुआ है।[276] यद्यपि अभिलेख में उसे सकल सेनाधिपति अर्थात संपूर्ण सेना का सेनापति कहा गया है, किंतु उसकी उपलब्धियां ज्ञात नहीं हैं; न ही 'वेलुगोटिवरि वंशावलि' में वर्णित, रेचेर्रल प्रमुखों की वंशावलियों में उसके स्थान को निर्धारित करना संभव है। किंतु इस वृत्तांत में प्रतापरुद्र के युद्धों में इसी वंश के अनेक अन्य सदस्यों द्वारा दिए गए योगदान का विस्तृत वर्णन मिलता है। दाम के पुत्र वेन्नम ने, मुसलमानों की पराजय के समय अपने सैनिकों का नेतृत्व किया था। यह संभवत: 1303 ई० में हुए अला-उद्-दीन खल्जी के प्रथम तेलिंगान आक्रमण के दौरान हुआ। यह भी असंभव नहीं कि यह घटना उप्परपल्लि के रणक्षेत्र में हुई, जहां पर पोतुगंटि मैलि ने मुसलमान सेना को भागने पर बाध्य किया था। ऐर्रर दाच एवं नल्ल दाच ने जो क्रमश: वेन्नम एवं उसके छोटे भाई सब्बि के पुत्र थे, 1316 ई० के पांड्य आक्रमण में विशिष्टता प्राप्त की थी। सिंगम प्रथम ने ऐर्रर दाच के पुत्रों, वेन्न एवं ऐच के साथ मिलकर, 1323 ई० में तुगलक के आक्रमणों के समय साम्राज्य की सुरक्षा में महत्वपूर्ण भाग लिया था। 'परदारसोदर रामनाथन-कथे' के अनुसार, सिंगम प्रथम ने, कंपिलि के विरुद्ध भेजे गए काकतीय अभियान का भी नेतृत्व किया, जिसमें वह कुमार रामनाथ के हाथों पराजित हुआ।[277]

प्रतापरुद्र के मंत्रियों को दो वर्गों में बांट सकते हैं; 'महाप्रधान' एवं 'प्रधान'। पदवी में 'महाप्रधान' सर्वोच्च थे। उन्होंने भिन्न भिन्न रूपों में राज्य की सेवा की—वे राजा की मंत्रि परिषद के सदस्य होते थे, विभागों के अध्यक्षों के रूप में तथा प्रांतों के गवर्नर के रूप में भी। 'महाप्रधान' वेपेंठि कोम्मय्यनंगारु, गंगिदेव एवं इंदुलूरि गन्नय, राजा की मंत्रिपरिषद के सदस्य प्रतीत होते हैं और संभवत: वे ही थे जो राज्य की नीति का निर्देशन करते थे।[278] दूसरी ओर पोचिराजु पेद्दि जैसे 'महाप्रधान' प्रशासनिक अधिकारी थे, क्योंकि इस व्यक्ति ने 'सर्वाधिकारी' की उपाधि धारण की थी। यह पद तो सलकमु एल्लय रेड्डि, नेमानि तम्मय प्रेग्गड आदि जैसे कम महत्वपूर्ण व्यक्तियों को भी प्राप्त था, जो निश्चय ही मंत्री स्तर के न थे।[279] मुप्पिडि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नायक एवं जुट्टय 'लेंक' गोंका रेड्डि जैसे 'महाप्रधान', प्रांतों के प्रशासनाध्यक्ष थे। मुप्पिडि नायक को राजा का 'कार्यकर्त्ता' एवं 'प्रतिनिधि' भी कहा गया है और वह नेल्लोर 'राज्य' पर शासन करता था, जो गुंटूर जिले में अद्दंकि से लेकर दक्षिण में कांची तक फैला हुआ था।[280] जुट्टय 'लेंक' गोंका रेड्डि, जिसे राजा ने स्वयं अपने हाथों से पदासीन किया था, अनेक जिलों का शासन करता था, जिसमें मुलिकि नाडु, सकिलि पोत्तपि नाडु एवं गंडिकोट सम्मिलित थे। यद्यपि अभिलेखों में कोलनि रुद्रदेव [281] का नाम किसी विशेष प्रांत के प्रशासन से जुड़ा नहीं मिलता, फिर भी वह वास्तव में वेंगी राज्य का अध्यक्ष था और कोलनु अर्थात पश्चिमी गोदावरी जिले में आधुनिक ऐल्लोरे से उसका प्रशासन करता था। 'शिवयोगसारम्' से हमें पता चलता है कि वह इंदुलूरि सोमय का पुत्र था, जो गणपति के महाप्रधानों एवं सेनानायकों में से एक था, तथा जिसे राजा ने कोलनु की विजय के पश्चात उसका गवर्नर नियुक्त किया था। उसके बाद उसका पुत्र रुद्रदेव पदासीन हुआ, तथा कोलनु से उसके सरकारी संबंध एवं वहां पर अविरल आवास के कारण उसे कोलनि (अथवा कोलनु) उपमान भी दिया गया था।[282]

सामान्यरूप से 'प्रधान' केवल प्रशासनिक अधिकारी होते थे; उदाहरणार्थ, 'प्रधानि' कामनेनि बोप्पनिंगारु ने 'पुरवरि' अर्थात राजस्व के पर्यवेक्षक का पद सम्भाला था,[283] हालांकि इंदुलूरि अन्नय के दृष्टांत में अपवाद किया गया था, क्योंकि उसका विवाह, प्रतापरुद्र की मामी रुय्यम से हुआ था।[284] दाक्षारामम् के एक अभिलेख में उसे 'सचिव' एवं 'मंत्रि चूड़ामणि' कहा गया है।[285] 'नायंकर' व्यवस्था के कारण सभी मंत्रियों एवं अन्य अधिकारियों को सैनिक पद भी प्राप्त थे, तथा उन्होंने अपने राजा की ओर से शत्रुओं के विरुद्ध किए गए अनेक युद्धों में भाग लिया, जबकि मुप्पिडि नायक एवं जुट्टय लेंक गोंका रेड्डि जैसे कुछ अधिकारियों ने तो सेनानायकों एवं विजेताओं के रूप में विशेष सैनिक ख्याति भी प्राप्त की। मुप्पिडि नायक ने पांड्यों के विरुद्ध विजयी अभियान का नेतृत्व किया, तथा कांची तक के तटीय प्रदेश को अपने अधिराज के नियंत्रण में किया। जुट्टय लेंक गोंका रेड्डि ने कायस्थों के विद्रोह का दमन किया तथा मुलिकि-नाडु, सकलि पौत्तपि नाडु एवं गोंडिकोट को पुनः जीत लिया।

सैनिक अधिकारियों की भी दो श्रेणियां थीं : 'साहिणि' एवं 'सेनाधिपति' संस्कृत शब्द 'साधन' के प्राकृत रूप 'साहण' से व्युत्पन्न 'साहिणि' का प्रयोग उस अधिकारी के लिए किया जाता था, जो युद्ध के लिए पशुओं, विशेषकर घोड़े एवं हाथियों के प्रशिक्षण की देखभाल करता था। अश्वों के प्रशिक्षण के अध्यक्ष को 'अश्व-साहिणि' एवं हाथियों के प्रशिक्षण के लिए उत्तरदायी व्यक्ति को 'गज साहिणि' कहते थे। मारय एवं पोतय साहिणि प्रथम वर्ग के थे तथा गुंडय नायक दाडि वीरय नायक, मादय नायक एवं माचय नायक दूसरे वर्ग के।[286] दाडि वीरय एवं सोमयनायनिंगारु जैसे कुछ 'साहिणियों' को 'पट्ट साहिणि' अथवा 'राय-पट्ट साहिणि' कहा गया है।[287] इस संदर्भ में बेंडूपूडि अन्नय का भी उल्लेख कर देना चाहिए। वह काकतीय नरेश की गज सेना का अध्यक्ष तथा 'नौलाख धनुर्धारियों के स्वामी के साम्राज्यरूपी समुद्र का चंद्र' बताया जाता है। वह संभवतः प्रतापरुद्र की सेवा में 'महाराय गज साहिणियों' में से एक था।[288] यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि ये अधिकारी, साहिणियों के उपरोक्त दो वर्गों से किस प्रकार भिन्न थे। यह असंभव नहीं कि वे राजा की वैयक्तिक सेना से संलग्न थे जबकि अन्य 'नायकों' द्वारा प्रबंधित सेना में थे। यद्यपि 'साहिणियों' का मुख्य कर्त्तव्य अश्वसेना एवं हाथियों का आरंभिक प्रशिक्षण होता था, फिर भी उन्हें रणक्षेत्र में सक्रिय सेवा से मुक्त नहीं किया गया था। उनमें से कुछ जैसे माचेय साहिणि एवं सोमयनायनिंगारु वीर योद्धा भी थे। उदाहरणार्थ, सोमयनाय-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निंगारु ने 1309 ई० में कायस्थों के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया तथा उनके प्रदेश को पद दलित किया।[289] उपर्युक्त बेंडपूडि अन्नय ने भी इनमें से कुछ युद्धों में बहुमूल्य सेवा प्रदान की। उसे 'यवन (अर्थात मुस्लिम) सेना को नष्ट करने वाली अग्नि' तथा 'कुम्मठ नगर के मनोरंजन उद्यानों का विध्वंसक' कहा गया है।[290]

'सेनाधिपतियों' के दो स्तर प्रतीत होते हैं: 'सकल सेनाधिपति' एवं 'महाराय-सकल सेनाधिपति।' सोमयाजुल रुद्रदेव एवं रेचेर्रल मुम्पडि नायक ने शक सं० 1213 में 'सकल सेनाधिपति' का पद संभाला था,[291] जबकि शक सं० 1216 में अडिदम् मल्लु, शक सं० 1218 एवं 1219 में रुद्रदेव एवं शक सं० 1240 में सोमय 'लेंक' 'महाराय-सकल सेनाधिपति' थे।[292] 'सकल सेनाधिपति' एवं 'महाराय-सकल-सेनाधिपति' का अंतर कुछ अस्पष्ट है हमारे स्रोतों में क्रमशः उनकी स्थिति एवं पदवी परिभाषित नहीं है। 'सकल-सेनाधिपति' संभवतः संपूर्ण सेना का सेनापति था, तथा 'महाराय-सकल-सेनाधिपति' केवल उसके एक अंश अर्थात राजा की वैयक्तिक सेना का अध्यक्ष था।

प्रतापरुद्र के मुप्पिडि नायक जुट्टय 'लेंक' गोंका रेड्डि अथवा देवरि नायनिंगारु जैसे कुछ सर्वाधिक विशिष्ट सेनापतियों की सेना में निश्चित स्थिति हमें ज्ञात नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि अभिलेख स्पष्ट रूप से राज्य के असैनिक प्रशासन में उनकी उपाधियों एवं पदों का उल्लेख करते हैं, किंतु सेना में उनके स्तर एवं पदवी का उल्लेख विरल ही मिलता है। जैसा ऊपर कहा गया है मुप्पडि नायक वास्तव में 'महाप्रधान' था। वह नेल्लोर राज्य का गवर्नर तथा राजा का कार्य कर्त्ता एवं प्रतिनिधि था।[293] जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, पुट्टय 'लेंक' गोंका रेड्डि, मुलिकिनाडु, सकिलि, पोत्तपि नाडु एवं गंडिकोट का गवर्नर था। 'बिरुदंक-रुद्र', 'प्रतिज्ञा परशुराम', 'बिरुद-ब्रह्म-राक्षस', एवं 'मल्लिदेव-प्रतिमल्ल' जैसी उसकी उपाधियां उसकी सैनिक शक्ति की साक्षी हैं।[294] ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों के समान रेवरि नायनिंगारु के पास कोई प्रशासनिक पद न था। वह एक महान योद्धा था, जिसने पांड्यों को परास्त किया तथा कावेरी के तट तक काकतीयों की विजय पताका फहरा दी। अपने पिता माचय नायक के समान ही, उसने भी ऊंची-ऊंची उपाधियां धारण कीं, किंतु संभवतः 'काकति-राय-स्थापनाचार्य' अर्थात काकतीय नरेश का संस्थापक' को छोड़कर जो उसे इनके अतिरिक्त प्राप्त थी, कोई भी उपाधि उसकी सैनिक उपलब्धि को प्रकट नहीं करती।[295] राजा के अनेक अन्य अधिकारियों ने भी इस विशिष्टता का दावा किया है। इनमें बेंडपूडि अन्नय तथा किसी मल्लिकार्जुन नायक का पुत्र, इम्मडि मल्लिकार्जुन नायक सम्मिलित है।[296] इसका वास्तविक महत्व स्पष्ट नहीं है। यह सुझाव मान्य नहीं है कि इसका अर्थ मुस्लिम आक्रमणों से उसके राज्य का बचाव है,[297] क्योंकि उपरोक्त इम्मडि मल्लिकार्जुन नायक ने यह उपाधि शक सं० 1212 (1290 ई०) जैसे आरंभिक काल में ही धारण कर लिया था।[298]

मारन नामक तेलुगु कवि अपनी कृति 'मार्कंडेयपुराणम्' में प्रतापरुद्र की सेवा में लगे कुछ ऐसे अधिकारियों का वर्णन करता है, जो अन्य स्रोतों से ज्ञात नहीं हैं। नागय गन्नय ने प्रतापरुद्र से राजत्व का चिह्न प्राप्त किया तथा अपनी प्रशासनिक योग्यता एवं रणक्षेत्र में शौर्य के कारण 'नायक' का पद भी प्राप्त कर लिया। वह काकतीय नरेश का 'कटकपाल' (राजधानी का गवर्नर) बना। उसके दो छोटे भाई—उल्लय एवं माचय भी सेनानायक बताए गए हैं।[299] गन्नय संभवतः कन्नु (कत्तु) ही था, जो इतिहासज्ञ शम्स-ए-सिराज अफीफ के अनुसार, प्रतापरुद्र की कैद के समय उसके साथ ही दिल्ली आ गया था, तथा जिसने मार्ग में अपने स्वामी की मृत्यु के बाद इस्लाम धर्म अपना लिया तथा सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने उसे मलिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मकबूल तिलंगी नाम दिया ।[300]

प्रतापरुद्र के अधीन विभिन्न रूपों में सेवा करने वाले अनेक 'लेंकों' का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है । निःसंदेह, उनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण जुट्टय 'लेंक' गोंका रेड्डि ही था, जिसके बारे में पहले ही पर्याप्त विवरण दिया जा चुका है । रुद्रय नामक उसका एक छोटा भाई भी था, जो उस समाज का सदस्य था ।[301] 'लेंक' भ्रातृसंघ का एक अन्य सदस्य, जो उस राज्य में उच्च पद नियुक्त था, पोचु-लेंक का पिता, 'महाराय-सकल-सेनाधिपति' सोमय लेंक था । वह संभवतः उसी नाम का 'लेंक' था, जिसका वर्णन गुंटूर जिले में कारेंपूडि के शक सं० 1225 (1303 ई०) के अभिलेख में हुआ है ।[302] राज्य के अन्य सेवकों के समान ही, 'लेंकों' को भी, उनके रहन सहन के लिए 'नायंकर' दिए जाते थे । उदाहरणार्थ मायिदेव 'लेंक' के पास 18 ग्रामों से युक्त कोंडूरि स्थल था[303], जबकि तिक्कय रौद्रय 'लेंक', मारय 'लेंक', पिच्छिय 'लेंक' एवं रुद्रय 'लेंक' नामक चारों 'लेकों' के समूह को 'नायंकर' के रूप में कोप्पारं 'स्थल' प्राप्त था[304] इनमें से कुछ तो राजा के वैयक्तिक अधिकारियों के पदों पर थे। उपरोक्त पोचु 'लेंक' राजा का 'अडपं' (पानों की थैली को धारण करने वाला) था,[305] पेद्दय 'लेंक' 'आलवट्ट' (बड़ा पंखा) को धारण करने वाला था[306], तथा एर्रेय-'लेंक' महल का अंगरक्षक था ।[307] इनके अतिरिक्त अनमकोंड के अंनु-लेंक[308] 'रायगज-साहिणि' मादाय रेड्डि के छोटे भाई अन्नय 'लेंक'[309] इम्मडि 'लेंक',[310] देचेय 'लेंक' एवं पिन्नय'लेंक' के नाम भी अभिलेखों में मिलते हैं।[311] किंतु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि ये व्यक्ति राज्य की सेवा में किन पदों पर नियुक्त थे।

संदर्भ

1. 'इं० ऐं०', xxi, पृ० 197 से.
2. 'सा० इं० इं०', iv, 1071; 'ऐ० रि० सा० इं० ऐं०', 1893 का 229.
3. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1913 का 142; 'ए० इं०', iii, पृ० 94.
4. 'ऐ० रि० सा० इं० ऐं०', 1890 का 26; 'इं० ऐं०', xxi, पृ० 122 एवं 197.
5. 'इं० ऐं०', xi, पृ० 9 से.
6. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', नं० 17, पृ० 19.
7. 'ए० इं०', ix, पृ० 266 से.
8. 'निजामराष्ट्र प्रशंसा' (1926, पृ० 104) नामक पुस्तक में कहा गया है कि नागदेवराज के गोविंदपुरम् अभिलेख के अनुसार, माधववर्मन का वंशज मेडराज, वारंगल जिले के पाखाल 'तालुक' में कुरुवट्ट तथा गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश का शासक था; वह प्रोल द्वितीय का कनिष्ठ समकालीन, तथा जैन धर्म का संरक्षक था. उसके मंत्री नागदेवराज ने पाखाल 'तालुक' में गोविंदपुरम् के स्थान पर पार्श्वनाथ का एक मंदिर (पार्श्वजिनेश्वरालय) बनवाया, तथा इस घटना को लिखने के लिए एक अभिलेख उत्कीर्ण करवाया (देखिए विद्वान कंभंपति अप्पन शास्त्री कृत 'वेयिस्तंभालगुडि शासनमु', पृ० 36).
   नागदेवराज का गोविदपुरम् अभिलेख अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है. किंतु, चूंकि मेडराज को माधववर्मन के परिवार में उत्पन्न हुआ बताया गया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह वही व्यक्ति है जिसे अनमकोंड अभिलेख में कदललाय बसदि का संरक्षक मेलरस कहा गया है.
9. 'इं० ऐं०', xi, पृ० 11.
10. वही, xxi, पृ० 198.
11. वही, पृ० 10.
12. 'ए० इं०', iii, पृ० 83.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

13. 'कार्पस', नं० 3, पद्य 30.
14. देखिए बेत द्वितीय के उत्तराधिकारियों से संबंधित खंड (पृ० 139-43).
15. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', मिसलेनियस नं० 6.
16. वही, नं० 2 'लक्ष्मणराय परिशोधक मंडली, हैदराबाद द्वारा प्रकाशित 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस' के मूल पाठ में 'रुद्रयन' शब्द एवं शक सं० 1047 की तिथि त्रुटिपूर्ण है. स्वर्गीय रायबहादुर सी० आर० के० चर्लु ने छापों की सहायता से पाठ का पुनरीक्षण तथा त्रुटियों का संशोधन किया.
17. काकति गणपतिदेव के शक 1124 दुंदुभि (1202-3 ई०) के जमालपुरम् अभिलेख का प्रमाण भी केवल समर्थन करता है. यह लेख अप्रकाशित है. इसमें रुद्रदेव एवं चोडोदय के युद्ध का उल्लेख करते हुए केवल चोडोदय के सेनापति अरसालु की पराजय एवं उसकी सेना के नाश का वर्णन किया गया है इसमें चोडोदय की मृत्यु की चर्चा नहीं की गई है.
18. सा० इं० इं०', iv, 1107; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 252.
19. 'सा० इं० इं०', iv, 1071; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 229.
20. 'सा० इं० इं०', iv, 1086; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 238.
21. 'सा० इं० इं०', iv, 1083; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 236.
22. 'सा० इं० इं०', iv, 1241; 1242, 1335, 1365 एवं 1366.
23. वही, 1095; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 244.
24. 'कार्पस', 8, पद्य 13.
25. 'सा० इं० इं०', x. 241; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1905 का 273.
26. 'सा० इं० इं०', iv, 1155; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1903 का 288.
27. 'सा० इं० इं०', 1100; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 247.
'सा० इं० इं०', x, 211; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1909 का 97.
28. 'ए० इं०', ii, पृ० 338 से. अभिलेख तिथि विहीन है. उसमें पंजीकृत दान संभवत: शक सं 1128 अथवा 1129 (1207 ई०) में दिया गया था, किंतु संपादक के अनुसार, उसकी रचना 13 वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में लगभग 1209-10 ई० के बाद हुई होगी. यह सिंघण के राज्यारोहण की तिथि है.
29. भंडारकर, 'दि हिस्ट्री आफ दि दकन', परिशिष्ट 'सी', पद्य 4.
30. 'ए० इं०', iii, पृ० 90.
31. 'कार्पस', पद्य 10.
32. वही, पद्य 15, 'कार्पस' (पृ० 175) में दिया गया. इस पद्य का अंगरेजी अनुवाद त्रुटिपूर्ण है.
33. 'कार्पस', पद्य 21.
34. वही, 33.
35. वही, 38, पद्य 3.
36. 'सा० इं० इं०', iv, 1155. स्वर्गीय श्री चिलुकूरि वीरभद्र राव ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ दि एज आफ दि काकतीय किंग्स' (पृ० 305) में यह गलत कहा है कि रुद्र ने 'विद्याभूषण' की उपाधि धारण की थी.
37. 'कार्पस', 15.
38. प्रताप चरित्रमु' (शैवग्रंथमाला, वारंगल), पृ० 40-41.
39. 'ए० इं०', iii, पृ० 101.
40. फ्लीट : 'डा० कै० डि०', 'बा० ग०', खंड i, भाग ii, पृ० 524-5, 'ए० क०', viii, (सोरब तालुक) 135, 276.
41. 'ए० इं०', iii, पृ० 111.
42. 'इं० ऐं०', xiv, पृ० 316; 'ए० इं०', iii, पृ० 111.
43. 'सा० इं० इं०', x, 254, 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1905 का 204. 'काकतीय संचिक' परिशिष्ट नं० 14.
44. 'कार्पस', 15.
45. 'इंसक्रिप्शंस आफ आफ दि पुदुक्कोट्टै स्टेट,' 163, 166; के० ए० नीलकंठ शास्त्री, 'चोलाज', ii, 125, 133, 142.
46. 'है० आ० मि०', iii, पद्य 22.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

47. वही, पद्य 24.
48. 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 261, 'सा० इं० इं०', iv, 1117.
49. 'ए० इं०', iv, पृ० 32 से; 'सा० इं० इं०', v, 1100; इलियट का संग्रह, पृ० 133, नं० 55; 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1896 का 370—ब; 'सा० इं० इं०', v, 1254.
50. 'ए० इं०', iii नं० 15 पद्य 30, पृ० 87 :
'चोड-पृथ्वीश-भूपस्य चतुराशा-जयावहा:
अभूवन बाहु-वीर्य्येण चत्वारो भट-पुंगवा:
51. 'भारति', xxii, भाग i, पृ 546.
52. 'ए० इं०', vi, नं० 15, पृ० 159.
53 'कार्पस', नं० 8 (पद्य 55) एवं 9, पद्य 53. डा० पी० श्रीनिवासचार का अनुवाद ('कार्पस', पृ० 50) 'स्वर्ण में भी चूर्णकार के समान असंगत' है.
54. 'ए० इं०', iii, पृ० 91.
55. तिक्कन सोमयाजि 'निर्वचनोत्तर रामायणम्', i, 32; केतन, 'दशकुमार चरित्रम्', i : 16.
56 'सा० इं० इं०', vi, 166, 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1897 का 206, रुद्रांबा का बीदर अभिलेख. अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के 15वें अधिवेशन, बम्बई की 'समरी आफ पेपर्स' देखिए.
57. 'ए० इं०', v, पृ० 149.
58 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1919 का 403, 1892 का 195, 1907 का 586.
59. 'एन० आई० एन०', 40, 85; 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1929 का 317, 1892 का 198, 1907 का 601, 1894 का 197, 1907 का 578.
60. 'ए० इं०', vii, पृ० 123, 149.
61. 'एन० आई०', आर०, 8.
62 'निरुत्त', i : 33; 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1920 का 446, 'ए० आर० ई०', 1920, ii, परिच्छेद 55.
63. 'कार्पस', 10.
64. 'ए० इं०', iii, पृ० 91.
65. 'ऐं० रि० सा० इं० एं०', 1937-38 का 439; 'ए० आर० ई०' 1937-38, ii, परिच्छेद 42; 'ए० क०', vi, (कडुर तालुक) 100; निरुत्त, I : 33.
66. 'कलिंग संचिक', पृ० 382.
67. 'भारति', xv, भाग i, पृ० 143 से.
68. 'है० आ० सि०', नं० 3, पृ० 18; 'सा० इं० इं०', iv, 117; ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 261.
69. गणपेश्वरम् अभिलेख में जायप के शत्रु के रूप में किसी वैरि गोधूमघरट्ट का उल्लेख हुआ है ('ए० इं०', iii, नं० 15, पद्य 41); किंतु दुर्भाग्यवश, इस प्रमुख की तादात्म्यता एवं उसकी पराजय का अवसर ज्ञात नहीं है.
70. है० आ० सि०', नं० 3, पृ० 18.
71. 'भारति', xv, भाग i, पृ० 143 से.
72. 'सा० इं० इं०', iv, 1117 (ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1893 का 261)
73. 'सा० इं० इं०', vi, 628 ('ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1899 का 183)
74. 'एन० आई०', ii, ओ०, 17, 45; iii, ओ०, 139.
75. 'सा० इं० इं०', iv, 1329; 'ऐ० रि०', 1893 का 407.
76- 'सा० इं० इं०', vi, 181; 'ऐ० रि०', 1893 का 527, 529, 531; 1930 का 723; 1920 का 735; 1893 का 532–अ.
77. 'ऐ० रि०', 1893 का 430; 'सा० इं० इं०', iv, 1252; 'ऐ० रि०', 1893 का 357-अ.
78. श्री एम० सोमशेखर शर्मा द्वारा नकल किया गया यह अभिलेख अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है.
79. 'सा० इं० इं०', iv, 1333; 'ऐ० रि०', 1905 का 283.
80. 'सा० इं० इं०', vi, 602; 'ऐ० रि०', 1899 का 160.
कुलोतुंग-राजेंद्र-चोड-निस्तारक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

81. मद्रास विश्वविद्यालय, आंध्र ग्रंथमाला, नं० 8 पृ० 63-65, 83-84.
82. 'ऐ० रि०', 1907 का 580.
य:—सहायूयं विधित्सु: गणपति-नृपते: स्वेच्छया संगराग्रे,
गोदावर्याम् सरिति नृपतिः चर्म-यष्ट्या निवृत्य
कलिंगन् स्यान् कलिंग्रान-आमेमुखम् अकरोदेक-वीरैस्तदानीम्'.
83. 'सा० इं० इं०', x, 398; 'ऐ० रि०', 1905 का 194.
84. 'सा० इं० इं०', iv, 715, 755, 763.
85. 'एन० आई०', iii, श्लोक 8.
86. 'ऐ० रि०', 1922 का 769.
87. तिक्कन, निर-उत्त, I : 41.
88. 'ऐ० रि०', 1922 का 769.
89. 'सा० इं० इं०', iv, 1333; 'ऐ० रि०', 1893 का 411
90. तिक्कन; 'निर-उत्त', I : 39.
91. 'ऐ० रि०', 1916 का 137.
92. 'भारति', xv, भाग i, पृ० 157.
93. 'सा० इं० इं०', x, 332; 'ऐ० रि०', 1905 का 283.
94. वही, 342; 'ऐ० रि०', 1905 का 231.
95. वही, 402; 'ऐ० रि०', 1909 का 550.
96. निर-उत्त', I : 41.
97. 'ए० इं०', iii, नं० 15, पद्य 34, पृ० 87.
98. 'सा० इं० इं०', iv, 625 'क्षेमैस्सम शैवुणैः'.
99. 'टी० टी० डी० आई०', i, नं० 53.
100. 'ऐ० रि०', 1913 का 361.
101. वही, 1919 का 483.
102. वही, 1905 का 201, 197, 198 और 279.
103. 'सा० इं० इं०', xii, 247; 'ऐ० रि०', 1905 का 198.
104. वही,
105. 'टी० टी० डी० आई०', i, 19.
106. 'ऐ० रि०', 1913 का 365.
107. वही, 1913 का 332, 340, 354, 361 और 365.
108. के० ए० एन० शास्त्री, दि पाण्ड्यन किंगडम, पृ० 168.
109. 'ऐ० रि० सा० इं० एं०', 1914, भाग 2, पैरा 18; 'सा० इं० इं०', iv, नं० 865.
110. 'प्रो० इं० हि० कां०', 1938, पृ० 42.
111. 'ए० इं०', v, पृ० 149.
112 'है० आ० सि०', 04, पृ० 10
113. फ्लीट; 'डा० कै० डि०', 'बा० ग०', खंड i, भाग ii, पृ० 525.
114 'है० आ० सि०', नं० 3, पृ० 9.
115. वही, 'सा० इं० इं०', iv, 1117.
116. 'कार्पस', नं० 8-9.
117. 'ए० इं०', iii, पृ० 82-93
118. 'ऐ० रि०, 1899 का 183 (सा० इं० इं०, खंड 6, 628),
'ऐ० रि०, 1897 का 243 (सा० इं० इं०, खंड 6, 206)
119. एन० डी० आई०', iii, 0.76, i, अध्याय 17.
120. वही, iii, पृ० 1452.
121 वही, पृ० 1451.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

122 'सा० इं० इं०', x, 360; 'ए० रि०', 1920 का 740.
123. 'ऐ० रि०', 1905 का 203 ('सा० इं० इं०', x, 355).
124. 'ऐ० रि०', 1905 का 194 ('सा० इं० इं०', x, 398).
125. 'ज० ऐ०', xxi, पृ० 127, 197.
126. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1929-30, परिच्छेद 30; 1916, परिच्छेद 52.
127. वही, 1929-30, परिच्छेद 30.
128. 'ऐ० रि०', 1917 का नं० 188 ('सा० इं० इं०', x, 265).
129. 'ऐ० रि०', 1925 का 530, 1934-5 का 328; 'इं० म० प्रे०, ii, Gt. 586 E.
130. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा इं० इं०', x, 465.
131. देखिए, छ० वीरभद्र राव : 'हिस्ट्री आफ दि एज आफ दि काकतीय किंग्स', पृ० 402.
132. 'ऐ० रि०', 1909 का 571; 'सा० इं० इं०', x 334.
133. 'ऐ० रि०', 1905 के नं० 231 एवं 283 तथा 'सा इं० इं०', खंड 10, 332 एवं 342.
134. 'ऐ० रि०', 1905 का नं० 194 और 'सा० इं० इं०', x, 398, हाल तक गणपतिदेव एवं रुद्रांबा का संबंध, विवाद का विषय था. वेनिस का यात्री मार्को पोलो, जो रुद्रांबा के शासनकाल के अंतिम वर्षों में 1293 ई० में या उसके आसपास, तेलुगु राज्य में आया था, उसे उसके पूर्वज अर्थात गणपतिदेव की पत्नी बताता है (के० ए० नीलकंठ शास्त्री, 'फारेन नोटिसिज आफ साउथ इंडिया', पृ० 174). इसी प्रकार, प्रसिद्ध टीकाकार कोलचेलम मल्लिनाथ सूरी के पुत्र, कुमारस्वामि सोमपीथि ने विद्यानाथ के ग्रंथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषणम्' पर लिखी अपनी प्रसिद्ध टीका में कहा है कि गणपति की मृत्यु के बाद जिसकी केवल पुत्रियां ही थी, उसकी प्रमुख रानी रुद्रमदेवी ने निर्विरोध अनेक वर्षों तक साम्राज्य पर शासन किया ('काकतीय संचिक', परिशिष्ट) किंतु उसके प्रमाण तर्क संगत नहीं हैं; क्योंकि उसी कृति के ही 'नाटक प्रकरणम्' में वह कहता है कि रुद्रांबा, गणपति देव और उसकी रानी सोमांबा की पुत्री थी. इस प्रकार उसने अपने ही आरंभिक वक्तव्य का खंडन कर दिया है. गणपतिदेव और रुद्रांबा के संबंध के विषय में कुमारस्वामि सोमपीथि ने कैसे दो परस्पर विरोधी वक्तव्य दिए इस की व्याख्या करना आसान नहीं है. इसी प्रकार 'प्रतापचरित्र' एवं लोकल रिकार्ड्स(शैवप्रचारिणी ग्रंथमाला, वारंगल. नं० 3, पृ०40) भी रुद्रमदेवी को गणपति देव की रानी के रूप में वर्णित करते हैं. उपर्युक्त कृतियों, विशेषकर पहली के प्रमाणों के आधार पर, पिछली पीढ़ी के अनेक विद्वानों एवं इतिहासज्ञों का विचार था कि गणपति देव के पश्चात उसकी रानी रुद्रमदेवी सिंहसन पर आई थी. किंतु यह विचार कतई मान्य नहीं है. समकालीन अभिलेखीय प्रमाणों से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि रुद्रांबा गणपति की पत्नी नहीं अपितु पुत्री थी. चूंकि यह तथ्य अब सार्वभौमिक रूप से मान लिया गया है, अतः प्रमाणों को उद्धृत करने अथवा यहां पर विषय का पुनः विवेचन करना आवश्यक नहीं है.
135. 'ऐ० रि०', 1905 का 207; 'सा० इं० इं०', x, पृ० 407.
136 'ऐ० रि०', 1909 का 573; 'सा० इं० इं०', x, पृ० 422.
137. शैवप्रचारिणी ग्रंथमाला (वारंगल) नं० 3, पृ० 40.
138. 'वेलुगोटिवारि-वंशावलि' (मद्रास विश्वविद्यालय), 1939, भूमिका, पृ० 3-4 तथा पद्य 17-18.
139. माचय नायनिंगारु के पुत्र देवरि नायडु को उसके शक सं० 1235 (1313 ई०) एवं शक सं० 1239 (1317 ई०)के अभिलेखों में काकतिराज्य-स्थापनाचार्य' के रूप में वर्णित किया गया है('सा० इं० इं०', x, 505; 'ऐ० रि०', 1938-39 का 79) इसी प्रकार 'गौड़, गूर्जर, मालव, महाराष्ट्र व अन्य प्रदेशों को जीतने के बाद तेलुगु प्रदेश में घुसने वाले मुसलमान शासक को पराजित करने वाले काचय रेड्डि को कुर्नूल जिले में श्रीशैलं के एक तिथिविहीन अभिलेख में 'महाराय-स्थापनाचार्य' कहा गया है (ऐ० रि०, 1942-3 का 54) । इन दो अधिकारियों ने तेलुगु राज्य में मुसलमानों के अतिक्रमणों के पश्चात की गई राज्य की सेवा के द्वारा इन उपाधियों को प्राप्त किया होगा, तथा यह अत्यंत संभव है कि रुद्रांबा के राज्यारोहण से उनका कोई संबंध न हो.
140. 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड' (अप्रकाशित), नं० 114 (आलुगडप, नालगोंड जिला), तिथि शक सं० 1196 रक्ताक्षी (1275 ई०); 'ऐ० रि०', 1922 का 804; 'सा० इं० इं०', x, 450, तिथि शक सं० 1202 प्रमादि, (1280 ई०) (नंडूर, बपल्ल तालुक, गुंटूर जिला), कार्पस, 35 (पानुगल नलगोंड

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिला), तिथि शक सं० 1212 विकृति (1290 ई०); ऐ० रि०, 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465 (त्रिपुरांतकम्, कुर्नूल जिला), तिथि शक सं० 1292 विकृति (1290 ई०).

141. 'तेलिगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड' (अप्रकाशित), नं० 126 (शक सं० 1219, 1297 ई०), नं० 127 (शक सं० 1220, 1298 ई० एवं 'सा० इं० इं०', x, 491.
142. 'सा० इं० इं०', iv, 1341, 1342, 1342-ब.
143. वही, 1152.
144. वही, 1097.
145. वही, 1089 एवं 1373.
146. 'सा० इं० इं०', x, 422; 'दि आंध्र पत्रिका', 1922, कार्तिक ब 30 शनिवार, 'लिटरेरी सप्लीमेंट', पुलिदिड अभिलेख.
147. 'ऐ० रि०', 1893 का 285; 'सा० इं० इं०', iv, 1152 दाक्षारामम् शक सं० 1200 (1278-9); 'ऐ० रि०', 1930-1 का 281; तेलिकिचेर्ल-तदेपल्लि गुदेम 'तालुक', पश्चिमी गोदावरी जिला, शक सं० 1202 (1280 ई०); ऐ० रि०', 1924 का 318. गुडिमेट्ट, 'नन्दिगम् तालुक', कृष्णा जिला, शक सं० 1213 (1291 ई०); 'सा० इं० इं०', vi, नं० 81, पेदकल्लेपल्ले मसुलिपटम् तालुक, कृष्णा जिला, शक सं० 1214 (1292 ई०); 'सा० इं० इं०', iv, नं० 1307, दाक्षारामम्, पूर्वी गोदावरी जिला, शक सं० 1215 (1293 ई०).
148. के० ए० एन० शास्त्री; 'दि पाण्ड्यन', पृ० 168.
149. 'ऐ० रि०', 1913 का 365.
150. वी० वेन्कयय का विचार है कि यह वीरराजेंद्र चोल उसी नाम के चोल सम्राट से भिन्न व्यक्ति है ('इं० ऐं०', xxxvii, (1900) पृ० 356). उसके अभिलेखों से प्राप्त तिथिक्रम संबंधी विवरणों से पता चलता है कि यह शक सं० 1165 अर्थात 1243-4 ई० में सिंहासन पर बैठा। इस सामग्री में शक सं० 1174, 1178 एवं 1185 के साथ साथ उसके शासनकाल के क्रमश. 9वें, 13वें और 20वें वर्ष का भी उल्लेख है। यद्यपि वह चोल सम्राट राजेंद्र तृतीय के राज्यारोहण से लगभग तीन वर्ष पूर्व राजा बन गया था, फिर भी वीरराजेंद्र चोल एवं राजेंद्र चोल तृतीय वास्तव में एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि उसे भी तेलुगु चोल प्रमुख तिक्क प्रथम एवं उसके पुत्र मनुम सिद्धि द्वितीय—दोनों का ही अधिराज बताया गया है (नेल्लोर इंसक्रिप्शंस, जी० 39, 85, 90; यू० 48).
151. 'ऐ० रि०', 1907 का 613.
152. वही, 1909 का 550 और 573; 'सा० इं० इं०', x, 420 एवं 422.
153. 'ऐ० रि०', 1937-8 का 226.
154. वही 1915 का 319.
155. वही, 1909 का 622.
156. वही, 1905 का 168 और 248; 'सा० इं० इं०', x, 431 और 432.
157. 'हेमाद्रि-व्रतखंड', राजप्रशस्ति प्रथम, पद्य 48 एवं 52; देखिए 'बा० ग०', ii, भाग i, पृ० 273.
158. 'ए० क०', vii, (शिकारपुर तालुक) 95.
159. शैव प्रचारिणी ग्रंथमाला (वारंगल), नं० 3, पृ० 40-41.
160. 'कार्पस', नं० 34.
161 'ए० क०', vii, (छन्नगिरि तालुक) 21 महादेव की उत्पत्ति बताने वाला अभिलेख अत्यंत रोचक है : 'स्वस्ति श्री सोमवंशादुदयति नृपतिर्-जतेगिस्तत्सुतो भूत जातो-स भिल्लमाख्यस्तदनु विजयते सिंहणस्-चक्रवर्ती तस्मात्सारंगपाणिः प्रति-नृपति-बल-व्रात विद्रावकोयं वीर श्री महादेवराय नृपतिस्त्रैलोक्यं आक्रामति।'

चूंकि इस पद्य में वर्णित सारंगपाणि कभी भी सेउण सिंहासन पर नहीं बैठा तथा चूंकि अपने दादा सिंघण के बाद राजा बनने वाले कृष्ण कन्नर का उल्लेख ही नहीं है; अत: यह स्पष्ट है कि इस अभिलेख में निहित 'प्रशस्ति' के रचियता का उद्देश्य, महादेव की उत्पत्ति बताना था न कि उससे पहले सिंहासन पर बैठने वाले शासकों की गणना करना.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

162. 'ज० रा० ए० सो०', xii, 'न्यूमिसमेटिक सप्लीमेंट, नं० 34, पृ० 6 से.
163. 'ए० इं०', xxiii, पृ० 193, टिप्पणी 2.
164. दक्षिणी भारत के अनेक स्थानों पर रोमन सिक्कों के ढेर मिले हैं; इसी प्रकार 'चालुक्य चंद्र' (शक्तिवर्मन प्रथम) के लेख से युक्त, पूर्वी चालुक्य सिक्के वर्मा में मिले हैं. इनके ग्राधार पर यह तर्क देना कि रोमन सम्राटों ग्रथवा शक्तिवर्मन प्रथम की प्रभुसत्ता, क्रमशः दक्षिणी भारत एवं वर्मा पर भी थी, हास्यास्पद ही कहलाएगा.
165. 'ऐ० रि०', 1907 का 610.
166. वही, 1939-40 का नं० 1.
167 'एन० आई०', A 51, KN 48, एवं N 21
168. वही, 0.75.
169. वही, g. 45.
170. 'ज० ते० ऐ०', xvii, पृ० 223; 'ऐ० रि०', 1893 का 213, 'सा० इं० इं०,' iv, 661.
171. 'ऐ० रि०', 1911 का नं० 423.
172. 'एन० आई०', G 57, 67, 69, 74, 75, 80, 91, 116 s.3, 8 एवं 19 इन अभिलेखों में उद्धृत शासन का अंतिम वर्ष 27 वां (1276-7 ई०) है (G 80) ग्रधिकांश तिरुप ते अभिलेख खंडित एवं तिथि विहीन हैं। ('टी० डी० ग्राई०', i, नं० 59 (9वां वर्ष), 61 (चौथा वर्ष), 63, 67, 68, 69, 72, 76, 77 एवं 79).
173. 'ऐं० रि०', 1105 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465, 599.
174. 'ए० इं०', xxv, 227.
175. 'ऐ० रि०', 1121-30 के 87 एवं 87-ग.
176. वही, 1929-30 का 91.
177. वही, 1905 का 168; 'सा० इं० इं०', x, 432. इस ग्रभिलेख में ग्रम्बदेव को 'श्रीमान्महासहस्रमल्ल-मण्डलेश्वर' आदि रूपों में वर्णित किया गया है.
178. शक सं० 1212 (1290 ई०) के ग्रपने सिपुरांतकम् अभिलेख ('ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०, x, 465) में ग्रंबदेव दावा करता है कि उसने काडवराय को मारा था (काडवराय-विध्वंसन). 'विध्वंसन' शब्द का अर्थ पराजय लगाया गया है तथा घटना को शक सं० 1184 (1261-2 (?) ई०) में कोप्पेरुंजिग के वेंगि के ग्रतिक्रमण के दौरान (सा० इं० इं०', xii, भूमिका, xiii, 10) हुआ बताया जाता है किंतु जैसा कि यहां माना गया है, 'विध्वंस' शब्द का ग्रर्थ पराजय नहीं होता है, अपितु विनाश, नष्ट करना ग्रथवा मृत्यु है. अंबदेव केवल 1272 ई० में ही अपने भाई त्रिपुरारिदेव का उत्तराधिकारी बना था, और जहां तक विद्यमान प्रमाणों का प्रश्न है, इस तिथि से पहले उसके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है. ग्रतः यह मानना उचित नहीं है कि अपने राज्यारोहण से दस वर्ष पूर्व ही, ग्रंबदेव और कोप्पेरुंजिग की मुठभेड़ वेंगि के युद्ध में हुई ग्रौर उसने कोप्पेरुंजिग को पराजित किया. यह घटना अंबदेव के राज्यारोहण के बाद ही हो सकती थी ग्रौर वास्तव में तो वह 1278-9 ई० में विजय गंडगोपाल के आक्रमण के दौरान ही संभव थी। चूंकि यह वर्ष कोप्पेरुंजिग के शासनकाल का भी अंतिम वर्ष था, ग्रत अंबदेव से हुए युद्ध में उसकी मृत्यु अत्यंत संभव प्रतीत होती है।
179. नेल्लोर जिले के कोवुर 'तालुक' में कोडवलूर के स्थान से प्राप्त, मनुम गंडगोपाल के एक ग्रभिलेख ('एन० आई०', नं० 31, पृ० 794) में शक सं० 1206 को उसके शासनकाल के तीसरे वर्ष के साथ रखा गया है। ग्रतः यह स्पष्ट है कि उसके शासन का प्रथम वर्ष शक सं० 1204 (1582-3 ई०) में ग्रारंभ हुआ था।
180. सीवेल, 'एच० आई०', पृ० 379.
181, 'ऐ० रि०', 1911 का 425, 'ऐ० सा० इं० ए०', 1922, पृ० 92 (राजा के राज्यारोहण की तिथि के लिए).
182. 'ऐ० रि०', 1907 का 622.
183. वही, 1907 के 590, 592, 593 एवं 614.
184. वही,' 1941 2 का 26.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

185. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1939-40 से 1942-43, ii, परिच्छेद 76.
186. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465; 'ए० इं०', xxv.
187. 'ऐ० रि०', 1905 के 189 एवं 190; 'सा० इं० इं०', x, 417 और 418.
188. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465.
189. 'ऐ० रि०', 1911 का 406; 'सा० इं० इं०', x, 448.
190. वही, 465.

'दौस्तंभ संभृत जग-त्रय-गुप्तिमेनम्
धर्मस्य हर्म्यम्-इव जंगमं ग्रंबदेवम्
आ-चंद्रमा च रवि रक्षतु मेरु-धन्वा
गौरीश्रिव श्रित तनुस्त्रिपुर-प्रमाथी

'जग-त्रय-गुप्ति' स्पष्ट रूप से स्थानीय भाषा के जगतापि गुत्ति का ही संस्कृत रूप है.

191. वही,
192. 'प्रतापरुद्र-यशोभूषणम्' (नाटक प्रकरणम्).
193. 'ज० आ० हि० रि० सो०', vi, पृ० 168.
194. 'ऐ० रि०', 1917 का 94; 'सा० इ० इं०', x, 395,

श्री विश्वेश्वर देशिकेंद्र शिव (-श्री) हस्तोसि दोर्व्विक्रमस्
त्रिक्षो॰ीश जगद्दल: प्रतिबल-प्रध्वंसि जन्मोत्सव:
यस्या: काकतिवंश मौक्तिकमणे (इ:) श्री रुद्रदेवस्सुतस्
तस्या: कि कथयाम वैभवत श्री रुद्रदेव्या: परम्

195. 'ऐ० रि०' 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465; 'ए० इं०', xxv, पृ० 270 से.
196. 'ऐ० रि०', 1907 के नं० 588, 590 और 594.
197. 'शिवयोगसारम्, भाग i, भूमिका :

आहवमुन वारु रिपुल
व्यूहंबुलु बडलु-परंचि योवकट गोनरे
बाहत्तरि दुर्नम्बुलु
साहसुलै रुद्रमांब शौर्यमु कतनम्

198- त्रिपुरांतकम् में अंबदेव के अंतिम अभिलेख ('ऐ० रि०', 1905 का 173; 'सा० इं० इं०', x, 466) की तिथि बुधवार, शु० दि० 15, निज (अधिक-?-)-आषाढ़, खर, शक सं० 1213 (बुधवार, 13 जून, 1291 ई०) है। काकतीयों का सर्वप्रथम अभिलेख इंदुलूर अन्नय (अन्नल) देव ('ऐ० रि०', 1905 का 238; 'सा० इं० इं० x, 467) एवं मनुम गन्नय का है. ('ऐ० रि०', 1905 का 239) इसकी तिथि श्रावण के चंद्र ग्रहण के समय म (मंदवार), खर शक 1213 (शनिवार, 11 अगस्त, 1291 ई०) है. अतः यह स्पष्ट है कि त्रिपुरांतकम् एवं उसके निकटवर्ती प्रदेश के आधिपत्य का परिवर्तन, 13 जून और 11 अगस्त, 1291 ई० के बीच में हुआ होगा.
199 'भारति', vi, पृ० 848.
200. 'ऐं० रि०', 1937-8 का 321.
201. वही, 1943-4 का 55.
202. वही, 1905 का 179; 'सा० इं० इं०', x, 479.
203. वही, iv, 661; 'द्राविड-बल-वार्धिपरिषण-बडवानल', 'राज-गंडगोपाल-विहिताहित मानभंग ।'
204. 'सा० इं० इं०', vi, 661; 'ज० ते० ऐ०', v, पृ० 223 से आगे, आंध्र पत्रिका 1922, रविवारीय संस्करण.
205. 'काकतीय संचिक', परिशिष्ट 33, पृ० 84-85.
206. 'कार्पस', 50.
207. 'ऐ० रि०', 1905 का 183; 'सा० इं० इं०', x, 471.
208. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465.
209. 'ऐ० रि०', 1920 का 74; 'सा० इं० इं०', x, 360.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

210. 'ऐ० रि०', 1793 का 509-अ; 'सा० इं० इं०', v, 122.
211. 'ऐ० रि०', 1943-44 का 10; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1943-44 एवं 1944-5, भाग ii, परिच्छेद 24.
212, 'ऐ० रि०', 1913 का 361.
213. 'कार्पस', 34.
214. 'ऐ० रि०', 1929-30 का 68.
215. 'है० आ० सि०', नं० 6, पृ० 9.
216· 'सा० इं० इं०', x, 442.
217. 'ऐ० रि०', 1937-8 का 321, 322; 1942-3 का 22 एवं 1943-4 का 55.
213. 'सा० इं० इं०', iv, 1307, खंड 10, 394 एवं 467.
219. 'ऐ० रि०', 1930-1 का 321.
220. 'सा० इं० इं०', x, 450, 'तेलिंगाना इंसक्रिप्शंस'-काकतीय, 43.
221. 'कार्पस', 35.
222. 'सा० इं० इं०', x, 472.
223. वही, iv, 705 एवं 707; 423, 424, 425, 444.
224. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1909 , भाग ii, परिच्छेद 66.
225. 'शिवयोगसारम्' देखिए 'काकतीय सचिक', परिशिष्ट, पृ० 14.
226. मैकंजी पांडुलिपि, 13-4-30, पृ० 54-60
227. 'ज० ते० ऐ०', ii पृ० 106.
228. 'ऐ० रि०', 1935 का 207; 1911 का 414, 1938-9 का 391 तथा 1939-40 का 65.
229. वीरभद्र राव; 'हिस्ट्री आफ दि एज आफ दि काकतीय किंग्स', v, पृ० 481, 548-9.
230. 'कार्पस', 34.
231- 'सा० इं० इं०', ix, भाग i, पृ० 380; 'ऐ० रि०', 1918 का 224.
232. नव-लक्ष-धनुर्धर-आधिनाथे
पृथ्वीं शासति वीररुद्रदेव—9 विद्यानाथ, प्रतापरुद्र-यशोभूषणं इसामी कृत फुतूह्-उस-सलातीन (मद्रास संस्करण), पृ० 214.
233. प्रोलय नामक का विलस दानपत्र; 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', देखिए 1938-9 का 5, भाग ii परिच्छेद 10.
234. मैक० पांडुलिपि', 15-4-3, पृ० 82.
235. 'वेलुगोटिवारि वंशावलि', 25.
236. 'मैक० पांडुलिपि', 15-3-20, पृ० 101.
237. बरनि, ई० डी० (इलियट-डासन) iii, पृ० 201.
238 खुसरो; खजाइन-उल फुतुह', 'ज० इं० हि०'. viii, पृ० 382-3.
239. एन० वेंकटरमनैया; 'दि अर्ली एक्सपैंशन इन साउथ इंडिया', पृ० 31-41.
240. 'सा० इं० इं०', x, 506 ओर 536; 'ऐ० रि०', 1905 का 328 और 329.
241. 'सा० इं० इं०', viii, 247; ऐ० रि०, 1902 का 642.
मुन्नाल राजराजन् सुंदर पांड्यदेवतु लुक्करुडन्-वंद नालिल'
242. 'फुतूह-उस-सलातीन' (मद्रास संस्करण), पृ० 348.
243. 'मैक० पांडुलिपि', 15-4-4, पृ० 37; ज० ओ० रि०', xii, पृ० 213-216
244. 'ऐ० रि०', 1938-9 का 79, 'ऐं० रि० सा० इं० ए०', 1938-9, भाग ii, परिच्छेद 8.
245. अमीर खुसरो : नुह् सिपिह्र (ईलियट डासन, iii, पृ० 550-61).
246. 'फुतूह-उस-सलातीन', (मद्रास संस्करण), पृ० 361-3.
247. एन० वेंकटरमनैया, 'कंपिलि ऐंड विजयनगर', पृ० 17 और एम० एच० राम शर्मा, 'स्टडीज इन विजय-नगर हिस्ट्री', 'क्वा० ज० मि० सो०', xx, पृ० 95-96.
248. 'मीम', i. 48.
249. 'भारति' vi, पृ० 848.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

250. ब्रिग्स, 'फिरिश्ता', i, पृ० 403.
251. वही.
252. 'तारीख-ए-फीरूज शाही', 'इलियट-डासन', iii, पृ० 231-3.
253. 'इलियट डासन'. iii, पृ० 609.
254. 'फुतूह-उस-सलातीन, (मद्रास संस्करण), पृ० 394-7.
255. शम्स-ए-सिराज अफीफ तारीख-ए-फीरूज शाही, पृ० 395.
256. 'ऐ० रि०', 1938-9 का 5.
257. 'ज० ते० ऐ०', ii. पृ० 106—तस्मिन प्रतापरुद्रे स्वस्थानं स्वेच्छायैव यतावति.
258. 'प्रतापचरित्रम्, (शैवप्रचारिणी ग्रंथमाला, वारंगल).
259. क्रीड़ाभीरामम्, 181.
260. 'सा० इं० इं०', x, 536.
261. 'ऐ० रि०', 1839-40 का 5.
262. तारीख-ए-फिरिश्ता' (नवल किशोर संस्करण), पृ० 138.
263. 'प्रतापचरित्रम् (शैव प्रचारिणी ग्रंथमाला, वारंगल), पृ० 79.
264. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1909 भाग ii, परिच्छेद 66.
265 'एन० आई०', खंड i, G 50 खंड ii, N 60, 62 एवं 71.
266 'सा० इं० इं०', x, 540.
267. वही iv, 661.
268. वही, प्रतापरुद्र भूपस्य प्रसादार्जित वैभवः.
279. 'दि अर्ली मुस्लिम एक्सपैंशन इन साउथ इंडिया', पृ० 41-42
270. 'ऐं० रि०', 1937-8 का 321.
271. बही, 1942-3 का 22.
272. 'सा० इं० इं०', x, 465.
273. 'भारति', vi, पृ० 848.
274 'ऐ० रि०', 1942-3 का 22 एवं 1943-4 का 55.
275 'सा० इं० इं०', x 489 एवं 494; 'ऐ० रि०', 1943-4 का 44.
276. 'सा० इं० इं०', x, 471.
277. 'वेलुगोटिवारि वंशावलि' : भूमिका, पृ० 4-9, कंपलि एवं विजयनगर, पृ० 9.
278. 'सा० इं० इं०', iv, 1307, 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', काकतीय, 43; 'सा० इं० इं०', x, 503.
279. वही, 480, 497, एवं 530.
280. 'एन० आई०', ii, Kr. 23, N. 8, 'ज० ओ० रि०', xii, पृ० 215-16.
281. 'सा० इं० इं०', x, 535 एवं 537.
282. 'द काकतीय संचिक', परिशिष्ट, पृ० 15.
283. 'एन० आई०', ii, 0·49.
284. 'सा० इं० इं०', x, 467; दि काकतीय संचिक', परिशिष्ट, पृ० 14,
285, 'सा० इं० इं०', iv, 1307.
286. वही, x, 500; 'ऐ० रि०', 1929-30 का 24; 'एन० आई०', खंड i, D12, 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड, (किंतु अप्रकाशित), 126-125, 'सा० इं० इं०', x, 488 एवं 500
287. वही, 501; 'ऐ० रि०', 1935-9 का 260.
288. श्रीनाथ; 'भीमेश्वरपुराणम्', I : 48.
289. बीरभद्र राव : 'हिस्ट्री आफ दि एज आफ दि काकतीय किंग्स', पृ० 548-9
290. श्रीनाथ : भीमेश्वरपुराणम् : I : 48.
291. 'सा० इं० इं०', x, 469 एवं 471.
292. वही, 479, 480, 482, 483, 522, एवं 523.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

293. 'एन० आई०', ii, Kr. 1, 23, 84, N. 80, O. 1291.
294. 'सा० इं० इं०', x, 536; 'ऐ० रि०', 1939-40 का 5.
295. 'सा० इं० इं०', x 495 एवं 505.
296. श्रीनाथ 'भीमेश्वरपुराणम्', I : 48, 'कार्पस', 35.
297. 'ऐ० रि० सा० इं० ए०', 1910, भाग ii, 48.
298. 'कार्पस', 35
299. 'मार्कण्डेयपुराणम्', I : 39-43.
300 तारीख-ए फीरूज शाही', (इलियट डासन), खंड iii, पृ० 367.
301. 'ऐ० रि०', 1939-40 का 5.
302. 'सा० इं० इं०', 522 एवं 523.
303. वही, 521.
304. वही, 533.
305. वही, 491.
306. वही, 520.
307. वही, 509.
308. 'कार्पस', 53.
309. तेलिंगान इंसक्रिप्शंस रिवाइज्ड (अप्रकाशित), नं० 127.
310. 'ऐ० रि०', 1930-1 का 317.
311. वही, 1932-3 का 313; 'एन० आई०', खंड ii, 0·8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काकतीय सैनिक संस्थाएं एवं प्रशासन

स्रोत

काकतीय प्रशासन एवं सैनिक संस्थाओं के संबंध में काम की काफी सूचना प्राप्त है, हालांकि वह यथातथ्य एवं असंदिग्ध नहीं है। काकतीय सम्राटों, उनके सामंतों एवं सहायकों के अनेक अभिलेखों के अतिरिक्त, राजनीति के कतिपय ग्रंथ भी विचारणीय हैं क्योंकि वे इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि 'राजनीति' विषयक ग्रंथ सामान्यतया राजनीतिशास्त्र की संस्कृत पाठ्यपुस्तकों पर आधारित हैं, फिर भी उनमें अनेक विषयों पर ऐसी सामग्री है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इनमें से दो ग्रंथ बद्देन कृत 'नीतिशास्त्रमुक्तावली' एवं मडिकि सिंगन कृत 'सकलनीतिसम्मतमु' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बद्देन तो गणपति एवं रुद्रांबा का सामंत था। जहां तक सिंगन का प्रश्न है, यद्यपि वह उत्तरकाकतीय काल में पल्लवित हुआ तथा उसने अपने ग्रंथ 'सकलनीतिसम्मतमु' की रचना संभवत: 15 वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में की थी, फिर भी उसका ग्रंथ काकतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्व का है। 'सकलनीतिसम्मतमु' एकाकी मौलिक रचना नहीं है, अपितु राजनीतिशास्त्र के पूर्ववर्ती ग्रंथों में से लिए गए उद्धरणों का संग्रह है। इन पूर्ववर्ती ग्रंथों की सूची में काकतीय काल में विरचित बद्देन कृत 'नीतिशास्त्र मुक्तावली' शिवदेवय्य कृत 'पुरुषार्थसारं,' प्रतापरुद्र कृत 'नीतिसारं' आदि सम्मिलित हैं। यह द्रष्टव्य है कि इन कृतियों के लेखक केवल परिकल्पना करने वाले विद्वान न थे, अपितु अपना अधिकांश समय राज्य के व्यावहारिक प्रशासन में व्यतीत करने वाले राजनीतिज्ञ थे। यद्यपि वे सैद्धांतिक पक्ष पर महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं, फिर भी उनकी रचनाओं के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि निश्चय ही उनके विचारों ने तत्कालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्थापनों को अत्यधिक प्रभावित किया होगा और सिद्धांत और व्यवहार की दूरी को बहुत कम किया होगा।

सैनिक संगठन

काकतीयों ने अपनी काफी शक्ति अपने राज्य को आंतरिक विपत्तियों एवं विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रखने में लगा दी। काकतीय साम्राज्यों के सैनिक संगठन की चर्चा करने में दो महत्वपूर्ण तथ्यों का विशेष उल्लेख करना चाहिए। सर्वप्रथमत: साम्राज्य की सुरक्षा में दुर्गों ने प्रमुख भूमिका अदा की। 'राजनीति' विषयक समकालीन ग्रंथों में इन दुर्गों के वर्णन, उनके वर्गीकरण तथा राज्य की सुरक्षा, संगठन के कार्य में उनके सामरिक महत्व के लिए पर्याप्त स्थान दिया गया है। 'पुरुषार्थसारं' में इस ओर इंगित किया गया है कि जैसे चीते, हाथियों एवं शेरों को क्रमश: झाड़ियां, पहाड़ियां एवं गुफाएं सुरक्षा प्रदान करती हैं, उसी प्रकार मानव को भी, चाहे वह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कितना ही शक्तिशाली हो, सुरक्षा के लिए दुर्ग की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी कहा गया है कि जिसके पास कोई दुर्ग नहीं है, वह मदोन्मत्त न होने वाले हाथी अथवा विषदंतविहीन सर्प के समान है। हम जानते हैं कि छोटे-से बाड़े से सुरक्षित रहनेवाले व्यक्ति को जीतना कठिन होता है, अत: निश्चय ही ऐसे राजा को हराना बहुत कठिन होता होगा, जो स्वगं को सुदुढ़ दुर्ग के अंदर स्थापित कर लेता है।[1] प्रतापरुद्र कृत 'नीतिसार' के अनुसार, दुर्गों का जाल ही साम्राज्य को अधिक लंबे काल तक जीवित रहने के लिए समर्थ बनाता है। निस्संदेह, राजनीति के प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अनुकरण करते हुए, उसने दुर्गों को चार श्रेणियों में विभक्त किया। वह कहता है : वे चार प्रकार के होते हैं, स्थल, जल, वन एवं पर्वत (गिरि)। जो किलेबंदी की प्राचीर से घिरे हुए स्थल पर निर्मित हो, वह स्थलदुर्ग कहलाता है; जो जल एवं वनों से घिरे हों, वे क्रमश: जलदुर्ग एवं वनदुर्ग कहलाते हैं; जबकि पर्वत के शिखर अथवा ढाल पर बना दुर्ग, पर्वत अथवा गिरिदुर्ग कहलाता है। यद्यपि अंतिम तीन स्वयं में प्राकृतिक गढ़ होते हैं, फिर भी किलेबंदी की दीवार न होने के कारण, शत्रु उन्हें आसानी से जीत सकता था। चारों में से किसी भी श्रेणी का दुर्ग क्यों न हो, उसमें गोपुरों (द्वारों) के ऊपर विशेष 'अट्टालक' (कमरे) होते थे, जिनमें लकड़ी की मशीनें होती थीं। ये सैनिक गतिविधियों एवं प्रक्षेपणास्त्रों के प्रयोग में निपुण योद्धाओं द्वारा रक्षित; युद्ध के अस्त्रों धन, धान्य एवं भरिचादि व्यंजनों से भरे होते थे। उनमें अंदर ही विस्तृत खुले मैदान थे, ताकि सैनिकों की बड़ी टुकड़ियां स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकें; उन्हें पर्याप्त घास, इंधन एवं जल मिलना चाहिए तथा उनमें लोगों के निर्विरोध आवागमन के मार्ग होने चाहिए। जिस दुर्ग में ये सुविधाएं नहीं होती हैं, वे शूकरशालाओं की तरह होते हैं। 'नीतिसार' में भी दुर्ग की सुरक्षा के लिए उठाए जाने वाले उपायों का वर्णन है। रातदिन उसकी रक्षा के लिए द्वारों पर सुदृढ़ रक्षक तैनात होने चाहिए, दुर्ग की रक्षा सेना को भी उचित स्थान पर स्थित होनी चाहिए, दुर्ग के निकट की घाटियां एवं दर्रों पर नजर रखनी चाहिए, आम सभा के मुख्य कक्षों की सुरक्षा के लिए दक्ष अधिकारी नियुक्त होने चाहिए, महल के चारों ओर संतरियों को गश्त लगानी चाहिए, तथा तलवरियों (चौकी-दारों) को सड़कों एवं गलियों में भेजना चाहिए। सैनिक शिविरों के दैनिक जीवन की भी कड़ी जांच होनी चाहिए, रात के समय मशालों से युक्त व्यक्ति यों को दुर्ग के चारों ओर चक्कर लगाना चाहिए; कप्तानों, सेनानायकों एवं सभी सैनिकों को उचित रूप से खाना देना चाहिए एवं उनके साथ सद्व्यवहार करना चाहिए ताकि असंतोष के लिए कोई गुंजाइश न रहे।[2] 'नीतिसार' में वर्णित दुर्गों के चारों प्रकार काकतीय काल में भी ज्ञात थे। इसका प्रमाण उन्हीं के अभिलेख हैं। उदाहरणार्थ, कायस्थ प्रमुख अंबदेव को, शक सं० 1212 (1290 ई०) के एक त्रिपुरांतकं अभिलेख में 'गिरि-दुर्ग-वज्र-निपात' (गिरि दुर्गों के लिए वज्रपात), 'वनदुर्ग-दावानल' (वनदुर्गों के लिए दावानल), 'जलदुर्ग-बड़वानल' (जलदुर्गों के लिए बड़वानल) तथा 'स्थल-दुर्ग-संचूर्णन' (स्थल दुर्गों को चूर्ण करने वाला अथवा विध्वंसक) कहा गया है।[3] काकतीय काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध गढ़ों में अनुमकोंड, रायचूर एवं गंडिकोट के 'गिरिदुर्गों,' कंदूर एवं नारायण वन के वनदुर्गों; दीनि एवं कोलनु के जलदुर्गों तथा वारंगल एवं धरणकोट के स्थलदुर्गों की गणना होती थी। दुर्गों की रक्षा के लिए प्रतापरुद्र द्वारा नियत किए गए नियमों में केवल उनकी उचित सुरक्षा के लिए अपरिहार्य सामान्य सतर्कतापूर्ण उपाय ही निहित थे; यह असंभव नहीं कि उसने अपने ग्रंथ में अपने ही व्यावहारिक अनुभव से संचित ज्ञान को भी सम्मिलित किया हो।

दूसरा विचारणीय तथ्य यह है कि साम्राज्य का प्रशासन सैनिक आधार पर संगठित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। ऐसा प्रतीत होता है कि काकतीयों ने अपने राज्य को नायक नाम के सैनिक प्रमुखों में बांट दिया था। ऐसे अनेक नायकों का उल्लेख काकतीय अभिलेखों में मिलता है। अपने पदजन्य कर्तव्यों के समुचित निर्वाह के लिए आवश्यक आर्थिक आधार प्रदान करने के लिए इन नायकों को जमींदारियां दी जाती थीं, जिन्हें 'नायकस्थल' अथवा 'नायकस्थलवृत्ति' कहते थे। यह स्पष्ट है कि उत्तरकालीन विजयनगर सम्राटों के प्रशासन की मुख्य विशेषता अर्थात नायंकर प्रथा इस समय भी विद्यमान थी, हालांकि उसका स्वरूप तथा राजनीतिक एवं सैनिक दायित्व कहीं भी निश्चित रूप से परिभाषित नहीं हैं। किंतु प्रतापरुद्र कृत 'नीतिसार' इस विषय पर प्रकाश डालता है। इन ग्रंथ के अनुसार राजा को केवल छोटे ग्राम ही सामंतों को देने चाहिए तथा बड़े ग्रामों को चतुरवर्गीय सेना की देखभाल एवं कोष के संचय के लिए आरक्षित रखना चाहिए।[4] इस सुझाव को केवल सैद्धांतिक परिकल्पना ही मानकर नहीं छोड़ देना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इन नियमों को निर्धारित करते समय प्रतापरुद्र ने अपने साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को भी ध्यान में रखा था। सामंत वही नायक थे, जिन्हें अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए काकतीय शासकों से भूमिदान मिला था। यह तथ्य रोचक हैं कि जिन ग्रामों पर उन्होंने सामंतीय जागीरों के रूप में अधिकार किया था वे बड़े, एवं छोटे, दो वर्गों में बंटे हुए थे। छोटे ग्राम उन्हें वेतन के स्थान पर दिए जाते थे, धन एवं वस्तु के रूप में प्राप्त उसके किराए की आय से ही उन्हें अपना निर्वाह करना पड़ता था। बड़े ग्रामों की आय से 'नायकों' को राजा की सेवा के लिए सैनिकों, हाथियों, घोड़ों एवं प्यादों की निश्चित संख्या का प्रबंध करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन्हें वार्षिक करके रूप में निश्चित धनराशि भी शाही कोष में जमा करनी पड़ती थी। बद्देन का कहना है कि अपनी निजी सुरक्षा के लिए राजा को अपने 'सामंतों' को अनुमति देने की अपेक्षा स्वयं ही दृढ़ सैनिक शक्ति का आयोजन करना चाहिए। अन्यथा अवज्ञा अथवा विद्रोह की स्थिति में अपने प्रभुत्व को लागू करना उसके लिए संभव न होगा। वास्तव में काकतीय नरेश सदा ही अपने 'नायकों' की शक्ति के अत्यधिक विकास से अत्यन्त आशंकित रहते थे, और इसीलिए उन्होंने 'नायकों' को एक ही स्थान पर न रहने दिया ताकि वे स्थाई रूप से अपनी जड़ें मजबूत न कर लें। 'प्रतापचरित्र' में निहित परंपरा से हमें पता चलता है कि प्रतापरुद्र ने अपनी राजधानी अर्थात वारंगल नगर के 77 बुर्जों की रक्षा का कार्य, वेलम समूह के 77 नायकों को सौंप दिया था। उसने उन्हें अपने राज्य का चौथाई भाग जागीर के रूप में दे दिया ताकि वे अपने पदों के कर्तव्यों को दक्षता से निभाने में समर्थ हो सकें।[4] नायकों की संख्या एवं उनके वर्गीय संबंधों में अंतर होते हुए भी, मुख्य रूप से उपर्युक्त वक्तव्य की पुष्टि समकालीन एवं निकटसमकालीन अभिलेखीय प्रमाणों से हो जाती है। उनमें नायकों की संख्या 75 बताई गई है न कि 77[6] और न ही वे सब वेलम वर्ग के थे। उत्तरकालीन युगों में 'नायक-व्यवस्था,' दक्षिण भारतीय हिंदू राज्यपद्धति की विलक्षणता बन गई। विजयनगर के रायों ने इसे काकतीयों से प्राप्त करके दक्षिण के नायक राजाओं, विशेषकर मदुरा के नायकों को सौंप दिया, जहां यह प्रथा अंगरेजों के आगमन तक निरंतर पल्लवित रही।

सेना

यद्यपि 'नीतिसार' जैसे 'राजनीति' ग्रंथों में सिद्धांत रूप से कहा गया है कि राजाओं को रथों, हाथियों, घोड़ों एवं प्यादों की चतुरवर्गीय सेना रखनी चाहिए, किंतु वास्तव में काकतीयों के काल से काफी समय पहले ही रथों का प्रचलन समाप्त हो गया था। अन्य तत्कालीन भारतीय राज्यों की सेनाओं की तरह काकतीय सेना भी तीन अंगों से युक्त थी अर्थात् हाथी, घुड़सवार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं पैदल सैनिक। समकालीन स्रोतों के अनुसार प्रतापरुद्र के दिनों में, उसमें 100 हाथी, 20 हजार घोड़े एवं नौ लाख धनुर्धर थे।[7] काकतीय सम्राटों द्वारा सेना के एकत्र किए जाने के संबंध में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है। हाथी संभवतया कुछ तो पूर्वी घाटों के जंगलों से पकड़े जाते थे और कुछ कलिंग, बर्मा, एवं लंका जैसे देशों से खरीदे जाते थे, जहां वे जंगली रूप में मिलते थे। चूंकि सामान्यतया सिंध को छोड़कर भारत में और कहीं भी घोड़े नहीं पाले जाते थे, अतः निश्चय ही उन्हें विदेशों से, विशेषतया ईराक, ईरान, एवं अरब से मंगाया जाता था। और चूंकि सैनिक सेवा में कोई प्रांतीय बंधन न थे, अतः किसी भी धर्म एवं जाति का व्यक्ति यदि सैनिकों का पेशा अपनाने को इच्छुक होता था, तो वह अपना नाम लिखवा सकता था। 'गजसाहिणि' एवं अश्वसाहिणि' के पदों के अस्तित्व से पता चलता है कि युद्धों के उद्देश्य से हाथियों एवं घोड़ों के प्रशिक्षण की प्रथा भी प्रचलित थी। कभी कभी अभिलेखों में 'पट्ट-साहिणि-राय' अथवा 'महाराय-पट्टसाहिणि' नामक अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि उसके निश्चित कर्तव्यों का पता लगाना संभव नहीं है, किंतु यह अत्यंत स्पष्ट है कि वह शाही व्यवस्थापन से संबंधित अधिकारी था। प्यादों के शस्त्राभ्यास अथवा रणक्षेत्र में समूहों के साथ सामंजस्य रखने के लिए उनको दिए जाने वाले निर्देशों के संबंध में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं हैं। किंतु निस्संदेह ही, सैनिक पेशे को अपनाने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संभव था कि वह शारीरिक विकास, खड्ग, ढाल, भाला, धनुष एवं अन्य युद्धास्त्रों को धारण करने की शिक्षा प्राप्त कर सके।

काकतीय सेना के दो प्रभाग (डिवीजन) थे: शाही सेना एवं नायकों द्वारा प्रदत्त सेना। यह ज्ञात नहीं है कि इनके अधिकारी एवं सेनानायक कौन होते थे, हालांकि 'दंडाधिपतियों' एवं 'सेनाधिपतियों' का उल्लेख प्रायः अभिलेखों में मिलता है। राजा स्वयं ही अपने पद के कारण संपूर्ण सेना का मुख्य सेनापति होता था। प्रायः वह स्वयं रणक्षेत्र में भी जाता था। रुद्र एवं महादेव दोनों ही युद्ध में मरे। अपने पिता की ओर से लड़ते समय गणपति को बंदी बना लिया गया था, और यदि हम सामान्य परंपरा पर विश्वास करें तो रुद्रमदेवी भी पुरुषों के वस्त्र धारण करके, कवच पहन कर, यादव नरेश महादेव से लड़ी थी, जब वह उसकी राजधानी पर आक्रमण करने आया था। सामान्यता राजा के साथ 'अंगरक्षक' नामक अनेक अधिकारी होते थे जिनका विशेष कर्तव्य उसकी एवं महल की रक्षा करना होता था। 'अंगरक्षकों' के अतिरिक्त 'लेंकों' अर्थात युद्ध के साथी का समूह भी उसके साथ ही लड़ता था। ये लोग अपने को राजा का पुत्र कहते थे और उसी के साथ भोजन करते थे। लेंक वास्तव में दास थे, जिन्होंने केवल राजा की सेवा करने का अनुबंध अपने स्वामी से कर लिया था। उन्होंने प्रतिज्ञा ('बास') की थी कि वे इस लोक एवं अगले जीवन में अपने स्वामी को 'गुरु' एवं आराध्य मानेंगे, उसके हितों के विस्तार में अपनी संपत्ति अथवा जीवन की चिंता नहीं करेंगे, संकट के समय में उसका साथ देंगे, उसके लिए युद्ध करेंगे और या तो युद्ध में उसी के साथ मरेंगे अथवा उसके पश्चात बच जाने की स्थिति में स्वयं को ही मार लेंगे।[8] किन्तु वास्तव में तेलुगु प्रदेश में अपने स्वामी के मृत्यु के पश्चात लेंकों द्वारा आत्महत्या का कोई भी वास्तविक दृष्टांत नहीं मिलता है, हालांकि ऐसी घटनाएं पड़ोसी कर्णाटक में अवश्य हुई थीं, जैसा कि होयसलों के काल में 'गरुड़ों' के उदाहरण से स्पष्ट है।[9] वास्तव में लेंकों से अपेक्षित सदाचार का आदर्श अत्यंत ऊंचा था। इस संदर्भ में 1045 ई० के एक अभिलेख से लेंक की प्रमुख विलक्षणताओं के वर्णन को उद्धृत करना रोचक होगा: सत्य ही उसका बोल होना चाहिए, (अपने मालिक की) प्रशंसा करना उसका कार्य, दान उसका मनोरंजन, उसका संरक्षण मांगने वाले आहतों की सहायता करना उसका गुण, तथा महान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्ध में वेझिझक होने की प्रवृति ही उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।[10] लेंकों के कर्तव्यों एवं दायित्वों के सामूहिक रूप को 'लेंकवालि' कहा जाता था, तथा उनकी संपन्नता के बदले राजा उन्हें जागीरें देता था, जिनकी आय से वह निजी खर्च चलाते थे। राजा पर आश्रित शाही सामंत एवं नायक भी अपनी निजी सेवाओं में लेंकों को रखते थे। अतः यह परिचारक समूह, मध्ययुगीन आंध्र समाज की सामान्य विशेषता बन गया था।

अभिलेखों में अनेक सेनानायकों एवं अधिकारियों के नाम मिलते हैं, किंतु सैनिक अधिकारियों के श्रेणीसोपान की जानकारी के लिए कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है। सेना में विशिष्ट सेवा के लिए प्रायः राजा द्वारा पुरस्कारस्वरूप भूमिरूपी जागीरें, उपाधियां तथा सम्मान पट्टक दिए जाते थे। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति में, उनसे विशेष रूप से संबंधित व्यक्तियों को 'कोट गेलपात', 'द्वीपि-लुंटाक', 'वेलनाटि-दूषक', 'कांची-कवाट-चूर्रकार', एवं 'सूर्यवंश-स्थापनाचार्य' जैसी क्रमशः उपाधियां दी जाती थीं। 'मूरु-राय-जगद्दल' और संभवतः 'चलमर्थि-गंड' जैसे विरुदों में विशेष राज्यचिह्न संलग्न होते थे। विशिष्ट व्यक्तियों को श्रेयस्कर सेवाओं के लिए प्रायः 'गंड पेंडेर' अर्थात 'योद्धाओं का नूपुर' से अलंकृत किया जाता था।

प्रशासनिक व्यवस्था

अन्य हिंदू राज्यों की भांति काकतीय सरकार भी राजतंत्रात्मक थी। यद्यपि अन्य राज्यों के समान ही यहां भी सामान्यतया पिता के पश्चात पुत्र को ही सिंहासन मिलता था, फिर भी केवल काकतीय वंश में ही स्त्री शासक का अद्भुत उदाहरण मिलता है। वह अपने निजी अधिकार से ही सिंहासन पर बैठी और उसने शाही प्रभुसत्ता का पालन किया। फिर भी स्त्री के शासन के विरुद्ध इतना दृढ़ विरोध था कि इस स्त्री को भी पुरुषों का नाम रखना पड़ा तथा दरबार के समय पुरुषों के वस्त्र धारण करने पड़ते थे। वंश के उत्तरकालीन इतिहास में यह प्रथा भी चल पड़ी थी कि तत्कालीन शासक अपने उत्तराधिकारी को प्रशासन में भाग लेने के लिए बुला लेते थे। गणपति ने अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों के दौरान अपनी पुत्री रुद्रमदेवी को अपना सह-शासक बना लिया था। रुद्रमदेवी ने भी अपने नाती एवं उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र को अपने राज्य के प्रशासन में संमिलित करके अपने पिता के ही उदाहरण का अनुकरण किया। राजा हो अथवा रानी, राज्य में सर्वोच्च आसन उसी का होता था। उसी धुरी के चारों ओर संपूर्ण प्रशासनिक ढांचा घूमता था। राजा ही संपूर्ण शक्ति का स्रोत था, हालांकि उसकी शक्ति पूर्ण रूप से निर्बंध निरंकुशता न थी। अन्य हिंदू राज्यों के समान ही, उस पर भी धर्म एवं राज्य के प्राचीन रिवाजों के बंधन थे, जिनका अतिक्रमण करना संभव न था। उसे जिस धर्म की रक्षा करनी पड़ती थी, वह मुख्यतः 'वर्ण धर्म' था। यह देखना राजा का कर्तव्य था कि प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति के विशेष धर्म का पालन करें। उसका उल्लंघन करने वालों को दंडित करना भी राजा का ही कर्तव्य था। उदाहरणार्थ, बल्लूरुपट्टण के कायस्थ शासक अंबदेव ने शक सं० 1212 (129) ई०) के एक त्रिपुरांतकं अभिलेख में स्वयं को 'चर्तुवर्ण समुद्धरण' कहा है। वह किसी मल्लिकार्जन को मारने का भी श्रेय लेता है क्योंकि वह पापी, धर्म का उल्लंघन करने वाला, तथा देवताओं एवं ब्राह्मणों का शत्रु था।[11]

'राजनीति' ग्रंथों के रचयिताओं द्वारा निरूपित राजा की योग्यताएं अत्यंत ऊंची हैं। उनके अनुसार राजा को वेदों एवं शास्त्रों का ज्ञाता तथा राजनीतिशास्त्र, कला एवं साहित्य में निपुण होना चाहिए। उसे बुद्धिमान एवं न्यायप्रिय होना चाहिए तथा स्वयं को अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रजा का पिता मानना चाहिए और उन्हीं के हितों के लिए राज्य पर शासन करना चाहिए। उसे अपनी आदतों में मितव्ययी होना चाहिए तथा अपने अनुचरों एवं आश्रितों से उदारता एवं नम्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने सेवकों का चयन करने में अपने विवेक एवं निर्णय का उचित प्रयोग करना चाहिए तथा गुणी का चयन एवं दुष्ट का तिरस्कार करना चाहिए। यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि काकतीय नरेशों ने तत्कालीन राजनीतिक विचारकों के मानदंडों को कहां तक पूरा किया था। किंतु यह असंभव नहीं कि गणपति एवं प्रतापरुद्र जैसे कुछ काकतीय नरेशों ने दार्शनिकों द्वारा नियत किए पूर्ण शासक के आदर्श को पर्याप्त सीमा तक प्राप्त किया था, क्योंकि अपने जीवन काल में उन्हें अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त थी।

प्रतापरुद्र के 'नीतिसार' के अनुसार राजा को प्रायः निश्चित समय पर अपनी प्रजा को दर्शन देने चाहिए। चूंकि वह पूर्व नियुक्ति के बिना शिकायतों को नहीं सुनता था, अतः यदि उन्हें अपनी शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिए नियमित अवसर नहीं दिए जाते तो वे असुरक्षित हो जाएंगे। 'मुद्रामात्य' में कहा गया है कि जब राजा दरबार लगा रहा हो तो स्त्रियों को उसके पीछे, कवियों को दाएं, उसकी प्रशंसा करने वाले चारणों को बांए तथा गायकों को उसके सामने खड़ा होना चाहिए। स्थाई सेना के अधिकारियों एवं विद्वानों के साथ साथ उसके मंत्रियों, संबंधियों एवं कुमारों को उसके चारों ओर खड़ा होना चाहिए।[12]

राज्य के प्रशासन कार्य में अनेक मंत्री राजा की सहायता करते थे। यद्यपि समकालीन अभिलेखों एवं तेलुगु साहित्य में 'महाप्रधानों', 'प्रधानों', 'प्रेग्गडों', 'अमात्यों', एवं मंत्रियों का उल्लेख मिलता है, किंतु दुर्भाग्यवश उनके संगठन अथवा राज्य के प्रशासन के कार्य में उनके द्वारा राजा को दी जाने वाली सहायता के संबंध में कोई सूचना प्राप्त नहीं है। निस्संदेह 'राजनीति' से संबंधित ग्रंथों में मंत्री के पद को अत्यंत महत्व दिया गया है। अत्यंत प्राचीन काल से ही 'मंत्री' को राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के सप्तांगों (राज्य के सात अपरिहार्य अंग) में से एक समझा जाता था। परामर्श के लिए मंत्रीविहीन राजा की तुलना सूंडविहीन हाथी से की गई है। अपने मंत्रियों के चुनाव तथा उनको शक्ति प्रदान करने में राजा से अत्यंत सावधानी एवं सतर्कता की अपेक्षा की जाती थी। बद्देन कृत 'नीतिशास्त्रमुक्तावली' के अनुसार वैयक्तिक मित्र होते हुए भी उसे अज्ञानी व्यक्तियों का तिरस्कार करना चाहिए तथा मंत्री के रूप में बुद्धिमान एवं विश्वसनीय व्यक्ति को ही नियुक्त करना चाहिए। उसे विवेक तथा निष्ठा के लिए प्रसिद्ध अपनी जनता में विश्वास रखना चाहिए तथा अस्थिर मस्तिष्क वाले व्यक्तियों से बचना चाहिए, क्योंकि यह संभव है कि वे मंत्री परिषद के रहस्यों को प्रकट कर दें। उसे किसी भी मंत्री को राज्य के प्रशासन का अध्यक्ष नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार असीमित शक्ति से युक्त मंत्री अत्यंत शक्तिशाली एवं धनी हो जाएगा। राज्य में राजा एवं मंत्रियों की क्रमशः स्थितियों को उलटना नहीं चाहिए, क्योंकि प्रशासनिक व्यवस्था के किसी भी सदस्य की शक्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से राज्य की शानदार भव्यता नष्ट हो जाएगी और साम्राज्य का विध्वंस हो जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर काकतीय नरेशों ने राजनीतिक विचारकों के निर्देशों पर उचित ध्यान दिया था, क्योंकि उनके शासनकाल के दौरान, ऐसे किसी मंत्री का उदाहरण नहीं मिलता जिसने अपने अधिकार का अतिक्रमण करके सम्राट की शक्ति को बलपूर्वक ग्रहण कर लिया हो। किंतु यह भी दृष्टव्य है कि सभी पक्षों में 'राजनीति' के निर्देशों का पालन नहीं होता था। उदाहरणार्थ, राजा से अपेक्षित था कि वह वेदों, 'शास्त्रों' एवं राजनीतिशास्त्र में निपुण ब्राह्मणों को अपने मंत्री बनाए। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि काकतीयों ने (जो मूलतः शूद्र वर्ण के थे) इस नियम की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और अधिक ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने अपने मंत्रियों के चुनाव में स्वयं को किसी विशेष वर्ग तक ही सीमित नहीं रखा। गणपतिदेव एवं प्रतापरुद्र के काल में 'महाप्रधान' का पद संभालने वाले क्रमशः मल्याल हेमाद्रि रेड्डि एवं मुप्पिडि नायक[13] के उदाहरणों से स्पष्ट है कि काकतीय नरेशों ने अपनी प्रजा के सभी प्रमुख वर्णों एवं जातियों में से अपने मंत्रियों का चुनाव किया। जनसेवाओं के लिए नियुक्ति करते समय गुणों को ही संभवतः आधार माना जाता था। वेल्लकि गंगाधर के उदाहरण से स्पष्ट है कि रिक्त मंत्री पदों पर नियुक्ति करते समय राजा केवल गुणों पर ही बल देता था, क्योंकि वेल्लकि ने प्रोल द्वितीय के काल में शाही महल में अधिकारी के रूप में जीवन आरंभ किया था और बाद में प्रोल के पुत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्र ने वेल्लकि की निष्ठा तथा कर्तव्यपालन में दक्षता के कारण 'अमात्य' अर्थात मंत्री पद पर प्रोन्नति कर दी थी। मंत्री पद पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति के साथ प्रायः उसे 'नियोग' (पद) से संबंधित 'जीवित' अथवा 'वृत्ति' (भूमि) एवं बहुमूल्य आभूषणों तथा कीमती सुगंधियों के दान के अतिरिक्त पालकी, श्वेत छत्र एवं विशेष वेशभूषा आदि जैसे राजकीय चिह्न भी प्रदान किए जाते थे।[14] किसी भी निश्चित समय में राजा के मंत्रियों की संख्या ज्ञात नहीं है। यह सत्य है कि 'कामंदकं' के प्राचीन तेलुगु संस्करण में से उद्धृत 'सकलनीतिसम्मत' के गद्यांश में 21 ('मुय्येड्डु') तीर्थों अथवा मंत्रियों का वर्णन है, किंतु वास्तव में इसमें केवल 18 मंत्रियों के नाम दिए गए हैं, अर्थात (1) 'मंत्रिन्' (2) पुरोहित, (3) 'मंत्रि-जनाध्यक्ष', (4) 'सेन्याधिनायक', (5) 'सन्निधात्रि', (6) 'आटविक', (7) 'प्रशास्त्र', (8) 'आयाध-(? 'आयुध') नायक,' (9) 'व्यावहारिक', (10) 'समाहर्तृ', (11) 'दंडपाल', (12) 'दुर्गपाल', (13) 'प्रांतपाल', (14) 'प्रादेष्ट्रि' (15) 'कर्मांतिक' (16) 'अंतर्वम्शिक-अधिकार' (17) 'युवराज' एवं (18) 'दौवारिक'।[15] यह दृष्टव्य है कि संस्कृत एवं तेलुगु के प्राप्त 'कामंदकीय' संस्करणों में तीर्थों की उपर्युक्त सूची नहीं मिलती है। यह संभव है कि 'सकलनीतिसम्मतमु' में उद्धृत तेलुगु 'कामंदकमु' के लेखक ने यह सूची राजनीतिशास्त्र के किसी अन्य ग्रंथ में से ही अपने अनुवाद में सम्मिलित की थी, क्योंकि हम यह जानते हैं कि उसके काल में तीर्थों की प्रथा प्रचलित थी। कोष रचयिताओं के अनुसार 'तीर्थ' शब्द का अर्थ राजा की सेवा में लगे 18 मंत्रियों का समूह था, जिसका आरंभ 'मंत्रिन्' से होता है। वास्तव में सामान्य रूप से 18 तीर्थों की व्यवस्था, आंध्र राजनीतिक व्यवस्था के लिए अज्ञात न थी। पूर्वी चालुक्य नरेश अम्म द्वितीय विजयादित्य षष्ठ (945-970 ई०) के मांगल्लु ताम्रपत्रों में भी ऐसे 18 तीर्थों का उल्लेख है, जिनमें 'मंत्रिन्', 'पुरोहित', 'सेनापति' एवं 'युवराज'[16] सम्मिलित थे, जबकि उसके बड़े भाई दानार्णव एवं उसके वंशजों के अभिलेखों में उपर्युक्त मंत्रियों के अतिरिक्त 'दौवारिक', 'प्रधान', एवं 'अध्यक्ष' का भी वर्णन मिलता है।[17] यद्यपि 18 तीर्थों में सम्मिलित किए गये मंत्रियों में से कुछ काकतीय अभिलेखों में भी वर्णित हैं, फिर भी निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना संभव नहीं है कि वास्तव में काकतीयों के काल में यह व्यवस्था प्रचलित थी या नहीं। किंतु ऐसा संभव प्रतीत होता है कि काकतीय मंत्रियों की परिषद होती थी, क्योंकि 'पुरुषार्थसारं' के अनुसार राजा को अपने दैनिक कार्यक्रम के दौरान नियमित रूप से अपने मंत्रियों से मिलना चाहिए और उनसे राज्य के मामलों पर विमर्श करना चाहिए।[18] इस संदर्भ में एक अन्य उल्लेखनीय व्यवस्थापन 'नियोगों' का था। दरबार की सेवा में नियुक्त सभी वर्गों के अधिकारियों—सैनिक, असैनिक एवं शाही परिवार के अधिकारियों को 'नियोगों' अथवा श्रेणियों में बांट दिया जाता था। इनकी कुल संख्या 72 थी और इन्हें सामूहिक रूप से 'बाहत्तर' कहा जाता था। वे 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' नामक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उच्च राज्याधिकारी के पर्यवेक्षण के अंतर्गत आते थे। यह एक प्राचीन पद था, जो पूर्ववर्ती चालुक्य काल में भी ज्ञात था। अम्म प्रथम के आरंभिक काल में ही हमें पूर्वी चालुक्य अभिलेखों में 'नियोगाधिकृत' का उल्लेख मिलता है।[19] वस्तुतः यह 'नियोगाधिकृत' उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्यों के 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' का ही पुरोगामी था। काकतीयों ने जो अपने इतिहास की आरंभिक अवस्था में उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्यों के सामंत थे, अपने अधिराजों से ही राजनीतिक व्यवस्थापनों के साथ साथ अधिकारियों को 'नियोगों' के रूप में बांटने की प्रथा प्राप्त की थी। 1251 ई० में गणपति ने कायस्थ प्रमुख गंगय साहिणि को इस महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया तथा नलगोंड जिले में पानुगल से लेकर कोलार जिले में कैवारं के दुर्ग तक का क्षेत्र उसे प्रदान किया था।[20] उसकी मृत्यु के पश्चात गणपय के पुत्र इंदुलूरि गन्नय[21] तथा उसके बाद कायस्थ प्रमुख त्रिपुरारि अथवा त्रिपुरांतक एवं 'महाप्रधान' पोंकल मल्लय प्रेग्गड ने रुद्रमदेवी के काल में यह पद प्राप्त किया।[22] यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि 'बाहत्तर-नियोगाधिपति' के वास्तविक कर्तव्य क्या थे। वर्तमान अवस्था में यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि केवल नाम मात्र का उच्चपदधारी था अथवा राजा के तुरंत बाद ही अत्यधिक शक्ति रखने वाला अधिकारी।

काकतीय साम्राज्य के क्षेत्रीय संगठन का पूर्ण एवं सही वर्णन देना संभव नहीं है क्योंकि इस विषय पर प्राप्त सामग्री अत्यंत अपर्याप्त है। किंतु अभिलेखों में से एकत्र कुछ प्रकीर्णक दृष्टांतों से स्पष्ट है कि संपूर्ण संगठन के मुख्याधार अर्थात् ग्राम के अतिरिक्त प्रशासनिक विभागों की दो श्रेणियां थीं : 'स्थल' एवं 'नाडु'। इन दोनों में 'स्थल' छोटा था, जिसमें दस से लेकर साठ ग्रामों तक सम्मिलित होते थे। उदाहरणार्थ, मानूरु-'स्थल' में 18, येर्रम नायक को 'नायंकर' स्वरूप दिए गए अनाम स्थल में 22 तथा 'पल्लिनांडु-गुरिंदाल-स्थल' में 60 ग्राम सम्मिलित थे।[23]

अभिलेखीय प्रमाणों में प्रासंगिक रूप से वर्णित कुछ अन्य स्थलों में चदलवाड, चंडूरु, गुरिंदाल, कविलासं-कोट, कोट कोवूरु, महादेविचेर्रल, नंद्याल, पिंगलि, राविनूतुल, तंगेड, तेकुंवेड्ल, इंदुलदाय, आदर एवं वेलनाडु सम्मिलित थे।[24] यदा कदा 'कंपण' नामक ऐसे ही एक अन्य उपविभाग का भी वर्णन मिलता है।[25] अनेक 'स्थलों' को मिलाकर एक नाडु बनता था। अनुमकोंड 'नाडु', अयिज 'नाडु', गोंडल-'नाडु', कम्म 'नाडु', कंदूरु नाडु, कन् नाडु, (कं नाडु), कर 'नाडु', कुसल 'नाडु', मारट 'नाडु', मिंगल 'नाडु', मुलिकि 'नाडु', पाक 'नाडु' पल्लि 'नाडु', पोत्तपि 'नाडु', पुंगि 'नाडु', रे 'नाडु', वेल नाडु', वेंगी 'नाडु', वीसरि 'नाडु', एवं सब्बि 'नाडु' जैसे 20 'नाडुओं' के नाम ज्ञात हैं।[26] इस संदर्भ में 'नाडु' के अतिरिक्त, क्षेत्रीय विभागों के 'वाडि' एवं 'भूमि' नामक दो अन्य वर्गों का वर्णन करना चाहिए। उदाहरणार्थ मार्जे (महाराज) 'वाडि', मोट्ट 'वाडि', नर 'वाडि', नत 'वाडि', आरे 'भूमि' एवं मगतल 'भूमि' का उल्लेख मिलता है।[27] 'वाडि' प्रभाग तो पहले से ही चला आ रहा था, जबकि 'भूमि' का उल्लेख बाद के काल में अधिक हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि पेडकल्लु, शेड्डेम, मुदुनूरिकोट एवं गंडिकोट जैसे कुछ प्रांतों के नाम उनके अधिकृत प्रदेशों में स्थित महत्वपूर्ण नगरों एवं दुर्गों पर आधारित थे।[28]

साम्राज्य के ग्राम भी दो श्रेणियों के थे : वे, जो राज्य को कर देते थे तथा वे, जो इनसे मुक्त थे। चाहे वे किसी भी वर्ग के हों, अधिकांशतः वे ग्राम्य अधिकारियों की परिषद के अधीन होते थे। इन अधिकारियों के समूह को 'आयगार' कहते थे। इस व्यवस्था की उत्पत्ति निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती। इन परिषदों ने कब और कैसे प्राचीन ग्राम सभाओं का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान ले लिया ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके संबंध में हमारे पास यथार्थ सूचना नहीं है। जब काकतीय नरेश आंध्र प्रदेश पर अपनी शक्ति स्थापित कर रहे थे, तब तक 'आयगार' वहां पर सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुके थे और उन्होंने संपूर्ण क्षेत्र के सारे ग्रामों पर अधिकार करना आरंभ कर दिया था। 'आयं' शब्द का अर्थ माप, विस्तार अथवा पैमाना होता है, जैसे किसी क्षेत्र का। अतः 'आयगार' वे व्यक्ति थे, जो निश्चित विस्तार के 'आयमों'या खेतों के मालिक होते थे। ये आयं करविमुक्त होते थे और आयगार को ग्रामवासियों अथवा राज्य से जन सेवाओं के बदले प्राप्त होते थे। क्षेत्र के अनुसार ही उनके नाम बदल जाते थे, किंतु सामान्यतया उनकी संख्या 12 थी, हालांकि कभी कभी यह संख्या बढ़ भी जाती थी। 12 आयगार इस प्रकार थे :

(1) 'करणं'
(2) 'पेद्दकापु' अथवा 'रेड्डि'
(3) 'तलारि'
(4) 'पुरोहित'
(5) लुहार
(6) स्वर्णकार
(7) बढ़ई
(8) कुम्हार
(9) धोती
(10) नाई
(11) 'वेट्टि'
(12) मोची

कुछ ग्रामों में 'निरुकट्टु' अर्थात् मिश्ती का नाम भी मिलता है।

उत्तरी 'पटवारी' की तरह 'करणं' ग्राम की योजनाओं एवं खर्च का ब्यौरा रखता था, जिसे सामूहिक रूपसे 'गुडिकट्टु' अथवा 'आयकट्टु' कहते थे। इसमें प्रत्येकग्राम की सीमाएं,उस स्थलका विस्तारएवं सीमाएंश्मशान, कृषकों की भूमि,'वृत्तियों' को धारणकरनेवालों एवं राजा द्वारा ब्राह्मणों एवं मंदिरों को दिए गए करमुक्त दानों, इनकी उत्पत्ति एवं इतिहास और सामान्यरूप से ग्राम में निहित क्षेत्र से संबंधित सभी विवरण दिए जाते थे। इसके अतिरिक्तउसे कृष्य, अकृष्य, एवंबंजर भूमियों, उद्यानों, शुष्कक्षेत्रों एवं चरागाहों के विस्तारकी पैमाइशएवं विवरण भी रखने पड़ते थे। ग्राम के प्रशासन में वह 'रेड्डि' अथवा 'पेद्दकापु' से घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ था। यह 'रेड्डि' अथवा 'पेद्दकापु' ही ग्राम का अध्यक्ष था। उसका मुख्य कर्तव्य, निश्चित खातों के अनुसार राज्य को दिए जाने वाले करों को एकत्र करना होता था तथा इन भुगतानों को उगाहने में उसे 'करणं' के साथ मिलकर कार्य करना पड़ता था। तलारि गांव का पुलिस अधिकारी था। ग्रामवासियों के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना उसी का कर्तव्य था। उसे आवारों, नाट्यकारों, नृत्यकारों आदि के समूहों के आवागमन पर भी आंख रखनी पड़ती थी। ग्रामवासियों की संपत्ति के चोरी होने पर वही उत्तरदायी होता था और यदि वह चोरों को पकड़ने अथवा चोरी के माल को बरामद कराने में असफल होता था, तो उसी को हरजाना भरना पड़ता था। 'पुरोहित' ग्राम का पुरोहित होता था। उसका कर्तव्य, ग्रामवासियों के घरों में धार्मिक संस्कारों को संपन्न कराना तथा क्षेत्रों की जुताई तथा फसलों की कटाई आदि के लिए मांगलिक दिनों को निर्धारित करना होता था। बढ़ई एवं लुहार खेती के औजार बनाते थे तथा उनकी मरम्मत करते थे। स्वर्णकार सिक्कों की जांच तथा कटाई के दौरान अनाज की तुलवाई करवाता था। कुम्हार मिट्टी के बर्तन आदि देता था तथा धोबी एवं नाई अपने अपने पेशों से संबंधित कर्तव्यों को निभाते थे। वेट्टि अथवा भिश्ती निकृष्ट कामों को देखता था, सरोवर बंध पर नजर रखता था तथा क्षेत्रों की सिंचाई के लिए पानी के बहाव को नियंत्रित करता था। मोची ग्रामीणों के जूते-चप्पल आदि बनाने के अतिरिक्त, कुओं से पानी निकालने के लिए कृषकों को चमड़े की रस्सियां एवं बाल्टियां भी बनाकर देता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धन के बदले करमुक्त भूमि के अतिरिक्त, 'आयगारों' को ग्रामीणों से अनाज का 'मेर' नामक हिस्सा भी प्राप्त होता था। कृषकों को उनमें ले प्रत्येक को चावल अथवा अन्य उपज का निश्चित भाग देना पड़ता था। यह भाग कपिल अथवा खंडुग कहलाता था तथा ग्रामप्रथा के अनुसार निश्चित किया जाता था। कुछ 'आयगारों' विशेषकर भिश्ती एवं नाई को अनेक मांगलिक अवसरों पर खाना बांटा जाता था।

'आयगारों' के उपर्युक्त कर्तव्यों के वर्णन से स्पष्ट है कि वे मुख्यरूप से ग्रामों के सेवक थे न कि राज्य के। वास्तव में करण, रेड्डि एवं तलारि को छोड़कर अन्य किसी भी आयगार का राज्य से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। ब्राह्मणों, मंदिरों तथा अन्य धार्मिक एवं धर्मार्थ व्यवस्थापनों को दिए गए करमुक्त ग्रामदानों में तो प्रथम तीन अर्थात 'करणं', 'रेड्डि' एवं 'तलारि' को भी सरकार के प्रति प्रत्यक्ष सेवाओंसे मुक्त कर दिया जाता था। इसके स्थान पर उन्हें 'अग्रहारों' की 'महाजन सभाओं', 'देवदेयों'में 'स्थानिकों' एवं प्रबंधक समितियों की सेवा करनी पड़ती थी। फिर भी, ग्रामप्रसाशन में 'आयगारों' का बड़ा महत्व था। वे ग्रामवासियों एवं सरकार के बीच की कड़ी के समान थे।[29]

'स्थल' के प्रशासन के संबंध में बहुत कम ही ज्ञान प्राप्त है। किंतु इस काल के अभिलेखों में प्रायः मिलने वाले 'स्थल करणं' शब्द से पता चलता है कि 'स्थल' का निजी कार्यालय एवं अधिकारी वर्ग होता था, जिसमें करणं भी सम्मिलित था। वह जिले के भू-राजस्व से संबंधित पंजिकाओं की देखभाल के लिए उत्तरदायी था। यद्यपि अभिलेखों में अनेक 'नाडुओं' का वर्णन मिलता है, किंतु उनके स्थानीय संगठन के संबंध में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। किंतु यदि 'नाडु' वास्तव में 'नीतिसार' का 'जनपद' है, जैसा कि संभव प्रतीत होता है, तो उस संगठन से संबंधित कुछ तथ्य इस संदर्भ में भी देखने योग्य हैं। 'नीतिसार' के अनुसार, यह राजा का कर्तव्य है कि वह 'जनपदों' के प्रशासन के लिए मंत्री स्तर के 'अधिकारियों' (पर्यवेक्षकों अथवा गवर्नरों) को नियुक्त करे क्योंकि दरबार के मंत्रियों के लिए स्वयं वहां जाना संभव नहीं है।[30] इस सुझाव को केवल सैद्धांतिक परिकल्पना मानकर नहीं छोड़ देना चाहिए, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इन नियमों को निर्धारित करते ससय प्रतापरुद्र ने अपने साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को भी ध्यान में रखा होगा। वास्तवमें गंडपेंडार गंगय साहिणि,जुट्टय लेंक गोंका रेड्डि एवं 'महाप्रधान' मुप्पिडि नायक जैसे काकतीयकालीन प्रांतीय गवर्नर लगभग मंत्री स्तर के 'अधिकारी' ही थे, जिनका 'नीतिसार' में उल्लेख हैं। इनको गणपति एवं प्रतापरुद्र ने क्रमशः मार्ज (महाराज) 'वाडि' एवं नेल्लोर 'राज्य' [31] का गवर्नर नियुक्त किया था।

सिंचाई

सभी युगों के आंध्रशासकों के समान काकतीयों ने भी कृषि के उद्देश्य से जलसंचय की ओर पर्याप्त ध्यान दिया, क्योंकि खेती ही राज्य की समृद्धि का मुख्य स्रोत था। उन्हें परंपरा से ऐसी सिंचाईव्यवस्था प्राप्त थी जो अतीत काल से उस प्रदेश में लागू थी। इस व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी तालाबों अथवा जलभंडारों का अस्तित्व जिनमें भूमि की सिंचाई के लिए वर्षा का जल एकत्र किया जाता था। तुंगभद्रा, पेन्नार, कृष्णा एवं गोदावरी जैसी बड़ी नदियों की घाटियों एवं डेल्टाओं को छोड़कर, जहां के क्षेत्रों को इन्हीं नदियों की नहरों से जल प्राप्त होता था; शेष संपूर्ण राज्य जलभंडारों एवं पृथ्वी में खोदे गए गहरे कुओं पर निर्भर था। राज्य के प्रत्येक गांव में, उसकी कृषि योग्य भूमि एवं उस पर की जाने वाली खेती के अनुसार एक या उससे अधिक सरोवर होते थे। ग्राम सरोवर को प्रायः 'चेरुवु' कहते थे, हालांकि उसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के तुल्य कन्नड का ,केरें' शब्द भी अज्ञात न था। किंतु व्यक्तियों द्वारा अपनी ओर से बनवाए गए अथवा किसी व्यक्ति एवं देवता के सम्मान में बनवाए गए सरोवरों के बारे में यह प्रचलन था कि उनका नाम उन्हीं के निर्माता अथवा दाता अथवा सम्मानित किए जाने वाले व्यक्ति एवं देवता के नाम पर रखा जाता था और 'समुद्र' 'चेरुंवु' अथवा 'केर' प्रत्यय उनके साथ जोड़ दिए जाते थे।

काकतीयों के काल से पहले सरोवर छोटे होते थे तथा सिंचाई की सुविधाएं अपर्याप्त थीं और कृषि योग्य क्षेत्र भी अत्यंत सीमित था। काकतीयों ने ही सबसे पहले यह जाना था कि तेलिंगाना की स्फटिक प्रस्तर एवं कणयुक्त चट्टानों पर बिछी लाल बलुई मिट्टी गीली खेती के लिए अत्यंत उपजाऊ है, हालांकि उसके छिद्रक स्वरूप को पर्याप्त मात्रा में जल की आवश्यकता थी, अन्यथा वह जनता के लिए पर्याप्त फसल उत्पन्न नहीं कर सकती थी। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि यदि राज्य की अनेक नदियों एवं जलधाराओं के जल को संचित कर, कृषि के लिए प्रयोग किया जा सके तो आर्द्र फसलों को बड़ी मात्रा में उगाया जा सकता था और राज्य की आर्थिक समृद्धि की भी पर्याप्त वृद्धि हो सकती थी। इसी के लिए उन्होंने बड़े सरोवरों अथवा बांधों के निर्माण का विचार किया। इनमें भूमि के बड़े क्षेत्र को सींचने के लिए पर्याप्त जलसंचय किया जा सकता था। जिस प्रकार के बांध उन्होंने बनाए वे अपने राज्य की उपयोगिता के दृष्टिकोण से, उत्तर काल में भी अत्यंत लोकप्रिय थे। उनके बाद आनेवाले शासकों ने उन्हीं के उदाहरण का अनुकरण किया तथा पुराने सरोवरों की मरम्मत करवाई और जहां सरोवर नहीं थे उन स्थानों पर अनेक नवीन सरोवरों का निर्माण भी करवाया।

किंतु इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि राज्य ने सिंचाई के साधनों के निर्माण एवं प्रबंध के लिए कोई प्रत्यक्ष दायित्व नहीं लिया था। इस काल के किसी भी अभिलेख में सार्वजनिक कार्य विभाग अथवा सिंचाई की योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले अधिकारियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सरोवर निर्माण को धर्मार्थ कार्य समझा जाता था, जिससे धार्मिक पुण्य मिलता था। वास्तव में ऐसे सरोवरों के निर्माण को 'सप्त संतानों' में सम्मिलित किया गया है अर्थात उदारता के वे कार्य जिससे दाता का नाम चलता था और जग में उसकी प्रसिद्धि स्थाई रूप से स्थापित होती थी।[32] सरोवरों के निर्माण से प्राप्त होने वाले पुण्य को आरंभिक 16 वीं शताब्दी के एक अभिलेख में स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया गया है और वह वर्तमान संदर्भ में उल्लेखनीय है: 'देवता', मनुष्य, 'पितृ', 'गंधर्व','उरग', 'राक्षस' तथा स्थाई 'भूत'··· ये सभी सरोवरों पर निर्भर रहते हैं। जिस व्यक्ति के सरोवर में, मनुष्य, पशु एवं पक्षी अपनी प्यास बुझाते हैं, वे वही पुण्य प्राप्त करते हैं, जो अश्वमेध यज्ञ संपन्न करने से मिलता है। सरोवर के निर्माता का 'पितृ' प्रसन्न होता है, 'पितामह' (खुशी से) नाचता है तथा उसके सजातीय 'पितृ' भी उनकी खुशी में सम्मिलित होते हैं।[33] इस विश्वास से प्रभावित होकर राजाओं एवं सामंतों, कुलीनों, अधिकारियों, धार्मिक नेताओं, व्यापारियों एवं धनी व्यक्तियों ने सरोवरों का निर्माण करवाया और इस प्रकार संपूर्ण राज्य को सिंचाई के पर्याप्त साधन मिले। बेत द्वितीय, पहला काकतीय नरेश था, जिसका नाम हमारे अभिलेखों में सरोवरों के निर्माण के साथ जुड़ा हुआ है। उसने संभवतः 'सेट्टि-केरें' एवं केसरी-'समुद्र' नामक दो तालाब बनवाए और इस संदर्भ में जलदेवता वरुण की प्रतिष्ठापना का उत्सव अर्थात 'वरुण-प्रतिष्ठा' मनाया ताकि उसके सरोवर सदा पूर्ण रहें।[34] रुद्र ने अपने द्वारा नष्ट किए गए चोडोदय शहर के मध्य में विशाल एवं भव्य सरोवर का निर्माण करवाया।[35] यदि 'प्रतापचरित्र' पर विश्वास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करें तो गणपति ने अपने राज्य के दक्षिण में तेलुगु चोलों की राजधानी नेल्लोर, कृष्णा, गोदावरी के डेल्टा में ऐल्लोरे नामक स्थान, गंगा (अर्थात गोदावरी नदी) के तट पर स्थिति गणपुरं एकशिला नगर (वारंगल) के दक्षिण पश्चिम में स्थित गणपुरं और उसी नगर के पश्चिम में विदिशा इत्यादि विभिन्न स्थानों पर अनेक सरोवर बनवाए। इसी प्रकार पारवल के निकट किसी स्थान पर एक बड़े सरोवर के निर्माण का श्रेय प्रतापरुद्र को भी दिया जाता है।[36] किंतु यह अंतिम वक्तव्य विश्वसनीय प्रमाणों से पुष्ट नहीं होता है। राजाओं और शाही परिवार के व्यक्तियों से भी अधिक उनकी सेवा में लगे सामंत एवं अधिकारीगण सिंचाई योजनाओं के विकास में रुचि लेते थे। इस संदर्भ में तेलिंगाना के दो कुलीन वंश अर्थात मल्याल एवं रेचेर्ल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि उस क्षेत्र को उत्तर काल में 'सरोवर' जिले का नाम दिलाने वाले अनेक सरोवर उन्हीं के प्रयासों एवं गतिविधियों के फल थे। चावुंड-'समुद्रं', बाच-'समुद्रं' (बास-'समुद्रं'),' गणप-'समुद्रं', 'कुप्प-'समुद्रं' बुद्धनि-'कुंट', कुप्पांब-'काल्व', पोल्रेड्डि-'काल्व', दाड्ल- 'काल्व' तथा पारवल का विशाल सरोवर, ये सभी मल्यालों ने बनवाए थे,[37] जबकि सव्ब-'समुद्रं', नाम 'समुद्रं', विश्वनाथ-'समुद्रं', गौर-'समुद्रं', ऐरेर्र-'समुद्रं', लकुमा-'समुद्रं', कुडिकुडिय-चेरुवु', कत्यारे-'चेरुवु,' नेरेड्ल- 'चेरुवु', एर्ररमराजु-'कुंट' का निर्माण रेचेर्लों ने करवाया था।[38] दक्षिण में कायस्थकुमारों ने, विशेषकर अंबदेव एवं उसके सहायकों ने भी इसी प्रकार नवीन सिंचाई सुविधाएं प्रदान करके राज्य की समृद्धि का विकास किया। अंबदेव के प्रसिद्ध महा-प्रधान घोडेयराय गंगय देव ने बलि (ओबलि) एवं ऊटुंकूरु नामक स्थानों पर क्रमशः 'अंब-समुद्रं' नामक दो सरोवर अपने मालिक के नाम से बनवाए। उसने लेंबाक नामक स्थान पर (चेय्येरु) नदी की तह से रायसल्लमल्ल-'काल्व' नामक तथा ताड्लपाक नामक स्थान पर गंडपेहार-'काल्व' नामक नहरें खुदवाईं।[39] इसके अतिरिक्त रायगुरु शांतिशिव देशिक ने गणपापुरं में गणप-'समुद्रं' नामक सरोवर का निर्माण करवाया था।[40]

सरोवरों के निर्माण की विधि से संबंधित जानकारी अत्यंत अपर्याप्त है; निस्संदेह भूमि और प्रदेश के अनुसार भिन्न भिन्न विधियां प्रयोग में लाई जाती थीं।

सरोवर के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सदा ही सुदृढ़ बांध का निर्माण होता था ताकि वह उसमें संचित जल के दबाव को सहन कर सके। यह कार्य समतल भूमि की अपेक्षा पहाड़ी क्षेत्र में सुगम, कम कठिनाईपूर्ण एवं कम खर्चीला होता था। पहाड़ी क्षेत्र में पहाड़ियों के समूह को पत्थरों को एक ऊपर एक रखकर बंध द्वारा सुगमता पूर्वक जोड़ सकते थे, जैसा बुद्धपुरि में किया था,[41] लेकिन समतल भूमि में यह अत्यंत आवश्यक था कि कि सरोवरतल के सभी ओर पर्याप्त मिट्टी की दीवारें खड़ी की जाएं। कुछ स्थानों पर सरोवर-बंध को और अधिक सुदृढ़ करने के उद्देश्य से ही 'कट्टव' नामक वृक्षों की कतारें लगा दी जाती थी।[42] दुर्भाग्यवश, ज्ञात अभिलेखों में सरोवर निर्माताओं द्वारा कार्य संपन्न करने में प्रयुक्त साधनों के विवरण नहीं मिलते हैं। किंतु यह मान्य है कि कुछ दृष्टांतों में तो अवश्य ही श्रमिकों को भी काम पर लगाया गया तथा उन्हें नकद पैसा दिया गया। कुर्नूल जिले के त्रिपुरांतकं में प्राप्त शक सं० 1215 (1293 ई०) के एक अभिलेख में यह कहा गया है कि कुमार 'समुद्रं' नामक सरोवर के निर्माण में 241 'माड' खर्च हुए, जबकि त्रिपुरा 'समुद्रं', नामक दो अन्य सरोवरों का खर्च क्रमशः—7 'माड'[43] एवं 156 माड[44]। इस अभिलेख में वर्णित खर्च के विषयों में उपर्युक्त सरोवरों के निर्माण के लिए लगाए गए श्रमिकों को दिए जाने वाले वेतन का उल्लेख है। किंतु निःसंदेह ही विजय-नगर के रायों के काल में, सरोवर निर्माताओं में लोकप्रिय 'दशबंध' की प्रथा भी पूर्व काल में पूर्णरूप से अज्ञात न होगी। इस विधि के अनुसार सरोवर निर्माण का कार्य उन व्यक्तियों को

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौंप दिया जाता था, जिन्हें उसे क्रियान्वित करना होता था और समाप्त होने के पश्चात अपने ही खर्च से अच्छी हालत में रखना पड़ता था। इसके बदले में आरंभ में ही उन्हें उस सरोवर के द्वारा सिंचित भूमि का दसवां हिस्सा दे दिया जाता था और यह भूमि करमुक्त होती थी। किंतु काकतीय काल में इस प्रथा के प्रचलन को प्रकट करने वाला कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

निस्संदेह, अधिकांश सरोवरों के जल का स्रोत वर्षा ही थी। मानसून के दौरान जलग्रह क्षेत्र में एकत्र किया हुआ जल ही 'वागु' नामक छोटी छोटी नहरों के द्वारा सरोवरों में पहुंचता था। नदियों के सभीप स्थित सरोवरों में जल पहुंचाने के लिए, नदियों से ही नहरें काट ली जाती थीं। इस काल के अभिलेखों में वर्णित पेरकंमा से निकाली गई मूसेटि-काल्व एवं इम्मंगडि काल्व, लेंबाक के स्थान पर घोडेराय गंगयदेव द्वारा चेय्येरु नदी से निकाली गई अंतर्गंग काल्व आदि नहरें इन्हीं नदियों के जल को पड़ोस के गांवों के सरोवरों तक पहुंचाती थीं।[45] आन काल्व एवं 'कट्टुंगोम्मु काल्व' का भी उल्लेख मिलता है।[46] 'आन' एवं 'कट्टुंगोम्मु' नामक बांध क्रमशः मिट्टी एवं पत्थर के स्थाई बांध होते थे। इससे प्रकट होता है कि नदियों एवं जलधाराओं पर बांध बनाए जाते थे और उनमें से नहरें काट ली जाती थीं जो सरोवरों की ओर अथवा सीधे सिंचाई के क्षेत्रों को जाती थीं। झरनों से प्राप्त होने वाला अंतर्भूमि जल तथा 'ऊट काल्वों' अर्थात पृथ्वी में गहरी खोदी गई नहरों से भी कुछ क्षेत्रों के सरोवरों को भरा जाता था। तेलिंगाना से प्राप्त एक अभिलेख में 'ऊट तटाक' तथा उससे निकाली गई नहर द्वारा क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त चावल की फसल के उल्लेख से सिद्ध होता है कि इस प्रकार के सरोवर राज्य के भीतरी भागों में भी थे।[47] सरोवरों में जलद्वार होते थे तथा क्षेत्रों तक पानी ले जाने के लिए उनमें से नहरें निकाली जाती थीं। इस संदर्भ में अभिलेखों में उल्लिखित कूचिनेनि'काल्व',लोंतलि 'काल्व', रवि 'काल्व', उत्तमगंड 'काल्व',बोम्मकंटि 'काल्व', प्रोलरेड्डि 'काल्व',रेड्डि'काल्व',दाड्ल 'काल्व', मेडविरुप 'काल्व', मद्दि मड्डि 'काल्व', रायसहस्रमल्ल 'काल्व' एवं गंडपेंडार 'काल्व',[48] जैसी नहरें उल्लेख्य हैं क्योंकि ये उस काल के लोगों द्वारा कृषि के विकास एवं भूमि की उपज बढ़ाने के लिए किए गए प्रयासों के विशिष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

भूमि उद्धार

कृषि के विकास के लिए सिंचाई की सुविधाएं प्रदान करने के अतिरिक्त काकतीय नरेशों ने, विशेषकर प्रतापरुद्र ने, जंगलों को काट कर तथा बड़े बड़े नवीन क्षेत्रों को जोतकर कृषि योग्य भूमि के विस्तार का प्रयास किया। आधुनिक रायलसीम में अनेक गांवों की 'कैफियतों' में सुरक्षित स्थानीय परंपराओं में, प्रतापरुद्र के आदेश पर उस क्षेत्र के वनोन्मूलन तथा घने जंगलों से परिवेष्टित भूमि पर स्थापित नवीन ग्रामों का उल्लेख मिलता है। जब कायस्थ प्रमुख अंबदेव के विरुद्ध अपने अभियान के दौरान प्रतापरुद्र नेल्लोर जिले के उत्तर में कोच्चेर्लकोट पहुंचा, तो उसने अपनी सेवा में लगे इरुगप्प केति नायक नामक अधिकारी को आदेश दिया कि वह पड़ोस के प्रदेश को आच्छादित करनेवाले वनको काट दे औरवहां पर दुप्पिपाडु गांव (अर्थात आधुनिक दूपाडु) का निर्माण करे। यही कालांतर में इसी नाम के जिले का प्रधान कार्यालय बन गया और अनुमकोंड के श्रीनाथ राजु नामक अधिकारी को इस नगर के प्रशासन का अध्यक्ष बनाया गया। श्रीशैल पर्वतश्रेणी के पश्चिम का प्रदेश भी, जो आधुनिक कुर्नूल जिले के नंदिकोट्कुर 'तालुक' के एक बड़े भाग के बराबर था, उस समय घने वनों से आच्छादित था। इसे राजा के आदेश पर साफ कर दिया गया और इस प्रकार खुले प्रदेश में अनेक नवीन ग्राम स्थापित किए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गए। इनको भी इसी प्रकार कायस्थ प्रमुख सिरि सिंगलराज के अधीन कर दिया गया, जो अपनी पत्नी सिरि नागुलदेवी के साथ उत्तर में कल्याणी से प्रवासी के रूप में आया था। विडेमु कोम्मय ने, जिसे प्रतापरुद्र ने कुर्नूल के पड़ोस का प्रदेश 'नायंकर' के रूप में दिया था, वनों को गिरा दिया और इस भूमि पर दामेगट्ल के निकट नागलूरि एवं उस क्षेत्र में अन्य अनेक ग्रामों को स्थापित किया। 'कैफियतों' में इसी प्रकार कुड्डपह एवं कुर्नूल जिलों में बड़ी संख्या में नवीन ग्रामों की स्थापना के वर्णन मिलते हैं। ये सभी, प्रतापरुद्र द्वारा अपने साम्राज्य के आर्थिक साधनों को विकसित करने की वास्तविक एवं उत्कट रुचि के साक्षी हैं।

किंतु साफ किए गए वन प्रदेशों में नवीन ग्रामों की स्थापना का कार्य अनेक कठिनाइयों से पूर्ण सिद्ध हुआ। नवीन ग्रामों को बसाने के लिए उपयुक्त निवासियों को जो वहां जाने के लिए राजी हों, ढूंढ़ना आसान कार्य न था। स्वयं सरकार ने यह कार्य नहीं किया। उसने कुछ प्रयासशील एवं उत्साही कृषकों को इस काम में लगा दिया। वे ही पड़ोस के गांवों में जाते थे तथा संयुक्त परिवार के बंधनों को तोड़ने के लिए इच्छुक लोगों के समूह को एकत्र कर लेते थे और स्वयं को नवीन घरों में स्थापित कर लेते थे। सरकार ने भी प्रवासियों को विशेषाधिकार देकर ऐसे अवागागमन को प्रोत्साहन दिया। पहले तीन वर्षों तक वे बिना कर दिए ही खेती कर सकते थे, चौथे वर्ष से नीची दर के कर लगाए जाते थे और जो धीरे-धीरे बढ़ाकर निकट के प्राचीन ग्रामों के करों के स्तर तक लाए जाते थे।

परिवर्तन करने के लिए इच्छुक परिवारों को एकत्र करने के बाद, अगला महत्वपूर्ण कदम नवीन ग्राम स्थल का चयन होता था। पर्याप्त जल वाले उपयुक्त स्थान को ही चुना जाता था फिर मंदिर में देवता की मूर्ति का प्रतिष्ठापन होता था और उसके सम्मान में 'उरुम' नामक उत्सव मनाया जाता था। फिर नवीन वासियों के लिए घरों का निर्माण होता था, ग्राम का 'आयकट' (क्षेत्र का विस्तार एवं अन्य विवरण आदि) निर्धारित किया जाता था और 'आयगारों' अर्थात ग्राम के 12 अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था। इसके बाद ही 'विसबडि' के अनुसार भूमि को नवीन निवासियों में बांट दिया जाता था और कृषि योग्य क्षेत्रों को निर्धारित किया जाता था। क्षेत्रों की सिंचाई के लिए जल संचित करने वाले सरोवर के निर्माण के बाद ग्राम की स्थापना का कार्य पूर्ण होता था।

कर व्यवस्था

यद्यपि काकतीय कालीन अभिलेखों में अनेक करों का उल्लेख मिलता है, किंतु उस काल के कर भार के संबंध में बहुत कम ज्ञान ही प्राप्त हैं। सरकार के राजस्व का मुख्य स्रोत कृषिकर ही था, जो लोगों का प्रमुख एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण धंधा था। मूल्य की दृष्टि से अगला कर व्यापार एवं उद्योगों पर लगाया गया कर था और अंतिम महत्वपूर्ण कर जंगलों एवं चरागाहों की क्रमशः लकड़ी एवं चराई अधिकार के मूल्य पर लगाया गया था। (आय के उपयुक्त साधनों एवं अन्य अनेक स्रोतों से प्राप्त) करों को नियमित अधिकारी एकत्र करते थे। इनमें से कुछ कर तो पारंपरिक एवं प्रथानुसार ही थे, जो काकतीय वंश के उदय से पहले भी लगाए जाते थे। 'दरिशनमु', 'अप्पनमु', एवं 'उपकृति' ऐसे ही पारंपरिक एवं स्वीकृत कर थे[49] जिनमें से पहला कर उत्सवों एवं राज्य संस्कारों जैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर राजा के पास जाने पर दिया जाता था। दर्शन के समय वस्तुओं एवं नकद रूप में राजा को उपहार देने की प्रथा तथा राज्योत्सवों के अवसर पर उसे धन के रूप में 'कानिक' देना, हाल तक चलता रहा। उपकृति एक अन्य कर था, जो प्राचीन काल से चला आ रहा था, जो केवल राजा को ही नहीं अपितु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य अधिकारियों को भी दिया जाता था। शासक द्वारा किए गए उदारतापूर्ण कार्य के बदले में दिए जाने वाले उपहारों को 'उपकृति' कहते थे। वह एक प्रकार का पारंपरिक कर था जो ग्रामीणों एवं नगरवासियों पर सरकार द्वारा लगाया जाता था। उनके भले के लिए की गई स्थाई अथवा अस्थाई सेवा के बदले में ही यह कर लगाया जाता था।

जैसा पहले ही कह चुके हैं, सरकार को अधिकांश राजस्व भूमिकर से ही प्राप्त होता था। 'लोकल रिकार्डों' से सिद्ध होता है कि पिछले कालों की अपेक्षा इसी काल में अधिकाधिक क्षेत्र को कृषियोग्य बनाया गया। इनसे पता चलता है कि काकतीय नरेशों गणपति, रुद्रमदेवी और विशेषकर प्रतापरुद्र के काल में श्री शैल एवं अन्य क्षेत्रों के वनों को काट कर निवास एवं कृष्य क्षेत्रों को अत्यंत विस्तृत कर दिया गया। चूंकि काकतीय नरेशों ने सिंचाई की सुविधाओं का सुधार करके, विशेषकर स्थानीय भाषा में 'समुद्रं' कहलाने वाले सरोवरों का निर्माण करके कृषि को और अधिक प्रोत्साहन दिया और इस प्रकार कृषि योग्य क्षेत्र का शीघ्र विस्तार किया, अतः भूमि से प्राप्त आय भी उसी अनुपात में बढ़ गई होगी। काकतीयकालीन अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि वर्तमान काल के समान ही उस काल में भी कर निश्चित करने के लिए भूमि के स्वरूप एवं उत्पादकता के अनुसार उसे शुष्क ('वेलि-वोलमु', अथवा 'वेलि-चेनु' अथवा 'वेलि-भूमि'), गीली ('नीरु-नेल') तथा उद्यान क्षेत्रों (तोंट-भूमि) में बांट दिया जाता था। 'तोंट-भूमि' को 'तोंट-पोलमु' भी कहते थे। इस प्रारंभिक वर्गीकरण के बाद सामान्यतया 32 'जेन' की लंबाई वाले बांस (गड अथवा दंडक अथवा कोल) से भूमि का सर्वेक्षण किया जाता था।[50] इस काल के अभिलेखों के अध्ययन से यह तथ्य प्रकट होता है कि काकतीय साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में बांस की मानक लंबाई में अंतर होता था। उदाहरणार्थ गुंटूर जिले में पेनुमूलि के एक अभिलेख में भवन स्थलों एवं खेतों की पैमाइश के लिए क्रमशः 8 और 24 जेनों की लंबाई वाले बांसों का उल्लेख है।[51] काकतीय शासनकाल के दौरान अनेक स्थानों पर भूमि की पैमाइश अथवा सर्वेक्षण में प्रयुक्त होने वाला बांस 32 'जेन' की लंबाई का था, जो 'केसरिपाटि-गड' अर्थात केसरिपाडु के गांव में प्रयुक्त होने वाला बांस कहलाता था। मानक मापक की भिन्नता के अनुसार गीली भूमि और शुष्क भूमि के कर निर्धारण में भी अंतर होता था। गीली भूमि का माप 'मर्तुरु' अथवा 'मत्तर' एवं उसके उपभागों द्वारा और शुष्क भूमि की गणना 'खंडुव', 'खंडुक' अथवा 'पुट्टि' एवं उसके भागों द्वारा कराने की प्रथा थी। यह स्पष्ट है कि शुष्क भूमि की अपेक्षा गीली भूमि का क्षेत्र छोटा होता था। यह ज्ञात नहीं है कि करनिर्धारण किस प्रकार होता था। संभवतः जिले के प्रत्येक ग्राम में राजा की अपनी भूमि भी होती थी जिसे 'राच-दोड्डि' अथवा 'राचपोलमु' कहते थे।[52] यह भूमि और इस पर होने वाली उपज, पूर्णरूप से स्वयं राजा की संपत्ति होती थी।

'चेलुक' अथवा 'चेलिक भूमि' अर्थात ऊसर भूमि पर, जो हाल ही में कृषियोग्य बनाई गई थी, तीन या चार वर्ष के बाद ही उपज के अनुपात में धीरे धीरे कर लगाए जाते थे। पहले दो, तीन, यहां तक कि चार वर्षों तक कोई कर नहीं लिया जाता जाता था। कर को वस्तु एवं धन—दोनों रूपों में उगाहा जाता था। इस काल के अभिलेखों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं—"बोने योग्य कर्षित क्षेत्र के प्रत्येक 'मर्तुरु' पर एक 'चिन्नमु' की दर से" और "शुष्क भूमि के प्रत्येक 'पुट्टि' पर एक 'चिन्नमु' की दर से"।[53] यह नहीं कहा जा सकता कि क्रमशः गीली एवं शुष्क भूमि पर लगाए जाने वाली दरें अपरिवर्तनीय थीं, किंतु अभिलेख इस बात के निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि करों का निर्धारण केवल वस्तु में ही नहीं अपितु नकदी में भी होता था। शुष्क भूमि एवं उद्यान भूमि ('तोंट-भूमि' अथवा 'तोंट-पोलमु')

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का कर सदा ही नकदी में दिया जाता था और क्रमशः 'पुट्टि-पहिण्डि' एवं 'तोंट-संकमु' कहलाता था।[54]

सरकार को वस्तुओं में दिया जाने वाला कर सामान्यतया दो किश्तों में दिया जाता था—कार्तिक (अक्तूबर-नवंबर) और वैशाख (अप्रैल-मई) मास में,[55] क्योंकि ये दोनों स्पष्टरूप से फसलों के मुख्य मौसम थे। राजा के अधिकारी, ग्रामों से उसका हिस्सा वसूल करने के लिए जाते थे। अनाज में राजा के हिस्से की माप करने के लिए 'कोलकांड्र' नामक पदाधिकारी होते थे तथा दोनों दलों अर्थात ग्राम की रैयत अथवा सरकार में किसी के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न हो इसलिए 'तीर्परुलु' नामक निर्णायक होते थे।[56] गृहस्थ की वस्तुओं की आय में राजा के हिस्से को 'पुट्टि-कोलुचु' तथा धन की आय के हिस्से को पुट्टि-पहिंडि' कहते थे।[57] देवताओं एवं ब्राह्मणों को दी गई भूमि पर भी सरकार नाम मात्र का किराया लगाती थी। गीली भूमि से एकत्र किए जाने वाले किराए को 'पर' तथा शुष्क भूमि वाले को 'पंगमु' कहते थे। तेलुगु कोषों के अनुसार 'पंगमु' का अर्थ किराए का एक चौथाई होता है तथा 'पर' का अर्थ संभवतः 1/8 भाग था। कुछ दृष्टांतों में तो यह थोड़ा सा किराया भी छोड़ दिया जाता था तथा भूमि को पूर्णरूप से कर मुक्त घोषित कर दिया जाता था। भूमि कर के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द 'अरि' था और उसको देने वाले रैयत, 'अरिगापुलु' कहलाते थे।

'सुंकमु' शब्द विस्तृत अर्थ वाला है। अभिलेखों में इसका प्रयोग उद्यान भूमियों पर लगाए गए करों, आयात एवं निर्यात शुल्क, 'पेंठों' अर्थात बाजार नगरों व केंद्र की ओर या वहां से ले जाई जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं पर लगे सीमाशुल्क तथा अन्य चुंगी करों के लिए हुआ है। नमक सहित व्यापार की वस्तुओं पर लगाए गए कर सीमाशुल्क अथवा चुंगीकर आदि, सरकार को निश्चित रकम देने पर व्यापारी-श्रेणियों अथवा संगठनों को दे दिए जाते थे। इन संगठनों में व्यापारी वर्ग के सदस्य होते थे। इनके उदाहरण हैं : वीरंबलंज-'समय' अथवा व्यापारियों की अय्यावलि श्रेणी। यह ज्ञात नहीं है कि करों को उगाहने के अधिकार को नीलामी द्वारा बेचा जाता था या नहीं, और न ही हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि नीलाम में जीतने वाले को कितने समय तक कर उगाहने का अधिकार मिलता था। इन कर उगाहने वालों की भिन्न भिन्न क्षेत्रों में निजी शाखाएं होती थीं, जिनमें कार्यालय व्यवस्थापन, अधिकारी, विनिमय तथा करों एवं शुल्कों के संग्रह के दौरान प्राप्ति एवं छूट का ब्यौरा रखने वाले लेखाकार होते थे। कर एकत्र करने वाले 'शुंकरुलु' तथा उनके लेखाकार 'शुंक-करनालु' कहलाते थे। संभवतः स्थानीय शाखा के सदस्यों की सहमति से, उस प्रदेश में व्यापारिक वस्तुओं पर एकत्र किए गए शुल्क को कभी कभी धर्मार्थ उद्देश्यों, जैसे मंदिरों में देवताओं के सामने प्रकाश स्रोत की स्थापना आदि के लिए दान कर दिया जाता था। 'पेंट' अर्थाय बाजार नगरों व केंद्र में की गई बिक्री पर लगाए गए शुल्क को 'पेम्ट-शुंकुमु' अथवा 'मगम' कहते थे।[58] कर संग्रहकों की ये श्रेणियां केवल राज्य को दी जाने वाली निश्चित धनराशि के भुगतान के लिए ही उत्तरदायी थीं। वे अपने कार्य का प्रबंध करने में पूर्ण रूप से स्वतंत्र थीं; सरकार अथवा उसके अधिकारियों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। काकतीयकाल के शक सं० 1244 अर्थात 1322 ई० एवं शक सं० 1225 अर्थात 13०4 ई० के दो अभिलेखों से क्रमशः इन व्यापारश्रेणियों को अपना प्रबंध करने के लिए दी गई स्वायत्तता की सीमा तथा इस काल में सरकार द्वारा अपनाई गई हस्तक्षेप की नीति की सीमाएं प्रकट होती हैं। 1322 ई० के अभिलेख में वारंगल के काकतीय नरेश प्रतापरुद्र का उल्लेख है। इसी अभिलेख में नंद्याल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'स्थल' में रहनेवाले सभी राज्यों के 18 'समयायों' द्वारा, लोकिशेट्टि के पुत्र, किसी अत्तेन को बिना शुल्क दिए गए कुछ वस्तुओं का व्यापारकरने का विशेषाधिकार दिया गया था। यह अधिकार पेडकंटिदेश में चेरुनूरु के 'शुंककरणों' अन्नमराज एवं सिंगराज को मारने के लिए पुरस्कार स्वरूप दिया गया था।[59] शक सं० 1225 का दूसरा अभिलेख भी सामान्य रूपरेखा में उपर्युक्त अभिलेख जैसा ही है किंतु वह राजा प्रतापरुद्र का उल्लेख नहीं करता है। इस अभिलेख में भी उसी व्यापारिक संगठन द्वारा किसी पुलियम सेट्टि को दिए गए वैसे ही विशेषाधिकार का उल्लेख है। यह अधिकार भी 'समयायों' के लिए विश्वासघाती सिद्ध होने वाले कारपाकल काटिनायक को मारने के लिए दिया गया था।[60] ये दो अभिलेख, इन व्यापारिक श्रेणियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं और इनकी प्रामाणिकता पर संदेह करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। यहां तक कि फुटकर बिक्री करने वाले को भी ये कर देने पड़ते थे। सभी प्रदेशों के 18 'समयायों' के व्यापारी ही, जो शुल्कसंग्रहकर्ता थे, किसी विक्रेता को निश्चित कर देनेसे मुक्त कर सकते थे अथवा श्रेणी संगठन के लिए की गई महत्वपूर्ण सेवा के लिए विशेषाधिकार के रूप में उसे ऐसी छूट दे सकते थे।

प्रत्यक्षतः संगठन के हितों के लिए की गई हत्यायों के समय भी सरकार की अहस्तक्षेप की नीति न्यायोचित प्रतीत नहीं होती। उपर्युक्त दोनों अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि इन श्रेणियों के पास कितनी शक्ति थी और काकतीय शासन के अंतिम दिनों में वे कितनी शक्तिशाली थीं। शासकों द्वारा व्यापारियों को खुश रखने की नीति का कारण, मुस्लिम आक्रमणों के दौरान इन व्यापारी श्रेणियों द्वारा दी गई सहायता थी। संभवतः आवश्यकता के समय इन श्रेणियों के सदस्य श्रेणि-बल के रूप में सेना में प्रविष्ट हुए। श्रेणि-बल साम्राज्यिक सेना का अभिन्न अंग था, और उसकी छः टुकड़ियों में से एक था। उसने राजा को महत्वपूर्ण सेवा प्रदान की और इसके बदले उसे शेषधिकार और वृहद शक्ति का अनुदान मिला। वीरबलंज श्रेणी के अभिलेखों के प्रशस्ति अंश में सदा ही उपाधियों की एक लम्बी सूची होती है जो उनके शौर्य एवं उपलब्धियों की परिचायक है। इनमें से 'बल्लाल-राय-मर्दन' जेसी कुछ उपाधियां तो ऐतिहासिक हैं ही। इसका कारण कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि इन व्यापारिक श्रेणियों के पास असीमित शक्ति थी तथा उन्हें अपने आंतरिक प्रशासन में पूर्ण स्यायत्तता प्राप्त थी।

'सुंकम' अर्थात महसूल अथवा सीमाशुल्क का उल्लेख भी काकतीय अभिलेखों में मिलता है। इनमें मिलनेवाले इसके भिन्न भिन्न रूप ये हैं: 'अम्मुबडि-सुंकमु,' 'अम्मु-कड-सुंकमु,' 'पेर्रुक-एड्ल-सुंकमु,' 'गानुवुल (तेल-मिल)-मुद्र-सुंकमु,' 'गानुवुकु-अरि-सुंकमु,' एवं 'उप्पु-पेर्रिके- सुंकमु' आदि। ये सभी शुल्क संग्रहकों एवं व्यापारश्रेणियों द्वारा एकत्र किए जाने वाले कर थे, जो वे बाजार केंद्रों, तीर्थस्थानों तथा प्रसिद्ध धार्मिक स्थानों एवं मंदिरों के अहातों में एकत्र करते थे। 'अम्मुबडि-सुंकमु' एवं 'अम्मु-कड-सुंकमु' एक ही कर के लिए प्रयुक्त होने वाले समान शब्द प्रतीत होते हैं। यदि यह तर्क दिया जाए कि वे वास्तव में पृथक वित्तीय कर थे तो 'अम्मुबडि-सुंकमु,' बिक्री की वस्तुओं पर अज्ञात किंतु निश्चित दर से एकत्र किया जाने वाला कर था और 'अम्मु-कड-सुंकमु,' प्रत्येक दुकान अर्थात 'कड' पर लगाया जाने वाला कर था। व्यापारिक वस्तुओं से युक्त, बोरों से लदे हुए भारवाही बैलों '(पेरिके-एड्लु)' पर लगाए गए कर को 'पेर्रिके-एड्ल-सुंकमु' कहते थे। 'गानुवुल-मुद्र-सुंकमु' संभवतः पंजीकरण-शुल्क के रूप में तेलमिलों पर लगाया जाने वाला कर था। जबकि 'गानुवुकु-अरि-सुंकमु' तेल मिल पर ही वार्षिक अथवा अर्धवार्षिक कर होगा। केवल सभी वस्तुओं की बिक्री पर ही नहीं, अपितु गाड़ियों (बण्ड), दासों '(बानिस)' एवं अश्वों '(गुर्र्रमु)' जैसी अन्य वस्तुओं के रखने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर भी शुल्क एकत्र किया जाता था।[61]

संभवतः नमक पर राज्य का ही एकाधिकार था। काकतीयकालीन अभिलेखों से पता चलता है कि समुद्रतट पर स्थिति पेद्दगंजामु, पिन्न गंजामु (चिन गंजाम), कडकुदुर, चोम्पर्रेल कनुपर्रति देवउपल्लि एवं पाम्दार्रेति जैसे सभी स्थानों पर नमक का उत्पादन होता था।[62] इन नमक केंद्रों का प्रशासन या तो नमककर एकत्र करने वाले लेखाकारों जैसे सरकारी अधिकारियों के हाथों में था,[63] या फिर उपर्युक्त विधि के अनुसार व्यापारियों को इसका भी अधिकार बेच दिया जाता था।[64] चूंकि यह वस्तु भी अनाज की तरह ही तोली जाती है, अतः कुछ नमक अधिकारी भी होते थे, जिन्हें 'कोलकाण्डु, एवं 'तीरर्पलु' कहते थे।[65]

राज्य की आय का एक अन्य स्रोत 'पुल्लरि' अर्थात चरागाहों का कर ('पुल्लु' घास एवं 'अरि'— कर) था। 'पुल्लरि' नामक कर, प्रत्येक गांव से संलग्न सरकारी चरागाहों अथवा निकटवर्ती वन क्षेत्रों में चरने वाले मवेशियों पर लिया जाता था।[66] 'पुल्लरि' के अतिरिक्त, काकतीय अभिलेखों में 'अड्डवट्ट-सुंकमु' नामक एक अन्य प्रकार के 'सुंकमु' का उल्लेख मिलता है। किंतु यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि वास्तव में यह कर क्या था। कुछ विद्वानों के अनुसार, यह भेड़ों के समूह पर लगाया जाने वाला कर था, जो एक प्रकार से मवेशियों पर लगा संपत्ति कर था। यह भी ज्ञात नहीं है कि यह सभी प्रकार के मवेशियों पर लगाया जाने वाला कर था अथवा कुछ विशेष प्रकार के मवेशियों पर लगा कर। यदि इसका संबंध केवल भेड़ों से था, तो इसका अर्थ सभी प्रकार के मवेशियों पर लगे संपत्तिकर की अपेक्षा उद्योग संबंधी कर समझना चाहिए क्योंकि भेड़ों के ऊन से ही कंबलों की बुनाई होती हैं। भारवाही बैलों के भार पर लगे कर के समान ही, साधारणतया नमक के बोरों पर भी कर लिया जाता था ('उप्पु पेर्रिके सुंकमु')।

उपरोक्त करों के अतिरिक्त, 'गड्डुग-माड', 'गड्डुग-कानिक,' ,उपक्षिति,' 'तलारि-पन्नु' 'बंतेल (बण्टुल-)आयमु' जैसे कुछ अन्य कर भी थे।[67] निश्चय ही 'गड्डुग-माड' एवं 'गड्डुग-कानिक' का अर्थ एक ही है, क्योंकि इसका अर्थ सम्मान प्रकट करने के लिए राजा को अनिवार्य रूप से दी जाने वाली भेंट ('कानिक') से है, जो सामान्यतया 'माड' ही होती थी। यह ज्ञात नहीं कि 'उपक्षिति' क्या था। क्या यह उपकृति की भूल है? 'तलारि' अर्थात चौकीदार के प्रबंध के लिए जनता से लिया जाने वाला कर 'तलारि-पन्नु' कहलाता था। इसी प्रकार 'बण्टुल-आयमु' भी एक प्रकार का प्रबन्ध कर था, जो पैदल सैनिकों को उनके निर्वाह के लिए दिया जाने वाला भत्ता था।

इन करों के अतिरिक्त, धन, वस्तुओं अथवा अनाज के रूप में दी जाने वाली प्रथात्मक फीस भी थी, जिसे 'मेरलु' अथवा 'वर्तनलु' कहते थे। इसकी उगाही के लिए सरकारी अधिकारी नियुक्त थे जो इसे समय समय पर अथवा विशेष मौसम में एकत्र किया करते थे।

संदर्भ

1. 'सकलनीतिसम्मतमु', I : 48, 50, 52.
2. वही, 60, 61
3. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465.
4. 'सकलनीतिसम्मतमु', I : 248.
5. 'ज० ते० ऐ०', vii, पृ० 287-8.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

6. 'ऐ० रि०', 1905 का 268; 'सा० इं० इं०', x, 465.
'पंचाधिक-सप्तति क्षिति भृतान्' 'भारति', तारन, ज्येष्ठ, पृ० 555 'पंचोत्तर-सप्तति-नायक'।
7. दि अर्ली मुस्लिम इक्सपैंशन इन साउथ इंडिया', पृ० 34.
8. 'ज० ओ० रि०', xiv, पृ० 109.
9. 'ए० क०', v, (बेलूर तालुक), नं० 112.
10. 'ऐ० रि०', 1914 का 443; 'सा० इं० इं०', ix, भाग i, 101.
11. 'ऐ० रि०', 1905 का 174 एवं 268; 'सा० इं० इं०', x, 464 एवं 465.
12. 'सकलनीतिसम्मतमु', I : 167, 168, 170.
13. 'ऐ० रि०', 1893 का 411, 'सा० इं० इं०', iv, 1333, 'न्यू० इं० ऐं', खंड 1.
14. 'कार्पस', 56.
15. 'सकलनीतिसम्मतमु. I : 376.
16. 'ऐ० रि०', देखिए 1916-17 का नं० 1.
17. 'ज० आ० हि० रि० सो०', xi, पृ० 87; 'ज० ते० ऐ०', v, पृ० 410, 'ए० इं०', xxix, पृ० 69
18. 'सकलनीतिसम्तमम्'. I : 143.
19. 'सा० इं० इं०,' i, 36.
20. 'ऐ० रि०', 1905 का 283; 'सा० इं० इं०', x, 332.
21. 'ऐ० रि०', 1905 का 213; 'सा० इं० इं०', x, 465.
22. 'एन० डी० आई० आई० डी०', i; 'ऐ० रि०', 1930-1 का 321.
23. 'सा० इं० इं०', x, 504 एवं 521; 'कार्पस', 53; 'ऐ० रि०', 1934-5 का 307.
24. 'सा० इं० इं०', x, 409, 488, 495, 500, 504, 505; 'ऐ० रि०', 1918 का 11; 'कार्पस', 54; 'ऐ० रि०', 1893 का 135.
25. 'सा० इं० इं०', x, 332, 343.
26. वही, 335, 370, 371, 412, 422, 448, 503, 504, 506, 536.
27. वही 422, 504.
28. वही, 504, 536.
29. 'आंध्र पत्रिका', 'उगादि संचिक', 1922, पृ० 157.
30. 'सकलनीतिसम्मतमु', I : 203.
31. 'ऐ० रि०', 1939-40 का 5; 'सा० इं० इं०', x, 536; 'ज० ओ० रि०', xii, पृ० 245
32. 'कार्पस', 56; 'तेलिंगान इंसक्रिप्शंस', काकतीय, 6, 57.
33. 'लो० रि०', 48, पृ० 72.
34. कार्पस, 5.
35, वही, 3.
36. 'ज० ते० ऐ०', vii, पृ० 140-2, 289.
37. कार्पस. 8, 50, 52.
38. वही, 17, 28, 31, 38, 41, 42, 43.
39. 'सा० इं० इं०', x, 448.
40. वही, 400.
41. कार्पस, 52.
42. वही, 43.
43. द्वितीय अंक लुप्त है.
44. 'सा० इं० इं०', x 475.
45 कार्पस, 'सा० इं० इं०', x. 395, 448.
46. वही, 18; 'सा० इं० इं०', x 395.
47. वही, 2
48. वही, 18, 31, 35, 42, 52; 'सा० इं० इं०', x 395, 448.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

49. 'सा० इं० इं०', x, 427, 499, 509.
50. 'कार्पस', 55.
51. 'सा० इं० इं०', x, 509.
52. वही, 510; 'कार्पस', 26.
53. 'दुक्किवड्डु वित्तुपट्टुनकु मत्तुरु चिन्नमु लेक्कानु', 'कार्पस', 26.
54. 'सा० इं० इं०', x, 509, 530.
55. वही, 468.
56. वही, 480.
57. वही, 509.
58. वही, 429.
59. 'ऐ० रि०', 1918-19 का 11.
60. वही, 1918-10 का 10
61. 'सा० इ० इं०', x, 358.
62. वही, 427.
63. 'उप्पु-सुंकमु-तीसेडि करणालु, 'सा० इं० इं०', x, 480.
64. वही, 427.
65. वही, 480.
66. 'पसुल पुल्लरि', 'सा० इं० इं०', x, 427, एवं 509.
67. वही, 499, 509, 521.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य

संस्कृत[1]

विगत युगों के समान, इस काल में भी आंध्र प्रदेश की शैक्षणिक व्यवस्था में संस्कृत को प्रथम स्थान प्राप्त था। काकतीय सम्राटों एवं उनके सामंतों के अभिलेख, अपनी रचना के समय संस्कृत अध्ययन की पल्लवित अवस्था के साक्षी हैं। इस काल के अनेक दानपत्रों में उल्लिखित दानग्रहणकर्ताओं की शैक्षणिक उपलब्धियों से पता चलता है कि 'वेदों' एवं संबंधित उत्तर-कालीन साहित्य के अतिरिक्त 'उपनिषदों', 'शास्त्रों', 'इतिहास', 'पुराणों' एवं 'दर्शनों' तथा परिनिष्ठित संस्कृत साहित्य की अनेक शाखाओं का भी विस्तृत अध्ययन होता था और वास्तव में देश के सर्वोच्च शिक्षाप्राप्त व्यक्ति संस्कृत साहित्य एवं विद्या में निपुण थे। काकतीय नरेशों, उनके सामंतों एवं उनके आश्रितों द्वारा संस्कृत के विद्वानों एवं साहित्यिक व्यक्तियों को दिए गए उदार संरक्षण ने इस साहित्यिक गतिविधि को और अधिक प्रोत्साहन दिया, तथा दरबार एवं उस पर आश्रित सामंतों के संरक्षण में संस्कृत साहित्य के आभूषण समझे जाने वाले अनेक उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना हुई। इस काल में रचे गए संस्कृत साहित्य के विस्तार एवं महत्व का मूल्यांकन करने का समय अभी नहीं आया है, क्योंकि उसके इतिहास से संबंधित हमारा ज्ञान अभी अपूर्ण है। अभी तक संबंधित सामग्री को एकत्र करने, उसकी खोज करने तथा उसके आधार पर इस काल के साहित्य का संतोषदायक इतिहास पुनर्गठित करने का कोई विधिवत प्रयास नहीं किया गया है। जब तक वह नहीं हो जाता, तब तक हमारा ज्ञान केवल अन्वीक्षात्मक एवं अपूर्ण ही रहेगा।

अनेक पीढ़ियों से जिनके ग्रंथ चले आ रहे हैं, उनके अनिरिक्त अनेक ख्यातिप्राप्त लेखक एवं कवि, काकतीय शासकों के काल में पल्लवित हुए। उनमें से कुछ अभिलेखों के रचयिता थे। इन अभिलेखों की साहित्यिक श्रेष्ठता एवं रचना के स्वरूप के कारण उन्हें 'काव्यों' का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है। इनमें से सर्वप्रथम रामेश्वर दीक्षित के पुत्र एवं 'अद्वैतसंयासिन् अद्वयामृत के शिष्य, अचिंतेंद्र का उल्लेख करना चाहिए। वह काकतीय नरेश रुद्रदेव का समकालीन था। रुद्रदेव ने 1163 ई० के हनुमकोंड अभिलेख में निहित प्रशस्ति की रचना का कार्य उसे ही सौंपा था।[2] भारद्वाज-गोत्र के नंदिमित्र के पौत्र एवं रेचि के पुत्र नंदि का उल्लेख, 1214 ई० गणपवरं अभिलेख के रचयिता के रूप में हुआ है।[3] केवल अपनी उपाधि 'कवि-चक्रवर्तिन' के नाम से ज्ञात एक अन्य लेखक ने गणपतिदेव के तिथिविहीन पाखल अभिलेख की रचना की, जिसे लगभग 1245 ई० का बताया गया है।[4] रुद्रमदेवी के शक सं० 1195 (1273 ई०) के कोटगिरि ताम्रपत्रों के दान ग्रहण कर्त्ताओं की सूची में द्राविड़ उंजिपिर 'कवि' अंनि-'कवि', एवं सूरि 'कवि' नामक तीन कवियों के नाम भी हैं, हालांकि उनकी उपलब्धियों के संबंध में कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञात नहीं है।[5] 1290 ई० में किसी गोविंदभट्ट के नाती, अंनतसूरि ने कुमार रुद्रदेव के सामंत इम्मडि मल्लिकार्जुन नायक के पानुगल अभिलेख की रचना की।[6] किंतु उस युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध 'प्रशस्तिकार' ईश्वर भट्टोपाध्याय अथवा ईश्वर सूरि था, जो मल्याल जाति के बोथपुर अभिलेखों का रचयिता था। ईश्वर तरणिकण्टि परिवार के मयूरार्य का पुत्र था, जो स्वयं ही प्रसिद्ध लेखक प्रतीत होता है। उसने पाणिनि के व्याकरण एवं 'पद-क्रम' सहित यजुर्वेद में दक्षता प्राप्त कर ली थी तथा वह 'चित्र कवित्व' में भी अत्यंत निपुण था। बोथपुर अभिलेखों को उसकी काव्यात्मक रचनाओं की कला के उदाहरण मान सकते हैं। इनमें ऐसे पद्य हैं जो कंठ्य अथवा तालव्य अथवा मूर्धन्य अथवा दंत्य विहीन व्यंजनों से युक्त हैं तथा 'भ्रमकों' एवं 'बंधों' में रचे गए हैं।[7]

इस काल के दौरान इन अभिलेखीय कवियों द्वारा जैसा कि उन्हें कहा जाता है, संस्कृत साहित्य के अभिवर्धन के लिए दिए गए योगदान का हमें ज्ञान नहीं है। किंतु उनके 'प्रशस्ति-काव्य' हमें तत्कालीन साहित्यिक मानदंडों में अंतदृष्टि प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त भी सामान्य रूप से संस्कृत साहित्य के लिए काकतीय कवियों का योगदान कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस काल में अध्ययन के अनेक क्षेत्रों से संबंधित महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई। अगस्त्य ने, जिसे कुछ विद्वानों ने विद्यानाथ माना है, कम से कम 74 ग्रंथ लिखे, किंतु उनमें से केवल तीन ही प्राप्य हैं। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'बाल भारत' नामक एक महाकाव्य है, जो वास्तव में महाभारत का संक्षिप्त रूप है। आगामी शताब्दियों के दौरान यह काव्य अत्यंत लोकप्रिय हुआ और दक्षिण में इसका व्यापक अध्ययन होता था। विजयनगर के कृष्णदेवराय (1509-30 ई०) के 'शिरः प्रधान' 'सालुव तिम्म' ने मनोहर नामक उस पर टीका लिखी। अगस्त्य ने 'नलकीर्तिकौमुदी' नामक चार सर्ग का खंडकाव्य भी लिखा। अगस्त्य की एक विशिष्ट छात्रा गंगादेवी नामक प्रसिद्ध कवयित्री थी। वह विजयनगर के कुमार कम्पण की पत्नी तथा 'मधुरा-विजयं' अथवा 'कम्परायचरित्र' की लेखिका थी। इस काल का एक अन्य प्रसिद्ध काव्य लेखक, ख्यातिप्राप्त विद्वान एवं कवि शाकल्य मल्ल अथवा शाकल्य मल्लु भट्ट था जो प्रतापरुद्र के दर-बार का आभूषण बताया जाता है। उसने 'उदात्तराघव-काव्य' एवं 'निरोष्ठ्य-रामायण' नामक दो ग्रंथ लिखे, जिनमें से पूर्वोक्त ग्रंथ अधिक लोकप्रिय हुआ था, क्योंकि आगामी शताब्दियों में उस पर दो टीकाएं लिखी गई थीं। प्रतापरुद्र के दरबार के एक जैन कवि अप्पयार्य ने 'जिनेंद्र कल्याणाभ्युदय' अथवा 'अर्हत्प्रतिष्ठा' नामक काव्य की रचना की, जो उसने रविवार 20 जनवरी 1230 ई० के दिन, काकतीयों की राजधानी वारंगल में पूर्ण किया था।

काव्य के बाद नाटक का महत्व है। यद्यपि इस युग के नाट्यकारों द्वारा संस्कृत साहित्य के सभी दस प्रकार के नाटकों की रचना हुई, फिर भी भास, कालिदास एवं भवभूति के नाटकों जैसे प्रथम श्रेणी का कोई नाटक नहीं लिखा गया। किंतु कुछ नाटक जो पीढ़ियों से प्राप्त हैं, अपने साहित्यिक गुणों एवं कलात्मक श्रेष्ठता के कारण मान्यता के अधिकारी हैं। इस काल का सर्व-प्रथम उल्लेखनीय नाट्यकार गंगाधर है। वह केवल गंगादेवी के 'मधुराविजयं' के उल्लेख से ही ज्ञात है, जिसमें यह कहा गया है कि उसने 'महाभारत' की कथा को नाट्यरूप दिया था। यद्यपि उस युग में वह नाटक अत्यंत लोकप्रिय था, किंतु अब वह प्राप्त नहीं है। अतः उसके महत्व अथवा उसके लेखक की काव्यात्मक प्रतिभा का मूल्लांकन करना संभव नहीं है। गंगाधर ने कवि अगस्त्य की बहन से विवाह किया। इस विवाह से उसके दो पुत्र हुए— विश्वनाथ एवं नरसिंह, जिन्होंने संस्कृत नाटक के क्षेत्र में प्रचुर ख्याति प्राप्त की। विश्वनाथ ने 'सौगन्धिकाहरण' नाटक लिखा, जो स्पष्टतया 'महाभारत' के 'अरण्यपर्व' में निहित उस प्रसिद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घटना पर आधारित है, जो द्रोपदी के लिए 'सौगंधिक' पुष्प लाने के यक्षों के प्रदेश में भीमसेन की यात्रा से संबंधित है। नरसिंह अपने भाई की अपेक्षा अधिक प्रतिभासम्पन्न लेखक था। कहा जाता है कि उसने संस्कृत साहित्य के सभी दसों प्रकार के नाटकों की रचना की किंतु दुर्भाग्यवश केवल 'कादम्बरी कल्याणनाटक' को छोड़कर अन्य सभी नाटक नष्ट हो गए हैं। नरसिंह ने काकतीयचरित' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखा यह ज्ञात नहीं कि वह गद्य में था अथवा पद्य में। राविपाटि त्रिपुरांतक को 'प्रेमाभिरामं' का लेखक बताया जाता है। यह संस्कृत नाटक के मान्य दस प्रकारों में से विधि नाटक का उदाहरण है। मूल नाटक तो प्राप्त नहीं है, किंतु विजयनगर नरेश हरिहर द्वितीय (1378-1404 ई०) के काल में विनुकोंड दुर्ग के गवर्नर बल्लभराय द्वारा रचित 'क्रीड़ाभिरामं' नामक 14वीं शताब्दी के तेलुगु अनुवाद से उसके संबंध में पता चलता है। 'विधि नाटक' के रूप में उसके कुछ भी गुण हों किंतु वह निस्संदेह ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रतापरुद्र के शासन काल के दौरान, काकतीय राजधानी वारंगल के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का वर्णन करता है।

दक्कन में ईसा सं० की 14 वीं शताब्दी को 'अलंकार शास्त्र' का स्वर्ण युग मानना चाहिए। इस काल में इस विषय के अध्ययन एवं अन्वेषण में महान प्रगति हुई तथा अपनी मौलिकता एवं गूढ़ता के लिए प्रसिद्ध अनेक ग्रंथों की रचना हुई। इनमें से विद्यानाथ कृत 'प्रतापरुद्र-यशोभूशण' निस्संदेह सर्वोत्तम रचना है, जिसे अलंकार शास्त्र पढ़ाए जाने वाले सभी संस्थानों में आज भी मानक ग्रंथ माना जाता है। विद्यानाथ अपने युग का महानतम विद्वान था। वह प्रतापरुद्र का राजकवि था, जिसे उसने अपना ग्रंथ समर्पित किया। सायण, विश्वेश्वर एवं सिंग भूपाल जैसे अन्य लेखकों ने उसका अनुकरण किया, किंतु चूंकि उन्होंने अपनी रचनाएं 1323 ई० में काकतीय राजतंत्र के अंत होने के बाद लिखीं, अत: वर्तमान संदर्भ में उनकी चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

काकतीयों के संरक्षण में संगीत एवं ललित कलाएं भी पल्लवित हुईं। काकतीय काल में संगीत एवं नृत्य कलाएं कितनी लोकप्रिय थीं—इसका प्रमाण इस युग के कुछ प्रसिद्ध मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण संगीतज्ञों एवं नर्तकों के चित्रण से मिलता है। उदाहरणार्थ, आंध्रप्रदेश के वारंगल जिले में पालम्पेट का रामप्प मंदिर लिया जा सकता है। पाल्कुरिकि सोम ने अपने ग्रंथ 'पण्डिताराध्यचरित्र' में तत्कालीन संगीतज्ञों में प्रचलित वाद्ययंत्रों एवं 'रागों' का उल्लेख किया है। गणपतिदेव के 'गज-साहिणि' जायन ने 'गीत रत्नावली' की रचना की। इसके अतिरिक्त उसने वाद्ययंत्रों के विषय पर 'वाद्यरत्नावली' नामक ग्रंथ भी लिखा था। ये दोनों ही ग्रंथ प्राप्त नहीं है। किंतु नृत्य विधा संबंधी 'नृत्तरत्नावली' नामक उसका ग्रंथ सौभाग्यवश कालांतर के विध्वंस से बच गया है। 'नृत्तरत्नावली' का विभाजन, 'मार्ग' एवं 'देशि' नामक दो प्रकार के नृत्यों के वर्णन से हुआ है। दोनों पर चार-चार अध्याय लिखे गए हैं। यह नृत्य संबंधी सर्वोत्तम ग्रंथों में से एक है, जो 'मार्ग' व्यवस्था के लिए अभिनवगुप्त एवं कीर्तिधर तथा 'देशि' के लिए मतंग का अनुकरण करता है।[8] तकनीकी विषय की कृति होते हुए भी, 'नृत्तरत्नावली' साहित्यिक गुणों से विहीन नहीं है। लेखक ने पर्याप्त काव्यात्मक प्रतिभा एवं संस्कृत भाषा एवं उसके छंदशास्त्र पर अद्भुत अधिकार का प्रदर्शन किया है।

यद्यपि कवियों एवं अन्य साहित्यकारों ने सामान्यतया पद्य का ही प्रयोग किया है, फिर भी गद्य रचनाओं का प्रतिनिधित्व हुए बिना न रहा। अगस्त्य ने 'कृष्णचरित' की रचना की, तथा उसके भांजे नरसिंह ने 'मलयवती' नामक 'गद्यकाव्य' की रचना करके उसका अनुकरण किया। पूर्वोक्त ग्रंथ तो प्राप्य है, जबकि 'मलयवती' के विषय में वारंगल स्थित काकतीय मंदिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अभिलेख के एक लेख से ही पता चलता है। संस्कृत व्याकरण का भी विस्तृत अध्ययन होता था। यह स्मरणीय है कि अभिलेखीय कवि ईश्वरभट्टोपाध्याय ने पाणिनि के व्याकरण के पूर्ण ज्ञान का दावा किया है। यदि उस काल में शिक्षित जनता द्वारा व्याकरण के अध्ययन को अधिक सम्मान नहीं दिया गया होता, तो वह भी व्याकरण संबंधी अपनी दक्षता का बखान न करता। इस विषय पर लिखे जाने वाले अनेक नवीन ग्रंथों की रचना से भी व्याकरण की लोकप्रियता का परिचय मिलता है। 'मुद्राक' (मुद्रा रखने वाला) गन्न के पुत्र एवं प्रतापरुद्र के 'प्रधानि', कोलनि रुद्रदेव ने 'राजरुद्रीय' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा, जो 'श्लोकवार्त्तिक' की टीका के रूप में था। 'श्लोकवार्त्तिक' स्वयं मौलिक ग्रंथ नहीं है; यह पतंजलि कृत 'महाभाष्य' में उद्धृत 'वार्त्तिक' स्वरूप के छंदसंबंधी विवरण ही प्रस्तुत करता है। 'राजरुद्रीय' के अतिरिक्त, लगभग इसी समय में अन्य विषयों पर भी अनेक टीका ग्रंथों की रचना हुई। काकतीय काल धार्मिक गतिविधियों का भी काल था। फलस्वरूप अनेक महत्वपूर्ण दार्शनिक एवं धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की रचना हुई। यद्यपि इनमें से अधिकांश ग्रंथ क्षेत्रीय भाषाओं में रचे गए थे, किंतु कुछ की रचना संस्कृत में भी हुई। प्रतापरुद्र के दरबार के 'ब्राह्मणाधिकारिन् गुण्ड्याभट्ट' ने श्रीहर्ष कृत 'खण्डनखण्ड' नामक अद्वैत के उच्च कोटि के ग्रंथ पर टीका लिखी। गुण्ड्य अध्यययशील विद्वान था, जो 'वेद-शास्त्र' एवं 'स्मृति' में निपुण था। ऐसा प्रतीत होता है कि अद्वैत के प्रति लगाव, उसे अपने पिता राजमहेंद्र से प्राप्त हुआ, जो स्वयं विशिष्ट वेदांतिन् था। किंतु पाल्कुरिकि सोम-नाथ कृत 'माहेश्वर-सारोद्धार', जो 'सोमनाथ-भाष्य' के नाम से भी ज्ञात है, तथा 'रुद्रभाष्य' भिन्न स्वरूप की रचनाएं हैं। इनमें से 'रुद्रभाष्य', स्पष्टतः यजुर्वेद के 'रुद्राध्याय' पर लिखी गई व्याख्या है, किंतु यह प्राप्त नहीं है। 'माहेश्वर-सारोद्धार' 25 अध्यायों का ग्रंथ है, जिसमें लेखक ने अन्य धर्मों की तुलना में शैवधर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया है। अपने दावे के समर्थन में उसने 'वेदों', 'स्मृतियों,' 'पुराणों' एवं 'आगमों' तथा हरदत्ताचार्य के 'चतुर्वेद-सार संग्रह' से उद्धरण दिए हैं। यद्यपि 'सोमनाथ-भाष्य', विहंगम पांडित्य एवं अद्वितीय दक्षता प्रदर्शित करता है, फिर भी उसे सामान्य लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी और वास्तव में वीर-शैव समाज के बाहर बहुत कम लोगों को ही उसकी जानकारी है।

तेलुगु

नन्नयभट्ट के पश्चात, लगभग एक शताब्दी (1060-1160 ई०) तक तेलुगु साहित्य का विघटन ही हुआ, क्योंकि इस काल में इस साहित्य के इतिहास को प्रभावित करनेवाला कोई लेखक नहीं हुआ। किंतु साहित्यिक गतिविधि पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हुई थी। आंशिक अथवा पूर्णरूपेण तेलुगु पद्यों में रचित अभिलेखों के प्रमाणों से पता चलता है कि कविता को अब भी पोषित किया जाता था तथा इस युग के शासक एवं प्रभावशाली व्यक्ति अब भी अध्ययन के प्रेमी थे और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते थे, इन अभिलेखों में सामंतीय कुमारों एवं उनके मंत्रियों को प्रायः कवियों के संरक्षकों के रूप में उल्लिखित किया गया है, किंतु वे विरल ही किसी विशेष लेखक अथवा उन साहित्यिक रचनाओं का उल्लेख करते हैं जिनके माध्यम से उन्हें विशिष्टता एवं प्रसिद्धि मिली। कभीकभी अभिलेख के रचयिता के रूप में इधर-उधर किसी तेलुगु कवि का का नाम मिल जाता है। गूंटूर जिले में चेब्रोलु के शक सं० 1067 (1145 ई०) के अभिलेख में वर्णित भीमय पण्ड को प्राचीन कवियों के समान ही 'मार्ग' एवं 'देशि' शैलियों में पद्य रचना करने में दक्ष बताया गया है। वह संभवतः वही लेखक था जिसने इस अभिलेख में निहित प्रशस्ति की रचना की[9]। मयूरराय का पुत्र ईश्वर भट्टोपाध्याय भी प्रसिद्ध कवि था। उसे मल्यालों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अपने बोथपुर अभिलेखों में सम्मिलित वंशीय 'प्रशस्ति' की रचना के लिए नियुक्त किया था। वह पाणिनि के व्याकरण में दक्ष, 'शब्द-विद्या' (शब्द-विज्ञान) में चतुर तथा 'विचित्र-कवित्व' (अलंकारपूर्णकाव्य) का ज्ञानी बताया जाता है। यद्यपि उसकी अधिकांश रचनाएं संस्कृत पद्यों में हैं, फिर भी उनमें लंबे लंबे अवतरण तेलुगु भाषा में भी हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि वह परिनिष्ठित भाषा में जितना प्रवीण था उतना ही प्रांतीय भाषा में भी।[10] अज्ञात रचनाएं होते हुए भी तेलुगु पद्य अभिलेखों पर, उनके साहित्यिक गुणों तथा भाषा, व्याकरण एवं छंद संबंधी विशेषताओं के कारण, विशेष ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ, उनमें से बेत द्वितीय कालीन गूडूर अभिलेख, गंगाधर का करीमनगर अभिलेख, काट का उप्परपल्ले अभिलेख, ओपिलिसिद्धि का कोणिदेन अभिलेख तथा जगतापि गंगयदेव के ताल्ल-प्रोद्दुटूर जैसे कुछ अभिलेख,[11] उच्च-कोटि के काव्यात्मक गुणों को प्रदर्शित करते हैं और उन्हें काकतीय काल के अभिलेखीय साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नमूने मान सकते हैं।

इतिहास : (i) रामायण : शैव एवं वीर-शैव जैसे धार्मिक आंदोलनों द्वारा उद्भूत बौद्धिक गतिविधियों ने तेलुगु साहित्य को नवीन प्रेरणा दी और कम से कम 13 वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से पर्याप्त साहित्यिक महत्व के ग्रंथों की अविरल धारा प्रकट होने लगी। यह स्वाभाविक ही था कि सर्वप्रथम 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे राष्ट्रीय महाकाव्यों ने तेलुगु लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। रामायण पर अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उनकी रचना में प्रयुक्त छंदों के आधार पर इनकी दो श्रेणियां होती हैं : 'पद्य' एवं 'द्विपद काव्य'। 'रामायण' अथवा अन्य किसी भी विषय पर लिखे गए काव्य, जैसा कि उनके वर्गीय नाम से पता चलता है, केवल पद्यों में ही नहीं रचे गए। वे 'चंपू' अर्थात मिश्रित रचनाएं हैं, जिनमें लेखक की इच्छानुसार ही 'द्विपद' एवं 'गद्य' अर्थात अलंकृत गद्यांशों को छोड़कर विभिन्न छंदों का प्रयोग हुआ। तिक्कन कृत 'निर्वचनोत्तर रामायण' एकाकी अपवाद है, जो केवल पद्यों में ही है। तिक्कन का पितामह मंत्री भास्कर, जो लगभग 12 वीं शताब्दी के अंत में हुआ होगा, संभवतः 'रामायण' के विषय पर तेलुगु में कविता लिखने वाला पहला लेखक था। इस विश्वास का आधार तिक्कन का वक्तव्य है जो उसने अपने 'निर्वचनोत्तर रामायण' की भूमिका में दिया है। इसमें कहा गया है कि विद्वान जनता उसकी कविता को कृपा की दृष्टि से देखेगी, यदि उसके आन्तरिक गुणों के कारण नहीं तो पितामह मंत्री भास्कर से उसके संबंधों के कारण जो स्वयं अपनी काव्यात्मक श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध था।[12] रामायण के मुख्य भाग अर्थात प्रथम छः कांडों को छोड़कर, तिक्कन ने अपने 'निर्वचनोत्तर रामायण' के लिए केवल 'उत्तरकांड' को चुना। इस तथ्य को यदि उपर्युक्त वक्तव्य के साथ देखें तो मालूम पड़ता है कि मंत्री भास्कर ने छः कांडों से युक्त 'रामायण' विषयक कविता लिखी और तिक्कन ने उत्तरकांड की रचना करके अपने दादा के ग्रंथ को पूर्ण किया। परंपरानुसार मंत्री भास्कर द्वारा रची गई यह कविता अब प्राप्त नहीं हैं। किंतु यह असंभव नहीं कि उसके कुछ अंश 14 वीं शताब्दी की 'भास्कर रामायण' में मिला दिए गए हों। 'रामायण' संबंधी शेष तेलुगु ग्रंथों में निस्संदेह तिक्कन की 'निर्वचनोत्तर रामायण' सबसे पहली रचना है। वह लगभग 1260 ई० में लिखी गई होगी, क्योंकि वह नेल्लोर के राजा मनुम सिद्धि द्वितीय को समर्पित की गई है, जिसने 1248 ई० से 1263 ई० तक राज्य किया था। इसमें कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख है, जो 1250 ई० के बाद घटी थीं। दस आश्वासों अथवा सर्गों में विभक्त यह कविता, मुख्यरूप से संस्कृत के उत्तरकांड का संक्षिप्त रूप है। राम के 'निर्वाण' अर्थात मृत्यु से संबंधित अंतिम घटना को छोड़ दिया गया है। यह कविता अब भी लोकप्रिय है तथा इसका सम्मान करने वाले विद्वान उसे बड़े

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाव से पढ़ते हैं। यद्यपि इसमें तिक्कन की काव्यात्मक कला की सभी विलक्षणताएं हैं, फिर भी यह काव्य उस कवि के ही 'महाभारत' ग्रंथ की तुलना में अत्यंत अपरिपक्व समझा जाता है। निस्संदेह, शैली कठिन एवं शोभायुक्त है, शब्दविन्यास साधारण एवं घरेलू, कल्पना आभायुक्त एवं आकर्षक है तथा साहित्यिक कौशल सर्वोत्कृष्ट है। फिर भी उसके 'महाभारत' ग्रंथ में पाई जाने वाली शैली की परिपक्वता, धारणाओं की भव्यता तथा विचारों की पवित्रता जैसी विशेषताएं इस काव्य में कम ही दृष्टिगोचर होती हैं। समय की दृष्टि से अगला प्रसिद्ध ग्रंथ 'भास्कर-रामायणं' है। यह मिश्रित ग्रंथ है, जिसमें कम से कम पांच लेखकों की रचनाएं हैं। ये पांच लेखक हैं, भास्कर का पुत्र मल्लिकार्जुनभट्ट, मारय पुत्र कुमार रुद्रदेव, भास्कर, हुलक्कि भास्कर एवं प्रसिद्ध शाकल्य मल्लुभट्ट का वंशज अय्यलार्य। सामान्यतया अब भी, मान्य विश्वास के विपरीत, ये कवि समकालीन नहीं थे और न ही उन्होंने संयुक्त साहित्यिक प्रयास के लिए एक दूसरे का साथ दिया। इन पांचों में से अंतिम लेखक अर्थात अय्यलार्य, 15वीं शताब्दी के आरंभ में वेलम कुमार पेद-वेदगिरि नायडु के दरबार में देवरकोंड में रहता था। इस ग्रंथ की अधिकांश ताड़-पत्रक पांडुलिपियों के अनुसार, उसने 'रामायण' का 'युद्ध कांड' पूर्ण किया, जिसे अपने संरक्षक के कहने पर हुलक्कि भास्कर ने अपूर्ण छोड़ दिया था। मारय पुत्र कुमार रुद्रदेव, निस्संदेह ही मारय साहिणि रुद्रदेव अर्थात मारय साहिणि अथवा साहिणि मार का पुत्र रुद्रदेव था, जिसे गुंटूर जिले के सत्तेनपल्ले 'तालुक' में नेवलिकल्लु से प्राप्त शक सं० 1233 विरोधिकृत (1311 ई०) के अभिलेख में राजा प्रतापरुद्र का सामंत बताया गया है।[13] अन्य तीन कवियों का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किंतु यह विश्वसनीय है कि 'बाल-, किष्किंधा-एवं सुंदर-कांडों' का लेखक मल्लिकार्जुनभट्ट, कुमार रुद्रदेव एवं उसके पिता साहिणि मार से पहले हुआ था। सामान्यतया ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि 'भास्कर-रामायण' के लेखकों ने उसे साहिणि मार को ही समर्पित किया था। अंतः साक्ष्यों से पता चलता है कि उस विश्वास का सुदृढ़ आधार नहीं है। मल्लिकार्जुनभट्ट द्वारा रचित तीनों कांडों के आरंभ एवं अंत में दिए गए समर्पण संबंधी पद्यों के परीक्षण से पता चलता है कि उसने इन कांडों को मूलतः शिव को समर्पित किया था, किंतु बाद में किसी ने कुछ नवीन पद्य जोड़कर उसे साहिणि मार को पुनः समर्पित करने का प्रयास किया। यह खोजना कठिन नहीं है कि इस प्रकार के पुनः समर्पण का प्रयास करने वाला व्यक्ति कौन था। प्रकाशित पाठ एवं अधिकांश ताड़पत्र पांडुलिपियों में 'अयोध्या कांड' को कुमार रुद्रदेव द्वारा रचित बताया गया है, किंतु अनेक पांडुलिपियों में इसके कृतित्व का श्रेय भास्कर को दिया गया है, जो 'अरण्य कांड' का लेखक है। इन पांडुलिपियों में 'अयोध्या कांड' के अंतिम पृष्ठ के विवरणों में भास्कर का नाम एवं प्रशस्ति मिलती हैं। इसके अतिरिक्त, अंत में दिए गए समर्पण संबंधी पद्य भी 'अरण्य-कांड' जैसे ही हैं जिनमें सामान्य संबुद्धि (संबोधन पद) के स्थान पर 'विभक्तयंत' दिए गए हैं। इस प्रमाण के अतिरिक्त 'अरण्य कांड' के समान ही इसके अंत में भी 'सीस' छंद में एक पद्य है जिसमें 'कांड' की विषय सामग्री का संक्षिप्त रूप एवं उसको पढ़ने वाले व्यक्तियों को मिलने वाले धार्मिक पुण्य का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि 'अरण्य कांड' के समान ही 'अयोध्या कांड' भी भास्कर द्वारा रचा गया और बाद में कुछ अज्ञात परिस्थितियों में 'अयोध्या कांड' के समर्पण पद्य एवं अंतिम पृष्ठ के विवरणों को कुमार रुद्रदेव ने परिवर्तित कर दिया, ताकि वह उसी की रचना लगे। इसके बाद ही उसने इसे अपने पिता साहिणि मार को समर्पित किया। अन्य कांडों, विशेषकर किष्किंधा एवं सुंदर कांड में साहिणि मार को समर्पित पद्यों को जोड़ने का फूहड़ प्रयास उत्तरकालीन उत्साही लिपिकों एवं संशोधकों के कारण हुआ होगा। ये साहिणि मार की अप्रामाणिक कथा से अत्यंत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रभावित थे। इस कथा के अनुसार राजा द्वारा 'द्विपद-रामायण' के लेखक रंगनाथ को दी गई प्राथमिकता से क्रुद्ध होकर, भास्कर ने झल्लाकर अपनी रचना राजा के अश्वपाल साहिणि मार को समर्पित कर दी। यह स्पष्ट है कि वर्तमान रूप में 'भास्कर रामायणं' मिश्रित रचना है, जिसमें विभिन्न कालों के अनेक लेखकों ने अपना योगदान दिया। किंतु उसे काकतीय युग की ही कृति मानना चाहिए क्योंकि अय्यलार्य को छोड़कर, उससे संबंधित सभी कवि काकतीय काल में पल्लवित हुए।

'भास्कर-रामायणं' वाल्मीकि के संस्कृत महाकाव्य का अनुवाद नहीं है, अपितु तेलुगु भाषा में रामकथा का स्वतंत्र प्रस्तुतीकरण है। इसमें संदेह नही कि इस ग्रंथ के लेखकों ने वाल्मीकि के वृतांत का अत्यंत सूक्ष्मता से अनुकरण किया, किंतु उन्होंने पूर्ण रूप से ही उसे अपनी शैली में प्रस्तुत किया और उसके काव्य में से कोई भी अंश प्रत्यक्ष रूप से नहीं लिया। चूंकि भिन्न कांडों के लेखक अलग-अलग हैं अत: कविता की शैली भी एक रूप नहीं है। किंतु संपूर्ण ग्रंथ में महाकाव्य की भव्यता के अनुरूप ही शैली अत्यंत शोभायुक्त और शानदार है। दक्ष आलोचकों के अनुसार, साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टिकोणों से भास्कर कृत 'अरण्य कांड' इस रामायण का सर्वोत्तम अंश है। शैली सशक्त एवं प्रभावोत्पादक है, भाषा सीधी एवं साधारण तथा संस्कृत के लंबे समासों एवं अत्यधिक अलंकरण से मुक्त है, पद्यों का प्रवाह भी स्वाभाविक एवं आत्मस्फुरित है, और अनावश्यक विवरणों से रुके बिना ही वृतांत सुगमता से आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। मल्लिकार्जुनभट्ट की शैली अधिक संस्कृत निष्ठ एवं अलंकृत है। उसके सर्वोत्तम अंश 'किष्किंधा एवं सुंदर कांड' हैं। हुलक्कि भास्कर की शैली ओजस्वी एवं शोभायुक्त है, उसके पद्यों का प्रवाह आत्मस्फुरित हैं, उसका वृतांत स्पष्ट है और युद्ध के दृश्यों के वर्णन भी उत्साहपूर्ण तथा विषय सामग्री के अनुरूप हैं। अय्यलार्य ने हुलक्कि भास्कर के अपूर्ण 'युद्ध कांड' को पूरा किया और उसकी शैली भी उसी से मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने जानबूझ कर अपने पूर्वज की शैली का अनुकरण किया, ताकि संपूर्ण कांड एक ही लेखक की रचना प्रतीत हो। इस प्रयास में वह अत्यंत सफल रहा। अय्यलार्य, निस्संदेह महान कवि था। उसने आधे से अधिक 'युद्ध कांड' (2690 में से 1,556 पद्य) की रचना ऐसी शैली में की, जो हुलक्कि भास्कर की शैली से भिन्न न थी। यह तथ्य ही उसकी उच्च काव्यात्मक प्रतिभा का प्रमाण है। यद्यपि उत्तरकालीन शताब्दियों में वाल्मीकि के महाकाव्य के शाब्दिक अनुवादों एवं संक्षिप्त संस्करणों के रूप में अनेक 'पद्य-रामायणों' की रचना हुई, किंतु कोई भी भव्यता, कलात्मक पूर्णता एवं साहित्यिक श्रेष्ठता में 'भास्कर-रामायणं' की तुलना नहीं कर सकती, जो आज भी तेलुगु भाषा का उच्च कोटि का ग्रंथ कहलाने का अधिकारी है।

काकतीय युग ने एक अन्य रामायण महाकाव्य को जन्म दिया। यह द्विपद छंद में रची 'रंगनाथ-रामायणं' थी। द्विपद अर्थात दोपदी पद्य इसी युग में परिपक्व हुआ। इसमें अंग्रेजी के दो पंक्तियों के पद (Couplet) के समान ही यति एवं प्रास से जुड़ी दो पंक्तियां होती हैं। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि द्विपद की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, किंतु गुणग विजयादित्य (848-92 ई०) के अभिलेखों में तरुवोज जैसे समान छंदों को देखते हुए[14] यह असंभव प्रतीत नहीं होता कि वह भी लगभग उसी समय प्रचलित हुआ। किंतु यह सत्य है कि 14 वीं शताब्दी से पहले की द्विपद रचना का कोई भी उदाहरण हमारे पास नहीं है। साहित्य अथवा अभिलेखों में इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह स्वदेशी छंद है, जो गाने के लिए अत्यंत उपयुक्त है। अधिकांशत: अशिक्षित जनता में संप्रदाय के विचारों को फैलाने के लिए विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के प्रचारकों ने भी इसका पर्याप्त प्रयोग किया। इस काव्यरचना के लेखक के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम तथा तिथि के संबंध में दीर्घकाल से विवाद वना हुआ है। परंपरानुसार इसकी रचना कवि रंगनाथ द्वारा हुई बताई जाती है, क्योंकि उसका नाम इसमें सम्मिलित है। वास्तव में 14वीं शताब्दी के आरंभ में रंगनाथ नामक एक वैष्णव कवि था, जो धार्मिक विवाद में प्रसिद्ध वीर शैव देव पाल्कुरिकि सोमनाथ से पराजित होने पर उसका शिष्य बन गया और वीर शैव धर्म को अपना लिया। किंतु काव्य की प्रस्तावना एवं अंतिम पृष्ठ में यह कहा गया है कि वह किसी बुद्धराज की रचना थी, जो (अपनी कविता की प्रस्तावना में) अपनी उत्पत्ति गोन वंश के काट से बताता है और विट्ठल, बुद्ध एवं रुद्र को क्रमश: अपना पिता, पितामह एवं अज्ञात परम पितामह बताता है। यद्यपि काकतीय सम्राटों के अभिलेखों में इस वंश के अनेक प्रमुखों को उनके सामंतों एवं सहायकों के रूप में चित्रित किया गया है किंतु वास्तव में बुद्धराज एवं उसके पूर्वजों के संबंध में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। शायद यह असंभव नहीं है गणपतिदेव का गोन काट नामक मंत्री जो अल्लुन तिक्क महाराज गंडगोपालदेव के शासनकाल के 5वें वर्ष (?) (1255 ई०) के एक अभिलेख में वर्णित है,[15] हमारा गोन काट ही है। महबूबनगर जिले में बोथपुर के शक सं० 1198 धात्रि (1277 ई०) के अभिलेख में गोन बुद्धय को मल्याल गुंड की पत्नी कुप्पांबिका का पिता बताया गया है[16] और वह वास्तव में 'रंगनाथ-रामायणं' के दो बुद्ध-राजों में से एक था। चाहे कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह काव्य काकतीय युग की ही प्रमाणिक रचना है और इसकी रचना का काल लगभग 14 वीं शताब्दी के मध्य में रखा जाना चाहिए। 'रंगनाथ-रामायणं' तेलुगु के द्विपद-काव्यों में महानतम रचना है और यद्यपि वह वाल्मीकि के काव्य की कथा का अत्यंत निकट से अनुकरण करती है, फिर भी उसमें कुछ ऐसी घटनाएं हैं, जो संस्कृत के महाकाव्य में नहीं मिलती हैं। बुद्धराज वस्तुत: महान कवि है। शैली की एकरूप श्रेष्ठता एवं परिपूर्णता, उसकी उत्कृष्ट कलात्मक दक्षता एवं काव्यात्मक कला में उसकी निपुणता को ही प्रमाणित करती है। माधुर्यपूर्ण भाषा से युक्त उसके द्विपद सरलता एवं द्रुत गति से थिरकते प्रतीत होते हैं और वर्णन भी एक घटना से दूसरी की ओर भव्यता से बढ़ता है। अभिव्यक्ति के लालित्य कल्पना के आकर्षण एवं सौंदर्य और उदारहणों की उपयुक्तता की दृष्टि से तेलुगु में शायद ही कोई अन्य 'द्विपद-काव्य' हो, जिसकी तुलना बुद्धराज कृत 'रंगनाथ-रामायणं' से की जा सके। इसी रचना से संबंधित 'उत्तर-कांड' है जिसे बुद्धराज के पुत्रों काच और विट्ठल ने अपने पिता के ग्रंथ को पूर्ण करने के लिए लिखा। किंतु साहित्यिक दृष्टि-कोण से 'रंगनाथ-रामायण' के पूरक के रूप में 'उत्तर कांड' अत्यंत निकृष्ट है। इनके अतिरिक्त विद्दि कूचि द्वारा रचित छ: कांड वाली किंतु अप्राप्य 'विद्दिकूचि रामायण' का भी उल्लेख करना चाहिए। क्योंकि वह गाने एवं उच्चारण के लिए अत्यंत उपयुक्त यक्षगान प्रकार की रचना प्रतीत होती है।

(ii) **महाभारत** : काकतीय युग में आंध्र महाभारत भी पूर्ण हुआ। इसका आरंभ 11वीं शताब्दी में पूर्वी चालुक्य नरेश, राजराज नरेंद्र के दरबारी कवि नन्नयभट्ट ने किया था। अपनी रचना के प्रारंभ से दो शताब्दियों तक वह ग्रंथ अपूर्ण रहा। 13 वीं शताब्दी के मध्य में नेल्लोर के तेलुगु चोल नरेश मनुम सिद्धि द्वितीय के मंत्री एवं राजकवि, तिक्कन सोमयाजी ने उसे पुन: लिखना आरंभ किया और समाप्त किया। तिक्कन को उचित ही कवि ब्रह्म, अर्थात कवियों में ब्रह्म (सृजन कर्ता) कहा गया हैं। वह महान तेलुगु कवि है और उसका 'महाभारत' —विराट-पर्व से स्वर्गारोहण-पर्व तक अर्थात 18 में से 15 पर्व—को सब तेलुगु भाषा की भव्यतम रचना मानते हैं। सामान्यतया इसे व्यास के महान संस्कृत महाकाव्य का अनुवाद समझा जाता है, लेकिन दक्ष आलोचकों का विचार है कि व्यास के ग्रंथ से संबंधित होते हुए भी वह अनुवाद न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होकर स्वतंत्र रचना है, जो अपने सौंदर्य एवं कलात्मक गुणों में संस्कृत ग्रंथ से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। यद्यपि अपने महान पूर्वज नन्नयभट्ट के समान तिक्कन ने भी संस्कृत 'महाभारत' की विषय सामग्री का अनुकरण किया, फिर भी वह उसके पाठ तक सीमित न रहा। संस्कृत महाकाव्य की मूल घटनाओं को अपनी आवश्यकतानुसार छोड़ने, संक्षिप्त करने अथवा विस्तृत करने में वह हिचिकिचाया नहीं। इससे उसकी मौलिकता प्रकट होती है और उसकी रचना 'महाभारत' के अनुवाद की अपेक्षा उसकी कथा को बताने वाला स्वतंत्र कविता प्रतीत होती है। निश्चय ही 'आंध्रमहाभारत' तेलुगु साहित्य का महान ग्रंथ है। नन्नयभट्ट की अपेक्षा तिक्कन की भाषा अधिक सरल है। यद्यपि यह संस्कृत का भी अच्छा पंडित था, किंतु वह सरल एवं घरेलू तेलुगु शब्दों का प्रयोग करने में स्पष्ट पक्षपात करता है। सभी युगों में तेलुगु लेखकों द्वारा पंसद किए जाने वाले संस्कृत के लंबे समासों एवं अभिव्यक्तियों का उसने प्रयोग नहीं किया। अपने लचीलेपन के कारण उसकी शैली अद्वितीय है, जिसमें विराट एवं उद्योग पर्वों की पवित्र भव्यता से लेकर शांति एव अनुशासिनक पर्वों की सूत्र सदृश विलष्टता के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। भाषा के प्रयोग में तिक्कन अत्यंत मितव्ययी है। उचित संदर्भों में सरल देशज शब्दों का अत्यंत प्रभावपूर्ण प्रयोग किया गया है और संपूर्ण विशाल महाकाव्य में शायद ही कोई अनावश्यक शब्द है। अपने संगठन एवं शक्ति में उसके पद्य, साइक्लोप कारीगरी से मिलते हैं जिसमें बिना किसी गारे के प्रयोग के तराशी हुई स्फटिक शिलाओं को सफाई से एक दूसरे के ऊपर रख दिया जाता है। यद्यपि वह पूर्ण दक्षता से सभी रसों को प्रदर्शित करता है किंतु वीर, श्रृंगार एवं करुण रसों के वर्णन में वह सर्वोत्कृष्ट है। उसके द्वारा दिए गए युद्धों एवं युद्ध दृश्यों के वर्णन, अपनी सजीवता एवं भव्यता के कारण संपूर्ण तेलुगु साहित्य में अद्वितीय हैं। वह विभिन्न अलंकारों के प्रयोग में स्पष्टत: निपुण है। उसकी उपमाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जो होमर एवं मिल्टन की उपमाओं से मिलती हैं और 'इलियड' एवं 'पैराडाइस लॉस्ट' में निहित ऐसे ही वर्णनों की याद दिलाते हैं। तिक्कन कृत 'महाभारत' की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएं, उसके वृत्तांत का निर्मल लचीलापन, उसके पद्यों की ओजस्वी शक्ति, तथा चरित्रों का विहंगम प्रदर्शन हैं। उसकी अतुलनीय शैली का जादू संस्कृत महाकाव्य के अस्पष्टतम चरित्र को भी हमारे सम्मुख नवीन जीवन एवं गतिविधि के रूप में प्रस्तुत करता है। तिक्कन की प्रतिभा ने व्यास के काव्य को नवीन सौंदर्य एवं भव्यता प्रदान की है और उसे आंध्र के राष्ट्रीय महाकाव्य में परिवर्तित कर दिया है जिसे प्रत्येक आंध्र निवासी के दिल में अनुपम स्थान प्राप्त है।

पुराण : राष्ट्र के दो महान काव्यों 'रामायण' एवं 'महाभारत' के समान पुराणों ने भी काकतीय युगीन कवियों का ध्यान आकर्षित किया। तिक्कन सोमयाजी के शिष्य मारन ने संस्कृत पुराण के आधार पर 'मार्कण्डेय-पुराण' की रचना की, जिसे उसने नगय गन्न को समर्पित किया। नगय गन्न प्रतापरुद्र के शासन काल के दौरान वारंगल का तलारि था। मारन कृत 'मार्कण्डेय पुराण' संस्कृत मूल का अनुवाद नहीं हैं, अपितु इस युग के अन्य 'आंध्रीकरणों' के समान ही चुने हुए अंशों का सार है, जिसमें धार्मिक एवं शिक्षाप्रधान अंशों की अपेक्षा वर्णनात्मक एवं वृत्तात्मक अंश अधिक प्रभावशाली हैं। मारन की शैली सरल है तथा संस्कृत के लंबे समासों से मुक्त है। अपने गुरु तिक्कन के समान, वह भी छोटे देशज शब्दों को अधिक पंसद करता है, जिन्हें वह अत्यंत दक्षता से सौंदर्य एवं आकर्षण युक्त सरस वाक्यों में गूंथ देता है। अत्यधिक अलंकरण से दूर रह कर वह जन्मजात कथावाचक की कलाविहीन सरलता से 'पुराण' की घटनाओं का वर्णन करता है।

काव्य : सम्भवत: इस काल के आरम्भ में ही तेलुगु काव्य का श्री गणेश हुआ। इसमें संदेह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
है कि 21 हजारी पाकनाडु के तेलुगु चोल शासक, नन्ने चोडदेव कृत 'कुमारसम्भव' प्राचीनतम तेलुगु काव्य है। नन्ने चोडदेव कब हुआ और उसने कब अपने काव्य की रचना की—इस संबंध में हमारे पास कोई निश्चित सूचना नहीं है। प्रस्तावना में उसके द्वारा दी गई निजी एवं पारिवारिक सूचना से कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता, और वास्तव में उसने प्रचुर अनुमान एवं विवाद को ही जन्म दिया है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि नन्ने चोडदेव ईसा की 10 वीं अथवा 11 वीं शताब्दी में हुआ था। प्राचीन भाषा एवं असाधारण व्याकरण रूप तथा कन्नड़ जैन साहित्य के आरंभिक ग्रन्थों पर उसके स्पष्ट प्रभाव से तो आरम्भिक तिथि का ही स्पष्टीकरण होता है। फिर भी अधिकांश तेलुगु विद्वानों एवं साहित्यिक आलोचकों का विचार है कि नन्ने चोडदेव कुछ बाद का लेखक था और वह 13वीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता। अपने 'काव्य' की प्रस्तावना में प्राचीन संस्कृत कवियों की प्रशस्ति देते हुए नन्ने चोड, स्वयं कालिदास एवं उद्भट् नामक एक अन्य कवि का उल्लेख करता है। इन दोनों ने ही 'कुमारसम्भव' नामक काव्यों की रचना की थी। यद्यपि नन्ने चोडदेव के काव्य में कालिदास के 'कुमारसम्भव' के कतिपय 'श्लोकों' का अनुवाद इधर उधर मिल जाता है, फिर भी उसका ग्रंथ, इन दोनों संस्कृत काव्यों पर आधारित नहीं है। वह तो काव्य शैली की स्वतंत्र रचना है। इसमें 'शैव-पुराणों' एवं कालिदास तथा उद्भट के 'कुमारसम्भवों' से ली गई शिव पार्वती के विवाह तथा युद्ध देवता के जन्म एवं उपलब्धियों से संबंधित घटनाओं को गूंथा गया है। नन्ने चोडदेव ने अपने 'कुमार सम्भव' में गणेशजन्म, दक्ष के यज्ञ, सती के आत्मदाह तथा हिमवान एवं मेनका की पुत्री पार्वती के रूप में पुनर्जन्म, पार्वती एवं शिव के विवाह, कुमार-जन्म तथा तारकासुर के विध्वंस की कथाओं का वर्णन किया है। यद्यपि उसकी भाषा अत्यंत सरल है, किंतु उसमें प्राचीन शब्दों एवं अभिव्यक्तियों की भरमार है, जो आधुनिक पाठक को समझ नहीं आते। उसने अपनी भूमिका में कहा है कि उसकी कविता में प्रयुक्त भाषा 'जानु-तेनुगु' हैं, जिसका निश्चित अर्थ स्पष्ट नहीं है। किंतु वह किसी भी प्रकार से उस साहित्यिक बोली से भिन्न न थी, जो गुणग विजयादित्य के काल (848-92 ई०) के बाद प्रचलित हो गई थी और जिसका बाद में नन्नयभट्ट एवं अन्य सभी लेखकों ने प्रयोग किया था। नन्ने चोडदेव द्वारा तेलुगु शब्द के साथ 'जानु' उपसर्ग के जोड़े जाने का पद्यीकरण अथवा छंदशास्त्र की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इसका अर्थ तो केवल सुंदर एवं शोभायुक्त तेलुगु होता है। उसकी शैली सौंदर्यपूर्ण एवं लचीली है, वह स्थिति के अनुसार बदलती है तथा विषयवस्तु के अनुसार स्वयं को प्रशंसनीय रूप से ढाल लेती है। वाक्य विन्यास भी अत्यंत समृद्ध एवं भिन्नतापूर्ण है तथा कल्पना एवं वर्णन भी मौलिक एवं आकर्षक है। उसका प्रभाव अत्यंत कोमल है तथा रसों का चित्रण चातुर्यपूर्ण एवं अत्यंत सुंदर है। उसकी सीमा अत्यंत विस्तृत हैं तथा तत्कालीन 18 वर्णनों एवं 32 'अलंकारों' में से कोई भी उससे अछूता न रहा। नन्ने चोड वास्तव में महान कवि है और उसके काव्य को उस वर्ग की रचनाओं में सर्वोच्च स्थान देना चाहिए।

तिक्कन सोमयाजी ने भी 'विजयसेनं' नामक काव्य लिखा तथा इस काल के एक अन्य प्रसिद्ध कवि, चिम्मपूडि अमरेश्वर ने 'विक्रमसेन' की रचना की। किंतु इनमें से कोई भी काव्य प्राप्त नहीं है। संग्रहों में 'विजयसेनं' में से केवल दो पद्य तथा 'विक्रमसेनं' में से लगभग 60 पद्यों का बड़ा खंड सुरक्षित है। अमरेश्वर का काव्य विक्रमसेन नामक उज्जैन के कुमार की कथा का वर्णन करता है। हालांकि कविता की घटनाओं एवं उनके विकास की विधि के संबंध में और अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसने पर्याप्त प्रसिद्धि अर्जित की। किंतु जिस रचना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर यह प्रसिद्धि आधारित थी, वह बहुत पहले ही लुप्त हो चुकी थी। कुछ बचे हुए पद्यों को देखते हुए 14वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में पल्लवित होने वाले विनुकोंड वल्लभराय का यह मत कि अमरेश्वर, नन्नयभट्ट, तिक्कन और हुलक्कि भास्कर जैसा ही महान कवि था, अनुचित प्रतीत नहीं होता। उसकी शैली ओजपूर्ण तथा भाषा आनंदोत्पादक है।

कथा साहित्य : लगभग 14वीं शताब्दी के मध्य में लिखते हुए कवि एर्रर प्रेग्गड ने गाथाओं अथवा कहानियों के प्रति तेलुगु लोगों के प्रेम का उल्लेख किया है। यद्यपि यह वक्तव्य उसके काल से पहले गाथा साहित्य के अस्तित्व की परिकल्पना करता है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वह पूर्ण रूप से नष्ट हो गया था। तेलुगु साहित्य की अन्य शाखाओं के समान, तेलुगु गाथा का आरंभ भी संस्कृत के उच्चकोटि के ग्रंथों के अनुवादों एवं संक्षिप्त वर्णनों से हुआ। साहित्य के अन्य क्षेत्रों में होने वाले प्रस्तुतकर्ताओं के समान, गाथा लेखकों ने भी अपनी अभिव्यक्तिों का माध्यम चंपू को बनाया क्योंकि निर्वचन रचनाएं लोकप्रिय न थीं और तेलुगु साहित्य के गद्य का अभी जन्म ही न हुआ था। ऐसी कथाओं के अवशिष्ट संग्रहों में प्राचीनतम रचना केतन कृत 'दश-कुमारचरित्र' है जो इसी नाम से दण्डी के प्रसिद्धि ग्रंथ का तेलुगु अनुवाद है। वृत्तांत की कुशलता तथा वर्णन की स्वाभाविकता एवं गंभीरता के कारण, केतन की सामान्य रूप से प्रशंसा की जाती है, किंतु इस प्रशंसा का अधिकांश श्रेय वास्तव में दण्डी को दिया जाना चाहिए, जिसका अनुकरण केतन ने अत्यंत सूक्ष्मता से किया है; हालांकि इधर-उधर विवरणों में वह मूल संस्कृत से थोड़ा भिन्न है। केतन की कृति का वास्तविक महत्व तो उस प्रोत्साहन में निहित है, जो उसने तेलुगु कथालेखन को प्रदान किया था। प्रारंभिक कथा लेखकों की श्रेणी में आने वाला अन्य लेखक मंचनहै, जो 'केयूरबाहुचरित्र' का लेखक है। यह राजशेखर के नाटक 'विद्धसालभंजिका' का तेलुगु अनुवाद अथवा उस पर आधारित था। किंतु मंचन ने अपनी रचना के ताने-बाने में 'पंचतंत्र' एवं अन्य उच्चकोटि के संस्कृत ग्रंथों की गाथाएं भी गूंथ दी हैं। मंचन की शैली सरल एवं आकर्षक है, उसके पद्य द्रुत तथा शोभायुक्त हैं, तथा कथा कहने की दक्षता ने तेलुगु कथा लेखकों में उसके लिए अद्वितीय स्थान बना दिया है।

व्याकरण एवं छंदशास्त्र पर भी उचित ध्यान दिया गया। केतन कृत (आंध्रभाषाभूषणं) तेलुगु में व्यारकण का प्रथम ग्रंथ है। परम्परानुसार, (आंध्रशब्दचिंतामणि) के कृतित्व का श्रेय नन्नयभट्ट को दिया जाता है, किंतु आधुनिक विद्वान इसका खंडन करते हैं। केतन के ग्रंथ के विपरीत (आंध्रशब्दचिंतामणि) संस्कृत में लिखा गया है। मल्लिय रेचन कृत 'कविजनाश्रयं' सम्भवत: तेलुगु छंदशास्त्र की पहली रचना है, इसी नाम के एक ग्रंथका श्रेय वेमुलवाड भीमकवि को भी दिया जाता है, किंतु यह प्राप्त नहीं है। 'कवि-बग्बन्धनं' भी उल्लेखनीय है। यह छन्दों से ही संबंधित लघु रचना है, जिसका श्रेय तिक्कन सोमयाजी को दिया जाता है।

धर्मशास्त्र एवं राजनीति : केतन ने 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' की 'विज्ञानेश्वरीय' नामक विज्ञानेश्वर की टीका के व्यवहार-कांड का अनुवाद किया। विज्ञानेश्वर महान विधिकार था, जो कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार में था। संभवत: 'धर्मासनों' अर्थात लोकप्रिय न्यायालयों द्वारा न्याय प्रशासन को सुगम बनाने के लिए ही उसने इसकी रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धर्म-शास्त्रों' की अपेक्षा 'राजनीति-शास्त्र' के अध्ययन एवं अभि-व्यक्ति में जनता की अधिक रुचि थी। 'पंचतंत्र' एवं 'कामंदक' जैसे इस विषय के संस्कृत ग्रंथों का तेलुगु में अनुवाद ही नहीं हुआ, अपितु दोनों ही भाषा में मौलिक ग्रंथों की भी रचना हुई। इनमें से कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे हिंदू राजनीतिशास्त्र के उन पक्षों पर प्रकाश डालते हैं, जो इस विषय की प्रसिद्ध संस्कृत पाठ्य पुस्तकों में या तो बिलकुल ही अनुपस्थित हैं अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
बहुत संक्षिप्त रूप में वर्णित है। इनमें से प्रतापरुद्र द्वारा संस्कृत में रचित 'नीतिसार', बद्देन कृत 'नीतिशास्त्र-मुक्तावली' एवं 'सुमति शतकं', तथा तेलुगु पद्यों में शिवदेवय्य कृत 'पुरुषार्थसारं' का विशेष उल्लेख करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने केवल काकतीयों के शासनकाल के दौरान ही नहीं, अपितु बाद के कालों में भी हिंदू प्रशासनिक व्यवस्था को अत्यंत प्रभावित किया था। इनमें से अधिकांश ग्रंथ नष्ट हो चुके हैं, केवल बद्देन कृत 'नीतिशास्त्र-मुक्तावली' और संभवतः 'सुमति शतकं' ही हमें प्राप्त हैं। सौभाग्यवश इन ग्रंथों एवं अज्ञात काल एवं कृतित्व के 'मुद्रामात्यं' तथा 'नीतिभूषणं' जैसी अनेक अन्य रचनाओं के पद्यांश 'सकलनीतिसम्मतमु' में सुरक्षित हैं, जो लगभग 14वीं शताब्दी के मध्य में मडिकि सिंगन द्वारा संग्रहित राजनीति विषयक संक्षेपण है। इन रचनाओं की भाषा सरल एवं सीधी है तथा विचारों की अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है। वे अपनी साहित्यिक श्रेष्ठता तथा काकतीय शासकों के युग में आंध्र प्रदेश में स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने के कारण ध्यातव्य हैं।

इस काल के तेलुगु साहित्य में शैवों का योगदान विशेषरूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह 'द्विपद-काव्य' तथा देशी रचनाओं के अन्य प्रकारों के विकास से संबंधित है। यह ज्ञात नहीं कि द्विपद की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, हालांकि पूर्वी चालुक्य नरेश गुणग विजयादित्य (848-92 ई०) के अभिलेखों में 'तरुवोज' जैसे समान छंदों को देखते हुए यह असंभव प्रतीत नहीं होता कि वह ईसा की 10वीं शताब्दी के बाद प्रचलित हो गया था। किंतु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

इस काल के साहित्य में शैव योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण तथा विस्तृत है, यद्यपि उसका स्वरूप अत्यंत सांप्रदायिक है तथा विषयवस्तु भी सीमित है, क्योंकि वह मुख्य रूप से शैव संतों के जीवन चरित्र, शैव धर्म के प्रतिपादन तथा शिव एवं उसके सहायक देवताओं की प्रशंसा से ही संबंधित हैं। इस संदर्भ में पाल्कुरिकि सोमनाथ के दो आवश्यक ग्रंथों का उल्लेख कर देना चाहिए। ये दो ग्रंथ हैं 'बसवपुराणं' तथा 'पण्डिताराध्यचरित्र'। ये न केवल बसव द्वारा प्रतिपादित वीरशैव सिद्धांतों का वर्णन करते हैं, अपितु काकतीय राजतंत्र के दौरान आंध्र प्रदेश की धार्मिक एवं सामाजिक दशाओं पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। बसव के सिद्धांतों को, लोकप्रिय बनाने तथा उसकी शिक्षाओं को जनता तक पहुंचाने के लिए, सोमनाथ ने जानु तेनुगु भाषा का प्रयोग किया क्योंकि इसमें तेलुगु और चलती बोली का मिश्रण था। उसने 'द्विपद' छंद को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उसका उद्देश्य था कि उसकी रचनाएं साधारण अशिक्षित जनता द्वारा भी कंठस्थ हो सकें, और गाई अथवा समझी जा सकें। यद्यपि उसके 'बसव-पुराणं' एवं 'पण्डिताराध्यचरित्र' की रचना 12वीं शताब्दी के दो महान वीरशैव सुधारकों एवं आचार्यों के जीवन-चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए की गई थी, किंतु उसने दक्षिण भारत में शैव परंपरा के प्रसिद्ध तेलुगु, तमिल एवं कन्नड़ संतों की जीवनियों को भी गूंथ कर, उन्हें वीरशैव सिद्धांतों एवं धार्मिक कथाओं का संग्रह बना दिया। पाल्कुरिकि सोमनाथ संस्कृत एवं प्राकृत का प्रकांड विद्वान था। इसके अतिरिक्त वह संभवतः मलयालम को छोड़कर सभी दक्षिण भारतीय भाषाओं से भी भली-भांति परिचित था। वह महान प्रतिभासंपन्न कवि था, जिसे विवाद में आनंद आता था। उसके पद्यों का प्रवाह असीमित है तथा उनकी प्रविधि भी एकरूप श्रेष्ठता से युक्त है। यद्यपि वह काव्यात्मक कल्पना की ऊंची उड़ान भरने में भी समर्थ हैं, फिर भी वह अतुलनीय रूप से नीरस एवं शुष्क भी हो जाता है और कभी कभी ऐसे सैकड़ों श्लोकों की रचना कर बैठता है, जिनका एकमात्र गुण यही है कि वे छंदबद्ध हैं। भाषाविद एवं साहित्यिक आलोचक प्रायः प्राचीन शब्दों तथा व्याकरणीय एवं छंदात्मक विशेषताओं को काव्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समझ लेते हैं, किंतु पुराने एवं विस्मृत शब्द, व्याकरण के असाधारण रूप एवं छंदात्मक विशेषताएं, स्वयंत: रोचक होते हुए भी अच्छे काव्य का स्थान नहीं ले सकतीं। सोमनाथ के ग्रंथों का मूल्यांकन करते समय मामूली के विरुद्ध उत्तम को रखते हुए संतुलन स्थापित करना चाहिए। किंतु, काव्यात्मक रचनाओं के रूप में उनके मूल्य के अतिरिक्त, 'बसव पुराणं' एवं 'पण्डिताराध्यचरित्र' का महत्व कम नहीं है, क्योंकि वे उस काल की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं और काकतीयकाल के इतिहास के विद्यार्थी के लिए अमूल्य स्रोत है।

'स्तोत्र' साहित्य कहीं अधिक व्यापक है। इसमें 'शतक' एवं 'उदाहरण' सम्मिलित हैं, जो केवल उनमें अभिहित देवताओं की प्रशंसा से ही संबंधित हैं। मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य कृत 'शिवतत्व सारं', यथावाक्कुल अन्नमय्य कृत 'सर्वेश्वर-शतकं' तथा पाल्कुरिकि सोमनाथ कृत 'वृषाधिप-शतकं' नामक तीन महत्वपूर्ण शतक विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि वे विद्यमान तेलुगु 'शतक' साहित्य के प्राचीनतम उदाहरण हैं। वास्तव में ईसा की 12वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में मल्लिकार्जुन पण्डिताराध्य द्वारा 'शिवतत्वसारं' की रचना एवं प्रकाशन ने तेलुगु साहित्य के इतिहास में नवीन युग का आरंभ किया। यद्यपि सामान्यतया इसे 'शतकं' कहा जाता है, किंतु वर्तमान स्थिति में, उसमें 'कंद' छंद के कम से कम 479 पद्य हैं। यह शास्त्रार्थीय ग्रंथ हैं, जो लेखक की समझ के अनुसार शैव धर्म के वास्तविक स्वरूप के वर्णन तथा विरोधी मतों के खंडन से संबंधित है। मल्लिकार्जुन कभी न झुकने वाला पाशुपत द्वैती था तथा अन्य मतों के अनुयायियों को कुछ नहीं समझता था। वह अत्यंत कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना करता है। निस्संदेह, मल्लिकार्जुन ओजस्वी लेखक है, किंतु उसने धर्मांधता की वेदी पर अपनी काव्यात्मक प्रतिभा की बलि चढ़ा दी। उसके लिए काव्यरचना कलात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु धार्मिक विचारों का माध्यम था। विषयवस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें काव्यात्मक प्रतिभा के प्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है और लेखक भी निश्चित रूप से अपने विषय की सीमाओं का उल्लंघन करने का प्रयास नहीं करता। भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार है, उसके पद्य स्वतंत्र एवं आत्मस्फुरित हैं तथा उसकी शैली सरल एवं सुगठित है। मल्लिकार्जुन कृत 'शिवतत्वसारं' का जिसका उसने स्वयं कन्नड़ में अनुवाद किया, आंध्र एवं कर्नाटक में शैव धर्म पर बड़ा प्रभाव पड़ा। धार्मिक विषयों से ही संबंधित उसके अन्य ग्रंथ-'रुद्रमहिम', 'गणसहस्त्रमाल' तथा 'पर्वतवर्णन' उपलब्ध नहीं हैं।

काव्यात्मक श्रेष्ठता की दृष्टि से 'शिवतत्वसारं'की तुलना में यथावाक्कुल अन्नमय्य कृत 'सर्वेश्वर-शतकं' कहीं अधिक श्रेष्ठ है। यह संभवत: उस युग की अपने किस्म की सर्वोत्तम रचना है। मल्लिकार्जुन के समान अन्नमय्य भी आराध्य था तथा सर्वेश्वर अर्थात सार्वभौमिक स्वामी से संबंधित उसके काव्य की रचना शक सं० 1164 (1242 ई०) में हुई। इसमें 'वृत्त' छंद के 142 पद्य हैं, जो सर्वेश्वर (शिव) की महानता, उसकी सर्वशक्ति, सभी पवित्र 'तीर्थों' (पवित्र स्थान) की तुलना में शिव भक्तों की श्रेष्ठतर पवित्रता, 'भक्तों' की महानता, 'शिवयोग' (शिव की योग साधना) से उत्पन्न प्रसन्नता, यथार्थ 'भक्ति' की महानता, 'भक्ति-योग', मस्तिष्क का नियंत्रण, 'पंचाक्षरी' की शक्ति, 'भक्ति संस्कार' (भक्ति द्वारा शुद्धीकरण) आदि का वर्णन करते हैं। विषयवस्तु के इस संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सच्चे वीर शैव के समान अन्नमय्य, 'भक्ति' को प्रमुखता देता है और आराध्य की पूजा की तुलना में 'भक्तों' को अधिक महत्व देता है। 'भक्ति' के वीर शैव स्वरूप के प्रतिपादन संबंधी महत्व के अतिरिक्त, 'सर्वेश्वर-शतकं'का तेलुगु भाषा के सभी 'शतकों' में अत्यंत ऊंचा स्थान है। अन्नमय्य विचारपूर्ण लेखक है और उसके विचारों में तो दो शताब्दी बाद होने वाले पोतन का पूर्वाभास है। पोतन,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
तेलुगु भाषा में लिखनेवाला, महानतम भक्त कवि था। अन्नमय्य की कविता कभी कभी दैविक ऊंचाई तक उठ जाती है, जहां उस काल का अन्य कोई भी वीर शैव लेखक नहीं पहुंच सका है। उसकी शैली भव्य है, उसकी भाषा प्रिय एवं आकर्षक है और संस्कृत शब्दों एवं समासों से पूर्ण होते हुए भी स्पष्ट एवं सुगमता से समझ आने वाली है। उसके पद्यों का आत्मस्फुरित प्रवाह उसके कवित्व के स्वाभाविक गुणों का साक्षी है।

शतक साहित्य का एक अन्य उच्च कोटि का ग्रंथ, पाल्कुरिकि सोमनाथ कृत 'वृषाधिप-शतकं' है, जो इसी काल के दौरान लिखा गया था। वह प्रतापरुद्र का अवर समकालीनी था तथा उसके पश्चात भी अनेक वर्षों तक जीवित रहा। काकतीय राजतंत्र के पतन एवं आंध्र देश पर मुस्लिम विजय के पश्चात वह कर्नाटक चला गया, जहां उसने अपनी धार्मिक एवं साहित्यिक गतिविधियां जारी रखीं। सोमनाथ वीर शैव मत के संस्थापक का परम अनुयायी था और इसी मत के प्रचार के लिए वह जीवनपर्यंत परिश्रम करता रहा। 'वृषाधिप-शतकं' के प्रत्येक पद्य के अंत में प्रयुक्त 'मकुट' अथवा टेक से पता चलता है कि वह बसव को ही अभिहित करके लिखा गया था। इसमें सोमनाथ वीर शैव मत के कुछ पक्षों का वर्णन करता है। वह 'जंगमों' (लिंगायत यतियों) एवं लिंग की आराधना पर बल देता है तथा बसव की महानता तथा भक्तों को उसके द्वारा दी जानेवाली शरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। इस शतक की सर्वाधिक रोचक विशेषता, उसकी 'बहुभाषा-स्तुति' है, जिसमें बसव की आध्यात्मिक प्रभुता की प्रशंसा में संस्कृत, प्राकृत, महाराष्ट्री, मणिप्रवालं, तमिल, कन्नड आदि अनेक भाषाओं में पद्यों की रचना की गई है। 'बहुभाषा-स्तुति' न केवल सोमनाथ के अनेक भाषीय ज्ञान को प्रदर्शित करती है, अपितु उसकी बहुमुखी प्रतिभा की ओर भी इंगित करती है। 'वृषाधिप-शतकं' की शैली ओजपूर्ण एवं शक्तिशाली है। तथा उसके 'बसव-पुराणं' एवं 'पण्डिताराध्यचरित्र' के विपरीत, उसकी भाषा संस्कृत शब्दों एवं समासों से युक्त है। सोमनाथ को 'शब्द' एवं 'अर्थालंकारों' से लगाव है और वह उनका अत्यंत प्रभावोत्पादक प्रयोग करता है। 'वृषाधिप-शतकं' के अतिरिक्त, उसने चेन्न-मल्लु देव के नाम से 'सीस' छद में 34 पद्यों की रचना की। इसमें उसने 'षट्-शलों' अर्थात उन छः विषयों का वर्णन किया है, जिनके संबंध में वीरशैवों को मनन करना चाहिए।[17] 'स्तोत्र' साहित्य का एक अन्य वर्ग उदाहरण है, जो देवता अथवा समर्पित किए जाने वाले व्यक्ति की प्रशंसा के गीतों से संबंधित है। उदाहरण देशी रचनाओं का ही एक प्रकार है, जो संभवतः काकतीयकाल के दौरान ही आरंभ हुआ। इसमें आठ खंड होते हैं, जिनमें से प्रत्येक में 'वृत्त', 'कलिक' एवं 'उत्कलिक' होते हैं। ये तेलुगु व्याकरण के आठों कारकों में देवता अथवा व्यक्ति को अभिहित करते हैं। इस श्रेणी के दो ग्रंथ अर्थात पाल्कुरिकि सोमनाथ कृत 'बसवोदाहरण' तथा रविपाठि त्रिपुरांतक कृत 'त्रिपुरांतकोदाहरणं' हमें प्राप्त हैं। अपने प्रकार के श्रेष्ठ उदाहरण होते हुए भी उनकी साहित्यिक स्थिति बहुत ऊंची नहीं है। त्रिपुरांतक अत्यंत ख्यातिप्राप्त लेखक है। उसकी 'अम्बिका तारावली' संक्षिप्त रचना होते हुए भी विरल गुणों से युक्त है और उससे उसकी काव्यात्मक प्रतिभा के स्वरूप में अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। किंतु उसने कोई अन्य तेलुगु ग्रंथ नहीं लिखा। इसका कारण संभवतः उसका संस्कृत कविता के प्रति प्रेम था, जिसके पोषण के लिए उसने अपनी अधिकांश प्रतिभा एवं शक्ति लगा दी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. यह खंड आंशिक रूप से मद्रास विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर डा० वी राघवन कृत जाय सेनापत की 'नृत्तरत्नावली' की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में दिए गए काकतीय कालीन संस्कृत साहित्य के वर्णन पर आधारित है। अप्रकाशित होते हुए भी उसे हमें उपलब्ध कराने के लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं।
2. कार्पस, 3.
3. वही, 22.
4. 'है० आ० सि०', नं० 4.
5. वही, नं० 6.
6. 'कार्पस', 35.
7. वही, 51 एवं 52.
8. एम० रामकृष्णकवि : 'दि भारत कोष', भूमिका, पृ० xvii xviii.
9. 'सा० इं० इं०', vi, 102.
10. कार्पस', 50, 51 एवं 52.
11. वही, 23 एवं 56; 'है० आ० सि०', नं० 3; 'सा० इं० इं०', vi, 628 तथा 'भारति' xv i, पृ० 157-60.
12. 'निर', I. 12.
13. 'ऐ० रि०', 5-1934का 307.
14. 'भारति', v, 473-84.
15. 'ऐ० रि०', 1919 का 608.
16. 'कार्पस', 50.
17. देखिए 'चेन्न मल्लु सीसमुलु शतक', i (वविल्ल रामस्वामी शास्त्रुलु ऐंड संस) पृ० 31-51

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म

काकतीय काल के दौरान शैव धर्म ही प्रमुख धर्म था। इसकी उत्पत्ति अत्यंत प्राचीन काल में हुई होगी। वेदों में रुद्रशिव के उल्लेख हैं। वह उत्तरकालीन पशुपति अथवा शिव ही था। शैव धर्म के तीन आधारभूत सिद्धांत पति, पशु एवं पाश हैं। शिव स्वयं ही पाश अर्थात बंधनों से बंधे हुए पशुओं अर्थात जीवों का पति अर्थात स्वामी था। शिव ही इस भूखंड का सर्वोच्च देव एवं परमार्थ सत्य था। शिव ने स्वयं अपने शिष्यों को पाशुपत धर्म का ज्ञान कराया और उन्हीं में भूखंड के सर्वोच्च शिक्षक के रूप में वे अवतरित होते थे। 'शिव पुराण' एवं 'कूर्म पुराण' में योगाचार्यों ने नाम से 28 अवतारों की सूची मिलती है, जिसमें से प्रथम अवतार महान गुरु श्वेताचार्य तथा अंतिम लकुलीश अथवा नकुलीश था। इनमें से प्रत्येक आचार्य के चार शिष्य थे। अत: 'योगाचार' मत का अनुसरण करने वाले मूल शिष्यों की कुल संख्या 112 थी। 24 वें एवं अंतिम योगाचार्य लकुलीश, इस कलियुग में आध्यामिक ज्ञान का प्रसार करने आए। इन योगाचार्यों एवं उनके अनुयायियों के प्रयास से शैव धर्म प्राचीनकाल से ही देश का प्रमुख धर्म बना रहा। 18 पुराणों से कम से कम 10 पुराण शिव को सर्मपित किए गए थे।

कालामुख, कापालिक, शैव, पाशुपत आदि जैसे अनेक शैव मतों में से कालामुख सिद्धांतों का काकतीयकाल के आरंभ में प्रभुत्व था, लेकिन इसके बावजूद पाशुपत प्रबल होता गया और अंततोगत्वा इसे अधिकांश जनता और राजाओं का समर्थन मिला।

त्रिभुवनमल्ल बेत द्वितीय का पुत्र प्रोल प्रथम शैव धर्म का अनुयायी था। वह 'रामेश्वर पंडित का सर्वोत्तम शिष्य'[1] बताया जाता है। वैजनपल्लि ग्राम को शिवपुर नाम देकर, उसने उसे अपने गुरु रामेश्वर पंडित को स्थाई जागीर के रूप में दे दिया। रामेश्वर पंडित 'लकुलेश्वर-अगम-महासिद्धांत' में सिद्धहस्त था। बेत द्वितीय का काजीपेट अभिलेख[2] इस रामेश्वर पंडित के संबंध में और अधिक सूचना देता है। इस अभिलेख में अनमकोंड के दक्षिण-पश्चिमी भाग में एक ग्राम ('हल्लि') के दान का वर्णन है, जिसे शक सं० 1012 प्रमोद के कार्तिक मास, अर्थात सूर्यग्रहण के अवसर पर कृष्ण पक्ष के 15 वें दिन, इतवार को बेत द्वितीय ने उपर्युक्त रामेश्वर पंडित को ही 'सर्वमान्य' के रूप में दिया। इस अभिलेख में प्राप्तकर्ता को 'पर्वतावली' के कालामुख यति के रूप में चित्रित किया गया है। वह श्रीपर्वत पर स्थित प्रसिद्ध मल्लिकार्जुन शिलामठ का सदस्य था।[3]

पूर्वी चालुक्य नरेश अम्मराज द्वितीय (945-70 ई०) के तांडिकोंड दानपत्र से हमें काकतीयकाल से भी काफी पहले आंध्र प्रदेश में शैव धर्म के कालामुख मत के अस्तित्व के बारे में पता चलता है।[4] इस दानपत्र में कहा गया है कि प्रत्येक युग में लकुलि एवं अन्य (शैव) संत, सदाचारी व्यक्तियों के लिए आशीर्वचन सम, रुद्र अर्थात शिव के रूप में धरती पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवतीर्ण हुए हैं। कालामुख मत के ये आचार्य, पर्शे (पर्शद) नामक अनेक संप्रदाय के थे, जैसे : 'सिंहपर्शे', 'शक्तिपर्शे' आदि।[5] उसके 'आम्नाय' अथवा 'आलि' एवं 'संतति' नामक उपविभाग भी होते थे। 1112 ई० के एक अव्लूर अभिलेख में पर्वत-आम्नाय के मूवरकोणेय-संतान के शक्तिपर्शे में कालामुखों द्वारा अर्जित ख्याति का वर्णन है।[6] उसी स्थान के 1101 ई० के अन्य अभिलेख से हमें पता चलता है कि 'पर्वतावलि' वास्तव में 'पर्वताम्नाय' का ही दूसरा नाम था। उसके अनुसार : 'पर्वतावलि नामक वंश में, जो शक्तिपर्शे के नाम से प्रसिद्ध मत के प्रमुख (भाग) का महान (अर्थात, निस्संदेह) केंद्र होने वाला था, केदार शक्ति नामक (कालामुख) यति अत्यंत प्रसिद्ध हो गया जो 'मूवरकोणेय-संतति' की गद्दी का आभूषण था।'[7] जैसा हम अभी कह चुके हैं, कालामुख संत एवं प्रोल प्रथम तथा बेत द्वितीय का 'राज-गुरु', रामेश्वर पंडित 'पर्वतावलि' का ही था[8], जो श्रीपर्वत पर स्थित पांच प्रसिद्ध शैवमठों में से मल्लिकार्जुन शिलामठ का ही वंश था। कालामुख शैव संतों के नामों का अंत शक्ति, रासि, पंडित एवं रासि-पंडित से होता है। रामेश्वर पंडित को, उसके हनमकोंड अभिलेख में[9] 'लकुलेश्वर-आगम' में प्रवीण बताया गया है, जो 'लाकुल-सिद्धांत' अर्थात शैव आचार्य लकुलीश, लकुलीश्वर अथवा नकुलीश्वर का आगम अथवा सिद्धांत ही है। एक अवैलूर अभिलेख में[10] सोमेश्वर पंडित नामक किसी कालामुख यति का वर्णन है, जो (दिन में खिलने वाले) 'न्याय-शास्त्र' रूपी जल कमलों को खोलने वाला सूर्य था ('न्याय-शास्त्र-विस्तृत-सरोज-वन-दिवाकर'), वैशेषिकों के समुद्र में ज्वार लाने वाला शरद चंद्र था ('वैशेषिक-वाधिवर्धन-शरत्सुधाकर') तथा सांख्य आगम में निपुण व्यक्तियों का मणिरत्न था' ('सांख्यागम प्रवीण-माणिक्य-आभरण')। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि कालामुख नैयायिक एवं वैशेषिक था। काकति नरेश प्रोल द्वितीय का गुरु, रामेश्वर पंडित संभवतः उसी नाम का वह शैव संत था, जो त्रिभुवनमल्लदेव विक्रमादित्य षष्ठ का समकालीन एवं दाक्षारामं के 'भीमेश्वर महादेव' मंदिर का स्थानाधिपति था।[11]

बेत द्वितीय से पूर्व आने वाले सभी आरंभिक काकतीय नरेश शैव धर्म के अनुयाई तथा कालामुख मत के रामेश्वर पंडित के शिष्य थे। यह मत कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य शासनकाल के दौरान, विशेषकर कम से कम आहवमल्ल सोमेश्वर प्रथम के समय से तो अपनी चरम सीमा पर था।

बेत द्वितीय का पुत्र, प्रोल द्वितीय उतना निष्ठवान शैव न था, जितना उसका पिता एवं पितामह, जिनके दान केवल शैव मतावलंबियों तक सीमित थे। स्वयं शैव होते हुए भी, प्रोल अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखता था। पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के हनमकोंड अभिलेख को, जो चालुक्य विक्रम 42वें वर्ष का है, इस व्यक्तव्य की पुष्टि के लिए उद्धृत कर सकते हैं। वैजदंडाधिनाथ के पुत्र एवं प्रोल द्वितीय के मंत्री, बेतन प्रेग्गड की पत्नी मैलांब ने कदललायबसदि नामक जैन बसदि की स्थापना की।[12] काकति नरेश प्रोल द्वितीय ने अपने मंत्री द्वारा पत्नी के नाम से बनवाए गए सरोवर के लिए इसी बसदि को 'मत्तर' भूमि दान की। किंतु प्रोल द्वितीय का पुत्र रुद्रदेव एवं उसका भाई महादेव अपने दादा बेत द्वितीय के समान ही 'परम-माहेश्वर' थे।

काकतीय काल के शैव धर्म के इतिहास में महादेव के पुत्र गणपतिदेव का शासनकाल स्मरणीय मार्गशिला है। गोलकीमठ के पाशुपत मती शैव आचार्यों के आंध्र प्रदेश में आने से कालामुख मत का भाग्य बदला।

वास्तव में शैव धर्म के कालामुख एवं पाशुपत मतों में अत्यंत समानता है।[13] फिर भी धर्म एवं प्रथा के रूप में उनके मार्ग भिन्न हो गए और यह भिन्नता मुख्यतः धार्मिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मकांडों में थी। ईसा की नवीं शताब्दी जैसे आरंभिक काल में भी पाशुपत शैव मत के चार भिन्न संप्रदाय हो गए थे : शैव, पाशुपत, कापालिक एवं कारुणिक-सिद्धांतिक। वाचस्पति मिश्र (850 ई०) ने इन सभी का उल्लेख किया है। यमुनाचार्य कृत 'आगम-प्रामाण्य' में भी इन उपमतों का उल्लेख है, किंतु इसमें कारुणिक-सिद्धांतियों का स्थान कालामुखों ने ले लिया है। हमें यह ज्ञात ही है कि ईसा की 10 वीं शताब्दी तक कालामुख शैव धर्म का प्रमुख मत बन चुका था।

काकति नरेश गणपतिदेव के शासनकाल के दौरान, गोलकीमठ के पाशुपत शैव जनता एवं शासक परिवार में अत्यंत लोकप्रिय हो गए तथा साम्राज्य एवं दरबार में कालामुख यतियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। कालामुखों के समान ही पाशुपत आचार्यों के नामों का अंत भी शिव, शंभु एवं पंडित से होता है, किंतु रासि से कभी नहीं। विश्वेश्वर शिव गणपति का 'राजगुरु' था। उसने शिव-दीक्षा संपन्न करके, इस राजा को पूर्ण शिव भक्त बना दिया। इसीलिए विश्वेश्वर 'शिवाचार्य' गणपतिदेव का 'दीक्षा-गुरु' भी कहलाता है।

गणपतिदेव की पुत्री एवं उत्तराधिकारिणी रुद्रमदेवी के मल्कापुरं अभिलेख[14] में गोलकीमठ के शैव आचार्यों का मनोरंजक एवं विस्तृत वर्णन है। वर्णन इस प्रकार है : भागीरथी एवं नर्मदा नदियों के बीच, स्थित, डाहल-मंडल के नाम से ज्ञात प्रदेश में शैव आचार्यों का एक वंश था, जिसका संस्थापक दुर्वास था। इसी वंश में सद्भाव शंभु हुआ। उसने कलचुरि नरेश युवराजदेव से 'भिक्षा' (देखरेख के लिए दिया गया दान) स्वरूप, तीन-लाखी प्रदेश (अर्थात वह प्रांत, जिसमें तीन लाख ग्राम थे) प्राप्त किया। इस शैव यति ने गोलकीमठ नामक शैव मठ की स्थापना की और उसके आचार्यों की देखभाल के लिए उस प्रांत को वृति स्वरूप दान कर दिया। इसी वंश के सदस्य के रूप में उत्पन्न, सोम शंभु ने अपने ही नाम का 'सोम-शंभु-पद्धति' नामक ग्रंथ लिखा, जो सभी 'आगमों' के समुद्र के लिए सेतु के समान था ('सकल-आगम-सिंधु-सेतु')। सोम शंभु के पश्चात वाम शंभु आया, जिसके चरण भी कलचुरि नरेशों द्वारा पूजे जाते थे। इसी गोलकीमठ में गुरु एवं उनके हजारों शिष्य हुए, जिन्हें केवल अपनी उपस्थिति मात्र से पृथ्वी के शासकों को आशीर्वाद अथवा शाप देने की शक्ति प्राप्त थी। कालांतर में इस वंश में शक्ति शंभु नामक ऋषि हुआ। कीर्ति शंभु उसका सबसे प्रिय शिष्य था। फिर केरल प्रदेश का निवासी विमल शिव आया, जिसे कलचुरि नरेशों का सम्मान प्राप्त था। उसका प्रिय शिष्य धर्म शिव नामक विद्वान शैव संत था। दूसरी ओर उसका आध्यात्मिक पुत्र (धर्म-तनय) विश्वेश्वर शंभु था, जो एक महान वैदिक विद्वान एवं गौंड प्रदेश के राढ़ा प्रांत में पूर्व ग्राम का शिरोमणि था। राजा गणपतिदेव को दीक्षा देने वाला भी वही था। चोल एवं मालव नरेश भी इस विश्वेश्वर-दैशिक के आराधक थे। विश्वेश्वर कलचुरि शासकों का भी 'दीक्षा-गुरु' था। दीक्षा समारोह के पश्चात, गणपति-देव ने स्वयं को विश्वेश्वर शंभु का पुत्र (अथवा धर्म-पुत्र) कहा। यह वर्णन अधिकांश रूप से हमारे उस ज्ञान पर आधारित है, जो हमें गोलकीमठ[15] एवं उससे संबंधित शैव आचार्यों के वंश के बारे में प्राप्त है। अनेक अभिलेखों में गोलकीमठ के इन शिवाचार्यों को गोलकी-वंश अर्थात एक धार्मिक परिवार का भी बताया गया है और 'भिक्षा-मठ-संतान' अथवा 'लक्षाध्यायी संतान', अर्थात भिक्षा अथवा एक लाख के दान से व्यवस्थापित मठ पर आधारित गुरुओं के वंशज कहा गया है। इन शैव आचार्यों का चेदि के कलचुरि नरेशों, वारंगल के काकतीय नरेशों तथा मालव एवं चोल प्रदेशों के राजाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

तीन-लाखी दान देने वाला युवराज देव, चेदि, डाहल अथवा त्रिपुरि का कलचुरि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नरेश था। कलचुरि वंश में युवराजदेव नाम के दो राजा थे। युवराज देव प्रथम ने 10वीं शताब्दी के चतुर्थांश अर्थात लगभग 940 ई० में[16] और उसके पौत्र, युवराजदेव द्वितीय ने भी उसी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के दौरान, अर्थात लगभग 980 ई० के आसपास शासन किया था। वह मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल का पुत्र युवराजदेव प्रथम ही था, जो शैवाचार्यों के मत्तमयूर वंश के चूडा शिव अथवा शिखा शिव के शिष्य, प्रभाव शिव को चेदि प्रदेश में लाया और वहां पर अपने द्वारा निर्मित मठ का अध्यक्ष बनाया।[17] युवराज प्रथम के पुत्र लक्ष्मणराज ने जबलपुर जिले में बिल्हरि नामक स्थान पर शैव मठ की स्थापना की और उसके पुत्र शंकरगण ने देओरि मढ़ा नामक स्थान पर एक अन्य मठ स्थापित किया। युवराज प्रथम से लेकर गयाकर्ण के पुत्रों, नरसिंह एवं जयसिंह तक के सभी कलचुरि नरेश पक्के शैव थे और उन्हीं शैवाचार्यों एवं उनके शिष्यों के शिष्य थे। इन धार्मिक गुरुओं की आध्यात्मिक वंशावली का नाम, उस वंश के प्रसिद्ध गुरु अथवा इन गुरुओं द्वारा स्थापित अनेक प्रसिद्ध मठों अथवा उन मठों के नाम पर रखा जाता था, जिनके वे अध्यक्ष होते थे। कलचुरि नरेशों जैसे शिष्यों की संरक्षता प्राप्त शैवाचार्यों के इन धार्मिक वंशों में से दुर्वासान्वय विशेष रूप से प्रसिद्ध था। इसी वंश का विमल शिव कलचुरि नरेश जयसिंह (1170-80 ई०) का धर्म गुरु था। इस शासक के जबलपुर अभिलेख के अनुसार, उसने (कलचुरि) संवत के 926वें वर्ष अर्थात 1174 ई० में शिवालय का निर्माण करवाया।[18] इस अभिलेख में यशः कर्णदेव के समय से लेकर उसके पौत्र जयसिंह के काल तक के त्रिपुरि वाले कलचुरि नरेशों के आध्यात्मिक गुरुओं के संबंध में अत्यंत महत्वपूर्ण सूचनाएं हैं। यह द्रष्टव्य है कि शक्ति शिव के बाद के शैवाचार्यों की सूची रुद्रमदेवी के मल्कापुरं अभिलेख[19] एवं जबलपुर शिलालेख में एक सी है। अंतर केवल यह है कि पूर्वोक्त अभिलेख में उनके नामों का अंत शंभु से और जबलपुर अभिलेख में शिव से होता है। मल्कापुरं अभिलेख में वाम शंभु एवं कीर्ति शंभु के बीच के शिवाचार्यों का उल्लेख नहीं है। जबलपुर शिलालेख द्वारा दी गई सूचना द्वारा भी शक्ति शिव से पूर्व के शैवाचार्यों का पूर्ण विवरण तैयार करना संभव नहीं है, क्योंकि उसका कुछ अंश (पहली से आठवीं पंक्ति तक) खंडित एवं अपठनीय है। खंडित भाग में से केवल विमल शिव, वास्तु शिव एवं पुरुष शिव के ही नाम पहचाने जा सकते हैं। अतः इन दो प्राप्त अभिलेखों की सूचना के आधार पर, काकति नरेश गणपतिदेव के धार्मिक गुरु विश्वेश्वर शंभु की पूर्ण आध्यात्मिक वंशावली को पुर्नगठित करना संभव नहीं है। किंतु यह निश्चित है कि आंध्र प्रदेश में शैव धर्म के पाशुपत मत के सिद्धांतों का प्रवचन एवं प्रसार, गोलकीवंश के शैव संतों ने किया, जो चेदि अथवा डाहल प्रदेश से आए थे।

मल्कापुरं अभिलेख से हमें पता चलता है कि रुद्रमदेवी ने अपने पिता की इच्छानुसार, जिन्होंने अपने गुरु को निम्न दान देने का वचन दिया था, शक संवत 1183 दुर्मति, चैत्र मास के कृष्ण पक्ष के आठवें दिन तथा मेष के प्रथम दिन, अर्थात शुक्रवार (25 मार्च, 1261 ई०) को, शैवाचार्य विश्वेश्वर शंभु को कृष्णा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित वेलनाडु 'विषय' के कण्ड्रवाटि में स्थित नदीय प्रदेश की 'लंक' भूमि सहित मंदारं ग्राम (जो अब गुंटूर 'तालुक' में मंदडम के नाम से ज्ञात है) का दान दिया। रानी से यह दान प्राप्त होने के बाद, विश्वेश्वर शंभु ने उस ग्राम में अपने ही नाम का शिव मंदिर, मठ (शुद्ध-शैव-मठ) एवं आहार गृह बनवाया। वहां उसने अनेक ब्राह्मणों को बसाया और उसे विश्वेश्वर-गोलकी अथवा विश्वनाथ-गोलगिरि का नाम दिया।[20] इस मठ में 'प्रसूत्यारोग्य-शाला' का भी प्रबंध किया गया था। उपर्युक्त सूचना प्रस्तुत करने के अतिरिक्त, यह अभिलेख विश्वेश्वर शंभु द्वारा अन्य स्थानों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर दिए गए दानों का भी उल्लेख करता है। उसने कालीश्वरं में उपल-मठ की स्थापना की और अपने ही द्वारा स्थापित प्रोन्न ब्राह्मण-ग्राम को स्थाई जागीर के रूप में उसके नाम कर दिया। श्रीशैलं के उत्तर-पूर्व में कृष्णा नदी के तट पर ऐलीश्वरपुर (आधुनिक नलगोंड जिले में ऐलीश्वर) के स्थान पर सोलह 'अवरकों' का मठ बनवाया ('श्रीशैलेशनेलीश्वर-पुरि स मठं च षोडशावरकं')। उसके शिष्य गणपतिदेव ने आहार गृह तथा मठ के उपभवन के रूप में जल-पंडाल ('चलिवेन्द्र') के लिए, पल्लिनाडु प्रदेश (गुंटूर जिले में आधुनिक पल्नाडु) में कन्ड्रकोट ग्राम को 'आचार्य दक्षिणा' के रूप में प्रदान किया। इनके अतिरिक्त, शैवाचार्य विश्वेश्वर शिव ने मंत्रकूट, चंद्रवल्लि, कोम्मु-ग्राम (कोम्मूरु), निवृत्ति, एवं उत्तर सोमशिल जैसे अनेक स्थानों पर लिंगों की स्थापना कर, उनकी आराधना के भौतिक अवलंब के रूप में ग्रामों का दान किया।

आंध्र प्रदेश में इस गोलकी-मठ की अनेक शाखाएं थीं, जो भिन्न भिन्न स्थानों पर स्थित थीं। उदाहरणार्थ, गुंटूर जिले में भट्टिप्रोलु, कुर्नूल जिले में त्रिपुरांतकं एवं श्रीपर्वत तथा कुड्डपह जिले में पुष्पगिरि। इन सभी स्थानों पर भिन्न स्थलों पर निर्मित मंदिरों के 'स्थानाधिपति', इसी गोलकी-मठ के 'शिवाचार्य' थे, जिन्होंने केवल अपने शिष्य एवं छात्रों को ही नहीं, अपितु पड़ोस के प्रदेशों की सामान्य जनता को भी प्रभावित किया। विश्वेश्वर शंभु एवं (उपरोक्त) गोलकी-मठ के अन्य 'शिवाचार्य' ब्रह्मचारी एवं वैदिक थे। गोलकी-मठ का इस स्वरूप का पाशुपत धर्म वारंगल के काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के शासनकाल के अंत तक पल्लवित रहा। प्रतापरुद्र स्वयं भी 'परम-माहेश्वर' था।

चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दिल्ली सल्तनत के शासनकाल के दौरान, काकतीय साम्राज्य के विरुद्ध किए गए मुस्लिम आक्रमणों ने उस प्रदेश में शैव धार्मिक संस्थानों की प्रगति में बाधा डाली। उस काल तक उनका विकास विरोधविहीन था। वारंगल के पतन के पश्चात, सम्पूर्ण तेलुगु प्रदेश से एक भी ऐसा अभिलेख नहीं मिलता, जो आंध्र प्रदेश के गोलकीमठ अथवा गोलकीमठों के 'शिवाचार्यों' का उल्लेख करता हो। इससे पूर्व उनके उल्लेख प्रायः मिल जाते थे।

तेलुगु प्रदेश में श्रोत शैवों की एक अन्य शाखा थी, जिसे 'आराध्य' शैव धर्म कहते थे। कहा जाता है कि प्राचीन काल से ही इसका प्रसार भी 12 'शिवाचार्यों' द्वारा हुआ, जो सामान्य रूप से 'द्वादशाचार्य' कहलाते थे। इनमें से प्रथम तीन, अर्थात रेवण, मरुल, एवं ऐकोराम, 'सिद्धों' ('सिद्ध-त्रय') के नाम से भी ज्ञात हैं। अगले तीन 'आचार्य', अर्थात उद्भट-आराध्य, वेमन-आराध्य, एवं विश्वाराध्य सामूहिक रूप से 'आराध्य-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके बाद श्रीकंठ अथवा नीलकंठाचार्य, हरदत्ताचार्य एवं भास्कर भट्टाचार्य आते हैं। इनका सामान्य नाम 'आचार्य-त्रय' है, जबकि अंतिम तीन आचार्य, अर्थात श्रीपति पंडित, मल्लिकार्जुन पंडित, एवं मंचन पंडित, 'पंडिताचार्य' कहलाते है। ये सभी गृहस्थ थे, वैदिक संस्कारों एवं कर्मकांडों का अनुकरण करते थे और फिर भी इसके साथ ही संपूर्ण राज्य में शैव धर्म का प्रसार करते थे। इन 'आचार्यों' के शैव मत का अनुसरण करने वाले ब्राह्मणों को 'आराध्य' अथवा 'लिंगधारी' कहते थे। इनके अनुयायियों का भी आंध्र प्रदेश के ब्राह्मणों में विशिष्ट स्थान है। आज भी वे वर्णभेदों का दृढ़ता से पालन करते हैं।

'पंडित-त्रय' में से एक, मल्लिकार्जुन पंडित, गुंटूर जिले में चंदवोलु के चालुक्य-चोल सामंतीय प्रमुख वेलनाटि-चोड का समकालीन था। वेलनाटि ने शक सं० 1085 से 1103 ई० तक राज्य किया। पाल्कुरिकि सोमनाथ ने, जो वारंगल के अंतिम काकतीय नरेश प्रतापरुद्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के शासनकाल के दौरान हुआ था, तेलुगु में 'द्विपद' छंद में मल्लिकार्जुन पंडित की जीवनी लिखी और इस प्रकार उसे अमर कर दिया। यद्यपि मल्लिकार्जुन पंडित ब्राह्मणत्व एवं वैदिक कर्मकांडों का त्याग करने में स्वयं असमर्थ रहा, फिर भी वह बसव का प्रशंसक था एवं उसका आदर करता था। बसव कलचुरि नरेश बिज्जलदेव का मंत्री तथा वीर शैव मत का समर्थक था, जिसने वैदिक संस्कारों एवं कर्म कांडों का तिरस्कार कर दिया था तथा वर्ण भेद की भर्त्सना की। दूसरी ओर कहा जाता है कि उसकी जीवनी का लेखक पाल्कुरिकि सोमनाथ जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कन्नड शैव धर्म के बसव शाखा का मतावलंबी हो गया।

यद्यपि इस काल में कन्नड प्रदेश में बसव द्वारा प्रसारित वीर शैव मत अपनी चरम सीमा पर था, किंतु उसे आंध्र प्रदेश की सामान्य जनता का कोई विशेष समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था। निस्संदेह, आज भी तेलुगु प्रदेश में बसव के वीर शैव मत के अनुयायी मिल जाते हैं, किंतु उनकी संख्या अत्यंत कम है। उन्हें वीर शैव अथवा लिंगायत कहते हैं। काकतीय काल के दौरान, तेलुगु प्रदेश में बसव का वीर शैव मत उतने विस्तृत रूप से प्रचलित न था जितना कि पाशुपत मत था; फिर भी शिव की आराधना अत्यंत लोकप्रिय थी। इस संपूर्ण काल के दौरान शैव धर्म ही प्रमुखतम धर्म था, चाहे वह किसी भी मत का हो।

इस काल के शैव मठ, शैक्षणिक संस्थान भी थे। वे अपने शिष्यों को धार्मिक शिक्षा देने में महत्वपूर्ण योगदान देते थे। गोलकी संघ के सभी महत्वपूर्ण शैव मठों में आचार्यों का प्रबंध था, जो अपने शिष्यों को वेदों, शास्त्रों, अनेक कलाओं, एवं शैव दर्शन की शिक्षा देते थे। मंदिरों में धार्मिक प्रथाओं, संस्कारों एवं उत्सवों तथा छात्रों की शिक्षा के लिए, राजा एवं सामंत इन मठों को भूमि एवं ग्रामों के उदार दान देते थे। इन शैव मठों में से प्रत्येक के साथ एक 'सत्र' (आहार गृह) जुड़ा होता था, जहां यात्रियों के रूप में आने वाले सभी व्यक्तियों को मुफ्त भोजन दिया जाता था।

निस्संदेह, शैव धर्म के अतिरिक्त, 'अर्हत-मत' एवं वैष्णव धर्म जैसे अन्य धर्म भी थे। 'अर्हत-मत' अर्थात जैन धर्म पतनोन्मुख होते हुए भी, अपने साथी धर्म अर्थात कट्टर बौद्ध धर्म की भांति आंध्र प्रदेश से पूर्णरूपेण लुप्त नहीं हुआ था। इस समय तक महात्मा बुद्ध को विष्णु के 'अवतारों' में से एक मान लिया गया था और इस प्रकार उनका हिंदू धर्म में विलय हो गया। किंतु जैन धर्म ने कुछ अंशों में अपना वैयक्तिक स्वरूप बनाए रखा।

सामान्यतया यह माना जाता है कि काकतीयकाल के दौरान जैनियों का हनन किया गया और उनके मंदिरों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। इस वक्तव्य के प्रमाण के रूप में 'बसव पुराण' एवं 'पंडिताराध्य-चरित्र' को उद्धृत किया जा सकता है। इन ग्रंथों में ऐसे कुछ स्थानों का उल्लेख है, जहां नृशंस कार्य किए गए और ऐसे कर्मों के लिए कुछ शैवों के नाम दिए गए हैं। यह सत्य है कि कन्नड़ प्रदेश में बसव मत के 'वीर शैवों' द्वारा जैनियों को बुरी तरह से परेशान किया गया था और उनके मंदिरों को नष्ट कर दिया गया था। वास्तव में सदियों पहले भी जैनियों को तमिल प्रदेश में क्रूरता एवं धर्मांधता का सामना करना पड़ा था तथा उन्होंने तिरुज्ञानसंबंदर एवं अन्य तमिल शैव संतों के हाथों बुरी तरह से मार खाई थी। कहा जाता है कि तिरुज्ञानसंबदर ने मदुरा में जैनियों को एक विवाद में पराजित किया और इस अवसर पर 8000 जैनियों को सूली पर चढ़ा दिया गया। ईसा सं० की सातवीं एवं उत्तरकालीन शताब्दियों में तमिल प्रदेश का अत्यंत भक्तिप्रधान शैव 'भक्ति' संप्रदाय एवं कन्नड़ प्रदेश का आक्रामक वीर शैव मत, जिसकी शिक्षाओं का प्रसार बंडारु बसव ने 12वीं शताब्दी के दौरान किया था,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सामान्य रूप से जैनियों के ह्रास एवं उपर्युक्त नृशंस कर्मों के लिए उत्तरदायी थे। इन क्रूर कर्मों को किए जाने के अधिकांश स्थल निश्चित रूप से तमिल अथवा कन्नड़ प्रदेश में थे, न कि आंध्र प्रदेश में। किंतु इन क्रूर कार्यों का प्रभाव आंध्र प्रदेश में भी पड़ा। परंतु यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि आंध्र प्रदेश में भी उतने ही विस्तृत पैमाने पर विध्वंस एवं नरसंहार हुआ, जितना कि कन्नड़ प्रदेश में हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस प्रकार की कुछ पारंपरिक कथाएं हैं, किंतु अभिलेखीय अथवा अन्य प्रामाणिक समकालीन प्रमाणों से इनकी पुष्टि नहीं होती है। यदि असंदिग्ध प्रमाणों से कुछ छिट-पुट कृत्यों एवं यहां वहां के विद्रोहों की पुष्टि हो भी, तब भी ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस तरह की बहुत सारी घटनाएं हुई हों। दूसरी ओर हम जानते हैं कि बेत द्वितीय के पुत्र प्रोल द्वितीय ने अपने मंत्री, बेतन प्रेग्गड की पत्नी मैलांब द्वारा स्थापित जैन बसदि को भूमि-दान किया।[21] वास्तव में तेलंगाना से प्राप्त काकतीय काल के कुछ अप्रकाशित अभिलेखों में, उस काल में मंदिरों में जैन मूर्तियों के प्रतिष्ठापन का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक प्रमाणों से भी पता चलता है कि प्रतापरुद्र के शासनकाल के दौरान, पाशुपत शैव धर्म के वारंगल केंद्र में जैन भी थे। वीर रुद्रदेव अथवा प्रतापरुद्र के शासनकाल के दौरान किसी अप्पयाचार्य ने, जो जैनधर्म का अनुयायी तथा वारंगल का निवासी था, 'जिनेन्द्रकल्याणभ्युदयं' नामक ग्रंथ लिखा, जिसे 'प्रतिष्ठासार' भी कहते हैं। इस रचना का लेखक पुष्पसेनाचार्य का शिष्य था। उसका कहना है कि उसने ग्रंथ को शक सं० 1241, माघ मास के शुक्ल पक्ष की दसवीं तिथि अर्थात इतवार को पूर्ण किया। किंतु कुल मिलाकर काकतीय काल के दौरान, जैन धर्म पतनोन्मुख था।

शैव धर्म के बाद वैष्णव धर्म का स्थान आता है। भगवान विष्णु के अनेक रूपों के मंदिरों के निर्माण के प्रमाणों एवं उसकी पूजा के उल्लेखों से, इस काल में वैष्णव धर्म का ज्ञान होता है। श्रीवैष्णव धर्म, जो वाद में विजयनगर काल के दौरान अत्यंत प्रचलित था, इस काल में अनुपस्थित था। वास्तव में काकतीय काल में प्रचलित वैष्णव धर्म के रूप के संबंध में बहुत कम ज्ञान ही प्राप्त है। काकतीय नरेशों के किसी भी अभिलेख में किसी भी धार्मिक वैष्णवाचार्य का उल्लेख नहीं है और न ही सामान्यरूप से काकतीय साम्राज्य में शैव धर्म एवं वैष्णव धर्म के पारम्परिक द्वंद्व को प्रकट करने वाले प्रमाण हैं।

काकतीय नरेश मंदिरों के महान निर्माता थे। इस काल के अनेक मंदिर अर्ध-विध्वंसित अवस्था अथवा सुचारु रूप से सुरक्षित स्थिति में अब भी हनुमकोंड, पालंपेट, पिल्ललमर्रि एवं अनेक अन्य स्थानों पर विद्यमान हैं।

इस काल के सामाजिक-धार्मिक जीवन में मंदिर को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ग्रामों के सामाजिक जीवन पर उसका अत्यंत उपकारी प्रभाव पड़ा। वह एक महान धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्था के रूप में भी विकसित हुआ। उसमें प्रतिष्ठापित देवता के अंग भोग एवं रंग भोग के लिए निजी प्रबंध थे। सामान्यतया, व्यवस्थापन में स्थानाधिपति, मंदिर-कोष के लेखे का अध्यक्ष अर्थात 'श्रीकरण', 300 'सानियां' (देवदासियां), प्रतिदिन तथा विशेष अवसरों पर भी देवता की सेवा करने वाले अर्थात 'निबंधकारु', तथा अनेक अधिकारी सम्मिलित थे। सामान्यरूप से मंदिर की सेवाओं में संगीतज्ञों द्वारा संगीतप्रधान मध्यांतर, नृत्य के लिए वार-वनिताएं, बिगुल वादक, ढोलची, 'जलज-करण्ड' के वादक, छोटे एवं बड़े 'काहल', 'भेरी', 'आवज' एवं 'वंश', 'छत्रधारी', 'अंग-रेक', मशाल धारी ('दिव्वे-कोलल-वारु'), शंख वादक ('ऐक-शंकुलवारु धवल-शंकुलवारु'), घंट धातु के घंटों को बजाने वाले ('जेगण्टलवारु'), 'मोखरि' आदि सम्मिलित थे। इन सेवाओं का भुगतान दान की भूमि से प्राप्त आय द्वारा,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या फिर धन अथवा खाद्यान्न अथवा दोनों ही रूपों में प्राप्त वृत्तियों द्वारा होता था। इन मंदिरों के निर्माता-सामंत, राजा, धनी व्यापारी एवं भूमिपति आदि, गीली अथवा शुष्क भूमियों के दान अथवा ग्रामों के उदार दान देते थे, जिनके किराये एवं उपज से धार्मिक प्रतिष्ठानों की देखभाल की जाती थी।

ऐकवीर, माहुरम्म, काकतम्म एवं कामेश्वरी जैसे ग्राम एवं परिवार देवता भी अत्यंत लोकप्रिय थे, और इस संपूर्ण काल में उनकी पूजा साधारण सी बात थी।

इस काल में व्रतों जैसे अनेक धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का बहुत अधिक महत्व हो गया था। 'कल्प' ग्रंथों में वर्णित, 'अशून्य-शयन-व्रत', लक्ष्मी-नारायण-व्रत', 'शुक्ल एवं कृष्ण द्वादशी व्रत', 'अनंत-अरुंधती-व्रत' एवं 'जलशयन व्रत', आदि का उल्लेख काकतीय अभिलेखों में भी मिलता है। व्रत को संपन्न करने से अनुष्ठानकर्त्ता को पर्याप्त पुण्य मिलता था। इसी उद्देश्य से प्राय: तीर्थ स्थानों की यात्राएं भी की जाती थीं। जो स्वयं इन यात्राओं पर जाने में असमर्थ थे, वे अपने प्रतिनिधि द्वारा ही उसे संपन्न करते थे।

संदर्भ

1. 'कार्पस', नं० 12, पृ० 55.
2. वही, नं० 7, पृ० 27 पर अभिलेख की 50वीं पंक्ति के पश्चात निम्न पद्य लुप्त हैं। इसकी ज्यों की त्यों नकल, बिना किसी सुधार के, 'मैकेंजी पाण्डुलिपि.' में से की गई है :

   '—रमेम्ब-हल्लियं-माडि तन्न पेसर-देवालयं
   गल निर्मिसि या बेतेश्वरदेवरंगे-भोगक्कं
   रंग-भोगक्कुं देवालयद-खण्डस्फुटि
   त-नव-सुधा-कर्म-निर्माणक्कुं-अल्लिर्प त-
   पोधनर्गन्नदानवकुं-अतिथि स-'.

3. वही, 55 से 59 पंक्ति तक मूल पाठ इस प्रकार होना चाहिए : 'पल्लियं कालामुखतपोधनरुं श्रीप० (र्व) त-प्रसिद्ध (घ)-मल्लिकार्जुन-शिलामठ-आचार्य् (यं) रुं-अप्प-प० (र्व) तावलिय रामेश्वर पण्डित र (र्गे)', आदि.
4. 'ए० इं०', xxiii, पृ०163-5.
5. वही, पृ० 165 आदि.
6. वही, v, पृ० 218, 220.
7. वही, पृ० 219.
8. इस अभिलेख की 54, से 60वीं पक्ति का निम्न अनुवाद (जैसा कि 'कार्पस आफ इंसक्रिप्शंस इन दि तेलंगान डिस्ट्रक्ट्स,' में दिया गया है) गलत है : '(पंक्तियां 54 से 60) कालामुख (मत) के यति, श्रीपर्वत के प्रसिद्ध मल्लिकार्जुन-शिलामठ के अध्यक्ष, अप्प-पर्वत के ठलिय-रामेश्वर पंडित को···'
9. 'कार्पस', नं० 12, पृ० 55.
10. 'ए० ई०', iv, पृ० 220,
11. 'सा० इं० इं०', iv, नं० 1229.
12. 'ए० इं०', ix, पृ० 259.
13. दोनों ही 28 वें 'योगाचार्य' लकुल अथवा लकुलीश्वर के सिद्धांतों का अनुकरण करते हैं। कापालिकों, कालामुखों आदि को पाशुपत मत की ही शाखाएं माना जाता है—के० ए० नीलकंठ शास्त्री द्वारा संपादित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'ए काम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री आफ इंडिया—दि मौर्याज एंड दि सातवाहनाज', पृ० 397, टिप्पणी 2.

'लाकुल-सिद्धांत' एक वैशेशिक मत है. उसे वैदिक मत भी कहते हैं. लकुलि के शिष्य मुख्य रूप से न्याय के अनुयायी थे. किंतु कालांतर में न्याय एवं वैशेषिक एक हो गए. 'ज० आ० हि० रि० सो०', xiii, पृ० 177.

'फिर इस पाशुपत मत को नकुलीशु कालामुख, योग, शैव, नैयायिक आदि अनेक नामों से पुकारा जाने लगा—आर० अनंतकृष्ण शास्त्री कृत 'दि पाशुपत सूत्राज विद द पंचार्थ-भाष्य आफ कौंडिन्य' की भूमिकामें, पृ० 5.

14. 'सा० इं० इं०', x, नं० 315, पृ० 205-1; 'ज० आ० हि० रि० सो०', iv, पृ० 916 से.

15. गोलकी-मठ से संबंधित अपने अत्यंत रोचक लेख में रायबहादुर हीरालाल ने विस्तार से बताया है कि इस मठ का नाम कैसे पड़ा :

वह कहता है, इस (चेदि) प्रदेश में गोलकी-मठ जैसा भव्य कहलाने वाला कोई भी शैव मठ न था. केवल एक अपवाद भेड़ाघाट का चौंसठ जोगिनी मंदिर था, जो पाशुपत संप्रदाय के लिए उपयुक्त था और गोलकी-'मठ' के आचार्य एवं पुरोहित इसी मत के अनुयायी थे. इस संप्रदाय (पाशुपत) की प्रमुख विशेषता स्त्री शक्ति की पूजा है और भेड़ाघाट मठ में तो अनेक जोगिनियों की मूर्तियां हैं, जिनकी संख्या पारंपरिक चौंसठ से भी अधिक है. मठ का आकार गोल अर्थात वृत्त है और यदि जोगिनियों द्वारा घेरे गए रूप के आधार पर नाम दिया गया था, तो गोलकी अत्यंत उपयुक्त नाम था. किंतु कुछ अभिलेखों में दिए गए 'गोल-गिरि' नामक वैकल्पिक नाम से पता चलता है कि, मठ का नाम उस पहाड़ी से पड़ा, जिस पर वह स्थित था और नाम की यह उत्पत्ति भी अत्यंत स्वाभाविक है. चौंसठ जोगिनी मठ वृत्ताकार पहाड़ी पर स्थित था, जो गोल-'गिरि' कहलाती थी. जब वहा पर 'मठ' बना तो पहाड़ी का मूल नाम तो लुप्त हो गया और वह वहां पर स्थापित देवियों के नाम से जानी जाने लगी. यह स्मरणीय है कि भेड़ाघाट शब्द, पहाड़ी का नाम नहीं हो सकता. यह तो केवल उस स्थल पर नर्मदा के घाट का ही उल्लेख करता है. अत: इसका गोलकी-'मठ' के नाम से तनिक भी संबंध नहीं है. मेरा विचार यह है कि, मूल नाम गोलगिरि-'मठ' था, जो कालांतर में गोलकी-'मठ' हो गया. इस संदर्भ में यह भी कथनीय है कि, पुरातत्व पर्यवेक्षक एवं दक्ष लिपिशास्त्रज्ञ, श्री आर डी बनर्जी ने विचार प्रस्तुत किया कि, 'जोगिनियों की चौकियों पर उत्कीर्ण नामों की लिपि 10वीं शताब्दी की है. जिस काल में युवराजदेव हुआ था'.—'ज० बि० उ० रि० सो०', xiii, (1117), पृ० 138.

16. 'मे० आ० स० इं०', नं० 23, पृ० 1.

17. गुर्रि अभिलेख, 'ए० इं०', xxii, पृ० 127.

18. 'ए० इं०', xxv, पृ० 127.

19. 'ज० आ० हि० रि० सो०', iv, पृ० 146 से; 'सा० इं० इं०', x, नं० 315.

20. वही, यह ध्यान देने की बात है कि यहां पर विश्वेश्वर शिव द्वारा स्थापित मठ को शुद्ध शैव कहा गया है.

'तीर्थं विभज्य तत्-शिष्टं-ऐकं भागं पिनाकिने
विद्यार्थिभ्योऽपरं भागं शुद्ध शैव मठाय च
प्रसूत्यारोग्य-शालाभ्यां विप्र-सत्राया चेतरामं
प्रादाद्-विश्वेश्वर-शिवस्-शैव-सिद्धांत-पारगः'

पाशुपत शैव धर्म के 'वैदिक' एवं 'तांत्रिक' नामक दो प्रकारों में से ही एक शुद्ध-शैव प्रतीत होता है. 'कारणागम' के अनुसार पाशुपत-व्रत के दो प्रकार थे : एक तो 'वैदिक' और दूसरा 'तांत्रिक'. पूर्वोक्त तो द्विजों के लिए और तांत्रिक अन्य (द्विजों के अलावा) के लिए बताया गया था :

वैदिकं तांत्रिकं च—ऐति
व्रतं-एताद्-द्विधा भवेत्
द्विजानां वैदिकं प्रोक्तं-
अन्येषां तांत्रिकं स्मृतं ।'

रायबहादुर हीरालाल ने गोलकी-'मठ' से संबंधित अपने एक लेख में कहा है : निस्संदेह (गोलकी-वंश)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संप्रदाय के सिद्धांत तांत्रिक थे, जिसमें जनकल्याण के लिए मानव-बलि का भी प्रबंध किया गया था'. चूंकि गुंटूर जिले में मंदारं के स्थान पर विश्वेश्वर शंभु द्वारा संस्थापित मठ, 'शुद्ध शैव मठ' था, अत: तेलुगु प्रदेश में गोलकी मठ का स्वरूप 'अ-तांत्रिक' अर्थात 'वैदिक' अथवा 'श्रोत शैव' प्रतीत होता है. 'शुद्ध शैव' मठ का 'तांत्रिक पाशुपतों, से कोई संबंध न था.

21. 'ए० इं०', ix, पृ० 256 से.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड दस

ललित कलाएं

स्थापत्य, मूर्तिकला एवं चित्रकला

गुलाम याजदानी, एम० ए० डी० लिट०, ओ० बी० ई०

1. प्रारंभिक अभिवचन, सामान्य सवक्षण.
2. स्थापत्य कला : उत्पत्ति एवं विकास; कला के क्रमिक विकास में धर्म का महत्व.
3. मूर्तिकला : बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मणिक; इनका आध्यात्मिक एवं कलात्मक महत्व.
4. चित्रकला : उसका उदय, विकास, एवं ह्रास.

परिशिष्ट :

(अ) उत्खननों से प्राप्त मृण्मूर्तियां.

(ब) दकन की मूर्तिकला एवं चित्रकला में निरूपित नृत्य कला.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

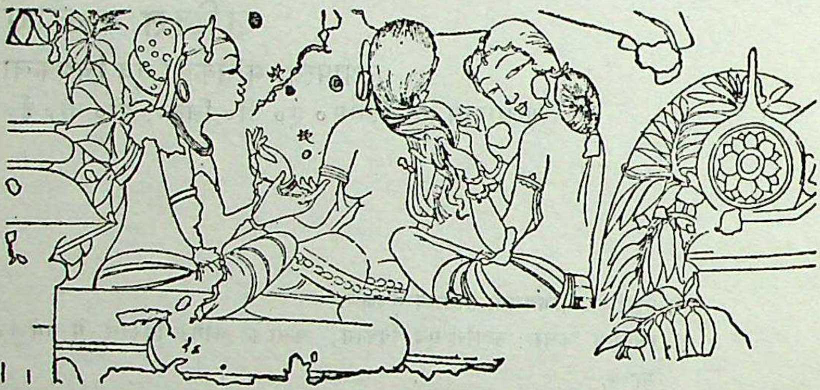

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारंभिक अभिवचन

दकन के आदिम मानव द्वारा चट्टानों पर की गई नक्काशी के कुछ नमूने शेष रह गए हैं, जो अनगढ़ होते हुए भी, मनुष्यों तथा पशुओं के चित्रण में उसकी कलात्मक प्रतिभा को उद्भासित करते हैं। इन चित्रों के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण रायचूर जिले के गंगावती 'तालुक' में बेंकल नामक ग्राम के निकट एक पहाड़ी में मिलते हैं।[1] इनमें से एक चित्र शिकार का दृश्य प्रस्तुत करता है, जिसमें आश्वारोहियों का चित्रण प्रमुख है[2]। एक शिकारी के पास कुल्हाड़ी है, जो बहुत कुछ धातु के हथियार से मिलती हैं, और इस आधार पर चित्र को लौहयुग से अधिक पूर्व का नहीं माना जा सकता—हो सकता है कि वह और बाद का ही हो। प्राचीन भवनों के एक अन्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली दकन की महापाषाण कब्रें हैं, जो अपनी उत्पत्ति में बौद्ध स्थापत्य रूपों से संबंधित हैं। वे बड़ी संख्या में मिलती हैं, और उनमें से पत्थरों के घेरे में स्थित 'संगोरे', बौद्ध 'स्तूपों', से मिलते हैं और यह संभव है कि वे उन्हीं स्तूपों की आरंभिक मूलाकृति हों। किंतु ललित कला के रूप में स्थापत्य कला की कुछ सौंदर्यात्मक विशेषताएं होनी चाहिए और उसे बौद्धिक प्रगति एवं जीवन के विभिन्न पक्षों के विकास संबंधी मानवीय कृत्यों को रूपायित करने के सृजनात्मक प्रयास को भी प्रकट करना चाहिए। दकन के प्रागैतिहासिक अवशेष इस मानदंड से बहुत निम्न स्तर के हैं, अतः इस अध्ययन में उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता।

लिपिज्ञान के आधार पर ललित कला के प्राचीनतम उदाहरण बौद्ध पुरावशेष हैं, जिनमें चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य संबंधी विषयसामग्री है। किंतु वे ई० पू० द्वितीय शताब्दी से अधिक पूर्व के नहीं हैं, हालांकि उनमें निहित कला अत्यंत विकसित स्तर की है, और उस अवस्था तक पहुंचने के लिए एक या दो अथवा अधिक सहस्राब्दियां लगीं होंगी। इस धारणा के विस्तार एवं औचित्य को बताने के लिए यह द्रष्टव्य है कि कोंडाणे एवं बेडसा की गुहाओं के अग्रभागों में मुड़ी हुई दीवारगीरी पर आधारित, आगे को निकले हुए छज्जों एवं भव्य डिजाइन की जालीदार पर्दोंवाली गहरी खुदी हुई खिड़कियों से युक्त चार मंजिलों के भवन, स्थापत्य कला के निरंतर विकास एवं लंबी परंपरा को प्रदर्शित करते हैं। ये अकस्मात ही ई० पू० द्वितीय शताब्दी में उत्पन्न नहीं हो सकते। इन अवशेषों की यह तिथि, उन पर उत्कीर्ण अभिलेखों के आधार पर निर्धारित की गई है।[3] कोंडाणे के 'विहार' की चट्टान की छत में खुदे हुए छोटे-बड़े शहतीरों के प्रबंध से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है। उनके प्रबंध से एक ओर तो भवन की दृढ़ता को सुरक्षित करने के लिए आभियांत्रिकी सिद्धांतों का, और दूसरी ओर उचित मापों के शहतीरों के न्यायोचित प्रयोग द्वारा निर्माण खर्च की मितव्ययता का पता चलता है।

मूर्तिकला के उदाहरणों के लिए भी, पुनः उपर्युक्त भवनों का उल्लेख करना उचित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा; हालांकि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में संपूर्ण दकन में संगतराशों की कला अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई प्रतीत होती है, और अमरावती की मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित पूर्वी क्षेत्र की मूर्तिकला उतनी ही सुस्पष्ट एवं शोभायुक्त है, जितनी मध्य एवं पश्चिमी क्षेत्रों की। बेडसा एवं कोंडाणे की मूर्तियों में से, जिनके विस्तृत वर्णन को इस खंड में बाद में दिया जाएगा, बेडसा की 'चैत्य-गुहाओं' में अश्वों पर सवार 'यक्षों' एवं 'यक्षिणियों' का चित्रण, अपनी अवधारणा में इतना निर्भीक तथा अभिव्यक्ति में इतना सजीव है कि, उन्हें विश्व की सर्वोत्तम मूर्तिकला के उदाहरणों के साथ रख सकते हैं। चूंकि यह कला पूर्ण रूप से स्वदेशी है, अतः तकनीक की ऐसी परिपक्वता एवं शैली की ऐसी दृढ़ता प्राप्त करने के लिए, इसका उदय अनेक शताब्दियों पूर्व हो गया होगा। कोंडाणे की 'चैत्य-' गुहा में नर्तकों का चित्रण केवल उनकी भंगिमाओं के कारण ही आनंददायक नहीं हैं, अपितु वे जीवन के पूर्ण महत्व पर आधारित भावना की विपुलता को भी प्रकट करते हैं। इन उदाहरणों के बौद्धिक एवं तकनीकी गुण अत्यंत विकसित कला का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनसे दीर्घकालीन अभ्यास एवं विचारों की निरंतर प्रगति का पता चलता है।

सौभाग्यवश इस काल की चित्रकला के भी कतिपय उदाहरण प्राप्त हैं, और वे भी ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व काल में दकन की कला की उत्पत्ति संबंधी उपर्युक्त विचार की पुष्टि करते हैं। ये उदाहरण अजंता की 'चैत्य' गुहा नं० 10 में सुरक्षित हैं, जिसमें दो अभिलेख भी हैं, जो इसकी तिथि निर्धारित करने में सहायक हैं। उनमें से एक तो गुहा के द्वार पर उत्कीर्ण है, और दूसरा उसके बांए पार्श्व की दीवार पर चित्रित है। भारतीय एवं यूरोपीय···दोनों ही तरह के अभिलेखविदों के अनुसार, जिनमें जर्मन विद्वान प्रो० ल्युडर्स प्रमुख हैं, चित्रित अभिलेख ई० पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य का है, जबकि द्वार का अभिलेख और पहले का है, क्योंकि उसके कुछ अक्षर मौर्यलिपि के प्रतीत होते हैं। पूर्वोक्त अभिलेख से संबंधित चित्र में एक बौद्ध कथा है—जिस बोधिवृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था, वहां पर एक राजा की यात्रा को चित्रित किया गया है। बोधिवृक्ष के पास का भाग पर्याप्त सुरक्षित है, और इसमें बाईं ओर परिवार एवं परिजनों सहित राजा का चित्रण है। दाईं ओर 15 कलाकारों से युक्त गीतज्ञों एवं नर्तकों का दल है। चित्रकार ने मानव जीवन के सभी पक्षों—धार्मिक एवं लौकिक को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, तथा रूपचित्रण न केवल आध्यात्मिक भावना को अभिव्यक्त करता है, अपितु संसार की सुंदर विशेषताओं के प्रति उल्लासमय दृष्टिकोण भी प्रकट करता है। यह चित्र एक ओर भावना का और दूसरी ओर केवल पूर्णविकसित कला में पाई जाने वाली तकनीकी बारीकियों का सुंदर संगम प्रस्तुत करता है।

दकन की ललित कलाओं की प्रचीनता पर बल देते हुए दो प्रासंगिक प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह है कि क्या इन कलाओं का सिंधु घाटी की सभ्यता से कोई संबंध है, जिसकी तिथि को लगभग ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी के मध्य में रखा गया है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या अपनी उत्पत्ति एवं मुख्य विशेषताओं में ये कलाएं स्वदेशी हैं अथवा पश्चिमी एशियाई देशों की कलाओं पर आधारित हैं। प्रथम प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है क्योंकि दकन की मूर्ति एवं स्थापत्य कलाओं की शैली एवं तकनीक में और सिंधु सभ्यता की कला में कोई साम्य नहीं है। जब तक मोहरों पर लिखे गए लेख पढ़े नहीं जाते और उनसे विरोधी तथ्य निरूपित नहीं होते तब तक यह मान सकते हैं कि सिंधु घाटी के पुरावशेष, बेबीलोनिया एवं पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओं से अधिक साम्य रखते हैं, न कि ई० पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के दौरान दकन में उदित कला के नमूनों से।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरे प्रश्न के संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में या उससे भी पहले, इतिहास एवं समकालीन अभिलेखों में 'शकों' (सीथियनों), 'पह्लव' (पार्थियनों) एवं 'यवनों' (ग्रीक) के नामों से प्रसिद्ध विदेशियों ने बड़ी संख्या में दकन में प्रवेश किया और वे देश की सामान्य जनता में मिल गए। इनमें से सबसे पहले आने वाले संभवतः 'शक' अथवा सीथियन थे, जो कैस्पियन सागर के तट पर स्थित अपने मूल निवास स्थान को छोड़ने के बाद फार्सिस्तान के पूर्वी प्रदेश में रहे। यही प्रदेश बाद में उनके नाम से सीस्तान (सकिस्तान-सजिस्तान का अरबी रूप) कहलाया। वे संभवतः अफगानिस्तान एवं सिंध के मार्ग से भारत आए और सिंध के रास्ते आने वाले प्रवासी दकन की ओर फैल गए। कुछ प्रसिद्ध पुरातत्वविदों के अनुसार दकन की महापाषाणीय कब्रें इन्हीं सीथियन प्रवासियों की हैं, क्योंकि ये विश्व के उन अन्य प्रदेशों की कब्रों से मिलती हैं, जहां सीथियन गए थे। यदि यह विचार मान लिया जाए, तो दकन में सीथियनों का प्रवेश ईसा से अनेक सहस्राब्दियों पूर्व हो गया था, क्योंकि अधिकांश महापाषाणीय कब्रों में पाए जाने वाले मृद्भाण्ड एवं लौह-ताम्र हथियार प्राक्-सभ्यता की ओर ही इंगित करते हैं।

'पह्लव' नामक विदेशी 'शकों' के बाद आए और ई० पू० पांचवी शताब्दी में महात्मा बुद्ध द्वारा अपने सिद्धांतों के प्रसार से पहले ही, उत्तर-पश्चिमी भारत के समान ही दकन एवं उसके उत्तर और उत्तर-पश्चिम की सीमा के प्रदेशों में भी 'पहलवों' की बस्तियां रही होंगी। यवन (यूनानी) लोग सर्व प्रथम सिकन्दर के साथ भारत आए और दक्षिणी प्रांतों में उनका विस्तार संभवतः अपने राजनीतिक प्रभुत्व को बढ़ाने एवं बौद्ध धर्म के प्रसार से संबंधित था, क्योंकि अनेक 'यवनों' के नाम इस धर्म के अवशेषों से संबंधित है।

अब स्वयं भवनों का अध्ययन करते समय हमें यह देखना चाहिए कि, यद्यपि कुछ पुरातत्वविदों ने दकन के शिला मंदिरों की शैली को मिस्र एवं फारस की शिला-कब्रों के स्थापत्य से संबंधित बताया है फिर भी प्राक्-काल में आत्मसुरक्षा और बाद में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्रगति की अवस्था में मनन एवं आत्मजागरण के लिए गुफाओं में रहने का विचार पूर्व एवं पश्चिम—दोनों के ही मानवमन में अंतर्निहित रहा है। प्राकृतिक गुहाओं ने 'ऋषियों' के निवास स्थल के रूप में पवित्रता प्राप्त कर ली होगी और उन्हीं के आराम के लिए, उनके भक्त शिष्यों ने अपने श्रद्धेय 'गुरुओं' के निवास की अनियमितताओं को दीवारों एवं छतों को ढक कर तथा जमीन को समतल करके दूर किया होगा। यह प्रवधि कालांतर में विकसित हुई और चट्टानों को काट कर मंदिरों एवं 'स्तूपों' के निर्माण की पारंपरिक शैली का उदय हुआ। अतः अपनी उत्पत्ति एवं विकास में, दकन के गुहामंदिर स्वदेशी ही हैं; और उनकी स्थापत्यकला लकड़ी अथवा ईंट एवं पत्थर के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन भवनों की नकल थी। लकड़ी की स्थापत्य कला का प्रभाव केवल स्तंभों के आकार एवं उनके आंतरिक झुकाव में ही दृष्टिगोचर नहीं होता,[3] अपितु कार्ले, कोंडाणे एवं अजंता की आरंभिक 'चैत्य' गुहाओं की आंतरिक छतों में लगे हुए लकड़ी के अर्धवृत्ताकार शहतीरों से भी प्रकट होता है। ये शहतीर वास्तव में शिला-मंदिरों में निरर्थक हैं, किंतु लकड़ी के भवन की आंतरिक छतों की तो अवश्य विशेषता होंगे। इसी प्रकार कोंडाणे की 'विहार' गुहा में प्रयुक्त शहतीरों से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि वे ईंट अथवा पत्थर से निर्मित भवनों की सपाट भीतरी छतों की नकल है। पर्याप्त आरंभिककाल से ही दकन में बड़े आकार एवं सुदृढ़ स्वरूप की ईंटों का निर्माण होता था। अजंता के उत्खननों में गुहा नं० 10 के द्वार के आधार से प्राप्त ईंटें लगभग ई० पू० द्वितीय शताब्दी की हैं, क्योंकि अग्रद्वार के निर्माण का उल्लेख करनेवाला अभिलेख ई० पू० द्वितीय शताब्दी के अक्षरों में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही है।[4] ई० पू० तृतीय से प्रथम शताब्दियों के दौरान अथवा उससे पहले भी, दकन में धार्मिक एवं अन्य भवनों में दीवारों के लिए ईंटों का प्रयोग करना अत्यंत साधारण सी बात थी। इसी प्रकार यद्यपि अधिकांश निवासस्थल बेलनाकार अथवा वृत्ताकार छतों वाले लकड़ी के भवन थे, फिर भी लकड़ी के शहतीरों पर आधारित सपाट आंतरिक छत का भी प्रचलन आरंभ हो गया था। इनमें से कुछ भवन एक से अधिक मंजिलों के थे, और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उनमें छज्जे एवं भवन के सामने खुलनेवाली जालीदार खिड़कियां भी थीं। अधिकांश जनता मिट्टी की दीवारों एवं घास-फूस खल पुआल की छतों से बनी झोंपड़ियों में रहती थी। ऐसी झोपड़ियां आजकल भी गांवों में देखने को मिलेंगी। पुरातात्विक भवनों अथवा अजंता के आरंभिक चित्रों में चित्रित अथवा बौद्ध गुहाओं की मूर्तिकला में सन्निहित स्थापत्य कला में कोई भी विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। 'चैत्यों' का एक ओर का अर्धचंद्राकार स्वरूप एक मात्र अपवाद है। यह रोमन गिरजों अथवा उनसे भी पहले के माल्टा के फिनीशियन मंदिरों के स्थापत्य से काफी मिलता है, हालांकि इन पश्चिमी उदाहरणों में भवन की लम्बाई की दिशा में दोनों ही ओर अर्धवृत्ताकार स्वरूप हैं। मुस्लिम परंपरा के अनुसार ऐब्रहम द्वारा निर्मित काबा के भी एक ओर अर्द्धवृत्ताकार विस्तार हैं, जिसे आजकल 'हटीम' कहते हैं। प्राचीन फिनीशियन मंदिरों के अध्ययन से पता चलता है कि भवन का वर्गाकार अथवा आयताकार भाग देवताओं की मूर्तियों की स्थापना के लिए होता था, तथा अर्धवृत्ताकार अथवा वृत्ताकार प्रक्षेप देवताओं के लिए यज्ञादि करने के स्थान थे। राजा डेविड के काल में फिनिशियन लोग दवा निर्माता एवं काष्ठ उत्कीर्णक थे, और उसने जेरुसलम में एक मंदिर के निर्माण में सहायता के लिए फिनीशियन कारीगरों को आमंत्रित किया था।[5] फिनीशियन महान समुद्र व्यापारी भी थे। और 'ओल्ड टैस्टमेंट' में सोने, मसाले एवं मोरों के उल्लेख से, जो विशेषरूप से भारत के पश्चिमी तट से संबंधित हैं, पता चलता है कि दकन के पश्चिम भाग तथा पश्चिमी एशियाई देशों के बीच समुद्री व्यापार भी होता था। अतः इस बात की संभावना है कि मक्का के समान भारत में भी फिनीशियनों के देवालय के अर्धचंद्राकार योजना की नकल की गई थी। मक्का फिलिस्तीन से यमन जाने वाले कारवां मार्ग पर बीच में स्थित था। यहां पर यह स्वरूप स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि आरंभ में यज्ञादि के लिए वृत्ताकार गर्त की आवश्यकता हुई होगी, जो बाद में पूजा-वेदी का पारंपरिक रूप हो गया होगा। किंतु इस दूसरे मत के विरुद्ध कुछ तथ्य ये हैं कि भारत में मंदिरों का अर्ध चंद्राकार रूप बौद्ध धर्म के लुप्त होने के साथ साथ ही लुप्त हो गया और दक्षिण में केवल एक या दो मंदिरों को छोड़कर अन्यत्र किसी भी ब्राह्मणिक मंदिर में यह रूप देखने को नहीं मिलता। देवताओं को बलि चढ़ाना आरंभ से ही ब्राह्मण धर्म की एक विशेषता थी, और यदि मंदिरों के अर्धचंद्राकार रूप का उदय एवं विकास दकन अथवा भारत में हुआ होता, तो बौद्ध धर्म के लुप्त होने के पश्चात उसका त्याग नहीं किया जाता।

पश्चिमी एशियाई प्रभाव के कुछ चिह्न दकन की आरंभिक मूर्तिकला में भी देखे जा सकते हैं, जैसा कि औरंगाबाद जिले के पितलखौरा नामक स्थान पर पंखयुक्त पक्षियों कोंडाणे, कार्ले, अजंता एवं अन्य आरंभिक बौद्ध स्थलों में उत्कीर्ण सीढ़ीनुमा मुंडेर, तथा दकन के अनेक प्राचीन अवशेषों में स्तंभों के घंटाकार शीर्षों में द्रष्टव्य हैं। इनमें से पंखयुक्त पक्षी असीरिया की मूलाकृतियों से साम्य रखते हैं; उत्तरी अफ्रीका के मुस्लिम भवनों में प्रचलित सीढ़ीनुमा मुंडेर हाल ही में उर के भवनों में भी मिली है और वहीं से भारत में भी आई होगी। घंटाकार स्तंभशीर्ष परसीपोलिस के अपने प्रारूपों से बहुत मिलते हैं और भारत में इस रूप का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरंभ बौद्ध धर्म में परिवर्तित आरंभिक पार्थियनों (पहलवों) द्वारा हुआ होगा। किंतु इस प्रकार के साम्य बहुत थोड़े हैं और इनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि दकन की स्थापत्य, मूर्ति अथवा अन्य कलाएं पूर्णरूपेण अथवा अधिकांशतः विदेशी मूल की हैं।

चूंकि आरंम्भिक काल की कला के नमूने नर्मदा एवं गोदावरी के उत्तर की अपेक्षा दकन में अधिकविकसित रूप में मिलते हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी भारत की अपेक्षा दकन में ललित कलाओं का उदय एवं विकास केवल स्वतंत्र रूप से ही नहीं हुआ, अपितु पहले भी हुआ था। उदाहरणार्थ, बिहार एवं उड़ीसा के शिलामंदिरों की अपेक्षा दकन के शिलामंदिरों की स्थापत्य एवं मूर्तिकला अधिक उच्च कोटि की है। सारनाथ के सिंह शीर्ष एवं सांची की नक्काशी की श्रेष्ठ कारीगरी के संबंध में यह द्रष्टव्य है कि पूर्वोक्त उदाहरण को भारतीय कारीगरी का प्रतिनिधि मानना संदेहपूर्ण है, जबकि सांची में अनेक अभिलेखों से पता चलता है कि उस महानस्तूप के निर्माण एवं अलंकरण के लिए दकन के कारीगर बुलाए गए थे। राजनीतिक दृष्टि से आंध्रवंशी इतने शक्तिशाली थे कि वे मौर्य के अतिक्रमणों का विरोध कर सकें और वास्तव में मौर्यों के पश्चात उन्होंने उनके उत्तराधिकारियों अर्थात शुंगों को हराकर, लगभग मगध की सीमा तक उनके साम्राज्य के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था। अशोक के काल में दकन में स्वर्ण उद्योग पल्लवित अवस्था में था, तथा कौटिल्य एवं आरंभिक विदेशी लेखकों द्वारा रत्नों एवं वस्त्रों के निर्यात संबंधी उल्लेखों से इस विचार की पुष्टि होती हैं कि ईसवी सन के तत्काल पूर्व की शताब्दियों के दौरान दकन केवल व्यापार की मंडी ही नहीं था अपितु संस्कृति एवं सभ्यता का महान केंद्र भी था।

यह भी द्रष्टव्य है कि दकन की मूर्ति अथवा चित्रकला में दिखाए गए मानवीय रूप मुख्यतः आदिवासियों के हैं,[6] जिससे यह पता चलता है कि देवी एवं देवताओं के रूप को प्रदर्शित करते समय भी मूर्तिकार एवं चित्रकार के मस्तिष्क में अपनी ही जाति के लोग थे। किंतु दकनी कला की यह विशेषता तृतीय ई० शताब्दी में लुप्त हो गई, जबकि आंध्रों के बाद वाकाटक आए, जिन्होंने गुप्त वंशियों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए थे। दकन की उत्तरकालीन मूर्तियों एवं चित्रकला में मुख्य व्यक्तियों के नक्श आर्यन हैं और आदिवासी नक्श केवल परिचारकों के अथवा उनसे मिलते हुए रूप में प्रदर्शित किए गए हैं।

ईसा सं० के तत्काल पूर्व अथवा बाद की शताब्दियों में कुम्हार की कला भी पर्याप्त विकसित थी। कोंदापुर उत्खननों से प्राप्त मृण्मूर्तियां केवल मुखाकृतियों को सही रूप से बनाने में कारीगर की दक्षता को ही प्रदर्शित नहीं करतीं, अपितु अर्ध-धार्मिक व्यक्तियों के स्वरूप एवं भावनाओं को अभिव्यक्त करने में श्रेष्ठ कला की भी परिचायक हैं। स्वर्णकार की कला भी श्रेष्ठता की उच्च अवस्था में पहुंच चुकी थी और दकन की आरंभिक स्थापत्य एवं मूर्तिकला में पाए जाने वाली अनेक अलंकारपूर्ण विशेषताएं स्वर्णाभूषणों के डिजाइनों एवं प्रतिरूपों से ली गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी कलाएं एक दूसरे से संबंधित थीं और जैसे श्रेष्ठ मूर्तिकार ने शिला-मंदिरों के प्रारूप तैयार करने का भी कार्य किया होगा, उसी प्रकार अलंकरणयोजनाओं में स्वर्णाकारों ने भी योगदान दिया होगा। यह अलंकरण इन भवनों की महत्वपूर्ण विशेषता है। जब दकन की स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकलाओं का तिथक्रम से अलग अलग वर्णन किया जाएगा तो इन प्रश्नों की विस्तारपूर्वक विवेचना की जाएगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. बेंकल पहुंचने के लिए सर्वोत्तम मार्ग गंगावती-गिनिगेर सड़क से है; गंगावती की ओर से आते हुए, छठ मील-स्तंभ के पास से कच्चा रास्ता जाता है।
2. कोंडाणे एवं वेडसा—दोनों ही अब बंबई राज्य में है, किंतु ईसा संवत से तत्काल पूर्व की शताब्दियों में वे दकन के आंध्र साम्राज्य में होंगे.
3. ऐसा प्रतीत होता है कि स्तंभों के बर्तनाकार आधार भी लड़की के स्तंभों से लिए गए थे, जिनके किनारों को दीमक के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए बर्तनों में गाड़ दिया जाता था.
4. अजंता से प्राप्त ईंटों का आकार इस प्रकार है : 'लंबाई 22 इंच, चौडाई 12 इंच और मोटाई 3 इंच. ऐसे ही मापों की ईंटें सातवाहनों की प्राचीन राजधानी पैठन के उत्खननों से भी प्राप्त हुई हैं। इससे कुछ छोटी किंतु अत्यत कठोर स्वरूप की ईंटें कोंदापुर के उत्खननों में मिली हैं। इनमें फानाकार एवं वर्गाकार ईंटें भी हैं। फानाकार ईंटों का प्रयोग 'स्तूप' के वृत्ताकार आधार के लिए किया जाता था.
5. 'क्रानिकल्ज़', पृ० 2-4, 15.
6. कुछ स्थानों पर शकों अथवा 'पहलवों' जैसे विदेशियों के मूर्तिचित्र, गुहाओं के दाताओं के रूप में उत्कीर्ण हैं. पगड़ी, वेषभूषा एवं जूतों आदि से उन्हें सुगमतापूर्वक पहचाना जा सकता है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापत्य कला

प्रारंभिक अभिवचन में यह कहा जा चुका है कि दकन की स्थापत्य कला के प्राचीनतम उदाहरण बौद्ध धर्म के हैं, जो वहां पर ई० पू० तृतीय शताब्दी से लेकर सातवीं ई० शताब्दी तक पल्लवित रहा और फिर लगभग लुप्त हो गया। इस काल के दौरान अनेक शासकों ने ब्राह्मण धर्म को संरक्षण प्रदान किया, किंतु दकन की स्थापत्य कला के इतिहास के लिए इस धर्म का पुनर्जागरण छठी शताब्दी ई० में चालुक्यों के काल में हुआ, जो स्थापत्य कला के उत्साही संरक्षक थे। उन्होंने अपनी राजधानी बादामी को अनेक चट्टान मंदिरों से अलंकृत किया, जिनमें से कुछ अब भी विद्यमान हैं और दकन में इस शैली के प्राचीनतम ब्राह्मण भवनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दकन के उत्तरी भाग में चालुक्यों को राष्ट्रकूटों ने खदेड़ दिया था, जिन्होंने सातवीं-आठवीं ई० शताब्दी के दौरान एलोरा नामक स्थान पर कुछ उच्च कोटि के मंदिरों का निर्माण करवाया। ये मंदिर एकाकी शिलाओं में से काट कर बनाए गए हैं; हालांकि अग्र कक्ष, 'नंदी' बैल का कक्ष, तथा सामने बरामदे एवं पीछे प्रतिमागृह वाले हाल से युक्त मंदिर की योजना उसी समय बनाए जा रहे ईंटों एवं पत्थरों के मंदिरों की नकल पर है। एलोरा में चट्टानों से बने जैन मंदिर भी हैं, जो संभवत: 8वीं एवं नवीं शताब्दी ई० में बने थे। इनमें से इंद्र सभा समूह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और वास्तव में आलंकारिक विवरण एवं कारीगरी—किसी भी प्रकार से वह ब्राह्मण गुहाओं से निम्न स्तर का नहीं है।

अब भी विद्यमान प्राचीनतम संरचनात्मक भवनों में से ऐहोल का मंदिर[1] विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि, विष्णु के प्रति समर्पित होते हुए भी यह मंदिर बौद्ध 'चैत्यों' के समान ही अर्धचंद्रकार स्वरूप का है। वह संभवत: विक्रमादित्य-सत्याश्रम नाम के पहले चलुक्य नरेश के शासनकाल के दौरान, सातवीं शताब्दी ई० में बनाया गया था।[2] लगभग इसी समय अथवा कुछ दशक पश्चात, पट्टदकल के स्थान पर पापनाथ नामक प्रसिद्ध शैव मंदिर का निर्माण हुआ था।[3] इसकी डिजाइन में एक वर्गाकार कक्ष, एक वर्गाकार प्रतिमागृह और उनके बीच में उसी आकार का द्वारमंडप सम्मिलित है। प्रतिमागृह के ऊपर एक शिखर है, जिसका वक्ररेखीय रूप रायचुर जिले में आलंपुर के मंदिरों में नकल किए जाने पर भी, भुवनेश्वर एवं कोणार्क मंदिरों के शिखरों तथा उत्तरी भारत के अधिकांश शिखरों के स्वरूपों से अधिक मिलता है। दकनी मंदिरों के शिखरों के सामान्य रूप में मंजिलयुक्त भवन का निर्माण आता है, जिनका आकार ऊपर बढ़ते बढ़ते कम होता जाता है। अंत में शिखरों की चोटी पर कलात्मक डिजाइनों के वृत्ताकार कंगूरे एवं कलश होते हैं।

:सवीं एवं बारहवीं शताब्दी के बीच में बने दकनी संरचनात्मक मंदिर स्वयं एक भव्य समूह हैं और उनकी स्थापत्यात्मक विशेषताओं में उत्तर एवं दक्षिण के भारतीय मंदिरों की विलक्षणताओं के प्रभाव प्रकट होते हैं। इस काल के दौरान दकन में राज्य करने वाले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरकालीन चालुक्य, यादव एवं काकतीय नरेश स्थापत्यकला प्रेमी थे। उनके द्वारा निर्मित भवन एक ओर तो अपनी विस्तृत दूरदर्शिता एवं भावनात्मक श्रेष्ठता और दूसरी ओर उत्कृष्ट कारीगरी की विशिष्टता लिए हुए हैं। इनमें से अधिकांश मंदिर शिव के हैं, और कुछ वैष्णव संप्रदायों के, किंतु जैनियों द्वारा निर्मित मंदिरों की संख्या भी कम नहीं है।

दकन की स्थापत्यकला के कलात्मक गुणों एवं विशिष्ट लक्षणों के संबंध में पाठक को स्पष्ट जानकारी प्रदान करने के लिए देश के खास भवनों का वर्णन करना ही सर्वोचित रहेगा। सर्वप्रथम बौद्धस्तूपों का विवरण देना उचित होगा, क्योंकि तिथिक्रम के अनुसार वे ही प्राचीनतम हैं। इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि स्तूप अत्यधिक पवित्र थे, क्योंकि उनमें से प्रत्येक महात्मा बुद्ध के शरीर के अवशेषों पर बनाया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत: कब्र के रूप में 'स्तूप' का आकार सीथियनों के अर्धवृत्ताकार समाधिस्तूपों[4] अथवा दकन एवं दक्षिण भारतीय आदिमवासियों की महापाषाणीय कब्रों (समाधि टीलों) से लिया गया था, क्योंकि वहां पर ऐसी कब्रें बड़ी संख्या में मिलती हैं। चाहे कुछ भी हो, ई० पू० तृतीय शताब्दी तक, अर्थात अशोक के जीवनकाल के दौरान स्तूप का पूरा रूप निर्धारण हो चुका था। यह गोलाकार आधार के बाद कुछ ऊंचाई तक लंबात्मक रूप में ऊपर उठता था। फिर गुंबद के ऊपर मंजूषाकार शीर्ष और अंत में एक छत्र होता था जो धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष महत्ता का चिह्न है। संपूर्ण संरचना के आधार के चारों ओर प्रदक्षिणापथ होता था, जिसको बाहर से वेदिका द्वारा आवेष्टित किया जाता था। वेदिका के प्रमुख स्थलों पर द्वार होते थे। ई० पू० तृतीय शताब्दी से लेकर छठी अथवा सातवीं ई० शताब्दियों तक आंध्र-देश अर्थात कृष्णा एवं गोदावरी नदियों के डेल्टों के आसपास का क्षेत्र बौद्ध धर्म का महान केंद्र था और देश के इस भाग से सैकड़ों 'स्तूप' के अवशेष प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें से सर्वाधिक नवीन खोज मद्रास प्रेसिडेंसी के आधुनिक गुंटूर जिले में कृष्णा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित नागार्जुनकोंड के स्तूप की है।

इस अध्याय के लिए अमरावती के मुख्य 'स्तूप' का संक्षिप्त वर्णन ही पर्याप्त होगा, क्योंकि वह देश के इस भाग का सर्वाधिक भव्य स्तूप था। दुर्भाग्यवश, 'स्तूप' अब विद्यमान नहीं है। 1797 ई० में जब कर्नल मैकेंजी ने उसे सबसे पहली बार देखा, तो वह विध्वंसित अवस्था में था और तब से उसके अधिकांश अंश लंदन ले जाए जा चुके हैं, जहां वे ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित एवं प्रदर्शित हैं। कुछ अवशेष अब मद्रास के राजकीय संग्रहालय में प्रदर्शित किए गए हैं। विशेषज्ञों द्वारा दिए गए वर्णनों से[5] ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्तूप' का आधार काफी बड़े आकार का था—संभवत: उसका व्यास लगभग 162 फीट था। इसके ऊपर ताक्षणिक संगमरमर का आवरण था, जिसकी कलात्मक एवं मूर्तिविषयक विलक्षणताओं को इस अध्याय में उचित स्थल पर विवेचित किया जाएगा। वृत्ताकार आधार के ऊपर गुंबद बनाया गया था, जो लगभग 120 से 140 फीट व्यास का रहा होगा। गुंबद का निम्न भाग भी, जो आधार से लगभग लंबात्मक रूप में उठा हुआ था, संगमरमर की पटियों से ढका हुआ था, जिन पर स्वयं 'स्तूप' के एवं कलात्मक रूप से 'जातक' कथाओं के ऊर्ध्वांकित चित्रण मिलते हैं। गुंबद का ऊपरी भाग ईंटों का बना था, जिस पर गच (संगमरमर के चूने) का प्लास्टर था और जिस पर उसी प्रकार से आलंकारिक फूल-पत्तियों की डिजाइनों एवं धार्मिक चिह्नों को कम उदभृत रूप में उत्कीर्ण किया गया था।

गुंबद के शीर्ष पर एक मंजूषा थी जिसके ऊपर एक छत्र था। दोनों ही सुन्दरतापूर्वक उत्कीर्ण थे। 'स्तूप' का आधार प्रत्येक मुख्य स्थल की ओर से तीन फीट आगे निकला हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
था। इस योजना के दो उद्देश्य थे : आधार की एकरूप भूमि की नीरसता को तोड़ना तथा 'स्तूप' के ऊपरी भाग के साथ साथ प्रमुख केंद्रों पर बने पांच एकशिला स्तंभों को आधार प्रदान करना। एकशिला स्तंभ स्वयं 'स्तूप' के आलंकारिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे और पुश्ते के रूप में भवन की कारीगरी को भी दृढ़तर करते थे। 'स्तूप' के घेरे में प्रदक्षिणा पथ था ताकि आराधक विधिपूर्वक भवन के चारों ओर घूम सकें और उचित सम्मानपूर्वक धर्म के अनेक चिह्नों एवं भगवान के जीवन दृश्यों को देख सकें। बाहरी ओर से प्रदक्षिणा पथ संगमरमर की वेदिका से घिरा था और विभिन्न दशाओं में आवागमन के लिए द्वार थे।

अपनी पूर्ण सुरक्षित अवस्था में यह स्तूप, उच्च धार्मिक आदर्शों एवं अत्यंत विकसित कलात्मक भावना पर आधारित स्थापत्यकला की ओजपूर्ण शैली का प्रतिनिधित्व करता होगा। दकन की आरंभिक स्थापत्यकला की ये दो विशेषताएं, बौद्ध 'चैत्यों' में भव्य रूप से प्रदर्शित हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इन चैत्यों की विन्यासयोजना रोमन गिरजों से काफी मिलती है। इन चैत्यों में भाजा, बेडसा, पितलखोरा, कार्ले, कोंडाणो, नासिक, जुन्नर, एवं अजंता की गुफाएं एक भव्य समूह हैं और ये सभी ई० पू० प्रथम दो शताब्दियों की हैं। समकालीन होने के कारण, इनमें अनेक सामान्य विशेषताएं हैं, जैसे आंतरिक छतों में लकड़ी के शहतीरों का प्रयोग, मुख्य प्रवेश द्वार के ऊपर अश्वनालाकार महराब में लकड़ी की जाली, स्तंभों के शीर्षों के ऊपर पंखयुक्त पशु एवं नारसिंही मूर्तियां अग्रद्वार के ऊपर कोणस्तूपाकार में उत्कीर्ण, मुंडेरां द्वारों के पारवों तथा हाल के स्तंभों का अंदर की ओर झुकाव तथा स्तंभों के शीर्षों का परसीपोलियन घंटाकार रूप। ये चैत्य भिन्न भिन्न मापों के हैं। यद्यपि कार्ले का 'चैत्य' सर्वाधिक विस्तार का है[6] और स्थापत्यात्मक विवरणों में सर्वाधिक भव्य भी है, किंतु चूंकि उसके अग्रद्वार की अनेक मूल विशेषताएं नष्ट हो चुकी हैं, अतः वर्तमान सर्वेक्षण के लिए बेडसा के चैत्य का वर्णन करना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि वह अधिक सुरक्षित अवस्था में है। इस चैत्य की विन्यासयोजना कुछ सीमा तक आरंभिक गिरजों की विन्यासयोजना से मिलती है। इसमें एक मध्यकक्ष, किनारे की विथिकाएं, तथा 'स्तूप' अथवा 'डगोब' से युक्त आला होता है। बेडसा चैत्य के सामने एक भव्य बारामदा है, जिसके स्तंभ 25 फीट ऊंचे हैं और जिनके शीर्ष पर पशुओं के रूप उत्कीर्ण हैं। इनमें से कुछ में पशुओं पर मनुष्य भी सवार हैं, जिन्हें अत्यंत दक्षता से तराशा गया है। ये रूप केवल अवधारणा में ही निर्भीक नहीं हैं, अपितु अभिव्यक्ति में भी अत्यंत सजीव हैं। स्तंभों के मध्यभाग की डिजाइन अष्टकोणीय है और वे कुंभाकार आधार से निकलते हुए प्रतीत होते हैं। उनके ऊपर धारीदार घंटे हैं; जो फर्ग्युसन के अनुसार, भारत में किसी भी स्थान के स्तंभ शीर्षों की अपेक्षा अधिक परसीपोलियन डिजाइन के हैं। बारामदे के रूप में अग्रभाग की लंबाई 30 फीट 2 इंच तथा चौड़ाई 12 फीट है। स्तंभों एवं किनारों की दीवारों की ऊंचाई के कारण आंतरिक छत भी काफी ऊंची है, किंतु समृद्ध संगतराशी तत्काल ही ध्यान आकर्षित कर लेती है और अत्यंत दक्ष आलोचक के मस्तिष्क में भी असामंजस्य का विचार उत्पन्न नहीं होता। विन्यासयोजना में स्थापत्यात्मक धार्मिक चिह्न सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ; वेदिका तथा जालीदार काम से युक्त चैत्य गवाक्ष; किंतु उनकी इतनी अधिक पुनरावृत्ति हुई है और वे इतने दक्षपूर्ण तरीके से तराशे गए हैं कि संपूर्ण रचना किसी स्वर्णकार का कार्य प्रतीत होती है। इससे अलंकरण के प्रति दकनी कलाकार के प्रेम का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

बारामदे के दाएं एवं बाएं सिरे पर दो दो कक्ष हैं। बाईं ओर का प्रथम कक्ष अपूर्ण है। उनमें बैठने के लिए पत्थर के पटिए हैं तथा उनके द्वारों के पारवे कुछ अंदर की ओर झुके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए हैं—ये दोनों ही विशेषताएं उनके निर्माण के आरंभिक काल की ओर इंगित करती हैं। कक्षद्वारों के सरदलों के ऊपर पहले तो जालीदार फूल-पत्तियों की डिजाइन हैं और उसके ऊपर दीवारी-पर्दा है, जैसे कोंडाणे एवं भाजा के चैत्य-गवाक्षों में मूल लकड़ी के पर्दे दृष्टि-गोचर होते हैं। चैत्य के अंदर जाने के लिए तीन द्वार हैं, जिनमें किनारों के द्वारों की अपेक्षा बीच वाला द्वार अधिक बड़ा है। मुख्य प्रवेश द्वार के ऊपर की बड़ी खिड़की की देहल की वीथिका गुफा में 3 फीट 7 इंच तक घुसी हुई है। इसमें सामने के दो अनियमित स्तंभों के अतिरिक्त 24 अष्टकोणीय स्तंभ हैं, जो 10 फीट 3 इंच ऊंचे हैं और मध्य कक्ष को किनारे की वीथिकाओं से अलग करते हैं। चैत्य का संपूर्ण माप है : लंबाई 45 फीट 4 इंच, चौड़ाई 20 फीट। उन पर उत्कीर्ण कुछ धार्मिक चिह्नों को छोड़कर, स्तंभों की डिजाइन सादी है। 'डगोब' पर उत्कीर्ण वीथिका को छोड़कर चैत्य के आंतरिक भाग में तनिक भी अलंकरण नहीं है और यह विशेषता उसकी पवित्र भव्यता में चार चांद लगा देती है। आंतरिक छत में मूल रूप से लकड़ी के शहतीर थे, किंतु अब ये पूर्णरूप से लुप्त हो चुके हैं। अनुपात में 'डगोब' कुछ पतला है और स्वरूप में कार्ले एवं अजंता के 'डगोबों' से भिन्न है। चैत्य की संगतराशी की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें महात्मा बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं है, जैसा बाद में चौथी से छठी ई० शताब्दियों के चैत्यों में प्रायः देखने को मिलता है। अजंता की गुहा संख्या 19 एवं 26 उत्तरकालीन बौद्ध चैत्यों के अत्युत्तम उदाहरण हैं, क्योंकि वे क्रमशः ईसा की पाचवीं एवं छठी शताब्दी की हैं। इन चैत्यों में आंतरिक छत के शहतीरों एवं चैत्यगवाक्षों के जालीदार काम के लिए लकड़ी का बिलकुल प्रयोग नहीं हुआ है; हाल के स्तंभ लंबात्मक रूप में उठे हुए हैं और कोणस्तूपाकार मुंडेरे भी नहीं हैं। स्तंभ गोल हैं और उन पर चक्करदार नालियां उत्कीर्ण हैं और भिन्न भिन्न ऊंचाइयों पर फूल-पत्तियों अथवा आभूषणों की डिजाइनों की पट्टियों से अलंकरण किया गया है। मध्यकक्ष अथवा वीथिकाओं के पीछे भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्राओं में महात्मा बुद्ध की आसनासीन अथवा खड़ी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। स्वयं 'डगोब' में उत्कीर्ण आलों में भी भगवान की मूर्तियां देखी जा सकती हैं। इन चैत्यों के बाह्य एवं आंतरिक रूप दोनों ही मूर्तियों से अत्यंत अलंकृत हैं तथा आरंभिक चैत्यों के शांत एवं पवित्र प्रभाव का स्थान भव्यता एवं वैभव ने ले लिया है। संगतराशी अपने आप में डिजाइन एवं कारीगरी में उत्कृष्ट है, किंतु चैत्यों की स्थापत्यात्मक योजना में उनका आधिक्य आंखों को थका देता है और मन को वह शांति नहीं मिल पाती, जिसका अनुभव धार्मिक गृहों में वांछनीय होता है।

दकन के आरंभिक भवनों का तीसरा प्रकार विहार है, जो प्राकृतिक गुफाओं में से ही निकाला जाता था और जहां पर धार्मिक व्यक्ति निवास एवं मनन करते थे। ईसापूर्व काल के विहार केवल सादे ही नहीं हैं अपितु संयोजन में नीरस भी हैं। इनके मध्य में एक कक्ष है और उसके तीन ओर छोटे छोटे कमरे हैं, जो मुख्य कक्ष से अत्यंत तंग दरवाजों द्वारा जुड़े हुए हैं। इन कोठरियों में चट्टानों में ही पटिए तराशे गए हैं और उनके एक ओर का भाग कुछ ऊंचा उठा हुआ है, ताकि बौद्ध 'भिक्खुओं' के सोते समय वह तकिए का काम दे सके। अजंता की 13वीं गुफा, आरंभिक बौद्ध विहार का उत्तम उदाहरण है। इसका मध्य कक्ष 13½ फीट चौड़ा, 16½ फीट लंबा एवं 7 फीट ऊंचा है। इसमें सात कोठरियां हैं, जो मुख्य कक्ष से बाहर निकली हुई हैं। इनमें से तीन बाईं ओर और दो दो पीछे एवं दाईं ओर हैं। संघीय जीवन में वैभव का कोई स्थान न था, किंतु दकन के लोगों में अलंकरण के प्रति प्रेम लगभग अंत-र्निहित था। अतः आरंभिक काल से ही 'भिक्खुओं' ने अपनी कोठरियों के द्वारों के ऊपर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
'डगोब' अथवा पवित्र कटघरे जैसे धार्मिक चिह्न अथवा जालीदार पर्दों को उत्कीर्ण करना आरंभ कर दिया था। ई० पू० द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी के भाजा, वेडसा, जुन्नर, नासिक एवं अजंता के विहार ऐसे ही चिन्हों से अलंकृत हैं, किंतु अलंकरण काफी सीमित हैं और उनमें वह भव्यता भी नहीं है, जो उसी काल के चैत्यों की अग्रद्वारीय सजावट में मिलती हैं। ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म की लोकप्रियता बढ़ती गई, 'भिक्खुओं' की संख्या एवं विहारों के आकार भी बढ़े। कोंडाणे एवं नासिक के कतिपय आरंभिक विहारों के मध्य में बड़े बड़े हाल हैं। नासिक की तीसरी एवं आठवीं गुफाएं, जो विहार हैं और उनमें उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार ईसा पूर्व काल की हैं, विस्तृत कक्षों से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त उनमें वर्षा एवं सूर्य से रक्षा के लिए, सामने की ओर स्तंभीय बारामदे भी हैं। तीसरी गुहा में, जो इन दोनों में से पहले की हैं, 41 फीट चौड़ा एवं 46 फीट लंबा एक हाल है। इसमें भी तीन ओर पटिए एवं 17 कोठरियां हैं—सात दाईं ओर, पांच पीछे और पांच बाईं ओर। इन दो गुफाओं की मूर्तिकला एवं स्तंभ, कार्ले की चैत्य गुहा से मिलते हैं और यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि ये सभी एक ही समय की हैं।

'विहार', जो आरंभ में केवल निवास स्थल थे, 'भिक्खुओं' के धार्मिक उत्साह के कारण मंदिरों के रूप में विकसित हो गए और विहार के पृष्ठ भाग में प्रतिमागृह सम्मिलित कर लिया गया। यद्यपि प्राचीनतम विहारों में भी 'डगोब' उत्कीर्ण हैं फिर भी विहार के सामान्य वस्तुविन्यास में पूर्वगृह से युक्त देवालयों का प्रचलन तभी आरम्भ हुआ, जब महायान संप्रदाय ने आराधना के लिए महात्मा बुद्ध के मानवीय रूप का श्रीगणेश किया। अजंता की चौथी गुफा संभवतः इस विन्यास का प्राचीनतम विहार है। उसमें 87 फीट की भुजा वाले वर्ग का केंद्रीय हाल है और एक पूर्वगृह एवं पीछे देवालय है। इस गुफा की स्थापत्यात्मक विलक्षणताओं की विशालता के साथ साथ विस्तृत आकार एवं अलंकरण का मितव्यय बौद्ध धार्मिक माहात्म्य का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं, और एक ओर तो बौद्ध संघीय जीवन के प्रयोगात्मक निषेधों और दूसरी ओर आध्यात्मिक जीवन की व्यापकता को प्रतिबिंबित करते हैं। यह विहार संभवतः तृतीय ई० शताब्दी अथवा उससे भी पहले बना था,[7] किंतु द्वारों एवं खिड़कियों का कार्य बाद में किया गया होगा। इस स्थल पर यह इंगित कर देना चाहिए कि ईसवी सन की आरंभिक अर्थात प्रथम से तीसरी शताब्दियों में दकन में 'स्तूपों', 'चैत्यों' एवं 'विहारों' के रूप में कुछ संरचनात्मक भवन भी बने थे। टेर, कोंदापुर[8] एवं पाणिगिरि[9] के चैत्य इसी काल के हैं। वे बड़ी बड़ी ईंटों से बने हुए हैं किंतु इन संरचनाओं के आकार इतने छोटे है कि वे अपनी सुरक्षित एवं पूर्ण अवस्था में भी स्थापत्यात्मक भव्यता के उदाहरण नहीं हो सकते हैं। भिन्न संप्रदाय के मंदिर के रूप में परिवर्तित हो जाने के कारण, टेर के चैत्य में अनेक परिवर्तन हो गए हैं, और वर्तमान रूप के आधार पर मूल भवन के कलात्मक गुणों का अनुमान लगाना असंभव है। कोंदापुर के चैत्य, जो 1941-12 ई० में हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा किए गए उत्खननों के दौरान प्रकाश में आए थे, आकार में महत्वहीन हैं—पश्चिमी चैत्य की लंबाई एवं चौड़ाई क्रमशः 25 फीट 4 इंच एवं 10 फीट 4 इंच है और पूर्वी चैत्य का आकार 21 फीट 4 इंच × 21 फीट है। जब इन भवनों की तुलना कार्ले, भाजा एवं अजंता के भव्य शिलाचैत्यों से की जाती है, तो उनमें उच्च आदर्शवाद एवं दूरदर्शिता का अभाव प्रकट होता है, जो कार्ले आदि के चैत्यों में स्पष्ट रूप से दर्शनीय है।

संरचनात्मक भवनों के अतिरिक्त, इस काल के शिलादेवालय (प्रथम से तृतीय ई०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी) भी कोई सृजनात्मक प्रयास प्रस्तुत नहीं करते । एक ही स्थापत्यात्मक एवं डिजाइन की अनेक बार पुनरावृत्ति हुई और कलात्मक प्रभाव भी मौलिकता की अपेक्षा नकल का है । आंध्रों की राजनीतिक प्रभुसत्ता के विघटन के साथ साथ दकन के लोगों की कलात्मक प्रवृत्ति का भी पतन हो गया । उत्तर से आने वाले[10] वाकाटकों को सत्ता का हस्तांतरण, अत्यंत लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि उन्होंने कला के सभी रूपों में जीवन को नवीन स्फूर्ति प्रदान की । वाकाटकों ने गुहावंश से भी वैवाहिक संबंध स्थापित किए हुए थे । 'हीनयान' मत के दृढ़ यतिवाद ने कालांतर में जीवन के आनन्दमय पक्ष के मूल दृष्टिकोण को फीका कर दिया था । किंतु चौथी पांचवी शताब्दी ई० में वाकाटकों के शासनकाल के दौरान, 'महायान' मत के आविर्भाव ने दकन की कला के भावनात्मक पक्ष को पूर्ण रूप से पांडुरीकृत होने से बचा लिया । इस काल के अजंता के विहार, उस आनंदमय दृष्टिकोण के स्पष्ट प्रमाण हैं, जो बौद्ध धर्म के आराधक प्रकृति के सौंदर्य एवं सामान्य रूप से जीवन के उद्देश्यों एवं आदर्शों के प्रति रखते थे । इन विहारों में से पहली-दूसरी एवं 16 वीं-17 वीं गुहाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, अंतिम दो गुहाओं में समकालीन अभिलेख हैं, जो उनकी तिथि को पांचवी शताब्दी ई० के अंतिम चतुर्थांश में निर्धारित करते हैं । इन चारों में पहली गुहा सबसे बड़ी है, जिसमें एक द्वार मंडप, एक बारामदा, चारों और गलियारे से युक्त एक हाल, एक पूर्व कक्ष और महात्मा बुद्ध की विशालकाय उत्कीर्ण मूर्ति से युक्त प्रतिमागृह है । इस 'विहार' के अंदर 14 कोठरियां भी हैं । बारामदे के दोनों ओर भी एक एक छोटा कक्ष है । बारामदा 64 फीट लंबा, 9 फीट चौड़ा एवं 12 फीट 6 इंच ऊंचा है । सुंदर नक्काशीपूर्ण पारवों एवं स्तंभोर्द्धव से युक्त, मध्य का बड़ा द्वार ही केंद्रीय हाल का प्रवेशद्वार है । यह हाल 64 फीट की भुजा का वर्ग है, जिसकी आंतरिक छत 20 स्तंभों वालि वारामदे पर आधारित है और जिसके चारों ओर 9 फीट 6 इंच चौड़ी वीथिकाएं हैं । हाल के पृष्ठभाग का पूर्वकक्ष 10 फीट लंबा एवं 9 फीट चौड़ा है और अत्यधिक नक्काशी वाले द्वार के माध्यम से देवालय की ओर ले जाता है । प्रतिमागृह की विन्यासयोजना वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा 20 फीट की है ।

द्वारमंडप के नष्ट हो जाने से बाह्यरूप कुछ फीका पड़ गया है, क्योंकि वही इसकी प्रमुख विशेषता थी । किंतु महराब के ऊपर नक्काशी की अनेक पट्टियां हैं, जिनमें महात्मा बुद्ध के जीवन के दृश्य, हस्तियुद्ध एवं शिकार अभियान का अत्यंत दक्ष निरूपण दृष्टिगोचर होता है, और जिनसे उच्च कोटि की मूर्तिकला का परिचय मिलता है ।

इस गुहा के आंतरिक स्तंभ, अपने रूपों को भिन्नता एवं आलंकारिक विवरणों की सजीवता दोनों में ही अत्यंत मौलिक हैं । इस विहार के विस्तृत आकारों से उत्पन्न खुली जगह के प्रभाव सहित ये विशेषताएं, इस विहार को भारत के सुंदरतम 'विहारों' में से एक बना देती हैं, दूसरी गुहा लगभग पहली का ही प्रतिरूप है, किंतु इसका हाल पहली के हाल को अपेक्षा थोड़ा छोटा है और उसके स्तंभ भी अनुपात का वह सुंदर भाव प्रस्तुत नहीं करते, जो प्रथम गुहा के स्तंभों में दृष्टिगोचर होता है । स्तंभों के रूप एवं कुछ अन्य स्थापत्यात्मक अभिन्न अंगों के दृष्टिकोण से 16वीं एवं 17वीं गुहाएं पहली गुफा से अधिक श्रेष्ठ हैं, किंतु कुल मिलाकर अपनी डिजाइन की सुंदरता में पहली गुफा बाजी मार लेती है । ये विहार एवं पहली-दूसरी तथा 16 वीं, 17 वीं गुहाएं मूर्तिकला एवं चित्रकला से अलंकृत हैं, जिनके गुणों का अध्ययन इस अध्याय के उचित स्थलों पर किया जाएगा ।

चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० के दौरान, विहार की विन्यासयोजना में अनेक रूपों का विकास हुआ, जो संघ की सदस्यता, उद्देश्यों एवं आदर्शों पर आधारित थे । इन विन्यास योजनाओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उल्लेखनीय उदाहरण एलोरा की 5वीं, 11वीं एवं 12वीं गुफाओं की डिजाइनों में देखे जाते हैं। ये सभी बौद्ध धर्म से संबंधित है, और यद्यपि इस धर्म का अपनी जन्मभूमि से लोप हो जाने के बाद इन विहारों को 'महार्वाड' अथवा 'धेड्वाड' का उपनाम दे दिया गया (जो अब भी उनके लिए प्रयत्न होता है), फिर भी वे भारत में किसी भी धर्म के विहारों से सर्वाधिक भव्य विहार समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस वर्ग में 11 वीं एवं 12वीं गुहाएं, जो क्रमशः दो थाल एवं तीन थाल कहलाते हुए भी तीन तीन मंजीलों से युक्त हैं, और इनके सामने एक ही शिला में से उत्कीर्ण खुला हुआ दालान हैं। महार्वाड अर्थात महारों के मंदिर के नाम से ज्ञात पांचवी गुफा में यदि वीथिकाओं के दोनों ओर तराशे गए आलों को सम्मिलित कर लिया जाए, तो वह 110 फीट लंबी और 70 फीट चौड़ी है। हाल आयताकार है और दो कम ऊंचाई वाले पटियों द्वारा तीन कक्षों में विभक्त है। ये पटिए खाने के समय मेजों का काम करते होंगे अथवा 'भिक्खुओं' द्वारा पढ़ने की मेजों के रूप में प्रयुक्त होते होंगे,क्योंकि इस गुफा में भिक्खुओं के निवास के लिए 20 कोठरियां हैं। वे पर्याप्त बड़ी संख्या में विहार की सेवाओं में भी उपस्थित होते होंगे। इस गुहा की विन्यासयोजना कन्हेरि के दरबार हाल से मिलती है और कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि 'महार्वाड' मूलतः भोजनशाला होगा और इसीलिए इसकी ऐसी विन्यासयोजना है।

दो थाल एवं तीन थाल अपने विशालकाय एवं ऊंचे अग्रद्वारों के अतिरिक्त अपने स्तंभों की नक्काशी में भी परिमार्जित रुचि को प्रदर्शित करते हैं। इनमें बेल-बूटों का आधिक्य न होकर केवल कमल अथवा कुंभ डिजाइनों की रूपरेखाएं उत्कीर्ण हैं जो धार्मिक भवन की सरलता के ही अनुरूप हैं। ये दोनों ही विहार अपनी सबसे ऊपरी मंजिल में लंम्बाई की दिशा में वीथिकाओं में विभक्त हैं, जिनके किनारों पर आलों में 'महायान' संप्रदाय के अनुसार महात्मा बुद्ध की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। पूर्व कक्ष में मुकुटधारी दो ऊंचे 'द्वारपाल' हैं और पिछली दीवार पर प्रतिमागृह के द्वार की दोनों ओर तीन तीन देवियां उत्कीर्ण हैं। स्वयं प्रतिमागृह में महात्मा बुद्ध की विशालकाय प्रतिमा के अतिरिक्त, उनके परिचारकों के रूप में पद्मपाणि, वज्रपाणि एवं अन्य बोधिसत्वों की प्रतिमाओं को भी प्रदर्शित किया गया है।

इन दो विहारों की ऊपरी मंजिलों से नीचे की घाटी एवं मैदानों का अत्यंत भव्य दृश्य दिखाई देता है, और इन गुफाओं में बैठकर मनन करने वाले 'भिक्खु' प्रकृति के विभिन्न रूपों के सौंदर्य से प्रेरित होते होंगे।

ये दो विहार स्पष्ट रूप से सातवीं शताब्दी ई० के हैं क्योंकि वे विश्वकर्म नामक 'चैत्य' के निकट स्थित हैं और कुछ स्थापत्यात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त, उसमें एक अभिलेख भी है, जिसे लिपिज्ञान के आधार पर सातवीं शताब्दी का बताया जाता है। दकन में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण का चालुक्यों के शासनकाल के दौरान आरंभ हो गया था, जिन्होंने अपने राज्य की राजधानी बादामी में उस धर्म के शिलामंदिर बनवाए थे। किंतु वे बौद्ध धर्म के अनुयाइयों के प्रति भी सहिष्णु थे और इस धर्म के भवन भी उनके शासनकाल में बनते रहे। राष्ट्रकूटों के शासनकाल के दौरान, जिन्होंने दकन में चालुक्यों के साम्राज्य के अधिकांश भाग से उनको खदेड़ दिया था, आक्रामक धार्मिक प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ, क्योंकि उन्होंने केवल बौद्ध 'विहारों' को ही अपने धर्म के मंदिरों में परिवर्तित नहीं किया।[11] अपितु इतने विस्तृत एवं पैमाने पर नवीन देवालयों का निर्माण किया कि उनके सहधर्मियों की नजरों में बौद्ध धर्म की गरिमा का ह्रास हुआ। धर्म के साथ प्रायः किंचित धर्मांधता जुड़ी होती है, किंतु ऐल्लोरा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के धार्मिक उत्साह ने सजीव शिलाओं में से ऐसे मंदिर बनाए हैं, जो संपूर्ण विश्व में इस प्रकार की स्थापत्य कला के अद्वितीय उदाहरण हैं, और इसलिए केवल उस धर्म के आराधक ही नहीं अपितु उस काल के सर्वाधिक विचारशील आलोचक भी उन्हें देवताओं का कार्य मानते थे। उनके विशालकाय परिमाप समृद्ध आलंकारिक विवरण एवं निर्दोष परिसज्जा सभी पूर्णतः विस्मयकारी हैं। इन मंदिरों में से सर्वाधिक अद्भुत कैलाश मंदिर है; वह एक ही चट्टान शिला से बना है, आस पास की चट्टानों से पृथक है और अंदर एवं बाहर से उत्कीर्ण है। वह 276 फीट लंबे एवं 154 फीट चौड़े आंगन में खड़ा है और इसके पीछे 107 फीट ऊंचा ढलान है। इस आंगन के सामने पर्दा छोड़ दिया गया है, जिसके बाहर की ओर शिव एवं विष्णु की बड़ी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं, जो एक ओर सतत गतिशीलता को और दूसरी ओर उत्कट तीव्रता की भावना को प्रदर्शित करती हैं। मंदिर का प्रवेश एक पथ से होता है, जिसके अनेक कक्ष हैं और अंत में उसके किनारे पर स्थित दहलीज के दोनों ओर से आंगन के निम्न भाग की ओर जाते हैं। आंगन के इस भाग में, मंदिर के आधार के दोनों ओर दो हाथियों की जीवनाकार मूर्तियां हैं, जो मंदिर को भव्यता प्रदान करने के लिए हैं। 45 फीट ऊंचे दो 'ध्वजस्तंभ' से भी इसकी गरिमा में वृद्धि होती है। मंदिर का आधार काफी ऊंचा है और वह 'महाभारत' एवं 'रामायण' की घटनाओं के चित्रण एवं अत्यंत सजीव सिंहों एवं हाथियों की मूर्तियों से अलंकृत हैं। यह आधार पूर्व से पश्चिम में 164 फीट तथा उत्तर से दक्षिण में 109 फीट है, किंतु अपने विशालकाय परिमाप के होते हुए भी यह मंदिर हाथी की पीठ पर आधारित रथ के रूप में संयोजित है। इसकी शैली मामल्लपुरं के रथों की शैली से प्रेरित दक्षिण भारतीय प्रकार की है। किंतु यहां पर यह इतनी पूर्ण अवस्था में है कि मंदिर के अभिन्न अंगों में से कोई भी छूटा नहीं है—उदाहरणार्थ : द्वारमंडप, नंदी कक्ष, 'मंडप', प्रतिमा गृह, चारों ओर के गलियारे से युक्त आंगन एवं प्रवेश द्वार…ये सभी इस शैली के संरचनात्मक मंदिरों में पाए जाते हैं। एक अभिलेख के अनुसार, ईसा की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दंतिदुर्ग के के उत्तराधिकारी एवं राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण ने इसका निर्माण करवाया था।

मुख्य मंदिर में सामने की ओर दो सीढ़ियां हैं, जो द्वारमंडप की ओर से जाती हैं। इस मंडप की आंतरिक छत में चित्रकला की अनेक तहें हैं, जिनमें से सबसे ऊपरी तह, मंदिर के निर्माण की समकालीन हैं। मुख्य हाल 57 फीट चौड़ा एवं 55 फीट लंबा है और आंतरिक छत अति समृद्ध संगतराशी वाले 16 स्तंभों पर आधारित है। ये स्तंभ इस प्रकार से आयोजित किए गए हैं कि दो पथ बन जाते हैं, एक तो प्रवेशद्वार से प्रतिमागृह की ओर जाता है और दूसरा, इस पथ को हाल के मध्य में काटता है और उसे उन गलियारों से मिलता है जो उत्तर एवं दक्षिण की ओर उसके दोनों ओर बने हुए हैं। स्तंभों का रूप एवं उनका अलंकार सुरुचिपूर्ण प्रतीत होता है, और चूंकि वे अत्यंत सूक्ष्म कणोंवाली शिला में से काटकर बनाए गए हैं, अतः संगतराशी भी अत्यंत सूक्ष्म है। हाल का फर्श इतनी सुंदर पालिश से युक्त है कि वह शीशे के समान चमकता है।

हाल के प्रत्येक पिछले कोने के द्वार से पीछे के चबूतरे की ओर रास्ता जाता है। वहां पर मंदिर के बाहरी ओर एक चौड़ा पथ बनाया गया है जो 'विमान' अथवा शिखर का आधार है। यह शिखर नीचे के आंगन से 96 फीट ऊंचा है और संगतराशी की कला से युक्त है। नीचे की ओर चौकोर स्तंभों के बीच में कक्ष है, जिनमें से प्रत्येक के ऊपर बारीक खुदाई वाले कलश हैं। प्रत्येक कक्ष के मध्य में अधिकांशतः शिव अथवा विष्णु की प्रतिमा है। ऊपर दीवार पर उड़ती हुई अप्सराएं हैं, और उनके ऊपर से ही 'शिखर' की आड़ी गांठ का आरंभ होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चबूतरे के बाहर और पांच छोटे छोटे मंदिर हैं, जिनके ऊपर 'शिखर' हैं। जो मध्य में मुख्य शिखर के साथ मिलकर संपूर्ण मन्दिर के सामान्य रूप को रमणीयता प्रदान करते हैं।

कैलाश के साथ अनेक मंदिर हैं, जो बाद में बने होंगे। किंतु आंगन के चारों ओर की वीथिकाएं मुख्य मंदिर की समकालीन हैं, और जब दर्शक स्तंभों की लंबी पंक्तियों एवं एक सिरे से उत्कीर्ण पटकों की अविरल शृंखला को देखता है, तो उनका स्थापत्यात्मक प्रभाव अत्यंत आकर्षक प्रतीत होता है। पूर्वी वीथिका विशेषरूप से दर्शनीय है; वह 189 फीट लंबी है और उसकी पिछली दीवार में 19 उत्कीर्ण पटक है, जो मानवाकार से बड़ी देव प्रतिमाओं से अलंकृत हैं। फर्ग्युसन ने कैलाश की तुलना पट्टदकल के शैव मंदिर से की है। इन दो मंदिरों की संरचनात्मक विशेषताओं के निकट साम्य की दृष्टि से यह तुलना उचित हो सकती है। किंतु एक ही ठोस चट्टान-शिला में कैलाश के निर्माण का तथ्य दृढ़ता एवं चिरंतन अस्तित्व की ओर इंगित करता है, जो सतत उद्यम एवं देवताओं की सेवा के लिए अविरल श्रद्धा के आभास के साथ मिलकर पवित्रता एवं भव्यता में इस मंदिर को मिश्र के कर्नक एवं एद्फु जैसे मंदिरों के साथ तुलना करने को बाध्य करता है।

शैली की ओजस्विता एवं संयोजक की निर्भीकता के लिए एलोरा की 29वीं गुहा, अर्थात धुमर लेण भी उल्लेखनीय है, क्योंकि उससे पता चलता है कि राष्ट्रकूट नरेशों के संरक्षण में दकन के स्थपति कितना आगे बढ़ गए थे। इस मंदिर की विन्यासयोजना कुछ सीमा तक ऐलीफेंटा की त्रिमूर्ति वाले महान मंदिर से मिलती है, किंतु धुमर लेण अपेक्षाकृत परिमाप में बड़ी तथा स्थापत्यात्मक प्रभाव में अधिक सुदंर है। धुमर लेण का आंतरिक माप 148 फीट × 149 फीट है तथा शिला छत की ऊंचाई फर्श से 17 फीट 8 इंच है। दर्शक सबसे पहले पश्चिम की ओर की सीढ़ियों से वीथिका में प्रवेश करता है, जो प्रतिमागृह के केंद्रीय पथ तथा उसके दोनों ओर के गलियारों से मिली हुई है। किनारे के गलियारे पूर्ण मंदिर के अंत तक जाते हैं और इस तरह प्रदक्षिणा पथ का काम करते हैं। मुख्य पथ और उत्तर-दक्षिण पथ बीच में मिलते हैं और केंद्रीय पथ मंदिर के मध्य भाग को उन दिशाओं के सहायक भागों से मिलाता है। इस सहायक भाग में गलियारों का जोड़ा है; सीढ़ियों की ओर ले जाने वाला बाह्य गलियारा, उनके पीछे वाले गलियारे की अपेक्षा छोटा है। आंतरिक भाग का लंबी वीथिकाओं में विभाजन होने पर भी, मंदिर की विन्यासयोजना सितारे के आकार की है, जो दकन में मध्ययुगीन मंदिरों का प्रमुख रूप था। गद्दीनुमा धारीदार शीर्षों से युक्त स्तंभ ऊपर से कुछ भारी हैं, किंतु छत की ऊंचाई एवं गलियारों के विस्तृत फैलाव के कारण यह दोष बलात-हस्तक्षेपी महसूस नहीं होता। अतः मंदिर के आंतरिक भाग का सामान्य स्थापत्यात्मक प्रभाव, भव्यता एवं समयातीतता का है।

ईसा की आठवीं शताब्दी में, जब धुमर लेण का निर्माण हुआ था, दकन में कुछ अन्य विशाल संरचनात्मक भवनों का निर्माण हुआ था, किन्तु उनका सर्वेक्षण करने से पहले एलोरा के जैन शिला मंदिरों के समूह का उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा, क्योंकि वे उस धर्म के अनुयायी निर्माताओं के उद्देश्यों एवं आदर्शों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। मंदिरों के इस समूह में इंद्रसभा एवं जगन्नाथसभा सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं, जो अपनी विन्यासयोजना एवं स्थापत्यात्मक विशेषताओं में एलोरा के ब्राह्मण मंदिरों से अत्यधिक साम्य रखते हैं। किंतु इन मंदिरों के सहायक अंग आपस में इतने निकटस्थ हैं और ऐसे अनावश्यक आलंकारिक विवरणों से लदे हुए हैं कि आंखें चौंधिया जाती हैं और संकुलित जटिलता के प्रदर्शन से थक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाती हैं। उदाहरणार्थ : इंद्रसभा के आंगन में 'ध्वजस्तंभ' केवल मंदिर के द्वार के अत्यंत निकट ही नहीं है, अपितु आंगन के केंद्रीय मंडप के इतने पास स्थित है कि संपूर्ण अंश जबरदस्ती ठूंसा हुआ एवं जटिल दृष्टिगोचर होता है। आंगन के छोटे मापों एवं उसकी ओर उन्मुख कुछ कक्षों के स्तंभों के छोटे आकार से उपर्युक्त प्रभाव और बढ़ जाता है। ये विलक्षणताएं मंदिर के संयोजन में सामान्य रूप से अनुपात भाव का दुखद अभाव प्रकट करती हैं; हालांकि स्थापत्यात्मक विवरण से पर्याप्त उद्यम एवं दक्षता का परिचय मिलता है। ऐसे उदाहरणों में कला मात्र कारीगरी रह जाती है, क्योंकि सृजनात्मक प्रयास का स्थान प्रभावोत्पादन की भावशून्य, निष्प्राण चेष्टा ले लेती है।

दकन के संरचनात्मक भवनों का अध्ययन करते समय इस प्रदेश के राजनीतिक इतिहास पर भी दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। यह ऊपर कहा जा चुका है[12] कि आंध्रों के बाद वाकाटक आए, जो दकन के उत्तरी प्रांतों से आए थे और जिनके गुप्तों से वैवाहिक संबंध थे। उनके लगभग 200 वर्षों (300-500 ई०) के शासनकाल के दौरान, उत्तरी भारत की अनेक स्थापत्यात्मक आलंकारिक विशेषताएं दकनी स्थापत्य में भी सम्मिलित कर ली गई थीं। वहां पर शासन करने वाला अगला वंश चालुक्यों का था, जिसने उत्तर एवं दक्षिण—दोनों क्षेत्रों में ही अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, और जो प्रायः कांची अर्थात आधुनिक कांजीवरं के पल्लवों से युद्धरत रहा। वादामी (वातापिपुर) में स्थित होने वाली उनकी ही सबसे पहली राजधानी थी। वादामी अब विजापुर जिले में छोटा सा नगर है। बौद्ध चैत्यों की नकल पर वादामी में बनाए गए शिलामंदिरों के अतिरिक्त, उन्होंने अपनी राजधानी के नगरांचलों में भी पर्याप्त महत्ता वाले अनेक देवालय बनवाए, जो आज भी पट्टदकल एवं ऐहोल में देखे जा सकते हैं। पट्टदकल के लोकेश्वर मंदिर में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय (733-46 ई०) का एक अभिलेख है, जिसमें यह कहा गया है कि यह मंदिर उसके द्वारा कांची के पल्लवों को तीन बार हराए जाने में स्मृति में, उसकी पत्नी लोकमहादेवी के लिए बनाया गया था।[13] यह मंदिर कांची के समकालीन राजसिंहेश्वर मंदिर से अत्यधिक साम्य रखता है। कीर्तिवर्मन द्वितीय के शासनकाल (746-57 ई०) के एक ताम्रपत्राभिलेख कहा में गया है कि उसका पिता (विक्रमादित्य द्वितीय) राजसिंहेश्वर मंदिर की मूर्तिकला से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और संभवतः उसने ही उसे स्वर्णजड़ित कराया था।[14] यह संभव है कि राजसिंहेश्वर मंदिर की भव्यता ने विक्रमादित्य को कांची के कतिपय दक्ष कारीगरों को अपने साथ ही अपनी राजधानी वादामी की ओर ले जाने के लिए प्रेरित किया। इस अनुमान की पुष्टि लोकेश्वर मंदिर के पूर्वी द्वार पर उत्कीर्ण दो अभिलेखों से होती है। उनमें से एक में स्पष्टरूप में कहा गया है कि मंदिर का निर्माता दक्षिण प्रदेश का सर्वाधिक प्रसिद्ध 'सूत्रधारी' था।

एक अवसर पर पल्लवों ने भी चालुक्यों के राज्य पर आक्रमण कर उनकी राजधानी वादामी को जीत लिया था। किंतु यह स्थिति अधिक समय तक न चली और चालुक्यों ने शीघ्र ही दकन में अपनी प्रभुसत्ता को पुनः प्राप्त कर लिया। किंतु आठवीं शताब्दी ई० के मध्य में चालुक्य राष्ट्रकूट नामक एक अन्य वंश द्वारा पराजित हुए और उनका पश्चिमी प्रदेश अर्थात कर्नाटकदेश, स्थाई रूप से उनके हाथों में चला गया। पट्टदकल में राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव का एक अभिलेख है, जिसमें यह कहा गया है कि उसने पल्लवों के अहं को भी चूर किया था, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने चालुक्य साम्राज्य के विघटन से लाभ उठाकर उसके भूतपूर्व प्रदेशों की सीमाओं में अपने क्षेत्रों का विस्तार करने का प्रयास किया था।

राष्ट्रकूट नरेश स्पष्टरूप से कांची के कारीगरों द्वारा ऐहोल एवं पट्टदकल नामक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
स्थानों पर बनाए गए मंदिरों के स्थापत्य से मंत्रमुग्ध हो गए थे। इसका प्रमाण एलोरा का महान कैलाश शिलामंदिर है, जो आठवीं शताब्दी ई० के मध्य में कृष्ण प्रथम ने बनवाया था और जो लगभग पूर्णरूप से पट्टदकल के लोकेश्वर मंदिर की नकल है। यह असंभव नहीं कि राजा ने कैलाश के निर्माण में दक्षिण भारत के मूर्तिकारों से काम लिया हो।

उत्तरकालीन नरेश एवं राष्ट्रकूट राजा जैन धर्म के अनुयायी थे और कुछ ऐसे अभिलेख विद्यमान हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इस धर्म के शिलामंदिर एवं संरचनात्मक मंदिर, दोनों ही इन दो वंशों के राजाओं के संरक्षण में बने थे। 973 ई० में चालुक्य वंशज तैल द्वितीय ने राष्ट्रकूटों को खदेड़ कर कल्याणी में अपनी सरकार की स्थापना की। तैल के वंशजों ने वहां पर 1161 ई० तक शासन किया, जबकि कलचुरियों ने अस्थाई रूप से उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। कलचुरियों की राजधानी आरंभ में अन्निगिरि में थी और बाद में कल्याणी में स्थानांतरित कर दी गई थी। उनके छोटे शासनकाल के दौरान 'लिंगायत' मत का उदय हुआ। किंतु कलचुरि चालुक्यों को पूर्ण रूप से नष्ट न कर सके और उन्होंने कुछ समय के लिए अपने प्रदेश पुनः प्राप्त कर लिए। इस काल के दौरान 1189 ई० तक इस वंश के अनेक राजाओं ने शासन किया। किंतु वे इतने कमजोर हो चुके थे कि उनके राज्य के दक्षिणी भाग पर होयसलों तथा उत्तरी भाग पर देवगिरि के यादवों का अधिकार हो गया था। यादवों ने 1187 ई० से 1310 ई० तक शासन किया, जब अंत में दिल्ली के सुल्तान अला-उद्-दीन खल्जी के सेनापति मलिक काफूर ने उनके राज्य का अतिक्रमण किया।

इस संक्षिप्त ऐतिहासिग सर्वेक्षण में काकतीयों का भी उल्लेख करना आवश्यक है, जो आरंभ में कल्याणी के चालुक्य नरेशों के सामंत थे। जब कलचुरियों ने चालुक्यों को पदच्युत कर दिया, तो काकतीय वंशज स्वतंत्र हो गए और यह वंश धीरे धीरे शक्तिशाली हो गया तथा लगभग तीन शताब्दियों तक दकन के बड़े भाग पर शासन करता रहा। इस वंश का अंतिम महत्वपूर्ण राजा प्रतापरुद्र द्वितीय था, जिसके साम्राज्य का विस्तार पश्चिमी घाट तक तथा गोदावरी नदी तक था। इस नरेश के शासनकाल के दौरान मुहम्मद बिन तुगलक ने तेलिंगाना को जीता और प्रताप को बंदी बनाकर दिल्ली भेजा, जिसे अंत में वारंगल लौटकर दिल्ली नरेशों के सामंत के रूप में शासन करने की अनुमति मिल गई। काकतीय नरेश स्थापत्यकला के प्रेमी थे, और चूंकि चालुक्यों से उनका उदय हुआ था और दक्षिण भारत के चोलों से उनके वैवाहिक संबंध थे, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके मंदिरों के निर्माण में उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय शैलियों का सुंदर सम्मिश्रण मिले।

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि तृतीय शताब्दी ई० के अंत से लेकर 14वीं शताब्दी के आरंभ तक, अपनी राजनीतिक परिस्थितियों के कारण दकन अपने कलात्मक मामलों में उत्तर एवं दक्षिण भारत से प्रभावित रहा। स्थापत्यकला के क्षेत्र में इस प्रभाव को प्रदर्शित करने के ड़िए, इस काल के दौरान बने मंदिरों की प्रमुख विलक्षणताएं नीचे दी गई हैं। पट्टदकल का लोकेश्वर अथवा विरूपाक्ष मंदिर, जिसका उल्लेख अनेक बार ऊपर किया जा चुका है, दकन के प्राचीनतम संरचनात्मक मंदिरों में से एक है और वह अपनी पूर्ववर्ती मूलाकृति अर्थात कांची के राजसिंहेश्वर मंदिर से बहुत मिलता है। स्थापत्य शैली शुद्ध रूप से पल्लवों की है, जो लकड़ी की रथ-शैली पर आधारित है और जिसके आरंभिक उदाहरण मामल्लपुरं के शिलामंदिरों में दृष्टिगोचर होते हैं। शिखर वर्गाकार कोणस्तूप के रूप में है, जो अनेक मंजिलों में विभक्त है। ये एक के ऊपर एक चढ़ते हुए, अपने मापों में घटता जाता है और अंत में वक्राकार शिखर से सुशोभित है। शिखर का मंजिलाकार अथवा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आड़ा संयोजन, पल्लवीय अथवा दक्षिण भारतीय विशेषता है, जबकि उत्तर-भारतीय शिखर में प्रलंबात्मक संयोजन होता है, जिसमें शिखर की मुख्य रचना के चारों ओर सीधे खड़े प्रलंबात्मक संकलन या परिवर्धन द्वारा द्विरावृत्ति का प्रभाव हासिल किया जाता है। दकन के स्थपतियों ने शिखर के निर्माण में मध्यम मार्ग अपनाया, उन्होंने दक्षिण भारत का मंजिलाकार संयोजन अपनाते हुए मंजिलों की ऊंचाई कम कर दी, किंतु उनकी संख्या बढ़ा दी, तथा उन्हें इतने अधिक आलंकारिक विवरणों से ढक दिया कि पहली नजर में तो मंजिलाकार संयोजन भी दृष्टिगोचर नहीं होता। और फिर, अपनी उत्तर भारतीय मूलाकृतियों से शिखरों का साम्य रखने के लिए, स्थपतियों ने केंद्रीय पटकों अथवा प्रत्येक मंजिल में आलों को इस प्रकार संजोया, ताकि लगभग अविरल खड़ी पट्टियां बन जाएं। इस तरह उन्होंने उत्तर के प्रलंबात्मक संयोजन का भी अनुकरण किया। 1112 ई० में रायचुर जिले में इत्तगि नामक स्थान पर बने महादेव मंदिर का शिखर मध्यम मार्ग को प्रकट करता है, किंतु लगभग उसी काल में निर्मित (12वीं शताब्दी ई०) आलमपुर के मंदिरों के शिखर इतनी चतुराई से आलंकारिक विवरणों से लदे हुए हैं कि वे बिलकुल उड़ीसा में भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर के प्रतिरूप लगते हैं।

दकनी मंदिरों की आंतरिक विन्यासयोजना में, सामने एक पूर्व-कक्ष से युक्त सामान्यतया पूर्व की ओर मुख किए हुए प्रतिमागृह तथा पूर्व-कक्ष से जुड़ा स्तंभीय हाल है। सामान्यतया दकन के दक्षिण-पश्चिमी भागों में स्थित मंदिरों के स्तंभीय हालों में जालीदार पर्दे तथा हवा एवं प्रकाश के प्रवेश के लिए मनोहारी डिजाइन के गवाक्ष हैं। दकन के उत्तरी एवं पूर्वी भागों के हाल खुले हुए हैं, जो उत्तरी भारत के मंदिरों के हालों की अनुकृति पर है। चूंकि दकन के अधिकांश मंदिर शिव की आराधना के लिए हैं, अतः भवन की विन्यासयोजना में, स्वयं मुख्य भवन में ही एक पृथक हाल अथवा छज्जा सम्मिलित किया गया है, जिसमें शिव के वाहन अर्थात पवित्र नंदी बैल की स्थापना का प्रबंध था। इसके अतिरिक्त उत्तरी एवं पूर्वी दकन के मंदिरों में भवन के तीन ओर द्वारमंडप हैं, जो विन्यास योजना को सितारे का आकार प्रदान करते हैं। यह दकनी मंदिरों की प्रमुख विशेषता है। भवन की आंतरिक छत सामान्यतया सपाट है तथा शहतीरों द्वारा कक्षों में विभक्त हैं। ये शहतीर छत को सहारा देने वाले स्तंभों पर आधारित हैं। ये कक्ष विन्यास योजना में वर्गाकार हैं, और जहां पर उनके द्वारा घेरे गए स्थान बड़े हैं वहां पर स्थपतियों ने भवन को अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए वर्गों के कोणों में त्रिकोणात्मक पटिए लगा दिए हैं। इस विधि का प्रभाव अत्यंत मनोहारी है क्योंकि वह आंतरिक छत के सपाट स्वरूप को दूर कर देती है। कुछ कक्षों में छत की योजना सोलह भुजा युक्त है; ऐसा कोणों पर 'त्रिकोण' टुकड़े लगाने से संभव हुआ है। इस विन्यास योजना का कलात्मक प्रभाव कारीगरी की समृद्ध नक्काशी से और अधिक बढ़ जाता है।

हाल के केंद्रीय कक्ष की आंतरिक छत प्रायः गुंबदाकार है, किंतु वह त्रिज्यावत जोड़ों से युक्त गड़ी डाटों से न बना है। इसके विपरीत इसका निर्माण पत्थर के छल्लों को एक के ऊपर एक आड़ा अथवा समस्तर रखकर किया गया है। प्रत्येक ऊपरी छल्ला अपने नीचे वाले छल्ले से छोटा है और ऊपर की ओर से अंदर की ओर मुड़ा हुआ है। इन छल्लों के सबसे ऊपर एक वृत्ताकार पटिया होता था। ऊपर से छत की सामग्री के अत्यधिक भार से ये छल्ले अपनी स्थिति पर बने रहते हैं। यह भार चारों ओर से गुंबद को सहारा देने वाली दीवारों पर पड़ता है। गुंबजी अभ्यंतर सकेंद्रीय बढ़ते हुए वृत्तों से उत्कीर्ण हैं—प्रत्येक शिखर में शीर्ष से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लटकता हुआ नोकदार सुंदर एवं शोभायुक्त प्रालंब अथवा गुलाबाकार फुंदना अथवा कोई अन्य मनोहारी डिजाइन उत्कीर्ण है।

दकनी मंदिरों के स्तंभों में अनेक प्रकार की डिजाइनें हैं, तथा कारीगरी एवं कलात्मक प्रभाव में वे उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के मंदिरों के स्तंभों से आगे हैं। दकनी मूर्तिकारों की असाधारण दक्षता एवं परिमार्जित रुचि मुख्य रूप से पत्थर की संगतराशी की लंबी परंपरा एवं उनके द्वारा उसके सतत अभ्यास के कारण ही थी। जैसा इस क्षेत्र के आरंभिक शिलामंदिरों के अस्तित्व से सिद्ध होता है, यह परंपरा कई शताब्दियों पुरानी थी। स्तंभों के लिए कासिताश्म (डालेराइट) पत्थर का प्रयोग किया गया है, जो कणाश्म (ग्रेनाइट) पहाड़ियों के आर-पार रीढ़ की हड्डी की भांति ट्रैप अवरोध के रूप में मिलता है, और कालास्याह अथवा हरियाला होता है। दकन के आदि मानव ने उसे अपने हथियारों के लिए प्रयोग किया, और उनकी भारी कुल्हाड़ियां, छेनियां तथा अन्य तराशे एवं पालिश किए हुए हथियार—ये सभी इसी पत्थर के बने हैं। यह छोटे एवं बारीक कणों वाला पत्थर होता है, जो सुंदर पालिश धारण कर लेता है। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि ऐसी पालिश धरातल बनाने के लिए वास्तव में स्तंभों को खराद पर चढ़ाया गया था। यह सत्य हो सकता है, किंतु कैलाश शिला-मंदिर के मुख्य हाल के स्तंभ, जो शीशे की भांति चमकते हैं, खराद पर नहीं चढ़ाए जा सकते क्योंकि संपूर्ण मंदिर एक ही शिला में से तराशा गया है। तथ्य तो यह है कि ईसवी सन की प्रारंभिक शताब्दियों से ही कारीगरों ने पत्थर की संगतराशी एवं चमकाई में उत्कृष्ट दक्षता प्राप्त कर ली थी। कुछ स्तंभों की नक्काशी इतनी स्पष्ट एवं ताजी है कि वह कल ही पूर्ण हुए प्रतीत होते हैं। विभिन्न पक्ष, फूल-पत्तियां एवं धार्मिक अभिप्राय, सभी स्पष्ट रूप से गहरे खुदे हैं; मानवीय रूप, शिला के धरातल से उभरे हुए हैं, जबकि कुछ पुष्पीय डिजाइन का केवल हल्का सा प्रभाव है क्योंकि वे केवल एक ओर ही स्तंभ से जुड़ी हैं, और उनका अधिकांश भाग लगभग पृथक है। गहरी नक्काशी के लिए संभवतः इत्तगि का मंदिर अद्वितीय है, किंतु पालिश की दृष्टि से पालंपेट एवं पिल्ललमरि जैसे तेलिंगान के कुछ मंदिरों के स्तंभ कर्नाटक के मंदिरों के स्तंभों के श्रेष्ठतर हैं।

महराबें, द्वार-पटल एवं उनके ऊपर की चित्रवल्लरियां भी अत्यधिक नक्काशी से युक्त हैं और वे स्थपतियों द्वारा अपने देवताओं के निवासस्थानों के निर्माण एवं अलंकरण में अत्यधिक श्रद्धा एवं परम दक्षता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। दीवारों का निर्माण बड़े बड़े पटकों द्वारा हुआ है और वे दोहरी हैं—आधार बीच में से खोखला है। निर्माण की यह विधि उस स्थल पर दृष्टिगोचर होती है, जहां पर जलवायु अथवा अन्य कारणों से दीवार की बाहरी परत नष्ट हो गई है। चूंकि दीवारों की नींव पर्याप्त गहरी नहीं है अतः वे प्रायः धंस गई हैं, जिससे अनेक मंदिर नष्ट ही गए। शेष भवनों में भी टूटे हुए सरदल, दरारयुक्त दीवारें तथा टेढ़े स्तंभ हैं। यह दुर्भाग्यशाली स्थिति पूर्ण रूप से नींवों के असुरक्षित स्वरूप के कारण है।

दकन के उत्तरी भागों के मंदिरों में समकालीन उत्तर-भारतीय मंदिरों के समान ही उच्च सोपान-आधार हैं, किंतु कर्नाटक-'देश' के देवालयों के आधार अधिक ऊंचे नहीं हैं। इनका उद्देश्य, वर्षा के मौसम में आस पास की भूमि की नमी से मंदिर के फर्श को सुरक्षित रखना था। छज्जे भी गहरे हैं और दक्षिण भारतीय मंदिरों के छज्जों के समान घुमावदार हैं, तथा कुछ मंदिरों में उनके सहारे के लिए मानवीय-बंधनियां हैं। वारंगल जिले में पालंपेट के महान मंदिर की बंधनियों में महत्वपूर्ण मुद्राओं से युक्त नृत्यबालिकाएं हैं जो समृद्ध कल्पना एवं दक्षतापूर्ण कारीगरी भी प्रदर्शित करती हैं। कभी कभी छज्जे उभारदार धारियों युक्त और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लकड़ी के रथों के छज्जों की तरह पटकों में विभक्त मिलते हैं।[15]

उपर्युक्त सामान्य अभिवचनों की व्याख्या करने के लिए, दकन के कुछ महत्वपूर्ण मंदिरों की विन्यास योजनाओं का वर्णन नीचे दिया गया है। दक्षिण-पश्चिमी दकन के मंदिरों का वर्णन करते हुए सबसे पहले इत्तगि के महादेव मंदिर का उल्लेख करना चाहिए, क्योंकि वह इस प्रदेश में उस प्रकार का सर्वोत्तम मंदिर माना जाता है। वह एम० एस० एस० रेलवे (अब दक्षिण रेलवे) लाईन पर बेल्लरि एवं गदग के बीच बनिकोप स्टेशन से लगभग तीन मील दक्षिण में स्थित है। अभी हाल तक यह गांव हैदराबाद राज्य के रायचुर जिले में नवाब सालारजंग की 'जागीर' में सम्मिलित था। मंदिर की विन्यासयोजना में पूर्व-कक्ष से युक्त प्रतिमागृह, एक बंद हाल, जिसके दोनों ओर उत्तर एवं दक्षिण में द्वार मंडप हैं, तथा किनारों से खुला हुआ स्तंभीय हाल हैं। मंदिर का मुख उदय होते हुए सूर्य की ओर है और पूर्व में खुला हुआ बड़ा हाल मूलतः 68 स्तंभों पर आधारित था। इनमें से 29 स्तंभ बड़े हैं. जो फर्श पर खड़े हैं और छत के मुख्याधार हैं; शेष छोटे स्तंभ हॉल के चारों ओर के पत्थर के पट्टियों पर स्थित हैं और ढलानदार ओलतियों से युक्त हैं। बड़े स्तंभ भिन्न डिजाइनों के हैं, किंतु प्रत्येक के आकार एवं नमूनों के अनुसार समरूपता से नियोजित हैं। चार केंद्रीय स्तंभों में स्तंभ एवं शीर्ष में खड़ी डिजाइन की कोणात्मक संगतराशी हैं। यद्यपि डिजाइन अत्यंत समृद्ध हैं फिर भी वह भवन के अन्य स्थापत्यात्मक भागों के विस्तृत नमूनों से मेल खाती है। उदाहरणार्थ, हाल के मध्य कक्ष की आंतरिक छत के पटिए लटकती हुई पुष्पीय बेलों, तथा 'कीर्तिमुख' मुखौटों [16] के मुख से निकलते हुए मकरों[17] की नक्काशी से युक्त हैं। घुमावदार प्रवृद्धि एवं विस्मयकारी पुष्पगुच्छों से युक्त डिजाइनों की कुंडलियां अत्यंत वैभवपूर्ण नमूना प्रस्तुत करती हैं। आंतरिक हाल, जो बंद हैं, प्रत्येक ओर से 27 फीट लंबा है और उसमें वाह्य कक्ष से प्रवेशद्वार के अतिरिक्त, उत्तर एवं दक्षिण में भी द्वार हैं, जो मूर्तियों से अलंकृत हैं। मंदिर का वाह्य रूप काफी नष्ट हो गया है तथा दीवारों के बाह्य पटकों की नक्काशीयुक्त कारीगरी को ग्रामीण लोग स्वयं अपने घर बनाने के लिए निकाल ले गए हैं। 'शिखर' का शीर्ष भी लुप्त है। विद्यमान शिखर में तीन मंजिलें हैं, जो पर्याप्त स्पष्ट हैं तथा आलमपुर के मंदिरों के समान उत्कीर्ण एवं आलंकारिक विवरणों से ढकी हुई नहीं हैं। शिखायुक्त छोटे आले, जो प्रत्येक मंजिल के मध्य भाग को अलंकृत करते हैं, एक के ऊपर एक स्थित होने के कारण अत्यंत सुंदर लगते हैं। छोटी छोटी लटकती हुई कलियों से युक्त गोल गोंठ का गहरा छत्र भी अत्यन्त शोभायुक्त घुमावों के रूप में नियोजित है। आलों की गहरी एवं समृद्ध परछाई की पृष्ठभूमि से उनकी बारीक पट्टीनुमा कारीगरी की सुंदरता और अधिक बढ़ जाती है।

नक्काशी के पुष्पों की ये सुंदर मालाएं अलंकरण के रूप में नीचे की दीवारों के पटकों में भी दोहराई गई हैं, और दो दृष्टांतों में अर्थात प्रतिमागृह के दोनों ओर की एक एक पुष्पावली गवाक्ष फ्रेम का काम करती हैं तथा मोड़ों के बीच का स्थान प्रकाश को रूपायित करता है। प्रतिमागृह की दीवारों के तीन प्रमुख आले, जो बाहर की ओर निकले हुए छज्जों से अधिक उभरे हुए हैं, अब खाली हैं—उनकी प्रतिमाएं लुप्त हो चुकी हैं। शताब्दियों की लापरवाही के कारण, मंदिर की अवस्था अत्यंत खराब हो चुकी थी, किंतु हैदराबाद के पुरातत्व विभाग की स्थापना के तुरंत बाद ही, राज्य सरकार के उदार अनुदान के माध्यम से इनकी पूर्णरूपेण मरम्मत करवाई गई; हालांकि जैसा ऊपर कहा गया है, यह मंदिर नवाब सालारजंग बहादुर की 'जागीर' में स्थित था।

एक पटिए पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार, यह मंदिर शक सं० 1034 (1112 ई०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
में महादेव द्वारा बनवाया गया था, जो पूर्वी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ का 'दंडनायक' अर्थात एक उच्च सैनिक अधिकारी था। इस अभिलेख में मंदिर को 'देवालय चक्रवर्ति' अर्थात 'मंदिरों में सम्राट' कहा गया। अपनी स्थापत्यात्मक शैली की भव्यता तथा वैभवपूर्ण आलंकारिक विवरणों के कारण मंदिर के लिए इस उपाधि का प्रयोग उचित ही है।

इत्तगि से आलमपुर जाते हुए, उसी जिले में स्थित[18] किंतु पूर्वोक्त स्थान के उत्तर-पूर्व में 150 मील दूर रायचुर नगर के मंदिर के शिखर के आकार में उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को मिलता है। यह शिखर दक्षिण भारत के शिखरों की अपेक्षा उड़ीसा के मंदिरों के शिखरों के अधिक निकट है। आलमपुर में अनेक मंदिर हैं और उनके शिखर बाहर की ओर से वक्राकार हैं। खड़े रूप मे एक के ऊपर एक नियोजित स्तंभों, आलों, गवाक्षों एवं 'आमलकों[19] जैसी स्थापत्यात्मक युक्तियों के लघुरूपों के आधिक्य से उसका मंजिलाकार संयोजन छुप गया है। इन मंदिरों के हाल बंद हैं और वे अपनी विन्यासयोजना में दकन के शिलामंदिरों से मिलते हैं, इनमें केंद्रीय पथ, मध्यकक्ष एवं उसके दोनों ओर वीथिकाएं हैं। केंद्रीय पथ के अंत में वर्गाकार कक्ष के रूप में प्रतिमागृह बना हुआ है और उसके चारों ओर दो वीथिकाएं हैं, जो आराधकों के लिए प्रदक्षिणा पथ का काम करती हैं। हाल के स्तंभों की डिजाइनें तथा मंदिर के बाह्य रूप में 'अप्सराओं' के उत्कीर्ण चित्र भी दकन के शिला स्थापत्य के प्रभाव को प्रकट करते हैं। इन मंदिरों की सामान्य शैली अत्यंत आकर्षक है और शिखर की नक्काशी के चरम अलंकरण को छोड़कर, स्थापत्यात्मक विशेषताएं परिमार्जित रुचि प्रदर्शित करती हैं। आलमपुर के मंदिरों पर उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार, उनका निर्माण 12 वीं शताब्दी ई० के दौरान हुआ था।

आलमपुर के मंदिरों के समकालीन ही, उत्तरी दकन में अनवा एवं औंध के मंदिर हैं। ये दोनों ही एक प्राचीन जलधारा के तट पर स्थित हैं। इसका स्रोत अनवा से थोड़ा ऊपर ही अजंता की पहाड़ियों में है,[20] और यह जालना के निकट गोदावरी से मिल जाती है।[21] दोनों ही मंदिर अपनी अपनी शैलियों के विशिष्ट उदाहरण हैं। अनवा के मंदिर का आधार ऊंचा है और उसके सोपानाधार, छोटे स्तंभों का संयोजन, छत की वृत्ताकार डिजाइन सभी अत्यंत कलात्मक हैं। छत के महराब का व्यास 21 फीट है, तथा वह अत्यधिक उत्कीर्ण बारह स्तंभों पर आधारित है, जिनके बीच में ही आठ अन्य छोटे स्तंभ हैं। वह निर्माण एवं अलंकरण दोनों में ही आड़ा है, और उसका सामान्य प्रभाव अत्यंत भव्य है; हालांकि महराब के बीच में कोई लटकता हुआ प्रालंब नहीं है, जैसा कि इस प्रकार के गुंबदों में प्रायः पाया जाता है। मंदिर अत्यंत जीर्ण हो गया था और उसके चारों ओर अनेक वृक्ष उग आए थे, जो इस भवन के नाश का प्रमुख कारण थे। किंतु अपनी स्थापना के पश्चात हैदराबाद के पुरातत्व विभाग ने इस भवन की पूर्णरूपेण मरम्मत करवाई और उसे अधिक नष्ट होने से बचा लिया।

अनवा के अपने प्रतिद्वंद्वी की अपेक्षा, औंध का मंदिर परिमाप में अधिक बड़ा है, किंतु उसका शिखर आधुनिक है, जो मूल शिखर के पूर्णरूपेण लुप्त हो जाने के बाद बना था। भवन का निम्नाधार तथा छत के स्तर तक की दीवारें मूल हैं और वे सुंदर नक्काशी से युक्त बड़े बड़े पत्थरों की चिनाई से बने हुए हैं। स्वयं मंदिर का आधार 5 फीट 6 इंच ऊंचा है और पश्चिमी द्वारमंडप से लेकर मंदिर के पृष्ठ भाग तक उसकी पूर्ण लंबाई 126 फीट है, जबकि उत्तरी द्वारमंडप तक की चौड़ाई 118 फीट है। आंतरिक विन्यासयोजना में प्रतिमागृह तथा तीन दिशाओं में द्वारमंडपों से युक्त हाल है, जिसके परिणामस्वरूप आंतरिक संयोजन सितारे की आकृति का बन गया है। भवन के बाह्य रूप में कोणात्मक प्रक्षेपणों से यह रूप और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक स्पष्ट हो गया है। पूर्ण भवन का प्रभाव अत्यंत कलात्मक है। संरचनात्मक एवं आलंकारिक विशेषताओं की दृष्टि से औंध का मंदिर, हैलेबिड के प्रसिद्ध मंदिर से अत्यधिक साम्य रखता है, जिसके स्थापत्यात्मक सौंदर्य के संबंध में फर्ग्युसन ने लिखा है :

'किंतु यह नहीं सोचना चाहिए कि यह भवन केवल अपने धैर्यपूर्ण उद्यम के कारण ही अद्वितीय है। प्रकाश एवं अंधकार का सम्मिश्रण करने के लिए जिस प्रकार से बड़े खण्डों द्वारा पूर्वी मुख तो तोड़ा गया है, वह गोथिक स्थपतियों द्वारा क्रूशाकार गिरजों के वक्रभागों एवं प्रक्षेपणों के माध्यम से प्राप्त किए गए प्रभावों को उपलब्ध करने की अधिक उत्तम विधि थी। किंतु इससे भी बढ़कर तो पश्चिमी मुख है, जहां पर रूपरेखा की विविधता एवं उनके चित्रण के विभिन्न पक्षों के संयोजन और गौणत्व को अपनी श्रेणी में डिजाइन की श्रेष्ठ कृति मानना चाहिए। यदि देवताओं की चित्रबल्लरी को समतल धरातल पर फैला दिया जाए तो इसका अधिकांश प्रभाव समाप्त हो जाएगा, जबकि चित्रबल्लरी के सातत्य में हस्तक्षेप किए बिना ही, लम्बात्मक कोण सम्पूर्ण रचना को ऊंचाई एवं दृढ़ता प्रदान करते हैं। निम्न चित्रबल्लरी की आड़ी रेखा का चित्रण भी उतना ही प्रभाविक है। यहां पर भी आड़ी रेखाओं का कलात्मक सम्मिश्रण, रूपरेखाओं एवं धूप छांव का प्रस्तुतीकरण भी गोथिक कला के किसी भी रूप से बढ़कर है। अंतिम प्रभाव वही थे, जो मध्य युगीन यूरोप के स्थपतियों के लक्ष्य थे, किंतु जिसे उन्होंने कभी भी उस पूर्णता से प्राप्त नहीं किया जैसा दकन में हुआ था।'[22]

मंदिर में अनेक कांस्य प्रतिमाएं हैं, किंतु प्रमुख प्रतिमा, जिसने मंदिर को इतना महत्व प्रदान किया है, 'ज्योतिर्लिंग' की है — 'ज्योति' अर्थात प्रकाश को सर्वोच्च शक्ति माना जाता था। यह अपने प्रकार के उन 12 लिंगों में से हैं, जो भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं और शैव मत के आराधकों द्वारा अत्यंत श्रद्धा से देखे जाते हैं।

अनवा एवं औंध--दोनों के ही मंदिर, अपने ऊंचे आधारों, उनके छोटे स्तंभों के संयोजन तथा उनके निम्नाधार की गोठों की शैली के कारण उत्तरी गुजरात एवं मध्य भारत की याद दिलाते हैं, जिनमें से ग्यालियर का 'तेली-का-मंदिर एवं छतरपुर राज्य में खजुराहों का महादेव मंदिर प्रमुख है।

दक्षिणी एवं उत्तरी भागों के समान दकन के पूर्वी भाग में भी अनेक मंदिर हैं। किंतु उनकी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो उन्हें पठार के अन्य दो भागों के प्रतिद्वंद्वियों से अलग करती हैं। उदाहरणार्थ, उनके हालों के केंद्रीय कक्षों की आंतरिक छतें वृत्ताकार नहीं हैं— वे अष्टभुजीय अथवा सोलह भुजीय हैं। ये आकार मुख्य डिजाइन के कोणों पर त्रिकोणात्मक पटक रख कर प्राप्त किए जाते थे। आलमपुर के मंदिरों में दृष्टिगोचर होने वाले उत्तरी शिखर के बक्राकार रूप भी नहीं है और न हीं उनमें दक्षिण के कोणस्तूपाकार 'गोपुरं' हैं। वे उत्तरोत्तर घटते हुए लंबात्मक रूप में उठते हैं, जिनमें खड़ा हुआ संयोजन ही मुख्य विशेषता होती है तथा मूल डिजाइन को छुपाने अथवा आंखों को थकानेवाले अलंकारिक विवरणों का जमघट भी नहीं है। उनके आधार ऊंचे हैं किंतु निम्नाधार की ऊंचाई के मध्य में पटिए बनाकर प्रपाती प्रभाव का विवेकपूर्ण निराकरण किया गया है। इस संयोजन ने एक ओर तो मेखला के रूप में संपूर्ण संरचना को दृढ़ता प्रदान की हैं, और दूसरी ओर 'प्रदक्षिणा' पथ का नियोजन किया है, जिस पर चल कर आराधक मंदिर के चारों ओर घूम सकते थे तथा उसके बाह्य रूप की सुंदर मूर्तिकला का आनंद ले सकते थे।

इन मंदिरों में से हनुमकोंड एवं पालम्पेट जैसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मंदिर, जिनमें बारं-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गंलदुर्ग का अपूर्ण मंदिर [illegible] है, जो अपूर्व स्थापत्य शैली को प्रकट करते हैं। इस शैली में दृष्टि-विस्तार एवं धार्मिक भावनाओं की महानता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। इस विचार की व्याख्या के लिए पालंपेट के महान मंदिर का वर्णन करना चाहिए। इस मंदिर के मुख्य भवन में उत्तर दक्षिण एवं पूर्व दिशाओं की ओर द्वार मंडप हैं, किंतु मुख्य प्रवेश द्वार पूर्वोन्मुख है, क्योंकि उसी दिशा में जमीन से 6 फीट 4 इंच की ऊंचाई पर एक हाल बना हुआ है। उसका आधार भी एक के बाद एक पट्टियों एवं नालियों मे विभक्त है। इसकी प्रेरणा नदी के पहाड़ी किनारों से ली गई है क्योंकि लहरों की सतत क्रिया के कारण उसके किनारे भी इस प्रकार से घिस जाते हैं। मंच से संपूर्ण मंदिर के चारों ओर 10 फीट चौड़ा पथ है, जो श्रद्धालु भक्तों के लिए प्रदक्षिणा पथ का काम देता है और जहां से वे भवन के बाह्य रूप को अलंकृत करने वाली प्रतिमाओं की लंबी कतारों को गौर से देख सकते थे। ये प्रतिमाएं विभिन्न स्वरूपों की हैं, जिनमें देवता, देवियों, योद्धा, नट, संगीतज्ञ, नर्तकियों तथा अशोभनीय मुद्राओं में मैथुन युग्म सम्मिलित हैं।

इस भवन की उल्लेखनीय विशेषता मानवीय रूप की बंधनियां हैं, जो मंदिर के बाह्य स्तंभों के स्कंधों से निकलती हैं और सामान्यतया 'छज्जों' को आधार प्रदान करती हैं। वे केवल अलंकार मात्र हैं और सांची के पूर्ववर्ती उदाहरणों एवं विजयनगर के उत्तर कालीन दृष्टांतों के बीच की अवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन बंधनियों में से बारह भिन्न मुद्राओं की नर्त्त-कियां हैं तथा अवधारणा एवं तक्षण-दोनों दृष्टियों से ही इनमें नक्काशी के पर्याप्त कलात्मक गुण प्रकट होते हैं।

बाहर से मंदिर की दीवारें चौकोर स्तंभों एवं आलों से सुसज्जित हैं। इन आलों के शीर्ष पर लघु आकृति के शिखर हैं, जो मंदिर के मुख्य शिखर के प्रतिरूप हैं।

तीनों में से किसी भी द्वारमंडप से मंदिर में प्रवेश करने के लिए दर्शक को अनेक सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं, क्योंकि मंदिर का फर्श, उस मंच से 5 फीट अधिक ऊंचा है, जिस पर वह खड़ा हुआ है। आंतरिक भाग के संयोजन को विन्यास योजना की सहायता से ही अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है। मुख्य द्वार प्रत्येक ओर से 41 फीट लंबा है और उसके मध्य में चार स्तंभों से घिरा वर्गाकार कक्ष है, जहां पर संगीतज्ञ एवं गायक पवित्र भजनावली का उच्चारण करते थे। स्तंभों की नक्काशी अत्यंत भव्य है और उसमें पुराणों के दृश्य उत्कीर्ण हैं। केंद्रीय कक्ष के स्तंभ पर आसक्त गोपियों के झुंड से घिरे हुए कृष्ण का वर्णनात्मक दृश्य उत्कीर्ण है, जिसमें सरोवर में स्नान करते समय नटखट भगवान ने गोपियों को उनके वस्त्रों से वंचित किया था। हाल के चारों ओर 3 फीट 6 इंच ऊंचा मंच बना हुआ है और इसमें आठ सुंदर आले हैं जिनमें मूलतः मंदिर के आराध्य देवताओं की प्रतिमाएं स्थित होंगी। पूर्व कक्ष का अग्रभाग एवं मंदिर का प्रवेश द्वार भी सुंदर नक्काशी से युक्त है, तथा मंदिर के आंतरिक भाग में स्थित मुख्य प्रतिमा, लिंग की है जो विश्वीय शक्ति का प्रतीक है। मंदिर का सामान्य स्थापत्यात्मक प्रभाव अत्यंत भव्य है और निर्माताओं के उच्चादर्शों एवं परम दक्षता को प्रकट करता है।

इन मंदिरों का एक दोष यह है कि उनकी नीवें पर्याप्त सुदृढ़ नहीं हैं और चूंकि वे बड़े बड़े पत्थरों की चिनाई से बने थे, अतः अधिकांश दृष्टांतों में धंसाई के अवशेष मिलते हैं। इसी-लिए दरार युक्त दीवारें, टूटे हुए सरदल तथा टेढ़ी दीवारें ऐसी विशेषताएं हैं, जो प्रायः स्वयं ही दर्शक की आंखों पर छा जाती है।

पालंपेट मंदिर में 1213 ई० का एक अभिलेख है, जो किसी रेचेरल रुद्र द्वारा मंदिर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के निर्माण का वर्णन करता है। वह काकतीय नरेश गणपति की सेवा में एक सेनाध्यक्ष था। इस राजा ने पाखल का महान सरोवर एवं वारंगल दुर्ग का भव्य मंदिर भी बनवाया था। हाल ही में हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा किए गए उत्खननों द्वारा इनकी कुछ विलक्षणताएं प्रकाश में आई हैं। मंदिर का निर्माण सुचारु रूप से छिने हुए बड़े पत्थरों की चिनाई से हुआ था, तथा काकतीय स्थपतियों द्वारा विशालकाय पटकों के प्रेम का प्रमाण, मंदिर के उस केंद्र कक्षीय फर्श से मिलता है, जो प्रत्येक ओर से 16 फीट लंबाई तथा 2 फीट मोटाई वाले एकाकी पत्थर का बना हुआ है। इसके अतिरिक्त फर्श पर अत्यंत सुंदर पालिश है और वह शीशे की भांति चमकता है। इस मंदिर की एक अन्य मनोरंजक विशेषता उसके चार प्रवेश द्वार हैं जो चारों दिशाओं की ओर उन्मुख हैं तथा अपनी डिजाइन में सांची के महान स्तूप के 'तोरणों' की याद दिलाते हैं जिसका कम से कम एक द्वार दकन के कारीगरों द्वारा बनाया गया था।[13] ऐसा प्रतीत होता है कि दकन में इस शैली के द्वार बनाने की परंपरा 13वीं शताब्दी तक जारी रही।

सातवीं से तेरहवीं शताब्दी ई० तक बने दकन के संरचनात्मक मंदिरों की स्थापत्य कला कुछ हद तक पारंपरिक है, तथा उसमें आत्मस्फुरता का अभाव है। किंतु कोई भी उसकी भव्यता से इनकार नहीं कर सकता और न ही कोई इन मंदिरों के निर्माताओं की समृद्ध कल्पना शक्ति, धैर्यपूर्ण उद्यम एवं दक्ष कारीगरी की अवहेलना कर सकता है।

संदर्भ

1. बिजापुर जिसे में ऐहोल ग्राम। यह चालुक्यों की प्राचीन राजधानी बादामी से बहुत दूर नहीं है.
2. 'इं० ऐं०', viii, पृ० 285-6.
3. पट्टदकल, बादामी से 10 मील उत्तर-पूर्व में तथा ऐहोल से 8 मील दक्षिण-पश्चिम में हैं.
4. चूंकि ये कब्रें एत्रूरिया, स्पेन एवं दक्षिणी फ्रांस की अपनी मूलाकृतियों से अत्यधिक मिलती हैं; अतः जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कुछ पुरातत्वविदों का विचार है कि दकन एवं दक्षिण भारत की महापाषाणीय कब्रों का निर्माण सीथियनों (शकों) ने उस समय किया, जब वे भारत के इस भाग में फैले-बसे.
5. अमरावती स्तूप के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए :
   'दि बुद्धिस्ट स्तूपाज ऑफ अमरावती ऐंड जग्गयपेट', आ० स० सा० इं०', 1887.
6. इस मंदिर के आंतरिक भाग के सामान्य माप इस प्रकार हैं. प्रवेश द्वार से पिछली दीवार तक : 124 फीट 3 इंच; केंद्रीय कक्ष एवं किनारे की वीथियों की संयुक्त चौड़ाई : 45 फीट 6 इंच; तथा फर्श से लेकर शिला की आंतरिक छत तक की ऊंचाई : 45 फीट.
7. यह विहार उसी समय बना होगा, जब अजंता की चैत्य-गुहा 10 बनी थी, क्योंकि विशालकाय चैत्य के लिए एक ऐसे बड़े विहार की भी आवश्यकता थी, जिसमें भिक्खु रह सकें। पूर्व-गृह एवं प्रतिमा-गृह बाद में बनाए गए होंगे.
8. कोंदापुर हैदराबाद से 43 मील पश्चिम-उत्तर पश्चिम में है और वहां पहुंचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि 37 मील तक बीदर मार्ग पर यात्रा की जाए और शेष छः मील पक्की सड़क से तय किए जाएं, जिसे अभी हाल ही में हैदराबाद राज्य के सार्वजनिक कार्य विभाग ने यात्रियों की सुविधा के लिए वाहननीय बनाया है.
9. पाणिगिरि नलगोंड जिले में एक पहाड़ी है जिस पर 1942-3 ई० के दौरान, हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा किए गए उत्खननों में 'स्तूप' के अवशेष मिले.
10. 'है० आ० सि०', विनिबंध नं० 16, घटोत्कच इंसक्रिपशंस, में वी० वी० मीराशी ने उनके उत्पत्ति स्थल को पूर्वी दकन में खोजने का प्रयास किया है।
11. 'दशावतार' नामक 15 वीं गुहा मूलतः 'बौद्ध विहार' थी। सावधानी पूर्वक खंडित किए जाने पर भी अनेक

CC-0 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थानों पर आलों में रखी गई प्रतिमाएं देखी जा सकती है। इस गुहा के प्रवेश द्वार पर दंतिदुर्ग का एक लंम्बा अभिलेख उत्कीर्ण है.

12. देखिए पीछे, पृ० 326.
13. 'ई० एँ०', X, पृ० 162.
14. सा० इं इं०', I, पृ० 146.
15. धार्मिक उत्सवों के अवसर पर सड़कों पर देवताओं को घुमाने के लिए छत्र युक्त रथ. वे अत्यधिक नक्काशी से युक्त होते हैं और आज भी दक्षिणी भारत के सभी नगरों एवं कुछ ग्रामों में देखे जा सकते हैं.
16. 'कीर्तिमुख', पारंपरिक सिंह-शीर्ष.
17. 'मकर', मगर की आकृति का बेलनुमा अभिप्राय.
18. आलमपुर एक 'तालुक, का प्रधान कार्यालय है और वहां हैदराबाद अथवा कुर्नूल से पहुंचा जा सकता है। यह उत्तर दक्षिणी रेल्वे की छोटी लाइन पर, सिकंदराब द एवं द्रोनचलं के बीच में स्थित है.
19. 'आमलक', धारीदार स्तंभ शीर्ष.
20 नदी पर स्थित अन्य शहर मस्सये एवं जाफराबाद हैं. जाफराबाद का कोई आरंभिक हिन्दू नाम भी होगा, क्योंकि वहां पर पर पूर्व-मुस्लिम काल के अनेक प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं.
21. अन्वा को औरंगाबाद-अजंता सड़क पर स्थित गोलेगांव से और औरंगाबाद जिले में भोकर्दान 'तालुक' नगर से भी पहुंचा जा सकता है.
22. जे० फग्यर्युसन एवं बर्जेस, 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन आर्किटेक्चर', I, पृ० 448.
23. एक अभिलेख के अनुसार, सांची स्तूप का दक्षिणी द्वार, आंध्र नरेश श्री सातकर्णि के मूर्तिकारों द्वारा बनाया गया था. विद्वानों ने श्री सातकर्णि का शासन-काल ई० पू० द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में रखा है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूर्ति-कला

अब हम दकन की मूर्तिकला के इतिहास पर आते हैं। आंध्रवंश के अधीनस्थ प्रदेश के पूर्वी एवं पश्चिमी—दोनों ही भागों में अत्यंत विकसित कला के उदाहरण विद्यमान हैं, जो ई० पू० द्वितीय शताब्दी तक के हैं। उसके पुरुषत्व, कोमल सौंदर्य, उच्च बौद्धिक गुणों एवं दक्ष प्रविधि के वह स्तर प्राप्त करने में कतिपय सहस्राब्दी लगी होंगी। इस विचार के प्रमाण स्वरूप, आंध्र साम्राज्य के पश्चिमी भागों में स्थित कोंडाणे भाजा, बेडसा एवं कार्ले तथा पूर्वी प्रदेश से अमरावती के 'चैत्यों' से प्राप्त मूर्तियों के उदाहरणों का वर्णन करना आवश्यक होगा। कोंडाणे के चैत्य में अत्यंत अलंकृत अग्रद्वार है, जिसकी डिजाइन अपने रूप एवं प्रेरणा में मुख्य रूप से काष्ठिक है। यद्यपि वक्राकार बंधनियों पर आधारित आगे को निकले हुए छज्जे तथा जालीदार काम से पूर्ण गवाक्षों में पत्थर की संगतराशी है, फिर भी वे स्वरूप में पूर्णरूपेण काष्ठिक हैं, तथा वे मुख्य महराब के वास्तविक काष्ठकार्य से मिलते हैं। मुख्य महराब के अवशेष अब भी उसी अवस्था में विद्यमान हैं। केंद्रीय महराब के मुख्य स्थलों के साथ साथ उत्कीर्ण, छज्जों की तीसरी पंक्ति में नर्तक नर्तकियों के रूपों से युक्त पटक हैं। इन पटकों में से महराब के प्रत्येक ओर चार चार पटक हैं; बाईं ओर के पटक कुछ अधिक सुरक्षित अवस्था में हैं।[1] इस शृंखला में पहले पटक में तीन मूर्तियां हैं: बीच में एक बड़े तीर कमान से युक्त आमोदप्रिय योद्धा और उसके दोनों ओर एक एक नर्तकी है। नर्तकियां ऐसी मुद्रा में हैं, मानों उन्होंने अपने प्रसन्नचित्त साथी के साथ बारी बारी से नृत्य किया हो। पहले पटक में दाईं ओर की नर्तकी ने शृंगारिक भाव से योद्धा की मेखला के छोर को पकड़ रखा है और वह आसक्त रूप में उसकी ठोड़ी का स्पर्श करने के लिए अपने बाएं हाथ को आगे बढ़ाए हुए है। पुरुष एवं नारी रूपों की शरीर रेखाओं में गति इंगित करने वाली लय प्रकट होती है, जबकि पुरुष का ओज तथा नर्तकी द्वारा अभिव्यक्त 'प्रसन्न शांति' उन्हें बिलकुल सजीव बना देती है। बाईं ओर की नर्तकी ने भी अपनी बारी आने पर अपने साथी के साथ नृत्य करने के उद्देश्य से, स्वयं को तैयार करते हुए एक लघु कदम उठाया है। दूसरे एवं तीसरे पटक, योद्धा को अपने दोनों साथियों के साथ बारी बारी से नृत्य में रत दिखाते हैं। नर्तकियों की मुद्राएं अत्यंत मोहक हैं, जो शरीर के लोच एवं अन्य भावभंगिमाओं द्वारा कामक्रीड़ा के भाव को प्रदर्शित करती हैं। चौथे पटक में केवल योद्धा को दिखाया गया है, जो अपने होठों पर मुस्कान लिए हुए है। उसने अत्यंत शोभायुक्त भंगिमा में अपने शरीर को झुका रखा है और ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह अपने सफल नाट्यप्रदर्शन के लिए दर्शकों द्वारा की गई प्रशंसा को स्वीकार कर रहा हो। नाट्यात्मक प्रभाव के अतिरिक्त इन चार पटकों की नक्काशी में इतनी शोभा एवं सौंदर्य है कि अपने बौद्धिक गुणों एवं तकनीकी दक्षता के उनकी कला को कारीगरी की इतनी पूर्णावस्था प्राप्त करने से पहले अनेक शताब्दियों के अभ्यास एवं सांस्कृतिक विकास की आवश्यकता हुई होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस गुफा में कम से कम ई० पू० द्वितीय शताब्दी के ब्राह्मी अक्षरों में एक अभिलेख है। इस अभिलेख में गुफा के निर्माता एवं कण्ह (अथवा कृष्ण) के शिष्य, बलक का नाम दिया गया है। यह अभिलेख एक मूर्ति के शीर्ष के पास उत्कीर्ण है, जो संभवतः बलक की है। मूर्ति खंडित है और अब शीर्ष के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है। यह कढ़ाई से युक्त औढ़नी से ढका हुआ है, जो उसी डिजाइन की पट्टी द्वारा माथे के निकट बंधी हुई है। शीर्ष के ऊपरी भाग में उभार से पता चलता है कि उस व्यक्ति के केश अत्यंत लंबे थे, और इसीलिए उन्हें सिर के ऊपर एकत्र कर दिया गया था।

ईसवी सन से तत्काल पूर्व की शताब्दियों में नृत्य कला काफी लोकप्रिय थी और वास्तव में यह बाद में भी लोकप्रिय बनी रही। बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों के कर्मकांड इसका पोषण करते तथा उसे प्रोत्साहन देते थे। अतः मूर्तिकारों ने आरंभिक 'चैत्यों' के बाह्य रूपों के अलंकारिक संयोजनों में नृत्य करते हुए युगलों को भी सम्मिलित कर लिया। संभवतः बौद्ध धार्मिक परंपरा ने उसे चैत्यों के आंतरिक भाग में मानवीय जीवन के हल्के एवं तुच्छ पक्षों को चित्रित करने में अपनी दक्षता प्रदर्शित करने की अनुमति नहीं दी थी। बारीक कणों का पत्थर न होने के कारण आकृतियों की परिसज्जा खुदरी है, किंतु आनंदपूर्ण उन्मुक्त दृष्टिकोण तथा गति की लय अद्वितीय हैं और उनसे अत्यंत विकसित कला का परिचय मिलता है। मुखाकृति तथा स्वरूप वेश भूषा से प्रकट होता है कि नर्तक दकन के निवासी थे, और इस प्रकार यह कला स्वदेशी थी। अपने शिरोवस्त्र एवं आभूषणों के कारण, ये नर्तक सांची एवं भरहुत की नक्काशी में प्रस्तुत लोगों जैसे हैं, किंतु उनमें वह दृढ़ता नहीं है जो सांची एवं भरहुत की मूर्तियों में सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत कार्ले के नर्तकों की गति एवं सजीव प्रभाव पूर्ण रूप से अधिक विकसित कला को प्रदर्शित करते हैं।

इस गुफा में मूर्तिकार की कला की अन्य विशेषता हाथियों पर सवार व्यक्तियों के शीर्ष से युक्त स्तंभावली है। छोटी चमकती आंखों एवं शोभायुक्त नक्काशी वाली सूंडों से युक्त चिंघाड़ते हुए हाथी मुद्रा के चयन एवं अभिव्यक्ति की सजीवता में कलाकार की प्रवीणता को प्रदर्शित करते हैं, जबकि प्रसन्न एवं सौम्य मुख वाले तथा जोड़े के रूप में प्रस्तुत सवार यह दर्शाते हैं कि मूर्तिकार के आदर्शों के अनुसार मानव का जीवन अपने आनंदों के भोग के बिना पूर्ण नहीं हो सकता।

कार्ले के 'चैत्य' में पचास अथवा उससे अधिक वर्षों के अनेक अभिलेख हैं। इन वर्षों के दौरान नक्काशी के माध्यम से गुफा का लगातार अलंकरण होता रहा होगा। किंतु प्रचीनतम अभिलेख में कुछ सातवाहन नरेशों के नाम हैं, जो ईसा संवत से तत्काल पूर्व की शताब्दियों में शासन करते थे। इस गुफा की मूर्तिकला भी उपर्युक्त कोंडाणे गुफा की मूर्तिकला के समय से अधिक बाद की नहीं है। कार्ले 'चैत्य' के स्तंभों के लगभग समकालीन अथवा उनसे कुछ पूर्व बेडसा के बौद्ध शिला मंदिर के बरामदे के स्तंभ आते हैं;[2] किंतु वे कार्ले की अपनी मूलाकृतियों की तुलना में अधिक बड़े आकार के हैं तथा उनके शीर्ष फलकों पर उत्कीर्ण पशुओं एवं उनके सवारों की आकृतियां केवल आकार में ही विशालकाय नहीं है; अपितु कलात्मक प्रभाव में अत्यंत सजीव हैं। स्तंभों के मुख्य मध्य भाग अष्टकोणीय हैं, उनकी परिधि 3 फीट 4 इंच एवं ऊंचाई 25 फीट है। कुंभाकार आधार से ऊपर उठते हुए वे कुछ शुंडाकार होते जाते हैं तथा उनके ऊपर परसी-पोलियन प्रकार के वक्राकार शीर्ष हैं, जिनमें खड़ी नालियां बनी हुई हैं। शीर्षों के ऊपर धारीदार तोरण हैं, जो वर्गाकार फ्रेम में हैं, इसके ऊपर चार पतली टाइलें हैं। इनमें से प्रत्येक, अपने नीचे वाली टाइल से आगे की ओर निकली हुई है। सबसे ऊपर किंतु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
स्तंभोर्द्धव के ठीक नीचे, चिंघाड़ते हुए हाथी, घोड़े, बैल एवं पौराणिक पशुओं पर नारी एवं पुरुष सवार प्रदर्शित किए किए गए हैं। बाईं ओर से दूसरे स्तंभ में एक दूसरे की ओर मुख एवं शरीर किए हुए दो घोड़े हैं। उनमें से एक पर राजा अथवा यक्ष सवार है और दूसरे पर उसकी पत्नी है। सामान्यतया, आरंभिक बौद्ध भवनों में उत्कीर्ण घोड़ों के रूप चित्र अपरिष्कृत हैं, किंतु यहां पर वे अत्यंत यथार्थपूर्ण हैं और उनकी द्युतिमान आंखें ऊपर की ओर उठे हुए कान एवं सूंड, और लगभग कंपित नथुने एवं खुले हुए होंठ, उनके सवारों के नीचे स्फूर्तिवान स्वरूप उनके बेसब्र स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं। सवारों ने उन्हें शांत करने के लिए उनके सिरों पर अपने हाथ रख दिए हैं। मानवीय आकृतियां भी यथार्थ भाव से उत्कीर्ण हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि सवार युगल श्रृंगारिक भाव में हैं–'यक्ष' अपनी प्रिया की एक वेणी पकड़े हुए हैं, जबकि वह अपना एक हाथ यक्ष की पीठ पर रखे है। दोनों की ही मुस्कानों से श्रृंगार भाव प्रदर्शित किया गया है तथा उनके शीर्षों के झुकाव एवं शरीरों के सामान्य निरूपण से भी वही भाव अभिव्यक्त किया गया है। अपने विशाल आकार एवं कलात्मक प्रभाव के कारण इस मूर्ति की तुलना सुगमतापूर्वक विश्व के सर्वोत्तम दृष्टांतों से की जा सकती है। बेडसा की 'चैत्य' गुहा में भी एक अभिलेख है, जो लिपिज्ञान के आधार पर अभिलेखविदों द्वारा ई० पू० द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी का माना गया है। किंतु गुहा की मूर्तियों द्वारा प्रस्तुत कला इतनी विकसित है कि उस स्तर को प्राप्त करने के लिए सैकड़ों वर्षों की बौद्धिक एवं प्राविधिक प्रगति की आवश्यकता हुई होगी।

दकन के पूर्वी क्षेत्र की मूर्तिकला का वर्णन करते समय यह द्रष्टव्य है कि प्राचीनतम काल से ही गोदावरी एवं कृष्णा नदियों के डैल्टों का निकटवर्ती प्रदेश, आंध्र कला एवं सभ्यता का पोषक केंद्र था, तथा प्राचीन धरणिकोट (16^0 35′ उ० 80^0 24′ पूर्व) एवं अमरावती नगर के कुछ पुरावशेष ई० पू० द्वितीय शताब्दी के भी हैं। जग्गयपेट, भट्टिप्रोलु एवं नागार्जुनकोंड जैसे अन्य प्राचीन नगर, जो सभी एक दूसरे निकट स्थित हैं, ई० पू० तीसरी शताब्दी से लेकर पांचवी ईस्वी शताब्दी तक बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण केंद्र थे। चूंकि अमरावती की मूर्तिकला, आंध्र कला का सर्वाधिक विशिष्ट उदाहरण है; अतः पड़ोस के अन्य स्थानों की मूर्तिकला की अपेक्षा उसी का अध्ययन करना पर्याप्त होगा। अमरावती का स्तूप, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है अब विद्यमान नही है, किंतु भारत के मद्रास म्यूजियम एवं इंग्लैंड के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित उसकी मूर्तिकला के सौंदर्य एवं कारीगरी की प्रशंसा दक्ष विशेषज्ञों द्वारा स्पष्ट शब्दों में की गई है। किंतु विंसेंट स्मिथ ने फर्ग्युसन के इस मत की स्वीकार नहीं किया है कि अमरावती की मूर्तिकला 'भारतीय कला का अंत' है उन्होंने तो हैवेल का समर्थन करते हुए कहा है कि अमरावती के पटक 'पशु जीवन तथा अत्यधिक सुंदर पारंपरिक आभूषणों का आनंददायक विवेचन' प्रस्तुत करते हैं और उनमें मानवीय रूपों की विभिन्न एवं जटिल गतिविधियों को अत्यंत स्वतंत्रतापूर्वक एवं दक्षता से खींचा एवं ढाला गया है।[3] फर्ग्युसन एवं विंसेंट स्मिथ दोनों ने ही शैली के विकास में विशेष यूनानी प्रभाव बताया है, किंतु हैवेल ने उचित ही कहा है कि यहां वहां अपनाए गए कुछ विवरणों एवं अभिप्रायों को छोड़कर कलात्मक अभिव्यक्ति एवं तकनीक दोनों में ही यह कला मुख्य रूप से भारतीय है तथा सामान्य शैली में कुछ भी विदेशी अंश नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हैवेल ने उपर्युक्त कोंडाणे, बेडसा एवं कार्ले की मूर्तियों को नहीं देखा था, अन्यथा यह कहने की अपेक्षा कि अमरावती की शैली 'भरहुत एवं सांची की के विकास' को प्रदर्शित करती है, वह यही कहता कि शैली की उत्पत्ति दकनी थी और वह आंध्रकला की पूर्ववर्ती अवस्था से ही जन्मी थी।[4] अपने रूपचित्रों की गति में मूर्तिकार का उल्लास घनत्व के भाव को प्रस्तुत करने की उत्सुकता, छोटे से विवरण के चित्रण में भी अलंकरण के प्रति प्रेम और इन सबके

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतिरिक्त जीवन के प्रति हर्षपूर्ण दृष्टिकोण से सभी विशेषताएं दकन की आरंभिक मूर्तिकला में प्राय: दृष्टिगोचर होती हैं, और इनकी पूर्ण अभिव्यक्ति कुछ तो बौद्ध धर्म की धार्मिक कथाओं से और कुछ उसके आराधकों के उत्साह, श्रद्धा एवं कल्पना के माध्यम से ई० पू० प्रथम शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी तक के 300 वर्षों के काल के दौरान अमरावती की कला में हुई।

अध्ययन की दृष्टि से अमरावती की मूर्तियों को प्रमुख वर्गों में बांट सकते हैं। सर्वप्रथम, वेदिका के आधार पर उत्कीर्ण पशुओं की चित्रवल्लरी, दूसरे, खड़े स्तंभों के प्राचीन तमगे एवं वृत्ताकार प्लेटें; तीसरे, मुंडेरों पर उत्कीर्ण लहरदार पट्ट और चौथे, स्वयं 'स्तूप' के अध्युच्चित्र। कुछ अभिलेखों के अनुसार 'स्तूप' का निर्माण ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हुआ था, किंतु आगामी चार-पांच शताब्दियों में उसका विकास एवं अलंकरण हुआ और उसे नवीन अध्युच्चित्रों द्वारा ढांप दिया गया। सबसे बड़ी अलंकरण योजनाएं 150-250 ई० के दौरान संपन्न हुई। प्रथम वर्ग की मूर्तियों का सर्वप्रथम उल्लेख करने में वेदिका के मूलाधार के कुछ अंश आते हैं, जो पौराणिक पशुओं एवं मानवीय रूपों से युक्त चित्रवल्लरी को प्रस्तुत करते हैं। मानवीय रूपों को चरवाहों के रूप में दिखाया गया है, जो पशुओं को दुमों अथवा कानों से पकड़े हुए हैं और उनको काबू में करने में पर्याप्त शक्ति प्रदर्शित करते हैं। यह विषय, अपनी डिजाइन के कारण अजंता की नवीं गुहा में चित्रित चित्रवल्लरी[5] तथा कुद की छठी गुहा में उत्कीर्ण पट्टी[6] से बहुत साम्य रखता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरण ई० पू० प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के हैं, और अमरावती की चित्रवल्लरी को भी उसी काल में रख सकते हैं। सिंह से मिलते हुए पंखयुक्त पशु का रूप असीरियन मूलाकृति से प्रेरित हुआ प्रतीत होता है और कुछ अन्य अभिप्रायों के ऐसे साम्य के आधार पर ही विंसेंट स्मिथ एवं फर्ग्युसन ने अमरावती की कला पर पश्चिमी एशियाई देशों के प्रभाव को सिद्ध करने की चेष्टा की थी। किंतु इस काल में एशिया के किसी भी देश की कला की अपेक्षा भारतीय कला अत्यधिक विकसित थी, और पहलवों तथा 'शकों' के बौद्ध धर्म में परिवर्तनजन्य विदेशी अभिप्रायों का सम्मिश्रण भी भावना अथवा प्राविधि में भारतीय कलाकारों की मौलिकता को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर सका। एक कलाकृति में प्रदर्शित चरवाह अपनी वेशभूषा, मुखाकृति तथा मुद्रा में पूर्णरूपेण भारतीय है, तथा पंखयुक्त पशुओं का प्रस्तुतीकरण या तो कौतूहल के रूप में अथवा पौराणिक विकटाकार पशुओं को भी काबू करने में चरवाहों के विशेष सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए किया गया है। अन्य कलाकृति में मुख्य विषय के ऊपर पट्टी के रूप में उत्कीर्ण कमलबेल की डिजाइन भी अपने बारीक संयोजन एवं दक्ष कारीगरी की दृष्टियों से शुद्ध भारतीय है।

वेदिका के खड़े स्तंभों के वृत्ताकार अथवा अर्द्धवृत्ताकार पटकों में सम्मिलित कमल के संयोजन हस्तकौशल तथा अधिक विकसित एवं परिष्कृत कला को प्रदर्शित करते हैं, जिन्होंने अन्ततः मध्य एवं उत्तरी भारत की गुप्तकालीन मूर्तिकला और अजंता में दृष्टिगोचर होने वाली दकनी मूर्तिकला को भी प्रभावित किया। इस नक्काशी की बारीकियों एवं ताजगी की उचित प्रशंसा, केवल आवर्धक शीशे की सहायता से ही की जा सकती है, क्योंकि नंगी आंख उनकी डिजाइनों की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने में असफल भी हो सकती है। प्रमुख स्थान धारण करने वाले कमल अभिप्राय के अतिरिक्त, आकर्षक रूपों की लताओं की अनेक डिजाइनें भी हैं, जिनमें मानवीय एवं पशु आकृतियों को अत्यंत कलात्मकता से संजोया गया है। सामान्यतया पशुओं के रूप पौराणिक हैं तथा मानवीय आकृतियां गणों (बौनों) की हैं, जिनकी विचित्र मुद्राओं पर हंसी आती है। कुछ स्तंभों पर उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार ये मूर्तियां प्रथम अथवा द्वितीय ई० शताब्दी की प्रतीत होती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अधिकांश स्तंभों पर 'जातक' कथाएं उत्कीर्ण हैं, तथा मूर्तियों का संयोजन ऐसे वृत्ताकार, अथवा आयताकार अथवा अन्य किसी आकार के पटकों में किया गया है, जो स्तंभों के मुखों पर स्थापित किए जा सकते थे। निरेखन एवं मूर्तियों की ढलाई की दृष्टि से इन विषयों की नक्काशी तथा आकृतियों का सामान्य संयोजन, अजंता की चित्रकला की प्राविधि के इतना निकट है कि इन स्थानों की ललित कलाएं परस्पर संबंधित प्रतीत होती है। संभवतः इसी साम्य के कारण, फर्ग्युसन ने अमरावती की अधिकांश मूर्तियों को ईसा की तीसरी अथवा चौथी ई० शताब्दी का बताया था। इस मत की पुष्टि विंसेंट स्मिथ द्वारा की गई है[7] और कुछ सामान्य शब्दों में कांडरिंगटन ने भी इस मत की पुष्टि यह कहते हुए की है : 'कुल मिला कर अमरावती की मूर्तियां सांची एवं भरहुत की अपेक्षा गुप्तकाल के अधिक निकट हैं'[8] किंतु हाल में ही समकालीन अभिलेखों के उद्वाचन तथा मूर्तियों की तकनीकी विशेषताओं के सूक्ष्म अध्ययन ने अब उनकी तिथि को कुछ निश्चितता से निर्धारित करना संभव कर दिया है।

एक स्तंभ में स्पष्टतः 'चम्पेय जातक' का दृश्य है । इस कथा में सर्पराज के रूप में उत्पन्न वोधिसत्व वेंत की उस टोकरी में से बाहर निकला, जिसमें उसे एक ब्राह्मण ने रख दिया था। बोधिसत्व ने अपनी गतिविधि से बनारस के राजा उग्गसेन को अचंभित कर दिया।[9] अजंता की प्रथम गुहा के पिछले गलियारे के एक चित्र में भी इस 'जातक' को चित्रित किया गया है[10]। राजा के सीधे हाथ की विशेष मुद्रा द्वारा उसके विस्मय को प्रदर्शित किया गया है। दरबार की स्त्रियों के चेहरों से भी यही भाव प्रकट होता है। इस विषय में स्त्रियों की मुद्राएं, अजंता के भित्तिचित्रों में स्त्रियों की मुद्राओं से बहुत साम्यता रखती हैं। अमरावती की मूर्तिकला एवं अजंता की चित्रकला के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य प्रकट होता है कि भावना एवं तकनीक दोनों में ही अजंता की कला मुख्य रूप से आंध्रकला है; अतः उसको गुप्तयुगीन बताने वाले पूर्व लेखक का मत न्यायोचित नहीं है। इसके विपरीत अमरावती में होने वाले विकास ने गुप्तों से संबंधित उत्तर भारतीय कला के उदय के लिए मार्ग तैयार किया।

इस दृष्टांत में जिस प्रकार से रानी ने अपना दायां हाथ बाहर निकाला है तथा बाएं हाथ को आसन पर रखा है, वह ठीक उसी मुद्रा को प्रदर्शित करता है, जो प्रथम गुहा के भित्तिचित्र में दृष्टिगोचर होता है[11], जो तीन शताब्दियों बाद (पांचवीं शताब्दी में) बनी थी। इस मध्यांतर के दौरान आंध्र कला की परंपरा जारी रही। ब्राह्मण की मुखाकृति एवं घुटने के बल झुकने की उसकी विशेष मुद्रा भी अजंता के अनेक उदाहरणों में देखी जा सकती है। और इन समानताओं के आधार पर, इस मूर्तिकला की तिथि को अजंता के चित्रों की तिथि से बहुत दूर नहीं रखा जा सकता। किंतु स्त्रियों द्वारा पहने गए भारी नूपुर, राजा का शिरोवस्त्र, तथा राजा एवं रानी के पाद-आधारों की पट्टीदार डिजाइन—ये सभी आरंभिक तिथि की ओर इंगित करते हैं, और मूर्तियां वास्तव में ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद के काल की नहीं हो सकती हैं।[12]

एक अन्य उदाहरण दो परिचारिकाओं द्वारा सेवित कुमार से युक्त अश्व का है। अश्व को पकड़े हुए एक अन्य आकृति भी है। वह अश्वपालक हो सकता है। यह राजकुमार सिद्धार्थ भी हो सकता है अथवा अन्य कोई शाही व्यक्ति, जो नारियों से वार्तालाप करने में व्यस्त है। यह विषय धार्मिक विषय है, क्योंकि कुमार द्वारा प्रस्तुत दाएं हाथ की मुद्रा निस्संदेह पारंपरिक है। कुमार एवं स्त्रियों की मुद्रा अत्यंत स्वाभाविक है तथा सरलता एवं शोभा लिए हुए हैं; हालांकि स्त्रियों की टांगें कुछ अधिक पतली प्रतीत होती हैं। ईसा संवत की आरंभिक शताब्दियों एवं उनसे तत्काल पूर्व की शताब्दियों में भी भारी नूपुरों के प्रयोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रचलन था। ऐसे आभूषणों के प्रयोग से अग्रजंघा अधिक लंबी एवं फैल जाती है, जैसे आज भी धातु की भारी गला-बंधनियों के प्रयोग से शान जाति की लड़कियों की ग्रीवाएं लंबी एवं पतली की जाती हैं। जिस संगमरमर के पटिए पर यह दृश्य उत्कीर्ण है, वह अत्यंत घिसा हुआ है; अतः नक्काशी के सौंदर्य की उचित प्रशंसा नहीं की जा सकती है। इस दृश्य के नीचे 'अभय' मुद्रा में बैठे हुए सात बुद्धों को प्रस्तुत करते हुए एक पट्टिका है।[13] धार्मिक स्वरूप में महात्मा बुद्ध की प्रतिमा का उदय लगभग द्वितीय ई० शताब्दी में मथुरा के मूर्तिकारों द्वारा हुआ था। उन्होंने कुषाण नरेशों के संरक्षण में मथुरा पहुंचनेवाली गांधार कला के बोधिसत्व निरूपणों के आधार पर ही उसका रूप तैयार किया था। किंतु यह सर्वमान्य है कि उनकी मुखाकृति के रूढ़ रूप का निर्माण अमरावती के कलाकारों ने किया था, और इसी उपर्युक्त स्थान से महायान संप्रदाय की शिक्षाओं के प्रसार द्वारा भगवान के पारंपरिक रूप की नकल भारत के उन सभी भागों में हुई जहां बौद्ध धर्म प्रचलित था[14]। अमरावती में भगवान की प्रतिमा लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी से बनाई जा रही थी, और इन परिस्थितियों में उपर्युक्त मूर्तिकला का मुख्य पटक अपनी विशिष्टताओं के कारण उत्तर काल की कृति नहीं हो सकती है।

कलाकार की कल्पना के प्राचुर्य से उत्पन्न नाट्यपात्रों की वृद्धि अमरावती की कला की एक अन्य विशेषता है, जो प्रायः वहां की मूर्तिकला में मिलती है। उदाहरणार्थ, तुसित स्वर्ग में महात्मा बुद्ध के भिक्षापात्र को प्रदर्शित करने वाले वृत्ताकार पटक में आकृतियों का जमघट दृष्टव्य है। प्रत्येक आकृति की अभिव्यक्ति अत्यंत आकर्षक है और प्रसन्नचित्त एवं स्वतंत्र मुद्रा से युक्त है। इनमें से अधिकांश केवल हर्षोल्लास से नृत्य कर रहे हैं, और ऊपर की नारियां पुष्पमाला के रूप में एक दूसरे में गुंफित हैं। आलंकारिक अभिप्राय के रूप में उपर्युक्त संयोजन का प्रयोग प्रायः अजंता एवं अन्य स्थानों की उत्तरकालीन मूर्तिकला में किया गया है।[15]

अलंकरण के प्रति कलाकार के प्रेम को, स्वयं 'स्तूप' के अनेक रूपों अथवा वेदिका के आवरण पटकों की अनेक डिजाइनों से समझा जा सकता है। इन आवरण पटकों में मोटे 'गण' (बौने) एवं युवा 'यक्ष' भारी सी पुष्पमाला ले जाते हुए दिखाए गए हैं। पूर्वोक्त दृश्य में एक इंच स्थान भी अलंकरण विहीन नहीं है तथा एक सूक्ष्म संयोजन में पौराणिक कथा एवं प्रकृति तथा धर्म एवं कला का समागम किया गया है; किंतु मानवीय आकृतियां गतिमान हैं, तथा प्रत्येक सामान्य संयोजन में उनका अपना महत्वपूर्ण योगदान है।

पुष्पमाला को प्रस्तुत करने वाले अन्य उदाहरण में अत्यधिक अलंकरण है; स्वयं कुंडलाकृति की पुष्पमाला का धरातल नक्काशी एवं छिलाई से युक्त है। डिजाइन बेलबूटों के प्रकार की है, जो दकन की आरंभिक मूर्तियों में प्रमुखों के गुलुबंदों में दृष्टिगोचर होती है। कलाकार ने वृत्ताकार एवं वर्गाकार डिजाइन के पटकों से भी पुष्पमाला को अलंकृत किया—ये पटक उत्कीर्ण मूर्तियों से सुशोभित हैं। फंदों के बीच में सामान्यतया आराधकों के जोड़ों द्वारा भगवान बुद्ध की आराधना के धार्मिक विषय उत्कीर्ण हैं। इन पटकों में भगवान को मानवीय रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है, अपितु बोधि वृक्ष अथवा 'स्तूप' जैसे पवित्र प्रतीकों द्वारा उनकी उपस्थिति को प्रकट किया गया है। कारीगरी इतनी अधिक स्पष्ट है कि संपूर्ण कृति स्वर्णकार अथवा हाथी दांत के कारीगर की रचना प्रतीत होती है। यह भी ध्यातव्य है कि उस काल में स्वर्णकारों एवं हाथी दांत का काम करने वालों की कला अत्यंत विकसित अवस्था में थी, तथा इन कलाओं में निपुण कलाकारों ने संगतराशी में उतनी ही सफलता प्राप्त की होगी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन के पश्चिमी क्षेत्र अर्थात बेडसा, कोंडाणे एवं कार्ले की मूर्तिकला की तुलना अमरावती की मूर्तिकला से करने में, कला के बौद्धिक एवं प्राविधिक—दोनों ही गुणों में विशेष प्रगति दृष्टिगोचर होती है। पश्चिमी क्षेत्र की अपनी मूलाकृतियों की अपेक्षा, इतिवृत्ति की दृष्टि से, अमरावती मूर्तिकला अधिक स्पष्ट है तथा आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति में अधिक सार्थक है। मूर्तिकला में निहित गति मृदु लालित्य एवं सूक्ष्म लय को प्रदर्शित करती है; और मानवीय रूपों में सुनम्यता का आकर्षण वर्तमान है। आकृतियों का जमघट एवं अंगों का विस्तार अमरावती की मूर्तिकला के स्पष्ट दोष हैं, जो कलाकार की समृद्ध एवं असीमित कल्पना के कारण हैं। किंतु 5वीं से 12वीं ई० शताब्दियों की मूर्तियों के अध्ययन के प्रसंग में हम देखेंगे कि कालांतर में भारतीय मूर्तिकला के ये दोष दूर हो गए।

अमरावती से अजंता एवं एलोरा की ओर जाने में जलवायु एवं भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन के कारण दृष्टिकोण एवं भावना में अद्वितीय परिवर्तन का अनुभव होता है। यद्यपि गोदावरी एवं कृष्णा नदियों के डेल्टों के गर्म एवं आर्द्र वातावरण ने कल्पना की रसीली उर्वरता को प्रोत्साहित किया, फिर भी उनके चलते कलाकार की सामान्य कार्यशक्ति निस्तेज हुई और विचारों में विकृति आई। अजंता एवं एलोरा में फैले हुए पठारों एवं ऊंची चट्टानों के बीच दृष्टि विस्तार हुआ और बुद्धि को शक्ति प्राप्त हुई। प्रतिमागृहों में महात्मा बुद्ध की विशालकाय मूर्तियां तथा अनेक चैत्य गुहाओं के ऊंचे ऊंचे अग्रद्वार, भावना की पवित्रता एवं आदर्शों की भव्यता की ओर इंगित करते हैं, जो अमरावती की आकर्षक एवं सौंदर्यमई मूर्तिकला में भी दिखाई नहीं देते।

उपर्युक्त कथनों की व्याख्या करने के लिए अजंता की कुछ विशिष्ट मूर्तियों का वर्णन करना उचित होगा। सर्वप्रथम विशालकाय मूर्तियों में से प्रथम गुहा के प्रतिमागृह में स्थित महात्मा बुद्ध का अध्ययन करना चाहिए। भगवान को 'धर्मचक्र मुद्रा' अर्थात उपदेश देने की मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है। वह पालथी मार कर आसन पर बैठे हुए हैं और पांव के तले ऊपर की ओर हैं। वे पारदर्शी वस्त्र धारण किए हुए हैं, किंतु वस्त्र की निम्न सीमा का टखने से कुछ ऊपर की रेखा से पता चलता है। घुंघराले बाल पारंपरिक शैली में ही हैं और शीर्ष के ऊपर 'उष्णीष' है। सिर के पीछे चित्रित दीप्तिचक्र हैं, और दो मोटे देवदूत स्वर्ग से पुष्पों की भेंट ला रहे हैं। सिंहासन के पीछे, बुद्ध के दोनों ओर मुकुटधारी कुमार सेवक हैं। आसन के सामने की ओर बीच में धर्मचक्र उत्कीर्ण हैं और चक्र के दोनों ओर हिरणों के चित्र भी हैं। हिरणों के पीछे कुछ आराधकों की आकृतियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। आराधकों को भिन्न भिन्न मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है; कुछ बैठे हुए हैं, कुछ घुटनों में बल झुके हैं, कुछ अपनी टांगें दोहरी किए हुए हैं, कुछ एक टांग धरती पर रखे हैं और दूसरी उठाए हुए हैं। स्पष्ट रूप से आसनस्थित यह मुद्रा सारनाथ के मृग उद्यान में भगवान बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश को प्रस्तुत करती है।

महात्मा बुद्ध की प्रतिमा साधारण मनुष्य के आकार से लगभग तीन गुनी बड़ी है[16] और यद्यपि शरीर पारंपरिक शैली में उत्कीर्ण है किंतु मुख का भाव अद्वितीय है, जो आंतरिक शांति एवं भावना की पवित्रता को प्रकट करता है। प्रतिमा का आध्यात्मिक प्रभाव दीए के स्वर्णिम प्रकाश से और अधिक बढ़ जाता है। ये दीए मूलतः रात दिन जलते होंगे। दीए का प्रकाश महात्मा के होंठों की मुस्कान को भी प्रकट करता है, जो उसके कृपालु स्वरूप की ओर इंगित करती है।

प्रतिमागृह का द्वार आवश्यकता से अधिक उत्कीर्ण प्रतीत होता है, किंतु कारीगरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अत्युत्तम है और संपूर्ण डिजाइन प्रतिमागृह के अंदर उत्कीर्ण धार्मिक विषयवस्तु की भव्यता को उत्कृष्ट परिवेश प्रदान करती है।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण में अजंता की ही एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति 26 वीं गुफा में उत्कीर्ण महात्मा बुद्ध के निर्वाणदृश्य की है। उन्हें शय्या पर नेत्र मूंदे लेटे हुए तथा तकिए पर आश्रित शीर्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भगवान का दायां हाथ उनके गालों के नीचे है, और संपूर्ण शरीर के विशालकाय—23 फीट 4 इंच लंबा—होते हुए भी उंगलियों की संगतराशी अत्यंत यथार्थपूर्ण है, जो वस्त्र की बांह एवं तकिए की चुनटों में भी देखी जा सकती है। भगवान का चेहरा निश्छल एवं शांत है, और ऐसा प्रतीत होता है मानो वे गहरी निद्रा में सो रहे हैं।[17] इस दृष्टांत की नक्काशी के पश्चात विगत 14 अथवा 15 शताब्दियों में भी शय्या के पायों की डिजाइन में विशेष परिवर्तन नहीं आया है और इस आकार के पांवों से युक्त शय्याएं अब भी भारत के नगरों में देखी जा सकती हैं। फर्नीचर का एक अन्य रोचक उदाहरण जलपात्र रखने के लिए तीन पायों से युक्त घड़ौंची है। शय्याके निकट लगभग 20 भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के रूप चित्र हैं, जो भगवान के निर्वाण पर शोक प्रकट करते हुए दिखाए गए हैं। उनके मुखों पर स्पष्ट रूप से दुख का भाव दृष्टिगोचर होता है। शय्या के ऊपर, शिला की दीवार पर इंद्र एवं तुसित स्वर्ग के अन्य देवताओं और देवदूतों एवं स्वर्ग के संगीतज्ञों का निरूपण है। उन्हें भगवान के वापस स्वर्ग में आने पर स्वागत करने के लिए आकाश से उतरते हुए प्रदर्शित किया गया है। शय्या के निकट स्थित व्यक्तियों द्वारा प्रकट किए गए शोक के विपरीत, दृश्य के उपर्युक्त अंश में हर्ष का भाव है। किंतु संपूर्ण रचना का सामान्य प्रभाव 'आह्लाद' की अपेक्षा 'कारुण्य' का है और इस प्रतिमा का उपर्युक्त पक्ष ही नेत्रों एवं मस्तिष्क को सर्वाधिक आकृष्ट करता है।

अजंता की मूर्तिकला में अनेक नागराज निरूपित हैं, किंतु कलात्मक दृष्टिकोण से उनमें से दो उत्कृष्ट कोटि के हैं। 19वीं गुहा की बाईं दीवार के एक छोर पर उत्कीर्ण पटक में सिंहासन पर आसीन नागराज एवं नागिनी को निरूपित किया गया है।[18] सिंहासन के किनारे खड़ी हुई तथा दाएं हाथ में चामर धारण किए एक परिचारिका के रूप में अन्य नागिनी को प्रदर्शित किया गया है। मुलायम एवं छिद्रदार पत्थर के कारण, यह पटक काफी नष्ट हो गया है; किंतु दोनों नागिनियों की मुद्राएं एवं तीनों आकृतियों के मुखों की अभिव्यक्तियां ऐसी आंतरिक शांति से युक्त हैं कि अपने आध्यात्मिक प्रभाव के लिए यह दृश्य बौद्ध मूर्तिकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में गिना जाता है।[19]

एक अन्य दृश्य में 23वीं गुहा के द्वार के दोनों ओर द्वारपालकों के रूप में दो नागराजाओं को उत्कीर्ण किया गया है।[20] आकृतियां बहुत बड़ी नहीं हैं, किंतु उनके सिरों की संगतराशी ही कलाकार की परम दक्षता प्रदर्शित करती है। चेहरे के नक्श परिष्कृत हैं तथा वे सौम्यता एवं आंतरिक शांति के भावों को प्रस्तुत करते हैं। 19वीं गुफा के द्वार के दोनों ओर शिला-दीवार पर उत्कीर्ण भगवान की प्रतिमाओं में भी बौद्ध मूर्तिकला के अध्यात्मिक पक्ष को देखा जा सकता है। किंतु इस गुफा की सर्वाधिक आकर्षक विशेषता उसका अलंकरण है, जिसमें पौराणिक विषयों, ज्यामितीय नमूनों, फूल-पत्तियों एवं पशु-पक्षियों की अनंत प्रकार की डिजाइनें हैं। मूर्तिकार की कल्पना के माध्यम से पशु-पक्षियों को विचित्र आकारों में उत्कीर्ण किया गया है और उन्हें असाधारण आभूषणों से विभूषित किया गया है। ऐसे पशुओं में 'मकरों' एवं हंसों का निरूपण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मूर्तिकार की समृद्ध कल्पनाशक्ति एवं निर्दोष दक्षता से गुफा (19 वीं) का अग्रद्वार बौद्ध कला का एक भव्यतम दृष्टांत है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाकार की कल्पना शक्ति जहां भी धार्मिक परंपरा अथवा पौराणिक गाथा में उलझी हुई नहीं रही है, वहीं अजंता में उत्कीर्ण पशुओं की आकृतियां उन पशुओं की आदतों के निकट अध्ययन एवं उनको यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के पूर्ण सामर्थ्य को प्रकट करती हैं। हाथी को अनेक रूपों में दिखाया गया है, जो इस पशु की विशेषताएं प्रदर्शित करते हैं। अन्य पशुओं का निरूपण भी इतना ही सजीव है, जो कलाकार की पैनी निगाह को सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम गुफा के हाल में एक स्तंभ के शीर्ष पर एक ही सिरवाले चार हिरणों को प्रस्तुत करने वाला पटक है। एक ही सिर से चार शरीरों का सम्मिश्रण उमंग का परिणाम हो सकता है, किंतु वास्तव में प्रशंसनीय बात तो यह है कि प्रत्येक प्रस्तुतीकरण में पशु की मुद्रा अत्यंत सजीव है। नीचे के दो रूपों में से वायां चित्रण सामने की ओर सिर उठाकर देखते हुए जमीन पर बैठे हुए हिरण को प्रस्तुत करता है और ऐसा लगता है मानों उसे खतरे का आभास हो गया हो; दाईं ओर के हिरण में भी सतर्कता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि उसने अपनी गर्दन मोड़ ली है और शत्रु द्वारा पीछे की दिशा से आने के भय से वह उसी ओर देख रहा है। ऊपर के दो निरूपणों में बाई ओर का हिरण पुनः सतर्कता की अवस्था में है, उसने अपनी ग्रीवा को नीचा कर लिया है तथा अपने थूथुन को सामने की ओर निकाल लिया है, मानों वह तीखी निगाह से शत्रु के आने की राह देख रहा हो एवं भागने की दिशा निर्धारित कर रहा हो। दाईं ओर की चौथी आकृति में हिरन को विशेष मुद्रा में दिखाया गया है; उसने अपने थूथुन को पीछे की ओर मोड़ लिया है। तीनों परिमापों की दृ'ि‍ट से चारों हिरणों के शरीर अत्यंत यथार्थ-पूर्ण शैली में उत्कीर्ण हैं।

अजंता से एलोरा की ओर बढ़ने पर मूर्तिकला के धार्मिक पक्ष में विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। हालांकि अवरोक्त स्थान पर भारत के आरंभिक तीनों महान धर्मों अर्थात बौद्ध, ब्राह्मण एवं जैन धर्मों का प्रतिनिधित्व है, फिर भी अन्य दोनों की अपेक्षा ब्राह्मण धर्म को ही प्रमुखता प्राप्त है। एलोरा की आरंभिक बौद्ध गुहाओं में कोई भी उच्चकोटि की मूर्ति नहीं है। लेकिन सातवीं···आठवीं शताब्दी में निर्मित विश्वकर्मा, दो थाल एवं तीन थाल में महात्मा बुद्ध एवं अन्य देवताओं की प्रतिमाएं हैं, जो अपने आकार, धार्मिक अभिव्यंजन एवं आलंकारिक विशेषताओं के दृष्टिकोण से काफी प्रभावोत्पादक हैं। किंतु उनमें उस आध्यात्मिक सौम्यता एवं कलात्मक शोभा का अभाव है, जो अजंता एवं बौद्ध कला के अन्य आरंभिक केंद्रों में दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत, एल्लोरा की ब्राह्मणधर्मीय मूर्तियों में अत्यधिक शक्ति एवं असीमित स्फूर्ति है। आकृतियों में देवता मानव की अपेक्षा अलौकिक अधिक लगते हैं और इस विशेषता को उनके सिर एवं हाथों की संख्या को बढ़ा कर भी प्रकट किया गया है। पुनः चूंकि सातवीं-आठवीं ई० शताब्दी में दकन में शैवधर्म अत्यंत लोकप्रिय था, अतः भगवान को 'नाशक' बताने वाले इस धर्म की शिक्षाओं ने, कलाकार द्वारा जीवन के सभी संभव भयंकरतम पक्षों को इस देवता से जोड़ने की ओर मार्गदर्शन किया। इस विचार की अधिक व्याख्या करने के लिए एलोरा की कुछ विशिष्ट मूर्तियों क' विस्तारपूर्वक वर्णन करना उचित होगा। इसका आरंभ हम दशावतार मंदिर से करते हैं, जो मूलतः बौद्ध चैत्य था और बाद में ब्राह्मणधर्मी मंदिर बना दिया गया तथा शैव एवं विष्णु धर्म से संबंधित अध्युच्चित्रों से अलंकृत किया गया। इस मंदिर के ऊपरी हाल में उत्तर की ओर, द्वार के निकट सबसे पहली मूर्ति भैरव की है। यह अत्यंत निर्भीकता एवं शक्ति से उत्कीर्ण है, तथा विशाल आकार की यह प्रतिमा अत्यंत भयोत्पादक ढंग से आगे बढ़ती हुई प्रतीत होती है। भैरवदेव अपने हाथी-चर्म को पकड़े हुए हैं, उनकी मुंडमाला जांघों तक की लम्बाई की है; उनके चारों ओर सर्प लिपटा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
हुआ है, खुले हुए मुख में से उनके बड़े बड़े दांत दिखाई पड़ते हैं, उन्होंने अपने त्रिशूल से एक व्यक्ति को बींध दिया है, जो उसके शूलों पर छटपटाते हुए दयाविहीन से दया की भीख मांगता हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने अपने एक वांए हाथ से एक अन्य व्यक्ति को एड़ी से पकड़ रखा है और अपनी पैशाचिक प्यास को बुझाने के लिए रक्तपान करते हुए, वे हर्ष से अपना डमरू बजाने के लिए ऊपर उठाए हुए हैं। नीचे की ओर अपने कंकाल शरीर को फैलाए हुए भयानक एवं रौद्र काली की प्रतिमा से समस्त निरूपण वीभत्सता और बढ़ जाती है। उसका मुख खुला हुआ है, वाल बिखरे हुए हैं, तथा आंखों की पुतलियां धंसीं हुई हैं। उसके दाएं हाथ में एक मुड़ी हुई छुरी है तथा पात्र से युक्त दूसरा हाथ आगे फैला हुआ है, मानों वह स्वयं बलि में अपना हिस्सा बंटाने के लिए उत्सुक हो। उसके सिर के पीछे एक उल्लू अथवा गिद्ध है जो इस दृश्य के लिए उचित साक्षी है। कंकाल के सामने दाईं ओर पार्वती है, और कुछ ऊपर एवं वलि चढ़ने वाले 'रात्नसुर' के पद के निकट, जिह्वा बाहर निकाले हुए एक मुख है। संपूर्ण समूह एक दैत्यिक चित्र है; स्वयं भैरव के बाजूबंद दैत्यमुखी हैं। यह विषय अत्यंत लोकप्रिय था, क्योंकि यह ऐल्लोरा के अनेक गुहा मंदिरों में उत्कीर्ण है···भिन्न भिन्न विवरणों द्वारा दृश्य के वीभत्स पक्ष को उजागर किया गया है। उदाहरणार्थ, 29वीं गुफा में उत्कीर्ण भैरव के कुरूप दंत तथा बाहर की ओर निकली हुई आंखों की पुतलियां, क्रोध एवं दैत्यिक हर्ष की मुद्रा की ओर इंगित करती हैं। भगवान के इस भाव ने उनकी पत्नी पार्वती को भयभीत कर दिया, जिसने अपने उद्विग्न मस्तिष्क एवं धड़कते हृदय को शांत करने के लिए अपने वक्ष पर अपना हाथ रख लिया है। अपने प्रचंड सम्मोहन एवं नाट्यात्मक प्रभाव की दृष्टि से यह मूर्ति पटक निश्चय ही अद्वितीय है, किंतु इसके साथ साथ उसके आक्रामक धार्मिक स्वरूप की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सातवीं-आठवीं ई० शताब्दी की वैष्णव मूर्तिकला में भी यह आक्रामकता दिखाई देती है; हालांकि कतिपय शताब्दियों के बाद (दसवीं शताब्दी से) 'अवरोक्त' संप्रदाय की शिक्षाओं के माध्यम से दकनी मूर्तिकला ने पर्याप्त सौम्यता एवं सौंदर्य प्राप्त किया। दशावतार एवं कैलाश मंदिरों की वैष्णव मूर्तिकला में भी वही निष्ठुर एवं दानविक भाव है, जो शैव मूर्तिकला में दृष्टिगोचर है। उदाहरणार्थ, वैष्णव मूर्तिकला के लोकप्रिय विषयों में विष्णु द्वारा तीन महान पग लेकर अपने शत्रु बलि को पाताल भेजना, अथवा अपने नृसिंहावतार में अपने शत्रु की अंतड़ियों को फाड़ना, अथवा वराहावतार के रूप में सर्प असुर को कुचलना एवं पृथ्वी को नाश से बचाना सम्मिलित हैं। कुमारस्वामी एवं हैवेल दोनों ने ही दशावतार की मूर्तिकला को प्रस्तुत किया है, जिसमें नृसिंहावतार के रूप में विष्णु को असुरों के राजा हिरण्यकशिपु का विनाश करते हुए दिखाया गया है। पौराणिक कथा के अनुसार हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से एक प्रकार का अमरत्व प्राप्त कर लिया था। अपने अहं में आकर उसने विष्णु का स्थान प्राप्त करने की चेष्टा की थी तथा अपने पुत्र प्रह्लाद को यातनाएं दीं, क्योंकि उसने भगवान की जगह अपने पिता की आराधना करने से इनकार कर दिया था। इस मूर्ति में नृसिंह विष्णु को आठ भुजाओं वाला तथा अपने शत्रु हिरण्य पर प्रहार करते हुए दिखाया गया है। हिरण्य एक ओर झुका हुआ है, मानो वह अपनी पराजय स्वीकार कर रहा हो। मूर्ति का निम्न भाग खंडित है। किंतु नृसिंह की दानविक गुर्राहट एवं हिरण्य का पतित एवं असहाय भाव अत्यंत स्पष्ट हैं। यह इस काल अर्थात आठवीं ई० शताब्दी की ब्राह्मणिक कला का विशिष्ट दृष्टांत है।[21]

किंतु आठवीं शताब्दी की एलोरा की मूर्तियों में ही, यहां-वहां पांचवीं शताब्दी की बौद्ध कला की मृदु सौम्यता, हर्षाभिव्यक्ति, द्रुत गति तथा भव्य मुद्राओं की याद दिलाने वाले उदाहरण दिखाई दे जाते हैं। इन मूर्तियों में से कैलाश की ऊपरी दीवारों पर उत्कीर्ण उड़ती

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुई आकृतियों के युगल तथा 21वीं रामेश्वर गुहा में बाईं ओर अहाते के ऊपरी किनारे पर नदी-देवी का निरूपण उत्कृष्ट कोटि के उदाहरण हैं। परिष्कृत मुखाकृतियों, प्रसादभाव तथा गतिशीलता से युक्त उड़ती हुई आकृतियों के युगलों के निरूपण में बौद्ध 'अप्सराओं' जैसा ही आकर्षण एवं सौंदर्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी आकृतियों की संगतराशी में मूर्तिकार की कला की परंपरा, बौध धर्म के पतन के बाद भी जारी रही। इसका प्रमाण, ऐहोले के वैष्णव मंदिर की दीवारों पर उतनी ही प्रभावोत्पादक शैली में उत्कीर्ण मूर्तियां हैं जो एलोरा के कैलाश मंदिर के समकालीनी हैं। आलमपुर के मंदिर के भी बाहर ऐसे उदाहरण हैं, जो पर्याप्त परवर्ती काल अर्थात 11वीं अथवा 12वीं शताब्दी ई० के हैं। एलोरा की रामेश्वर मंदिर नामक 21वीं गुफा में नदी-देवी की मूर्ति, अपनी तकनीक तथा उच्च बौद्धिक गुणों के कलात्मक प्रभाव में अत्यंत उत्कृष्ट कोटि की है। देवी कमलपुष्प पर खड़ी हैं, जो मकर की पीठ पर आधारित है। अलंकरण के प्रेम के प्रति कलाकार की सनक ने मकरके थूथुन एवं निम्न भाग को अलंकारिक अभिप्रायों में परिवर्तित कर दिया है। मुख्याकृति की मुद्रा आनंददायक है तथा रूपरेखा के मोड़ इस प्रकार के हैं कि वे सौम्यता एवं स्फूर्ति का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। देवी का बायां हाथ एक बौने (गण) के शीर्ष पर आधारित हैं, जिसके मुख पर अत्यंत श्रद्धा का भाव है और यह भावना उसके जुड़े हाथों की मुद्रा से भी प्रकट होती है। इनके अतिरिक्त कुछ देवदूत भी हैं, जो देवी के लिए उपहार लेकर स्वर्ग से उतर रहे हैं। किंतु शिला के ऋतुक्षरित हो जाने के कारण इनमें से एक आंशिक रूप से लुप्त हो गया है। दुर्भाग्यवश, देवी के मुख पर एक दरार है किंतु फिर भी उसकी सौम्य मुखाकृति एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति प्रशंसनीय है। देवी के ठीक दाईं ओर चामर धारण किए हुए एक परिचारिका है। शिला के ऋतुक्षरण के कारण, इस आकृति को भी काफी क्षति पहुंची है तथा मुखाकृति तो पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुकी है। किंतु फिर भी मुद्रा की शोभा एवं अंगों का पारदर्शी सौंदर्य आंखों को आकर्षित करते हैं।

आठवीं शताब्दी का उपर्युक्त उदाहरण, औरंगाबाद की 'विहार' गुहा (नं० 7) में बौद्ध मूर्तियों की याद दिलाता है। इनमें उभरे हुऐ वक्षों एवं मांसल अंगों के प्रदर्शन द्वारा ओज व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। रामेश्वर देवी के मुख पर शांत निर्मलता का उचित भाव है, किंतु शेष भागों, विशेषकर दाएं पांव की मुद्रा की संगतराशी में मूर्तिकार ने अधिक मानवीय भावना व्यक्त की है। औरंगाबाद के उदाहरण में गण के मुख पर हास्य भाव है मानों वह देवी के भारी हाथ के भार को महसूस कर रहा हो। देवी ने अपना संतुलन बनाए रखने के लिए अपनी कुहनी उसके सिर पर रख दी है। गण द्वारा टांग पर टांग रखना, उसकी टेढ़ी लाठी एवं बाहर निकले हुए दांत इस विषय के हास्यजनक प्रभाव को और अधिक तीव्र कर देते हैं। यह मूर्ति छठी शताब्दी के अंत अथवा सातवीं शताब्दी ई० के आरंभ की हो सकती है, जबकि बौद्ध कला धीरे धीरे अपने बौद्धिक गुणों को खोती जा रही थी। किंतु इस उदाहरण में भी कलाकार की निर्भीक अवधारणाएं और विचित्र एवं अद्भुत निरूपणों के प्रति उसका प्रेम स्पष्टरूप से प्रदर्शित हुए हैं।

ब्राह्मण धर्म की मूर्तिकला की पुनः चर्चा करते हुए यह कथनीय है कि शाक्त धर्म की शिक्षाओं एवं इससे संबंधित पौराणिक साहित्य के प्रभाव के कारण, कालांतर में आठवीं ई० शताब्दी के बाद शैव मूर्तिकला का विद्रोही स्वरूप धीरे धीरे नर्म होता गया। दशवीं शताब्दी में हम देखते हैं कि शिव उग्र विद्रोही रूप में नहीं, अपितु प्रायः संगीतज्ञों एवं अपनी नम्र पत्नी पार्वती के साथ जीवन के हर्ष में नृत्य कर रहे हैं। शाक्त धर्म द्वारा प्रसारित सक्रिय जननशक्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आराधना पर आधारित सिद्धांत ने कलाकार को धार्मिक मूर्तियों में विभिन्न प्रकार के विषयों का आरंभ करने के लिए प्रेरित किया। इनमें से 'मैथुन' युगल जैसे कुछ विषयों को अश्लील कहा जा सकता है, किंतु रूपरेखाओं की ढलाई की शोभनीय सिद्धहस्तता एवं आलंकारिक विशेषताओं के आकर्षण में निस्संदेह ही इस श्रेणी की भारतीय मूर्तिकला, दसवीं से 13वीं शताब्दी के दौरान अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी।

किंतु उपर्युक्त शैली की ब्राह्मण मूर्तियों का वर्णन करने से पहले, तिथि क्रमानुसार दकन की जैन मूर्तिकला की मुख्य विशेषताओं की ओर इंगित करना उचित होगा। यहां पर जैन धर्म अत्यंत आरंभिक काल से चला आ रहा था, किंतु 9वीं से 11वीं शताब्दी के दौरान वह विशेष रूप से पल्लवित हुआ। इस दौरान एलोरा, वर्तमान हैदराबाद नगर के उत्तर-पश्चिम में 19 मील दूर पतंचेरु, हैदराबाद से उत्तर-पूर्व में 45 मील दूर अभिलेखों में कोल्लिपक नाम से ज्ञात कुल्पाक, एवं हैदराबाद राज्य के रायचूर जिले में स्थित कोप्बल में इस मत के महत्वपूर्ण केंद्र थे। ये सभी स्थल अत्यंत प्राचीन हैं, तथा कोप्बल में तो कुछ ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं, जो यह दर्शाते हैं कि 9 वीं शताब्दी में यह जैन धर्म के तीर्थ के रूप विख्यात था। कुछ विद्वानों के पास इस बात के प्रमाण हैं कि सातवीं ई० शताब्दी में ही कोप्बल (कोपल) प्रसिद्ध जैन तीर्थ था।[22] चट्टानों से बने होने के कारण, ऐल्लोरा स्थित जैन मंदिर सुरक्षित हैं, यद्यपि कुछ अपवाद भी हैं, जो शिला के ऋतुक्षरण के कारण थोड़े नष्ट हो गए हैं। किंतु अन्य स्थानों पर समकालीन धर्मों की शत्रुता ने तहस नहस मचा दी और अभिलेखीय प्रमाणों से सिद्ध होता है कि कुछ जैन मंदिरों को आग लगा दी गई और उन्हें ध्वस्त कर दिया गया ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकृतियों का यह विनाश कार्य पतंचेरु- कुल्पाक एवं कोप्बल में हुआ, जहां पर पुरातत्व विभाग ने जमीन को खोद कर एवं सतह से भी अनेक जैन मूर्तियां प्राप्त की हैं।

दकन की जैन मूर्तिकला के सामान्य स्वरूप के संबंध में यह कथनीय है कि वह दक्ष कारीगरी प्रस्तुत करती है और कुछ हद तक धार्मिक निर्मलता की भावना भी संचारित करती है; किंतु बौद्ध मूर्तिकला अथवा ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं की तुलना में वह निम्नतर कोटि की है, क्योंकि उसमें न तो पूर्वोक्त कला की भव्य सौम्यता है और न ही अवरोक्त 'कला का सा ओज एवं उत्साह। संपूर्ण कला योजनात्मक सी लगती है; निरूपणों को कुछ धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार वर्गीकृत किया गया है और उनमें कलाकार की ओर से कोई सृजनात्मक प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस विचार की व्याख्या के लिए दो प्रतिमाओं का वर्णन पर्याप्त होगा। इनमें से एक तो अब हैदराबाद के सुरूरनगर नामक उपनगर में सालार जंग के महल में प्रदर्शित है, तथा दूसरी का प्रदर्शन हैदराबाद संग्रहालय की मूर्तिकला वीथिका में हुआ है। पूर्वोक्त मूर्ति कोप्बल से प्राप्त हुई थी और इसमें पार्श्वनाथ को सात सर्पों के फणों से युक्त रहस्यमय छत्र के नीचे खड़ा हुआ प्रस्तुत किया गया है। ये सातों फण एक ही सर्प से जुड़े हैं, जिसकी कुंडलियां भगवान के पीछे फैली हुई हैं और जिसकी दुम धरती को स्पर्श कर रही है। इस छत्र के ऊपर एक अन्य छत्र है, जो संभवतः धातु का है और अनेक तहों से युक्त है। उसके शीर्ष पर नोकदार कलश है।

भगवान की प्रतिमा के एक ओर, उनके पांवों के निकट, यक्ष का और दूसरी ओर यक्षिणी का चित्रण है—दोनों ही मुख्य आकृति की तुलना में अत्यंत छोटे आकार के हैं।[23] जिस पटिए पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण है, उसके किनारे को अलंकृत करने वाली लता में बने आलों में जैन धर्म के 23 तीर्थंकरों की छोटी छोटी आकृतियां बनी हुई हैं। पटिए के आधार पर एक कन्नड अभिलेख भी है, जिसमें बोपन्न आराधक का नाम दिया है, जिसके आदेश पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भगवान की प्रतिमा उत्कीर्ण की गई थी।[24]

सिर एवं अंगों के विन्यास की दृष्टि से प्रतिमा का निरूपण सुंदर प्रतीत होता है और मुख पर आंतरिक शांति का भाव स्पष्ट है, जो जैन धर्म द्वारा प्रसारित नैतिक तप से प्रेरित है। यह मूर्ति उसी प्रकार के ग्रेनाइट की है, जो आठवीं से तेरहवीं शताब्दियों के दौरान बने दकनी मंदिरों के स्तंभों एवं चित्रबल्लरियों में प्रयुक्त हुआ था। वह काला स्याह है और सुंदर पालिश से युक्त है।

दूसरी मूर्ति भी जो हैदराबाद संग्रहालय में प्रदर्शित है, ग्रेनाइट की ही है, और भगवान को 'ध्यानमुद्रा' में बैठे हुए प्रस्तुत करती है। इस प्रतिमा का रूपरेखांकन भी उच्च कोटि की तकनीनी दक्षता प्रकट करता है। भगवान को मनन की मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है; उनका गला एवं सिर दृढ़ता से उपर उठा हुआ है और इस मुद्रा के माध्यम से आध्यात्मिक सौम्यता का भाव प्रकट होता है। जैनमूर्तिकला में सामान्यतया देवताओं में आलंकारिक विशेषताएं नहीं होती हैं, किंतु इस मूर्ति के केशविन्यास में कलाकार की अलंकरण के प्रति रुचि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। केश ऐसे लगते हैं मानों बारीक ब्रश से सजाए गए हों। पांवों के तलों पर उत्कीर्ण छोटे चक्र भी इसी प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं।

फूल-पत्तियों एवं आभूषणात्मक नमूनों जैसे शुद्ध आलंकारिक तत्वों, अथवा पौराणिक एवं वास्तविक पशु रूपों पर आधारित पारंपरिक अभिप्रायों, अथवा सैद्धांतिक विषयों की छोटी छोटी आकृतियों के निरूपण में, बौद्ध अथवा ब्राह्मण कलाकार की तुलना में जैन मूर्तिकार की दक्षता किसी भी प्रकार से कम नहीं है। डिजाइन की समृद्धि एवं जटिल आलंकारिक विवरणों में तो संभवतः वह अवरोक्त दोनों धर्मों के अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भी मात कर देती है। किंतु जैन कला की यह अमितव्ययिता, संपूर्ण विषय की सामान्य योजना के संदर्भ में प्रायः अनुपात से बढ़कर है और इस प्रकार संतुलित विवेक एवं परिष्कृत रुचि के अभाव को प्रकट करती है।

दसवीं से तेरहवीं शताब्दियों की ब्राह्मण मूर्तिकला का वर्णन करने में हम अत्यंत विवादपूर्ण कालसे दूर आ जाते हैं, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के दौरान, कलाकार के भीतर विपक्षी धर्म के प्रति उग्रता की ऐसी कोई भावना न थी, जो उसके प्रकोप को उकसाती तथा हिंसक एवं उद्वेगपूर्ण विषयों के निरूपण के लिए प्रेरित करती। न ही उसकी अंतः प्रेरणा किसी पारंपरिक विधि एवं नियम से उत्पीड़ित एवं नियंत्रित थी, जो उसकी कृति को क्षीण अथवा निर्जीव बनाती। सौंदर्य के प्रति उसका प्रेम और अधिक विकसित हुआ, किंतु उसके लिए सौंदर्य की अवधारणा अंगसौष्ठव अथवा मुखाकृति की भव्यता की तंग सीमाओं तक ही सीमित न थी। वह उसे जीवन की पूर्णता के ओज एवं गति में देखता है और आत्मविभोर हो जाता है, तथा कला के विस्तृत दृष्टिकोण एवं सौंदर्य की विशाल अवधारणा से उत्पन्न अवलोकनशक्ति एवं अनुभवों द्वारा उसकी कल्पनाशक्ति जाग्रत होती है।

दसवीं से तेरहवीं शताब्दियों की दकन मूर्तिकला के पूर्ण कलात्मक प्रभाव को ग्रहण करने में विद्यार्थी को समर्थ बनाने के लिए, सात विशिष्ट उदाहरणों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है। इनमें से चार वारंगल जिले में रामप्प भील के निकट के प्रसिद्ध मंदिर से लिए गए हैं, एक करीमनगर जिले में पेडम्पेट के विष्णुमंदिर से और दो नलगोंद के पांगुल सरोवर के किनारे पर स्थित पंचीश्वर मंदिर से। चूंकि अत्यंत कलात्मक गुणों से युक्त मूर्तियों से सुसज्जित दकनी मंदिरों की संख्या असीमित है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल के दौरान लोककला के रूप में संगतराशी ने अत्यधिक प्रग्रति की होगी। लगभग प्रत्येक गांव में, चाहे

CC-0 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह मराठ क्षेत्र में से अथवा तेलिंगाना अथवा कर्णाटक क्षेत्रों में, आपवादिक सौंदर्य एवं भव्यता पूर्ण मूर्तिकला से अलंकृत एक एक मंदिर अवश्य है।

रामप्प मंदिर की चार में से तीन मूर्तियां नर्तकियों की हैं। वे उन खंडों पर उत्कीर्ण हैं, जो स्थापत्यात्मक दृष्टि से छज्जों के आधार के लिए अवलंब के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन नर्तकियों की मुखाकृतियां ऐसी परिष्कृत नहीं है, जो कला के यूनानी आदर्शों के प्रशंसकों को आकर्षित कर सकें न ही आकृतियों में किसी प्रकार के अंगसौष्ठव का प्रदर्शन हुआ है। किंतु उंगलियों की भावव्यंजना एवं शरीर की मुद्राओं द्वारा प्रसारित गतिशीलता एवं जीवन स्पंदन का सुझाव कलात्मक भावना को आकर्षित करता है—इसका विशेष कारण यह है कि मूर्तिकार, यौवन एवं लय का सुंदर भाव प्रदर्शित करने में समर्थ रहा है। शरीर की रूप रेखा मोड़ों में चलती हुई प्रतीत होती है तथा प्रत्येक नृत्यमुद्रा में भावनात्मक शोभा एवं उल्लासभाव की ओर इंगित करती है, जो पूर्वकालीन भारतीय मूर्तिकला में विरल ही देखने को मिलते हैं। एक समकालीन अभिलेख के अनुसार, यह मंदिर 1203 ई० में बना था, तथा आज पश्चिम में कला जो कुछ व्यक्त करने का प्रयास कर रही है, वह संभवतः भारत में 800 वर्ष पहले ही व्यक्त हो चुका था।

अगली दो मूर्तियों से अनियंत्रित भावना से मिश्रित यौवन के बाहुल्य का विचार और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इनमें से एक मूर्ति रामप्प मंदिर की और दूसरी पेडम्पेट के मंदिर की है। पूर्वोक्त उदाहरण में यौवन के उत्ताप से उन्मत्त एक नग्न नारी ('नागिनी') प्रस्तुत है। प्रचंड उन्मत्तता का भाव, टांगों के निरूपण से प्रकट होता है, जो पूर्ण लंबाई में फैली हुई हैं; अथवा हाथों में दृष्टिगोचर होता है, जो यौवनपूर्ण वक्ष के आकर्षण को प्रमुखता प्रदान करने के लिए धीरे से ऊपर उठे हुए हैं। वक्ष एवं कूल्हों के बीच में शरीर के रेखांकन में एक हर्षपूर्ण लोच है, जो मूर्ति के भावात्मक प्रभाव को और बढ़ा देता है। मूर्ति को और अधिक आध्यात्मिक महत्व देने के उद्देश्य से कलाकार ने एक सर्प उसके हाथ में; तथा ग्रीवा, हाथों एवं शरीर के चारों ओर एक अथवा अधिक सर्प प्रदर्शित किए हैं, मानों उसने आह्लाद भाव में उन्मादी पागलपन से उन्हें जकड़ लिया हो। उसकी कोमल उंगलियों में जकड़े सर्प का बड़ा सा फण है, जो उसके दाएं हाथ की बाईं ओर दिखाई देता है।

दूसरी मूर्ति में जो 'पेडम्पेट' की है, कुछ अत्यंत हृदयग्राही विलक्षणताएं हैं। इनमें से कूल्हों की मांसलता विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो कमर के निकट की शरीर रेखा के तीव्र मोड़ से और अधिक स्पष्ट नजर आती है। कमर अत्यंत पतली है, जैसा कि भारतीय मूर्तिकला में प्रायः देखने को मिलता है; किंतु इस मूर्ति की यह विलक्षणता, उसके वक्ष एवं पेट के अत्यधिक विकसित रूप से और बढ़ी हुई प्रतीत होती है। हाथ ऊपर की ओर उठे है और सुंदरतापूर्वक सिर के ऊपर एक दूसरे से मिल गए हैं। किंतु कलाकार ने कुहनियों की तुलना में पुनः हाथों की मोटाई अधिक कर दी है। कुहनियां अधिक पतली किंतु तीक्ष्ण नजर आती हैं। शरीर के कुछ अंगों के इस अतिनिरूपण से, मानों वह जीवन के बाहुल्य की ओर इंगित करने के लिए हों, अथवा शरीर के रेखांकन के निर्भीक चित्रण से मिश्रित भावना के भंवर से संभवतः आधुनिक पश्चिमी कला के कतिपय आलोचकों के उस विचार की पुष्टि होती है जिसके अनुसार आधुनिक कला के प्रतीकात्मक एवं प्रभावात्मक पक्षों में भारतीय मूर्तिकला का प्रभाव स्पष्ट है।

आगामी दो मूर्तियां जो पांगुल के पंचीश्वर मंदिर की हैं, क्रमशः शिव एवं गणेश को प्रस्तुत करती हैं। शिव ने अपने पांव से किसी को कुचल रखा है; किंतु उसकी आकृति के लचीलेपन, उसके अनेक हाथों की कोमलता तथा उसकी उंगलियों एवं पंजों के संवेदनशील आभास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने संपूर्ण विषय को हल्के मनोरंजन का पक्ष प्रदान किया है। सातवीं अथवा आठवीं शताब्दियों की ऐल्लोरा की मूर्तियों में पाया जाने वाला क्रोध अथवा नृशंस प्रतीकार का विचार इसमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। ऐसा ही स्वतंत्र दृष्टिकोण अगली मूर्ति में भी स्पष्ट है, जिसमें गणेश को मूषक पर सवार दिखाया गया है। संयोजन के विचित्र स्वरूप ने अत्यधिक हास्यास्पद कृति की रचना की है। दोनों ही मूर्तियों की कारीगरी अत्यंत साफ-सुथरी है, तथा उनके सूक्ष्म विवरणों के अध्ययन से कलाकार के अलंकरण प्रेम की प्रशंसा की जा सकती है। मुद्रा की सौम्यता, अंगों का लचीलापन, गतिशीलता का भाव सूक्ष्म अलंकरण की भव्यता ये सभी इस काल अर्थात 10वीं से 13वीं ई० शताब्दियों की मूर्तियों के प्रमुख लक्षण हैं। वे बौद्धों के पुण्य आध्यात्मिक आनंद को नहीं अपितु ओज के अतिबाहुल्य अथवा यौनाकर्षण से भावों से उत्पन्न मानवीय भावनाओं तथा कल्याण एवं आनंदातिरेक की ओर भी इंगित करते हैं।

दकनी मूर्तिकला के इस सर्वेक्षण के समापन में यह कथनीय है कि दक्षिणी भारत के मंदिरों में सभी स्थानों पर दृष्टिगोचर होने वाली सुंदर कांस्य प्रतिमाएं दकन में विरल ही मिलती हैं। किंतु इस अभाव से यह निश्चितरूपेण सिद्ध नहीं होता कि दकन के मूर्तिकार ने अपनी प्रतिभा के सफल प्रदर्शन के लिए कांस्य माध्यम का तनिक भी प्रयोग नहीं किया था। 1932 ई० में वारंगल में एक घर की नींव की खुदाई के दौरान, अकस्मात ही एक छोटी सी कांस्य प्रतिमा प्राप्त हुई। प्रतिमा की ऊंचाई केवल $6\frac{1}{8}$ इंच है, किंतु सिर के निरूपण एवं मुख की अभिव्यक्ति से उच्च कोटि की तक्नीकी दक्षता एवं बौद्धिक गुण प्रकट होते हैं। यह प्रतिमा 9वीं 10 वीं ई० शताब्दियों की प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें न तो प्रारंभिक ब्राह्मण मूर्तिकला जैसी कठोरता है और न ही उसी धर्म की उत्तरकालीन मूर्तियों की सी मृदु सौम्यता है। मुखाकृति ही कठोर धार्मिक अनुशासन पर आधारित आंतरिक दृढ़ता एवं शांति को अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति ऐल्लोरा की कुछ जैन मूर्तियों के शांत भाव से कुछ साम्य रखती है, किंतु यह कांस्य प्रतिमा तो ब्राह्मण धर्म की है और संभवतः लक्ष्मी को दीप लक्ष्मी के रूप में प्रस्तुत करती है। दीप तो लुप्त हो चुका है, किंतु जिस प्रकार से हाथ बाहर की ओर निकले हुए हैं, उससे प्रकट होता है कि मूलतः उनमें कुछ था अवश्य।[25]

संदर्भ

1. 1941-42 ई० में लेखक के अनुरोध पर, पुरातात्विक सर्वेक्षण (पश्चिमी खंड) के तत्कालीन पर्यवेक्षक श्री क्यू० एम० मोनियर ने इन पटको के चित्र खींचे थे.
2. वेडसा (पूना जिला) पहुंचने के लिए पूना-बंबई मार्ग पर स्थित 28 वें मील स्तंभ से आरंभ होने वाले बैलगाड़ी मार्ग से जाना पड़ता है. 1941 में पश्चिमी भारत के अपने निरीक्षण भ्रमण के तुरंत बाद ही, लेखक ने बंबई की सरकार से बातचीत की और उनसे अनुरोध किया कि वे इस स्थान के बौद्ध अवशेषों तक सुगमता पूर्वक पहुंचने के लिए एक मोटर मार्ग का निर्माण करें.
3. विसेंट स्मिथ 'हिस्टरी आफ फाइनल आर्ट', पृ० 155.
4. ई० बी० हैवेल' 'इंडियन स्कल्पचर ऐंड पेंटिंग', पृ० 102.
5. जी० याज़दानी, 'अजंता', भाग iii (मूल पाठ), पृ० 22-23.
6. फर्ग्युसन एवं बर्जेस 'केव टेंपल्स आफ इंडिया', फलक vii अ० नासिक में यह कुछ भिन्न रूप में तीसरी गुफा में स्तंभों के ऊपर, बाह्य दीवार पर उत्कीर्ण है. और देखिए बर्जेस, 'रिपोर्ट आन बुद्धिस्ट केव टेंपल्स ऐंड देअर इंसक्रिप्शंस', 1876-79, पृ० 23-24 एवं फलक vii (9).
7. विंसेंट स्मिथ 'हिस्टरी आफ फाइन आर्ट', पृ० 154.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

8. काडरिंगटन, 'एंशिएंट इंडिया', पृ० 36
9. कावेल, 'जातक', अंगरेजी अनुवाद, iv; पृ० 281-90.
10. जी० याज़दानी; 'अजंता', फलक xxv.
11 वही, फलक xxvii.
12. लडविग बैखोफर; 'अर्ली इंडियन स्कल्पचर', ii, फलक 109—उनका यह कथन सही प्रतीत होता कि यह मूर्ति ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध की है.
13. इस मुद्रा में दायां हाथ उठा हुआ, कोहनी मुड़ी हुई तथा हथेली खुली होती है तथा बायां हाथ गोदी में रखा होता है.
14. डा0 लडविग बेखोफर ने अति सुचारु रूप से इस विषय का विवेचन किया है । विद्यार्थी उनके मत का अध्ययन, उनके ग्रंथ 'अर्ली इंडियन स्कल्पचर' के पहले खंड (पृ० 110-14) में कर सकते हैं.
15 जी० याज़दानी 'अजंता', भाग 4, फलक Lxxviii ब.
16. विद्यार्थियों के लिए निम्न माप मनोरंजक हो सकते हैं :
फर्श से ऊपर सिंहासन की ऊंचाई —3 फीट. सिंहासन से ऊपर (बैठे हुए) भगवान् बुद्ध की ऊंचाई—10 फीट 3 इंच,
सामने से प्रतिमा, वक्ष एवं हाथों की चौड़ाई—6 फीट 8 इंच.
सिंहासन के ऊपर, घुटने तक प्रतिमा की चौड़ाई—8 फीट 10 इंच.
17. लगभग 640 ई० में लिखते समय हुआन त्सांग ने कुशिनर को ऐसी ही एक मूर्ति के संबंध में कहा है: एक महान चैत्य में तथागत के 'निर्वाण' का निरूपण है. उनका मुख उत्तर की ओर है और किसी निद्रालु व्यक्ति जैसा प्रतीत होता है.
18. ई० बी० हैवेल, 'आइडियल्स आफ इंडियन आर्ट', फलक xxiv; ए० के० कुमारस्वामी, 'विश्वकर्म', फलक Lxxii; फर्ग्युसन एवं बर्जेस, 'केव टेंपल्स आफ इंडिया', फलक xxxix; याजदानी, अजंता', भाग iv, फलक Lxxvi ब.
19, यह उल्लेख करना रोचक होगा कि वाकाटक वंशावली में भवनाग नामक राजा का उल्लेख, रुद्रसेन प्रथम (लगभग 335-360 ई०) के नाना के रूप में किया गया है इस भवनाग की तादात्म्यता ग्वालियर राज्य में पद्मावती के नागवंशीय राजा भवनाग से स्थापित की गई है.
20. याजदानी, 'अजंता', भाग iv, फलक Lxxviii अ.
21. ई० बी० हैवेल; 'इंडियन स्कल्पचर ऐंड पेंटिंग', फलक xxiii ; ए० के० कुमारस्वामी, 'विश्वकर्म', फलक xliii, कार्डरिंगटन, 'एंशिएंट इंडिया,' फलक 50 ब.
22. है० आ० सि०, विनिबंध नं० 12, दि कण्णड इंस्क्रिप्शंस आफ कोप्बल, पृ० 2, टि० 1.
23. इन दोनों ही प्रतिमाओं के ऊपर छोटे से छत्र के रूप में नागछत्र है.
24, इस अभिलेख के लिए देखें, है० आ० सि०, विनिबंध नं० 12, पृ० 11.
25. 'जर्नल आफ दि इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट', जून 1934, पृ० 11-12, फलक xiii में इस प्रतिमा का विस्तृत विवरण दिया गया है, और देखिए हैदराबाद के पुरातत्व विभाग की 'वार्षिक रिपोर्ट', 1933-4, पृ० 13, फलक XI.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्रकला

यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि कला के रूप में दकन में चित्रांकन का आरंभ कब हुआ। किंतु भित्तिचित्रों के जो उदाहरण अजंता की चैत्यगुहा 10 की बाईं दीवार पर विद्यमान हैं, वे पर्याप्त विकसित कारीगरी के प्रमाण हैं। दो समकालीन ब्राह्मी अभिलेखों के अनुसार इस चैत्य को लगभग ई० पू० द्वितीय शताब्दी के अंत में शिला में तराशा गया था।[1] एक अन्य चैत्य गुहा 9 की बाईं दीवार की चित्रकला की शैली गुहा 10 के चित्रों की शैली के समान है, और अवरोक्त गुहा की अपनी मूलाकृतियों से 50-100 वर्ष बाद की हो सकती है। इन चित्रों के आदिवासियों के लंबे बाल उनके सिरों के मुकुटों पर सर्पों के फणों के शीर्ष के रूप में फीतों से बंधे हुए हैं। उनके शरीर पर थोड़े से वस्त्र हैं, किंतु आभूषण अनेक हैं, जिनमें अनेक डिजाइन के कुंडल एवं धातुमालाएं हैं। स्त्रियों एवं कुछ पुरुषों की मुखाकृतियां आधुनिक मराठों से मिलती हैं—वे अंडाकार मुख, छोटी नाकों, पर्याप्त मोटे होठ एवं मध्यम कद से युक्त हैं। स्पष्टतः, ये चित्र उन समकालीन लोगों को चित्रित करते हैं जो मिश्रित जाति के थे। इस जाति में आदिवासी द्रविड़ों (अथवा पूर्व-द्रविड़ों) एवं सीथियनों का मिश्रण था। दकन में सीथियनों का प्रवेश कम से कम ई० पू० प्रथम सहस्राब्दि की आरंभिक शताब्दियों में हो चुका था। पुरुष अपने शरीरों को ढकने के लिए छोटे जंघवस्त्र धारण करते थे, नारियां भी शरीर के निम्न भाग में ऐसे ही वस्त्र पहनती थीं, किंतु वे चोली भी धारण करती थीं और वर्तमान भारतीय शैली की भांति ही अपने सिरों को ढकने के लिए ओढ़नियों का प्रयोग करती थीं।

गुहा 9 एवं 10 के चित्रों में प्रयोग किए गए रंगों में लाल-कपिश, पीत-कपिश, चमकीला हरा, दीपक वाला काला तथा चूने का सफेद रंग सम्मिलित है। संयोजन में इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उन्हें शुद्ध अथवा मिश्रित रूप में प्रयोग किया गया है। निम्न ओठ एवं आंख के कोटों के लिए चित्रकार ने एक प्रकार के चमकीले सिंदूरी रंग का प्रयोग किया है, जो स्पष्टतः लाल-कपिश से बनाया हुआ है। रेखांकन दृढ़ एवं सही है और स्पष्ट है कि तीनों परिमापों पर समुचित ध्यान दिया गया है। किंतु किसी विशेष विवरण को और अधिक उजागर करने के लिए अथवा शरीर की मोटाई दिखाने के लिए हल्के अथवा गहरे रंगों की सतह नहीं है, जैसा 5वीं ई० शताब्दी की गुहा 1 और 2 के भित्तिचित्रों में देखने को मिलता है। ये चित्र संतुलित विवेक को प्रस्तुत करते हैं तथा इनमें रेखांकित आकृतियों में सजीवता एवं गतिशीलता है।

अब हम गुहा 10 की बाईं दीवार पर चित्रित दृश्य का वर्णन करें: सर्वप्रथम भाला, गदा, तीर-कमान, तलवार एवं दरांती जैसे करवालों से युक्त सैनिक मिलते हैं। वे छोटी बाहों की कमीजों अथवा जैकटों से सज्जित हैं और उनमें से एक के पास पगड़ी जैसा शिरोवस्त्र है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें कानों की रक्षा के लिए पट्टिका है तथा शिरस्त्राण को सिर से दृढ़तापूर्वक बंधा रखने के लिए एक पट्टी ठोड़ी के नीचे से जाती है। ये सैनिक राजा के अंगरक्षक हैं, जो नारियों के समूह के साथ ठीक उनके सामने दृष्टिगोचर होते हैं। राजा को पताकाओं से सज्जित वृक्ष के सामने दिखाया गया है। यह वृक्ष स्पष्टतः बोधिवृक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके नीचे महात्मा बुद्ध को 'ज्ञान' प्राप्त हुआ था। आरंभिक बौद्ध मूर्ति एवं चित्रकलाओं में महात्मा बुद्ध को मानवीय रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है, क्योंकि हीनयान मत के अनुसार उन्हें इस रूप में निरूपित करना धर्मोल्लंघन होता था। राजा वृक्ष के निकट खड़े बालक से संबंधित किसी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए आया है। वह प्रार्थना कर रहा है और दल की सभी नारियां भी इस संस्कार मे भाग ले रही हैं। एक स्त्री का सिर मयूयपंखों से सजा हुआ है।

वृक्ष के दूसरी अर्थात दाईं ओर, संगीतज्ञों एवं नर्तकियों का एक बड़ा दल है, जिसमें 15 कलाकार हैं। ये सभी नारियां हैं। यह ज्ञात है कि स्त्रियों ने भिक्षुणियों के रूप में गौतम के जीवनकाल में अथवा उसके कुछ ही समय बाद बौद्ध 'संघारामों' में प्रवेश किया था। किंतु इस चित्र में प्रदर्शित ई० पू० द्वितीय शताब्दी में पर्याप्त विकसित संगीत दल की उपस्थिति से प्रकट होता है कि दकन में धार्मिक देवालयों से संलग्न नर्तकियों एवं नारी संगीतज्ञों के संगठनों की स्थापना बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व हो चुकी थी। इस चित्र के दल की दो स्त्रियां बिगुल बजा रही हैं तथा शेष तालियां बजा रही हैं अथवा नाच रही हैं। आज भी भारत एवं अन्य प्राच्य देशों में समय के अंतर को कायम रखने के लिए अथवा संगीत में स्वर का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तालियों का प्रयोग होता है। नर्तकियों में जो पवित्र वृक्ष के निकटतम है उसने अपने हाथ को एक विशेष रूप में उठा एवं मोड़ रखा है, मानो वह शरीर को जल-भंवर का प्रभाव अथवा सर्प के मोड़ों का रूप प्रदान कर रही हो। अन्य दो नर्तकियों की मुद्राएं एवं पग भी खास भारतीय हैं जो आधुनिक नृत्यकला में भी दृष्टिगोचर होते हैं।

इस निरूपण के रेखांकन से अवधारणा एवं निष्पादन दोनों में ही पर्याप्त विकसितकला का प्रमाण मिलता है। इस अवस्था को प्राप्त करने में अनेक शताब्दियां लगी होंगी। वस्त्र-आभूषणों एवं जाति संबंधी आकृतियों की दृष्टि से मानवीय रूपों के चित्रण में इस चित्र एवं समकालीन कोंडाणे एवं कार्ले की मूर्तियों में काफी समानता है। ये मूर्तियां भी लगभग ई० पू० द्वितीय शताब्दी की हैं।

गुहा 10 की दाईं दीवार पर षडदंत जातक अर्थात छः दांतों वाले हाथी की कथा चित्रित है। इसमें एक अभिलेख भी है, जो लिपिज्ञान के आधार पर तृतीय ई० शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। यदि अभिलेख इस चित्र से संबंधित है, तो यह चित्र पूर्ववर्णित इसी गुहा की बाईं दीवार के चित्र से लगभग चार सौ वर्ष बाद का है। पूर्वोक्त चित्र के समान इस चित्र में प्रस्तुत लोग भी अनार्य हैं। किंतु प्राकृतिक सौंदर्य में चित्रकार का प्रेम, अथवा उसके द्वारा पशुजीवन का निकट अध्ययन, अथवा धार्मिक प्रभाव से युक्त करुणा भाव को अभिव्यक्त करने में उसकी दक्षता, अथवा सूक्ष्म विवरणों को भी अलंकृत करने की उसकी रुचि—इन सभी विशेषताओं से पता चलता है कि बाईं एवं दाईं दीवारों के चित्रों के 400 वर्षीय मध्यांतर के दौरान बौद्धिक एवं प्राविधिक दृष्टियों से चित्रकला ने काफी प्रगति कर ली थी।

चित्रकार ने षडदंत जातक में वर्णित सभी घटनाओं को चित्रित किया है, किंतु उसने उनका क्रम बदल दिया है। चित्र दलदली भूमि तथा घड़ियालों एवं अजगरों से युक्त अगम्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वनों में हाथियों के जंगली जीवन से आरंभ होता है, तथा प्रासाद दृश्यों से उसका अंत होता है, जिसमें मानवीय रूपों का जमघट तथा स्तूप एवं विहार जैसे पूजास्थलों की ओर बढ़ते हुए राजकीय शोभायात्रा का चित्रण है। मध्य भाग में शाही हाथी द्वारा कमल सरोवर में स्नान तथा विशालकाय वटवृक्ष के नीचे ली गई प्रिय शरण को प्रस्तुत किया गया है। चित्रकार के दृष्टिकोण से इस संयोजन का कुछ महत्व है, क्योंकि उसने अपनी दक्षता के प्रभावोत्पादक प्रदर्शन के लिए पशुजीवन से संबंधित दृश्यों तथा प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य को मानवीय भावनाओं के उन दृश्यों से बिलकुल पृथक रखा है, जिनमें दुख एवं दर्द के अंधकार को श्रद्धा एवं आराधना के प्रकाश से आलोकित किया गया है।

वन में पशुजीवन के दृश्यों में चित्रकार ने घड़ियाल एवं हाथी के द्वन्द्व का अत्यन्त प्रभावोत्पादक चित्रण किया है, जिसमें हाथी ने अपने शत्रु को पीठ के वल उलटा कर दिया है तथा अपने एक अग्रपग को उसके पेट पर रख दिया है। घड़ियाल को नष्ट करने के लिए हाथी ने अपनी सूंड द्वारा और अधिक दवाव डालने की मुद्रा प्रस्तुत की है। पास में ही एक विशाल अजगर ने एक अन्य हाथी की एक टांग पकड़ ली है, तथा अत्यंत पीड़ित अवस्था में होने के कारण हाथी ने अपनी सूंड़ ऊपर उठा ली है, मानो वह सहायता के लिए चिंघाड़ कर अपने समूह के साथियों को बुला रहा हो। आनंददायक दृश्य कमल सरोवर में हाथियों के समूह का स्नान है, जहां पर जल में ऐश्वर्य एवं सुखपूर्वक क्रीड़ा करते समय वे विभिन्न विशिष्ट मुद्राओं में अपनी सूंडों को उठाए एवं मोड़े हुए हैं।

नाट्यात्मक प्रभाव के लिए सर्वाधिक आकर्षक दृश्य दरबार का है, जिसमें दांतों को देखकर रानी मूर्छित हो गई है, क्योंकि पिछले जन्म में षडदंत हाथी उसका प्रिय पति था और बदले की भावना से रानी ने उसके दांतों को लाने के लिए शिकारियों को भेजा था, क्योंकि रानी के अनुसार वह उसकी अपेक्षा अपनी अन्य पत्नी के प्रति अधिक आसक्त था। बनारस का राजा, जो वर्तमान जीवन में उसका पति है, उसी के निकट बैठा है तथा अपना एक हाथ उसकी पीठ पर रख कर तथा दूसरे हाथ से उसके दाएं कंधे को पकड़ कर उसे सहारा दे रहा है। एक परिचारिका उस पर पंखा झल रही है; एक अन्य परिचारिका उसके सिर अथवा मुख पर छिड़कने के लिए जल लाई है; रानी के निकटतम खड़ी तीसरी परिचारिका पेय दे रही है तथा दाईं ओर खड़ी चौथी परिचारिका ने अपने दुःख की भावनाओं को दवाने के लिए विशिष्ट भारतीय शैली में मुख पर अपना हाथ रख लिया है। छत्र पकड़ने वाली परिचारिका हाथी के दांतों की ओर देख रही है। दांतों ने संपूर्ण दरबार को विस्मित कर दिया है। फर्श पर बैठी स्त्री रानी को होश में लाने के लिए उसके पांवों के तलों को मसल रही है। संपूर्ण दृश्य पर आच्छादित करुण भाव के अतिरिक्त आकृतियों का समूहीकरण, शोभापूर्ण मुद्राएं, नारियों के सुंदर केशविन्यास एवं आभूषण, तथा चित्र में विभिन्न व्यक्तियों के अल्प किंतु कलात्मक वस्त्र—ये सभी चित्रकार की सजीव कल्पना एवं परिष्कृत रुचि, तथा उसकी अत्यंत विकसित प्राविधिक दक्षता एवं अपनी कल्पना के आदेशों के अनुसार अपनी इच्छा के अनुरूप किसी भी स्वरूप में विषय का चित्रण करने की उसकी क्षमता को प्रकट करते हैं।

गुहा 10 की दाईं दीवार पर चित्रित दृश्य दकन की चित्रकला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मानदंड है, क्योंकि मानवीय आकृतियों में जातीय प्रकारों के निरूपण तथा स्वयं चित्रकला की तकनीक एवं सामग्री के दृष्टिकोणों से कला का यह रूप मुख्यतया स्वदेशी है और किसी भी विदेशी प्रभाव से, यहां तक कि उत्तरी भारत जैसे निकट क्षेत्र से भी प्रभावित

नहीं है। लगभग तृतीय शताब्दी के अंत में, इस क्षेत्र के तत्कालीन आंध्र शासकों को वाकाटकों ने उखाड़ दिया था और वे स्वयं शासक बन गए थे। वे दकन के उत्तरी क्षेत्र के थे तथा गुप्तों से वैवाहिक बंधनों में बंधे थे। उनके लगभग 200 वर्षीय शासनकाल के दौरान, दकन में बौद्ध धर्म पल्लवित हुआ, किंतु सिद्धांतों एवं कर्मकांडों—दोनों में ही वह इस संपूर्ण काल के दौरान सहअस्तित्ववाले ब्राह्मण धर्म से अत्यधिक प्रभावित हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौथी ई० शताब्दी के आरंभ से दकन में महायान संप्रदाय के प्रचलन (उत्तरी भारत में लगभग एक शताब्दी पूर्व आरंभ हो गया था) का मुख्य कारण यह था कि तीसरी शताब्दी के अंत तक उत्तर के धार्मिक विश्वासों एवं संस्कृति का नर्मदा के दक्षिण के क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ चुका था। संस्कृतियों एवं धार्मिक आदेशों के इस सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप, चित्रकला ने द्रुतगति से बौद्धिक प्रगति की, हालांकि उसकी तकनीक स्वदेशी ही बनी रही, क्योंकि स्पष्टतया आर्यभारत में चित्रकला का ऐसा कोई केंद्र न था, जिसके सिद्धांतों से वह लाभान्वित होता।

अजंता की गुहा 10 की दीवारों एवं स्तंभों पर कुछ चित्रकारी है, जो लिपिज्ञान के प्रमाणों अथवा तकनीकी विकास के आधार पर चौथी ई० शताब्दी में रखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, दाईं दीवार पर निरूपित षडदंत जातक की बाईं ओर निर्मित श्याम जातक अथवा किनारे की वीथिकाओं के स्तंभों पर चित्रित महात्मा बुद्ध के कुछ चित्र हैं। किंतु इसकी तिथि के संबंध में पूर्णरूपेण निश्चित होने के लिए यह उचित होगा कि हम उतकी तुलना गुहा 1, 2, 16 एवं 17 की विशिष्ट चित्रकारी से करें। ये सभी पांचवीं ई० शताब्दी की हैं, क्योंकि इन गुहाओं में चित्रित एवं उत्कीर्ण अभिलेखों में 5वीं ई० शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के दौरान शासन करने वाले वाकाटक नरेशों के नाम मिलते हैं।[3]

इन चार गुहाओं के तिथिक्रम के संबंध में यह कथनीय है कि तक्नीक की दृष्टि से पहली एवं 16वीं गुहाएं लगभग समकालीन प्रतीत होती हैं, 17 वीं गुफा उनके तत्काल बाद की है और इस समूह में से दूसरी गुफा सबसे बाद की है। प्रथम गुफा में महात्मा बुद्ध के 'संसारत्याग' की कथाएं प्रमुख हैं, 16वीं गुफा में उनके जीवन एवं बचपन तथा संघीय जीवन से संबंधित कुछ गाथाएं चित्रित हैं, जबकि 17वीं गुफा में मुख्य रूप से महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्म के विभिन्न रूपों—उदार राजकुमार अथवा हाथी, बंदर, हिरण, हंस, मत्स्य अथवा सर्प जैसे उपकारी जीवों की कथाएं हैं। गुहा नं० 2 में राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में महात्मा बुद्ध की गाथाएं हैं और उनके साथ विधुरपंडित जैसे मेधावी ब्राह्मण अथवा क्षांतिवादी नामक यति के रूप में बुद्ध के पूर्व जन्म की भी कुछ कथाएं हैं।

उपर्युक्त चार गुहाओं की चित्रकला में प्रस्तुत कला के आदर्श एक ओर तो दैविक भव्यता एवं शांति से और दूसरी ओर मानवीय भावनाओं एवं प्रेम भाव की विशेषताओं से युक्त हैं। 'महात्मा बुद्ध के सम्मुख माता एवं पुत्र' वाले दृश्य में भगवान के विशालाकार तथा उनके शांत एवं सौम्य रूप से उनकी उच्च पवित्रता का आभास होता है, किंतु अपने ही द्वार पर भिक्षा मांगने के लिए उनके आगमन का कारण अत्यंत मानवीय है। उनकी पत्नी यशोधरा के नेत्रों में प्रेम की झलक तथा उनके पुत्र राहुल के विस्मित चेहरे में हमें इसी मानवीय भावना का अत्यंत सजीव निरूपण मिलता है। बुद्ध की आकृति मूलतः लगभग 10 फीट की होगी, जबकि उनकी पत्नी की लगभग 5 फीट है—आकार का यह अंतर इस ओर इंगित करता है कि भगवान अपौरुष हैं, जबकि उनकी पत्नी केवल मानवीय प्राणी है। इस चित्र में अनेक प्रकार के रंग नहीं हैं, किंतु प्रयुक्त हुए कुछ रंग निश्चय ही परिष्कृत रुचि प्रदर्शित करते हैं। महात्मा बुद्ध गेरुआ वस्त्र धारण किए हुए हैं, उनका वर्ण स्वर्णिम आभा लिए हुए भूरा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
पारंपरिक रूप में प्रस्तुत घुघराले बाल बिल्कुल काले हैं। पृष्ठभूमि गहरे रंग की है—मूलतः गहरे हरे अथवा गहरे लाल रंग की थी, किंतु उसका गहरापन, गेरुए वस्त्र एवं मुख के स्वर्णिम भूरेपन के साथ सुंदर वर्णविपर्यास प्रस्तुत करता है। गहरी पृष्ठभूमि के कारण मुख्याकृति बिल्कुल उभरी हुई लगती है। किंतु पृष्ठभूमि की नीरसता को भगवान के सिर के ऊपर स्वर्ग से बरसाए जाने वाले चमकीले रंग के पुष्पों से सजीव कर दिया गया है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने भिक्षा पात्र को अपने दाएं हाथ में पकड़ा है, जो उन्होंने यशोधरा की ओर आगे बढ़ाया है। उसने भगवान से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रेमपूर्वक अपने पुत्र को अपने आगे बढ़ा दिया है और वह स्वयं अपने प्रियतम की उच्च स्थिति की कल्पना करके श्रद्धा से आत्मविभोर हो गई है। यह चित्र आध्यात्मिक महानता एवं मानवीय भावनाओं के मिश्रित रूप को अत्यंत प्रशंसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है। कथानक में इस गुण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया गया है: 'हे सिद्धार्थ जब उस रात राहुल उत्पन्न हुआ था तो तुम साम्राज्य का त्याग करके खामोशी से चले गए। अब उसके स्थान पर तुम्हारे पास और अधिक भव्य साम्राज्य है।'

मां एवं पुत्र के चित्रों में वास्तव में बहुत कम रंग हैं, किंतु रेखांकन इतना निर्दोष है और आभूषण इतनी सुरुचि से संजोए गए हैं कि, संपूर्ण कृति प्रेम की स्निग्ध भावनाओं से युक्त नारी सौंदर्य के निरूपण का उत्कृष्ट उदाहरण है।

प्रथम गुहा में पूर्व-कक्ष की बाईं ओर के पिछले बारामदे में चित्रित विषय पुनः महात्मा बुद्ध को राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है।[4] किंतु उपरोक्त गुहा नं० 17 के चित्रण की तुलना में बौद्धिक एवं कलात्मक गुणों के दोनों ही दृष्टिकोणों से, इस दृष्टांत में विषय का संयोजन अधिक सूक्ष्म एवं वैविध्यपूर्ण है। यहां पर राजकुमार को 'संसार त्याग' के पहले वाली शाम को दिखाया गया है; उनका दृढ़ निश्चय स्पष्ट है, किंतु अब भी वे अपने शाही परिचारकों के बीच में हैं। उनके साथ उनकी पत्नी भी हैं, जिसका यह चित्र युवा पत्नी की अपेक्षा मां की अनुकंपा को अधिक प्रकट करता है।

राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में ग्रीक अपोलो जैसा पूर्ण शारीरिक सौष्ठव नहीं है, फिर भी उसका अपना ही शारीरिक सौंदर्य है, जो चौड़े वक्ष, पर्याप्त विकसित स्कंध एवं हाथों और सुंदरतापूर्ण नियोजित ग्रीवा एवं सिर में दृष्टिगोचर होता है। किंतु आकृति का मुख्य आकर्षण उसकी धार्मिक अभिव्यक्ति है, जिसने उसे संभवतः समकालीन भारतीय एवं विदेशी चित्रकला के उदाहरणों में अद्वितीय बना दिया है। चौड़े भाल पर कुछ ऊपर की ओर खिंची हुई भृकुटियों से युक्त अर्धबंद विचारमग्न नेत्र, तथा बंद ओठ मानो दैविक मौन धारण किए हों। एक ओर तो सांसारिक जीवन के आकर्षणों के प्रति भव्य उदासीनता और दूसरी ओर आध्यात्मिक शांति की ओर इंगित किया गया है। मस्तक, नाक एवं ठोड़ी पर डाले गए प्रकाश से निर्मलता का प्रभाव और अधिक बढ़ जाता है। राजकुमार अल्प वस्त्र धारी हैं, किंतु शरीर के निम्न भाग को ढंकनेवाला वस्त्र उत्तम सामग्री का है—संभवतः रेशमी है, जिसमें भिन्न रंगों में चार खानों की डिजाइनें हैं। रत्नजड़ित भव्य मुकुट, मोतियों की माला, बड़े बड़े कुंडलों, कलाईबंद एवं बाजूबंदों और इन सबके अतिरिक्त सुंदर ढंग से गुथी हुई मोतियों की लड़ियां जो कंधे एवं कमर के चारों ओर रज्जु के रूप में लटकी हुई हैं, ये सभी उसकी राजसिक भव्यता पर बल देते हैं। कंधों पर गुच्छे के रूप में लटके काले लंबे बालों के वर्णविपर्यास द्वारा सिर को उभार दिया गया है, तथा ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए चित्रकार ने स्वर्णमय मुकुट के पीछे गहरे हरे रंग की बुंदकियों को सटा कर प्रस्तुत किया है जिससे एक प्रकार की दृष्टिसीमा प्राप्त की गई है। इसके अतिरिक्त शरीर की मोटाई दिखाने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
के लिए, चित्रकार ने आकृति की रूपरेखा को गहरा कर दिया है और शरीर के मुख्य भाग में प्रयुक्त रंग के विपरीत रूपरेखा के साथ गहरे रंग की पृष्ठभूमि भी बनाई है।

राजकुमार की मुखाकृति आर्य, परिष्कृत एवं भव्य है, किंतु उसके निकट खड़ी स्त्री जो संभवत: उसकी पत्नी यशोधरा है, श्यामवर्णा है। सिद्धार्थ एवं यशोधरा के वर्णों में यह अंतर रखने में चित्रकार का उद्देश्य यह दर्शाना था कि, बौद्ध धर्म ने अपनी शिक्षाओं में वर्ण भेद नहीं रखा था और श्वेतवर्णी उतनी ही आकर्षक थी जितनी श्यामवर्णी। जातीय प्रकारों की भिन्नता रक्षकों एवं परिचारिका की आकृतियों में भी प्रदर्शित की गई है। रक्षक अबीसीनियन और परिचारिका ईरानी लगती है। परिचारिका अत्यंत विशिष्टता युक्त नारी लगती है, क्योंकि वह पूरी बांह के लंबे रेशमी अथवा मखमली कोट धारण किए हुए है और उसके सिर पर मुकुट है। रक्षक भी तंग बांहों के लंबे कोट से सज्जित है और उसके सिर के चारों ओर आलंकारिक पट्टी है, जिसके ऊपर उसके घुंघराले बाल दृष्टिगोचर हो रहे हैं। रक्षक की नाक एवं ओठ मोटे हैं। स्वयं यशोधरा भी जालीदार सामग्री की पारदर्शी एवं कसी हुई चोली पहने है। यह तथ्य ध्यातव्य है कि शाही पुरुष एवं नारियां अपने शरीर के ऊपरी भागों में अत्यंत अल्प वस्त्र धारी हैं, लेकिन रक्षक एवं परिचारिकाएं पूर्ण वस्त्र धारण किए हुए हैं। शाही व्यक्तियों की वस्त्र संबंधी इस मितव्ययिता के बदले में उनके द्वारा धारण किए गए आभूषणों का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है। डिजाइन की दृष्टि से ये आभूषण अत्यंत सुरुचि-पूर्ण है। रत्नों के आकार एवं उनके श्रेष्ठ गुणों से पहनने वालों की धनाढ्यता का अनुमान होता है।

राजकुमार के चित्रण में सांसारिक जीवन एवं धार्मिक विशिष्टता—दोनों के ही चिह्न हैं तथा उनकी शांत अभिव्यक्ति, हर्ष अथवा दुख से अप्रभावित व्यक्ति की सी है। किंतु यशोधरा, ईरानी परिचारिका एवं अबीसीनियन रक्षक के चेहरों पर स्पष्ट रूप से विषाद के भाव प्रतिबिंबित हैं, क्योंकि यशोधरा अपने प्रियतम से शीघ्र होने वाले बिछोह को सोच कर दुखी है। परिचारिका एवं रक्षक भी अपने शाही स्वामी द्वारा संसार त्याग के विचार से खिन्न हैं। किंतु चित्रकार ने विषाद के सामान्य प्रभाव को कम करने के लिए पर्वतीय एवं वन निवासियों को प्रसन्न मुद्रा में प्रदर्शित किया है। उनकी प्रसन्नता से यह परिणाम निकलता है कि कुमार ने राजकीय ऐश्वर्य एवं संपत्ति के आकर्षण से धोखा खाए बिना उनको त्यागने का उचित कदम उठाया है। पारंपरिक पहाड़ियों की कगारों पर बंदर रंगरलियां मना रहे हैं; कुछ ऊपर की ओर दृष्टिगोचर होने वाले मोरनियों के जोड़े ने आकाश की ओर अपने सिर उठा लिए हैं और उनकी खुली चोंचों से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे हर्ष से चिल्ला रही हों; यहां तक कि एक चीता भी प्रफुल्लित पशु-पक्षियों के समूह का साथ देने के लिए अपनी कंदरा से निकल आया है। आधे मनुष्य एवं आधे पक्षियों के शरीर से युक्त किन्नर, जो पौराणिक कथाओं के अनुसार स्वर्ग के संगीतज्ञ हैं, अपने आनंद को व्यक्त करने के लिए वीणा एवं अन्य वाद्ययंत्र बजा रहे हैं। एक प्रसन्नचित्त मानवीय दंपत्ति ते मदिरापान एवं कामक्रीड़ा के लिए एक वीरान कोना चुनलिया है। इस दृष्टांत के धार्मिक विषय ने इन सभी विभिन्न अंगों को इतने न्यायोचित रूप से समन्वित किया है कि संपूर्ण संयोजन में प्रत्येक का निजी महत्व है और कोई भी निरर्थक नहीं लगता। रंगों के चयन में भी चित्रकार ने अत्यंत परिष्कृत रुचि का प्रदर्शन किया है। पारंपरिक पहाड़ियों के लाल और उन पर उगे विभिन्न वृक्षों, पौधों, एवं झाड़ियों के हरे रंग से उचित वर्णविपर्यास प्रस्तुत किया गया है। नीले रंग के वितरण एवं मोतियों की आब से मानवीय मुख एवं रूप गहरे तौर पर आभासित-आलोकित हैं। अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलात्मक एवं धार्मिक महत्वों में इस चित्र को कला के इतिहास में वही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, जो रोम के सिस्तीन गिरजे में माइकेलेंजलों की चित्रकला को अथवा मिलान में लियोनार्दो द विंशी के चित्र 'लास्ट सपर' को प्राप्त है; हालांकि अवरोक्त भित्तिचित्र अजंता की मूलाकृतियों से लगभग 900 वर्षों बाद निष्पादित किए गए थे।

अजंता के चित्रकारों ने नारी को विभिन्न आनंददायक मुद्राओं में चित्रित किया है, किंतु फिर भी उसकी नैतिक सौम्यता को सदा बनाए रखा है। वह राजकुमारी, परिचारिका, कृषक, भिक्षुणी, और यहां तक कि नर्तकी के रूप में भी हमारे सम्मुख आती है, किंतु इनमें से किसी भी रूप में चित्रकार ने उसे नीच अथवा दयनीय नहीं बनाया है। इसके विपरीत उसने सदा ही उसे प्रशंसा एवं आराधना के योग्य रूप में प्रस्तुत किया है। चूंकि भारतीय नारियां पृथ्वी पर बैठने की आदी हैं, अतः कुछ मुद्राएं यूरोपीय कला प्रेमी के लिए असाधारण हो सकती हैं क्योंकि वह भारत के जीवन से परिचित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, प्रथम गुहा में सामने के बरामदे की बाईं दीवारपर चित्रित नारी की मुद्रा किसी यूरोपीयन को कुछ असुविधाजनक लग सकती हैं, क्योंकि इसमें टांगें असाधारण रूप से मुड़ी हुई हैं।[5] किंतु सिर एवं शरीर के अन्य भागों के रेखांकन में प्रदर्शित संतुलन इतना निर्दोष है कि वह न केवल उसके अंगों के लोच को अपितु मस्तिष्क एवं व्यवहार की सुंदर सौम्यता को भी प्रकट करता है। अवरोक्त गुण विशेष रूप से वहां दृष्टिगोचर होता है, जहां वह अपने साथ बैठे हुए पुरुष (बोधिसत्व) को विशेष सौम्य भाव से देखती है।

प्रथम गुहा में नारी का एक अन्य मनोहारी चित्रण वह है, जिसे काली शहजादी (ब्लैक प्रिंसेज) कहते हैं और जो पूर्व कक्ष की दाईं ओर के पिछले बरामदे में चित्रित है।[6] इस चित्र में शरीर की समोच्च रेखा अत्यंत शोभायुक्त है और मुखाकृति अत्यंत परिष्कृत है। नेत्रों का निरूपण अत्यंत यथार्थपूर्ण है—पुतलियों का ईषत्कपिश भूरापन तथा कोटों में लाल रंग के हल्के से चिन्ह अत्यंत सजीव प्रभाव प्रस्तुत करते हैं। कनपटी एवं गर्दन के पिछले भाग में बालों का चित्रण केवल समृद्ध कल्पना को ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु उच्चकोटि की कूंची कला का भी परिचय देता है। इसके अतिरिक्त आभूषणों से भी सुंदर रुचि का परिचय मिलता है; मध्य में नीलम रत्न से जड़ित मोतियों का शिरोवेष्टन विशेष रूप से आकर्षक है। मुद्रा की सौम्यता, आलंकारिक विशेषताओं की भव्यता एवं सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए संपूर्ण विश्व की समकालीन कला में ऐसे बहुत कम चित्र हैं, जिन्हें 5वीं ई० शताब्दी की अजंता की इस उत्कृष्ट कला के समानांतर रखा जा सके।

इस काल के चित्रकारों के पास केवल मानवीय एवं पशु आकृतियों को ही विविध रूपों में प्रदर्शित करने की परम दक्षता नहीं थी, अपितु आंतरिक छतों, स्तंभों के आधारों तथा द्वारों एवं गवाक्षों के चौखटों को सजाने की उनकी अलंकारिका प्रतिभा ने भी बहुरूपदर्शी नमूनों एवं अभिप्रायों का सृजन किया। इनमें से प्रत्येक अभिव्यक्ति, अवधारणा की असाधारण शक्ति एवं अत्यंत विकसित तकनीक को प्रदर्शित करती है। प्रथम गुहा की आंतरिक छत पर एक दूसरे से क्रीड़ा करते हुए दो चपल पशुओं को प्रस्तुत करने वाला पटक [7], अथवा उसी गुहा की आंतरिक छत पर ही कमल डंडी पर बैठा हुआ तोता, अथवा गुहा नं० 2 की छत पर उड़ती हुई मुद्रा में निरूपित अर्हत, अथवा गुहा 17 के हाल में विचित्र पशुओं का पटक, अथवा अवरोक्त गुहा की द्वार चौखटों पर चित्रित आनंदोन्मत्त दम्पति, तथा ऐसे अन्य सैंकड़ों चित्र कलाकार के मस्तिष्क की बहुमुखी प्रतिभा, उसके सौंदर्यप्रेम एवं जीवन के प्रति आनंदपूर्ण दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

5वीं ई० शताब्दी में अजंता की चित्रकला की एक अन्य विशिष्टता अद्भुत अभिप्रायों के लिए सहजाभिभूत भावना है। इस प्रवृत्ति ने अन्यथा गंभीर धार्मिक कथाओं को प्रायः नवीन वर्ण प्रदान किया है। उदाहरणार्थ, गुहा 17 की बाईं दीवार पर चित्रित विश्वंतर जातक में जूजक नामक लोलुप ब्राह्मण की कुरूप आकृति, बकरे सदृश उसकी दाढ़ी, टूटे दांत, गंजा सिर एवं खुशामदी मुद्रा तत्काल ही हास्य रस की सृष्टि करती है तथा कथा में दिखाए गए इस ब्राह्मण के स्वभाव की आंतरिक क्रूरता को भुलाने में सहायता देती है। विश्वंतर ने दान के रूप में अपने छोटे बच्चों को इस ब्राह्मण को सौंप दिया था, किंतु उसने उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया था।[8] इसी प्रकार मार की सेना के दैत्यों की कुरूपाकृतियां—शैतान के समान मार भी महात्मा बुद्ध द्वारा ज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालना चाहता था —दृश्य के धार्मिक प्रभाव की गंभीरता को हल्का कर देते हैं और उसमें असंगत हास्य का पुट जोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, बड़े शीर्ष एवं छोटे शरीर वाले दैत्य से किसका ध्यान विकेंद्रित न होगा ? वह भयानक दृष्टि से घूर रहा है और अपनी छोटी उंगलियों से मुख को खोल रहा है—मानों वह महात्मा बुद्ध को डरा रहा हो। इस दैत्य के सिर पर एक श्वेत उलूक बैठा है : भारत में उलूक को दुर्भाग्य का संदेशवाहक माना जाता है।

कुछ आलोचकों ने अजंता की चित्रकला में दृष्टिसीमा के अभाव की चर्चा की है। यह आलोचना आरंभिक भित्तिचित्रों के संबंध में कुछ हद तक सही हो सकती है, किंतु 5वीं ई० शताब्दी में चित्रकार यह भली-भांति जानता था कि अपनी कृति में गहराई अथवा दूरी को किस प्रकार प्रकट किया जाए। प्रथम गुहा के पिछले बरामदे में चित्रित अभिषेक दृश्य में स्तंभीय हाल के रेखांकन से प्रकट होता है कि उस समय तक चित्रकार दृष्टि सीमा के विचार से परिचित हो चुका था। इस चित्र में उसने स्तंभों के रेखांकन में दूरी की भावना का प्रस्तुतीकरण किया है। इसी प्रकार, गुहा 16 की दाईं दीवार पर चित्रित महात्मा बुद्ध के जन्म दृश्य में, जिसमें माया को वृत्ताकार मंडप में शय्या पर लेटे हुए दिखाया गया है, मंडप का चित्रण अत्यंत निर्दोष है। यह स्पष्ट है कि जो दृष्टिसीमा के विचार से अवगत नहीं था, वह वृत्ताकार विषय को इतने सही ढंग से चित्रित नहीं कर सकता था। किंतु पांचवीं ई० शताब्दी की अजंता चित्रकला की प्रशंसा केवल इन तुच्छ विशिष्टताओं के कारण ही नहीं की जाती। इसके विपरीत, तूलिका रेखा के आकर्षक बहाव में, जिसमें सूक्ष्म मोड़ एवं उतार-चढ़ाव है; चमकीले अथवा गहरे रंगों के सुंदर वर्ण-विपर्यास में, जो परिष्कृत रुचि को प्रकट करते हैं; मुद्राओं की विविधता में, जो कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि एवं जीवन के विभिन्न पक्षों में उसके आनंद को प्रकट करती हैं; मानवीय आकृतियों को वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्तियों में तथा नारियों के सुंदर केश विन्यास अथवा उनके वस्त्राभूषणों की सुंदर डिजाइनों में अथवा पुष्पों, पक्षियों एवं यथार्थ अथवा पौराणिक पशुओं के आकर्षक प्रस्तुतीकरण में किए गए अत्यधिक सुंदर अलंकरणकार्य में चित्रकार की दक्षता की प्रशंसा करनी ही चाहिए। भारतीय जीवन से अपरिचित व्यक्ति को आकृतियों का समूहीकरण विस्मयकारी लग सकता है, किंतु कथानक को कहने में प्रत्येक डिजाइन अथवा आकृति का अपना महत्व है, और उनमें से एक को भी निकाल दिया जाए तो कथानक का आनंद जाता रहेगा।

छठी ई० शताब्दी में दकन में वाकाटकों के उत्तराधिकारियों के रूप में चालुक्य आए। वे ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किंतु आरंभ में वे बौद्ध के अनुयायियों के प्रति केवल सहिष्णु ही न थे, अपितु उन्होंने अपनी शिला गुहाओं के स्थापत्य एवं चित्रकला की शैली में उनकी नकल भी की। उनकी राजधानी वातापि अर्थात आधुनिक बादामी में उनके द्वारा विशाल चट्टानों में बनाए गए मंदिर आज भी विद्यमान हैं : यद्यपि उनमें शैव एवं वैष्णव मूर्तियां हैं फिर भी उनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापत्यात्मक शैली बौद्ध विहार की नकल पर है। इनमें से एक गुहा मंदिर, तीसरी गुफा, में चित्रकला के चिह्न हैं जो शैली में अजंता के चित्रों से मिलते हैं। किंतु एक सूक्ष्म पर्यवेक्षक यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यह भी बादामी की चित्रकला, अजंता की गुहाओं 1 एवं 17 की चित्रकला से बहुत बाद की नहीं है फिर भी उनके स्तर में पर्याप्त पतन दृष्टिगोचर होता है। मुखाकृतियों की सौम्यता, अभिव्यक्ति की विविधता तथा रंगों की ताजगी—ये सभी विशेष रूप से ह्रासग्रस्त हैं, तथा कलात्मक कल्पना एवं सृजनात्मक प्रयास का स्थान नीरस रूढ़िवादिता एवं निर्जीव अनुकरण ने ले लिया है। स्वयं अजंता के स्तंभों, आंतरिक छतों एवं गुहा संख्या 9 एवं 10 की चित्रबल्लरियों में दृष्टिगोचर होने वाली छठी ई० शताब्दी की चित्रकला में रूढ़िबद्ध नमूनों की फूल-पत्तियों की डिजाइनों, अथवा आसनासीन एवं प्रत्येक ओर एक एक चौरी धारण करने वाली परिचारिकाओं से युक्त धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में महात्मा बुद्ध का निरूपण किया गया है। अवरोक्त आकृतियां कुछ हद तक धार्मिक सौम्यता को प्रकट करती हैं, फिर भी पुनरावृत्ति के कारण वे नीरस लगती हैं और इसके अतिरिक्त ये निरूपण कलात्मक प्रयास में स्वतंत्रता के अभाव एवं संकुचित अवलोकनशक्ति को प्रकट करते हैं। चित्रकारों द्वारा जातकों के विस्तृत क्षेत्र का त्याग करने का स्पष्ट कारण यह था कि शासक वर्ग और उनके अधिकारी भिन्न धर्मावलंबी थे और उन्हें उन विषयों में कोई रुचि न थी, जो बौद्ध धर्म की गरिमा को प्रकट करते थे। जातकों ने कलाकारों को अपनी पूर्ण कल्पनाशक्ति एवं श्रष्ठ तकनीकी दक्षता को प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान किया था। किंतु अब अत्यंत सुसज्जित सिंहासनों पर आसीन एवं शाही परिचारकों से घिरे हुए देवताओं अथवा राजाओं के निरूपण, उन्हीं के (शासक वर्ग के) धर्म की भव्यता एवं वैभव के अनुरूप थे। छठी ई० शताब्दी के उत्तरार्द्ध से, बौद्ध एवं हिंदू दोनों ही कलाओं में इस वर्ग के निरूपण बड़ी संख्या में मिलते हैं। उनकी उल्लेखनीय नकलें ट्रावनकोर राज्य में पद्मनाभपुरं के भित्ति चित्रों में देखी जा सकती हैं, जो 18 वीं शताब्दी अथवा उसके बाद की हैं।

अजंता की सबसे बाद की रचना मानी जाने वाली 26वीं गुहा में कुछ अभिलेख हैं, जो लिपिज्ञान के आधार पर छठी ई० शताब्दी के बाद के काल में नहीं रखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक कारणोंवश अजंता के विहारों एवं चत्यों ने लगभग इसी समय अपना धार्मिक महत्व खो दिया था; हालांकि ऐल्लोरा में बौद्ध धर्म सातवीं शताब्दी के अंत तक अथवा उसके कुछ बाद भी प्रचलित रहा। ऐल्लोरा के बौद्ध चैत्यों एवं विहारों की आंतरिक छतों में चित्रकला के चिह्न हैं, किंतु उनकी डिजाइनें निश्चित प्रकार की हैं। इनमें फूलों एवं लताओं के नमूने, ज्यामितीय डिजाइनें, आभूषणों की डिजाइनें तथा लकड़ी के काम के मूलभाव हैं। इन सभी के मूल रूपों को अजंता के पूर्ववर्ती चैत्यों की आंतरिक छतों में देखा जा सकता है। ऐल्लोरा में रंगों का संयोजन हलका एवं नीरस है, जो संभवतः मौसमी अवस्थाओं द्वारा किए गए ह्रास के कारण है, क्योंकि अजंता की तुलना में ऐल्लोरा की गुफाओं पर सूर्य के प्रकाश एवं मानसून की वर्षा का अधिक प्रभाव पड़ता है।

महान ब्राह्मणधर्मीय देवालय अर्थात कैलाश के द्वार मंडप की आंतरिक छत में भी चित्रकला की कुछ तहें हैं, जो मंदिर की मूल तराशी की समकालीनी हो सकती हैं, अर्थात 8वीं ई० शताब्दी के मध्य अथवा कुछ बाद की हैं। उनमें से एक में ब्राह्मण देवता को आराधना की मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है। वह शार्दूल पर सवार है, जो सिंह के सिर, गर्दन के बाल एवं पंजों तथा बैल अथवा भैंस के सींगोंवाला विचित्र पौराणिक पशु है। अवधारणा एवं निर्वाह की दृष्टि से इस भगवान के सिर और अजंता की आरंभिक चित्रकला में निरूपित बोधिसत्वों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिरों में बहुत साम्य है। किंतु इस चित्र की अन्य आकृतियां इतने भद्दे रूपों में दिखाई गई हैं कि मुद्राओं की विरूपता के कारण सिरों के निष्पादन में प्रस्तुत आकृतियों का सौंदर्य एवं धार्मिक अभिव्यक्ति का प्रभाव नष्ट हो गया है। अंगों के निरूपण में भी अनुपात का अभाव है; मेघों के पारंपरिक रूप अजंता की नकल पर हैं, लेकिन वर्तमान संदर्भ में उनका संयोजन सामान्यतया निकृष्ट हैं। रंग विन्यास भी परिष्कृत रुचि को प्रस्तुत नहीं करता और इस चित्र के प्रत्येक पक्ष में कलात्मक भाव के ह्रास का अनुभव होता है।

उपर्युस्त द्वार मंडप की आंतरिक छत की वृत्ताकार पट्टी में एक अन्य डिजाइन दृष्टिगोचर होती है, जिसमें यम देवता एवं उसकी पत्नी को भैंसे पर सवार दिखाया गया है। भैंसे के सामने दो सेवक हैं और कुछ आकृतियां पशु के पीछे हैं। केश निरूपण, विशेषकर नारियों का केश विन्यास अजंता शैली में है किंतु कुहनियों एवं घुटनों के कोणात्मक मोड़ तथा आंखों की भयानक टकटकी से पता चलता है कि अंगों को उचित आकार तथा मुखों को उचित अभिव्यक्ति प्रदान करने में चित्रकार की दक्षता समाप्त हो चुकी थी। चूंकि कैलाश की चित्रकला, एक के ऊपर एक जैसी अनेक तहों में पाई गई है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मंदिर की चित्रकला का निष्पादन भिन्न-भिन्न कालों में हुआ था। यम के चित्र को निस्संदेह ही, उसकी निकृष्टशैली के कारण 9वीं अथवा 10वीं ई० शताब्दी में रखना चाहिए।

कैलाश के द्वारमंडप में छत के महराबों में भी कुछ चित्र निष्पादित हैं। उनकी तिथि को अधिक निश्चितता से निर्धारित किया जा सकता है, क्योंकि उनमें मालवा के परमारों का उल्लेख करने वाले अभिलेख हैं। परमारनरेश, 12वीं ई० शताब्दी के दौरान अत्यंत शक्तिशाली थे।[9] महराबों की चित्रकला में युद्ध दृश्य चित्रित हैं, जो भावना एवं तकनीक—दोनों दृष्टियों से उत्तर भारतीय (राजपूत) चित्रकला से अधिक संबंधित होते हैं तथा अजंता की चित्रकला से उनका संबंध कुछ अस्पष्ट लगता है। इन दृश्यों में हाथियों के रेखांकन से द्रुत गति का आभास होता है, किंतु सभी घोड़ों को उत्थापन की मुद्रा में चित्रित करने में कलाकार की चपल कल्पना के कारण उनकी आकृतियां पारंपरिक हो गई हैं।

ऐल्लोरा में जैन मंदिरों के इंद्रसभा समूह की आंतरिक छतें भी चित्रकारी से सुसज्जित हैं। उनमें प्रदर्शित अप्सराओं का चित्रण, अजंता की मूलाकृतियों के अधिक निकट है, न कि उपर्युक्त कैलाश मंदिर की ब्राह्मण गुफाओं के समांतर उदाहरणों से। घरेलू एवं धार्मिक कार्यों से प्रज्वलित की गई अग्नि के ताप एवं धुएं के कालेपन के कारण इन चित्रों के मूल रंगों को अत्यंत क्षति पहुंची है। किंतु जिन स्थलों पर वे अधिक सुरक्षित अवस्था में हैं वहां पर प्रयुक्त रंगों से सिंदूरी रंग के प्रयोग के प्रति चित्रकार का लगाव प्रकट होता है। सांध्यकालीन सिंदूर-वर्णी मेघों के बीच उड़ती हुई गहरे भूरे अथवा श्याम वर्ण की अप्सराओं की आकृतियां पर्याप्त दृष्टिसीमा प्रभाव का परिचय देती हैं तथा उनके अंगों का सौष्ठव एवं उनके आभूषणों व अल्प वस्त्रों का आकर्षण भी प्रशंसनीय है। जैन चित्रकार उत्तम प्रतिलिपिक थे और चूंकि उनके धर्म की भावना एवं बौद्ध धर्म के विचारों में बहुत साम्य है, अतः इंद्र सभा की आंतरिक छतों में चित्रित अप्सराओं की आकृतियां भी मुद्रा के उसी सौंदर्य एवं गति की उसी शोभा तथा आलंकारिक विवरणों से उसी प्रेम की ओर इंगित करती हैं, जो अजंता के विहारों में चित्रित अप्सराओं की आकृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु ऐल्लोरा की चित्रकला शुद्ध रूप से नकल है और किसी सृजनात्मक शक्ति को प्रकट नहीं करती। मूर्तिकला के अध्याय में यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऐल्लोरा के जैन गुहा समूह का निर्माण 9 वीं ई० शताब्दी के दौरान हुआ था। इंद्र सभा की आंतरिक छतों की चित्रकला भी उसी काल की प्रतीत होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन के चित्रकला के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के समापन में यह कथनीय है कि देश के इतिहास के सर्वोत्तम काल की कला भावना एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोणों में प्रमुखतया बौद्ध है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है उसका जन्म बौद्ध धर्म प्रसारकों के आगमन से कई शताब्दियों पहले हो चुका होगा,[10] किंतु इस धर्म के मानवीय सिद्धांतों एवं पवित्र बौद्ध साहित्य में अंतर्निविष्ट किए गए प्रकृति के विभिन्न पक्षों को सामान्य संरचना में बांधनेवाली एकता के सिद्धांत ने चित्रकार को उस अवलोकन शक्ति की प्रेरणा दी, जिसमें प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक जगत के सभी पहलू सम्मिलित थे। भव्य हाथी, सुंदर हंस अथवा अपनी चंचल गति से युक्त स्वतंत्र मृग, शैतान बंदर और यहां तक कि विषैला सर्प भी, जीवन के परिवार के सदस्यों के रूप में एक समान हैं तथा सहानुभूति के दैविक गुणों को प्रदर्शित करने में समर्थ हैं। कलाकार के चित्रों में उनका निरूपण, उनकी सभी प्राकृतिक विशेषताओं के साथ हुआ है, जो उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति एवं शारीरिक विशेषताओं के सूक्ष्म अध्ययन को सिद्ध करता है। राजा एवं रानियां धार्मिक पार्ट अदा करते हैं, किंतु उनका चित्रण सभी इच्छाओं एवं रुचियों के साथ, शिकार अभियान, प्रणय घटनाओं, वनों में निर्वासित जीवन, युद्धदृश्यों तथा दरबार के वैभव-पूर्ण जीवन से युक्त, अर्थात उनके सामान्य जीवन की सभी गतिविधियों के रूप में हुआ है।

सामान्य जनता के घरेलू जीवन का निरूपण भी पूर्ण रूप से हुआ है, तथा चित्रकार ने उनकी बांस की झोंपड़ियों एवं मिट्टी के बर्तनों को प्रस्तुत करने में भी वही उत्साह प्रदर्शित किया है, जो उसने संपूर्ण साज-सामान से युक्त राजत्व के भव्य मंडपों के चित्रण में दिखाया है। वृक्षों एवं प्राकृतिक सौंदर्य ने उनकी कल्पना को विशेष रूप से आर्कषित किया, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने एक वटवृक्ष के नीचे ही बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। अन्य अनेक भव्य वृक्ष भी उनके पूर्व-जन्म के जीवनों से अथवा मैत्रेय के रूप में आगामी जीवन से संबंधित हैं। अतः चित्रकार ने उन्हें विभिन्न रूपों—बसंती वैभव में तथा लाल एवं पीली-भूरी पत्तियों से युक्त शारदीय सौंदर्य में भी चित्रित किया है।

अजंता की चित्रकला की प्रमुख विशेषता मानवीय भावनाएं हैं, किन्तु कुल मिलाकर धार्मिक अंश ने उसे पवित्र स्वर प्रदान किया है तथा अंजता की चित्रकला के संपूर्ण दृश्यपटल में विलासिता का कोई भाव नहीं है। उनमें सुरुचिपूर्णता से नियोजित एवं प्रसन्न मुद्राओं में प्रदर्शित सुंदर रमणियां हैं, किंतु संपूर्ण वातावरण गंभीरता से युक्त है और पृष्ठभूमि में सदा ही जीवन के कटु सत्यों को प्रस्तुत किया गया है। जीवन के सूक्ष्म रूप का निष्पादन सहानुभूति एवं प्रेम से किया गया है, जिसमें पीड़ा एवं दुख आक्रोश एवं निराशा के सभी असुंदर पक्ष तथा हर्ष एवं उन्माद, यश एवं सफलता के चमकीले रंग सम्मिलित हैं, जो दैविक नियम द्वारा नियंत्रित होते हुए भी धार्मिक श्रद्धा एवं आराधना के माध्यम द्वारा मानवीय इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील थे।

निस्संदेह, मानवीय शरीर के सौंदर्य के मानदंड, परमश्रेष्ठ काल में यूरोप के मानदंडों से नहीं मिलते हैं, किंतु रूपों की कमनीय सौम्यता एवं मुद्राओं के आकर्षण, अथवा पुरुषो-चित ओज एवं शक्ति, गतिविधि एवं प्रयास के दृष्टिकोणों से अजंता की चित्रकला भी यूरोपीय उदाहरणों से कुछ कम प्रभावोत्पादक नहीं है। सामान्यतया अभिव्यक्ति की विवि-धता में और विशेषरूप से धार्मिक भावना में अजंता के चित्र यूरोप के अपने समकालीन उदाहरणों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। 'प्रतिच्छायांकन' जैसे तकनीकी विवरण, अजंता में विरल ही दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु गुहा 2 की आंतरिक छत में चारों कोनों के देवदूत तथा स्थूलकाय एवं प्रसन्न गणों की ठोड़ियों के नीचे की ग्रीवाएं गहरे सिंदूरी रंग में चित्रित हैं, जो उनके मुखों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के गौर वर्ण के विपरीत होने के कारण मोटाई का प्रभाव उत्पन्न करता है।[11]

पांचवीं शताब्दी ई० के अंत के निकट चित्रकला का जो बौद्धिक एवं तकनीकी विकास हो चुका था, लगभग छठी शताब्दी ई० के मध्य में उसका ह्रास होने लगा, जब अजंता का स्थान वातापि ले रहा था। यहां पर भिन्न धर्मावलंबी एक नवीन वंश का उदय हुआ था। एलोरा में राष्ट्रकूटों के एक अन्य वंश की उपलब्धियों में अजंता की चित्रकला की पश्चाताभा को देखा जा सकता है, किंतु उसका संपूर्ण वैभव नष्ट हो गया था और वह शीघ्र ही धुंधली होने वाली थी। ऐल्लोरा की इंद्रसभा एवं जगन्नाथसभा की आंतरिक छतों में भी उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, किंतु यह संभवतया दकन में उसकी अंतिम अवस्था थी।

इस चित्रकला की कीर्ति सुदूर स्थित स्थानों में···अफगानिस्तान के ऊंचे-नीचे पर्वतों में, मध्य एशिया के वीरान मरुस्थलों में, चीन की युगयुगीन सांस्कृतिक भूमि में तथा लंका, जावा एवं जापान की समुद्रमेखलीय भूमि में फैली थी, किंतु उसकी जन्मभूमि दकन में ही, आठवीं ई० शताब्दी तक उसका प्रकाश मंद हो गया था,[12] और औरंगाबाद एवं एलोरा के भित्तिचित्रों में हम केवल उसकी अंतिम टिमटिमाहट ही देखते हैं।[13]

संदर्भ

1. प्रो० ल्यूडर्स अपने मत में अत्यंत दृढ़ हैं और वे कहते हैं कि बाईं ओर की दीवार पर चित्रित अभिलेख ई० पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य का है, जबकि अग्रद्वार पर उत्कीर्ण अभिलेख तो उससे भी पहले का है. 'अजंता', भाग iii, I एवं परिशिष्ट, पृ० 86-87.
2. कार्ले एवं कोंडाणे में उत्कीर्ण नृत्याकृतियों का वर्णन पहले ही मूर्तिकला के खंड में किया जा चुका है
3. 'वाकाटक इंसक्रिप्सन इन केव xvi ऐट अजंता', है० आ० सि०, नं० 14, पृ० 2-10 ; 'ज० बा० ब्रां० रा० ऐ० सो०', खंड vii (1862), पृ० 56 से; 'केव टेंपल्स आफ वेस्टर्न इंडिया', 'आ० स० ई०', 1882, पृ० 69 से एवं 'आ० स० वे० इं०', खंड iv (1883), पृ० 124 से.
4. उसकी तादात्म्यता बोधिसत्व पद्मपाणी से भी की गई है, क्योंकि प्रतिमागृह के प्रवेशद्वार के दोनों ओर के बौद्ध चैत्यों में सामान्यतया बोधिसत्व पद्मपाणी एवं वज्रपाणी की आकृतियां उत्कीर्ण अथवा चित्रित हैं. इस गुफा में बोधिसत्व के दाएं हाथ में कमलपुष्प (पद्म) है.
5. 'अजंता', भाग i, फलक x स.
6. वही, फलक xxxiii.
7. वही, फलक xxxix ब.
8. पूर्णकथा के लिए देखिए, 'जातक' (अंगरेजी अनुवाद), कैंब्रिज संस्करण, खंड vi, पृ० 246-305.
9. इन चित्रों के विवरण के लिए देखिए लेखक का लेख 'द फ्रैस्को पेंटिंग्स आफ एलोरा' (पृ० 9), जो 1928 ई० में आक्सफोर्ड में हुए अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य सम्मेलन में पढ़ा गया. और देखिए 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ दि आर्किअलोजिकल डिपार्टमेंट आफ हैदराबाद', 1933-4, फलक 1.
10. 1914 ई० से रायचुर जिले में अशोक के तीन शिलालेख प्राप्त हो चुके हैं : एक मस्की से और शेष दो कोप्बल से। ये दोनों ही स्थान दकन के प्राचीन स्वर्ण क्षेत्र में स्थित हैं. इन अभिलेखों से संबंधित अधिक विस्तृत वर्णन के लिए 'है० आ० सि०' के बिनिबंध सं० 1 एवं 10 देखिए.
11. देखिए 'अजंता', भाग ii, फलक xxx.
12. ग्वालियर राज्य में बाग एवं पुदुकोट्टै राज्य में सित्तन्नवासल के भित्तिचित्र, मालवा एवं दक्षिणी भारत में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अजंता की चित्रकला के प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं. बाग की चित्रकला, पूर्ववर्ती होने के कारण (5 वीं अथवा छठी ई० शताब्दी, सित्तन्नवासल के भित्तिचित्रों की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण शैली में है. विशेषज्ञों ने सित्तन्नवासल के चित्रों को 7वीं ई० शताब्दी का बताया है.

13. जी० याज़दानी : 'इंडियन आर्ट आफ दि बुद्धिस्ट पीरियड', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1937, पृ० 14.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट अ

मृण्मूर्तियां

प्राचीनकाल में स्वर्णकारों की कला के समान ही कुम्हार की कला भी मूर्तिकला से निकट रूप में संबंधित प्रतीत होती है। संभवतः कुम्हार एवं मूर्तिकार के धार्मिक आदर्श समान थे और वे प्रायः भिन्न माध्यम से एक से ही अथवा मिलते-जुलते रूप एवं कलात्मक अभिप्रायों की रचना करते थे। मूर्तिकार का माध्यम पत्थर अथवा धातु अथवा लकड़ी था, तथा कुम्हार मिट्टी का प्रयोग करता था, जो पका ली जाती थी और अंत में विभिन्न रंगों के घोलों से उसकी परिसज्जा पूर्ण की जाती थी।

दकन के प्राचीन धार्मिक स्थलों में किए गए उत्खननों में बड़ी संख्या में मृण्मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इस दृष्टि से कोंदापुर ग्राम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जो हैदराबाद से पश्चिमी-उत्तरपश्चिमी दिशा में लगभग 43 मील दूर स्थित है। यह संभवतः प्राचीरयुक्त उन तीस नगरों में से एक था, जिनका उल्लेख प्लिनी ने अपने ग्रंथ में किया है, क्योंकि वहां अत्यंत विकसित संस्कृति को प्रकट करने वाले सिक्के एवं अन्य अवशेष बड़ी संख्या में पाए गए हैं। मृण्मूर्तियों की संख्या भी सैकड़ों में है। ये छोटी छोटी मूर्तियां बोधिसत्वों, यक्षों, यक्षिणियों तथा अन्य धार्मिक अथवा अर्ध-धार्मिक व्यक्तित्वों की हैं। पशुओं का भी निरूपण हुआ है और उनमें घरेलू जानवरों में बैल, अश्व एवं भेड़ा तथा जंगली में शेर सम्मिलित हैं। तोते की आकृति भी प्राप्त हुई है। अन्य प्राप्त वस्तुओं में आलंकारिक डिजाइनों से युक्त मृद्भांडों के टुकड़े हैं। वे अपनी संरचना में अत्यंत पतले हैं तथा कलात्मक आकारों एवं सुंदर चमक से युक्त हैं। कुछ टुकड़ों के परीक्षण से पता चलता है कि वे चीनी मिट्टी के बने थे, जबकि अन्य सुंदर लाल मिट्टी के हैं। बर्तनों पर विभिन्न मोटाई वाले घोलों का लेप है—घोलों का रंग हल्का पीला अथवा हल्का गुलाबी है। बर्तनों पर चित्रित डिजाइनें भी अत्यंत आकर्षक हैं; आलंकारिक अभिप्रायों के अतिरिक्त उनमें अनेक धार्मिक चिह्न भी हैं, जिनमें से एक आधा खुला हुआ कमल भी है। एक अन्य उदाहरण में पवित्र चक्र का निरूपण है, जो चौथी पंक्ति में दाएं से दूसरे नंबर पर देखा जा सकता है। एक अन्य उदाहरण पूर्ण खुले एवं पल्लवित कमल का है जो अमरावती की मूर्तिकला में प्रायः दृष्टिगोचर होता है। कोंदापुर के पुरावशेष उसी के समकालीनी प्रतीत होते हैं।

देवताओं अथवा धार्मिक व्यक्तित्वों को प्रस्तुत करने वाली लघुमूर्तियां चीनी मिट्टी की बनी हुई हैं तथा सुंदर ढलाई एवं आनंददायक रेखांकन को प्रकट करती हैं। चूंकि इन देवताओं की आकृतियां मोटी एवं छोटी नाकों, मोटे ओठ, तथा गोल अथवा अंडाकार मुखों से युक्त अनार्य आकृतियां हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जब कुम्हार ने देवताओं की मूर्तियों को ढाला तो उसके मस्तिष्क में अपनी ही जाति के लोग थे। केश एवं शिरोभूषण, यथार्थता की अपेक्षा अधिक पारंपरिक हैं। बोधिसत्व को प्रस्तुत करने वाली लघुमूर्ति में केशों को पारंपरिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सख्त कुंडलियों के रूप में दिखाया गया है। यह फैशन ई० दूसरी शताब्दी से उतरी भारत में महात्मा बुद्ध के केशों की प्रमुख विशेषता बन गया था और वह उसी समय अथवा संभवतः एक शताब्दी बाद दकन पहुंचा। एक अन्य बोधिसत्व अथवा यक्ष को प्रस्तुत करने वाले शीर्ष में एक विस्तृत शिरोभूषण है, किंतु इस लघुमूर्ति की प्रमुख विशेषता भोलेपन एवं निर्मलता का प्रभाव है, जो चेहरे द्वारा अत्यंत प्रशंसनीय ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। अन्य कलाकृति में दो विभिन्न व्यक्तित्व प्रस्तुत किए गए हैं जिनके शिरोभूषण भिन्न प्रकार के हैं, उनके मुखों की अभिव्यक्तियां भी आंतरिक शांति को प्रकट करती हैं। उनमें से एक के ओठों पर मुस्कान है। अन्य मूर्ति के केश उसके कानों एवं गले तक सजे हुए हैं और अंत में ऊपर मोड़ देकर घुंघराले कर दिए गए हैं। इस प्रकार का केशविन्यास एक अन्य कलाकृति में प्रस्तुत दो शीर्षों में अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन दो मूर्तियों की चौड़ी एवं प्रमुख नाकें और केशविन्यास की शैली, कभी कभी यूरोपीय कला में पाए जाने वाले उन बांके मूर्खों एवं शराबियों के चित्रण की याद दिलाते हैं, जो मध्ययुगीन पांडुलिपियों के चित्रित हाशियों, प्रधान गिरजों एवं छोटे गिरजों में पनालों के पत्थरों की नक्काशी अथवा होगार्थ की उत्तरकालीन औपदेशिक चित्रकला में मिलते हैं। यह भी संभव है कि दकन के कारीगरों ने इन मूर्तियों की नकल समकालीन रोमन उदाहरणों से की थी; क्योंकि कोंदापुर में पकी मिट्टी के ऐसे आभूषण प्राप्त हुए हैं, जिन पर सिक्कों की आकृतियों के छापे हैं। साहित्यिक प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि भारत के पश्चिमी तट पर स्थित बेरीगजा (आधुनिक भड़ौच) के प्राचीन बंदरगाह के माध्यम से दकन एवं भूमध्यसागरीय प्रदेशों के बीच विस्तृत व्यापार होता था।[1]

एक अन्य कलाकृति में दिया गया बोधिसत्व का सिर, पांचवीं ई० शताब्दी के अन्य दकनी मूर्तियों के नमूने पर बनाया गया है, किंतु द्रविड़ों जैसी मोटी नाक उसे पूर्ववर्ती उत्पत्ति संभवतः तृतीय ई० शताब्दी का बताती है। इस लघुमूर्ति का उपशम एवं आंतरिक शांति उत्कृष्ट हैं। विस्तृत शिरोभूषण से युक्त यक्ष कुबेर हो सकता है, जो ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के दौरान बौद्धों का अत्यंत लोकप्रिय देवता था। शिरोभूषण के अलंकरण की शैली कुछ हद तक पश्चिमी भारत में गुहामंदिरों के उन शक अथवा पार्थियन दाताओं के शिरोवस्त्रों के अलंकरण से मिलती है, जिनकी मूर्तियां कोंडाणे एवं अन्य बौद्ध धार्मिक स्थलों में दृष्टिगोचर होती हैं।[2]

पशु आकृतियों को प्रस्तुत करने वाली मृण्मूर्तियों में स्पष्ट कारीगरी तथा यथार्थता की ओर उन्मुख एक निश्चित प्रवृत्ति प्रकट होती है। भेड़ का सिर अवरोक्त प्रवृत्ति का ही एक उत्तम उदाहरण है, हालांकि इस पशु की गर्दन पर बने ऊन के गुच्छों से यह आकृति परंपरावादी प्रतीत होती है। इसी प्रकार सिंह की गर्दन के बालों में भी वही पारंपरिक प्रभाव है। सामान्य दृष्टि से सिंह तथा अश्व एवं बैल के निरूपण भी कुछ नाटे एवं मोटे हैं। बैल के छोटे एवं मोटे सींग, उसके थूथुन तथा ग्रीवाभूषण 10वीं से 13वीं शताब्दी के तेलिंगाना के शैव मंदिरों में स्थित नंदियों से बहुत मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में कुम्हारों द्वारा स्थापित उपर्युक्त विशेषताओं की परंपराएं बाद में लगभग एक सहस्राब्दि तक दकन के मूर्तिकारों द्वारा अपनाई गई थीं।

कोंदापुर से कुछ निष्कृट प्रकार की लघु मृण्मूर्तियां भी मिली हैं। वे हारिती एवं पृथ्वी मातृ देवी का निरूपण करती हैं। पृथ्वी देवी के उदाहरण बड़ी संख्या में मिले हैं। उनकी कारीगरी कुछ भद्दी है और वे लाल मिट्टी के बने हुए तथा ठोस हैं, जबकि चीनी मिट्टी से बनी उपर्युक्त लघुमूर्तियां खोखली हैं और ढांचों में बनी थीं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैदराबाद के पुरातत्व विभाग द्वारा पैठन एवं मस्की में किए गए उत्खननों में अनेक लघु मृण्मूर्तियां मिली हैं, किंतु वे उतनी सुंदर कारीगरी को प्रकट नहीं करतीं, जैसी कोंदापुर की लघुमूर्तियों में मिलती हैं। मस्की एवं पैठन की इन मृण्मूर्तियों में प्रदर्शित केशविन्यास एवं केशालंकरण की विस्तृत शैली, बौद्ध विहारों की कुछ आरंभिक मूर्तियों की शैली से बहुत साम्य रखती है। इस अवरोक्त श्रेणी में भाजा में उत्कीर्ण मूर्ति का शिरोवस्त्र विशेष रूप से उल्लेनीय है।

सामग्री की निकृष्टता, महत्वहीन आकार तथा मृण्मूर्तियों का नाजुक स्वरूप—ये सभी स्पष्ट दोष हैं, जिनके कारण उन्हें निश्चित रूप से कला कृतियां नहीं माना जा सकता। किंतु इन लघुमूर्तियों को वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्तियां प्रदान करने अथवा उन्हें इतने यथार्थरूप में बनाने में कारीगर की दक्षता से इनकार नहीं किया जा सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट ब

दकन की मूर्तिकला एवं चित्रकला में निरूपित नृत्यकला

इस अध्याय के मूर्तिकला एवं चित्रकला के खंडों में पहले ही कुछ नृत्य दृश्यों का उल्लेख किया जा चुका है। ऐसे ही उल्लेख उन अन्य लोगों ने भी किए होंगे, जो आरंभिक काल में दकन की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों की चर्चा करते हैं। इस वर्तमान टिप्पणी का उद्देश्य, नृत्यकला के कुछ ऐसे पक्षों से छात्रों को परिचित कराना है, जो वास्तव में अमल किए जाते थे और जो दकन की मूर्तिकला अथवा चित्रकला में प्रदर्शित किए गए हैं। किंतु इस निबंध में साहित्य अथवा परंपरा पर आधारित भारतीय नृत्यकला का इतिहास नहीं मिलेगा, तथा इसके लिये छात्रों को इस विषय के मानक ग्रंथ देखने चाहिए।[3]

कोंडाणे एवं कार्ले की चैत्य गुहाओं की मूर्तियां लगभग एकही समय अर्थात ई०पू० प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी की हैं, और ये मूर्तियां अजंता की चैत्यगुहा (नं० 10) की बाईं दीवार के चित्र की भी समकालीन अथवा किंचित बाद की हैं। अजंता का यह चित्र लिपिज्ञान के आधार पर ई० पू० दूसरी शताब्दी के पूर्व भाग में रखा गया है। चूंकि इस चित्र में प्रदर्शित नर्तकियों के नृत्य पग एवं मुद्राएं उतनी स्पष्ट नहीं हैं, जितनी कोंडाणे एवं कार्ले की मूर्तियों में है; अतः यदि अवरोक्त स्थलों में प्रदर्शित नृत्य पगों एवं मुद्राओं का अध्ययन पहले किया जाए तो वह छात्रों के लिए अधिक लाभकारी होगा।

कोंडाणे की कला निरूपित करने वाले चार पटकों कोंडाणे की कला अविकसित ढंग की है, जिनमें केवल कूदना एवं घूमना है, जो आज भी भारत एवं उसकी सीमावर्ती आदिवासी जातियों के नृत्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु कोंडाणे में उत्कीर्ण चारों पटल में एक अत्यंत विकसित कला प्रस्तुत है, जिनमें पारस्पर्य एवं संतुलन को प्रशंसनीय ढंग से निभाया गया है। यह कलाकारों के अंगों की सौम्य गति एवं उनकी भावनातमक मुद्राओं के आकर्षक प्रदर्शन में स्पष्ट दिखाई देता है। एक पटक में तीन कलाकार हैं—पुरुष मध्य में है और उसके दोनों ओर एक एक नर्तकी है। नर्तक एवं उसकी बाईं ओर की नर्तकी के अंगों के द्वारा इंगित लोच एवं गति उनकी आसक्त क्रीड़ा के सुभावों के अनुरूप है। नर्तक अपने हाथों से नर्तकी की ठोड़ी को प्रेमपूर्वक सहलाने के लिए अपने हाथ को आगे बढ़ाए हुए है, जबकि उसने नर्तकी की मेखला के किनारे को उंगली से पकड़ने के लिए अपने हाथ को ललिताभिनयपूर्वक नीचे गिरा रखा है। इस नर्तकी का दूसरा हाथ शोभा से मुड़ा हुआ है और कूल्हे पर रखा है। दोनों ही आकृतियों के [घु]टने गतिशीलता का आभास देते हैं, मानों वे नृत्य कर रहे हों—संभवतः लटकते हुए लोलक के समान वैकल्पिक रूप से आगे एवं पीछे पग रख रहे हैं। इस पटक में नर्तकी की आकृति की दाईं ओर प्रदर्शित तीसरी कलाकार भी नृत्य कर रही हैं, किंतु वह अपनी निजी मुद्रा को ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
निष्पादित करती हुई प्रतीत होती है। फिर भी वह स्पष्टरूप से तीन के समूह का अंग है, क्योंकि वह अपने हाथ को पुरुष नर्तक के धनुष के तार पर रखे है। धनुषतार पर अपना हाथ रखते हुए भी वह आगे-पीछे पग धर रही होगी अथवा अर्द्धवृत्त में घूम रही होगी और इस प्रकार वह नृत्य के अन्य दो कलाकारों से संबंधित है।

दूसरे पटक में नर्तक केवल एक ही नर्तकी के साथ है, जिसने नृत्य की गति में उसके कटिवस्त्र को पकड़ लिया है। पहले पटक में धनुष और इस पटक में उसके द्वारा धारण किए गए भारी दंड अथवा गदा से नर्तक का योद्धा होना प्रमाणित होता है। दोनों ही आकृतियों के सिरों का झुकाव एवं जिस प्रकार से उनके हाथ एक दूसरे की ओर बढ़े हुए हैं, वे सौम्यतापूर्ण कामक्रीड़ा की ओर इंगित करते हैं तथा संतुलित मुद्रा प्रदर्शित करते हैं; जबकि झुके हुए घुटने तथा पंजों पर शरीर का दबाव, मंद नृत्य के सुगम लयपूर्ण पग से लेकर पोल्का अर्थात तेजी से चक्कर काटने तक की किसी भी मुद्रा का प्राक्कथन हो सकता है।

तीसरे पटक में नर्तक ने दूसरी स्थिति अपनाई है—नर्तकी को अपनी दाईं ओर रखा है और अपने सिर को उसकी ओर झुकाया है तथा कटिमेखला को अपने आगे बढ़े हुए हाथ से पकड़ा है। इस पटक में नर्तक की मुद्रा द्रुतगतिविधि को प्रदर्शित करती है, जबकि अपने साथी द्वारा नृत्य के दौरान अकेला छोड़ दिए जाने पर नर्तकी, हंससदृश मंद एवं सौम्य गति से चलती है।

चौथे पटक में नर्तक अकेला ही है। उसके हाथ में एक आयताकार ढाल बंधी है। उसका बायां हाथ शोभा से मुड़ा हुआ है तथा अपने बाएं पांव को मोड़ कर दाएं पांव के पीछे इस प्रकार से रख लिया है कि उसके बाएं पांव का पंजा, दाएं पांव के पंजे पर आधारित है। दायां पांव एवं पंजा दृढ़तापूर्वक जमीन पर टिके हैं और संपूर्ण शरीर एक सुंदर एवं आकर्षक रूप में उसी पर आधारित प्रतीत होता है। यह एक विशेष नृत्यमुद्रा हो सकती है अथवा दर्शकों की प्रशंसा को स्वीकार करने का मान्य तरीका हो सकता है क्योंकि यह स्पष्ट रूप से पिछले तीन पटकों में प्रदर्शित नृत्य का अन्तिम चरण है।

नर्तक के मुख पर मुस्कान है तथा उसकी मुखाकृति एवं वेषभूषा पूर्णरूप से अनार्य है। यह ध्यातव्य है कि ईसा से पहले की शताब्दियों में भी दकन के लोगों में नृत्यकला स्पष्ट रूप से अत्यंत विकसित थी, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि कोंडाणे की चैत्यगुहा ई० पू० द्वितीय शताब्दी में बनी थी।

कार्ले के चैत्य के अग्रद्वार पर, जो लगभग कोंडाणे के उदाहरण का समकालीन है, 12 पटकों में नर्तकों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। स्थानाभाव के कारण यहां पर उन सभी का वर्णन करना संभव न होगा, किंतु उनमें से चार का अध्ययन नीचे किया गया है, क्योंकि वे मुद्रा की शोभा एवं गतिशीलता की तत्परता को अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हैं। इनमें से एक में पुरुषों एवं नारियों के जोड़ों के रूप में प्रस्तुत इन नर्तकों के वस्त्रों एवं आभूषणों से पता चलता है कि वे आदिवासी हैं। पुरुषाकृतियों ने पगड़ियों की तरह अपने सिरों पर एक छोटा सा कपड़ा बांध रखा है, उनके जंघवस्त्र भी अत्यंत तंग हैं, किंतु वे कलात्मक रूप से धारण किए गए हैं। सभी आकृतियों के हाथों एवं स्कंधों पर पड़ी ओढ़नियां भी सुरुचिपूर्वक नियोजित की गई हैं। आभूषण काफी भारी एवं ठोस हैं, किंतु वे बड़ी संख्या में हैं और नर्तकी युगलों के उल्लास भाव के अनुरूप हैं।

भारतीय नारियां बाल्यावस्था से ही भारी नूपुरों का प्रयोग करती थीं, जिससे उनकी टांगों की आकृति पर बुरा प्रभाव पड़ता था, और संभवतः यही कारण था कि सामान्यतया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन की मूर्तिकला एवं चित्रकला दोनों में ही उनके निम्न भाग अनुपात से अधिक पतले प्रदर्शित किए गए हैं। आरंभिक काल में यह विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

पुरुष एवं स्त्री दोनों ने अपने शरीरों को मोड़ लिया है, किंतु उनकी टांगों की स्थिति द्रुतगति का संकेत करती हैं—एक प्रकार के दो पग की लय या फाक्स-ट्राट (लोमड़ी की चाल) नामक नृत्य की लय प्रदर्शित करती है। वे प्रेमपूर्वक अपने हाथ एक दूसरे के कंधों पर रखे हैं तथा मुख पर दृष्टिगोचर होने वाले संतुष्टिभाव की अभिव्यक्ति से युक्त नारी का झुका हुआ सिर अत्यंत प्रभावपूर्ण है। उसने अपनी कलाइयों में हाथी दांत अथवा शंख की चूड़ियों के बड़े सेट[1] तथा पांव में धातु के भारी नूपुर पहने हैं। कमर के चारों ओर का पांच लड़ी वाला आभूषण भी आकर्षक रूप से निष्पादित किया गया है।

अगला निरूपण संभवतः नृत्य का उल्टा रूप प्रस्तुत करता है; पिछले दृश्य में स्त्री अपने पुरुष साथी की बाईं ओर थी किंतु अब उसके दाएं है। उसने अपने हाथों को उठाकर जोड़ लिया है, मानो वह अपने साथी से थक कर भाग जाना चाहती हो, हालांकि वह अब भी उसे पकड़े हुए प्रदर्शित किया गया है। कृत्रिम संघर्ष में उसके वस्त्र बिखर गए हैं। यह कामभावना का संकेत करने की विधि है।

तीसरा निरूपण भी पुनः युगल को नृत्य करते हुए प्रदर्शित करता है। प्रस्तुत मुद्रा से नर्तकी के पग छोटे किंतु द्रुत प्रतीत होते हैं तथा तुलनात्मक दृष्टि से नर्तक के पग बड़े किंतु मंद हैं। नृत्य में अपना संतुलन बनाए रखने के लिए नर्तकी ने अपना एक हाथ अपने पुरुष साथी की कमर में डाल रखा है, जबकि दूसरे हाथ से उसने अपने सिर की ओढ़नी अथवा आभूषण को उठाया है जिससे भावनात्मकता प्रकट होती है। नर्तक ने अपने साथी के कंधों पर प्रेमपूर्वक अपना हाथ रखा है और उसके झुके हुए सिर से प्रकट होता है कि वह नर्तकी के प्रेमभाव को स्वीकार कर रहा है।

अंतिम निरूपण दोनों मूर्तियों को ऐसे प्रस्तुत करता है मानों वे अभी अभी रुके हों; उनकी मुद्राओं से पता चलता है कि उनका नृत्य उसी क्षण समाप्त हुआ है। नृत्य की गति से नर्तकी की कमर का आभूषण तथा नर्तक की वस्त्रमेखला अव्यवस्थित हो गई है। नर्तकी के मुख पर आनंद एवं प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है, जबकि उसके साथी की मुखाकृति भी हर्ष-भाव ही प्रकट करती है। वह अपने वांए हाथ में फूलों का गुलदस्ता अथवा एक बड़ा कमल पुष्प पकड़े हुए है। नर्तकी के आभूषणों में नूपुर विशेष रूप से मोटे एवं भारी हैं।

अजंता का प्राचीनतम चित्र, जिसमें नृत्यकला का निरूपण हुआ है, गुहा 10 की पश्चिम दीवार वाला है। जैसा ऊपर कहा चुका है, वह कम से कम ई० पू० द्वितीय शताब्दी का तो है ही।[5] इस चित्र का धार्मिक महत्व है, क्योंकि नृत्य को बोधिवृक्ष के नीचे दिखाया गया है, जिसके नीचे गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसमें 15 कलाकार हैं, जिनमें से तीन नर्तकियां हैं और शेष संगीतज्ञ हैं। वे सभी स्त्रियां हैं। स्पष्टतः ये स्त्रियां संघ से संलग्न वादकवृंद की ही सदस्या थीं। इस संघ के उद्यान में ही बोधिवृक्ष को दिखाया गया है। दो संगीतज्ञों के पास बड़े बिगुल हैं, जो सींग अथवा धातु के होंगे। शेष अपने हाथों से तालियां बजा रहे हैं। यह विधि आज भी भारत एवं अन्य प्राच्य देशों में समय का अंतर रखने अथवा संगीत में उच्च स्वर का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होती है। नर्तकियों में से एक ने अपने हाथों को इस प्रकार से उठा-कर मोड़ रखा है, जैसे वह अपने पंजों पर घूमने ही वाली हो। अन्य दो ने अपनी एकएक टांग को मोड़कर अपने शरीरों को एक ओर झुका दिया है। उन्होंने अपने दाएं हाथ को सौम्यतापूर्वक ऊपर की ओर उठा लिया है तथा उनके अंगूठों के अग्रभाग को अपने सिरों पर रख दिया है, जबकि बायां

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
हाथ उसी ओर के कूल्हे पर रखा है। इस मुद्रा का उद्देश्य लहरदार छोटे पगों पर नृत्य करते समय शरीर के संतुलन को बनाए रखना, तथा अपने दाएं एवं बांए हाथों से दो सुंदर छल्ले बनाकर प्रभावपूर्ण मुद्रा का निरूपण करना भी था। ठीक यही मुद्रा एवं पग आज भी भारतीय नृत्यकला में देखे जा सकते हैं। किंतु ध्यातव्य तो यह है कि वे ई० पू० द्वितीय शताब्दी में प्रचलित थे और उससे भी पहले आरंभ हुए होंगे।

इस शैली की नृत्यकला का स्पष्टतर चित्रण महाजनक जातक की एक घटना में हुआ है, जो प्रथम गुहा की पश्चिमी दीवार पर चित्रित है। यह गुहा, गुहा 10 से लगभग 7 शताब्दी बाद की है। इस चित्र में नर्तकी ने पट्टीदार रेशमी लहंगा तथा जरी अथवा अन्य कढ़ाई की पूरी बांह वाला छोटा कोट (जैकिट) पहना है। उसके आभूषणों में बहुमूल्य रत्न हैं तथा उसके मुकुट एवं केशसज्जा से पता चलता है कि नर्तकियों को अपनी कला के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त शुल्क प्राप्त होता था। इस चित्र में नर्तकी की मुद्रा लगभग वैसी है जैसी गुहा 10 में दो नर्तकियों की है; किंतु उसके हाथों, कलाइयों एवं भुजाओं के मोड़ से एक भावनात्मक गहनता का आभास होता है, जो स्पष्टत: शरीर के अन्य अंगों की गतियों के अनुरूप हैं तथा नृत्यकला के मनोविज्ञान एवं आदर्शों में स्पष्ट प्रगति का परिचय देते हैं। नाट्यप्रदर्शन में नर्तकी की सहायता के लिए संगीतज्ञों का समूह है और उसमें भी सभी नारियां हैं। उनमें से दो मजीरे बजा रही हैं, एक तबले के जोड़े पर ताल दे रही हैं। एक अन्य स्त्री मृदंग (दो भागों के बीच एक तंग छल्ले से युक्त दुहरा ढोल) बजा रही है और एक गिटार अथवा तारों वाला वाद्य-यंत्र बजा रही है, जिसके अंत में एक तुम्बा है, दो स्त्रियां बांसुरी वादन कर रही हैं। वाद्ययंत्रों की भिन्नता भी संगीत कला के विकास को प्रकट करती है। इस चित्र में चित्रित दोनों तबलों के तुम्बों के चारों ओर चमड़े की पट्टियां हैं, जो आज भी तबलों में बंधी होती होती हैं। प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री सर सी० वी० रमण का विचार है कि भारतीय तबला अपने किस्म का प्रथम यंत्र था, जिससे संगीत के सातों स्वर निकाले जा सकते थे। यह प्रभाव ऊपरी चर्म को भूरे, श्वेत एवं काले वृत्ताकार पट्टों में बांट कर उत्पन्न किया जाता था। ये तीनों ही भिन्न भिन्न मोटाई के होते थे। इसके अतिरिक्त, ऊपरी चर्म के खिंचाव के लिए तबले के तुम्बे के चारों ओर 16 तार बांध दिए जाते थे। यह यंत्र पूर्व से पश्चिम की ओर गया। यद्यपि ताशे एवं मध्यकर्णी ढोल से भी सातों स्वर निकाले जा सकते हैं, और यद्यपि बीथोवन ने भी मध्यकर्णी ढोल का प्रयोग एक स्वतंत्र वाद्ययंत्र के रूप में किया है, फिर भी भारत में तबले का प्रयोग बहुत पहले आरंभ हो गया था, जिसका प्रमाण 5वीं ई० शताब्दी के इस चित्र में मिलता है।

प्रथम गुहा में आगे की वीथिका की बाईं दीवार पर एक अन्य नृत्य दृश्य चित्रित है। यह चित्र काफी खंडित है, किंतु दो नर्तकियों की आकृतियां सुगमता से पहचानी जा सकती हैं इस नृत्य का प्रदर्शन शाही मंडप में दिखाया गया है, जहां पर एक नाग राजा एवं रानी कामुक मुद्रा में गद्दी पर आसीन हैं। परिचारिकाओं अथवा पुरुष अंगरक्षकों की बड़ी संख्या अल्पाहार (?) परोसने अथवा नृत्य देखने में व्यस्त है। नाग नरेश एवं उसकी शाही पत्नी के ठीक सामने की ओर स्थित दो स्तंभों के बीच राजकुमार सा व्यक्ति बैठा हुआ दृष्टिगोचर होता है, जो कढ़ाई के काम से युक्त लंबा कोट पहने हुए है, जिसकी डिजाइनों में हंसों एवं बैलों की आकृतियां पहचानी जा सकती हैं।

नाग दंपति के निकट की नर्तकी के पग हमारे लिए स्पष्ट नहीं है, क्योंकि वह दंपत्ति को प्रणय करने में पूर्ण एकांतवास प्रदान करने के उद्देश्य से गद्दी के पीछे चली गई हैं। किंतु उसकी उठी हुई भुजा तथा हाथ की छोटी छड़ी से प्रकट होता है कि वह अब भी नृत्य कर रही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, जब कि उसकी आंखों के किनारे की ओर की लंबी शैतान दृष्टि से पता चलता है कि वह शाही दंपत्ति के क्रीड़ा कौतुक का भी मजा ले रही है।

मुख्य नर्तकी को नाग रानी के पांवों के पास देखा जा सकता है, किंतु कलाकार का मुख उस कुमार की ओर है, जो कढ़ाईदार लंबे कोट से सज्जित हैं। मूल चित्र में नर्तकी के शरीर का निम्न भाग अत्यंत नष्ट हो चुका है किंतु कूल्हे पर रखे गए हाथ घुटने से मुड़ी एवं बाईं टांग के घुटने तक उठी हुई दाईं टांग को आसानी से पहचाना जा सकता है। इससे यह प्रकट होता है कि नर्तकी एक पांव पर स्थित है, तथा उतार-चढ़ाव से पूर्ण तरंगित गति के लिए तैयार है। इस चित्र में नर्तकी का सिर अत्यंत आकर्षक मुद्रा में निरूपित किया गया है।

अजंता की प्रथम गुहा के उपर्युक्त दो नृत्यदृश्यों से लगभग एक शताब्दी बाद, गुहा 7 की औरंगाबाद मूर्ति आती है। इसमें सात कलाकारों का समूह प्रस्तुत किया गया है, जिनमें से बीच वाली नर्तकी है। चूंकि यह दृश्य मठ के प्रतिमागृह में उत्कीर्ण है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह ऐसे नृत्य को प्रस्तुत कर रहा है, जो कुछ त्योहारों के अवसर पर संपूर्ण संस्कार के अंग के रूप में बौद्ध चैत्यों में प्रचलित था। नर्तकी की मुद्रा एवं वादकवृंद के वाद्ययंत्रों की दृष्टि से इस मूर्ति तथा अजंता की प्रथम गुहा के बाएं बरामदे की दीवार पर चित्रित नृत्यदृश्य में काफी समानता हैं। किंतु अजंता के चित्र में दृष्टिगोचर होने वाली कलात्मक वेशभूषा इस मूर्ति में दिखाई नहीं देती है। शरीर की मुद्रा एवं गतिशीलता का आभास, चित्र की अपेक्षा मूर्ति में अवश्य ही अधिक प्रभावशाली है। नर्तकी का केवल दाएं पैर का पंजा ही भूमि पर टिका है, किंतु घुटने से मुड़ा होते हुए भी, दाईं टांग ही नर्तकी को उस समय सहारा देती होगी, जब वह शोभायुक्त घुमावों में घूमती अथवा आगे और पीछे अथवा दाएं-बाएं की ओर पग धरती होगी। इस समूह में प्रदर्शित किए गए वाद्ययंत्र हैं—मजीरे, बांसुरी, तबले का जोड़ा एवं गोल ढोल।

मध्य युग (8 वीं-13 वीं शताब्दियां) में शाक्त धर्म के प्रभाव से बौद्ध मंदिरों से संलग्न नर्तकों एवं संगीतज्ञों के संगठन संख्या एवं कलात्मक गुणों का विकास हुआ तथा सर्वाधिक सुंदर नृत्यदृश्यों की एक बड़ी संख्या को दकन के मंदिरों के बाह्य रूपों में देखा जा सकता है। 1213 ई० में काकतीय नरेश गणपति के शासनकाल के दौरान बनने वाले पालंपेट के महान मंदिर में विशिष्ट मुद्राओं में नर्तकियों के रूप में सुंदर बंधनियां हैं। यहां इनमें से चार मूर्तियों का वर्णन किया जाएगा। ये सूक्ष्म कण वाले काले पत्थर की बनी हैं। इनसे भारतीय नृत्य कला की प्रमुख विशेषता अर्थात भावनात्मक मुद्राओं का अत्यंत प्रभावोत्पादक निरूपण किया गया है। पहली मूर्ति में शरीर के उतार-चढ़ाव में लयपूर्ण गतिशीलता दृष्टिगोचर है; उठे हुए दाएं हाथ द्वारा बने छल्ले का संतुलन बाएं हाथ के घुमाव से किया गया है, जो विपरीत दिशा में झुका हुआ है। इसी प्रकार दाएं पांव को ऊपर उठा कर बनाए गए मोड़ का संतुलन बाईं ओर के कूल्हे के बाहर की ओर के झुकाव एवं बाएं पांव के मोड़ से किया गया है। भावना प्रधान स्वभाव की ओर इंगित करने वाली कोमल गतिशीलता से युक्त उंगलियों का अत्यधिक सुंदर निरूपण तथा उनके प्रतीकात्मक झुकाव से संपूर्ण मुद्रा का कलात्मक प्रभाव बढ़ जाता है। नर्तकी द्वारा लिए गए प्रत्येक पग के साथ शरीर की मुद्रा भी बदलती हुई प्रतीत होती है।

दूसरी मूर्ति संभवतः नृत्य का दूसरा पग प्रस्तुत करती है, क्योंकि इस निरूपण में कलाकार ने पिछले दृश्य की तरह दाईं टांग के स्थान पर बाईं को उठाया एवं मोड़ा है। उसके दोनों हाथ उठे हुए हैं तथा उंगलियां फैली और जुड़ी हुई हैं। पतली एवं लचीली कमर तथा पूर्ण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकसित वक्ष का सौंदर्य, शरीर की मोड़दार एवं लहरदार रेखा से और बढ़ जाता है, जो मृदु एवं तरंगायित शोभा से उठती एवं गिरती है।

तीसरा निरूपण स्पष्टतः बीच की अवस्था को प्रस्तुत करता है, जिसमें नर्तकी ने अपने दाएं पांव को बाएं के आगे मोड़ लिया है, किंतु उसका केवल पंजा ही जमीन पर टिका हुआ है और एड़ी ऊपर उठी है। उंगलियों द्वारा प्रस्तुत की गई मुद्रा महत्वपूर्ण है तथा कलात्मक रूप के अंग की दृष्टि से पगों के अर्थ के अनुरूप है। चौथा निरूपण भी एक नर्तकी को प्रस्तुत करता है, जिसका निम्न वस्त्र नृत्य के दौरान नीचे खिसक गया है और एक शैतान बंदर उसे खींच रहा है। इस निरूपण में संभवतः कुछ पौराणिक उल्लेख होगा, किंतु साधारण व्यक्ति के लिए तो यह मात्र कामुकता लिए हुए है। वास्तव में मध्ययुगीन ब्राह्मण धर्म के मंदिरों में कामुक प्रेम को प्रदर्शित करने वाली मूर्तियां, बड़ी संख्या में मिलती हैं। ऊपर वर्णित पालंपेट के महान मंदिर में भी मैथुन युगलों के अनेक दृश्य हैं, जिनमें से अधिकांश अश्लील मुद्राओं में हैं। इसको छोड़कर, इस विशेष नर्तकी के शरीर का रेखांकन जिस प्रकार हुआ है, वह लयपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करता है।

13वीं शताब्दी में दकन में नृत्यकला अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई और यद्यपि यह आज भी दक्षिण भारतीय कुछ राज्यों में प्रचलित है, फिर भी उसकी अधिकांश शोभा एवं ओजस्विता समाप्त हो गई है। अब तो उसका केवल बाह्यरूप ही शेष है, उसकी आत्मा तो लुप्त हो गई है।

संदर्भ

1. प्लिनी. xii, 84. स्ट्राबो ने कहा है कि जब गैल्लस मिस्र का प्रशासनाधिकारी था (ई० पू० 25), तो 120 जहाज म्योस-होर्मोस से भारत की ओर गए थे.
2. देखिए जे० बर्जेस कृते 'बुद्धिस्ट केव टेंपल्स', 'आ० स० वे० ई०', 1883, पृ० 9.
3. भरत के 'नाट्त शास्त्र' के सामान.
4. इस प्रकार की हाथी दांत की चूडियां अब भी दकन में लंबाड नारियों एवं अन्य आदिवासियों द्वारा पहनी जाती हैं.
5, 'अजंता', भाग iii, पृ० 1, टिप्पणी नं० 1.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खंड ग्यारह

दकन की मुद्राएं

(लगभग ई० पू० 400 से लगभग 1300 ई० तक)

प्रोफेसर ए० एस० अल्तेकर, एम० ए०, डी० लिट्०

I. भूमिका; आहत मुद्राएं; रोमन सिक्के।

II. सातवाहन मुद्राएं; आरंभिक सातवाहन शासक एवं उनके सिक्कों के विभिन्न-प्रकार : साति, सातकन अथवा सतकनि के सिक्के (हाथी, सिंह, वृषभ एवं मानव प्रकार); अपीलक एवं मेघस्वाति के सिक्के, परवर्ती सातवाहन; गोतमी-पुत्र सातकर्णि के सिक्के, पोटिन धातु (तांबे एवं टिन का मिश्रण) में जारी की गई मुद्राओं के लोकप्रिय प्रकार, सम्मुख भाग में उठी हुई सूंड से युक्त हाथी एवं लेख तथा पृष्ठभाग में उज्जैन चिन्ह; कुछ सिक्कों के सम्मुख भाग पर हाथी तथा पृष्ठ भाग में वृक्ष है; कुछ सीसे एवं पोटिन के सिक्कों के एक ओर सिंह अथवा हाथी है तथा दूसरी ओर उज्जैनचिन्ह अथवा वृक्ष है; इस राजा ने चैत्य से युक्त नहपान के चांदी के सिक्कों को भी पुन: जारी किया, जिनके एक ओर पूर्वोक्त राजा का मुद्रा लेख है और दूसरी ओर उज्जैन चिन्ह। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि; उसके सिक्के सामान्यतया हाथी एवं चैत्य प्रकार के हैं, किंतु सीसे के गोल सिक्कों के सम्मुखभाग पर तीनमहराबोंवाली पहाड़ी एवं मुद्रा लेख तथा पृष्ठ भाग में उज्जैन चिन्ह हैं। इस राजा का एक चांदी का सिक्का भेलसा से प्राप्त हुआ है। शिवश्री; आंध्रदेश से प्राप्त हुए सीसे के उसके सिक्कों के सम्मुख भाग पर मुद्रालेख से युक्त तीन महराब की पहाड़ी एवं एक नदी का चिन्ह है तथा पृष्ठ भाग में आलंकारिक उज्जैन चिन्ह। शिवस्कंद सातकर्णि; एक सिक्के पर तीनमहराबवाली पहाड़ी एवं उज्जैन चिन्ह है, तथा दूसरे में दाईं ओर मुख किए हुए एक अश्व एवं उज्जैन चिन्ह है। यज्ञश्री सातकर्णि ने भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के जारी किए—एक प्रकार के सिक्कों के सम्मुख भाग पर अन्य चिन्हों से युक्त तीनमहराब अथवा छ: महराब की पहाड़ी प्रदर्शित की गई है तथा पृष्ठभाग मे उज्जैन चिन्ह है। एक अन्य प्रकार में सम्मुख भाग पर अश्व तथा पृष्ठभाग पर उज्जैन चिन्ह है। कभी कभी अश्व के ऊपर अर्ध चंद्र है। तीसरे प्रकार की मुद्राओं के सम्मुख भाग पर सूंड लटकाए हुए हाथी दिखाया गया है। उसने विदर्भ प्रकार एवं दो मस्तूलों वाले जहाज के चिन्ह से युक्त सीसे के सिक्के भी जारी किए। इस राजा ने चांदी के सिक्के भी चलाए—उनके प्रकार,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रप मुद्राओं की नकल पर थे। विजय एवं चंद्रश्री सातकर्णि, दोनों के ही सिक्कों के सम्मुख भाग पर सूंड उठाए हुए हाथी तथा पृष्ठ भाग में उज्जैन चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं।

III. सातवाहनोत्तर कालीन मुद्राएं—भूमिका, (1) आरंभिक स्वर्ण मुद्राएं (2) इक्षवाकुओं के सिक्के, (3)वाकाटक सिक्के, (4) शालंकायनों के सिक्के (5) बादामी के चालुक्य वंश के सिक्के, (6) राष्ट्रकूटों के सिक्के, (7) कल्याणी के उत्तरकालीन चालुक्य वंश के सिक्के, (8) कलचुरि वंश के सिक्के, (9) वेंगि के पूर्वी चालुक्य वंश के सिक्के, (10) यादवों के सिक्के (11) शिलाहारों के सिक्के, (12) कदंब वंश के सिक्के, तथा (13) काकतीयों के सिक्के.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन की मुद्राएं
(लगभग ई० पू० 400 से लगभग 1300 ई० तक)

भूमिका

प्रस्तुत अध्याय में हम ई० पू० 400 से लेकर 1300 ई० तक के काल की दकनी मुद्राओं का सर्वेक्षण करेंगे, क्योंकि इस 'दकन के इतिहास' का अध्ययन काल भी यही है। दकन एवं दक्षिणी भारत अपने इतिहास से संबंधित अभिलेखीय प्रमाणों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं। सातवाहनों वाकाटकों, चालुक्यों, राष्ट्रकूटों एवं यादवों के अभिलेख, उनके उत्तर भारतीय समकालीनों अर्थात शुंगों एवं कण्वों, गुप्तों एवं वर्धनों तथा प्रतिहारों एवं गाहड़वालों के अभिलेखों की तुलना में कहीं अधिक हैं। मूर्ति एवं स्थापत्य कलाओं के क्षेत्र में भी कला ने दकन एवं दक्षिणी भारत में उल्लेखनीय प्रगति की। किंतु यह आश्चर्य की बात है कि मुद्राएं अप्रभावित ही रहीं। इस क्षेत्र में उत्तर भारत निश्चय ही दकन की तुलना में श्रेष्ठता का दावा कर सकता है। दकन एवं दक्षिणी भारत के एक वंश ने भी ऐसी मुद्राश्रृंखला जारी नहीं की, जिसको कलात्मक सौंदर्य, विभिन्नता तथा सुंदर कारीगरी की दृष्टियों से गुप्त वंश के सिक्कों की श्रेणी में रखा जा सके।

सातवाहन मुद्राएं बड़ी संख्या में मिलती हैं, किंतु साधारणतया वे अनगढ़ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकाटकों एवं राष्ट्रकूटों ने कोई भी सिक्का नहीं चलाया, चालुक्यों की मुद्राएं भी कम ही हैं और यदा कदा ही मिलती हैं। यादवों ने निश्चय ही स्वर्णमुद्राओं की नियमित श्रृंखला प्रचलित की थी, किंतु इनकी मात्रा भी कम ही है। चालुक्यों एवं यादवों की स्वर्ण मुद्राओं का प्रयोग केवल मुद्रा संबंधी बड़े विनिमयों में ही होता होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि समय समय पर भिन्न राज्यों द्वारा जारी किए गए सिक्कों से, दकन के साधारण मनुष्य को विशेष लाभ नहीं हुआ। स्पष्टतया उसे अपना दैनिक व्यापार, वस्तुविनिमय तथा कौड़ियों की सहायता से करना पड़ता था। किंतु हमें दकन में चांदी की आहत मुद्राएं मिल जाती हैं; तथा सातवाहनों ने सीसे एवं तांबे के अनेक सिक्के बनवाए। संभवत: इन अवरोक्त प्रकारों के सिक्कों का प्रयोग कुछ दैनिक विनिमयों में भी होता होगा।

आहत मुद्राएं

दकन की प्रचानीतम मुद्राएं संभवत: चांदी के आहत सिक्के थे।[1] विनिमय के इस माध्यम की प्राचीनता को एक बार प्रागैतिहासिक काल का बताया गया था, क्योंकि ऐसे सिक्के महापाषाणीय कब्रों में भी पाए गए थे। किंतु बाद के प्रमाणों से प्रकट होता है कि इन कब्रों में प्राप्त सिक्कों में केवल आहत मुद्राएं ही न थीं, अपितु रोमन सिक्के भी थे। इससे यह बिलकुल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सभी महापाषाणीय निर्माणों को प्रागैतिहासिक काल का नहीं माना जा सकता। अत: दकन एवं दक्षिणी भारत के आहत सिक्कों की प्राचीनता को उत्तरी भारत के आहत सिक्कों से पहले का नहीं बता सकते। वास्तव में वे संभवत: लगभग ई० पू० 500 से पहले जारी नहीं किए गए थे।

दकन में आहत मुद्राओं के संग्रह, कृष्णा जिले में सिंगवरं एवं गुदिवादा; विजगापत्तम जिले में वेन्न; भिम्लिपत्तन एवं रोथुलपलेम्; कुर्नूल जिले में कर्मनेहि; हैदराबाद राज्य में करीमनगर; कोल्हापुर जिले में शिन्हि तथा सतारा जिले में वई के निकट सुल्तानपुर में मिले हैं।

इन संग्रहों में से मुख्यत: सुल्तानपुर की प्राप्ति असाधारण एवं विशिष्ट है। इसमें केवल अर्ध, एक एवं दो कार्षापणों के ही चांदी के सिक्के हैं। उनके सम्मुख भाग में केवल एक बड़ा चिह्न है और पृष्ठभाग में कुछ भी नहीं है। इन सिक्कों का वजन क्रम: 50 एवं 49. 5 ग्रेन है। प्राय: इन सिक्कों को पर्याप्त प्राचीन बताया जाता है, किंतु उनकी तिथि को निश्चित रूप से निर्धारित करना कठिन है।

सिंगिवरं संग्रह के चांदी के आहत सिक्कों की संख्या लगभग 40,000 थी और उन्हें 1934 ई० में प्राप्त हुआ माना जाता है। कहा जाता है कि इस संग्रह ने 3 × 3 फीट के आकार के गर्त को भर रखा था। किंतु मद्रास संग्रहालय के संग्रह के लिए केवल 71 सिक्के ही प्राप्त हो सके थे। यदि ये वास्तव में संपूर्ण संग्रह का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सभी सिक्के आधे कार्षापण मूल्य के थे और उनका वजन 20 से 30 ग्रेन था। ये सिक्के आंध्र-देश की ही विशिष्टता हैं। वे पतले एवं उद्भृत हैं अत:, चिह्नों का रूप उत्तल है या सिक्के प्याले के आकार के बन गए हैं।[2] इन सिक्कों पर अंकित चिह्नों की संख्या पांच नहीं अपितु चार है। एक अन्य सिक्के में ऊपर की ओर एक हाथी है और नीचे हल से जुते हुए दो बैल हैं; उनके दोनों ओर एक एक मूठ है जिनके चारों ओर वृत्त अथवा अर्ध चंद्र हैं। एक अन्य सिक्के में हल से जुते बैलों के स्थान पर टहनी का चिह्न है। ये चिह्न केवल एक ओर ही हैं और सिक्कों का पृष्ठभाग खाली है। कुछ दृष्टांतों में दोनों ओर चार चिह्न मिलते हैं, जिनमें से एक ओर के चिह्न अत्यंत अस्पष्ट एवं धुंधले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विरल सिक्कों जैसे उदाहरणों में जब मूल चिह्न घिस गए तो मूलत: खाली पृष्ठभाग में चार चिह्नों के नवीन समूह को अंकित कर दिया गया था।[3]

सिंगवरं संग्रह के सिक्कों एवं उत्तरप्रदेश के खेरि जिले में प्राप्त पैल संग्रह के सिक्कों में विचित्र साम्य है। दोनों के ही सिक्कों के सम्मुख भाग पर केवल चार चिह्न हैं, जिनमें से आहत मुद्राओं के अधिकांश प्रकारों में पाए जाने वाले सूर्य एवं छ: भुजीय चिह्नों की अनुपस्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किंतु पैल संग्रह के सिक्कों में 24 'रत्तियों' के मानक का अनुसरण किया गया है, जबकि सिंगवरं संग्रह के सिक्के 32 'रत्तियों' अर्थात लगभग 56 ग्रेन के मानक के हैं। सिंगवरं संग्रह एवं उड़ीसा में मिले सोनपुर संग्रह के सिक्कों में अधिक साम्य है। दोनों के ही सिक्के आधे पण के हैं तथा प्रत्येक का वजन 20-25 ग्रेन है। दोनों में ही सूर्य एवं छ: भुजीय चिह्न अनुपस्थित हैं। दोनों के ही चिह्नों में हाथी तथा हल से जुते बैल हैं। यह संभव है कि ये सिक्के पूर्व मौर्यकालीन हों। सोनपुर संग्रह में मिले संभवत: नंद वंशियों ने अपनी उड़ीसा विजय के पश्चात जारी किए होंगे और बाद में आंध्र देश में उनका अनुकरण एवं संशोधन हुआ होगा, जैसा सिंगवरं संग्रह से प्रकट होता है। सिंगवरं संग्रह के सिक्कों में भी चिह्नों की संख्या चार ही है, किंतु वे उभरे हुए हैं न कि दबे हुए, जैसा सोनपुर संग्रह के सिक्कों में दृष्टिगोचर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दकन में पाए जाने वाले आहत सिक्कों के शेष संग्रह साधारण प्रकार के हैं, जिनके सम्मुख भाग पर पांच चिह्न हैं तथा जिनमें से प्रत्येक का वजन लगभग 52 ग्रेन है। वे 32 रत्ती मानक के कार्षापण हैं। मद्रास संग्रहालय में 2,846 आहत मुद्राओं के विश्लेषण से प्रकट होता है कि उनमें से 20 प्रतिशत सिक्के पांच चिह्नों वाले पूर्व मौर्यकालीन प्रकार के हैं और शेष मौर्य प्रकार के हैं।[4] संभवतः दकन में पाए जाने वाले अन्य संग्रहों के संबंध में यही सत्य प्रतीत होता है।

दकन में मौर्यों के आहत सिक्कों का प्रचलन, उस प्रदेश की मौर्य विजय का ही स्वाभाविक परिणाम था। मौर्यों ने पूर्व मौर्यकालीन पांच चिह्नों वाले आहत सिक्कों को प्रचलन से वापिस नहीं लिया; अतः उनमें से कुछ मौर्य सेनाओं के साथ दकन भी पहुंच गए। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वे दकन में मिलते हैं, हालांकि उनका प्रतिशत बहुत कम है।

इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि दकन में आहत मुद्रा किस समय तक प्रचलित रही। सातवाहनों ने अपने वंश की स्थापना के तुरंत बाद ही अपने सिक्के जारी किए, किंतु इसने चांदी की आहत मुद्रा को समाप्त नहीं किया। सातवाहनों ने लगभग 110 ई० तक केवल सीसे एवं तांबे के सिक्के ही जारी किए, किंतु वे अत्यंत विरल हैं और संभवतः उत्तरी महाराष्ट्र एवं गुजरात की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए थे, क्योंकि ये प्रदेश चांदी की मुद्रा से अवगत थे। अतः मौर्य शासन के अंत के बाद भी दकन में आहत मुद्रा चलती रही होगी। मद्रास में प्राप्त मंबलं संग्रह में पूर्व मौर्यकालीन 770 आहत सिक्के और आगस्टस का एक सिक्का भी था। दक्षिणी अर्काट जिले में प्राप्त तोंदननथन संग्रह में टाइबेरियस की तीन दीनारों के साथ साथ 27 आहत मुद्राएं भी थीं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ई० के अंत तक चांदी के आहत सिक्के चलते रहे। उनमें से अधिकांश को पहले निश्चित वजन एवं आकार के टुकड़ों में काट कर तैयार करने की साधारण विधि से बनाया गया था और फिर बाद में उन पर चिह्न अंकित किए जाते थे। किन्तु कोंदापुर जैसे कुछ क्षेत्रों में ढांचों का प्रयोग किया गया था और उन्हीं में से आहत सिक्कों को ढाला जाता था। कोंदापुर के उत्खननों में ढांचे एवं ढले चांदी के आहत सिक्के भी मिले थे; उनकी तिथि लगभग प्रथम शताब्दी ई० है।

लगभग 200 ई० के उपरांत दकन में आहत मुद्राओं के प्रचलन को प्रकट करने वाला कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं है। नारदस्मृति (लगभग 500 ई०) के एक पद्य में कहा गया है कि उस समय दक्षिण में चांदी के कार्षापण प्रचलित थे।[5] किंतु अब तक हमें ऐसी कोई आहत मुद्राएं नहीं मिली हैं, जिनको निश्चितपूर्वक इतने परवर्ती काल में रखा जा सके।

तांबे के कुछ आहत एवं ढले हुए सिक्के मालवा में मिले है। किंतु इनमें से कोई भी अब तक दकन से प्राप्त नहीं हुआ है।

दकन में रोमन सिक्के

आंध्र देश के तट पर स्थित बंदरगाहों एवं रोमन साम्राज्य के बीच समृद्ध एवं सतत व्यापार था और दकन में अनेक स्थानों पर रोमन सिक्के मिले हैं। उदाहरणार्थ, कुड्डपह जिले में अथिराल, विजगपत्तम जिले में गुमद, कोल्पद, सलिहुंद; गुंटूर जिले में मल्ल्यपलेम, ओन्गोले एवं विनुकोंद, कुर्नूल जिले में नद्यल, तथा नालगोंद जिले में गर्पति नामक स्थान हैं।[6] इन संग्रहों के सिक्कों में निरूपित रोमन सम्राट, प्रथम एवं द्वितीय ई० के दौरान शासनासीन थे, और उनके सिक्के उन क्षत्रों में पाए गए हैं, जिन पर सातवाहनों का शासन था। किंतु सातवाहन मुद्राएं रोमन सिक्कों की डिजाइनों एवं नमूनों से अप्रभावित रहीं; दकन में रोमन प्रकारों की नकल पर कोई भी स्वर्ण अथवा चांदी मुद्रा नहीं बनी थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संदर्भ

1. उत्तरी भारत की भांति, दकन में स्वर्ण की कोई आहत मुद्रा न थी सम्मुख भाग पर सूक्ष्म चिह्नों से युक्त कुछ सोने के छोटे से गोले प्रचलित थे, जिनका वर्णन बाद में किया जाएगा पृ० (411-29) किंतु उन्ह उचित अर्थ में आहत-मुद्रा नहीं कहा जा सकता. गिब्ब के संग्रह में लगभग 1 इंच व्यास एवं 5.72 ग्रेन वजन की एक स्वर्ण मुद्रा थी, जिसमें तीरांकुश, क्रास, शंख, दो श्री आदि जैसे अनेक आहत चिन्ह थे (इलियट, फलक ii ; 60) किंतु दो श्री की उपस्थिति से प्रकट होता है कि यह सिक्का किसी भी नियमित आहत मुद्रा श्रृंखला का नहीं है। दकन में अभी तक तांबे की आहत मुद्राएं प्राप्त नहीं हुई हैं.
2. 'ज० न्यू० सी० इं०', खंड xv, पृ० 55.
3. 'ट्रांजेक्शंस आफ इंटरनेशल न्यू० कांफ्रेंस', 1936; पृ० 395.
4. इस सूचना के लिए में मद्रास संग्रहालय की कुमारी वनजा का ऋणी हूं.
5. 'कार्षापणो दक्षिणस्यां दिशि रौप्य: प्रवर्तते', i; 57.
6. एंशियंट इंडिया', खंड ii, पृ० 116.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहन मुद्राएं

दकन के शासक वंशों में से किसी वंश की मुद्राएं इतने भिन्न प्रकार की एवं इतनी बड़ी संख्या में उपलब्ध नहीं है जितनी कि सातवाहन वंश की है। सातवाहनों ने साधारणतया सीसे एवं तांबे के सिक्के जारी किए थे। उन्होंने स्वर्ण मुद्राएं नहीं बनाई और उनके चांदी के सिक्के भी विरल ही हैं।

सातवाहन सिक्के बड़ी संख्या में मिलते हैं और साधारणतया उनमें विदेशी प्रभाव नहीं है। किंतु उनमें कलात्मक गुण अथवा मौलिकता का भी अभाव है। तांबे एवं सीसे के सिक्कों में जारी करने वालों के रूपचित्र नहीं हैं। चांदी के सिक्के केवल चार शासकों ने जारी किए थे और अब तक इनके 8 उदाहरण ही मिले हैं। इनको जारी करने वाले शासक हैं : गौतमीपुत्र सातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि, बाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि एवं गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि। इन चांदी के सिक्कों में से कुछ पर सुंदर रूपचित्र हैं जो डिजाइन की दृष्टि से दक्षता विहीन नहीं हैं। सातवाहन अभिप्रायों में पाए जाने वाले सिंह, अश्व, तीरकमान, हाथी, मानवचिह्न आदिके निरूपण, प्राय: अत्यंत अनगढ़ एवं कलाविहीन हैं। कुछ सिक्कों में मुद्रालेख हैं, किंतु वे प्राय: या तो अत्यंत खंडित अथवा अत्यंत छोटे होने के कारण इतिहास के पुनर्गठन में सहायक नहीं है। सातवाहनों ने उत्तरी पड़ोसियों अर्थात पश्चिमी क्षत्रपों द्वारा सिक्के को जारी करने वाले के पिता के नाम का उल्लेख करने की प्रथा को नहीं अपनाया। अत: प्राय: सिक्का जारी करने वाले शासक को पहचानना कठिन होता है, क्योंकि अनेक दृष्टांतों में एक ही नाम के कई राजा थे जैसेकण्ह, सातकर्णि, पुलोमा, स्वातिकर्ण आदि। इस वंश में सिमुक, पूर्णोत्संग, लम्बोदर, हाल एवं मण्डलक जैसे राजा भी थे जिनके नाम सिक्कों में नहीं मिलते हैं। दूसरी ओर कुम्भ सातकर्णि, शक सातकर्णि एवं कर्ण सात कर्णि जैसे राजाओं का विवरण केवल सिक्कों में ही मिलता है, पुराणों एवं अभिलेखों में उनका जिक्र नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि प्राय: पुराण अभिलेख एवं मुद्राएं हमें इस वंश के इतिहास का पुनर्गठन करने में कुछ हद तक सहायता देते हैं, किंतु कभी कभी उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री से केवल अनिश्चितता ही उत्पन्न होती है, क्योंकि हरदम मतैक्य नहीं मिलता।

हम यहां पर इस वंश के राजाओं द्वारा जारी किए गए सिक्कों के केवल महत्वपूर्ण प्रकार का ही वर्णन करेंगे।

आरंभिक सातवाहन शासक

इस प्रश्न का अभी संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता कि किस शासक ने सातवाहन मुद्राओं का आरंभ किया था। पौराणिक सूची के अनुसार, वंश का तीसरा राजा सातकर्णि था, और वह संपूर्ण दकन के स्वामी के नामसे विख्यात शक्तिशाली सम्राट था। साधारणतया यह माना जाता है कि सिरि सात अथवा सातकर्णि अथवा सातकर्ण के लेख से युक्त तांबे एवं सीसे के सिक्के उसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नें जारी किए थे। इन मुद्रा लेखों के लिपिज्ञान संबंधी प्रमाणों से पता चलता है कि वे ई० पू० 150 से 50 के बीच में जारी किए गए थे।

किंतु पौराणिक सूची से प्रकट होता है कि इस वंश में सातकर्णि नामक अनेक राजा थे। छठे शासक का नाम भी यही था और यह तर्क देना भी संभव है कि पौराणिक सूची के 9वें, 10वें, 11वें एवं 14वें राजाओं अर्थात क्रमशः मेघस्वाति, स्वाति, स्कंदस्वाति एवं स्वातिकर्ण ने भी अपने नामों को साति अथवा सात रूप में संक्षिप्त कर लिया होगा तथा उन्होंने ही सात अथवा साति के मुद्रा लेखों वाले सिक्कों को जारी किया था।

पांचवें दशक के दौरान सातवाहन नामक राजा के तीन सिक्के प्रकाश में आए हैं। इनमें से एक कोंदापुर में मिला था और शेष दोनों संभवतः हैदराबाद रियासत से प्राप्त हुए थे। प्रोफ़ेसर वी० वी० मिराशी का कहना है कि इन सिक्कों को जारी करने वाला राजा सातवाहन इस वंश का संस्थापक था, जो पूर्व वर्णित सिक्कों वाले सात अथवा सातकर्णी से पहले शासन करता था। वास्तव में पौराणिक सूची में सातवाहन को वंश के संस्थापक के रूप में वर्णित नहीं किया गया है। किंतु अभिलेखों में इसका वर्णन सातवाहनकुल के रूप में हुआ है।[1] जिससे यह प्रकट होता है कि सर्वप्रथम राजा सातवाहन ने ही इसे प्रसिद्धि दिलाई थी। संभव है कि राजा सातवाहन, प्रथम राजा सिमुक का पूर्ववर्ती अथवा तात्कालिक पूर्वज था और उसी ने अपने नाम के सिक्के जारी किए हों। उसके सिक्के अब तक केवल हैदराबाद क्षेत्र से ही मिले हैं, जबकि सात अथवा सातकर्णी के सिक्के पश्चिमी भारत मालवा एवं त्रिपुरि में मिले हैं। इस तथ्य से यही प्रकट होता है कि अवरोक्त राजा परवर्ती कुमार था, जो उस समय राजा बना जब साम्राज्य का विस्तार विंध्य पर्वत श्रेणी के पार तक फैल गया। सातवाहन उससे पहले का राजा था और संभवतः वही वंश का संस्थापक होगा। वंश के तीसरे राजा की पत्नी नागनिका के पुत्र का नाम भी सातवाहन था, जो शायद पूर्ववर्ती एवं यशस्वी पूर्वज के नाम पर ही रखा गया होगा।

किंतु जब तक अधिक निर्णयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नवीन सिक्कों वाला राजा सातवाहन वास्तव में सिमुक का पूर्वज था, तो यह आश्चर्य की बात है कि सिमुक एवं उसके भाई कृष्ण के सिक्के क्यों नहीं मिलते। दूसरे, यह भी अत्यंत संभव है कि संबंधित सिक्कों का राजा सातवाहन, नागनिका का ही पुत्र हो, जिसका नाम वास्तव में नानाघाट अभिलेखों में मिलता है। पुराणों में सातकर्णि के उत्तराधिकारी के रूप में वर्णित 'पूर्णोत्संग' उसका विरुद होगा। जब तक हमें और अधिक प्रमाण नहीं मिलते, तब तक हम इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते।

अब हम सातवाहन, सात, साति एवं सातिकर्ण के सिक्कों के प्रमुख वर्गों का वर्णन करेंगे।

सातवाहन के सिक्के

हाथी वर्ग

तांबा; वर्गाकार; 0.80 इंच, 110 ग्रेन; मालवा; 'ज० न्यू० सो० इं०', vii, पृ० 1.

सम्मुख-भाग : सूंड उठाए हुए हाथी, सिक्के में कर्णवत मुद्रा लेख 'रणो सरि सदवह (न)।'

पृष्ठ-भाग : उज्जैन चिह्न एवं अन्य छोटे चिह्न.

सीसा; अंडाकार; 1+0.35 इंच; 98.9 ग्रेन; कोंदापुर से प्राप्त; 'ज० न्यू० सो० इं०' xi, पृ० 5.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्मुख भाग : दाईं ओर मुख किए हुए तथा लटकी हुई सूंड वाला हाथी, मुद्रालेख : 'सिरि सदवह (न)।'

पृष्ठ भाग : बड़े आकार का उज्जैन चिह्न जिसमें दो घेरे के बीच में एक एक वृत्त है।

सात के सिक्के

हाथी वर्ग

सीसा; गोल; 1.5 इंच; 101 ग्रेन; 'ब्रि० म्यू० कै०', पृ० 1,फलक1 : 1.

सम्मुख भाग : दाईं ओर मुख किए हुए हाथी, नीचे की ओर मछली से युक्त नदी; ऊपर की ओर मुद्रालेख : 'रजो सिरि सतस।'

पृष्ठ भाग : अस्पष्ट (चित्र नहीं दिया गया है)।

मानव वर्ग

पोटिन (तांबे एवं टिन का मिश्रण); गोल 0.8 इंच; 86 ग्रेन; पश्चिमी भारत; 'ब्रि० म्यू० कै०', पृ० 1, फलक 1:2,

सम्मुख भाग : बाईं ओर मुख किए हुए खड़ा हुआ पुरुष, उज्जैन चिह्न; मुद्रालेख : 'रजो सिरि सतस।'

पृष्ठ भाग : दाईं ओर मुख किए हुए खड़ा हाथी; ऊपर की ओर वेदिका में वृक्ष; तीन महराबों की पहाड़ी; नीचे की ओर नदी।

'ज० न्यू० सो० इं०', iv, फलक 2 : 4—6 में इलाहाबाद नगर पालिका संग्रहालय से सिरि सात के हाथी वर्ग के तीन अन्य सिक्कों को प्रकाशित किया गया है। किंतु उनका प्राप्ति स्थान ज्ञात नहीं है।

साति के सिक्के

मानव वर्ग

सीसा; गोल; 1.01 इंच; 218.7 ग्रेन; त्रिपुरि से प्राप्त; 'ज० न्यू० सो० इं०', XIII पृ० 35, फलक 2 : 13।

सम्मुख भाग : बाईं ओर मानव चिह्न, बीच में उज्जैनचिह्न, मुद्रालेख : xi से VIII, 'रजो सिरि सतस'.

पृष्ठ भाग : बाएं से दाएं—तीन महराब की पहाड़ी; वेदिका में वृक्ष; खड़ी दिशा में मछली से युक्त नदी, और पुन: तीन महराब की पहाड़ी।

सातकन अथवा सतकनि के सिक्के

हाथी वर्ग

तांबा; गोल 0.9 इंच, 211.8 ग्रेन; प्राप्ति स्थान अज्ञात; 'ज० न्यू० सो० इं०', iv, पृ० 27, फलक 2 : 7.

सम्मुख भाग : सूंड उठाए बाईं ओर को चलता हुआ हाथी, उसके ऊपर स्वास्तिक; गोलाकार, मुद्रालेख : सातकनि।

पृष्ठ भाग : वेदिका में वृक्ष के धुंधले चिह्न।

सम्मुख भाग पर उठी हुई सूंड वाले हाथी तथा पृष्ठ भाग में वेदिका में वृक्ष एवं उज्जैन चिह्नों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से युक्त तथा पश्चिमी भारत से मिले पोटिन के वर्गाकार सिक्कों में 'कनिस' मुद्रालेख है। वे संभवतः इसी शासक ने जारी किए होंगे। देखिए 'ब्रि० म्यू० कै०', पृ० 3, फलक i : 9

सिंह वर्ग

पोटिन; वर्गाकार; 0.75 इंच; 83 ग्रेन; भगवान लाल संग्रह; 'ब्रि० म्यू० कै०', फलक 1 : 9

सम्मुख भाग : दाईं ओर उछलता हुआ सिंह; ऊपर की ओर स्वस्तिक; उल्टा मुद्रालेख : '(रजो) सातकणिस।

पृष्ठभाग : बिंदुओं की रेखाओं से बने वर्ग में नंदिपद से युक्त उज्जैन चिह्न; वेदिका में वृक्ष।

मानव वर्ग

तांबा; गोल; 0.92 इंच; 109·3 ग्रेन; त्रिपुरि से प्राप्त, 'ज० न्यू० सो० इं०', xiii, पृ० 36 फलक 2 : 14

सम्मुख भाग : बाईं ओर मानव चिह्न; बीच में उज्जैन चिह्न, मुद्रालेख, vi से x 'रजो सिरि सतकणिस।'

पृष्ठ भाग : तीन महराब की पहाड़ी; एक बड़ी रेखा जो संभवतः वृक्ष का प्रतीक है; वेदिका में वृक्ष; तीन महराब की पहाड़ी

वृषभ वर्ग

सीसा; गोल; 0.9 इंच; 282 ग्रेन; हैदराबाद क्षेत्र; 'ज० न्यू० सो० इं०', viii, पृ० 18, फलक 2—अ : 1

सम्मुख भाग : बीच में कूबड़ वाला वृषभ है, जिसके सामने की ओर धुंधला सा त्रिकोण शीर्ष वाला ध्वज स्तंभ है; वृषभ के ऊपरी ओर मुद्रालेख 'रजो सर सतकणस।'

पृष्ठभाग : वेदिका में वृक्ष; त्रिकोण शीर्ष वाला ध्वजस्तंभ, स्वस्तिक आदि।

इस वृषभ वर्ग एवं सदकणि कललाय के वृषभ वर्ग में अत्यधिक साम्य है। सम्मुख भाग में वृषभ एवं मुद्रालेख का संयोजन बिलकुल एकसा है। अंतर केवल यही है कि कललाय के सिक्के पर वृषभ का मुख बाईं ओर है और सातकर्णि के सिक्के में दाईं ओर। दोनों ही सिक्कों के पृष्ठ भागों पर बड़ी बड़ी पत्तियोंवाले वृक्ष भी समान है, किंतु अन्य चिह्न भिन्न है। इन वर्गों के सिक्कों से पता चलता है कि उनमें वर्णित शासकों के समय में बहुत अंतर न था और दरअस्ल में संभावना यह है कि सदकणि कललाय ही सातकर्णि का श्वसुर था।

गुजरात में मिले एवं 'ज० न्यू० सो० इं०,' xii पृ० 26 में प्रकाशित सातकर्णि के सिक्के गौतमीपुत्र सातकर्णि अथवा यज्ञश्री सातकर्णि जैसे परवर्ती शासकों द्वारा जारी किए गए प्रतीत होते हैं।

अपीलक एवं मेघस्वाति के सिक्के

राजाओं की पौराणिक सूची के अनुसार सातकर्णि द्वितीय एवं गौतमीपुत्र सातकर्णि के बीच में 13 राजा हुए थे, किंतु हमें उनमें से केवल दो अर्थात अपीलक एवं मेघस्वाति के ही सिक्के मिले हैं। इसमें से भी अपीलक का केवल एक ही सिक्का है जो मध्य प्रदेश के बिलासपुर जिले से प्राप्त हुआ है। पुराणों में अपीलक के नाम के साथ कुछ नहीं जोड़ा गया है, किंतु इसके विपरीत मुद्रा में 'शिवसिरि' का भी प्रयोग किया गया है। परंतु इस तथ्य के आधार पर हम यह नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मान सकते हैं कि ये नाम दो भिन्न राजाओं के हैं। सामान्यतया तांबे के सिक्कों का प्रचलन अधिक दूर के क्षेत्रों नहीं होता; अतः बिलासपुर जिले में अपीलक के सिक्के की प्राप्ति इस बात का साक्ष्य है कि इस काल में सातवाहन साम्राज्य काफी विस्तृत था। इस काल से संबंधित अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। अब हम इस विचित्र सिक्के का वर्णन करेंगे।

तांबा; गोल; 1 इंच; 65 ग्रेन; बिलासपुर जिला; 'ज० ऐ० सो० बं०' 1927, 94 n.

सम्मुखभाग : दांई ओर चलता हुआ हाथी, उसके उपर एक अस्पष्ट चिह्न, वृत्ताकार मुद्रालेख : 'रमो शिव-सिरिसापीलकस'।

पृष्ठ भाग : खाली है।

संभव है कि सम्मुख भाग पर वृषभ अथवा अश्व एवं अस्पष्ट पृष्ठ भाग वाला सीसे का सिक्का ('ब्रि० म्यू० कै०,' पृ० 28) मेघस्वाति का हो, जो पुराणों के अनुसार अपीलक का उत्तराधिकारी था। मुद्रालेख के पठनीय अंश में 'घसद' पढ़ा जा सकता है, और यह (मे) घसद अथवा मेघस्वाति के लिए हो सकता है।

उत्तरकालीन सातवाहन नरेश

सातवाहन शक्ति को पुनः स्थापित करनेवाले गौतमीपुत्र सातकर्णि ने निश्चय ही अनेक सिक्के जारी किए थे। उसकी मुद्राएं अधिकांशतः पोटिन की हैं और उसके सिक्कों के सर्वाधिक लोकप्रिय वर्ग में सम्मुख भाग पर सूंड ऊपर उठाए हुए हाथी तथा उसके ऊपर मुद्रालेख है। उनके पृष्ठ भाग पर उज्जैन चिह्न है।[2] तर्हल संग्रह में स्पष्ट मुद्रालेखवाले 1160 सिक्कों में से 525 गौतमीपुत्र सातकर्णि के थे। यद्यपि इन सिक्कों पर केवल 'सातकणिस' ही लिखा हुआ है, फिर भी ये निश्चित रूप से गौतमीपुत्र सातकर्णि के ही हैं, क्योंकि इसी संग्रह में कुछ अन्य सिक्के भी थे, जिन पर पूर्ण रूप से 'रञो सिरि यत्र सातकणिस' लिखा हुआ था।

पश्चिमी भारत से कुछ पोटिन के सिक्के मिले हैं, जिनके सम्मुख भाग पर हाथी एवं पृष्ठ भाग पर बड़ी पत्तियों वाला वृक्ष है। इन सिक्कों पर 'रञों सिरि सातकणिस' लेख के धुंधले चिह्न भी हैं ('ब्रि० म्यू० कै०', पृ० 17)। संभवतः गौतमीपुत्र सातकर्णि ने ही उन्हें जारी किया था।

दक्षिणी गुजरात के करवन एवं कम्रेज स्थानों से सीसे एवं पोटिन के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनमें अस्पष्ट रूप से 'रञो सिरि सातकणिस' लिखा हुआ है। बहुत संभव है कि इन्हें भी गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपाण को हराने के बाद जारी किया हो। इन सिक्कों की एक ओर हाथी अथवा सिंह हैं और दूसरी ओर उज्जैन चिह्न अथवा वेदिका में वृक्ष है ('ज० न्यू० सो०,' इं०, xii, पृ० 28-29)।

जब गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपाण की शक्ति को नष्ट कर दिया और उसके राज्य को अपने सामाज्य में मिला लिया तो उसने अपने विजित शत्रु की चांदी की मुद्राओं को अपने चिह्नों, रूपचित्र एवं लेखों से अंकित करने का असाधारण कदम उठाया। 1906 ई० में नासिक के निकट जोगलथेंबि नामक स्थान से पुनः जारी किए गए चांदी के ऐसे 13,250 सिक्कों का संग्रह प्राप्त हुआ। नहपाण के मूल अर्धदरहमों के सम्मुख भाग पर राजा का रूपचित्र था और उनमें नहपाण के नाम से युक्त लेख था, जो भारतीय लेख का भ्रष्ट ग्रीकरूप प्रस्तुत करता है। इनके पृष्ठ भागों पर वज्र, तीर एवं उभारदार गोलियां हैं तथा ब्राह्मी एवं खरोष्टी लिपि में क्रमशः 'राज्ञो क्षहरातस नहपानस', एवं 'रञ छहरातस नहपनस,' लेख हैं। गोतमीपुत्र सातकर्णि ने इन सिक्कों की एक ओर चैत्य एवं अपना ही लेख तथा दूसरी उज्जैनचिह्न का अंकन कर पुनः जारी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। हम इस प्रकार के दो सिक्कों का वर्णन नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

चांदी; गोल; 0.65 इंच; 35.6 ग्रेन; 'ब्रि० म्यू कै०,' नं 255

सम्मुखभाग : नहपाण के रूपचित्र के ऊपर ही अंकित किया गया चैत्य चिह्न; xii से आरंभ होने वाला ब्राह्मी लेख : 'रञो गोतमि······रि सतकणिस;' ग्रीक लेख के चिह्न भी हैं।

पृष्ठभाग : नहपाण के सिक्कों के पृष्ठभाग पर अंकित उज्जैनचिह्न। ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लेखों 'रञो खहरतस नहपनस' के चिह्न शेष हैं।

चांदी; गोल; 0.65 इंच; 31.2 ग्रेन; 'ब्रि० म्यू० कै०', नं 257

सम्मुखभाग : नहपाण वर्ग के पृष्ठ भाग पर पुनः अंकित चैत्यचिह्न, xi से आरंभ होने वाला ब्राह्मी लेख 'रञो गोतमिपुतर'; मूल ब्राह्मी लेख के 'नहपनस' एवं खरोष्ठी के 'हपनस' के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं।

पृष्ठभाग : नहपाण के मुख पर पुनः अंकित उज्जैनचिह्न; भ्रष्ट ग्रीकलेख के धुंधले चिह्न।

जब गौतमीपुत्र सातकर्णि ने अपने द्वारा जीते गए नवीन प्रदेश में इतने विस्तृत पैमाने पर चांदी की मुद्राओं का प्रचलन पाया, तो क्या उसने स्वयं भी चांदी के निजी सिक्के जारी किए? यह असंभव नहीं कि उसने ऐसा किया हो। वास्तव में इस अध्याय के लेखक ने चांदी का एक विचित्र सिक्का प्रकाशित किया था, जिसमें गोतमीशब्द से युक्त अपूर्ण मुद्रा-लेख है। किंतु यज्ञश्री नामक उत्तरकालीन शासक के नाम में भी गौतमीपुत्र आता है, और चूंकि उतद्धृ लेख अपूर्ण है अतः यह कहना कठिन है कि उसमें यज्ञश्री का नाम था या नहीं। किंतु प्रायः गौतमीपुत्र यज्ञश्री के चांदी के सिक्कों के सम्मुख भाग पर रूपचित्र हैं। अतः यह भिन्न प्रकार का है। असंभव नहीं कि उद्धत सिक्का गौतमीपुत्र सातकर्णि ने ही जारी किया हो। सिक्के का विवरण इस प्रकार है :

चांदी; गोला; 0.7 इंच; 30 ग्रेन; उज्जयिनी से प्राप्त; 'ज० न्यू० सो० इं०,' viii, पृ० 111

सम्मुख भाग : एक आधार पर छः महराबों वाली पहाड़ी है, जिसके प्रत्येक वृत्त में एक एक बिंदु है। पहाड़ी के शीर्ष से आरंभ होने वाला ब्राह्मी लेख : 'रञो गोतमि।'

पृष्ठ भाग : प्रत्येक वृत्त में उभारदार बिंदु से युक्त उज्जैनचिह्न।

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि

गौतमीपुत्र सातकर्णि के पुत्र एवं उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के सिक्के बड़ी संख्या में मिलते हैं। तर्हल संग्रह के 1160 पठनीय सिक्कों में से 175 सिक्के इसी राजा के हैं तथा चांदा संग्रह के 183 सिक्कों में 24 मुद्राएं उसी के द्वारा जारी की हुई हैं। वे हाथी एवं चैत्य वर्ग के हैं तथा 'पुलुमवि (स)' लेख से युक्त हैं। इस वर्ग का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आंध्रदेश के लिए उसके द्वारा जारी किए गए सीसे के गोल सिक्कों के सम्मुख भाग पर लहरदार लाइन के ऊपर तीन-महराब की पहाड़ी है तथा 'रञो वसिष्ठीपुतस सिरि पुलुमविस' लेख है। इसके पृष्ठ भाग पर उज्जैनचिह्न है। इन सिक्कों का वजन 78 से85 ग्रेन है। मस्तूलदार जहाज के चित्र से युक्त सिक्कों को पहले इसी राजा का बताया जाता था (ब्रि० म्यू कै०, पृ० 22)। किंतु अब इसे यज्ञश्री सातकर्णि का माना जाने लगा है।

1949 ई० में इस राजा का चांदी का एक सिक्का भेलसा में नदी की तह से मिला था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका विवरण निम्मलिखित हैं :

सम्मुखभाग : दाईं ओर मुख किए हुए राजा का रूपचित्र; लगभग 1 से आरंभ होने वाला वृत्ताकार मुद्रालेख : (वसिथि) पुतस सर…

पृष्ठभाग : बीच में उज्जैनचिह्न तथा छः महराबवाला चैत्य, खंडित एवं अस्पष्ट मुद्रालेख, किंतु फिर भी viii से xi तक 'सिरि पुलु' अत्यंत स्पष्ट है ।

राजा की नाक तोते जैसी है तथा संपूर्ण रूपचित्र में दृढ़ निश्चय का भाव प्रकट होता है ।

शिवश्री

पुराणों के अनुसार पुलुमावि के पश्चात शिवश्री राजा बना था और हम सुगमतापूर्वक इस शासक की तादात्म्यता वासिष्ठीपुत्र शिवश्री से स्थापित कर सकते हैं, जिसके सीसे के सिक्के आंध्रदेश से मिले हैं । लगभग 90 ग्रेन के वजन वाले उसके सिक्कों के सम्मुख भाग पर तीन-महराब की पहाड़ी एवं नदी के चिह्न तथा 'रजो वसिष्ठीपुत्र शिवसिरिस' लेख हैं । इसके पृष्ठ भाग पर अलंकृत उज्जैन चिह्न है :[3] रैप्सन महोदय ने लेख के अंत में एक शब्द को 'सातकणिस' पढ़ा, किंतु हमें ज्ञात किसी भी सिक्के पर यह दृष्टिगोचर नहीं है । वासिष्ठीपुत्र शिवश्री संभवतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का भाई था तथा आंध्रदेश में उपराजा के रूप में राज्य करता होगा ।

शिवस्कंद सातकर्णि

पुराणों के अनुसार ही शिवश्री के बाद शिवस्कंद सातकर्णि राजा बना । हम उसको राजा वासिष्ठीपुत्र श्रीचंद साति अथवा श्री चन्द्र साति मान सकते हैं, जिसका पता हमें आंध्रदेश में पाए गए सिक्कों के द्वारा चलता है । वह भी संभवतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का भाई था और आंध्रदेश में एक छोटी सी जागीर का शासक था । उसके एक सिक्के पर तीन महराब की पहाड़ी एवं उज्जैन चिह्न हैं और दूसरे सिक्के पर दाईं ओर मुख किए हुए अश्व तथा उज्जैन चिह्न हैं ।

वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि

इस अध्याय के लेखक ने 'ज० न्यू० सो० इं०', xi, पृ० 59 पर वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि का एक चांदी का सिक्का प्रकाशित किया था । यहां पर उसका विवेचन करना उचित होगा । यह अत्यंत संभव है कि वह वासिष्ठीपुत्र पुलमावि का भाई था, जो उसके पश्चात अधिराज के रूप में राजा बना था । पहले हमारा विचार था कि वह शिवश्री सातकर्णि ही था, जिसके सिक्कों की विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं, किंतु इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । उसके चांदी के विचित्र सिक्के का विवरण निम्नलिखित है :

सम्मुखभाग : दाईं ओर मुख किए हुए राजा का रूपचित्र; 1 से आरंभ होने वाला वृत्ताकार मुद्रालेख : रञो वासिष्ठीपुतस ।

पृष्ठभाग : उज्जैनचिह्न; छः महराब की पहाड़ी; नदी आदि; xii से आरंभ होने वाला लेख : अर……न हतकणिष । पृष्ठ भाग का मुद्रालेख संभवतः सम्मुख भाग के लेख जैसा ही है, किंतु वह भिन्न लिपि एवं क्षेत्रीय भाषा में है ।

वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि ही रुद्रदामन का दामान् था और ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी क्षत्रपों के रूपचित्रित सिक्कों का अनुकरण करने वाला वही प्रथम सातवाहन राजा था ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञश्री सातकर्णि

पौराणिक सूची में शिवस्कंद सातकर्णि के वाद यज्ञश्री सातकर्णि को ही सातवाहन नरेश बताया गया है। अतः हम उसे विश्वासपूर्वक सिक्कों में उद्धृत गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि मान सकते हैं। उसके शासनकाल के दौरान सातवाहनशक्ति का पुनरुत्थान हुआ था, जो उसके सिक्कों से भी स्पष्ट हो जाता है। उसने अनेक प्रकार के सिक्के जारी किए, जो एक विस्तृत क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं।

आंध्रप्रदेश में इस राजा के सीसे के सिक्के बड़ी संख्या मे मिले हैं। उनमें से एक प्रकार के सिक्कों के सम्मुख भाग पर नदी के ऊपर तीन अथवा छः महराब की पहाड़ी है तथा राजा का नाम प्रकट करने वाला मुद्रा लेख है, जो प्रायः कुछ चिह्नों से युक्त है। पृष्ठ भाग पर उज्जैन चिह्न है। उनके भिन्न वजनों—244, 72, 40, 20 ग्रेन से पता चलता है कि ये सिक्के भिन्न भिन्न मूल्य वर्ग के थे। इस प्रकार के सिक्कों का पूर्ण लेख 'रञो गोतमीपुतस सिरि यञ सातकणिस' है।

आंध्रदेश में ही इस राजा द्वारा जारी किए गए सीसे (?) के सिक्कों के एक वर्ग में सम्मुख भाग पर अश्व तथा पृष्ठ भाग पर उज्जैनचिह्न है। कभी कभी अश्व के ऊपर अर्ध चंद्र भी मिलता है। कभी अश्व बांई ओर तथा कभी दाईं ओर मुख किए हुए दिखाई देता है। मुद्रालेख संभवतः 'रञो गोतमिपुत्र (यज) सातकणिस' है।

आंध्रदेश में बने तीसरे प्रकार के सिक्के के सम्मुख भाग पर दाईं ओर मुख किए तथा नीचे की ओर सूंड लटकाए हाथी को प्रस्तुत किया गया है, तथा पृष्ठ भाग पर उज्जैन चिह्न है।

यज्ञश्री ने विदर्भ वर्ग के भी पोटिन के सिक्के बड़ी संख्या में जारी किए, जिनके सम्मुख भाग पर सूंड उठाए हुए हाथी तथा पृष्ठ भाग में उज्जैनचिह्न को प्रदर्शित किया गया है।[5] चांदा संग्रह के 183 सिक्कों में से 42 सिक्के यज्ञश्री के थे और और इसी प्रकार तहेल संग्रह के 1,125 पठनीय सिक्कों में से 248 इसी शासक के थे। मुद्रालेख 'सिरि यञ सत' है तथा सिक्कों का औसत वजन 41 ग्रेन है।

दो मस्तूलों वाले जहाज के चित्र वाले सीसे के सिक्कों को काफी समय तक वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावि का बताया जाता रहा, हालांकि उस समय भी यह स्वीकार कर लिया गया था कि इस राजा के नाम का पठन पूर्णरूपेण निश्चित नहीं हैं। उसके बाद प्राप्त हुए कुछ नवीन सिक्कों से प्रकट होता है कि वास्तव में इन सिक्कों को जारी करनेवाला यज्ञश्री सातकर्णि ही था। इस प्रकार के सिक्के का विवरण यह हैं : सीसा, 0.8 इंच; 125.7 ग्रेन, ज० न्यू० सो० इ०, iii, पृ० 43.

सम्मुखभाग : दो मस्तूलोंवाला जहाज, मुद्रालेख : 'रण सामिस सिरि यञ सतकणिस'

पृष्ठभाग : उज्जैनचिह्न।

इस प्रकार का एक सिक्का कोरोमंडलतटीय क्षेत्र से और दूसरा गुंटूर जिले से प्राप्त हुआ था।

यज्ञ श्री सातकर्णि ने क्षत्रपों के सिक्कों की नकल पर चांदी के सिक्के जारी किए। मूलतः ऐसे केवल तीन सिक्के ही ज्ञात थे। इनमें से एक बंबई के निकट सोपारा से प्राप्त हुआ था और दूसरा काठियावाड़ में अम्रेली से; तीसरे सिक्के का प्राप्तिस्थान अज्ञात है। इसके बाद चौथा सिक्का डा० डी० आर० भंडारकर को बेसनगर में मिला था और फिर पांचवा सिक्का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० कटारे ने त्रिपुरि के निकट प्राप्त किया था।

अब हम इस महत्वपूर्ण वर्ग का वर्णन करेंगे;

चांदी; गोल 0.6 इंच; वजन ज्ञात नहीं है; सोपारा, 'वि० म्यू० कै०' फलक 7 ई०।

सम्मुखभाग : दाईं ओर मुख किए हुए राजा का रूपचित्र; साधारण ब्राह्मी अक्षरों में मुद्रा लेख 'रञो गोतमीपुतस सिरियञ सातकणिस'।

पृष्ठभाग : अर्ध चंद्र से युक्त उज्जैनचिह्न; दाईं ओर अर्ध चंद्र से युक्त छः महराव की पहाड़ी। नीचे की ओर नदी; ऊपर की ओर सूर्य। भिन्न लिपि एवं क्षेत्रीय भाषा में मुद्रा लेख : (···) 'गोतमीपुतष हिरु यञ हतकणिष'।

पृष्ठ भाग के लेख को आर० जी० भंडारकर (बा० ग०, खंड 1, भाग 2, पृ० 153) ने 'गोतमीपुत कुमार यञ सातकणि चतुरपणस' अर्थात गोतमीपुत्र के कुमार, चतुरपण यञ सातकणि का' पढ़ा। इस प्रकार पृष्ठ लेख में वाइसराय कुमार चतुरपण तथा सम्मुख भाग के लेख में तत्कालीन राजा यज्ञश्री के नाम मिलते हैं। भगवान लाल इंद्रजी ने पृष्ठ लेख को '(चतरपणस) गोतमीपुतष कुमरु यञ हातकणि' पढ़ा। उनका विचार था कि लेख में यज्ञश्री को चतुरपण का पुत्र बताया गया था। डी० आर० भंडारकर का पाठ 'गोतमीपुत क्षहर यञ हात (कणि)' था। उन्होंने क्षहरु का संबंध, पतिक के तक्षशिलापत्रक में वर्णित छहर से स्थापित किया।[6]

इस संदर्भ में यह इंगित कर देना चाहिए कि सिक्के में बचा हुआ स्थान इतना अधिक नहीं है कि उसमें चतुरपण जैसे पांच नागरी अक्षर समा सकें। इस स्थान में केवल तीन अक्षर ही उत्कीर्ण किए जा सकते थे। और ये संभवतः 'अरक' (आर्यक अर्थात माननीय) थे। 'कुमरु' शब्द तो है ही नहीं, पृष्ठ भाग के मुद्रालेख में तीन अक्षर का शब्द 'शहरु' है। पृष्ठ भाग का लेख मुख्यतः सम्मुख भाग के लेख जैसा ही है। अंतर केवल यही है कि इसमें 'रञो' के स्थान पर 'अंरक', 'सिरि' के स्थान पर 'हिरु' और 'सतकणिस' के स्थान पर 'हतकणिष' का प्रयोग किया गया है।

विजय एवं चंद्रश्री सातकर्णि

पुराणों के अनुसार, यज्ञश्री के बाद विजय और उसके बाद चंदश्री सातकर्णि राजा बने। इन दोनों ही राजाओं की मुद्राएं तर्हलसंग्रह में मिली थीं। इनके सम्मुख भाग पर सूंड उठाए हुए हाथी एवं पृष्ठ भाग पर उज्जैन चिह्न को प्रदर्शित किया गया है। मुद्रालेख में विजय का नाम बिना किसी परिवर्तन के ही मिलता है। चंदश्री का मूल संस्कृत नाम संभवतः स्कंदश्री था। यद्यपि ब्रि० म्यू० कै० में सिक्का नं० 179 को रुद्र सातकर्णि का बताया गया है, किंतु यह संभवतः इस शासक ने जारी किया था। लेख का प्रथम अक्षर स्पष्ट नहीं है।

पौराणिक सूची का अंतिम राजा पुलुमावि तृतीय है। तर्हलसंग्रह में पुलहमवि नाम के सिक्के संभवतः इसी शासक ने जारी किए थे।

पुराणों में अवर्णित राजा

पौराणिक सूची के अनेक राजाओं के नाम उपर्युक्त मुद्राओं में नहीं मिलते हैं। इसका विपरीत पक्ष भी सत्य है : मुद्राओं में मिलनेवाले कुछ राजाओं के नाम पौराणिक सूची अथवा अभिलेखों में नहीं मिलते हैं। तर्हलसंग्रह के कुंभ सातकर्णि, शक सातकर्णि एवं कर्ण सातकर्णि[7] इसी श्रेणी में आते हैं। कर्ण सातकर्णि संभवतः 'ब्रि० म्यू० कै०' के नं० 180 का कण्ह सातकर्णि ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौसिकी पुत्र सातकर्णि एक अन्य राजा है, जो पुराणों में वर्णित नहीं है, पर जिसके सिक्के मिलते हैं। अब तक उसका केवल एक ही सिक्का मिला है, जो चांदासंग्रह का है। इसमें सम्मुख भाग पर सूंड उठाए हुए हाथी तथा पृष्ठभाग पर उज्जैनचिह्न है (ज० न्यू० सो० इं, viii, पृ० 116)। वास्तविक मुद्रालेख 'कोसिकीपुत स' है, जिसे 'कोसिकीपुत सातकणिस' के रूप में पूर्ण कर लेना चाहिए। चूंकि वास्तव में लेख में 'कोसिकीपुतस' है और वंश का नाम पूर्ण रूप से अनुपस्थित है, अतः यह तर्क देना संभव है कि इस सिक्के को जारी करने वाला राजा सातवाहन शासक नहीं था। किंतु इस सिक्के के प्रकार से प्रकट होता है कि वह वास्तव में सातवाहन राजा ही था। अतः अंतिम अक्षर 'स' सातकर्णि शब्द के प्रथम अक्षर का ही प्रतिनिधित्व करता है।

1055 इंच व्यास एवं 55905 ग्रेन वजन का सीसे का एक अत्यन्त बड़ा सिक्का[8] गोदावरी जिले में मिला था। इसका एक भाग खाली है और दूसरे भाग में सिंह तथा अपूर्ण लेख 'रञो···वरस' है। '—वर' नाम आंध्र राजाओं की पौराणिक सूची में नहीं है।

अधिकांश प्राचीन साम्राज्यों के समान ही सातवाहन सम्राटों ने भी अनेक सामंत कुमारों पर नियंत्रण कर रखा था। इनमें से कुछ को सिक्के जारी करने की अनुमति मिली हुई थी। ऐसा ही एक सामंत वंश कोल्हापुर में राज्य कर रहा था। इस वंश के तीन शासकों के सिक्के प्राप्त हैं अर्थात (1) वासिष्ठीपुत्र विलिवायकुर, (2) माढरीपुत्र शिवलकुर एवं (3) (3) गोतमीपुत्र विलिवायकुर। उपर्युक्त शासकों में से तीसरे ने दूसरे के और दूसरे ने पहले शासक के सिक्कों को पुनः जारी किया। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त शासकों ने उसी क्रम से राज्य किया था।

इन सिक्कों में प्रायः सम्मुख भाग पर दस महराब की पहाड़ी, वृक्ष एवं नदी के चिह्न हैं तथा पृष्ठ भाग पर 'रञो गोतमिपुतस विलिवायकुरस' आदि के वृत्ताकार लेख से युक्त तीर कमान के चिह्न हैं[9]। ये सिक्के तांबे एवं सीसे के जारी किए गए थे। पहले कभी यह माना जाता था कि ये राजा भी सातवाहनवंशी ही थे और इसके अनुरूप ही उनको पौराणिक सूची के राजाओं से मिलाने के भिन्न प्रयास किए गए थे। स्मिथ ने गौतमीपुत्र विलिवायकुर को महान गौतमीपुत्र सातकर्णि, माढरीपुत्र शिवलकुर को शिवस्वाति एवं वासिष्ठीपुत्र विलिवायकुर को शिवस्वाति का पूर्वज अर्थात चकोर सातकर्णि माना था।

हम इस विवाद की गहराई में नहीं जाएंगे। लेकिन यह जान लेना आवश्यक है कि केवल गौतमीपुत्र एवं माढरीपुत्र जैसे मातृप्रधान नाम के आधार पर ही उन्हें सातवाहन राजा नहीं मान सकते। उदाहरणार्थ, शिवमाघ एवं भीमसेन जैसे माघ राजाओं के उपनामों में गौतमी पुत्र एवं वासिष्ठीपुत्र का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार कलि के एक महारथि प्रमुख के नाम में वासिष्ठीपुंत्र भी आता है। अतः कोल्हापुर के सिक्कों को जारी करने वाले शासकों को केवल इसी आधार पर सातवाहन राजा नहीं कहा जा सकता। टाल्मी ने कहा है कि पैठन का पोलेमायो एवं हिप्पोकुर का बाल्योकुरो समकालीन थे। यह स्पष्ट है कि पोलेमायो नाम पुलुमावि का तथा बाल्योकुर नाम विलिवायकुर का ही ग्रीक रूप है। समकालीन होते हुए भी ये दोनों भिन्न राजा थे। अतः बहुत संभव है कि कोल्हापुर सिक्कों को जारी करने वाले विलिवायकुर एवं शिवलकुर किसी स्थानीय सहायक शासकवंश के सदस्य थे।

सातवाहन साम्राज्य से संलग्न एक अन्य सामंतवंश मैसूर के चितल्दुर्ग जिले में राज्य करता था। इस वंश ने सीसे के बहुत से सिक्के जारी किए जिनके एक ओर वृषभ और दूसरी ओर वेदिका में वृक्ष एवं तीन महराब की पहाड़ी के चिह्न हैं।[10] इन मुद्राओं के लेखों से केवल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक राजा अर्थात कललायमहारथि का पता चलता है। उसके सिक्कों का निरूपण, राजा-सातकर्णी द्वारा जारी किए गए तथा ऊपर (पृ० 406-408) वर्णित किए गए सिक्कों से अत्यधिक साम्य रखता है।

इसी समय एक अन्य सामंतवंश उत्तरी कनारा जिले में शासन कर रहा था। अब तक उसके दो राजाओं के सीसे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये दो राजा हैं—चुटुकुलानंद एवं मुडानंद इस वर्ग के सिक्कों की एक ओर आठ महराब की पहाड़ी का चिह्न और दूसरी ओर वेदिका में वृक्ष एवं दो त्रिशूल के चिह्न हैं।

चुटकुलानंद के सिक्कों में मुद्रालेख 'रञो चुटुकुलानन्दस'[11] तथा मुडानंद के सिक्कों में 'रञो मुलानन्दस'[12] है।

संदर्भ

1. 'ए० इं०', viii, पृ० 93.
2. 'बि० म्यू० कै०', नं० 171; इस सिक्के का वजन 36-3 ग्रेन है.
3. वही, पृ० 29.
4. यह सिक्का, 'ब्रि० म्यू० कै०', का 140वां है तथा वजन में 83.5 ग्रेन है.
5. 'ब्रि० म्यू० कै०', 166, 165.
6. 'आ० सा० इ० ऐ० रि०', 1913-14, पृ० 217.
7. 'ज० न्यू० सो० इं०', ii, पृ० 90-92.
8 'ब्रि० स्यू० कै०', 4.
9. तांबे का सिक्का, 'ब्रि० म्यू० कै०', का 31वां है और उसका वजन 60 ग्रेन है; और सीसे का सिक्का 'ब्रि० म्यू० के.' का 30वां है और उसका वजन 164.6 ग्रेन है.
10. यह सिक्का 'ब्रि० म्यू० कै०', का 8 : 233वां है तथा वजन में 211.5 ग्रेन है.
11. यह सिक्का 'ब्रि० स्यू० कै०', का 8 : जी० पी० 2 है तथा वजन में 210.4 ग्रेन है.
12. यह सिक्का 'ब्रि० म्यू० कै०', का 8 : 236वां है तथा उसका वजन 250 ग्रेन है.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहनोत्तर कालीन मुद्राएं

भूमिका

दकन की सातवाहनोत्तर कालीन मुद्राओं के संबंध में अब तक बहुत कम जानकारी ही प्राप्त है। अध्ययन के लिए प्राप्त सिक्कों की संख्या बहुत थोड़ी है, और उनमें भी मुद्रालेखों से युक्त सिक्के तो और भी कम हैं। सिक्कों के प्रकार भी हमारे लिए अधिक सहायक नहीं है। वराह, पद्म एवं वृषभ वर्ग के सिक्के अनेक शताब्दियों तक चलते रहे। उदाहरणार्थ, निस्संदेह सबसे पहले चालुक्यों ने वराह वर्ग के सिक्कों का प्रचलन आरंभ किया था। किंतु बाद के वंशों ने भी विजय-नगर साम्राज्य के काल तक इसे जारी रखा; अतः इस वर्ग के सभी सिक्कों को चालुक्य वंश का नहीं माना जा सकता। कालांतर में वराह शब्द साधारणतया स्वर्ण मुद्रा का पर्याय ही माना जाने लगा। आरंभ में इस प्रकार के सिक्के बड़ी संख्या में जारी किए गए होंगे, किंतु अब अध्ययन के लिए अधिक वराह मुद्राएं प्राप्त नहीं हैं। यह सुझाव भी दिया गया है कि मलिक काफूर द्वारा दक्षिणी भारत से देहली की ओर ले जाई गई लूट में ये सिक्के भारी संख्या में सम्मिलित थे। अतः अपने उत्पत्ति क्षेत्र में ऐसे सिक्के बहुत कम ही रह गए थे। यह व्याख्या अधिक तर्कपूर्ण नहीं लगती है। उत्तर प्रदेश को भी मुसलमानों ने जीत लिया था, फिर भी उस राज्य से गुप्त कालीन अनेक स्वर्ण मुद्राएं मिली हैं।

दक्षिणी भारत में चांदी के सिक्के तो लगभग थे ही नहीं। जैसा ऊपर इंगित किया जा चुका है, नारद ने निश्चित रूप से यह कहा है कि दक्षिण में चांदी के कार्षापण प्रचलित थे, किंतु पुरातात्विक प्रमाण उसके कथन की पुष्टि नहीं करते हैं। दकन में मलिक काफूर द्वारा लूटे गए सामान के विवरण में चांदी अथवा चांदी के सिक्कों का उल्लेख विरल है। इस ग्रंथ में वर्णित वंशों ने विरल ही चांदी की मुद्राओं को जारी किया था। दकन में इस काल में तांबे के सिक्कों का प्रयोग भी बहुत कम होता था।

आरंभिक स्वर्ण मुद्राएं

दकन से प्राप्त प्राचीनतम स्वर्णमुद्राएं छोटे एवं साफ गोलाकार टुकड़ों के रूप में हैं, जिनके सम्मुख भाग पर चार बिंदु हैं और पृष्ठ भाग खाली है। उनका वजन लगभग 52 ग्रेन तथा व्यास लगभग 0.45 इंच है। वे कलंजु मूल्य वर्ग के हैं, जो दक्षिणी भारत में अत्यंत लोकप्रिय था। इन गोलाकार टुकड़ों को प्राचीन कन्नड़ भाषा में 'गुल्लिगे' अर्थात छोटी गेंदों के रूप में जाना जाता था। ऐसी अनेक मुद्राएं 1828 ई० में धारवार के सुंद परगना में मिली थीं।[1] इनमें से 25 से अधिक मुद्राएं हैदराबाद संग्रहालय में हैं।[2]

आरंभिक स्वर्णमुद्राओं का दूसरा वर्ग 'पद्म टंकों' का है। वे चपटे एवं गोल हैं। उनके सम्मुख भाग के मध्य में कमल है, जिसके आधार पर उनका नामकरण हुआ है। इसी भाग पर चार आहत चिन्ह हैं जिनमें से दो तो 'श्री' अक्षर हैं, तीसरा शंख है और चौथा सामान्यतया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धनुष है।[3] इस वर्ग के एक प्रकार के सिक्कों के पृष्ठ भाग पर ठप्पों द्वारा बेलबूटों का काम है तथा सम्मुख भाग के आहत चिह्नों में सामने की ओर मुख किए हुए दो सिंह भी हैं।[4] प्रायः बनवासी में मिले ये सिक्के, कदंब वंश के बताए जाते हैं। किंतु यह निर्धारण निश्चित नहीं है। उनका व्यास 1 इंच एवं वजन लगभग 60 ग्रेन है।

स्वर्ण 'फनमों' को आरंभिक पल्लवों का माना जाता है क्योंकि ये सिक्के कोरोमंडल तट से मिले हैं। यह मत संभव तो है किंतु अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। इन सिक्कों के सम्मुख भाग पर वृषभ है जिसके ऊपर सूर्य एवं चंद्र के चिह्न है और पृष्ठ भाग पर एक बड़ा सूर्य प्रदर्शित किया गया है।[5]

मस्की उत्खननों में कुछ छोटे-छोटे स्वर्णसिक्के भी मिले थे। इनकी एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंह है। यह निर्धारित करना कठिन है कि उनको किसने जारी किया था। इसका एक कारण यह भी है कि अभी तक इनको उचित रूप से प्रकाशित नहीं किया गया है।[6]

इक्ष्वाकुओं के सिक्के

1955-6 ई० के नागार्जुनकोंड उत्खननों के दौरान वीरपुरुषदत्त एवं शान्तमूल नामक दो इक्ष्वाकु नरेशों के कतिपय सीसे के सिक्के मिले। वे सातवाहनों के ही एक प्रकार के सिक्कों की नकल थे, जिनकी एक ओर सूंड उठाए हुए हाथी तथा दूसरी ओर उज्जैन चिह्न प्रदर्शित किया गया है। हाथी के ऊपर खंडित मुद्रालेख है।[7]

वाकाटक सिक्के

सातवाहनों के पतन के तुरंत बाद ही वाकाटकों की शक्ति का उदय हुआ और वे शीघ्र ही उस वंश के भूतपूर्व साम्राज्य के अधिकांश भाग पर राज्य करने लगे। वे सातवाहन मुद्राओं से परिचित होंगे, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी निजी मुद्राएं जारी करने का कोई प्रयास नहीं किया। अभी तक हमें इस वंश के कोई सिक्के नहीं मिले हैं और न ही अभिलेखों में उनका उल्लेख है।

शालंकायनों के सिक्के

चौथी एवं पांचवी शताब्दियों के दौरान आंध्र देश में शालंकायनो का शासन था। हाल ही में चंद्रवर्मन का एक तांबे का सिक्का प्राप्त हुआ है। इसके सम्मुख भाग पर वृषभ है और पृष्ठ भाग में राजा का नाम प्रकट करने वाला 'श्री चंद्रव (र्मन) रूपी मुद्रालेख है।[8] उसका व्यास 0.7 इंच और वजन 94 ग्रेन है।

वृषभ शालंकायनों का लांछन था तथा मुद्रालेख की लिपि पांचवी शताब्दी की है। अतः यह सिक्का शालंकायनों का ही होगा। इसको जारी करने वाला चंद्रवर्मन संभवतः हस्तिवर्मन का पौत्र था। हस्तिवर्मन समुद्रगुप्त का समकालीनी था।

बादामी के चालुक्य वंश के सिक्के

अनेक शताब्दियों तक दकन पर अधिकार करने वाले चालुक्य वंश ने वराह को लांछन के रूप में स्वीकार किया। इसमें संदेह नहीं कि सर्वप्रथम उन्होंने ही सम्मुख भाग पर वराह वाले सिक्कों को जारी किया था। इस चिह्न से युक्त उनकी मुद्राएं अत्यंत लोकप्रिय होंगी, क्योंकि शीघ्र ही वराह शब्द को सामान्यरूप से स्वर्णमुद्राओं का पर्याय माना जाने लगा। किंतु इस प्रकार के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिक उदाहरण नहीं मिल पाए हैं।

हमारे पास ऐसी कोई भी उत्कीर्ण वराहमुद्रा नहीं है जिसे बादामी के चालुक्य वंश के किसी भी राजा का बताया जा सके। वस्तुत: डा० एम० एच० कृष्ण ने कतिपय अभिलेख-विहीन मुद्राओं को पुलकेशिन द्वितीय का बताया है, किंतु यह निर्धारण अत्यंत संदेहपूर्ण है।'

दक्षिणी मराठा प्रदेश एवं वेल्लारी जिले से कुछ अभिलेखविहीन स्वर्ण मुद्राएं मिली हैं।[10] इनके सम्मुख भाग के मध्य में वराह है और उसके चारों ओर शंख 'चक्र' धनुष एवं दो श्री अक्षरों जैसे आहत चिह्न हैं। इनके पृष्ठ भाग पर कुछ ठप्पेदार लाइनें हैं। इसी क्षेत्र में कुछ अन्य सिक्के भी मिले हैं, जिनकी एक ओर सज्जित वराह तथा दूसरी ओर फूल पत्तियां अथवा सूर्य प्रदर्शित किया गया है। इन सिक्कों का वजन 55 से 58 ग्रेन तक है और ये संभवत: बादामी के चालुक्य वंश के कुछ शासकों द्वारा जारी किए गए थे।[11]

राष्ट्रकूटों के सिक्के

राष्ट्रकूट वंश एक शक्तिशाली राज्य था; कुछ समय के लिए उसने विंध्य पर्वत से रामेश्वर तक के संपूर्ण क्षेत्र पर शासन किया था। कई अवसरों पर उसकी सेनाएं गंगा के मैदान में भी प्रवेश कर गईं, तथा उन्होंने पालों एवं प्रतीहारों जैसे उत्तर भारतीय वंशों की सेनाओं से भी टक्कर लीं। उसके राजा अत्यंत कलाप्रेमी थे, उन्होंने सुन्दर मूर्तियों से अलंकृत भव्य मंदिरों का निर्माण करवाया। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें मुद्राओं से कोई रुचि नहीं थी। कुछ भी हो, अभी तक लिखित अथवा लेखविहीन कोई भी सिक्के नहीं मिले हैं, जिन्हें निश्चित रूप से इस वंश के किसी भी शासक का बताया जा सके। नासिक जिले से कुछ चांदी के अर्धदरहम मिले हैं, जिनके सम्मुख भाग पर क्षत्रपों जैसे रूपचित्र हैं, तथा पृष्ठभाग पर 'परम-माहेश्वर-मातापितृ-पादानुध्यात्श्री-कृष्णराजस्य' लेख से युक्त वृषभ को प्रदर्शित किया गया है।[12] इनको पहले कभी कृष्ण नाम के तीन राष्ट्रकूट शासकों में से किसी एक का बताया जाता था। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि ये सिक्के उस नाम के कलचुरि शासक के थे, जो 550-75 ई० के दौरान राजा था।

राष्ट्रकूट अभिलेखों में द्रम्म, सुवर्ण, गद्याणक, कलंजु, एवं कासु नामक पांच मूल्य के सिक्कों का उल्लेख है। इनमें से अंतिम दोनों प्रकार दकन में नहीं अपितु दक्षिणी भारत में प्रचलित थे। गोविंद चतुर्थ के कँबे ताम्रपत्र में 1400 ग्रामों के दान का उल्लेख है, जिसे 7 लाख सुवर्णों का राजस्व प्राप्त होता था।[13] इस प्रकार प्रत्येक ग्राम का औसतन राजस्व 500 सुवर्ण था। हमें यह ज्ञात नहीं कि राष्ट्रकूट प्रशासन ने कोई स्वर्णमुद्रा जारी की थी या नहीं, और पूर्ववर्ती उत्तर भारतीय सुवर्णों के समान उनका वजन भी 80 रत्ती अथवा 144 ग्रेन मानक का था या नहीं। यह अत्यंत संभव है कि 7 लाख सुवर्ण जो 1,400 ग्रामों का राजस्व था, इन ग्रामों से वस्तुओं के रूप में एकत्र किए जाने वाले भू-राजस्व के बराबर का स्वर्णमूल्य था। इस स्थिति में सुवर्ण, लेखे की पारंपरिक मुद्रा होगी। गद्याणक, दो कलंजु के बराबर था और लगभग 100 ग्रेन का था। किंतु राष्ट्रकूटों द्वारा जारी किए गए इन सिक्कों का भी कोई नमूना अभी तक नहीं मिला है। डा० एम० एच० कृष्ण ने लगभग 60 ग्रेन के मानक वजन के चार स्वर्ण सिक्कों को राष्ट्रकूटों का बताया है।[14] इनके एक ओर फूल पत्तियों की अलंकारपूर्ण डिजाइन तथा दूसरी और पद्म सरोवर के चारों ओर चार आहत सिंह हैं। किंतु इन सिक्कों पर कोई लेख नहीं है; अत: डा० कृष्ण का उपर्युक्त निर्धारण केवल आनुमानिक ही हो सकता है।

कन्हेरी के एक राष्ट्रकूट अभिलेख में स्वर्ण द्रम्म का उल्लेख है, तथा उसे उपर्युक्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधारण द्रम्म से भिन्न बताया गया है।[15] ये साधारण द्रम्म संभवतः चांदी के थे। पूना जिले से प्राप्त गधैया सिक्कों का उरुलि संग्रह आठवीं अथवा नवीं शताब्दी का है। पूर्ववर्ती काल में आहत प्रकार की मुद्राओं का यंत्रवत अनुकरण किया गया था। अतः यह असंभव नहीं कि शिलाहार नरेश छित्तराज की भांति, राष्ट्रकूटों ने भी कल्पना विहीन चांदी के गधैया सिक्कों का अनुकरण मात्र ही किया हो। किंतु यह भी संभव है कि उरुलि संग्रह में गोविंद तृतीय अथवा इंद्र तृतीय के उत्तरी अभियानों में भाग लेने वाले किसी राष्ट्रकूट नायक द्वारा की गई लूट सम्मिलित हो। अब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता कि राष्ट्रकूटों ने कोई स्वर्ण अथवा चांदी की मुद्रा जारी की थी या नहीं।

कल्याणी के उत्तरकालीन चालुक्यों के सिक्के

कल्याणी के उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा जारी किए गए सिक्कों में से हमें जयसिंह जगदेकमल्ल (1019-40 ई०), सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल (1068-76 ई०) एवं तैलप तृतीय (1150, 1182 ई०) के स्वर्ण सिक्के प्राप्त हैं।[16] संभव है कि इस वंश के अन्य राजाओं ने भी सिक्के जारी किए हों किंतु अभी तक वे प्राप्त नहीं हुए हैं। डा० एम० एच० कृष्ण ने यह अनुमान किया था कि 'पर' लेखसे युक्त सिक्कों को तैलप द्वितीय ने जारी किया होगा। किंतु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि राष्ट्रकूट एवं चालुक्य दोनों वंशों ने परमेश्वर की उपाधि का प्रयोग किया था, तो पुष्ट प्रमाण के अभाव में उनके सुझाव को अनुमान मात्र ही मानना चाहिए।

डा० कृष्ण ने कुछ सिक्कों को विक्रमादित्य षष्ठ एवं अन्य को सोमेश्वर तृतीय का बताया था। किंतु ये निर्धारण भी संदेहपूर्ण हैं।[17]

जयसिंह जगदेकमल्ल के सिक्के दो प्रकार के हैं: एक प्रकार के सिक्कों में पांच भिन्न ठप्पों से आहत पांच सिंह, भाले का एक बड़ा शीर्ष तथा स्पष्टतः जयसिंह का प्रतिनिधित्व करने वाले 'य', 'ज' अक्षर हैं, दूसरे प्रकार के सिक्कों के मध्य में गुम्बदीय शिखर से युक्त मंदिर और उसके ऊपर एक चक्र है। मंदिर के स्तंभों के बीच में कन्नड़ भाषा में दो पंक्तियों का मुद्रा लेख है: (1) 'श्री ज ग दे;' (2) 'क म ल्ल'। मंदिर के चारों ओर नौ आहत चिह्न हैं। सिक्के का पृष्ठ भाग खाली है। इस सिक्के का व्यास 1 इंच तथा वजन 69 ग्रेन है।[18]

त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम ने भी दो प्रकार के सिक्के जारी किए। एक में पांच सिंह तथा भिन्न आहतों से 'त्रै, लो, म, ल्ल' आहत है। दूसरे में[19] भाले का शीर्ष है, जिसके मध्य में एक बिंदु है तथा दाईं ओर चार बिंदु हैं, जो संभवतः कमल के प्रतीक हैं। इसी के चारों ओर एक नागरी लेख भी है।

भूतपूर्व भोर राज्य के कोष में कुछ स्वर्ण 'पद्म-टंके' थे, जिनमें से कुछ पर 'श्री-लषुम' लेख पढ़ा जा सकता है। यह सुझाव दिया गया है कि ये सिक्के संभवतः विक्रमादित्य षष्ठ की प्रमुख रानी लक्ष्मीदेवी द्वारा जारी किए गए होंगे।[20] इनके अतिरिक्त अभी तक दकन से रानियों द्वारा जारी किए गए सिक्के प्राप्त नहीं हुए हैं। ये मुद्राएं रामटंक किस्म के 'पद्म-टंके' प्रतीत होते हैं, जिन पर रामायण से संबंधित व्यक्तित्वों के नाम एवं चित्र हैं।

कलचुरि वंश के सिक्के

लगभग 12 वीं शताब्दी के मध्य तक कलचुरि नरेश बिज्जल ने उत्तरकालीन चालुक्यों को पद्च्युत का दिया था। 1167 ई० में इस राजा की हत्या के बाद, उसका पुत्र सोम अथवा राय मुरारि ही राजा बना। सतारा जिले में कुछ विरल स्वर्णमुद्राएं पाई गई हैं; जिनका औसतन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वजन लगभग 55 ग्रेन है। इनके सम्मुख भाग पर दाईंओर मुख किए हुए एक नर्तकी का चित्र है तथा पृष्ठ भाग पर प्राचीन कन्नड़ अक्षरों में तीन पंक्तियों का लेख है, जिसकी दूसरी पंक्ति में मुरारि शब्द है। इस प्रकार के सिक्कों को कलचुरि शासक सोम अथवा मुरारि का बताया गया था,[21] और यह निर्धारण संभव भी है।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश के सिक्के

पुलकेशिन द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्धन ने 618 ई० में पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की थी और यह वंश लगभग 450 वर्षों तक निरंतर राज्य करता रहा। इस वंश में 40 राजा हुए हैं, किंतु उनमें से केवल छः राजाओं के ही लेख युक्त सिक्के उपलब्ध हैं।

कुब्ज विष्णुवर्धन ने विषमसिद्धि का 'बिरुद' धारण किया था और प्रायः विषमसिद्धि के लेख से युक्त स्वर्ण मुद्राएं उसी की बताई जाती हैं। यह निर्धारण संभव तो है किंतु निश्चित नहीं, क्योंकि बाद में उसके कुछ अन्य उत्तराधिकारियों ने भी यही बिरुद धारण किया था।

विषमसिद्धि के सिक्के दो प्रकार के हैं। इनमें से एक के सम्मुख भाग के मध्य में सिंह है और उसी के ऊपर आरंभिक चालुक्य अक्षरों में 'विषमसिद्धि' लिखा हुआ है। पृष्ठ भाग में राजदंड है। इसमें पीतल की धातु का प्रयोग किया गया है। इसका व्यास 0·65 इंच है।

दूसरे प्रकार के सिक्के पहले जैसे ही हैं किंतु इसके पृष्ठ भाग में किरणों के हाशिए से घिरा दोहरा त्रिशूल है, उसके ऊपर अर्धचंद्र तथा दोनों ओर दो दीप हैं।[22] इन सिक्कों का एक संग्रह हैदराबाद के नलगोंद जिले में दौलताबाद से प्राप्त हुआ था। इसका कुल वजन 4,920 तोले था। अतः उसमें 12,000 से अधिक सिक्के होंगे। ये चांदी के सिक्के नहीं हैं, अपितु उनमें 71 प्रतिशत तांबा, 21 प्रतिशत टिन, तथा लोहे एवं जस्ते की नगण्य मात्राओं का मिश्रण है। इनका औसत वजन 50 ग्रेन है।

पूर्वी चालुक्य वंश के कुछ परवर्ती शासक भी सिक्कों को जारी करने के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसा करनेवालों में से सबसे पहला राजा शक्तिवर्मन चालुक्य चंद्र है (1000-11 ई०)। वर्मा एवं स्याम के तट के पास स्थित राम्री एवं चेदुब द्वीपों से प्राप्त संग्रहों में उसके सिक्के मिले हैं। संभवतः तीर्थयात्री अथवा व्यापारी ही इन सिक्कों को इतनी दूर ले गए होंगे। हाल ही में कृष्णा जिले में मसुलिपत्तन से भी इस राजा के सिक्के प्राप्त हुए हैं।[23] उसके सिक्के सोने के हैं; इनके मध्य में वराह है जिसके ऊपर छत्रतथा दोनों ओर चौरी है। इनके चारों ओर राजा का नाम—'श्री चालुक्यचंद्रस' उत्कीर्ण है, जिसका प्रत्येक अक्षर अलग से आहत किया गया है। इन सिक्कों का व्यास 1.4 इंच तथा वजन लगभग 66 ग्रेन है।

राजराज (1018-60 ई०) एवं राजेंद्र कुलोत्तुंग (1070-1120 ई०) ने भी इसी प्रकार के सिक्के जारी किए थे। वे कुछ बड़े सिक्के हैं : उनका व्यास 1·6 इंच तथा वजन लगभग 66 ग्रेन है। वे प्याले के आकार के हैं। राजराज के एक सिक्के के किनारे के चारों ओर छः आहत चिह्न हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक तेलुगु-कन्नड अक्षर है 'श्री रा ज रा ज स'।

यादवों के सिक्के

शाही यादव वंश के सिक्कों को एक बार पहले कदंबों का बताया गया था। किंतु बाद की खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें यादवों ने ही जारी किया था। उन पर उत्कीर्ण लेखों से तो यह बिल्कुल ही निश्चित हो जाता है। इन लेखों में सिंहण के बाद के सभी राजाओं के नाम मिलते हैं। केवल एक अपवाद अम्मण का है, जिसका शासनकाल कुछ ही मास रहा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये सिक्के केवल एक ही भाग पर चिह्नित हैं, उनके पृष्ठभाग खाली हैं और इस प्रकार वे प्याले के आकार के बन गए हैं। उनका वजन लगभग 57 ग्रेन है तथा व्यास का माप 0·6 इंच है। सम्मुख भाग के मध्य में कमल और चार कोनों पर आहत चिह्न हैं। एक कर्ण के दोनों सिरों पर तेलुगु-कन्नड लिपि में 'श्री' लिखा हुआ है। दूसरे कर्ण के एक सिरे पर देवनागरी लिपि में राजा का नाम मिलता है, और उसके दूसरे सिरे पर अधिकतर शंख अथवा धनुष अथवा तलवार के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। सिंघण, महादेव, कृष्ण एवं रामदेव द्वारा जारी किए गए 'पद्मटंके' भी मिले हैं। हैदराबाद संग्रहालय में ऐसे 150 से अधिक सिक्के हैं, जो मूलतः राजकोष के थे। 1922 ई० में कृष्णा जिले में रचपतन में एक संग्रह मिला है, जिसमें सिंहण, कण्हर, महादेव एवं रामदेव के लेखों से युक्त 43 सिक्के थे।[24] भूतपूर्व रायगढ़ राज्य के खरसिया क्षेत्र में स्थित एक क्षेत्र में नसिरुद्दीन महमूद (1246-66) के सिक्के के साथ सिंघण के भी तीन 'पद्मटंके' दबे हुए पाए गए। इस प्राप्ति से प्रकट होता है कि सिंघण के शासनकाल के दौरान, दक्षिणी कोशल भी यादवों के ही प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित था।

सिंहण के नाम को सेघड़, कृष्ण को काण्हप अथवा कण्हर, महादेव को महदेव और रामदेव के नाम को श्रीराम के रूप में भी लिखा पाया जाता है।

शिलाहारों के सिक्के

हमारे अध्ययन काल के दौरान, दकन के कुछ सामंत वंशों ने भी थोड़े से सिक्के जारी किए थे। इनमें से पश्चिमी भारत का शिलाहार वंश भी हैं। इस वंश की थाना शाखा के राजा छित्तराज ने गधैया प्रकार के चांदी के सिक्के जारी किए, जिनके संमुख भाग पर राजा का रूप चित्र और पृष्ठभाग पर दो पंक्तियों में स्वयं उसका नाम 'श्री छित्तराज-देव' है। उसके सिक्कों का एक संग्रह थाना (बंबई राज्य) के एक नाले के नीचे मिला था।

1946 ई० में कोल्हापुर के उत्खननों के दौरान मुद्रालेखों से युक्त दो सिक्के भी मिले। उनका भार 22·5 ग्रेन है तथा उनके दोनों ओर चिह्न हैं। सम्मुख भाग पर एक हाथ सहित त्रिशूल है, जिसके कांटे सूर्य एवं चंद्र को घेरे हुए हैं। पृष्ठ भाग पर दाईं ओर मुख किए हुए एक गरुड़ खड़ा है, जिसके पांव झुके हुए हैं और जिसके बाएं हाथ में फहराती हुई पताका एवं दाएं हाथ में सर्प है।[25]

शिलाहारों ने गरुड़ को अपना लांछन चुना था। अतः इन सिक्कों के पृष्ठ भाग के मोटिफ तथा उनके प्राप्तिस्थान से पता चलता है कि वे शिलाहारों द्वारा जारी किए गए होंगे। किंतु क्योंकि उन पर कोई लेख नहीं है, अतः उन्हें किसी विशेष शासक का बताना कठिन है।

कदंब वंश के सिक्के

अनेक कदंब राजाओं की स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। उनके सम्मुख भाग के मध्य में प्रायः टांग उठाए हुए सिंह हैं, पृष्ठ भाग में चार या पांच पंक्तियों के लेख में राजा का नाम दिया गया है। राजा को प्रायः सप्तकोटिश का कृपापात्र बताया गया है। हम यहां पर जयकेशिन द्वितीय के पहले प्रकार की स्वर्णमुद्रा का वर्णन कर रहे हैं।

स्वर्ण, गोलाकार, 1·2 इंच, वजन ज्ञात नहीं, इलियट, फलक 2 : 71।

सम्मुखभाग : बिंदुओं से बने घेरे में सामने की ओर मुख किए सिंह, उससे पहले ही नागरी अक्षरों में 'प्रमोद' लिखा है जो जारी किए जाने वाले वर्ष की ओर इंगित करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठभाग : बिंदुओं के घेरे में पांच पंक्तियों का नागरी में मुद्रा लेख :
(1) 'श्रीसप्तकों', (2) 'टिसलब्धवरवि', (3) 'जयकेशि',
(4) 'देव-मल्लव', (5) 'रमारि'।

एक अन्य प्रकार के सिक्कों के सम्मुख भाग के मध्य में गर्जसिंह की आकृति है, तथा पृष्ठभाग में 'श्री-मलगे-भैरव' लेख है। ये सिक्के अधिकतर 60-65 ग्रेन के हैं।

काकतीयों के सिक्के

काकतीय मुद्राओं का प्रश्न काफी अस्पष्ट है। इलियट जैसे आरंभिक विद्वानों ने दो दीपाधारों के बीच स्थित वृषभ वाले सिक्कों को काकतीय वंश का बताया था, क्योंकि उनके ताम्रपत्रों में भी ऐसा चिह्न है[26], किंतु अब इस पूर्वानुमान को गलत बताया गया है।

इस वंश का राज चिह्न वराह था। किंतु काकतीय राजा शिव के भक्त थे, अत: यह मत असंभव नहीं कि उन्होंने अपनी मुद्राओं के प्रमुख चिह्न के रूप में वृषभ को चुना। सामान्यतया यह चिह्न दक्षिणी भारतीय मुद्राओं में काफी लोकप्रिय था। इसलिए केवल इसकी उपस्थिति ही इन सिक्कों को काकतीयों का बताने के लिए पर्याप्त औचित्य प्रस्तुत नहीं करती। इस विषय पर लिखने वाले श्री गोपालाचारी जैसे आधुनिक लेखकों का मत है कि हमारे पास ऐसी कोई मुद्रा नहीं है जिसे निश्चित रूप से काकतीयों की बताया जा सके। जिन फणमों को इस वंश का बताया जाता है, वे भी देखने में काफी आधुनिक लगते हैं और वास्तव में मदुरा के नायकों द्वारा जारी किए गए सिक्के प्रतीत होते हैं।

खंडित मुद्रालेखों से युक्त कुछ अन्य सिक्कों को भी विभिन्न काकतीय शासकों का बताया जाता है। कुछ सिक्के दक्षिणी कोंकण से मिले हैं, जिन पर सिंह अंकित है। उनमें तेलुगु अक्षरों में लेख हैं : कुछ सिक्कों में एक वृत्त में 'बलय-श्री' तथा अन्य में 'रुद्र' लिखा हुआ है। साधारणतया इन अवरोक्त सिक्कों को काकतीय नरेश रुद्र का बताया जाता है।[27] यह निर्धारण संभव हो सकता है, क्योंकि लेख तेलुगु अक्षरों में उत्कीर्ण है, किंतु यह बताना आसान नहीं है कि वारंगल में शासन करने वाले राजा के सिक्के दक्षिणी कोंकण में कैसे पहुंचे। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वर्णमुद्राएं प्राय: दूर स्थित प्रदेशों में भी पहुंच जाती हैं। कहा जाता है कि एक तांबे के सिक्के पर जो खो गया है, वृषभ चिह्न तथा 'श्रीमत्-क-प्रताप-र-य' का खंडित मुद्रालेख था।[28] इस सिक्के को काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र का बताया गया था। किंतु लेख अपेक्षाकृत कुछ लंबा प्रतीत होता है, और चूंकि अब यह सिक्का उपलब्ध नहीं है, अत: यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि लेख का विवरण सही है।

नेल्लोर जिले में कवैयदवल्लि से प्राप्त एक निखात निधि[29] में 56·25 ग्रेन का एकाकी सिक्का मिला था। इसके सम्मुख भाग पर सिंह तथा तेलुगु अक्षरों में '(क) ति-गन' रूपी खंडित लेख है। संभवत: यह राजा गणपति कालीन सिक्का है, किंतु अभी तक इस राय की पुष्टि नहीं हो पाई है।

उपर्युक्त संग्रह में तीन प्यालाकार स्वर्ण मुद्राएं भी मिली थीं। उनके मध्य में सिंह तथा खंडित लेख है, जिसको मिलाकर पढ़ने से 'रयसमु' शब्द पढ़ा जाता है। रुद्रंबा की मृत्यु के पश्चात जबरदस्ती सिंहासन पर अधिकार करने वाले अंबडदेव ने 'रायसहस्रमल्ल' की उपाधि धारण की थी। यह सुझाव दिया गया है कि 'रयसमु' शब्द रायसहस्रमल्ल का ही संक्षिप्त रूप है और इन सिक्कों को उसी ने जारी किया होगा। किंतु लेख का पाठ ही पूर्ण रूप से निश्चित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
नहीं है, अतः इस निर्धारण की पुष्टि नहीं की जा सकती है।

संदर्भ

1. इलियट, कायंस ग्राफ साउथ इंडिया', पृ० 53, फलक 1 : 2.
2. 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ दि हैदराबाद आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1925, पृ० 17.
2. इलियट, फलक 1 : 7-8.
4. वही, फलक 2 : 67.
5. वही, फलक 1 : 31-36.
6. 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ द हैदराबाद आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1939, पृ० 18.
7. 'इंडियन ग्राक्रिअलाजी', 1955-6, पृ० 92.
8. 'भंडारकर स्मृति ग्रंथ'. पृ० 213-16.
9. 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ द मैसूर आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1933, पृ० 98.
10. इलियट, फलक 1 : 19, 22.
11. वही, फलक 1 : 21-23.
12. वी० वी० मिराशी',.कार्पस इंसक्रिप्शंशनम् इंडिकारम्', iv, पृ० clxxx-clxxxi.
13. 'ए० इं०', vii, पृ० 26.
14. 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ द मैसूर आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1933, पृ० 99.
15. 'इं० ऐं०', xiii, पृ० 133.
16. 'ऐनुअल रिपोर्ट ग्राफ द मैसूर आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1933, पृ० 88.
17. वही, पृ० 162.
18. वही, 1938, फलक 21 : 7.
19. वही, फलक 21 : 9; इस सिक्के का व्यास 1 इंच और वजन अज्ञात है.
20. ज० न्यू सो० इं०', iii, पृ० 53.
21. इलियट, पृ० 152; फलक 3 : 87.
22. 'ऐनुअल रिपोर्ट आफ द मैसूर आर्किअलाजिकल डिपार्टमेंट', 1941, पृ० 108, फलक 20 : 1.]
23. 'इं० ऐ०', xix, नृ० 79.
24. 'जे० ऐ० सो० बं०, न्यू० सी०', 1925, पृ० 6-10.
25. 'ज० न्यू० सो० इं०', xiv, पृ० 15, फलक 4 : 14.
26. इलियट, भलक 3 : 93-95.
27. 'जं० बा० ब्रां० रा० ऐ० सो०', ii, पृ० 63.
28. इलियट, पृ० 85.
29. 'ज० आ० हिं० रि० सो०', i, पृ० 137.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणिका

अंग 13, 17, 205, 529, 604
अंजनाचार्य 211, 213, 217
अंजदिव 51
अंजनवेल 55, 59, 327, 356, 409, 524, 525, 611
अंतरीपदुर्ग 29, 31, 229, 240, 302, 304, 357, 414, 519, 643,
अंट्रे 13, 57
अंध 13, 14, 16
अंधपुर 23, 24, 25, 27
अंध्रावती मंडन 22, 304, 305
अकोला 21, 22, 24, 31, 200, 201, 244-247
अकाल वर्ष 257, 258
अखमती अभिलेखों 15 से 20
अगस्त्य 14, 15, 53 से 57, 99, 112, 520, 643
अगोथाक्लिया 113 से 117
अचलपुर 261 से 273
अजंता 3, 6, 21, 27, 29, 31, 37, 53, 113, 114
अजितभट्टारिका 165
अर्जुन 261, 262, 264
अड़ोनी 32
अटियालकिउस 113, 117
अण्णीगेरे 45
अथर्व परिशिष्ट 19
अथर्ववेद 38, 39, 41, 43, 57, 60, 61, 68, 99, 110, 214, 216, 647, 648
अर्थशास्त्र (कौटिल्य) 12, 20, 30, 45
अंदीसैंध्रोस 17
अन-तो-लो 22
अनंतपुर 32
अनंतगुण 211
अनिरूद्धपुर 28, 29, 31
अनूप 27
अन्मकोंड 22, 26, 29
अपोलोडोटस 113
अब्दुल फज्ल 21, 24, 26
अमरकंटक 25
अमरावती 10, 20, 22, 39, 62, 67, 104, 257, 569
अमलपुरम 41, 43, 46
अमिल 224, 407, 524
अमीर खुसरो 24, 26 29
अमोघवर्ष 42, 257
अमोघवर्ष प्रथम 53, 604
अय्यावोले 15, 53
अयोध्या 14, 17
अयोध्याकांड 14, 19, 326, 419
अरण्य कांड 14
अर्वुदों 27
अरब सागर 5, 9, 29, 347, 498
अरसीबीडि 53, 56, 57, 99, 149
अराकोशिया 112, 113
अरिष्टकर्मा 15
अरिकेसिन 265, 385
अरेबियन नाइट्स 50, 52, 439
अरूवण 385
अल्बरूनी 27, 28, 37, 47, 52, 147, 149, 309

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलीबाग 29, 51, 52, 57
अलेकजांड्रिया 97, 113, 119, 657
अलेक 55
अवंति 3, 7
अविनिजनाश्रय 22, 212
अश्वमेघयज्ञ 148
अश्मक 1, 4, 16, 21, 22, 23, 27, 147
अश्वनदी तटवासी 12
अशोक 13, 21, 25, 27, 38, 61, 62, 72, 74, 110, 340, 352, 647
अष्टि 6
असक 27
अस्मार्ग 16
असिनगर 48
अहमदनगर 6, 10, 15, 17, 39, 40, 53 57, 92, 312, 343, 405
अहिश्रेत्र 28
अक्षयनिधि 385
आंध्र 1, 8, 13, 16 17, 25 147
आंध्रखंड मंडल 25
आंध्रों 12, 16, 22, 27, 29
आइन-ए-अकबरी 20, 21, 23
आइलेंड 51
आटद उसले कोमर सिंग 224
आडूर के अभिलेख 229
आत्रेयी 9
आदिपर्व 15
आदित्य भयटार 224
आधुनिक गोवा 28
आधुनिक नागांव 29
आधुनिक सूरत 29
आनंद गोत्र 52, 53, 57, 59, 67, 73
आनर्तों 27
आनेमुंडि 10, 11, 13, 14
आबू 27
आभार 146, 147, 148, 149, 151
आभ्रक 28
आर्य बनस प्रथम 113, 114, 115, 117
आर्य 17, 25, 27, 29, 37, 44, 56, 76, 93
आर्यनाडु 17, 18, 19, 20
आर्यपुर 53, 57, 317, 339, 400
आरम्भि 39
आलंदीपुर 9
आलमपुर 10
आलुक 196, 197, 201
आलुपों 210, 214
आस्थान 211, 217
आसफजाह 8, 55, 387
इंद्रवती 9, 17, 19, 300, 304, 439
इंद्र 221, 222, 257, 259, 262
इंद्र तृतीय 54, 56, 57, 60, 62, 304
इंद्रायणी 9
इंद्र वर्मन 24, 39, 40, 41
इंध्यादि 3, 6, 9, 17, 629
इरिदिगे 28, 51
इल्वल 15, 23, 39, 667, 735
इल्फिस्टन 29, 31, 37, 429, 504, 747
इक्ष्वाकु 39, 146, 147
इक्ष्वाकुओ 147
ईरान 15, 20, 22, 67, 714, 719
ईसा 1, 17, 28, 30
उग्रसेन महापाध्य 60, 61, 67, 160, 737
उड़ीसा 13, 25, 26, 27, 34, 613, 625, 634
उच्छश्रंगी 52
उज्जयिनी 32, 33
उत्तरायण सूत्र 13, 17, 714
उत्तरीवसीन 29
उत्तराध्ययन सूत्र 25
उपेंद्र 211, 213, 217, 259, 307, 704
उपेंद्रराज 265, 267, 624, 639
ऊबेरे 13, 71
एक्कलरस 387, 388, 417, 599, 747
एगिद 51, 54, 57
एजीज प्रथम 114, 117, 239
एडोवोलल 40, 41, 47, 741
एरियन 15, 19, 39
एलापुर 211, 217, 219, 327, 701

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एलमंचि-कलिंग 26, 27, 28 29, 40, 117, 119, 327, 329, 340
एलोर 22, 26
एलोरा की गुफाएं 6, 9
ऐडेट्टोरेनाड 11, 17
ऐतरेय ब्राह्मण 12, 13 16, 22, 27, 39
ऐहोले 15, 31, 35, 53, 67, 99, 117, 709, 739
ओंकुद 33, 34, 37
ओईस्टर 51, 53, 57, 67, 607, 639, 737
ओफिर 15
ओरूडियन 16, 19, 20, 22, 23, 24, 27, 29, 31, 33, 39
औरंगाबाद 6, 20, 45, 47, 98, 114, 117, 367, 380, 667
औरूक्कल 55, 56, 57, 725, 729
कंडूर 10, 13, 17, 19, 39, 49, 67, 84, 85, 89, 100, 110, 112, 114, 264, 265, 379, 400 723, 724, 738
कुंकन 28, 51, 53, 311, 734
कुंडिवाटक 28, 29, 40, 484, 529, 604, 624, 756
कुंडीग्राम 28, 312, 317, 383, 386, 492, 523, 524, 601, 602, 619, 643, 743
कुंजर कोण 10
कुंडक देवी 261
कुंतल 1, 15, 31, 261, 298, 469, 531
कुंभवती 30, 33, 36, 407, 419, 533
कर्क्कराज 30
कर्क्क 257, 288, 673, 679
कर्णाट 1, 5, 7, 624, 625
कर्णपुरी 43, 49, 53, 66, 74, 83, 86, 99, 179, 184, 297, 400, 621, 623, 739, 740, 741, 755
कडूर 10
कडोदा 54, 56
करीम नगर 8, 9, 10, 17, 19
कदंब 7, 313, 704, 749
कराड 6, 14, 629, 630, 644, 771
कण्हेरी 6, 27, 29, 51, 56, 344, 388, 763
कार्निंघम 15
कर्नाटक 5, 15
कल्लिगेरिस 51
क्लाडियस टालीमियस 17, 19, 41, 47, 49, 305, 366, 407, 667
कलिंग 1, 13, 14, 24, 25, 26, 39, 638, 639
कन्नडभाषी 3, 5, 11, 463, 464, 489, 617 729
कलिंगारण्य 13
करहाटक 14, 30, 39, 214, 289, 318, 360, 376, 403, 404
कर्ण पर्व 19, 729, 731
कल्यान 27, 139, 368, 389, 400, 414, 416
कपिश 26, 711
कनारा 34
कल्चुरि 24, 424, 576, 577
कवदिद्वीप 29, 30, 31, 34, 36, 39
कर्पर्दिन 29
कन्वलाहार 42, 49
कल्याणवर्मा 154, 301, 716, 756
कच्चेल 212, 213, 217, 240
कृष्णा 3, 6, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 17, 28, 29, 30, 31, 34, 37, 67, 69, 76, 114, 117, 140, 149, 209, 210, 314, 419, 420, 555, 557, 611, 614, 638
कृष्णगिरि 6, 7, 8, 14
कृष्णवेणी 14, 15, 17 211, 313, 418, 554, 639, 640
कृष्णावेणा 24
कृष्णाद्वीप 30, 39, 239, 435, 589, 600, 656, 657, 676
क्रथ 8
कांचीश्वर 209
कांची 3, 18, 19, 20, 27, 96, 98, 204, 205, 209, 212, 576, 603

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कांतारक 14, 15, 16, 19, 39, 676
काग्ना 10, 53, 57, 59, 60, 504
कारूप 3, 7, 9, 676
कादंबरी 7, 15, 16, 33, 47, 89, 543
कान्यकुब्ज 23, 24, 26, 29, 31, 263, 278, 384, 392, 470, 512, 552
कावेरी 14, 16, 543, 544, 611, 629, 713
कालमुखों 14
कालीदास 16, 25, 26, 27, 29, 30, 212, 214, 307, 309, 439, 674, 676
कामसूत्र 20, 24, 29, 68, 88, 112, 282
कालहस्ति 22
काकतीय राजा रूद्र 23, 69, 240, 247, 621, 622, 623, 624, 729
कासाई नदी 26, 603
काठियावाड 27, 29
कार्पादिक द्वीप 29, 212, 214
कात्यायन 30, 31, 33, 34, 37, 39, 40, 43, 64, 66, 82, 184, 280, 372, 448, 449, 692, 693, 738, 739
काजीपेठ 41
कार्तिकेय 193, 194, 204
कालरात्रि 196, 213, 343
कावेर 210
काकुत्स्थ वर्मन 7, 9, 14, 17
कागिनी 53
किरणपुर 261, 262, 674, 684, 717
किसुकाउ 52, 54, 56,
किसुवल्ल 52,
किग्ग 40, 41, 44, 45,
किष्किधाकांड 14, 19, 21
कीलहार्न 8, 607,
कीर्तिवर्मन द्वितीय 53, 54, 212
कुक 8
कुड-कन-न-पु-लो 7,9, 313, 314
कुलक्काल पहाड़ियां 6, 9, 10, 11, 12, 68, 72, 170, 304, 672
कुमार विष्णु 41, 42, 43, 292, 293, 313, 316
कुरु 14, 38, 39, 40, 42, 43, 46
कुरुंडवाड 54
कुतुब शाही 55
कुम्कण 28
कुटुमखवादिर 212, 217, 219, 220, 221
कूरम 209, 211,
कूम विभाग 27, 29, 42, 272,340,
केरल पुत्र 13, 14, 15, 16, 17, 19, 40,
केप 51
केरलों 210, 340
कैलिंगोन 26, 29, 40, 74
कैलिएना 27, 51, 56
कैमूर 3, 7
कोंकण 14, 15, 26, 27, 28, 262, 263, 264
कोटितीर्थ 28, 30, 33
कोटीश 28, 29, 30, 34, 172, 174, 176, 718,
कोलाबा 29, 719,
कोल्लगिरि 15, 18, 19, 30, 688, 689, 735, 736
क्रौंचारण्य 14
कोप्पल 11
कोल्हापुर 32, 154, 156
कोन्नूर 34
कोणसीम 41
कोपवल 61, 119, 143, 619,
कौशितकी उपनिषद 12, 13, 14, 17, 19, 20
कौगिक क्रथ 20
कौटिल्य 12, 20, 30, 142, 143, 194, 333, 334, 542, 564, 762
कौशल 4, 13, 413, 414
खंडनाथ 119, 120, 121
खखराती 15, 16, 18, 22
खलिघट्ट 273, 292, 293, 742
खारपेटन 50, 51, 53, 528
खानपुर 45, 50, 61, 68, 96, 192
खानापुर 45, 46, 193, 194, 342
खारवेले 18, 22, 25, 65, 69

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खावेरोस 17
खानदेश 48, 49, 60, 361, 479
ख्रीस 50
खेटकाहार 42
खोट्टिग 273, 274, 276, 296, 304, 732
गंजाम 6, 27
गंगामूल 7, 10, 14, 17, 19
गंगा 10, 13, 26
गंधारघाटी 15, 17, 347, 414, 501, 542, 546, 713
गंगरिदै 16, 26, 332
गंग 26, 332
गंगथदि 31, 34, 36, 437, 549
गंग महादेवी 209, 213, 214, 216, 217, 219, 300
गंटूर 50, 51, 52, 53, 54
गंधर्वों 213, 219, 222, 226, 227, 340, 444
गड़वाल 209, 213, 217, 386, 581
गवे 52
गणपतिदेव 50
गडवा 34
गविमठ
गार्ला 8
गाविलगढ़ 20
गाविल्बरसि 215
गिरिनार 65
गुंगूर 261
गुंटी 32
गुंडेर्ट 28
गुजरात 27, 39
गुल्वर्ग 6, 45, 53, 57
गुर्जेला 10, 12, 14, 17
गुर्जर 212, 213, 272, 273
गुग्म 215
गुण्डन अनिवारितचारी 226
गोंक प्रथम 41
गोंडोफर्नीज 115, 116, 386
गोग्गि 215, 746
गोविंद तृतीय 54, 55, 57, 59, 264
गोविंदवां 261, 263, 282
गोर्आरस 36
गोदातट-मध्यप्रदेश 31
गोवर्धन आहार 39, 40, 41, 71
गोपकपत्तन 52
गोपक पुरी 52
गोवर्धनपुर 30
गोवा 28, 29, 52
गोदावरी 3, 5, 6, 7, 8, 10, 12, 13, 15, 16, 17, 21, 25, 27, 28, 30, 34, 47, 49, 89, 100, 114, 117, 130, 240, 269, 288, 300 401
गोकर्न 28, 29, 30, 609
गोस्तनी 26, 40, 41, 42, 624, 641
गोबिंद 29, 641, 647, 648
गोलकुंडा 20, 55, 78, 79, 113, 114, 117, 120, 298
गोपराष्ट्र 15, 39, 42
गोवरिस 17
गौतमी 9, 10, 12, 14, 17, 19, 24, 37, 39, 49, 63, 64, 79, 88, 89, 102, 113, 114, 117, 611, 612, 723, 727
गौतमी गंगा 16, 19, 20
गौतमी पुत्र सातकार्णि 20, 22, 27, 36, 44, 46, 80, 81, 92, 115, 117, 219, 240, 289, 377, 409, 576, 579, 613, 614, 649, 653
घंट शालू 67, 69, 70, 79, 209, 243, 247, 456, 527
घाटमाथ, 7, 9, 17, 27, 676
घोडेगांव 51, 52, 57, 59, 515, 516
चंबल 12, 113, 129, 144, 161, 177, 193, 232, 249, 353
चंद्रश्री 118, 119, 120, 128, 131, 132, 133
चंद्रगुप्त 150, 152, 153, 155, 157, 159, 160, 176, 177, 192, 198, 212, 214
चंद्रावती 15, 19, 314, 419, 511, 605

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चंद्रगुप्त मौर्य 60, 61, 63, 69, 70, 71, 74, 77, 79, 88, 92, 113
चंद्रादित्यपुर 54, 56, 57, 314, 388, 396, 411, 513, 517, 619
चलुक्य 192, 213, 214, 237, 239, 240, 249, 257
चष्टन 118, 120, 121
चर्सोनेसस 42, 51, 57
चक्रकूट 19, 20, 21, 22, 26, 29, 31, 37
चांदा 29, 30, 31, 69, 244
चांदोर 3, 6, 44, 47, 49, 217, 543, 547, 637, 638
चालुक्य 26, 209, 210, 214, 219, 233, 239, 313, 519, 527, 537
चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय 31, 209, 217, 231, 237, 517, 614
चित्रकूट 14, 15, 17, 39, 77, 87, 110, 113, 229, 249
चित्तर 22, 23, 24, 26, 39, 68, 92, 96, 198, 344
चिकाकोल 16, 26, 27, 29
चिल्का 8
चितलद्रुग 23, 61
चिपलूड 42, 43, 47, 132, 449
चीनी यात्री 31, 32, 34, 579
चीनी महल 54
चीपुरुपल्ले 25, 27, 312, 339, 388, 397, 413, 466, 669
चेंदलूर ताम्रपट्टों 41, 43, 47, 205, 255, 257
चुल्लकलिंग जातक 18, 20, 22, 26, 29, 344
चेदलू 24, 29, 30, 41, 143, 198, 199, 201, 237, 556, 589, 590, 611, 614
चेजेर्ला 22, 29, 31, 69, 71, 74, 80, 160, 192, 233, 248, 263, 288, 313, 325, 439, 444, 447, 517, 676
चेल्लूर 8, 10, 17, 88, 94, 204
चेमूलि 29, 30
चेमूल्य 51, 76, 77, 79, 307, 311,
चेत्यवाद 62, 89
चेतिराजा 80, 81, 82, 113, 114, 117, 119
चोडदेव द्वितीय 8, 17, 18, 19, 27, 74, 84, 114, 145, 156, 188, 279 380, 381
जंजीरा 51, 76, 213, 429
जंबुखंड 14, 22, 26, 29, 71
जंगतुंग 261, 262, 677, 701
जलना की पहाडियां 6
जनपद 19, 38
जयगढ़ 15, 51
जयसिंह द्वितीय 53, 57, 59
जयदामन 118, 119, 121
जातक 3, 4, 7, 9, 11, 25, 26, 27, 29, 31, 40
जामदग्नी 9, 27
जायसवाल का० प्र० 65, 66, 69, 154, 155, 171
जूनागढ़ 27, 60
जे० रेप्सन 65
जेमिनीय ब्रह्मण 12
झेलम 113
टालेमी 5, 17, 18, 19, 25, 27, 313, 701
टीकाकार वात्स्यायन 31
ठाणा 6, 27, 28
डूलि 43
डेमेट्रियस 113, 117, 204, 218, 349, 624
त-श्सिन 3, 4, 7, 10, 706
तमिल 3, 5, 6, 8, 14, 122, 123, 126, 192, 193, 207, 343, 344, 582, 583, 584, 604, 669, 702
तगवेना 15, 34, 36, 39, 411,
तन (ठाणा) 28, 30, 31, 182, 186, 373, 739
तक्षशिला 114, 116, 119, 127, 128, 204, 205, 264, 266, 323
तलेगांव 30, 31, 33, 36, 39, 41
त्यबंक 32
तांदूर 53, 54

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तालगुंद्र अभिलेख 7, 8, 9, 14, 17
ताना 51, 65, 198, 205, 224
ताप्ती 15, 16, 17, 19, 20, 22, 23, 27, 31, 34, 35, 37, 41, 69, 83, 87, 113, 119, 138, 177, 193, 231, 262, 263, 307, 547
ताम्र 209, 210, 213
ताप्रोब्ने 15
ताम्रपर्णी 14, 15, 17, 19, 209, 211, 212
तिलंग 24, 27, 29
त्रिपर्वत 53, 59, 195, 306
त्रिकूट पर्वत 27, 28, 31, 37, 49, 53, 55, 56, 431, 433, 709
त्रिकलिंगावटी 26, 27, 28, 33, 36, 40, 41, 43, 44, 47, 51
त्रिकलिंग 16, 17, 19, 20
त्रिलिंग 13, 15, 24, 25, 29
त्रिचनापल्ली 209, 210, 214
त्रिभुवनाचारि 226, 228, 311, 427, 429, 509, 627, 629, 714
तीर्थयात्रापर्व 14, 16, 17
तुंगभद्रा, 3, 4, 7, 8, 10, 11, 14, 15, 27, 29, 31, 35, 36, 38, 39, 43, 53, 57, 67, 88, 126, 129, 138, 144, 156, 163, 198, 211, 219, 329
तुंग 7, 9, 10, 15, 27, 29
तुंगकरण 7, 11, 13, 17
तुंगकारण्य 7,
तुंग श्रृंगेरी 10, 11, 14, 706
तुंगवेणा 15, 16, 17, 19, 39, 304, 444, 517, 663, 719
तुंडाक 212, 214, 219
तूर्यनाद 16
तेर 17, 55, 56, 59, 561
तेलवाह 23
तेर्दाल 35, 39
तेलिंगान 6, 9, 22, 26, 29, 41, 46, 58, 63, 67, 76, 79, 83, 87, 91, 93, 97, 128, 176
त्रैकूटक 28, 29, 31, 33
तोंपुकिरठ 39
तोबूल 224, 226, 312
तोसल 13, 17, 23, 25, 39, 40, 138, 169, 205, 219, 358, 359
तोर्नां 10, 11, 13, 14, 17, 19
तोसली (सुरी) 18, 48, 61
तोसलीनगर 18, 41, 48, 61
थैर 17, 18
दंडक 12, 14, 17, 21, 23, 24, 26, 28, 30, 31, 33, 37, 47, 58, 76
दंडकारण्य 14, 17, 18, 104, 117, 218, 249
दंतपुर 16, 18, 19
दंगल 19
दंतकूर 16, 17, 21, 26, 46, 324, 361, 643
दंदगुल 16, 17, 19
दंदगुलनगर 26, 39, 47, 56, 61, 702
दंतवक्र 26, 27, 29
दंश्यूक्कोंडपट्टन 50, 56
दंतिदुर्ग 42, 225
दचनोस 4
दचिनाबेडीज 4, 16
दरिमरिका 4
दक्षिण कनारा 28
द्रविड़ 13
दक्षिण पथेश्वर 69, 71, 74, 76, 77, 79, 103
दक्षमित्रा 114
दानवुल पाडु 211, 213, 217, 219, 237, 306
द्राक्षाराम 11, 23
द्वारका 26
दिग्विजय 26, 27, 28, 29
दिग्विजय पर्व 14, 16, 17, 21, 23, 26, 28, 29
दिब्विद ताम्रपट्टों 26
दुगड 55, 56, 59

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुर्लभ देवी 96, 97, 117, 119
दुर्योधन 14
देक्कलि 14, 43
देवाचार्य 211, 217
देवगिरि 6, 55, 57
दौलताबाद 6, 7, 21, 45, 47, 49, 447, 448, 507, 513
धरणिकोट 64
धर्ममहामात्य 61, 62, 66
धान्यागार 5
धान्यकटक 10, 22, 64, 66, 89, 137, 302, 343, 604, 647, 649, 714
धाणसिंह 55
धारवाड 28, 33, 34, 45
ध्रुवराज 196, 197, 198, 201, 204, 211, 214
ध्रुव प्रथम 257, 262, 264
धोयी 22, 23, 27
नंदिवर्मन 11, 112, 212, 213, 215, 217, 218, 219, 222, 224, 230
नंदियोत वमर्नन 212, 213, 217, 218
नर्मदा 3, 7, 8, 10, 12, 13, 14, 25, 27, 29, 30, 31, 35, 36, 38, 39, 41, 45, 47, 49, 61, 63, 67, 78, 79, 82, 198, 217, 239, 361, 366, 445, 478, 518, 563, 609, 611, 623
नलगोंडा 11, 12, 14, 17
नलोपाख्यान 20, 21, 27, 28
नवसारिका 28
नलवाडि 39, 43
नरेगल 45, 47, 48, 49
नवतार 49
नहयान 115, 119, 218
नरसिंह वर्मन 208, 210, 213, 214, 217, 219, 228, 230, 231, 234
नरसेह 148, 156, 159
नरेंद्रसेन 165, 166, 169, 171
नागपुर 29, 31, 47, 49, 127, 139, 140, 149
नागांव 29, 30, 32, 38
नागोद 23, 25, 26, 28
नाडु 40
नादोद 29, 30, 31, 36, 40
नागार्जुन कोंड 49, 50, 52, 56
नारायणकण्व 114
नायक वत्सराज 211, 213, 217, 316, 438, 504, 706
नाट्यशास्त्र 24, 25
नासिक 6, 7, 15, 20, 31, 32, 37, 39, 46
नारायण बलि 226, 227, 230, 241, 489
निषाद 12, 14, 15, 17, 19, 21, 27, 43, 46
नित्रा 17, 18
नित्रान 17, 19, 583, 586
नीरा 9, 10, 29, 31
नीरा की घाटी 31, 32, 383, 387, 601, 639, 719, 720
नीरानद्युत्तर तट 31
नीरथदि 31
नेत्रवती 11, 17
नेत्रम 17, 19
नेल्लोर 22, 24, 32, 33
नेरूर 211, 213, 345, 347
नोलंबवाडिचितलद्रुग 23
नोलंबवाडि 39
नोलंब 261, 263, 283, 287, 313, 451
नौसारी 28
पंचाप्सरोतटक 7, 8, 9, 11, 28, 49, 60, 76, 192, 289, 403, 511, 517
पंचवटी 8, 301, 302, 317
पंपासर 7, 8, 9, 11, 17, 19, 311
पंपक्षेत्र 18, 198
पंपा 14, 65
पूंडै 15, 17, 165
पयोष्णी 20
पल्यट ठाण (फल्टक) 6
पल्लवों 24, 192, 193, 613, 669, 700, 744

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पद्मपुराण 26, 88
परशुराम 26
पल्लाचि 32, 37, 38, 111
पथेश्वर 69
परमारभोज 163, 167, 169, 213, 214, 215
पवनार 165, 166
परमेश्वर वर्मन 209, 210, 211, 214, 217, 219, 220, 222, 223, 228, 234
पट्टदकल 117, 219
पद्मरागमणि 210, 211, 213
पल्लवराजा 209, 214, 217,
प्रस्तराभिलेख 211, 212, 222
प्रभावती गुप्ता राजमाता 162, 163, 164
प्रवरसेन प्रथम 147, 148, 149
प्रवरसेन द्वितीय 148, 150
पृथ्वीवल्लभ 257, 260, 261
पृथ्वीषेण 159, 160, 161, 163
प्लन्टार्क 60
पांथीपुर 43
पाखाल 7, 10
पार्जिटर, 6, 14, 22, 188
पाटलगंगा 10, 213, 349
पाणिनीय सूत्रों 13, 613, 619, 721
पाइलट ओनेसिक्रिटोस 15
पार्थलिस 16, 19, 118, 311, 313, 417
पाणिर्नी 25
पायनघाट 33, 63, 67, 88
पाटिलपुत्र 62
पालिध्वज 210
पारासिक 210, 213, 314, 618, 666, 667
प्राहिंता नदी 8
प्लिनी 15, 16
पिष्ठपुर 24, 25, 33, 38
पिष्ठपुरम 24, 25, 301, 419, 467, 469, 513
पिथुड 25, 35
पिटींद्रा 50
प्री आर्यन एंड प्री द्रविडियन इन इंडिया 24
पुंड्रा 13
पुलिंदों 13, 27, 83, 133, 186
पुर्ले 24, 613, 649, 701
पुरी 25, 29
पुष्यमित्र 62, 113
पुरिका 30
पुलकेशिन द्वितीय 31, 32, 313, 640, 719
पुलिगेरे 33, 45, 219, 240, 241, 244, 389, 401, 569, 711
पुलमावि 38, 43, 69, 193
पुलिकर 45, 46
पुलकेशिन की सैनिक शक्ति 225, 300
पूना 10, 369, 401, 557, 559
पूणक (पूना) 6, 9, 11, 17, 27, 129, 630
पूर्णा 20, 230, 249
पूर्वी चालुक्य 26, 29, 40, 41, 46, 47
पेनगंगा 9
पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी 3, 16, 17
पेतुवल्थु टीका 3, 6, 189, 192, 193
पेद्दवेगि 22
पेलोगा 39, 41, 47, 188, 194, 201, 324, 336, 474, 475
पेरूबलनल्लूर 209, 411
पैठन 6, 601, 613
पोलिनेशियाई 13, 318
पोतलि 16, 21, 211, 213, 401
पोदन 21, 22, 284
पोलघाट 32, 218
पौरिका 30, 218, 330, 322,
फ्लीट 28, 29, 35, 468, 469
फाहियान 3, 6, 9, 12
बंबई 3
बंदह 20
बरार 3, 6, 12, 20, 21, 23, 29, 31, 47, 88, 89, 100, 102, 117, 143, 481
बस्तर 7, 8, 20, 112
बसीन 27
बड़ोदा 28, 29, 40, 194
बलगंवे 34, 304, 635, 636, 637

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बदागर 51
बहमनीकाल 55, 533
ब्राह्मण धर्म 25
बाल्टीपटन 51
बादामीकाल 209, 211, 229, 230
बाणराज्य विषय 224, 229, 330
बालाघाट 6, 22, 23, 33
बिंदुसार 61
बिलोली 6
बिजापुर 33, 34
विरूर के ताम्रपट्टों 33
बिल्हण 35
बीदर 29, 33
बीर 6
बुंदेलखंड 14
बुल्डाना 35
बेरीगाजा 4, 50
बेलहिणरू 4
बेल्लारी 8, 34
बेलगांव 34
बेनगूरोन 47
बैरगढ़ 20
बोंदादे 29
बोधायन 10, 13, 25
बौद्ध 13
भंडारकर दे० रा० 69, 128
भरतनाट्यशास्त्र 3, 10, 11
भद्रा 7
भद्राचलम 7, 8, 55
भडोच 27, 50
भवनाग 159
भवभूति 20
भ्रमरांबिफा के मंदिर 23
भ्रमरगिरि 22
भागवती 13
भारहुत 20
भाटकुली 20
भागर्व महात्मा 30
भारद्वाजी 9
भागीरथी 42
भिरुकच्छों 27
भिवंडी 29
भीमा 6, 9, 15
भीमेश्वर 11
भीमा राजा 12
भीष्मपर्व 15, 749
भीमथदि 31, 33
भीमरथी 31, 713
भीवांडी 36
भुवन कोश 4, 22, 34, 669, 743
भूपादित्य 24
भोगवर्धन 1, 6, 21, 22, 29, 313, 314, 317, 401, 439, 440, 442, 466, 467
भोकरदन 6, 21, 517, 569, 613, 669
भोजकटक 20, 22, 688, 692, 711, 743, 744
भोगपुरम 26, 27, 29, 321, 333, 401
भोगिपुर 26, 43, 577
भोजराजा 30, 613
मंगलेश 28, 196, 736,
मंगलेश के बादामी के अभिलेख 226
मंदगोर 51, 53, 57
मंदनगड 51, 56
मंदाकिनी 13, 192, 213, 364
महेंद्रगिरि 3, 6, 14, 24, 25
मधुमंत 30, 613, 617
मराठवाडा 3, 549
मद्रास 3, 24, 403
महिष्मती 3, 24, 30, 243
मत्स्यपुराण 3, 11, 266, 266, 267
महानदी 3, 6, 25, 24, 554, 576, 579
मध्यप्रदेश 3, 24, 349, 350, 352, 436, 447, 589
महादेव की पहाडियां 6, 13, 17, 19, 20
महाबलेश्वर 6, 13, 171
महाराष्ट्र 7, 29, 30, 31, 33, 38, 219, 249, 260, 313, 467

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंहारवी 7, 513, 567, 598, 599, 601, 623
मलप्रभा 9
मल्लशेखर 11
महाभारत 11, 15, 17, 18, 20, 25, 26, 27, 30, 622, 623, 713
महागोबिंद मुत्तंता 13, 25, 29, 198, 213, 217, 227
महात्मा भार्गव 30, 340, 341
मक्को कलिंगें 16, 76, 211, 245, 264, 451
महकरावाद 20, 178, 192, 193
मन्नेरू 24, 469, 503, 551, 601
मसलिया 25, 38,
मसुलीपटम 25, 39
महेंद्रनाथ 25, 40
मद्रकलिंग 26, 31, 446, 449, 514
मत्स्य कलिंग 26
मलयालक डिक्शनरी 28
महाकोंकण 28, 211, 213
महासप्तम 29, 192
महिरहार 29, 42, 349, 428
मराठ प्रदेश 29, 567, 568
महूर 29, 183, 184, 661, 667
महावस्तु 30, 713
महिष मंडल 30, 198, 290
मनौली 34, 37, 245, 310, 417
मसंकदानी 39
मल्ल प्रथम 41
मलप्रभा नदी 45, 52, 53
मसूदी 51
महाकूट पहाड़ी 52
मल प्रवाहिनी 52
मनिकर 5,3 61, 189, 333
मयूरखंडी 54, 212, 261
महापदमनंद 60, 611
महावंश टीका 60, 72, 73, 183, 744
मगध 112, 114, 663
मथुरा 113, 114, 385
मल्लिकार्जुन देव 148
महेंद वर्मन द्वितीय 209
मल्लियूर 209
महास्कंधावर 209
महीपाल 265
महोबा 265
मन्नेय 385
महारानी लोक देवी 212
मांडकर्णि 7, 384, 386
मांञा 32
मालयवंत 6, 249, 260, 261, 485, 611
मान्यखेट 10, 14, 16, 19, 29
मालविकाग्निमित्र 20, 21, 22, 26, 29, 146, 273, 292
माठर 26,
माहेयो 27, 163, 467
माही 27, 613,
मार्कंडेय पुराण 27, 29, 381
माराट 28, 384
मानिकदुर्ग 29, 216
मार्जार 32 114, 117, 203, 219, 484, 583
मालवा 32, 114, 722, 724
मामाल आहार 39, 40, 41, 49, 67
माबल आधुनिक 39
मावली 41, 48, 86
मान्यखेड 45, 46
मासवाडि 45, 47
मार्कोपोलो 50, 51, 57, 603
मालखेड 53, 54
माति भोदम्म 221, 245, 246, 249
माधव विक्रमादित्य 209, 210, 224, 236, 237, 307, 313, 429
मारसिंह 273, 293, 294
मिढ़ोला नदी 39
मिनांडर 113, 115, 119, 137
मिदनापुर 26, 29, 46, 57
मिवांडी 51, 83, 86
मीरज 53
मुलमुथा 9, 10, 11, 13, 71, 472, 684, 724

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नुनेर 10, 14, 17
मुसी 10 24, 38, 213, 2/3, 284, 287, 328
मुदल 11
मुक्तमत्स्य 15
मुत्फिलि 50, 51, 57
मुलमुंड 33, 417, 516, 539, 617
मुजिरिस 47
मुसिक नगर 49
मुधोल 50
मुबारक खिलजी की मस्जिद 54
मुहम्मद बिन तुगलक 55, 56, 57, 108
मुद्राराक्षस 60, 73
मुग्धतुंग 261, 263
मुखालिंगम 26
मूलक 6
मूतिबों 13, 16, 17, 49, 382, 386
मूदुबै 13, 16
मेगस्थनीज 15, 45, 52, 57
मैसोलोस 17, 249, 313, 327, 363, 364
मैसोलिया 24, 25, 30, 414, 417
मोसल 24, 617,
मोडोगलिंगै 16, 26
मोनहती 16, 26, 27, 29
मोदो मुल्ला 50
मौर्य राजा वृहद्रथ 62
यवतमाल 12 35
यक्ष श्री 119, 122, 137, 138
यशोदामन द्वितीय 150, 161, 163, 167, 413, 449
यमुना 14
यादव राजा गिल्लम 54
युआन-च्वांग 7, 22, 24, 32, 35, 239, 313,484, 567, 578, 614, 637, 681, 683
युवराज विक्रमादित्य 211, 213, 215, 216, 219, 222, 224, 331, 336
युवाड च्वाड् 225, 228, 229,
यनानी 15, 16, 24, 35, 221, 328, 339
यू० चौ० 113
येल्लमंचलि 25
येर्र गुडि 61
योन कंबोज गंधार 27
रकतपुर 54
रक्तपुर (लक्ष्मेश्वर) 211
रघुवंश 11, 26
रघु 26
रठिकपितिनिकों 27
रत्नागिरी 28, 29
रणराजवर्मन 209
रामायण 11, 14, 26, 30
रामायण-महाभारत 8, 12, 25, 209
रामेश्वर 3, 319
रायचूर 6, 10, 11, 313
रामप्पा की झीलें 8
राजामुंदी 9, 287
रामजामदग्न्य 14, 214
राम दाशरथि 15, 613
राजशेखर 20, 34
राजपुर 26, 569
रागोलु 26, 440
राकलुब 26, 213, 414
रामतीर्थ 27, 29
राजामंगलेश 28, 29, 40, 41
राइस 32, 46, 198, 292
रामनाथ 34, 341, 384, 386
राष्ट्रगोप 38
राजमुंद्री 52
राजशेखर 20, 34
राजमहेंद्र पतन 52, 54, 56
रानी का मार्ग 53
रावण 55, 213, 214, 666, 711
राजसिंहेश्वर 213
राज श्रावितम 221
राजमान 224
राजमाता विनयवती 224
रुद्रदेव 6
रुक्मि 6, 14, 213, 223

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्र 23, 24
रूद्रांबा 24, 50
रूद्रम्मा 24, 50
रूद्रदामन 27
रुद्रसेन द्वितीय 150
रुद्रसिंह द्वितीय 150
रेवा 12, 13
रेवोत्तरस चाक्र पाटव स्थारति 12
रेवती द्वीप 29
रेनडु के तेलुगु चौड 211
रेमिया 261, 573
लंका 9, 15, 411, 613, 698, 701
ल्यूडर्स 22
लक्कुंडि 34, 217, 388, 389, 467
लक्ष्मेश्वर 33, 34, 385, 392
लक्ष्मी 261
लाट 28, 29, 603
लाटूर 53, 517
लालगुडि 209, 449
लीलावती परिण्य 69
लोकमहादेवी 211
लोकपालेश्वर मंदिर 211
वरदा 31
वत्सगुल्म 1, 14, 22, 23, 69, 169, 713
वस्ना 6
वर्धन 9
वर्धमानपुर 18
वर्धा 9, 12, 29
वराह पर्वत 10
वराहमिहिर 1, 17, 34, 213
वनपर्व 27
वर्तमान गोवा 51, 151
वराहध्वज 193
वज्रवर्मन 211, 221
वल्लभागाणिका 221
वशिष्ठ 26, 27, 29, 128
व्रतखंड 7
वज्रट 210
वांडिवाश 209, 213, 274, 298
वागली 385
वारंगल 7, 23
वाण 7, 10
वायु पुराण 8, 29, 112, 218
वामदेवी 9
वातापि 15, 209, 227, 331
वारदातर 20, 212, 418, 549
व्रात्य 25
वातायन 26, 613, 649
वारियाव 28, 29, 40, 41, 46
वात्स्यान का कामसूत्र 28, 29
वात्स्यायन मल्लनाग 30, 31
वात्स्ययायन नाग 31, 34
विंध्य 12
विंध्यशक्ति 20, 147, 198
विंप्लिपटम 26, 30, 36, 214
विजयनगर 10, 389
विजयवाटिका (बेजवाड़ा) 10
विनयपिटक 13
विधर्मीकरहारण 14
विक्रमादित्य 209
विजगपटम 23, 25, 26
विराट 28
विनयादित्य 31, 209
विंक्रमादित्य प्रथम 34
विष्णुकुंडिन प्रथम 34
विजड्रोग 51
विक्रमपुर 53, 57, 194, 701, 743
विक्रमादित्य षष्टम 53, 613
विजयादित्य रासेन नगर 53, 557
विक्रमांकदेव चरित 53, 193, 194, 214
विक्रमादित्य द्वितीय 54
विसेंट स्मिथ 64, 69
विमकैडफाइसीज 116, 117
विदिस्प 146, 318, 469
विष्णुवर्धन 194, 213
विजयादित्य 209, 210, 314, 317, 440
विनयवती 210
विष्णु 210, 213, 249, 361

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विनापोटि 221, 492
विजंबा 216, 513, 636
विल्सन 53, 317, 440, 638
वीणापोटिगिल् 212, 221
विदर्भ 1, 5, 12, 13, 20, 29, 31
वेंगी 24, 34, 35, 39, 198, 201, 214, 216, 217, 239, 240, 247
वेंगीपुर 23, 24, 213, 218, 219
वेंगुर्ले 29, 447, 449
वेंजी भुवम 34, 367
वेंगिपुर 16, 24
वेंगिमंडलम् त्रिकलिंगार वियुक्तम 26, 27, 29, 30, 340, 347
वेनवा तट 7, 213, 237, 239, 251
वेनगूरों 24
वेटर्स 35
वेष्णा कार्पर 39
वैतरिणी 25, 26, 27, 319, 683, 744
वैनगंगा 9, 10, 11, 13, 192, 229
वैश्वामित्री 9, 13, 14, 19, 261, 373
वैजयंतपुर 14, 47, 64, 76, 220, 336, 419
वैजयंती 47, 116
वैथेन 53, 714
शंकरगण 261, 469
श्वेतपथ 39, 351
शतपथ ब्राह्मण 12, 211, 213
शबरी 9, 13, 271, 313, 639
शक्तित्रय 211
शक्तिसंगम तंत्र 24, 32, 37
शालंकायनों 24, 28, 45, 52
शापूर द्वितीय 150, 561
शिमोगा 35, 54, 386, 473, 629
शिकारपुर 54, 193, 196
शिलाहारवंश 29, 113, 294
शिरुत्तोंडर 209, 211, 266, 267, 481
शुभतुंग 260, 266
शूपरिक 14, 15, 27, 29, 688
शोरापुर 9
शोलापुर 53
शौर्य लेख 28
संगमेश्वर 28, 212, 214
संजयंती 5
संबुंधु 30
सह्याद्रि पर्वत 3, 5, 6, 27
समुद्रगुप्त 7, 24, 155
सप्त गोदावरी 9, 11
सप्तकलिंगो 26, 28, 40, 41
सभापर्व 14
सतारा 28
सरकार 21
सरभंग जातक 30
सरस्वती 27
सरस्वतों 27
सर्पदेश 28
सतपुड़ा 29
सरभों 54
साण्बिसायिर 54
सत्याश्रय श्री पृथ्वी वल्लभ महाराजाधिराज, परमेश्वर भट्टारक 211
समस्त भुवनाश्रय 211, 214, 216
समुद्रघोष 212, 213, 214, 216, 219, 240
सातवाहन 1, 30
सातकर्णि 6, 7, 20
सातवाहन राजा पुलुमावि 38
सावंतवाडि 20
सातमाल 3, 6, 20
सालकेनोइ 24, 25
सारकच्छ 44, 48
सिरपुर 26, 27
सिंहल 30, 209, 213
सिंध 15
सिंधुयुग्मांतर 24
सिंहपुर 26
सिंगपुरम 26
सिंदिनेर 54
सिन्नार 32, 54
सिकंदर 15, 21, 213
सिल्क 15, 314

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिमुक 64, 128, 408
सिल्वां लेवी 13, 24, 129, 130, 413
सीमील्ली 51
सीता 55
सीना 6, 192
सीनी 10, 211, 214, 318
सुत्तनिपात 13, 249, 251, 257, 311
सुरथ 27, 29, 501
सुप्पर 27, 31, 429, 613, 667
सुल्तानपुर 4, 5, 6, 7, 8, 19, 603, 613
सुखठणकर पी० टी० 65, 67, 69, 71, 211, 249, 267, 280, 328
सुराष्ट्रों 27, 29, 41, 47
सूबार 27
सूरत 28, 181, 192, 353, 361, 363, 637
सूबारा 51, 213, 219
सेउण 7, 19, 54
सेलसेत्ते 29
सेरिंगोपटम सैंधव 212
सोन 15, 25
सोपारा 15, 27, 29, 513, 667, 713, 714
सोफिर 15, 19, 113, 167, 169, 240, 379, 441
सोनगांव 39, 598, 651, 656, 716, 717
सोपारक 39, 40, 63, 67, 714
सोमेश्वर चतुर्थ 54
सोग्डियाना 112, 367, 369, 417, 419, 563, 654, 684, 731
सोमेश्वर प्रथम 53, 431
सौंदत्ति 34, 633, 634, 638, 593
हंसूर 35, 37, 39, 93
हंपसागर 8, 17, 211
हल्कर 21, 183, 613
हटवे 28, 738
हगरटगेनाडु 33, 162, 173, 637
हनमकोंड 6, 8, 9, 23, 69, 183
हल्सी 52
हतमपुर 211
हर्षवर्धन 225, 227, 649, 663
हर्षचरित 10, 221, 223, 254, 363
हनुमदचल 54
हरिश्चंद्रगढ़ 6, 19, 668
हरिवंश 20, 21, 24
हरिषेण 24, 175, 176, 177, 192
हरिषेण वेंगी 24
हरिहर 34, 35, 419, 463
हरिण्यपुर 39, 582, 589, 591, 673, 674
हरिण्यगर्भदान 195, 212, 215
हांगल 28
ह्वाइट आइलैंड 51, 52
हारितिपुत्र 193, 194
हिप्पोकू 51
हिडिंबा श्रम 54, 296
हुआंग-त्चे 18
हुनुगुंड 33, 613
हेकाटइओस 15, 561
हेरोडोटस 15, 413, 476, 479
हेराक्लीस 15, 17, 19
हेस्टिंग्स 11, 13, 36, 111, 239
हैहय 27, 489
हैग 28, 208
हैदराबाद 3, 6, 7, 8, 9, 10, 17, 33, 39, 188, 192
होशंगाबाद 20, 22, 27, 29, 140, 146

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि गहराई से विचार किया जाए तो यह ग्रंथ प्राचीन दकन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक इतिहास का ऐसा गंभीर अध्ययन है जिसमें सभी अद्यतन प्रामाणिक स्रोतों का आधार ग्रहण किया गया है. इस पुस्तक में इन पक्षों पर भी विचार किया गया है : दकन में विभिन्न सत्तारूढ़ राजवंशों की क्या स्थिति थी, अपने राज्य की अखंडता और स्वतंत्रता के लिए उनमें किन वजहों से संघर्ष हुआ करते थे और उस अवधि की मुख्य राजनीतिक घटनाएं क्या क्या थीं. इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि पुस्तक गंभीर तथा सामान्य दोनों तरह के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा कर सके. जिन प्रश्नों पर विद्वानों में मतभेद है उनका भी विश्लेषण किया गया है और छात्रों की सहायता के लिए विस्तृत टिप्पणियां भी दी गई हैं.

डा० गुलाम याज़दानी : इतिहास के एक जाने माने विद्वान. हैदराबाद राज्य में पुरातत्व निदेशक के रूप में लगभग तीस वर्षों तक काम किया. 'मण्डु बिडाड' पर आपकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित है. हैदराबाद पुरातत्व विभाग ने आपकी देखरेख में 1916 से एक रपट माला प्रकाशित की है. आपका अत्यंत महत्वपूर्ण तथा स्मरणीय कार्य 'अजंता' पर है जो चार खंड में प्रकाशित है. प्रस्तुत पुस्तक संपादित होने के बावजूद प्रो० याज़दानी के व्यक्तित्व की छाप लिए हुए है,

M The Macmillan Co of India Ltd
Price Rs 50/-

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास